मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक—४४

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भाग ४

(श—ह)

क्षु. जिनेन्द्र वर्णी
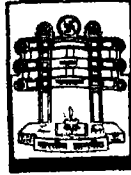
भारतीय ज्ञानपीठ

छठा संस्करण : 2000 ☐ मूल्य : 150 रुपये

ISBN 81-263-0563-0 (Set)
81-263-0565-7 (Part-IV)

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण 9, वीर नि सं 2470, विक्रम स 2000; 18 फरवरी 1944)

पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की स्मृति में
साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन द्वारा सम्पोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारो की ग्रन्थसूचियाँ, शिलालेख-सग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानो के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे है।

•

ग्रन्थमाला सम्पादक (प्रथम सस्करण)
डॉ. हीरालाल जैन एव डॉ. आ. ने उपाध्ये

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003
मुद्रक नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

MOORTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ : Sanskrit Grantha No.44

JAINENDRA SIDHĀNTA KOŚA

VOL. 4

(श — ह)

by

Kshu. JINENDRA VARNI

BHARATIYA JNANPITH

Sixth Edition : 2000 □ Price : Rs. 150

ISBN 81-263-0563-0 (Set)
81-263-0565-7 (Part-IV)

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9; Vira N. Sam 2470, Vikrama Sam 2000; 18th Feb. 1944)

MOORTIDEVI JAIN GRANTHAMALA

FOUNDED BY

Sahu Shanti Prasad Jain

In memory of his illustrious mother Smt. Moortidevi

and

promoted by his benevolent wife

Smt. Rama Jain

In this Granthamala critically edited jain agamic, philosophical, puranic, literary, historical and other original texts in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Hindi, Kannada, Tamil etc. are being published in original form with their translations in modern languages. Also being published are catalogues of Jain bhandaras, inscriptions, studies on art and architecture by competent scholars and also popular Jain literature

•

General Ediotrs (First Edition)

Dr Hiralal Jain & Dr A.N Upadhye

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Printed at Nagri Printers, Naveen Shahdara, Delhi-110 032

संकेत-सूची

संकेत	विवरण
अ.ग.श्रा....../...	अमितगति श्रावकाचार अधिकार सं./श्लोक सं., पं. वंशीधर शोलापुर, प्र.सं., वि.सं. १९७९
अन.ध.../.../...	अनगारधर्मामृत अधिकार सं./ श्लोक सं./पृष्ठ सं., पं. खूबचन्द शोलापुर, प्र. सं., ई. ९.९.१९२७
आ.अनु. ...	आत्मानुशासन श्लोक सं.
आ.प.../.../...	आलापपद्धति अधिकार सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं., चौरासी मथुरा, प्र. सं., वी. नि. २४५६
आप्त.प.../.../...	आप्तपरीक्षा श्लोक सं./प्रकरण सं./पृष्ठ सं., वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. सं., वि. सं. २००६
आप्त.मी. ...	आप्तमीमांसा श्लोक सं.
इ.उ./मू.../...	इष्टोपदेश/मूल या टीका श्लो.सं./पृष्ठ सं.(समाधिशतकके पीछे)पं.आशाधरजीकृत टीका, वीरसेवा मन्दिर दिल्ली
क.पा.../§.../.../...	कषायपाहुड पुस्तक सं. भाग सं./§प्रकरणसं./पृष्ठसं./पंक्ति सं., दिगम्बर जैनसंघ, मथुरा,प्र.सं.,वि.सं.२०००
का.अ./मू....	कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मूल या टीका गाथा सं., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं.,ई.१९६०
कुरल.../...	कुरल काव्य परिच्छेद सं./श्लोक सं., पं. गोविन्दराय जैन शास्त्री, प्र.सं., वी.नि.सं. २४८०
क्रि.क... /.../...	क्रियाकलाप मुख्याधिकार सं.-प्रकरण सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं., पन्नालाल सोनी शास्त्री आगरा,वि.सं.१९९३
क्रि.को....	क्रियाकोश श्लोक सं., पं. दौलतराम
क्ष.सा./मू.../...	क्षपणसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
गुण.श्रा....	गुणभद्र श्रावकाचार श्लोक सं.
गो.क./मू.../...	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/मूल गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
गो.क./जी.प्र.../... ...	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., जैन सिद्धान्त प्रका. संस्था
गो.जी./मू.../...	गोम्मटसार जीवकाण्ड/मूल गाथा सं./पृष्ठ सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
गो.जी./जी.प्र.../.../...	गोम्मटसार जीवकाण्ड/जीव तत्त्वप्रदीपिका टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं.,जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था
ज्ञा.../.../...	ज्ञानार्णव अधिकार सं./दोहक सं./पृष्ठ सं. राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं., ई. १९०७
ज्ञा.सा...	ज्ञानसार श्लोक सं.
चा.पा./मू.../...	चारित्त पाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १९७७
चा.सा.../...	चारित्रसार पृष्ठ सं./पंक्ति सं., महावीर जी, प्र.सं., वी.नि. २४८८
ज.प.../...	जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो अधिकार सं./गाथा सं., जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर, वि.सं.२०१४
जै.सा.../...	जैन साहित्य इतिहास खण्ड सं./पृष्ठ सं., गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वी.नि. २४८१
जै.पी...	जैन साहित्य इतिहास/पूर्व पीठिका पृष्ठ सं., गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वी.नि. २४८१
त.अनु....	तत्त्वानुशासन श्लोक सं., नागसेन सूरिकृत, वीर सेवा मन्दिर देहली, प्र.सं., ई. १९६३
त.वृ.../.../.../...	तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., ई. १९४९
त.सा.../.../...	तत्त्वार्थसार अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं.,जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता, प्र.सं.,ई.स.१९२६
त.सू.../...	तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सं./सूत्र सं.
ति.प.../...	तिलोयपण्णत्ति अधिकार सं./गाथा सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., वि.सं. १९९९
ती....	तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ सं., दि. जैन विद्वत्परिषद्, सागर, ई. १९७४
त्रि.सा....	त्रिलोकसार गाथा सं., जैन साहित्य बम्बई, प्र. सं., १९१८
द.पा./मू.../...	दर्शनपाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.स., वि.सं. १९७७
द.सा....	दर्शनसार गाथा सं., नाथूराम प्रेमी, बम्बई, प्र.सं., वि. १९७४
द्र.सं./मू.../...	द्रव्यसंग्रह/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., देहली, प्र.सं. ई. १९५३
ध.प...	धर्म परीक्षा श्लोक सं.
ध.../॥/.../...	धवला पुस्तक सं./खण्ड सं., भाग, सूत्र/पृष्ठ सं./पंक्ति या गाथा सं., अमरावती, प्र. सं.
न.च.वृ....	नयचक्र बृहद् गाथा सं., श्रीदेवसेनाचार्यकृत, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई प्र. सं., वि. सं. १९७७
न.च./श्रुत.../...	नयचक्र/श्रुत भवन दीपक अधिकार सं./पृष्ठ सं., सिद्ध सागर, शोलापुर
नि.सा./मू....	नियमसार/मूल या टीका गाथा सं.
नि.सा./ता.वृ.../क...	नियमसार/तात्पर्य वृत्ति गाथा सं./कलश सं.
न्या.दी.../§.../.../...	न्यायदीपिका अधिकार सं./§प्रकरण सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं. वीरसेवा मन्दिर देहली, प्र.सं. वि.सं. २००२
न्या.बि./मू....	न्यायबिन्दु/मूल या टीका श्लोक सं., चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस
न्या.वि./मू.../.../.../...	न्यायविनिश्चय/मूल या टीका अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., ज्ञानपीठ बनारस
न्या.सू./मू.../.../.../...	न्यायदर्शन सूत्र/मूल या टीका अध्याय सं./आह्निक/सूत्र सं./पृष्ठ सं. मुजफ्फरनगर, द्वि. सं., ई. १९३४
पं.का./मू.../...	पंचास्तिकाय/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्र.सं., वि. १९७२
पं.ध./पू....	पंचाध्यायी/पूर्वार्ध श्लोक सं., पं. देवकीनन्दन, प्र. सं., ई. १९३२
पं.ध./उ....	पंचाध्यायी/उत्तरार्ध श्लोक सं., पं. देवकीनन्दन, प्र.सं. ई. १९३२
पं.वि.../...	पद्मनन्दि पंचविंशतिका अधिकार सं./श्लोक सं. जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., ई. १९३२
पं.सं./प्रा.../...	पंचसंग्रह/प्राकृत अधिकार सं./गाथा सं., ज्ञानपीठ, बनारस प्र. सं. ई. १९६०
पं.सं./सं.../...	पंचसंग्रह/संस्कृत अधिकार सं./श्लोक सं., पं. सं./प्रा. की टिप्पणी, प्र. सं., ई. १९६०

प.पु.…/…	पद्मपुराण सर्ग/श्लोक सं., भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, प्र.सं., वि.सं. २०१६
प.मु.…/…/…	परीक्षामुख परिच्छेद सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं., स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी, प्र. सं.
प.प्र./मू.…/…/…	परमात्मप्रकाश/मूल या टीका अधिकार सं./गाथा सं./पृष्ठ सं., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वि.सं., वि.सं. २०१७
पा.पु.…/…	पाण्डवपुराण सर्ग सं./श्लोक सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., ई. १९६२
पु.सि. …	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय श्लोक सं.
प्र.सा./मू.…/…	प्रवचनसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं.
प्रति.सा.…/…	प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय सं./श्लोक सं.
बा.अ.…	बारस अणुवेक्खा गाथा सं.
बो.पा./मू.…/…	बोधपाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं. माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
बृ. जै. श. …	बृहत् जैन शब्दार्णव/द्वितीय खंड/पृष्ठ सं., मूलचंद किशनदास कापड़िया, सूरत, प्र. सं., वी.नि. २४६०
भ.आ./मू.…/…/…	भगवती आराधना/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., सखाराम दोशी, सोलापुर, प्र.सं., ई. १९३५
भा.पा./मू.…/…	भाव पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १९७७
म.पु.…/…	महापुराण सर्ग सं./श्लोक सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र. सं., ई. १९५१
म.बं.…/§…/…	महाबन्ध पुस्तक सं./§ प्रकरण सं./पृष्ठ सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., ई. १९५१
मू.आ.…	मूलाचार गाथा सं., अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, प्र. सं., वि. सं. १९७६
मो.पं.…	मोक्ष पंचाशिका श्लोक सं.
मो.पा./मू.…/…	मोक्ष पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
मो.मा.प्र.…/…/…	मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., सस्ती ग्रन्थमाला, देहली, द्वि.सं., वि. सं. २०१०
यु.अनु.…	युक्त्यनुशासन श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, प्र. सं., ई. १९५१
यो.सा.अ.…/…	योगसार अमितगति अधिकार सं./श्लोक सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, ई.सं. १९१८
यो.सा.यो.…	योगसार योगेन्दुदेव गाथा सं., परमात्मप्रकाशके पीछे छपा
र.क.श्रा.…	रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक सं.
र.सा.…	रयणसार गाथा सं.
रा.वा.…/…/…/…	राजवार्तिक अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., वि.सं. २००८
रा.वा.हि.…/…/…	राजवार्तिक हिन्दी अध्याय सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं.
ल.सा./मू.…/…	लब्धिसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, प्र. सं.
ला.सं.…/…/…	लाटी संहिता अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं.
लि.पा./मू.…/…	लिंग पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं., वि. सं. १९७७
वसु.श्रा.…	वसुनन्दि श्रावकाचार गाथा सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र. सं., वि. सं. २००७
वै.द.…/…/…/…	वैशेषिक दर्शन/अध्याय सं./आह्निक/सूत्र सं./पृष्ठ सं., देहली पुस्तक भण्डार देहली, प्र.सं., वि.सं. २०१७
शी.पा./मू.…/…	शील पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पंक्ति सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं., वि.सं. १९७७
श्लो.वा.…/…/…/…/…	श्लोकवार्तिक पुस्तक सं./अध्याय सं./सूत्र सं./वार्तिक सं./पृष्ठ सं., कुन्थुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर, प्र.सं., ई. १९४९-१९५६
ष.खं.…/…/…	षट्खण्डागम पुस्तक सं./खण्ड सं., भाग, सूत्र/पृष्ठ सं.
स.भं.त.…/…	सप्तभङ्गीतरङ्गिनी पृष्ठ सं./पंक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, द्वि.सं., वि.सं. १९७२
स.म.…/…/…	स्याद्वादमञ्जरी श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, प्र. सं. १९९१
स.श./मू.…/…	समाधिशतक/मूल या टीका श्लोक सं./पृष्ठ सं., इष्टोपदेश युक्त, वीर सेवा मन्दिर, देहली, प्र.सं., २०२१
स.सा./मू.…/…/…	समयसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली, प्र.सं. ३१.१२.१९५८
स.सा./आ.…/क.	समयसार/आत्मख्याति गाथा सं./कलश सं.
स.सि.…/…/…	सर्वार्थसिद्धि अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं. ई. १९५५
स.स्तो.…	स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. सं., ई. १९५१
सा.ध.…/…	सागार धर्मामृत अधिकार सं./श्लोक सं.
सा.पा.…	सामायिक पाठ अमितगति श्लोक सं.
सि.सा.सं.…/…	सिद्धान्तसार संग्रह अध्याय सं./श्लोक सं., जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र. सं. ई. १९५७
सि.वि./मू.…/…/…/…	सिद्धि विनिश्चय/मूल या टीका प्रस्ताव सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, प्र.सं. ई. १९५९
सु.र.सं.…	सुभाषित रत्न सन्दोह श्लोक सं. (अमितगति), जैन प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, प्र.सं., ई. १९१७
सू.पा./मू.…/…	सूत्र पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १९७७
ह.पु.…/…	हरिवंश पुराण सर्ग/श्लोक/सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं.

नोट : भिन्न-भिन्न कोष्ठकों व रेखा चित्रोंमें प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ   वहीं उस-उस स्थल पर ही दिये गये हैं।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

[भाग ४]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

[क्षु० जिनेन्द्र वर्णी]

[श]

शंकर वेदांत—इसका अपरनाम ब्रह्माद्वैत—दे० वेदान्त/२ ।

शंकराचार्य—ब्राह्मण जातिके थे। हिन्दू धर्मके (विशेषत. अद्वैतवादके) महान् प्रचारक थे। गौडपादके शिष्य गोविन्दके शिष्य थे। ब्रह्माद्वैतमतके संस्थापक थे। केवल २८ वर्षकी आयु थी। ई. ७८८ में मालाबारमें जन्म हुआ था। मृत्यु ई. ८१६।

शंकरानंद—बहुत बड़ा तार्किक व नैयायिक एक बौद्ध साधु था। कृति—अपोहसिद्धि, प्रतिबन्धसिद्धि। समय—ई. ८१० (स्याद्वाद सिद्धि। प्र. पृ. २० पं. दरबारीलाल)।

शंका—१. नि. सा./ता. वृ./५ शंका हि सकलमोहरागद्वेषादय'। —शंका अर्थात् सकल मोहराग द्वेषादिक (दोष)।

पं. ध./उ./४८१ शंका भी' साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी। —शंका, भी, साध्वस, भीति और भय ये शब्द एकार्थ वाचक हैं।

द. पा./पं. जयचन्द/२/१० शंका नाम संशयका भी है और भयका भी। और भी दे. निशंकित। २. सामान्य अतिचारका एक भेद—दे. अतिचार। ३ लघु व दीर्घ शंका विधि—दे. समिति/१/७ ४. सम्यग्दर्शनके शंका अतिचार व संशय मिथ्यात्व में अन्तर—दे. संशय।

शंकाकार शिखा—Super-incumbent cone (ध./प्र. ५ प्र./२८)।

शंकित—आहारका एक दोष—दे. आहार/II/४/४।

शंकित विपक्ष वृत्ति हेत्वाभास—दे. व्यभिचार।

शंकुसमुच्छिन्नक—Frustrum of cone (ज. प./प्र. १०८)।

शंख—१. चक्रवर्तीकी नवनिधियोंमें से एक—दे. शलाकापुरुष/२। २. प्रतिमाके १०८ उपकरणोंमेंसे एक—दे. चैत्य/१/११। ३. यादववंशी कृष्णका २३वाँ पुत्र—दे. इतिहास१०/१०; ४. लवण समुद्र में स्थित एक पर्वत—दे. लोक/५/९ ५. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे. लोक५/२;६. आशीविष वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे. लोक/५/४।

शंख परिणाम—एक ग्रह—दे. ग्रह।

शंख रत्न—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक/५/१३।

शंख वज्र—विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर।

शंखवर—मध्यलोकका बारहवाँ द्वीप व सागर—दे. लोक/५/१।

शंखवर्ण—एक ग्रह—दे. ग्रह।

शंखाकार आकृति—

ज. प./प्र. ८५। क्षेत्रफल—दे. गणित/II/७/७।

शंखावर्त योनि—दे. योनि।

शंब—ह. पु./सर्ग/श्लोक—पूर्व भव स. ७ में शृगाल (४३/११५) फिर वायुभूति ब्राह्मण (४३/१००); फिर सौधर्म स्वर्ग में देव (४३/१४९) चौथेमें मणिभद्र सेठका पुत्र (४३/१४९) फिर सौधर्म स्वर्गमें देव (४३/१५८); फिर कैटभ नामक राजपुत्र (४३/१६०) फिर पूर्व भवमें अच्युतेन्द्र (४३/२१६) वर्तमान भवमें जाम्बवती रानीसे कृष्णका पुत्र था (४८/७) बन क्रीड़ा करते समय वनमें पडे कुण्डोंमें से शराब पी ली (६१/४९) जिसके नशेमें द्वीपायन मुनिपर उपसर्ग किया (६१/४९-५५)। द्वारका भस्म होनेकी घटनाको जान दीक्षा ग्रहण की। (६१/६८) अन्तमें गिरनारसे मोक्ष प्राप्त किया (६५/१६-१७)।

शंबरदेव—भगवान् पार्श्वनाथका पूर्व भवका भाई था। इसने भगवान् पर घोर उपसर्ग किया (म. पु /७३/१३७) अन्तमें परम्पराका बैर छोड़कर भगवान्की स्तुति की (७३/१६८) यह कमठका उत्तरका नवमाँ भव है—दे० कमठ।

शंबूक—प. पु./४३/श्लोक—रावणकी बहन चन्द्रनखाका पुत्र था। सूर्यहास खड्गको सिद्ध करनेके लिए १२ वर्षका योग वंशस्थल पर्वत पर धारण किया (४५-४७) वनवासी लक्ष्मणने खड्गकी गन्धसे आश्चर्यान्वित हो, खड्गकी परखके अर्थ शम्बूक सहित वंशके बीड़ेको काट दिया (४९-५५) यह मरकर नरकमें गया।

शक—इसका वर्तमान नाम बैविट्रया है। (म पु./प्र. ५०)।

शकट—ध. १४/५, ६, ४१/३८/७ लोहेण बद्धणेमि-तुंब महाचक्का लोहबद्धछुहयपेरंता लोणादीणं गरुअभरुव्वहणक्खमा सयडा नाम। —जिनकी धुर गाड़ीकी नाभि और महाचक्र लोहेसे बँधे हुए हैं, जिनके छुहय पर्यन्त लोहसे बँधे हुए है, जो नमक आदि भार ढोनेमें समर्थ हैं वे शकट कहलाते हैं।
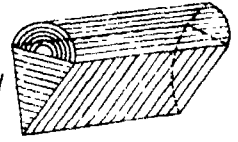
शकटमुखी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।
—दे. विद्याधर।

शक वंश—मगध देशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह एक छोटी सी जाति थी। इस जातिका कोई भी एकछत्र राज्य नहीं था। इस वंशमें छोटे-छोटे सरदार होते थे जो धीरे-धीरे करके भारतवर्षके किन्हीं-किन्हीं भागोंपर अपना अधिकार जमा बैठे थे, जिसके कारण मौर्यवंशी विक्रमादित्यका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। भृत्यवंशी गौतमी पुत्र सातकर्णी (शालिवाहन) ने वी. नि. ६०५ में शक संवत् प्रचलित किया था। जो पीछेसे शक संवत् कहलाने लगा। इसके सरदारोंका नाम इतिहासमें नहीं मिलता है। हाँ, आगमकारोंने उनका उल्लेख किया है जो निम्न प्रकार है—

१. पुष्यमित्र वी. नि. २५५-२८५; ई. पू. २७१-२४१
२. वसुमित्र ,, ,, २८५-३१५, ,, ,, २४१-२११
३. अग्निमित्र ,, ,, ३१५-३४५; ,, ,, २११-१८१
४. गर्दभिल्ल ,, ,, ३४५-४४५; ,, ,, १८१- ८१
५. नरवाहन ,, ,, ४४५-४८५; ,, ,, ८१- ४१

(विशेष-दे. इतिहास/मगधके राज्य वंश) नरवाहन की वी. नि. ६०५ में शालिवाहन द्वारा हारनेकी संगतिके लिए भी—दे. इतिहास/३/४।

शक संवत्—दे. इतिहास/२/४, १०। कोश I/ परिशिष्ट/१३।

शक्ति—शक्तिके भेद व लक्षण—दे. स्वभाव।

शक्तिकुमार—गुहिलोत वंशका राजा था। पाशुपत धर्मका अनुयायी था। परन्तु कुछ-कुछ जैनधर्मका भी विश्वास करता था। समय—ई. श. १०-११। (जैन साहित्य इतिहास/पृ. २५६ प्रेमी जी) (ति. प./प्र. ८ A N. Up.)

शक्ति तत्त्व—दे. शैव दर्शन।

शक्तितस्तप—दे तप।

शक्तितस्त्याग—दे. त्याग।

शक्ति भूपाल—वंश वंशका राजा था। इसके राज्यमें ही पद्मनन्दीने जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिकी रचना की थी। सम्भवत. गुहिलोत वंशका शक्तिकुमार ही यह शक्ति भूपाल था। समय—ई. १० का अन्तिम चरण (ज. प./प्र. १४ A.N. Up., हीरालाल)।

शक्यप्राप्ति—न्या. सू./टी./१/१/३२/३३/२३ प्रमातु' प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानि सा शक्यप्राप्ति'। —प्रमेयोंके जाननेके लिए जो प्रमाताके प्रमाण हैं, उसीको शक्यप्राप्ति कहते हैं।

शक्रपुरी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।—दे. विद्याधर।

शक्रादित्य—बौद्ध मतानुयायी राजा था। इसने नालन्दामें मठ बनवाये थे। समय—ई. श. ५।

शतक— (दे. परिशिष्ट)।

शतक चूर्णि—दे. चूर्णि तथा कोश II का परिशिष्ट।

शतपदा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक५/१३।

शतपर्वा—एक विद्या—दे. विद्या।

शतभागा—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

शतभिषा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

शतमति—म पु./स. श्लोक-ऋषभदेवके पूर्व (५/२००) भवके महाबल की पर्यायका मिथ्यादृष्टि मन्त्री था (४/१९१) नैरात्मवादी था (५/४४) मर कर नरक गया (१०/२२)।

शतमुख—भगवान् वासुपूज्यका शासक यक्ष—दे. तीर्थंकर/५।

शतह्रद—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

शतानीक—कुरुवंशी राजा था। पांचाल देशका राजा तथा जनमेजयका पुत्र था। प्रवाहण जैवलिका पिता था। समय—ई. पू. १४२०-१४००—दे. इतिहास/३/३।

शतार—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद—दे. स्वर्ग/३। २. कल्पस्वर्गोंका ग्यारहवाँ पटल—दे. स्वर्ग/५/२।

शत्रुंजय—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

शत्रु—सच्चा शत्रु मोह है—दे. मोहनीय/१/५।

शत्रुघ्न—१. ह. पु./सर्ग/श्लोक—पूर्वभव भव सं. ३ में भानुदत्त सेठका पुत्र शूरदत्त था (३४/९७-९८) फिर मणिचूल नामक विद्याधर हुआ (३४/१३२-१३३) पूर्व भवमें गंगदेव राजाका पुत्र सुनन्द था (३४/१४२) वर्तमान भवमें वसुदेवका पुत्र कृष्णका भाई था (३४/३)। कंसके भयसे जन्मते ही किसी देवने उसको उठाकर सुदृष्टि सेठके घर पहुँचा दिया (३४/७)। दीक्षा ग्रहणकर घोर तप किया (५९/११५-१२०) अन्तमें गिरनारसे मोक्ष प्राप्त किया (६५/१६-१७)। २. प. पु./सर्ग/श्लोक सं. दशरथका पुत्र तथा रामका छोटा भाई था (२५/३५) मधुको हराकर मथुराका राज्य प्राप्त किया (७९/११६)। अन्तमें दीक्षा ग्रहण की (११९/३८)।

शनि—१. एक ग्रह—दे. ग्रह। २. इसका लोकमें अवस्थान—दे. ज्योतिषलोक।

शन्मुख—भगवान् वासुपूज्यका शासक यक्ष—दे. तीर्थंकर/५/३।

शबर—मीमांसा दर्शनमें जैमिनी सूत्रके मूल भाष्यकार शाबरभाष्यके रचयिता। समय—ई. श. ४—दे. मीमांसा दर्शन।

शबल—असुर भवनवासी देव—दे. असुर।

शब्द—१. शब्द सामान्यका लक्षण

स. सि./२/२०/१७८-१७९/१० शब्दयत इति शब्द'। शब्दनं शब्द इति। —जो शब्द रूप होता है वह शब्द है। और शब्दन शब्द है। (रा वा./२/२०/१/१३२/३२)।

रा. वा /५/२४/१/४८५/१०। शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययति, शप्यते येन, शपनमात्रं वा शब्द:। —जो अर्थको शपति अर्थात् कहता है, जिसके द्वारा अर्थ कहा जाता है या शपन मात्र है, वह शब्द है।

ध. १/१,१,३३/२४७/७ यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव संनिकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ता' स्पर्शादय' केचन सन्तीति एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं शब्दस्य युज्यत इति, शब्दयत इति शब्द:। यदा तु पर्याय. प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधन शब्द. शब्दनं शब्द इति। —जिस समय प्रधान रूपसे द्रव्य विवक्षित होता है उस समय इन्द्रियोंके द्वारा द्रव्यका ही ग्रहण होता है। उससे भिन्न स्पर्शादिक कोई चीज नहीं है। इस विवक्षामें शब्दके कर्मसाधनपना बन जाता है जैसे शब्द्यते अर्थात् जो ध्वनि रूप हो वह शब्द है। तथा जिस समय प्रधान रूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद सिद्ध होता है अतएव उदासीन रूपसे अवस्थित भावका कथन किया जानेसे शब्द भावसाधन भी है जैसे 'शब्दनं शब्दः' अर्थात् ध्वनि रूप क्रिया धर्मको शब्द कहते हैं।

पं. का./प्र. प्र./७९ बाह्यश्रवणेन्द्रियावलम्बितो भावेन्द्रियपरिच्छेद्यो ध्वनि शब्द'। —बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलम्बित, भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य ऐसी जो ध्वनि वह शब्द है।

★ **कायोत्सर्गका एक अतिचार**—दे. व्युत्सर्ग/१।

२. शब्दके भेद

स. सि./५/२४/२९४-२९५/१२ शब्दो द्विविधो भाषालक्षणो विपरीतश्चेति।···अभाषात्मको द्विविधः प्रायोगिको वैस्रसिकश्चेति। प्रायोगिकश्चतुर्धा ततविततघनसौषिरभेदात्। —भाषारूप शब्द और अभाषारूप शब्द इस प्रकार शब्दोंके दो भेद हैं।···अभाषात्मक शब्द दो प्रकारके हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक।···तथा तत, वितत, घन और सौषिरके भेदसे प्रायोगिक शब्द चार प्रकार है। (रा. वा./५/२४/२-५/४८५/२१), (पं. का./ता. वृ./७९/१३५/६), (द्र. सं./टी./१६/५२/२)।

ध. १३/५,५,२६/२२१/६ छव्विहो तद-विदद-घण-सुसिर-घोस-भासभेएण। —वह छह प्रकार है—तत वितत, घन, सुषिर, घोष और भाषा।

★ भाषात्मक शब्दके भेद व लक्षण—दे. भाषा।

३. अभाषात्मक शब्दोंके लक्षण

स. सि./५/२४/२९५/३ वैस्रसिको बलाहकादिप्रभवः तत्र चर्मतननिमित्तः पुष्करभेरीदर्दुरादिप्रभवस्ततः। तन्त्रीकृतवीणासुघोषादिसमुद्भवो विततः। तालघण्टालालनाद्यभिघातजो घनः। वंशशङ्खादिनिमित्तः सौषिरः। —मेघ आदिके निमित्तसे जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे वैस्रसिक शब्द हैं। चमड़ेसे मढ़े हुए पुष्कर, भेरी और दर्दुरसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह तत शब्द है। ताँत वाले वीणा और सुघोष आदिसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह वितत है। ताल, घण्टा और लालन आदिके ताड़नसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह घन शब्द है तथा बाँसुरी और शंख आदिके फूँकनेसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह सौषिर शब्द है। (रा. वा./५/२४/४-५/४८५/२७)।

ध. १३/५,५,२६/२२१/७ तत्थ तदो णाम वीणा-तिसरिआलावणि-वव्वीस-खुक्खुणादिजणिदो। विददो णाम भेरी-मुदिंगपटहादिसमुब्भूदो। घणो णाम जयघंटादिघणदव्वाणं संघादुट्ठाविदो। सुसिरो णाम वंस-संख-काहलादिजणिदो। घोसो णाम घस्समाणदव्वजणिदो। —वीणा, त्रिसरिक, आलापिनी, वव्वीसक और खुक्खुण आदिसे उत्पन्न हुआ शब्द तत है। भेरी, मृदंग और पटह आदिसे उत्पन्न हुआ शब्द वितत है। जय घण्टा आदि ठोस द्रव्योंके अभिघातसे उत्पन्न हुआ शब्द घन है। वंश, शंख और काहल आदिसे उत्पन्न हुआ शब्द सौषिर है। घर्षणको प्राप्त हुए द्रव्यसे उत्पन्न हुआ शब्द घोष है।

पं. का./ता. वृ./७९/१३५/१ ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकं। घनं तु कंसतालादि सुषिरं वंशादिकं विदुः। वैस्रसिकस्तु मेघादिप्रभवः। —वीणादिके शब्दको तत, ढोल आदिके शब्दको वितत, मंजीरे तथा ताल आदिके शब्दको घन और बंसी आदिके शब्दको सुषिर कहते हैं। स्वभावसे उत्पन्न होनेवाला वैस्रसिक शब्द बादल आदिसे होता है। (द्र. सं./टी./१६/५२/६)।

★ द्रव्य व भाव वचन—दे० वचन।

★ क्रियावाची व गुणवाची आदि शब्द—दे. नाम/३।

४. शब्दमें अनेकों धर्मोंका निर्देश

स्या. म./२२/२७०/१७ शब्देष्वपि उदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषताल्पप्राणमहाप्राणतादयः तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेयाः। —पदार्थोंकी तरह शब्दोंमें भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, विवृत, संवृत, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि पदार्थोंके ज्ञान करानेकी शक्ति आदि अनन्त धर्म पाये जाते हैं।

५. शब्दके संचार व श्रवण सम्बन्धी नियम

ध. १३/५,५,२६/२२२/१ सद्द-पोग्गला सगुप्पत्तिपदेसादो उच्छलिय दसदिसासु गच्छमाणा उक्कस्सेण जाव लोगंतं ताव गच्छंति।···सव्वे ण गच्छंति, थोवा चेव गच्छंति। तं जहा—सद्दपज्जाएण परिणदपदेसे अणंता पोग्गला अवट्ठाणं कुणंति। विदियागासपदेसे तत्तो अणंतगुणहीणा। तिदियागासपदेसे अणंतगुणहीणा। चउत्थागासपदेसे अणंतगुणहीणा। एवमणंतरोवणिधाए अणंतगुणहीणा होदूण गच्छंति जाव सव्वदिसासु वादवलयपेरंतं पत्ताति। परदो किण्ण गच्छंति। धम्मात्थिकायाभावादो। ण च सव्वे सद्द-पोग्गला एगसमएण चेव लोगंतं गच्छंति त्ति णियमो, केसिं पि दोसमए आदिं कादूण जहण्णेण अंतोमुहुत्तकालेण लोगंतपत्ती होदि त्ति उवदेसादो। एवं समयं पडि सद्दपज्जाएण परिणदपोग्गलाणं गमणावट्ठाणाणं परूवणा कायव्वा।

ध. १३/५,५,२६/गा. ३/२२४ भासागदसमसेडिं सद्दं जदि सुणदि मिस्सयं सुणदि। उस्सेडिं पुण सद्दं सुणेदि णियमा पराघादे।३।

ध. १३/५,५,२६/१२६/१ समसेडीए आगच्छमाणे सद्द-पोग्गले परघादेण अपरघादेण च सुणदि। तं जहा—जदि परघादो णत्थि तो कंडुज्जुवाए गईए कण्णछिद्दे पविट्ठे सद्द-पोग्गले सुणदि। पराघादे संते वि सुणेदि, दो समसेडीदो पराघादेण उस्सेडिं गंतूण पुणो पराघादेण समसेडीए कण्णछिद्दे पविट्ठाणं सद्द-पोग्गलाणं सवणुवलंभादो। उस्सेडिं गदसद्द-पोग्गले पुण पराघादेणेव सुणेदि, अण्णहा तेसिं सवणाणुववत्तीदो। —१. संचार सम्बन्धी—शब्द पुद्गल अपने उत्पत्ति प्रदेशसे उछलकर दसों दिशाओंमें जाते हुए उत्कृष्ट रूपसे लोकके अन्त भाग तक जाते हैं।···सब नहीं जाते थोड़े ही जाते हैं। यथा—शब्द पर्यायसे परिणत हुए प्रदेशमें अनन्तपुद्गल अवस्थित रहते हैं। (उससे लगे हुए) दूसरे आकाश प्रदेशमें उनसे अनन्त गुणे हीन पुद्गल अवस्थित रहते हैं। तीसरे आकाश प्रदेशमें उससे लगे हुए अनन्तगुणे हीन पुद्गल अवस्थित रहते हैं। चौथे आकाश प्रदेशमें उससे अनन्तगुणे हीन पुद्गल अवस्थित रहते हैं। इस तरह वे अनन्तरोपनिधाकी अपेक्षा वातवलय पर्यन्त सब दिशाओंमें उत्तरोत्तर एक-एक प्रदेशके प्रति अनन्तगुणे हीन होते हुए जाते हैं। प्रश्न—आगे क्यों नहीं जाते। उत्तर—धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे वातवलयके आगे नहीं जाते हैं। ये सब शब्द पुद्गल एक समयमें ही लोकके अन्त तक जाते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु ऐसा उपदेश है कि कितने ही शब्द पुद्गल कमसे कम दो समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा लोकके अन्तको प्राप्त होते हैं। इस तरह प्रत्येक समयमें शब्द पर्यायसे परिणत हुए पुद्गलोंके गमन और अवस्थानका कथन करना चाहिए।

२. श्रवण सम्बन्धी—"भाषागत समश्रेणिरूप शब्दको यदि सुनता है तो मिश्रको ही .नता है। और उच्छ्रेणिको प्राप्त हुए शब्दको यदि सुनता है तो .मसे परघातके द्वारा सुनता है"।३। समश्रेणि द्वारा आते हुए शब्द पुद्गलोंको परघात और अपरघात रूपसे सुनता है। यथा—यदि परघात नहीं है तो बाणके समान ऋजुगतिसे कर्णछिद्रमें प्रविष्ट हुए शब्द पुद्गलोंको सुनता है। पराघात होनेपर भी सुनता है क्योंकि, समश्रेणिसे पराघात द्वारा उच्छ्रेणिको प्राप्त होकर पुनः पराघात द्वारा समश्रेणिसे कर्णछिद्रमें प्रविष्ट हुए शब्द पुद्गलोंका श्रवण उपलब्ध होता है। उच्छ्रेणिको प्राप्त हुए शब्द पुनः पराघातके द्वारा ही सुने जाते हैं अन्यथा उनका सुनना नहीं बन सकता है।

६. ढोल आदिके शब्द कथंचित् भाषात्मक हैं

ध. १४/५,६,८३/६१/१२ कधं काहलादिसद्दाणं भासाववएसो। ण, भासो व्व भासे त्ति उवयारेण कालादिसद्दाणं पि तव्ववएससिद्धीदो।

—प्रश्न—नगारा आदिके शब्दोंकी भाषा संज्ञा कैसे है। (अर्थात् इन्हें भाषा वर्गणासे उत्पन्न क्यों कहते हो)? उत्तर—नहीं, क्योंकि, भाषाके समान होनेसे भाषा है इस प्रकारके उपचारसे नगारा आदिके शब्दोंकी भी भाषा संज्ञा है।

७. शब्द पुद्गलकी पर्याय है आकाशका गुण नहीं

पं. का./मू./७९ सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो। पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो।७९। —शब्द स्कन्धजन्य है। स्कन्ध परमाणु दलका संघात है, और वे स्कन्ध स्पर्शित होनेसे—टकरानेसे शब्द उत्पन्न होता है; इस प्रकार वह (शब्द) नियत रूपसे उत्पाद्य है।७९। अर्थात् पुद्गलकी पर्याय है। (प्र. सा./मू./१३२)।

रा. वा./५/१८/१२/४६८/४ शब्दो हि आकाशगुणः वाताभिघातबाह्यनिमित्तवशात् सर्वत्रोपलभ्यमान इन्द्रियप्रत्यक्षः अन्यद्रव्यासंभवी गुणिनमाकाशं सर्वगतं गमयति, गुणानामाधारपरतन्त्रत्वादिति; तन्न, किं कारणम्। पौद्गलिकत्वात्। पुद्गलद्रव्यविकारो हि शब्दः नाकाशगुणः। तस्योपरिष्टाद् युक्तिर्वक्ष्यते। —प्रश्न—शब्द आकाशका गुण है, वह वायुके अभिघात आदि बाह्य निमित्तोंसे उत्पन्न होता है, इन्द्रियप्रत्यक्ष है, गुण है, अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता, निराधार गुण रह नहीं सकते अतः अपने आधारभूत गुणी आकाशका अनुमान कराता है? उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि शब्द पौद्गलिक है। शब्द पुद्गल द्रव्यका विकार है आकाशका गुण नहीं। (और भी दे. मूर्त/६)।

प्र. सा./त. प्र./१३२ शब्दस्यापीन्द्रियग्राह्यत्वाद्गुणत्वं न खल्वाशङ्कनीयं। ...अनेकद्रव्यात्मकपुद्गलपर्यायत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात्। ...न तावदमूर्तद्रव्यगुणः शब्दः ...अमूर्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयत्वापत्तेः। ...मूर्तद्रव्यगुणोऽपि न भवति। ...ततः कादाचित्कत्वोत्खातनित्यत्वस्य न शब्दस्यास्ति गुणत्वम्। ...न च पुद्गलपर्यायत्वे शब्दस्य पृथिवीस्कन्धस्येव स्पर्शनादीन्द्रियविषयत्वम्। अपां घ्राणेन्द्रियाविषयत्वात्। —१. ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि शब्द भी इन्द्रिय ग्राह्य होनेसे गुण होगा; क्योंकि वह विचित्रताके द्वारा विश्वरूपत्व (अनेकानेक प्रकारत्व) दिखलाता है, फिर भी उसे अनेक द्रव्यात्मक पुद्गल पर्यायके रूपमें स्वीकार किया गया है। २. शब्द अमूर्त द्रव्यका गुण नहीं है क्योंकि, ...अमूर्त द्रव्यके भी श्रवणेन्द्रियकी विषयभूतता आ जायेगी। ३. शब्द मूर्त द्रव्यका गुण भी नहीं है...अनित्यत्वसे नित्यत्वके उत्थापित होनेसे (अर्थात् शब्द कभी-कभी ही होता है और नित्य नहीं है, इसलिए) शब्द गुण नहीं है। ४. यदि शब्द पुद्गलको पर्याय हो तो वह पृथिवी स्कन्धकी भाँति स्पर्शनादिक इन्द्रियोंका विषय होना चाहिए अर्थात् जैसे पृथिवी स्कन्धरूप पुद्गल पर्याय सर्व इन्द्रियोंसे ज्ञात होती है उसी प्रकार शब्दरूप पुद्गल पर्याय सभी इन्द्रियोंसे ज्ञात होनी चाहिए (ऐसा तर्क किया जाये तो) ऐसा भी नहीं है क्योंकि पानी (पुद्गलकी पर्याय है, फिर भी) घ्राणेन्द्रियका विषय नहीं है। (प्र. सा./ता. वृ./१३८/१८६/११)।

८. शब्दको जाननेका प्रयोजन

पं. का./ता. वृ./७९/१३५/१० इदं सर्वं हेयतत्त्वमेतस्माद्भिन्नं शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थः। —यह सर्व तत्त्व हेय है। इससे भिन्न शुद्धात्म तत्त्व ही उपादेय है ऐसा भावार्थ है।

★ **शब्दकी अपेक्षा द्रव्यमें भेदाभेद**—दे. सप्तभंगी/५/८।

★ **शब्द अल्प हैं और अर्थ अनन्त हैं**—दे. आगम/४।

शब्द अर्थ सम्बन्ध—दे. आगम/४।

शब्द कोश—जैनाचार्योंने कई शब्दकोश बनाये हैं—१. आ. पूज्यपाद (ई. श. ५) कृत शब्दावतार। २. श्वे. हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८-११७३) कृत सिद्धहेम शब्दानुशासन। ३. श्वे. हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८-११७३) कृत अभिधानचिन्तामणि कोश (हैमी नाममाला कोश)। ४. श्वे. हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८-११७३) कृत अनेकार्थसंग्रह। ५. श्वे. हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८-११७३) कृत देशीनाममाला। ६. पं. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) कृत 'अमरकोषकी टीका' रूप क्रिया-कलाप। ७. आचार्य शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) द्वारा रचित शब्द चिन्तामणि। ८. आ० भट्टाकलंक द्वि. (ई. १६०४) द्वारा रचित शब्दानुशासन। ९. पं. बनारसीदास (ई. १५८७-१६४४) कृत १७५ दोहा प्रमाण भाषा नाम माला। (ती./४/२५२)। १०. मा. बिहारी लाल (ई. १९२४-१९३४) कृत बृहद् जैन शब्दार्णव।

शब्द नय—दे. नय/III/६।

शब्दपुनरुक्त निग्रह स्थान—दे. पुनरुक्त।

शब्द प्रमाण—दे. आगम।

शब्द ब्रह्म—दे. ब्रह्म।

शब्द लिंगज ज्ञान—दे. श्रुतज्ञान/III।

शब्दवान्—हैमवत क्षेत्रके बहुमध्य भागस्थ कूटके आकार वाला नाभिगिरि पर्वत—दे. लोक/५/३।

शब्द समय—दे. समय।

शब्दाकुलित आलोचना—दे. आलोचना।

शब्दाद्वैत—दे. अद्वैतवाद।

शब्दानुपात—स. सि./७/३१/६३६/१० व्यापारकरान्पुरुषान्प्रत्यभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः। —जो पुरुष किसी उद्योगमें जुटे हैं उन्हें उद्देश्य कर खाँसना आदि शब्दानुपात है। (देशव्रतके अतिचारके प्रकरणमें), (रा. वा./७/३१/३/५५६/६)।

शब्दानुशासन—दे. शब्दकोश।

शब्दावतार—दे. शब्दकोश।

शम—प्र. सा./ता. वृ./७/९/१० स एव धर्मः। स्वात्मभावनोत्थसुखामृतशीतलजलेन कामक्रोधादिरूपाग्निजनितस्य संसारदुःखदाहस्योपशमकत्वात् शम इति। —वह धर्म ही शम है, क्योंकि स्वात्मभावनासे उत्पन्न सुखामृत शीतल जलके द्वारा कामक्रोधादिसे उत्पन्न संसार दुःखकी दाहको विनाश करनेवाला है।

शयनासन शुद्धि—दे. शुद्धि।

शय्या परिषह—स. सि./९/९/४२३/११ स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य मौहूर्तिकीं खरविषमप्रचुरशर्कराकपालसंकटातिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतो यथाकृतैकपार्श्वदण्डायितादिशायिनप्राणिबाधापरिहाराय पतितदारुवद् व्यपगतासुवदपरिवर्तमानस्य ज्ञानभावनावहितचेतसोऽनुष्ठितव्यन्तरादिविविधोपसर्गादप्यचलितविग्रहस्यानियमितकालां तत्कृतबाधां क्षममाणस्य शय्यापरिषहक्षमा कथ्यते। —जो स्वाध्याय ध्यान और अध्व श्रमके कारण थककर कठोर, विषम तथा प्रचुर मात्रामें कंकड़ और खप्परोंके टुकड़ोंसे व्याप्त ऐसे अतिशीत तथा अत्युष्ण भूमि प्रदेशोंमें एक मुहूर्त प्रमाण निद्राका अनुभव करता है, जो यथाकृत एक पार्श्व भागसे या दण्डायित आदि रूपसे शयन करता है, करवट लेनेसे प्राणियोंको होनेवाली बाधाका निवारण करनेके लिए जो गिरे हुए लकड़ीके

कुन्देके समान या मुर्देके समान करवट नहीं बदलता, जिसका चित्त ज्ञान भावनामें लगा हुआ है, व्यन्तरादिकके द्वारा किये गये नाना प्रकारके उपसर्गोंसे भी जिसका शरीर चलायमान नहीं होता और जो अनियतकालिक तत्कृत बाधाको सहन करता है उसके शय्या परिषहजय कही जाती है। (रा. वा./९/९/१६/६१०/१८), (चा. सा./११६/३)।

शरण—रा. वा./९/७/२/६००/१५ शरणं द्विविधं-लौकिकं लोकोत्तरं चेति। तत्प्रत्येकं त्रिधा—जीवाजीवमिश्रकभेदात्। तत्र राजा देवता वा लौकिकं जीवशरणम्, प्राकारादि अजीवशरणम्। ग्राम-नगरादि मिश्रकम्। पञ्च गुरवो लोकोत्तरजीवशरणम्, तत्प्रति-बिम्बाद्यजीवशरणम्, सधर्मोपकरणसाधुवर्गो मिश्रकशरणम्। —शरण दो प्रकारका है—एक लौकिक दूसरा लोकोत्तर। तथा ये दोनों ही जीव, अजीव और मिश्रकके भेदसे तीन-तीन प्रकारके हैं। राजा देवता आदि लौकिक जीवशरण हैं। कोट, शहर, पनाह आदि लौकिक अजीव शरण हैं और कोट खाई सहित गाँव नगर आदि लौकिक मिश्र शरण हैं। पाँचों परमेष्ठी लोकोत्तर जीव शरण हैं। इन अरहंत आदिके प्रतिबिंब आदि लोकोत्तर अजीव शरण हैं। धर्म सहित साधुओंका समुदाय तथा उनके उपकरण आदि लोकोत्तर मिश्र शरण हैं। (चा. सा./१७८/४)

शरावती—वर्तमान श्रावस्ती जो अयोध्याके पास है। (म. प्र./प ५० पं. पन्नालाल)

शरीर—जीवके शरीर पाँच प्रकारके माने गये हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्माण ये पाँचों उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। मनुष्य तिर्यंचका शरीर औदारिक होनेके कारण स्थूल व दृष्टिगत है। देव नारकियोंका वैक्रियिक शरीर होता है। तैजस व कार्मण शरीर सभी संसारी जीवोंके होते हैं। आहारक शरीर किन्हीं तपस्वी जनोंके ही सम्भव हैं। शरीर यद्यपि जीवके लिए अपकारी है पर मुमुक्षु जन इसे मोक्षमार्गमें लगाकर उपकारी बना लेते हैं।

१. शरीर व शरीर नामकर्म निर्देश

१. शरीर सामान्यका लक्षण

स. सि./८/३६/१९१/४ विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तीनि शीर्यन्त इति शरीराणि। —जो विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होकर शीर्यन्ते अर्थात् गलते हैं वे शरीर हैं।

ध. १४/५,६,११९/४३४/१३ सरीरं सहावो सीलमिदि एयट्ठो।...अणंताणं-तपोग्गलसमवाओ सरीरं। —शरीर, शील और स्वभाव ये एकार्थ-वाची शब्द हैं।...अनन्तानन्त पुद्गलोंके समवायका नाम शरीर है।

द्र. सं./टी./१५/१०७/१ शरीरं कोऽर्थः स्वरूपम्। —शरीर शब्दका अर्थ स्वरूप है।

२. शरीर नामकर्मका लक्षण

स.सि./८/११/३८६/६ यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम । —जिसके उदयसे आत्माके शरीरकी रचना होती है वह शरीर नामकर्म है। (रा. वा./८/११/३/५७६/१४) (गो. क./जी. प्र./३३/२८/२०)।

ध. ६/१,९-१,२८/५२/६ जस्स कम्मस्स उदएण आहारवग्गणाए पोग्गलखंधा तेजा-कम्मइयवग्गणपोग्गलखंधा च सरीरजोग्गपरिणामेहि परिणदा संता जीवेण संबज्झंति तस्स कम्मक्खंधस्स सरीरमिदि सण्णा। —जिस कर्मके उदयसे आहार वर्गणाके पुद्गल स्कन्ध तथा तैजस और कार्मण वर्गणाके पुद्गल स्कन्ध शरीर योग्य परिणामोंके द्वारा परिणत होते हुए जीवके साथ सम्बद्ध होते हैं उस कर्म स्कन्धकी 'शरीर' यह संज्ञा है। (ध. १३/५,५,१०१/३६३/१२)

३. शरीर व शरीर नामकर्मके भेद

ष. खं. ६/१,९-१/सू. ३१/६८ जं तं सरीरणामकम्मं तं पंचविहं ओरालियसरीरणामं वेउव्वियसरीरणामं आहारसरीरणामं तेयासरीरणामं कम्मइयसरीरणामं चेदि।३१। —जो शरीर नामकर्म है वह पाँच प्रकार है—औदारिक शरीरनामकर्म, वैक्रियिक शरीर नामकर्म, आहारकशरीर नामकर्म, तैजस शरीरनामकर्म और कार्मण शरीर नामकर्म।३१। (ष. खं. १३/५,५/सू. १०४/३६७) (ष. खं. १४/५,६/सू. ४४/४६) (प्र. सा./मू./१७१) (त. सू./२/३६) (सं. सि./८/११/३८९/९) (पं. स./२/४/४७/६) (रा. वा./५/२४/९/४८८/२) (रा. वा./८/११/३/५७६/१५) (गो. क./जी. प्र./३३/२८/२०)

४. शरीरोंमें प्रदेशोंकी उत्तरोत्तर तरतमता

त. सू./२/३८-३९ प्रदेशोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ।३८। अनन्तगुणे परे ।३९।

स. सि./२/३८-३९/१९२-१९३/८,३ औदारिकादसंख्येयगुणप्रदेशं वैक्रियिकम्। वैक्रियिकादसंख्येयगुणप्रदेशमाहारकमिति। को गुणकारः। पल्योपमासंख्येय भागः। (१९२/८) आहारकात्तैजसं प्रदेशतोऽनन्तगुणम्, तैजसात्कार्मणं प्रदेशतोऽनन्तगुणमिति। को गुणकारः। अभव्यानामनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागः। —तैजससे पूर्व तीन तीन शरीरोंमें आगे-आगेका शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यातगुणा है।३८। परवर्ती दो शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हैं।३९। अर्थात् औदारिकसे वैक्रियिक शरीर असंख्यातगुणे प्रदेशवाला है, और वैक्रियिकसे आहारक शरीर असंख्यातगुणे प्रदेशवाला है। गुणकारका प्रमाण पल्यका असंख्यातवाँ भाग है (१९२।८) परन्तु आहारक शरीरसे तैजस शरीरके प्रदेश अनन्तगुणे हैं, और तैजस शरीरसे कार्मण शरीरके प्रदेश अनन्तगुणे अधिक हैं। अभव्योंसे अनन्तगुणा और सिद्धोंका अनन्तवाँ भाग गुणकार है। (रा. वा./२/३८-३९/४,१/१४८/४,१५) (ध. ९/४,१,२/३७/१) (गो. जी./जी. प्र./२४६/५१०/१०) और भी दे. अल्पबहुत्व)

५. शरीरोंमें परस्पर उत्तरोत्तर सूक्ष्मता व तत्सम्बन्धी शंका समाधान

त. सू./२/३७,४० परं परं सूक्ष्मम् ।३७। अप्रतिघाते ।४०।

स. सि.२/३७/१९१।१ औदारिकं स्थूलम्, ततः सूक्ष्मं वैक्रियिकम्, ततः सूक्ष्मं आहारकम्, ततः सूक्ष्मं तैजसम्, तैजसात्कार्मणं सूक्ष्ममिति। —आगे-आगेका शरीर सूक्ष्म है।३७। कार्मण व तैजस शरीर प्रतीघात रहित हैं।४०। अर्थात् औदारिक शरीर स्थूल है, इससे वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है। इससे आहारक शरीर सूक्ष्म है, इससे तैजस शरीर सूक्ष्म है और इससे कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

गो. जी./जी. प्र./२४६/५१०/१५ यद्येवं तर्हि वैक्रियिकादिशरीराणां उत्तरोत्तरं प्रदेशाधिक्येन स्थूलत्वं प्रसज्यते इत्याशङ्क्य परं परं सूक्ष्मं भवतीत्युक्तं। यद्यपि वैक्रियिकाद्युत्तरोत्तरशरीराणां बहुपरमाणुसंचयत्वं तथापि बन्धपरिणतिविशेषेण सूक्ष्मसूक्ष्मावगाहनसंभवः कार्पासपिण्डायःपिण्डवन्न विरुध्यते खल्विति निश्चेतव्यं। —प्रश्न—यदि औदारिकादि शरीरोंमें उत्तरोत्तर प्रदेश अधिक हैं तो उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्थूलता हो जायेगी। उत्तर—ऐसी आशंका अयुक्त है, क्योंकि वे सब उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। यद्यपि वैक्रियिक आदि शरीरोंमें परमाणुओंका संचय तो अधिक-अधिक है तथापि स्कन्ध बन्धनमें विशेष है। जैसे—कपासके पिण्डसे लोहेके पिण्डमें प्रदेशपना अधिक होनेपर भी क्षेत्र थोड़ा रोकता है तैसे जानना।

६. शरीरके लक्षण सम्बन्धी शंका समाधान

रा. वा./२/३६/२-३/१४५/२५ यदि शीर्यन्त इति शरीराणि घटादीनामपि विशरणमस्तीति शरीरत्वमतिप्रसज्येत; तन्न; किं कारणम्। नामकर्मनिमित्तत्वाभावात् ।२। विग्रहाभाव इति चेत्; न; रूढिशब्देष्वपि व्युत्पत्तौ क्रियाश्रयात् ।३। —प्रश्न—यदि जो शीर्ण हों वे शरीर हैं, तो घटादि पदार्थ भी विशरणशील हैं, उनको भी शरीरपना प्राप्त हो जायेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि उनमें नामकर्मोदय निमित्त नहीं है। प्रश्न—इस लक्षणसे तो विग्रहगतिमें शरीरके अभावका प्रसंग आता है ? उत्तर—रूढिसे वहाँपर भी कहा जाता है।

७. शरीरमें करण(कारण)पना कैसे सम्भव है

ध.९/४,१,६८/३२५/१ करणेसु जं पढमं करणं पंचसरीरम्मयं तं मूलकरणं। कधं सरीरस्स मूलत्तं। ण, सेसकरणाणमेदम्हादो पउत्तीए शरीरस्स मूलत्तं पडिविरोहाभावादो। जीवादो कत्तारादो अभिण्णत्तणेण कत्तारत्तमुवगयस्स कधं करणत्तं। ण जीवादो सरीरस्स कधंचि भेदुवलंभादो। अभेदे वा चेयणत्त-णिच्चत्तादिजीवगुणा सरीरे वि होंति। ण च एवं, तहाणुवलंभादो। तदो सरीरस्स करणत्तं ण विरुज्झदे। सेसकारयभावे सरीरम्मि संते सरीरं करणमेवेत्ति किमिदि उच्चदे। ण एस दोसो, सुत्ते करणमेवे त्ति अवहारणाभावादो। —करणोंमें जो पाँच शरीररूप प्रथम करण है वह मूल करण है। प्रश्न—शरीरके मूलपना कैसे सम्भव है। उत्तर—चूँकि शेष करणोंकी प्रवृत्ति इस शरीरसे होती है अतः शरीरको मूल करण माननेमें कोई विरोध नहीं आता। प्रश्न—कर्ता रूप जीवसे शरीर अभिन्न है, अतः कर्तापनेको प्राप्त हुए शरीरके करणपना कैसे सम्भव है। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है। जीवसे शरीरका कथंचित् भेद पाया जाता है। यदि जीवसे शरीरको सर्वथा अभिन्न स्वीकार किया जावे तो चेतनता और नित्यत्व आदि जीवके गुण शरीरमें भी होने चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि शरीरमें इन गुणोंकी उपलब्धि नहीं होती। इस कारण शरीरके करणपना विरुद्ध नहीं है। प्रश्न—शरीरमें शेष कारक भी सम्भव हैं। ऐसी अवस्थामें शरीर करण ही है, ऐसा क्यों कहा जाता है ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सूत्रमें 'शरीर करण ही है' ऐसा नियत नहीं किया गया है।

८. देह प्रमाणत्व शक्तिका लक्षण

पं. का./त. प्र./२८ अतीतानन्तरशरीरमाणावगाहपरिणामरूपं देहमात्रत्वं। —अतीत अनन्तर (अन्तिम) शरीरानुसार अवगाह परिणामरूप देहप्रमाणपना होता है।

२. शरीरोंका स्वामित्व

१. एक जीवके एक कालमें शरीरोंका स्वामित्व

त. सू./२/४३ तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।४३।

स. सि./२/४३/१९५/३ युगपदेकस्यात्मनः। कस्यचिद् द्वे तैजसकार्मणे। अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियिकतैजसकार्मणानि वा। अन्यस्य चत्वारि औदारिकाहारतैजसकार्मणानि विभागः क्रियते। —एक साथ एक जीवके तैजस और कार्मणसे लेकर चार शरीर तक विकल्पसे होते हैं।४३। किसीके तैजस और कार्मण ये दो शरीर होते हैं। अन्यके औदारिक तैजस और कार्मण, या वैक्रियिक तैजस और कार्मण ये तीन शरीर होते हैं। किसी दूसरेके औदारिक तैजस और कार्मण तथा आहारक ये चार शरीर होते हैं। इस प्रकार यह विभाग यहाँ किया गया। (रा. वा./२/४३/३/१५०/१९)

दे. ऋद्धि /१० आहारक वैक्रियिक ऋद्धिके एक साथ होनेका विरोध है।

२. शरीरोंके स्वामित्वकी आदेश प्ररूपणा

संकेत—अप.—अपर्याप्त; आहा.—आहारक; औद.—औदारिक; छेदो.—छेदोपस्थापना; प.—पर्याप्त; बा.—बादर; वैक्रि.—वैक्रियिक; सा.—सामान्य; सू.—सूक्ष्म।

ष. खं. १४/५,६/सू. १३२-१६६/२३८-२४८)

प्रमाण	मार्गणा	संयोगी विकल्प	औदारिक	वैक्रियिक	आहारक	तैजस	कार्मण
	१. गति मार्गणा—						
१३२-१३३	नरक सा. विशेष	२,३	×	,,	×	,,	,,
१३४	तिर्यंच सा. पंचें. पं. तिर्यंचनी प.	२,३,४	,,	,,	×	,,	,,
१३५	तिर्यंच पंचे. अप.	२,३	,,	×	×	,,	,,
१३६	मनुष्य सा. प. मनुष्यणी अप.	२,३,४	,,	,,	,,	,,	,,
१३७	मनुष्य अप.	२,३	,,	×	×	,,	,,
१३८-१३९	देव. सा. विशेष	,,	×	,,	×	,,	,,
	२. इन्द्रिय मार्गणा—						
१४०	ऐकेन्द्रिय सा. व बा. प.	२,३,४	,,	,,	×	,,	,,
,,	पंचेन्द्रि. सा प.	,,	,,	,,	×	,,	,,
१४१	एकेन्द्रि. बा. अप. एकेन्द्रि. सू. प. अप.	२,३	,,	×	×	,,	,,
,,	विकलेन्द्रि. प. अप. पंचेन्द्रि. अप.	,,	,,	×	×	,,	,,
	३. काय मार्गणा—						
१४३	तेज वायु सा. ,, ,, बा. प.	२,३,४	,,	,,	×	,,	,,
,,	त्रस सा. प.	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१४२	शेष सर्व प. अप.	२,३	,,	×	×	,,	,,
	४. योग मार्गणा—						
१४४	पाँचों मन वचन योग	३,४	,,	,,	,,	,,	,,
१४५	काय सामान्य	२,३,४	,,	,,	,,	,,	,,
१४४	औदारिक	३,४	,,	,,	,,	,,	,,
१४६	औदारिक मिश्र	३	,,	×	×	,,	,,
,,	वैक्रि. वैक्रि. मिश्र	३	×	,,	×	,,	,,
१४७	आहा. आहा. मिश्र	४	,,	×	,,	,,	,,
१४८	कार्मण	२,३	,,	×	×	,,	,,
	५. वेद मार्गणा—						
१४९	पुरुष वेद	२,३,४	,,	,,	,,	,,	,,
,,	स्त्री, नपुंसक	,,	,,	,,	×	,,	,,
१५१	अपगत वेदी	३	,,	×	×	,,	,,
	६. कषाय मार्गणा—						
१५०	चारों कषाय	२,३,४	,,	,,	,,	,,	,,
१५१	अकषाय	३	,,	×	×	,,	,,
	७. ज्ञान मार्गणा —						
१५२	मतिश्रुत अज्ञान	२,३,४	,,	,,	×	,,	,,
१५३	विभंग ज्ञान	३,४	×	,,	×	,,	,,
१५४	मति, श्रुत, अवधिज्ञान	२,३,४	,,	,,	,,	,,	,,
१५३	मनःपर्यय	३,४	,,	,,	×	,,	,,
१५५	केवलज्ञान	३	,,	×	×	,,	,,
	८. संयम मार्गणा—						
१५६	{ संयत सा. सामायिक छेदो., परिहार, सूक्ष्म	३,४	,,	,,	,,	,,	,,
१५७	यथाख्यात	३	,,	×	×	,,	,,
१५६	संयतासंयत	३,४	,,	,,	×	,,	,,
१५८	असंयत	२,३,४	,,	,,	×	,,	,,
	९. दर्शन मार्गणा—						
१५९	चक्षु अचक्षु दर्शन	२,३,४	,,	,,	,,	,,	,,
,,	अवधि	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१६०	केवलदर्शन	३	,,	×	×	,,	,,
	१०. लेश्या मार्गणा						
१६१	कृष्ण, नील, कापोत	२,३,४	,,	,,	×	,,	,,
,,	पीत, पद्म, शुक्ल	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	११. भव्यत्व मार्गणा—						
१६२	भव्य	२,३,४	,,	,,	,,	,,	,,
,,	अभव्य	,,	,,	,,	×	,,	,,
	१२. सम्यक्त्व मार्गणा—						
१६३	सम्यग्दृष्टि सा.	२,३,४	,,	,,	,,	,,	,,
,,	क्षायिक, उपशम, वेदक	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	सासादन	,,	,,	,,	×	,,	,,
१६४	मिश्र	३,४	,,	,,	×	,,	,,
१६३	मिथ्यादृष्टि	२,३,४	,,	,,	×	,,	,,
	१३. संज्ञी मार्गणा—						
१६५	संज्ञी	२,३,४	,,	,,	,,	,,	,,
,	असंज्ञी	,,	,,	,,	×	,,	,,
	१४. आहारक मार्गणा—						
१६६	आहारक	३,४	,,	,,	,,	,,	,,
,,	अनाहारक	२,३	,,	×	×	,,	,,

३. शरीरका कथंचित् इष्टानिष्टपना

१. शरीर दुःखका कारण है

स. श./मू./१५ मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः। त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ।१५। —इस शरीरमें आत्मबुद्धिका

होना संसारके दुःखोंका मूल कारण है। इसलिए शरीरमें आत्मत्वको छोड़कर बाह्य इन्द्रिय विषयोंसे प्रवृत्तिको रोकता हुआ आत्मा अन्तरंगमें प्रवेश करे।१५।

आ.अनु./१९५ आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानहानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्युः मूलं ततस्तनुरनर्थपरंपराणाम् ।१९५। —प्रारम्भमें शरीर उत्पन्न होता है, इससे दुष्ट इन्द्रियाँ होती हैं, वे अपने-अपने विषयोंको चाहती हैं। और वे विषय मानहानि, परिश्रम, भय, पाप एवं दुर्गतिको देनेवाले हैं। इस प्रकारसे समस्त अनर्थोंकी मूल परम्पराका कारण शरीर है।१९५।

ज्ञा.२/६/१०-११ शरीरमेतदादाय त्वया दुःखं विसह्यते। जन्मन्यस्मिंस्ततस्तद्धि निःशेषानर्थमन्दिरम् ।१०। भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः। सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ।११। —हे आत्मन्! तूने इस संसारमें शरीरको ग्रहण करके दुःख पाये वा सहे हैं, इसीसे तू निश्चय जान कि यह शरीर ही समस्त अनर्थोंका घर है, इसके संसर्गसे सुखका लेश भी नहीं मान।१०। इस जगत्में संसारसे उत्पन्न जो-जो दुःख जीवोंको सहने पड़ते हैं वे सब इस शरीरके ग्रहणसे ही सहने पड़ते हैं, इस शरीरसे निवृत्त होनेपर कोई भी दुःख नहीं है।११।

२. शरीर वास्तवमें अपकारी है

इ. उ./१९ यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं। यद्द देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं ।१९। —जो अनशनादि तप जीवका उपकारक है वह शरीरका अपकारक है, और जो धन, वस्त्र, भोजनादि शरीरका उपकारक है वह जीवका अपकारक है।१९।

अन. ध./४/१४१ योगाय कायमनुपालयतोऽपि युक्त्या, क्लेश्यो ममत्वहतये तव सोऽपि शक्त्या। भिक्षोऽन्यथाक्षसुखजीवितरन्ध्रलाभात्, तृष्णा सरिद्विधुरयिष्यति सत्तपोऽद्रिम् ।१४१। —योग-रत्नत्रयात्मक धर्मकी सिद्धिके लिए संयमके पालनमें विरोध न आवे इस तरहसे रक्षा करते हुए भी शक्ति और युक्तिके साथ शरीरमें लगे ममत्वको दूर करना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार साधारण भी नदी जरासे भी छिद्रको पाकर दुर्भेद्य भी पर्वतमें प्रवेशकर जर्जरित कर देती है उसी प्रकार तुच्छ तृष्णा भी समीचीन तप रूप पर्वतको छिन्न-भिन्नकर जर्जरित कर डालेगी।१४१।

३. धर्मार्थीके लिए शरीर उपकारी है

ज्ञा. २/६/९ तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः। विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम् ।९। —इस शरीरके प्राप्त होनेका फल उन्होंने लिया है, जिन्होंने संसारसे विरक्त होकर, इसे अपने कल्याण मार्गमें पुण्यकर्मोंसे क्षीण किया।९।

अन. ध./४/१४० शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षितव्यं प्रयत्नतः। इत्याप्तवाचस्त्वग्देहस्त्याज्य एवेति तण्डुलः।१४०। —'धर्मके साधन शरीरकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिए', इस शिक्षाको प्रवचनका तुष समझना चाहिए। 'आत्मसिद्धिके लिए शरीररक्षाका प्रयत्न सर्वथा निरुपयोगी है।' इस शिक्षाको प्रवचनका तण्डुल समझना चाहिए।

अन. ध./७/९ शरीमाद्यं किल धर्मसाधनं, तदस्य यस्येत् स्थितयेऽशनादिना। तथा यथाक्षाणि वशे स्युरुत्पथं, न वानुधावन्त्यनुबद्धतृड्वशात् ।९। —रत्नरूप धर्मका साधन शरीर है अतः शयन, भोजनपान आदिके द्वारा इसके स्थिर रखनेका प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु इस बातको सदा लक्ष्यमें रखना चाहिए कि भोजनादिकमें प्रवृत्ति ऐसी और उतनी हो जिससे इन्द्रियाँ अपने अधीन रहें। ऐसा न हो कि अनादिकालकी वासनाके वशवर्ती होकर उन्मार्गकी तरफ दौड़ने लगें।९।

४. शरीर ग्रहणका प्रयोजन

आ. अनु./७० अवश्यं नश्वरैरेभिरायुः कायादिभिर्यदि। शाश्वतं मायाति मुधायातमवैहि ते ।७०। —इसलिए यदि अवश्य नष्ट होनेवाले इन आयु और शरीरादिकोंके द्वारा तुझे अविनश्वर पद प्राप्त होता है तो तू उसे अनायास ही आया समझ/७।

५. शरीर बन्ध बतानेका प्रयोजन

पं. का./ता. वृ./३४/७३/१० अत्र य एव देहाद्भिन्नोऽनन्तज्ञानादि शुद्धात्मा भणितः स एव शुभाशुभसंकल्पविकल्पपरिहारकाले सर्वप्रकारेणोपादेयो भवतीत्यभिप्रायः। —यहाँ जो यह देहसे भिन्न अनन्त ज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न शुद्धात्मा कहा गया है, वह आत्मा ही शुभ अशुभ संकल्प विकल्पके परिहारके समय सर्वप्रकारसे उपादेय है, ऐसा अभिप्राय है।

द्र. सं./टी./१०/२७/७ इदमत्र तात्पर्यम्—देहममत्वनिमित्तेन देहं गृहीत्वा संसारे परिभ्रमति तेन कारणेन देहादिममत्वं त्यक्त्वा निर्मोहशुद्धात्मनि भावना कर्तव्येति। —तात्पर्य यह है—जीव देहके ममत्वके निमित्तसे देहको ग्रहणकर संसारमें भ्रमण करता है, इस देह आदिके ममत्वको छोड़कर निर्मोह अपने शुद्धात्मामें भावना करनी चाहिए।

शरीर पर्याप्ति—दे. पर्याप्ति।

शरीर पर्याप्ति काल—दे. काल/१।

शरीर मद—दे. मद।

शरीर मिश्र काल—दे. काल/१।

शर्कराप्रभा—१. स. सि./३/१/२०१/८ शर्कराप्रभासहचरिता भूमिः शर्कराप्रभा।...एताः संज्ञा अनेनोपायेन व्युत्पाद्यन्ते। —जिसकी प्रभा शर्कराके समान है वह शर्कराप्रभा है।...इस प्रकार नामके अनुसार व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिए। (ति. प./२/२१); (रा. वा./३/१/३/१५९/१८); (ज. प./११/१२१)। २. शर्कराप्रभा पृथिवीका लोकमें अवस्थान। दे. नरक/५/११; ३. शर्कराप्रभा पृथिवीका नकशा दे. लोक/२/८।

शर्करावती—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

शलाका—जो विवक्षित भाग करनेके अर्थ किंचित् प्रमाण कल्पना कीजिये ताका नाम यहाँ शलाका जानना। विशेष—दे. गणित/I

शलाका पुरुष—तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि प्रसिद्ध पुरुषोंको शलाका पुरुष कहते हैं। प्रत्येक कल्पकालमें ६३ होते हैं। २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण। अथवा ९ नारद, ११ रुद्र २४ कामदेव, व १६ कुलकर आदि मिलानेसे १६९ शलाका पुरुष होते हैं।

१	**शलाका पुरुष सामान्य निर्देश**
१	६३ शलाका पुरुष नाम निर्देश।
२	१६९ शलाका पुरुष निर्देश।
*	शलाका पुरुषोंकी आयु बन्ध योग्य परिणाम। —दे. आयु/३।
*	कौन पुरुष मरकर कहाँ उत्पन्न हो और क्या गुण प्राप्त करे। —दे. जन्म/६।

१. शलाका पुरुष सामान्य निर्देश

१. ६३ शलाका पुरुष नाम निर्देश

ति. प./४/५१०-५११ एत्तो सलायपुरिसा तेसट्ठी सयलभवणविक्खादा। जायंति भरहखेत्ते णरसोहाकेण।५१०। तित्थयरचक्कबलहरिपडिसत्तू णाम विस्सुदा कमसो। विउणियबारसबारस पयत्थणिधिरंधसंखाए।५११। —अब यहाँसे आगे (अन्तिम कुलकरके पश्चात्) पुण्योदयसे भरतक्षेत्रमें मनुष्योंमें श्रेष्ठ और सम्पूर्ण लोकमें प्रसिद्ध तिरेसठ शलाका पुरुष उत्पन्न होने लगते हैं।५१०। ये शलाका पुरुष तीर्थंकर २४, चक्रवर्ती १२, बलभद्र ९, नारायण ९, प्रतिशत्रु ९, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार उनकी संख्या ६३ है।५११। (त्रि. सा./८०३), (ज. प./२/१७६-१८४). (गो. जी./जी. प्र./३६१-३६२/-७७३/३)।

ति. प./४/१६१६: १६१६'' हुंडावसप्पिणी स। एक्का' ।१६१५। दुस्सम-सुसमे काले अट्ठावणा सलायपुरिसा य।१६१६। —हुंडावसर्पिणी काल-में ५८ ही शलाका पुरुष होते हैं।

२. १६९ शलाका पुरुष निर्देश

ति. प./४/१४७३ तित्थयरा तग्गुरओ चक्कीबलकेसिरुद्दणारद्दा। अंगज-कुलियरपुरिसा भविया सिज्झंति णियमेण।१४७३। —२४ तीर्थंकर,

उनके गुरु (२४ पिता, २४ माता), १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ नारायण, ११ रुद्र, ९ नारद, २४ कामदेव और १४ कुलकर ये सब भव्य होते हुए नियमसे सिद्ध होते हैं।१४७३। (इनके अतिरिक्त ९ प्रतिनारायण ऊपर गिना दिये गये हैं। ये सब मिलकर १६९ दिव्य पुरुष कहे जाते हैं।)

३. शलाका पुरुषोंका मोक्ष प्राप्ति सम्बन्धी नियम

ति. प./४/१४७३ तित्थयरा तग्गुओ चक्कीबलकेसिरुद्दणारद्दा। अंगजकुलियरपुरिसा भविया सिज्झंति णियमेण।१४७३। –तीर्थंकर, उनके गुरु (पिता व माता), चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, रुद्र, नारद, कामदेव और कुलकर ये सब (प्रतिनारायणको छोड़कर १६० दिव्य पुरुष) भव्य होते हुए नियमसे (उसी भवमें या अगले १, २ भवोंमें) सिद्ध होते हैं।१४७३।

४. शलाका पुरुषोंका परस्पर मिलाप नहीं होता

ह. पु./५४/५९-६० नान्योन्यदर्शनं जातु चक्रिणां धर्मचक्रिणाम्। हलिनां वासुदेवानां त्रैलोक्ये प्रतिचक्रिणाम्।५९। गतस्य चिह्नमात्रेण तव तस्य च दर्शनम्। शङ्खस्फोटनिनादैश्च रथ ध्वजनिरीक्षणैः।६०। –तीन लोकमें कभी चक्रवर्ती-चक्रवर्तियोंका, तीर्थंकर-तीर्थंकरोंका, बलभद्र-बलभद्रोंका, नारायण-नारायणोंका और प्रतिनारायण-प्रतिनारायणोंका परस्पर मिलाप नहीं होता। तुम (धातकी खण्डका कपिल नामक नारायण) जाओगे तो चिह्न मात्रसे ही उसका (कृष्ण नारायणका) और तुम्हारा मिलाप होगा। एक दूसरेके शंखका शब्द सुनना तथा रथोंकी ध्वजाओंका देखना इन्हीं चिह्नोंसे तुम्हारा उसका साक्षात्कार हो सकेगा।५९-६०।

५. शलाका पुरुषोंके शरीरकी विशेषता

ति. प./४/१३७१ आदिमसंहणण जुदा सव्वे तवणिज्जवण्णवरदेहा। सयलसुलक्खण भरिया समचउरस्संगसंठाणा।१३७१। –सभी वज्रऋषभ नाराच संहननसे सहित, सुवर्णके समान वर्णवाले, उत्तम शरीरके धारक, सम्पूर्ण सुलक्षणोंसे युक्त और समचतुरस्र रूप शरीरसंस्थानसे युक्त होते हैं।१३७१।

बो. पा./टी./३२/९८ पर उद्धृत–देवा वि य णेरइया हलहरचक्की य तह य तित्थयरा। सव्वे केसव रामा कामानिक्कंचिया होंति।–सर्व देव, नारकी, हलधर (बलदेव), चक्रवर्ती तीर्थंकर, केशव (नारायण) राम और कामदेव मूँछ-दाढ़ीसे रहित होते हैं।

२. द्वादश चक्रवर्ती निर्देश

१. चक्रवर्तीका लक्षण

ति. प./१/४८ छक्खंड भरहणादो बत्तीससहस्समउडबद्धपहुदीओ। होदि हु सयलं चक्की तित्थयरो सयलभुवणवई।४८। –जो छह खण्डरूप भरतक्षेत्रका स्वामी हो और बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजाओंका तेजस्वी अधिपति हो वह सकल चक्री होता है।...।४८। (ध. १/१, १,१/गा.४३/५८) (त्रि. सा./६८५)

२. नाम व पूर्वभव परिचय

	नाम	पूर्व भव नं. २			पूर्वभव
म. पु./सर्ग/श्लो.	१. ति. प./४/५१५-५१६ २. त्रि. सा./८१५ ३. प.पु./२०/१२४-१६३ ४. ह.पु./६०/२८६-२८७ ५. म. पु./पूर्ववत्	१. प. पु./२०/१२४-१६३ २. म. पु./पूर्ववत			१. प.पु./२०/१२४-१६३ २. म. पु./पूर्ववत
		नाम राजा	नगर	दीक्षागुरु	स्वर्ग
	भरत	पीठ	पुण्डरीकिणी	कुशसेन	सर्वार्थसिद्धि २ अच्युत
४८/६६-७८	सगर	विजय २ जयसेन	पृथिवीपुर	यशोधर	विजय वि०
६१/६१-१०१	मघवा	शशिप्रभ २ नरपति	पुण्डरीकिणी	विमल	ग्रैवेयक
६२/१०१/१०६	सनत्कु०	धर्मरुचि	महापुरी	सुप्रभ	माहेन्द्र २ अच्युत
६३/३८४	शान्ति*	→	दे० तीर्थंकर	←	←
६४/१२-२१	कुन्थु*	→	"	←	←
६५/१४-३०	अर*	→	"	←	←
६५/५६	सुभौम	कनकाभ २ भूपाल	धान्यपुर	विचित्रगुप्त २ सम्भूत	जयन्त वि० २ महाशुक्र
६६/७६-८०	पद्म§	चिन्त २ प्रजापाल	वीतशोका २ श्रीपुर	सुप्रभ २ शिवगुप्त	ब्रह्मस्वर्ग २ अच्युत
६७/६४-६५	हरिषेण	महेन्द्रदत्त	विजय	नन्दन	माहेन्द्र २ सनत्कुमार
६९/७८-८०	जयसेन ४ जय	अमितांग २ वसुन्धर	राजपुर २ श्रीपुर	सुधर्ममित्र २ वरुचि	ब्रह्मस्वर्ग २ महाशुक्र
७२/२८७-२८८	ब्रह्मदत्त	सम्भूत	काशी	स्वतन्त्रलिंग	कमलगुल्म वि०

* शान्ति कुन्थु और अर ये तीनों चक्रवर्ती भी थे और तीर्थंकर भी।

§ प्रमाण नं. २,३,४ के अनुसार इनका नाम महापद्म था। यह राजा पद्म उन्हीं विष्णुकुमार मुनिके बड़े भाई थे जिन्होंने ७५० मुनियोंकी राजा बलि कृत उपसर्गसे रक्षा की थी।

३. वर्तमान भवमें नगर व माता पिता

क्रम	म. पु./सर्ग श्लोक	वर्तमान नगर		वर्तमान पिता		वर्तमान माता		तीर्थंकर
		१. प. पु./२०/१२५-१६३ २. म. पु./पूर्ववत्		१. प. पु./२०/१२४-१६३ २. म. पु./पूर्ववत्		१. प. पु./२०/१२४-१६३ २. म. पु./पूर्ववत्		
		सामान्य	विशेष	सामान्य	विशेष	सामान्य	विशेष	
			प. पु.		प. पु.		प. पु.	
१		अयोध्या		ऋषभ		यशस्वती	मरुदेवी	
२	४८/६६-७८	,,		विजय	समुद्रविजय	सुमंगला	सुबाला	
३	६१/९१-१०१	श्रावस्ती	अयोध्या	सुमित्र		भद्रवती	भद्रा	
४	६१/१०४-१०६	हस्तिनापुर	,,	विजय	अनंतवीर्य	सहदेवी		
५	६३/३८४,४१३	—	→	दे० तीर्थंकर		←	—	३. तीर्थंकर
६	६४/१२-२२	—	→	,,		←	—	
७	६५/१४-३०	—	→	,,		←	—	
८	६५/५६,१५२	इशावती	अयोध्या	कीर्तिवीर्य	सहस्रबाहु	तारा	चित्रमती	
९	६६/७६-८०	हस्तिनापुर	बाराणसी	पद्मरथ	पद्मनाभ	मयूरी		
१०	६७/६४-६५	काम्पिल्य	भोगपुर	पद्मनाभ	हरिकेतु	वप्रा	एरा	
११	६९/७८-८०	,,	कौशाम्बी	विजय		यशोवती	प्रभाकरी	
१२	७२/२८७-२८८	,,	×	ब्रह्मरथ	ब्रह्मा	चूला	चूड़ादेवी	

४. वर्तमान भव शरीर परिचय

क्र.	म. पु./सर्ग/श्लो. सं.	वर्ण	संस्थान	संहनन	शरीरोत्सेध			आयु		
		ति. प./४/१३७१			१. ति. प./४/१२६२-१२६३ २ त्रि. सा./८१८-८१९ ३. ह. पु./६०/३०६-३०९ ४. म. पु./पूर्व शीर्षवत			१. ति. प./४/१२९५-१२९६ २. त्रि. सा./८१९-८२० ३. ह. पु./६०/४९४-५१९ ४. म. पु./पूर्व शीर्षवत		
					सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष
					धनु.		धनु.			
१		स्वर्ण	समचतुरस्र	वज्रऋषभ नाराच	५००			८४ लाख पूर्व		
२		,,	,,	,,	४५०			७२ ,, ,,	४	७० लाख पूर्व
३		,,	,,	,,	४२½			५ लाख वर्ष		
४		,,	,,	,,	४२	२ ४	४१½ ४२½	३ ,, ,,		
५		—	—	→	दे० तीर्थंकर		(शान्ति)	←	—	—
६	३. पूर्व शीर्षवत्	—	—	→	,,		(कुन्थु)	←	—	—
७		—	—	→	,,		(अरह)	←	—	—
८		स्वर्ण	समचतुरस्र	वज्र ऋषभनाराच	२८			६०,००० वर्ष	३	६८००० वर्ष
९		,,	,,	,,	२२			३०,००० ,,		
१०		,,	,,	,,	२०	४	२४	१०,००० ,,	३	२६००० वर्ष
११		,,	,,	,,	१५	३	१४	३,००० ,,		
१२		,,	,,	,,	७	४	६०	७०० ,,		

५. कुमारकाल आदि परिचय

ला.= लाख; पू०= पूर्व

क्रम	कुमार काल ति. प./४/-१२६७-१२६६ ह पु./६०/-४६४-५१६	मंडलीक ति. प./४/-१३००-१३०२ ह. पु./६०/-४६४-५१६	दिग्विजय ति. प./४/-१३६८-१३६६ ह. पु./६०/-४६४-५१६	राज्य काल ति. प./४/१४०१-१४०५ ह. पु./६०/४६४-५१६		संयम काल ति. प./४/-१४०७-१४०६ ह. पु./६०/-४६४-५१६	मर कर कहाँ गये ति. प./४/१४१० त्रि. सा./८२४ प. पु./२०/१२४-१६३ म. पु./वे. शीर्षक सं. २	
				सामान्य	विशेष		सामान्य	विशेष
१	७७,००० वर्ष	१००० वर्ष	६०००० वर्ष	{ ६ ला.पू. ६१००० वर्ष	ह. पु. { ६ ला.पू. १ पू०	१ ला.पू.*	मोक्ष	म. पु.
२	५०,००० ,, §	५०,००० ,, §	३०,००० ,,	{ ७० ला.पू. ३०००० वर्ष	{ ६६७००००८पू. + ६६६६६ पूर्वांग+८३ ला.वर्ष	१ ,, ,,	,,	
३	२५,००० ,,	२५००० ,,	१०,००० ,,	३६०००० ,,		५०००० वर्ष	सनत्कुमार स्वर्ग	मोक्ष
४	५०००० ,,	५०००० ,,	१० ,, ,,	६०००० ,,		१ ला. ,,	,,	,,
५								
६								
७								
८	५००० ,,	५००० ,, §§	५०० वर्ष	४६५०० व.	६२५०० वर्ष	०	७ वें नरक	
९	५०० व.	५०० वर्ष	३०० ,,	१८७०० ,,		१०००० वर्ष	मोक्ष	
१०	३२५ ,,	३२५ ,,	१५० ,,	८८५० ,,	२५१७५ ,,	३५० ,,	,,	सर्वार्थसिद्धि
११	३०० ,,	३०० ,,	१०० ,,	१६०० ,,		४०० ,,	,,	जयन्त
१२	२८ ,,	५६ ,,	१६ ,,	६०० ,,		०	७ वें नरक	

* ह. पु. में भरतका संयम काल १ ला+(१ पूर्व—१ पूर्वांग)+८३०६०३० वर्ष दिया है।

§ ह. पु. व म. पु. में सगरका कुमार व मण्डलीक काल १८ लाख पूर्व दिया गया है।

§§ ह. पु की अपेक्षा सुभौम चक्रवर्तीको राज्यकाल प्राप्त ही नहीं हुआ।

६. वैभव परिचय

१ (ति. प./४/१३७२-१३६७); २ (त्रि. सा./६८२); ३ (ह. पु./११/१०८-१६२); ४. (म. पु./३७/२३-३७,५६-८१, १८१-१८५); ५. (ज. प./७/४३-५४, ६५-६७)।

क्रम	नाम	गणना सामान्य	प्रमाण नं.	गणना विशेष	क्रम	नाम	गणना सामान्य	प्रमाण नं.	गणना विशेष
१	रत्न	१४	(दे. आगे)		५	पुत्र पुत्री	संख्यात	३	भरतके ५००
२	निधि	६	(,, ,,)				सहस्र		पुत्र थे
३	रानियाँ							४	सगरके ६०,०००
i	आर्य खण्डकी राजकन्याएँ	३२,०००							पुत्र
								४	पद्मके ८ पुत्री
ii	विद्याधर राजकन्याएँ	३२०००							थीं
iii	म्लेच्छ राजकन्याएँ	३२,०००			६	गणबद्ध देव	३२,०००	३,४	१६०००
		९६,०००			७	तनुरक्षक देव	३६०		
४	पटरानी	१			८	रसोइये	३६०		

क्रम	नाम	गणना सामान्य	प्रमाण नं.	गणना विशेष	क्रम	नाम	गणना सामान्य	प्रमाण नं.	गणना विशेष
९	यक्ष	३२			२७	नाट्यशाला	३२०००		
१०	यक्षोंका बन्धु कुल	३५० लाख			२८	संगीतशाला	३२०००		
११	भेरी	१२			२९	पदाति	४८ करोड़		
१२	पटह (नगाड़े)	१२			३०	देश	३२०००		
१३	शंख	२४			३१	ग्राम	९६ करोड़		
१४	हल	१ कोड़ाकोड़ी	ह. पु.	१ करोड़	३२	नगर	७५०००	४	७२०००
			४	१ ला. करोड़				५	२६०००
१५	गौ	३ करोड़			३३	खेट	१६०००		
१६	गौशाला		४	१ करोड़	३४	खर्वट	२४०००	५	३४०००
१७	थालियाँ	१ "	४	१ "	३५	मटंब	४०००		
१८	हंडे				३६	पट्टन	४८०००		
१९	गज	८४ लाख			३७	द्रोणमुख	९९०००		
२०	रथ	"			३८	संवाहन	१४०००		
२१	अश्व	१८ करोड़			३९	अन्तर्द्वीप	५६		
२२	योद्धा	८४ "			४०	कुक्षि निवास	७००		
२३	विद्याधर	अनेक "			४१	दुर्गादिवन	२८०००		
२४	म्लेच्छ राजा	८८०००	४	१८०००	४२	पताकाएँ		४	४८ करोड़
२५	चित्रकार	९९०००	३	९९०००	४३	भोग	१० प्रकार		
२६	मुकुट बद्ध राजा	३२००			४४	पृथिवी	षट् खण्ड		

७. चौदह रत्न परिचय सामान्य

क्रम	निर्देश (१. ति. प./४/१३७६-१३८१; २. त्रि. सा./८२३; ३. ह. पु./११/१०८-१०९; ४. म. पु./३७/८३-८६)		संज्ञा (१. ति. प./४/१३७७-१३८१; २. दे. आगे शीर्षक सं. ११)		उत्पत्ति (१. ति. प./४/१३७८-१३८०; २. त्रि. सा./८२१; ३. म. पु./३७/८५-८६)		दृष्टि भेद	विशेषता
	नाम	क्या है	सामान्य	विशेष	सामान्य	विशेष		
				प्रमाण नं० २		प्रमाण नं० २		
१	चक्र	आयुध	सुदर्शन		आयुधशाला		ति. प./४/१३८२ किन्हीं आचार्योंके मतसे इनकी उत्पत्तिका नियम नहीं। यथायोग्य स्थानोंमें उत्पत्ति।	दे. पुनश्च शीर्षक।
२	छत्र	छतरी	सूर्यप्रभ		"			
३	खड्ग	आयुध	भद्रमुख	सौनन्दक	"			
४	दण्ड	अस्त्र	प्रवृद्धवेग	चण्डवेग	"			
५	काकिणी	अस्त्र	चिन्ता जननी		श्री गृह			
६	मणि	रत्न	चूड़ामणि		"			
७	चर्म	तम्बू			"			
८	सेनापति		आयोध्य		राजधानी	विजयार्ध		
९	गृहपति	भण्डारी	भद्रमुख	कामवृष्टि (ह. पु./११/१२१)	"	"		
१०	गज	हाथी	विजयगिरि		विजयार्ध	"		
११	अश्व		पवनंजय		"	"		
१२	पुरोहित		बुद्धिसागर		राजधानी	"		
१३	स्थपति	तक्षक (बढ़ई)	कामवृष्टि		"	"		
१४	युवती	पटरानी	सुभद्रा		विजयार्ध	"		

८. चौदह रत्न परिचय विशेष

क्र.	नाम	जीव अजीव	काहे से बने	विशेषताएँ
		१. ति. प./४/१३७७-१३७८ २. म. पु./३७/८४	ति. प./४/१३७८	१. ति. प./४/गा.; २ त्रि. सा./८२३ ३. म. पु./३७/श्लो.; ४. ज. प./७/गा.
१	चक्र	अजीव	वज्र	शत्रु संहार
२	छत्र	,,	,,	१२ योजन लम्बा और इतना ही चौड़ा है। वर्षासे कटक की रक्षा करता है।४/१४०-१४१।
३	खड्ग	,,	,,	शत्रु संहार
४	दण्ड	,,	,,	विजयार्ध गुफा द्वार उद्घाटन।१/१३३०; २/४/१२४। गुफाके काँटों आदिका शोधन।३/१७०। वृषभाचलपर चक्रवर्तीका नाम लिखना। १/१३५४।
५	काकिणी	,,	,,	विजयार्धकी गुफाओंका अन्धकार दूर करना।१/१३३६; ३/१७३। वृषभाचलपर नाम लिखना।२।
६	मणि	,,	,,	विजयार्धकी गुफामें उजाला करना।
७	चर्म	,,	,, म. पु./३७/१७१	म्लेच्छ राजा कृत जलके ऊपर तैरकर अपने ऊपर सारे कटकको आश्रय देता है। (२:३/१७१; ४/१४०)
८	सेनापति	जीव		
९	गृहपति	,,		हिसाब किताब आदि रखना।३/१७६।
१०	गज	,,		
११	अश्व	,,		
१२	पुरोहित	,,		दैवी उपद्रवोंकी शान्तिके अर्थ अनुष्ठान करना (३/१७५)
१३	स्थपति	,,		नदीपर पुल बनाना (१/१३४२: ४/१३१) मकान आदि बनाना।३/१७७।
१४	युवती	,,		

नोट—ह. पु./११/१०६। इन रत्नोंमें से प्रत्येक की एक एक हजार देव रक्षा करते थे।

९. नव निधि परिचय

क्र.	१ निर्देश	२ उत्पत्ति		३ क्या प्रदान करती हैं			[illegible]
	१. ति. प./४/१३८४ २. त्रि. सा./८२१, ३. ह. पु./११/१-११०-१११ ४. म. पु./३७/७५-८२	१. ति. प. ४/१३८४ २. ति. प. ४/१३८५		१. ति. प./४/१३८६ २. त्रि. सा./८२२ ३. ह. पु./११/११४-१२२ ४. म. पु./३७/७५-८२			
		दृष्टि सं. १	दृष्टि सं. २	सामान्य	प्रमाण	विशेष	
१	काल	श्रीपुर	नदीमुख	ऋतुकेअनुसार पुष्प फल आदि	३,४	निमित्त, न्याय, व्याकरण आदि विषयक अनेक प्रकारके शास्त्र	
					४	बाँसुरी, नगाड़े आदि पंचेन्द्रिय के मनोज्ञ विषय	
२	महाकाल	,,	,,	भाजन	३	पंचलोह आदि धातुएँ	
					४	असि, मसि आदिके साधनभूत द्रव्य	[illegible]
३	पाण्डु	,,	,,	धान्य	४	धान्य तथा षट्रस	
४	मानव	,,	,,	आयुध	४	नीति व अन्य अनेक विषयोंके शास्त्र	
५	शंख	,,	,,	वादित्र			
६	पद्म	,,	,,	वस्त्र			
७	नैसर्प	,,	,,	हर्म्य (भवन)	३,४	शय्या, आसन, भाजन आदि उपभोग्य वस्तुएँ	
८	पिंगल	,,	,,	आभरण			
९	नानारत्न	,,	,,	अनेक प्रकार के रत्न आदि			

४. विशेषताएँ

ह. पु./११/१११-११३,१२३ अमी…निधयोऽनिधना नव। पालिता निधिपालाख्यैः सुरैर्लोकोपयोगिनः।१११। शकटाकृतयः सर्वे चतुरक्षाष्टचक्रकाः। नवयोजनविस्तीर्णा द्वादशायामसंमिताः।११२। ते चाष्टयोजनागाधा बहुवक्षारकुक्षयः। नित्यं यक्षसहस्रेण प्रत्येकं रक्षितेक्षिताः।११३। कामवृष्टिवशास्तेऽमी नवापि निधयः सदा। निष्पादयन्ति निःशेषं चक्रवर्तिमनीषितम्।१२३। —ये सभी निधियाँ अविनाशी थीं। निधिपाल नामके देवों द्वारा सुरक्षित थीं। और निरन्तर लोगोंके उपकारमें आती थीं।१११। ये गाड़ीके आकारकी थीं। ९ योजन चौड़ी, १२ योजन लम्बी, ८ योजन गहरी और वक्षार गिरिके समान विशाल कुक्षिसे सहित थीं। प्रत्येककी एक-एक हजार यक्ष निरन्तर देखरेख रखते थे।११२-११३। ये नौ की नौ निधियाँ कामवृष्टि नामक गृहपति (९वाँ रत्न) के अधीन थीं। और सदा चक्रवर्ती के समस्त मनोरथोंको पूर्ण करती थीं।१२३।

१०. दश प्रकार भोग परिचय

ति. प./४/१३६७-दिव्वपुरं रयणणिहि चमुभायण भोयणाइं सयणिज्जं। आसणवाहणणट्टा दसंग भोगा इमे ताणं।१३६७। – दिव्यपुर (नगर), रत्न, निधि, चमू (सैन्य) भाजन, भोजन, शय्या, आसन, वाहन, और नाट्य ये उन चक्रवर्तियोंके दशांग भोग होते हैं।१३६७। (ह. पु./११/१३१); (म. पु./३७/१४३)।

११. भरत चक्रवर्तीकी विभूतियोंके नाम

म. पु./३७/श्लोक सं.

क्रम	श्लोक सं.	विभूति	नाम
१	१४६	घरका कोट	क्षितिसार
२	,,	गौशाला	सर्वतोभद्र
३	१४७	छावनी	नन्द्यावर्त
४	,,	ऋतुओंके लिए महल	वैजयन्त
५	,,	सभाभूमि	दिग्वसतिका
६	१४८	टहलनेकी लकड़ी	सुविधि
७	१४६	दिशा प्रेक्षण भवन	गिरि कूटक
८	,,	नृत्यशाला	वर्धमानक
६	१५०	शीतगृह	धारागृह
१०	,,	वर्षा ऋतु निवास	गृहकूटक
११	१५१	निवास भवन	पुष्करावर्त
१२	१५१	भण्डार गृह	कुबेरकान्त
१३	१५२	कोठार	वसुधारक
१४	,,	स्नानगृह	जीमूत
१५	१५३	रत्नमाला	अवतंसिका
१६	,,	चाँदनी	देवरम्या
१७	१५४	शय्या	सिंहवाहिनी
१८	१५५	चमर	अनुपमान
१६	१५६	छत्र	सूर्यप्रभ
२०	१५७	कुण्डल	विद्युत्प्रभ
२१	१५८	खड़ाऊँ	विष मोचिका
२२	१५६	कवच	अभेद्य
२३	१६०	रथ	अजितंजय
२४	१६१	धनुष	वज्रकाण्ड
२५	१६२	बाण	अमोघ
२६	१६३	शक्ति	वज्रतुण्डा
२७	१६४	भाला	सिंघाटक
२८	१६५	छुरी	लोह वाहिनी
२६	१६६	कणप (अस्त्र विशेष)	मनोवेग
३०	१६७	तलवार	सौनन्दक
३१	१६८	खेट (अस्त्र विशेष)	भूतमुख
३२	१६६	चक्र	सुदर्शन
३३	१७०	दण्ड	चण्डवेग
३४	१७२	चिन्तामणि रत्न	चूड़ामणि
३५	१७३	काकिणी (दीपिका)	चिन्ताजननी
३६	१७४	सेनापति	अयोध्य
३७	१७५	पुरोहित	बुद्धिसागर
३८	१७६	गृहपति	कामवृष्टि
३६	१७७	शिलावट (स्थपति)	भद्रमुख
४०	१७८	गज	विजयगिरि (धवल वर्ण
४१	१७६	अश्व	पवनंजय
४२	१८०	स्त्री	सुभद्रा
४३	१८२	भेरी	आनन्दिनी (१२ योजन शब्द) (म. पु./३७/१८२)
४४	१८४	शंख	गम्भीरावर्त
४५	१८५	कड़े	वीरानन्द
४६	१८७	भोजन	महाकल्याण
४७	१८८	खाद्य पदार्थ	अमृतगर्भ
४८	१८६	स्वाद्यपदार्थ	अमृतकल्प
४६	१८६	पेय पदार्थ	अमृत

१२. दिग्विजयका स्वरूप

ति. प./४/१३०३-१३६६ का भावार्थ—आयुधशालामें चक्रकी उत्पत्ति हो जानेपर चक्रवर्ती जिनेन्द्र पूजन पूर्वक दिग्विजयके लिए प्रयाण करता है।१३०३-१३०४। पहले पूर्व दिशाकी ओर जाकर गंगाके किनारे-किनारे उपसमुद्र पर्यन्त जाता है।१३०५। रथपर चढ़कर १२ योजन पर्यन्त समुद्र तटपर प्रवेश करके वहाँसे अमोघ नामा बाण फेंकता है, जिसे देखकर मागध देव चक्रवर्तीकी अधीनता स्वीकार कर लेता है।१३०६-१३१४। यहाँसे जम्बूद्वीपकी वेदीके साथ-साथ उसके वैजयन्त नामा दक्षिण द्वारपर पहुँचकर पूर्वकी भाँति ही वहाँ रहनेवाले वरतनुदेवको वश करता है।१३१५-१३१६। यहाँसे वह पश्चिम दिशा की ओर जाता है और सिन्धु नदीके द्वारमें स्थित प्रभासदेवको पूर्ववत् ही वश करता है।१३१७-१३१८। तत्पश्चात् नदीके तटसे उत्तर मुख होकर विजयार्ध पर्वत तक जाता है। और पर्वतके रक्षक वैताढ्य नामा देवको वश करता है।१३१६-१३२३। तब सेनापति दण्ड रत्नसे उस पर्वतकी खण्डप्रपात नामक पश्चिम गुफाको खोलता है।१३२५-१३३०। गुफामेंसे गर्म हवा निकलनेके कारण वह पश्चिमके म्लेच्छ राजाओंको वश करनेके लिए चला जाता है। छह महीनेमें उन्हें वश करके जब वह अपने कटकमें लौट आता है तब तक उस गुफाकी वायु भी शुद्ध हो चुकती है।१३३१-१३३६। अब सर्व सैन्यको साथ लेकर वह गुफामें प्रवेश करता है, और काकिणी रत्नसे गुफाके अन्धकारको दूर करता है। और स्थपति रत्न गुफामें स्थित उन्मग्नजला नदीपर पुल बाँधता है। जिसके द्वारा सर्व सैन्य गुफासे पार हो जाती है।१३३७-१३४१। यहाँपर सेनाको ठहराकर पहले सेनापति पश्चिम खण्डके म्लेच्छ राजाओं-को जीतता है।१३४५-१३४८। तत्पश्चात् हिमवान पर्वतपर स्थित हिमवानदेवसे युद्ध करता है। देवके द्वारा अतिघोर वृष्टि की जानेपर छत्र रत्न व चर्म रत्नसे सैन्यकी रक्षा करता हुआ उस देवको भी जीत लेता है।१३४६-१३५०। अब वृषभगिरि पर्वतके निकट आता है। और दण्डरत्न द्वारा अन्य चक्रवर्तीका नाम मिटाकर वहाँ अपना नाम लिखता है।१३५१-१३५५। यहाँसे पुनः पूर्वमें गंगा नदीके तटपर आता है, जहाँ पूर्ववत् सेनापति दण्ड रत्न द्वारा तमिस्रा गुफाके द्वार-को खोलकर छह महीनेमें पूर्वखण्डके म्लेच्छ राजाओंको जीतता है।।१३५६-१३५८। विजयार्धकी उत्तर श्रेणीके ६० विद्याधरोंको जीतनेके पश्चात् पूर्ववत् गुफा द्वारसे पर्वतको पार करता है।१३५६-१३६५।

यहाँसे पूर्व खण्डके म्लेच्छ राजाओंको छह महीनेमें जीतकर पुनः कटकमें लौट आता है।१३६६। इस प्रकार छह खण्डोंको जीतकर अपनी राजधानीमें लौट आता है। (ह. पु./११/१-५६); (म.पु./२६-३६ पर्व/पृ. १-२२०); (ज. प./७/११५-१५१)।

११. राजधानीका स्वरूप

ति. सा./७१६-७१७ रयणकवाडवरावर सहस्सदलदार हेमपायारा। वार-सहस्सा वीही तत्थ चउप्पह सहस्सेक्कं।७१६। णयराण बहिं परिदो वणाणि तिसद ससट्ठि पुरमज्झे। जिणभवणा णरवइ जणगेहा सोहंति रयणमया।७१७। – राजधानीमें स्थित नगरोंके (दे. मनुष्य/४) रत्नमयी किवाड़ हैं। उनमें बड़े द्वारोंकी संख्या १००० है और छोटे ५०० द्वार हैं। सुवर्णमयी कोट है। नगरके मध्यमें १२००० वीथी और १००० चौपथ हैं।७१६। नगरोंके बाह्य चौगिर्द ३६० बाग हैं। और नगरके मध्य जिनमन्दिर, राजमन्दिर व अन्य लोगोंके मन्दिर रत्नमयी शोभते हैं।...।७१७।

१२. हुंडावसर्पिणीमें चक्रवर्तीके उत्पत्ति कालमें कुछ अपवाद

ति. प./४/१६१६-१६१८...सुसमदुस्समकालस्स ठिदिम्मि थोअवसेसे ।१६१६। तक्काले जायते...पढमचक्की य।१६१७। चक्किस्सविजयभंगो। – हुण्डावसर्पिणी कालमें कुछ विशेषता है। वह यह कि इस कालमें चौथा काल शेष रहते ही प्रथम चक्रवर्ती उत्पन्न हो जाता है। (यद्यपि चक्रवर्तीकी विजय कभी भंग नहीं होती। परन्तु इस काल-में उसकी विजय भी भंग होती है।)

३. नव बलदेव निर्देश

१. पूर्व भव परिचय

क्रम	म. पु./–सर्ग/श्लो.	नाम निर्देश १. ति. प./४/५१७,१४११ २. त्रि. सा./८२७ ३. प. पु./२०/२४२ टिप्पणी ४. ह. पु./६०/२९० ५. म. पु./पूर्ववत		द्वितीय पूर्व भव १. प. पु./२०/२२९–२३५ २. म. पु./पूर्ववत			प्रथम पूर्व भव (स्वर्ग) १. प. पु./२०/–२३६–२३७ २. म. पु./पूर्ववत
		सामान्य	विशेष	नाम	नगर	दीक्षा गुरु	स्वर्ग
			प. पु.				
१	५७/८६	विजय		बल (विशाखभूति)	पुण्डरीकिणी	अमृतसर	अनुत्तर विमान २ महाशुक्र
२	५८/८०–८३	अचल		मारुतवेग	पृथ्वीपुरी	महासुव्रत	"
३	५९/७१,१०६	धर्म	भद्र	नन्दिमित्र	आनन्दपुर	सुव्रत	"
४	६०/५८–६३	सुप्रभ		महाबल	नन्दपुरी	ऋषभ	सहस्रार
५	६१/७०,८७	सुदर्शन		पुरुषर्षभ	वीतशोका	प्रजापाल	"
६	६५/१७४-१७६	नन्दीषेण	नन्दिमित्र	सुदर्शन	विजयपुर	दमवर	"
७	६६/१०६-१०७	नन्दिमित्र	नन्दिषेण	वसुन्धर	सुसीमा	सुधर्म	ब्रह्म २ सौधर्म
८	६७/१४८-१४९ ६८/७३१	राम	पद्म	श्रीचन्द्र २ विजय	क्षेमा २ मलय	अर्णव	ब्रह्म २ सनत्कुमार
९		पद्म	बल	सखिसंज्ञ	हस्तिनापुर	विद्रुम	महाशुक्र

२. वर्तमान भवके नगर व माता पिता

क्र.		नगर	पिता	माता		गुरु	तीर्थ
	म. पु./सर्ग/श्लो.	म. पु./पूर्ववत्		१. प. पु./२०/२३८–२३६ २. म. पु./पूर्ववत्		१. प. पु./२०/–२४६–२४७ २. म पु./पूर्ववत्	
				सामान्य	विशेष		
				म. पु.	म. पु.		
१	५७/८६	पोदनपुर	प्रजापति	भद्राम्भोजा	जयवती	सुवर्णकुम्भ	तीर्थंकर
२	५८/८०-८३	द्वारावती	ब्रह्म	सुभद्रा	सुभद्रा	सत्कीर्ति	
३	५६/७१,१०६	”	भद्र	सुवेषा	”	सुधर्म	
४	६०/५८–६३	”	सोमप्रभ	सुदर्शना	जयवन्ती	मृगांक	
५	६१/७०,८७	खगपुर	सिंहसेन	सुप्रभा	विजया	श्रुतिकीर्ति	
६	६५/१७४,१७६	चक्रपुर	वरसेन	विजया	वैजयन्ती	सुमित्र २. शिवघोष	
७	६६/१०६-१०७	बनारस	अग्निशिख	वैजयन्ती	अपराजिता	भवनश्रुत	
८	{ ६७/१४८–१४६ ६८/७३१	” पीछे अयोध्या	दशरथ (१६४)	अपराजिता (कौशिल्या)	सुबाला	सुव्रत	
६			वसुदेव	रोहिणी		सुसिद्धार्थ	

३. वर्तमान भव परिचय

क्र.	म. पु./-सर्ग/श्लो.	शरीर			उत्सेध			आयु			निर्गमन
		ति प./४/१३७१			ति. प./४/१८१८ त्रि. सा./८२६ ह. पु./६०/३१० म. पु./पूर्ववत्			१. ति. प /४/१४१६–१४२० २. त्रि. सा./८३१ ३. म पु./पूर्ववत्			ति. प./४/१४३७ त्रि. सा./८३३ प. पु./२०/२४५
		वर्ण	संस्थान	संहनन	सामान्य धनु.	प्रमाण	विशेष धनु	सामान्य	प्रमाणसं.	विशेष	
								वर्ष		वर्ष	
१	५७/८६-६०	ति. प.=स्वर्ण; म. पु.=सफेद	समचतुरस्र	वज्र ऋषभ नाराच	८०			८७ लाख	३	८४ लाख	मोक्ष
२	५८/८६				७०			७७ ”			”
३	५६/–				६०			६७ ”			”
४	६०/६८-६६				५०	३	५५	३७ ”	३	३० ”	”
५	६१/७१				४५	३	४०	१७ ”	३	१० ”	”
६	६५/१७७-१७८				२६	३,४	२६	६७००० वर्ष	३	५६००० वर्ष	”
७	६६/१०८				२२			३७००० ”	३	३२००० ”	”
८	६७/१५४				१६	४	१३	१७००० ”	३	१३००० ”	”
६					१०			१२००० ”	२	१२०० ”	ब्रह्म स्वर्ग कृष्णके तीर्थमें मोक्ष प्राप्त करेंगे।

४. बलदेवका वैभव

म.पु./६८/६६७-६७४ सीताद्यष्टसहस्राणि रामस्य प्राणवल्लभाः। द्विगुणाष्टसहस्राणि देशास्तावन्महीभुजः।६६७। शून्यं पञ्चाष्टरन्ध्रोक्तख्याता द्रोणमुखाः स्मृताः। पत्तनानि सहस्राणि पञ्चविंशतिसंख्यया।६६८। कर्वटाः खत्रयद्व्येकप्रमिताः, प्रार्थितार्थदाः। मटम्बास्तत्प्रमाणाः स्युः सहस्राण्यष्ट खेटकाः।६६६। शून्यसप्तकवस्वब्धिमिता ग्रामा महाफलाः। अष्टाविंशमिता द्वीपाः समुद्रान्तर्वर्तिनः।६७०। शून्यपञ्चकपक्षाब्धिमितास्तुङ्गमतङ्गजाः। रथवर्यास्तु तावन्तो नवकोट्यस्तुरङ्गमाः।६७१। खसप्तकद्विवार्ध्युक्ता युद्धशौण्डाः पदातयः। देवाश्चाष्टसहस्राणि गणबद्धाभिमानकाः।६७२। हलायुधं महारत्नमपराजितनामकम्। अमोघाख्याः शरास्तीक्ष्णाः संज्ञया कौमुदी गदा।६७३। रत्नावतंसिका माला रत्नान्येतानि सीरिणः। तानि यक्षसहस्रेण रक्षितानि पृथक्-पृथक्।६७४। –रामचन्द्र जी (बलदेव) के ८००० रानियाँ, १६००० देश, १६००० आधीन राजा, ६८५० द्रोणमुख, २५००० पत्तन, १२००० कर्वट, १२००० मटंब, ८००० खेटक,

४८ करोड़ गाँव, २८ द्वीप, ४२ लाख हाथी, ४२ लाख रथ; ९ करोड़ घोड़े, ४२ करोड़ पदाति, ८००० गणबद्ध देव थे ।६६६–६७२। रामचन्द्र जीके अपराजित नामका 'हलायुध' अमोघ नामके तीक्ष्ण 'बाण', कौमुदी नामकी 'गदा' और रत्नावतंसिका नामकी 'माला' ये चार महारत्न थे। इन सब रत्नोंकी एक-एक हजार यक्ष देव रक्षा करते थे ।६७२–६७४। (ति. प./४/१४११), (त्रि. सा./८२५); (म. पु./५७/९०–९४)।

५. बलदेवों सम्बन्धी नियम

ति.प./४/१४३६ अणिदाणगदा सव्वे बलदेवा केसवा णिदाणगदा। उड्ढंगामी सव्वे बलदेवा केसवा अधोगामी ।१४३६। —सब बलदेव निदानसे रहित होते हैं और सभी बलदेव ऊर्ध्वगामी अर्थात् स्वर्ग व मोक्षको जाने वाले होते हैं। (ध. ६/१,९–९,२४३/५००/९); (ह. पु./६०/२९३)।

शलाका पुरुष/१/२-५ बलदेवोंका परस्पर मिलान नहीं होता, तथा एक क्षेत्रमें एक समयमें एक ही बलदेव होता है।

४. नव नारायण निर्देश

१. पूर्व भव परिचय

क्र.	१. नाम		२. द्वितीय पूर्व भव			३. प्रथम पूर्व भव
	१. ति. प./४/१४१२,५१८ २. त्रि. सा./८२५ ३. प. पु /२०/२२७ टिप्पणी ४. ह. पु./६०/२८८–२८९ ५. म पु./सर्ग/श्लो.		१. प. पु./२०/२०६–२१७ २. म. पु./पूर्ववत नीचे वाले नाम प. पु. मेंसे दिये गये हैं। म. पु.के नामों- में कुछ अन्तर है			१. प. पु./२०/– २१८–२२० २. म पु./पूर्ववत
		नाम	नाम	नगर	दीक्षा गुरु	स्वर्ग
१	५७/८३–८५	त्रिपृष्ठ	विश्वनन्दी	हस्तिनापुर	सम्भूत	महाशुक्र
२	५८/८४	द्विपृष्ठ	पर्वत	अयोध्या	सुभद्र	प्राणत
३	५९/८५–८६	स्वयंभू	धनमित्र	श्रावस्ती	वसुदर्शन	लान्तव
४	६०/६६,५०	पुरुषोत्तम	सागरदत्त	कौशाम्बी	श्रेयांस	सहस्रार
५	६१/७१,८५	पुरुषसिंह	विकट	पोदनपुर	सुभूति	ब्रह्म (२ माहेन्द्र)
६	६५/१७४–१७६	पुरुषपुंडरीक	प्रियमित्र	शैलनगर	वसुभूति	माहेन्द्र (२ सौधर्म)
७	६६/१०६–१०७	दत्त (२,५ पुरुषदत्त)	मानसचेष्टित	सिंहपुर	घोषसेन	सौधर्म
८	६७/१५०	नारायण (३,५ लक्ष्मण)	पुनर्वसु	कौशाम्बी	पराम्भोधि	सनत्कुमार
९	७०/३८८	कृष्ण	गंगदेव	हस्तिनापुर	द्रुमसेन	महाशुक्र

२. वर्तमान भवके नगर व माता पिता (प. पु./२०/२२१–२२८), (म. पु./पूर्व शीर्षवत्)

क्र.	४. नगर		५ पिता		६. माता	७. पटरानी	८. तीर्थ
	प पु.	म. पु.	म. पु.	प. पु.	प. पु. व म. पु.	प. पु. व म. पु.	
१	पोदनपुर	पोदनपुर	प्रजापति	प्रजापति	मृगावती	सुप्रभा	
२	द्वापुरी	द्वारावती	ब्रह्म	ब्रह्मभूति	माधवी (ऊषा)	रूपिणी	
३	हस्तिनापुर	"	भद्र	रौद्रनाद	पृथिवी	प्रभवा	
४	"	"	सोमप्रभ	सोम	सीता	मनोहरा	
५	चक्रपुर	खगपुर	सिंहसेन	प्रख्यात	अम्बिका	सुनेत्रा	[illegible]
६	कुशाग्रपुर	चक्रपुर	वरसेन	शिवाकर	लक्ष्मी	विमलसुन्दरी	
७	मिथिला	बनारस	अग्निशिख	सममूर्धाग्निनाद	केशिनी	आनन्दवती	
८	अयोध्या	" (पीछे अयोध्या) ६७/१६४	दशरथ	दशरथ	कैकेयी	प्रभावती	
९	मथुरा	मथुरा	वसुदेव	वसुदेव	देवकी	रुक्मिणी	

३. वर्तमान शरीर परिचय

क्र.	म. पु./सर्ग/श्लो.	९. शरीर			१० उत्सेध			११. आयु
		ति. प./४/१३७१ म. पु./पूर्ववत्			१. ति. प./४/१४१८ २. त्रि. सा./८२६ ३. ह. पु./६०/३१०-३१२ ४. म. पु./पूर्ववत्			ति. प./४/१४२१-१४२२ २. त्रि. सा./८३० ३. ह. पु./६०/५१७-५३१ म. पु./पूर्ववत्
		वर्ण	संस्थान	संहनन	सामान्य	प्रमाण सं.	विशेष	
१	५७/८६-९०	ति.प.—स्वर्णवत्/म.पु.—नील व कृष्ण	ति. प.—समचतुरस्र संस्थान	ति. प.—वज्रऋषभ नाराच संहनन	८० धनुष			८४ लाख वर्ष
२	५८/८६				७० „			७२ „ „
३	५९/-				६० „			६० „ „
४	६०/६८-६९				५० „	३	५५ धनुष	३० „ „
५	६१/७१				४५ „	३	४० „	१० „ „
६	६५/१७७-१८८				२९ „	३,४	२६ „	६५००० „ ४ (५६०००) „
७	६६/१०८				२२ „			३२००० „
८	६७/१४१-१५४				१६ „	४	१२ „	१२००० „
९	७१/१२३				१० „			१००० „

४. कुमार काल आदि परिचय

क्र	म. पु./- सर्ग/श्लो.	१२. कुमार काल	१३. मण्डलीक काल		१४. विजय काल	१५. राज्य काल		१६. निर्गमन	
			१. ति. प./४/१४२४-१४३३ २. ह. पु./६०/५१७-५३१			१. ति. प./४/१४२५-१४३६ २. ह. पु./६०/५१७-५३३		ति.प./४/१४३८ त्रि. सा./८३२	
			सामान्य	विशेष		सामान्य	विशेष		
				ह. पु.		वर्ष	ह. पु.		
१	५७/८९-९०	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	×	१००० वर्ष	८३४९०००	८,७४०००	सप्तम नरक	म.पु./की अपेक्षा सभी सप्तम नरक में गये हैं।
२	५८/८९	„	„		१०० „	७१४९९००		षष्ठ „	
३	५९/-	१२५०० वर्ष	१२५०० वर्ष		९० „	५९७४९१०		„ „	
४	६०/६८-६९	७०० „	१३०० „		८० „	२९९७९२०		„ „	
५	६१/७१	३०० „	१२५० „	१२५	७० „	९९८३८०	९९९५०५	„ „	
६	६५/१७७-१७८	२५० „	२५० „		६० „	६४४४०		„ „	
७	६६/१०८	२०० „	५० „		५० „	३१७००		पंचम „	
८	६७/१५१-१५४	१०० „	३०० „	×	४० „	११५६०	११८६०	चतुर्थ „	
९	७१/१२३	१६ „	५६ „		८ „	९२०		तृतीय „	

५. नारायणोंका वैभव

म. पु./६८/६६६,६७५-६७७ पृथिवीसुन्दरीमुख्याः केशवस्य मनोरमाः। द्विगुणाष्टसहस्राणि देव्यः सत्योऽभवन् श्रियः।६६६। चक्रं सुदर्शनाख्यानं कौमुदीत्युदिता गदा। असिः सौनन्दकोऽमोघमुखी शक्ति शरासनम् ।६७५। शाङ्गं पञ्चमुखः पाञ्चजन्यः शङ्खो महाध्वनिः। कौस्तुभं स्वप्रभाभारभासमानं महामणिः।६७६। रत्नान्येतानि सप्तैव केशवस्य पृथक्-पृथक्। सदा यक्षसहस्रेण रक्षितान्यमितद्युतेः।६७७। =नारायणके (लक्ष्मणके) पृथिवीसुन्दरीको आदि लेकर लक्ष्मीके समान मनोहर सोलह हजार पतिव्रता रानियाँ थीं।६६६। इसी प्रकार सुदर्शन नामका चक्र, कौमुदी नामकी गदा, सौनन्द नामका खड्ग, अमोघमुखी शक्ति, शार्ङ्ग नामका धनुष, महाध्वनि करने वाला पाँच मुखका पाञ्चजन्य नामका शंख और अपनी कान्तिके भारसे शोभायमान कौस्तुभ नामका महामणि ये सात रत्न अपरिमित कान्तिको धारण करने वाले नारायण (लक्ष्मण) के थे और सदा एक-एक हजार यक्ष देव उनकी पृथक्-पृथक् रक्षा करते थे।६७५-६७७। (ति. प./४/१४३४); (त्रि. सा./८२५); (म. पु./५७/९०-९४); (म.पु./७१/१२४-१२८)।

६. नारायण की दिग्विजय

म. पु./६८/६४३-६५५ लंकाको जीतकर लक्ष्मणने कोटिशिला उठायी और वहाँ स्थित सुनन्द नामके देवको वश किया ।६४३-६४६। तत्पश्चात् गंगाके किनारे-किनारे जाकर गंगा द्वारके निकट सागरमें स्थित मागधदेवको केवल बाण फेंक कर वश किया । ६४७-६५० । तदनन्तर समुद्रके किनारे-किनारे जाकर जम्बूद्वीपके दक्षिण वैजयन्त द्वारके निकट समुद्रमें स्थित 'बरतनु देव' को वश किया । ६५१-६५२ । तदनन्तर पश्चिमकी ओर प्रयाण करते हुए सिन्धु नदीके द्वारके निकटवर्ती समुद्रमें स्थित प्रभास नामक देवको वश किया ।६५३-६५४। तत्पश्चात् सिन्धु नदीके पश्चिम तटवर्ती म्लेच्छ राजाओंको जीता।६५५। इसके पश्चात् पूर्व दिशाकी ओर चले । मार्गमें बिजयार्धकी दक्षिण श्रेणीके ५० विद्याधर राजाओंको वश किया । फिर गंगा तटके पूर्ववर्ती म्लेच्छ राजाओंको जीता ।६५६-६५७। इस प्रकार उसने १६००० पट बन्ध राजाओंको तथा ११० विद्याधरोंको जीतकर तीन खण्डोंका आधिपत्य प्राप्त किया । यह दिग्विजय ४२ वर्षमें पूरी हुई । ६५८ ।

म. पु /६८/७२४-७२५ का भावार्थ—वह दक्षिण दिशाके अर्धभरत क्षेत्रके समस्त तीन खण्डोंके स्वामी थे ।

७. नारायण सम्बन्धी नियम

ति. प./४/१४३६ अणिदाणगदा सव्वे बलदेवा केसवा णिदाणगदा। उड्ढंगामी सव्वे बलदेवा केसवा अधोगामी ।१४३६। —…सब नारायण (केशव) निदानसे सहित होते हैं और अधोगामी अर्थात नरकमें जाने वाले होते हैं ।१४३६। (ह. पु./६०/२९३)

ध. ६/१,९-९,२४३/५०१/१ तस्स मिच्छत्ताविणाभाविणिदाणपुरंगमत्तादो । —वासुदेव (नारायण) की उत्पत्तिमें उससे पूर्व मिथ्यात्वके अविनाभावी निदानका होना अवश्यभावी है । (प. पु./२०/२१४)

प.पु./२०/२१४ संभवन्ति बलानुजा. ।२१४। —ये सभी नारायण बलभद्रके छोटे भाई होते हैं ।

त्रि. सा./८३३ …किण्हे तित्थयरे सोवि सिज्झेदि ।८३३। —(अन्तिम नारायण) कृष्ण आगे सिद्ध होंगे ।

दे. शलाका पुरुष/१ दो नारायणोंका परस्परमें कभी मिलाप नहीं होता । एक क्षेत्रमें एक कालमें एक ही प्रतिनारायण होता है । उनके शरीर मूँछ, दाढ़ीसे रहित तथा स्वर्ण वर्ण व उत्कृष्ण संहनन व संस्थानसे युक्त होते है ।

प. प्र./टी./१।४२/४२/५ पूर्वभवे कोऽपि जीवो भेदाभेदरत्नत्रयाराधनं कृत्वा विशिष्टं पुण्यबन्धं च कृत्वा पश्चादज्ञानभावेन निदानबन्धं करोति, तदनन्तरं स्वर्गं गत्वा पुनर्मनुष्यो भूत्वा त्रिखण्डाधिपतिर्वासुदेवो भवति । —अपने पूर्व भवमें कोई जीव भेदाभेद रत्नत्रयकी आराधना करके विशिष्ट पुण्यका बन्ध करता है । पश्चात् अज्ञान भावसे निदान बन्ध करता है । तदनन्तर स्वर्गमें जाकर पुनः मनुष्य होकर तीन खण्डका अधिपति वासुदेव होता है ।

५. नव प्रतिनारायण निर्देश

१. नाम व पूर्वभव परिचय

क्र	म. पु /सर्ग श्लो.	१. नाम निर्देश			२. कई भव पहिले		३. वर्तमान भवके नगर	
		१. ति. प./४/१४१३. ५११ २. त्रि. सा./८२८ ३. प. पु./२०/२४४-२४५ ४. ह. पु./६०/२९१-२९२ ५. म. पु./पूर्ववत			म. पु./पूर्ववत		प. पु./२०/२४२-२४३ म. पु./पूर्ववत	
		सामान्य	स.	विशेष	नाम	नगर	प. पु.	म. पु.
१	५७/७२ ७३ ८७-८८,९५	अश्वग्रीव			विशाखनन्दि	राजगृह	अलका	अलका
२	५८/६३,९०	तारक			विन्ध्यशक्ति	मलय	विजयपुर	भोगवर्धन
३	५९/८८,९९	मेरक	५	मधु	चण्डशासन	श्रावस्ती	नन्दनपुर	रत्नपुर
४	६०/७०,८३	मधुकैटभ	५	मधुसूदन	राजसिंह	मलय	पृथ्वीपुर	वाराणसी
५	६१/७४,८३	निशुम्भ	५	मधुक्रीड			हरिपुर	हस्तिनापुर
६	६५/१८०-१८६	बलि	५	निशुम्भ	मन्त्री		सूर्यपुर	चक्रपुर
७	६६/१०६-१११,१२५	प्रहरण	३	प्रह्लाद	नरदेव	सारसमुच्चय	सिंहपुर	मन्दरपुर
			५	बलीन्द्र				
८	६८/११-१३,७२८	रावण	३	दशानन			लंका	लंका
९		जरासंध					राजगृह	

२. वर्तमान भव परिचय

क्रम	म. पु./सर्ग श्लो.	४. तीर्थ	५. शरीर			६. उत्सेध		७. आयु		८. निर्गमन
			ति. प./४/१३७१			१. ति. प./४/१४१८ २. त्रि. सा./८२६ ३. ह. पु./६०/३१०-३११		१ ति. प./४/१४२२ २ त्रि. सा./८३० ३ ह. पु./६०/३२०-३२१ ४ म. पु./पूर्ववत्		१ ति. प./४/१४३८ २ त्रि. सा./८३२-८३३ ३ म. पु./पूर्ववत्
			वर्ण	संस्थान	संहनन	सामान्य	विशेष	सामान्य	विशेष	
						धनुष	ह. पु.	वर्ष,	म. पु.	नरक
१	५७/७२-७३,८७-८८	३. तीर्थंकर	ति. प.—स्वर्णवर्ण; म. पु.—x	समचतुरस्र संस्थान	वज्र ऋषभ नाराच संहनन	८०		८४ लाख		सप्तम
२	५८/६३,६०					७०		७२ ,,		षष्ठम
३	५९/८८,९६					६०		६० ,,		षष्ठ (३ सप्तम)
४	६०/७०,८३					५०	४०	३० ,,		षष्ठ
५	६१/७४,८३					४५	५५	१० ,,		,,
६	६५/१८०,१८६					२६	२६	६५०००		,,
७	६६/१०६-१११,१२५					२२		३२०००		पंचम
८	६८/११-१३,७२८					१६		१२०००	१४०००	चतुर्थ
९						१०		१०००		तृतीय

३. प्रति नारायणों सम्बन्धी नियम

ति. प./४//१४२३ एवे णवपडिसत्तु णवाण हत्थेहिं वासुदेवाणं । णियचक्केहि रणेसुं समाहदा जंति णिरयखिदिं ।१४२३। —ये नौ प्रतिशत्रु युद्धमें नौ वासुदेवोंके हाथोंसे निज चक्रोंके द्वारा मृत्युको प्राप्त होकर नरक भूमिमें जाते हैं ।१४२३।

वे. शलाका पुरुष/१/४.५ दो प्रतिनारायणोंका परस्परमें मिलान नहीं होता । एक क्षेत्रमें एक कालमें एक ही प्रतिनारायण होता है। इनका शरीर दाढ़ी मूँछ रहित होता है ।

६. नव नारद निर्देश

१. वर्तमान नारदोंका परिचय

क्रम	१. नाम निर्देश		२. उत्सेध		३. आयु		४. वर्तनाकाल	५. निर्गमन	
	१ ति. प./४/१४६६ २ त्रि. सा./८३४ ३ ह. पु./६०/५४८		ति. प./४/१४७१	ह. पु./६०/५४६	१. ति. प./४/१४७१ २. ह. पु./६०/५४६		१ त्रि. सा./८३५ २ ह. पु./६०/५४६	१ ति. प./४/१४७० २ त्रि. सा./८३५ ३ ह. पु./६०/५५७	
					१	२		सामान्य	विशेष
		ह. पु.							
१	भीम		उपदेश उपलब्ध नहीं है	तात्कालिक नारायणोंके तुल्य है	उपदेश उपलब्ध नहीं है	तात्कालिक नारायणोंके तुल्य है	नारायणोंके समयमें ही होते हैं	नारायणोंवत् नरकगतिको प्राप्त होते हैं	महाभव्य होनेके कारण परम्परा मुक्त होते हैं।
२	महाभीम								
३	रुद्र								
४	महारुद्र								
५	काल								
६	महाकाल								
७	दुर्मुख	चतुर्मुख							
८	नरकमुख	नरवक्त्र							
९	अधोमुख	उन्मुख							

२. नारदों सम्बन्धी नियम

ति. प./४/१४७० रुद्दावइ अइरुद्दा पावणिहाणा हवंति सव्वे दे। कलह महाजुज्झपिया अधोगया वासुदेव व्व ।१४७०। —ये सब अतिरुद्र होते हुए दूसरोंको रुलाया करते हैं और पापके निधान होते हैं। सभी नारद कलह एवं महायुद्ध प्रिय होनेसे वासुदेवके समान अधोगति अर्थात् नरकको प्राप्त हुए ।१४७०।

प. पु./११/११६-२६६ ब्रह्मरुचिस्तस्य कूर्मी नाम कुटुम्बिनी (११७) प्रसुता दारकं शुभं ।१४५। यौवनं च···।१५३।···प्राप्य क्षुल्लकचारित्रं जटामुकुटमुद्वहन् ··· ।१५५। कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्य्यात्यन्तवत्सल··· ।१५६। उवाचेति मरुत्वन्त किं प्रारब्धमिदं नृप। हिंसन्···प्राणिवर्गस्य द्वारं···।१६१। नारदोऽपि ततः काश्चिन्मुष्टिमुद्गरताडनैः···।२५७। श्रुत्वा रावणः कोपमागतः···।२६४। अमोचयत् दयायुक्तो नारदं शत्रुपञ्जरात् ।२६६। —ब्रह्मरुचि ब्राह्मणने तापसका वेश धारण करके इसको (नारदको) उत्पन्न किया था। यौवन अवस्थामें ही क्षुल्लकके व्रत लिये ।१५३। कन्दर्प व कौत्कुच्य प्रेमी था ।१५६। मरुत्वान् यज्ञमें शास्त्रार्थ करनेके कारण (१६०) पीटा गया ।२५६। रावणने उस समय रक्षा की ।२६६। (ह. पु./४२/१४-२३) (म. पु./६७/३५१-४५५)।

त्रि. सा./८३५ कलहप्पिया कदाइं धम्मरदा वासुदेव समकाला। भव्वा णिरयगदिं ते हिंसादोसेण गच्छंति ।८३५। —ये नारद कलह प्रिय हैं, परन्तु कदाचित् धर्ममें भी रत होते हैं। वासुदेवों (नारायणों) के समय में ही होते हैं। यद्यपि भव्य होनेके कारण परम्परासे मुक्तिको प्राप्त करते हैं, परन्तु हिंसादोषके कारण नरक गतिको जाते हैं ।८३५। (ह. पु./६०/५४९-५५०)।

७. एकादश रुद्र निर्देश

१. नाम व शरीरादि परिचय

क्रम	२. नाम निर्देश		[illegible]	३. उत्सेध	४. आयु
	१ ति. प./४/१४३९-१४४१, ५२०-५२१ २ त्रि. सा./८३६ ३ ह. पु./६०/५३४-५३६			१ ति. प./४/- १४४४-१४४५ २ त्रि. सा./८३८ ३ ह. पु./६०/- ५३५-५३८	१ ति. प./४/- १४४६-१४४७ २ त्रि. सा./८३६ ३ ह. पु./६०/ ५३९-५४५
		त्रि. सा.			
१	भीमावलि		[illegible]	५०० धनुष	८३ ला० पूर्व
२	जितशत्रु			४५० "	७१ „ „
३	रुद्र			१०० "	२ „ „
४	वैश्वानर	विशाल नयन		९० "	१ „ „
५	सुप्रतिष्ठ			८० "	८४ „ वर्ष
६	अचल	बल		७० "	६० " "
७	पुण्डरीक			६० "	५० " "
८	अजितंधर			५० "	४० " "
९	अजितनाभि	जितनाभि		२८ "	२० " "
१०	पीठ			२४ "	१० " " (२-१. " ७)
११	सात्यकि पुत्र			७ हाथ	६९ वर्ष

२. कुमार काल आदि परिचय

क्रम	५. कुमार काल	६. संयमकाल	७. तप भंगकाल	८. निर्गमन
	१ ति. प./४/१४४६-१४६७ २ ह. पु./६०/५३९-५४५			१ ति. प./४/ १४६८ २ त्रि. सा./८४० ३ ह. पु./६०/- ५४६-५४७
१	२७६६६६६ पूर्व	२७६६६६८ पूर्व	२७६६६६६ पूर्व	सप्तम नरक
२	२३६६६६६ „	२३६६६६८ „	२३६६६६६ „	„ „
३	६६६६६ „	६६६६८ „	६६६६६ „	षष्ठ „
४	३३३३३ „	३३३३४ „	३३३३३ „	„ „
५	२८ लाख वर्ष	२८ लाख वर्ष	२८ लाख वर्ष	„ „
६	२० „ „	२० „ „	२० " "	„ „
७	१६६६६६६ वर्ष (ह. पु. १६६६६६-६८ वर्ष)	१६६६६६८ वर्ष (ह. पु. १६६६६-६६६ वर्ष	१६६६६६६ वर्ष	„ „
८	१३३३३३३ वर्ष	१३३३३३४ वर्ष	१३३३३३३ वर्ष	पंचम „
९	६६६६६६ „ (ह. पु. ६६६६६-६८ वर्ष)	६६६६६८ „ (ह. पु./६६६६६-६६ वर्ष)	६६६६६६ „	चतुर्थ „
१०	३३३३३३ वर्ष	३३३३३४ वर्ष	३३३३३३ वर्ष	„ „
११	७ वर्ष	३४ वर्ष (ह.पु. २८ वर्ष)	२८ वर्ष (ह. पु./३४ वर्ष)	तृतीय „

३. रुद्रों सम्बन्धी कुछ नियम

ति. प./४/१४४०, १४४२ पीढो सच्चइपुत्तो अंगधरा तित्थकत्ति-समएसु।···।१४४०। सव्वे दसमे पुव्वे रुद्दा भट्ठा तवाउ विसयत्थं। सम्मत्तरयणरहिदा बुड्डा घोरेसु णिरएसुं ।१४४२। —ये ग्यारह रुद्र अंगधर होते हुए तीर्थंकर्ताओंके समयोंमें हुए हैं ।१४४०। सब रुद्र दशमें पूर्वका अध्ययन करते समय विषयों के निमित्त तपसे भ्रष्ट होकर सम्यक्त्व रूपी रत्नसे रहित होते हुए घोर नरकमें डूब गए ।१४४२।

ह. पु./६०/५४७ ···। भूर्यसंयमभाराणां रुद्राणां जन्मभूमयः। —उन रुद्रोंके जीवनमें असंयमका भार अधिक होता है, इसलिए नरकगामी होना पड़ता है।

त्रि. सा./८४१ विज्जाणुवादपढणे दिट्ठफला णट्ठ संजमा भव्वा। कदिचि भवे सिज्झंति हु गहिदुज्झिय सम्ममहियादो ।८४१। —ते रुद्र विद्यानुवाद नामा पूर्वका पठन होतै इह लोक सम्बन्धी फलके भोक्ता भए। बहुरि नष्ट भया है, अंगीकार किया हुआ संजम जिनका ऐसे हैं। बहुरि भव्य हैं, ते ग्रहण करके छोड़ा जो सम्यक्त्व ताके माहात्म्यसे केतेइक पर्याय भये सिद्ध पद पावेंगे।

८. चौबीस कामदेव निर्देश

१. चौबीस कामदेवोंका निर्देश मात्र

ति. प./४/१४७२ कालेसु जिणवराणं चउवीसाणं हवंति चउवीसा। ते बाहुबलिप्पमुहा कंदप्पा णिरुवमायारा ।१४७२। —चौबीस तीर्थंकरोंके समयोंमें अनुपम आकृतिके धारक वे बाहुबलि प्रमुख २४ कामदेव होते हैं।

९. सोलह कुलकर निर्देश

१. वर्तमानकालिक कुलकरोंका परिचय

क्रम	म. पु./३/श्लो. २२९-२३२	१. नाम निर्देश		२. पिता	३. संस्थान	४. संहनन	५ वर्ण		६. उत्सेध		७ जन्मान्तराल		८. आयु				९. पटरानी	
		१. ति.प./४/गाथा २. त्रि.सा./७९२-७९३ ३. प.पु./३/७५-८८ ४. ह.पु./७/१२५-१७० ५. म.पु./पूर्ववत		ह.पु./७/१२५-१७०	ह. पु./७/१७३	ह. पु./७/१७३	१. ति.प./४/गा. २. त्रि.सा./७९८ ३. ह.पु./७/१७४-१७५		१. ति प./४/गा. २. त्रि.सा /७९५ ३. ह.पु./६०/१७१-१७२ ४. म.पु /पूर्ववत		१. ति.प./४/गा. २. त्रि सा./७९७		१. ति.प./४/गा. २. त्रि. सा./७९६ ३. म.पु./पूर्ववत ४. ति.प./४/५०२-५०३ ५. ह.पु./७/१४८-१७०				१. ति.प./४/गा.	
		ति. प.					ति. प.		ति. प.			ति. प.	ति. प.	दृष्टि सं० १	प्रमाण सं०	दृष्टि सं० २	ति. प.	
१	६३-७२	४२१	प्रतिश्रुति	अगला अगला कुलकर अपने से पूर्व पूर्व का पुत्र है।	सभी सम चतुरस्र संस्थानसे युक्त हैं।	सभी वज्र ऋषभ नाराच संहननसे युक्त हैं।		×	४२२	१८०० ध०	४२१	तृ० कालमें १/८ पल्य, शेष में	४२२	१/१० पल्य	३-५	१/१० पल्य	४२२	स्वयंप्रभा
२	७६-८९	४३०	सन्मति				४३०	स्वर्ण	४३१	१३०० ,,	४३०	१/८० पल्य	४३१	१/१०० ,,	,,	अमम	४३१	यशस्वती
३	९०-१०१	४३६	क्षेमंकर				४४०	,,	४४०	८०० ,,	४३६	१/८०० ,,	४४०	१/१००० ,,	,,	अटट	४४०	सुनन्दा
४	१०२-१०६	४४४	क्षेमंधर				४४६	,,	४४५	७७५ ,,	४४४	१/८००० ,,	४४५	१/१०,००० ,,	,	त्रुटित	४४६	विमला
५	१०७-१११	४४८	सीमंकर				४४९	,,	४४९	७५० ,,	४४८	१/८०,००० ,,	४४९	१/१ लाख ,,	,,	कमल	४५०	मनोहरी
६	११२-११५	४५३	सीमंधर					×	४५४	७२५ ,,	४५३	१/८ लाख ,,	४५४	१/१० ,, ,,	,,	नलिन	४५४	यशोधरा
७	११६-११९	४५७	विमलवाहन[1]				४५८	स्वर्ण	४५८	७०० ,,	४५७	१/८० ,, ,,	४५८	१/१ करोड़ ,,	,,	पद्म	४५८	सुमति
८	१२०-१२४	४६०	चक्षुष्मान्					×*	४६१	६७५ ,,	४६०	१/८ करोड़ ,,	४६१	१/१०करोड़ ,,	,,	पद्मांग	४६२	धारिणी
९	१२५-१२८	४६५	यशस्वी				४६६	स्वर्ण*	४६६	६५० ,,	४६५	१/८० ,, ,	४६६	१/१०० ,, ,,	,,	कुमुद	४६७	कान्त माला
१०	१२९-१३३	४६९	अभिचन्द्र				४७१	,,	४७०	६२५ ,,	४६९	१/८०० ,, ,,	४७०	१/१००० ,, ,,	,,	कुमुदांग	४७१	श्रीमती
११	१३४-१३८	४७५	चन्द्राभ				४७६	,, *	४७६	६०० ,,	४७५	१/८००० ,, ,,	४७६	१/१०,००० क ,,	,,	नयुत	४७७	प्रभावती
१२	१३९-१४५	४८२	मरुद्देव				४८४	,,	४८३	५७५ ,,	४८२	१/८०००० ,, ,,	४८३	१/१ ला. क ,,	,,	नयुतांग	४८४	सत्या
१३	१४६-१५१	४८९	प्रसेनजित्				४९०	,, *	४९०	५५० ,,	४८९	१/८ ला. ,, ,,	४९०	१/१० ,, ,, ,,	,,	पर्व	४९१	अमितमति
१४	१५२-१६३	४९४	नाभिराय				४९५	,,	४९५	५२५ ,,	४९४	१/८० ,, ,, ,,	४९१	१/१०० ,, ,, ,,	,,	१ करोड़ पूर्व	४९५	मरुदेवी
												१/८ पल्य		किंचिदून १ पल्य				
१५	२३२		ऋषभ[2]					←	—	देखो तीर्थंकर		—	→					
१६	,,		भरत[2]					←	—	देखो चक्रवर्ती		—	→					

नोट—१. पद्म पुराण में विमलवाहन नाम नहीं दिया है और यशस्वीसे आगे 'विपुल' नाम देकर कमी पूरी कर दी है।

२. म. पु. की अपेक्षा ऋषभ व भरतकी गणना भी कुलकरोंमें करके उनका प्रमाण १६ दर्शाया गया है।

* त्रि.सा. की अपेक्षा नं. ८ व ९ का वर्ण श्याम तथा सं. ११ व १३ का धवल है। ह पु. की अपेक्षा ८, ९, १३ का श्याम तथा सं. ११ का धवल है।

क्र०	ति. प./४/गा.	म. पु./३/श्लो.	१०. नाम	११. दण्ड विधान	१२. तात्कालिक परिस्थिति	१३. उपदेश
			प्रमाण देखो पीछे	१. ति.प./४/४५२-४७४ २. त्रि. सा./४६८ ३. ह पु./७/१४१-१७६ ४. म. पु./पूर्ववत्	१. ति. प./पूर्ववत् २. त्रि. सा./७९९-८०२ ३. प. पु./३/७५-८८ ४. ह. पु./७/१२५-१७० ५. म. पु./पूर्ववत्	१. ति. प./पूर्ववत् २. त्रि. सा./७९९-८०२ ३. प. पु./३/७५-८८ ४. ह. पु./७/१२५-१७० ५. म. पु./पूर्ववत्
१	४२३-४२८	६३-७५	प्रतिश्रुति	ति.प./४५२ हा.	चन्द्र सूर्यके दर्शनसे प्रजा भयभीत थी	तेजांग जातिके कल्पवृक्षोंकी कमीके कारण अब दीखने लगे हैं। यह पहले भी थे पर दीखते न थे। इस प्रकार उनका परिचय देकर भय दूर करना।
२	४३२-४३८	७६-८९	सन्मति	,,	तेजांग जातिके कल्प वृक्षोंका लोप। अन्धकार व तारागणका दर्शन।	अन्धकार व ताराओंका परिचय देकर भय दूर करना।
३	४४१-४४३	९०-१०१	क्षेमंकर	,,	व्याघ्रादि जन्तुओंमें क्रूरताके दर्शन।	क्रूर जन्तुओंसे बचकर रहना तथा गाय आदि जन्तुओंको पालनेकी शिक्षा।
४	४४६-४४७	१०२-१०६	क्षेमन्धर	,,	व्याघ्रादि द्वारा मनुष्योंका भक्षण।	अपनी रक्षार्थ दण्ड आदिका प्रयोग करनेकी शिक्षा।
५	४५१-४५३	१०७-१११	सीमंकर	,,	कल्प वृक्षोंकी कमीके कारण उनके स्वामित्व पर परस्परमें झगड़ा।	कल्प वृक्षोंकी सीमाओंका विभाजन।
६	४५५-४५६	११२-११५	सीमंधर	ति.प./४७४ हा. मा.	वृक्षोंकी अत्यन्त हानिके कारण कलहमें वृद्धि।	वृक्षोंको चिह्नित करके उनके स्वामित्वका विभाजन।
७	४५९	११६-११९	विमलवाहन	,,	गमनागमनमें बाधाका अनुभव।	अश्वारोहण व गजारोहणकी शिक्षा तथा वाहनोंका प्रयोग।
८	४६२-४६३	१२०-१२४	चक्षुष्मान्	,,	अबसे पहले अपनी सन्तानका मुख देखनेसे पहले ही माता-पिता मर जाते थे। पर अब सन्तानका मुख देखनेके पश्चात् मरने लगे।	सन्तानका परिचय दे कर भय दूर करना।
९	४६७-४६८	१२५-१२८	यशस्वी	,,	बालकोंका नाम रखने तक जीने लगे।	बालकोंका नामकरण करनेको शिक्षा
१०	४७२-४७३	१२९-१३३	अभिचन्द्र	,,	बालकोंका बोलना व खेलना देखने तक जोने लगे।	बालकोंको बोलना व खेलना सिखानेकी शिक्षा।
११	४७८-४८१	१३४-१३८	चन्द्राभ	त्रि. सा. हा. मा. धिक्	पुत्र-कलत्रके साथ लम्बे काल तक जीवित रहने लगे। शीत वायु चलने लगी।	सूर्यकी किरणोंसे शीत निवारणकी शिक्षा।
१२	४८४-४८६	१३९-१४५	मरुद्देव	,,	मेघ, वर्षा, बिजली, नदी व पर्वत आदिके दर्शन।	नौका व छातोंकी प्रयोग विधि तथा पर्वतपर सीढ़ियाँ बनानेकी शिक्षा।
१३	४९१	१४६-१५१	प्रसेनजित्	,,	बालकोंके साथ जरायुकी उत्पत्ति।	जरायु दूर करनेके उपायकी शिक्षा।
१४	४९६-५००	१५२-१६३	नाभिराय	,,	१. नाभिनाल अत्यन्त लम्बा होने लगा। २. कल्पद्रुमोंका अत्यन्त अभाव। औषधि, धान्य व फलों आदिकी उत्पत्ति।	१. नाभिनाल काटनेके उपायकी शिक्षा। २. औषधियों व धान्य आदिकी पहचान व विवेक कराया तथा उनका व दूध आदिका प्रयोग करनेकी शिक्षा दी।
१५			ऋषभदेव	,,	स्व जात धान्यादिमें हानि।	कृषि आदि षट् विद्याओंकी शिक्षा।
१६			भरत		मनुष्योंमें अविवेककी उत्पत्ति।	वर्ण व्यवस्थाकी स्थापना।

हा = हाय; मा = मतकर; धिक् = धिक्कार

२. कुलकरके अपर नाम व उनका सार्थक्य

ति. प./४/५०७-५०९ णियजोग्गसुदं पढिदा खीणे आउम्हि ओहिणाण जुदा। उप्पज्जिदूण भोगे केई णरा ओहिणाणेणं ।५०७। जादिभरणेण केई भोगमणुस्साण जीवणोवायं। भासंति जैण तेणं मणुणो भणिदा मुणिदेहिं ।५०८। कुलधारणादु सव्वे कुलधरणामेण भुवणविक्खादा। कुलकरणम्मि य कुसला कुलकरणामेण सुपसिद्धा ।५०९। = अपने योग्य श्रुतको पढ़कर इन राजकुमारोंमेंसे कितने ही आयुके क्षीण होनेपर अवधिज्ञानके साथ भोगभूमिमें मनुष्य उत्पन्न होकर अवधिज्ञानसे और कितने ही जाति स्मरणसे भोगभूमिज मनुष्योंको जीवनके उपाय बतलाते हैं, इसलिए मुनीन्द्रोंके द्वारा ये मनु कहे गये हैं ।५०७-५०८। ये सब कुलोंको धारण करनेसे कुलधर और कुलोंके करनेमें कुशल होनेसे 'कुलकर' नामसे भी लोकमें प्रसिद्ध हैं ।५०९। (म. पु./३/२१०-२११)।

३. पूर्वभव सम्बन्धी नियम

ति. प./४/५०४ एदे चउदस मणुआ पदिसुदिपहुदी हु णाहिरायंता। पुव्वभवम्मि विदेहे राजकुमारा महाकुले जादा ।५०४। = प्रतिश्रुतिको आदि लेकर नाभिराय पर्यन्त ये चौदह मनु पूर्वभवमें विदेह क्षेत्रके भीतर महाकुलमें राजकुमार थे ।५०४।

४. पूर्वभवमें संयम तप आदि सम्बन्धी नियम

ति प./४/५०५-५०६ कुसला दाणादीसुं संजमतवणाणवंतपत्ताण। णियजोग्ग अणुट्ठाणा मद्दवअज्जवगुणेहि संजुत्ता ।५०५। मिच्छत्तभावणाए भोगाउं बंधिऊण ते सव्वे। पच्छा खाइयसम्मं गेण्हंति जिणिंदचलणमूलम्हि ।५०६। = वे सब संयम तप और ज्ञानसे युक्त पात्रोंके लिए दानादिकके देनेमें कुशल, अपने योग्य अनुष्ठानसे युक्त, और मार्दव, आर्जव गुणोंसे सहित होते हुए पूर्वमें मिथ्यात्व भावनासे भोगभूमिकी आयुको बाँधकर पश्चात् जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंके समीप क्षायिक सम्यक्त्वको ग्रहण करते हैं ।५०५-५०६। (त्रि. सा./७९४)।

५. उत्पत्ति व संख्या आदि सम्बन्धी नियम

ति. प./४/१५६६ वाससहस्से सेसे उप्पत्ती कुलकराण भरहम्मि। अथ चोद्दसाण ताणं कमेण णामाणि वोच्छामि। — इस कालमें (पंचमकाल प्रारम्भ होनेमें) १००० वर्षोंके शेष रहनेपर भरत क्षेत्रमें १४ कुलकरोंकी उत्पत्ति होने लगती है। (कुछ कम एक पल्यके ८वें भाग मात्र तृतीयकालके शेष रहनेपर प्रथम कुलकर उत्पन्न हुआ। — दे० शलाका पुरुष/९।१)।

म. पु./३/२३२ तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दशः। वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ मनू ।२३२। — चौदहवें कुलकर नाभिराय थे। इनके सिवाय भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकर भी थे और मनु भी, तथा भरत चक्रवर्ती भी थे और मनु भी थे।

त्रि. सा./७९४...खइयसंदिट्ठी। इह खत्तियकुलजादा केइज्जाइब्भरा ओही ।७९४। — क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कुलकर उपजते है। और भी क्षत्रिय कुलमें जन्मते हैं। (यहाँ क्षत्रिय कुलका भावीमें वर्तमान का उपचार किया है।)। ते कुलकर केइ तौ जाति स्मरण संयुक्त है, और कोई अवधिज्ञान संयुक्त है।

१०. भावि शलाका पुरुष निर्देश

१. कुलकर चक्रवर्ती व बलदेव

क्रम	१. कुलकर			२. चक्रवर्ती	३. बलदेव		
	१. ति. प./४/१५७०-१५७१ २. ह. पु./६०/५५५-५५७ ३. म. पु./७६/४६३-४६६			१. ति. प./४/१५८७-१५८८ २. त्रि. सा./८७७-८७८ ३. ह. पु./६०/५६३-५६५ ४. म. पु./७६/४८२-४८४	१. ति. प./४/१५८९-१५९० २. त्रि. सा./८७८-८७९ ३. ह. पु./६०/५६८-५६९ ४. म. पु./७६/४८५-४८६		
	सामान्य	प्रमाण सं०	विशेष		सामान्य	प्रमाण सं.	विशेष
१	कनक			भरत	चन्द्र		
२	कनकप्रभ			दीर्घदन्त	महाचन्द्र		
३	कनकराज			मुक्तदन्त (३ जन्मदत्त)	चन्द्रधर	४	चक्रधर
४	कनकध्वज			गूढदन्त	वरचन्द्र	२,३,४	हरिचन्द्र ×
५	कनकपुंख	२,३	कनकपुंगव	श्रीषेण	सिंहचन्द्र		
६	नलिन			श्रीभूति	हरिचन्द्र	२,४	वरचन्द्र
७	,, प्रभ			श्रीकान्त	श्रीचन्द्र	२,४	पूर्णचन्द्र
८	,, राज			पद्म	पूर्णचन्द्र	२	शुभचन्द्र
९	,, ध्वज			महापद्म	सुचन्द्र	२,४	श्रीचन्द्र
१०	,, पुंख	२,३	नलिन पुंगव	चित्रवाहन		३	बालचन्द्र
११		३	पद्म	विमल वाहन (४ विचित्रवाहन)			
१२	पद्मप्रभ			अरिष्टसेन			
१३	पद्मराज						
१४	पद्मध्वज						
१५	पद्मपुंख	२,३	पद्मपुंगव				
१६		३	महापद्म				

नोट—त्रि. सा. व. ह. पु. में नामोंके क्रममें अन्तर है। ह. पु. में ५ वाँ वरचन्द्र नाम नहीं दिया है। अन्तमें बालचन्द्र नाम देकर कमी पूरी कर दी है।

२. नारायणादि परिचय

क्रम	नारायण			प्रति नारायण	रुद्र
	१ ति. प./४/१५१०-१५११ २ त्रि. सा /८७१-८८० ३ ह. पु./६०/५६६-५६७ ४ म. पु /७६/४८७-४८८			ति.प./४/१५१२ २ त्रि.सा./८८० ३ ह. पु./६०/- ५६६-५७०	ह. पु /६०/- ५७१-५७२
	सामान्य	प्रमाण सं.	विशेष		
१	नन्दी			श्रीकण्ठ	प्रमद
२	नन्दिमित्र			हरिकण्ठ	समद
३	नन्दिषेण	३	नन्दिन	नीलकण्ठ	हर्ष
४	नन्दिभूति	३	नन्दि भूतिक	अश्वकण्ठ	प्रकाम
५	बल	२	अचल	सुकण्ठ	कामद
६	महाबल			शिखिकण्ठ	भव
७	अतिबल			अश्वग्रीव	हर
८	त्रिपृष्ठ			हयग्रीव	मनोभव
९	द्विपृष्ठ			मयूरग्रीव	मार
					काम
	नोट—ह. पु. में इसके क्रममें कुछ अन्तर है।				अङ्गज

शलाका निष्ठापन—Log filling (ज. प./प्र. १०८)।

शल्य—१. शल्य सामान्यका लक्षण

स. सि./७/१८/३५६/६ शृणाति हिनस्तीति शल्यम्। शरीरानुप्रवेशि काण्डादि प्रहरणं शल्यमिव शल्यं यथा तत् प्राणिनो बाधाकरं तथा शारीरमानसबाधाहेतुत्वात्कर्मोदयविकारः शल्यमित्युपचर्यते। —'शृणाति हिनस्ति इति शल्यम्' यह शल्य शब्द की व्युत्पत्ति है। शल्यका अर्थ है पीड़ा देनेवाली वस्तु। जब शरीरमें काँटा आदि चुभ जाता है तो वह शल्य कहलाता है। यहाँ उसके समान जो पीड़ाकर भाव वह शल्य शब्दसे लिया गया है। जिस प्रकार काँटा आदि शल्य प्राणियोंको बाधाकर होती है उसी प्रकार शरीर और मन सम्बन्धी बाधाका कारण होनेसे कर्मोदय जनित विकारमें भी शल्यका उपचार कर लेते हैं। अर्थात् उसे भी शल्य कहते हैं। (रा वा /७/१८/१-२/५४५/२६)।

२. शल्य के भेद

भ.आ /मू./५३८-५३९/७५४-७५५ मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च। अहवा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोधव्वं ।५३८। तिविहं तु भावसल्लं दंसणणाणे चरित्तजोगे य। सच्चित्ते य मिस्सगे वा वि दव्वम्मि ।५३९। —१. मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य ऐसे शल्यके तीन दोष हैं। (भ. आ./मू./१२१४/१२११); (स सि /७/१८/३५६/८); (रा. वा./७/१८/३/५४५/३३); (भ. आ./वि /२५/८८/२४); (द्र. स/टी./४२/१८३/१०)। २. अथवा द्रव्य शल्य और भावशल्य ऐसे शल्यके दो भेद जानने चाहिए ।५३८। (भ. आ./वि./२५/८८/२४)। ३. भाव शल्यके तीन भेद हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और योग। द्रव्य शल्यके तीन भेद हैं—सचित्तशल्य अचित्तशल्य और मिश्रशल्य ।५३९।

३. शल्यके भेदोंके लक्षण

भ. आ./वि./२५/८८/२४ मिथ्यादर्शनमायानिदानशल्यानां कारणं कर्म द्रव्यशल्यं। —मिथ्यादर्शन, माया, निदान ऐसे तीन शल्योंकी जिनसे उत्पत्ति होती है ऐसे कारणभूत कर्मको द्रव्यशल्य कहते हैं। इनके उदयसे जीवके माया, मिथ्या व निदान रूप परिणाम होते हैं वे भावशल्य हैं।

भ. आ /वि./५३९/७५५/१३ दर्शनस्य शल्यं शङ्कादि। ज्ञानस्य शल्यं अकाले पठनं अविनयादिकं च। चारित्रस्य शल्यं समिति—गुप्त्योरनादरः। योगस्य...असंयमपरिणमनं। तपसश्चारित्रे अन्तर्भावविवक्षया त्रिविधमित्युक्तम्।...सचित्त द्रव्यशल्यं दासादि। अचित्त द्रव्यशल्यं सुवर्णादि।...मिश्र द्रव्यशल्यं ग्रामादि। —शंका कांक्षा आदि सम्यग्दर्शनके शल्य हैं। अकालमें पढ़ना और अविनयादिक करना ज्ञानके शल्य हैं। समिति और गुप्तियोंमें अनादर रखना चारित्रशल्य है। असंयममें प्रवृत्ति होना योगशल्य है। तपश्चरणका चारित्रमें अन्तर्भाव होनेसे भावशल्यके तीन भेद कहे हैं। दासादिक सचित्त द्रव्य शल्य है, सुवर्ण वगैरह पदार्थ अचित्त शल्य हैं और ग्रामादिक मिश्र शल्य है।

द्र. सं./टी./४२/१८३/१० बहिरङ्गबकवेषेण यल्लोकरञ्जनां करोति तन्मायाशल्यं भण्यते। निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्यं भण्यते।...दृष्टश्रुतानुभूतभोगेषु यन्नियतम् निरन्तरम् चित्तम् ददाति तन्निदानशल्यमभिधीयते। —यह जीव बाहरमें बगुले जैसे वेषको धारणकर, लोकको प्रसन्न करता है, वह माया शल्य कहलाती है। अपना निरंजन दोष रहित परमात्मा ही उपादेय है' ऐसी रुचि रूप सम्यक्त्वसे विलक्षण मिथ्याशल्य कहलाती है।...देखे, सुने और अनुभवमें आये हुए भोगोंमें जो निरन्तर चित्तको देता है, वह निदान-शल्य है। और भी—दे० वह वह नाम।

४. बाहुबलिजीको भी शल्य थी

भा. पा./मू./४४ देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर। अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ।४४। —बाहुबलीजीने देहादिकसे समस्त परिग्रह छोड़ दिया और निर्ग्रन्थ पद धारण किया। तो भी मान कषाय रूप परिणामके कारण कितने काल आतापन योगसे रहनेपर भी सिद्धि नहीं पायी ।४४।

आ अनु./२१७ चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुञ्चेत्। क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय मानो मनागपि हतिं महतीं करोति ।२१७। —अपनी दाहिनी भुजापर स्थित चक्रको छोड़कर जिस समय बाहुबलीने दीक्षा धारण की थी उस समय उन्हें तपके द्वारा मुक्त हो जाना चाहिए था। परन्तु वे चिरकाल उस क्लेशको प्राप्त हुए। सो ठीक है थोड़ा सा भी मान बड़ी भारी हानि करता है।

म. पु./३६/६ सुनन्दायां महाबाहुः अहमिन्द्रो दिवोऽग्रतः। च्युत्वा बाहुबलीत्यासीत् कुमारोऽमरसंनिभः ।६।

म. पु /३६/श्लोक—श्रुतज्ञानेन विश्वाङ्गपूर्वविस्तारविस्तरः ।१४६। परमावधिमुल्लङ्घ्य स सर्वावधिमासदत्। मनःपर्ययबोधे च संप्राप्त विपुलां मतिम् ।१४७। संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल। हृद्यस्य हार्दं तेनासीत् तत्पूजाऽपेक्षि केवलम् ।१८६। —आनन्द पुरोहितका जीव जो पहले महाबाहु था सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होकर सुनन्दाके बाहुबली हुआ ।६। (अतः नियमसे सम्यग्दृष्टि थे) बाहुबलीकी दीक्षाके पश्चात् श्रुतज्ञान बढ़नेसे समस्त अंगों तथा पूर्वोंको जाननेकी शक्ति बढ़ गया थी ।१४६। वे अवधिज्ञानमें परमावधिको उल्लंघन कर सर्वावधिको प्राप्त हुए थे तथा मनःपर्यय ज्ञानमें विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानको प्राप्त हुए थे ।१४७। (अतः सम्यग्दर्शनमें कभी

बताना युक्त नहीं)। वह भरतेश्वर मुझसे संक्लेशको प्राप्त हुआ यह विचार बाहुबलीके हृदयमें विद्यमान रहता था, इसलिए केवलज्ञानने भरतकी पूजाकी अपेक्षा की थी।१८६।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

1. सशल्य मरण —दे० मरण/१।
2. व्रती सशल्य नहीं होता। —दे० व्रती।

शल्य—पा. पु./सर्ग/श्लोक—यह एक विद्याधर था। कौरवोंकी तरफसे पाण्डवोंके साथ लड़ाई की (१९/११६) उस युद्ध में युधिष्ठिरके हाथों मारा गया (२०/२३१)।

शशिप्रभ—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे. विद्याधर।

शान्तनु—१. कुरुवंशकी वंशावली सं० १ के अनुसार शान्तिषेणका पुत्र तथा धृत व्यासका पिता था। महाभारत कालसे बहुत पहले हुआ था। —दे. इतिहास/७/५। २. कुरुवंशकी वंशावली स० २ के अनुसार पराशरका पिता था, तथा महाभारतके समय हुआ।—दे. इतिहास /७/५। ३. यादव वंशकी वंशावलीके अनुसार मथुराके राजा वीरका पुत्र तथा महासेनादि छः पुत्रोंका पिता था। —दे. इतिहास/७/१०।

शांतनु—यादव वंशकी वंशावलीके अनुसार कृष्णके भाई बलदेवका १४ वाँ पुत्र—दे इतिहास१०/१०।

शांतभद्र—ई. स. ७०० में न्याय बिन्दु के टीकाकार एक बौद्ध मतानुयायी था। (सि. वि./३३ पं. महेन्द्र)।

शांतरक्षित—एक बौद्ध मतानुयायी था। ई. स. ७४३ में तिब्बतकी यात्रा की थी। कृति—तत्त्वसंग्रह, वादन्यायकी टीका। समय—ई. ७०५-७६२ (सि. वि /३५ पं. महेन्द्र)।

शांति—दे. सामायिक/१/१।

शांति कीर्ति—१. नन्दिसंघ बलात्कारगण, मेघचन्द्र के शिष्य मेरुकीर्ति के गुरु। समय—शक, ६२७-६४२ (ई. ७०५-७२०)। दे. इतिहास/७/२। २. शान्तिनाथ पुराण के रचयिता एक कन्नड़ कवि। समय—ई. १५१६। (ती./४/३११)।

शांति चक्र पूजा—दे. पूजापाठ।

शांति चक्र यंत्रोद्धार—दे. यन्त्र।

शांतिनाथ—(म. पु./सर्ग/श्लोक—पूर्व भव स. ११ में मगधदेशका राजा श्रीषेण था (६२/३४०) १० वें में भोगभूमिमें आर्य हुआ (६२/३५७) ९ वें में सौधर्म स्वर्गमें श्रीप्रभ नामक देव (६२/३७५) ८ वें में अर्ककीर्तिका पुत्र अमिततेज (६२/१५२) ७ वें में तेरहवें स्वर्गमें रविचूल नामक देव हुआ (६२/४१०) छठेमें राजपुत्र अपराजित हुआ। (६२/४१२ ४१३) पाँचवेंमें अच्युतेन्द्र (६३/२६-२७) चौथेमें पूर्व विदेहमें वज्रायुध नामक राजपुत्र (६३/३७-३६)तीसरेमें अधो ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र (६३/१४०-१४१) दूसरेमें राजपुत्र मेघरथ (६३/१४२-१४३) पूर्वभवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र था। वर्तमान भवमें १६वें तीर्थंकर हुए हैं। (६३/५०४) युगपत सर्वभव (६३/५०४) वर्तमान भव सम्बन्धी विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५।

शांतिनाथ पुराण—१. कवि असग द्वारा (ई ९८८) द्वारा रचित हिन्दी महाकाव्य। (ती./४/११) । २. आ. श्रीधर (ई. ११३२) कृत अपभ्रंश काव्य। (ती./३/१८८) ३. सकलकीर्ति (ई. १४०६-१४४२) कृत ३४७५ संस्कृत पद्य प्रमाण ग्रन्थ। (ती./३/३३०)। ४. शुभकीर्ति (ई. श. १५ पूर्वार्ध) कृत अपभ्रंश काव्य। (ती./१/४१६)।

शांति यंत्र—दे. यन्त्र।

शांति विधान यंत्र—दे. यन्त्र।

शांतिसागर—आप दक्षिण देशके भोज ग्राम (बेलगाम) के रहने वाले थे। क्षत्रिय वंशसे सम्बन्ध रखते थे। आपके पिताका नाम भीमगौड़ा और माताका नाम सत्यवती था। आपका जन्म आषाढ़ कृ. ६ वि. सं. १९२९ को हुआ था। ९ वर्षकी अवस्थामें आपका विवाह हो गया था परन्तु छह माह पश्चात् ही आपकी पत्नीका देहान्त हो गया। पुनः विवाह न कराया। सं. १९७२ में आपने देवेन्द्रकीर्ति मुनिसे क्षुल्लक दीक्षा धारण कर ली। और सं. १९७६ में उन्हींसे मुनि दीक्षा ले ली। उस समय आपकी आयु ४७ वर्षकी थी। आपके चारित्रसे प्रभावित होकर आपकी शिष्य मण्डली बढ़ने लगी। यहाँ तक कि जब आप वि. १९८४ में ससंघ सम्मेद शिखर पधारे तो आपके संघमें सात मुनि और क्षुल्लक व ब्रह्मचारी आदि थे। वर्तमान युगमें आपके समान कठोर तपश्चरण करनेवाला अन्य कोई हो सकेगा यह बात हृदय स्वीकार नहीं करता। आप वास्तवमें ही चारित्र चक्रवर्ती थे।

इस कलिकालमें भी आपने आदर्श समाधिमरण किया है यह बड़ा आश्चर्य है। भगवती आराधनामें उपदिष्ट मार्गके अनुसार आपने १२ वर्षकी समाधि धारण की। सं. २००० (ई. १९४३) में आपने भक्त प्रत्याख्यान व्रत धारण कर लिया और १४ अगस्त सन् १९५५ में आकर कुन्थुलगिरि क्षेत्रपर इंगिनी व्रत धारण कर लिया।—१८ सितम्बर सन् १९५५ रविवार प्रातः ७ बजकर १० मिनटपर आप इस नश्वर देहको त्यागकर स्वर्ग सिधार गये।

२४ अगस्त १९५५ को आप अपने सुयोग्य शिष्य वीर सागर जी को आचार्य पद देकर स्वयं इस भारसे मुक्त हो गये थे। इस प्रकार आपका समय—वि. १९७६-२०१२) ई. १९१९-१९५५); (चा. सा./प्र./ब्र. श्रीलाल)।

शांतिसेन—१. पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप श्री जयसेनके गुरु थे। समय—वि.श.७-८। (ती./२/४५१)।—दे. इतिहास/७/८; २. लाड़ बागड़ संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप धर्मसेनके शिष्य तथा गोपसेनके गुरु थे। समय—वि. ९८० (ई० ९२३)—दे. इतिहास/७/१०।

शांत्यष्टक—आ. पूज्यपाद (ई. श. ५) द्वारा रचित संस्कृतके ८ श्लोकोंमें निबद्ध शान्तिपाठ।

शांत्याचार्य—१. सौराष्ट्र देशके वल्लभीपुर नगरमें इनके शिष्य जिनचन्द्रने इन्हें मारकर श्वेताम्बर संघकी स्थापना की। समय—वि. १३६-१५६ (ई. ७९-९९) विशेष—दे. श्वेताम्बर। २. ई. ९९३-१११८ में जैन तर्क वार्तिक वृत्तिके कर्ता जैनाचार्य थे। (सि. वि. प्र. ७९ पं महेन्द्र)।

शाकटायन न्यास—आ. प्रभाचन्द्र (ई. ९५०-१०२०) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक ग्रन्थ। (दे. प्रभाचन्द्र)

शाकल्य—एक अज्ञानवादी—दे. अज्ञानवाद।

शाला—School. (ध./५/प्र. २८)।

शांतंकर—आरण स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/५/३।

शाप—रा. वा./४/२०/२/२३५/११ शापोऽनिष्टाभिधानम्।—अनिष्ट बात कहना शाप है।

शामकुंड—आप कुन्दकुन्द आचार्यसे कुछ ही पहले हुए हैं। आपने षट् खण्डके प्रथम पाँच खण्डोंपर 'पद्धति'नामक टीका लिखी है। समय—ई. श. ३ का अपरार्ध। (ष. खं. १/प्र. ६ H. L. Jain)।

शामिला यव मध्य—दे यव।

शालगुहा—भरत क्षेत्रका एक नगर—दे मनुष्य/४।

शालिभद्र—भगवान् वीरके तीर्थमें अनुत्तरोपपादक हुए है।–दे. अनुत्तरोपपादक।

शालिवाहन—१. भृत्य वंशके गोतमी पुत्र सातकर्णीका ही दूसरा प्रसिद्ध नाम शालिवाहन था। इसने वी. नि. ६०५ (ई. ८०) में शक वंशके अन्तिम राजा नरवाहनको परास्त करनेके उपलक्ष्यमें शक संवत् चलाया था। यह भृत्य वंशका दूसरा राजा था। मगध देशकी राज्य वंशावलीके अनुसार इसका समय—वी. नि. ६००-६४६ (ई. ७४-१२०) विशेष—दे. इतिहास/३/४)। २. शालिवाहन विक्रम संवत् शक संवत्को ही कहते है—दे. इतिहास/२/५ तथा कोश I/परिशिष्ट।

शालि सिक्थ मत्स्य—दे. सम्मूर्च्छन/७।

शाल्मली वृक्ष—देवकुरुमें स्थित अनादि शाल्मलीका वृक्ष। यह पृथिवीकायका है।—दे. वृक्ष।

शाल्मली वृक्षस्थल—देवकुरुमें स्थित एक भू भाग जिसमें शाल्मली वृक्ष व उसके परिवार वृक्षोंका अवस्थान—दे. लोक/३/१३।

शाश्वत उपादान कारण—दे. उपादान।

शाश्वतासंख्यात—दे. असंख्यात।

शासन—१. स्या. म./२१/२६३/७ आ सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवाजीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा आगमः शासनं।–जिसके द्वारा समस्त रूप अनन्तानन्त धर्म विशिष्ट जीवाजीवादिक पदार्थ जाने जाते हैं वह आज्ञा या आगम शासन कहलाता है। २. आत्माको जानना समस्त जिन शासनका जानना है।—दे. श्रुतकेवली/२/६।

शासन दिवस—दे. महावीर/२।

शास्त्र—**१. कल्प शास्त्रादिका लक्षण**

भ. आ./वि./१३०/३०७/१४ कल्प्यते अभिधीयते येन अपराधानुरूपो दण्ड स कल्पः।

भ. आ./वि./६१२/८१२/७ स्त्रीपुरुष लक्षणं निमित्तं, ज्योतिर्ज्ञानं, छन्द. अर्थशास्त्रं, वैद्यं, लौकिकवैदिकसमयाश्च बाह्यशास्त्राणि।–१. जिसमें अपराधके अनुरूप दण्डका विधान कहा है उस शास्त्रको कल्पशास्त्र कहते हैं। २. स्त्री पुरुषके लक्षणोंका वर्णन करनेवाले शास्त्रको निमित्तशास्त्र कहते हैं। ३. ज्योतिर्ज्ञान, छन्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यक शास्त्र, लौकिक शास्त्र, मन्त्रवाद आदि शास्त्रोंको बाह्यशास्त्र कहते हैं।

मू आ./भाषा./१४४। ४ व्याकरण गणित आदि लौकिक शास्त्र है। ५. सिद्धान्त शास्त्र वैदिक शास्त्र कहे जाते हैं, ६. स्याद्वाद न्याय शास्त्र व अध्यात्म शास्त्र सामायिक शास्त्र जानना।

२. शास्त्र लिखने व पढ़नेसे पूर्व षट् आवश्यक

ध. १/गा. १/७ मंगल-णिमित्त-हेउ परिमाणं णाम तह य कत्तार। वागरिय छ प्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो।–मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम, कर्ता इन छह अधिकारोंका व्याख्यान करनेके पश्चात आचार्य शास्त्रका व्याख्यान करें/१।

३. अन्य सम्बन्धी विषय

१. शास्त्र सामान्यका लक्षण व विषय —दे. आगम।
२. शास्त्र व देवपूजामें कथंचित् समानता —दे. पूजा/३।
३ शास्त्रमें कथंचित् देवत्व —दे. देव/I/१।
४ शास्त्र श्रद्धानका सम्यग्दर्शनमें स्थान —दे. सम्यग्दर्शन/II/१।
५ शास्त्रार्थके विधि निषेध सम्बन्धी —दे. वाद

शास्त्रज्ञान—दे. आगम।

शास्त्रदान—दे. दान।

शास्त्र वार्ता समुच्चय—श्वेताम्बराचार्य यशोविजय (ई. १६२८-१६८८) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक ग्रन्थ।

शास्त्रसार समुच्चय—माघनन्दि योगीन्द्र (ई.श. १२ उत्तरार्ध) कृत १६६ संस्कृत सूत्र प्रमाण सिद्धान्त ग्रन्थ। (ती./३/२८५)।

शास्त्राभ्यास—दे. स्वाध्याय।

शिकार—दे. आखेट।

शिक्षा—भ. आ./वि./६७/१६४/६ शिक्षाश्रुतस्य अध्ययनमिह शिक्षाशब्देनोच्यते। जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पढि-दव्वमिदि।–शास्त्राध्ययन करना यह शिक्षा शब्दका अर्थ है। जिनेश्वरका शास्त्र पाप हरनेमें निपुण है अत उसको दिनरात पढ़ना चाहिए।

शिक्षाकाल—दे. काल/१।

शिक्षा गुरु—दे. गुरु/१।

शिक्षा व्रत—भ. आ./मू./२०८२-२०८३ भोगाणं परिसंखा सामाइय-मतिहिसंविभागो य। पोसहविधी य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ।२०८२। आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए। णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी।२०८३।–भोगोपभोग परिमाण, सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं।२०८२। इन व्रतोंको पालनेवाला गृहस्थ सहसा मरण आनेपर जीवितकी आशा रहनेपर, जिसके बन्धुगणने दीक्षा लेनेकी सम्मति नहीं दी है ऐसे प्रसंगमें सल्लेखना धारण करता है। (स. सि./७/२१,२२/३५६,३६३/७,१)।

र. क. श्रा./९१ देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा। वैया-वृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि।९१।–देशावकाशिक तथा सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं।

चा. पा./मू./२६ सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं। तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते।–पहला सामायिक शिक्षाव्रत, दूसरा प्रोषधव्रत, तीसरा अतिथिपूजा और चौथा शिक्षाव्रत अन्त समय सल्लेखना है।२६।

वसु. श्रा./२१७-२१६,२७० भोगविरति, परिभोग-निवृत्ति तीसरा अतिथि संविभाग व चौथा सल्लेखना नामका शिक्षा व्रत होता है।

शिखंडी—द्रुपद राजाका पुत्र था। इसके बाणोंसे ताड़ित होकर भीष्म पितामहने संन्यास धारण कर लिया। (पा. पु./१९/२४३)।

शिखरी—रा वा/३/११/११/१८४/१ शिखराणि कूटान्यस्य सन्तीति शिखरीति संज्ञायते। अन्यत्रापि तत् सद्भावे रूढिवशाद्विशेषे वृत्ति-शिखण्डिवत्–जिसके शिखर अर्थात् कूट हो उसकी शिखरी संज्ञा है। यह रूढ संज्ञा है जैसे कि मोरकी शिखंडी संज्ञा रूढ है। (यह ऐरावत क्षेत्रके दक्षिणमें स्थित पूर्वापर लम्बायमान वर्षधर पर्वत है)। विशेष–दे. लोक/५/३। २. शिखरी पर्वतस्थ एक कूट व उसका स्वामी देव—दे. लोक/५/४। ३. पद्म ह्रदमें स्थित एक कूट—दे. लोक/५/७।

शिखाचारण ऋद्धि—दे ऋद्धि/४।

शिप्रा—भरत क्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

शिर:कंप—कालका परिमाण विशेष। अपरनाम शीर्षकम्प—दे. गणित/I/१।

शिरोनति—दे. नमस्कार।

शिला—नरककी तृतीय पृथिवी—दे. नरक/५।

शिल्पकर्म—दे. सावद्य/३।

शिल्पि संहिता—आ. वीरनन्दि २ (ई.६५०-६६६) की एक रचना है। –दे. वीरनन्दि।

शिवंकर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे. विद्याधर।

शिव—भूतकालीन तेरहवें तीर्थंकर–दे. तीर्थंकर/५।

शिव—स. श./टी./२/२२२/२५ शिवं परमसौख्यं परम कल्याणं निर्वाणं चोच्यते।—परम कल्याण अथवा परम सौख्यमय निर्वाणको शिव कहते हैं।

स. सा./ता. वृ./३७३-३८२/४६२/१८ वीतरागसहजपरमानन्दरूपं शिव-शब्दवाच्यं सुखं—वीतराग परमानन्द रूप सुख शिव शब्दका वाच्य है। (प. प्र./टी./२/६)।

द्र. स./टी./१४/४७ पर उद्धृत-शिवं परमकल्याणं निर्वाण ज्ञानमक्षयम्। प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ।१। इति श्लोक कथित-लक्षणः शिवः।—शिव यानी परम कल्याण निर्वाण एवं अक्षय ज्ञान रूप मुक्त पदको जिसने प्राप्त किया वह शिव कहलाता है।

भा. पा./टी./१४९/२९३/६ शिव परमकल्याणभूतः शिवति लोकाग्रे गच्छतीति शिव।—शिव अर्थात् परम कल्याणभूत होता है, और लोकके अग्र भागमें जाता है वह शिव है।

शिवकुमार—१ पल्लव वंशी शिव स्कन्दका दूसरा नाम था। इनकी राजधानी कांचीपुर (कांजीवरम्) थी। पंचास्तिकायकी रचना इन्हींके लिए हुई थी। तदनुसार इनका समय ई. श. २ आता है (प्रोफे. ए. चक्रवर्ती नायनार M. A. L. T.) दे. शिव स्कन्द।

शिव कुमार वेलाव्रत—सर्व साधारण विधिमें ७-८ व १३-१४ का बेला तथा ६, १५ का पारणा। इस प्रकार प्रतिमास ४ बेले व ४ पारणा। यदि शक्ति हो तो १ बेला व १ पारणाका क्रम १००० वर्ष (?) तक निभाये। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./पृ. १११)।

शिवकोटि—१. प्रेमीजी के अनुसार यापनीय संघी दिगम्बराचार्य। भ. आ./मू./२१६५-२१६८ पढ़ने से ऐसा अनुमान होता है कि यह उस समय हुए थे जब कि जैन संघ में कुछ शिथिलाचारका प्रवेश हो चुका था। कोई-कोई साधु पात्र भी रखने लग गए थे तथा घरों से माँगकर भोजन लाने लग गये थे। परन्तु यह संघ अभी अपने मार्ग पर दृढ़ था, इसलिये इन्होंने अपने नाम के साथ पाणि-पात्री हारो विशेषण लगाकर उल्लेख किया है। शिवनन्दि, शिवगुप्त, शिवकोटि, शिवार्य इनके अपर नाम हैं। यद्यपि किसी भी गुर्वावली में आपका नाम प्राप्त नहीं है तदपि भगवती आराधनाकी उत्थानिकाओं में जिननन्दि गणी, आर्य सर्वगुप्त और आर्य मित्रनन्दि का नाम दिया गया है जो इनके शिक्षागुरु प्रतीत होते हैं। यद्यपि आराधना कथाकोश में इन्हें आ. समन्तभद्र (ई.श.२) के शिष्य कहा गया है तदपि प्रेमीजी को यह बात स्वीकार नहीं है। श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं. १०५ के अनुसार तत्त्वार्थ सूत्रके एक टीकाकार भी शिवकोटि हुये हैं। वही सम्भवतः आ. समन्तभद्रके शिष्य रहे होंगे। कृति– भगवती आराधना समय—वि.श.१। (भ. आ./प्र.३/प्रेमीजी), (ती./२/१२२)। २. रत्न-माला तथा तत्त्वार्थ सूत्र की टीका के रचयिता एक शिथिलाचारी आचार्य। समय– यशस्तिलक (वि. १०१६) के पश्चात् कभी। (भ. आ./प्र. ७-६)। ३–बाराणसीके राजा थे। शैव थे। समन्त-भद्र आचार्यके द्वारा स्तोत्रके प्रभावसे शिवलिंगका फटना व उसमेंसे चन्द्रप्रभु भगवान्‌की प्रतिमाका प्रगट होना देखकर उनके शिष्य बन गये थे। पीछे उनसे ही जिन दीक्षा ले ली थी। समन्तभद्रके अनुसार इनका समय ई. श. २ आता है। (प्रभाचन्द्र व नेमिदत्तके कथाकोशके आधारपर भ. आ./प्र. ४ प्रेमीजी)।

शिवगुप्त—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप गुप्ति ऋद्धिके शिष्य तथा अर्हद्बलिके गुरु थे। समय—वी. नि. ६६० (ई. ३३)—दे. इतिहास/७/८।

शिवतत्त्व—दे. ध्यान/४/५ शिवतत्त्व वास्तवमें आत्मा है।

ज्ञा./२१/१०...युगपत्प्राहुर्भूतानन्तचतुष्टयो घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत् स खल्वयमात्मैव परमात्मव्यपदेशभाग्भ-वति। —युगपत् अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप चतुष्टय जिसके ऐसा, जैसे—मेघ पटलोंके दूर होनेसे सूर्यका प्रताप और प्रकाश युग-पत् प्रकट होता है, उसी प्रकार प्रगट हुआ आत्मा ही निश्चय करके परमात्माके व्यपदेशका धारक होता है। (यही शिवतत्त्व है)

शिवदत्त—मूलसंघकी पट्टावलीके अनुसार भगवान् महावीरकी मूल परम्परामें लोहाचार्यके पश्चात्‌वाले चार आचार्योंमें आपका नाम है। समय—वी. नि. ५६५-५८५ ई. ३८-५८।—दे. इतिहास/४/४।

शिवदेव—लवण समुद्रस्थ उदक व उदकाभास पर्वतका स्वामी देव। दे. लोक/४/१।

शिवदेवी—भगवान् नेमिनाथकी माता—दे. तीर्थंकर/५।

शिव मंदिर—१. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।—दे. विद्याधर। २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

शिवमत—दे. वैशेषिक मत।

शिवमार द्वि०—ई. ८१० में गंगवंशी नरेश श्रीपुरुषके उत्तराधि-कारी थे। (सि. वि./१६ पं. महेन्द्र)

शिव मृगेशवर्म—आप कदम्ब वंशी राजा थे। चालुक्य वंशी राजा कीर्तिवर्म द्वारा वादामी नगरी में श. सं. ५०० में कदम्ब वंशका नाश हुआ था। अतः कदम्बवंशी इनका समय लगभग श. सं. ४५०-५०० (वि. ५८५) (ई० ५२८-५७८) आता है। (जै. सि. प्र./के समय प्राभृतमें K.B. Pathak)

शिवलाल (पं०)—आप एक उच्चकोटिके विद्वान् थे। अनेक ग्रन्थोंकी देश भाषामय टीकाएँ लिखी हैं। यथा—भगवती आरा-धना, रत्नकरण्ड श्रा. चर्चासंग्रह, बोधसार, दर्शनसार, अध्यात्म तरंगिनी आदि ग्रन्थोंकी भाषा टीका। समय—वि. १९१८ (ई. १७६१); (भ. आ./प्र. २५ प्रेमीजी)।

शिवशर्म—दे० परिशिष्ट।

शिव सागर—आप आचार्य शान्तिसागरजीकी आम्नायमें तीसरे नम्बरपर आते हैं। आप आ. शान्ति सागरजीके शिष्य थे। और आप आचार्य धर्मसागरजीके गुरु थे। वि २००६ में दीक्षा ली थी। और वीरसागरजीके पश्चात् वि. २०१४ में आचार्य-पदपर आसीन हुए। समय—वि. २००६...(ई. १९४९...)।

शिव स्कंद—पल्लव वंश (वि. श. १) के राजा, अपर नाम शिव-कुमार, राजधानी कांजीपुरम, मर्यादवोलुका दानपत्र के दाता। कुन्दकुन्द ने इनके लिये पंचास्तिकाय ग्रन्थ की रचना की। समय—कुन्दकुन्द के अनुसार ई. श. १। (प्रो. ए. चक्रवर्ती नायनार); (जै./२/११७)।

शिवार्य—वास्तवमें इनका ही नाम शिवकोटि था, क्योंकि भग-वज्जिनसेनने आदि पुराणमें इसी नामका उल्लेख किया है। आर्य तो इनका विशेषण था जैसे कि स्वयं इन्होंने अपने तीनों गुरुओंके

नामके साथ आर्य विशेषण जोड़कर उल्लेख किया है। (म. पु./प्र./४१ पं. पन्नालाल) दे० शिवकोटि।

शिविका—ध. १४/५,६,६१/३९/२ माणुसेहि वुब्भमाणा सिविगा णाम। —जो मनुष्योंके द्वारा उठाकर ले जायी जाती हैं वे शिविका कहलाती हैं।

शिशुपाल—१. इसके साथ पहले रुक्मिणीका सम्बन्ध हो गया था (ह. पु./४२/९३) कृष्ण द्वारा रुक्मिणीके हर लिये जानेपर युद्धमें मारा गया (ह. पु./४२/९४)। २. पाटली पुत्रका राजा था। (वी. नि. ३) के पश्चात् इसके चतुर्मुख नामका पुत्र हुआ, जो कि अत्याचारी होनेसे कल्की सिद्ध हुआ। (म. पु./७६/४००) ३. मगध देशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह राजा इन्द्रका पुत्र व चतुर्मुख (कल्कि)का पिता था। यद्यपि इसे कल्कि नहीं बताया गया है, परन्तु जैसा कि वंशावलीमें बताया गया है यह भी अत्याचारी व कल्की था। हूणवंशी तोरमाण ही शिशुपाल है। समय—वी. नि. १०००-१०३३ (ई. ४७४-५०७) विशेष—दे. इतिहास/३/४।

शिष्य—गुरु शिष्य सम्बन्ध—दे. गुरु/२।

शीत—तीसरे नरकका दूसरा पटल—दे. नरक/५/११।

शीतगुह—भरत क्षेत्रमें मलयगिरिके निकट एक पर्वत—दे. मनुष्य/४

शीतपरीषह—स. सि./९/९/४२१/३ परित्यक्तप्रच्छादनस्य पक्षिवदनवधारितालयस्य वृक्षमूलपथिशिलातलादिषु हिमानीपतनशीतलानिलसंपाते तत्प्रतिकारप्राप्तिं प्रति निवृत्तेच्छस्य पूर्वानुभूतशीतप्रतिकारहेतुवस्तूनामस्मरतो ज्ञानभावनागर्भागारे वसतः शीतवेदनासहनं परिकीर्त्यते। —जिसने आवरणका त्याग कर दिया है, पक्षीके समान जिसका आवास निश्चित नहीं है, वृक्षमूल, चौपथ और शिलातल आदिपर निवास करते हुए बर्फके गिरनेपर और शीतल हवाका झोंका आनेपर उसका प्रतिकार करनेकी इच्छासे जो निवृत्त है, पहले अनुभव किये गये प्रतिकारके हेतुभूत वस्तुओंका जो स्मरण नहीं करता और जो ज्ञान भावनारूपी गर्भागारमें निवास करता है उसके शीत वेदनाजय प्रशंसा योग्य है। (रा. वा./९/९/६/६०९/४); (चा. सा./१११/४)।

शीतभोग तप—दे. कायक्लेश।

शीतयोनि—दे. योनि।

शीतलनाथ—(म. पु./५६/श्लोक) पूर्वभव सं. २ में सुसीमा नगरका राजा पद्मगुल्म था (२-३) पूर्वभवमें आरणेन्द्र था (१७-१८) वर्तमान भवमें १० वें तीर्थंकर हुए (२०-२७) इस भव सम्बन्धी विशेष परिचय—दे. तीर्थंकर/५।

शीतलप्रसाद (ब्र०)—आप अग्रवाल जातिमें गोयल गोत्री श्रावक श्री मक्खनलाल जीके सुपुत्र थे। आपका जन्म वि. सं. १९३५ ई. १८७८ में हुआ था। आपने अनेकों ग्रन्थ रचे और समाजमें बड़ा भारी काम किया। वास्तवमें आपने इस अन्धकारमय युगमें ज्ञानका अद्वितीय प्रकाश किया। आप स्वयं अत्यन्त विरागी व कर्मठ व्यक्ति थे। आपके लिए जैन समाज अत्यन्त आभारी है। आपका मरण ई. १९४८ में हुआ था।

शील—**१. शीलव्रतका लक्षण**

स. सि./७/२४/३६५/१ व्रतपरिरक्षणार्थं शीलमिति दिग्विरत्यादीनीह शीलग्रहणेन गृह्यन्ते। —व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए शील है, इसलिए यहाँ शील पदके ग्रहणसे दिग्विरति आदि लिये जाते हैं। (रा. वा./७/२४/१/५५१/२)।

२. शीलव्रतके भेद

चा. सा./१३/१ गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते। दिग्विरतिः देशविरतिः, अनर्थदण्डविरतिः सामायिकं, प्रोषधोपवासः उपभोगपरिभोगपरिमाणं अतिथिसंविभागश्चेति। —तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रतोंको शील सप्तक कहते हैं। उनके नाम निम्न हैं—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंड विरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग परिमाण और अतिथि संविभाग व्रत।

३. शीलव्रतेष्वनतिचार भावनाका लक्षण

स. सि./६/२४/३३८/१ अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः। —अहिंसादिक व्रत हैं और इनके पालन करनेके लिए क्रोधादिकका त्याग करना शील है। इन दोनोंके पालन करनेमें निर्दोष प्रवृत्ति करना शीलव्रतानतिचार है। (रा. वा./६/२४/३/५२९/११); (चा. सा./५३/२), (भा. पा./टी./७७/२२१/६)।

ध. ८/३,४१/८२/४ सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए चेव तित्थयरणामकम्मं बज्झइ। तं जहा—हिंसालिय-चोज्जब्बंधपरिग्गहेहितो विरदी वदं णाम। वदपरिरक्खणं सीलं णाम। सुरावाण-मांसभक्खण-कोह-माण-माया-लोह-हस्स-रइ-सोग-भय-दुगुंछित्थि-पुरिस-णवुंसयवेया-परिच्चागो अदिचारो, एदेसि विणासो णिरदिचारो संपुण्णदा, तस्स भावो णिरदिचारदा। तीए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए तित्थयरकम्मस्स बंधो होदि। —शील-व्रतोंमें निरतिचारतासे ही तीर्थंकर नामकर्म बाँधा जाता है। वह इस प्रकारसे—हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रहसे विरत होनेका नाम व्रत है। व्रतोंकी रक्षाको शील कहते हैं। सुरापान, मांसभक्षण, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसक वेद, इनके त्याग न करनेका नाम अतिचार और इनके विनाशका नाम निरतिचार या सम्पूर्णता है, इसके भावको निरतिचारता कहते हैं। शीलव्रतोंमें इस निरतिचारतासे तीर्थंकर कर्मका बन्ध होता है।

४. इस एकमें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध. ८/३,४१/८२/८ कधमेत्थ सेसपण्णरसण्णं संभवो? ण, सम्मदंसणेण खण-लवपडिबुज्झण-लद्धिसंवेगसंपण्णत्त-साहुसमाहिसंधारण-वेज्जावच्चजोगजुत्तत्त-पासुअपरिच्चाग-अरहंत-बहुसुदपवयण-भत्ति-पवयण-पहावणलक्खण सुद्धिजुत्तेण विणा सीलव्वदाणमणदिचारत्तस्स अणुववत्तीदो। असंखेज्जगुणाए सेडीए कम्मणिज्जरहेदू वदं णाम। ण च सम्मत्तेण विणा हिंसालिय चोज्जब्बभ अपरिग्गहविरइमेत्तेण सा गुणसेडिणिज्जरा होदि, दोहितो चेवुप्पज्जमाणकज्जस्स तत्थेक्कादो समुप्पत्तिविरोहादो। होदु णाम एदेसि संभवो, ण णाणविणयस्स। ण, छद्दव्व-णवपदत्थसमूह तिहुवणविसएण अभिक्खणमभिक्खणमुवजोगविसयमावण्णमाणेण णाणविणएण विणा सीलव्वदणिबंधणसम्मत्तुप्पत्तीए अणुववत्तीदो। ण तत्थ चरणविणयाभावो वि, जहाथाम-तवावासयापरिहीणत्त-पवयणवच्छलत्तलक्खणचरणविणएण विणा सीलव्वदणिरदिचारत्ताणुववत्तीदो। तम्हा तदियमेदं तित्थयरणामकम्मबंधस्स कारणं। —प्रश्न—इसमें शेष १५ भावनाओंकी सम्भावना कैसे हो सकती है। उत्तर—यह ठीक नहीं है, क्योंकि क्षण-लव-प्रतिबुद्धता, लब्धि-संवेगसम्पन्नता, साधु समाधि धारण, वैयावृत्त्ययोगयुक्तता, प्रासुक परित्याग, अरहंत भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति और प्रवचन प्रभावना लक्षण शुद्धिसे युक्त सम्यग्दर्शनके बिना शील व्रतोंकी निरतिचारता बन नहीं सकती, दूसरी बात यह है कि जो असंख्यात गुणित श्रेणीसे कर्म निर्जराका कारण है वही व्रत है। और सम्यग्दर्शनके बिना हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म, और परिग्रहसे विरक्त होने मात्रसे वह गुणश्रेणि निर्जरा हो नहीं सकती, क्योंकि

दोनोंसे ही उत्पन्न होनेवाले कार्यकी उनमेंसे एकके द्वारा उत्पत्तिका विरोध है। प्रश्न—इनकी सम्भावना यहाँ भले ही हो, पर ज्ञान विनयकी सम्भावना नहीं हो सकती। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि छह द्रव्य, नौ पदार्थोंके समूह और त्रिभुवनको विषय करनेवाले एवं बार-बार उपयोग विषयको प्राप्त होनेवाले ज्ञान विनयके बिना शीलव्रतोंके कारण भूत सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं बन सकती। शील व्रत विषयक निरतिचारतामें चारित्र विनयका भी अभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यथाशक्तितप, आवश्यकापरिहीनता और प्रवचनवत्सलता लक्षण चारित्र विनयके बिना शील व्रत विषयक निरतिचारताकी उत्पत्ति ही नहीं बनती। इस कारण यह तीर्थंकर नामकर्मके बन्धका तीसरा कारण है।

★ किसी एक ही भावनासे तीर्थंकरत्व सम्भव —दे० भावना/२।

★ ब्रह्मचर्य विषयक शील—दे० ब्रह्मचर्य/१।

शील कथा—कवि भारामल (ई. १७५६) रचित हिन्दी भाषा कथा।

शील कल्याणक व्रत—दे. कल्याणक व्रत।

शील पाहुड़—आ. कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) कृत ज्ञान व चारित्रका समन्वयात्मक, ४० (प्रा.) गाथा निबद्ध ग्रन्थ है। इसपर केवल प. जयचन्द्र छाबड़ा (ई. १७६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है।

शील व्रत—प्रतिवर्ष वैशाख शु. ६ के दिन (अभिनन्दन नाथ भगवान्‌का मोक्ष कल्याणक दिवस) उपवास। इस प्रकार ५ वर्ष पर्यन्त करे। 'ओं ह्रीं अभिनन्दनजिनाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रतविधान सं./पृ. ८६)।

शीलव्रतेष्वनतिचार भावना—दे. शील।

शील सप्तमी व्रत—सात वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष भाद्रपद शु. ७ को उपवास करे। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./पृ. १०४) (कथाकोष)।

शीलांक—'नवीन वृत्ति' के रचयिता एक श्वेताम्बराचार्य। समय—वि. श. ९ (ई. श. ९ पूर्वार्ध)। (जै./१/३६५)।

शुंभा—पूर्व विदेहस्थ रमणिया क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे. लोक/७।

शुक्ति—भरत क्षेत्रमें शुक्तिमती नदीपर स्थित एक नगर—दे. मनुष्य/४।

शुक्तिमती—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

शुक्र—१ औदारिक शरीरमें शुक्रधातुका निर्देश—दे. औदारिक/१/७; २. एक ग्रह—दे. ग्रह; ३. शुक्र ग्रहका लोकमें अवस्थान—दे. ज्योतिष लोक; ४ कल्पवासी देवोंका एक भेद—दे. स्वर्ग/३; ५. कल्प स्वर्गोंका नवमां कल्प—दे. स्वर्ग/५/२; ६. शुक्र स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/५/३।

शुक्लध्यान—ध्यान करते हुए साधुको बुद्धिपूर्वक राग समाप्त हो जानेपर जो निर्विकल्प समाधि प्रगट होती है, उसे शुक्लध्यान या रूपातीत ध्यान कहते हैं। इसकी भी उत्तरोत्तर वृद्धिगत चार श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणीमें अबुद्धिपूर्वक ही ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थोंकी तथा योग प्रवृत्तियोंकी संक्रान्ति होती रहती है, अगली श्रेणियोंमें यह भी नहीं रहती। रत्न दीपककी ज्योतिकी भाँति निष्कंप होकर ठहरता है। श्वास निरोध इसमें करना नहीं पड़ता अपितु स्वयं हो जाता है। यह ध्यान साक्षात मोक्षका कारण है।

१ भेद व लक्षण

१ शुक्लध्यान सामान्यका लक्षण
* शुक्लध्यानमें शुक्ल शब्दकी सार्थकता —दे. शुक्लध्यान/१/१।
* शुक्लध्यानके अपरनाम —दे. मोक्षमार्ग/२/५।
२ शुक्लध्यानके भेद
३ बाह्य व आध्यात्मिक शुक्लध्यानका लक्षण
४ शून्य ध्यानका लक्षण
५ पृथक्त्व वितर्क विचारका स्वरूप
६ एकत्व वितर्क अविचारका स्वरूप
७ सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपातीका स्वरूप
८ समुच्छिन्न क्रिया निवृत्तिका स्वरूप

२ शुक्लध्यान निर्देश

* ध्यानयोग्य द्रव्य क्षेत्र आसनादि —दे. कृतिकर्म/३।
* धर्म व शुक्लध्यानमें कथंचित् भेदाभेद —दे. धर्मध्यान/३।
* शुक्लध्यानमें कथंचित् विकल्पता व निर्विकल्पता व क्रमाक्रमवर्तिपना —दे. विकल्प।
* शुक्लध्यान व रूपातीत ध्यानकी एकार्थता —दे. पद्धति।
* शुक्ल ध्यान व निर्विकल्प समाधिकी एकार्थता —दे. पद्धति।
* शुक्लध्यान व शुद्धात्मानुभव की एकार्थता—दे. पद्धति।
* शुद्धात्मानुभव —दे. अनुभव।
* शुक्लध्यानके बाह्य चिह्न —दे. ध्याता/५।
१ शुक्लध्यानमें श्वासोच्छ्‌वासका निरोध हो जाता है।
२ पृथक्त्ववितर्कमें प्रतिपातीपना सम्भव है।
३ एकत्व वितर्कमें प्रतिपातका विधि निषेध।
४ चारों शुक्लध्यानोंमें अन्तर।
५ शुक्लध्यानमें सम्भव भाव व लेश्या
* शुक्लध्यानमें संहनन सम्बन्धी नियम —दे. संहनन।
* पंचमकालमें शुक्लध्यान सम्भव नहीं—दे. धर्मध्यान/५।

३ शुक्लध्यानोंका स्वामित्व व फल

* शुक्लध्यानके योग्य जघन्य उत्कृष्ट ज्ञान —दे. ध्याता/१।
१ पृथक्त्व वितर्क विचारका स्वामित्व
२ एकत्व वितर्क विचारका स्वामित्व
३ उपशान्त कषायमें एकत्व वितर्क कैसे
४ सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती व सूक्ष्म क्रिया निवृत्तिका स्वामित्व।
५ स्त्रीको शुक्लध्यान सम्भव नहीं।
६ चारों ध्यानोंका फल।

*	शुक्ल व धर्मध्यानके फलमें अन्तर —दे. धर्मध्यान/३/५।
*	ध्यानकी महिमा —दे. ध्यान/२।
४	**शंका-समाधान**
१	संक्रान्ति रहते ध्यान कैसे सम्भव है।
*	प्रथम शुक्लध्यानमें उपयोगकी युगपत् दो धाराएँ —दे. उपयोग/II/३/१।
२	योग संक्रान्तिका कारण।
३	योग संक्रान्ति बन्धका कारण नहीं रागादि है।
*	प्रथम शुक्लध्यानमें राग अव्यक्त है —दे. राग/३।
*	केवलीको शुक्लध्यानके अस्तित्व सम्बन्धी शंकाएँ —दे. केवली/६।

१. भेद व लक्षण

१. शुक्लध्यान सामान्यका लक्षण

स. सि /९/२८/४४५/११ शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्। (यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्र तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्मपरिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरुच्यते। रा. वा.)। —जिसमें शुचि गुणका सम्बन्ध है वह शुक्ल ध्यान है। [जैसे मैल हट जानेसे वस्त्र शुचि होकर शुक्ल कहलाता है उसी तरह निर्मल गुणयुक्त आत्म परिणति भी शुक्ल है। रा. वा.] (रा वा./९/२८/४/६२७/३१)।

ध. १३/५,४,२६/७७/६ कुदो एदस्स सुक्कत्तं कसायमलाभावादो। —कषाय मलका अभाव होनेसे इसे शुक्लपना प्राप्त है।

का. अ./मू./४८३ जत्थगुणा सुविसुद्धा उपसम-खमणं च जत्थ कम्माणं। लेसा वि जत्थ सुक्का तं सुक्कं भण्णदे झाणं।४८३। —जहाँ गुण अतिविशुद्ध होते हैं, जहाँ कर्मोंका क्षय और उपशम होते है, जहाँ लेश्या भी शुक्ल होती है उसे शुक्लध्यान कहते हैं।४८३।

ज्ञा./४२/४ निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम्। अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते।४। शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा। वैडूर्यमणिशिखा इव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च।—१. जो निष्क्रिय व इन्द्रियातीत हैं। 'मैं ध्यान करूँ' इस प्रकारके ध्यानकी धारणासे रहित हैं, जिसमें चित्त अन्तर्मुख है वह शुक्लध्यान है।४। २. आत्माके शुचि गुणके सम्बन्धसे इसका नाम शुक्ल पड़ा है। कषायरूपी रजके क्षयसे अथवा उपशमसे आत्माके सुनिर्मल परिणाम होते हैं, वही शुचिगुणका योग है। और वह शुक्लध्यान वैडूर्यमणिकी शिखाके समान सुनिर्मल और निष्कप है। (त. अनु./२२१-२२२)।

द्र. सं./मू./५६ मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो। अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।५६। —हे भव्य! कुछ भी चेष्टा मत कर, कुछ भी मत बोल, और कुछ भी चिन्तवन मत कर, जिससे आत्मा निजात्मामें तल्लीन होकर स्थिर हो जावे, आत्मामें लीन होना ही परम ध्यान है।५६।

नि. सा./ता वृ./१२३ ध्यानध्येयध्यातृतत्फलादिविविधविकल्पनिर्मुक्तान्तर्मुखाकारनिखिलकरणग्रामगोचरनिरंजननिजपरमतत्त्वाविचलस्थितिरूपशुक्लध्यानम्। —ध्यान-ध्येय-ध्याता, ध्यानका फल आदिके विविध विकल्पोंसे विमुक्त, अन्तर्मुखाकार, समस्त इन्द्रिय समूहके अगोचर निरंजन निज परमतत्त्वमें अविचल स्थितिरूप वह निश्चय शुक्लध्यान है। (नि. सा./ता.वृ./८९)।

प्र. सा./ता. वृ./८/१२ रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यानम्। —रागादि विकल्पसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानको आगम भाषामें शुक्लध्यान कहा है।

द्र. सं./टी./४८/२०५/३ स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिलक्षणं शुक्लध्यानम्। —निज शुद्धात्मामें निर्विकल्प रहित समाधिरूप शुक्लध्यान है।

भा. पा. टी./७८/२२६/१८ मलरहितात्मपरिणामोद्भवं शुक्लम्। —मल रहित आत्माके परिणामको शुक्ल कहते हैं।

२ शुक्लध्यानके भेद

भ. आ./मू./१८७८-१८७९ ज्झाणं पुधत्तसवितक्कसविचारं हवे पढमसुक्कं। सवितक्केक्कत्तावीचारं ज्झाणं विदियसुक्कं।१८७८। सुहुमकिरियं खु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहिं पण्णत्तं। वेंति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु।१८७९। —प्रथम सवितर्क सविचार शुक्लध्यान, द्वितीय सवितर्कैकत्ववीचार शुक्लध्यान, तीसरा सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्लध्यान, चौथा समुच्छिन्न क्रिया नामक शुक्लध्यान कहा गया है। (मू. आ./४०४-४०५), (त. सू./९/३९); (रा. वा./९/७/१४/४०/१६); (ध. १३/५,४,२६/७७/१०); (ज्ञा./४२/९-११), (द्र. सं./टी./४८/२०३/३)।

चा. सा./२०३/४ शुक्लध्यानं द्विविधं, शुक्लं परमशुक्लमिति। शुक्ल द्विविधं पृथक्त्ववितर्कवीचारमेकत्ववितर्कावीचारमिति। परमशुक्ल द्विविधं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसमुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिभेदात्। तल्लक्षणं द्विविधं, बाह्यमाध्यात्मिकमिति।—शुक्लध्यानके दो भेद हैं—एक शुक्ल और दूसरा परम शुक्ल। उसमें भी शुक्लध्यान दो प्रकारका है—पृथक्त्ववितर्कविचार और दूसरा एकत्ववितर्क अविचार। परम शुक्ल भी दो प्रकार का है—सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और दूसरा समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति। इस समस्त शुक्लध्यानके लक्षण भी दो प्रकार हैं—एक बाह्य दूसरा आध्यात्मिक।

३. बाह्य व आध्यात्मिक शुक्लध्यानका लक्षण

चा. सा./२०३/५ गात्रनेत्रपरिस्पन्दविरहितं जृम्भजृम्भोद्गारादिवर्जितमनभिव्यक्तप्राणापानप्रचारत्वमुच्छिन्नप्राणापानप्रचारत्वमपराजितत्व बाह्यं, तदनुमेयं परेषामात्मनः स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकं तदुच्यते। —शरीर और नेत्रोंको स्पन्द रहित रखना, जँभाई जम्भा उद्गार आदि नहीं होना, प्राणापानका प्रचार व्यक्त न होना अथवा प्राणापानका प्रचार नष्ट हो जाना बाह्य शुक्लध्यान है। यह बाह्य शुक्लध्यान अन्य लोगोंको अनुमानसे जाना जा सकता है तथा जो केवल आत्माको स्वसंवेदन हो वह आध्यात्मिक शुक्लध्यान कहा जाता है।

४. शून्यध्यानका लक्षण

ज्ञानसार/३७-४७ किं बहुना सालम्बं परमार्थेन ज्ञात्वा। परिहर कुरु पश्चात् ध्यानाभ्यासं निरालम्बम्।३७। तथा प्रथम तथा द्वितीयं तृतीयं निश्रेणिकायां चरमाना। प्राप्नोति समुच्चयस्थानं तथायोगी स्थूलतः शून्याम्।३८। रागादिभिः वियुक्तं गतमोहं तत्त्वपरिणतं ज्ञानम्। जिनशासने भणितं शून्यं इदमीदृश मनुते।४१। इन्द्रियविषयातीतं अमन्त्रतन्त्र-अध्येय-धारणाकम्। नभःसदृशमपि न गगनं तत् शून्यं केवलं ज्ञानम्।४२। नाहं कस्यापि तनयः न कोऽपि मे आस्त अहं च एकाकी। इति शून्य ध्यानज्ञाने लभते योगी परं स्थानम्।४३। मनवचन-काय-मत्सर-ममत्वतनुधनकलादिभिः शून्योऽहम्। इति शून्य-

ध्यानयुक्तः न लिप्यते पुण्यपापेन ।४४। शुद्धात्मा तनुमात्रः ज्ञानी चेतनगुणोऽहम् एकोऽहम् । इति ध्याने योगी प्राप्नोति परमात्मकं स्थानम् ।४५। अभ्यन्तरं च कृत्वा बहिरर्थसुखानि कुरु शून्यतनुम् । निश्चिन्तस्तथा हंसः पुरुषः पुनः केवली भवति । ४७। –बहुत कहनेसे क्या ? परमार्थसे सालम्बन ध्यान (धर्मध्यान) को जानकर उसे छोड़ना चाहिए तथा तत्पश्चात् निरालम्बन ध्यानका अभ्यास करना चाहिए ।३७। प्रथम द्वितीय आदि श्रेणियोंको पार करता हुआ वह योगी चरम स्थानमें पहुँचकर स्थूलतः शून्य हो जाता है ।३८। क्योंकि रागादिसे मुक्त, मोह रहित, स्वभाव परिणत ज्ञान ही जिनशासनमें शून्य कहा जाता है ।४१। इन्द्रिय विषयोंसे अतीत, मन्त्र, तन्त्र तथा धारणा आदि रूप ध्येयोंसे रहित जो आकाश न होते हुए भी आकाशवत् निर्मल है, वह ज्ञान मात्र शून्य कहलाता है ।४२। मैं किसीका नहीं, पुत्रादि कोई भी मेरे नहीं हैं, मैं अकेला हूँ शून्य ध्यानके ज्ञानमें योगी इस प्रकारके परम स्थानको प्राप्त करता है ।४३। मन, वचन, काय, मत्सर, ममत्व, शरीर, धन-धान्य आदिसे मैं शून्य हूँ इस प्रकारके शून्य ध्यानसे युक्त योगी पुण्य पापमें लिप्त नहीं होता ।४४। 'मैं शुद्धात्मा हूँ, शरीर मात्र हूँ, ज्ञानी हूँ, चेतन गुण स्वरूप हूँ, एक हूँ, इस प्रकारके ध्यानसे योगी परमात्म स्थानको प्राप्त करता है ।४५। अभ्यन्तरको निश्चित करके तथा बाह्य पदार्थों सम्बन्धी सुखों व शरीरको शून्य करके हंस रूप पुरुष अर्थात् अत्यन्त निर्मल आत्मा केवली हो जाता है ।४७।

आचारसार/७७-८३ जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथा कौतुकं शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमणात प्रीतिः शरीरेऽपि च । जोषं वागपि धारयत्त्वविरतानन्दात्मन स्वात्मनश्चिन्तायामपि यातुमिच्छति मनोदोषैः समं पञ्चताम् ।७७। यत्र न ध्यानं ध्येयं ध्यातारौ नैव चिन्तनं किमपि । न च धारणा विकल्पास्तं शून्य सुष्ठु भावये ।७८। शून्यध्यानप्रविष्टो योगी स्वसद्भावसंपन्नः । परमानन्दस्थितो भृतावस्थः स्फुटं भवति ।७९। तत्त्रिकमयो ह्यात्मा अवशेषालम्बनैः परिमुक्तः । उक्तः स तेन शून्यो ज्ञानिभिर्न सर्वथा शून्यः ।८०। यावद्विकल्पः कश्चिदपि जायते योगिनो ध्यानयुक्तस्य । तावन्न शून्यं ध्यानं चिन्ता वा भावनाथवा ।८१। –सब रस विरस हो जाते हैं, कथा गोष्ठी व कौतुक विघट जाते है, इन्द्रियोंके विषय मुरझा जाते हैं, तथा शरीरमें प्रीति भी समाप्त हो जाती है व **वचन भी मौन धारण कर लेता है। आत्माकी आनन्दानुभूतिके कालमें मनके दोषों सहित स्वात्म विषयक चिन्ता भी शान्त होने लगती है**' ।७७। जहाँ न ध्यान है, न ध्येय है, न ध्याता है, न कुछ चिन्तवन है, न धारणाके विकल्प हैं, ऐसे शून्यको भली प्रकार भाना चाहिए ।७८। शून्य ध्यानमें प्रविष्ट योगी स्व स्वभावसे सम्पन्न, परमानन्दमें स्थित तथा प्रगट भरितावस्थावत् होता है ।७९। ज्ञानदर्शन चारित्र इन तीनों मयी आत्मा निश्चयसे अवशेष समस्त अवलम्बनोंसे मुक्त हो जाता है। इसलिए वह शून्य कहलाता है, सर्वथा शून्य नहीं ।८०। ध्यान युक्त योगीको जब तक कुछ भी विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, तब तक वह शून्य ध्यान नहीं, वह या तो चिन्ता है या भावना।

५. पृथक्त्व वितर्क वीचारका स्वरूप

भ. आ./मू./१८८०, १८८२ दव्वाइं अणेयाइं ताहिं वि जोगेहि जेण- ज्झायंति । उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तंत्ति तं भणिया ।१८८०। अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो । तस्स य भावेण तयं सुत्ते उत्तं सवीचारं ।१८८२। –इस पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यानमें अनेक द्रव्य विषय होते हैं और इन विषयोंका विचार करते समय उपशान्त मोह मुनि इन मन वचन काय योगोंका परिवर्तन करता है ।१८८०। इस ध्यानमें अर्थके वाचक शब्द संक्रमण तथा योगोंका संक्रमण होता है। ऐसे वीचारों (संक्रमणोंका) का सद्भाव होनेसे इसे सवीचार कहते हैं। अनेक द्रव्योंका ज्ञान करानेवाला जो शब्द श्रुत वाक्य उससे यह ध्यान उत्पन्न होता है, इसलिए इस ध्यानका पृथक्त्ववितर्क सवीचार ऐसा नाम है ।१८८२।

त. सू./९-४१-४४ एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ।४१। वितर्कः श्रुतम् ।४३। वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ।४४। –पहलेके दो ध्यान एक आश्रयवाले, सवितर्क, और सवीचार होते हैं ।४१। वितर्कका अर्थ श्रुत है ।४३। अर्थ, व्यंजन और योगकी संक्रान्ति वीचार है ।४४। भावार्थ—पृथक्त्व अर्थात् भेद रूपसे वितर्क श्रुतका वीचार अर्थात् संक्रान्ति जिस ध्यानमें होती है वह पृथक्त्व वितर्क वीचार नामका ध्यान है। (ध. १३/५,४,२६/७७/११); (क. पा. १/१,१७/§३१२/३४४/६) (ज्ञा./४२/१३,२०-२२)।

स. सि./९/४४/४५६/१ तत्र द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यायन्नाहितवितर्कसामर्थ्यः अर्थव्यञ्जने कायवचसी च पृथक्त्वेन संक्रामता मनसापर्याप्तबालोत्साहवदव्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन्क्षपयंश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवति । [पुनर्वीर्यविशेषहानेर्योगाद्योगान्तरं व्यञ्जनाद्व्यञ्जनान्तरमर्थादर्थान्तरमाश्रयन् ध्यानविधूतमोहरजाः ध्यानयोगान्निवर्तते इति । पृथक्त्ववितर्कवीचारम् [रा. वा.]। –जिस प्रकार अपर्याप्त उत्साहसे बालक अव्यवस्थित और मोथरे शस्त्रके द्वारा भी चिरकालमें वृक्षको छेदता है उसी प्रकार चित्तकी सामर्थ्यको प्राप्त कर जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणुका ध्यान कर रहा है वह अर्थ और व्यंजन तथा काय और वचनमें पृथक्त्वरूपसे संक्रमण करनेवाले मनके द्वारा मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंका उपशम और क्षय करता हुआ पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यानको धारण करनेवाला होता है। फिर शक्तिकी कमीसे योगसे योगान्तर, व्यंजनसे व्यंजनान्तर और अर्थसे अर्थान्तरको प्राप्त कर मोहरजका विधूनन कर ध्यानसे निवृत्त होता है यह पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान है। (रा. वा./९/४४/१/६३४/२५), (म. पु./२१/१७०-१७३)।

ध. १३/५,४,२६/गा. ५८-६०/७८ दव्वाइमणेगाइं तीहि वि जोगेहि जेण ज्झायंति । उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तं ति तं भणिदं ।५८। जम्हा सुदं विदक्कं जम्हा पुव्वगयअत्थकुसलो य । ज्झायदि ज्झाणं एदं सविदक्कं तेण तं ज्झाणं ।५९। अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो । तस्स य भावेण तगं सुत्ते उत्तं सवीचारं ।६०।

ध. १३/५,४,२६/७८/८ एकदव्व गुणपज्जायं वा पढमसमए बहुणयगहणणिलीणं सुदरविकिरणुज्जोयबलेण ज्झाएदि । एवं तं चेव अंतोमुहुत्तमेत्तकालं ज्झाएदि । तदो परदो अत्थंतरस्स णियमा संकमदि । अधवा तम्हि चेव अत्थे गुणस्स पज्जयस्स वा संकमदि । पुव्विल्लजोगाजो गोगंतरं सिया संकमदि । एगमत्थमत्थंतरं गुणगुणंतरं पज्जायपज्जायंतरं च हेट्ठोवरि ट्ठविय पुणो तिण्णि जोगे एगपंतीए ठविय दुसंजोग-तिसंजोगेहि एत्थ पुधत्तविदक्कवीचारज्झाणभंगा बादालीस ।४२। उप्पाएदव्वा । एवमंतोमुहुत्तकालमुवसंतकसाओ सुक्कलेस्साओ पुधत्तविदक्कवीचारज्झाणं छद्दव्व-णवपयत्थविसयमंतोमुहुत्तकालं ज्झायइ । अत्थदो अत्थंतरसंकमे संते वि ण ज्झाण विणासो, चित्तंतरगमणाभावादो । –१. यत. उपशान्त मोह जीव अनेक द्रव्योंका तीनों ही योगोंके आलम्बनसे ध्यान करते हैं इसलिए उसे पृथक्त्व ऐसा कहा है ।५८। यतः वितर्कका अर्थ श्रुत है और यतः पूर्वगत अर्थमें कुशल साधु ही इस ध्यानको ध्याते हैं, इसलिए इस ध्यानको सवितर्क कहा है ।५९। अर्थ, व्यंजन और योगोंका संक्रम वीचार है। जो ऐसे संक्रमसे युक्त होता है उसे सूत्रमें सविचार कहा है ।६०। (त. सा./७/४५-४७)। २. इसका भावार्थ कहते हैं...एक द्रव्य या गुण-पर्यायको श्रुत रूपी रविकिरणके प्रकाशके बलसे ध्याता है। इस प्रकार उसी पदार्थको अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्याता है। इसके बाद अर्थान्तरपर नियमसे संक्रमित होता है। अथवा उसी अर्थके गुण या पर्यायपर संक्रमित होता है। और पूर्व योगसे स्यात् योगान्तरपर संक्रमित होता है इस तरह एक अर्थ-अर्थान्तर, गुण-गुणान्तर और पर्याय-पर्यायान्तरको नीचे ऊपर स्थापित करके फिर तीन योगोंको एक पंक्तिमें स्थापित करके

द्विसंयोगी और त्रिसंयोगीकी अपेक्षा यहाँ पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यानके ४२ भंग उत्पन्न करना चाहिए। इस प्रकार शुक्ललेश्या वाला उपशान्तकषाय जीव छह द्रव्य और नौ पदार्थ विषयक पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यानका अन्तर्मुहूर्त कालतक ध्याता है। अर्थसे अर्थान्तरका संक्रम होनेपर भी ध्यानका विनाश नहीं होता, क्योंकि इससे चिन्तान्तरमें गमन नहीं होता। (चा. सा /२०४/१)।

द्र. सं./टी./४८/२०२/६ पृथक्त्ववितर्कविचारं तावत्कथ्यते। द्रव्यगुणपर्यायाणां भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते, स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्तर्जल्पवचनं वा वितर्को भण्यते. अनीहितवृत्त्यार्थान्तरपरिणमनम् वचनाद्वचनान्तरपरिणमनम् मनोवचनकाययोगेषु योगाद्योगान्तरपरिणमनं वीचारो भण्यते। अयमत्रार्थ — यद्यपि ध्याता पुरुष स्वशुद्धात्मसंवेदनं विहाय बहिश्चिन्तां न करोति तथापि यावतांशेन स्वरूपे स्थिरत्वं नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पाः स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानं भण्यते। = द्रव्य, गुण और पर्यायके भिन्नपनेको पृथक्त्व कहते है। निजशुद्धात्माका अनुभव रूप भावश्रुतको और निज शुद्धात्माको कहने वाले अन्तर्जल्परूप वचनको 'वितर्क' कहते है। इच्छा बिना ही एक अर्थसे दूसरे अर्थमें, एक वचनसे दूसरे वचनमें, मन वचन और काय इन तीनों योगोंमेंसे किसी एक योगसे दूसरे योगमें जो परिणमन है, उसको वीचार कहते है। इसका यह अर्थ है—यद्यपि ध्यान करनेवाला पुरुष निज शुद्धात्म संवेदनको छोडकर बाह्य पदार्थोंकी चिन्ता नहीं करता, तथापि जितने अंशोंसे स्वरूपमें स्थिरता नहीं है उतने अंशोंसे अनिच्छित वृत्तिसे विकल्प उत्पन्न होते है, इस कारण इस ध्यानको पृथक्त्व वितर्क वीचार कहते हैं।

६. एकत्व वितर्क अवीचारका स्वरूप

भ. आ./मू./१८८३/१६८६ जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरेण। खीणकसायो ज्झायदि तेणेगत्तं तगं भणियं।१८८३। = इस ध्यानके द्वारा एक ही योगका आश्रय लेकर एक ही द्रव्यका ध्याता चिन्तन करता है। इसलिए इसको एकत्व वितर्क ध्यान कहा गया है।१८८३।

स. सि./९/४४/४५६/४ स एव पुनः समूलतूलं मोहनीयं निर्दिधक्षन्ननन्तगुणविशुद्धियोगविशेषमाश्रित्य बहुतराणां ज्ञानावरणीय सहायीभूतानां प्रकृतीनां बन्धं निरुन्धन् स्थिति ह्रासक्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगो निवृत्तार्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः अविचलितमनाः क्षीणकषायो वैडूर्यमणिरिव निरुपलेपो ध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इत्युक्तमेकत्ववितर्कम्। = पुनः जो समूल मोहनीय कर्मका दाह करना चाहता है, जो अनन्तगुणी विशुद्धि विशेषको प्राप्त होकर बहुत प्रकारकी ज्ञानावरणकी सहायभूत प्रकृतियोंके बन्धको रोक रहा है, जो कर्मोंकी स्थितिको न्यून और नाश कर रहा है, जो श्रुतज्ञानके उपयोगसे युक्त है, जो अर्थ, व्यंजन और योगकी संक्रान्तिसे रहित है। निश्चलमन वाला है, क्षीणकषाय है और वैडूर्यमणिके समान निरुपलेप है,...इस प्रकार एकत्व वितर्क ध्यान कहा गया है। (रा. वा./९/४४/१/६३४/३१)।

ध. १३/५,४,२६/गा ६१-६३/७९ जेणेगमेव दव्वं जोगेणेक्केण अण्णदरएण। खीणकसाओ ज्झायइ तेणेयत्तं तगं भणिदं।६१। जम्हा सुदं विदक्कं जम्हा पुव्वगयअत्थकुसलो य। ज्झायदि ज्झाणं एदं सविदक्कं तेण तज्झाणं।६२। अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो। तस्स अभावेण तगं ज्झाणमवीचारमिदि वुत्तं।६३।

ध. १३/५,४,२६/८०/१ णवपयत्थेसु दव्व-गुण-पज्जयत्थ दव्व-गुण-पज्जयभेदेण ज्झाएदि, अण्णदरजोगेण अण्णदराभिधाणेण य तत्थ एगम्हि दव्वे गुणे पज्जाए वा मेरुमहियरोव्व णिच्चलभावेण अवट्ठियचित्तस्स असंखेज्जगुणसेडीए कम्मक्खंधे गालयंतस्स अणंतगुणहीणाए सेडीए कम्माणुभागं सोसयंतस्स कम्माणं ट्ठिदीयो एगजोगएगाभिहाणज्झाणेण घादयंतस्स अंतोमुहुत्तमेत्तकालो गच्छदि तदो सेसखीणकसायद्धमेत्तट्ठिदीयो मोत्तूण उवरिमसव्वट्ठिदियो घेत्तूण उदयादिगुणसेडिसरूवेण रचिय पुणो ट्ठिदिखंडएण विणा अधट्ठिदिगलणेण असंखेज्जगुणसेडीए कम्मक्खंधे घादंतो गच्छदि जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति। तत्थ खीणकसायचरिमसमए णाणावरणीय-दसणावरणीय-अंतराइयाणि विणासेदि। एदेसु णिट्ठेसु केवलणाणी केवलदंसणी अणंतवीरियो दाण-लाह-भोगुवभोगेसु विग्घवज्जियो होदि त्ति घेत्तव्वं। = १. यतः क्षीणकषाय जीव एक ही द्रव्यका किसी एक योगके द्वारा ध्यान करता है, इसलिए उस ध्यानको एकत्व कहा है।६१। यतः वितर्कका अर्थ श्रुत है और इसलिए पूर्वगत अर्थमें कुशल साधु इस ध्यानको ध्याता है, इसलिए इस ध्यानको सवितर्क कहा है।६२। अर्थ, व्यंजन और योगोंके संक्रमका नाम वीचार है। यतः उस विचारके अभावसे यह ध्यान अवीचार कहा है।६३। (त. सा./७/४८-५०); (क. पा. १/१, १७/§ ३१२/३४४/१५), (ज्ञा./४२/१३-१६)। २. जो जीव नौ पदार्थोंमेंसे किसी एक पदार्थका द्रव्य, गुण और पर्यायके भेदसे ध्यान करता है। इस प्रकार किसी एक योग और एक शब्दके आलम्बनसे वहाँ एक द्रव्य, गुण या पर्यायमें मेरु पर्वतके समान निश्चल भावसे अवस्थित चित्तवाले, असंख्यात गुणश्रेणि क्रमसे कर्मस्कन्धोंको गलानेवाले, अनन्त गुणहीन श्रेणिक्रमसे कर्मोंके अनुरागको शोषित करनेवाले और कर्मोंकी स्थितियोंको एक योग तथा एक शब्दके आलम्बनसे प्राप्त हुए ध्यानके बलसे घात करनेवाले उस जीवका अन्तर्मुहूर्त काल रह जाता है। तदनन्तर शेष रहे क्षीणकषायके कालका प्रमाण स्थितियोंको छोडकर उपरिम सब स्थितियोंकी उदयादि श्रेणि रूपसे रचना करके पुनः स्थिति काण्डक घातके बिना अधःस्थिति गलना आदि ही असंख्यात गुणश्रेणि क्रमसे कर्म स्कन्धोंका घात करता हुआ क्षीण कषायके अन्तिम समयके प्राप्त होने तक जाता है। वहाँ क्षीण कषायके अन्तिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तरायका घात करके केवलज्ञानी, केवलदर्शनी, अनन्तवीर्यधारी तथा दान-लाभ-भोग व उपभोगके विघ्नसे रहित होता है। (चा सा /२०६/३)।

द्र. सं /टी /४८/२०४/४ निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्मसुखसंवित्तिपर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रैकस्मिन् प्रवृत्तं तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षणभावश्रुतबलेन स्थिरीभूयावीचारं गुणद्रव्यपर्यायपरावर्तनं न करोति यत्तदेकत्ववितर्कावीचारसंज्ञं क्षीणकषायगुणस्थानसंभवं द्वितीयं शुक्लध्यानं भण्यते। तेनैव केवलज्ञानोत्पत्तिः इति। = निज शुद्धात्म द्रव्यमें या विकार रहित आत्मसुख अनुभवरूप पर्यायमें, या उपाधि रहित स्व संवेदन गुणमें इन तीनोंमेंसे जिस एक द्रव्य गुण या पर्यायमें प्रवृत्त हो गया और उसीमें वितर्क नामक निजात्मानुभवरूप भाव श्रुतके बलसे स्थिर होकर अवीचार अर्थात् द्रव्य गुण पर्यायमें परावर्तन नहीं करता वह एकत्व वितर्क नामक गुणस्थानमें होनेवाला दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है जो कि केवल ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है।

७. सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपातीका स्वरूप

भ आ /मू /१८८६-१८८७ अवितक्कमवीचारं सुहुमकिरियबंधणं तदियसुक्कं। सुहुमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वभावगदं।१८८६। सुहुमम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कम्। ज्झायदि णिरु भिदुं जे सुहुमत्तणकायजोगंपि।१८८७। = वितर्क रहित, अवीचार, सूक्ष्म क्रिया करनेवाले आत्माके होता है। यह ध्यान सूक्ष्म काय योगमें है।१८८६। प्रवृत्त होता है। त्रिकाल विषयक पदार्थोंको युगपद् प्रगट करनेवाला इस सूक्ष्म काययोगमें रहनेवाले केवली इस तृतीय शुक्लध्यानके धारक हैं। उस समय सूक्ष्म काययोगका वे निरोध करते हैं।१८८७। (भ. आ./मू./२११९), (ध. १३/५, ४, २६/गा. ७२-७३/८३), (त. सा /७/५१-५२), (ज्ञा /४२/५१)।

स.सि./९/४४/४५६/८ एवमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानवैश्वानरनिर्दग्धघातिकर्मेन्धन···स यदान्तर्मुहूर्तशेषायुष्कः··· तदा सर्वं वाङ्मनसयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानमास्कन्दितुमर्हतीति। ···समीकृतस्थितिशेषकर्मचतुष्टयः पूर्वशरीरप्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति। —इस प्रकार एकत्व वितर्क शुक्लध्यानरूपी अग्निके द्वारा जिसने चार घातिया कर्म रूपी ईंधनको जला दिया है।···वह जब आयु कर्ममें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है···तब सब प्रकारके वचन योग, मनोयोग, और बादर काययोगको त्यागकर सूक्ष्म काययोगका आलम्बन लेकर सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यानको स्वीकार करते हैं। परन्तु जब उनकी सयोगी जिनकी आयु अन्तमुहूर्त शेष रहती है।··तब (समुद्घातके द्वारा) चार कर्मोंकी स्थितिको समान करके अपने पूर्व शरीर प्रमाण होकर सूक्ष्म काययोगके द्वारा सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यानको स्वीकार करते हैं (रा. वा./९/४४/१/६३४/१), (ध. १३/५, ४, २६/८३-८६/१२), (चा. सा./२०७/३)।

ध. १३/५,४,२६/८३/२ संपहि तदिय सुक्कज्झाणपरूवणं कस्सामो। तं जहा-क्रिया नाम योगः। प्रतिपतितुं शील यस्य तत्प्रतिपाति। तत्प्रतिपक्षः अप्रतिपाति। सूक्ष्मक्रिया योगो यस्मिन् तत्सूक्ष्मक्रियम्। सूक्ष्मक्रियं च तदप्रतिपाति च सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानम्। केवलज्ञानेनापसारितश्रुतज्ञानत्वात् तदवितर्कम्। अर्थान्तरसंक्रान्त्यभावात्तदवीचारं व्यञ्जन-योगसंक्रान्त्यभावाद्वा। कथं तत्संक्रान्त्यभावः। तदवष्टम्भबलेन विना अक्रमेण त्रिकालगोचराशेषावगते। —अब तीसरे शुक्ल ध्यानका कथन करते हैं यथा—क्रियाका अर्थ योग है वह जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है, और उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती कहलाता है। जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है वह सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है, और सूक्ष्मक्रिय होकर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। (द. सं./टी./४८/२०४/८) यहाँ केवलज्ञानके द्वारा श्रुतज्ञानका अभाव हो जाता है, इसलिए यह अवितर्क है और अर्थान्तरकी संक्रान्तिका अभाव होनेसे अवीचार है, अथवा व्यंजन और योगकी संक्रान्तिका अभाव होनेसे अविचार है। प्रश्न—इस ध्यानमें इनकी संक्रान्तिका अभाव कैसे है। उत्तर—इनके अवलंबनके बिना ही युगपत् त्रिकाल गोचर अशेष पदार्थोंका ज्ञान होता है।

८. समुच्छिन्न क्रिया निवृत्तिका स्वरूप

भ. आ./मू./१८८८, २१२३ अवियक्कमवीचारं अणियट्टिमकिरियं च सीलेसि। ज्झाणं णिरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं।१८८८। देहतियबंधपरिमोक्खत्थं केवली अजोगी सो। उवयादि समुच्छिण्णकिरियं तु ज्झाणं अपडिवादी।२१२३। —अन्तिम उत्तम शुक्लध्यान वितर्क रहित है, वीचार रहित है, अनिवृत्ति है, क्रिया रहित है, शैलेशी अवस्थाको प्राप्त है और योग रहित है। (ध. १३/५.४. २६/गा ७७/८७) औदारिक शरीर, तैजस व कार्मण शरीर इन तीन शरीरोंका बन्ध नाश करनेके लिए वे अयोगिकेवली भगवान् समुच्छिन्न क्रिया निवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं (त. सा./७/५३-५४)।

स. सि./९/४४/४५७/६ ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमारभते। समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात् समुच्छिन्ननिवृत्तीत्युच्यते। —इसके बाद चौथे समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यानको प्रारम्भ करते हैं। इसमें प्राणापानके प्रचार रूप क्रियाका तथा सब प्रकारके काययोग वचनयोग और मनोयोगके द्वारा होनेवाली आत्म प्रदेश परिस्पन्द रूप क्रियाका उच्छेद हो जानेसे इसे समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान कहते हैं (रा. वा./९/४४/१/६३५/११), (चा. सा./२०६/२)।

ध. १३/५,४,२६/८७/६ समुच्छिन्ना क्रिया योगो यस्मिन् तत्समुच्छिन्नक्रियम्। समुच्छिन्नक्रियं च अप्रतिपाति च समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यानम्। श्रुतरहितत्वात् अवितर्कम्। जीवप्रदेशपरिस्पन्दाभावादवीचारं अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्त्यभावाद्वा। —जिसमें क्रिया अर्थात् योग सब प्रकारसे उच्छिन्न हो गया है वह समुच्छिन्न क्रिय है और समुच्छिन्न क्रिया होकर जो अप्रतिपाती है वह समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यान है। यह श्रुतज्ञानसे रहित होनेके कारण अवितर्क है, जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दका अभाव होनेसे अविचार है, या अर्थ, व्यंजन और योगकी संक्रान्तिके अभाव होनेसे अविचार है।

द्र. स./टी./४८/२०४/९ विशेषेणोपरता निवृत्ता क्रिया यत्र तद् व्युपरतक्रियं च तदनिवृत्ति चानिवर्तकं च तद् व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थशुक्लध्यानं। —विशेष रूपसे उपरत अर्थात् दूर हो गयी है क्रिया जिसमें वह व्युपरतक्रिय है; व्युपरतक्रिय हो और अनिवृत्ति हो वह व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामा चतुर्थ शुक्लध्यान है।

२. शुक्लध्यान निर्देश

१. शुक्ल ध्यानमें श्वासोच्छ्वासका निरोध हो जाता है

प. प्र./मू./२/१६२ णास-विणिग्गउ सासडा अंबरि जेत्थु विलाइ। तुट्टइ मोहु तडत्ति तहिं मणु अत्थवणहं जाइ।१६२। —नाकसे निकला जो श्वास वह जिस निर्विकल्प समाधिमें मिल जावे, उसी जगह मोह शीघ्र नष्ट हो जाता है, और मन स्थिर हो जाता है।१६२।

भ. आ./वि./१८८८/१६६१/४ अकिरियं समुच्छिन्नप्राणापानप्रचार···। —इस (समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति) ध्यानमें सर्व श्वासोच्छ्वासका प्रचार बन्द हो जाता है।

२. पृथक्त्व वितर्कमें प्रतिपातपना सम्भव है

ध. १३/५,४,२६/पृ. पंक्ति तदो परदो अत्थंतरस्स णियमा संकमदि (७८/१०) उवसंतकसाओ · पुधत्तविदक्कवीचारज्झाणं · अंतोमुहुत्तकालं ज्झायइ (७८/१४) एवं एदम्हादो णिव्वुइगमणाणुवलंभादो (८१/१) उवसंत। —अर्थसे अर्थान्तरपर नियमसे संक्रमित होता है।···इस प्रकार उपशान्त कषाय जीव पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यानको अन्तर्मुहूर्त कालतक ध्याता है।·· इस प्रकार···इस ध्यानके फलसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती।

३. एकत्व वितर्क में प्रतिपातका विधि निषेध

स. सि./९/४४/४५६/८ ध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इत्युक्तमेकत्ववितर्कम्। —वह ध्यान करके पुनः नहीं लौटता। इस प्रकार एकत्व वितर्क ध्यान कहा।

ध. १३/५,४,२६/८१/६ उवसंतकसायम्मि भवद्धाक्खएहि कसाएसु णिवदिदम्मि पडिवादुवलंभादो। —उपशान्त कषाय जीवके भवक्षय और कालक्षयके निमित्तसे पुनः कषायोंके प्राप्त होनेपर एकत्व वितर्क-अविचार ध्यानका प्रतिपात देखा जाता है।

४. चारों शुक्लध्यानोंमें अन्तर

भ. आ./वि./१८८४-१८८५/१६८७/२० एकद्रव्यालम्बनत्वेन परिमितानेकसर्वपर्यायद्रव्यालम्बनात् प्रथमध्यानात्समस्तवस्तुविषयाभ्यां तृतीयचतुर्थाभ्यां च विलक्षणता द्वितीयध्यानस्य गाथया निवेदिता। क्षीणकषायग्रहणेन उपशान्तमोहस्वामिकत्वात्। सयोग्ययोगकेवलिस्वामिकाभ्यां च भेदः पूर्ववदेव। पूर्वव्यावर्णितवीचाराभावादवीचारत्वं। —यह ध्यान (एकत्व वितर्क ध्यान) एक द्रव्यका ही आश्रय करता है इसलिए परिमित अनेक पर्यायों सहित अनेक द्रव्योंका

आश्रय लेनेवाले प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है। तीसरा और चौथा ध्यान सर्व वस्तुओंको विषय करते है अतः इनसे भी यह दूसरा शुक्ल ध्यान भिन्न है, ऐसा इस गाथासे सिद्ध होता है। इस ध्यानका स्वामित्व क्षीण कषायवाला मुनि है पहले ध्यानका स्वामित्व उपशान्त कषायवाला मुनि है और तीसरे तथा चौथे शुक्लध्यानका स्वामित्व सयोग केवली तथा अयोग केवली मुनि है। अत स्वामित्व-की अपेक्षासे दूसरा शुक्लध्यान इन ध्यानोंसे भिन्न है। (भ. आ./वि./१८८२/१६८५/४)।

५. शुक्ल ध्यानमें सम्भव भाव व लेश्या

चा. सा /२०५/४ तत्र शुक्लतरलेश्याबलाधानमन्तर्मुहूर्तकालपरिवर्तनं क्षायोपशमिकभावम्। —यह ध्यान शुक्लतर लेश्याके बलसे होता है और अन्तर्मुहूर्त कालके बाद बदल जाता है। यह क्षायोपशमिक भाव है।

३. शुक्लध्यानोंका स्वामित्व व फल

१. पृथक्त्व वितर्कवीचारका स्वामित्व

भ. आ./मू./१८८१ जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगद अत्थ कुसलो य। ज्झायदि ज्झाणं एदं सवितक्कं तेण तं झाणं ।१८८१। —इस ध्यानका स्वामी १४ पूर्वोंके ज्ञाता मुनि होते हैं। (त. सू./९/३७) (म. पु/२१/१७४)।

स. सि./९/४१/४५४/११ उभयेऽपि परिप्राप्तश्रुतज्ञानमिष्ठेनारभ्येते इत्यर्थः। —जिसने सम्पूर्ण श्रुत ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके द्वारा ही दो ध्यान आरम्भ किये जाते हैं। (रा. वा./९/४१/२/६३३/२०), (ज्ञा./४२/२२)।

ध. १३/५,४,२६/७८/७ उवसंतकसायवीयरायछदुमत्थो चोद्दस-दस-णव-पुव्वहरो पसत्थतिविहसंघडणो कसाय-कलंकुत्तिण्णो तिसु जोगेसु एकजोगम्हि वट्टमाणो।

ध. १३/५,४,२६/८१/८ ण च खीणकसायद्धाए सव्वत्थ एयत्तविदक्का-वीचारज्झाणमेव...। —१. चौदह, दस, नौ पूर्वोंका धारी, प्रशस्त तीन संहननवाला, कषाय कलंकसे पारको प्राप्त हुआ और तीनों योगोंमें किसी एकमें विद्यमान ऐसा उपशान्त कषाय वीतराग-छद्मस्थ जीव। २. क्षीणकषायगुणस्थानके कालमें सर्वत्र एकत्व वितर्क अविचार ध्यान ही होता है ऐसा कोई नियम नहीं है। (अर्थात् वहाँ पृथक्त्व वितर्क ध्यान भी होता है। दे. शुक्लध्यान/३/३।

चा. सा./२०६/१ चतुर्दशदशनवपूर्वधरयतिवृषभनिषेव्यमुपशान्तक्षीण-कषायभेदात्। —चौदह पूर्व, दशपूर्व अथवा नौ पूर्वको धारण करने-वाले उत्तम मुनियोंके द्वारा सेवन करने योग्य है और उपशान्तकषाय तथा क्षीणकषायके भेदसे...।

द्र. स./टी./२०४/१ तच्चोपशमश्रेणिविवक्षायामपूर्वोपशमकानिवृत्त्यु-पशमकसूक्ष्मसाम्परायोपशमकोपशान्तकषायपर्यन्तगुणस्थानचतुष्टये भवति। क्षपकश्रेण्यां पुनरपूर्वकरणक्षपकानिवृत्तिकरणक्षपकसूक्ष्म-साम्परायक्षपकाभिधानगुणस्थानत्रये चेति प्रथमं शुक्लध्यानं व्याख्यातं। —यह प्रथम शुक्लध्यान उपशम श्रेणिकी विवक्षामें अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्परायउपशामक तथा उपशान्त-कषाय इन चार गुणस्थानोंमें होता है। क्षपक श्रेणिकी विवक्षामें अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण व सूक्ष्मसाम्परायक्षपक इन तीन गुण-स्थानोंमें होता है।

२. एकत्ववितर्क अवीचार ध्यानका स्वामित्व

भ. आ./मू./२०११/१८१२ तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोभ-किट्टीसु। एयत्त वितक्कावीचारं तो ज्झादि सो झाणं —जब संज्वलन लोभकी सूक्ष्मकृष्टि हो जाती है, और क्षीणकषाय गुणस्थान प्राप्त होता है तब मुनिराज एकत्व वितर्क ध्यानको ध्याते हैं। (ज्ञा./४२/२५)।

दे. शुक्लध्यान/३/१ में. स. सि. पूर्वोंके ज्ञाताको ही यह ध्यान होता है।

ध. १३/५,४,२६/७९/१२ खीणकसाओ सुक्कलेस्सिओ ओघबलो ओघसूरो वज्जरिसहवइरणारायणसरीरसंघडणो अण्णदरसंठाणो चोद्दसपुव्वधरो दसपुव्वहरो णवपुव्वहरो वा खइयसम्माइट्ठी खविदासेसकसाय-वग्गो।

ध. १३/५,४,२६/८१/७ उवसंतकसायम्मि एयत्तविदक्काविचारं। —१. जिसके शुक्ल लेश्या है, जो निसर्गसे बलशाली है, निसर्गसे शूर है, वज्रऋषभनाराच संहननका धारी है, किसी एक संस्थानवाला है, चौदह पूर्वधारी है, दश पूर्वधारी है या नौ पूर्वधारी है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि है और जिसने समस्त कषाय वर्गका क्षय कर दिया है ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही समस्त कषायोंका क्षय करता है। २. उपशान्त कषाय गुणस्थानमें एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान होता है।

चा. सा /२०६ पूर्वोक्तक्षीणकषायावशिष्टकालभूमिकम्...। —पहिले कहे हुए क्षीणकषायके समयसे बाकी बचे हुए समयमें यह दूसरा शुक्ल-ध्यान होता है।

द्र. सं./टी/४८/२०४/७ क्षीणकषायगुणस्थानसंभवं द्वितीयं शुक्लध्यानं। —दूसरा शुक्लध्यान क्षीणकषाय गुणस्थानमें ही सम्भव है।

३. उपशान्त कषायमें एकत्ववितर्क कैसे

ध. १३/५,४,२६/८१/७ उवसंतकसायम्मि एयत्तविदक्कवीचारसंते 'उवसंतो दु पुधत्तं' इच्चेदेण विरोहो होदि त्ति णासंकणिज्ज, तत्थ पुधत्तमेवे त्ति णियमाभावादो। ण च खीणकसायद्धाए सव्वत्थ एयत्त-विदक्कावीचारज्झाणमेव, जोगपरावत्तीए एगसमयपरूवणण्णहाणुवव-त्तिबलेण तदद्धादीए पुधत्तविदक्कवीचारस्स वि संभवसिद्धीदो। —प्रश्न—यदि उपशान्त कषाय गुणस्थानमें एकत्व वितर्क वीचार ध्यान होता है तो 'उवसंतो दु पुधत्तं' इत्यादि गाथा वचनके साथ विरोध आता है? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उपशान्त कषाय गुणस्थानमें केवल पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान ही होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। और क्षीणकषाय गुणस्थान कालमें सर्वत्र एकत्व अवितर्क ध्यान ही होता है, ऐसा भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि वहाँ योग परावृत्तिका कथन एक समय प्रमाण अन्यथा बन नहीं सकता। इससे क्षीणकषाय कालके प्रारम्भमें पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानका अस्तित्व भी सिद्ध होता है।

४. सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती व समुच्छिन्न क्रिया निवृत्तिका स्वामित्व

त. सू./९/३८, ४० परे केवलिनः ।३८।...योगायोगानाम् ।४०।

स. सि./९/४०/४५४/७ काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्तीति। —काययोगवाले केवलीके सूक्ष्मक्रियाप्रति-पाति ध्यान होता है और अयोगी केवलीके व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान होता है। (स. सि. ९/३८/४५३/९); (रा. वा./९/३८,४०/१,२/८,२१)।

दे. शुक्लध्यान/१/७,८ सयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम अन्तर्मुहूर्त कालमें जब भगवान् स्थूल योगोंका निरोध करके सूक्ष्म काययोगमें प्रवेश करते हैं तब उनको सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान होता है। और अयोग केवली गुणस्थानमें योगोंका पूर्ण निरोध हो जानेपर समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति नामका चौथा शुक्लध्यान होता है।

५. स्त्री को शुक्लध्यान सम्भव नहीं

सू. पा./मू./२६ चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण। विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणा ।२६। —स्त्रीके चित्तकी शुद्धि

नहीं, और स्वभावसे ही शिथिल परिणाम हैं। तथा तिनके प्रति मास रुधिरका स्राव होता है, उसकी शंका बनी रहती है इसलिए स्त्रीके ध्यानकी सिद्धि नहीं है।२६।

३. चारों ध्यानोंका फल

१. पृथक्त्व वितर्क वीचार

ध. १३/५.४.२६/७६/१ एवं संवर-णिज्जरामरसुहफलं एदम्हादो णिव्वुइगमणाणुवलंभादो। —इस प्रकार इस ध्यानके फलस्वरूप संवर, निर्जरा और अमरसुख प्राप्त होता है, क्योंकि इससे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती।

चा. सा./२०६/२ स्वर्गापवर्गगतिफलसंवर्त्तनीयमिति। =यह ध्यान स्वर्ग और मोक्षके सुखको देनेवाला है।

दे धर्मध्यान/३/५/२ मोहनीय कर्मकी सर्वोपशमना होने पर उसमें स्थित रखना पृथक्त्व वितर्कविचार नामक शुक्लध्यानका फल है।

ज्ञा./४२/२० अस्याचिन्त्यप्रभावस्य सामर्थ्यात्स प्रशान्तधी। मोहमुन्मूलयत्येव शमयत्यथवा क्षणे।२०। =इस अचिन्त्य प्रभाववाले ध्यानके सामर्थ्यसे जिसका चित्त शान्त हो गया है, ऐसा ध्यानी मुनि क्षण भरमें मोहनीय कर्मका मूलसे नाश करता है अथवा उसका उपशम करता है।२०।

२. एकत्व वितर्क अवीचार

दे. धर्मध्यान/३/५/२ तीन घाती कर्मोंका नाश करना एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यानका फल है।

३. सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती

ध. १३/५.४.२६/गा. ७४,७५/८६,८७ तोयमिव णालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा। परिहादि कमेण तहा जोगजलं ज्झाणजलणेण।७४। तह बादरतणुविसयं जोगविसं ज्झाणमंतबलजुत्तो। अणुभावम्मि णिरुंभदि अवणेदि तदो वि जिणवेज्जो।७६। —जिस प्रकार नाली द्वारा जलका क्रमशः अभाव होता है या तपे हुए लोहेके पात्रमें क्रमशः जलका अभाव होता है, उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्निके द्वारा योगरूपी जलका क्रमशः नाश होता है।७४। ध्यानरूपी मन्त्रके बलसे युक्त हुआ वह सयोगकेवली जिनरूपी वैद्य बादर शरीर विषयक योग विषको पहले रोकता है और इसके बाद उसे निकाल फेंकता है।७६।

४. समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति

ध. १३/५.४.२६/८८/१ सेलेसियअद्धाए ज्झीणाए सव्वकम्मविप्पमुक्को एगसमएण सिद्धिं गच्छदि। —शैलेशी अवस्थाके कालके क्षीण होनेपर सब कर्मोंसे मुक्त हुआ यह जीव एक समयमें सिद्धिको प्राप्त होता है।

४. शंका समाधान

१. संक्रान्ति रहते ध्यान कैसे सम्भव है

स. सि./९/४४/४५५/१३ की टिप्पणी—संक्रान्तौ सत्यां कथं ध्यानमिति चेत् ध्यानसंतानमपि ध्यानमुच्यते इति न दोष.। —प्रश्न—संक्रान्तिके होनेपर ध्यान कैसे सम्भव है? उत्तर—ध्यानकी सन्ततिको भी ध्यान कहा जाता है इसमें कोई दोष नहीं है।

रा. वा./९/२७/१९.२१/६२६-६२७/३५ अथमेतत्—एकवचनेऽपि तस्यानिष्टस्य प्रसङ्गतुल्य इति; तन्न; किं कारणम्। आभिमुख्ये सति पौनःपुन्येनापि प्रवृत्तिज्ञापनार्थत्वात्। अग्रं मुखमिति ह्युच्यमानेऽनेकमुखत्वं निवर्तितं एकमुखे तु संक्रमोऽभ्युपगत एवेति नानिष्टप्राप्तिः।१९। अथवा अङ्गतीत्यग्रमात्मेत्यर्थः। द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्। ततः स्ववृत्तित्वात् बाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निवर्तिता भवति।२१। —प्रश्न— यदि ध्यानमें अर्थ व्यंजन योगकी संक्रान्ति होती है तो 'एकाग्र' वचन कहनेमें भी अनिष्टका प्रसंग समान ही है? उत्तर— ऐसा नहीं क्योंकि अपने विषयके अभिमुख होकर पुनः पुनः उसीमें प्रवृत्ति रहती है। अग्रका अर्थ मुख्य होता है, अतः ध्यान अनेकमुखी न होकर एकमुखी रहता है और उस मुखमें ही संक्रम होता रहता है। अथवा 'अङ्गतीति अग्रम् आत्मा' इस व्युत्पत्तिमें द्रव्यरूपसे एक आत्माको लक्ष्य बनाना स्वीकृत ही है। ध्यान स्ववृत्ति होता है, इसमें बाह्य चिन्ताओंसे निवृत्ति होती है।

ध. १३/५.४.२६/गा. ५२/७६ अंतोमुहुत्तपरदो चिंता-ज्झाणंतरं व होज्जाहि। सुचिरं पि होज्ज बहुवत्थुसंकमे ज्झाणसंताणो।५२।

ध. १३/५.४.२६/७५/५ अत्थंतरसंचाले संजादे वि चित्तंतरगमणाभावेण ज्झाणविणासाभावादो। —१ अन्तर्मुहूर्तके बाद चिन्तान्तर या ध्यानान्तर होता है, या चिरकाल तक बहुत पदार्थोंका संक्रम होनेपर भी एक ही ध्यान सन्तान होती है।५२। २. अर्थान्तरमें गमन होनेपर भी एक विचारसे दूसरे विचारमें गमन नहीं होनेसे ध्यानका विनाश नहीं होता।

ज्ञा./४२/१८ अर्थादिषु यथा ध्यानी संक्रामत्यविलम्बितम्। पुनर्व्यावर्त्तते तेन प्रकारेण स हि स्वयम्।१८। —जो ध्यानी अर्थ व्यंजन आदि योगोंमें जैसे शीघ्रतासे संक्रमण करता है, वह ध्यानी अपनेआप उसी प्रकार लौट आता है।

प्र. सा./ता. वृ./१०४/२६२/१२ अल्पकालत्वात्परावर्त्तनरूपध्यानसंतानो न घटते। —अल्प काल होनेसे ध्यान सन्तति की प्रतीति नहीं होती।

भा. पा./टी./७८/२२७/२१ यद्यप्यर्थव्यञ्जनादिसंक्रान्तिरूपतया चलनं वर्त्तते तथापि इदं ध्यानं। कस्मात्। एवंविधस्यैवास्य विवक्षितत्वात्। विजातीयानेकविकल्परहितस्य अर्थादिसंक्रमेण चिन्ताप्रबन्धस्यैव एतद्ध्यानत्वेनेष्टत्वात्। अथवा द्रव्यपर्यायात्मनो वस्तुन एकत्वात् सामान्यरूपतया व्यञ्जनस्य योगानां चैकीकरणादेकार्थचिन्तानिरोधोऽपि घटते। द्रव्यात्पर्यायं व्यञ्जनाद्व्यञ्जनान्तरं योगाद्योगान्तरं विहाय अन्यत्र चिन्तावृत्तौ अनेकार्थता न द्रव्यादेः पर्यायादौ प्रवृत्तौ। —यद्यपि पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यानमें योगकी संक्रान्ति रूपसे चंचलता वर्तती है फिर भी यह ध्यान ही है क्योंकि इस ध्यानमें इसी प्रकारकी विवक्षा है और विजातीय अनेक विकल्पोंसे रहित तथा अर्थादिके संक्रमण द्वारा चिन्ता प्रबन्धक इस ध्यानके ध्यानपना इष्ट है। अथवा क्योंकि द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुमें एकपना पाया जाता है इसलिए व्यंजन व एकीकरण हो जानेसे एकार्थ चिन्ता निरोध भी घटित हो जाता है। द्रव्यसे पर्याय, व्यंजनसे व्यंजनान्तर और योगसे योगान्तर इन प्रकारोंको छोड़कर अन्यत्र चिन्तावृत्तिमें अनेकार्थता या द्रव्य व पर्याय आदिमें प्रवृत्ति नहीं है।

पं. ध./उ./८४९-८५१ ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः। आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसंचेतनान्तरम्।८४९। सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद् व्यभिचारिता। यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना।८५०। किंच सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना। अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाखण्डैकधारया।८५१। —प्रश्न—यदि ज्ञानका संक्रमणात्मकपना ज्ञानचेतना बाधक नहीं है तो ज्ञान चेतनामें भी मतिज्ञानपनेके कारण अर्थसे अर्थान्तर संक्रमण होनेपर आत्माके इतर विषयोंमें भी ज्ञानचेतनाका उपयोग मानना पड़ेगा? उत्तर—ठीक है कि हेतुकी विपक्षमें वृत्ति होनेसे उसमें व्यभिचारीपना आता है। क्योंकि परस्वरूप परपदार्थसे भिन्न अपने इस स्वात्मामें ज्ञान चेतना होती है। तथा सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियोंके धारा प्रवाहमें अथवा अखण्ड धारासे ज्ञान चेतना होती है।

२. योग संक्रान्तिका कारण

रा. वा. हिं/९/४४/७५८ उपयोग क्षयोपशम रूप है सो मनके द्वारा ज्ञेय प्रवर्ते है। सो मनका स्वभाव चंचल है। एक ज्ञेयमें ठहरे नाहीं। याही

तै इस पहिले ध्यान विषै, अर्थ व्यंजन योगके विषय उपयोगकी पलटनी बिना इच्छा होय है।

३. योग संक्रान्ति बन्धका कारण नहीं रागादि हैं

पं.ध./उ./८८० व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाव्याप्तिर्विकल्पैरिव। विकल्पैरस्य चाव्याप्तिर्न व्याप्तिः किल तैरिव ।८८०। —रागादि भावोंके साथ बन्धकी व्याप्ति है किन्तु जैसे ज्ञानके विकल्पोंके साथ अव्याप्ति है वैसे ही रागादिके साथ बन्धकी अव्याप्ति नहीं. अर्थात् विकल्पोंके साथ इस बन्धकी अव्याप्ति ही है, किन्तु रागादिके साथ जैसी बन्धकी व्याप्ति है ऐसी बन्धके विकल्पोंके साथ व्याप्ति नहीं हैं ।८८०।

शुचि—१. रा. वा./६/७/६/६०२/४ शुचित्वं द्विविधम्—लौकिकं लोकोत्तरं चेति। तत्रात्मनः प्रक्षालितकर्ममलकलङ्कस्य स्वात्मन्यवस्थानं लोकोत्तरं शुचित्वम्, तत्साधनं च सम्यग्दर्शनादि तद्वन्तश्च साधवः तदधिष्ठानानि च निर्वाणभूम्यादीनि तत्प्राप्त्युपायत्वाच्छुचिव्यपदेशमर्हन्ति। लौकिकं शुचित्वमष्टविधम्—कालाग्निभस्ममृत्तिकागोमयसलिलज्ञाननिर्विचिकित्सत्वभेदात्। —लौकिक और लोकोत्तरके भेदसे शुचित्व दो प्रकारका है। कर्ममल-कलंकोको धोकर आत्माका आत्मामें ही अवस्थान लोकोत्तर शुचित्व है। इसके साधन सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयधारी साधुजन तथा उनसे अधिष्ठित निर्वाणभूमि आदि मोक्ष प्राप्तिके उपाय होनेसे शुचि है। काल, अग्नि, भस्म, मृत्तिका, गोबर, पानी, ज्ञान और निर्विचिकित्सा—ग्लानिरहितपना, इस प्रकार लौकिक—लोक प्रसिद्ध शुचित्व आठ प्रकार का है (चा. सा./१६०/६)।

रा. वा./६/१२/१०/५२३/४ लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम्। —लोभके प्रकारोंसे निवृत्ति शौच है। २. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे. पिशाच।

शुभतुंग—ई. श. ७ के उत्तरार्धमें मान्यखेटके राजा थे। (सि. वि./प्र. ११ पं. महेन्द्र)।

शुद्ध—

१. शुद्धका लक्षण

ध. १३/५.५.५०/२८६/११ वचनार्थगतदोषातीतत्वाच्छुद्धः सिद्धान्तः। —वचन और अर्थगत दोषोंसे रहित होनेके कारण सिद्धान्तका नाम शुद्ध है।

आ. प./६ शुद्धं केवलभावम्। —शुद्ध अर्थात् केवलभाव।

दे. तत्त्व/१/१ तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य, स्वभाव, परमपरम, ध्येय शुद्ध और परम एकार्थवाची हैं।

स. सा./आ./६ अशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते। —समस्त अन्य द्रव्योंके भावोंसे भिन्न उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है।

स. सा./ता. वृ./१०२/१६२/१६ निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं, पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् अनन्तज्ञानादिगुणानां सिद्धजीववत्। —निरुपाधि रूप उपादान शुद्ध कहलाता है जैसे—सुवर्णके पीतत्व आदि गुण, की भाँति सिद्ध जीव के अनन्त ज्ञान आदि गुण।

प. प्र./टी./१/१३ शुद्धो रागादिरहितो। —शुद्ध अर्थात रागादि रहित।

द्र. सं./टी./२८/८०/१ को चूलिका—मिथ्यात्वरागादिसमस्तविभावरहितत्वेन शुद्ध इत्युच्यते। —मिथ्यात्व, राग आदि भावोंसे रहित होनेके कारण आत्मा शुद्ध कहा जाता है।

पं. ध./उ./२११ शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः। —वस्तु सामान्य रूपसे अनुभवमें आती है तब वह शुद्ध है, और विशेष भेदोंकी अपेक्षासे अशुद्ध कहलाती है।

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. जीवमें कथंचित् शुद्धत्व व अशुद्धत्व। —दे. जीव/३।

२. शुद्धाशुद्ध पारिणामिक भाव। —दे. पारिणामिक।

शुद्ध चेतना—दे. चेतना/१।

शुद्धद्रव्यार्थिक नय—दे. नय/IV/२।

शुद्धनय—दे. नय/I/५/४।

शुद्ध निश्चयनय—दे. नय/V/१।

शुद्ध पर्यायार्थिक नय—दे. नय/IV/४।

शुद्धमति—भूत कालीन द्वाविंशति तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५।

शुद्धात्म दर्शन—
शुद्धात्म स्वरूप—
शुद्धात्म ज्ञान— } निर्विकल्प समाधिके अपरनाम। —दे. मोक्षमार्ग/२/५।

शुद्धाद्वैत—दे. वेदान्त/७।

शुद्धाभदेव—भूतकालीन पाँचवे तीर्थंकर—दे तीर्थंकर/५।

शुद्धि—जैनाम्नायमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भोजनादि आदि रूप अनेक प्रकारकी शुद्धियोंका निर्देश है जिनका विवेक यथायोग्य प्रत्येक धर्मानुष्ठानमें रखना योग्य है।

१. शुद्धि सामान्यका लक्षण

स. सा./ता. वृ./३०६ ३०७/३८८/१३ दोषे सति प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विशुद्धिकरणं शुद्धिः। —दोष होनेपर प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि करना शुद्धि कहलाती है।

२. शुद्धिके भेद

१. संयमकी आठ शुद्धियाँ

रा वा./९/६/१६/५९६/१ अपहृतसंयमस्य प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशो द्रष्टव्यः। तद्यथा, अष्टौ शुद्धयः—भावशुद्धिः, कायशुद्धिः, विनयशुद्धिः, ईर्यापथशुद्धिः, भिक्षाशुद्धिः, प्रतिष्ठापनशुद्धिः, शयनासनशुद्धिः वाक्यशुद्धिश्चेति। —इस अपहृत संयमके प्रतिपादनके लिए ही इन आठ शुद्धियोंका उपदेश दिया गया है—भाव शुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापन शुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि। (रा. वा./८/१/३०/५६४/२६), (चा. सा./७६/१); (अन. ध./६/४६)।

२ सल्लेखना सम्बन्धी अन्तरंग व बहिरंग शुद्धियाँ

भ. आ./मू./१६६-१६७/३७६-३८० आलोयणाए सेज्जसंथारुवहीण भत्तपाणस्स। वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ।१६६। अहवा दंसणणाणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य। आवासयसुद्धी वि य पंच वियप्पा हवदि सुद्धी ।१६७। —आलोचनाकी शुद्धि, शय्या और संस्तरकी शुद्धि, उपकरणोंकी शुद्धि, भक्तपान शुद्धि, इस प्रकार वैयावृत्त्यकरण शुद्धि पाँच प्रकारकी है ।१६६। अथवा दर्शन शुद्धि, ज्ञानशुद्धि चारित्र शुद्धि, विनयशुद्धि और आवश्यक शुद्धि ऐसी पाँच प्रकारकी है ।१६७। —(अन. ध./८/७२)।

३ स्वाध्याय सम्बन्धी चार शुद्धियाँ

ध. ९/४,१,५४/२५३/१ एत्थ वक्खाणतेहि सुणंतेहि वि दव्व-खेत्त-काल-भावसुद्धीहि वक्खाण-पढणवावारो कायव्वो। —यहाँ व्याख्यान

करनेवाले और सुननेवालोंको भी द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धिसे व्याख्यान करनेमें या पढ़नेमें प्रवृत्ति करना चाहिए। (विशेष—दे. स्वाध्याय/२); (अन. ध./९/४/८४७)।

४. लिंग व व्रतकी १० शुद्धियाँ

मू. आ./७६९ लिंगं वदं च सुद्धी वसदि विहारं च भिक्खणाणं च। उज्झणसुद्धी य पुणो वक्क च तवं तधा झाणं ।७६९। —लिंगशुद्धि, व्रतशुद्धि, वसतिशुद्धि, विहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झण-शुद्धि, वाक्यशुद्धि, तपशुद्धि और ध्यानशुद्धि।

५ लौकिक आठ शुचियाँ

दे. शुचि। काल, अग्नि, भस्म, मृत्तिका, गोबर, जल, ज्ञान और निर्विचिकित्साके भेदसे आठ प्रकारकी लौकिक शुचि है।

३. मन, वचन व काय शुद्धियोंका लक्षण

भ आ./वि./१६७/३८०/१३ दृष्टफलानपेक्षिता विनयशुद्धि। तस्यां सत्यामुपकरणादिलोभो निरस्तो भवति। —कीर्ति आदर इत्यादि लौकिक फलोंकी इच्छा छोड़कर साधर्मिक जन, गुरुजन इत्यादिकोंका विनय करना विनय शुद्धि है, इसके होनेसे उपकरण आदि के लाभका अभाव होता है।

नि. सा./मू./११२ मदमाणमायलोहविवज्जिय भावो दु भावसुद्धि त्ति। परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥—(आलोचना प्रकरणमें) मद, मान, माया और लोभ रहित भाव वह भाव शुद्धि है। ऐसा भव्योंको लोकालोकके द्रष्टाओंने कहा है।११२। (मू. आ./२७६)

नोट - वचनशुद्धि—दे समिति/१।

रा वा./९/६/१६/५९७/४ तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता। तस्यां सत्यामाचारः प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत्। कायशुद्धिर्निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृताङ्गविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्तिः प्रशमसुखं मूर्तिमिव प्रदर्शयन्तीति। तस्यां सत्यां न स्वतोऽन्यस्य भयमुपजायते नाप्यन्यतस्तस्य। विनयशुद्धिः अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हं पूजा प्रवणा, ज्ञानादिषु च यथाविधि भक्तियुक्ता गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः, प्रश्नस्वाध्यायवाचनाकथाविज्ञप्त्यादिषु प्रतिपत्तिकुशला, देशकालभावावबोधनिपुणा, आचार्यानुमतचारिणी। तन्मूलाः सर्वसंपदः, सैषा भूषा पुरुषस्य, सैव नौः संसारसमुद्रतरणे। —भावशुद्धि—कर्मके क्षयोपशमसे जन्य, मोक्षमार्गकी रुचिसे जिसमें विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो रागादि उपद्रवोंसे रहित है वह भावशुद्धि है। इसके होनेसे आचार उसी तरह चमक उठता है जैसे कि स्वच्छ दिवालपर आलेखित चित्र। कायशुद्धि—यह समस्त आवरण और आभरणोंसे रहित, शरीर संस्कारसे शून्य, यथाजात मलको धारण करनेवाली, अंगविकारसे रहित, और सर्वत्र यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्तिरूप है। यह मूर्तिमान् प्रशमसुखकी तरह है। इसके होनेपर न तो दूसरोंसे अपनेको भय होता है और न अपनेसे दूसरोंको। विनयशुद्धि—अर्हन्त आदि परम गुरुओंमें यथायोग्य पूजा-भक्ति आदि तथा ज्ञान आदिमें यथाविधि भक्तिसे युक्त, गुरुओंमें सर्वत्र अनुकूल वृत्ति रखनेवाली, प्रश्न स्वाध्याय, वाचना, कथा और विज्ञप्ति आदिमें कुशल, देश काल और भावके स्वरूपको समझनेमें तत्पर तथा आचार्यके मतका आचरण करनेवाली विनयशुद्धि है। समस्त सम्पदाएँ विनयमूलक हैं। यह पुरुषका भूषण है। यह संसार समुद्रसे पार उतारनेके लिए नौकाके समान है।

ध. ९/४,१,५४/२५४/१० अवगयराग-दोसाहंकारट्ट-रुद्दज्झाणस्स पंच-महव्वयकलिदस्स तिगुत्तिगुत्तस्स णाण-दंसण-चरणादिचारणवड्ढिदस्स भिक्खुस्स भावसुद्धी होदि। —राग, द्वेष, अहंकार, आर्त व रौद्र ध्यानसे रहित, पाँच महाव्रतोंसे युक्त, तीन गुप्तियोंसे रक्षित, तथा ज्ञान दर्शन व चारित्र आदि आचारसे वृद्धिको प्राप्त भिक्षुके भावशुद्धि होती है।

वसु श्रा./२२९-२३० चइऊण अट्टरुद्दे मणसुद्धी होइ कायव्वा ।२२९। सव्वत्थसंपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि ।२३०। —आर्त, रौद्र ध्यान छोड़कर मनःशुद्धि करना चाहिए ।२२९। सर्व ओरसे संपुटित अर्थात् विनीत अंग रखनेवाले दातारके कायशुद्धि होती है।

४. द्रव्य, क्षेत्र व काल शुद्धियोंके लक्षण

मू आ./२७६ रुहिरादि पूयमंसं दव्वे खेत्ते सदहत्थपरिमाणं। —लोही, मल, मूत्र, वीर्य, हाड, पीब मांसरूप द्रव्यका शरीरसे सम्बन्ध करना। उस जगहसे चारों दिशाओंमें सौ सौ हाथ प्रमाण स्थान छोड़ना क्रमसे द्रव्य व क्षेत्रशुद्धि है।

ध. ९/४,१,५४/गा. १०३-१०७/२५६ प्रमितिररत्निशतं स्यादुच्चारविमोक्षणक्षितेरारात्। तनुसलिलमोक्षणेऽपि च पञ्चाशदरत्निरेवातः ।१०३। मानुषशरीरलेशावयवस्याप्यत्र दण्डपञ्चाशत्। संशोध्या तिरश्चां तदर्द्धमात्रैव भूमिः स्यात् ।१०४। क्षेत्रं संशोध्य पुनः स्वहस्तपादौ विशोध्य शुद्धमनाः। प्राशुकदेशावस्थो गृह्णीयाद् वाचनां पश्चात् ।१०७। —मल छोड़नेकी भूमिसे सौ अरत्नि प्रमाण दूर, तनुसलिल अर्थात् मूत्र छोड़नेमें भी इस भूमिसे पचास अरत्नि दूर, मनुष्य शरीरके लेशमात्र अवयवके स्थानसे पचास धनुष तथा तिर्यंचके शरीर सम्बन्धी अवयवके स्थानसे उससे आधी मात्र अर्थात् पच्चीस धनुष प्रमाण भूमिको शुद्ध करना चाहिए ।१०३-१०४। क्षेत्रकी शुद्धि करनेके पश्चात् अपने हाथ और पैरोंको शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्रासुक देशमें स्थित होकर वाचनाको ग्रहण करे ।१०७।

दे आहार/II/२/१ उद्गम, उत्पादन, अशन, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम, कारण—इन दोषोंसे रहित भोजन ग्रहण करना वह आठ प्रकारकी पिंड (द्रव्य) शुद्धि है।

ध. ९/४,१,५४/२५३-२५४/३ तत्र ज्वर-कुक्षि-शिरोरोग-दुःस्वप्न-रुधिर-विण्-मूत्र-लेपातीसार-पूयस्रावादीनां शरीरे अभावो द्रव्यशुद्धिः। व्याख्यातृव्यावस्थितप्रदेशात् चतसृष्वपि दिक्ष्वष्टाविंशतिसहस्रायामासु-विण्मूत्रास्थि-केश-नख-त्वगाद्यभावः षष्ठातीतवाचनात् आरात्पञ्चेन्द्रियशरीरार्द्रास्थि-त्वङ्मांसासृक्संबन्धाभावश्च क्षेत्रशुद्धिः। विद्युदिन्द्रधनुर्ग्रहोपरागाकालवृष्ट्यभ्रगर्जन - जीमूतव्रातप्रच्छाद - दिग्दाह - धूमिकापात - संन्यास-महोपवास-नन्दीश्वरजिनमहिमाद्यभावः कालशुद्धिः। अत्र कालशुद्धिकरणविधानमभिधास्ये। तं जहा- पच्छिमरत्तिसज्झायं खमाविय बहि णिक्कलिय पासुवे भूमिपदेसे काओसग्गेण पुव्वाहिमुहो ट्ठाइदूण णवगाहापरियट्टणकालेण पुव्वदिसं सोहिय पुणो पदाहिणेण पल्लटिय एदेणेव कालेण जम-वरुण-सोम-दिसासु सोहिदासु छत्तीसगाहुच्चारणकालेण (३६) अट्ठसदुस्सास-कालेण वा कालसुद्धी समप्पदि (१०८) अवरण्हे वि एवं चेव कालसुद्धी कायव्वा। णवरि एक्केक्काए दिसाए सत्त-सत्तगाहापरियट्टणेण परिच्छिण्णकाला त्ति णायव्वा। एत्थ सव्वगाहापमाणमट्ठावीस (२८) चउरासीदि उस्सासा (८४) पुणो अणत्थमिदे दिवायरे खेत्तसुद्धिं कादूण अत्थमिदे कालसुद्धिं पुव्वं व कुज्जा। णवरि एत्थ कालो वीसगाहुच्चारणमेत्तो (२०) सट्ठिउस्सासमेत्तो वा (६०)—१. द्रव्यशुद्धि—ज्वर कुक्षि-रोग, शिरोरोग, कुत्सित स्वप्न, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, लेप, अतिसार और पीबका बहना इत्यादिकोंका शरीरमें न रहना द्रव्यशुद्धि कही जाती है। २. क्षेत्रशुद्धि—व्याख्यातासे अधिष्ठित प्रदेशसे चारों ही दिशाओंमें अट्ठाईस हजार (धनुष) प्रमाण क्षेत्रमें विष्ठा, मूत्र, हड्डी, केश, नख और केश तथा चमड़े आदिके अभावको; तथा छह अतीत वाचनाओंसे (?) समीपमें (या दूरी तक) पंचेन्द्रिय जीवके शरीर सम्बन्धी गीली हड्डी, चमड़ा, मांस और रुधिरके सम्बन्धके अभावको क्षेत्रशुद्धि कहते हैं (मू. आ./२७६)। ३. कालशुद्धि—बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्य चन्द्रका ग्रहण, अकाल वृष्टि, मेघगर्जन,

मेघोंके समूहसे आच्छादित दिशाएँ, दिशादाह, धूमिकापात, (कुहरा), संन्यास, महोपवास, नन्दीश्वर महिमा और जिनमहिमा इत्यादिके अभावको कालशुद्धि कहते हैं। यहाँ कालशुद्धि करनेके विधानको कहते हैं। वह इस प्रकार है—पश्चिम रात्रिके सन्धिकालमें क्षमा कराकर बाहर निकल प्रासुक भूमिप्रदेशमें कायोत्सर्गसे पूर्वाभिमुख स्थित होकर नौ गाथाओंके उच्चारणकालसे पूर्व दिशाको शुद्ध करके फिर प्रदक्षिणा रूपसे पलट कर इतने ही कालसे दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशाओंको शुद्ध कर लेनेपर ३६ गाथाओंके उच्चारण कालसे अथवा १०८ उच्छ्वास कालसे कालशुद्धि समाप्त होती है। अपराह्ण कालमें भी इस प्रकार ही कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि इस समयकी कालशुद्धि एक-एक दिशाओंमें सात-सात गाथाओंके उच्चारण कालसे सीमित है, ऐसा जानना चाहिए। यहाँ सब गाथाओंका प्रमाण २८ अथवा उच्छ्वासोंका प्रमाण ८४ है। पश्चात् सूर्यके अस्त होनेसे पहले क्षेत्र शुद्धि करके सूर्यके अस्त हो जानेपर पूर्वके समान कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि यहाँ काल बीस २० गाथाओंके उच्चारण प्रमाण अथवा ६० उच्छ्वास प्रमाण है। (अर्थात् प्रत्येक दिशामें ५ गाथाओंका उच्चारण करे)। (मू. आ./२७३)।

क्रिया कोष/ प्रथम रसोईके स्थान चक्की उखरी द्वय त्रय जान। चौथो अनाज सोधने वाज जमीन चौका पंचम मद॥ छठमें आटा छनने सोय सप्तम थान सयनका होय। पानी थान सु अष्टम जान सामायिकका नवमों थान।

५. दर्शन ज्ञान व चारित्र शुद्धियोंके लक्षण

मू. आ./गाथा सं. चलचवलचवलजीविदमिणं णाऊण माणुसत्तणमसारं। णिव्विण्णकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया।७७३। णिम्मालियसुमिणाविय धणकणयसमिद्धबंधवजणं च। पयहंति वीरपुरिसा विरत्तकामा गिहावासे।७७४। उच्छाहणिच्छिदमदी ववसिदववसायबद्धकच्छा य। भावाणुरायरत्ता जिणपण्णत्तम्मि धम्मम्मि।७७७। अपरिग्गहा अणिच्छा संतुट्ठा सुट्ठिदा चरित्तम्मि। अवि णीएवि सरीरे ण करंति मुणी ममत्तिं ते।७८३। ते लद्धणाण चक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा। णिस्संकिदणिव्विदिगिछादबलपरक्कमा साधू।८२८। उवलद्धपुण्णपावा जिणसामण्णगहितमुणिदपज्जाला। करचरणसंवुडंगा भाणुवजुत्ता मुणी होंति।८३५। ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि। ण करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि।८३६। उप्पण्णम्मि य वाही सिरवेयण कुक्खिवेयणं चेव। अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिछं ण इच्छंति।८३९। णिच्चं च अप्पमत्ता सजमसमिदीसु भाणजोगेसु। तवचरणकरणजुत्ता हवंति सवणा समिदपावा।८६२। विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तेहिं। इंदियचोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं।८७३। ण च एदि विणिस्सरिदुं मणहत्थी भाण वारिबंधणीदो। बद्धो य पयडंडो विरायरज्जूहिं धीरेहिं।८७६। एदे इंदियतुरया पयदीदोसेण चोइया संता। उम्मग्गं णेंति रहं करेह मणपग्गहं बलियं।८७९। —१. लिंग शुद्धि—अस्थिर नाशसहित इस जीवनको और परमार्थ रहित इस मनुष्य जन्मको जानकर स्त्री आदि उपभोग तथा भोजन आदि भोगोंसे अभिलाषा रहित हुए, निर्ग्रन्थादि स्वरूप चारित्रमें दृढ बुद्धिवाले, घरके रहनेसे विरक्त चित्तवाले ऐसे वीर पुरुष भोगमें आये फूलोंकी तरह गाय, घोड़ा आदि—धन-सोना इनसे परिपूर्ण ऐसे बान्धव जनोंको छोड़ देते हैं।७७३-७७४। तपमें तल्लीन होनेमें जिनकी बुद्धि निश्चित है जिन्होंने पुरुषार्थ किया है, कर्मके निर्मूल करनेमें जिन्होंने कमर कसी है, और जिनदेव कथित धर्ममें परमार्थभूत भक्ति उसके प्रेमी है, ऐसे मुनियोंके लिंगशुद्धि होती है।७७७। २. व्रतशुद्धि—आश्रय रहित, आशा रहित, सन्तोषी चारित्रमें तत्पर ऐसे मुनि अपने शरीरमें ममत्व नहीं करते।७८३। ३. ज्ञानशुद्धि—जिन्होंने ज्ञान नेत्र पा लिया है, ऐसे साधु हैं, ज्ञानरूपी प्रकाशसे जिन्होंने सब लोकका सार जान लिया है, पदार्थोंमें शंका रहित, अपने बलके समान जिनके पराक्रम हैं ऐसे साधु हैं। ।८२८। जिन्होंने पुण्य-पापका स्वरूप जान लिया है, जिन मतमें स्थित सब इन्द्रियोंका स्वरूप जिन्होंने जान लिया है, हाथ, पैर, कर से ही जिनका शरीर ढँका हुआ है और ध्यानमें उद्यमी हैं।८३५। ४. उज्झणशुद्धि—पुत्र-स्त्री आदिमें जिनने प्रेमरूपी बन्धन काट दिया है और अपने शरीरमें भी ममता रहित ऐसे साधु शरीरमें कुछ भी—स्नानादि संस्कार नहीं करते।८३६। ज्वर रोगादिक उत्पन्न होनेपर भी मस्तकमें पीड़ा, उदरमें पीड़ा होने पर भी चारित्रमें दृढ परिणाम वाले वे मुनि पीड़ाको सहन कर लेते हैं, परन्तु शरीरका उपचार करनेकी इच्छा नहीं करते।८३९। ५. तपशुद्धि—वे मुनीश्वर सदा संयम, समिति, ध्यान और योगोंमें प्रमाद रहित होते हैं और तपचरण तथा तेरह प्रकार के करणोंमें उद्यमी हुए पापोंके नाश करने वाले होते हैं।८६२। ६. ध्यान शुद्धि—रूप, रसादि विषयोंमें दौड़ते चंचल क्रोधको प्राप्त हुए भयंकर ऐसे इन्द्रिय रूपी चोर मनवचनकाय गुप्तिवाले चारित्रमें उद्यमी साधुजनोंने अपने वशमें कर लिये हैं।८७३। जैसे मस्त हाथी वारिबन्धकर रोका गया निकलनेको समर्थ नहीं होता, उसी तरह मन रूपी हाथी ध्यानरूपी वारिबन्धको प्राप्त हुआ धीर अति प्रचण्ड होने पर भी मुनियों कर वैरागरूपी रस्से कर संयम बन्धको प्राप्त हुआ निकलने में समर्थ नहीं हो सकता।८७६। ये इन्द्रिय रूपी घोड़े स्वाभाविक राग-द्वेष कर प्रेरे हुए धर्मध्यान रूपी रथको विषयरूपी कुमार्गमें ले जाते हैं, इसलिए एकाग्र मनरूपी लगामको बलवान करो।८७९।

भ. आ./वि./१६७/३८०/१ काले पठनमित्यादिका ज्ञानशुद्धि, अस्यां सत्यां अकालपठनाद्या. क्रिया ज्ञानावरणमूला. परित्यक्ता भवन्ति। पञ्चविंशति भावनाश्चारित्रशुद्धिः सत्यां तस्यां अनिगृहीतमनःप्रचारादिशुभपरिणामोऽभ्यन्तरपरिग्रहस्त्यक्तो भवति।...मनसावद्ययोगनिवृत्तिः जिनगुणानुरागः वन्द्यमानश्रुतादिगुणानुवृत्तिः कृतापराधविषया निन्दा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरीरासारतानुपकारित्वभावना, चेत्यावश्यकशुद्धिस्यां सत्यां अशुभयोगो जिनगुणाननुरागः श्रुतादिमाहात्म्येऽनादरः, अपराधाजुगुप्सा, अप्रत्याख्यानं शरीरममता चेत्यमी दोषा परिग्रहनिराकृता भवन्ति। —१. ज्ञानशुद्धि—योग्य कालमें अध्ययन करना, जिससे अध्ययन किया है ऐसे गुरुका और शास्त्रका नाम न छिपाना इत्यादि रूप ज्ञानशुद्धि है। यह शुद्धि आत्मामें होनेसे अकाल पठनादिक क्रिया जो कि ज्ञानावरण कर्मास्रवका कारण है त्यागी जाती है। २. चारित्रशुद्धि—प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाएँ हैं, पाँच व्रतोंकी पचीस भावनाएँ हैं इनका पालन करना यह चारित्रशुद्धि है। इन भावनाओंका त्याग होनेसे मन स्वच्छन्दी होकर अशुभ परिणाम होते हैं। ये परिणाम अभ्यन्तर परिग्रह रूप है। व्रतों की पाँच भावनाओंसे अभ्यन्तर परिग्रहोंका त्याग होता है। ३. आवश्यक शुद्धि—सावद्य योगोंका त्याग, जिन गुणोंपर प्रेम, वंद्यमान आचार्यादिके गुणोंका अनुसरण करना, किये हुए अपराधोंकी निन्दा करना, मनसे अपराधोंका त्याग करना, शरीरकी असारता और अपकारीपनेका विचार करना यह सब आवश्यकशुद्धि है। यह शुद्धि होनेपर अशुभ योग, जिन गुणोंपर अप्रेम, आगम, आचार्यादि पूज्य पुरुषोंके गुणोंमें अप्रीति, अपराध करनेपर भी मनमें पश्चात्ताप न होना, अपराधका त्याग न करना, और शरीरपर ममता करना ये दोष परिग्रहका त्याग करनेसे नष्ट होते हैं।

६. सल्लेखना सम्बन्धी शुद्धियोंके लक्षण

भ. आ./वि./१६६/३७९/२ मायामृषारहितता आलोचना शुद्धिः।...

उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितता ममेदं इत्यपरिग्राह्यता च वसति-संस्तरयोः शुद्धिस्तामुपगतेन उद्गमादिदोषोपहतयोर्वसतिसंस्तरयोस्त्यागः कृत इति भवत्युपधित्यागः। उपकरणादीनामपि उद्गमादिरहितता शुद्धिस्तस्यां सत्यां उद्गमादिदोषदुष्टानां असंयमसाधनानां ममेदं भावमूलानां परिग्रहाणां त्यागोऽस्त्येव। संयतवैयावृत्त्यक्रमज्ञता वैयावृत्त्यकारिशुद्धिः सत्यां तस्यां असंयता अक्रमज्ञाश्च न मम वैयावृत्त्यकरा इति स्वीक्रियमाणास्त्यक्ता भवन्ति।—१. आलोचना शुद्धिः– माया और असत्य भाषणका त्याग करना यह आलोचना शुद्धि है। २. शय्या व संस्तर शुद्धि—उद्गम, उत्पादन, ऐषणा दोषोंसे रहित यह मेरा है ऐसा भाव वसतिकामें और संस्तरमें होना यह वसति-संस्तरशुद्धि है। इस शुद्धिको जिसने धारण किया है उसने उद्गम उत्पादनादि दोषयुक्त वसतिकाका त्याग किया है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए इसमें उपधिका भी त्याग सिद्ध हुआ समझना चाहिए। ३. उपकरण शुद्धि—पिछी, कमण्डलु वगैरह उपकरण भी उद्गमादि दोष रहित हों तो वे शुद्ध हैं, उद्गम आदि दोषोंसे अशुद्ध उपकरण असंयमके साधन हो जाते हैं। उसमें ये मेरा है ऐसा भाव उत्पन्न होता है अतः वे परिग्रह हैं, उनका त्याग करना यह उपकरणशुद्धि है। ४. वैयावृत्यकरण शुद्धि—साधुजनकी वैयावृत्यकी पद्धति जान लेना यह वैयावृत्य करने वालोंकी शुद्धि है यह शुद्धि होनेसे असंयत लोक अक्रमज्ञ लोग मेरा वैयावृत्य करनेवाले नहीं हैं ऐसा समझकर त्याग किया जाता है।

❀ अन्य सम्बन्धित विषय

१. आहार शुद्धि	—दे. आहार/I/२।
२. भिक्षा शुद्धि	—दे. भिक्षा/१।
३. प्रतिष्ठापन, ईर्यापथ, व वचन शुद्धि	—दे. समिति/१।
४. शयनाशन शुद्धि	—दे. वसतिका।

शुद्धोदन—महात्मा बुद्धके पिता थे (द. सा./२७ प्रेमी जी.)।

शुद्धोपयोग—दे. उपयोग/II/२।

शुभ—१. शुभ व अशुभ नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९२/१ यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभनाम। तद्विपरीतमशुभनाम।—जिसके उदयसे रमणीय होता है वह शुभ नामकर्म है। इससे विपरीत अशुभ नामकर्म है। (रा. वा./८/११–२७-२८/५७९/५); (गो. क./जी. प्र./३३/३०/६)।

ध. ६/१,९-१,२८/६४/८ जस्स कम्मस्स उदएण अंगोवंगणामकम्मोदयजणिद अंगाणमुवंगाणं च सुहत्तं होदि तं सुहं णाम। अंगोवंगाणमसुहत्तणिव्वत्तयमसुहं णाम।—जिस कर्मके उदयसे अंगोपांग नामकर्मोदय जनित अंगों और उपांगोंके शुभ (रमणीय) पना होता है, वह शुभनामकर्म है। अंग और उपागोंके अशुभताको उत्पन्न करनेवाला अशुभ नामकर्म है।

ध. १३/५,५,१०१/३६५/१२ जस्स कम्मस्सुदएण चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेवत्तादिरिद्धीणं सूचया संखंकुमारविंदादओ अंग-पच्चंगेसु उप्पज्जंति तं सुहणामं। जस्स कम्मस्सुदएणं असुहलक्खणाणि उप्पज्जंति तमसुहणामं।—जिस कर्मके उदयसे चक्रवर्तित्व, बलदेवत्व, और वासुदेवत्व आदि ऋद्धियोंके सूचक शंख, अंकुश और कमल आदि चिह्न अंग-प्रत्यंगोंमें उत्पन्न होते हैं वह शुभ नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे अशुभ लक्षण उत्पन्न होते हैं वह अशुभ नामकर्म लक्षण है।

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अशुभसे निवृत्ति शुभमें प्रवृत्तिका नाम ही चारित्र है —(दे. चारित्र/१/१२)।

२. मनःशुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है। —दे. साधु/३।

३. शुभ-अशुभ प्रकृतियोंकी बन्ध, उदय, सत्त्व प्ररूपणाएँ। —दे. वह वह नाम।

४. पुण्य-पाप प्रकृति सामान्य —दे. प्रकृतिबंध/२।

शुभकीर्ति—काष्ठा संघ के माथुरगच्छ में देवकीर्ति के शिष्य। कृति—शान्तिनाह चरिउ। समय—देवकीर्ति ने वि. ११४१ में मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई। तदनुसार वि. श. १५। (ती./३/४१२)।

शुभचंद्र—१. आप राजा मुञ्ज तथा भर्तृहरिके भाई थे, जिनके लिये विश्वभूषण भट्टारक ने अपने 'भक्तामर चरित्र' की उत्थानिका में एक लम्बी-चौड़ी कथा लिखी है। ये पंचविंशतिकार पद्मनन्दि (ई. श. ११ का उत्तरार्ध) के शिक्षा गुरु थे। कृति—ज्ञानार्णव। समय—वि. १०६०-११२५ (ई. १००३-१०६८)। (ज्ञा. अनु./प्र. १२/ए. एन. उप.); (ती./३/१४८, १५३)। २. नन्दि संघ देशीयगण, दिवाकरनन्दि के शिष्य और सिद्धान्तदेव के गुरु। पोयसल नरेश विष्णुवर्धन के मन्त्री गंगराज ने इनके स्वर्गवास के पश्चात् इनकी निषद्यका बनवाई और इन्हें 'धवला' की एक ताड़पत्र लिपि भेंट की। समय—ई. १०९६-११२१। ष. खं./प्र./H. L. Jain); (दे. इतिहास/७/५)। ३. नन्दिसंघ के देशीयगणमें मेघचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य जिनकी समाधि ई. ११४७ में हुई। (दे. इतिहास/७/५)। ४. तत्त्वानुशासन के कर्ता तथा नागसेन के शिक्षागुरु तथा देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य। समय—वि. १२२० (ई. ११६३) में स्वर्गवास। अतः वि. १२१५ (ई. ११५८-११८५)। (ती./३/१४८); (दे इतिहास/७/५)। ५. 'नरपिंगल' के रचयिता एक कन्नड़ आयुर्वेदिक विद्वान्। समय—ई. श. १२ का अन्त। (ती./४/३११)। ६. नन्दि संघ देशीयगण में गण्डविमुक्त मलधारी देव के शिष्य। समय—श. ११८० (ई. १२५८) में स्वर्गवास। (ती./३/१४८)। (दे. इतिहास/७/५)। ७. पद्मनन्दि पण्डित नं. ८ के गुरु। समय—वि १३७० में स्वर्गवास। तदनुसार वि. १३४०-१३७० (ई. १२८३-१३१३) (प. वि./प्र.२८/A. N. Up.) ८. नन्दिसंघ बलात्कार गणकी गुर्वावलीके अनुसार आप विजय कीर्ति के शिष्य और लक्ष्मीचन्द्र के गुरु थे। षट्भाषा कविकी उपाधिसे युक्त थे। न्याय, पुराण, कथा-पूजा आदि विषयोंपर अनेक ग्रन्थ रचे थे। कृति—१ प्राकृत व्याकरण, २ अंग पण्णत्ति, ३ शब्द चिन्तामणि, ४ समस्या वदन विदारण, ५ अपशब्द खण्डन, ६ तत्त्व निर्णय ७ स्याद्वाद, ८ स्वरूप सम्बोधन वृत्ति, ९ अध्यात्म पद टीका, १० सम्यक्त्व कौमुदी, ११ सुभाषितार्णव, १२ सुभाषित रत्नावली, १३ परमाध्यात्मतरंगिनीकी संस्कृत टीका, १४ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीका (माघ वि. १६१३) १५ पाण्डवपुराण (वि. १६०८, ई १५५१), १६ करकण्डु चरित्र (ई. १५५४), १७ चन्द्रप्रभ चरित्र, १८ पद्मनाभ चरित्र, १९ प्रद्युम्न चरित्र, २० जीवन्धर चरित्र, २१ चन्दन कथा, २२ नन्दीश्वर कथा, २३ पार्श्वनाथ काव्य पंजिका, २४ त्रिंशत् चतुर्विंशति पूजा, २५ सिद्धार्चन, २६ सरस्वतीपूजा, २७ चिन्तामणि पूजा, २८ कर्म दहन विधान, २९ गणधर वलय विधान, ३० पल्योपम विधान, ३१ चारित्र शुद्धि विधान, ३२ चतुस्त्रिंशदधिकद्वादशशत व्रतोद्यापन, ३३ सर्वतोभद्र विधान, ३४ समवशरण पूजा, ३५ सहस्रनाम, ३६ विमान शुद्धि विधान, ३७ प. आशाधरपूजा वृत्ति कुछ स्तोत्र आदि। समय—वि. १५७३-१६१३ (ई. १५१६-१५५६), (प. प्र./प्र. ११८ A.N.Up.); (ज्ञ. सं./प्र. ११ पं. जवाहरलाल); (पा. पु/प्र.१. A.N Up.); (जै./१/४५१)।—दे. इतिहास/७/४।

शुभनन्दि—आप बप्पदेवके शिक्षा गुरु तथा षट्खण्डागमके ज्ञाता थे। रविनन्दिके सहचर थे। समय—डा. नेमिचन्द्र के अनुसार वी. नि.श. ५-६ (ई. श. १)। (दे. परिशिष्ट)।

शुभयोग—दे. योग/२।

शुभोपयोग—दे. उपयोग/II/४।

शुभ्र—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे. मनुष्य/४।

शुष्क—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

शूद्र—दे. वर्णव्यवस्था/४।

शून्य—१. सर्व द्रव्योंका अभाव शून्य दोष कहलाता है। (पं. ध./पू./१४,६१३); २. जीवको कथंचित् शून्य कहना—दे. जीव/१/३. ३. साध्य साधन व उभय विकल दृष्टान्त—दे. दृष्टांत।

शून्यनय—शून्याशून्य नय—दे. नय/I/५।

शून्यध्यान—दे. शुक्लध्यान/१।

शून्य परिकर्माष्टक—दे. गणित/II/१/२,११।

शून्यवाद—१. मिथ्या शून्यवादका स्वरूप

यु. अनु./२६ व्यतीत-सामान्य-विशेष-भावाद् विश्वाभिलापार्थ-विकल्पशून्यम्। खपुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वं प्रबुद्धतत्त्वाद्भवत: परेषाम् ।२६। —हे प्रबुद्ध तत्त्व वीर जिन! आप अनेकान्तवादीसे भिन्न दूसरोंका सर्वथा सामान्य भावसे रहित, सर्वथा विशेष भावसे रहित तथा सामान्यविशेष भाव दोनोंसे रहित जो तत्त्व है वह सम्पूर्ण अभिलापों तथा अर्थ विकल्पोंसे शून्य होनेके कारण आकाश-पुष्पके समान अवस्तु ही है। (और भी—दे. बौद्ध दर्शनमें महायान)।

शूर—१. भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४। २. राजा यदुका पुत्र था तथा नेमिनाथ भगवान्‌का बाबा था। इसने शौर्यपुर बसाया था।—दे. इतिहास१०/१०।

शूरसेन—मथुराका समीपवर्ती प्रदेश। गोकुल वृन्दावन और आगरा इसीमें है (म. पु./प्र. २० पन्नालाल)।

शेषवत् अनुमान—दे. अनुमान/१।

शेषवती—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक५/१३।

शैक्ष—स. सि./९/२४/४४२/८ शिक्षाशील: शैक्ष:। —शिक्षा शील (साधु) शैक्ष कहलाता है।

रा. वा./९/२४/६/६२३/१७ श्रुतज्ञानशिक्षणपर: अनुपरतव्रतभावनानिपुण: शैक्षक इति। —श्रुतज्ञानके शिक्षणमें तत्पर और सतत व्रत भावनामें निपुण (साधु) शैक्ष है (चा. सा./१५१/२)।

शैल—सुमेरु पर्वतका अपरनाम—दे. सुमेरु।

शैलकर्म—दे. निक्षेप/४।

शैल भद्र—यक्ष जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे. यक्ष।

शैला—नरककी तृतीय पृथिवी—दे. नरक/५।

शैवदर्शन—१. शुद्धाद्वैतका अपर नाम।—दे. वेदान्त/७। २. वैदिक दर्शनका स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर विकास—दे. दर्शन (षड् दर्शन)।

शोक—१. शोक व शोक नामकर्मका लक्षण

स. सि./६/११/३२८/१२ अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेष: शोक:।

स. सि./८/९/३८६/१ यद्विपाकाच्छोचनं स शोक:। —१. उपकार करनेवालेसे सम्बन्धके टूट जानेपर जो विकलता होती है वह शोक है (रा. वा./६/११/२/५१९/२१)। २. जिसके उदयसे शोक होता है वह शोक (नामकर्म) है। (रा. वा./८/९/४/५७४/१८), (ध. ६/१,९-१,२४/४७/८), (ध. १३/५,५,९६/३६१/१२)।

२. शोक अरति पूर्वक होता है

ध. १२/४,२,७,१००/५७/१ कुदो। अरदिपुरंगमत्तादो। कधमरदिपुरंगमत्तं। अरदीए विणा सोगाणुप्पत्तीए। —क्योंकि, वह (शोक) अरति पूर्वक होता है। प्रश्न—वह अरति पूर्वक कैसे होता है। उत्तर—क्योंकि, अरतिके बिना शोक नहीं उत्पन्न होता है।

३. शोकका उत्कृष्ट उदय काल

ध. १२/४,२,७,१०१/५७/४ सोगो उक्कस्सेण छम्मासमेत्तो चेव। —शोकका उत्कृष्ट उदय काल छह मास पर्यन्त ही है।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. शोक द्वेष है —दे. कषाय/४।
२. शोक प्रकृतिके बन्ध योग्य परिणाम —दे. मोहनीय/३/६।

शोधित—गणितको व्यकलन विधिमें मूल राशिको ऋणराशि करि शोधित कहा जाता है—दे. गणित/II/१/४।

शोन—पूर्वी उत्तर आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

शौच—१. शौच सामान्यका लक्षण

स. सि./६/१२/३३१/४ लोभप्रकाराणामुपरम: शौचम्। —लोभके प्रकारोंका त्याग करना शौच है (रा. वा./६/६/१०/५२३/४)।

२. शौच धर्मका लक्षण

बा. अ./७५ कंखाभावणिवित्ति किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो। जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सौचं ।७५। —जो परममुनि इच्छाओंको रोककर और वैराग्य रूप विचारोंसे युक्त होकर आचरण करता है उसको शौच धर्म होता है।

स. सि./९/६/४१२/६ प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्ति: शौचम्। —प्रकर्ष प्राप्त लोभका त्याग करना शौचधर्म है। (रा. वा./९/६/५/५९५/२८), (चा. सा./६२/४)।

भ. आ./वि./४६/१५४/१४ द्रव्येषु ममेदं भावमूलो व्यसनोपनिपात: सकल इति तत: परित्यागो लाघवं। —धनादि वस्तुओंमें ये मेरे हैं ऐसी अभिलाष बुद्धि ही सर्व संकटोंमें मनुष्यको गिराती है इस ममत्वको हृदयसे दूर करना ही लाघव अर्थात् शौच धर्म है।

त. सा./५/१६-१७ परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदत:। ।१६। चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्ति: शौचमुच्यते ।१७। —भोग व उपभोगका, जीनेका, इन्द्रियविषयोंका; इन चारों प्रकारके लोभके त्यागका नाम शौचधर्म है।

का. अ./मू./३९७ सम-संतोस-जलेणं जो धोवदि तिव्व-लोह मल पुंजं। भोयण-गिद्धि-विहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं ।३९७। —जो समभाव और सन्तोष रूपी जलसे तृष्णा और लोभ रूपी मलके समूहको धोता है, तथा भोजनकी गृद्धि नहीं करता उसके निर्मल शौच धर्म होता है।

पं. वि./१/९४ यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु नि:स्पृहमहिंसकं चेत:। दुश्छेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत् ।९४। —चित्त जो परस्त्री एवं परधनकी अभिलाषा न करता हुआ षट् काय जीवोंकी हिंसासे रहित होता है, इसे ही दुर्भेद्य अभ्यन्तर कलुषताको दूर करनेवाला उत्तम शौचधर्म कहा जाता है, इससे भिन्न दूसरा शौचधर्म नहीं है ।९४।

३. गंगादिमें स्नान करनेसे शौचधर्म नहीं

पं. वि./१/९५ गङ्गासागरपुष्करादिषु सदा तीर्थेषु सर्वेष्वपि स्नातस्यापि न जायते तनुभृत: प्रायो विशुद्धि: परा। मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि

मना बाह्येऽतिशुद्धादके धौतः किं बहुशोऽपि शुद्धयति सुरापूरप्रपूर्णो घटः ।६५। —यदि प्राणीका मन मिथ्यात्वादि दोषोंसे मलिन हो रहा है तो गंगा, समुद्र एवं पुष्कर आदि सभी तीर्थोंमें सदा स्नान करनेपर भी प्रायः करके वह अतिशय विशुद्ध नहीं हो सकता (ठीक भी है—मद्यके प्रवाहसे परिपूर्ण घटको यदि बाहरमें अतिशय विशुद्ध जलमें बहुत बार धोया जावे तो भी क्या वह शुद्ध हो सकता है। अर्थात नहीं ।६५।

४. शौचधर्मके चार भेद

रा. वा./९/६/८/५९६/५ अतस्तन्निवृत्तिलक्षणं शौचं चतुर्विधमवसेयम्। —(जीवन लोभ, इन्द्रियलाभ, आरोग्य लोभ व उपयोग लोभके भेदसे लोभ चार प्रकार है—दे. लोभ) इस चार प्रकारके लोभका त्याग करनेसे शौच भी चार प्रकारका हो जाता है (चा. सा./६१/२)।

५. शौच व त्याग धर्ममें अन्तर

रा. वा./९/६/२०/५९८/१० शौचवचनात (त्यागस्य) सिद्धिरिति चेत; न तत्रासत्यपि गर्द्धोपपत्ते: ।२०। असंनिहिते परिग्रहे कर्मोदयवशात गर्द्धं उत्पद्यते, तन्निवृत्त्यर्थं शौचमुक्तम्। त्यागः पुनः संनिहितस्यापाय: दानं वा स्वयोग्यम्, अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्याग इत्युच्यते। —प्रश्न—शौच वचनसे ही त्याग धर्मकी सिद्धि हो जाती है, अत: त्याग धर्मका पृथक् निर्देश व्यर्थ है। उत्तर—नहीं क्योंकि शौचधर्ममें परिग्रहके न रहनेपर भी कर्मोदयसे होनेवाली तृष्णाकी निवृत्ति की जाती है पर त्यागमें विद्यमान परिग्रह छोड़ा जाता है। अथवा त्यागका अर्थ स्व योग्य दान देना है। संयतके योग्य ज्ञानादि दान देना त्याग है।

६. शौच व आकिंचन्य धर्ममें अन्तर

रा. वा./९/६/७/५९६/१ स्यादेतत्-आकिंचन्यं वक्ष्यते, तत्रास्यावरोधात् शौचग्रहणं पुनरुक्तमिति; तन्न, किं कारणम्। तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात्। स्वशरीरादिषु संस्काराद्यपोहार्थमाकिंचन्यमिष्यते। —प्रश्न—आगे आकिंचन्य धर्मका कथन करेंगे, उसीसे इसका अर्थ भी घेर लिया जानेसे शौच धर्मका ग्रहण पुनरुक्त है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि आकिंचन्यधर्म स्वशरीर आदिमें संस्कार आदिकी अभिलाषा दूर करके निर्ममत्व बढ़ानेके लिए है और शौच धर्म लोभकी निवृत्तिके लिए अत: दोनों पृथक् है।

७. शौचधर्म पालनार्थ विशेष भावनाएँ

भ. आ./मू./१४३६-१४३८/१३६६ लोभे कए वि अत्थो होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स। अकरवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंतस्स ।१४३६। सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे। अत्थेसु इत्थ कोमज्झ विम्हओ गहिदविजडेसु ।१४३७। इह य परत्तए लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो। इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ।१४३८। —लोभ करनेपर भी पुण्य रहित मनुष्यको द्रव्य मिलता नहीं है और न करनेपर भी पुण्यवानको धनकी प्राप्ति होती है। इसलिए धन प्राप्तिमें आसक्ति कारण नहीं, परन्तु पुण्य ही कारण है ऐसा विचारकर लोभका त्याग करना चाहिए ।१४३६। इस त्रैलोक्यमें मैंने अनन्तबार धन प्राप्त किया है, अतः अनन्तबार ग्रहण कर त्यागे हुए इस धनके विषयमें आश्चर्य चकित होना फजूल है ।१४३७। इहपर लोकमें यह लोभ अनेकों दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा समझकर लोभ कषायपर विजय प्राप्त करना चाहिए।

रा. वा./९/६/२७/५९९/१९ शुच्याचारमिहापि सम्मानयन्ति सर्वे। विस्रम्भादयश्च गुणाः तमधितिष्ठन्ति। लोभभावनाक्रान्तहृदये नावकाशं लभन्ते गुणाः; इह चामुत्र चाचिन्त्यं व्यसनमावरनुते। —शुचि आचार वाले निर्लोभ व्यक्तिका इस लोकमें सम्मान होता है। विश्वास आदि गुण उसमें रहते हैं। लोभीके हृदयमें गुण नहीं रहते। वह इस लोक और परलोकमें अनेक आपत्तिओं और दुर्गतिको प्राप्त होता है। (अन. ध./६/२७)

ज्ञा./१९/६९-७१ शाकेनापीच्छया जातु न भर्तुमुदर क्षमाः। लोभात्तथापि वाञ्छन्ति नराश्चक्रेश्वरश्रियम् ।६९। स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन्। व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते ।७०। ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः। प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम् ।७१। —अनेक मनुष्य यद्यपि अपनी इच्छासे शाकसे, पेट भरनेको कभी समर्थ नहीं होते तथापि लोभके वशसे चक्रवर्तीकी सी सम्पदाको बाँछते हैं ।६९। इस लोभकषायसे पीड़ित हुआ पुरुष अपने मालिक, गुरु, बन्धु, वृद्ध, स्त्री, बालक, तथा क्षीण, दुर्बल, अनाथ, दीनादिको भी निशंकतासे मारकर धनको ग्रहण करता है ।७०। नरकको ले जानेवाले जो जो दोष सिद्धान्त शास्त्रमें कहे गये हैं वे सब जीवोंके निःशंकतया लोभसे प्रगट होते हैं ।७१। (अन. ध./६/२४-२६,३१)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. शौचधर्म व मनोगुप्तिमें अन्तर। —दे. गुप्ति/२/५।
२. दशधर्म निर्देश। —दे. धर्म/८।

शौरपुर—कुशाय देशका एक नगर। —दे० मनुष्य/४।

श्यामकुमार—असुरकुमार (भवनवासी देव)—दे असुर।

श्यामवर—मध्य लोकका तेरहवाँ द्वीप व सागर।—दे. लोक/५/१।

शृंखलित—कायोत्सर्गका एक अतिचार।—दे. व्युत्सर्ग/१।

श्रद्धान—मोक्षमार्गमें चारित्र आदिकी मूल होनेसे श्रद्धाको प्रधान कहा है। यद्यपि अन्ध श्रद्धान अकिंचित्कर होता है तथापि सूक्ष्म पदार्थोंके विषयमें आगमपर अन्ध श्रद्धान करनेके अतिरिक्त कोई चारा नहीं। सम्यग्दृष्टिका यह अन्ध श्रद्धान ईषत् निर्णय लक्षणवाला होता है, पर मिथ्यादृष्टिका अपने पक्षकी हठ सहित।

१. श्रद्धान निर्देश

१. श्रद्धानका लक्षण

दे. प्रत्यय/१ दृष्टि, श्रद्धा, रुचि, प्रत्यय ये एकार्थवाची है।

स. सा./आ./१७-१८ तथेति प्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते··· । —इस आत्माको जैसा जाना वैसा ही है 'इस प्रकारकी प्रतीति है लक्षण जिसका' ऐसा श्रद्धान उदित होता है।

द्र. स./टी./४१/१६४/१२ श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धिः सम्यग्दर्शनम्। —(सप्त तत्त्वोंमें चलमलादि दोषों रहित) श्रद्धान रुचि निश्चय, अथवा जो जिनेन्द्रने कहा तथा जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार है, ऐसी निश्चय रूप बुद्धिको सम्यग्दर्शन कहते हैं।

पं. ध./उ./४१२ तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा। —तत्त्वार्थोंके विषयमें उन्मुख बुद्धिको श्रद्धा कहते हैं।

२. श्रद्धानके अनुसार चारित्र होता है

स. श./९५-९६ यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते। यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ।९५। यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते। यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लय: ।९६। —जिस किसी विषयमें पुरुषकी दत्तावधान बुद्धि होती है उसी विषयमें उसको श्रद्धा होती है और जिस विषयमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है

उस विषयमें उसका मन लीन हो जाता है।६५। जिस विषयमें दत्तावधान बुद्धि नहीं होती उससे रुचि हट जाती है। जिससे रुचि हट जाती है उस विषयमें लीनता कैसे हो सकती है।

३. चारित्रकी शक्ति न हो तो श्रद्धान तो करना चाहिए

नि. सा./मू./१५४ जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादि करेज्ज झाणमयं। सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं।१५४। –यदि किया जा सके तो अहो ! ध्यानमय, प्रतिक्रमणादि कर; यदि तू शक्ति विहीन हो तो तबतक श्रद्धान ही कर्तव्य है।

द. पा./मू./२२ जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं। केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स संमत्तं।२२। –जो करनेको (त्याग करनेको) समर्थ हो तो करिये, परन्तु यदि करनेको समर्थ नहीं तो श्रद्धान तो कीजिए, क्योंकि श्रद्धान करनेवालोंके केवली भगवान्‌ने सम्यक्त्व कहा है।२२।

नि. सा./ता. वृ./१५४/क. २६४ कलिविलसिते पापबहुले। ...अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां। निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम्। –पापसे बहुल कलिकालका विलास होनेपर... इस कालमें अध्यात्म ध्यान कैसे हो सकता है। इसलिए निर्मल बुद्धिवाले भवभयका नाश करनेवाली ऐसी इस निजात्म श्रद्धाको अंगीकार करते हैं।

४. यथार्थ श्रद्धान न करे तो अभव्य है

प्र. सा./मू./६२ णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं। सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति।६२। –जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं, उनका सुख (सर्व) सुखोंमें उत्कृष्ट है, यह सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं और भव्य उसे स्वीकार करते हैं—उसकी श्रद्धा करते हैं।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. श्रद्धानमें सम्यक्त्वकी प्रधानता। —दे. सम्यग्दर्शन/II/२,३।
२. श्रद्धानमें अनुभवकी प्रधानता। —दे. अनुभव/३।
३. श्रद्धान व सम्यग्दर्शनमें कथंचित् भेदाभेद। —दे. सम्यग्दर्शन/I/१।
४. दर्शनका अर्थ श्रद्धान। —दे. सम्यग्दर्शन/I/१।
५. श्रद्धानमें भी कथंचित् ज्ञानपना। —दे. सम्यग्दर्शन/I/४।
६. श्रद्धान व ज्ञानमें पूर्वोत्तरवर्तीपना। —दे. ज्ञान/III/३।
७. ज्ञान व श्रद्धानमें अन्तर। —दे. सम्यग्दर्शन/I/४।

२. अन्ध श्रद्धान निर्देश

★ **श्रद्धानमें परीक्षाकी प्रधानता**—दे. न्याय/२/१।

१. परीक्षा रहित अन्ध श्रद्धान अकिंचित्कर

क. पा. १/७/३ जुत्तिविरहियगुरुवयणादो पयट्टमाणस्स पमाणाणुसारित्तविरोहादो। –शिष्य युक्तिकी अपेक्षा किये बिना मात्र गुरु वचनके अनुसार प्रवृत्ति करता है उसे प्रमाणानुसारी माननेमें विरोध आता है।

मो. मा. प्र./७/३१६/७ जो निर्णय करनेको विचार करतैं ही सम्यक्त्वको दोष लागै, तो अष्टसहस्रीमें आज्ञाप्रधानतैं परीक्षा प्रधानको उत्तम क्यों कहा ?

मो. मा. प्र./१८/३८१/१३ जो मैं जिन वचन अनुसारि मानौ हौं तो भाव भासे बिना अन्यथापनो होय जाय।

सत्ता स्वरूप/पृ. १०२ (जिसकी सत्ताका निश्चय नहीं हुआ वह परीक्षा वालोंको किस प्रकार स्तवन करने योग्य है। इससे सर्वकी सत्ता सिद्ध हो, यहीं कर्मका मूल है। ऐसी जिनकी आम्नाय है।

भद्रबाहु चरित्र/प्र. ६ पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः। –न तो मुझे वीर भगवान्‌का कोई पक्ष है और न कपिलादिकोंसे द्वेष है जिसका भी वचन युक्ति सहित है, उस ही से मुझे काम है।

English Tatwarth Sutra/Page 15- Right Belief is not identical with blind faith, Its authority is neither External nor autocratic

–सम्यग्दर्शन अन्ध श्रद्धानकी भाँति नहीं है। इसका अधिकार न तो बाह्य है और न रूढ़ि रूप ही है।

२. अन्धश्रद्धान ईषत् निर्णय लक्षण वाला होता है

दे० आगम/३/६ आगमकी विरोधी दो बातोंका संग्रह करने वाला संशय मिथ्यादृष्टि नहीं होता, क्योंकि संग्रह करने वालेके यह 'सूत्रकथित है' इस प्रकारका श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसे सन्देह नहीं हो सकता।

गो. जी./जी. प्र./५६१/१००६/१३ तच्छ्रद्धानं आज्ञया प्रमाणादिभिर्विना आप्तवचनाश्रयेण ईषन्निर्णयलक्षणया···। –बिना प्रमाण नय आदिके द्वारा विशेष जाने, जैसा भगवान्‌ने कहा वैसे ही है, ऐसे आप्त वचनोंके द्वारा सामान्य निर्णय है लक्षण जिसका ऐसी आज्ञाके द्वारा श्रद्धान होता है।

३. सूक्ष्म दूरस्थादि पदार्थोंके विषयमें अन्ध श्रद्धान करनेका आदेश

भ. आ./मू./३६/१२८ धम्माधम्मागासाणि पोग्गला कालदव्व जीवे य। आणाए सद्दहन्तो समत्ताराहओ भणिदो।३६। –धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल काल व जीव इन छह द्रव्योंका जिनेश्वरकी आज्ञासे श्रद्धान करने वाला आत्मा सम्यक्त्वका आराधक होता है।३६।

द्र. सं./टी./४८/२०२ पर उद्धृत···स्वयं मन्दबुद्धित्वेऽपि विशिष्टोपाध्यायाभावे अपि शुद्धजीवादिपदार्थानां सूक्ष्मत्वेऽपि सति सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यन्न हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः···। –स्वयं अल्पबुद्धि हो विशेष ज्ञानी गुरुकी प्राप्ति न हो जब शुद्ध जीवादि पदार्थोंकी सूक्ष्मता होने पर—श्री जिनेन्द्रका कहा हुआ जो सूक्ष्मतत्त्व है, वह हेतुओंसे खण्डित नहीं हो सकता, अतः जो सूक्ष्मतत्त्व है उसे जिनेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार ग्रहण करना चाहिए। (द. पा./टी./१२/१२/२८/-पर उद्धृत)।

पं. वि./१/१२८ निश्चेतव्यो जिनेन्द्रस्तदतुलवचसां गोचरेऽर्थे परोक्षे। कार्यः सोऽपि प्रमाणं वदत किमपरेणात्र कोलाहलेन। सत्यां छद्मस्थतायामिह समयपथस्वानुभूतिप्रबुद्धा। भो भो भव्या यतध्वं दृगवगमनिधावात्मनि प्रीतिभाजः।१२८। –हे भव्य जीवो ! आपको जिनेन्द्रदेवके विषयमें व उनकी वाणीके विषयभूत परोक्ष पदार्थोंके विषयमें उसीको प्रमाण मानना चाहिए, दूसरे व्यर्थके कोलाहलसे क्या प्रयोजन है; अतएव छद्मस्थ अवस्थाके रहने पर सिद्धान्त मार्गसे आये हुए आत्मानुभवसे प्रबोधको प्राप्त होकर आप सम्यग्दर्शन व ज्ञानकी निधि स्वरूप आत्माके विषयमें प्रीतियुक्त होकर आराधना कीजिए।१२८।

अन. ध./२/२५ धर्मादीनधिगम्य सच्छ्रुतनयन्यासानुयोगैः सुधीः, श्रद्दध्यादविदाज्ञयैव सुतरां जीवांस्तु सिद्धेतरान्।२५। –विशिष्ट ज्ञानके धारकोंको समीचीन, प्रमाण-नय-निक्षेप और अनुयोगोंके द्वारा धर्मादिक द्रव्योंको जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिए। किन्तु मन्दज्ञानियोंको केवल आज्ञाके अनुसार ही उनका ज्ञान व श्रद्धान करना चाहिए।

द्र. सं./टी./२२/६८/६ कालद्रव्यमन्यद्वा परमागमाविरोधेन विचारणीयं परं किन्तु वीतरागसर्वज्ञवचनं प्रमाणमिति मनसि निश्चित्य विचारो न कर्तव्यः। ...विवादे रागद्वेषौ भवतस्ततश्च संसारवृद्धिरिति। —काल द्रव्य तथा अन्य द्रव्यके विषयमें परमागमके अविरोधसे ही विचारना चाहिए। 'वीतराग सर्वज्ञका वचन प्रमाण है' ऐसा मनमें निश्चय करके उनके कथनमें विवाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि विवादमें राग-द्वेष व इनसे संसारकी वृद्धि होती है।

पं. ध./उ./४८२ *अर्थवशादत्र सूत्रे (सूत्रार्थे) शङ्का न स्यान्मनीषिणाम्।* सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ।४८२। —सूक्ष्म, दूरवर्ती और अन्तरित पदार्थ सम्यग्दृष्टिके आस्तिक्यके गोचर हैं अतः उनके अस्तित्व प्रतिपादक आगममें प्रयोजनवश कभी भी शंका नहीं होती ।४८२।

दे० आगम/३/६ छद्मस्थोंको विरोधी सूत्रोंके प्राप्त होनेपर विशिष्ट ज्ञानीके अभावमें दोनोंका संग्रह कर लेना चाहिए।

दे० सम्यग्दर्शन/I/१/२ तत्त्वादिपर अन्धश्रद्धान करना आज्ञासम्यक्त्व है।

३. क्षयोपशमकी हीनतामें तत्त्व सूत्रोंका भी अन्ध श्रद्धान कर लेना योग्य है

का. अ./३२४ जो ण विजाणदि तच्चं सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं। *जं जिणवरेहि भणियं तं सव्वमहं समिच्छामि* ।३२४। —जो तत्त्वोंको नहीं जानता किन्तु जिनवचनमें श्रद्धान करता है कि जिन भगवान्‌ने जो कुछ कहा है उस उस सबको मैं पसन्द करता हूँ। वह भी श्रद्धावान् है ।३२४।

पं. वि./१/१२५ यः कल्पयेत् किमपि सर्वविदोऽपि वाचि संदिह्य तत्त्वमसमञ्जसमात्मबुद्ध्या। खे पत्रिणां विचरतां सुदृशेक्षितानां संख्यां प्रति प्रविदधाति स वादमन्धः ।१२५। —जो सर्वज्ञके भी वचनमें सन्दिग्ध होकर अपनी बुद्धिसे तत्त्वके विषयमें अन्यथा कुछ कल्पना करता है, वह अज्ञानी पुरुष निर्मल नेत्रों वाले व्यक्तिके द्वारा देखे गये आकाशमें विचरते हुए पक्षियोंकी संख्याके विषयमें विवाद करने वाले अन्धेके समान आचरण करता है ।१२५। (पं. वि./१३/३४)।

४. अन्ध श्रद्धानकी विधिका कारण व प्रयोजन

दे० आगम/६/४ अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें छद्मस्थ जीवोंके द्वारा कल्पित युक्तियोंसे रहित निर्णयके लिए हेतुता नहीं पायी जाती। इसलिए उपदेशको प्राप्त करके निर्णय करना चाहिए।

पं. ध./उ./१०४५ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शिताः। नित्यं जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातुं शक्या न चान्यथा ।१०४५। —पहले भी कहा है कि परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, राम-रावणादिक सुदीर्घ अतीत कालवर्ती और मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थ सदैव जिनवाणीके द्वारा ही जाने जा सकते हैं किन्तु अन्यथा नहीं जाने जा सकते ।१०४५।

३. सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टिके श्रद्धानमें अन्तर

१. मिथ्यादृष्टिकी प्ररूपणापर सम्यग्दृष्टिको श्रद्धान नहीं होता।

पं. ध./उ./५६१ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः। नाल्पश्रुतः स मुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ।५६१। —मिथ्यादृष्टियों द्वारा सूक्ष्म, दूरस्थ व अन्तरित पदार्थोंके दिखानेपर भी अल्पज्ञानी सम्यग्दृष्टि मोहित नहीं होता है। यदि बहुश्रुत धारक हुआ तो फिर भला क्योंकर मोहित होगा।

* **मिथ्यादृष्टिका धर्म सम्बन्धी श्रद्धान श्रद्धान नहीं।**
—दे० मिथ्यादृष्टि/४।

* **सम्यग्दृष्टिके श्रद्धानमें कदाचित् शंकाकी सम्भावना।**
—दे० निःशंकित/१।

२. सूक्ष्मादि पदार्थोंके अश्रद्धानमें भी सम्यग्दर्शन सम्भव है।

भ. आ./वि./३७/१३१/२१ यदि नाम धर्मादिद्रव्यापरिज्ञानात् परिज्ञानसहचारि श्रद्धानं नोत्पन्नं तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिर्दर्शनमोहोदयस्य *अश्रद्धानपरिणामस्याज्ञानविषयस्याभावात। न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धानं इति गृहीतं श्रद्धानादन्यदश्रद्धानं इदमित्थमिति श्रुतनिरूपितेऽरुचिः।* —यद्यपि धर्मादि द्रव्योंका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ होनेवाली श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है, मिथ्यादृष्टि नहीं है, क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान जो कि अज्ञानको विषय करता है वह यहाँ नहीं है। मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न हुआ जो श्रद्धान व अरुचि रूप है अर्थात् यह वस्तु स्वरूप इस तरहसे है ऐसा जो *आगममें कहा गया है उस विषयमें अरुचि होना यह मिथ्यादर्शन* रूप अश्रद्धान है और प्रकृत विषयमें ऐसी अश्रद्धा नहीं है। परन्तु जिनेश्वरके प्रतिपादित जीवादि सच्चे हैं, ऐसी मनमें प्रीति-रुचि उत्पन्न होती है।

३. गुरु नियोगसे सम्यग्दृष्टिके भी असत् वस्तुका श्रद्धान सम्भव है।

भ. आ./मू./३२/१२१ सम्मादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ। सद्दहइ असब्भावं अयाणमाणो गुरुणियोगा ।३२। —सम्यग्दृष्टि जीव जिन उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता ही है, किन्तु कदाचित् (सद्भावको) नहीं जानता हुआ गुरुके नियोगसे असद्भावका भी श्रद्धान कर लेता है ।३२। (क. पा./सुत्त/१०/गा १०७/६३७); (पं. सं./प्रा./१/१२); (ध. १/१,१,१३/गा. ११०/१७३); (ध. ६/१,९-८,९/गा. १४/२४२), (गो. जी./मू./२७/५६)।

ल. सा./मू./१०५/१४४ सम्मुदये चलमलिणमगाढ सद्दहदि तच्चयं अत्थं। सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ।१०३। —सम्यक्त्व मोहनीयके उदयसे तत्त्व श्रद्धानमें चल, मल व अगाढ दोष लगते हैं। वह जीव आप विशेष न जानता हुआ अज्ञात गुरुके निमित्तसे असत्‌का भी श्रद्धान करता है। परन्तु सर्वज्ञकी आज्ञा ऐसे ही है ऐसा मानकर श्रद्धान करता है, अतः सम्यग्दृष्टि ही है।

४. असत्‌का श्रद्धान करनेसे सम्यक्त्वमें बाधा नहीं आती।

भ. आ./वि./३२/१२२/१ स जीवः सम्मादिट्ठी···प्रतीतपदार्थकत्वमादर्शितं। श्रद्दधाति श्रद्धानं करोति असत्यमप्यर्थं अयाणमाणे अनवगच्छन्। किं। विपरीतमनेनोपदिष्टमिति। गुरोर्व्याख्यातुरस्यायमर्थ इति कथनान्नियुज्यते प्रतिपत्त्या श्रोता अनेन वचनेन इति नियोगः कथनं। सर्वज्ञप्रणीतस्यागमस्यार्थः आचार्यपरंपरया अविपरीतः श्रुतोऽवधृतश्चानेन सूरिणा उपदिष्टो ममेति सर्वज्ञाज्ञाया रुचिरस्यास्तीति। आज्ञारुचितया सम्यग्दृष्टिर्भवत्येवेति भावः। —यह सम्यग्दृष्टि जीव असत्य पदार्थका भी श्रद्धान करता है, परन्तु वह तबतक असत्य पदार्थके ऊपर श्रद्धान करता है जबतक वह 'गुरुने मेरेको असत्य पदार्थका स्वरूप कहा है' यह नहीं जानता है। जबतक वह असत्य पदार्थका श्रद्धान करता है तब तक उसने आचार्य परम्पराके अनुसार जिनागमके जीवादि तत्त्वका स्वरूप कहा है और जिनेन्द्र भगवान्‌की

आज्ञा प्रमाणभूत माननी चाहिए ऐसा भाव हृदयमें रखता है अतः उसके सम्यग्दर्शनमें हानि नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि नहीं गिना जाता है। सर्वज्ञकी आज्ञाके ऊपर उसका प्रेम रहता है, वह आज्ञा रुचि होनेसे सम्यग्दृष्टि ही है, ऐसा भाव समझना। (और भी दे. आगम/५)।

गो. जी./जी. प्र./२७/५६/१२ असद्भावं—अतत्त्वमपि स्वस्य विशेषज्ञान-शून्यत्वेन केवलगुरुनियोगात् अर्हदाद्याज्ञात श्रद्दधाति सोऽपि सम्यग्दृष्टिरेव भवति तदाज्ञाया अनतिक्रमात् ।२७। —अपने विशेष ज्ञानका अभाव होनेसे गुरुके नियोगसे 'अरहंत देवका ऐसा ही उपदेश है' ऐसा समझकर यदि कोई पदार्थका विपरीत भी श्रद्धान कर लेता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि उसने अरहंतका उपदेश समझकर उस पदार्थका वैसा श्रद्धान किया है। उनकी आज्ञाका अतिक्रम नहीं किया।

५. सम्यक् उपदेश मिलनेपर भी हठ न छोड़े तो मिथ्यादृष्टि हो जाये

भ. आ./मू.३३,३६ सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि। सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ।३३। पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं। सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ।३६। —१. सूत्रसे आचार्यादिकके द्वारा भले प्रकार समझाये जानेपर भी यदि वह जीव विपरीत अर्थको छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता, तो उस समयसे वह सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। (ध. १/१,१,३६/गा. १४३/२६२); (गो. जी./मू./२८); (ल. सा./मू./१०६/१४४) २. सूत्रमें उपदिष्ट एक अक्षर भी अर्थको प्रमाण मानकर श्रद्धा नहीं करता वह बाकीके श्रुतार्थ वा श्रुतांशको जानता हुआ भी मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि बड़े पात्रमें रखे दूधको छोटी सी भी विष कणिका बिगाड़ती है। इसी प्रकार अश्रद्धा-का छोटा सा अंश भी आत्माको मलिन करता है ।३६।

६. क्योंकि मिथ्यादृष्टिके ही ऐकान्तिक पक्ष होता है

भ. आ./मू./४०/१३८ मोहोदयेण जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि। सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा ।४०। —दर्शन मोहनीय कर्मके उदय होनेसे यह जीव कहे हुए जीवादि पदार्थोंके सच्चे स्वरूपपर श्रद्धान करता नहीं है। परन्तु जिसका स्वरूप कहा है अथवा कहा नहीं ऐसे असत्य पदार्थोंके ऊपर वह श्रद्धान करता है ।४०।

क. पा. सु./१०८/पृ. ६३७ मिच्छाइट्ठी णियमा उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि। सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ।१०८। —मिथ्यादृष्टि जीव नियमसे सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान नहीं करता है, किन्तु असर्वज्ञ पुरुषोंके द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भावका अर्थात् पदार्थके विपरीत स्वरूपका श्रद्धान करता है ।१०८। (ध. ६/१,९-८,९/गा. १५/२४२)।

★ **सम्यग्दृष्टिको पक्षपात नहीं होता**—दे. सम्यग्दृष्टि/४।

७. एकान्त श्रद्धान या दर्शन वादका निर्देश

१. मिथ्या एकान्तकी अपेक्षा

ज्ञा./४/२४ केश्चित् कीर्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम्। वादिनां खलु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम् ।२४। —कई वादियोंने अन्य समस्त वादियोंके अन्य नयपक्षोंका निराकरण करके केवल दर्शनसे ही मुक्ति होनी कही है ।२४।

२. सम्यगेकान्तकी अपेक्षा

दे. विज्ञानवाद/२ ज्ञान क्रिया व श्रद्धा तीनों ही मिलकर प्रयोजन-वान् हैं।

दे. सम्यग्दर्शन/I/५ जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान व चारित्र नियम पूर्वक नहीं होते।

श्रद्धान प्रायश्चित्त—दे. प्रायश्चित्त/१।

श्रद्धावान—१. अपर विदेहका एक वक्षार—दे. लोक/५/३। २. उस वक्षारका एक कूट तथा उस कूटका रक्षक देव. दे. लोक/५/४।

श्रमण—१ न. च. वृ./३३२ सम्मा वा मिच्छा विय तवोहणा समण तह य अणयारा। होंति विराय सराया जदिरिसिमुणिणो य णायव्वा ।३३२। —श्रमण तथा अनगार सम्यक् व मिथ्या दोनों प्रकारके होते हैं। सम्यक् श्रमण विरागी और मिथ्या श्रमण सरागी होते हैं। उनको ही यति, ऋषि, मुनि और अनगार कहते हैं ।३३२। (प्र. सा./ता. वृ/२४६); (विशेष—दे. साधु) २. श्रमणके १० कल्पोंका निर्देश—साधु/२।

श्रमण—१ एक ग्रह—दे. ग्रह। २. एक नक्षत्र—दे. नक्षत्र।

श्रावक—विवेकवान विरक्तचित्त अणुव्रती गृहस्थको श्रावक कहते हैं। ये तीन प्रकारके हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक व साधक। निज धर्मका पक्ष मात्र करनेवाला पाक्षिक है और व्रतधारी नैष्ठिक। इसमें वैराग्य-की प्रकर्षतासे उत्तरोत्तर ११ श्रेणियाँ हैं। जिन्हें ११ प्रतिमाएँ कहते हैं। शक्तिको न छिपाता हुआ वह निचली दशासे क्रम पूर्वक उठता चला जाता है। अन्तिम श्रेणीमें इसका रूप साधुसे किंचित् न्यून रहता है। गृहस्थ दशामें भी विवेक पूर्वक जीवन बितानेके लिए अनेक क्रियाओंका निर्देश किया गया है।

१. भेद व लक्षण

१. श्रावक सामान्यके लक्षण

स. सि./६/४५/४५८/८ स एव पुनश्चारित्रमोहकर्मविकल्पाप्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमनिमित्तपरिणामप्राप्तिकाले विशुद्धिप्रकर्षयोगात् श्रावको ...। —वह ही (अविरत सम्यग्दृष्टि ही) चारित्र मोह कर्मके एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम निमित्तक परिणामोंकी प्राप्तिके समय विशुद्धिका प्रकर्ष होनेसे श्रावक होता हुआ...।

सा. ध./१/१५-१६ मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः। दानयजनप्रधानो, ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात् ।१५। रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुख स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसवधाद्यंहोव्यपोहात्मसु। सद्दृग् दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश-स्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम् ।१६। —पंच परमेष्ठीका भक्त प्रधानतासे दान और पूजन करनेवाला भेद ज्ञान रूपी अमृतको पीनेका इच्छुक तथा मूलगुण और उत्तरगुणोंको पालन करनेवाला व्यक्ति श्रावक कहलाता है ।१५। अन्तरंगमें रागादिकके क्षयकी हीनाधिकताके अनुसार प्रगट होनेवाली आत्मानुभूतिसे उत्पन्न सुखका उत्तरोत्तर अधिक अनुभव होना ही है स्वरूप जिन्होंका ऐसे और बहिरंगमें त्रस हिंसा आदिक पाँचों पापोंसे विधि पूर्वक निवृत्ति होना है स्वरूप जिन्होंका ऐसे ग्यारह देशविरत नामक पंचम गुणस्थानके दर्शनिक आदि स्थानों—दरजोंमें मुनिव्रतका इच्छुक होता हुआ जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति किसी एक स्थानको धारण करता है उसको श्रावक मानता हूँ अथवा उस श्रावकको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता हूँ।

सा. ध./स्वोपज्ञ-टीका/१/१५ शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः। —जो श्रद्धा पूर्वक गुरु आदिसे धर्म श्रवण करता है वह श्रावक है।

द्र. सं./टी./१३/३४/५ स पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावको भवति। —पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक होता है।

२. श्रावकके भेद

१. पाक्षिकादि तीन भेद

चा. सा./४१/३ साधकत्वमेवं पक्षादिभिस्त्रिभिर्हिंसाद्युपचितं पापम् अपगतं भवति। —इस प्रकार पक्ष चर्या और साधकत्व इन तीनोंसे गृहस्थीके हिंसा आदिके इकट्ठे किये हुए पाप सब नष्ट हो जाते हैं।

सा ध./१/२० पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।...नैष्ठिकः साधकः...।२०। —पाक्षिक, नैष्ठिक और साधकके भेदसे श्रावक तीन प्रकारके होते हैं।

सा. ध./३/६ प्रारब्धो घटमानो निष्पन्नश्चार्हतस्य देशयमः। योग इव भवति यस्य त्रिधा स योगीव देशयमी ।६। —जिस प्रकार प्रारब्ध आदि तीन प्रकारके योगसे योगी तीन प्रकारका होता है, उसी प्रकार देशयमी भी प्रारब्ध (प्राथमिक), घटमानो (अभ्यासी) और निष्पन्नके भेदसे तीन प्रकारके हैं।

पं. ध./उ./७२५ किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ।७२५। —पाक्षिक, गूढ, नैष्ठिक अथवा साधक श्रावक तो कैसे।

२. नैष्ठिक श्रावकके ११ भेद

चा. अणु./६६ दंसण-वय-सामाइय पोसह सच्चित्त राइभत्ते य। बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदेदे ।१३६। —दार्शनिक, व्रतिक, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रह विरत, अनुमति विरत और उद्दिष्टविरत ये (श्रावकके) ग्यारह भेद होते हैं ।१३६। (चा. पा./मू./२२); (पं. सं./प्रा./१/१३६), (ध. १/१,१,२/गा. ७४/१०२), (ध. १/१,१,१२३/गा. १९३/१७३), (ध. ९/४,१,४५/गा. ७८/२०१), (गो. जी./मू./४७७/८८४), (वसु. श्रा./४), (चा. सा./३/३), (द्र. सं./टी./१३/३४ पर उद्धृत), (वं. वि./१/१४)।

द्र. सं./टी./४५/१९५/५ दार्शनिक···व्रतिकः···त्रिकालसामयिके प्रवृत्तः, प्रोषधोपवासे, सचित्तपरिहारेण पञ्चम:, दिवाब्रह्मचर्येण षष्ठ:, सर्वथा ब्रह्मचर्येण सप्तमः, आरम्भनिवृत्तोऽष्टमः···परिग्रहनिवृत्तो नवमः···अनुमतनिवृत्तो दशम. उद्दिष्टाहारनिवृत्त एकादशमः। —दार्शनिक, व्रती, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, और सचित्त विरत तथा दिवा मैथुन विरत, अब्रह्म विरत, आरम्भविरत और परिग्रह विरत, अनुमति विरत और उद्दिष्ट विरत श्रावकके ये ११ स्थान हैं (सा. ध./३/२-३)।

३. ग्यारहवीं प्रतिमाके २ भेद

वसु. श्रा./३०१ एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविओ। वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ ।३०१। —ग्यारहवें अर्थात् उद्दिष्ट विरत स्थानमें गया हुआ मनुष्य उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। उसके दो भेद हैं— प्रथम एक वस्त्र रखनेवाला (क्षुल्लक), दूसरा कोपीन (लंगोटी) मात्र परिग्रहवाला (ऐलक) (गुण. श्रा./१८४), (सा. ध./७/३८-३९)।

३. पाक्षिकादि श्रावकोंके लक्षण

१. पाक्षिक श्रावक

चा. सा./४०/४ असिमषिकृषिवाणिज्यादिभिर्गृहस्थानां हिंसासंभवेऽपि पक्षः। —असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भों कर्मोंसे गृहस्थोंके हिंसा होना सम्भव है तथापि पक्ष चर्या और साधकपना इन तीनोंसे हिंसाका निवारण किया जाता है। इनमेंसे सदा अहिंसा रूप परिणाम करना पक्ष है।

सा. ध./२/२,१९ तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्। मद्यमांसमधून्युज्झेत्, पञ्च क्षीरिफलानि च ।२। स्थूल हिंसानृतस्तेयमैथुनग्रन्थवर्जनम्। पापभीरुतयाभ्यस्येद्-बलवीर्यनिगूहकः ।१९। —उस गृहस्थ धर्ममें जिनेन्द्र देव सम्बन्धी आज्ञाको श्रद्धान करता हुआ पाक्षिक श्रावक हिंसाको छोड़नेके लिए सबसे पहले मद्य, मांस, मधुको और पंच उदुम्बर फलोंको छोड़ देवे ।२। शक्ति और सामर्थ्यको नहीं छिपानेवाला पाक्षिक श्रावक पापके डरसे स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रहके त्यागका अभ्यास करे ।१९। (पाक्षिक श्रावक देवपूजा गुरु उपासना आदि कार्यको शक्त्यनुसार नित्य करता है—दे. वह वह नाम) सदाव्रत खुलवाना (दे. पूजा/१) मन्दिरमें फुलवाड़ी आदि खुलवाना कार्य करता है (दे. चैत्य चैत्यालय)। रात्रि भोजनका त्यागी होता है, परन्तु कदाचित रात्रिको इलायची आदिका ग्रहण कर लेता है—दे. रात्रि भोजन (३/३)। पर्वके दिनोंमें प्रोषधोपवासको करता है— दे. प्रोषधोपवास (३/१)। व्रत खण्डित होनेपर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है (सा ध./२/७९)। आरम्भादिमें संकल्पी आदि हिंसा नहीं करता—(दे. श्रावक/३) इस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धिको पाता प्रतिमाओंको धारण करके एक दिन मुनि धर्मपर आरूढ होता है। दे. पक्ष। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका त्याग करना जैनोंका पक्ष है।

२. चर्या श्रावक

चा. सा./४०/४ धर्मार्थं देवतार्थं मन्त्रसिद्ध्यर्थ मौषधार्थ माहारार्थं स्वभोगाय च गृहमेधिनो हिंसां न कुर्वन्ति। हिंसासंभवे प्रायश्चित्तविधिना विशुद्धः सन् परिग्रहपरित्यागकरणे सति स्वगृहं धर्मं च वैश्याय समर्प्य यावद् गृहं परित्यजति तावदस्य चर्या भवति। —धर्मके लिए, किसी देवताके लिए, किसी मन्त्रको सिद्ध करनेके लिए, औषधिके लिए और अपने भोगोपभोगके लिए, कभी हिंसा नहीं करते हैं। यदि किसी कारणसे हिंसा हो गयी हो तो विधिपूर्वक प्रायश्चित्त कर विशुद्धता धारण करते हैं। तथा परिग्रहका त्याग करनेके समय अपने घर, धर्म और अपने वंशमें उत्पन्न हुए पुत्र आदिको समर्पण कर जबतक वे घरको परित्याग करते हैं तबतक उनके चर्या कहलाती है। (यह चर्या दार्शनिकसे अनुमति विरत प्रतिमा पर्यन्त होती है (सा. ध./१/१९)।

३. नैष्ठिक श्रावक

सा. ध./३/१ देशयमघ्नकषाय-क्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात्। दर्शनिकाद्येकादश-दशावशो नैष्ठिक. सुलेश्यतर. ।१। —देश संयमका घात करनेवाली कषायोंके क्षयोपशमकी क्रमशः वृद्धिके वशसे श्रावकके दर्शनिक आदिक ग्यारह संयम स्थानोंके वशीभूत और उत्तम लेश्या वाला व्यक्ति नैष्ठिक कहलाता है ।१।

४. साधक श्रावक

म. पु./३९/१४९··· जीवितान्ते तु साधनम्। देहाहारेहितत्यागात ध्यानशुद्ध्यात्मशोधनम् ।१४९। —जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवनके अन्तमें अर्थात् मृत्यु समय शरीर, भोजन और मन, वचन कायके व्यापारके त्यागसे पवित्र ध्यानके द्वारा आत्माकी शुद्धिको साधन करता है वह साधक कहा जाता है। (सा. ध./१/१९-२०/८/१)।

चा. सा./४१/२ सकलगुणसंपूर्णस्य शरीरकम्पनोच्छ्वासनोन्मीलनविधि परिहरमाणस्य लोकाग्रमनसः शरीरपरित्यागः साधकत्वम्। —इसी तरह जिसमें सम्पूर्ण गुण विद्यमान हैं, जो शरीरका कंपना, उच्छ्वास लेना, नेत्रोंका खोलना आदि क्रियाओंका त्याग कर रहा है और जिसका चित्त लोकके ऊपर विराजमान सिद्धोंमें लगा हुआ है ऐसे समाधिमरण करनेवालेका शरीर परित्याग करना साधकपना कहलाता है।

२. श्रावक सामान्य निर्देश

१. गृहस्थ धर्मकी प्रधानता

कुरल./६,८ गृही स्वस्यैव कर्माणि पालयेद् यत्नतो यदि। तस्य नावश्यका धर्मा भिन्नाश्रमनिवासिनाम् ।६। यो गृही नित्यमुद्युक्तः परेषां कार्यसाधने। स्वयं चाचारसंपन्नः पूतात्मा स ऋषेरपि ।८। —यदि मनुष्य गृहस्थके समस्त कर्तव्योंको उचित रूपसे पालन करे, तब उसे दूसरे आश्रमोंके धर्मोंके पालनेकी क्या आवश्यकता ? ।६। जो गृहस्थ दूसरे लोगोंको कर्तव्य पालनमें सहायता देता है, और स्वयं भी धार्मिक जीवन व्यतीत करता है, वह ऋषियोंसे अधिक पवित्र है ।८।

पं. वि./१/१२ सन्तः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितं मुक्तेः परं कारणं रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवनप्रद्योति काये सति। वृत्तिस्तस्य यदन्नतः परमया भक्त्यार्पिताज्जायते तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां धर्मो न कस्य प्रियः।१२। —जो रत्नत्रय समस्त देवेन्द्रों एवं असुरेन्द्रोंसे पूजित है, मुक्तिका अद्वितीय कारण है तथा तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाला है उसे साधुजन शरीरके स्थित रहनेपर ही धारण करते हैं। उस शरीरकी स्थिति उत्कृष्ट भक्तिसे दिये गये जिन सद्गृहस्थोंके अन्नसे रहती है उन गुणवान् सद्गृहस्थोंका धर्म भला किसे प्रिय न होगा? अर्थात् सबका प्रिय होगा।

२. श्रावक धर्मके योग्य पात्र

सा. ध./१/११ न्यायोपात्तधनो, यजन्गुणगुरून्, सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्नन्योन्यानुगुणं, तदर्हगृहिणी-स्थानालयो ह्रीमयः। युक्ताहारविहार-आर्यसमितिः, प्राज्ञः कृतज्ञो वशी, शृण्वन्धर्मविधिं, दयालुरघभीः, सागारधर्मं चरेत् ।११। —न्यायसे धन कमानेवाला, गुणोंको, गुरुजनोंको तथा गुणोंमें प्रधान व्यक्तियोंको पूजनेवाला, हित मित और प्रियका वक्ता, त्रिवर्गको परस्पर विरोधरहित सेवन करनेवाला, त्रिवर्गके योग्य स्त्री, ग्राम और मकानसहित लज्जावान् शास्त्रके अनुकूल आहार और विहार करनेवाला, सदाचारियोंकी संगति करनेवाला, विवेकी, उपकारका जानकार, जितेन्द्रिय, धर्मकी विधिको सुननेवाला दयावान् और पापोंसे डरनेवाला व्यक्ति सागार धर्मको पालन कर सकता है।११।

३. विवेकी गृहस्थको हिंसाका दोष नहीं

म. पु./३९/१४३-१४४,१५० स्यादारेका च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम्। हिंसादोषोऽनुषङ्गी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम् ।१४३। इत्यत्र ब्रूमहे सत्यं अल्पसावद्यसङ्गतिः। तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता ।१४४। त्रिष्वेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्द्विजन्मनाम्। इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तदोषाणां स्यान्निराकृतिः ।१५०। —यहाँपर यह शंका हो सकती है कि जो असि-मषी आदि छह कर्मोंसे आजीविका करनेवाले जैन द्विज अथवा गृहस्थ हैं उनके भी हिंसाका दोष लग सकता है परन्तु इस विषयमें हम यह कहते हैं कि आपने जो कहा है वह ठीक है, आजीविकाके करनेवाले जैन गृहस्थोंके थोड़ीसी हिंसाकी संगति अवश्य होती है, परन्तु शास्त्रोंमें उन दोषोंकी शुद्धि भी तो दिखलायी गयी है।१४३-१४४। अरहन्तदेवको माननेवालेको द्विजोंका पक्ष, चर्या और साधन इन तीनोंमें हिंसाके साथ स्पर्श भी नहीं होता...।१५०।

४. श्रावकको भव धारणकी सीमा

वसु. श्रा./५३९ सिज्झइ तइयम्मि भवे पंचमए कोवि सत्तमट्ठमए। भुंजिवि सुर-मणुयसुहं पावेइ कमेण सिद्धपयं ।५३९। —(उत्तम रीतिसे श्रावकोंका आचार पालन करनेवाला कोई गृहस्थ) तीसरे भवमें सिद्ध होता है। कोई क्रमसे देव और मनुष्योंके सुखोंको भोगकर पाँचवें, सातवें या आठवें भवमें सिद्ध पदको प्राप्त करते हैं।५३९।

५. श्रावकको मोक्ष निषेधका कारण

मो. पा./१२/३१३ पर उद्धृत—खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुंभ प्रमार्जनी। पञ्च सूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति। —गृहस्थोंके उखली, चक्की, चूल्ही, घड़ा और झाड़ू ये पंचसूना दोष पाये जाते हैं। इस कारण उनको मोक्ष नहीं हो सकता।

३. पाक्षिक व नैष्ठिक श्रावक निर्देश

१. नैष्ठिक श्रावकमें सम्यक्त्वका स्थान

ध. १/१,१,१३/१७५/४ सम्यक्त्वमन्तरेणापि देशयतयो दृश्यन्त इति चेन्न, निर्गतमुक्तिकाङ्क्षस्यानिवृत्तविषयपिपासस्याप्रत्याख्यानानुपपत्तेः। —प्रश्न—सम्यग्दर्शनके बिना भी देशसंयमी देखनेमें आते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो जीव मोक्षकी आकांक्षासे रहित हैं और जिनकी विषय पिपासा दूर नहीं हुई है, उनके अप्रत्याख्यान संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

वसु. श्रा./५ एयारस ठाणाइं सम्मत्त विवज्जिय जीवस्स। जम्हा ण संति तम्हा सम्मत्तं सुणह वोच्छामि ।५। —(श्रावकके) ग्यारह स्थान चूँकि सम्यग्दर्शनसे रहित जीवके नहीं होते, अतः मैं सम्यक्त्वका वर्णन करता हूँ। हे भव्यो! तुम सुनो।५।

द्र. सं./टी./४५/१९५/३ सम्यक्त्वपूर्वकेन...दार्शनिकश्रावको भवति। —सम्यक्त्वपूर्वक...दार्शनिक श्रावक होता है। (ला. सं./२/६)।

२. ग्यारह प्रतिमाओंमें उत्तम मध्यमादि विभाग

चा. सा./४०/३ आद्यास्तु षट् जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः। शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने। —जिनागममें ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे पहलेकी छह प्रतिमा जघन्य मानी जाती है, इनके बादकी तीन अर्थात् सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाएँ मध्यम मानी जाती हैं। और बाकीकी दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमाएँ उत्तम मानी जाती हैं। (सा. ध./३/२-३); (द्र. सं./टी./४५/१/९५/११); (द. पा./टी./१८/१७)।

३. ग्यारह प्रतिमाओंमें उत्तरोत्तर व्रतोंकी तरतमता

चा. सा./३/४ इत्येकादेशनिलया जिनोदिताः श्रावकाः क्रमशः व्रतादयो गुणा दर्शनादिभिः पूर्वगुणैः सह क्रमप्रवृद्धा भवन्ति। —जिनेन्द्रदेवने अनुक्रमसे इन ग्यारह स्थानोंमें रहनेवाले ग्यारह प्रकारके श्रावक बतलाये हैं। इन श्रावकोंके व्रतादि गुण सम्यग्दर्शनादि अपने पहलेके गुणोंके साथ अनुक्रमसे बढ़ते रहते हैं।

सा. ध./३/५ तद्वद्दर्शनिकादिश्च, स्थैर्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन्। लभते पूर्वमेवार्थाद्, व्यपदेशं न तूत्तरम् ।५। —नैष्ठिक श्रावककी तरह अपने-अपने व्रतोंमें स्थिरताको प्राप्त नहीं होनेवाले दर्शनिक आदि श्रावक भी वास्तवमें पूर्व-पूर्वकी ही संज्ञाको पाता है, किन्तु आगेकी संज्ञाको नहीं।५।

४. पाक्षिक श्रावक सर्वथा अव्रती नहीं

ला. सं./२/४७-४९ नेत्थं यः पाक्षिकं कश्चिद् व्रताभावादस्त्यव्रती। पक्षमात्रावलम्बी स्याद् व्रतमात्रं न चाचरेत् ।४७। यतोऽस्य पक्षग्राहित्वमसिद्धं बाधसंभवात्। लोपात्सर्वविदाज्ञायाः साध्या पाक्षिकता कुतः ।४८। आज्ञा सर्वविदः सैव क्रियावान् श्रावको मतः। कश्चित्सर्वनिकृष्टोऽपि न त्यजेत्स कुलक्रियाः ।४९। —प्रश्न—१ पाक्षिक श्रावक किसी व्रतको पालन नहीं करता, इसलिए वह अव्रती है। वह तो केवल व्रत धारण करनेका पक्ष रखता है, अतएव रात्रिभोजन त्याग भी नहीं कर सकता? उत्तर—ऐसी आशंका ठीक नहीं क्योंकि रात्रिभोजनत्याग न करनेसे उसका पाक्षिकपना सिद्ध नहीं होता। सर्वज्ञदेव द्वारा कही रात्रिभोजनत्याग रूप कुलक्रियाका त्याग न करनेसे उसके सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके लोपका प्रसंग आता है, और सर्वज्ञकी आज्ञाका लोप करनेसे उसका पाक्षिकपना भी किस प्रकार ठहरेगा? ।४७-४८। २. सर्वज्ञकी आज्ञा है कि जो क्रियावान् कुलक्रियाका पालन करता है वह श्रावक माना गया है। अतएव जो सबसे कम दर्जेके अभ्यासमात्र मूलगुणोंका पालन करता है उसे भी अपनी कुलक्रियाएँ नहीं छोड़नी चाहिए।४९।

ला. सं./३/१२६, १३१ एवमेव च सा चेत्स्यात्कुलाचारक्रमात्परम् । बिना नियमादि तावत्प्रोच्यते सा कुलक्रिया ।१२६। दर्शनप्रतिमा नास्य गुणस्थानं न पञ्चमम् । केवलं पाक्षिकः स. स्याद्गुणस्थानादसंयत । ।१३१। =३. यदि ये उपरोक्त (अष्टमूलगुण व सप्तव्यसनत्याग) क्रियाएँ बिना किसी नियमके हों तो उन्हें व्रत नहीं कहते बल्कि कुलक्रिया कहते हैं ।१२६। ऐसे ही इन कुलक्रियाओंका पालन करनेवाला न दर्शन प्रतिमाधारी है और न पंचम गुणवर्ती । वह केवल पाक्षिक है और उसका गुणस्थान असंयत है ।१३१।

दे. श्रावक/४/३ [अष्ट मूलगुण तथा सप्त व्यसन त्यागके बिना नाममात्रको भी श्रावक नहीं ।]

दे. श्रावक/४/४ [ये अष्ट मूलगुण व्रती व अव्रती दोनोंको यथायोग्य रूपमें होते हैं ।]

दे. श्रावक/१/३/१ [अष्ट मूलगुण धारण और स्थूल अणुव्रतोंका शक्त्यनुसार पालन पाक्षिक श्रावकका लक्षण है ।]

५. पाक्षिक श्रावककी दिनचर्या

सा. ध./६/१-४४ ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय, वृत्तपञ्चनमस्कृतिः । कोऽहं को मम धर्मः किं, व्रतं चेति परामृशेत् ।१। =ब्राह्म मुहूर्तमें उठ करके पढ़ा है नमस्कार मन्त्र जिसने ऐसा श्रावक मैं कौन हूँ, मेरा धर्म कौन है, और मेरा व्रत कौन है, इस प्रकार चिन्तवन करे ।१। श्रावकके अति दुर्लभ धर्ममें उत्साहकी भावना ।२। स्नानादिके पश्चात् अष्ट प्रकार अर्हन्त भगवान्की पूजा तथा वन्दनादि कृतिकर्म (३-४) ईर्या समितिसे (६) अत्यन्त उत्साहसे (७) जिनालयमें निस्सही शब्दके उच्चारणके साथ प्रवेश करे (८) जिनालयको समवसरणके रूपमें ग्रहण करके (१०) देव शास्त्र गुरुकी विधि अनुसार पूजा करे (११-१२) स्वाध्याय (१३) दान (१४) गृहस्थ संबन्धित कार्य (१५) मुनिव्रतकी धारणकी अभिलाषा पूर्वक भोजन (१७) मध्याह्नमें अर्हन्त भगवान्की आराधना (२१) पूजादि (२३) तत्त्व चर्चा (२६) सन्ध्यामें भाव पूजादि करके सोवे (२७) निद्रा उचटनेपर वैराग्य भावना भावे (२८-३३) । स्त्रीकी अनिष्टताका विचार करे (३४-३६) समता व मुनिव्रतकी भावना करे (३४-४३) । आदर्श श्रावकोंकी प्रशंसा तथा धन्य करे (४४) । (ला. सं./६/१६२-१८८) ।

६. पाँचों व्रतोंके एकदेश पालन करनेसे व्रती होता है

स. सि./७/१६/३५८/३ अत्राह किं हिंसादीनामन्यतमस्माद्य. प्रतिनिवृत्तः स खल्वागारी व्रती । नैवम् । किं तर्हि । पञ्चतय्या अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षितः । =प्रश्न—जो हिंसादिकमेंसे किसी एकसे निवृत्त है वह क्या अगारी व्रती है? उत्तर—ऐसा नहीं है । प्रश्न—तो क्या है? उत्तर—जिसके एक देशसे पाँचोंकी विरति है वह अगारी है । यह अर्थ यहाँ विवक्षित है । (रा. वा./७/१६/४/५४७/१) ।

रा. वा./७/१६/३/५४६/३१ यथा गृहापवरकादिनगरदेशैर्निवासस्यापि नगरावास इति शब्द्यते, तथा असकलव्रतोऽपि नैगमसंग्रहव्यवहारनयविवक्षापेक्षया व्रतीति व्यपदिश्यते । =जैसे—घरके एक कोने या नगरके एकदेशमें रहनेवाला भी व्यक्ति नगरवासी कहा जाता है उसी तरह सकल व्रतोंको धारण न कर एक देशव्रतोंको धारण करनेवाला भी नैगम संग्रह और व्यवहार नयोंकी अपेक्षा व्रती कहा जायेगा ।

७. पाक्षिक व नैष्ठिक श्रावकमें अन्तर

सा. ध./३/४ दुर्लेश्याभिभवाज्जातु, विषये क्वचिदुत्सुकः । स्खलन्नपि क्वापि गुणे, पाक्षिकः स्यान्न नैष्ठिकः ।४। =कृष्ण, नील व कापोत इन लेश्याओंमेंसे किसी एकके वेगसे किसी समय इन्द्रियके विषयमें उत्कण्ठित तथा किसी मूलगुणके विषयमें अतिचार लगानेवाला गृहस्थ पाक्षिक कहलाता है नैष्ठिक नहीं ।

४. श्रावकके मूल व उत्तर गुण निर्देश

१. अष्ट मूलगुण अवश्य धारण करने चाहिए

र. क. श्रा./६६ मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् । अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ।६६। =मद्य, मांस और मधुके त्याग सहित पाँचों अणुव्रतोंको श्रेष्ठ मुनिराज गृहस्थोंके मूलगुण कहते हैं ।६६। (सा. ध.)

पु. सि. उ./६१ मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन । हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ।६१। =हिंसा त्यागकी कामनावाले पुरुषोंको सबसे पहले शराब, मांस, शहद, ऊमर, कठूमर आदि पंच उदुम्बर फलोंका त्याग करना योग्य है ।६१। (पं. वि./६/२३), (सा. ध./२/२) ।

चा. सा./३०/४ पर उद्धृत—हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् । द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः । =स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म व स्थूल परिग्रहसे विरक्त होना तथा जूआ, मांस और मद्यका त्याग करना ये आठ गृहस्थोंके मूलगुण कहलाते है । (चा. सा./३०/३), (सा. ध./२/३) ।

सा. ध./२/१८ मद्यपलमधुनिशाशन - पञ्चफलीविरति - पञ्चकाप्तनुती । जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणा. ।१८। =किसी आचार्यके मतमें मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन व पंच उदुम्बर फलोंका त्याग, देववन्दना, जीव दया करना और पानी छानकर पीना ये मूलगुण माने गये हैं ।१८। (सा. ध./पं. लाल राम/फुट नोट पृ. ८२) ।

२. अष्ट मूलगुण निर्देशका समन्वय

रा. वा. हिं./७/२०/५५८ कोई शास्त्रमें तो आठ मूल गुण कहे हैं, तामें पाँच अणुव्रत कहे, मद्य, मांस, शहदका त्याग कहा, ऐसे आठ कहे । कोई शास्त्रमें पाँच उदुम्बर फलका त्याग, तीन प्रकारका त्याग, ऐसे आठ कहे । कोई शास्त्रमें अन्य प्रकार भी कहा है । यह तो विवक्षाका भेद है, तहाँ ऐसा समझना जो स्थूलपने पाँच पाप ही का त्याग है । पंच उदुम्बर फलमें तो त्रस भक्षणका त्याग भया, शिकारके त्यागमें त्रस मारनेका त्याग भया । चोरी तथा परस्त्री त्यागमें दोऊ व्रत भए । द्यूत कर्मादि अति तृष्णाके त्याग तै असत्यका त्याग तथा परिग्रहकी अति चाह मिटी । मांस, मद्य, और शहदके त्याग तै त्रस कूं मार करि भक्षण करनेका त्याग भया ।

३. अष्ट मूलगुण व सप्त व्यसनोंके त्यागके बिना नामसे भी श्रावक नहीं

दे. दर्शन प्रतिमा/२/५ पहली प्रतिमामें ही श्रावकको अष्ट मूलगुण व सप्त व्यसनका त्याग हो जाता है ।

सा. ध./टिप्पणी/पृ. ८२ एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरैरागारिणां कीर्तिता । एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद्भूतो न गेहाश्रमी । =आठ मूलगुण श्रावकोंके लिए गणधरदेवने कहे हैं, इनमेंसे एकके भी अभावमें श्रावक नहीं कहा जा सकता ।

पं. ध./उ./७२४-७२८ निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् । तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ।७२४। एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः । किं पुनः पाक्षिको

गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ।७२५। मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः । नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथाऽपि तथा गृही । ।७२६। यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् । अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ।७२७। त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान् । अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ।७२८। –आठों मूलगुण स्वभावसे अथवा कुल परम्परासे भी आते हैं। यह स्पष्ट है कि मूलगुणके बिना जीवोंके सब प्रकारका व्रत और सम्यक्त्व नहीं हो सकता ।७२४। मूलगुणोंके बिना जीव नामसे भी श्रावक नहीं हो सकता तो फिर पाक्षिक, गूढ नैष्ठिक अथवा साधक श्रावक कैसे हो सकता है ।७२५। मद्य, मांस, मधु व पंच उदुम्बर फलोंका त्याग करनेवाला गृहस्थ नामसे श्रावक कहलाता है, किन्तु मद्यादिका सेवन करने वाला गृहस्थ नामसे भी श्रावक नहीं है ।७२६। गृहस्थोंको यथाशक्ति व्यसनोंका त्याग करना चाहिए, तथा कल्याणप्रद क्रियाओंके करनेकी इच्छा करनी चाहिए। व्रती गृहस्थको अवश्य ही व्यसनोंका त्याग करना चाहिए ।७२७। और मूलगुणोंके लगनेवाले अतिचार नामक दोषोंको भी अवश्य छोड़ना चाहिए अन्यथा साक्षात् रूपसे मद्य, मांस आदिको कौनसा श्रावक खाता है ।७२८। (ला. सं./२/६-६), (ला. सं./३/१२६-१३०)।

४. अष्ट मूलगुण व्रती अव्रती दोनोंको होते हैं

पं. ध./उ./७२३ तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्। क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे ।७२३। –उनमें जिस कारणसे व्रती गृहस्थोंके जो आठ मूलगुण हैं वे कहीं-कहीं पर अव्रती गृहस्थोंके भी पाये जाते हैं इसलिए ये आठों ही मूलगुण साधारण है ।७२३। (ला. सं./२/१२७-१२८)।

५. साधुको पूर्ण और श्रावकको एकदेश होते हैं

पं. ध./उ./७२२ मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्तिनाम्। तथानगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ।७२२। –जैसे गृहस्थोंके मूल और उत्तरगुण होते हैं वैसे मुनियोंके एकदेश रूपसे नहीं होते है किन्तु वे मूलगुण तथा उत्तरगुण सर्व देश रूपसे ही होते है। (विशेष दे. व्रत/२/४)।

६. श्रावकके अनेकों उत्तर गुण

१. श्रावकके २ कर्तव्य

र. सा./११ दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा। –चार प्रकारका दान देना और देवशास्त्र गुरुकी पूजा करना श्रावकका मुख्य कर्तव्य है, इनके बिना वह श्रावक नहीं है।

२. श्रावकके ४ कर्तव्य

क. पा./§ ८२/१००/२ दाणं पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो। –दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकके धर्म हैं। (अ. ग. श्रा./१/१), (सा. ध./७/५१), (सा. ध./पं. लालाराम/फुटनोट पृ. ६५)।

३. श्रावकके ५ कर्तव्य

कुरल./५/३ गृहिणः पञ्च कर्माणि स्वोन्नतिर्देवपूजनम्। बन्धु साहाय्यमातिथ्यं पूर्वेषां कीर्तिरक्षणम् ।३। –पूर्वजोंकी कीर्तिकी रक्षा, देवपूजन, अतिथि सत्कार, बन्धु-बान्धवोंकी सहायता और आत्मोन्नति ये गृहस्थके पाँच कर्तव्य हैं ।३।

४. श्रावकके ६ कर्तव्य

चा. सा./४३/१ गृहस्थस्येज्या, वार्ता, दत्तिः, स्वाध्यायः, संयमः, तप इत्यार्यषट्कर्माणि भवन्ति। –इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप ये छह गृहस्थोंके आर्य कर्म कहलाते हैं।

पं. वि./६/७ देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः। दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ।७। –जिनपूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, संयम और तप ये छह कर्म गृहस्थोंके लिए प्रतिदिनके करने योग्य आवश्यक कार्य हैं ।७।

अ. ग. श्रा./८/२९ सामायिकं स्तवः प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रमा। प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः षोढावश्यकमीरितम् ।२९। –सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान ऐसे छह प्रकारके आवश्यक पण्डितोंके द्वारा कहे गये हैं ।२९।

५. श्रावककी ५३ क्रियाएँ

र. सा./१५३ गुणवयतवसमपडिमादाणं जलगालणं अणत्थमियं। दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया ।१५३। –गुणव्रत ३, अणुव्रत ५, शिक्षाव्रत ४, तप १२, ग्यारह प्रतिमाओंका पालन ११, चार प्रकारका दान देना ४, पानी छानकर पीना १, रातमें भोजन नहीं करना १, रत्नत्रयको धारण करना ३, इनको आदि लेकर शास्त्रोंमें श्रावकोंकी तिरेपन क्रियाएँ निरूपण की हैं उनका जो पालन करता है वह श्रावक है ।१५३।

७. श्रावकके अन्य कर्तव्य

त. सू./७/२२ मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ।२२। –तथा वह (श्रावक) मारणान्तिक संलेखनाका प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है ।२२। (सा. ध./७/५७)।

वसु. श्रा./३११ विणओ विज्जाविच्चं कायकिलेसो य पुज्जणविहाणं। सत्तीए जहजोग्गं कायव्वं देसविरएहिं ।३११। –देशविरत श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन विधान करना चाहिए ।३११।

पं. वि./६/२५, २६, ४२, ५६ पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः। वस्त्रपूतं पिबेत्तोयं .. ।२५। विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु। दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः ।२६। द्वादशापि चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः.. ।४२। आद्योत्तमक्षमा यत्र यो धर्मो दशभेदभाक्। श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम् ।५६। –पर्वके दिनोंमें यथाशक्ति भोजनके त्यागरूप अनशनादि तपोंको करना चाहिए। तथा वस्त्रसे छना जल पीना चाहिए ।२५। श्रावकोंको जिनागमके आश्रित होकर पंच परमेष्ठियों तथा रत्नत्रयके धारकोंकी यथायोग्य विनय करनी चाहिए ।२६। महात्मा पुरुषोंको अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिए ।४२। श्रावकोंको भी यथाशक्ति और आगमके अनुसार दशधर्मका पालन करना चाहिए ।५६।

सा. ध./ टिप्पणी/२/२४/पृ. ६५ आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिके प्रीतिरुच्चैः। पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या। तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यम्। तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः। –जिनेन्द्रदेवकी आराधना, गुरुके समीप विनय, धर्मात्मा लोगोंपर प्रेम, सत्पात्रोंको दान, विपत्तिग्रस्त लोगोंपर करुणा, बुद्धिसे दुख दूर करना, तत्त्वोंका अभ्यास, अपने व्रतोंमें लीन होना और निर्मल सम्यग्दर्शनका होना, ये क्रियाएँ जहाँ त्रिकरणसे चलती हैं वही गृहस्थधर्म विद्वानोंको मान्य है, इससे विपरीत गृहस्थ लोक और परलोकमें दुख देनेवाला है।

सा. ध./७/५५, ५६ स्वाध्यायमुत्तमं कुर्यादनुप्रेक्षाश्च भावयेत्। यस्तु मन्दायते तत्र, स्वकार्ये सः प्रमाद्यति ।५५। यत्प्रागुक्तं मुनीन्द्राणां, वृत्तं

तदपि सेव्यताम् । सम्यङ् निरूप्य पदवीं, शक्तिं च स्वामुपासकैः ।५६। —श्रावक आत्महितकारक स्वाध्यायको करे, बारह भावनाओंको भावे। परन्तु जो श्रावक इन कार्योंमें आलस्य करता है वह हित कार्योंमें प्रमाद करता है ।५५। पहले अनगार धर्मामृतमें कथित मुनियोंका जो चारित्र, उसको भी अपनी शक्ति व पदको समझकर श्रावकोंके द्वारा सेवन किया जाय ।५६।

पं. ध./उ./७३६-७४० जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानतया । यथा-संपद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ।७३६। अथ तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः । श्रावकः स तत्रापि संयमं न विराधयेत् ।७३८। संयमो द्विविधश्चैवं विधेयो गृहमेधिभिः । विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ।७४०। —अपनी सम्पत्तिके अनुसार मन्दिर बनवानेमें भी सावधानता करनी चाहिए, क्योंकि थोड़ा सा भी पाप इन कार्योंमें निंद्य नहीं है ।७३६। और वह श्रावक तीर्थादिककी यात्रामें भी मनको तत्पर करे, परन्तु उस यात्रामें अपने संयमको विराधित न करे ।७३८। गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिमा रूपसे वा बिना प्रतिमारूपसे दोनों प्रकारका संयम पालन करना चाहिए ।७४०।

ला. सं./५/१८५ यथा समितयः पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुप्तयः । अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तैः ।१८५। —अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिए पाँच समिति तथा तीन गुप्तियोंका भी एक देशरूपसे पालन करना चाहिए ।१८५।

दे. व्रत/२/४ महाव्रतकी भावनाएँ भानी चाहिए।

दे. पूजा/२/१ अर्हन्तादि पंच परमेष्ठीकी प्रतिमाओंकी स्थापना करावें। तथा नित्य जिनबिम्ब महोत्सव आदि क्रियाओंमें उत्साह रखे।

दे. चैत्यचैत्यालय/२/८ औषधालय, सदाव्रतशालाएँ तथा प्याऊ खुलवावे। तथा जिनमन्दिरमें सरोवर व फुलवाड़ी आदि लगवावे।

८. आवश्यक क्रियाओंका महत्त्व

दे. दान/४ चारों प्रकारका दान अत्यन्त महत्त्वशाली है।

र. सा./१२-१३ दाणुण धम्मुण चागुण भोगुण बहिरप्पो पयंगो सो। लोहकसायग्गिमुहे पडिउमरिउण संदेहो ।१२। जिण पूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण । सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ ।१३। —जो श्रावक सुपात्रको दान नहीं देता, न अष्टमूलगुण, गुणव्रत, संयम पूजा आदि धर्मका पालन करता है, न नीतिपूर्वक भोग भोगता है वह मिथ्यादृष्टि है। जैन धर्म धारण करनेपर भी लोभको तीव्र अग्निमें पतंगेके समान उड़कर मरता है। जो श्रावक अपनी शक्ति अनुसार प्रतिदिवस देव, शास्त्र, गुरु पूजा तथा सुपात्रमें दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावक इससे मोक्षमार्गमें शीघ्र गमन करता है ।१२-१३।

म. पु./३६/६६-१०१ ततोऽधिगतसज्जातिः सद्गृहित्वमसौ भजेत् । गृहमेधी भवन्नार्यषट्कर्माण्यनुपालयन् ।६६। यदुक्तं गृहचर्यायाम् अनुष्ठानं विशुद्धिमत् । तदाप्तविहितं कृत्स्नम् अतन्द्रालुः समाचरेत् ।१००। जिनेन्द्राल्लब्धसज्जन्मा गणेन्द्रैरनुशिक्षितः । स धत्ते परमं ब्रह्मवर्चसं द्विजसत्तम ।१०१। —जिसे सज्जाति क्रिया प्राप्त हुई है ऐसा वह भव्य सद्गृहित्व क्रियाको प्राप्त होता है। इस प्रकार जो सद्गृहित्व होता हुआ आर्य पुरुषोंके करने योग्य छह कर्मोंका पालन करता है, गृहस्थ अवस्थामें करने योग्य जो जो विशुद्ध आचरण कहे गये हैं अरहन्त भगवान्के द्वारा कहे गये उन-उन समस्त आचरणोंका जो आलस्य रहित होकर पालन करता है, जिसने श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्तम जन्म प्राप्त किया है, गणधर देवने जिसे शिक्षा दी है ऐसा वह उत्तम द्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज-आत्मतेजको धारण करता है ।६६-१०१।

९. कुछ निषिद्ध क्रियाएँ

पु. सि. उ./७७ स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां संपन्नयोग्यविषयाणाम् । शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ।७७। —इन्द्रियोंके विषयोंको न्याय पूर्वक सेवन करनेवाले श्रावकोंको कुछ आवश्यक एकेन्द्रियके घातके अतिरिक्त अवशेष स्थावर-एकेन्द्रिय जीवोंके मारनेका त्याग भी अवश्यमेव करने योग्य होता है ।७७।

दे. सावद्य/२ खर कर्म आदि सावद्य कर्म नहीं करने चाहिए।

वसु. श्रा./३१२ दिणपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेसु णत्थि अहियारो । सिद्धंत-रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं ।३१२। —दिनमें प्रतिमा योग्य धारण करना अर्थात् नग्न होकर कायोत्सर्ग करना, त्रिकाल-योग-गर्मीमें पर्वतोंके ऊपर, बरसातमें वृक्षके नीचे, सर्दीमें नदीके किनारे ध्यान करना, वीरचर्या—मुनिके समान गोचरी करना, सिद्धान्त ग्रन्थोंका—केवली श्रुतकेवली कथित, गणधर, प्रत्येक बुद्ध और अभिन्न दशपूर्वी साधुओंसे निर्मित ग्रन्थोंका अध्ययन करना और रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका भी अध्ययन करना, इतने कार्योंमें देश विरतियोंका अधिकार नहीं है ।३१२। (सा. ध./७/५०)।

सा. ध./४/१६ गवाद्यैर्नैष्ठिको वृत्तिं, त्यजेद्बन्धादिना विना । भोग्यान् वा तानुपेयात्तं, योजयेद्वा न निर्दयम् ।१६—नैष्ठिक श्रावक गौ बैल आदि जानवरोंके द्वारा अपनी आजीविकाको छोड़ें अथवा भोग करनेके योग्य उन गौ आदि जानवरोंको बन्धन ताडन आदिके बिना ग्रहण करें, अथवा निर्दयता पूर्वक बन्धन आदिको नहीं करें ।१६।

ला. सं./५/२२४, २६५ अश्वाद्यारोहणं मार्गे न कार्यं व्रतधारिणाम् । ईर्यासमितिसंशुद्धिः कुतः स्यात्तत्र कर्मणि ।२२४। छेदो नासादिछिद्रार्थः काष्ठमूलादिभिः कृतः । तावन्मात्रातिरिक्तं तन्नविधेयं प्रतिमान्वितैः ।२६५। —अणुव्रती श्रावकको घोड़े आदिकी सवारीपर चढ़कर चलनेमें उसके ईर्या समितिकी शुद्धि किस प्रकार हो सकती है ।२२४। प्रतिमा रूप अहिंसा अणुव्रतको पालन करनेवाले श्रावकोंको नाक छेदनेके लिए सूई, सूआ वा लकड़ी आदिसे छेद करना पड़ता है, वह भी उतना ही करना चाहिए जितनेसे काम चल जाये, इससे अधिक छेद नहीं करना चाहिए ।२६५।

१० सब क्रियाओंमें संयम रक्षणीय है

दे. श्रावक/४/७ में पं. ध—वह श्रावक तीर्थयात्रादिकमें भी अपने मनको तत्पर करे, परन्तु उस यात्रामें अपने संयमको विराधित करे।

श्रावकाचार—श्रावकोंके आचारके प्ररूपक कई ग्रन्थ श्रावकाचार नामसे प्रसिद्ध हैं यथा—१. आ. समन्तभद्र (ई. श० २) कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार। २. आ. योगेन्द्रदेव (ई. श. ६) कृत नवकार श्रावकाचार। ३. आ. अमितगति (ई. ६८३-१०२३) कृत श्रावकाचार। ४. आ. वसुनन्दि (ई. १०४३-१०५३) कृत श्रावकाचार। ५. आ. सकलकीर्ति (ई. १४३३-१४४२) कृत प्रश्नोत्तर श्रावकाचार। ६. पं. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) कृत सागार धर्मामृत। ७. आ. पद्मनन्दि नं. ७ (ई. १३०५) कृत श्रावकाचार। ...।

श्रावण द्वादशी व्रत—बारह वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष भाद्रपद शु. १२ को उपवास। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य (व्रत विधान सं./पृ. ८८)।

श्रिति—भ. आ./मू./१७१/३८८ जा उवरि-उवरि गुणपडिवत्ती सा भावदो सिदी होदि। दव्वसिदी णिस्सेणी सोवाणं आरुहंतस्स ।१७१। —सम्यग्दर्शन आदि शुद्ध गुणोंकी गुणित रूप उत्तरोत्तर उन्नतावस्थाको प्राप्त कर लेना यह भाव रूप श्रिति है। और कोई उच्च स्थानमें स्थित पदार्थ लेना चाहे तो निश्रेणीका अवलम्बन लेकर एक-एक सोपान पंक्ति क्रमसे चढ़ना वह द्रव्य श्रिति है।

श्री—१. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर दे. विद्याधर; २. हिमवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक५/४; ३. हिमवान् पर्वतस्थ पद्महृदकी स्वामिनी देवी—दे. लोक३/६; ४. रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक५/१३; ५. भरतके आर्य खण्डस्थ एक पर्वत—दे. मनुष्य/४।

श्रीकंठ—१. इसको राक्षस वंशीय राजा कीर्तिधवलने वानर द्वीप दिया था, जिससे आगे जाकर इसकी सन्ततिसे वानर वंशकी उत्पत्ति हुई।—दे. इतिहास/७/१२। २. वेदान्तकी शिवाद्वैत शाखाके प्रवर्तक—दे. वेदान्त/७।

श्रीकटन—भरतक्षेत्रस्थ आर्य खण्डके मलय पर्वतके निकटस्थ एक पर्वत—दे. मनुष्य/४।

श्रीकल्प—कालका प्रमाण विशेष। अपरनाम शिरःकंप।—दे. गणित/I/१/४।

श्रीकांता—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंमें स्थित वापियाँ।—दे. लोक/७।

श्रीचंद्र—पुराणसार संग्रह तथा दंसणकहारयणकरंड के कर्ता अपभ्रंश कवि। गुरु परम्परा—नन्दिसंघ देशीयगण में श्रीकीर्ति, श्रुतकीर्ति, सहस्रकीर्ति, वीरचन्द्र, श्रीचन्द्र। समय—ग्रन्थ रचनाकाल वि. ११२३ (ई. १०६६)। (ती./४/१३१)।

श्रीदत्त—१ भूतकालीन सप्तम तीर्थंकर-दे. तीर्थंकर/५। २. भगवान् महावीर की मूल परम्परा में लोहाचार्य के पश्चात एक अङ्गधारी। समय -वी. नि. ५६५-५८५ (ई. ३८—५८)। (दे. इतिहास/४/४)। ३. एक प्रसिद्ध जैन तार्किक दिगम्बराचार्य जिनका नामोल्लेख आ. विद्यानन्दि ने श्लोकवार्तिक में किया और आ. पूज्यपाद (ई. श. ६) तक ने जिनका स्मरण किया। कृति—जल्प निर्णय। समय—वि. श. ४-५ (ई. श. ४ का उत्तरार्ध)। (ती./२/४४१) (सि. वि./प्र. ११/पं. महेन्द्रकुमार)।

श्रीधर— १. गणित तथा ज्योतिष विद्या के विद्वान् दिगम्बराचार्य। कृति—गणितसार संग्रह, ज्योतिर्ज्ञानविधि, जातक तिलक, लीलावती (कन्नड़)। समय—रचनाकाल ई. ७११-८६५। (ती./३/१११) २. 'सुकुमाल चरिउ' के कर्ता अपभ्रंश कवि। समय—ग्रन्थ रचनाकाल ई. ११५१। (ती./३/१८८)। ३. पासणाह चरिउ तथा वड्ढमाण चरिउ के रचयिता एक भाग्य व पुरुषार्थ उभयवादी। हरियाणावासी बुध गोल्ह के पुत्र। समय—ग्रन्थ रचनाकाल वि. ११८१। (ती./४/१३४)। ४. 'भविसयत्त चरिउ' के रचयिता अपभ्रंश कवि दिगम्बर मुनि। माथुरवंशीय नारायण के पुत्र। समय—ग्रन्थ रचनाकाल वि १२००। (ती./४/१४५)। ५. 'सुकुमाल चरिउ' के रचयिता एक अपभ्रंश कवि गृहस्थ। साहु पार्थी के पुत्र। समय—ग्रन्थ रचनाकाल वि. १२०८। (ती./४/१४६)। ६. सेनसंघी मुनिसेन के शिष्य, काव्य शास्त्रज्ञ। कृति—विश्वलोचन कोश। (ती./३/१८८)। ७. भविष्यदत्त चरित्र तथा श्रुतावतार के रचयिता। समय—ई. श. १४। (ती./३/१८७)।

श्रीधरा—म.पु./५९/श्लोक—धरणीतिलक नगरके स्वामी अतिवेग विद्याधरकी पुत्री थी। अलका नगरके राजा दर्शकसे विवाही गयी (२२८-२३०)। अन्तमें दीक्षा ग्रहण कर तप किया (२३२) पूर्व भवके वैरी अजगरने इसे निगल लिया। (२३७) मर कर यह रुचक विमानमें उत्पन्न हुई (२३८)। यह मेरु गणधरका पूर्वका छठो भव है—दे. मेरु।

श्रीनंदन—प. पु./९२/श्लोक नं. श्री मन्यु आदि सप्तऋषियोंके पिता थे (४) प्रीतिकर भगवान्के केवलज्ञानके समय एक पुत्रको राज्य देकर सातों पुत्र सहित दीक्षा ग्रहण कर ली (६)। अन्तमें मोक्ष प्राप्त की (८)।

श्रीनंदि—नन्दि संघ देशीयगण के अनुसार आप सकल-चन्द्रके शिष्य तथा नयनन्दिके गुरु थे। आपके लिए ही श्री पद्मनन्दिने जम्बूदीव पण्णत्ति लिखी थी। अपरनाम रामनन्दि था। समय—वि. १०२५-१०८० ई. ९६८-१०२३), (ज. प./प्र. १३ A. N. Up.)। दे. इतिहास/७/५।

श्रीनाथ—अग्रोहाके राजा थे। समय—ई. १८६।

श्रीनिकेत—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

श्रीनिचय—१. पद्महृद में स्थित एक कूट।—दे. लोक/५/७; २. सप्तऋषियोंमेंसे एक—दे. सप्तऋषि।

श्रीनिवास—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

श्रीपाल—१. म. पु./सर्ग/श्लोक-पूर्व विदेहमें पुण्डरीकिणी नगरीका राजा था (४७/३-४)। पिता गुणपालके ज्ञानकल्याणमें जाते समय मार्गमें एक विद्याधर घोड़ा बनकर उड़ाकर ले गया, जाकर वनमें छोड़ा (४७/२०) घूमते-घूमते विदेशमें अनेकों अवसरों व स्थानोंपर कन्याओंसे विवाह करनेके प्रसंग आये परन्तु 'मैं माता आदि गुरुजनके द्वारा प्रदत्त कन्याके अतिरिक्त अन्य कन्यासे भोग न करूँगा' इस प्रतिज्ञाके अनुसार सबको अस्वीकार कर दिया (४७/२८-१५०)। इसके अनन्तर पूर्वभवकी माता यक्षी द्वारा प्रदत्त चक्र, दण्ड, छत्र आदि लेकर, उनके प्रभावसे पिताके समवसरणमें पहुँचा (४७/१६०-१६३)। इसके अनन्तर चक्रवर्तीके भोगोंका अनुभव किया (४७/१७३)। अन्तमें दीक्षा ग्रहणकर मोक्ष प्राप्त किया (४७/४४-४६)। २. चम्पापुर नगरके राजा अरिदमनका पुत्र था। मैना सुन्दरीसे विवाहा गया। कोढ़ी होनेपर मैना सुन्दरी कृत सिद्धचक्र विधानके गन्धोदकसे कुष्ठ रोग दूर हुआ। विदेशमें एक विद्याधरसे जलतरंगिणी व शत्रु निवारिणी विद्या प्राप्त की। धवल सेठके रुके हुए जहाजोंको चोरोंसे छुड़ाया। इनको रैनमंजूषा नामक कन्याकी प्राप्ति होनेपर धवल सेठ उसपर मोहित हो गया और इनको समुद्रमें गिरा दिया। तब ये लकड़ीके सहारे तिरकर कुंकुमद्वीपमें गये। वहाँपर गुणमाला कन्यासे विवाह किया। परन्तु धवलसेठके भाटों द्वारा इनकी जाति भाण्ड बता दी जानेपर इनको सूलीकी सजा मिली। तब रैनमंजूषाने इनको छुड़ाया। अन्तमें दीक्षा ग्रहणकर मोक्ष प्राप्त किया (श्रीपाल चरित्र)। ३. पंचस्तूप संघ में वीरसेन स्वामी (ई. ७७०-८२७) के शिष्य और जिनसेन (ई. ८१८-८७८) के सधर्मा। समय—(लगभग ई. ८००-८४३) वि. श. ९। (ती./२/४५२) (दे. इतिहास/७/७)। ४. द्रविड़ संघी गोणसेन के शिष्य और देवकीर्ति पण्डित के गुरु। अनन्तवीर्य के सधर्मा। समय—ई. ९७५-१०२५। (सि. वि./प्र./७७/पं. महेन्द्र)। ५. एक राजा जिनके निमित्त नेमिचन्द्र सिद्धान्तिकदेव ने द्रव्य संग्रह की रचना की थी। समय—वि. ११००-११४० (ई. १०४३-१०८३) (द्र./प्र. २/पं. पन्नालाल)।

श्रीपाल चरित्र—१. सकलकीर्तिकृत संस्कृत छन्दोबद्ध। समय—ई. १४०६-१४४२। (ती./३/३३३)। २. भट्टारक श्रुतसागर (ई. १४८७-१४९९) कृत संस्कृत गद्य रचना। (ती./३/४००)। ३. कवि परिमल्ल (ई. १५९४) कृत। ४. ब्र. नेमिदत्त (वि. १५८५, ई. १५२८) कृत। (जै./२/३७८)। (ती./३/४०४)। ५. वादिचन्द्र (वि. १६३७-१६६४) कृत हिन्दी गीत काव्य। (ती./४/७२)। ६. पं. दौलत राम (ई. १७२०-१७७२) कृत भाषा ग्रन्थ।

श्रीपाल वर्णी—इन्होंने शुभचन्द्राचार्यको अध्यात्म तरंगिनी लिखनेमें सहायता दी थी। समय—वि. १६११ (ई. १५५४). (का. अ./प्र. ८३। A. N. Up.)।

श्रीपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

श्रीपुरुष—राजा पृथिवी कोङ्गणिका दूसरा नाम श्रीपुरुष था। आप गंगवंशी नरेश थे। समय - वि. ८३३ (ई. ७७६), (भ आ./प्र. १९ प्रेमी जी)।

श्रीप्रभ—१. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणिका एक नगर—दे. विद्याधर; २. दक्षिण पुष्कर समुद्रका रक्षक व्यंतर देव—दे. व्यंतर/४।

श्रीभद्र—भूतकालीन २३ वें तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५।

श्रीभद्रा—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंमें स्थित वापी—दे. लोक/५/६।

श्रीभूषण—शान्तिनाथ पुराण, पाण्डव पुराण, द्वादशांग पूजा तथा प्रबोध चिन्तामणि के कर्ता एक भट्टारक। समय–वि. १६३६-१६७६। (ती./४/४११)।

श्रीमंडप भूमि—समवशरणकी आठवीं भूमि—दे. समवशरण।

श्रीमति—१. म पु./सर्ग/श्लोक—पुण्डरीकिणी नगरीके राजा वज्रदन्तकी पुत्री थी (६/६०)। पूर्वभवका पति मरकर इसकी बुआका लड़का हुआ। जातिस्मरण होनेसे उसको ढूँढने आयी (६/६१)। जिस किस प्रकार खोज निकालकर उससे विवाह किया (६/१०५)। एक दिन मुनियोंको आहार देकर भोगभूमिकी आयुका बन्ध किया (८/१७३)। एक समय शयनागारमें सुगन्धित द्रव्यके घुटनेसे आकस्मिक मृत्यु हो गयी (९/२७)। तथा भोगभूमिमें जन्म लिया (९/३३)। यह श्रेयांस राजाका पूर्वका सातवाँ भव है।—दे. श्रेयांस; २. जिनदत्त चरित्र/सर्ग/श्लोक—सिंघल द्वीपके राजा घनवाहनकी पुत्री थी। इसको ऐसा रोग था जो इसके पास रहता वह मर जाता था। इसी कारण इसके पिताने इसे पृथक् महल दे दिया (४/८) एक दिन एक बुढ़ियाके पुत्रकी बारी आनेपर जिनदत्त नामक एक लड़का स्वयं इसके पास गया। और रात्रिको इसके मुँहमें से निकले सर्पको मारकर इसको बिवाहा (८/१५-२६)। इसपर मोहित होकर सागरदत्तने जिनदत्तको समुद्रमें गिरा दिया। यह अपने शीलपर दृढ़ रही और मन्दिरमें रहने लगी (५/८)। कुछ समय पश्चात इसका पति आ गया (७/२४) अन्तमें दीक्षा धारण कर ली। समाधिपूर्वक कापिष्ठ स्वर्गमें देव हुई (९/११२)।

श्रीमन्यु—सप्तऋषियोंमेंसे एक—दे. सप्तऋषि।

श्रीमहिता—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंमें स्थित वापी। —दे. लोक/५/६।

श्रीवंश— एक पौराणिक राजवंश-दे. इतिहास/१०/१५।

श्रीवर्मा—म. पु./५४/श्लोक—पुष्कर द्वीपके पूर्व मेरुकी पश्चिम दिशामें सुगन्धि नामक देशके श्रीपुर नगरके राजा श्रीषेण (९/३७) का पुत्र था (९८)। एक समय विरक्त हो दीक्षा ले ली, तथा संन्यास मरणकर (८०-८१) स्वर्गमें देव हुआ (८२)। यह चन्द्रप्रभ भगवान्का पूर्वका पाँचवाँ भव है।—दे. चन्द्रप्रभ।

श्रीवल्लभ—दक्षिणमें लाट देशके राजा कृष्णराज प्रथमका पुत्र था, तथा ध्रुव राजाका बड़ा भाई था। कृष्णराज प्रथमका नाम गोविन्द प्रथम था, इसी कारण इनका नाम गोविन्द द्वितीय भी था। यह वर्धमानपुरकी दक्षिण दिशामें राज्य करता था। अमोघवर्षके पिता जगत्तुंगने इसे इन्द्रराजकी सहायतासे युद्धमें परास्त करके इसका राज्य छीन लिया था। इसीके समयमें आ, जिनसेनने अपना हरिवंश पुराण लिखना प्रारम्भ किया था। समय—श. ६९४-७१६ (ई. ७७२-७९४); (ह. पु./६६/५२-५३); (ह. पु./प्र. ५ पं. पन्नालाल)।—दे. इतिहास/3/४।

श्रीविजय—म. पु./६१/श्लोक त्रिपृष्ठ नारायणका पुत्र था (१५३)। एक बार राज्य सिंहासन पर वज्रपात गिरनेकी भविष्यवाणी सुनकर (१७२-१७३) सिंहासन पर स्फटिक मणिकी प्रतिमा विराजमान कर दी। और स्वयं चैत्यालयमें जाकर शान्ति विधान करने लगा। (२१९-२२१)। फिर सातवें दिन वज्रपात यक्षमूर्तिपर पड़ा (२२२)। एक समय इनकी स्त्रीको अशनिघोष विद्याधर उठाकर ले गया और स्वयं सुताराका वेष बनाकर बैठ गया (२३३-२३४) तथा बहाना किया कि मुझे सर्पने डस लिया, तब राजाने चिताकी तैयारी की (२३५-२३७)। इसके साले अमिततेजके आश्रित राजा संभिन्नसे ठीक-ठीक वृत्तान्त जान (२३८-२४६) अशनिघोषके साथ युद्ध किया (६८-८०)। अन्तमें शत्रु समवशरणमें चला गया, तब वहींपर इन्होंने अपनी स्त्रीको प्राप्त किया (२८४-२८५)। अन्तमें समाधिमरण कर तेरहवें स्वर्गमें मणिचूल नामक देव हुआ (४१०-४११)। यह शान्तिनाथ भगवान्के प्रथम गणधर चक्रायुधका पूर्वका १०वाँ भव है। —दे. चक्रायुध।

श्रीवृक्ष—१. कुण्डल पर्वतस्थ मणिकूटका स्वामी नागेन्द्र देव—दे. लोक/५/१२; २. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे लोक/५/१३।

श्रीशैल—हनुमान्का अपरनाम है—दे. हनुमान्।

श्रीषेण—म पु /६२/श्लोक मगध देशका राजा था (३४०)। आदित्यगति नामक मुनिको आहार देकर भोगभूमिका बन्ध किया (३४८-३५०)। एक समय पुत्रोंका परस्पर युद्ध होनेपर विष खाकर मर गया (३५२-३५५)। यह शान्ति नाथ भगवान्का पूर्वका ११वाँ भव है। - दे. शान्तिनाथ।

श्रीसंचय—पद्महदके वनमें स्थित एक कूट—दे. लोक/५/७।

श्रीसौध—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे. विद्याधर।

श्रीहर्ष—वेदान्त सिद्धान्तमें खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रन्थके कर्ता। समय—ई. ११५०।—दे. वेदान्त।

श्रुतकीर्ति—१. नन्दिसंघ बलात्कारगण त्रिभुवन कीर्ति के शिष्य। कृतियें–हरिवंश पुराण, धर्म परीक्षा, परमेष्ठी प्रकाशसार, योगसार। समय—हरिवंश रचनाकाल वि. १५५२। दे. इतिहास/७/४); (ती./३/४३०)। २. नन्दिसंघ देशीयगण, माघनन्दि कोल्हापुरीय के शिष्य एक महावादी। श्वेताम्बराचार्य देवेन्द्र सूरि को परास्त किया। कृति–काव्य राघव पाण्डवीय। समय–(ई. ११३६-११६३)। (दे. इतिहास/७/५); (ष. सं. २/प्र.४/H. L. Jain)।

श्रुतकेवली—ज्ञान स्वरूप होनेके कारण आत्मा स्वयं ज्ञेयाकार स्वरूप है। इसलिए आत्माको जाननेसे ही सकल विश्व प्रत्यक्ष रूपसे जाना जाता है। अतः केवल आत्माको जाननेवाला अथवा सकलश्रुतको जाननेवाला ही श्रुतकेवली है। इसीसे १० या १४ अंगोंके जाननेसे भी श्रुतकेवली कहलाता है और केवल समिति गुप्तिरूप अष्ट प्रवचन मात्रको जाननेसे भी श्रुतकेवली कहलाता है।

१. दश व चतुर्दश पूर्वी निर्देश

१. चतुर्दश पूर्वीका लक्षण

ति. प /४/१००१ सयलागमपारगया सुदकेवलिणामसुप्पसिद्धा जे। एदाण बुद्धिरिद्धी चोद्दसपुव्वि त्तिणामेण।१००१। —जो महर्षि सम्पूर्ण आगमके पारंगत हैं और श्रुतकेवली नामसे प्रसिद्ध हैं उनके चौदहपूर्वी नामक बुद्धि ऋद्धि होती है।१००१।

रा. वा./३/३६/३/२०२/६ सम्पूर्ण श्रुतकेवलिता चतुर्दशपूर्वित्वम्। —पूर्ण श्रुतकेवली हो जाना चतुर्दशपूर्वित्व है। (ध. ६/४,१,१३/-७०/७)।

चा. सा./२१४/२ श्रुतकेवलिनो चतुर्दशपूर्वित्वम्। —श्रुतकेवलीके चतुर्दशपूर्वित्व नामकी ऋद्धि होती है।

२. दशपूर्वीका लक्षण

ति. प./४/९९८-१००० रोहिणिपहुदीणमहाविज्जाणं देवदाउ पंचसया। अंगुट्ठपसेणाइं खुद्दअविज्जाण सत्तसया।९९८। एत्तूण पेसणाइं दसम-पुव्वपढणम्मि। णेच्छंति संजमता ताओ जेते अभिण्णदसपुव्वी।।९९९। भुवणेसु सुप्पसिद्धा विज्जाहरसमणणामपज्जाया। ताण मुणीण बुद्धी दसपुव्वी णाम बोद्धव्वा।१०००। —दसवें पूर्वके पढ़नेमें रोहिणी प्रभृति महाविद्याओंके पाँच सौ और अंगुष्ठ प्रसेनादिक (प्रश्नादिक) क्षुद्र विद्याओंके सात सौ देवता आकर आज्ञा माँगते हैं। इस समय जो महर्षि जितेन्द्रिय होनेके कारण उन विद्याओंकी इच्छा नहीं करते हैं, 'वे विद्याश्रमण' इस पर्याय नामसे भुवनमें प्रसिद्ध होते हुए अभिन्नदशपूर्वी कहलाते है। उन मुनियोंकी बुद्धिको दशपूर्वी जानना चाहिए।९९८-१०००।

रा. वा./३/३६/३/२०२/७ महारोहिण्यादिभिरागताभिः प्रत्येकमात्मीयरूपसामर्थ्याविष्करणकथनकुशलाभिर्वेगवतीभिर्विद्यादेवताभि-रविचलितचारित्रस्य दशपूर्वदुस्तरसमुद्रोत्तरणं दशपूर्वित्वम्। —महारोहिण्यादि लौकिक विद्याओंके प्रलोभनमें न पड़कर दशपूर्वका पाठी होता है वह दशपूर्वित्व है। (चा. सा./२१४/१)।

३. भिन्न व अभिन्न दशपूर्वीके लक्षण

ध. ९/४,१,१२/६९/५;७०/१ एत्थ दसपुव्विणो भिण्णाभिण्णभेएण दुविहा होंति। तत्थ एक्कारसंगाणि पढिदूण पुणो परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-पुव्वगयचूलिया त्ति पंचाहियारणिबद्धदिट्ठिवादे पढिज्जमाणे उप्पादपुव्वमादिं कादूण पढंताणं दसपुव्वीए विज्जाणु-पवादे समत्ते रोहिणीआदिपंचसयमहाविज्जाओ अंगुट्ठपसेणादि सत्तसयदहरविज्जाहि अणुगयाओ किं भयवं आणवेदि त्ति ढुक्कंति। एवं ढुक्काणं सव्वविज्जाणं जो लोभं गच्छदि सो भिण्णदसपुव्वी। जो ण तासु लोभं करेदि कम्मक्खयत्थी होंतो सो अभिण्णदसपुव्वी णाम (६९/५)। ण च तेसिं (भिण्णदसपुव्वीणं) जिणत्तमत्थि, भग्गमहव्वएसु जिणत्ताणुववत्तीदो।—यह भिन्न और अभिन्नके भेदसे दशपूर्वी दो प्रकार हैं। उनमें ११ अंगोंको पढ़कर पश्चात् परिकर्म सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इन पाँच अधिकारोंमें निबद्ध दृष्टिवादके पढ़ते समय उत्पाद पूर्वको आदि करके पढ़ने वालेके दशमपूर्व विद्यानुवादके समाप्त होनेपर अंगुष्ठ प्रसेनादि सात सौ क्षुद्र विद्याओंसे अनुगत रोहिणी आदि पाँच सौ महा विद्याएँ 'भगवान् क्या आज्ञा देते हैं' ऐसा कहकर उपस्थित होती हैं। इस प्रकार उपस्थित हुई सब विद्याओंके लोभको प्राप्त होता है वह भिन्न-दशपूर्वी है। किन्तु जो कर्मक्षयका अभिलाषी होकर उनमें लोभ नहीं करता है वह अभिन्नदशपूर्वी कहलाता है। भिन्न-दशपूर्वियोंके जिनत्व नहीं हैं, क्योंकि जिनके महाव्रत नष्ट हो चुके हैं उनमें जिनत्व घटित नहीं होता। (भ. आ./वि./३४/-१२५/१४)।

४. चतुर्दशपूर्वीको पीछे नमस्कार क्यों

ध. ९/४,१,१२/७०/३ चोद्दसपुव्वहराणं णमोक्कारो किण्ण कदो। ण, जिणवयणपच्चयट्ठाणपदुप्पायणदुवारेण दसपुव्वीणं चागमहप्पपदरि-सणट्ठं पुव्वं तण्णमोक्कारकरणादो। सुदपरिवाडीए वा पुव्वं दस-पुव्वीणं णमोक्कारो कदो। —प्रश्न—चौदह पूर्वोंके धारकोंको पहले नमस्कार क्यों नहीं किया? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिनवचनोंपर प्रत्यय स्थान अर्थात् विश्वास उत्पादन द्वारा दशपूर्वियोंके त्यागकी महिमा दिखलानेके लिए पूर्वमें उन्हें नमस्कार किया है। अथवा श्रुतकी परिपाटीकी अपेक्षासे पहले दशपूर्वियोंको नमस्कार किया गया है।

५. चौदहपूर्वी अप्रतिपाती हैं

ध. ९/४,१,१३/७१/६ चोद्दसपुव्वहरो मिच्छत्तं ण गच्छदि, तम्हि भवे असंजमं च ण पडिवज्जदि, एसो एदस्स विसेसो। —चौदह पूर्वका धारक मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता, और उस भवमें असंयमको भी नहीं प्राप्त होता, यह इसकी विशेषता है।

२. निश्चय व्यवहार श्रुतकेवली निर्देश

१. श्रुतकेवलीका अर्थ आगमज्ञ

स. सा./मू./१० जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा। णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा।१०। —जो जीव सर्व श्रुतज्ञानको जानता है उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि ज्ञान सब आत्मा ही है इसलिए वह श्रुतकेवलीके है।१०।

स. सि./९/३७/४५३ '४ पूर्वविदो भवतः श्रुतकेवलिन इत्यर्थः। —पूर्व-विद् अर्थात् श्रुतकेवलीके होते हैं।

म. पु./२/६१ प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च द्विधा ते ज्ञानपर्ययः। केवलं केवलि-न्येकस्ततस्त्वं श्रुतकेवली।६१। —(श्रेणिक राजा गौतम गणधरकी इस प्रकार स्तुति करते हैं।) हे देव! केवली भगवान्‌में मात्र एक केवल ज्ञान ही होता है और आपमें प्रत्यक्ष परोक्षके भेदसे दो प्रकारका ज्ञान विद्यमान है। इसलिए आप श्रुतकेवली कहलाते हैं।६१।

भ. आ./वि./३४/१२५/१२ सुदकेवलिणा समस्तश्रुतधारिणा कथितं चेति। —द्वादशांग श्रुतज्ञानको धारण करने वाले महर्षियोंको श्रुत-केवलि कहते हैं। (और भी दे० श्रुतकेवली/१/१)।

२. श्रुतकेवलीका अर्थ आत्मज्ञ

स. सा./मू./९ जो हि सुएण हि गच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं। तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा।९। —जो जीव निश्चयसे (वास्तवमें) श्रुतज्ञानके द्वारा इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्माको सम्मुख होकर जानता है, उसे लोकको प्रगट करने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं।९।

प्र. सा./मू./३३ जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण। तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।३३। —जो वास्तवमें श्रुतज्ञानके द्वारा स्वभावसे ज्ञायक (ज्ञायकस्वभाव) आत्माको जानता है उसे लोकके प्रकाशक ऋषीश्वरगण श्रुतकेवली कहते हैं।

३. श्रुतकेवलीके उत्कृष्ट व जघन्य ज्ञानकी सीमा

स. सि./९/४७/४६१/८ श्रुतं—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणा-भिन्नाक्षरदशपूर्वधराः। कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु। बकुशकुशीला निर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः। स्नातका अपगतश्रुताः केवलिनः। —श्रुत—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील उत्कृष्ट रूपसे अभिन्नाक्षर दश पूर्वधर होते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्वधर होते हैं। जघन्य रूपसे पुलाकका श्रुत आचार वस्तु प्रमाण होता है। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थोंका श्रुत आठ प्रवचन मातृका प्रमाण होता है। स्नातक श्रुतज्ञानसे रहित केवली होते हैं। (रा. वा./९/४७/४/६३८/१), (चा. सा./१०३/४)।

दे. ध्याता/१ उत्सर्ग रूपसे १४ पूर्वोंके द्वारा और अपवाद रूपसे अष्ट प्रवचन मातृकाका मात्र ज्ञानसे ध्यान करना सम्भव है।

दे० शुक्लध्यान/३/१,२ पृथक्त्व व एकत्व वितर्क ध्यान १४,१० व ६ पूर्वा-कों होते हैं।

४. मिथ्यादृष्टि साधुको ११ अंग तक भाव ज्ञान सम्भव है

ला. सं./५/१८-२० एकादशाङ्गपाठोऽपि तस्य स्याद् द्रव्यरूपतः। आत्मानुभूतिशून्यत्वाद्भावतः संविदुज्झितः ।१८। न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थतः। यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञानं विन्दन्ति केचन ।१९। ततः पाठोऽस्ति तेषूच्चैः पाठस्याप्यस्ति ज्ञातृता। ज्ञातृतायां च श्रद्धानं प्रतीतो रोचनं क्रिया ।२०। —कोई 'मिथ्यादृष्टि मुनि ११ अंगके पाठी होते हैं, महाव्रतादि क्रियाओंको बाह्यरूपसे पूर्णतया पालन करते हैं, परन्तु उन्हें अपने शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होता, इसलिए वे परिणामोंके द्वारा सम्यग्ज्ञानसे रहित हैं ।१८। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि 'मिथ्यादृष्टिको ११ अंग-का ज्ञान केवल पठन मात्र होता है, उसके अर्थोंका ज्ञान उसको नहीं होता ? क्योंकि शास्त्रोंमें यह कथन आता है कि ऐसे मिथ्या-दृष्टियोंके उपदेशसे अन्य कितने ही भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान हो जाता है ।१८। इससे सिद्ध होता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोंके ग्यारह अंगोंका ज्ञान पाठमात्र भी होता है और उसके अर्थोंका ज्ञान भी होता है, उस ज्ञानमें श्रद्धान होता है, प्रतीति होती है, रुचि होती है और पूर्ण क्रिया होती है।

★ श्रुतज्ञानीमें भावश्रुत इष्ट है—दे० श्रुतकेवली/२/४।

५. श्रुतज्ञान सर्वग्राहक कैसे

ध. ६/४,१,७/२७/१ णासेसपयत्था सुदणाणेण परिछिज्जंति,—पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो ।१७। इदि वयणादो त्ति उत्ते होदु णाम सयलपयत्थाणमणंतिमभागो दव्वसुदणाणविसओ, भावसुदणाण-विसओ पुण सयलपयत्था; अण्णहा तित्थयराणं वागदिसयत्ता भाव-प्पसंगादो। [तदो] बीजपदपरिच्छेदकारिणी बीजबुद्धि त्ति सिद्धं। —प्रश्न—श्रुतज्ञान समस्त पदार्थोंको नहीं जानता है, क्योंकि, वचनके अगोचर ऐसे जीवादिक पदार्थोंके अनन्तवें भाग प्रज्ञापनीय अर्थात् तीर्थंकरकी सातिशय दिव्यध्वनिमें प्रतिपाद्य होते हैं। तथा प्रज्ञापनीय पदार्थोंके अनन्तवें भाग द्वादशांग श्रुतके विषय होते हैं ? इस प्रकारका वचन है ? उत्तर—इस प्रश्नके उत्तर-में कहते हैं कि समस्त पदार्थोंका अनन्तवाँ भाग द्रव्य श्रुतज्ञानका विषय भले ही हो, किन्तु भाव श्रुतज्ञानका विषय समस्त पदार्थ है, क्योंकि ऐसा माननेके बिना तीर्थंकरोंके वचनातिशयके अभावका प्रसंग होगा। [इसलिए] बीजपदोंको ग्रहण करनेवाली बीजबुद्धि है, यह सिद्ध हुआ।

६. जो एकको जानता है वही सर्वको जानता है

स. सा./मू./१५ जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं। अप-देससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।१५। —जो पुरुष आत्मा-को अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य अविशेष (तथा उपलक्षणसे नियत और असंयुक्त) देखता है—वह जिन शासन बाह्य श्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञान रूप भाव श्रुतवाला है ।१५।

यो. सा. यो./६५ जो अप्पा सुद्ध वि मुणइ असुइ सरीरविभिण्णु। सो जाणइ सत्थइं सयल सासय-सुक्खहं लीणु ।६५। —जो आत्माको अशुचि शरीरसे भिन्न समझता है, वह शाश्वत सुखमें लीन होकर समस्त शास्त्रोंको जान जाता है ।६५।

न.च./श्रुत./३/६८ पर एको भावः सर्वभावस्वभावः। सर्वे भावा एकभाव-स्वभावाः। एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ।१। —एक भाव सर्व भावोंके स्वभावस्वरूप है और सर्व भाव एक भावके स्वभावस्वरूप है; इस कारण जिसने तत्त्वसे एक भावको जाना उसने समस्त भावोंको यथार्थतया जाना। (ज्ञा./३५/१३/पृ. ३४४ पर उद्धृत)।

का. अ./मू./४६४ जो अप्पाणं जाणदि असुइ-सरीरा दु तच्चदो भिण्णं। जाणग-रूव सरूवं सो सत्थं जाणदे सव्वं ।४६५। —जो अपनी आत्मा-को इस अपवित्र शरीरसे निश्चयसे भिन्न तथा ज्ञापक स्वरूप जानता है वह सब शास्त्रोंको जानता है ।४६५।

★ जो सर्वको नहीं जानता वह एकको भी यथार्थ नहीं जानता —दे. केवलज्ञान/४/१।

७. निश्चय व्यवहार श्रुतकेवलीका समन्वय

प. प्र./मू./१/९९ जोइय अप्पें जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ। अप्पहं केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ। —हे योगी ! एक अपने आत्माके जाननेसे यह तीन लोक जाना जाता है, क्योंकि आत्माके भावरूप केवलज्ञानमें यह लोक प्रतिबिंबित हुआ बस रहा है।

स. सा./आ./९-१० यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुत-केवलीति तावत्परमार्थो, यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः। तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा। न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थ-पञ्चतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः। ततो गत्यन्तराभावात् ज्ञानमा-त्मेत्यायाति। अतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात्। एवं सति यः आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति, स तु परमार्थ एव। एवं ज्ञानज्ञानि-नोर्भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते, न किंचिदप्यतिरिक्तम्। अथ च यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेना-त्मानं प्रतिष्ठापयति ।९-१०। —प्रथम, जो श्रुतसे केवल शुद्धात्माको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं वह तो परमार्थ है; और जो सर्व श्रुतज्ञान-को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं यह व्यवहार है। यहाँ दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं—उपरोक्त सर्वज्ञान आत्मा है या अनात्मा ? यदि अनात्माका पक्ष लिया जाये तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि जो समस्त जड़ रूप अनात्मा आकाशादिक पाँच द्रव्य हैं, उनका ज्ञानके साथ तादात्म्य बनता ही नहीं। (क्योंकि उनमें ज्ञान सिद्ध नहीं है) इसलिए अन्यपक्षका अभाव होनेसे 'ज्ञान आत्मा ही है, यह पक्ष सिद्ध हुआ। इसलिए श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है। ऐसा होनेसे जो आत्मा-को जानता है वह श्रुतकेवली है' ऐसा ही घटित होता है; और वह तो परमार्थ ही है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानीके भेदसे कहनेवाला जो व्यवहार है, उससे भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है; उससे भिन्न कुछ नहीं कहा जाता। और जो श्रुतसे केवल शुद्ध आत्माको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं, इस प्रकार परमार्थका प्रतिपादन करना अशक्य होनेसे, 'जो सर्व श्रुतज्ञानको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं' ऐसा व्यवहार परमार्थके प्रतिपादकत्वसे अपनेको दृढ़ता पूर्वक स्थापित करता है।

पं. वि./१/१५८ ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं जीवस्य नार्थान्तरं—शुद्धादेश-विवक्षया स हि ततश्चिद्रूप इत्युच्यते। पर्यायैश्च गुणैश्च साधु विदिते तस्मिन् गिरा-सद्गुरोर्ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः ।१५८। —शुद्ध नयकी अपेक्षा समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला ज्ञान और दर्शन ही जीवका स्वरूप है जो उस जीवसे पृथक् नहीं है। इससे भिन्न कोई दूसरा जीवका स्वरूप नहीं हो सकता है। अतएव वह चिद्रूप अर्थात् चेतन स्वरूप ऐसा कहा जाता है। उत्तम गुरुके उपदेशसे अपने गुणों और पर्यायोंके साथ उस ज्ञान

दर्शन स्वरूप जीवके भले प्रकार जान लेनेपर योगियोंने क्या नहीं जाना, क्या नहीं देखा, और क्या नहीं प्राप्त किया? अर्थात् सब कुछ जान, देख व प्राप्त कर लिया।१६१।

स.सा./ता. वृ./९-१०/२२/१ अयमत्रार्थः—यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति। यस्तु स्वशुद्धात्मानं न संवेदयति न भावयति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति।—यहाँ यह तात्पर्य है कि—जो भावश्रुत रूप स्व संवेदन ज्ञानके बलसे शुद्ध आत्माको जानता है वह निश्चय श्रुतकेवली है। और जो शुद्धात्माका न संवेदन करता है—न भावना भाता है, परन्तु बाह्य द्रव्य श्रुतको जानता है वह व्यवहार श्रुतकेवली है।

प. प्र./टी./१/९९/९४/१ वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मतत्त्वे ज्ञाते सति समस्तद्वादशाङ्गस्वरूपं ज्ञातं भवति। कस्मात्। यस्माद्राघवपाण्डवादयो महापुरुषा जिनदीक्षां गृहीत्वा द्वादशाङ्गं पठित्वा द्वादशाङ्गाध्ययनफलभूते निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मध्याने तिष्ठन्ति तेन कारणेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन निजात्मनि ज्ञाते सति सर्वं ज्ञातं भवतीति। अथवा निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दसुखरसास्वादे जाते सति पुरुषो जानाति। किं जानाति। वेत्ति मम स्वरूपमन्यद्देहरागादिकं परमिति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति। अथवा आत्मा कर्ता श्रुतज्ञानरूपेण व्याप्तिज्ञानेन कारणभूतेन सर्वं लोकालोकं जानाति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति। अथवा वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिबलेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन केवलज्ञाने जाते सति दर्पणे बिम्बवत् सर्वं लोकालोकस्वरूपं विज्ञायत इति हेतोरात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति।—वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानसे शुद्धात्म तत्त्वके जाननेपर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है। क्योंकि जैसे—१. रामचन्द्र, पाण्डव, भरत, सगर आदि महान् पुरुष भी जिनराजकी दीक्षा लेकर द्वादशांगको पढकर द्वादशांग पढनेका फल निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध आत्माके ध्यानमें लीन हुए थे। इसलिए वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानसे जिन्होंने अपनी आत्माको जाना उन्होंने सबको जाना। २. अथवा निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुख रस उसके आस्वाद होनेपर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है कि मेरा स्वरूप पृथक् है, और देहरागादिक मेरेसे दूसरे हैं, इसलिए परमात्माके जाननेसे सब भेद जाने जाते हैं, जिसने अपने आत्माको जाना उसने सर्व भिन्न पदार्थ जाने। ३. अथवा आत्मा श्रुतज्ञान रूप व्याप्ति ज्ञानसे सब लोकालोकको जानता है, इसलिए आत्माके जाननेसे सब जाना गया। ४. अथवा वीतराग निर्विकल्प परम समाधिके बलसे केवलज्ञानको उत्पन्न करके जैसे दर्पणमें घट पट आदि पदार्थ झलकते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पणमें सब लोकालोक भासते हैं। इससे यह बात निश्चित हुईकि आत्माकेजाननेपर सब जाना जाता है।

दे. अनुभव/५ अल्प भूमिकामें कथंचित शुद्धात्माका अनुभव होता है।

दे. दर्शन/२/७ दर्शन द्वारा आत्माका ज्ञान होनेपर उसमें प्रतिबिम्बित सब पदार्थोंका ज्ञान भी हो जाता है।

दे. केवलज्ञान/६/६ (ज्ञेयाकारोंसे प्रतिबिम्बित निज आत्माको जानता है)

★ पूर्व श्रुतकेवलीवत् वर्तमानमें भी सम्भव है।

—दे. अनुभव/५/८।

श्रुतज्ञान—इन्द्रियों द्वारा विवक्षित पदार्थको ग्रहण करके उससे सम्बन्धित अन्य पदार्थको जानना श्रुतज्ञान है। वह दो प्रकारका है—अर्थलिंगज व शब्दलिंगज। पदार्थको जानकर उसमें इष्टता अनिष्टताका ज्ञान अथवा धूमको देखकर अग्निका ज्ञान अर्थलिंगज श्रुतज्ञान है। वाचक शब्दको सुनकर या पढकर वाच्यका ज्ञान शब्दलिंगज है। वह लौकिक भी होता है लोकोत्तर भी। लोकोत्तर श्रुतज्ञान १२ अंग १४ पूर्वों आदि रूपसे अनेक प्रकार है। पहला अर्थलिंगज तो क्षुद्र जीवोंसे लेकर क्रमसे वृद्धिगत होता हुआ ऋद्धिधारी मुनियों तकको होता है। पर दूसरा अर्थलिंगज व शब्दलिंगज संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंको ही सम्भव है। श्रुतकेवलीको यह उत्कृष्ट होता है।

I श्रुतज्ञान सामान्य निर्देश

१. भेद व लक्षण

१. श्रुतज्ञान सामान्यका लक्षण

१. सामान्य अर्थ

स. सि./अ./सू./पृ./पं. श्रूयते अनेन तत् शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम् (१/९/९४/१) श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रूढिवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञानविशेषे वर्तते। यथा कुशलवनकर्म प्रतीत्य व्युत्पादितोऽपि कुशलशब्दो रूढिवशात्पर्यवदाते वर्तते (१/२०/१२०/४) श्रुतज्ञानविषयोऽर्थः श्रुतम् (२/२१/१७९/७)। विशेषेण तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः (९/४३/४५५/६)।—१. पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुनना मात्र श्रुत कहलाता है (रा. वा./१/९/२/४४/१०)। २. यह श्रुत शब्द सुनने रूप अर्थकी मुख्यतासे निष्पादित है तो भी रूढिसे उसका वाच्य कोई ज्ञान विशेष है। जैसे—कुशल शब्दका व्युत्पत्ति अर्थ कुशाका छेदना है तो भी रूढिसे उसका अर्थ पर्यवदात अर्थात् विमल या मनोज्ञ लिया जाता है। (रा. वा./१/२०/१/७०/२१); (ध. ९/४,१,४५/१६०/५); (गो. जी./जी. प्र./३१५/६७३/१७) ३. श्रुतज्ञानका विषयभूत अर्थ श्रुत है। (रा. वा./२/२१/-/१३४/१८) ४. विशेष रूपसे तर्कणा करना अर्थात् ऊहा करना वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान कहलाता है। (रा. वा./९/४३/-६३४/६), (त. सा./१/२४), (अन. ध./१/१/५ पर उद्धृत)।

का. अ./मू./२६२ सव्वं पि अणेयंतं परोक्ख-रूवेण जं पयासेदि। तं सुयणाणं भण्णदि संसय-पहुदीहि परिचत्तं।२६२। —जो परोक्ष रूपसे सब वस्तुओंका अनेकान्त रूप दर्शाता है, संशय, विपर्यय आदिसे रहित उस ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं।२६२।

अन. ध./३/५ स्वावृत्त्यपायेऽविस्पष्टं यन्नानार्थप्ररूपणम्। ज्ञानं··· तच्छ्रुतम्।५। —श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर नाना पदार्थोंके समीचीन स्वरूपका निश्चय कर सकनेवाले अस्पष्ट ज्ञानको श्रुत कहते हैं।५।

प्र. सं./टी./५/१५/१० श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात्···मूर्तामूर्तवस्तुलोकालोकव्याप्तिज्ञानरूपेण यदस्पष्टं जानाति तत्···श्रुतज्ञानं भण्यते।

—श्रुत ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे…जो मूर्तिक अमूर्तिक वस्तुको लोक तथा अलोकको व्याप्ति ज्ञान रूपसे अस्पष्ट जानता है उसको श्रुतज्ञान कहते हैं।

गो. जी./जी. प्र./३१५/६७३,१६ श्रूयते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते इति श्रुतः शब्दः, तस्मादुत्पन्नमर्थज्ञानं श्रुतज्ञानमिति व्युत्पत्तेरपि अक्षरात्मक-प्राधान्याश्रयणात्। —जो सुना जाता है उसको शब्द कहते हैं, शब्दसे उत्पन्न ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। इस अर्थमें अर्थात्मक श्रुतज्ञान ही प्रधान हुआ, अथवा श्रुत ऐसा रूढि शब्द है।

२. अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण

पं. सं./प्रा./१/१२२ अत्थाओ अत्थंतर उवलंभे तं भणंति सुयणाणं। —मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अवलम्बनसे तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थका जो उपलम्भ अर्थात् ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।१२२। (ध. १/१,१,११५/गा. १८३/३५९); (गो. जी./मू./३१५/-६७३); (न. च./गद्य/३६/६)

रा. वा./१/९/२७-२९/पृ./पं. इन्द्रियानिन्द्रियबलाधानात् पूर्व-मुपलब्धेऽर्थे नोइन्द्रियप्राधान्यात् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् श्रुतम् (४८/-२९)। एकं घटमिन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां निश्चित्यायं घट इति तज्जा-तीयमन्यमनेकदेशकालरूपादिविलक्षणमपूर्वमधिगच्छति यत्तत् श्रुतम् (४८/३४)। अथवा इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यामेकं जीवमजीवं चोपलभ्य तत्र सत्संख्या…आदिभिः प्रकारैरर्थप्ररूपणे कर्तव्ये यत्समर्थं तत् श्रुतम् (४९/१)। —१. शब्द सुननेके बाद जो मनकी ही प्रधानतासे अर्थ ज्ञान होता है वह श्रुत है। २. एक घड़ेको इन्द्रिय और मनसे जानकर तज्जातीय विभिन्न देशकालवर्ती घटोंके सम्बन्ध जाति आदिका जो विचार होता है वह श्रुत है। ३. अथवा श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मनके द्वारा एक जीवको जानकर उसके सम्बन्धके सत् संख्या …आदि अनुयोगोंके द्वारा नाना प्रकारसे प्ररूपण करनेमें जो समर्थ होता है वह श्रुतज्ञान है।

ध. १/१,१,२/९३/५ सुदणाणं णाम मदि-पुव्वं मदिणाणपडिगहिय-मत्थं मोत्तूणण्णत्थम्हि वावदं सुदणाणावरणीय-क्खयोवसम-जणिदं। —जिस ज्ञानमें मतिज्ञान कारण पड़ता है, जो मतिज्ञानसे ग्रहण किये गये पदार्थको छोड़कर तत्संबन्धित दूसरे पदार्थमें व्यापार करता है, और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। (ध. १३/५,५,२१/२१०/४; ५,५,४३/२४५/४); (क. पा. १/१-१/§२८/४२/६); (क. पा. १/१-१५/§३०८/-३४०/५); (ज. प./१३/७७); (गो. जी./जी. प्र./३१५/६७३/११)।

३. शब्द व अर्थ लिंग रूप भेद व उनके लक्षण

क. पा. १/१-१५/§ ३०८-३०९/३४०-३४१/५ तं दुविहं—सद्दलिंगजं, अत्थ-लिंगजं चेदि। तत्थ तं सद्दलिंगजं तं दुविहं लोइयं लोउत्तरियं चेदि। सामण्णपुरिसवयणविणिग्गयवयणकलावजणियाणं लोइयसद्दजं। असच्चकारणविणिम्मुक्कपुरिसवयणविणिग्गयवयणकलावजणिय सुद-णाणं लोउत्तरियं। धूमादिअत्थलिंगजं पुण अणुमाणं णाम। —श्रुत-ज्ञान शब्दलिंगज और अर्थलिंगजके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें भी जो शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है वह लौकिक और लोकोत्तरके भेदसे दो प्रकारका है। सामान्य पुरुषके मुखसे निकले हुए वचन समुदायसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह लौकिक शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है। असत्य बोलनेके कारणोंसे रहित पुरुषके मुखसे निकले हुए वचन समुदायसे जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह लोकोत्तर शब्द लिंगज श्रुतज्ञान है। तथा धूमादिक पदार्थरूप लिंगसे जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थलिंगज श्रुतज्ञान है। इसका दूसरा नाम अनुमान भी है।

ध. ६/१,९-१,१४/२१/६ तत्थ सुदणाणं णाम इंदिएहि गहिदत्थादो तदो पुधभूदत्थग्गहणं, जहा सद्दादो घडादीणमुवलंभो, धूमादो अग्गिस्सुव-लंभो वा। —इन्द्रियोंसे ग्रहण किये पदार्थसे उससे पृथग्भूत पदार्थ-का ग्रहण करना श्रुतज्ञान है। जैसे शब्दसे घट आदि पदार्थोंका जानना। अथवा धूमादिसे अग्निका ग्रहण करना। (ध. १/१,१,११५/३५७/८); (ध. १३/५,५,२१/२१०/५; ५,५ ४३/२४५/५); (ज प./१३/७८-७९) (द्र. सं./टी./४४/१८८/२)।

गो. जी./जी. प्र./३१६/६७६/३ श्रुतज्ञानस्य अनक्षरात्मकाक्षरात्मकौ द्वौ भेदौ। —अनक्षरात्मक और अक्षरात्मकके भेदसे श्रुतज्ञानके दो भेद हैं। [वाचक शब्दपरसे वाच्यार्थका ग्रहण अक्षरात्मक श्रुत है, और शीतादि स्पर्शमें इष्टानिष्टका होना अनक्षरात्मक श्रुत है। दे. श्रुतज्ञान/३/३]

३. द्रव्य-भाव श्रुतरूप भेद व उनके लक्षण

गो. जी./जी. प्र./३४८-३४९/७४४/१५ अङ्गबाह्यसामायिकादिचतुर्दश-प्रकीर्णकभेदद्रव्यभावात्मकश्रुतं पुद्गलद्रव्यरूपं वर्णपदवाक्यात्मकं द्रव्यश्रुतं, तच्छ्रवणसमुत्पन्नश्रुतज्ञानपर्यायरूपं भावश्रुतं। —आचा-रांग आदि बारह अंग, उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व और चकारसे सामायिकादि १४ प्रकीर्णक स्वरूप द्रव्यश्रुत जानना, और इनके सुननेसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान सो भावश्रुत जानना। पुद्गलद्रव्यस्वरूप अक्षर पदादिक रूपसे द्रव्यश्रुत है, और उनके सुननेसे श्रुतज्ञानकी पर्याय रूप जो उत्पन्न हुआ ज्ञान सो भावश्रुत है। (द्र. सं./टी./५७/-२२८/११)।

द्र. सं./टी./५८/२३९/१० वर्तमानपरमागमाभिधानद्रव्यश्रुतेन तथैव तदाधारोत्पन्ननिर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरूपभावश्रुतेन ··। —वर्तमान परमागम नामक द्रव्यश्रुत से तथा उस परमागमके आधारसे उत्पन्न निर्विकार स्व-अनुभव रूप भावश्रुतसे परिपूर्ण···।

४. सम्यक् व मिथ्याश्रुतज्ञानके लक्षण

नोट—[सम्यक् श्रुतके लिए—दे. श्रुतज्ञान सामान्यका लक्षण।]

पं. सं./प्रा./१/११९ आभीयमासुरक्खा भारह रामायणादि उवएसा। तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाण त्ति णं विंति।११९। —चौरशास्त्र, हिंसा शास्त्र तथा महाभारत, रामायण आदिके तुच्छ और परमार्थ-शून्य होनेसे साधन करनेके अयोग्य उपदेशोंको श्रुताज्ञान कहते हैं। (ध. १/१,१,११५/गा. १८१/३५९); (गो. जी./मू./३०४/६५५)।

पं.का./त. प्र./४१ यत्तदावरणक्षयोपशमादनिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्त-द्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तत् श्रुतज्ञानम्।···मिथ्यादर्शनोदय-सहचरितं श्रुतज्ञानमेव कुश्रुतज्ञानम्। —उस प्रकारके (अर्थात् श्रुतज्ञानके) आवरणके क्षयोपशमसे और मनके अवलम्बनसे मूर्त-अमूर्त द्रव्यका विकल्प रूपसे विशेषतः अवबोधन करता है वह श्रुत-ज्ञान है।···मिथ्यादर्शनके उदयके साथ श्रुतज्ञान ही कुश्रुतज्ञान है।

५. उपयोग लब्धि व भावना रूप भेद निर्देश

पं. का./प्रक्षेपक गा./४३-२/८६ सुदणाणं पुण णाणी भणंति लद्धी य भावणा चेव। उवओगणयवियप्पं णाणेण य वत्थु अत्थस्स।४३-२। —ज्ञानीको श्रुतज्ञान लब्धि व भावनारूपसे दो-दो प्रकारका होता है अथवा प्रमाण व नयके भेदसे दो प्रकारका होता है। सकल वस्तुको ग्रहण करनेवालेके प्रमाणरूप और वस्तुके एकदेश ग्रहण करनेवालेके नय रूप होता है।

६. धारावाही ज्ञान निर्देश

न्या. दी./१/§ १५/१३/७ एकस्मिन्नेव घटे विषयाज्ञाननिवर्तनार्थमाद्ये ज्ञाने प्रवृत्ते तेन घटप्रमितौ सिद्धायां पुनर्घटोऽयं घटोऽयमित्येवमुत्प-न्नान्युत्तरोत्तरज्ञानानि खलु धारावाहिकज्ञानानि भवन्ति। —एक ही घटमें घट विषयक अज्ञानके निराकरण करनेके लिए प्रवृत्त हुए पहले घट ज्ञानसे घटकी प्रमिति हो जानेपर फिर 'यह घट है' 'यह घट है' इस प्रकार उत्पन्न हुए ज्ञान धारावाहिक ज्ञान हैं।

७. श्रुतज्ञानमें भेद होनेका कारण

रा. वा./१/२०/६/७२/६ मतिपूर्वकत्वाविशेषात् श्रुताविशेष इति चेत्; न, कारणभेदात्तद्भेदसिद्धेः ।६।...प्रतिपुरुषं हि मतिश्रुतावरणक्षयोपशमो बहुधा भिन्नः तद्भेदाद् बाह्यनिमित्तभेदाच्च श्रुतस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगो भवति मतिपूर्वकत्वाविशेषेऽपि । – प्रश्न – मतिज्ञान पूर्वक होनेसे सभी श्रुतज्ञानोंमें अविशेषता है, अर्थात् कोई भेद नहीं है? उत्तर – नहीं; क्योंकि कारण भेदसे कार्यके भेदका नियम सर्व सिद्ध है। चूँकि सभी प्राणियोंके अपने-अपने क्षयोपशमके भेदसे, बाह्य निमित्तके भेदसे, श्रुतज्ञानका प्रकर्षापकर्ष होता है, अतः मतिपूर्वक होनेपर भी सभीके श्रुतज्ञानोंमें विशेषता बनी रहती है। (ध. ६/४, १,४५/१६१/१)।

२. श्रुतज्ञान निर्देश

१. श्रुतज्ञानके पर्यायवाची नाम

षं. खं १३/५,५/सू. ५०/२८० पावयणं पवयणीयं पवयणट्ठो गदीसु मग्गणदा आदा परंपरलद्धी अणुत्तरं पवयणं पवयणी पवयणद्धा पवयणसण्णियासो णयविधी णयंतरविधी भंगविधी भंगविधिविसेसो पुच्छाविधी पुच्छाविधिविसेसो तच्चं भूदं भव्वं भवियं अवितथं अविहदं वेदं णायं सुद्धं सम्माइट्ठी हेदुवादो णयवादो पवरवादो मग्गवादो सुदवादो परवादो लोइयवादो लोगुत्तरीयवादो अग्गं मग्गं जहाणुमग्गं पुव्वं जहाणुपुव्वं पुव्वादिपुव्वं चेदि ।५०।

ध.१३/५,५,५०/२८५/१२ कथं श्रुतस्य विधिव्यपदेशः । सर्वनयविषयाणामस्तित्वविधायकत्वात् । – १. प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियोंमें मार्गणता, आत्मा, परम्परा लब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचन संनिकर्ष, नयविधि, नयान्तरविधि, भंगविधि, भंगविधिविशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधि विशेष, तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्यत, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्र्य, मार्ग यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व ये श्रुतज्ञानके पर्याय नाम हैं ।५०। २. प्रश्न—श्रुतको विधि संज्ञा कैसे है। उत्तर—चूँकि वह सब नयोंके विषयके अस्तित्वका विधायक है, इसलिए श्रुतकी विधि संज्ञा उचित ही है।

२. श्रुतज्ञानमें कथंचित् मति आदि ज्ञानोंका निमित्त

त. सू./१/२० श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।२०।

स. सि./१/२०/१२०/७ मतिः पूर्वमस्य मतिपूर्वं मतिकारणमित्यर्थः । – १. श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। ।२०। २. मति जिसका पूर्व अर्थात् निमित्त है वह मतिपूर्व कहलाता है। जिसका अर्थ मतिकारणक होता है। तात्पर्य यह है कि जो मतिज्ञानके निमित्तसे होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। (पं. सं./प्रा./१/१२२), (रा. वा./१/२०/२/७०/२८), (दे. श्रुतज्ञान/I/१/२), (ध. १/४,१,४५/१६०/७), (ध. १३/५,५,२१/२१०/७), (द्र सं./टी./४४/१८८/२), (पं. ध./पू /७०३, ७१७)।

श्लो. वा./२/१/७/६/५१०/७ अवधिमनःपर्ययविशेषत्वानुषङ्गात् । यथैव हि मत्यार्थं परिच्छिद्य श्रुतज्ञानेन परामृशन्निर्देशादिभिः प्ररूपयति तथावधिमनःपर्ययेण वा । न चैवं श्रुतज्ञानस्य तत्पूर्वकत्वप्रसङ्गः साक्षात्तस्यानिन्द्रियमतिपूर्वकत्वात् परम्परया तु तत्पूर्वकत्वं नानिष्टम् । – प्रश्न – अवधि और मनःपर्ययसे प्रत्यक्षकरकेउस पदार्थका श्रुतज्ञान द्वारा विचार हो जाता है तो मतिपूर्वकपनेके समान अवधि मनःपर्ययपूर्वक भी श्रुतज्ञानके होनेका प्रसंग आयेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि अव्यवहित पूर्ववर्ती कारणकी अपेक्षासे श्रुतज्ञानका कारण मतिज्ञान ही है। हाँ, परम्परासे तो उन अवधि और मनःपर्ययको कारण मानकर श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति होना अनिष्ट नहीं है।

श्लो. वा. ३/१/२०/श्लो. २०/६०५ मतिसामान्यनिर्देशान्न श्रोत्रमतिपूर्वकं । श्रुतं नियम्यतेऽशेषमतिपूर्वस्य वीक्षणात् । – सूत्रकारने मतिपूर्वं ऐसा निर्देश कहकर सामान्य रूपसे सम्पूर्ण मतिज्ञानोंका संग्रह कर लिया है। अतः केवल श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको ही पूर्ववर्ती मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न होय ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है।

क. पा. १/१-१/§३४/५१/४ ण मदिणाणपुव्वं चेव सुदणाणं सुदणाणादो वि सुदणाणुप्पत्तिदंसणादो । – यदि कहा जाय कि मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है सो भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि श्रुतज्ञानसे भी श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है।

३. श्रुतज्ञानमें मनका निमित्त

त. सू./२/२१ श्रुतमनिन्द्रियस्य ।२१। – श्रुत मनका विषय है।

दे. मतिज्ञान/३/१ ईहादिकोंमनकानिमित्तपनाउपचारसे है पर श्रुतज्ञान नियमसे मनके निमित्तसे ही उत्पन्न होता है।

स. भं. त./४७/१३ अनिन्द्रियमात्रजन्यत्वं श्रुतस्य स्वरूपम् । – मन मात्रसे उत्पन्न होना श्रुतज्ञानका स्वरूप है।

४. श्रुतज्ञानका विषय

दे. मतिज्ञान/२/२ सर्व द्रव्योंकी असर्व पर्यायोंमें वर्तता है।

रा. वा./१/२६/४/८७/२२ शब्दाश्च सर्वे संख्येया एव द्रव्यपर्यायाः पुनः संख्येयासंख्येयानन्तभेदाः, न ते सर्वे विशेषाकारेण तैर्विषयीक्रियन्ते । – सर्व शब्द संख्यात ही हैं और द्रव्योंकी पर्यायें संख्यात और अनन्त भेदवाली हैं। अतः संख्यात शब्द अनन्त पदार्थोंकी स्थूल पर्यायोंको ही विषय कर सकते हैं, सभी पर्यायोंको नहीं। कहा भी है [प्रज्ञापनीय भाव अनन्त हैं और शब्द अत्यन्त अल्प हैं। दे. आगम/१/११]।

दे. श्रुतकेवली २/५ [द्रव्य श्रुतका विषय भले अल्प हो पर भावश्रुतका विषय अनन्त है।]

दे. श्रुतज्ञान/२/५ (परोक्ष रूपसे सामान्यतः सर्व पदार्थोंको ग्रहण करनेमे केवलज्ञानके समान है, पर विशेष रूपसे ग्रहण करनेसे अल्पज्ञता है।)

५. श्रुतज्ञानकी त्रिकालज्ञता

न. च. वृ /१७३ में उद्धृत गाथा सं. २ कालत्तयसंजुत्तं दव्वं गिह्णेइ केवलणाणं । तत्थ णयेण वि गिह्णइ भूदोऽभूदो य वट्टमाणो वि ।२। – तीनों कालोंसे संयुक्त द्रव्यको केवलज्ञान ग्रहण करता है और नयके द्वारा भी भूत, भविष्य और वर्तमान कालके पदार्थोंको ग्रहण किया जाता है।

दे. निमित्त/२/३ अष्टांग महानिमित्त ज्ञान त्रिकालग्राही है।

दे. द्रव्य/१/६;२/२ भविष्यत परिणामसे अभियुक्त द्रव्य द्रव्यनिक्षेपका विषय है।

६. मोक्षमार्गमें मति श्रुत ज्ञानकी प्रधानता

श्लो. वा. २/१/३/६२/१४ केवलस्य सकलश्रुतपूर्वकत्वोपदेशात् । – सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानकी उत्पत्ति तो पूर्ववर्ती पूर्ण द्वादशांग श्रुतज्ञान रूप कारणसे होती हुई मानी है।

पं. ध./पू./७११ अपि चात्मसंसिद्ध्यै नियतं हेतु मतिश्रुती ज्ञाने। प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादृते मतिद्वैतम् । – आत्म सिद्धिके लिए मति श्रुतज्ञान निश्चित कारण है क्योंकि अन्तके दो ज्ञानोंके बिना मोक्ष हो सकता है किन्तु मति, श्रुत ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

७. शब्द व अर्थ लिंगजमें शब्द लिंगज ज्ञान प्रधान

गो. जी./जी. प्र./३१५/६७३/१५ शब्दजलिङ्गजयोः श्रुतज्ञानभेदयोः मध्ये शब्दजं वर्णपदवाक्यात्मकशब्दजनितं श्रुतज्ञानं प्रमुखं प्रधानं दत्त-

ग्रहणशास्त्राध्ययनादिसकलव्यवहाराणां तन्मूलत्वात्। अनक्षरात्मकं लिङ्गजं श्रुतज्ञानं एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु जीवेषु विद्यमानमपि व्यवहारानुपयोगित्वादप्रधानं भवति। –श्रुतज्ञानके भेदोंके मध्य-शब्द लिंगज अर्थात् अक्षर, वर्ण, पद, वाक्य आदि रूप शब्दसे उत्पन्न हुआ जो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान वह प्रधान है, क्योंकि लेना, देना, शास्त्र पढ़ना इत्यादि सर्व व्यवहारोंका मूल अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। और जो लिंगसे अर्थात् चिह्नसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान है वह एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें होता है किन्तु उससे कुछ व्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए वह अप्रधान होता है।

८. द्रव्य व भावश्रुतमें भावश्रुतकी प्रधानता

श्लो. वा. ३/१/२० श्लो. १७/६०८ मुख्या ज्ञानात्मका भेदप्रभेदास्तस्य सूत्रिताः। शब्दात्मकाः पुनर्गौणाः श्रुतस्येति विभिद्यते। –इस सूत्र-में श्रुतज्ञानके भेदप्रभेद मुख्य रूपसे तो ज्ञान स्वरूप सूचित किये जाते हैं। हाँ, फिर शब्दात्मक भेद तो गौण रूपसे कहे गये हैं। इस प्रकार श्रुतके मुख्यरूपसे ज्ञानस्वरूप और गौण रूपसे शब्द स्वरूप विशेष भेद लेने चाहिए।

९. श्रुतज्ञान केवल शब्दज नहीं होता

श्लो. वा./३/१/२०/८६/६३४/२२ अथ शब्दानुयोजनादेव श्रुतमिति नियमस्तदा श्रोत्रमतिपूर्वकमेव श्रुतं न चक्षुरादिमतिपूर्वकमिति सिद्धान्तविरोधः स्यात्। सांव्यवहारिकं शाब्दं ज्ञानं श्रुतमित्यपेक्षया तथा नियमे तु नेष्टबाधास्ति चक्षुरादिमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमार्थताभ्युपगमात् स्वसमयसंप्रतिपत्तेः।

श्लो. वा. ३/१/२०/११६/६५२/१४ श्रुतं शब्दानुयोजनादेव इत्यवधारण-स्याकलङ्काभिप्रेतस्य कदाचिद्विरोधाभावात्। तथा संप्रदायस्या-विच्छेदाद्युक्त्यनुग्रहाच्च सर्वमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्याक्षरज्ञानत्व-व्यवस्थितेः। –१. प्रश्न—शब्दकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है, इस प्रकार नियम किया जायेगा तब तो श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञान-स्वरूप निमित्तसे ही तो श्रुतज्ञान हो सकेगा। चक्षु आदि इन्द्रियोंसे श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा। उक्त प्रकार सिद्धान्तसे विरोध आवेगा। उत्तर—सांव्यवहारिक शब्द ज्ञान श्रुत है। इस अपेक्षासे नियम किया जायेगा, तब तो इष्ट सिद्धान्तसे कोई बाधा नहीं आती है। क्योंकि चक्षु आदिसे उत्पन्न हुए मतिज्ञानको पूर्ववर्ती कारण मानकर उत्पन्न हुए भी श्रुतोंको परमार्थ रूपसे श्री अकलंक देवने स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार अपने सिद्धान्तकी प्रतिपत्ति हो जाती है। २. शब्दकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है, इस प्रकार श्री अकलंक देवको अभिप्रेत हो रहे अवधारणका कभी भी विरोध नहीं पड़ता है।...पूर्वसे चली आ रही तिस प्रकारकी आम्नायोंकी विच्छित्ति नहीं हुई है। इस कारण सम्पूर्ण मतिज्ञानोंको पूर्ववर्ती कारण मानकर श्रुतको अक्षरज्ञानपना व्यवस्थित हो गया है।

३. मतिज्ञान व श्रुतज्ञानमें अन्तर

१. दोनोंमें कथंचित् एकता

दे. श्रुतज्ञान/I/२/२ (मति पूर्वक उत्पन्न होता है।)

रा. वा./१/६/१६/४७/२७ मतिश्रुतयोः परस्परापरित्यागः-'यत्र मतिस्तत्र श्रुतं यत्र श्रुतं तत्र मतिः' इति। –मति श्रुतका विषय बराबर है और दोनो सहभावी हैं, जहाँ मति है, वहाँ श्रुत है, जहाँ श्रुत है वहाँ मति है।

रा. वा./१/३०/४/१०/२५ एते हि मतिश्रुते सर्वकालमव्यभिचारिणी नारदपर्वतवत्। तस्मादनयोरन्यतरग्रहणे इतरस्य ग्रहणं संनिहितं भवति। –मति और श्रुत सदा अव्यभिचारी हैं, नारद पर्वतकी तरह एक दूसरेका साथ नहीं छोड़ते, अतः एकके ग्रहणसे दूसरेका ग्रहण ही हो जाता है।

२. मति व श्रुतज्ञानमें भेद

स. सि./१/२०/१२०/८ यदि मतिपूर्वं श्रुतं तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति कारणसदृशं हि लोके कार्यं दृष्टम् इति। नैतदैकान्तिकम्। दण्डादि-कारणोऽयं घटो न दण्डाद्यात्मकः। अपि च सति तस्मिंस्तदभावात्। सत्यपि मतिज्ञाने बाह्यश्रुतज्ञाननिमित्तसंनिधानेऽपि प्रबलश्रुतावरणो-दयस्य श्रुताभावः। श्रुतावरणक्षयोपशमप्रकर्षे तु सति श्रुतज्ञान-मुत्पद्यत इति मतिज्ञानं निमित्तमात्रं ज्ञेयम्। –प्रश्न—यदि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है तो वह श्रुतज्ञान भी मत्यात्मक ही प्राप्त होता है; क्योंकि लोकमें कारणके समान ही कार्य देखा जाता है? उत्तर—यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि कारणके समान कार्य होता है। यद्यपि घटकी उत्पत्ति दण्डादिकसे होती है तो भी वह दण्डाद्यात्मक नहीं होता। दूसरे, मति-ज्ञानके रहते हुए भी श्रुतज्ञान नहीं होता। यद्यपि मतिज्ञान रहा आता है और श्रुतज्ञानके बाह्य निमित्त भी रहे आते हैं तो भी जिसके श्रुत-ज्ञानावरणका प्रबल उदय पाया जाता है, उसके श्रुत-ज्ञान नहीं होता। किन्तु श्रुतज्ञानका प्रकर्ष क्षयोपशम होनेपर ही श्रुतज्ञान होता है इसलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त-मात्र जानना चाहिए। (रा. वा./१/२०/३-४/७०/२८; ७-८/-७१/११)।

रा. वा./१/६/२१-२६/४८/५ मतिश्रुतयोरेकत्वम्; साहचर्यैकत्राव-स्थानाद्यविशेषात् ।२१। न; अतस्तत्सिद्धेः। यत एव मतिश्रुतयोः साहचर्यमेकत्रावस्थानं चोच्यते अत एव विशेषः सिद्धः। प्रतिनियत-विशेषसिद्धयोर्हि साहचर्यमेकत्रावस्थानं च युज्यते, नान्यथेति ।२२। तत्पूर्वकत्वाच्च। ततस्तानयोर्विशेषः। यत्पूर्वं यच्च पश्चात्तयोः कथमविशेषः। ।२३। तत एवाविशेषः, कारणसदृशत्वात् युगपद्-वृत्तेश्चेति. चेत्...तन्न; किं कारणम्। ...द्वयोर्हि सादृश्यं युगपद्-वृत्तिश्चेति ।२४। स्यादेतत्-विषयाविशेषात् मतिश्रुतैकत्वम्। एवं हि वक्ष्यते—"मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु (त. सू./१/२६) इति; तन्न; किं कारणम्। ग्रहणभेदात्। अन्यथा हि मत्या गृह्यते अन्यथा श्रुतेन ।२५। ...स्यादेतत्—उभयोरिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तत्वादेकत्वम्। ...तन्न; किं कारणम्। असिद्धत्वात्। जिह्वा हि शब्दोच्चारक्रियाया निमित्तं न ज्ञानस्य, श्रवणमपि स्वविषय-मतिज्ञाननिमित्तं न श्रुतस्य, इत्युभयनिमित्तत्वमसिद्धम्। –प्रश्न—चूंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों सहचारी हैं, और एक व्यक्ति-में युगपत् पाये जाते हैं, अतः दोनोंमें कोई विशेषता न होनेसे दोनोंको एक ही कहना चाहिए? उत्तर—साहचर्य तथा एक व्यक्ति-में दोनोंके युगपत् रहनेसे ही यह सिद्ध होता है कि दोनों जुदे-जुदे हैं, क्योंकि दोनों बातें भिन्न सत्तावाले पदार्थोंमें ही होती है। मतिपूर्वक श्रुत होता है, इसलिए दोनोंकी कारण-कार्यरूपसे विशेषता सिद्ध है ही। प्रश्न—कारणके सदृश ही कार्य होता है, चूँकि श्रुत मति पूर्वक हुआ है, अतः उसे भी मतिरूप ही कहना चाहिए। सम्यग्दर्शन होनेपर कुमति और कुश्रुतको युगपत् ज्ञान-व्यपदेश होता है अतः दोनों एक ही कहना चाहिए? उत्तर—यह प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि जिन कारण सदृशत्व और युगपद्वृत्ति हेतुओंसे आप एकत्व सिद्ध करना चाहते हो उन्हींसे उनमें भिन्नता सिद्ध होती है। सादृश्य और युगपद्वृत्ति पृथक्सिद्ध पदार्थोंमें ही होते हैं। प्रश्न—मति और श्रुतज्ञानका विषय एक होनेसे दोनोंमें एकत्व है—ऐसा कहा गया है कि—मतिज्ञान व श्रुतज्ञानकी सम्पूर्ण द्रव्योंमें एक देश रूपसे प्रवृत्ति होती है। (त. सू./१/२६) उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों के जाननेके प्रकार जुदा-जुदा हैं। प्रश्न—मति और श्रुत दोनों इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं, इसलिए दोनोंमें एकत्व है? उत्तर—एक कारणता असिद्ध है। वक्ताकी जीभ शब्दके उच्चारणमें कारण होती है न कि ज्ञानमें।

श्रोताका ज्ञान भी शब्द प्रत्यक्षरूप मतिज्ञानमें निमित्त होता है न कि अर्थज्ञानमें, अतः श्रुतमें मनोनिमित्तता असिद्ध है।

रा. वा./१/२०/५/७१/११ नायमेकान्तोऽस्ति-कारणसदृशमेव कार्यम् इति। कुतः। तत्रापि सप्तभङ्गीसंभवात्। कथम्। घटवत्। यथा घटः कारणेन मृत्पिण्डेन स्यात्सदृशः स्यान्न सदृश इत्यादि।... तथा श्रुतं सामान्यादेशात् स्यात्कारणसदृशं यतो मतिरपि ज्ञानं श्रुतमपि। अक्षरविहिताभिमुख्यग्रहणनानाप्रकारार्थप्ररूपणसामर्थ्यादिपर्यायादेशात् स्यान्न कारणसदृशम्। —यह कोई नियम नहीं है कि कारणके सदृश ही कार्य होना चाहिए। क्योंकि यहाँपर भी सप्तभंगी की योजना करनी चाहिए। घड़ेकी भाँति जैसे पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिसे मिट्टी रूप कारणके समान घड़ा होता है। पर पिण्ड और घट पर्यायोंकी अपेक्षा दोनों विलक्षण हैं।...उसी तरह चैतन्य द्रव्यकी मति और श्रुत दोनों एक है, क्योंकि मति भी ज्ञान है और श्रुत भी ज्ञान है। किन्तु तत्तद् ज्ञान पर्यायोंकी दृष्टिसे दोनों ज्ञान जुदा-जुदा हैं।

श्लो. वा./३/१/६/३०/२४/२२ न मतिस्तत्स्यात्तर्कात्मिकाया स्वार्थानुमानात्मिकायाश्च तथा भावरहितत्वात्। न हि यथा श्रुतमनन्तव्यञ्जनपर्यायसमाक्रान्तानि सर्वद्रव्याणि गृह्णाति न तथा मतिः। —तर्कस्वरूप अथवा स्वार्थानुमानस्वरूप भी उस मतिज्ञानमें श्रुतज्ञानके समान सर्व तत्त्वोंका ग्राहकपना नहीं है, जिस प्रकार अनन्त व्यंजन पर्यायोंसे चारों ओर घिरे हुए सम्पूर्ण द्रव्योंको श्रुतज्ञान ग्रहण करता है, तिस प्रकार मतिज्ञान नहीं जानता।

३. श्रोत्रज मतिज्ञान व श्रुतज्ञानमें अन्तर

रा. वा./१/९/२०/४६/४ श्रुत्वा यदवधारयति तत् श्रुतमिति केचिन्मन्यन्ते; तन्न युक्तम्; कुतः। मतिज्ञानप्रसङ्गात्। तदपि शब्दं श्रुत्वा 'गोशब्दोऽयम्' इति प्रतिपद्यते। ...श्रुतं पुनस्तस्मिन्निन्द्रियानिन्द्रियगृहीतागृहीतपर्यायसमूहात्मनि शब्दे तदभिधेये च श्रोत्रेन्द्रियव्यापारमन्तरेण जीवादौ नयादिभिरधिगमोपायैर्यथात्म्येनाऽवबोधः।

रा. वा./१/२०/६/७१/२५ स्यादेतत्–श्रोत्रमतिपूर्वस्यैव श्रुतत्वं प्राप्नोति। कुतः। तदर्थत्वात्। श्रुत्वा अवधारणाद्धि श्रुतमित्युच्यते, तेन चक्षुरादिमतिपूर्वस्य श्रुतत्वं न प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम्। उक्तमेतत्—'श्रुतशब्दोऽयं रूढिशब्दः' इति। रूढिशब्दाश्च स्वोत्पत्तिनिमित्तक्रियानपेक्षाः प्रवर्तन्त इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्वसिद्धिर्भवति। —१. प्रश्न—सुनकर निश्चय करना श्रुत है? उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं है। यह तो मतिज्ञानका लक्षण है, क्योंकि वह भी शब्दको सुनकर 'यह गो शब्द है' ऐसा निश्चय करता ही है। किन्तु श्रुतज्ञान मन और इन्द्रियके ज्ञान द्वारा गृहीत या अगृहीत पर्याय वाले शब्द या उसके वाच्यार्थका श्रोत्रेन्द्रियके व्यापारके बिना ही नय आदि योजनाके द्वारा विभिन्न विशेषोंके साथ जानता है। २. प्रश्न—श्रोत्रेन्द्रिय जन्य मतिज्ञानसे जो उत्पन्न हो उसे ही श्रुत कहना चाहिए, क्योंकि सुनकर जो जाना जाता है वही श्रुत होता है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय आदिसे श्रुत नहीं हो सकेगा? उत्तर—श्रुत शब्द श्रुतज्ञान विशेषमें रूढ़ होनेके कारण सभी मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानोंमें व्याप्त है। (भ. आ./वि./१६४/४०६/२१)।

श्लो. वा./३/१/६/३३/२७/१ केचिदाहुर्मतिश्रुतयोरेकत्वं श्रवणनिमित्तत्वादिति, तेऽपि न युक्तिवादिनः। श्रुतस्य साक्षाच्छ्रवणनिमित्तत्वासिद्धेः तस्यानिन्द्रियबलाद्दृष्टार्थसजातीयनानार्थपरामर्शनस्वभावतया प्रसिद्धत्वात्। —प्रश्न—कर्ण इन्द्रियको निमित्त पाकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं, इस कारण दोनोंका एकपना है? उत्तर—आप युक्तिवादी नहीं हैं, क्योंकि कर्ण इन्द्रियको साक्षात् निमित्त मानकर श्रुतज्ञानका उत्पन्न होना असिद्ध है।...श्रुतज्ञान की अनिन्द्रियवानपना यानी मनको निमित्त मानकर और प्रत्यक्षसे नहीं देखे गये सजातीय और विजातीय अनेक अर्थोंका विचार करना रूप स्वभावोंसे सहितपने करके प्रसिद्धि हो रही है।

गो. जी./जी. प्र./३१५/६७३/१६ तत्र जीवोऽस्तीत्युक्ते जीवोऽस्तीति शब्दज्ञानं श्रोत्रेन्द्रियप्रभवं मतिज्ञानं भवति ज्ञानेन जीवोऽस्तीति शब्दवाच्यरूपे आत्मास्तित्वे वाच्यवाचकसंबन्धसंकेतसंकलनपूर्वकं यत् ज्ञानमुत्पद्यते तदक्षरात्मकं श्रुतज्ञानं भवति, अक्षरात्मकशब्दसमुत्पन्नत्वेन कार्ये कारणोपचारात्। वातशीतस्पर्शज्ञानेन वातप्रकृतिकस्य तत्स्पर्शो अमनोज्ञ ज्ञानमनक्षरात्मकं लिङ्गजं श्रुतज्ञानं भवति, शब्दपूर्वकत्वाभावात्। —'जीवः अस्ति' ऐसा शब्द कहनेपर कर्ण इन्द्रिय रूप मतिज्ञानके द्वारा 'जीवः अस्ति' यह शब्द ग्रहण किया। इस शब्दसे जो 'जीव नाम पदार्थ है' ऐसा ज्ञान हुआ सो श्रुतज्ञान है। शब्द और अर्थके ऐसा वाच्य वाचक सम्बन्ध है। सो यहाँ 'जीवः अस्ति' ऐसे शब्दका जानना तो मतिज्ञान है, और उसके निमित्तसे जीव नामक पदार्थका जानना सो श्रुतज्ञान है। ऐसे ही सर्व अक्षरात्मक श्रुतज्ञानका स्वरूप जानना। अक्षरात्मक शब्दसे समुत्पन्न ज्ञान, उसको भी अक्षरात्मक कहा। यहाँपर कार्यमें कारणका उपचार किया है, परमार्थसे ज्ञान कोई अक्षर रूप नहीं है।' जैसे—शीतल पवनका स्पर्श होनेपर 'तहाँ शीतल पवनका जानना तो मतिज्ञान है, और उस ज्ञानसे वायुकी प्रकृतिवालेको यह पवन अनिष्ट है' ऐसा जानना श्रुतज्ञान है, सो यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है, क्योंकि यह अक्षरके निमित्तसे उत्पन्न नहीं हुआ है।

४. मनोमति ज्ञान व श्रुतज्ञानमें अन्तर

पं. का./ता. वृ./४३/ प्रक्षेपक १ २/८५/१६ तन्मतिज्ञानं तच्च पुनस्त्रिविध उपलब्धिर्भावना तथोपयोगश्च...अर्थग्रहणशक्तिरुपलब्धिर्ज्ञातेऽर्थे पुनः पुनश्चिन्तनं भावना नीलमिदं पीतमिदं इत्यादिरूपेणार्थग्रहणव्यापार उपयोगः।१। श्रुतज्ञानं...लब्धिरूपं च भावनारूपं चैव।.. उपयोगविकल्पं नयविकल्पं च उपयोगशब्देनात्र वस्तुग्राहकं प्रमाणं भण्यते नयशब्देन तु वस्त्वेकदेशग्राहको ज्ञातुरभिप्रायो विकल्पः।.. यद्भावश्रुतं तदेवोपादेयं। —मतिज्ञान तीन प्रकारका है—उपलब्धि, भावना और उपयोग। अर्थग्रहणकी शक्तिको लब्धि कहते हैं, जाने हुए अर्थका पुनः पुनः चिन्तवन करना भावना कहलाता है, और यह नीला है, यह पीला है इत्यादि रूपसे अर्थ ग्रहणके व्यापारको उपयोग कहते हैं।...श्रुतज्ञान दो प्रकारका है—लब्धिरूप और भावनारूप ही, तथा उपयोग विकल्प और नय विकल्प। उपयोग शब्दसे यहाँ वस्तु ग्राहक प्रमाण कहा जाता है। और नय शब्दसे तो वस्तुका एक देश ग्राहक ज्ञाताका अभिप्राय रूप विकल्प ग्रहण किया जाता है। यह भावश्रुत ही उपादेय है।

५. ईहादि मतिज्ञान श्रुतज्ञानमें अन्तर

रा. वा./१/९/२८/४८/३१ स्यादेतत्-ईहादीनामपि श्रुतव्यपदेशः प्राप्तः, तेऽप्यनिन्द्रियनिमित्ता इति; तन्न; किं कारणम्। अवगृहीतमात्रविषयत्वात्। इन्द्रियेणावगृहीतो योऽर्थस्तन्मात्रविषया ईहादयः, श्रुतं पुनर्न तद्विषयम्। किं विषयं तर्हि श्रुतम्। अपूर्वविषयम्। —प्रश्न—ईहा आदि ज्ञानका भी श्रुत व्यपदेश प्राप्त होता है, क्योंकि वे भी मनके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं? उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि वे मात्र अवग्रहके द्वारा गृहीत ही पदार्थको जानते हैं, जबकि श्रुतज्ञान अपूर्व अर्थको विषय करता है। (क. पा./१/१-१५/§३०८/३४०/१); (ध. ६/१,९-१४/१७/४)।

श्लो. वा./३/१/६/१२/२६/२९ नहि यादृशमनोन्द्रियनिमित्तत्वमहीयास्तादृशं श्रुतस्यापि। —यद्यपि ईहा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही मनसे होते हैं, किन्तु जिस प्रकार ईहा ज्ञानका निमित्तपन मनको

प्राप्त है, उस सरीखा श्रुतज्ञानका भी निमित्तपना मनमें नहीं है। केवल सामान्य रूपसे उस मनका निमित्तपना तो मति और श्रुतके तदात्मकपनका गमन हेतु नहीं है।

दे. मतिज्ञान/३/१ ईहादिको अनिन्द्रियका निमित्तत्व उपचारसे है पर श्रुतज्ञान अनिन्द्रिय निमित्तक ही है।

४. श्रुतज्ञान व केवलज्ञानमें कथंचित् समानता-असमानता

१. श्रुत भी सर्व पदार्थ विषयक है

दे. श्रुति/२/२/३ केवलज्ञानके विषयभूत अनन्त अर्थको श्रुतज्ञान परोक्ष रूपसे ग्रहण कर लेता है।

दे. श्रुतज्ञान/२/५ केवलज्ञानकी भाँति श्रुतज्ञान भी मनके द्वारा त्रिकाली पदार्थोंको ग्रहण कर लेता है।

प्र. सा./त. प्र./२३५ श्रमणानां ज्ञेयत्वमापद्यन्ते स्वयमेव, विचित्रगुणपर्यायविशिष्टसर्वद्रव्यव्यापकानेकान्तात्मकश्रुतज्ञानोपयोगी भूयो विपरिणमनात्। अतः न किंचिदप्यागमचक्षुषामदृश्यं स्याद्।—वे (विचित्रगुणपर्यायों सहित समस्त पदार्थ) श्रमणोंको स्वयमेव ज्ञेयभूत होते हैं, क्योंकि श्रमण विचित्र गुणपर्यायवाले सर्वद्रव्योंमें व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोग रूप होकर परिणमित होते हैं। इससे (यह कहा है कि) आगम चक्षुओंको आगम रूप चक्षु वालोंको कुछ भी अदृश्य नहीं है।

प्र. सा./ता. वृ./गा./पृ./पं. अत्राह शिष्यः—आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानं भवतीत्यत्र व्याख्यानं, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणितं सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञानं भवतीति। यद्येवं तर्हि छद्मस्थानां सर्वपरिज्ञानं नास्त्यात्मपरिज्ञानं कथं भविष्यति। आत्मपरिज्ञानाभावे चात्मभावना कथं। तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्तीति। परिहारमाह-परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते। कथमिति चेत्—लोकालोकादिपरिज्ञानं व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञानं परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहकं कथंचिदात्मैव भण्यते। (४६/६५/१३) सर्वे द्रव्यगुणपर्यायाः परमागमेन ज्ञायन्ते। कस्मात्। आगमस्य परोक्षरूपेण केवलज्ञानसमानत्वात् पश्चादागमाधारेण स्वसंवेदनज्ञाने जाते स्वसंवेदनज्ञानबलेन केवलज्ञाने च जाते प्रत्यक्षा अपि भवन्ति। (२३५/३२५/१३)।—प्रश्न—आत्माके जाने, जानेपर सर्व जाना जाता है, ऐसा यह व्याख्यान है, और पूर्वसूत्रमें सर्वका ज्ञान होनेपर आत्माका ज्ञान होता है, ऐसा है तो छद्मस्थोंके सर्वका ज्ञान तो होता नहीं है, तो आत्मज्ञान कैसे होगा? और आत्मज्ञानके अभावमें आत्माकीभावना कैसेसम्भव है, तथा भावनाके अभावमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है? उत्तर—परोक्ष प्रमाणभूत श्रुतज्ञानके द्वारा सर्व पदार्थ जाने जाते हैं, क्योंकि लोकालोकका परिज्ञान व्याप्ति रूपसे छद्मस्थोंके भी पाया जाता है। और वह केवलज्ञानको विषय करनेवाला व्याप्ति ज्ञान परोक्ष रूपसे कथंचित आत्मा ही है। सर्व द्रव्य गुण और पर्याय परमागमसे जाने जाते हैं, क्योंकि आगमके परोक्षरूपसे केवलज्ञानसे समानपना होनेके कारण, आगमके आधारसे पीछे स्वसंवेदन ज्ञानके हो जानेपर, और स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे केवलज्ञानके हो जानेपर समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भी हो जाते हैं।

प. का./ता. वृ./६६/१५६/१४ यत्पुनर्द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरूपपरमागमसंज्ञं तच्च मूर्तामूर्तोभयपरिच्छित्तिविषये व्याप्तिज्ञानरूपेण परोक्षमपि केवलज्ञानसदृशमित्यभिप्रायः।—द्वादशांग अर्थात् १२ अंग चौदह पूर्व रूप परमागम संज्ञावाला द्रव्य श्रुत है, वह मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकारके द्रव्योंके ज्ञानके विषयमें परोक्ष होनेपर भी व्याप्ति ज्ञान रूपसे केवलज्ञानके सदृश है, ऐसा अभिप्राय है।

दे. श्रुतज्ञान/I/२/४ श्रुतज्ञान सर्व पदार्थ विषयक है।

२. दोनोंमें प्रत्यक्ष परोक्ष मात्रका अन्तर है

आप्त. मी./१०५ स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वे प्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।१०५।—स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों सर्व तत्त्वोंका प्रकाशन करनेवाले हैं। इन दोनोंमें केवल परोक्ष व प्रत्यक्ष रूप जानने मात्रका भेद है। इन दोनोंमेंसे यदि एक हो, और अन्यतम न हो तो, वह अवस्तु ठहरे। (गो. जी./मू./३६९/७९५)।

दे. अनुभव/४ श्रुतज्ञानमें केवल ज्ञानवत् प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

३. समन्वय

ध. १५/१/४/४ मदिसुदणाणाणं सव्वदव्वविसयत्तं किण्ण वुच्चदे, तासि मुत्तामुत्तासेसदव्वेसु वावारुवलंभादो। ण एस दोसो, तेसि दव्वाणमणतेसु पज्जाएसु तिकालविसएसु तेहि सामण्णेणावगएसु विसेससरूवेण वावाराभावादो। भावे वा केवलणाणेण समाणत्तं तेसि पावेज्ज। ण च एवं, पंचणाणुवदेसस्स अभावप्पसंगादो।—प्रश्न—मतिज्ञान व श्रुतज्ञान समस्त द्रव्योंको विषय करनेवाले हैं, ऐसा क्यों नहीं कहते, क्योंकि उनका मूर्त व अमूर्त सर्व द्रव्योंमें व्यापार पाया जाता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, उन द्रव्योंकी त्रिकाल विषयक अनन्त पर्यायोंमें उन ज्ञानोंका सामान्य रूपसे व्यवहार नहीं है। अथवा यदि उनमें उनकी विशेष रूपसे भी प्रवृत्ति स्वीकार की जाय तो वे दोनों ज्ञान केवलज्ञानकी समानताको प्राप्त हो जावेंगे। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि, वैसा होनेपर पाँच ज्ञानोंका जो उपदेश प्राप्त है उसके अभावका प्रसंग आता है।

५. मति श्रुत ज्ञानकी कथंचित् प्रत्यक्षता-परोक्षता

१. मति श्रुत ज्ञान कथंचित् परोक्ष हैं

प्र. सा./मू./५७ परदव्वं ते अक्खाणेव सहावोत्ति अप्पणो भणिदा। उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि।५७।—वे इन्द्रियाँ पर द्रव्य है, उन्हें आत्मस्वभाव स्वरूप नहीं कहा है। उनके द्वारा ज्ञात आत्माका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है।

स. सि./१/११/१०१/६ अतः पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते।—मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेशादिक बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं अतः ये परोक्ष कहलाते हैं। (रा.वा./१/११/६/५२/२४) (और भी दे. परोक्ष/४)।

क. पा./१/१-१/§१६/२४/३ मति-सुदणाणाणि परोक्खाणि, पाएण तत्थ अविसदभावदंसणादो।—मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं, क्योंकि इन दोनोंमें प्रायः अस्पष्टता देखी जाती है।

२. इन्द्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेमें दोष

स. सि./१/१२/१०३/७ स्यान्मतमिन्द्रियव्यापारजनितं ज्ञानं प्रत्यक्षं व्यतीतेन्द्रियविषयव्यापारं परोक्षमित्येतदविसंवादि लक्षणमभ्युपगन्तव्यमिति। तदयुक्तम्, आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानाभावप्रसङ्गात्। यदि इन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते एवं सति आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात्। न हि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगमः। अथ तस्यापि करणपूर्वकमेव ज्ञानं कल्प्यते, तस्यासर्वज्ञत्वं स्यात्। तस्य मानसं प्रत्यक्षमिति चेत्; मनःप्रणिधानपूर्वकत्वात् ज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाभाव एव। आगमतस्तत्सिद्धिरिति चेत्। न; तस्य प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात्। योगिप्रत्यक्षमन्यज्ज्ञानं दिव्यमप्यस्तीति चेत्। न तस्य प्रत्यक्षत्वं; इन्द्रियनिमित्तत्वाभावात्; अक्षमक्षं प्रति यद्वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्यभ्यु-

पगमात्। —प्रश्न—जो ज्ञान इन्द्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है और जो इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित है वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष व परोक्षका यह अविसंवादी लक्षण मानना चाहिए? उत्तर—कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त लक्षणके माननेपर आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञानका अभाव प्राप्त होता है। यदि इन्द्रियोंके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा जाता है तो ऐसा माननेपर आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि आप्तके इन्द्रियपूर्वक पदार्थका ज्ञान नहीं होता। कदाचित् उसके भी इन्द्रिय पूर्वक ही ज्ञान पाया जाता है तो उसके सर्वज्ञता नहीं रहती। प्रश्न—उसके मानस प्रत्यक्ष होता है? उत्तर—मनके प्रयत्नसे ज्ञानकी उत्पत्ति माननेपर सर्वज्ञत्वका अभाव ही होता है। प्रश्न—आगमसे सर्व पदार्थोंका ज्ञान हो जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि सर्वज्ञता प्रत्यक्षज्ञान पूर्वक प्राप्त होती है। प्रश्न—योगी-प्रत्यक्ष नामका एक अन्य दिव्यज्ञान है? उत्तर—उसमें प्रत्यक्षता नहीं बनती, क्योंकि वह इन्द्रियोंके निमित्तसे नहीं होता है। जिसकी प्रवृत्ति प्रत्येक इन्द्रियसे होती है वह प्रत्यक्ष है ऐसा आपके मतमें स्वीकार भी किया है। (रा. वा./१/१२/६-१/५३-५४)।

३. परोक्षता व अपरोक्षताका समन्वय

न्या. दी./२/§ १२/३४/१ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः 'सांव्यवहारिकम्'। इदं चामुख्यप्रत्यक्षम्, उपचारसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु परोक्षमेव, मतिज्ञानत्वात्। —इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होनेवाला एक देश स्पष्ट सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान अमुख्य प्रत्यक्ष है—गौण रूपसे प्रत्यक्ष है, क्योंकि उपचारसे सिद्ध होता है, वास्तवमें तो परोक्ष ही है।

दे. परोक्ष/४ (इन्द्रिय ज्ञान परमार्थसे परोक्ष है व्यवहारसे प्रत्यक्ष है।)

दे. अनुभव/४ वह बाह्य विषयोंको जानते समय परोक्ष है और स्वसंवेदनके समय प्रत्यक्ष है।

II अर्थलिंगज श्रुतज्ञान विशेष निर्देश

१. भेद व लक्षण

१. अर्थ लिंगज २० प्रकारका है

ष. खं. १३/५, ५/सू. ४७/२६० तस्सेव सुदणाणावरणीयस्स कम्मस्स वीसदिविधा परूवणा कायव्वा भवदि।४७। पुव्वं संजोगक्खरमेत्ताणि सुदणाणावरणाणि परूविदाणि। संपहि ताणि चेव सुदणाणावरणाणि वीसदिविधाणि त्ति भण्णमाणे एदस्स सुत्तस्स पुव्वसुत्तेण विरोहो किण्ण जायदे। ण एस दोसो, भिण्णाहिप्पायत्तादो। पुव्विल्लसुत्तमक्खरणिबंधणभेदपरूवयं, एदं पुण खओवसमगदभेदमस्सिदूण आवरणभेदपरूवयं। तम्हा दोसो णत्थि त्ति घेत्तव्वो। —श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी २० प्रकारकी प्ररूपणा करनी चाहिए।४७। प्रश्न—पहले जितने संयोगाक्षर होते हैं उतने श्रुतज्ञानावरण कर्म कहे गये हैं। अब वे ही श्रुतज्ञानावरण २० प्रकारके हैं, ऐसा कथन करनेपर इस सूत्रका पूर्व सूत्रके साथ विरोध क्यों नहीं होता। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि भिन्न अभिप्रायसे यह सूत्र कहा गया है। पूर्व सूत्र अक्षर निमित्तक श्रुतभेदोंका कथन करता है, परन्तु यह सूत्र क्षयोपशमका अवलम्बन लेकर आवरणके भेदोंका कथन करता है। इसलिए कोई दोष नहीं है। ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

२. अर्थ लिंगजके २० भेदोंका नाम निर्देश

ष. खं. १३/५,५/गा. १ व सू. ४८।२६० पज्जय-अक्खर पद-संघादय-पडिवत्ति-जोगदाराइं। पाहुडपाहुडवत्थू पुव्वसमासाय बोद्धव्वा।१। पज्जयावरणीयं पज्जयसमासावरणीयं अक्खरावरणीयं अक्खरसमासावरणीयं पदावरणीयं पदसमासावरणीयं संघादावरणीयं संघादसमासावरणीयं पडिवत्तिआवरणीयं पडिवत्तिसमासावरणीयं अणियोगद्दारावरणीयं अणियोगद्दारसमासावरणीयं पाहुडपाहुडावरणीयं पाहुडपाहुडसमासावरणीयं पाहुडावरणीयं पाहुडसमासावरणीयं वत्थुआवरणीयं वत्थुसमासावरणीयं पुव्वावरणीयं पुव्वसमासावरणीयं चेदि।४८। १. पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनियोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत-प्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्व समास, ये श्रुतज्ञानके बीस भेद जानने चाहिए।१। २. पर्याय ज्ञानावरणीय, पर्यायसमास ज्ञानावरणीय, अक्षरावरणीय, अक्षरसमासावरणीय, पदावरणीय, पदसमासावरणीय, संघातावरणीय, संघातसमासावरणीय, प्रतिपत्ति-आवरणीय, प्रतिपत्तिसमासावरणीय, अनुयोगद्वारावरणीय, अनुयोगद्वारसमासावरणीय, प्राभृतप्राभृतावरणीय, प्राभृतप्राभृत समासावरणीय, प्राभृतावरणीय, प्राभृतसमासावरणीय, वस्तु आवरणीय, वस्तुसमासावरणीय, पूर्वावरणीय, पूर्वसमासावरणीय, ये श्रुतावरणके बीस भेद हैं।४८। (ह. पु./१०/१२-१३); (ध. ६/१, ६-१,१४/२१/८); (ध. १३/४,२,१४,५/४८०/१२); (गो. जी./मू./३१७-३१८/६७७)।

३. बीस भेदोंके लक्षण

ह. पु./१०/१४-२६ श्रुतज्ञानविकल्पः स्यादेकह्रस्वाक्षरात्मकः। अनन्तानन्तभेदाणुपुद्गलस्कन्धसंचयः।१४। अनन्तानन्तभागैस्तु भिद्यमानस्य तस्य च। भागः पर्याय इत्युक्तः श्रुतभेदो ह्यनल्पशः।१५। सोऽपि सूक्ष्मनिगोदस्यालब्धपर्याप्तदेहिनः। सम्भवो सर्वथा तावान् श्रुतावरणवर्जितः।१६। सर्वस्यैव हि जीवस्य तावन्मात्रस्य नावृतिः। आवृतौ तु न जीवः स्यादुपयोगवियोगतः।१७। जीवोपयोगशक्तेश्च न विनाशः सयुक्तिकः। स्यादेवावृत्यवरोधेऽपि सूर्याचन्द्रमसोः प्रभा।१८। पर्यायानन्तभागेन पर्यायो युज्यते यदा। स पर्यायसमासः स्यात् श्रुतभेदो हि साकृतिः।१९। अनन्तसङ्ख्यसङ्ख्येयभागवृद्धिक्षयान्वितः। सङ्ख्येयासङ्ख्यकानन्तगुणवृद्धिक्रमेण च।२०। स्यात्पर्यायसमासोऽसौ यावदक्षरपूर्णता। एकैकाक्षरवृद्ध्या स्यात् तत्समासः पदावधिः।२१। पदमर्थपदं ज्ञेयं प्रमाणपदमित्यपि। मध्यमं पदमित्येवं त्रिविधं तु पदस्थितम्।२२। एकद्वित्रिचतुःपञ्च षट्सप्ताक्षरमर्थवत्। पदमाद्यं द्वितीयं तु पदमष्टाक्षरात्मकम्।२३। कोटयश्चैव चतुस्त्रिंशत् तच्छताम्यपि षोडश। त्र्यशीतिश्च पुनर्लक्षाः शतान्यष्टौ च सप्ततिः।२४। अष्टाशीतिश्च वर्णाः स्युर्मध्यमे तु पदे स्थिताः। पूर्वाङ्गपदसङ्ख्या स्यान्मध्यमेन पदेन सा।२५। एकैकाक्षरवृद्ध्या तु तत्समासभिदस्ततः। इत्थं पूर्वसमासान्तं द्वादशाङ्गं श्रुतं स्थितम्।२६। —श्रुतज्ञानके अनेक विकल्पोंमें एक विकल्प एक ह्रस्व अक्षर रूप भी है। इस विकल्पमें द्रव्यकी अपेक्षा अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओंसे निष्पन्न स्कन्धका संचय होता है।१४। इस एक ह्रस्वाक्षर रूप विकल्पके अनेक बार अनन्तानन्त भाग किये जावें तो उनमें एक भाग पर्याय नामका श्रुतज्ञान होता है।१५। वह पर्याय ज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके होता है और श्रुतज्ञानावरणके आवरणसे रहित होता है।१६। सभी जीवोंके उतने ज्ञानके ऊपर कभी आवरण नहीं पड़ता। यदि उसपर भी आवरण पड़ जावे तो ज्ञानोपयोगका सर्वथा अभाव हो जायेगा और ज्ञानोपयोगका अभाव होनेसे जीवका अभाव हो जायेगा।१७। यह निश्चयसे सिद्ध है कि जीवकी उपयोग शक्तिका कभी विनाश नहीं होता। जिस प्रकार कि मेघका आवरण होनेपर भी सूर्य और चन्द्रमाकी प्रभा कुछ अंशोंमें प्रगट रही आती है उसी प्रकार श्रुतज्ञानका आवरण होनेपर भी पर्याय नामका ज्ञान प्रकट रहा आता है।१८। जब यही पर्याय ज्ञान पर्याय ज्ञानके अनन्तवें भागके साथ मिल जाता है तब यह

पर्यायसमास नामका श्रुतज्ञान कहलाने लगता है, यह श्रुतज्ञान आवरणसे सहित है।१९। यह पर्याय-समास-ज्ञान अनन्तभागवृद्धि, असंख्यभाग वृद्धि, संख्यातभागवृद्धि तथा अनन्तभाग हानि, असंख्यात भागहानि, एवं संख्यात भाग-हानिसे सहित है। पर्यायज्ञानके ऊपर संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुण वृद्धिके क्रमसे वृद्धि होते-होते जबतक अक्षर ज्ञान पूर्णता होती है तब तकका ज्ञान पर्याय समास ज्ञान कहलाता है। उसके बाद अक्षरसमासज्ञान प्रारम्भ होता है उसके ऊपर पद ज्ञान तक एक-एक अक्षर की वृद्धि होती है। इस वृद्धि प्राप्त ज्ञानको अक्षर-समास ज्ञान कहते हैं। अक्षर समासके बाद पदज्ञान होता है। ।२०-२१। अर्थपद, प्रमाणपद, और मध्यम पदके भेदसे पद तीन प्रकारका है।२२। इनमें एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह व सात अक्षर तकका पद अर्थपद कहलाता है। आठ अक्षर रूप प्रमाण पद होता है और मध्यम पदमें सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी अक्षर होते हैं, और अंग तथा पूर्वोंके पदकी संख्या इसी मध्यम पदसे होती है।२३-२४। एक अक्षरकी वृद्धिकर पद समास लेकर पूर्व-मास पर्यन्त समस्त द्वादशांग श्रुत स्थित है।२६। (ध. १३/५,५,४८/२६२-२७१); (ध. ६/१,९-१,१४/२१-२५०); (गो. जी./मू./३२१-३४९)।

४. उपरोक्त ज्ञानोंकी यह संज्ञाएँ क्यों

ध. ६/१,९-१,१४/२७/७ कधमेदस्स अक्खरववएसो। ण, दव्वसुदपडिबद्धेगक्खरुप्पण्णस्स उवयारेण अक्खरववएसादो। —प्रश्न—उक्त प्रकारके इस श्रुतज्ञानकी 'अक्षर' ऐसी संज्ञा कैसे हुई। उत्तर—नहीं, क्योंकि, द्रव्य श्रुत प्रतिबद्ध एक अक्षरसे उत्पन्न श्रुतज्ञानकी उपचार-से 'अक्षर' ऐसी संज्ञा है।

ध. १३/५,५,४८/पृ./पं कधं तस्स अक्खरसण्णा। खरणेण विणा एग-सरूवेण अवट्ठाणादो। केवलणाणमक्खरं, तत्थ वड्ढि-हाणीणमभावादो। दव्वट्ठियणए सुहुमणिगोदणाणं तं चेवे त्ति व अक्खरं। (२६२।५) को पज्जओ णाम। णाणाविभागपडिच्छेदपक्खेवो पज्जओ णाम। तस्स समासो जेसु णाणट्ठाणेसु अत्थि तेसिं णाणट्ठाणाणं पज्जयसमासो त्ति सण्णा (२६४।२)। —प्रश्न—इसकी (सूक्ष्म निगोदियाके ज्ञानकी) अक्षर संज्ञा किस कारणसे है? उत्तर—क्योंकि यह ज्ञान नाशके बिना एक स्वरूपसे अवस्थित रहता है। अथवा केवलज्ञान अक्षर है, क्योंकि उसमें वृद्धि और हानि नहीं होती। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा चूँकि सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकका ज्ञान भी वही है, इसलिए भी इस ज्ञानको अक्षर कहते हैं। प्रश्न—पर्याय किसका नाम है। उत्तर—ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदोंके प्रक्षेपका नाम पर्याय है। उनका समास जिन ज्ञानस्थानोंमें होता है उन ज्ञानस्थानोंमें पर्याय समास संज्ञा है। परन्तु जहाँ एक ही प्रक्षेप होता है उस ज्ञानको पर्याय संज्ञा है, क्योंकि, एक पर्यायमें उनका समास नहीं बन सकता।

दे. पद/६ एक पदके १६३४८३०७८८८ अक्षरोंसे होनेके कारण ज्ञानको उपचारसे पद ज्ञान कह देते हैं।

५. अक्षर ज्ञानमें कौन सा अक्षर इष्ट है

ध. १३/५,५,४८/२६५/५ एदेसु तिसु अक्खरेसु केणेत्थ अक्खरेण पयदं। लद्धि अक्खरेण, ण सेसेहि, जडत्तादो। —प्रश्न—इन तीन अक्षरोंमेंसे (लब्ध्यक्षर, निर्वृत्त्यक्षर, और संस्थानाक्षरमेंसे) प्रकृतमें कौनसे अक्षरसे प्रयोजन है। उत्तर—लब्धि अक्षरसे प्रयोजन है, शेष अक्षरोंसे नहीं। क्योंकि वे जड़ स्वरूप हैं।

२. अर्थलिंगज निर्देश

१. लब्ध्यक्षर ज्ञानका प्रमाण

ध. १३/५,५,४८/२६२/७ किमेदस्स पमाणं। केवलणाणस्स अणंतिमभागो। —प्रश्न—इसका (लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञानका) प्रमाण क्या है। उत्तर—इसका प्रमाण केवल-ज्ञानका अनन्तवाँ भाग है।

२. लब्ध्यक्षर ज्ञान सदा निरावरण होता है

ध. १३/५,५,४८/२६२/७ एदं णिरावरणं, 'अक्खरस्साणंतिमभागो णिच्चुग्घाडिओ' त्ति वयणादो एदम्मि आवरिदे जीवाभावप्पसंगादो वा। एदम्हि लद्धि अक्खरे सव्वजीवरासिणा भागे हिदे सव्वजीव-रासीदो अणंतगुणणाणाविभागपडिच्छेदा आगच्छंति। —यह (लब्ध्यक्षर) ज्ञान निरावरण है, क्योंकि अक्षरका अनन्तवाँ भाग नित्य उद्घाटित (प्रगट) रहता है। ऐसा आगम वचन है। अथवा इसके आवृत होनेपर जीवके अभावका प्रसंग आता है। इस लब्ध्यक्षर ज्ञानमें सब जीव राशिका भाग देनेपर सब जीव राशिसे अनन्तगुणे ज्ञानाविभागप्रतिच्छेद होते हैं (१३/४,२,१४,४/४७६/५), (और भी दे. श्रुतज्ञान/II/१/३)।

गो. जी./मू./३१९-३२० सुहुमणिगोदअपज्जत्तस्स जादस्स पढमसमयम्हि। हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं।३१९। सुहुमणिगोद अपज्जत्तगेसु सगसंभवेसु भमिऊण। चरिमापुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्ठियेव हवे।३२०। —सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसीको प्रायः लब्ध्यक्षर ज्ञान कहते हैं। इतना ज्ञान हमेशा निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है।३१९। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके अपने अपने जितने भव (६०१२) सम्भव हैं उनमें भ्रमण करके अन्तके अपर्याप्त शरीरको तीन मोड़ाओं के द्वारा ग्रहण करनेवाले जीवके प्रथम मोड़ा के समयमें सर्वजघन्य ज्ञान होता है।

३. पर्याय आदि ज्ञानोंमें वृद्धि क्रम

ध. ६/१,९-१,१४/२१/११ तस्स (केवलणाणस्स) अणंतिमभागो पज्जाओ-णाम मदिणाणं। तं च केवलणाणं व णिरावरणमक्खरं च। एदम्हादो सुहुमणिगोदलद्धिअक्खरादो जमुप्पज्जइ सुदणाणं तं पि पज्जाओ उच्चदि,...तदो अणंतभागवड्ढी असंखेज्जभागवड्ढी संखेज्ज-भागवड्ढी, संखेज्जगुणवड्ढी असंखेज्जगुणवड्ढी, अणंत-गुणवड्ढी त्ति एसा एक्का छवड्ढी। एरिसाओ असंखेज्जलोग-मेत्ताओ छवड्ढीओ गंतूण पज्जायसमाससुदणाणस्स अपच्छिमो वियप्पो होदि। तमणंतेहि रूवेहि गुणिदे अक्खरं णाम सुदणाणं होदि।...एदस्सुवरि अक्खरवड्ढी चेव होदि, अवराओ वड्ढीओ णत्थि त्ति आइरियपरंपरागदुवदेसादो। केई पुणं आइरिया अक्खर-सुदणाणं पि छव्विहाए वड्ढीए वड्ढदि त्ति भणंति, णेदं घडदे, सयल-सुदणाणस्स संखेज्जदिभागादो अक्खरणाणादो उवरि छवड्ढीणं संभवाभावा। —केवलज्ञान अक्षर कहलाता है उसका अनन्तवाँ भाग पर्याय नामका मतिज्ञान है, वह पर्याय नामका मतिज्ञान केवलज्ञान-के समान निरावरण है और अविनाशी है। इस सूक्ष्म निगोद लब्धि अक्षरसे जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह पर्याय ज्ञान है, इस पर्याय श्रुतज्ञानसे जो अनन्तवें भागसे अधिक श्रुतज्ञान होता है वह पर्याय समास कहलाता है। अनन्त भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, और अनन्तगुणवृद्धि होती है इस प्रकार की असंख्यात लोक प्रमाण षड्वृद्धियाँ ऊपर जाकर पर्याय समास नामक श्रुतज्ञान का अन्तिम विकल्प होता है। उस

।अन्तिम विकल्पको अनन्त रूपोंसे गुणित करनेपर अक्षर-नामक श्रुतज्ञान होता है ।…इस अक्षर श्रुतज्ञानके ऊपर एक एक अक्षरकी वृद्धि होती है । अन्य वृद्धियाँ नहीं होती हैं, इस प्रकार परम्परागत उपदेश पाया जाता है । कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि अक्षर-श्रुतज्ञान भी छह प्रकारकी वृद्धिसे बढ़ता है । किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि समस्त श्रुतज्ञानके संख्यातवें भागरूप अक्षर-ज्ञानसे ऊपर छह प्रकारकी वृद्धियोंका होना सम्भव नहीं है ।

ध. १३/५,५,४८/२६८/३ अक्खरणाणादो उवरि छव्विहवड्ढि परूविदवेयणावक्खाणेण सह किण्ण विरोहो । ण, भिण्णाहिप्पायत्तादो । एयक्खरक्खओवसमादो जेसिमाइरियाणमहिप्पाएण उवरिमक्खओवसमा छव्विहवड्ढीए वड्ढिदा अत्थि तमस्सिय तं वक्खाणं तत्थ परूविदं । एगक्खरसुदणाणं जेसिमाइरियाणमहिप्पाएण सयलसुदणाणस्स संखेज्जदिभागो चेव तेसिमहिप्पाएणेदं वक्खाणं । तेण ण दोण्णं विरोहो । =प्रश्न—अक्षर-ज्ञानके ऊपर छह प्रकारकी वृद्धिका कथन करनेवाले वेदना अनुयोगद्वारके व्याख्यानके साथ इस व्याख्यानका विरोध क्यों नहीं होता ? उत्तर—नहीं, क्योंकि उसका इससे भिन्न अभिप्राय है । जिन आचार्योंके अभिप्रायानुसार एक अक्षरके क्षयोपशमसे आगेके क्षयोपशम छह वृद्धियों द्वारा वृद्धिको लिये हुए होते हैं उन आचार्योंके अभिप्रायको ध्यानमें रखकर वेदना अनुयोगद्वारमें यह व्याख्यान किया है । किन्तु जिन आचार्योंके अभिप्रायानुसार एक अक्षर श्रुतज्ञान समस्त श्रुतज्ञानके संख्यातवें भागप्रमाण ही होता है । उन आचार्योंके अभिप्रायानुसार यह व्याख्यान किया है, इसलिए इन दोनों व्याख्यानोंमें विरोध नहीं है ।

गो. जी./मू./३२२-३३२ अवरुवरिम्मि अणंतमसंखं संखं च भागवड्ढीए । संखमसंखमणंतं गुणवड्ढी होंति हु कमेण ।३२२। जीवाणं च य रासी असंखलोगा वरं खु संखेज्जं । भागगुणम्हि य कमसो अवट्ठिदा होंति छट्ठाणा ।३२३। उव्वंकं चउरंकं पणछस्सत्तंक अट्ठअंकं च । छवड्ढीणं सण्णा कमसो संदिट्ठिकरणट्ठं ।३२४। अंगुलअसंखभागे पुव्वगवड्ढीगदे दु परवड्ढी । एक्कं वारं होदि हु पुणो पुणो चरिमउड्ढित्ती ।३२५। आदिमछट्ठाणम्हि य पंच य वड्ढी हवंति सेसेसु । छव्वड्ढीओ होंति हु सरिसा सव्वत्थ पदसंखा ।३२६। छट्ठाणाणं आदि अट्ठंकं होदि चरिममुव्वंकं । जम्हा जहण्णणाणं अट्ठंकं होदि जिणदिट्ठं ।३२७। एक्कं खलु अट्ठंकं सत्तंकं कंडयं तदो हेट्ठा । रूवहियकंडएण य गुणिदकमा जावमुव्वंकं ।३२८। सव्वसमासो णियमा रूवाहियकंडयस्स वग्गस्स । विंदस्स य संवग्गो होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।३२९। उक्कस्ससंखमेत्तं तत्तिचउत्थेक्कदालछप्पण्णं । सत्तदसमं च भागं गंतूण य लद्धिअक्खरं दुगुणं ।३३०। एवं असंखलोगा अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा । ते पज्जायसमासा अक्खरगं उवरि वोच्छामि ।३३१। चरिमुव्वंकेण वहिदअत्थक्खरगुणिदचरिममुव्वंकं । अत्थक्खरं तु णाणं होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।३३२। —सर्वजघन्य पर्याय ज्ञानके ऊपर क्रमसे अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि होती हैं ।३२२। अनन्तभाग वृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार समस्त जीवराशि प्रमाण अवस्थित है । असंख्यातभाग वृद्धि और असंख्यात गुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार असंख्यात लोकप्रमाण अवस्थित है । संख्यात भागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार उत्कृष्ट संख्यात अवस्थित है ।३२३। लघुरूप संदृष्टिके लिए क्रमसे छह वृद्धियोंकी ये छह संज्ञा हैं । अनन्तभाग वृद्धिकी उर्वंक, असंख्यात भागवृद्धिकी चतुरङ्क, संख्यात भागवृद्धिकी पञ्चाङ्क, संख्यात गुणवृद्धिकी षडङ्क, असंख्यात गुणवृद्धिकी सप्ताङ्क, अनन्तगुण वृद्धिकी अष्टांक ।३२४। सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण पूर्व वृद्धि होनेपर एक बार उत्तर वृद्धि होती है । यह नियम अन्तकी वृद्धि पर्यन्त समझना चाहिए ।३२५। असंख्यात लोक प्रमाण षट्स्थानोंमेंसे प्रथम षट्स्थानोंमें पाँच ही वृद्धि होती हैं, अष्टांक वृद्धि नहीं होती । शेष सम्पूर्ण षट्स्थानोंमें अष्टांक सहित छह वृद्धि होती हैं । सूच्यंगुलका असंख्यातवाँ भाग अवस्थित है इसलिए पदोंकी संख्या सब जगह सदृश ही समझनी चाहिए ।३२६। सम्पूर्ण षट्स्थानोंमें आदिके स्थानको अष्टांक, और अन्तके स्थानको उर्वंक कहते हैं, क्योंकि जघन्य पर्याय ज्ञान भी अगुरुलघु गुणके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा अष्टांक हो सकता है ।३२७। एक षट्स्थानमें एक ही अष्टांक होता है । और सप्तांक सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागमात्र होते हैं । इसके नीचे षडंक, पंचांक, चतुरंक, उर्वंक ये एक एक अधिक बार सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागसे गुणित क्रम हैं ।३२८। एक अधिक काण्डकके वर्ग और घनको परस्पर गुणा करनेसे जो प्रमाण लब्ध आवे उतना ही एक षट्स्थान पतित वृद्धियोंके प्रमाणका जोड़ है ।३२९। एक अधिक काण्डकसे गुणित सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण अनन्त भाग वृद्धिके स्थान, और सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात भागवृद्धिके स्थान, इन दो वृद्धियोंको जघन्य ज्ञानके ऊपर हो जानेपर एक बार संख्यात भागवृद्धिका स्थान होता है, इसके आगे उक्त क्रमानुसार उत्कृष्ट संख्यात मात्र पूर्वोक्त संख्यातवृद्धिके हो जानेपर उसमें प्रक्षेपक वृद्धिके होनेसे लब्ध्यक्षरका प्रमाण दूना हो जाता है ।३३०। इस प्रकारसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान होते हैं, ये सब ही पर्याय समास ज्ञानके भेद हैं ।३३१। और भी दे० श्रुतज्ञान/II/१/३ । अन्तके उर्वंकका अर्थाक्षर समूहमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको अन्तके उर्वंकसे गुणा करनेपर अर्थाक्षर ज्ञानका प्रमाण होता है ।३३२। (विशेष—दे. नीचे यंत्र) एक स्थानकी संदृष्टि तदनुसार है :—

उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ६
उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ६
उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ७
उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ६
उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ[illegible]
उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ७
उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ६
उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ६
उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ५	उउ४	उउ४	उउ८

(क. पा. ५/४-१२/३५७२/पृ. २४२); (गो. जी./भाषा./३२६/६६४) ।

III शब्द लिंगज श्रुतज्ञान विशेष

१. भेद व लक्षण

१. लोकोत्तर शब्द लिंगजके सामान्य भेद

त. सू./१/२० श्रुतं...द्वयनेकद्वादशभेदम् ।२०।

स. सि./१/२०/१२३/१ अङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टमिति ।—१. श्रुतज्ञानके दो भेद—अंग बाह्य व अंग प्रविष्ट ये दो भेद हैं। (रा. वा./१/२०/११/७२/२१); (क. पा. १/१-१/§१७/२५/१); (ध. १/१,१,२/९६/६); (ध. १/१,१,११५/३५७/८); (ध. ६/४,१,४५/१८७/१२)। २. अथवा अनेक भेद और बारह भेद हैं।

२. अंग सामान्य व विशेषके लक्षण

१. अंग सामान्यकी व्युत्पत्ति

ध. ६/४,१,४५/१९३/६ अंगसुदमिदि गुणणामं, अङ्गति गच्छति व्याप्नोति त्रिकालगोचराशेषद्रव्य-पर्यायमित्यङ्गशब्दनिष्पत्तेः ।—अंगश्रुत यह गुणनाम है, क्योंकि, जो तीनों कालकी समस्त द्रव्य या पर्यायोंको 'अङ्गति' अर्थात् प्राप्त होता है या व्याप्त करता है वह अंग है, इस प्रकार अंग शब्द सिद्ध हुआ है।

गो. जी./जी. प्र./३५०/७४७/१७ अङ्ग्यते मध्यमपदैर्लक्ष्यते इत्यङ्गं। अथवा आचारादिद्वादशशास्त्रसमूहरूपश्रुतस्कन्धस्य अङ्गं अवयव एकदेश आचाराद्येकैकशास्त्रमित्यर्थः।—'अङ्ग्यते' अर्थात् मध्यम पदोंके द्वारा जो लिखा जाता है वह अंग कहलाता है। अथवा समस्त श्रुतके एक एक आचारादि रूप अवयवको अंग कहते हैं। ऐसे अंग शब्दकी निरुक्ति है।

२. अंग बाह्य व अंग प्रविष्ट

रा. वा./१/२०/१२-१३/पृ./पंक्ति आचारादि द्वादशविधमङ्गप्रविष्टमित्युच्यते (७२/२५) यद्गणधरशिष्यप्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यासं तदङ्गबाह्यम्। (७८/१)—आचारांग आदि १२ प्रकारका ज्ञान अंगप्रविष्ट कहलाता है। (७२/२५) गणधर देवके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा अल्पायु-बुद्धि बलवाले प्राणियोंके अनुग्रहके लिए अंगोंके आधारसे रचे गये संक्षिप्त ग्रन्थ अंगबाह्य हैं।

दे. श्रुतज्ञान/II/१/२ पूर्व ज्ञानका लक्षण।

दे. अग्रायणी/अग्रायणीके लक्षणका भावार्थ।

३. अंग प्रविष्ट व अंग बाह्यके भेद

१. अंगप्रविष्टके भेद

स. सि./१/२०/१२३/३ अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधम्। तद्यथा, आचारः सूत्रकृतं स्थानं समवायः व्याख्याप्रज्ञप्तिः ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनं, अन्तकृद्दशं अनुत्तरोपपादिकदशं प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिप्रवाद इति।—अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्न व्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। (रा. वा./१/२०/१२/७२/२६); (ध. १/१,१,२/९९/१); (ध. ९/४,१,४५/१९६); (ध. ६/४,१,४५/१९७/१); (क. पा. १/१-२/§१८/२६/१); (गो. जी./मू./३५६-३५७/७६०)।

२. दृष्टिवादके पाँच भेद

स. सि./१/२०/१२३/६ दृष्टिवादः पञ्चविधः—परिकर्म सूत्रं प्रथमानुयोगः पूर्वगतं चूलिका चेति।—दृष्टिवादके पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। (रा. वा./१/२०/१२/७४/१०); (ह. पु./१०/६१); (ध. १/१,१,२/१०९/४); (ध. ६/४,१,४०/२०४/११); (क. पा. १/१-१/§१९/२६/५); (गो. जी./मू./३६१-३६२/७७२)।

३. पूर्वगतके १४ भेद

स. सि./१/२०/१२३/६ तत्र पूर्वगतं चतुर्दशविधम्—उत्पादपूर्वं, आग्रायणीयं, वीर्यानुप्रवादं अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सत्यप्रवादं आत्मप्रवादं कर्मप्रवादं प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुप्रवादं कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकबिन्दुसारमिति।—पूर्वगतके चौदह भेद हैं—उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्ति प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल, और लोकबिन्दुसार। (रा. वा./१/२०/१२/७४/११); (ध. १/१,१,२/११४/६); (ध. ६/४,१,४५/२१२/६); (क. पा. १/१-१/§२०/२६/७); (गो. जी./मू./३४५-३४६/७४१)।

४. चूलिकाके पाँच भेद

ह. पु./१०/१२३ जलस्थलगताकाशरूपमायागता पुनः। चूलिका पञ्चधाम्नर्थसंज्ञा भेदवती स्थिता।१२३।—चूलिका पाँच भेदवाली है—जलगता, स्थलगता, आकाशगता, रूपगता और मायागता। ये समस्त भेद सार्थक भेदवाले हैं।१२३। (ध. १/१,१,२/११३/१); (ध. ६/४,१,४५/२०६/१०)।

५. अग्रायणी पूर्वके भेद

ध. १/१,१,२/१२३/२ तस्स अग्गेणियस्स पंचविहो उवक्कमो, आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि।—अग्रायणीय पूर्वके पाँच उपक्रम हैं—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार। (ध. ६/४,१,४५/२२६/६)।

६. अंग बाह्यके भेद

रा. वा./१/२०/१४/७८/६ तदङ्गबाह्यमनेकविधम्-कालिकमुत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात्। स्वाध्यायकाले नियतकालं कालिकम्। अनियतकालमुत्कालिकम्। तद्भेदा उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः।—कालिक, उत्कालिकके भेदसे अंग बाह्य अनेक प्रकारके हैं। स्वाध्याय कालमें जिनके पठन-पाठनका नियम है उन्हें कालिक कहते हैं, तथा जिनके पठन पाठनका कोई नियत समय न हो वे उत्कालिक हैं। उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ अंगबाह्य अनेक प्रकार हैं। (स. सि./१/२०/१२३/२)।

ध. १/१,१,१/९६/६ तत्थ अंगबाहिरस्स चोद्दस अत्थाहियारा। तं जहा, सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणा पडिक्कमणं वेणइयं किदियम्मं दसवेयालियं उत्तरज्झयणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं महापुंडरीयं णिसिहियं चेदि।—अंगबाह्यके चौदह अर्थाधिकार हैं। वे इस प्रकार हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका। (ध. ६/४,१,४५/१८७/१२), (क. पा./१/१-१/§१७/२५/१), (गो. जी./मू./३६७-३६८/७८६)।

४. अंग प्रविष्टके भेदोंके लक्षण

१. १२ अंगोंके लक्षण

रा. वा./१/२०/१२/—७२/२८ से ७४/६ तक—आचारे चर्याविधानं शुद्ध्यष्टकपञ्चसमितित्रिगुप्तिविकल्पं कथ्यते। सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहारधर्मक्रियाः प्ररूप्यन्ते। स्थाने अनेकाश्रयाणामर्थानां निर्णयः क्रियते। समवाये सर्वपदार्थानां

समवायश्चिन्त्यते। स चतुर्विधः–द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पैः। तत्र धर्माधर्मास्तिकायलोकाकाशैकजीवानां तुल्यासंख्येयप्रदेशत्वाद् एकेन प्रमाणेन द्रव्याणां समवायनाद् द्रव्यसमवायः।...व्याख्याप्रज्ञप्तौ षष्टिव्याकरणसहस्राणि 'किमस्ति जीवः, नास्ति' इत्येवमादीनि निरूप्यन्ते। ज्ञातृधर्मकथायाम् आख्यानोपाख्यानानां बहुप्रकाराणां कथनम्। उपासकाध्ययने श्रावकधर्मलक्षणम्।...ऋषभादीनां तीर्थेषु...दश दशानागारा दशदश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतः दश अस्यां वर्ण्यन्ते इति अन्तकृद्दशा।...एवमृषभादीनां...तीर्थेषु...दश दश अनागारा दश दश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्ना इत्येवमनुत्तरौपपादिकाः दशास्यां वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरौपपादिकदशा।...प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्, तस्मिन्लौकिकवैदिकानामर्थानां निर्णयः विपाकसूत्रे सुकृतदुष्कृतानां विपाकश्चिन्त्यते। द्वादशमङ्गं दृष्टिवाद इति।...दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते। –आचारांगमें चर्याका विधान आठ शुद्धि, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि रूपसे वर्णित है। सूत्रकृतांगमें ज्ञान-विनय, क्या कल्प्य है क्या अकल्प्य है, छेदोपस्थापनादि, व्यवहारधर्मकी क्रियाओंका निरूपण है। स्थानांगमें एक-एक दो-दो आदिके रूपसे अर्थोंका वर्णन है। समवायांगमें सब पदार्थोंकी समानता रूपसे समवायका विचार किया गया है। जैसे धर्म-अधर्म लोकाकाश और एक जीवके तुल्य असंख्यात प्रदेश होनेसे इनका द्रव्यरूपसे समवाय कहा जाता है। (इसी प्रकार यथायोग्य क्षेत्र, काल, व भावका समवाय जानना) व्याख्याप्रज्ञप्तिमें 'जीव है कि नहीं' आदि साठ हजार प्रश्नोंके उत्तर हैं। ज्ञातृधर्मकथामें अनेक आख्यान और उपाख्यानोंका निरूपण है। उपासकाध्ययनमें श्रावकधर्मका विशेष विवेचन किया गया है। अन्तकृद्दशांगमें प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें होने वाले उन दश-दश अन्तकृद् केवलियोंका वर्णन है जिनने भयंकर उपसर्गोंको सहकर मुक्ति प्राप्त की।...अनुत्तरोपपादिकदशांगमें प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें होने वाले उन दश-दश मुनियोंका वर्णन है जिनने दारुण उपसर्गोंको सहकर...पाँच अनुत्तर विमानोंमें जन्म लिया। प्रश्न व्याकरणमें युक्ति और नयोंके द्वारा अनेक आक्षेप और विक्षेप रूप प्रश्नोंका उत्तर दिया गया है। विपाक-सूत्रमें पुण्य और पापके विपाकका विचार है। बारहवाँ दृष्टि प्रवाद अंग है, इसमें ३६३ मतोंके निरूपण पूर्वक खण्डन है (३६३ मतोंके लिए दे० एकान्त/५/२)। (ह पु./१०/२७-४६), (ध. १/१,१,२/९९-१०९), (ध. ९/४,१,४५/१९७-२०१), (गो. जी./जी. प्र./३५६-३५७/७६०-७६६)।

२. दृष्टिवादके प्रथम तीन भेदोंके लक्षण

ध. १/१,१,२/१०९-१११/४ तस्स पंच अत्थाहियारा हवंति, परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-पुव्वगय-चूलिया चेदि। जं तं परियम्मं पंचविहं। तं जहा, चंदपण्णत्ती सूरपण्णत्ती जंबूदीवपण्णत्ती दीवसायरपण्णत्ती वियाहपण्णत्ती चेदि। तत्थ चंदपण्णत्ती णाम...चंदायु-परिवारिद्धि गइ-बिंबुस्सेह-वण्णणं कुणइ। सूरपण्णत्ती...सूरस्सायु-भोगोवभोग-परिवारिद्धि-गइ-बिंबुस्सेह दिण-किरणुज्जोववण्णणं कुणइ। जंबूदीवपण्णत्ति...जंबूदीवे णाणाविह-मणुयाणं भोगकम्म-भूमियाणं अण्णेसिं च पव्वद-दह-णइ...वण्णणं कुणइ। दीवसायरपण्णत्ती दीवसायरपमाणं अण्णं पि दीवसायरंतब्भूदत्थं बहुभेयं वण्णेदि। वियाहपण्णत्ती णाम... अजीवदव्वं भवसिद्धियअभवसिद्धिय-रासिं च वण्णेदि। सुत्तं...अबंधओ अवलेवओ अकत्ता अभोत्ता णिग्गुणो सव्वगओ...अत्थेति वण्णेदि।...पढमाणियोगो पंच-सहस्सपदेहि...पुराणं वण्णेदि। –दृष्टिवादके पाँच अधिकार हैं, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। उनमेंसे चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति, इस तरह परिकर्मके पाँच भेद हैं। चन्द्रप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म चन्द्रमाकी आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्बकी ऊँचाई आदिका वर्णन करता है। सूर्यप्रज्ञप्ति सूर्यकी आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्बकी ऊँचाई आदिका वर्णन करता है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए नाना प्रकारके मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच आदिका पर्वत, द्रह, नदी आदिका वर्णन करता है। सागर प्रज्ञप्ति नामका परिकर्म द्वीप और समुद्रोंके प्रमाणका तथा द्वीपसागरके अन्तर्भूत नाना-प्रकारके दूसरे पदार्थोंका वर्णन करता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव, इन सबका वर्णन करता है। सूत्र नामका अर्थाधिकार जीव अबन्धक ही है, अवलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, इत्यादि रूपसे ३६३ मतोंका पूर्वपक्ष रूपसे वर्णन करता है। (३६३ मतोंके लिए दे० एकान्त/५/२) प्रथमानुयोग पुराणोंका वर्णन करता है। (ह. पु./१०/६३-७१), (ध. ९/४,१,४५/२०६-२०९), (गो. जी./जी. प्र./३६१-३६२/७७२)।

३. दृष्टिवादके चौथे भेद पूर्वगतके १४ भेद व लक्षण

रा. वा./१/२०/१२/—७४/११ से ७८/२ तक तत्र पूर्वगतं चतुर्दशप्रकारम्। ...कालपुद्गलजीवादीनां यदा यत्र यथा च पर्यायेणोत्पादो वर्ण्यते तदुत्पादपूर्वं। क्रियावादादीनां प्रक्रिया अग्रायणीव अङ्गादीनां स्वसमयविषयश्च यत्र ख्यापितस्तदग्रायणम्। छद्मस्थकेवलिनां वीर्यं सुरेन्द्रदैत्याधिपानां ऋद्धयो नरेन्द्रचक्रधरबलदेवानां च वीर्यलाभो द्रव्याणां सम्यक्त्वलक्षणं च यत्राभिहितं तद्वीर्यप्रवादम्। पञ्चानामस्तिकायानामर्थो नयानां चानेकपर्यायै...यत्रावभासितं तदस्तिनास्तिप्रवादम्।...पञ्चानामपि ज्ञानानां...इन्द्रियाणां च प्राधान्येन यत्र विभागो विभावित' तज्ज्ञानप्रवादम्। वाग्गुप्तिसंस्कारकारणप्रयोगो द्वादशधा भाषावक्तारश्चानेकप्रकारमृषाभिधानं...यत्र प्ररूपितः तत् सत्यप्रवादम्।...यत्रात्मनोऽस्तित्वनास्तित्व...धर्माः षड्जीवनिकायभेदाश्च युक्तितो निर्दिष्टाः तदात्मप्रवादम्। बन्धोदयोपशमनिर्जरापर्याया...स्थितिश्च...यत्र निर्दिश्यते तत्कर्मप्रवादम्। व्रत-नियम-प्रतिक्रमण...श्रामण्यकारणं च परिमितापरिमितद्रव्यभावप्रत्याख्यानं च यत्राख्यातं तत्प्रत्याख्याननामधेयम्। ...अष्टौ महानिमित्तानि तद्विषयो रज्जुराशिविधिः क्षेत्रं श्रेणी लोकप्रतिष्ठा संस्थानं समुद्घातश्च यत्र कथ्यते तद्विद्यानुवादम्।...रविशशिग्रहनक्षत्रताराणां चारोपपादगतिविपर्ययफलानि शकुनव्याहृतम् अर्हद्-बलदेव-वासुदेव-चक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च यत्रोक्तानि तत् कल्याणनामधेयम्। कायचिकित्साद्यष्टाङ्ग-आयुर्वेदः भूतिकर्म-जाङ्गुलिकप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तारेण वर्णितस्तत् प्राणावायम्। लेखादिकाः कलाद्वासप्ततिः, गुणाश्चतुःषष्टिस्त्रैणाः, शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियाछन्दोविचितिक्रियाफलोपभोक्तारश्च यत्र व्याख्याताः तत्क्रियाविशालम्। यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि परिकर्मराशिक्रियाविभागश्च सर्वश्रुतसंपदुपदिष्टा तत्खलु लोकबिन्दुसारम्। –पूर्वगतके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं—उत्पादपूर्वमें जीव पुद्गलादिका जहाँ जब जैसा उत्पाद होता है उस सबका वर्णन है। अग्रायणी पूर्वमें क्रियावाद आदिकी प्रक्रिया और स्वसमयका विषय विवेचित है। वीर्यप्रवादमें छद्मस्थ और केवलीकी शक्ति सुरेन्द्र असुरेन्द्र आदिकी ऋद्धियाँ नरेन्द्र चक्रवर्ती बलदेव आदिकी सामर्थ्य द्रव्योंके लक्षण आदिका निरूपण है। अस्तिनास्तिप्रवादमें पाँचों अस्तिकायोंका और नयोंका अस्ति-नास्ति आदि अनेक पर्यायों द्वारा विवेचन है। ज्ञानप्रवादमें पाँचों ज्ञानों और इन्द्रियोंका विभाग आदि निरूपण है। ...सत्यप्रवाद पूर्वमें वाग्गुप्ति, वचन संस्कारके कारण, वचन प्रयोग बारह प्रकारकी भाषाएँ, दस प्रकारके सत्य, वक्ताके प्रकार आदि-

का विस्तारसे विवेचन है। ...आत्म प्रवादमें आत्म द्रव्यका और छह जीव निकायोंका अस्ति-नास्ति आदि विविध भंगोंसे निरूपण है। कर्मप्रवादमें कर्मोंकी बन्ध उदय उपशम आदि दशाओंका और स्थिति आदिका वर्णन है। प्रत्याख्यान प्रवादमें व्रत-नियम, प्रतिक्रमण, तप, आराधना आदि तथा मुनित्वमें कारण द्रव्योंके त्याग आदिका विवेचन है। विद्यानुवाद पूर्वमें समस्त विद्याएँ आठ महा निमित्त, रज्जुराशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोक प्रतिष्ठा, समुद्घात आदिका विवेचन है। कल्याणवाद पूर्वमें सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारागणोंके चार क्षेत्र, उपपादस्थान, गति, वक्रगति तथा उनके फलोंका, पक्षीके शब्दोंका और अरिहन्त अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदिके गर्भावतार आदि महाकल्याणकोंका वर्णन है। प्राणावाद पूर्वमें शरीर चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलिकक्रम (विषविद्या) और प्राणायामके भेद-प्रभेदोंका विस्तारसे वर्णन है। क्रिया विशाल पूर्वमें लेखन कला आदि बहत्तर कलाओंका, स्त्री सम्बन्धी चौसठ गुणोंका, शिल्पकलाका, काव्य सम्बन्धी गुण-दोष विधिका और छन्द निर्माण कलाका विवेचन है। लोकबिन्दुसारमें आठ व्यवहार, चार बीज, राशि परिकर्म आदि गणित तथा समस्त श्रुत-सम्पत्तिका वर्णन है। (ह. पु./१०/७५-१२२); (ध. १/१,१,२/-११४-१२२), (ध. ६/४,१,४५/२१२-२२४/१९); (गो. जी./जी. प्र./-३६५-३६६/७७८)।

४. दृष्टिवादके ५वें भेद रूप ५ चूलिकाओंके लक्षण

ध. १/१,१,२/११३/२ जलगया...जलगमण-जलत्थंभण कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि। थलगया णाम...भूमि-गमण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वत्थु-विज्जं भूमि-संबंधमण्णं पि सुहासुह-कारणं वण्णेदि। मायागया...इंदजालं वण्णेदि। रूवगया...सीह-हय-हरिणादि-रूवायारेण परिणमण-हेदु-मंत-तंत-तवच्छरणाणि चित्त-कट्ठ-लेप्प-लेण-कम्मादि-लक्खणं च वण्णेदि। आयासगया णाम...आगास-गमण णिमित्त-मंत-तंत तवच्छरणाणि वण्णेदि। —जलगता चूलिका—जलमें गमन, जलस्तम्भनके कारण भूत मन्त्र तन्त्र और तपश्चर्या रूप अतिशय आदिका वर्णन करती है। स्थलगता चूलिका—पृथिवीके भीतर गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदिका तथा वास्तु विद्या और भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभ-अशुभ कारणोंका वर्णन करती है। मायागता चूलिका—इन्द्रजाल आदिके कारणभूत मन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है। रूपगता चूलिका—सिंह, घोड़ा और हरिण आदिके स्वरूपके आकार रूपसे परिणमन करनेके कारणभूत मन्त्र-तन्त्र और तपश्चरण तथा चित्र-काष्ठ-लेप्य-लेन कर्म आदिके लक्षणका वर्णन करती है। आकाशगता चूलिका—आकाशमें गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है। (ह. पु./१०/-१२४); (ध. ६/४,१,४५/२०६-२१०); (गो. जी./जी. प्र./३६१-३६२/७७३/५)।

५. अंग बाह्यके भेदोंके लक्षण

ध. १/१,१,२/९६-९८/६ जं सामाइयं तं णाम ट्ठवणा-दव्वक्खेत्त-काल-भावेसु-समत्तविहाणं वण्णेदि। चउवीसत्थओ चउवीसण्हं तित्थयराणं वंदण-विहाण-तण्णाम संठाणुस्सेह-पंच-महाकल्लाण-चोत्तीस-अइसयसरूवं तित्थयर-वंदणाए सहलत्तं च वण्णेदि। वंदणा एग-जिण-जिणालय-विसय-वंदणाए णिरवज्ज-भावं वण्णेइ। पडिक्कमणं कालं पुरिसं च अस्सिऊण सत्तविह-पडिक्कमणाणि वण्णेइ। वेणइयं णाण-दंसण-चरित्त-तवोवयारविणए वण्णेइ। किदियम्मं अरहंत-सिद्ध-आइरिय-बहुसुद-साहूणं पूजाविहाणं वण्णेइ। दसवेयालियं आयार-गोयर-विहिं वण्णेइ। उत्तरज्झयणं उत्तर-पदाणि वण्णेइ। कप्पववहारो साहूणं जोग्गमाचरणं अकप्प-सेवणाए पायच्छित्तं च वण्णेइ। कप्पाकप्पियं साहूणं जं कप्पदि जं च ण कप्पदि तं सव्वं वण्णेदि। महाकप्पियं कालसंघडणाणि अस्सिऊण साहु-पाओग्ग-दव्व-खेत्तादीणं वण्णणं कुणइ। पुंडरीयं चउव्विह-देवेसुववादकारण-अणुट्ठाणाणि वण्णेइ। महापुंडरीयं सयलिंद-पडिइंदे उप्पत्तिकारणं वण्णेइ। णिसिहियं बहुविह-पायच्छित्त-विहाण-वण्णणं कुणइ।— सामायिक नामका अंगबाह्य समता भावके विधानका वर्णन करता है। चतुर्विंशति स्तव चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दना करनेकी विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौंतीस अतिशयोंके स्वरूप और तीर्थंकरोंकी वन्दनाकी सफलताका वर्णन करता है। वन्दना एक जिनेन्द्र देव सम्बन्धी और उन एक जिनेन्द्र देवके अवलम्बनसे जिनालय सम्बन्धी वन्दनाका वर्णन करता है। सात प्रकारके प्रतिक्रमणोंका प्रतिक्रमण वर्णन करता है। वैनयिक पाँच प्रकारकी विनयोंका वर्णन करता है। कृतिकर्म अरहन्त, सिद्ध आचार्य और साधुकी पूजाविधिका वर्णन करता है। दश वैकालिकोंका दशवैकालिक वर्णन करता है। तथा वह मुनियोंकी आचार विधि और गोचरविधिका भी वर्णन करता है। जिसमें अनेक प्रकारके उत्तर पढ़नेको मिलते हैं उसे उत्तराध्ययन कहते हैं। इसमें चार प्रकारके उपसर्ग कैसे सहन करने चाहिए? बाईस प्रकारके परिषहोंको सहन करनेकी विधि क्या है? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरोंका वर्णन किया गया है। कल्प व्यवहार साधुओंके योग्य आचरणका और अयोग्य आचरणके होने पर प्रायश्चित्त विधिका वर्णन करता है। कल्प्याकल्प्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा मुनियोंके लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है' इस तरह इन सबका वर्णन करता है। महाकल्प्य काल और संहननका आश्रय कर साधुके योग्य द्रव्य और क्षेत्रादिका वर्णन करता है। पुण्डरीक भवनवासी आदि चार प्रकारके देवोंमें उत्पत्तिके कारण रूप, दान, पूजा, तपश्चरण आदि अनुष्ठानोंका वर्णन करता है। महापुण्डरीक समस्त इन्द्र और प्रतीन्द्रोंमें उत्पत्तिके कारण रूप तपो विशेष आदि आचरणका वर्णन करता है। निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकारके प्रायश्चित्तके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको निषिद्धिका कहते हैं। (ह. पु./१०/१२६-१३८); (ध. १/४,१,४५/१८८ १९१); (गो. जी./जी. प्र./३६७-३६८/७८६)।

२. शब्द लिंगज निर्देश

१. बारह अंगोंमें पद संख्या निर्देश

(ह. पु./१०/२७-४५); (ध. १/१,१,२/९९-१०७), (ध. ९/४,१,४५/१९७-२०३); (गो. जी./जी. प्र./३५६-३६०/३६०-३७०)।

क.	नाम	पद संख्या	क.	नाम	पद संख्या
१	आचारांग	१८०००	७	उपासकाध्ययन	११७००००
२	सूत्रकृतांग	३६०००	८	अन्तकृद्दशांग	२३२८०००
३	स्थानांग	४२०००	९	अनुत्तरोपपादिक-दशांग	९२४४०००
४	समवायांग	१६४०००	१०	प्रश्न व्याकरण	९३१६०००
५	व्याख्या प्र०	२२८०००	११	विपाक सूत्र	१८४०००००
	(दूसरे; भगवती सूत्र)	८४०००	१२	दृष्टिवाद	१०८६८५६००५
६	ज्ञातृधर्मकथा	५५६०००		कुलपद	११२८३५८००५

२. दृष्टिवाद अंगमें पद संख्या निर्देश

(ह. पु./१०/६१-७१, १२४); (ध. १/१,१,२/१०६-११३); (ध. ६/४,१,४५/२०६-२१०); (गो. जी./मू./३६३-३६४/७७५)।

क्र.	नाम	पद संख्या	क्र.	नाम	पदसंख्या
१	परिकर्म—		४	पूर्वगत	देखो अगला शीर्षक
	१ चन्द्र प्रज्ञप्ति	३६०५०००	५	चूलिका—	
	२ सूर्य प्रज्ञप्ति	५०३०००		१ जलगता	२०९८९२०५
	३ जम्बू द्वीप ,,	३२५०००		२ स्थलगता	,,
	४ द्वीप समुद्र ,,	५२३६०००		३ आकाशगता	,,
	५ व्याख्या ,,	८४३६०००		४ रूपगता	,,
२	सूत्र	८८०००००		५ मायागता	,,
३	प्रथमानुयोग	५०००	६	कुलजोड़	१०४८९६०२५

३. चौदह पूर्वोंमें पदादि संख्या निर्देश

(ह. पु./१०/७५-१२०); (ध. १/१,१,२/११४-१२२); (ध. ६/४,१,४५/२१२-२२४,२२६); (क. पा. १/१-१/§२०/२६/१०); (गो. जी./मू./३६५-३६६/७७)।

क्र.	नाम	वस्तुगत	प्राभृत	पद संख्या
		दि० श्वे०		
१	उत्पाद पूर्व	१०	२००	१००००००००
२	अग्रायणीयपूर्व	१४	२८०	९६००००००
३	वीर्यानुवाद पूर्व	८	१०८	७००००००
४	अस्तिनास्ति प्रवाद	१८	३८०	६००००००
५	ज्ञान प्रवाद	१२	२४०	९९९९९९९
६	सत्यप्रवाद	१२	४०	१००००००६
७	आत्म प्रवाद	१६	३२०	२६०००००००
८	कर्म प्रवाद	२०	४००	१८००००००
९	प्रत्याख्यानप्रवाद	३० २०	६००	८४०००००
१०	विद्यानुवाद	१५	३००	११००००००
११	कल्याण नामधेय	१०.	२००	२६०००००००
१२	प्राणावाय	१०	२००	१३०००००००
१३	क्रिया विशाल	१०	२००	९००००००
१४	लोक बिन्दुसार	१० २०	२००	१२५००००००

४. अंग बाह्यके चौदह भेदोंमें पद संख्या निर्देश

ह. पु./१०/१२७-१२८ त्रयोदश सहस्राणि पञ्चशत्येकविंशतिः। कोटो च पदसंख्येयं वर्णाः सप्तैव वर्णिताः ।१२७। पञ्चविंशतिलक्षाश्च त्रयस्त्रिंशच्छतानि च। अशीतिः श्लोकसंख्येयं वर्णाः पञ्चदशात्र च ।१२८। —अंगबाह्य श्रुतज्ञानके समस्त अक्षरोंका संग्रह आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर प्रमाण है (८०१०८१७५) ।१२७। और इसके समस्त श्लोकोंकी संख्या पच्चीस लाख तीन हजार तीन सौ अस्सी तथा शेष पन्द्रह अक्षर प्रमाण है ।१२८। (२५०३३८०+१५ अक्षर)।

५. यहाँपर मध्यम पदसे प्रयोजन है

ध. १३/५,५,४८/२६६/७ एदेसु केण पदेण पयदं। मज्झिमपदेण। वुत्तं च—तिविहं पदमुद्दिट्ठं पमाणपदमत्थमज्झिमपदं च। मज्झिमपदेण वुत्ता पुव्वंगाणं पदविभागो ।१६। —प्रश्न—इन पदों (अर्थपद, प्रमाणपद, मध्यमपद) मेंसे प्रकृतमें किस पदसे प्रयोजन है। उत्तर—मध्यम पदसे प्रयोजन है, कहा भी है—पद तीन प्रकारका कहा गया है अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद। इनमेंसे मध्यम पदके द्वारा पूर्व और अंगोंका पदविभाग कहा गया है ।१६।

६. इन ज्ञानोंका अनुयोग आदि ज्ञानोंमें अन्तर्भाव

ध. १३/५,५,४८/२७६/१ अंगबाहिरचोद्दसपइण्णयज्झाया आयारादिएक्कारसंगाइं परियम्म-सुत्तपढमाणियोगचूलियाओ च कत्थंतब्भावं गच्छंति। ण अणियोगद्दारे तस्स समासे वा, तस्स पाहुड-पाहुडपडिबद्धत्तादो। ण पाहुडपाहुडे तस्समासे वा, तस्स पुव्वगयअवयवत्तादो। ण च परियम्मसुत्त-पढमाणियोग-चूलियाओ एक्कारस अंगाइं वा पुव्वगयावयवा। तदो ण ते कत्थ वि लयं गच्छंति। ण एस दोसो, अणियोगद्दार-तस्समासाणं च अंतब्भावादो। ण च अणियोगद्दार-तस्समासेहि पाहुडपाहुडावयवेहि चेव होदव्वमिदि णियमो अत्थि, विप्पडिसेहाभावादो। अधवा, पडिवत्ति-समासे एदेसिमंतब्भावो वत्तव्वो। पच्छाणुपुव्वीए पुण विवक्खियाए पुव्वसमासे अंतब्भावं गच्छंति त्ति वत्तव्वं। —प्रश्न—अंगबाह्य, चौदह प्रकीर्णकाध्याय, आचार आदि ११ अंग, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग और चूलिका, इनका किस श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव होता है। प्रथमानुयोग या अनुयोगद्वारसमासमें तो इनका अन्तर्भाव हो नहीं सकता, क्योंकि ये दोनों प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञानसे प्रतिबद्ध हैं। प्राभृतप्राभृत या प्राभृतप्राभृतसमासमें भी इनका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि ये पूर्वगतके अवयव हैं। परन्तु परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, चूलिका और ११ अंग ये पूर्वगतके अवयव नहीं हैं। इसलिए इनका किसी भी श्रुतज्ञानके भेदमें अन्तर्भाव नहीं होता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अनुयोगद्वार और अनुयोगद्वारसमासमें इनका अन्तर्भाव होता है। अनुयोगद्वार और अनुयोगद्वारसमास प्राभृतप्राभृतके अवयव होने चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि इसका कोई निषेध नहीं किया है। अथवा प्रतिपत्तिसमास श्रुतज्ञानमें इनका अन्तर्भाव कहना चाहिए। परन्तु पश्चादानुपूर्वीकी विवक्षा करनेपर इनका पूर्वसमास श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव होता है, यह कहना चाहिए।

श्रुतज्ञान व्रत—इस व्रतकी विधि दो प्रकारसे वर्णन की गयी है—लघु व बृहद्।

१. लघु विधि—१२ वर्ष व ८ माह पर्यन्त - सोलह पड़िमाके, तीन तीजके, ४ चौथके, ५ पंचमीके, ६ छठके, ७ सप्तमीके, ८ अष्टमीके, ९ नवमीके, १० दशमीके, ११ एकादशीके, १२ द्वादशीके, १३ त्रयोदशीके, १४ चतुर्दशीके, पन्द्रह पूर्णिमाओंके और १५ अमावस्याओंके, इस प्रकार कुल १४८ उपवास करे। प्रत्येक उपवासके साथ १ पारणा आवश्यक है। कुल उपवास १४८ करे। तथा 'ओं ह्रीं द्वादशांगश्रुतज्ञानाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (किशन सिंह कृत क्रियाकोष); (व्रतविधान सं./पृ. १७१)।

२. बृहद् विधि—६ वर्ष ७ माह पर्यन्त निम्न प्रकार उपवास करें। मतिज्ञानके २८ पड़िमाके २८ उपवास २८ पारणा; ग्यारह अंगोंके ११ एकादशियोंके ११ उपवास ११ पारणा; परिकर्मके २ दोजके २ उपवास २ पारणा; ८८ सूत्रके ८८ अष्टमियोंके ८८ उपवास ८८ पारणा; प्रथमानुयोगका १ नवमीका १ उपवास १ पारणा; १४ पूर्वके १४ चतुर्दशियोंके १४ उपवास १४ पारणा; पाँच चूलिकाके ५

पंचमियोंके ५ उपवास ५ पारणा; अवधिज्ञानके ६ षष्ठियोंके ६ उपवास ६ पारणा; मनःपर्यय ज्ञानके २ चौथोंके २ उपवास २ पारणा, केवलज्ञानके १ दशमीका १ उपवास १ पारणा। इस प्रकार कुल १५८ उपवास करे। तथा 'ओं ह्रीं श्रुतज्ञानाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./१३२); (वृहद् तरंगिनी)।

श्रुत ज्ञानावरण —दे. ज्ञानावरण।

श्रुत ज्ञानी—दे. श्रुतकेवली।

श्रुत तीर्थ—दे. इतिहास/४।

श्रुत पंचमी व्रत—पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ला ५ को श्रुतावतारके उपलक्षमें उपवास करे। 'ओं ह्रीं द्वादशांगश्रुतज्ञानाय नमः' इस मन्त्रकी त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./पृ. १०)।

श्रुत भावना—दे. भावना/१।

श्रुत मूढ—दे. मूढ।

श्रुतवाद—ध. १३/५.५.५०/२८७/१२ श्रुतं द्विविधं–अङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यमिति। तदुच्यते कथ्यते अनेन वचनकलापेनेति श्रुतवादो द्रव्यश्रुतम्। सुदवादो त्ति गदं। –श्रुत दो प्रकारका है–अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य। इसका कथन जिस वचन कलापके द्वारा किया जाता है वह द्रव्यश्रुत श्रुतवाद कहलाता है। इस प्रकार श्रुतवादका कथन किया।

श्रुतसागर—नन्दिसंघ बलात्कार गण की सूरत शाखा में। (दे. इतिहास) आप विद्यानन्दि सं. २ के शिष्य तथा श्रीचन्द्रके गुरु थे। कृति—यशस्तिलक चम्पूकी टीका यशस्तिलकचन्द्रिका, तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरी), तत्त्वत्रय प्रकाशिका (ज्ञानार्णवके गद्य भागकी टीका), प्राकृत व्याकरण, जिनसहस्रनाम टीका, विक्रमप्रबन्धकी टीका, औदार्यचिन्तामणि, तीर्थदीपक, श्रीपाल चरित, यशोधर चरित, महाभिषेक टीका (पं. आशाधरके नित्यमहोद्योतकी टीका); श्रुतस्कन्ध पूजा, सिद्धचक्राष्टकपूजा, सिद्धभक्ति, बृहत् कथाकोष, षट् प्राभृतकी टीका। व्रत कथाकोष। समय—महाभिषेक टीका वि. १५८२ में लिखी गयी है। तदनुसार इनका समय वि. १५४४-१५९० (ई. १४८७-१५३३); (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम/प्र./२ टिप्पण प्रेमीजी); (पं. वि./प्र. ३५/A.N. Up); (प.पु.प्र./६३ A.N. Up) (ती./३/३९१); (जै /२/३७६) (दे. इतिहास/७/४)।

श्रुतस्कंध पूजा—दे. पूजापाठ।

श्रुतस्कंध व्रत—इस व्रतकी विधि उत्तम, मध्यम व जघन्यके भेदसे तीन प्रकारकी है—उत्तम विधि—भाद्रपद कृ. १ से आश्विन कृ. २ तक ३२ दिनमें एक उपवास एक पारणा क्रमसे १६ उपवास करे। मध्यम-विधि—भाद्रपद कृ. ६ से शुक्ला १५ तक २० दिनमें उपरोक्त ही प्रकार १० उपवास करे। लघुविधि—भाद्रपद शुक्ला १ से आश्विन कृ. १ तक १६ दिनोंमें उपरोक्त ही प्रकार ८ उपवास करे। तीनों ही विधियोंमें 'ओं ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भूतस्याद्वादनयगर्भितद्वादशांग श्रुतज्ञानाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./७०); (किशनसिंह कृत क्रिया कोष)।

श्रुतावतार—१. भगवान् महावीरके पश्चात् केवली व श्रुतकेवलियोंकी मूल परम्पराको ही श्रुतावतार नामसे कहा गया है।—दे. इतिहास/४/१। २. आ. इन्द्रनन्दि (ई. श. १०-११) द्वारा रचित प्राकृत गाथाबद्ध भगवान् महावीरके निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यन्तकी मूलसंघकी पट्टावली। ३. आ. श्रीधर (ई. श. १४) द्वारा रचित प्राकृत छन्दबद्ध ग्रन्थ।

श्रुतिगम्य—रा. वा./४/४२/१५/२५८/२७ अनपेक्षितवृत्तिनिमित्तः श्रुति-मात्र-प्रापितः श्रुतिगम्यः। —अनपेक्षित रूपसे प्रवृत्तिमें कारण व श्रुतिमात्रसे बोधित श्रुतिगम्य है।

श्रुतिकल्याण व्रत—दे. कल्याणक व्रत।

श्रेढि—Arithmetical and Geometrical progression.

श्रेणिक—म. पु./७४/श्लोक सं. पूर्व भव सं. २ में खदीरसार नामक भील था। ३८६। पूर्व भवमें सौधर्म स्वर्गमें देव था (४०६) वर्तमान भवमें राजा कुणिकका पुत्र था (४१४) मगधदेशका राजा था। उज्जैनी राजधानी थी। पहले बौद्ध था, पीछे अपनी रानी चेलनाके उपदेशसे जैन हो गया था। और भगवान् महावीरका प्रथम भक्त बन गया था। जिनधर्मपर अपनी दृढ़ आस्थाके कारण इसे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हो गया था। इसके जीवनका अन्तिम भाग बहुत दुखद बीता है, इसके पुत्रने इसे बन्दी बनाकर जेलमें डाल दिया था और उसके भयसे ही इसने आत्महत्या कर ली थी, जिसके कारण कि यह प्रथम नरकको प्राप्त हुआ। और वहाँसे आकर अगले युगमें प्रथम तीर्थंकर होगा। भगवान् वीरके अनुसार इसका समय वी. नि. २० वर्ष से १० वर्ष पश्चात तक माना जा सकता है। ई. पू. ५४६-५१६।

श्रेणी—Series (ज. प./प्र. १०८)।

श्रेणी—श्रेणी नाम पंक्तिका है। इस शब्दका प्रयोग अनेक प्रकरणोंमें आता है। जैसे आकाश प्रदेशोंकी श्रेणी, राजसेनाकी १८ श्रेणियाँ, स्वर्ग व नरकके श्रेणीबद्ध विमान व बिल, शुक्लध्यान गत साधुकी उपशम व क्षपक श्रेणी, अनन्तरोपनिधा व परम्परोपनिधा श्रेणी प्ररूपणा आदि। उपशम श्रेणीसे साधु नीचे गिर जाता है, पर क्षपक श्रेणीसे नहीं। वहाँ उसे नियमसे मुक्ति होती है।

१	**श्रेणी सामान्य निर्देश**
१	श्रेणी प्ररूपणाके भेद व भेदोंके लक्षण।
२	राजसेनाकी १८ श्रेणियोंका निर्देश।
३	आकाश प्रदेशोंकी श्रेणी निर्देश।
४	श्रेणिबद्ध विमान व बिल।
५	उपशम व क्षपक श्रेणीका लक्षण।
६	उपशम व क्षपक श्रेणीमें गुणस्थान निर्देश।
*	अपूर्व करण आदि गुणस्थान। —दे. वह वह नाम।
*	सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम। —दे. मार्गणा।
*	श्रेणी आरोहणके समय आचार्यादि पद छूट जाते हैं। —दे. साधु/६।
*	श्रेणी मांडनेमें संहनन सम्बन्धी। —दे. संहनन।
*	उपशम व क्षपक श्रेणीके स्वामित्व सम्बन्धी सत्,
*	संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ। —दे. वह वह नाम।
२	**क्षपक श्रेणी निर्देश**
*	चारित्रमोहका क्षपण विधान। —दे. क्षय।
१	अबद्धायुष्क को ही क्षपक श्रेणीकी सम्भावना।
२	क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही मांड सकता है।
३	क्षपकोंकी संख्या उपशमकोंसे दुगनी है
*	क्षपक श्रेणीमें मरण सम्भव नहीं। —दे. मरण/३।

*	क्षपक श्रेणीसे तद्भव मुक्तिका नियम। —दे. अपूर्वकरण/४।
*	क्षपक श्रेणीमें आयुकर्मकी प्रदेश निर्जरा ही होती है। —दे. निर्जरा/३/२।
३	**उपशम श्रेणी निर्देश**
*	चारित्र मोहका उपशमन विधान। —दे. उपशम।
*	यदि मरण न हो तो ११वाँ गुणस्थान अवश्य प्राप्त होता है। —दे. अपूर्वकरण/४।
१	उपशम व क्षायिक दोनों सम्यक्त्वमें सम्भव है।
२	उपशम श्रेणीसे नीचे गिरनेका नियम।
३	उपशान्त कषायसे गिरनेका कारण व विधान।
*	उपशम श्रेणीमें मरण सम्भव है, मरकर देव ही होता है। —दे. मरण/३।
*	द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसे सासादन गुणस्थानकी प्राप्ति सम्बन्धी दो मत। —दे. सासादन/२।
४	गिरकर असंयत होनेवाले अल्प हैं।
*	अधिकसे अधिक उपशम श्रेणी मांडनेकी सीमा। —दे. संयम/२।
५	पुन: उसी द्वितीयोपशमसे श्रेणी नहीं मांड सकता है।
*	गिर जानेपर भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त द्वितीयोपशम सम्यक्त्व रहता है। —दे. मरण/३।

१. श्रेणी सामान्य निर्देश

१. श्रेणी प्ररूपणाके भेद व भेदोंके लक्षण

ष. खं./११/४.२.६/सू. २५२ व टी./३५२ तेसि दुविधा सेडिपरूवणा अणंतरोवणिधा परंपरोवणिधा।२५२। जत्थ णिरंतरं थोवबहुत्त-परिक्खा कीरदे सा अणंतरोवणिधा। जत्थ दुगुण-चदुगुणादि परि-क्खा कीरदि सा परंपरोवणिधा। —श्रेणीप्ररूपणा दो प्रकार की है—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा।२५२। (ध. १०/४,२,४,२८/६३/१) जहाँ पर निरन्तर अल्पबहुत्वकी परीक्षा की जाती है वह अनन्तरोपनिधा कही जाती है। जहाँपर दुगुणत्व और चतुर्गुणत्व आदिकी परीक्षा की जाती है वह परम्परोपनिधा कहलाती है।

२. राजसेनाकी १८ श्रेणियोंका निर्देश

ति. प./२/४३-४४ करितुरयरहाहिवई सेणवइपदत्तिसेट्ठिदंडवई। सुद्दक्खत्तियवइसा हवंति तह महयरा पवरा।४३। गणरायमंतितलवर-पुरोहियामत्तयामहामत्ता। बहुविह पइण्णया य अट्ठारस होंति सेणीओ।४४। —हस्ती, तुरग (घोड़ा), और रथ, इनके अधिपति, सेनापति, पदाति (पादचारीसेना), श्रेष्ठि (सेठ), दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, महत्तर, प्रवर अर्थात् ब्राह्मण, गणराज, मन्त्री, तलवर (कोतवाल), पुरोहित, अमात्य और महामात्य, यह बहुत प्रकारके प्रकीर्णक ऐसी अठारह प्रकारकी श्रेणियाँ हैं।४३-४४। (ध. १/१,१,१/गा. ३१/५७)।

ध. १/१,१,१/गा. ३७-३८/५७— हय-हत्थि-रहाणहिवा सेणावइ-मंति-सेट्ठि-दंडवई। सुद्द-क्खत्तिय बम्हण-वइसा तह महयरा चेव।३७। गणरायमच्च-तलवर-पुरोहिया दप्पिया महामत्ता। अट्ठारह सेणीओ पयाइणामीलिया होंति।३८। —घोड़ा, हाथी, रथ, इनके अधिपति, सेनापति, मन्त्री, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, महत्तर, गणराज, अमात्य, तलवर, पुरोहित, स्वाभिमानी, महामात्य और पैदल सेना, इस तरह सब मिलाकर अठारह श्रेणियाँ होती हैं। ।३७-३८।

३. आकाश प्रदेशोंका श्रेणी-निर्देश

स. सि./२/२६/१८३/७ लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाश-प्रदेशानां क्रमसंनिविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणी इत्युच्यते। —लोकमध्यसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे क्रमसे स्थित आकाश प्रदेशोंकी पंक्ति-को श्रेणी कहते हैं। (रा. वा./२/२६/१/१३७/१६); (ध. १/१,१,६०/-३००/४)।

ध. ६/४,१,४५/२२३/३ पटसूत्रवच्चर्मावयववद्वानुपूर्व्येणोर्ध्वाधस्तिर्य-गवस्थिताः आकाशप्रदेशपङ्क्तयः श्रेणयः। —वस्त्र तन्तुके समान अथवा चर्मके अवयवके समान अनुक्रमसे ऊपर नीचे और तिरछे रूपसे व्यवस्थित आकाश प्रदेशोंकी पंक्तियाँ श्रेणियाँ कहलाती हैं।

४. श्रेणिबद्ध विमान व बिल

द्र.सं./टी/११६/१. दिक्विदिक्चतुष्टये प्रतिदिशं पङ्क्तिरूपेण यानि··· बिलानि (विमानानि वा)··· तेषामत्र श्रेणीबद्धसंज्ञा। —चारों विदिशाओंमें-से प्रत्येक विदिशामें पंक्ति रूप जो···बिल (अथवा विमान) हैं···उनकी श्रेणीबद्ध संज्ञा है।

त्रि. सा./पं. टोडरमल/४७६ पटल-पटल प्रति तिस इन्द्रक विमानकी पूर्वादिक च्यारि दिशानिविषै जे पंक्तिबंध विमान (अथवा बिल) पाईए तिनका नाम श्रेणीबद्ध विमान है।

विशेष दे० नरक/५/३; स्वर्ग/५/२,५।

५. उपशम व क्षपक श्रेणीका लक्षण

रा. वा./९/१/१८/५९०/१ यत्र मोहनीयं कर्मोपशमयन्नात्मा आरोहति सोपशमकश्रेणी। यत्र तत्क्षयमुपगमयन्नुद्गच्छति सा क्षपकश्रेणी। —जहाँ मोहनीयकर्मका उपशम करता हुआ आत्मा आगे बढ़ता है वह उपशम श्रेणी है, और जहाँ क्षय करता हुआ आगे जाता है वह क्षपक श्रेणी है।

६. उपशम व क्षपक श्रेणीमें गुणस्थान निर्देश

रा. वा./९/१/१८/५९०/७ इत ऊर्ध्वं गुणस्थानानां चतुर्णां द्वे श्रेण्यौ भवतः—उपशमकश्रेणी क्षपकश्रेणी चेति। —इसके (अप्रमत्त संयतसे) आगेके चार गुणस्थानोंकी दो श्रेणियाँ हो जाती हैं—उपशमश्रेणी, और क्षपकश्रेणी। (गो. क./जी. प्र./३३६/४८७/८)।

२. क्षपक श्रेणी निर्देश

१. अबद्धायुष्कको ही क्षपक श्रेणीकी सम्भावना

ध. १२/४,२,१३,६२/४१२/८ बद्धाउआणं खवगसेडिआरुहणाभावादो। —बद्धायुष्क जीवोंके क्षपक श्रेणिपर आरोहण सम्भव नहीं है।

गो. क./जी. प्र./३३६/४८७/८ चतुर्गुणस्थानेष्वेकत्र क्षपितसप्तकस्य नारकतिर्य-ग्देवायुषां चाबद्धायुष्कत्वेनासत्त्वात्। —जिसने असंयतादिक गुण-स्थानमेंसे किसी एकमें (प्रकृतियोंका) क्षय किया है, और देव, तिर्यंच और नरकायुका जिसके सत्त्व न हो, और जिसके आयुबन्ध नहीं हुआ हो वही क्षपक श्रेणिको माँडता है।

२. क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही माँड सकता है

ध. १/१,१,१६/१८२/६ सम्यक्त्वापेक्षया तु क्षपकस्य क्षायिको वा भावः दर्शनमोहनीयक्षयमविधाय क्षपकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः। —सम्यक्-

दर्शनकी अपेक्षा तो क्षपकके क्षायिकभाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं किया है वह क्षपक श्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है। (ध. १/१,१,१८/१८८/२)।

३. क्षपकोंकी संख्या उपशमकोंसे दुगुनी है

ध. ५/१,८,२४६/३२३/१ णाणवेदादिसव्ववियप्पेसु उवसमसेडिं चडंतजीवेहिंतो खवगसेडिं चडंतजीवा दुगुणा त्ति आइरिओवदेसादो। —ज्ञानवेदादि सर्व विकल्पोंमें उपशम श्रेणीपर चढ़ने वाले जीवोंसे क्षपक श्रेणीपर चढ़नेवाले जीव दुगुने होते हैं, इस प्रकार आचार्योंका उपदेश पाया जाता है।

३. उपशम श्रेणी निर्देश

१. उपशम व क्षायिक दोनों सम्यक्त्वमें सम्भव हैं

ध. १/१,१,१६/१८२/७ उपशमकस्यौपशमिकः क्षायिको वा भावः, दर्शनमोहोपशमक्षयाभ्यां विनोपशमश्रेण्यारोहणानुपलम्भात्। —उपशमकके औपशमिक या क्षायिक भाव होता है, क्योंकि जिसने दर्शनमोहनीयका उपशम अथवा क्षय नहीं किया है, वह उपशम श्रेणीपर नहीं चढ़ सकता।

ध. १/१,१,१८/१८८/३ उपशमकः औपशमिकगुणः क्षायिकगुणो वा द्वाभ्यामपि सम्यक्त्वाभ्यामुपशमश्रेण्यारोहणसंभवात्। —उपशम श्रेणी वाला औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों भावोंसे युक्त है, क्योंकि दोनों ही सम्यक्त्वोंसे उपशम श्रेणीका चढ़ना सम्भव है।

२. उपशम श्रेणीसे नीचे गिरनेका नियम

रा. वा./१०/१/३/६४०/८ उपशान्तकषाय…आयुषः क्षयात् म्रियते। अथवा पुनरपि कषायानुदीरयन् प्रतिनिवर्तते। —उपशान्त कषायका आयुके क्षयमे मरण हो सकता है। अथवा फिर कषायोंकी उदीरणा होनेसे नीचे गिर जाता है।

ध. ६/१,६-८,१४/३१७/६ ओवसमियं चारित्तं ण मोक्खकारणं, अंतोमुहुत्तकालादो उवरि णिच्छएण मोहोदयणिबंधणत्तादो। —औपशमिक चारित्र मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि, अन्तर्मुहूर्त कालसे ऊपर निश्चयतः मोहके उदयका कारण होता है।

ल. सा./मू. व जी. प्र./३०४/३८४ अंतोमुहुत्तमेत्तं उवसंतकसायवीयरायद्धा।…।३०४।…ततः परं कषायाणां नियमेनोदयासंभवात्। द्रव्यकर्मोदये सति संक्लेशपरिणामलक्षणभावकर्मणः तयो कार्यकारणभावप्रसिद्धः। —उपशान्त कषाय वीतराग ग्यारहाँ गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त है, इसलिए तत्पश्चात् द्रव्यकर्मके उदयके निमित्तसे संक्लेश रूप भाव प्रगट होते हैं।

३. उपशान्त कषायसे गिरनेका कारण व मार्ग

ध. ६/१,६-८,१४/३१७/८ उवसंतकसायस्स पडिवादो दुविहो, भवक्खयणिबंधणो उवसामणद्धाखयणिबंधणो चेदि। तत्थ भवक्खएण पडिवदिदस्स सव्वाणि करणाणि देवेसुप्पण्णपढमसमए चेव उग्घाडिदाणि।…उवसंतो अद्धाखएण पदंतो लोभे चेव पडिवददि, सुहुमसांपराइयगुणमगंतूण गुणंतरगमणाभावा। —उपशान्त कषायका वह प्रतिपात दो प्रकार है—भवक्षयनिबन्धन और उपशमनकालक्षयनिबन्धन। इनमें भवक्षयसे प्रतिपातको प्राप्त हुए जीवके देवोंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही बन्ध, …। (गिरकर असंयत गुणस्थानको प्राप्त होता है। —दे० मरण/३) उपशान्त कषाय कालके क्षयसे प्रतिपातको प्राप्त होने वाला उपशान्त कषाय जीव लोभमें अर्थात् सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थानमें गिरता है, क्योंकि सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थानको छोड़कर अन्य गुणस्थानोंमें जानेका अभाव है।

गो. क./जी. प्र./५५०/७४३/६ उपशान्तकषाये आ तच्चरमसमयं… क्रमेणावतरन्…अप्रमत्तगुणस्थानं गतः। प्रमत्ताप्रमत्तपरावृत्तिसहस्राणि कुर्वन् संक्लेशवशेन प्रत्याख्यानावरणोदयाद्देशसंयतो भूत्वा पुनः अप्रत्याख्यानावरणोदयादसंयतो भूत्वा च। —उपशान्त कषायके अन्तसमय पर्यन्त…अनुक्रमसे उतर अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त हुआ। तहाँ अप्रमत्तसे प्रमत्तमें हजारों बार गमनागमन कर, पीछे संक्लेश वश प्रत्याख्यानावरण कर्मके उदयसे देशसंयत होकर अथवा अप्रत्याख्यानके उदयसे असंयत होकर…।

ल. सा./जी. प्र./३०८,३१०/३६० उपशान्तकषायपरिणामस्य द्विविधः प्रतिपातः भवक्षयहेतुः उपशमनकालक्षयनिमित्तकश्चेति।…आयुःक्षये सति उपशान्तकषायकाले मृत्वा देवासंयतगुणस्थाने प्रतिपतति। एवं प्रतिपतिते तस्मिन्नेवासंयतप्रथमसमये सर्वाण्यपि बन्धनोदीरणासंक्रमणादीनि करणानि नियमेनोद्घाटितानि स्वस्वरूपेण प्रवृत्तानि भवन्ति। यथाख्यातचारित्रविशुद्धिबलेनोपशान्तकषाय उपशमितानां तेषां पुनर्देवासंयते संक्लेशवशेनानुपशमनरूपोद्घाटनसंभवात्।३०८। आयुषि सत्यद्धा क्षयेऽन्तर्मुहूर्तमात्रोपशान्तकषायगुणस्थानकालावसाने सति प्रतिपतन् स उपशान्तकषायः प्रथम नियमेन सूक्ष्मसांपरायगुणस्थाने प्रतिपतति। ततोऽनन्तरमनिवृत्तिकरणगुणस्थाने प्रतिपतति। तदनन्वपूर्वकरणगुणस्थाने प्रतिपतति। ततः पश्चादप्रमत्तगुणस्थाने अधःप्रमत्तकरणपरिणामे प्रतिपतति। एवमधःप्रवृत्तकरणपर्यन्तमनेनैव क्रमेण नान्यथेति निश्चेतव्यम्। —उपशान्त कषायसे प्रतिपात दो प्रकार है—एक आयु क्षयमे, दूसरा कालक्षयमे। १. उपशान्त कषायके कालमें प्रथमादि अन्त पर्यन्त समयोंमें जहाँ-तहाँ आयुके विनाशसे मरकर देव पर्याय सम्बन्धी असंयत गुणस्थानमें गिरता है। तहाँ असंयतका प्रथम समयमें नियमसे बन्ध, उदीरणा, संक्रमण आदि समस्त करण उघाड़ता है। अपने-अपने स्वरूपसे प्रगट वर्ते है। यथाख्यात विशुद्धिके बलसे उपशान्त कषाय गुणस्थानमें जो उपशम किये थे, उनका असंयत गुणस्थानमें संक्लेशके बलसे अनुपशमन रूप उघाड़ना सम्भव है।३०८। २. और आयुके शेष रहनेपर कालक्षयसे अन्तर्मुहूर्त मात्र उपशान्त कषायका काल समाप्त होनेपर वह उपशामक गिरकर नियमसे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है। फिर पीछे अनिवृत्तिकरणको प्राप्त होता है। और इसके पश्चात् क्रमसे अपूर्वकरण, अधःप्रवृत्तकरण रूप अप्रमत्तको प्राप्त होता है। अधःप्रवृत्तकरण तक गिरनेका यही निश्चित क्रम है। [आगे यदि विशुद्धि हो तो ऊपरके गुणस्थानमें चढ़ता है, यदि संक्लेशतायुक्त हो तो नीचेके गुणस्थानको प्राप्त होता है। कोई नियम नहीं है। (दे० सम्यग्दर्शन/IV/३/३)]।

क्रमशः—

ल. सा./जी. प्र./३१०-३४४ का भावार्थ—संक्लेश व विशुद्धि उपशान्त कषायसे गिरनेमें कारण नहीं है क्योंकि वहाँ परिणाम अवस्थित विशुद्धता लिये है। वहाँसे गिरनेमें कारण तो आयु व कालक्षय ही है।३१०। इन १०,६,८ व ७ गुणस्थानोंमें पृथक्-पृथक् क्रियाविधान उतरते समय प्रतिस्थान आरोहककी अपेक्षा दूनी अवस्थिति वा दूना अनुभाग हो है। स्थिति बन्धापसरणकी बजाय स्थितिबन्धोत्सरण हो है। अर्थात् आरोहकके आठ अधिकारोंसे उलटा क्रम है।

क्रमशः—

ल. सा./जी. प्र./३४५/४३६/१ विरताविरतगुणस्थानाभिमुखः सन् संक्लेशवशेन प्राक्तनगुणश्रेण्यायामात् संख्यातगुणं गुणश्रेण्यायामं करोति पुनः स एव यदि परावृत्योपशमकक्षपकश्रेण्यारोहणाभिमुखो भवति तदा विशुद्धिवशेन प्राक्तनगुणश्रेण्यायामात् संख्यातगुणहीनं गुणश्रेण्यायामं करोति। —उपशामक जीव गिरकर यदि विरताविरत

गुणस्थानको सन्मुख होय तो संक्लेशताके कारण पूर्व गुणश्रेणि आयामसे संख्यात गुण बंधता गुणश्रेणि आयाम करता है। और यदि पलट कर उपशम व क्षपक श्रेणी चढनेको सन्मुख होय तो विशुद्धिके कारण संख्यात गुणा घटता गुणश्रेणि आयाम करता है।

४. गिर कर असंयत होनेवाले अल्प हैं

ध. ४/१,३,८२/१३५/४ उवसमसेढीदो आदरीय उवसमसम्मत्तेण सह असंजमं पडिवण्णजीवाणं संखेज्जत्तुवलंभादो। —उपशम श्रेणिसे उतरकर उपशम सम्यक्त्वके साथ असंयम भावको प्राप्त होनेवाले जीवोंकी संख्या संख्यात ही पायी जाती है।

५. पुनः उसी द्वितीयोपशमसे श्रेणी नहीं मांड सकता

ध. ५/१,६,३७४/१७०/२ हेट्ठा ओइण्णस्स वेदगसम्मत्तमपडिवज्जिय पुव्वुवसमसम्मत्तेणुवसमसेढीसमारुहणे संभवाभावादो। तं पि कुदो उवसमसेढी समारुहणपाओग्गकालादो सेसुवसमसम्मत्तद्धाए थोवत्तु-वलंभादो। —उपशम श्रेणीसे नीचे उतरे हुए जीवके वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त हुए बिना पहलेवाले उपशम सम्यक्त्वके द्वारा पुन. उपशम श्रेणीपर समारोहणकी सम्भावनाका अभाव है। प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है। उत्तर—क्योंकि, उपशम श्रेणीके समारोहण योग्य कालसे शेष सम्यक्त्वका काल अल्प है।

श्रेणीचारण ऋद्धि—दे. ऋद्धि।।

श्रेणीबद्ध —बिल दे० नरक/५/३; स्वर्ग विमान—दे. स्वर्ग/५/२।

श्रेणीबद्ध कल्पना—cl ssify (ध. ५/प्र. २८)।

श्रेयस्कर—लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे. लौकांतिक।

श्रेयांस—म. पु./सर्ग/श्लोक—पूर्वके दसवें भवमें धातकीखण्डमें एक गृहस्थकी पुत्री थी। पुण्यके प्रभावसे नवमें भवमें वणिक् सुता निर्नामिका हुई। वहाँसे व्रतोंके प्रभावसे आठवें भवमें श्रीप्रभ विमान-में देवी हुई (८/१८५-१८८); (अर्थात् ऋषभदेवके पूर्वके आठवें भवमें ललितांगदेवकी स्त्री) सातवें भवमें श्रीमती (६/६०) छठेमें भोगभूमि में (८/३३) पाँचवेंमें स्वयंप्रभदेव (९/१८६) चौथेमें केशव नामक राजकुमार (१०/१८६) तीसरेमें अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र (१०/१७१) दूसरेमें धनदेव (११/१४) पूर्व भवमें अच्युत स्वर्गमें अहमिन्द्र हुआ (१०/१७२)। (इनके सर्वभव ऋषभदेवसे सम्बन्धित हैं। सर्व भवोंके लिए दे. ४७/३६०-३६२)। वर्तमान भवमें राजकुमार थे। भगवान् ऋषभदेवको आहार देकर दानप्रवृत्तिके कर्ता हुए (२०/८८,१२८) अन्तमें भगवान्के समवशरणमें दीक्षा ग्रहण कर गणधर पद प्राप्त किया (२४/१७४) तथा मोक्ष प्राप्त किया (४७/९९)।

श्रेयांस नाथ—म. पु./५७/श्लोक—पूर्वके दूसरे भवमें नलिनप्रभ राजा थे (२-३)। दीक्षा लेकर सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। अन्तमें समाधि मरणकर पूर्व भवमें अच्युतेन्द्र हुए (१२-१४)। वर्तमान भवमें ११वें तीर्थंकर हुए। विशेष—दे. तीर्थंकर/५।

श्रोता—वीतराग वाणीको सुननेकी योग्यता आत्मकल्याणकी जिज्ञासाके बिना नहीं होती। अतः वे ही शास्त्रके वास्तविक श्रोता हैं तथा उपदेशके पात्र हैं अन्य लौकिक व्यक्ति उपदेशके अयोग्य हैं।

१. अव्युत्पन्न आदिकी अपेक्षा श्रोताओंके भेद व लक्षण

ध. १/१,१,१/३०/७ त्रिविधाः श्रोतारः, अव्युत्पन्नः अवगताशेषविवक्षित-पदार्थ एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति। तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्न-त्वान्नाध्यवस्यतीति। विवक्षितपदस्यार्थं द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा। द्वितीयवत्तृतीयोऽपि संशेते विपर्यस्यति वा। —श्रोता तीन प्रकारके होते हैं—पहला अव्युत्पन्न अर्थात् वस्तु स्वरूपसे अनभिज्ञ, दूसरा सम्पूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला। इनमेंसे पहला श्रोता अव्युत्पन्न होनेके कारण विवक्षित पदार्थके अर्थको कुछ भी नहीं समझता है। दूसरा 'यहाँपर इस पदका कौनसा अर्थ अधिकृत है' इस प्रकार विवक्षित पदार्थके अर्थमें सन्देह करता है, अथवा प्रकरण प्राप्त अर्थ-को छोड़कर दूसरे अर्थको ग्रहण करके विपरीत समझता है। दूसरी जातिके समान तीसरी जातिके श्रोता भी प्रकृत पदके अर्थमें या तो सन्देह करता है अथवा विपरीत निश्चय कर लेता है (गो. क./जी. प्र./५०/५१/३)।

२. मिट्टी आदि श्रोताके भेद व लक्षण

म. पु./१/१३९ मृच्चालिन्यजमार्जारशुककङ्कशिलाहिभिः। गोहंसमहिष-च्छिद्रघटदंशजलौककैः।१३९। —मिट्टी, चलनी, बकरा, बिलाव, तोता, बगुला, पाषाण, सर्प, गाय, हंस, भैंसा, फूटा घड़ा, डाँस और जोंक इस तरह चौदह प्रकारके श्रोताओंके दृष्टान्त समझने चाहिए। भावार्थ—१. जैसे मिट्टी पानीका संसर्ग रहते हुए कोमल रहती है बादमें कठोर हो जाती है, उसी प्रकार जो श्रोता शास्त्र सुनते समय कोमल परिणामी रहते हैं बादमें कठोर परिणामी हो जावें वे श्रोता मिट्टीके समान हैं। २. जिस प्रकार चलनी सारभूत आटेको नीचे गिरा देती है और छोकको बचा लेती है, उसी प्रकार जो श्रोता वक्ताके उपदेशमेंसे सारभूत तत्त्वको छोडकर निस्सार तत्त्वको ग्रहण करते हैं वे चलनीके समान श्रोता हैं। ३. जो अत्यन्त कामी हैं अर्थात् शास्त्रके उपदेशमें शृंगारका वर्णन सुनकर जिनके परिणाम शृंगार रूप हो जावें वे अजके समान श्रोता है। ४. जैसे अनेक उपदेश मिलनेपर भी बिलाव अपनी हिंसक प्रवृत्ति नहीं छोडता, सामने आते ही चूहेपर आक्रमण कर देता है उसी प्रकार जो श्रोता बहुत प्रकारसे समझानेपर भी क्रूरताको नहीं छोड़ें, अवसर आनेपर क्रूर प्रवृत्ति करने लगे, वे मार्जारके समान है। ५. जैसे तोता स्वयं ज्ञानसे रहित हैं, दूसरोंके समझानेपर कुछ शब्द मात्र ग्रहण कर पाते हैं वे शुकके समान श्रोता हैं। ६. जो बगुलेके समान बाहरसे भद्र परिणामी मालूम होते हैं, परन्तु जिनका अन्तरंग दुष्ट हो वे बगुलाके समान श्रोता हैं। ७. जिनके परिणाम हमेशा कठोर रहते हैं, तथा जिनके हृदयमें समझाये जानेपर भी जिनवाणी रूप जलका प्रवेश नहीं हो पाता वे पाषाणके समान श्रोता हैं। ८ जैसे साँपको पिलाया हुआ दूध भी विष रूप हो जाता है, वैसे ही जिनके सामने उत्तमसे उत्तम उपदेश भी खराब असर करता है वे सर्पके समान श्रोता हैं। ९. जैसे गाय तृण खाकर दूध देती है, वैसे ही जो थोड़ा सा उपदेश सुनकर बहुत लाभ लिया करते हैं वे गायके समान श्रोता हैं। १०. जो केवल सार वस्तुको ग्रहण करते हैं वे हंसके समान श्रोता हैं। ११. जैसे भैंसा पानी तो थोड़ा पीता है पर समस्त पानीको गंदला कर देता है इसी प्रकार जो श्रोता उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं, परन्तु अपने कुतर्कोंसे समस्त सभामें क्षोभ पैदा कर देते हैं वे भैंसाके समान श्रोता हैं। १२. जिनके हृदयमें कुछ भी उपदेश नहीं ठहरे वे सछिद्रघटके समान हैं।१३. जो उपदेश तो बिलकुल ही ग्रहण न करें परन्तु सारी सभाको बिलकुल व्याकुल कर दें वे डाँसके समान श्रोता हैं। १४. जो गुण छोड़कर सिर्फ अवगुणोंको ही ग्रहण करें वे जोंकके समान श्रोता हैं।१३९।

३. मिट्टी आदि उत्तम, मध्यम, जघन्य विभाग

म. पु./१/१४०-१४१ श्रोतारः समभावाः स्युरुत्तमाधममध्यमाः। अन्या-दृशोऽपि सन्त्येव तत्किं तैषामियत्तया।१४०। गोहंससदृशान्प्राहुरुत्त-मान्मृच्छुकोपमान्। माध्यमान्विदुरन्यैश्च समकक्ष्योऽधमो मतः।।१४१। —ऊपर कहे हुए श्रोताओंके उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन-तीन भेद होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी भेद हैं, उनकी

गणना करनेसे क्या लाभ ।१४०। इनमें जो श्रोता गाय और हंसके समान हैं, वे उत्तम कहलाते हैं, जो मिट्टी और तोताके समान है वे मध्यम कहलाते हैं। बाकीके सब श्रोता अधम माने गये हैं।१४१।

४. सच्चे श्रोताका स्वरूप

क. पा. १/१/७/२ ण च मिस्सेसु सम्मत्तत्थित्तमसिद्धं, अहेउदिट्ठिवादसुणणण्णहाणुववत्तीदो तेसिं तदत्थित्तसिद्धीदो। —शिष्योंमें सम्यक् श्रद्धाका अस्तित्व असिद्ध है सो बात नहीं है, क्योंकि अहेतुवाद ऐसे दृष्टिवाद अंगका सुनना सम्यक्त्वके बिना बन नहीं सकता है। इसलिए उनमें सम्यक्त्वका अस्तित्व सिद्ध है।

ध. १२/४,२,१३,६६/४१४/१० धारणगहणसमत्थाणं चेव संजदाणं विणयालंकाराणं वक्खाणं कादव्वमिदि भणिदं होदि। —धारण व अर्थग्रहणमें समर्थ तथा विनयसे अलंकृत ही संयमीजनोंके लिए व्याख्यान करना चाहिए, यह अभिप्राय है।

म. पु./१/१४५ १४६ श्रोता शुश्रूषताद्यैः स्वैर्गुणैर्युक्तः प्रशस्यते।... ।१४५। शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। स्मृत्यूहापोहनिर्णीतीः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः ।१४६। —जो श्रोता शुश्रूषा आदि गुणोंसे युक्त होता है वही प्रशंसनीय माना जाता है।१४५। शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊह, अपोह और निर्णीत (तत्त्वाभिनिवेश सा. ध.) ये श्रोताओंके आठ गुण जानने चाहिए।१४६। (सा. ध./१/७)।

पु. सि उ./७४ अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य। जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ।७४। —दुःखदायक, दुस्तर और पापोंके स्थान इन आठ पदार्थोंको परित्याग करके निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिनधर्मके उपदेशके पात्र होते हैं।

आ. अनु./७ भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद्भृशं भीतिमान्, सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्। धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं गृह्णन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः ।७। —जो भव्य है, मेरे लिए हितकारक मार्ग कौन सा है इसका विचार करनेवाला है, दुःखसे अत्यन्त डरा हुआ है, यथार्थ सुखका अभिलाषी है, श्रवण आदि रूप बुद्धिसे सम्पन्न है, तथा उपदेशको सुनकर और उसके विषयमें स्पष्टतासे विचार करके जो युक्ति व आगमसे सिद्ध ऐसे सुखकारक दयामय धर्मको ग्रहण करनेवाला है, ऐसे दुराग्रहसे रहित शिष्य धर्मकथाके सुननेका अधिकारी माना गया है।७।

सा. ध./२/१९ यावज्जीवमिति त्यक्त्वा, महापापानि शुद्धधीः। जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः ।१९। —अनन्त संसारके कारणभूत मद्यपानादिक पापोंको जीवनपर्यन्तके लिए छोड़कर, सम्यक्त्वके द्वारा विशुद्ध बुद्धिवाला और किया गया है यज्ञोपवीत संस्कार जिसका ऐसा ब्राह्मण, वैश्य व क्षत्रिय जैनधर्मको सुननेका अधिकारी होता है।१९।

स्या. दी./३/६ ८०/१२४/४ सदुपदेशात्प्राक्तनमज्ञानस्वभावं हन्तुमुपरितननयमर्थज्ञानस्वभावं स्वीकर्तुं च यः समर्थः आत्मा स एव शास्त्राधिकारीति। —समीचीन उपदेशसे पहलेके अज्ञान स्वभावको नाश करने और आगेके तत्त्वज्ञान स्वभावको प्राप्त करनेमें जो समर्थ आत्मा है वही शास्त्रका अधिकारी है।

५. उपदेशके अयोग्य पात्र

ध. १२/४,२,१३,६६/गा. ४/४१४ बुद्धिविहीने श्रोतरि वक्तृत्वमनर्थकं भवति पुंसाम्। नेत्रविहीने भर्तरि विलासलावण्यवत्स्त्रीणाम् ।४। —जिस प्रकार पतिके अन्धा होनेपर स्त्रियोंका विलास व सुन्दरता व्यर्थ है, इसी प्रकार श्रोताके मूर्ख होनेपर पुरुषोंका वक्तापना व्यर्थ है।

सा. ध./१/६ कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतया द्विषन्। भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात् ।६। —मिथ्यामतमें स्थित जीव मिथ्यात्वकी मन्दतासे जैनधर्मसे द्वेष न करनेवाला व्यक्ति भद्र है वह उपदेशका पात्र है, उससे विपरीत अभद्र है तथा उपदेश पानेका अधिकारी नहीं है।६।

६. अनिष्णातको सिद्धान्त शास्त्र सुनना योग्य नहीं

भ. आ./वि./४६१/६७५ पर उद्धृत—सव्वेण वि जिणवयणं सोदव्वं सड्ढिदेण पुरिसेण। छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण णादव्वो ।४६१। —श्रद्धावान् सर्व पुरुष जिनवचन सुन सकते हैं, परन्तु प्रायश्चित्त शास्त्रका अर्थ सर्व लोगोंको जाननेका अधिकार नहीं है।

दे. श्रावक/४/६ गणधर, प्रत्येक बुद्ध आदि द्वारा रचित प्रायश्चित्त शास्त्रका देशव्रतीको पढनेका अधिकार नहीं है।

ध. १/१,१,२/१०६/३ *विक्खेवणी णाम कहा जिणवयणमयाणंतस्स ण कहेयव्वा।* —जिसका जिन वचनमें प्रवेश नहीं है, ऐसे पुरुषको विक्षेपणी कथाका उपदेश नहीं करना चाहिए।

सा. ध./७/५० स्यान्नाधिकारी सिद्धान्त-रहस्याध्ययनेऽपि च ।५०। —सिद्धान्त शास्त्र और प्रायश्चित्त शास्त्रोंके अध्ययन करनेके विषयमें श्रावकको अधिकार नहीं है।

७. निष्णातको सर्वशास्त्र पढ़ने योग्य है

ध. १/१,१,२/१०६/५ गहिद-समयस्स तव-सील-णियम-जुत्तस्स पच्छा विक्खेवणी कहा कहेयव्वा। —जिसने स्व समयको जान लिया है... जो तप, शील और नियमसे युक्त है, ऐसे पुरुषको ही पश्चात् विक्षेपणी कथाका (भी) उपदेश देना चाहिए।

सा. ध./२/२१ तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं, तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्तदुर्दैवतः। आङ्गं पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरः, पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन्, धन्यो निहन्त्यंहसी ।२१। —धर्माचार्य या गृहस्थाचार्यके उपदेशसे सातों तत्त्वोंको ग्रहणकर, एकदेशव्रतकी दीक्षाके पहले धारण किया है महामन्त्र जिसने ऐसा छोड़ दिया है मिथ्यादेवोंका आराधन जिसने, ऐसा द्वादशांग सम्बन्धी और चतुर्दशपूर्व सम्बन्धी शास्त्रोंको पढ़कर, पढ़े हैं न्याय आदिक शास्त्र जिसने ऐसा पर्वके दिन प्रतिमायोगको धारण करनेवाला पुण्यात्मा द्रव्य व भाव पापोंको नष्ट करता है।२१।

८. शास्त्र श्रवणमें फलेच्छाका निषेध

म. पु./१/१४३ श्रोता न चैहिकं किंचित्फलं वाञ्छेत्कथाश्रुतौ। नेच्छेद्वक्ता च सत्कारधनभेषजसंश्रयाः ।१४३। —श्रोताओंको शास्त्र सुननेके बदले किसी सांसारिक फलकी चाह नहीं करनी चाहिए, इसी प्रकार वक्ताको भी श्रोताओंसे सत्कार, धन, औषधि और आश्रय (घर) आदिकी इच्छा नहीं करनी चाहिए।

श्रोत्र इन्द्रिय—दे. इन्द्रिय/१।

श्लक्ष्णकूला—शिखरी पर्वतस्थ एक कूट व तन्निवासी एक देव। —दे. लोक/७।

श्लेष—औदारिक शरीरमें श्लेष (कफ) का निर्देश। —दे. औदारिक/१।

श्लेष संबन्ध—ष. खं./१२/५,६/सू. ४३/४१—जो सो संसिलेसबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—जहा कट्ठ-जदूणं अण्णोण्णसंसिलेसिदाणं बंधो संभवदि सो सव्वो संसिलेसबंधो णाम ।४३। —जो संश्लेष बन्ध है उसका यह निर्देश है—जैसे परस्पर संश्लेषको प्राप्त हुए काष्ठ और लाखका बन्ध होता है वह सब संश्लेषबन्ध है।४३।

रा. वा./५/२४/६/४८८/३ जतुकाष्ठादिसंश्लेषणात् संश्लेषबन्धः। —लाख काठ आदिका संश्लेष बन्ध है।

ध. १२/५,६,३९/३७/६ रज्जु-वरत्र-कट्ठादीहि विणा अल्लीवणविसेसेहि विणा जो चिक्कण-अचिक्कणदव्वाणं चिक्कणदव्वाणं वा परोप्परेण बंधो

सो संश्लिनेसबंधो णाम। —रस्सी, वस्त्र और काष्ठ आदिकके बिना तथा अल्लीवणविशेषके बिना जो चिक्कण और अचिक्कण द्रव्योंका अथवा चिक्कण द्रव्योंका परस्पर बध होता है वह संश्लेषबध कहलाता है।

स. सा./ता. वृ./५७/६६/१५ क्षीरनीरसंश्लेषस्तथा। —दूध और जलका परस्पर सम्बन्ध संश्लेष है।

श्लोक वार्तिक—आ. उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्रकी आ. विद्यानन्द (ई. ७७५-८४०) कृत विस्तृत टीका है। (ती./२/३६१)।

श्लोहित—एक ग्रह—दे. ग्रह।

श्वस्ना—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

श्वसा धारणा—दे. वायु।

श्वासोच्छ्वास—१.—दे. उच्छ्वास; २. कालका एक प्रमाण विशेष। अपरनाम उच्छ्वास, वा निःश्वास। —दे. गणित/I/१।

श्वेतकुमार—वैराट राजाका पुत्र था। भीष्म द्वारा युद्धमें मारा गया था। (पा. पु./१६/१११-११५)।

श्वेतकेतु—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

श्वेतपंचमी व्रत—आषाढ़, कार्तिक व फाल्गुन, तीनोंमें-से किसी भी मासमें प्रारम्भ करके ६५ महीनों तक बराबर प्रत्येक मास शु. ५ को उपवास करे। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (वसुनन्दि श्रावकाचार/३६३-३६२), (धर्मपरीक्षा/२०/१४), *(व्रत-विधान संग्रह/पृ. ८८)।

श्वेतवाहन—चम्पा नगरीका राजा था। दीक्षा धारण कर एक मासका उपवास किया। चर्यामें 'मेरे पुत्रने गृहस्थोंको मेरे लिए आहारदान करनेको मना किया है' ऐसा सुनकर वापस लौट आये। श्रेणिक महाराज द्वारा शंका निवारण कर दिये जाने पर इनका रोष दूर हुआ। अनन्तर केवलज्ञान प्राप्त किया। (वे० म. पु./७६/-८-२६)।

श्वेताम्बर—दिगम्बर मान्यताके अनुसार भगवान् वीरके पश्चात् मूल संघ दिगम्बर ही था। पीछे कुछ शिथिलाचारी साधुओंने श्वेताम्बर संघकी स्थापना की। श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार जिन कल्प व स्थविर कल्प दोनों ही प्रकारके संघ विद्यमान थे। जम्बू स्वामीके पश्चात् काल प्रभावसे जिनकल्पका विच्छेद हो गया और स्थविर कल्प ही शेष रह गया। पीछे शिवभूति नामक एक साधु जिनकल्पके पुनरावर्तनके उद्देश्यसे नग्न हो गया। उसके द्वारा ही दिगम्बर मतका प्रचार हुआ। श्वेताम्बरमें-से ढूंढिया मतकी उत्पत्तिके विषयमें दोनों ही सम्प्रदाय सहमत हैं।

१. श्वेताम्बर मतका स्वरूप

स. सि./८/१/५ सग्रन्थः निर्ग्रन्थः। केवली कवलाहारी। स्त्री सिध्यति। एवमित्यादि विपर्ययः। —सग्रन्थको निर्ग्रन्थ मानना, केवलीको कवलाहारी मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना विपरीत मिथ्यादर्शन है। (रा. वा./८/१/२८/५६४/२०), (त. सा./५/६)।

द. सा./मू./१३-१४ तेण किय मयमेयं इत्थीणं अत्थि तब्भवे मोक्खो। केवलणाणीण पुण अण्णक्खाणं तहा रोगो।१३। अंबरसहिओ वि जई सिज्झई वीरस्स गब्भचारत्तं। परलिंगे वि य मुत्ते फासुयभोज्जं च सव्व त्था १४। —उसने (आचार्य जिनचन्द्रने) यह मत चलाया कि स्त्रियोंको तद्भवमें मोक्ष प्राप्त हो सकता है। केवलज्ञानी भोजन करते हैं तथा उन्हें रोग भी होता है।१३। वस्त्रधारी तथा अन्य लिंग वाले भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् वीरके गर्भका संचार हुआ था। अर्थात् पहले एक ब्राह्मणीके गर्भमें आये और पीछे क्षत्रियाणीके गर्भमें चले गये। मुनिजन किसीके घर भी प्रासुक भोजन कर सकते हैं।

द. पा./टी./११/११/११ श्वेतवाससः सर्वत्र भोजनं गृह्णन्ति, प्रासुकं मांसभक्षिणां गृहे दोषो नास्तीति वर्णलोपः कृतः। —श्वेताम्बर साधु सर्वत्र भोजन करना उचित मानते हैं। उनकी समझमें मांस भक्षकोंके यहाँ भी प्रासुक भोजन करनेमें दोष नहीं है।

गो. जी./जी. प्र./१६ इन्द्रः श्वेताम्बरगुरुः तदादयः संशयितमिथ्यादृष्टयः। —इन्द्र श्वेताम्बरोंका गुरु था। उनको आदि लेकर संशयित मिथ्यादृष्टि हैं।

द. सा./प्र./५० प्रेमीजी—दर्शनसार ग्रन्थमें तथा गोम्मटसारकी टीकामें जो श्वेताम्बरोंकी गणना सांशयिक मिथ्यादृष्टियोंमें की सो ठीक नहीं है। वास्तवमें उनकी गणना विपरीत मतमें हो सकती है ऐसा उपरोक्त सर्वार्थसिद्धिके उद्धरणसे स्पष्ट है।

२. दिगम्बरके अनुसार श्वेताम्बर मतकी उत्पत्ति

दिगम्बर मतके अनुसार श्वेताम्बर मतकी उत्पत्ति कैसे हुई, उसके सम्बन्धमें ही नीचे दो कथाएँ दी जाती हैं।—

द. सा./मू./११-१२ एक्कसए छत्तीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो।११। सिरि भद्दबाहुगणिणो सीसो णामेण संति आइरिओ। तस्स य सीसो दुट्ठो जिणचंदो मंदचारित्तो।१२। तेण कियं मयमेयं...।१३। —इसी बात को और भी विस्तृत रूपसे इन्हीं देवसेनाचार्यने अपने भावसंग्रह नामक ग्रन्थमें एक कथाके रूपमें दिया है। उसका संक्षिप्त सार निम्न है—

भावसंग्रह/५२-७५ विक्रम संवत १३६ में सौराष्ट्र देशके वल्लभीपुर नगरमें श्वेताम्बर संघ उत्पन्न हुआ। इस संघके प्रवर्तक भद्रबाहु गणी जो एक निमित्तज्ञानी थे (पंचम श्रुतकेवलीसे भिन्न थे) उनके शिष्य शान्त्याचार्य, तथा उनके भी शिष्य जिनचन्द्र थे। उज्जैनी नगरीमें १२ वर्षीय दुर्भिक्षके सम्बन्धमें आचार्य भद्रबाहुकी भविष्य-वाणी सुनकर सब आचार्य अपने-अपने संघको लेकर वहाँसे विहार कर गये।५३-५५। भद्रबाहुके शिष्य शान्ति नामके आचार्य सौराष्ट्र देशके वल्लभीपुर नगरमें आये।५६। परन्तु वहाँ भी भारी दुष्काल पड़ा।५७। परिस्थितिवश सिंह वृत्ति छोड़कर साधुओंने वस्त्र, पात्र आदि धारण कर लिये और वसतिकामें-से भोजन माँग कर लाने लगे।५८-५९। दुर्भिक्ष समाप्त हो जाने पर जब शान्त्याचार्यने पुनः उन्हें शुद्ध चारित्र पालनेका आदेश दिया तो उनके शिष्य जिनचन्द्रने उन्हें जानसे मार दिया और स्वयं संघ नायक बन गया।६०-६९। शान्त्याचार्य मरकर व्यन्तर हुआ और संघ पर उपद्रव करने लगा, जिसे शान्त करनेके लिए जिनचन्द्रने उसकी एक कुलदेवताके रूपमें पूजा प्रचलित कर दी। जो आज तक श्वेताम्बर सम्प्रदायमें चली आ रही है।७०-७५।

३. अर्धफालक संघकी उत्पत्ति

भद्रबाहु चरित्र/तृ. परिच्छेद—बिलकुल उपरोक्त प्रकारकी कथा कुछ उचित परिवर्तनोंके साथ भट्टारक श्री रत्ननन्दिने भद्रबाहु चरित्रमें दी है। उसका सारांश यह है कि—"पंचम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामीके मुखसे उज्जैनीमें पड़ने वाले १२ वर्षीय दुर्भिक्षके सम्बन्धमें सुनकर भी तथा अन्य संघोंके दक्षिणकी ओर विहार कर जाने पर भी रामल्य, स्थूलभद्र व स्थूलाचार्य नामके आचार्योंने जाना स्वीकार न किया। दुर्भिक्ष पड़ा और परिस्थिति वश उन्होंने कुछ शिथिलाचार अपना लिये। वे लोग पात्र ग्रहण करके भोजन माँगने-के लिए वसतिकामें जाने लगे और अपनी नग्नताको उतने समय छिपानेके लिए, एक वस्त्रका टुकड़ा भी अपने पास रखने लगे, जिसे वसतिकामें जाते समय वे अपने आगे ढँक लेते थे और लौटनेपर पृथक् कर देते थे। इस कारण इस संघका नाम अर्धफालक पड़ गया तत्पश्चात् सुभिक्ष हो जाने पर जब दक्षिणसे वह मूल संघ लौट आया तब स्थूलाचार्यने अपने संघसे पुनः पहला मार्ग अपनानेको कहा। संघने उन्हें जानसे मार दिया। वे व्यन्तर हो गये और संघ पर उपद्रव करने लगे, जिसे शान्त करनेके लिए संघने उनकी अपने कुलदेवताके रूपमें पूजा करनी प्रारम्भ कर दी। ४५० वर्ष तक यह संघ इसी अर्धफालकके रूपमें घूमता रहा। तत्पश्चात् वि. सं. १३६ में सौराष्ट्र देशकी वल्लभीपुरी नगरीको प्राप्त हुआ। उस समय इस संघके आचार्य जिनचन्द्र थे। वल्लभीपुर नरेशकी रानी उज्जैनी नरेशकी पुत्री थी। उज्जैनीमें रहते उसने इन्हीं साधुओंके पास विद्याध्ययन किया था। अतः विनयपूर्वक अपने यहाँ बुलानेकी इच्छा करने लगी। परन्तु राजाको उनका वह वेष पसन्द न था, अतः उसने उन साधुओंके पास कुछ वस्त्र भेज दिये, जिसे जिनचन्द्रने राजा व रानीकी प्रसन्नताके अर्थ ग्रहण करनेकी आज्ञा दे दी। बस तभी इस संघका नाम श्वेताम्बर पड़ गया।

हरिषेण कृत कथा कोष/५८-५९/पृ. ३१८ "यावन्न शोभनः काल जायते साधवः स्फुटम्। तावच्च वामहस्तेन पुरः कृत्वाऽर्धफालकम् ।५८। भिक्षापात्रं समादाय दक्षिणेन करेण च। गृहीत्वा नक्तमाहारं कुरुध्वं भोजनं दिने।५९।"—१२ वर्षीय दुर्भिक्ष के समय १२००० साधुओं के साथ श्रुतकेवली भद्रबाहु और विशाखाचार्य (चन्द्र गुप्त) दक्षिण-पथ को चले गए और अपने संघ को यह आदेश दिया कि जब तक सुभिक्ष न हो जाये तब तक साधुओंको चाहिए कि वे अपना बायाँ हाथ आगे करके उस पर एक अर्धफालक (कपड़ेका टुकड़ा) लटका लें। तथा दायें हाथसे भिक्षा द्वारा आहार ग्रहण करके, उसे दिन के समय अपनी वसतिका में बैठ कर खा लें।

४. श्वेताम्बरोंके विविध गच्छ

श्वेताम्बरोंमें विविध गच्छ प्रसिद्ध हैं, यथा—चैत्यवासी गच्छ, उपकेशगच्छ, खरतर गच्छ, तपा गच्छ, पार्श्वचन्द्र गच्छ, सार्धपौर्णमीयक गच्छ, आंचलिक गच्छ, आगमिक गच्छ आदि। इनमेंसे आज खरतर, तपा व आंचलिक गच्छ ही उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक गच्छकी समाचारी जुदी है तथा उनके श्रावकोंकी सामायिक प्रतिक्रमण आदि विषयक विधियाँ भी जुदी हैं। कोई कल्याणकके दिन छह मानता है तो कोई पाँच। कोई पर्युषणका अन्तिम दिन भाद्रपद शु. ४ मानता है और कोई भाद्रपद शु. ५।

'धर्मसागर' कृत पट्टावलीके अनुसार वी. नि. ८८२ में चैत्य-वास प्रारम्भ हुआ। 'जिन वल्लभ सूरि' कृत संघपट्टकी भूमिकामें भी चैत्यवासका कुछ इतिहास उल्लिखित है। अनेकान्त वर्ष ३ अंक ८-९ के 'यति समाज' शीर्षकमें श्री अगरचन्द नाहटाने श्वेता-म्बर चैत्यवासियों पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

अणहिलपुर पट्टण राजा दुर्लभदेवकी सभामें वर्द्धमान सूरिके शिष्य जिनेश्वर सूरि द्वारा परास्त हो जाने पर यह चैत्यवासी गच्छ ही खरतर नामसे पुकारा जाने लगा।

वि. सं. १२८५ में श्री जगच्चन्द्र सूरिके उग्र तपसे प्रभावित होकर मेवाड़के राजाने उसके गच्छको 'तपा गच्छ' नाम प्रदान किया।

मुखपट्टीके बदले अंचलका अर्थात वस्त्रके छोरका उपयोग किया जानेका कारण 'आंचलिक गच्छ' प्रसिद्ध हुआ है।

५. अर्धफालक व श्वेताम्बर विषयक समन्वय

द. सा./प्र./६० प्रेमी जी—अब इस बातपर विचार करना है कि भाव-संग्रहकी कथामें (भद्रबाहु चरित्रके कर्ताने) इतना परिवर्तन क्यों किया। हमारी समझमें इसका कारण भद्रबाहुका और श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिका समय है। भाव संग्रहके कर्ताने तो भद्रबाहुको केवल निमित्तज्ञानी लिखा है, पर रत्ननन्दि उन्हें (श्रुतावतारके अनुसार) पंचम श्रुतकेवली लिखते हैं। दिगम्बर ग्रन्थोंके अनुसार श्रुतकेवलीका शरीरान्त वी. नि. १६२ में हुआ है। (दे. इतिहास/४/१ और श्वेताम्बरों की उत्पत्ति वी. नि. ६०६ (वि. १३६) मे बतायी गयी है। दोनोंके बीचमें इस ४५० वर्षके अन्तरको पूरा करनेके लिए ही रत्ननन्दिने श्वेताम्बरसे पहले अर्धफालक उत्पन्न होनेकी कल्पना की है। दूसरे श्वेताम्बर मत जिनचन्द्रके द्वारा वल्लभी-पुरमें प्रगट हुआ था, अतएव यह आवश्यक हुआ कि दुर्भिक्षके समय जो मत प्रगट हुआ था उसका स्थान व प्रवर्तक इससे भिन्न बताया जाये। इसलिए अर्धफालककी उत्पत्ति उज्जैनीमें बतायी गयी और इसके प्रवर्तक आचार्यका नाम भी स्थूलभद्र रखा, जो कि श्वेताम्बर आम्नायमें अति प्रसिद्ध है। उज्जैनी नगरीमें वी. नि. १६२ में उत्पन्न होनेके पश्चात वह संघ अर्धफालकके रूपमें ४५० वर्ष तक विहार करता रहा। अर्धफालक संघवाले साधु जब बस्तिकामें भोजन लेने जाते थे, तो एक वस्त्रके टुकड़ेको वे अपनी बायीं भुजापर लटका कर रखते थे, जिससे उनकी नग्नता छिप जाये। चर्यासे लौटनेपर उस वस्त्रको पुनः पृथक् करके वे दिगम्बर हो जाते थे। यही संघ कालयोगसे वी. नि. ६०६ में वल्लभीपुरीमें प्राप्त हुआ। उस समय उस संघका आचार्य जिनचन्द्र था, जिसने उपरोक्त कथनानुसार इसे श्वेताम्बरके रूपमें प्रवर्तित कर दिया। इस प्रकार इसकी संगति भद्रबाहु श्रुतकेवली तथा १२ वर्षीय दुर्भिक्षके साथ भी बैठ जाती है। श्वेताम्बरोंके आदि गुरु स्थूलभद्रके साथ वल्लभीपुरके साथ, भावसंग्रह व दर्शनसारके अनुसार जिनचन्द्र के साथ व वी. नि. ६०६ के साथ भी बैठ जाती है। यद्यपि प्रेमीजी रत्ननन्दि

भट्टारकको इस कल्पनाको निर्मूल बताते हैं, और कहते हैं कि अर्धफालक नामका कोई भी सम्प्रदाय नहीं हुआ (द. सा./प्र./६१) परन्तु उनका ऐसा कहना योग्य नहीं, क्योंकि मथुराके कंगाली टीलेसे उपलब्ध कुशन कालीन (ई. २४०-३२० वी. नि. ५६७-८४७) कुछ प्राचीन आयाग पट्ट मिले हैं। जिनको पुरातत्त्व विभागने अर्धफालक मतका सिद्ध किया है। क्योंकि उनमें कुछ नग्न साधु अपने बायें हाथपर एक कपड़ा डाल कराउस कपड़ेके द्वारा अपनी नग्नता छिपाते दिखाये गये हैं। वे साधु कपड़ा तो अपने बायें हाथपर लटकाये हैं और कमण्डल या भिक्षापात्र अपने दाहिने हाथमें लिये हुए हैं (भद्रबाहु चरित्र/प्र. उदयलाल) Dr. Buhler in Indian antiquity. Vol 2, Page 136 At his (Nemisha's) left knee stands a small nacked male characterised by the cloth in his left hand as an ascetic with uplifted right hand.

अर्थात् उसके बायीं ओर एक छोटी-सी नग्न पुरुषाकृति है जिसके बायें हाथपर एक कपड़ा है और एक साधुके रूपमें उसका दायाँ हाथ ऊपरको उठा हुआ है। जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १० खण्ड २ पृ. ८० के फुटनोटमें डॉ वासुदेवशरण अग्रवालके अनुसार पट्टमें नीचे एक स्त्री और उसके सामने एक नग्न श्रमण अंकित है। वह एक हाथमें सम्मार्जिनी और बाये हाथमें एक कपड़ा लिये हुए है। शेष शरीर नग्न है।

भद्रबाहु चरित्र /प्र. उदयलाल—आगे चलकर वि. १३६ (वी.नि.६०६) में वह प्रगट रूपसे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रवर्तित हो गया। प्रारम्भमें उसका उल्लेख 'निर्ग्रन्थ श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ' के नामसे होता था। उपरान्त वही श्वेताम्बर कहलाया। इसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय भी पहले 'निर्ग्रन्थ श्रमण संघ' के नामसे पुकारा जाता था। उपरान्त वह दिग्वास और फिर दिगम्बर कहलाने लगा।

६. प्रवर्तकों विषयक समन्वय

दिगम्बर ग्रन्थ दर्शनसारके अनुसार श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रवर्तक शान्त्याचार्यके शिष्य तथा भद्रबाहु प्रथम (पंचम श्रुतकेवली) के प्रशिष्य जिनचन्द्र थे। **नन्दी संघ की गुर्वावली के अनुसार जिनचन्द्र भद्रबाहु द्वि. के प्रशिष्य थे प्रथम के नहीं। ये कुन्दकुन्द के गुरु थे। (दे. इतिहास ७/२)** परन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें इस नामके आचार्योंका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। दूसरी तरफ श्वेताम्बर आम्नायके अनुसार दिगम्बर सम्प्रदायके प्रवर्तक शिवभूति या सहस्रमलको बताया है, परन्तु दिगम्बर ग्रन्थोंमें इस नामके आचार्योंका कहीं पता नहीं चलता। भद्रबाहु चरित्रके कर्ता रत्ननन्दि 'रामल्य' व स्थूलभद्रको इसका प्रवर्तक बताते हैं। इन्द्र. श्वेताम्बरगुरु. तथादय; संशयमिथ्यादृष्टय' (गो. जी./जी. प्र./१६) में टीकाकारने श्वेताम्बर सम्प्रदायका प्रवर्तक 'इन्द्र' नामके आचार्यको बताया है। प्रेमी जीको गोम्मटसारके टीकाकारका मत इष्ट है (द.सा./प्र.६० प्रेमी जी)।

७. उत्पत्ति काल विषयक समन्वय

द. सा./प्र. ६० प्रेमीजी—दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदाय कब हुए यह विषय बहुत ही गहरी अन्धेरोमें छिपा हुआ है। श्रुतावतारमें बतायी गयी गुर्वावलीमें गौतमसे लेकर जम्बू स्वामी तकको परम्परा दोनों ही सम्प्रदायको जूँ की तूँ मान्य है। इससे आगेके ५ श्रुतकेवलियोंके नाम दिगम्बर सम्प्रदायमें कुछ और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कुछ और है। परन्तु भद्रबाहुको अवश्य दोनों स्वीकार करते हैं। इससे पता चलता है कि भद्रबाहुके पश्चात् ही दोनों जुदा जुदा हो गये हैं। दूसरी बात यह भी है कि श्वेताम्बर मान्य सूत्र ग्रन्थोंकी रचनाका काल वी. नि. ९८० वि. सं. ५१० के लगभग है। उस समय वे वल्लभीपुरमें देवर्धिगणी क्षमाश्रमणकी अध्यक्षतामें परिस्थिति वश संगृहीत किये गये थे। **श्वेताम्बरोंके अनुसार संकलन का यह कार्य क्योंकि वि. श. २ में किया गया था इसलिए उसकी उत्पत्ति का काल वि. १३६ भी माना जा सकता है। संघ की स्थापना के तुरन्त पश्चात् अपनी मान्यताओं को वैध सिद्ध करने के लिये सूत्र संग्रह का विचार बहुत संगत है।**

[दिगम्बराचार्य श्वेताम्बरोंकी उत्पत्ति वि. सं. १३६ (वी. नि. ६०६) में बता रहे हैं और श्वेताम्बराचार्य दिगम्बरोंकी उत्पत्ति वि. सं. १३९ (वी. नि. ६०९) में बता रहे हैं। १२ वर्षीय दुर्भिक्ष जो कि संघ विभेदमें प्रधान निमित्त है वी. नि. ६०६ (वि. सं. १३६) में पड़ा था। इन सब बातोंको देखते हुए भद्रबाहु चरित्रकी मान्यता कुछ युक्त जँचती है, कि वि. पू. ३२० में अर्धफालक संघ उत्पन्न हुआ, और धीरे-धीरे वि. सं. १३६ में श्वेताम्बरके रूपमें परिवर्तित हो गया। श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें दिगम्बर मतकी उत्पत्ति भी उसी समय (वि. १३९) में बताया जाना भी इसी बातकी सिद्धि करता है कि वि. सं. १३६ में ही वह उत्पन्न हुआ था। अपने उत्पन्न होते ही उन्हें अपनेको मूलसंघी सिद्ध करनेके लिए दिगम्बरकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें यह कथा गढ़नी पड़ी होगी। इसके अतिरिक्त भी दिगम्बर मतकी प्राचीनता निम्नमें दिये गये प्रमाणोंसे सिद्ध होती है।]

८ दिगम्बर मतकी प्राचीनता

१. श्वेताम्बर मान्य कथाको स्वीकार कर लें तो शिवभूतिने जिनकल्प (दिगम्बर मत) को स्वीकार किया था, उसका कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि जिनकल्पी मार्गसे भ्रष्ट साधुओंमें फिरसे जिनकल्प (दिगम्बरता) का प्रचार किया जाये। कथाके अनुसार शिवभूति गुरुके मुखसे जिनकल्पका उपदेश सुनकर उसे धारण करनेमें निश्चलप्रतिज्ञ हुए थे। इससे पता चलता है कि शिवभूतिसे पहले भी जिनकल्प अवश्य था जो इस समय शिथिल हो चुका था। २ श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें ऐसा उल्लेख पाया जाता है—"संयमो जिनकल्पस्य तु साध्योऽयं ततोऽधुना। व्रतं स्थविरकल्पस्य तस्मादस्माभिराश्रितम्। तथा - दुर्धरो मूलमार्गोऽयं न धर्तुं शक्यते ततः।" इस उद्धरणसे स्पष्ट कहा गया है कि जिनकल्प ही मूलमार्ग है, परन्तु कालकी करालताके कारण आज उसका धारण किया जाना शक्य नहीं है। इसीलिए हमने स्थिरकल्पनाका आश्रय लिया है। इधर तो श्वेताम्बराचार्य ऐसा लिखते हैं दूसरी तरफ दिगम्बराचार्य क्या कहते हैं—

२. क. प्रा./१० विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः। ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥—जो विषयोंकी आशाके वश न हो और परिग्रहसे रहित तथा ज्ञान-ध्यान-तपमें लवलीन हो वह तपस्वी गुरु प्रशसनीय है। ३ इसके अतिरिक्त विक्रमादित्यकी सभाके नवरत्नोंमें से वराहमिहिर भी नग्न साधुओंका उल्लेख करते देखे जाते हैं—

विष्णोर्भागवता मयाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्राह्मणः मातृणामिति मातृमण्डलविद. शंभोः सभस्माद्द्विजः॥ शाक्या: सर्वहिताय शान्तमनसो नग्ना जिनानां विदुर्ये यं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना ते तस्य कुर्युः क्रियाम्।" —भाव यह है कि वैष्णव लोग विष्णुकी प्रतिष्ठा करें, सूर्योपजीवी लोग सूर्यकी उपासना करें; विप्र लोग ब्रह्माकी करें; ब्रह्माणी व इन्द्राणी प्रभृति सप्त मातृमण्डलकी उनके माननेवाले अर्चा करें, बौद्ध लोग बुद्धकी प्रतिष्ठा करें, नग्न (दिगम्बर साधु) लोग जिन भगवान्‌की पर्युपासना करें। थोड़े शब्दोंमें यो कहिए कि जिस-जिस देवके जो उपासक हैं वे उस उसकी अपनी-अपनी विधिसे उपासना करें। ४. महाभारत जो कि वेदव्यास जी द्वारा ईसवी पूर्व बहुत प्राचीन कालमें रचा गया था, वह भी दिगम्बर मतका उल्लेख करता है। यथा—

"साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च। (महाभारत परिच्छेद ३) — इसके अतिरिक्त भी महापुराणअश्वमेधाधिकारमें ४६।५।पृ. ६२०१ पर दिगम्बरत्व व अस्नानत्वका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। तथा ४६।९८।पृ. ६१९६ पर दिगम्बर साधु सरीखो ही आहार बिहार चर्या आदि सम्बन्धी उल्लेख पाया जाता है।

५. इसके अतिरिक्त भी दिगम्बराम्नायमें कुन्दकुन्द प्रभृति आचार्योंकृत ईसवी पहिली शताब्दीके ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जब कि श्वेताम्बरोंके इतने प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं।

९. श्वेताम्बरके अनुसार दिगम्बर मतकी उत्पत्ति

यह सारा विषय उत्तराध्ययन सूत्र/अध्याय ३/चूर्ण सूत्र १७८ की श्री शांति सूरिकृत संस्कृत वृत्तिके तथा उसमें उद्धृत विविध आगमोक्त गाथाओंके आधारपर संकलित किया गया है।

१. द्विविध कल्प निर्देश

दिगम्बर मतकी उत्पत्तिसे पूर्व दिगम्बर व श्वेताम्बर ऐसे दो सम्प्रदायोंका नाम नहीं था, परन्तु साधुओंके दो कल्प अवश्य थे—स्थविर कल्प व जिन कल्प, जिनके लक्षण व भेद निम्न प्रकार हैं।

उत्तराध्ययन टीका/पृ. "स्थविराश्च स्थिरीकरणकारिणः। (पृ. १५२)। य. स्याज्जिन इव प्रभुः। (पृ. १७६ पर उद्धृत श्लोक)। स च प्रथमसंहनन एव (टीका पृ. १७६)।"—तात्पर्य यह कि—

विकल्प	स्थविर कल्प	जिन कल्प
१	हीन संहननधारी	उत्तम संहननधारी
२	अपवादानुसारी मृदु आचारवान्	जिनेन्द्र प्रभुवत् उत्सर्ग मार्गानुसारी कठोर आचारवान्।
३	मन्दिर मठ आदिमें ससंघ आवास	एकाकी वन बिहारी
४	श्रावकोंके भोजन कालमें भिक्षावृत्ति	श्रावकजन खा पीकर निवृत्त हो चुकें ऐसे तीसरे पहरमें भिक्षा वृत्ति। बचा खुचा मिला तो ले लिया अन्यथा उपवास किया।
५	रोग आदि होनेपर उसका उपचार करते हैं	उपचार न करते हैं न करवाते हैं
६	आँखमें रजाणु पड़ जानेपर अथवा पाँवमें शूल लग जानेपर उसे निकालते या निकलवाते हैं	न निकालते हैं न निकलवाते हैं
७	सिंह आदिके समक्ष आ जानेपर भागकर अपनी रक्षा करते हैं।	वहाँ ही ध्यानस्थ होकर खड़े रह जाते हैं।
८	साँझ पड़नेपर भी उचित स्थान की खोज करते हैं	जहाँ दिन छिपा वहीं खड़े हो जाते हैं।

इस प्रकारके शक्तिकृत भेदके अतिरिक्त इनमें बाह्य वेषकृत कोई भेद नहीं होता। बाह्य वेषकी अपेक्षा दोनों ही चार-चार प्रकारके होते हैं। यथा—

उत्तराध्ययन/पृ. १७६ पर उद्धृत गाथा—जिणकप्पिया व दुविहा पाणिपाया पडिग्गहधरा य। पाउरजमया उरणा एक्केक्का ते भवे दुविहा। य एतान् वर्जयेद्दोषान् धर्मोपकरणादृते। तस्य त्वग्रहणं युक्तं, यः स्याज्जिन इव प्रभुः। — जिनकल्पी साधु चार प्रकारके होते हैं—सवस्त्र पाणिपात्राहारी, अवस्त्र पाणिपात्राहारी, सवस्त्र पात्रधारी और अवस्त्र परन्तु पात्रधारी। जो आचार विषयक निम्न दोषोंको बिना उपकरणोंके ही टालनेको समर्थ हैं, उनके लिए तो इनका न ग्रहण करना ही योग्य है, परन्तु जो ऐसा करनेको समर्थ नहीं वे उपकरण ग्रहण करते हैं।

२. जिनकल्पका विच्छेद

उत्तराध्ययन/टीका/पृ. एष व्युच्छिन्नः। (१७६)। न चेदानीं तदस्तीति…। (१८०)। — वीर निर्वाणके ६२ वर्ष पश्चात् जम्बू स्वामीके निर्वाण पर्यन्त ही जिनकल्पकी उपलब्धि होती थी। उसके पश्चात् इस कालमें उत्तम संहनन आदिके अभावके कारण उसकी व्युच्छित्ति हो गयी है।

३. उपकरण व उनकी सार्थकता

उत्तराध्ययन/पृ. १७६ पर उद्धृत —"जन्तवो बहवस्सन्ति दुर्दर्शा मांसचक्षुषाम्। तेभ्य. स्मृतं दयार्थं तु रजोहरणधारणम्।१। सन्ति संपातिमाः सत्त्वाः सूक्ष्माश्च व्यापिनोऽपरे। तेषां रक्षानिमित्तं च विज्ञेया मुखवस्त्रिका।२। किंच—भवन्ति जन्तवो यस्मादन्नपानेषु केषुचित्। तस्मात्तेषां परीक्षार्थं पात्रग्रहणमिष्यते।४। अपरं च —सम्यक्त्वज्ञानशीलानि तपश्चेतीह सिद्धये। तेषामनुग्रहार्थाय स्मृतं चीवरधारणम्।५। शीतवातातपैर्दंशमशकैश्चापि खेदितः। मा सम्यक्त्वादिषु ध्यानं न सम्यक् संविधास्यति।६। तस्य त्वग्रहणे युत स्यात् क्षुद्रप्राणिविनाशनम्। ज्ञानाध्यानोपघातो वा महान् दोषस्तदैव तु।७।" — बहुतसे जन्तु ऐसे होते हैं जो इन चर्मचक्षुओंसे दिखाई नहीं देते। विहार शय्या आसन आदि रूप प्रवृत्तियोंमें उनकी रक्षाके अर्थ रजोहरण है। वायुमण्डलमें सर्वत्र ऐसे सूक्ष्म जीव व्याप्त हैं जो मुखमें अथवा भोजन पान आदिमें स्वत. पड़ते रहते हैं। उनकी रक्षाके लिए मुखवस्त्रिका है। बहुत सम्भव है कि भिक्षामें प्राप्त अन्न पान आदिकमें कदाचित् कोई जन्तु पड़े हों। अत. ठीक प्रकारसे देख शोधकर खानेके लिए पात्रोंका ग्रहण इष्ट है। इनके अतिरिक्त सम्यक्त्व, ज्ञान, शील व तपकी सिद्धिके अर्थ वस्त्र ग्रहण की आज्ञा है, ताकि ऐसा न हो कि कहीं शीत वात आतप डांस व मच्छरो आदिकी बाधाओंसे खेदित होनेपर कोई इनमें ठीक प्रकारसे ध्यान व उपयोग न रख सके। ये सभी पदार्थ बाह्याभ्यन्तर संयमके उपकारी होनेसे उपकरण संज्ञाको प्राप्त होते हैं, जिनका ग्रहण न करनेपर, क्षुद्र प्राणियोंका विनाश तथा ज्ञान ध्यान आदिका उपघात रूप महान् दोष प्राप्त होते हैं।

उत्तराध्ययन/टीका/पृ. १७६ "धर्मोपकरणमेवैतत न तु परिग्रहस्तथा।"

दशवैकालिक सूत्र/अ. ६ गा. १६ "जं पि वत्थं य पायं वा. केवल पायपुंछणं। तेऽपि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरन्ति य।" — अर्थात— मूर्च्छारहित साधुके लिए ये सब धर्मोपकरण हैं न कि परिग्रह, क्योंकि मूर्च्छाको परिग्रह संज्ञा प्राप्त होती है वस्तुको नहीं। वस्त्र व पात्रादि इन उपकरणोंको साधुजन संयमकी रक्षार्थ तथा लज्जा निवारणके लिए धारण करते हैं, और उनके प्रति इतने अनासक्त रहते हैं कि समय आनेपर जीर्ण तृणकी भाँति वे इनका त्याग भी कर देते हैं।

४. दिगम्बर मत प्रवर्तक शिवभूतिका परिचय

उत्तराध्ययन/चूर्णसूत्र १६४ का उपोद्घात/पृ. १५१ "जमालिप्रभृतीनां निह्नवानां शिष्यास्तद्भक्तियुक्ततया स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरुप्रत्ययाद्विपरीतमर्थं प्रतिपन्नः।"

उत्तराध्ययन/चूर्णसूत्र १७८/पृ. १७६ पर उद्धृत "छव्वाससएहिं णवोत्तरेहिं सिद्धिगयस्स वीरस्स। तो बोडियाण दिट्ठी रहवीपुरे समुप्पणा।" — श्वेताम्बर आगममें यत्र तत्र जमालि आदि सात तथा शिवभूति नामक अष्टम निह्नवोंका कथन अत्यन्त प्रसिद्ध है। निह्नव संज्ञाको प्राप्त ये स्थविरकल्पी साधु तथा इनके शिष्य यद्यपि आगमके प्रति भक्ति युक्त होनेके कारण स्वयं आगमानुसारी बुद्धिवाले होते हैं,

परन्तु गुरु आज्ञासे विपरीत अर्थका प्रतिपादन करनेके कारण संघसे बहिष्कृत कर दिये जानेपर स्वयं स्वच्छन्द रूपसे अपने-अपने मतोंका प्रसार करते हैं, जिनसे विभिन्न सम्प्रदायों व मतमतान्तरोंकी उत्पत्ति होती है। भगवान् वीरके निर्वाण होनेके ६०९ वर्ष पश्चात् अर्थात् वि. सं. १३९ में 'रथवीपुर' नामक नगरमें बोटिक (दिगम्बर) मतवाला अष्टम निह्नव शिवभूति उत्पन्न हुआ।

उत्तराध्ययन/चूर्ण सूत्र १७८/पृ. १७९-१८० का भावार्थ—यह शिवभूति अपनी गृहस्थावस्थामें अत्यन्त स्वच्छन्द वृत्तिवाला एक राजसेवक था, जिसने किसी समय राजाके एक शत्रुको जीतकर राजाको प्रसन्न किया और उपलक्ष्यमें उससे नगरमें स्वच्छन्द घूमनेकी आज्ञा प्राप्त कर ली। वह रात्रिको भी इधर-उधर घूमता रहता था, जिसके कारण उसकी स्त्री व माता उससे तंग आ गयीं, और एक रात्रिको जब वह घर आया तो उन्होंने द्वार नहीं खोले। शिवभूति क्रुद्ध होकर उपाश्रयमें चला गया और गुरुके मना करनेपर भी 'खेलमल्लक' नामक किसी साधुसे दीक्षा लेकर स्वयं केशलोंच कर लिया। कुछ काल पश्चात् ससंघ विहार करता हुआ जब वह पुनः इस नगरमें आया तो राजाने अपना प्रिय जान उसे एक रत्न कम्बल भेंट किया। गुरुकी आज्ञाके बिना भी उसने वह रत्न कम्बल ग्रहण कर लिये और उसे गुरुसे छिपाकर अपने पास रखता रहा। एक दिन जब वह भिक्षाचर्याके लिए बाहर गया था, तब गुरुने इस परिग्रहसे उसकी रक्षा करनेके लिए उसकी पोटलीमें-से वह कम्बल निकाल लिया और बिना पूछे उसमेंसे फाड़कर साधुओंके पाँव पोंछनेके आसन बना दिये। अतः शिवभूति भीतर ही भीतर गुरुके प्रति रुष्ट रहने लगा।

५. शिवभूतिसे दिगम्बर मतकी उत्पत्ति :

उत्तराध्ययन/चूर्ण सूत्र १७८/पृ. १७९—"इत्यादि सो (सिवभूइ) किं एस एवं ण कोरइ। तेहिं भणियं—एष व्युच्छिन्न'। मम न व्युच्छिद्यते इति स एव परलोकार्थिना कर्त्तव्यः।

उत्तराध्ययन/चूर्ण सूत्र १७८/१८० "न चेदानीं तदस्तीत्यादिकया प्रागुक्तया च युक्त्योच्यमानोऽसौ कर्मोदयेन चीवरादिकं त्यक्त्वा गतः।... तस्योत्तरा भगिनी, उद्याने स्थितं वन्दिका गता, तं च दृष्ट्वा तयापि चीवरादिकं सर्वं त्यक्तं, तदा भिक्षार्थं प्रविष्टा गणिकया दृष्टा। मास्मासु लोको विरङ्क्षीत इति उरसि तस्याः पोतिका बद्धा। सा नेच्छति, तेन भणितं—तिष्ठतु एषा तव देवता दत्ता। तेन च द्वौ शिष्यौ प्रव्रजितौ—कौण्डिन्य' कोटिवीरश्च, ततः शिष्याणां परम्परा स्पर्शो जात'।"—

उत्तराध्ययन। चूर्णसूत्र १७८/पृ. १८० पर उद्धृत—"उहाए पण्णत्तं बोडियसिवभूइ उत्तरा हि इमं। मिच्छादंसणमिणमो रहवीपुरे समुप्पण्णं।१। बोडियसिवभूइओ बोडियलिंगस्स होई उप्पत्ती। कोडिण्ण-कोट्टवीरा परंपराफासमुप्पन्ना।२।"—एक दिन गुरु जब पूर्वोक्त प्रकार जिनकल्पके स्वरूपका कथन कर रहे थे, तब शिवभूतिने उनसे पूछा कि किस कारणसे अब आप साधुओंको जिनकल्पमें दीक्षित नहीं करते हैं। 'वह मार्ग अब व्युच्छिन्न हो गया है', गुरुके ऐसा कहनेपर वह बोला कि भले ही दूसरोंके लिए व्युच्छिन्न हो गया हो, परन्तु मेरे लिए वह व्युच्छिन्न नहीं हुआ है। सर्वथा निष्परिग्रही होनेसे परलोकार्थीके लिए वही ग्रहण करना कर्त्तव्य है।—"हीन संहननके कारण इस कालमें वह सम्भव नहीं है", गुरुके पूर्वोक्त प्रकार ऐसा समझानेपर भी मिथ्यात्व कर्मोदयवश उसने गुरुकी बात स्वीकार नहीं की, और वस्त्र त्यागकर अकेला वनमें चला गया। उसके पीछे उसकी बहन भी उसकी वन्दनार्थ उद्यानमें गयी और उसे देखकर वस्त्र त्याग नग्न हो गयी। एक दिन जब वह भिक्षार्थ नगरमें प्रवेश-कर रही थी, तो एक गणिकाने उसे एक साड़ी पहना दी, जिसे देवता प्रदत्त कहकर शिवभूतिने ग्रहण करनेकी आज्ञा दे दी। शिवभूतिने कौडिन्य व कोटिवीर नामक दो शिष्योंको दीक्षा दी जिनकी परम्परामें ही यह बोटिक या दिगम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ है।

१०. ढूंढिया पंथ

१. दिगम्बरके अनुसार उत्पत्ति :

कुछ काल पश्चात् इसी श्वेताम्बर संघमेंसे ढूंढिया पंथ अपरनाम स्थानकवासी मतकी उत्पत्ति हुई। यथा—

भद्रबाहु चरित्र /४/१५७/१६१ मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते। दशपञ्चशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ।१५७। लुङ्कामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणः। देशेऽत्र गौर्जरे ख्याते विद्वत्ताजितनिर्जरे।१५८। अणहिल्लपत्तने रम्ये प्राग्वाटकुलजोऽभवत्। लुङ्काऽभिधो महामानी श्वेतांशुकमहाश्रयी।१५९। दुष्टात्मा दुष्टभावेन कुपितः पापमण्डितः। तीव्रमिथ्यात्वपाकेन लुङ्कामतमकल्पयत् ।१६०। तन्मतेऽपि च भूयांसो मतभेदाः समाश्रिताः ।१६१।—विक्रमकी मृत्युके १५२७ वर्ष बाद धर्म कर्मका सर्वथा नाश करनेवाला एक लुङ्कामत (ढूंढिया मत) प्रगट हुआ। इसीकी विशेष व्याख्या यों है कि—गुर्जर देश (गुजरात) में एक अणहिल नामका नगर है। उसमें प्राग्वाट (कुलम्बी) कुलमें लुङ्का नामका धारक एक श्वेताम्बरी हुआ है। उस दुष्ट आत्माने कुपित होकर तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे खोटे परिणामोंके द्वारा लुङ्कामत चलाया। उनमें भी पीछे अनेक भेद हो गये।

द. पा./टी./११/११/१२ तन्मध्ये श्वेताम्बराभासा उत्पन्नाः।—उनमेंसे (श्वेताम्बरियोंमेंसे) ही श्वेताम्बराभास (ढूंढिया मत) उत्पन्न हुआ।

२. श्वेताम्बराम्नायके अनुसार उत्पत्ति :

विक्रम सं १४७२ में इस मतके संस्थापक लौंकाशाहका जन्म हुआ। यह व्यक्ति अहमदाबादमें ग्रन्थ लिखनेका व्यवसाय करता था। एक बार एक ग्रन्थ लिखनेकी उजरतके विषयमें किसी यतिसे उसकी कहा सुनी हो गयी, जिसके कारण उसने मूर्तिपूजाको तथा कुछ आचार विचारोंको आगम विरुद्ध बताकर एक स्वतन्त्रमतका प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया उसने २२ शिष्योंको दीक्षित किया, जिनकी परम्परामें 'लौंकागच्छ'की उत्पत्ति हुई। पीछे इसमें भी अनेकों भेद प्रभेद उत्पन्न हो गये।

सूरतके एक साधुने इस लौंकामतमें भी कुछ सुधार करके 'ढूंढिया' नामक एक नये सम्प्रदायको जन्म दिया, जिससे कि पूर्ववर्ती भी सभी लौंकानुयायी ढूंढिया नामसे प्रसिद्ध हो गये। स्थानकोंमें रहनेके कारण इसके साधु स्थानकवासी कहलाते हैं। इसी सम्प्रदायमें आचार्य भिक्षुने तेरहपन्थकी स्थापना की।

३. स्वरूप

भद्रबाहु चरित्र/४/१६१ सुरेन्द्रार्च्यां जिनेन्द्रार्चां तत्पूजां दानमुत्तमम्। समुत्थाप्य स पापात्मा प्रतापो जिनसूत्रतः ।१६१।—जिन सूत्रसे प्रतिकूल होकर, देवताओंसे भी पूजनीय जिन प्रतिमाकी पूजा दानादि सब कर्मोंका उत्थापन करके वह पापात्मा जिन भगवान्के व्रतोंसे प्रतिकूल हो गया।

द. पा./टी./११/११/१२ तन्मध्ये श्वेताम्बराभासा उत्पन्नास्ते त्वतीव पापिष्ठाः देवपूजादिकं किल पापकर्मेदमिति कथयन्ति, मण्डलवत्सर्वत्र भाण्डप्रक्षालनोदकं पिबन्ति इत्यादि, बहुदोषवन्तः।—उन (श्वेताम्बरों) मेंसे श्वेताम्बराभासी (ढूंढिया मती) उत्पन्न हुए। वे तीव्र पापिष्ठ होकर देव पूजादिकको भी पापकर्म बताने लगे। मण्डल मतकी भाँति बर्तनोंके धोवनका पानी पीने लगे। इस प्रकार बहुत दोषवन्त हो गये।

नोट—यह सम्प्रदाय श्वेताम्बर मान्य आगम सूत्रोंमेंसे ३२ को मान्य करता है। परन्तु श्वेताम्बराचार्यों कृत उनकी टीकाएँ इसे मान्य नहीं हैं।

[ष]

षंड—दे. नपुंसक।

षडावश्यक—दे. आवश्यक।

षट् कर्म—दे. सावद्य/१।

षट् काय—दे. काय।

षट् काल—दे. काल/४।

षट्खंड—भरतादि १७० कर्मभूमियों रूप क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकमें दो-दो नदियाँ व एक-एक विजयार्ध पर्वत हैं। जिनके कारण वह छह खण्डोंमें विभाजित हो जाता है। इन्हें ही षट् खण्ड कहते हैं। इनमें-से एक आर्य व शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। इन्हीं षट् खण्डोंको चक्रवर्ती जीतता है। विजयार्ध तथा आर्य खण्ड सहित तीन खण्डों-को अर्ध चक्रवर्ती जीतता है।—दे. म्लेच्छ खण्ड।

षट् खंडागम—यह कर्म सिद्धान्त विषयक ग्रन्थ है। इसकी उत्पत्ति मूल द्वादशांग श्रुतस्कन्धसे हुई है (दे. श्रुतज्ञान)। इसके छह खण्ड हैं—१ जीवट्ठाण, २ खुद्दाबन्ध, ३ बन्धस्वामित्व विचय, ४ वेदना, ५ वर्गणा, ६ महाबन्ध। मूल ग्रन्थके पाँच खण्ड प्राकृत भाषामें सूत्र निबद्ध हैं। इनमें पहले खण्डके सूत्र पुष्पदन्त (ई.१०६-१३६) आचार्यके बनाये हुए हैं। पीछे उनका शरीरान्त हो जानेके कारण शेष चार खण्डोंके पूरे सूत्र आ. भूतबलि (ई.१३६-१५६) ने बनाये थे। छठा खण्ड सविस्तर रूपसे आ. भूतबलि द्वारा बनाया गया है। अत. इसके प्रथम पाँच खण्डोंपर तो अनेकों टीकाएँ उपलब्ध हैं, परन्तु छठे खण्डपर वीरसेन स्वामीने संक्षिप्त व्याख्याके अतिरिक्त और कोई टीका नहीं की है। १. सर्व प्रथम टीका आ. कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) द्वारा इसके प्रथम तीन खण्डोंपर रची गयी थी। उस टीकाका नाम 'परिकर्म' था। २. दूसरी टीका आ. समन्तभद्र (ई. श. २) द्वारा इसके प्रथम पाँच खण्डोंपर रची गयी। ३. तीसरी टीका आ. शामकुण्ड (ई. श. ३) द्वारा इसके पूर्व पाँच खण्डोंपर रची गयी है। ४. चौथी टीका आ. वीरसेन स्वामी (ई. ७७०-८२७) कृत है। (विशेष दे० परिशिष्ट)।

षट्गुणहानि वृद्धि—१. अविभाग प्रतिच्छेदोंमें हानि वृद्धिका नाम ही षट्गुण हानि वृद्धि है

पं. का./त. प्र./८४ धर्मः (द्रव्य) अगुरुलघुभिर्गुणैरगुरुलघुत्वाभिधानस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वनिबन्धनस्य स्वभावस्याविभागपरिच्छेदैः प्रतिसमय-संभवत्षट्स्थानपतितवृद्धिहानिभिरनन्तैः सदा परिणतत्वा-दुत्पादव्ययत्वेऽपि। —धर्म (धर्मास्तिकाय) अगुरुलघुगुणों रूपसे अर्थात् अगुरुलघुत्व नामका जो स्वरूपप्रतिष्ठत्वके कारणभूत स्वभाव उसके अविभागप्रतिच्छेदों रूप जो कि प्रतिसमय होनेवाली षट्स्थानपतित वृद्धि हानिवाले अनन्त हैं उनके रूपसे सदैव परिण-मित होनेके उत्पाद-व्यय स्वभाववाला है।

गो. जी./जी. प्र./५६६/१०१५/५ धर्माधर्मादीनां अगुरुलघुगुणाविभाग-प्रतिच्छेदः स्वद्रव्यत्वस्य निमित्तभूतशक्तिविशेषाः षड्वृद्धिभिर्वर्ध-मानषड्हानिभिश्च हीयमानाः परिणमन्ति। —धर्म और अधर्म द्रव्योंके अपने द्रव्यत्वको कारणभूत शक्ति विशेष रूप जो अगुरुलघु नामक गुणके अविभाग प्रतिच्छेदसे अनन्त भाग वृद्धि आदि, तथा षट्स्थान हानिके द्वारा वर्धमान और हीयमान होता है।

२. एक समयमें एक ही वृद्धि या हानि होती है

ष. खं. १०/४,२,४/सू. व टी./२०२-२०५/४९६ 'तिण्णिवड्ढितिण्णि-हाणीओ केवचिरं कालादो होंति। जहण्णेण एगसमयं' ।२०२।—असंखेज्जभागवड्ढीए जहण्णेण एगसमयमच्छिदूणं विदिए समए सेसतिण्णं वड्ढीणमेगवड्ढि चदुण्णं हाणीणमेगतमहाणिं वा गदस्स असंखेज्जभागवड्ढिकालो जहण्णेण एगसमओ होदि। एवं सेसदो-वड्ढीणं तिण्णिहाणीणं च एगसमयपरूवणा कादव्वा। 'उक्कस्सेण आवलियाए असंखेज्जदिभागो ।२०३।'—एक्को जीवो जम्हि कम्हि वि जोगट्ठाणे ट्ठिदो असंखेज्जभागवड्ढिजोगं गदो। तत्थ एक्कसमय-मच्छिदूण विदियसमए तत्तो असंखेज्जदिभागुत्तरजोगं गदो। एवं दोण्णमसंखेज्जभागवड्ढिसमयाणमुवलद्धी जादा। 'असंखेज्जगुण-वड्ढिहाणी केवचिरं कालादो होंति। जहण्णेण एगसमओ ।२०४।'—असंखेज्जगुणवड्ढिमसंखेज्जगुणहाणिं वा एगसमयं काऊण अणप्पि-दवड्ढि-हाणीणं गदस्स एगसमओ होदि। 'उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं ।२०५।' —'तीन वृद्धियाँ और तीन हानियाँ कितने काल तक होती हैं। जघन्यसे एक समय होती हैं।२०२।—असंख्यात भाग वृद्धि होनेपर जघन्यसे एक समय रहकर द्वितीय समयमें शेष तीन वृद्धिमें किसी वृद्धि अथवा चार हानियोंमें किसी एक हानिको प्राप्त होनेपर असंख्यात भागवृद्धिका काल जघन्यसे एक समय होता है। इसी प्रकार शेष दो वृद्धियों और तीन हानियोंके एक समयकी प्ररूपणा करनी चाहिए। 'उत्कर्षसे उक्त हानि-वृद्धियोंका काल आवलीके असंख्यातवें भाग प्रमाण है।२०३।'—एक जीव जिस किसी भी योगस्थानमें स्थित होकर असंख्यात भागवृद्धिको प्राप्त हुआ। वहाँ एक समय रहकर दूसरे समयमें उससे असंख्यातवें भागसे अधिक योगको प्राप्त हुआ। इस प्रकार असंख्यात भाग वृद्धिके दो समयोंकी उपलब्धि हुई। (इसी प्रकार तीन आदि समयोंमें आवली पर्यन्त लागू कर लेना)। 'असंख्यात गुणवृद्धि और हानि कितने काल तक होती है। जघन्यसे एक समय होती है।२०४।' असंख्यात गुणवृद्धि अथवा असंख्यात गुण हानिको एक समय करके अविवक्षित वृद्धि या हानिको प्राप्त होनेपर एक समय होता है। 'उक्त वृद्धि व हानि उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त काल तक रहती है।२०५।'

३. स्थिति आदि बन्धोंमें वृद्धि-हानि सम्बन्धी नियम

ध. ६/१,९-४,३/१८३/१ एत्थगुणहाणीओ णत्थि, पलिदोवमस्स असं-खेज्जदिभागमेत्तट्ठिदीए विणा गुणहाणीए असंभवादो। —यहाँ अर्थात् इस जघन्य स्थितिमें गुणहानियाँ नहीं होती हैं, क्योंकि, पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिके बिना गुण-हानिका होना सम्भव नहीं है।

ध. १२/४,२,१३,२६५/४६१/१३ खविदकम्मंसिए जदि सुट्ठु बहुगी दव्ववड्ढी होदि तो एगसमयपबद्धमेत्ता चेव होदि त्ति गुरूवएसादो। —क्षपित कर्मांशिकके यदि बहुत अधिक द्रव्यका (प्रदेशोंकी) वृद्धि होती है तो वह एक समय प्रबद्ध प्रमाण ही होती है, ऐसा गुरुका उपदेश है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. छह वृद्धि हानियोंका क्रम, अर्थ, संदृनानी व यन्त्र। —दे. श्रुतज्ञान/II/२/१।

२. अनुभाग काण्डकोंमें षड्गुण हानियाँ। —दे. ध. १२/१५७-२०२।

३. अध्यवसाय स्थानोंमें वृद्धि हानियाँ। —दे. वह वह नाम।

४. व्यंजन पर्यायमें अन्तर्लीन अर्थ पर्याय। —दे. पर्याय/३/८।

५. अशुद्ध पर्यायोंमें भी एक दो आदि समयोंके पश्चात् हानिवृद्धि होती है। —दे. अवधिज्ञान/२/१।

षड्क—संख्यात गुण वृद्धिकी संज्ञा है।—दे. श्रुतज्ञान II/२/३।

षड्ज—एक स्वर—दे. 'स्वर'।

षड् दर्शन—दे. दर्शन।

षड् दर्शन समुच्चय—श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि (ई. ४८०-५२८) द्वारा रचित संस्कृत सूत्र बद्ध ग्रन्थ है। इसमें जैन, बौद्ध, चार्वाक, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसक इन छह दर्शनोंका संक्षिप्त वर्णन है।

षड्रसी-व्रत—उत्कृष्ट २४वर्ष, मध्यम १२ वर्ष व जघन्य १ वर्षमें ज्येष्ठ कृ. १ से ज्येष्ठ पूर्णिमा तक—कृ. १ को उपवास, २-१५ तक एकाशन; शु. १ को उपवास, २-१५ तक एकाशन करे। 'ओं ह्रीं श्री वृषभजिनाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./४३)।

षण्णवति प्रकरण—आ. सोमदेव (ई. ९४३-९६८) कृत न्याय विषयक एक ग्रन्थ है।

षष्ठभक्त—दो उपवास—दे. प्रोषधोपवास/१।

षष्ठ बेला—बेला अर्थात् दो उपवासको षष्ठ भक्त कहते हैं। —दे बेलाव्रत।

षष्ठी व्रत—६ वर्ष तक प्रतिवर्ष श्रावण शु. ६ के दिन उपवास करे। तथा 'ओं ह्रीं श्री नेमिनाथाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जप करे। (व्रत विधान सं./१२२)।

षाष्ठिक पद्धति—Sexagesimal Measure (ज. प./प्र. १०८)।

षोडशकारण धर्म चक्रोद्धार यन्त्र—दे. यन्त्र।

षोडशकारण भावना—दे. भावना।

षोडश कारण भावना व्रत—१६ वर्ष तक, वा ५ वर्ष तक, अथवा जघन्य एक वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद, माघ व चैत्र, इन तीनों महीनोंमें कृ. १ से लेकर अगले महीनेकी कृ. १ तक ३२ दिन तक क्रमशः ३२ उपवास, वा १६ उपवास, १६ पारणा, अथवा जघन्य विधिसे ३२ एकाशना करे।
जाप्य—'ओं ह्रीं दर्शविशुद्ध्यादिषोडशकारणेभ्यो नमः।' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./पृ. ३८)।

[स]

संकट हरण व्रत—तीन वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद, माघ व चैत्र-मासमें शु. १३ से शु. १५ तक उपवास। तथा 'ओं ह्रां, ह्रीं ह्रूं, ह्रौं ह्रः असि आ उसा सर्व शान्ति कुरु कुरु स्वाहा' इस मंत्रका त्रिकाल जप करे। (व्रत विधान सं./४२)।

संकर दोष—स्या. मं./२४/२९२/१० येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति सङ्करदोषः। —स्याद्वादियोंके मतमें अस्तित्व और नास्तित्व एक जगह रहते हैं। इसलिए अस्तित्वके अधिकरणमें अस्तित्व और नास्तित्वके रहनेसे, और नास्तित्वके अधिकरणमें नास्तित्व और अस्तित्वके रहनेसे स्याद्वादमें संकर दोष आता है। (ऐसी शंकामें संकर दोषका स्वरूप प्रकट होता है।)
स. भं. त./८२/६ सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः। —(उपरोक्तवत्) सम्पूर्ण स्वभावोंकी युगपत् प्राप्ति हो जाना संकर है। (श्लो. वा. ४/न्या. ४५६/५५१/१८ पर भाषामें उद्धृत)।

संकलन—Addition जमा करना। दे. गणित/II/१/३।

संकलन धन—दे. गणित/II/१/२।

संकलन वार—दे. गणित/II/१।

संकलित धन—Sum of series (ज. प./प्र. १०८)।

संकल्प—पं. का./ता. वृ./७/१६/७ बहिर्द्रव्ये चेतनाचेतनमिश्रे ममेदमित्यादि परिणामः संकल्पः। —चेतन-अचेतन-मिश्र, इन बाह्य पदार्थोंमें 'ये मेरे हैं' ऐसी कल्पना करना संकल्प है।
प. प्र./टी./१/१६ बहिर्द्रव्यविषये पुत्रकलत्रादिचेतनाचेतनरूपे ममेदमिति स्वरूपः संकल्पः। —स्त्री-पुत्र आदि चेतन, अचेतन, बाह्य पदार्थोंमें 'ये मेरे हैं' ऐसा विचारना सो संकल्प है। (द्र. सं./टी./४१/१७४/१)।

संकुट—जीवको संकुट कहनेकी विवक्षा—दे. जीव/१/३।

संकेत—Symbol Notation (ध. ५/प्र. २८)। २. गणित सम्बन्धी विशेष शब्दोंकी सहनानियाँ—दे. गणित/I/२।

संकेत क्रम—Scale of Notation (ध. ५/प्र. २८)।

संकोच—जीवकी संकोच विस्तार शक्ति—दे. जीव/३।

संक्रमण—जीवके परिणामोंके वशसे कर्म प्रकृतिका बदलकर अन्य प्रकृति रूप हो जाना संक्रमण है। इसके उद्वेलना आदि अनेकों भेद हैं। इनका नाम वास्तवमें संक्रमण भागाहार है। उपचारसे इनको संक्रमण कहनेमें आता है। अतः इनमें केवल परिणामोंकी उत्कृष्टता आदि हीके प्रति संकेत किया गया है। ऊँचे परिणामोंसे अधिक द्रव्य प्रतिसमय संक्रमित होनेके कारण उसका भागाहार अल्प होना चाहिए। और नीचे परिणामोंसे कम द्रव्य संक्रमित होनेके कारण उसका भागाहार अधिक होना चाहिए। यही बात इन सब भेदोंके लक्षणोंपर से जाननी चाहिए। उद्वेलना विध्यात व अधःप्रवृत्त इन तीन भेदोंमें भागहानि क्रमसे द्रव्य संक्रमाया जाता है, गुणश्रेणी संक्रमणमें गुणश्रेणी रूपसे और सर्वसंक्रमणमें अन्तका बचा हुआ सर्व द्रव्य युगपत संक्रमा दिया जाता है।

१. संक्रमण सामान्य निर्देश

१. संक्रमण सामान्यका लक्षण

क. पा. १/१. १८/§३१५/३ अंतरकरणे कए जं णवुंसयवेयक्खवणं तस्स 'संकमणं' त्ति सण्णा।—अन्तरकरण कर लेनेपर जो नपुंसकवेदका (क्षपकके जो) क्षपण होता है यहाँ उसकी (उस कालकी) संक्रमण संज्ञा है।

गो. क./जी. प्र./४३८/५९१/१४ परप्रकृतिरूपपरिणमनं संक्रमणम्।—जो प्रकृति पूर्वमें बँधी थी उसका अन्य प्रकृति रूप परिणमन हो जाना संक्रमण है। (गो. क./जी. प्र./४०६/५७३/५)।

२. संक्रमणके भेद

१. सामान्य संक्रमणके भेद

ध. १५/२८२-२८४

गो. जी./मू./५०४/६०३ संकमणं सट्ठाणपरट्ठाणं होदि।—संक्रमण दो प्रकारका है—स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण [इसके अतिरिक्त आनुपूर्वी संक्रमण (ल. सा./मू./२४६), फालिसंक्रमण और काण्डक संक्रमण (गो. क./जी. प्र./४१२/५७५) का निर्देश भी आगममें पाया जाता है।]

२. भागाहार संक्रमणके भेद

ध. १६/गा. १/४०६ उव्वेलणविज्झादो अधापवत्तो गुणो य सव्वो य। (संकमणं)...।४०६।—उसके (भागाहार या संक्रमणके) उद्वेलन, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुणसंक्रम, और सर्वसंक्रमणके भेदसे पाँच प्रकार हैं।४०६। (गो. क./मू./४०६)।

३. पाँचों संक्रमणोंका क्रम

गो. क./मू. व. जी. प्र./४१६ बंधे अधापवत्तो विज्झादं सत्तमोत्ति हु अबंधे। एत्तो गुणो अबंधे पयडीणं अप्पसत्थाणं।४१६। प्रकृतीनां बन्धे सति स्वस्वबन्धव्युच्छित्तिपर्यन्तमधःप्रवृत्तसंक्रमणः स्यात् न मिथ्यात्वस्य। ...बन्धव्युच्छित्तौ सत्यामसंयताद्यप्रमत्तपर्यन्तं विध्यातसंक्रमणं स्यात्। इत अप्रमत्तगुणस्थानादुपर्युपशान्तकषायपर्यन्तं बन्धरहिताप्रशस्तप्रकृतीनां गुणसंक्रमणं स्यात्। ततोऽन्यत्रापि प्रथमोपशमसम्यक्त्वग्रहणप्रथमसमयादन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं पुनः मिश्रसम्यक्त्वप्रकृत्योः पूरणकाले मिथ्यात्वक्षपणायामपूर्वकरणपरिणामान्मिथ्यात्वचरमकाण्डकद्विकचरमफालिपर्यन्तं च गुणसंक्रमणं स्यात्। चरमफाली सर्वसंक्रमणं स्यात्।—प्रकृतियोंके बंध होनेपर अपनी-अपनी बंध व्युच्छित्ति पर्यन्त अधःप्रवृत्त संक्रमण होता है परन्तु मिथ्यात्व प्रकृतिका नहीं होता। और बन्धकी व्युच्छित्ति होनेपर असंयतसे लेकर अप्रमत्तपर्यन्त विध्यातनामा संक्रमण होता है। तथा अप्रमत्तसे आगे उपशान्त कषाय पर्यन्त बन्ध रहित अप्रशस्त प्रकृतियोंका गुणसंक्रमण होता है। इसी तरह प्रथमोपशम सम्यक्त्व आदि अन्य जगह भी गुणसंक्रमण होता है ऐसा जानना। तथा मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिके पूरण कालमें और मिथ्यात्वके क्षय करनेमें अपूर्वकरण परिणामोंके द्वारा मिथ्यात्वके अन्तिम काण्डककी उपान्त्य फालिपर्यन्त गुणसंक्रमण और अन्तिम फालिमें सर्व संक्रमण होता है।

४. सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृतिकी उद्वेलनामें चार संक्रमणोंका क्रम

गो. क./मू./४१२-४१३ मिच्छेसमिस्साणं अधापवत्तो मुहुत्तअंतोत्ति। उव्वेलणं तु तत्तो दुचरिमकंडोत्ति णियमेण।४१२। उव्वेलणपयडीणं गुणं तु चरिमम्हि कंडये णियमा। चरिमे फालिम्मि पुणो सव्वं च य होदि संकमणं।४१३।—मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्रमोहनीयका अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तक अधःप्रवृत्त संक्रमण होता है। और उद्वेलन नामा संक्रमण द्विचरम काण्डक पर्यन्त नियमसे प्रवर्तता है।४१२। उद्वेलन प्रकृतियोंका अन्तके काण्डकमें नियमसे गुण संक्रमण होता है। और अन्तकी फालिमें सर्व संक्रमण होता है।४१३।

२. संक्रमण योग्य प्रकृतियाँ

१. केवल उद्वेलना योग्य प्रकृतियाँ

पं. सं./प्रा./२/८ आहारय-वेउव्विय-णिर-णर-देवाण होंति जुगलाणि। सम्मत्तुच्चं मिस्सं एया उव्वेलणा-पयडी।—आहारक युगल (आहारक शरीर-आहारक अंगोपांग), वैक्रियिक युगल (वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक-अंगोपांग), नरक युगल (नरकगति, नरक गत्यानुपूर्वी), नरयुगल (मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी), देवयुगल, (देवगति, देवगत्यानुपूर्वी), सम्यक्त्व प्रकृति, मिश्रप्रकृति और उच्चगोत्र ये तेरह उद्वेलन प्रकृतियाँ हैं। (गो. क./मू./४१५/५७७)

२. केवल विध्यात योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू./४२६ सम्मत्तूणुव्वेलणथीणतितीसं च दुक्खवीसं च। वज्जोरालदुतित्थं मिच्छं विज्झादसत्तट्ठी।४२६।—सम्यक्त्व मोहनीयके बिना उद्वेलन प्रकृतियाँ १२ (दे. संक्रमण/२/१), स्त्यानगृद्धि तीन आदिक ३० प्रकृतियाँ (दे. संक्रमण/२/१२), असाता वेदनीय आदिक २० प्रकृतियाँ (दे. संक्रमण/२/६), वज्रर्षभनाराचसंहनन, औदारिक युगल, तीर्थंकर प्रकृति और मिथ्यात्व प्रकृति ये (१२+३०+२०+५=) ६७ प्रकृतियाँ *विध्यात संक्रमणवाली हैं।*

३. केवल अधःप्रवृत्त योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू./४१९-४२०/५८० सुहुमस्स बंधघादी सादं संजलणलोहपंचिंदी। तेजदुसमवण्णचऊ अगुरुलहुपरघादउस्सासं।४१९। सत्थगदी तसदसयं णिमिणुगुदाले अधापवत्तो दु।...।४२०।—*सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानमें* बंधव्युच्छिन्न होनेवाली घातिया कर्मोंकी १४ प्रकृतियाँ (दे. प्रकृतिबंध/७/२) साता वेदनीय, संज्वलन लोभ, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस, कार्मण, समचतुरस्र, वर्णादि ४, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस आदि १० (दे. उदय/६/१) और निर्माण इन ३९ प्रकृतियोंमें अधःप्रवृत्त संक्रमण है।

गो. क./मू./४२७/५८४ मिच्छूणिगिवीससयं अधापवत्तस्स होंति पयडीओ।...।४२७।—मिथ्यात्व प्रकृतिके बिना १२१ प्रकृतियाँ अधःप्रवृत्त संक्रमणकी होती हैं।

४. केवल गुण संक्रमण योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू./४२७-४२८/५८४-५८५ . सुहुमस्स बंधघादिप्पहुदी उगुदालुरालदुगतित्थं।४२७। वज्जं पंसंजलणति ऊणा गुणसंकमस्स पयडीओ।

पणहुत्तरिसंखाओ पयडीणियमं विजाणाहि ।४२८। —सूक्ष्म साम्पराममें बँधनेवाली घातिया कर्मोंकी १४ प्रकृतियोंको आदि लेकर (दे. संक्रमण/२/३ में केवल अधःप्रवृत्त संक्रमणमें योग्य) ३९ प्रकृतियाँ, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, तीर्थंकर, वज्रर्षभनाराच, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोधादि तीन, (३९+८) ४७ प्रकृतियों को कम करके (१२२—४७) शेष ७५ प्रकृतियाँ गुण संक्रमण की हैं। ४२७-४२८।

५. केवल सर्वसंक्रमण योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू./४१७/५७६ तिरियेयारुव्वेल्लणपयडी संजलणलोहसम्ममिस्सूणा। मोहा थीणतिगं च य वावण्णे सव्वसंकमणं ।४१७। —तिर्यगेकादश (दे. उदय/६/१), उद्वेलनकी १३ (दे. संक्रमण/२/१), संज्वलन लोभ, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र, इन तीन के बिना मोहनीयकी २५ और स्त्यानगृद्धि आदिक ३ (स्त्यानगृद्धि, प्रचलाप्रचला, निद्रानिद्रा) प्रकृतियाँ, ये (११+१३+२५+३) ५२ प्रकृतियोंमें सर्वसंक्रमण होता है ।४१७।

६. विध्यात व अधःप्रवृत्त इन दोके योग्य

गो.क./मू./४२५/५८३ ओरालदुगे वज्जे तित्थे विज्झादधापवत्तो य ।४२५। —औदारिक शरीर-अंगोपांग, वज्रर्षभनाराच संहनन तीर्थंकर प्रकृति—इन चारोंमें विध्यातसंक्रमण और अधःप्रवृत ये दो संक्रमण है।

७. अधःप्रवृत्त व गुण इन दो के योग्य

गो. क./मू./४२१-४२२/५८१···णिद्दा पयला असुहं वण्णचउक्कं च उवघादे ।४२१। सत्तण्हं गुणसंकममधापवत्तो य।··।४२२। —निद्रा, प्रचला, अशुभ वर्णादि चार, और उपघात, इन सात प्रकृतियों के गुणसंक्रमण और अधःप्रवृत्त संक्रमण पाये जाते हैं।

८. अधःप्रवृत्त और सर्व इन दोके योग्य

गो. क./मू./४२४/५८३ संजलणतिये पुरिसे अधापवत्तो य सव्वो य ।४२४। —संज्वलन क्रोध, मान, माया तथा पुरुषवेद इन चारोंमें अधःप्रवृत्त और सर्व संक्रमण ये दो ही संक्रमण पाये जाते हैं।

९. विध्यात अधःप्रवृत्त व गुण इन तीनके योग्य

गो. क./मू. ४२२-४२३ ।···दुक्खमसुहगदी। संहदि संठाणदसं णीचापुण्णथिरछक्कं च ।४२२। वीसण्हं विज्झादं अधापवत्तो गुणो य।···।४२३। —असाता वेदनीय, अप्रशस्त विहायोगति, पहलेके बिना पाँच संहनन व पाँच संस्थान ये १०, नीचगोत्र, अपर्याप्त और अस्थिरादि ६, इस प्रकार २० प्रकृतियोंके विध्यातसंक्रमण, अधःप्रवृत्त संक्रमण, सर्वसंक्रमण ये तीन हैं।

१०. अधःप्रवृत्त गुण व सर्व इन तीनके योग्य

गो. क./मू./४२५/५८३ हस्सरदि भयजुगुच्छे अधापवत्तो गुणो सव्वो ।४२५। —हास्य, रति, भय और जुगुप्सा—इन चार प्रकृतियोंमें अधःप्रवृत्त, गुण और सर्वसंक्रमण ये तीन संक्रमण पाये जाते हैं ।४२५।

११. विध्यात गुण और सर्व इन तीनके योग्य

गो. क./मू./४२३/५८२ विज्झादगुणे सव्वं सम्मे···।४२३। —मिथ्यात्व प्रकृतिमें विध्यात, गुण और सर्वसंक्रमण ये तीन हैं ।४२३।

१२. उद्वेलनाके बिना चारके योग्य

गो. क./मू./४२०-४२१/५८१ थीणतिबारकसाया संढित्थी अरइ सोगो य ।४२०। तिरियेयारं तीसे उव्वेलणहीणचारि संकमणा।···।४२१। —स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, (संज्वलनके बिना) १२ कषाय, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक, और तिर्यक् एकादशकी ११ (दे. उदय ६/१) इन तीस (३०) प्रकृतियोंमें उद्वेलन संक्रमणके बिना चार संक्रमण होते हैं।

१३. विध्यातके बिना चारके योग्य

गो. क./मू. ४२३/५८२ सम्मे विज्झादपरिहीणा ।४२३। —सम्यक्त्व मोहनीयमें विध्यातके बिना सर्व संक्रमण पाये जाते हैं।

१४. पाँचोंके योग्य

गो. क./मू./४२४/५८३ संजलणतिये पुरिसे अधापवत्तो य सव्वो य ।४२४। —सम्यक्त्व मोहनीयके बिना १२ उद्वेलन प्रकृतियोंमें (दे. संक्रमण/२/१) पाँचों ही संक्रमण होते हैं।

३. प्रकृतियोंके संक्रमण सम्बन्धी कुछ नियम व शंका

१. बध्यमान व अबध्यमान प्रकृति सम्बन्धी

ध. १६/४०९/४ बंधे अधापवत्तो ···'बंधे अधापवत्तो' जत्थ जासिं पयडीणं बंधो संभवदि तत्थ तासि पयडीणं बंधे संते असंते वि अधापवत्तसंकमो होदि। एसो णियमो बंधपयडीणं, अबंधपयडीणं णत्थि। कुदो। सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तेसु वि अधापवत्तसंकमुवलंभादो।

ध. १६/४२०/५ तिण्णि संजलण-पुरिसवेदाणमधापवत्तसंकम। सव्वसंकमो चेदि दोण्णि संकमा होंति। तं जहा—तिण्णं संजलणाणं पुरिसवेदस्स मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति अधापवत्तसंकमो। —१. बन्धके होनेपर अधःप्रवृत्त संक्रमण होता है। (गो. क./मू./४१६) २. 'बंधे अधापवत्तो' का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाते हैं कि जहाँ जिन प्रकृतियोंका बन्ध संभव है वहाँ उन प्रकृतियोंके बन्धके होनेपर और उसके न होनेपर भी अधःप्रवृत्त संक्रमण होता है। यह नियम बन्ध प्रकृतियोंके लिए है, अबन्ध प्रकृतियोंके लिए नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व, और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो अबन्ध प्रकृतियोंमें भी अधःप्रवृत्तसंक्रमण पाया जाता है। ३. तीन संज्वलन और पुरुषवेदके अधःप्रवृत्तसंक्रम और सर्व-संक्रम ये दो संक्रम होते हैं। यथा—तीन संज्वलन कषायों और पुरुष वेदका मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरण तक अधःप्रवृत्त संक्रम होता है। (गो. क./मू./४२४)।

गो. क./मू. व जी. प्र./४१० बंधे संकामिज्जदि णोबंधे ।४१०। बंधे बध्यमानमात्रे संक्रामति इत्ययमुत्सर्गविधिः क्वचिदबध्यमानेऽपि संक्रमात्, नोबन्धे अबन्धे न संक्रामति इत्यनर्थकवचनाद्दर्शनमोहनीयं बिना शेषं कर्म बध्यमानमात्रे एव संक्रामतीति नियमो ज्ञातव्यः। —जिस प्रकृतिका बन्ध होता है, उसी प्रकृतिका संक्रमण भी होता है यह सामान्य विधान है क्योंकि कहींपर जिसका बन्ध नहीं उसमें भी संक्रमण देखा जाता है। जिसका बन्ध नहीं होता उसका संक्रमण भी नहीं होता। इस वचनका ज्ञापन सिद्ध प्रयोजन यह है कि दर्शनमोहके बिना शेष सब प्रकृतियाँ बन्ध होनेपर संक्रमण करती हैं ऐसा नियम जानना।

२. मूल प्रकृतियोंमें परस्पर संक्रम नहीं होता

ध. १६/४०८/१० जं पदेसग्गं अण्णपयडिं संकामिज्जदि एसो पदेससंकमो। एदेण अट्ठपदेण मूलपयडिसंकमो णत्थि। उत्तरपयडिसंकमे पयदं। —जो प्रदेशाग्र अन्य प्रकृतिमें संक्रान्त किया जाता है इसका नाम प्रदेश संक्रम है। इस अर्थपदके अनुसार मूलप्रकृति संक्रम नहीं है। उत्तरप्रकृति संक्रम प्रकरण प्राप्त है।

गो. क./मू. व जी. प्र./४१०/५७४ णत्थि मूलपयडीणं।···संकमणं ।४१०। मूलप्रकृतीनां परस्परसंक्रमणं नास्ति, उत्तरप्रकृतीनामस्तीत्यर्थः।

—मूल प्रकृतियोंका परस्पर संक्रमण नहीं होता। अर्थात ज्ञानावरणी कभी दर्शनावरणी रूप नहीं होती। सारांश यह हुआ कि उत्तर प्रकृतियोंमें ही संक्रमण होता है।

३. उत्तर प्रकृतियोंमें संक्रमण सम्बन्धी कुछ अपवाद

ध. १६/३४१/१ *दंसणमोहणीयं चारित्तमोहणीए ण संकमदि, चारित्त-मोहणीयं पि दंसणमोहणीए ण संकमदि। कुदो। साभावियादो।… चदुण्णमाउआणं संकमो णत्थि। कुदो। साभावियादो।* —दर्शन मोहनीय चारित्र मोहनीयमें संक्रान्त नहीं होती, और चारित्र मोहनीय भी दर्शनमोहनीयमें संक्रान्त नहीं होती, क्योंकि ऐसा स्वभाव है।…चारों आयुकर्मका संक्रमण नहीं होता क्योंकि ऐसा स्वभाव है। (गो. क./मू./४१०/५७४)।

क.पा. ३/३,२२/§४११-४१२/२३४/४ दंसणमोहणीयस्स चारित्तमोहणीय-संकमाभावादो। कसायाणं णोकसाएसु णोकसायाणं च कसाएसु कुदो संकमो। ण एस दोसो, चारित्तमोहणीयभावेण तेसि पच्चासत्तिसंभवादो। मोहणीयभावेण दंसणचारित्तमोहणीयाणं पच्चासत्ति अत्थि त्ति अण्णोण्णेसु संकमो किण्ण इच्छिदि। ण, पडिसेज्झमाण-दंसणचारित्ताणं भिण्णजादित्तणेण तेसि पच्चासत्तीए अभावादो। —दर्शनमोहनीयका चारित्र मोहनीयमें संक्रमण नहीं होता है। प्रश्न—कषायोंका नोकषायोंमें और नोकषायोंका कषायोंमें संक्रमण किस कारणसे होता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि दोनों चारित्रमोहनीय है, अतः उनमें परस्परमें प्रत्यासत्ति पायी जाती है, इसलिए उनका परस्परमें संक्रमण हो जाता है। प्रश्न—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दोनों मोहनीय हैं, इस रूप-से इनकी भी प्रत्यासत्ति पायी जाती है, अतः इनका परस्परमें संक्रमण क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि परस्परमें प्रतिषेध्यमान दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीयके भिन्न जाति होनेसे उनकी परस्परमें प्रत्यासत्ति नहीं पायी जाती, अतः इनका परस्परमें संक्रमण नहीं होता है।

४. दर्शनमोह त्रिकका स्व उदय कालमें ही संक्रमण नहीं होता

गो. क./मू./४११/५७५ सम्मं मिच्छं मिस्सं सगुणट्ठाणम्मि णेव संकमदि।··।४११। —सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय अपने-अपने असंयतादि गुणस्थानोंमें तथा मिथ्यात्व गुणस्थानमें और मिश्रमें नहीं संक्रमण करती।

५. प्रकृति व प्रदेश संक्रमणमें गुणस्थान निर्देश

क. पा. १/३,२२/§३४८/३८८/१० ण, तत्थ दंसणमोहणीयस्स संकमाभावेण सम्मत्तसम्मामिच्छत्ताण…। —सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें दर्शन-मोहनीयका संक्रमण नहीं होता…।

गो. क./मू. व जी. प्र./४११/५७४ सासणमिस्से णियमा दंसणतिय-संकमो णत्थि।४११।…सासादनमिश्रयोर्नियमेन दर्शनमोहत्रयस्य संक्रमणं नास्ति। असंयतादिचतुर्ष्वस्तीत्यर्थः। —सासादन गुण-स्थानमें नियमसे दर्शनमोह त्रिकका संक्रमण नहीं होता। असंयतादि (४-७) में होता है।

गो. क./मू./४२६ बंधपदेसाणं पुण संकमणं सुहुमरागोत्ति।४२६।

गो. क./मू. व टी./४४२/५९४ आदिमसत्तेव तदो सुहुमकसायोत्ति संकमेण विणा। छच्च सजोगित्ति…।४४२। …तत्रापि संक्रमकरणं विना षडेव सयोगपर्यन्तं भवन्ति। —बन्धरूप प्रदेशोंका संक्रमण भी सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान पर्यन्त है। क्योंकि 'बंधे अधापवत्तो' इस गाथासूत्रके अभिप्रायसे स्थितिबंध पर्यन्त ही संक्रमण संभव है।४२६। उस अपूर्वकरण गुणस्थानके ऊपर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान पर्यन्त आदिके सात ही करण होते हैं। उससे आगे सयोग केवली तक संक्रमणके बिना छह ही करण होते हैं।४४२।

६. संक्रमण द्वारा अनुदय प्रकृतियोंका भी उदय

क. पा. ३/३,२२/§४३०/२४४/६ *उदयाभावेण उदयनिसेयट्ठिदी परसरूवेण गदाए…।* —*जिस प्रकृतिका उदय नहीं होता उसकी उदय निषेक स्थितिके उपान्त्य समयमें पररूपसे संक्रामित हो जाती है।*

७. अचलावली पर्यन्त संक्रमण सम्भव नहीं

क. पा. ३/३,२२/§४११/२३३/४ अचलावलियमेत्तं कालं बद्धसोलस-कसायाणमुक्कस्सट्ठिदीए णोकसाएसु संकमाभावादो। कुदो एसो णियमो। साहावियादो। —बंधी हुई सोलह कषायोंकी उत्कृष्ट स्थितिका अचलावली काल तक नोकषायोंमें संक्रमण नहीं होता। प्रश्न—विवक्षित समयमें बंधे हुए कर्मपुंजका अचलावली कालके अनन्तर ही पर प्रकृतिरूपसे संक्रमण होता है ऐसा नियम क्यों? उत्तर—स्वभावसे ही यह नियम है।

८. संक्रमण पश्चात् आवली पर्यन्त प्रकृतियों की अचलता

ध. ६/१, ९-८,१६/गा. २१/३४६ संकामेदुक्कडदि जे अंसे ते अवट्ठिदा होंति। आवलियं ते काले तेण परं होंति भजिदव्वा।२१। —जिन कर्म प्रदेशोंका संक्रमण अथवा उत्कर्षण करता है वे आवलीमात्र काल तक अवस्थित अर्थात् क्रियान्तर परिणामके बिना जिस प्रकार जहाँ निक्षिप्त है उसी प्रकार ही वहाँ निश्चल भावसे रहते हैं। इसके पश्चात् उक्त कर्मप्रदेश वृद्धि, हानि एवं अवस्थानादि क्रियाओंसे भजनीय हैं।२१।

४. उद्वेलना संक्रमण निर्देश

१. उद्वेलना संक्रमणका लक्षण

नोट—[करण परिणामों अर्थात् परिणामोंकी विशुद्धि व संक्लेशसे निरपेक्ष कर्म परमाणुओंका अन्य प्रकृतिरूप परिणमन हो जाना, अर्थात् रस्सीका बट खोलनेवत् उसी प्रकृतिरूप हो जाना जिसमें कि संक्रम कर पहले कभी इस प्रकृतिरूप परिणमन किया था, सो उद्वेलना संक्रमण है। इसका भागाहार अंगुल/असं. है, अर्थात् सबसे अधिक है। अर्थात प्रत्येक समय बहुत कम द्रव्य इसके द्वारा परिण-माया जाना सम्भव है। यह बात ठीक भी है, क्योंकि बिना परिणामों रूप प्रयत्न विशेषके धीरे-धीरे ही कार्यका होना सम्भव है।

जो प्रकृति उस समय नहीं बँधती है और न ही उसको बाँधनेकी उस जीवमें योग्यता है उन्हीं प्रकृतियोंकी उद्वेलना होती है। मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होती है। यह काण्डकरूप होती है अर्थात प्रथम अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा विशेष चयहीन क्रमसे तथा द्वितीय अन्तर्मु-हूर्तमें उससे दुगुने चयहीन क्रमसे होती है। अधःप्रवृत्त पूर्वक ही होती है। उपान्त्य काण्डक पर्यन्त ही होती है। यह प्रकृतिके सर्व हीन निषेकोंको परिणमाने पर होता है, थोड़े मात्रपर नहीं। प्रत्येक काण्डक पल्य/असं. स्थिति वाला होता है।]

गो. क./जी. प्र./३४६/५०३/२ बल्वजरज्जुभावविनाशवत् प्रकृतेरुद्वेल्लनं भागाहारेणापकृष्य परप्रकृतितां नीत्वा विनाशनमुद्वेल्लनं।३४१। —जैसे जेवड़ी (रस्सी)के बटनेमें जो बल दिया था पीछे उलटा घुमानेसे वह बल निकाल दिया। इसी प्रकार जिस प्रकृतिका बंध किया था, पीछे परिणाम विशेषसे भागाहारके द्वारा अपकृष्ट करके, उसको अन्य प्रकृतिरूप परिणमाके उसका नाश कर दिया (फल-उदयमें नहीं आने दिया, पहले ही नाश कर दिया।) उसे उद्वेलन संक्रमण कहते हैं।

गो. क./जी. प्र./४१३/५७६/८ करणपरिणामेन विना कर्मपरमाणूनां परप्रकृतिरूपेण निक्षेपणमुद्वेल्लनसंक्रमणं नाम। =अधःप्रवृत्त आदि तीन करणरूप परिणामोंके बिना ही कर्मप्रकृतियोंके परमाणुओंका अन्य प्रकृतिरूप परिणमन होना वह उद्वेलन संक्रमण है।

२. मार्गणा स्थानोंमें उद्वेलना योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू./३५१, ६१३, ६१६ चदुगतिमिच्छे चउरो इगिविगले छप्पि तिण्णि तेउदुगे।...।३५१। वेदगजोग्गे काले आहारं उवसमस्स सम्मत्तं। सम्मामिच्छं चेगे विगलेवेगुव्वछक्कं तु।६१४। तेउदुगे मणुवदुगं उच्चं उव्वेल्लदे जहण्णिदरं। पल्लासंखेज्जदिमं उव्वेल्लणकालपरिमाणं।६१६। =चारों गतियाले मिथ्यादृष्टि जीवोंके चार (आहारक द्विक, सम्यक्त्व, मिश्र) प्रकृतियाँ, पृ., अप., वन., तथा विकलेन्द्रियों में वैक्रि., वै. द्वि., नरकद्वि ये छह प्रकृतियाँ, तेजकाय व वायुकाय इन दोनोंके (उच्चगोत्र, मनुष्य द्विक) ये तीन प्रकृतियाँ उद्वेलनके योग्य हैं।३५१। वेदक सम्यक्त्व योग्य कालमें आहारक द्विकको उद्वेलना, उपशम कालमें सम्यक्त्व प्रकृति वा सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिकी उद्वेलना करता है। और एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय पर्यायमें वैक्रियिक षट्ककी उद्वेलना करता है।६१४। तेजकाय और वायुकायके मनुष्यगति युगल और उच्चगोत्र—इन तीनकी उद्वेलना होती है, उस उद्वेलनाके कालका प्रमाण जघन्य अथवा उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण है।६१६।

३. मिथ्यात्व व मिश्र प्रकृतिकी उद्वेलना योग्य काल

क.पा.२/२.२२/§१२३/१०५/१ एइंदिएसु सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तविहत्ती० जह० एगसमओ, उक्क० पलिदोवमस्स असंखे० भागो। =एकेन्द्रियोंमें सम्यक्प्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्वकी विभक्तिका जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र है। [क्योंकि यहाँ उपशम सम्यक्त्व प्राप्तिकी योग्यता नहीं है, इसलिए इस कालमें वृद्धि सम्भव नहीं। यदि सम्यक्त्व प्राप्त करके पुन नवीन प्रकृतियोंकी सत्ता कर ले तो क्रम न टूटनेके कारण इस कालमे वृद्धि होनी सम्भव है। यदि ऐसा न हो तो अवश्य इतने कालमें उन प्रकृतियोंकी उद्वेलना हो जाती है। जिन मार्गणाओंमें इनका सत्त्व अधिक कहा है वहाँ नवीन सत्ताकी अपेक्षा जानना। दे. अन्तर/२।]

ध. ५/१.६.७/१०/८ सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तट्ठिदीए पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तकालेण विणा सागरोवमस्स वा सागरोवमपुधत्तस्स वा हेट्ठा पदणाणुववत्तीदो। =सम्यक्त्व और सम्यक्त्वमिथ्यात्व प्रकृतिकी स्थितिका, पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र कालके बिना सागरोपमके, अथवा सागरोपमपृथक्त्वके नीचे पतन नहीं हो सकता है।

गो. क./मू./६१७/८२१ पल्लासंखेज्जविमं ठिदिमुव्वेल्लदि मुहुत्तअतेण। संखेज्जसायरठिदि पल्लासंखेज्जकालेण। =पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिको अन्तर्मुहूर्त कालमें उद्वेलना करता है। अतएव एक संख्यात सागरप्रमाण मनुष्यद्विकादिकी सत्तारूप स्थितिकी उद्वेलना त्रैराशिक विधिसे पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण कालमें हो कर सकता है, ऐसा सिद्ध है।

४. यह मिथ्यात्व अवस्थामें होता है

क. पा. २/२.२२/§३३७/१२६/२ पंचिदियतिरि० अपज्ज० सव्वपयडीणं णत्थि अंतरं। एवं...सम्मादि० खइय० वेदग० उवसम० सासण० सम्मामि० मिच्छादि०...अणाहारएत्ति वत्तव्वं। =पंचेन्द्रिय तिर्यंच लब्धि अपर्याप्तकोंके सभी प्रकृतियोंका अन्तरकाल नहीं है। इसी प्रकार...सम्यग्दृष्टि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि, उपशम सम्यग्दृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, मिथ्यादृष्टि,... और अनाहारक जीवोंके कहना चाहिए। [इस प्रकरणसे यह जाना जाता है कि इन दो प्रकृतियोंकी उद्वेलना मिथ्यात्वमें ही होती है, वेदक सम्यक्त्वावस्थामें नहीं, और उपशम सम्यक्त्व हुए बिना मिथ्यात्वावस्थामें ही इनका पुनः सत्त्व नहीं होता। न ही इनका सत्त्व प्राप्त हो जानेपर उपशम सम्यक्त्व हुए बिना मार्गमेंसे ही पुनः मिथ्यात्वको प्राप्त होता है। और भी दे. अगला शीर्षक]।

५. सम्यक् व मिश्र प्रकृतिकी उद्वेलनाका क्रम

क. पा. २/२.२२/§२४८/१११/६ अट्ठावीससंतकम्मिओ उव्वेलिदसम्मत्तो मिच्छाइट्ठी सत्तावीसविहत्तिओ होदि। =अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला मिथ्यादृष्टि जीव (पहले) सम्यक्त्व प्रकृतिकी उद्वेलना करके सत्ताईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला होता है [तत्पश्चात सम्यग्मिथ्यात्वकी भी उद्वेलना करके २६ प्रकृति स्थानका स्वामी हो जाता है।] (क. पा. ३/§३७३/२०५/१)।

५. विध्यात संक्रमण निर्देश

१. विध्यात संक्रमणका लक्षण

नोट—[अपकर्षण विधानमें बताये गये स्थिति व अनुभाग काण्डक व गुणश्रेणीरूप परिणामोंमें प्रवृत्त होना विध्यात संक्रमण है। इसका भागाहार भी यद्यपि अंगुल/असंख्यात भाग है, परन्तु यह उद्वेलनाके भागाहारसे असंख्यात गुणहीन है, अतः इसके द्वारा प्रति समय उठाया गया द्रव्य बहुत अधिक है। मिथ्यात्व व मिश्र मोह इन दो प्रकृतियोंको जब सम्यक्प्रकृतिरूपसे परिणमाता है तब यह संक्रमण होता है। वेदक सम्यक्त्ववालेको तो सर्व ही अपनी स्थिति कालमें वहाँ तक होता रहता है जब तक कि क्षपणा प्रारम्भ करता हुआ अधःप्रवृत्त परिणामका अन्तिम समय प्राप्त होता नहीं। उपशम सम्यक्त्वके भी अपने सर्व कालमें उसी प्रकार होता रहता है, परन्तु यहाँ प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें गुणसंक्रमण करता है पश्चात उसका काल समाप्त होनेके पश्चात विध्यात प्रारम्भ होता है।]

गो. क./जी. प्र./४१३/५७६/८ विध्यातविशुद्धिकस्य जीवस्य स्थित्यनुभागकाण्डकगुणश्रेण्यादिपरिणामेष्वतीतेषु प्रवर्तनाद्विध्यातसंक्रमणं णाम। =मद विशुद्धतावाले जीवकी, स्थिति अनुभागके घटाने रूप भूतकालीन स्थिति काण्डक और अनुभाग काण्डक तथा गुणश्रेणी आदि परिणामोंमें प्रवृत्ति होना विध्यात संक्रमण है।

६. अधःप्रवृत्त संक्रमण निर्देश

१. अधःप्रवृत्त संक्रमणका लक्षण

नोट—[सत्ताभूत प्रकृतियोंका अपने अपने बंधके साथ संभवती यथायोग्य प्रकृतियोंमें उनके बंध होते समय ही प्रवेश पा जाना अधःप्रवृत्त है। इसका भागाहार पल्य/असंख्यात, जो स्पष्टतः ही विध्यातसे असंख्यातगुणा हीन है। अतः इसके द्वारा प्रतिक्षण ग्रहण किया गया द्रव्य विध्यात की अपेक्षा बहुत अधिक है।

बंधकालमें या उस प्रकृतिको बंधकी योग्यता रखनेपर उस ही गुणस्थानमें होता है जिसमें कि वह प्रकृति बन्धसे व्युच्छिन्न नहीं हुई है, थोड़े द्रव्यका होता है सर्व द्रव्यका नहीं, क्योंकि इसके पीछे उद्वेलना या गुण संक्रमण या विध्यात संक्रमण प्रारम्भ हो जाते हैं। क्रोधको प्रत्याख्यानादि स्व जाति भेदोंमें अथवा मान आदि विजाति भेदोंमें परिणमाता है। यह नियमसे फालीरूप होता है। अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही होता है। काण्डकरूप संक्रमण और फालिरूप संक्रमणमें इतना भेद है कि फालिरूपमें तो अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त बराबर भागाहार हानि क्रमसे उठा-उठाकर साथ-साथ संक्रमाता है और काण्डक रूपमें वर्तमान समयसे लेकर एक-एक अन्तर्मुहूर्तकाल बीतनेपर भागाहार क्रमसे इकट्ठा द्रव्य उठाता है अर्थात संक्रमण करनेके

लिए निश्चित करता है। एक अन्तर्मुहूर्त तक संक्रमानेके लिए जो द्रव्य निश्चित किया उसे काण्डक कहते हैं। उस द्रव्यको अन्तर्मुहूर्त-काल पर्यन्त विशेष चय हानि क्रमसे खपाता है। उसके समाप्त हो जानेपर अगले अन्तर्मुहूर्तके लिए अगला काण्डक उठाता है।]

गो. क./जी. प्र./४१३/५७६/६ बन्धप्रकृतीनां स्वबन्धसंभवविषये यः प्रदेशसंक्रमः तदधःप्रवृत्तसंक्रमणं नाम। —बंध हुई प्रकृतियोंका अपने बंधमें संभवती प्रकृतियोंमें परमाणुओंका जो प्रदेश संक्रम होना वह अधःप्रवृत्त संक्रमण है।

२. यह नियमसे फालीरूप होता है

गो. क./जी. प्र./४१२/५७५/७ तत्राधःप्रवृत्तसंक्रमः फालिरूपेण उद्वेलनसंक्रमः काण्डकरूपेण वर्तते। —(मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर सम्यक् व मिश्रका अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् उपान्त काण्डक पर्यन्त) अधःप्रवृत्तसंक्रमण फालिरूपसे प्रवर्तता है और उद्वेलना संक्रमण काण्डक रूपसे प्रवर्तता है।

३. मिथ्यात्व प्रकृतिका नहीं होता

गो. क./जी. प्र./४१६/५७८/७ अधःप्रवृत्तसंक्रमणः स्यात न मिथ्यात्वस्य, 'सम्मं मिच्छं मिस्सं सगुणट्ठाणम्मि णेव संकमदीति' निषेधात् (गो. क./४११) —(प्रकृतियोंके बन्ध होनेपर अपनी-अपनी व्युच्छित्ति पर्यन्त) अध प्रवृत्त संक्रमण होता है, परन्तु मिथ्यात्व प्रकृतिका नहीं होता। क्योंकि 'सम्मं मिच्छं मिस्सं' इत्यादि गाथाके द्वारा इसका निषेध पहले बता चुके हैं (दे. संक्रमण/३/४)।

४. सम्यक् व मिश्र प्रकृतिके अधःप्रवृत्त संक्रम योग्य काल

गो. क./मू./४१२/५७५ मिच्छे सम्मिस्साणं अधपवत्तो मुहुत्तअंतोत्ति। —मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्रमोहनीयका अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तक अध प्रवृत्त संक्रमण होता है।

७. गुण संक्रमण निर्देश

१. गुण संक्रमणका लक्षण

नोट—[प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणी क्रमसे परमाणु प्रदेश अन्य प्रकृतिरूप परिणमावे सो गुण संक्रमण है। इसका भागहार भी यद्यपि पल्य/असंख्यात है परन्तु अध.प्रवृत्तसे असंख्यात गुणहीन हीन है। इसलिए इसके द्वारा प्रतिसमय ग्रहण किया गया द्रव्य बहुत ही अधिक होता है। उपान्त्य काण्डक पर्यन्त विशेष हानि क्रमसे उठाता हुआ चलता है। (यहाँ तक तो उद्वेलना संक्रमण है), परन्तु अन्तिम काण्डककी अन्तिम फालि पर्यन्त गुणश्रेणी रूपसे उठाता है।

जिन प्रकृतियोंका बन्ध हो रहा हो उनका गुण संक्रमण नहीं हो सकता, अबन्धरूप प्रकृतियोंका होता है और स्व जातिमें ही होता है। अपूर्वकरणके प्रथम समयमें गुण संक्रम नहीं होता। अनन्तानुबन्धीका गुण संक्रमण विसंयोजना कहलाता है।]

गो. क./जी. प्र./४१३/५७६/६ प्रतिसमयमसंख्येयगुणश्रेणिक्रमेण यत्प्रदेशसंक्रमणं तद् गुणसंक्रमणं नाम। —जहाँपर प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणीक्रमसे परमाणु-प्रदेश अन्य प्रकृतिरूप परिणमे सो गुणसंक्रमण है।

२. बन्धवाली प्रकृतियोंका नहीं होता

ल. सा./जी. प्र./७५/१०६/१७ अप्रशस्तानां बन्धोज्झितप्रकृतीनां द्रव्यं प्रतिसमयमसंख्येयगुणं बध्यमानसजातीयप्रकृतिषु संक्रामति। पूर्वस्वरूपं गृह्णातीत्यर्थः। —बन्ध अयोग्य अप्रशस्त प्रकृतियोंका द्रव्य, समय-समय प्रति असंख्यातगुणा क्रम लिये जिनका बन्ध पाया जाता है ऐसी स्वजाति प्रकृतियोंमें संक्रमण करता है, अपने स्वरूपको छोड़कर तद्रूप परिणमन करता है।

ल. सा./जी. प्र./२२४/२८०/८ बन्धवत्प्रकृतीनां गुणसंक्रमो नास्ति। —जिनका बन्ध पाया जाता है ऐसी प्रकृतियोंका संक्रमण नहीं होता।

३. गुण संक्रमण योग्य स्थान

ल. सा./जी. प्र./७५-७६/१०६/११०/१६ गुणसंक्रमः अपूर्वकरणप्रथमसमये नास्ति तथापि स्वयोग्यावसरे भविष्यतः (७५) एवंविधं प्रतिसमयमसंख्येयगुणं संक्रमणं प्रथमकषायाणामनन्तानुबन्धिनां विसंयोजने वर्तते। मिथ्यात्वमिश्रप्रकृत्योः क्षपणायां वर्तते। इतरासां प्रकृतीनामुभयश्रेण्यामुपशमकश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां च वर्तते।७६। —गुण संक्रमण अपूर्वकरणके पहले समयमें नहीं होता है। अपने योग्यकालमें होता है।७५। असंख्यातगुणा क्रम लिये जो हो उसको गुण संक्रमण कहते हैं। सो अनन्तानुबन्धी कषायोंको गुणसंक्रमण उनकी विसंयोजनामें होता है। मिथ्यात्व और मिश्रप्रकृतिका गुण संक्रमण उनकी क्षपणामें होता है, और अन्य प्रकृतियोंका गुणसंक्रमण उपशम व क्षपक श्रेणीमें होता है।

४. गुण संक्रमण कालका लक्षण

ल. सा./भाषा./१२८/१६६/६ मिश्र मोहनीय (या विवक्षित प्रकृतिका) गुण संक्रमण कर यावत् सम्यक्त्व मोहनीयरूप (या यथा योग्य किसी अन्य विवक्षित प्रकृतिरूप) परिणमै तावत् गुणसंक्रमण काल कहिये।

८. गुणश्रेणी निर्देश

१. गुणश्रेणी विधानमें तीन पर्वोंका निर्देश

ल. सा./मू./५८१/६६५ गुणसेढि अंतरट्ठिदि विदियट्ठिदि इदिहवंति पव्वतिया।...।५८१। —गुणश्रेणीमें तीन पर्व होते हैं—गुणश्रेणी, अन्तर स्थिति और द्वितीय स्थिति। अपकृष्ट किया हुआ द्रव्य इन तीनोंमें विभक्त किया जाता है।

२. गुणश्रेणी निर्जराके आवश्यक अधिकार

नोट—[गुणश्रेणी शीर्ष, गुणश्रेणी आयाम, गलितावशेषगुणश्रेणी आयाम और अवस्थित गुणश्रेणी आयाम इतने अधिकार हैं।]

३. गुणश्रेणीका लक्षण

ध. १२/४,२,७,१७५/८०/६ गुणो गुणगारो, तस्स सेडी ओली पंती गुणसेडी णाम। दंसणमोहुवसामयस्स पढमसमए णिज्जिण्णदव्वं थोवं। बिदियसमए णिज्जिण्णदव्वमसंखेज्जगुणं। तदियसमए णिज्जिण्णदव्वमसंखेज्जगुणं। एवं णेयव्वं जाव दंसणमोहउवसामगचरिमसमओ त्ति। एसा गुणागारपंती गुणसेडि त्ति भणिदं। गुणसेडीए गुणो गुणसेडिगुणो, गुणसेडिगुणगारो त्ति भणिदं होदि। —गुण शब्दका अर्थ गुणकार है। तथा उसकी श्रेणी, आवलि या पंक्तिका नाम गुणश्रेणी है। दर्शनमोहका उपशम करनेवाले जीवका प्रथम समयमें निर्जराको प्राप्त होनेवाला द्रव्य स्तोक है। उससे द्वितीय समयमें निर्जराको प्राप्त हुआ द्रव्य असंख्यात गुणा है। उससे तीसरे समयमें निर्जराको प्राप्त हुआ द्रव्य असंख्यात गुणा है। इस प्रकार दर्शनमोह उपशामकके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए। यह गुणकार पंक्ति गुणश्रेणि है। यह उक्त कथनका तात्पर्य है। तथा गुणश्रेणिका गुण गुणश्रेणिगुण अर्थात् गुणश्रेणि गुणकार कहलाता है।

क्ष. सा./मू./५८३/६६५ सुहुमगुणादो अहिया अवट्ठिदुदयादि गुणसेडी।५८३। —यावत् अपकृष्ट किया द्रव्य सूक्ष्मसे लेकर असंख्यातगुणा

क्रम लिये अवस्थितादि आयाममें दिया जाता है उसका नाम गुण-श्रेणी है।

४. गुणश्रेणी निर्जराका लक्षण

गो. जी./भाषा/६७/१७७/११ उदयावलि कालके पीछे अन्तर्मुहूर्त मात्र जो गुणश्रेणिका आयाम कहिए काल प्रमाण ताविषै दिया हुआ द्रव्य सो तिस कालका प्रथमादि समयविषै जे पूर्वे निषेक थे, तिनकी साथि क्रमतै असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा होइ निर्जरै है सो गुणश्रेणी निर्जरा (है।)

५. गुणश्रेणी शीर्षका लक्षण

ध. ६/१,९-८,१२/२६१/११ सम्मत्तस्स चरिमट्ठिदिखंडगे पढमसमय-आगाइदे ओवट्टिज्जमाणसु ट्ठिदिसु जं पदेसग्गमुदए दिज्जदि तं थोवं, से काले असंखेज्जगुणं। ताव असंखेज्जगुणं जाव ट्ठिदिखंड-यस्स जहण्णियाए वि ट्ठिदीए चरिमसमयं अपत्तं त्ति। सा चेव ट्ठिदी गुणसेडी सीसयं जादा। —सम्यक्त्व प्रकृतिके अन्तिम स्थिति काण्डकके प्रथम समयमें ग्रहण करनेपर अपवर्तन की गयी स्थितियों-में-से जो प्रदेशाग्र उदयमें दिया जाता है, वह अल्प है, अनन्तर समयमें असंख्यात गुणित प्रदेशाग्रोंको देता है। इस क्रमसे तब तक असंख्यात गुणित प्रदेशाग्रोंको देता है जब तक कि स्थितिकाण्डककी जघन्य भी स्थितिका अन्तिम समय नहीं प्राप्त होता है। वह स्थिति ही गुणश्रेणिशीर्ष कहलाती है।

ल. सा./भाषा/१३५/१८६/५ गुणश्रेणि आयामका अन्तका निषेक ताकौ इहाँ गुणश्रेणि शीर्ष कहते हैं।

६. गुणश्रेणी आयामका लक्षण

क्ष. सा./३९८/भाषा उदयावलिमें बाह्य गलितावशेष रूप जो यह गुण-श्रेणि आयाम है ता विषै अपकर्ष किया द्रव्यका निक्षेपण हो है।

७. गलितावशेष गुणश्रेणी आयामका लक्षण

ल. सा./भाषा/१४३/१९८/२—उदयादि वर्तमान समय तै लगाय यहाँ गुणश्रेणी आयाम पाइये तातै उदयादि कहिये, अर एक एक समय व्यतीत होते एक एक समय गुणश्रेणि आयाम विषै घटता जाय (उपरितन स्थितिका समय गुणश्रेणी आयाममें न मिले) तातै गलितावशेष कहा है। ऐसे गलितावशेष गुणश्रेणी आयाम जानना।

ल. सा./वचनिका/२२/४ गलितावशेष गुणश्रेणीका प्रारम्भ करनेकौ प्रथम समय विषै जो गुणश्रेणि आयामका प्रमाण था, तामैं एक-एक समय व्यतीत होतै ताकै द्वितीयादि समयनिविषै गुणश्रेणि आयाम क्रमतै एक-एक निषेक घटता होइ अवशेष रहै ताका नाम गलितावशेष है। (ध. ६/१,९-८,४/२३० पर विशेषार्थ)।

८. अवस्थित गुणश्रेणि आयामका लक्षण

ल. सा./जी. प्र./१३०/१७१/३ सम्यक्त्वप्रकृतेरष्टवर्षस्थितिकरणसमयात्पूर्वमपि न केवलमष्टवर्षमात्रस्थितिकरणसमय एवोदयाद्यवस्थितिगुण-श्रेणिरित्यर्थः। —सम्यक्त्व मोहनीयकी अष्ट वर्ष स्थिति करनेके समयतैं लगाय उपरि सर्व समयनिविषै उदयादि अवस्थिति गुण-श्रेणि आयाम है।

ल. सा./भाषा/१२८/१६६/१८···इहाँ तैं पहिले (सम्यक्त्व मोहकी, क्षपणा विधानके द्वारा, अष्टवर्ष स्थिति अवशेष रखनेके समय तै पहिले) तो उदयावलि तै बाह्य गुणश्रेणि आयाम था। अब इहाँ तै लगाइ उदयरूप वर्तमान समय तै लगाइ ही गुणश्रेणि आयाम भया तातै याको उदयादि कहिये। अर (उदयादि गुणश्रेणी आयाम तै) पूर्वे तो समय व्यतीत होतै गुणश्रेणि आयाम घटता होता जाता था, अब (उदयावलिमें-से) एक समय (उदय विषै) व्यतीत होतै उपरितन स्थितिका एक समय मिलाय गुणश्रेणि आयामका प्रमाण समय व्यतीत होतैं भी जेताका तेता रहै। तातै अवस्थित कहिये तातैं याका नाम उदयादि अवस्थिति गुण-श्रेणि आयाम है।

ल. सा./वचनिका/२२/७ अवस्थित गुणश्रेणि आयामका प्रारम्भ करने-का प्रथम समय द्वितीयादि समयनिविषै गुणश्रेणि आयाम जेता-का तेता रहै। ज्यूँ ज्यूँ एक एक समय व्यतीत होइ त्यूँ त्यूँ गुणश्रेणि आयामके अनन्तरवर्ती ऐसा उपरितन स्थितिका एक एक निषेक गुणश्रेणि आयाम विषै मिलता जाइ तहाँ अवस्थित गुण-श्रेणि आयाम कहिये है।

९. गुणश्रेणी आयामोंका यन्त्र
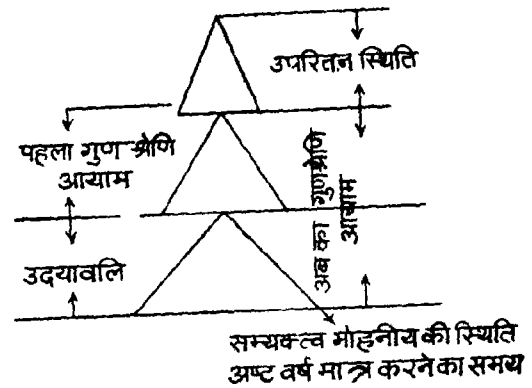
१०. अन्तरस्थिति व द्वितीय स्थितिका लक्षण

क्ष. सा./भाषा/५८३/६६५/१६ ताके उपरिवर्ती (गुणश्रेणिके ऊपर) जिनि निषेकनिका पूर्वे अभाव किया था तिनका प्रमाण रूप अन्तर-स्थिति है। ताकै उपरिवर्ती अवशेष सर्वस्थिति ताका नाम द्वितीय स्थिति है।

११. गुणश्रेणि निक्षेपण विधान

क्ष. सा./५८६/६९८-७०० का भावार्थ—प्रथम समय अपकर्षण किया द्रव्य तै द्वितीयादि समयनि विषै असंख्यात गुण द्रव्य लिये समय प्रति-समय द्रव्यको अपकर्षण करै है और उदयावली विषै, गुणश्रेणि आयाम विषै और उपरितन (द्वितीय) स्थिति विषै निक्षेपण करिये है। अन्तरायामके प्रथम स्थितिके प्रथम निषेक पर्यन्त गुण-श्रेणि शीर्षपर्यन्त तो असंख्यात गुणक्रम लिये द्रव्य दीजिये है, ताकै उपरि (अन्तर स्थिति व द्वितीय स्थितिमें) संख्यातगुणा घटता द्रव्य दीजिये है।

१२. गुणश्रेणी निर्जरा विधान

ध. ६/१,९-८,५/२२४-२२७/१ उदयपयडीणमुदयावलियबाहिर ट्ठिद-ट्ठिदीणं पदेसग्गमोकड्डणभागहारेण खंडिदेयखंडं असंखेज्जलोगेण भाजिदेगभागं घेत्तूण उदए बहुगं देदि। बिदियसमए विसेसहीणं देदि। एवं विसेसहीणं विसेसहीणं देदि जाव उदयावलियचरिम-समओ त्ति।···एस कमो उदयपयडीणं चेव, ण सेसाणं, तेसिमुद-यावलियब्भंतरे पढमाणपदेसग्गाभावा। उदइल्लाणमणुदइल्लाणं च पयडीणं पदेसग्गमुदयावलियबाहिरट्ठिदीसु ट्ठिदमोकड्डणभागहारेण खंडिदेगखंडं घेत्तूण उदयावलियबाहिरट्ठिदिम्हि असंखेज्जसमय-प्रबद्धे देदि। तदो उवरिमट्ठिदीए तत्तो असंखेज्जगुणे देदि।

तदियट्ठिदीए तत्तो असंखेज्ज गुणे देदि । एवमसंखेज्जगुणाए सेडीए णेदव्वं जाव गुणसेडीचरिमसमओ त्ति । तदो उवरिमाणंतराए ट्ठिदीए असंखेज्जगुणहीणं दव्वं देदि । तदुवरिमट्ठिदीए विसेसहीणं देदि । एवं विसेसहीणं विसेसहीणं चेव पदेसग्गं णिरंतरं देदि जाव अप्पप्पणो उक्कीरिदट्ठिदिमावलियकालेण अपत्तोत्ति । णवरि उदयावलियबाहिरट्ठिदिमसंखेज्जलोगेण खंडिदेगखंडं समऊणा-वलियाए बे त्तिभागे अइच्छाविय समयाहियतिभागे णिक्खिवदि पुव्वं व विसेसहीणकमेण । तदो उवरिमट्ठिदीए एसो चेव णिक्खेवो । णवरि अइच्छावणा समउत्तरा होदि । एवं णेयव्वं जाव अइच्छा-वणा आवलियमेत्ता जादा त्ति । तदो उवरिमणिक्खेवो चेव वड्ढदि जाव उक्कस्सणिक्खेवं पत्तो त्ति । जासिं ट्ठिदीणं पदेसग्गस्स उदया-वलियब्भंतरे चेव णिक्खेवो तासिं पदेसग्गस्स ओकड्डणभागाहारो असंखेज्जा लोगा । एवमुवरिमसव्वसमएसु कीरमाणगुणसेडीणमेसो चेव अत्थो वत्तव्वो । =उदयमें आयी हुई प्रकृतियोंकी उदयावली-से बाहर स्थित स्थितियोंके प्रदेशाग्रको (निषेकोंको) अपकर्षण भागाहार (पल्य/असं.) के द्वारा खण्डित करके, एक खण्डको असं-ख्यात लोकसे भाजित करके एक भागको ग्रहण कर उदयमें बहुत प्रदेशाग्रको देता है। दूसरे समयमें विशेष हीन प्रदेशाग्रको देता है। इस प्रकार उदयावलीके अन्तिम समय तक विशेष हीन देता हुआ चला जाता है।...यह क्रम उदयमें आयी हुई प्रकृतियोंका ही है, शेष (सत्तावाली) प्रकृतियोंका नहीं, क्योंकि उनमें उदयावली-के भीतर आने वाले प्रदेशाग्रोंका अभाव है।

उदयमें आयी हुई और उदयमें नहीं आयी हुई प्रकृतियोंके प्रदे-शाग्रोंको तथा उदयावलीके बाहरकी स्थितिमें स्थित प्रदेशाग्रोंको (पूर्वोक्त प्रकार) अपकर्षण भागाहारके द्वारा खण्डित करके एक खण्डको ग्रहण कर असंख्यात समय प्रबद्धोंको उदयावलीके बाहर-की स्थितिमें देता है। इससे ऊपरकी स्थितिमें उससे भी अस-ख्यात गुणित समय प्रबद्धोंको देता है। तृतीय स्थितिमें उससे भी असंख्यात गुणित समय प्रबद्धोंको देता है। इस प्रकार यह क्रम असं-ख्यात गुणित श्रेणीके द्वारा गुणश्रेणीके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए।

उससे ऊपरकी अनन्तर स्थितिमें असंख्यात गुणित हीन द्रव्यको देता है। उससे ऊपरकी स्थितिमें विशेषहीन द्रव्यको देता है। इस प्रकार विशेष हीन विशेष हीन ही प्रदेशाग्रको निरन्तर तब तक देता है, जब तक कि अपनी अपनी उत्कीरित स्थितिको आवलि मात्र कालके द्वारा प्राप्त न हो जाये। विशेष बात यह है कि उदयावलिसे बाहरकी स्थितिके.. एक समय कम २/३ का अति-स्थापन करके (प्रारम्भ का) एक समय अधिक आवलिके त्रिभाग-में पूर्वके समान विशेषहीन क्रमसे निक्षिप्त करता है। उससे ऊपर-की स्थितिमें (भी) यही (विशेष हीन क्रम वाला) निक्षेप है। केवल विशेषता यह है कि अतिस्थापना एक समय अधिक होती है। इस प्रकार यह क्रम तब तक ले जाना चाहिए जब तक कि अति-स्थापना पूर्णावलि मात्र हो जाती है। उससे ऊपर उपरिम विशेष ही उत्कृष्ट निक्षेप प्राप्त होने तक बढ़ता जाता है।

जिन स्थितियोंके प्रदेशाग्रोंका उदयावलीके भीतर ही निक्षेप करता है, उन स्थितियोंके प्रदेशाग्रोंका अपकर्षण भागाहार असंख्यात लोक प्रमाण है। इस प्रकारसे सर्व समयोंमें को जाने वाली गुणश्रेणियोंका यही अर्थ कहना चाहिए। (ल. सा./जी. प्र./-६८-७४) विशेषता यह है कि प्रथम समयमें अपकर्षण दे० अपकर्षण ।

१३. गुणश्रेणी विधान विषयक यंत्र

१४. नोकर्मकी गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती

ध. ६/४,१,७१/३५२/१ णोकम्मस्स गुणसेडीए णिज्जराभावादो । =नो-कर्मकी गुणश्रेणी रूपसे निर्जरा नहीं होती।

९. सर्व संक्रमण निर्देश

१. सर्व संक्रमणका लक्षण

नोट—[अन्तकी फालीमें शेष बचे सर्व प्रदेशोंका अन्य प्रकृतिरूप होना सर्व संक्रमण है। क्योंकि इसका भागाहार एक है।]

गो. क./जी. प्र./४१३/५७६/१० चरमकांडकचरमफाले सर्वप्रदेशाग्रस्य यत्संक्रमणं तत् सर्वसंक्रमणं णाम । =अन्तके काण्डककी अन्तकी फालिके सर्व प्रदेशोंमेंसे जो अन्य प्रकृतिरूप नहीं हुए हैं उन परमा-णुओंका अन्यप्रकृति रूप होना वह सर्व संक्रमण है।

१०. आनुपूर्वी व स्तिवुक संक्रमण

१. आनुपूर्वी संक्रमणका लक्षण

ल. सा./जी प्र./२४९/३०५/१ स्त्रीनपुंसकवेदप्रकृत्योर्द्रव्यं नियमेन पुंवेद एव संक्रामति । पुंवेदहास्यादिषण्णोकषायाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-क्रोधद्वयद्रव्यं नियमेन संज्वलनक्रोध एव संक्रामति । संज्वलन-क्रोधाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानमानद्वयद्रव्यं नियमेन संज्वलनमाने एव संक्रामति संज्वलनमायाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानलोभद्वयद्रव्यं संज्वलन लोभे एव नियमत. संक्रामतीत्यानुपूर्व्या संक्रमो । =जो स्त्री, नपुंसक वेद प्रकृतिके द्रव्यको तो पुरुषवेदमें ही संक्रमण करता है। और पुरुष, हास्यादि छह, तथा अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान क्रोधका संज्वलन क्रोधमें, संज्वलन क्रोध, अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान मान-का संज्वलन मान ही संक्रमण करता है। और संज्वलन मान व अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान मायाका संज्वलन मायामें ही संक्र-मण करता है। संज्वलन माया अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान लोभका संज्वलन लोभ हीमें नियमसे संक्रमण होता है, अन्यथा नहीं होता है, यह आनुपूर्वी संक्रमण है।

२. स्तिबुक संक्रमणका लक्षण

ल. सा./जी. प्र./२७३/३३०/६ संज्वलनक्रोधस्य समयो नोच्छिष्टावलिमात्रनिषेकद्रव्यमपि संज्वलनमानस्योदयावल्यां समस्थितिनिषेकेषु प्रतिसमयमेकैकनिषेकक्रमेण संक्रम्य उदयमागमिष्यति। संज्वलनक्रोधोच्छिष्टावलिनिषेकाः मानोदयावलिनिषेकेषु संक्रम्य अनन्तरसमयेषूदयमिष्यन्तीति तात्पर्यम्। अयमेव थिउक्कसंक्रम इति भण्यते। —संज्वलन क्रोधका एक समय कम उच्छिष्टावलिमात्र निषेक द्रव्य भी, अपनी समान स्थिति लिये जे संज्वलन मानकी उदयावलीके निषेक उनमें समय-समय एक-एक निषेकके अनुक्रमसे संक्रमण होकर अनन्तर समयमें उदय होता है। तात्पर्य यह है कि उच्छिष्टावलि प्रमाण संज्वलन क्रोधका द्रव्य मानकी उदयावलि निषेकोंमें संक्रमण करके अनन्तर समयमें उदयमें आते हैं। यह ही थिउक्क (स्तिबुक) संक्रमण है।

ध. ६/१,९-८,१८/२११/८ विशेषार्थ—गति जाति आदि पिंड प्रकृतियोंमेंसे जिस किसी विवक्षित एक प्रकृतिके उदय आनेपर अनुदय प्राप्त शेष प्रकृतियोंका जो उसी प्रकृतिमें संक्रमण होकर उदय आता है, उसे स्तिबुक संक्रमण कहते हैं। जैसे—एकेन्द्रिय जीवोंके उदय प्राप्त एकेन्द्रिय जाति नामकर्ममें अनुदय-प्राप्त द्वीन्द्रिय जाति आदिका संक्रमण होकर उदयमें आना।

संक्रांति—१. स. सि./९/४४/४५५/१० संक्रान्तिः परिवर्तनम्। द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्तिः। एकं श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते तदपि विहायान्यमिति व्यञ्जनसंक्रान्तिः। काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गृह्णाति योगान्तरं च त्यक्त्वा काययोगमिति योगसंक्रान्तिः। —संक्रान्तिका अर्थ परिवर्तन है। द्रव्यको छोड़कर पर्यायको प्राप्त होता है और पर्यायको छोड़कर द्रव्यको प्राप्त होता है। यह अर्थ संक्रान्ति है। एक श्रुत वचनका आलम्बन लेकर दूसरे वचनका आलम्बन लेता है और उसे भी त्यागकर अन्य वचनका आलम्बन लेता है यह व्यंजन संक्रान्ति है। काययोगको छोड़कर दूसरे योगको स्वीकार करता है और दूसरे योगको छोड़कर काययोगको स्वीकार करता है। यह योग संक्रान्ति है। (रा. वा./९/४४/१/६३४/१०), (भा. पा./टी./७८/२२७), २. ध्यानमें योग संक्रांति सम्बन्धी शंका समाधान—दे. शुक्लध्यान/४।

संक्लिष्ट हस्तकर्म—दे. हस्तकर्म।

संक्लेश—दे. विशुद्धि।

संक्षेप सम्यग्दर्शन—दे. सम्यग्दर्शन/I/१।

संख्या—लोकमें जीव किस-किस गुणस्थान व मार्गणा स्थान आदिमें कितने-कितने हैं इस बातका निरूपण इस अधिकारमें किया गया है। तहाँ अल्प संख्याओंका प्रतिपादन तो सरल है पर असंख्यात व अनन्तका प्रतिपादन क्षेत्रके प्रदेशों व कालके समयोंके आश्रयपर किया जाता है।

१. संख्या सामान्य निर्देश

१. संख्या व संख्या प्रमाण सामान्यका लक्षण

स. सि./१/८/२९/६ संख्या भेदगणना। —संख्यासे भेदोंकी गणना ली जाती है। (रा. वा./१/८/३/४१/२६)।

ध. १/१,१,७/गा. १०२/१५८ अत्थित्तस्स य तहेव परिमाणं।१०२। (टीका) संतणियोगम्हि जमत्थित्तं उत्तं तस्स पमाणं परूवेदि दव्वाणियोगो। —सत् प्ररूपणामें जो पदार्थोंका अस्तित्व कहा गया

है उनके प्रमाणका वर्णन करनेवाली संख्या (द्रव्यानुयोग) प्ररूपणा करती है।

२. संख्या प्रमाणके भेद

ति. प./४/३०६/१७६/१ एत्थ उक्कस्ससंखेज्जयजाणणिमित्तं जंबूदीववित्थारं सहस्सजोयण उव्वेधपमाणचत्तारिसरावया कादव्वा। सलागा पडिसलागा महासलागा ऐदे तिण्णि वि अवट्ठिदा चउत्थो अणवट्ठिदो। एदे सव्वे पण्णाए ठविदा। एत्थ चउत्थसरावयअब्भंतरे दुवे सरिसवे थुदे तं जहण्णं संखेज्जयं जादं। एदं पढमवियप्पं तिण्णि सरिसवेसुछुद्धे अजहण्णमणुक्कस्ससंखेज्जयं। एवं सरावए पुण्णे एदमुवरिमज्झिमवियप्पं। ...तदो एगरूवमवणीदे जादमुक्कस्ससंखेज्जअं। जम्हि-जम्हि संखेज्जयं मग्गिज्जदि तम्हि-तम्हि य जहण्णमणुक्कस्ससंखेज्जयं गंतूण घेत्तव्वं। तं कस्स विसओ। चोद्दसपुव्विस्स। = यहाँ उत्कृष्ट संख्यातके जाननेके निमित्त जम्बूद्वीपके समान विस्तारवाले (एक लाख योजन) और हजार योजन प्रमाण गहरे चार गड्ढे करना चाहिए। इनमें शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका ये तीन गड्ढे अवस्थित और चौथा अनवस्थित है। ये सब गड्ढे बुद्धिसे स्थापित किये गये हैं। इनमेंसे चौथे कुण्डके भीतर दो सरसोंके डालनेपर वह जघन्य संख्यात होता है। यह संख्यातका प्रथम विकल्प है। तीन सरसोंके डालनेपर अजघन्यानुत्कृष्ट (मध्यम) संख्यात होता है। इसी प्रकार एक-एक सरसोंके डालनेपर उस कुण्डके पूर्ण होने तक यह तीनसे ऊपर सब मध्यम संख्यातके विकल्प होते हैं। (रा वा /३/३८/५/२०६/१८)। दे. गणित/I/१६।

३. संख्या व विधानमें अन्तर

रा, वा /१/८/१५/४३/४ विधानग्रहणादेव संख्यासिद्धिरिति; तन्न, किं कारणम्। भेदगणनार्थत्वात्। प्रकारगणनं हि तत्, भेदगणनं र्थमिदमुच्यते-उपशमसम्यग्दृष्टय इयन्त, क्षायिकसम्यग्दृष्टय एतावन्त इति। = प्रश्न—विधानके ग्रहणसे ही संख्याकी सिद्धि हो जाती है। उत्तर ऐसा नहीं है क्योंकि विधानके द्वारा सम्यग्दर्शनादिकके प्रकारोंकी गिनती की जाती है—इतने उपशम सम्यग्दृष्टि हैं, इतने क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं आदि।

४. कोडाकोडी रूप संख्याओंका समन्वय

ध. ७/२,५,२६/२५८/3 एसो उवदेसा कोडाकोडाकोडाकोडिए हेट्ठदो त्ति सुत्तेण कधं ण विरुज्झदे। ण, एगकोडाकोडाकोडाकोडिमादिं कादूण जाव रूवूणदसकोडाकोडाकोडाकोडि त्ति एदं सव्वं पि कोडाकोडाकोडाकोडि त्ति गहणादो। = प्रश्न—यह उपदेश कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ी नीचे इस सूत्रसे कैसे विरोधको प्राप्त न होगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, एक कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ीको आदि करके एक कम दश कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ी तक इस सबको भी कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ी रूपसे ग्रहण किया गया है।

२. संख्या प्ररूपणा विषयक कुछ नियम

१. कालकी अपेक्षा गणना करनेका तात्पर्य

ष. खं. ३/१,२/सू ३/२७ अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण।३।

ध. ३/१,२,३/२८/६ कधं कालेण मिणिज्जंते मिच्छाइट्ठी जीवा। अणंताणंताणं ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीणं समए ठवेदूण मिच्छाइट्ठिरासिं च ठवेऊण कालम्हि एगो समयो मिच्छाइट्ठिरासिम्हि एगो जीवो अवहिरिज्जदि। एवमवहिरिज्जमाणे अवहिरिज्जमाणे सव्वे समया अवहिरिज्जंति, मिच्छाइट्ठिरासी ण अवहिरिज्जदि। = १. कालकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियोंके द्वारा अपहृत नहीं होते हैं।३। २. प्रश्न—काल प्रमाणकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण कैसे निकाला जाता है? उत्तर—एक और अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियोंके समयोंको स्थापित करके और दूसरी ओर मिथ्यादृष्टि जीवोंकी राशिको स्थापित करके कालके समयोंमेंसे एक-एक समय और उसीके साथ मिथ्यादृष्टि जीव राशिके प्रमाणमेंसे एक-एक जीव कम करते जाने चाहिए। इस प्रकार उत्तरोत्तर कालके समय और जीव राशिके प्रमाणको कम करते हुए चले जानेपर अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियोंके सब समय समाप्त हो जाते हैं, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव राशिका प्रमाण समाप्त नहीं होता।

२. क्षेत्रकी अपेक्षा गणना करनेका तात्पर्य

ष. खं. ३/१,२/सू. ४/३२ खेत्तेण अणंताणंता लोगा।४।

ध. ३/१,२,४/३२-३३/६ खेत्तेण कधं मिच्छाइट्ठिरासी मिणिज्जदे। वुच्चदे—जधा पत्थेण जव-गोधूमादिरासी मिणिज्जदि तधा लोएण मिच्छाइट्ठिरासी मिणिज्जदि (३२/६) एक्केक्कम्मि लोगागासपदेसे एक्केक्कं मिच्छाइट्ठिजीवं णिक्खेविऊण एक्को लोगो इदि मणेण संकप्पेयव्वो। एवं पुणो पुणो मिणिज्जमाणे मिच्छाइट्ठिरासी अणंतलोगमेत्तो होदि। = १ क्षेत्र प्रमाणकी अपेक्षा अनन्तानन्त लोकप्रमाण मिथ्यादृष्टि जीव राशिका प्रमाण है।४। २. प्रश्न—क्षेत्र प्रमाणके द्वारा मिथ्यादृष्टि जीवराशि कैसे मापी अर्थात् जानी जाती है। उत्तर—जिस प्रकार प्रस्थसे गेहूँ, जौ आदिकी राशिका माप किया जाता है, उसी प्रकार लोकप्रमाणके द्वारा मिथ्यादृष्टि जीवराशि मापी अर्थात् जानी जाती है (३२/६) लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक मिथ्यादृष्टि जीवको निक्षिप्त करके एक लोक हो गया इस प्रकार मनसे संकल्प करना चाहिए इस प्रकार पुन-पुन माप करनेपर मिथ्यादृष्टि जीवराशि अनन्तानन्त लोकप्रमाण होती है।

३. संयम मार्गणामें संख्या सम्बन्धी नियम

ध ७/२,११,१७४/५६८/१ जस्स संजमस्स लद्धिट्ठाणाणि बहुआणि तत्थ जीवा वि बहुआ चेव, जत्थ थोवाणि तत्थ थोवा चेव होंति त्ति। = जिस संयमके लब्धिस्थान बहुत हैं उसमें जीव भी बहुत ही हैं, तथा जिस संयममें लब्धिस्थान थोड़े हैं उसमें जीव भी थोड़े ही हैं।

४. उपशम व क्षपक श्रेणीका संख्या सम्बन्धी नियम

ध. ५/१,८,२४५/३२३/१ णाण वेदादिसव्ववियप्पेसु उवसमसेडि चडंतजीवेहिंतो खवगसेडि चडंतजीवा दुगुणा त्ति आइरिओवदेसादो। = ज्ञान वेदादि सर्व विकल्पोंमें उपशम श्रेणीपर चढ़नेवाले जीवोंसे क्षपक श्रेणीपर चढ़नेवाले जीव दुगुणे होते हैं, इस प्रकार आचार्योंका उपदेश पाया जाता है।

५ सिद्धोंकी संख्या सम्बन्धी नियम

ध. १४/५,६,११६/१४३/१० सव्वकालमदीदकालस्स सिद्धा असंखेज्जदिभागो चेव; छम्मासमंतरिय णिव्वुइगमणणियमादो। = सिद्ध जीव सर्वदा अतीतकालके असंख्यातवें भागप्रमाण ही होते हैं, क्योंकि छह महीनेके अन्तरसे मोक्ष जानेका नियम है।

६. संयतासंयत जीव असंख्यात कैसे हो सकते हैं

ध. ५/१,८,१०/२४८/४ माणुसखेत्तब्भंतरे चेय संजदासंजदा होंति, णो बहिद्धा; भोगभूमिम्हि संजमासंजमभावविरोहा। ण च माणुसखेत्तब्भंतरे असंखेज्जाणं संजदासंजदाणमत्थि संभवो, तेत्तियमेत्ताणमेत्थावट्ठाणविरोहा। तदो संखेज्जगुणेहि संजदासंजदेहि होदव्वमिदि। ण, सयंपहपव्वदपरभागे असंखेज्ज जोयणवित्थडे कम्मभूमिपडिभाए तिरिक्खाणमसंखेज्जाणं संजमासंजमगुणसहिदाणमुवलंभा। = प्रश्न—संयतासंयत मनुष्यक्षेत्रके भीतर ही होते हैं, बाहर नहीं, क्योंकि, भोगभूमिमें संयमासंयमके उत्पन्न होनेका विरोध है। तथा मनुष्य क्षेत्रके भीतर असंख्यात संयतासंयतोंका पाया जाना सम्भव

नहीं है, क्योंकि, उतने संयतासंयतोंका यहाँ मनुष्य क्षेत्रके भीतर अवस्थान माननेमें विरोध आता है। इसलिए प्रमत्त संयतोंसे संयतासंयत संख्यात गुणित होना चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि, असंख्यात योजन विस्तृत एवं कर्म भूमिके प्रतिभागरूप स्वयंप्रभ पर्वतके परभागमें संयमासंयम गुणसहित असंख्यात तिर्यंच पाये जाते हैं।

७. सम्यग्दृष्टि २, ३ ही हैं ऐसा कहनेका प्रयोजन

का. अ./मू. व टीका/२७९ विरला णिसुणहिं तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं। विरला भावहि तच्चं विरलाण धारणा होदि।२७९।--विरलन्ते कति नात्मबोधविमुखाः संदेहिनो देहिनः, प्राप्यन्ते कतिचित्···। आत्मज्ञाः परमप्रबोधसुखिनः प्रोन्मीलदन्तर्दृशो, द्वित्राः स्युर्बहवो यदि त्रिचतुरास्ते पञ्चधा दुर्लभाः। —जगतमें विरले ही मनुष्य तत्त्वको सुनते हैं, विरले ही जानते हैं, उनमेंसे विरले ही तत्त्वकी भावना करते हैं, और उनमेंसे तत्त्वकी धारणा विरले ही मनुष्योंको होती है।२७९।—कहा भी है—आत्म ज्ञानसे विमुख और सन्देहमें पड़े हुए प्राणी बहुत हैं, जिनको आत्माके विषयमें जिज्ञासा है ऐसे प्राणी क्वचित् कदाचित् ही मिलते हैं, किन्तु जो आत्म-प्रदेशोंसे सुखी हैं तथा जिनकी अन्तर्दृष्टि खुली है ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष दो तीन अथवा बहुत हुए तो तीन चार ही होते हैं, किन्तु पाँचका होना दुर्लभ है। (अर्थात् अत्यल्प होते हैं)।

८. लोभ कषाय क्षपकोंसे सूक्ष्मसाम्परायकी संख्या अधिक क्यों—

ष. खं. व धवला टी./१ ८/सू. १९९/३१२ णेवरि विसेसा, लोभकसाईसु सुहुमसांपराइय-उवसमा विसेसाहिया।१९९।—दोउवसामगपवेसण-हितो सखेज्जगुणे दोगुणट्ठाणपवेसयखवए पेक्खिदूण कधं सुहुमसांपरा-इयउवसामगा विसेसाहिया। ण एस दोसो, लोभकसाएण खवएसु पविसंतजीवे पेक्खिदूण तेसिं सुहुमसांपराइयउवसामएसु पवि-संताणं चउवण्णपरिमाणाणं विसेसाहियत्ताविरोहा। कुदो। लोभ-कसाईसु त्ति विसेसणादो। =केवल विशेषता यह है कि लोभ-कषायी जीवोंमें क्षपकोसे सूक्ष्मसाम्परायिक उपशामक विशेष अधिक हैं।१९९। प्रश्न—अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन दो उपशामक गुणस्थानोंमें प्रवेश करनेवाले जीवोंसे संख्यातगुणित प्रमाणवाले इन्हीं दो गुणस्थानोंमें प्रवेश करनेवाले क्षपकोंको देखकर अर्थात् उनकी अपेक्षासे सूक्ष्मसाम्परायिक उपशामक विशेष अधिक कैसे हो सकते हैं। उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि लोभकषायके उदयसे क्षपकोंमें प्रवेश करनेवाले जीवोंको देखते हुए लोभकषायके उदयसे सूक्ष्म साम्परायिक उपशामकोंमें प्रवेश करनेवाले और चौपन संख्या रूप परिमाणवाले उन लोभकषायी जीवोंके विशेष अधिक होनेमें कोई विरोध नहीं है, कारण कि 'लोभकषायी जीवोंमें' ऐसा विशेषण पद दिया गया है।

९. वर्गणाओंका संख्या सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध. १४/५,६,११३/१९८/५ बादरणिगोदवग्गणाए सव्वेगसेडिवग्गणाओ असखेज्जगुणाओ··सेडीए असखेज्जदिभागो।···के वि आइरिया असखेज्जपदरावलियाओ गुणगारो त्ति भणंति तण्ण घडदे; चूलिया-सुत्तेण सह विरोहादो। —बादरनिगोद वर्गणाकी सब एकश्रेणि वर्गणाएँ असंख्यात गुणी हैं।···जगश्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणकार है।...कितने ही आचार्य असंख्यात प्रतरावलि प्रमाण गुण-कार हैं ऐसा कहते हैं, परन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि चूलिका सूत्रके साथ विरोध आता है।

१०. जीवोंके प्रमाण सम्बन्धी दृष्टिभेद

दे. स्वर्ग/३/२ [एक दृष्टिसे स्वर्गवासी इन्द्र व प्रतीन्द्र १४ और दूसरी दृष्टि से १६ हैं]।

ध. ३/१,२,१२/गा. ४५-४६/९४ ति. दि वदंति केई चउरुत्तरमत्थपंचमं केई। उवसामगेसु एदं खवगाणं जाण तद्दुगुणं।४५। चउरुत्तरतिण्णि-सयं पमाणमुवसामगाण केई तु। तं चेव य पंचूणं भणंति केई तु परिमाणं।४६। —कितने ही आचार्य उपशामक जीवोंका प्रमाण ३०० कहते हैं। कितने ही आचार्य ३०४ कहते हैं, और कितने ही आचार्य २९९ कहते हैं। इस प्रकार यह उपशामक जीवोंका प्रमाण है, क्षपकोंका इससे दूना जानो।४५। कितने ही आचार्य उपशामक जीवों-का प्रमाण ३०४ कहते हैं और कितने २९९ कहते हैं।४६।

ध. ३/१,३,८७/३३७/२ के वि आइरिया सलागरासिस्स अद्धे गदे तेउक्का-इयरासी उप्पज्जदि त्ति भणंति। के वि तं णेच्छंति। कुदो। अद्धुट्ठरासिसमुदयस्स वग्गसमुट्ठिदत्ताभावादो। —कितने आचार्य चौथी बार स्थापित शलाकाराशिके आधे प्रमाणके व्यतीत होनेपर तेजस्कायिक जीवराशि उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं। परन्तु कितने ही आचार्य इस कथनको नहीं मानते हैं, क्योंकि साढ़े तीन बार राशिका समुदाय वर्गधारामें उत्पन्न नहीं है।

गो. जी./मू./१६३ तिगुणा सत्तगुणा वा सव्वट्ठा माणुसीपमाणदो।— मनुष्य स्त्रियोंका जितना प्रमाण है उससे तिगुना अथवा सतगुणा सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण है।

३. संख्या विषयक प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेत सूची

अंतर्मु. — अन्तर्मुहूर्त [आ./असं] (ध. ७/२,५,५५/२६७/१)
अनं. — मध्यम अनन्तानन्त (ध. ७/२,५,११७/२८५/५)
अनं. लो. — अनन्तानन्त लोक (विशेष दे. संख्या/२/२)
अनपहृत — (दे. संख्या/२/१)
अप. — अपर्याप्त
अपहृत — प्रतिसमय एक एक जीव निकालते जानेपर विवक्षित कालके समय समाप्त हो जाते हैं और उसके साथ जीव भी समाप्त हो जाते हैं।
असं. — मध्यम असंख्यातासंख्यात (ध. ३/१,२,१५/१२९/६)
आ./असं. — आवली/असं. रूप असंख्यात आवली (ध. ७/२,५,५५/२६१/१)
पल्य./अन्तर्मु. — पल्य+ $\frac{\text{आ.}}{\text{असं.}}$ रूप असं. आवली
या पल्य/असं. — (ध. ७/२,५,५५/२६७/१)
उत. अव. — उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी
उत्तरोत्तर असं. या सं. बहुभाग — आनेसे पूर्ववाली राशिके अवशेष उतनेवाँ भाग

उप.	उपशामक	पृ.	पृथक्त्व अर्थात् ३ से ९ तक अथवा नरक पृथिवी
एके.	एकेन्द्रिय	पृथि.	पृथिवीकायिक
+ कुछ	विवक्षित राशिसे कुछ अधिक	वन.	वनस्पतिकायिक
गु. स.	गुणस्थान	बहु.	बहुभाग
चतु.	चतुरिन्द्रिय	बहुभाग	राशि- $\frac{\text{राशि}}{\text{भागाहार}}$
ज. प्र.	जगत्प्रतर	बा.	बादर
जल	जलकायिक	मनु.	मनुष्य
ज. श्रे	जगश्रेणी	यो.	योनिमति तिर्यंच
तिर्यं.	तिर्यंच	ल. पृ.	लक्ष पृथक्त्व
तेज	तेजकायिक	वायु.	वायुकायिक
त्री.	त्रीन्द्रिय	सं.	संख्यात
द्वी.	द्वीन्द्रिय	सा.	सामान्य
नि.	निगोद शरीर	साधा.	साधारण शरीर
प.	पर्याप्त		
पंचे.	पंचेन्द्रिय	सू.	सूक्ष्म

२. जीवोंकी संख्या विषयक ओघ प्ररूपणा

१. जीव सामान्यकी अपेक्षा

प्रमाण—१ ष. खं. ३/१,२/सूत्र/पृष्ठ; २. ध. ३/१,२,६/गा. ३८-४०/८७; ३. ध. ३/१,२/पृष्ठ; ४. ध. ३/१, २, १९/गा. ४६-४८/९४-९६; ५. गो. जी./मू. व टी./६२४-६४२/१०७७-१०९४।

अंक-। संदृष्टि—पल्य = ६५५३६; अन्तर्मुहूर्त = सासादनके योग्य ३२; मिश्रयोग्य १६; असंयत योग्य ४; संयतासंयत योग्य १२८।

सं.	गुणस्थान	मूल प्ररूपणा		विशेष प्ररूपणा		
		ष. खं./३/सू./पृ.	संख्या	प्रमाण सं.	अपेक्षा	विशेष विवरण
१	मिथ्यादृष्टि	२/१०	अनं.	३/२६	द्रव्य	मध्यम अनंतानंत
		३/२७	अनं. उत्त अवसे अनपहृत	३/२८	काल	(दे. संकेत सूची)
		४/३२	अनं. लो	३/३२	क्षेत्र	(" ")
		५/३८	तीनोंका ज्ञान	३/३६	भाव	द्रव्य, क्षेत्र व काल प्ररूपणाका ज्ञान
२	सासादन	६/६३	पल्य / असं.	सूत्र	काल	पल्य / स्व योग्य अन्तर्मु. (विशेष दे. संकेत सूची)
				२	अंक-संदृष्टि	६५५३६+३२ = २०४८ (दे. उपरोक्त संकेत)
३	मिश्र	६/६३	पल्य / असं	२	अंक-संदृष्टि	६५५३६ + १६ = ४०९६
४	अविरत	"	"	"	"	६५५३६+४ = १६३८४
५	संयतासंयत	"	"	"	"	६५५३६+१२८ = ५१२ [स्वयंभूरमण द्वीप सागरकी अपेक्षा— दे. संख्या/२/६१]
६	प्रमत्त	७/८८	कोटि पृ.	३/८९	गणना	५९३९८२०६
७	अप्रमत्त	७/८९		३/९०	"	२९६९९१०३ (प्रमत्तसे आधे)
८	चारों उप— प्रवेशापेक्षा (विशेष दे. अगला उपशीर्षक)	८/९०	१-५४	३/९०	"	उपशम श्रेणीयोग्य लगातार ८ ही समय उत्कृष्ट होते हैं। तहाँ प्रथमादि समयोंमें जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त क्रमसे—१-१६; १-२४; १-३०; १-३६; १-४२; १-४८ व १-५४ जीव प्रवेश करते हैं।
	संचयापेक्षया	१०/९१	सं.	४	"	२९९ या ३०० या ३०४ (विशेष दे. संख्या/२/१०)
९	चारों क्षपक— प्रवेशापेक्षा (विशेष दे. अगला उपशीर्षक)	११/९२	१-१०८	३/९२	गणना	उपशामकोंसे दूने (दे. संख्या/२/४+उपरोक्त उपशामकोंकी प्ररूपणा)
	संचयापेक्षा	१२/९३	सं.	४		उपशामकोंसे दुगुने अर्थात् ५९८ या ६०० या ६०८ (उपरोक्तवत्)
१०	सयोगी—					
	प्रवेशापेक्षा	१३/९५	१-१०८	३/९५	"	उपरोक्त क्षपकवत्
	संचयापेक्षा	१४/९५	स. पृ.	४	"	८९८५०२
११	अयोगी—					
	प्रवेशापेक्षा	११/९२				——→ उपरोक्त क्षपकोंवत् ←——
	संचयापेक्षा	१२/९३				——→ उपरोक्त क्षपकोंवत् ←——

२. तीर्थंकर आदि पुरुष विशेषोंकी अपेक्षा

(ध. ५/१,८,२४६/३२३/१)

सं.	नाम	युगपत् उपशम-श्रेणीमें प्रवेश	युगपत् क्षपक-श्रेणीमें प्रवेश	सं.	नाम	युगपत् उपशम श्रेणीमें प्रवेश	युगपत् क्षपक-श्रेणीमें प्रवेश
१	तीर्थंकर	३	६	६	जघन्य अवगाहना	२	४
२	प्रत्येकबुद्ध	५	१०	७	पुरुष वेदोदय सहित	५४	१०८
३	बोधित बुद्ध	५४	१०८	८	स्त्री वेदोदय सहित	१०	२०
४	उत्कृष्ट अवगाहना	१	२	९	नपुंसक वेदोदय सहित	५	१०
५	मध्यम अवगाहना	४	८				

३. जीवोंकी संख्या विषयक सामान्य विशेष आदेश प्ररूपणा

ष. खं. ३/१,२/ पुस्तक सं. सूत्र सं./पृष्ठ सं. ; ष. खं. ७/२,५/ पुस्तक सं. सू. सं./पृष्ठ सं.

मार्गणा	गुण स्थान	द्रव्यकी अपेक्षा ष. खं.	द्रव्यकी अपेक्षा प्रमाण	क्षेत्रकी अपेक्षा ष. खं.	क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	असं. का प्रमाण	कालकी अपेक्षा ष. खं.	कालकी अपेक्षा प्रमाण
१ गति मार्गणा								
१. नरक गति—		(ति. प./२/१९९-२०१), (गो. जी./मू. व जी. प्र./१५३-१५४/३७६)						
सामान्य		७ ३/२४४	असं	७ ४-५/२४५	असं. जगश्रेणी	ज. प्र./असं	७ ३/२४४	असं. उत. अव. से अपहृत
प्रथम पृथिवी		७ ७/२४७	—	—	→ सामान्य वत् ←	—	—	—
२–७ में प्रत्येक पृ.		७ ८/२४८	असं.	७ ११-१२/२४९	ज. श्रे. – असं	असं.करोड़योजन	७ १०/२४८	असं. उत. अव. से अपहृत
द्वितीय पृथिवी		"	"	{७ १३/२४९ की टीका	ज.श्रे – ज.श्रे.का १२वाँ वर्गमूल		"	"
तृतीय पृथिवी		"	"		ज. श्रे. – ज. श्रे. ,, १० ,, ,,		"	"
चतुर्थ पृथिवी		"	"	"	ज. श्रे. ÷ ज. श्रे ,, ८ ,, ,,		"	"
पंचम पृथिवी		"	"	"	ज. श्रे. ÷ ज. श्रे. ,, ६ ,, ,,		"	"
षष्ठ पृथिवी		"	"	"	ज. श्रे ÷ ज. श्रे. ,, ३ ,, ,,		"	"
सप्तम पृथिवी		"	"	"	ज. श्रे. ÷ ज. श्रे. ,, २ ,, ,,		"	"
सामान्य	१	३ १५/१२१	असं.	३ १७/१३१	असं. ज. श्रे.	ज. प्र./असं	३ १६/१२९	असं. उत. अव. से अपहृत
	२-४	३ १८/१५६	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
प्रथम पृथिवी	"	३ १९/१६१	—	—	→ ,, ←	—	—	—
२–७ पृथिवी (प्रत्येक)	१	३ २०/१६८	असं.	३ २२/१६९	ज. श्रे. ÷ असं	असं.करोड़योजन	३ २१/१६८	असं. उत. अव. से अपहृत
	२-४	३ २३/२०६	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
			(विशेष दे. भागाभाग)					
२. तिर्यंच गति—		(गो. जी./मू.	व. जी. प्र /१५५-१५६/	३७६-३८०)				
सामान्य		७ १५/२५०	अनं.	७ १७/२५१	अनं लो.		७ १६/२५१	अनं. उत. अव. से अनपहृत
पंचे. तिर्य. सामान्य		७ १८-१९/२५२	असं.	७ २१/२५३	ज. प्र. ÷ देव अवहार काल/असं		७ २०/२५२	असं. उत. अव. से अपहृत
,, ,, पर्याप्त		"	"	"	ज. प्र. ÷ देव अवहार काल/सं.		"	"
,, ,, योनिमति		"	"	"	ज. प्र ÷ (देव अवहार काल × सं.)		"	"
,, ,, अपर्याप्त		"	"	"	ज. प्र. ÷ (देव अवहार काल×असं)		"	"

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	असं. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
सामान्य	१-५	$३_{२}\frac{२४}{१५५}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
पंचें. तिर्य. सामान्य	१	$३_{२}\frac{२५}{१५७}$	असं.	$३_{२}\frac{२७}{१६२}$	ज. प्र. ÷ $\frac{\text{देव अवहार काल}}{\text{असं.}}$		$३_{२}\frac{२६}{१५७}$	असं. उत. अव. से अपहृत
	२-५	$३_{२}\frac{२८}{२५६}$	पल्य/असं.	—				पल्य/असं = पल्य ÷ $\frac{\text{आ.}}{\text{असं.}}$
,, ,, पर्याप्त	१	$३_{२}\frac{२९}{२५६}$	असं.	$३_{२}\frac{३१}{२६८}$	ज. प्र — $\frac{\text{देव अवहार काल}}{\text{सं.}}$		$३_{२}\frac{३०}{२६७}$	असं. उत. अव. से अपहृत
	२-५	$३_{२}\frac{३२}{२६२}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
,, योनिमति	१	$३_{२}\frac{३३}{२६२}$	असं.	$३_{२}\frac{३५}{२७०}$	ज. प्र. — (देव अवहार काल×सं.)		$३_{२}\frac{३४}{२७०}$	असं. उत. अव. से अपहृत
	२-५	$३_{२}\frac{३६}{२७७}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
पंचें. तिर्य. पर्याप्त	१	$३_{२}\frac{३७}{२७८}$	असं.	$३_{२}\frac{३९}{२७२}$	ज. प्र — (देव अवहारकाल×असं.)		$३_{२}\frac{३८}{२७६}$	असं. उत. अव. से अपहृत
		(गो. जी./मू. व जीव प्र./१५७-१५९)						
३. मनुष्य गति —								
सामान्य		$७_{२}\frac{२३}{२५४}$	असं.	$७_{२}\frac{२५-२६}{२५५}$	ज. श्रे. ÷ असं.	असंकरोड योजन	$७_{२}\frac{२४}{२५५}$	असं. उत. अव. से अपहृत
मनु. अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
मनु. पर्याप्त		$७_{२}\frac{२९}{२५७}$	कोड़ाकोड़ाकोड़ी व कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ी के बीचमें					
		टी./२५७	अर्थात् ——	७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६-				
मनुष्यणी		टी./२५९	उपरोक्त × $\frac{३}{४}$ =	[५९४२११२१८८५६९८२५३१९५१५७९६२७५२ (ति. प./४/२९२९)]				
पुरुष व नपुंसक		,,	उपरोक्त × $\frac{१}{४}$ =	[१९८०७०४०६२८५६६०८४३९८३८५९८७५८४ (ति. प./४/२९२७)]				
मनुष्य सामान्य	१	$३_{२}\frac{४०}{२५४}$	असं.	$३_{२}\frac{४२}{२५५}$	ज. श्रे. — असं.	असंकरोड़ योजन	$३_{२}\frac{४५}{२५५}$	असं. उत. अव. से अपहृत
	२-५	$३_{२}\frac{४३}{२५६}$	सं.	—				
	२	(ध. ३/१,२,४३/ गा. ६८-६९/२५२)	५२ करोड	[मतान्तरकी अपेक्षा ५० करोड]				
	३		१०४ ,,	[मतान्तरकी अपेक्षा १०० करोड]				
	४		७०० ,,					
	५		१३ ,,					

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	असं. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
मनुष्य सामान्य	६-१४	३/४४/२५२	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
मनुष्य पर्याप्त	१	३/४५/२५३	कोडाकोड़ाकोड़ी व कोडाकोडाकोड़ाकोडी के बीचमें					
		टी./२५४	अर्थात्— (उपरोक्त मनुष्य सामान्य राशि—अपने २-१४ गुणस्थानोंका जोड)					
	२-५	३/४६/२५९	सं.		×			
		टी./२६०	मनु सा. वत्					
		३/४७/२६०	—	—	→ ओघवत् ←	—		—
मनुष्यणी	१	३/४८/२६०	कोडाकोड़ाकोड़ी व कोडाकोडाकोड़ाकोडी के बीचमें					
		टी./२६०	अर्थात्— उपरोक्त मनुष्यणी सामान्य राशि - अपने २-१४ गुणस्थानोंका जोड					
"	२-१४	३/४९/२६१	सं.					
		टी./२६१	गुणस्थान प्रतिपन्न उपरोक्त मनुष्य ÷ संख्यात। किसी निश्चित राशिका उपदेश प्राप्त नहीं है					
मनुष्य अपर्याप्त	१	३/५०/२६८	असं.	३/५२/२६२	ज. श्रे. ÷ असं.	असं. करोड़ योजन	३/५१/२६२	असं. उत. अव. से अपहृत
४. देवगति—			(ति. प./८/६११ ६१४): (गो. जी./मू. व जी. प्र./१६० १६३)					
सामान्य		७/३१/२६९	असं.	७/३३/२६०	ज. प्र.—(२५६ सूच्यंगुल)[2]		७/३२/२६०	असं. उत. अव. से अपहृत
भवनवासी		७/३५/२६१	असं.	७/३७-३८/२६१	(ज. प्र.—असं.) प्रमाण असं. ज. श्रे.		७/३६/२६१	"
वानव्यन्तर		७/४१/२६२	असं.	७/४३/२६३	ज. प्र.—(सं. सौ योजन)[2]		७/४२/२६३	"
ज्योतिषी		७/४४/२६३	—	—	→ देव सामान्यवत् ←		—	—
सौधर्म ईशान		७/४६/२६४	असं.	७/४८-४९/२६५	ज. प्र./असं. प्रमाण असं. ज. श्र.		७/५०/२६४	असं. उत. अव. से अपहृत

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा ष.खं.	द्रव्यकी अपेक्षा प्रमाण	क्षेत्रकी अपेक्षा ष.खं.	क्षेत्रकी अपेक्षा प्रमाण	असं. का प्रमाण	कालकी अपेक्षा ष.खं.	कालकी अपेक्षा प्रमाण
सनत्कुमार-सहस्रार		$७\frac{५१}{२६८}$	—	—	→ सप्तम नरकवत् ←	—	—	—
आनत-अपराजित		$७\frac{५२}{२६६}$	पल्य/असं.				$७\frac{५४}{२६६}$	(पल्य/अंतर्मु.) से अपहृत अंतर्मु.= $\frac{आ.}{असं}$ (टी.पृ.२६७)
सर्वार्थसिद्धि		$७\frac{५६}{२६७}$	असं.					
देव सामान्य	१	$३\frac{१३}{२६६}$	असं.	$३\frac{५५}{२६८}$	ज.प्र ÷ (२५६ सूच्यंगुल)^२		$\frac{५४}{२६८}$	असं. उत. अवसे अपहृत
	२-४	$३\frac{५६}{२६२}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
	४	टी./२६६	भागहार = असंयत सम्यग्दृष्टि सामान्यका भागहार + यही भागहार ÷ $\frac{आ.}{असं}$					
	३	,,	,, = असंयत सम्यग्दृष्टिका उपरोक्त भागहार × $\frac{आ.}{असं}$					
	२	,,	,, = तीसरे गुणस्थानका उपरोक्त भागहार × सं.					
भवनवासी	१	$३\frac{५७}{२७०}$	असं.	$३\frac{५९}{२७०}$	ज.प्र./असं. प्रमाण असं. ज.श्रे		$३\frac{५८}{२७०}$	असं. उत. अवसे अपहृत
	२-४	$३\frac{६०}{२७१}$	—	—	→ उपरोक्त सामान्यवत ←	—	—	—
व्यन्तर	१	$३\frac{६१}{२७२}$	असं.	$३\frac{६३}{२७२}$	ज.प्र. ÷ (सं. सौ योजन)^२		$३\frac{६२}{२७२}$	पल्य/असं उत अवसे अपहृत पल्य/असं = पल्य ÷ $\frac{आ.}{असं}$
	२-४	$३\frac{६४}{२७४}$	पल्य/असं.					
ज्योतिष	१-४	$३\frac{६५}{२७५}$	—	—	→ देव सामान्यवत ←	—	—	—
सौधर्म-ईशान	१	$३\frac{६६}{२७६}$	असं	$३\frac{६८}{२७७}$	ज.प्र/असं प्रमाण असं ज.श्रे.		$३\frac{६७}{२७६}$	असं. उत. अवसे अपहृत
	२-४	$३\frac{६९}{२८०}$	—	—	→ देव सामान्यवत ←	—	—	—
सनत्कुमार-सहस्रार	१	$३\frac{७०}{२८०}$	—	—	→ सप्तम पृथिवीवत ←	—	—	—
सनत्कुमार-माहेन्द्र	१			टी./२८०	ज.श्रे./असं	(ज.श्रे.)$^{\frac{१}{१२}}$		
ब्रह्मब्रह्मोत्तर	१			,,	,,	(ज.श्रे.)$^{\frac{१}{१८}}$		
लान्तवकापिष्ठ	१			,,	,,	(ज.श्रे.)$^{\frac{१}{१४}}$		
शुक्र-महाशुक्र	१			,,	,,	(ज.श्रे.)$^{\frac{१}{१०}}$		
शतार-सहस्रार	१			,,	,,	(ज.श्रे.)$^{\frac{१}{८}}$		
सनत्कुमारसे सहस्रार	२-४	टी. २८१	—	—	→ सप्तम नरकवत ←	—	—	—
आनत-उपरिम ग्रैवेयक	१-४	$३\frac{७१}{२८१}$	पल्य/असं				$३\frac{७१}{२८१}$	पल्य/अंतर्मु.से अपहृत पल्य/अंतर्मु. = पल्य ÷ $\frac{आ.}{असं}$

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	असं. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
अनुदिश-अपराजित	४	$३\frac{७२}{२८२}$	पल्य/असं.				$३\frac{७२}{२८२}$	(पल्य/अंतर्मु) से अपहृत —पल्य/अंतर्मु = पल्य ÷ $\frac{आ.}{असं}$
सर्वार्थसिद्धि	४	$३\frac{७३}{२८३}$	सं.					
		टी./२८६	मनुष्यणीसे तिगुने—[१७८२६५६५७०९४७५९५८५४७३८८७५५६]					
२. इन्द्रिय मार्गणा :—		(गो. जी./मू व टी./१७५—१८०), (ति. प./५/२८० ,						
एकेन्द्रिय सामान्य		$७\frac{५८}{२६७}$	अनं.	$७\frac{६०}{२६८}$	अनं. लो.		$७\frac{५९}{२६८}$	अनं. उत. अव.से अनपहृत
एकेन्द्रिय पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
बा. एके. सामान्य	×	,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, पर्याप्त	×	,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
सूक्ष्म ,, सामान्य	×	,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
द्वीन्द्रिय सामान्य		$७\frac{६२}{२६९}$	असं.	$७\frac{७४}{२७८}$	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/असं)^{२}	आ./असं.	$७\frac{६३}{२६९}$	असं उत. अव. से अपहृत
,, पर्याप्त		,,	,,	,,	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/सं)^{२}		,,	,,
,, अपर्याप्त	/	,,	,,	,,	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/असं)^{२}	आ./असं.	,,	,,
त्रीन्द्रिय सामान्य		,,	,,	,,	द्वीन्द्रिय सामान्यवत्		,,	,,
,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,, पर्याप्त ,,		,,	,,
,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,, अपर्याप्त ,,		,,	,,
चतुरिन्द्रिय सामान्य		,,	,,	,,	,, सामान्य ,,		,,	,,
,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,, पर्याप्त ,,		,,	,,
,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,, अपर्याप्त ,,		,,	,,

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	असं. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
पंचेन्द्रिय सामान्य		७ ६२/२६९	असं.	७ ६४/२७०	द्वीन्द्रिय सामान्यवत		७ ६३/२६९	असं. उत. अव. से अपहृत
,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,, पर्याप्त ,,		,,	,,
,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,, अपर्याप्त ,,		,,	,,
{ एकेन्द्रियके उपरोक्त सर्व विकल्प	१	३ ७४/३०८	अनं.	३ ७६/३०७	अनं. लोक.		३ ७५/३०९	अनं. उत. अव. से अनपहृत
{ विकलेन्द्रियके उपरोक्त सर्व विकल्प	१	३ ७७/३१०	असं.	७ ७२/३१३	उपरोक्त सामान्य विकल्पोंवत्		३ ७८/३१२	असं. उत. अव. से अपहृत
पंचेन्द्रिय सामान्य	१	३ ८०/३१४	असं.	३ ८२/३१४	ज. प्र. ÷ (सूच्यगुल/असं)²		३ ८१/३१४	असं. उत. अव. से अपहृत
,, पर्याप्त	,,	,,	,,	,,	ज. प्र ÷ (सूच्यंगुल/सं)²		,,	,,
,, ,,	२–१४	३ ८३/३१७	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
,, अपर्याप्त	१	३ ८४/३१७	असं.	३ ८६/३१८	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/असं)²		३ ८५/३१७	असं. उत. अव. से अपहृत
३. काय मार्गणा :–		(विशेष दे. ध. ३/१.२/८७/३३४–३४८) (मू. आ./१२०१–१२०६); (ति. प./५/२८७); (गो. जी./मू./२०४–२१४/४५२–४६६)						
पृथिवी कायिक सामान्य		७ ६५/२७१	असं. लोक.	ध. ३/पृ. ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध. ३/पृ. ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
बादर पृथिवी ,, ,,		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, पर्याप्त		७ ६८/२७१	असं.	७ ७०/२७२	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/असं)²		७ ६६/२७२	असं. उत. अव. से अपहृत
,, ,, ,, अपर्याप्त		७ ६६/२७१	असं. लोक.	ध. ३/पृ. ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध. ३/पृ. ३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
सूक्ष्म ,, ,, सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
अप् कायिक सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष.खं.	प्रमाण	असं.का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
बादर अप्.कायिक सामान्य		७ ६६/२७९	असं. लोक	ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
,, ,, ,, पर्याप्त		७ ६८/२७९	असं.	७ ७०/२७२	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/असं.)[2]		७ ६९/२७२	असं. उत. अवसे अपहृत
,, ,, ,, अपर्याप्त		७ ६६/२७१	असं. लोक	ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
सूक्ष्म ,, ,, सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
तेज. ,, सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,
बादर तेज. ,, ,,		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, पर्याप्त		७ ७२-७३/२७३	(असं. आवली)[2] (आ.[3] से नीचे)	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, अपर्याप्त		७ ६६/२७१	असं. लोक	,,	,,		,,	,,
सूक्ष्म ,, ,, सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
वायु ,, सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,
बादर वायु ,, ,,		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, पर्याप्त		७ ७५/२७३	असं.	७ ७१-७८/२७४	लोक/असं. प्रमाण असं ज.प्र.		७ ७६/२७४	असं. उत. अवसे अपहृत
,, ,, ,, अपर्याप्त		७ ६९/२७१	असं. लोक	ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
सूक्ष्म ,, ,, सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
वनस्पति ,, सामान्य		७ ८०/२७८	अनं.	७ ८२/२७६	अनं. लोक		७ ८१/२७८	अनं. उत अवसे अनपहृत
बादर वनस्पति ,, ,,		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
सूक्ष्म ,, ,, सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
निगोद ,, ,, सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा: ष. खं.	द्रव्यकी अपेक्षा: प्रमाण	क्षेत्रकी अपेक्षा: ष. खं.	क्षेत्रकी अपेक्षा: प्रमाण	अंस. का प्रमाण	कालकी अपेक्षा: ष. खं.	कालकी अपेक्षा: प्रमाण
बादर निगोद सामान्य		७ ८०/२७५	अनं. लोक	७ ८२/२७६	अनं. लोक		७ ८१/२७५	अनं. उत. अवसे अनपहृत
,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
सूक्ष्म ,, सामान्य		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
,, ,, अपर्याप्त		,,	,,	,,	,,		,,	,,
बादर वन. प्रत्येक सामान्य		७ ६६/२७१	असं. लोक	ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
,, ,, ,, पर्याप्त		७ ६८/२७१	असं.	७ ७०/२७२	ज प्र. ÷ (सूच्यंगुल/असं.)²		७ ६९/२७२	असं. उत अवसे अपहृत
,, ,, ,, अपर्याप्त		७ ६६/२७१	असं लोक	ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं		ध.३/पृ.३३४	प्ररूपणाका कोई उपाय नहीं
त्रसकायिक सामान्य		७ ८३/२७६	—	→	पंचेन्द्रिय सामान्यवत्	←	—	—
,, ,, पर्याप्त		,,	—	→	,, पर्याप्त ,,	←	—	—
,, ,, अपर्याप्त		,,	—	→	,, अपर्याप्त ,,	←	—	—
स्थावर कायिकोंके उपरोक्त सर्व विकल्प		३ ८७-९७/३२१-३५८	—	→	सर्वत्र उपरोक्तवत्	←	—	—
त्रस कायिक सामान्य	१	३ ९८/३६०	असं.	३ १००/३६१	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/असं.)²		३ ९९/३६१	असं. उत. अवसे अपहृत
,, ,, पर्याप्त	१	,,	,,	,,	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/सं.)²		,,	,,
त्रस सा. व पर्याप्त	२-१४	३ १०१/३६२	—	→	ओघवत्	←	—	—
त्रस कायिक अप.	१	३ १०२/३६२	—	→	पंचेन्द्रिय अप. (या विकलेन्द्रिय अप. + पंचेन्द्रिय अप.) वत्			←
४. योगमार्गणा—		(गो. जी./२५६-२७०/२७१-५८६)						
पाँचों मनोयोगी		७ ९५/२७७	देव सा/असं					
वचन योगी सा.		७ ९७/२७७	असं.	७ ९६/२७८	ज. प्र. - (सूच्यंगुल/सं.)²		७ ९९/२७७	असं. उत. अवसे अपहृत

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	असं. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
सत्य वचनयोगी		$७\frac{८५}{२७७}$	देव. सा/असं.					
असत्य ,,		,,	,,		<			
उभय ,,		,,	,,					
अनुभय ,,		$७\frac{८७}{२७८}$	असं.	$७\frac{८२}{२७८}$	ज. प्र ÷ (सूच्यंगुल/सं.)^{२}		$७\frac{८८}{२७७}$	असं. उत. अव. से अपहृत
काय योगी सामान्य		$७\frac{९१}{२७७}$	अनं.	$७\frac{९३}{२७९}$	अनं. लोक		$७\frac{६२}{२७९}$	अनं. उत. अव. से अनपहृत
औदारिक काययोगी		,,	,,	,,	,,		,,	,,
औदारिक मिश्र ,,		,,	,,	,,	,,		,,	,,
वैक्रियक ,,		$७\frac{९५}{२७९}$	देव/सं. से कम		×			
वैक्रियक मिश्र ,,	>	$७\frac{९७}{२८०}$	देव/सं.					
आहारक ,,		$७\frac{९९}{२८०}$	५४					
आहारक मिश्र ,,		$७\frac{१०१}{२८०}$	सं. (२७)					
कार्मण ,,		$७\frac{९१}{२७८}$	अनं.	$७\frac{६३}{२७९}$	अनं. लोक		$७\frac{९२}{२७९}$	अनं. उत. अव. से अनपहृत
पाँचों मनोयोगी	१	$३\frac{१०३}{३८६}$	देव/सं.					
,, ,,	२-१४	$३\frac{१०४-१०५}{३८७}$	—	→	ओघवत	←	—	—
वचनयोगी सामान्य	१	$३\frac{१०१}{३८८}$	असं.	$३\frac{१०६}{३८९}$	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/सं.)^{२}		$३\frac{१०७}{३८९}$	असं. उत. अव. से अपहृत
,, ,,	२-१४	$३\frac{१०१}{३९०}$	—	→	मनोयोगी वत्	←	—	—
{ सत्य असत्य व	१	$३\frac{१०३}{३८६}$	देव/सं.					
{ उभय वचनयोगी	२-१४	$३\frac{१०४-१०५}{३८७}$	—	→	ओघवत	←	—	—

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	वर्ग का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
अनुभय वचनयोगी	१	३/१०५/३८८	असं.	३/१०८/३६९	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल/सं)^{२}		३/१०७/३८९	असं. उत० अव. से अपहृत
	२–१४	३/१०९/३९०	—	—	→ मनोयोगीवत् ←	—	—	—
काय योगी सामान्य	१	३/११०/३९५	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	२–१४	३/१११/३९५	—	—	→ मनोयोगीवत् ←	—	—	—
औदारिक काययोगी	१	३/११०/३९५	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	२–१४	३/१११/३९५	—	—	→ मनोयोगीवत् ←	—	—	—
औदारिक मिश्र ”	१	३/११२/३९६	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	२	३/११३/३९७	—	—	→ औदारिक मिश्र सामान्यवत् ←	—	—	—
	४,१३	३/११४/३९७	सं.					
	१३	टी/३९८	४०	[कपाट समुद्घातमें आरोहण करनेवाले = २० तथा अवरोहण करनेवाले = २०]				
वैक्रियक ”	१	३/११५/३९८	देव/सं.					
	२–४	३/११६/३९९	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
वैक्रियक मिश्र ”	१	३/११७/४००	देव/सं.					
	२,४	३/११८/४०१	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
आहारक ”	६	३/११९/४०१	५४					
” मिश्र ”	६	३/१२०/४०२	सं. (२७)					
कार्मण	१	३/१२१/४०२	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	२,४	३/१२२/४०३	—	—	→ ” ←	—	—	—
	१३	३/१२३/४०४	सं.					
		टी/४०४	६०—	[प्रतर समुद्घातमें २०, लोकपूरणमें २०, तथा उतरते हुए २०।]				
५. वेद मार्गणा		(गो. जी./मू. व टी./२७७-२८१/५९९-६०३)						
स्त्री वेदी	×	७/१०३/२६९	देवी + कुछ					
पुरुष वेदी	×	७/१०५/२८२	देव + कुछ					
नपुंसक वेदी	×	७/१०७/२८२	अनं.	७/१०९/२८३	अनं. लोक.		७/१०८/२८२	अनं-उत-अवसे अनपहृत
अपगत वेदी	×	७/१११/२८३	अनं.					

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	असं. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
स्त्री वेदी	१	$३\frac{१२४}{४१३}$	देवी + कुछ					
	२-५	$३\frac{१२५}{४१४}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	६-९	$३\frac{१२६}{४१५}$	सं.					
पुरुष वेदी	१	$३\frac{१२७}{४१६}$	देव + कुछ					
	२-९	$३\frac{१२८}{४१६}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
नपुंसक वेदी	१-५	$३\frac{१२९}{४१७}$	"					
	६-९	$३\frac{१३०}{४१८}$	सं.					
	८,९	टी/४१६	उप—५; क्षप—१०					
अपगत वेदी उप.	९-११	$३\frac{१३१}{४१९}$	१—५४ (विशेष दे. ओघ)				$३\frac{१३२}{४२०}$	सं.
" " क्षपक	९-१२	$३\frac{१३३}{४२०}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	१३	$३\frac{१३४}{४२०}$	—	—	→ " ←	—	—	—
	१४	$३\frac{१३३}{४२०}$	—	—	→ " ←	—	—	—
६. कषाय मार्गणा:—		(गो. जी./मू. व टी./२९६-२९८/६४०-६४४)						
चारों कषायवाले पृथक् पृथक्		$७\frac{११३}{२८४}$	अनं	$७\frac{११५}{२८४}$	अनं. लोक		$७\frac{११४}{२८४}$	अनं. उत्त. अव. से अनपहृत
अकषायी		$७\frac{११७}{२८५}$	अनं.					
चारों कषायी	१-५	$३\frac{१३५}{४२४}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	६-९	$३\frac{१३६}{४२८}$	सं.					
लोभ कषायी	१०	$३\frac{१३७}{४२९}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
अकषायी	११	$३\frac{१३८}{४३०}$	—	—	→ " ←	—	—	—
	१२	$३\frac{१३९}{४३०}$	—	—	→ " ←	—	—	—
	१३	$३\frac{१४०}{४३१}$	—	—	→ " ←	—	—	—
७. ज्ञान मार्गणा		(गो. जी./मू. व टी./४६१-४६३/८७२)						
मति अज्ञानी		$७\frac{११८}{२८५}$	नपुंसक वेदीवत्					

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	असं.का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
श्रुत अज्ञानी		$७\frac{१}{२}\frac{१}{८}\frac{८}{५}$	नपुंसक वेदीवत्					
विभंगज्ञानी		$७\frac{१}{२}\frac{२}{८}\frac{०}{६}$	देव + कुछ					
मति, श्रुत ज्ञानी		$७\frac{१}{२}\frac{२}{८}\frac{१}{६}$	पल्य/अस.				$७\frac{१}{२}\frac{२}{८}\frac{३}{७}$	(पल्य/अंतर्मु.) से अपहृत अंतर्मु.—आ/असं.
अवधिज्ञानी		,,	,,					
मनःपर्ययज्ञानी		$७\frac{१}{२}\frac{२}{८}\frac{५}{७}$	सं.					
केवलज्ञानी		$७\frac{१}{२}\frac{२}{८}\frac{७}{७}$	अनं.					
मति, श्रुत अज्ञानी	१–२	$३\frac{१}{४}\frac{४}{३}\frac{१}{६}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
विभंगज्ञानी	१	$३\frac{१}{४}\frac{४}{३}\frac{२}{७}$	देव + कुछ					
	२	$३\frac{१}{४}\frac{४}{३}\frac{३}{८}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
मति आदि तीन ज्ञानी	४–१२	$३\frac{१}{४}\frac{४}{३}\frac{४}{९}$	—	—	→ ,, ←	—	—	—
अवधिज्ञानी	६–१२	$३\frac{१}{४}\frac{४}{४}\frac{५}{९}$	सं.					
मनःपर्यय ज्ञानी	,,	$३\frac{१}{४}\frac{४}{४}\frac{६}{९}$	सं.					
केवलज्ञानी	१३–१४	$३\frac{१}{४}\frac{४}{४}\frac{७}{२}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
८. संयम मार्गणा		(गो. जी /मू. व टी./४८०–४८१/८८६)						
संयत सामान्य		$७\frac{१}{२}\frac{२}{८}\frac{६}{८}$	कोटि. पृ.					
सामायिकछेदो.		,,	,,					
परिहार शुद्धि		$७\frac{१}{२}\frac{३}{८}\frac{१}{८}$	सहस्र. पृ.					
सूक्ष्म साम्पराय		$७\frac{१}{२}\frac{३}{२}\frac{३}{८}$	शत. पृ.					

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	असं. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
यथाख्यात		$७\frac{१३५}{२८९}$	शतसहस्र पृ.					
संयतासंयत		$७\frac{१३७}{२८९}$	पल्य/असं.				$७\frac{१३८}{२८९}$	(पल्य/अन्तर्मु.) से अपहृत —अन्तर्मु. – आ/असं.
असंयत		$७\frac{१३६}{२९०}$	—	—	→ मति अज्ञानी वत ←	—		
संयत सामान्य	६-१४	$३\frac{१४८}{४४७}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
सामायिक-छेदोपस्थापक			—	—	→ ,, ←	—	—	—
उप० व क्षपक	६-९	$३\frac{१४६}{४४७}$	—	—	→ ,, ←	—	—	—
परिहार विशुद्धि	६-७	$३\frac{१५०}{४४९}$ टी./४४६	सं. ६६६७		[ध. ३/१,२,१५०/गा ७६/४१०]			
सूक्ष्म साम्पराय. उप. व क्षप	१०	$३\frac{१५१}{४४९}$ टी./४४६	— ८९७	—	→ ओघवत ← [ध. ३/१,२,१५१/७६/४५०]	—	—	—
यथाख्यात	११-१४	$३\frac{१५२}{४५०}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
संयतासंयत	५	$३\frac{१५३}{४५०}$	—	—	→ ,, ←	—	—	—
असंयत	१-४	$३\frac{१५४}{४५०}$	—	—	→ ,, ←	—	—	—
९. दर्शन मार्गणा		(गो. जी./मू.	व टी./४८७-४८८/८९१)					
चक्षुदर्शनी		$७\frac{१४१}{२९०}$	असं.	$७\frac{१४३}{२९१}$	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल)^{२}		$७\frac{१४२}{२९०}$	असं. उत. अव. से अपहृत
अचक्षुदर्शनी		$७\frac{१४४}{२९१}$	—	—	→ असंयतवत ←	—	—	—
अवधिदर्शनी		$७\frac{१४५}{२९१}$	—	—	→ अवधिज्ञानीवत् ←	—	—	—
केवल दर्शनी		$७\frac{१४६}{२९२}$	—	—	→ केवलज्ञानीवत् ←	—	—	—
चक्षुदर्शनी	१	$३\frac{१५४}{४८३}$	असं.	$३\frac{१५७}{४८३}$	ज. प्र. ÷ (सूच्यंगुल)^{२}		$३\frac{१५६}{४८३}$	असं. उत. अव. से अपहृत
,,	२-१२	$३\frac{१५८}{४८४}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
अचक्षु दर्शनी	१-१२	$३\frac{१५६}{४८५}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
अवधि दर्शनी	४-१२	$३\frac{१६०}{४८५}$	—	—	→ अवधिज्ञानीवत् ←	—	—	—
केवल दर्शनी	१३-१४	$३\frac{१६१}{४८६}$	—	—	→ केवलज्ञानीवत ←	—	—	—
१०. लेश्या मार्गणा		(गो. जी./मू. व टी./	५३७-५४२/९३२)					
कृष्ण नील कापोत		$७\frac{१४७}{२९२}$	—	—	→ असंयतवत ←	—	—	—

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	असं. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
तेजो लेश्या		७ $\frac{१४६}{२६२}$	देव + कुछ					
पद्म लेश्या		७ $\frac{१५१}{२४३}$	(संज्ञी-पंचे-तिर्य. योनि)/सं.	टी./२६३	ज. प्र. ÷ सं. प्रतरांगुल			
शुक्ल लेश्या		७ $\frac{१५३}{२४३}$	पल्य/असं.				७ $\frac{१५४}{२२४}$	(पल्य/अन्तर्मु.) से अपहृत —अन्तर्मु.=आ./असं.
कृ. नील. कापोत.	१-४	३ $\frac{११२}{४८२}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
तेजो लेश्या	१	३ $\frac{११३}{४६१}$	देव + कुछ					
	२-५	३ $\frac{११४}{४१२}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
	६-७	३ $\frac{११५}{४६२}$	सं.					
पद्म लेश्या	१	३ $\frac{१११}{४६२}$	(संज्ञी. पंचें. तिर्य. योनि.) ÷ सं.					
	२-५	३ $\frac{११७}{४६३}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
	६-७	३ $\frac{११८}{४६३}$	सं.					
शुक्ल लेश्या	१-५	३ $\frac{११९}{४६३}$	पल्य/असं.				३ $\frac{१६६}{४६३}$	पल्य/अन्तर्मु. से अपहृत —अन्तर्मु.=आ./असं.
	६-७	३ $\frac{१७०}{४६८}$	सं.					
	८-१३	३ $\frac{१७१}{४६८}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
११. भव्यत्व मार्गणा:—		(गो. जी./मू. व टी. /५६०/९८९)						
भव्य		७ $\frac{१७६}{२४४}$	अनं.	३ $\frac{१५८}{२६८}$	अनं. लोक		७ $\frac{१७७}{२१४}$	अनं. उत. अव. से अपहृत
अभव्य		७ $\frac{११०}{२६८}$	अनं.					
भव्य	१-१४	३ $\frac{१७२}{४७२}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
अभव्य	१	३ $\frac{१७३}{४७२}$	अनं.					
१२. सम्यक्त्व मार्गणा:—		(गो. जी./मू. व.टी./६५७-६५६/११०३)						
सम्यग्दृष्टि सा.		७ $\frac{१८२}{२६६}$	पल्य/असं.				७ $\frac{१६३}{२६६}$	पल्य/अन्तर्मु. से अपहृत —अन्तर्मु.=आ./असं.
तीनों सम्य (प्रत्येक)		,,	,,					
सासादन सम्य.		,,	,,					,,
सम्यग्मिथ्यादृष्टि		,,	,,					,,

मार्गणा	गुणस्थान	द्रव्यकी अपेक्षा		क्षेत्रकी अपेक्षा			कालकी अपेक्षा	
		ष. खं.	प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण	असं. का प्रमाण	ष. खं.	प्रमाण
मिथ्यादृष्टि	×	७ $\frac{११४}{२९६}$	—	—	→ असंयतवत ←	—	—	—
सम्यग्दृष्टि सा.	४-१४	३ $\frac{१७४}{४७४}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
क्षायिक सम्यग्दृष्टि	४	३ $\frac{१७५}{४७५}$	—	—	"	—	—	—
" " उपशामक	५-११	३ $\frac{१७६}{४७४}$	सं.					
" " क्षपक	८-१२	३ $\frac{१७७}{४७५}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
	१३	३ $\frac{१७८}{४७६}$	—	—	→ " ←	—	—	—
	१४	३ $\frac{१७७}{४७८}$	—	—	→ " ←	—	—	—
वेदक सम्यग्दृष्टि	४-७	३ $\frac{१७९}{४७६}$	—	—	→ " ←	—	—	—
उपशम सम्यग्दृष्टि	४-५	३ $\frac{१८०}{४७६}$	—	—	→ " ←	—	—	—
	६-११	३ $\frac{१८१}{४७७}$	सं.					
सासादन सम्यग्दृष्टि	२	३ $\frac{१८२}{४७७}$	—	—	→ ओघवत् ←	—	—	—
सम्यग्मिथ्यादृष्टि	३	३ $\frac{१८३}{४७७}$	—	—	→ " ←	—	—	—
मिथ्यादृष्टि	१	३ $\frac{१८४}{४७७}$	—	—	→ " ←	—	—	—
१३. संज्ञी मार्गणा:—		(गो. जी./मू. व टी./ ६६३/११०८)						
संज्ञी		७ $\frac{१११}{२९७}$	देव + कुछ					
असंज्ञी		७ $\frac{११७}{२९७}$	—	—	→ असंयतवत ←	—	—	—
संज्ञी	१	३ $\frac{१८५}{४८२}$	देव + कुछ					
	२-१२	३ $\frac{१८६}{४८२}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
असंज्ञी	१	३ $\frac{१८७}{४८२}$	"	३ $\frac{१८६}{४८३}$	अनं लोक		३ $\frac{१८८}{४८३}$	अनं. उत. अव. से अनपहृत
१४. आहार मार्गणा		(गो. जी./मू. व टी./ ६७१/१११४)						
आहारक		७ $\frac{११६}{२९८}$	अनं.	७ $\frac{१७१}{२९८}$	अनं. लोक			अनं. उत. अव. से अनपहृत
अनाहारक		"	"	"	"			"
आहारक	१-१३	३ $\frac{१९०}{४८३}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—
अनाहारक	१,२,४,१३,	३ $\frac{१९१}{४८४}$	—	—	→ कार्मण काययोगीवत ←	—	—	—
"	१४	३ $\frac{१९२}{४८५}$	—	—	→ ओघवत ←	—	—	—

४. जीवोंकी स्वस्थान भागाभागरूप आदेश प्ररूपणा

(ष. खं. ७/२,१०/सू. सं./पृष्ठ सं.); (ध. ३/१,२, सूत्र (दे. नीचे नोट)/पृष्ठ सं.)

नोट—संख्या विषयक आदेश प्ररूपणामें उस उस मार्गणा सम्बन्धी सूत्रोंमेंसे अन्तिम सूत्रोंकी टीकामें उस उस मार्गणा सम्बन्धी भागाभाग प्ररूपणा की गयी है।

मार्गणा	गु. स.	ष. खं./सू./पृ.	ध./पृ.	भागाभाग
१. गति मार्गणा				
१. नरक गति				
नारकी सा.		२/४९८		सर्व जीव ÷ अनं.
१–७ प्रत्येक पृ.		३/४९८		उपरोक्तवत्
प्रथम पृ.	१		२०७	नरक सा.का असं. बहु.
२–७ पृ.	१		२०८	उत्तरोत्तर असं. बहु.
प्रथम पृ.	४		〃	शेषका अस. बहु.
	३		〃	〃 〃 〃
	२		〃	〃 सं 〃
२–७ पृ.	४,३,२		〃	उत्तरोत्तर क्रमसे प्रथम पृथिवीवत्
२. तिर्यंच गति				
तिर्य. सा.		५/४९९		सर्व जीवका अनं. बहु.
पंचें. सा.		६/४९९		सर्व जीव ÷ अनं.
प., यो., अप.		〃		उपरोक्तवत्
एकें + विक.	१		२४०	तिर्य. सा.का अनं. बहु
पंचें. अप.	१		〃	शेषका सं. बहु.
पंचें. तिर्य. प.	१		〃	〃 〃 〃
〃 〃 योनि	१		〃	〃 असं. 〃
पंचें प. सा.	४		〃	〃 〃 〃
	३		〃	〃 सं 〃
	२		〃	〃 असं 〃
	५		〃	शेष एक भाग
३. मनुष्य गति				
मनु. सा.		७/४९९		सर्व जीव ÷ अनं.
〃 प.		〃		उपरोक्तवत्
मनुष्यनी		〃		〃
मनु. अप.		〃		〃
मनु. अप.	१		२६४	मनु. सा.का असं. बहु.
मनुष्यनी	१		〃	शेषका सं. बहु.
मनु. प.	१,४		〃	उत्तरोत्तर 〃 〃
	३,२		〃	〃 〃 〃
	६–७		〃	〃 〃 〃
	८–१४		〃	〃 〃 〃
४. देव गति				
देव सा.		९/४९९		सर्व जीव ÷ अनं.
भवन-सर्वार्थ.		१०/४९९		उपरोक्तवत्
ज्योतिष	१		२८६	देव सा.का असं. बहु.
व्यन्तर, भवन	१		〃	उत्तरोत्तर 〃 〃
सौधर्म युगल	१		〃	शेषका 〃 〃
सनत्-सहस्रार	१		〃	उत्तरोत्तर 〃 〃
सौधर्म युगल	४		〃	शेषका 〃 〃

मार्गणा	गु. स.	ष. खं./सू./पृ.	ध. पृ.	भागाभाग
सौधर्म युगल	३		२८६	शेषका सं. बहु.
〃 〃	२		〃	〃 〃 〃
सनत्-सहस्रार	४,३,२		〃	स्वर्ग क्रमसे उत्तरोत्तर प्रत्येक स्वर्गमें सौधर्म युगलवत्
ज्योतिषी ४,३,२	〃		〃	उत्तरोत्तर असं बहु.
व्यंतर ४,३,२	〃		〃	〃 〃 〃
भवनवासी ४,३,२	〃		〃	〃 〃 〃
{ आनत-उपरिम ग्रैवेयक	४		〃	〃 सं. 〃
आनत से. उपरिमग्रै.	१		२८७	〃 〃 〃
अनुदिश	४		〃	शेषका 〃 〃
विजय आदि चारों अनुत्तर	〃			〃 〃 〃
आनत से. उपरिम ग्रै.	३		〃	उत्तरोत्तर 〃 〃
〃	२		〃	〃 〃 〃
सर्वार्थ. सि.	४		〃	शेष एक भाग
२. इन्द्रिय मार्गणा				
एकें. सा.		१२/४९९		सर्व जीवके अनं. बहु.
बा. एकें. सा		१४/४९९		सर्व जीव ÷ असं.
〃 〃 प. अप		〃		〃
सू. 〃 सा.		१६/५००		〃
〃 〃 प.		१८/५०१		सर्व जीवके सं. बहु.
〃 〃 अप.		२०/५०१		सर्व जीव ÷ सं.
विकलें. सा.		२२/५०२		सर्वजीवके अनं. बहु.
〃 प. अप.		〃		〃
पंचें. सा.		〃		〃
〃 प. अप.		〃		〃
सू. एकें. प.	१		३१८	सर्व जीवके सं. बहु.
〃 〃 अप.	१		〃	शेषके अस. बहु. (असं = असं. लोक)
बा. 〃 अप.	१		〃	शेषके असं. बहु.
〃 〃 प.	१		〃	〃 अनं. 〃
अनिन्द्रिय			३१६	〃 〃 〃
त्रस राशि	१		〃	शेष (मध्य/असं.)

नोट—[त्रस राशिके असं बहुभागके चार समान खण्ड करके द्वीन्द्रियादि प्रत्येकको एक एक खण्ड दें। तहाँ समान भागोंकी सहमानी = 'क'; शेष भागकी सहमानी = 'ख'/'ख' राशिका उत्तरोत्तर असं. बहुभाग द्वीन्द्रिय आदिके पूर्वोक्त 'क' में जोड़ना। असं = आ/असं]

मार्गणा	गु. स.	ष. खं./	ध./पु.	भागाभाग
द्वी. सा.	१		३१९	क+ख का असं. बहु.
त्री. सा.	१		,,	क+शेषका ,, ,,
चतुरि. सा.	१		,,	क+ ,, ,, ,,
पंचें. सा.	१		,,	क+शेष एक भाग
द्वी. अप.	१		,,	द्वी. सा. के असं. बहु.
,, प.	१		,,	शेष. एक भाग
त्री. अप.	१		,,	त्री. सा. के असं. बहु.
त्री. प.	१		,,	शेष एक भाग
चतु. अप.	१		,,	चतु. सा. के असं. बहु.
,, प.	१		,,	शेष एक भाग
पंचें. अप.	१		,,	पंचें सा. के असं. बहु.
,, प.	१		,,	शेष एक भाग
पंचें. प.	४		३२०	पल्य/असं के असं. बहु
,, ,,	५–१४		,,	उत्तरोत्तर ,, ,,
३. काय मार्गणा				
पृथिवी. सा.		२४/५०२		सर्व जीव+अनं.
,, प. अप.		,,		,,
बा. पृ. सा. प. अप.		,,		,,
सू. ,, ,, ,,		,,		,,
६ प्रकार अप्		,,		,,
६ ,, तेज		,,		,,
वन. सा.		२१/५०३		सर्वजीवोंके अनं. बहु
बा. वन. सा.		२८/५०३		,, असं ,,
,, ,, प. अप.		,,		,, ,, ,,
बा. निगोद. सा.		,,		,, ,, ,,
,, ,, प. अप.		,,		,, ,, ,,
बा. वन. प्रत्येक सा.		२४/५०२		सर्व जीव+अनं.
,, ,, ,, प. अप.		,,		,,
सू. वन. सा.		३०/५०३		सर्वजीवोंके असं. बहु
,, ,, पर्याप्त		३२/५०४		,, ,, ,,
,, ,, अपर्याप्त		३४/५०४		,, सं ,,
,, निगोद सा.		३०/५०४		,, असं ,,
,, ,, पर्याप्त		३२/५०४		,, ,, ,,
,, ,, अपर्याप्त		३४/५०४		,, सं ,,
त्रस. सा.		२४/५०२		सर्व जीव+अनं
,, प. अपर्याप्त				,,
सू. निगोद पर्याप्त	१		३६१	सर्व जीवोंके सं. बहु
,, ,, अपर्याप्त	१		,,	शेषके असं. ,,
बा. ,, ,,	१		,,	,, ,, ,,
,, ,, पर्याप्त	१		,,	,, अनं. ,,
अकायिक	१		,,	,, ,, ,,
सू. पृ. आदि	१		,,	शेष–असं. लोक

नोट—[इन्द्रिय मार्गणावत् यहाँ भी इस सूक्ष्म राशिके असं. बहुभागके चार समान खण्ड करके सू. पृ. आदि चारोंको एक एक खण्ड देना। इन समान भागोंकी सहनानी—'क'; शेष भागकी सहनानी—'ख'। पुनः इस 'ख' राशिका उत्तरोत्तर असं. बहुभाग उन्हीं चारोंकी पृथक-पृथक् 'क' राशिमें मिलाना। असं—असं लोक]

मार्गणा	गु. स.	ष. खं./	ध./पु.	भागाभाग
सू. वायु सा.	१		३६१	क+ख का असं. बहु
,, अप. ,,	१		३६४	क+शेष ,, ,,
,, पृ. ,,	१		,,	क+ ,, ,, ,,
,, तेज ,,	१		,,	क+शेष एक भाग
सू. वायु. पर्याप्त	१		,,	सू. वायु सा. का असं. बहु
,, ,, अपर्याप्त	१		,,	शेष एक भाग
सू. अप. पर्याप्त	१		,,	सू अप-सा. का असं. बहु
,, ,, अपर्याप्त	१		,,	शेष एक भाग
सू. पृ. पर्याप्त	१		,,	सू. पृ. सा. का असं. बहु
,, ,, अपर्याप्त	१		,,	शेष एक भाग
सू. तेज पर्याप्त	१		,,	सू. तेज सा. का असं. बहु
,, ,, अपर्याप्त	१		,,	शेष एक भाग
बा. निगोद से अतिरिक्त बा. राशि	१		३६३	असं. लोक (पृथक् स्थापित)
बा. वायु अपर्याप्त	१		३६४	असं लोक प्रमाण बादर राशिका असं. बहु। असं.—असं. लोक
बा. अप् अपर्याप्त	१		३६४	शेषका असं. बहु
,, पृ. ,,	१		,,	,, ,, ,,
,, निगोद प्रतिष्ठित प्रत्येक वन अपर्याप्त	१		,,	,, ,, ,,
बा. वन प्रत्येक अप.	१		,,	,, ,, ,,
,, तेज अपर्याप्त	१		,,	,, ,, ,,
,, वायु पर्याप्त	१		,,	,, ,, ,,
,, अप् ,,	१		,,	,, ,, ,,
,, पृ. ,,	१		,,	,, ,, ,,
बा. प्रतिष्ठित प्रत्येक वन पर्याप्त	१		,,	,, ,, ,,
बा. वन प्रत्येक पर्याप्त	१		,,	,, ,, ,,
त्रस. अपर्याप्त	१		३६५	,, ,, ,,
,, पर्याप्त	१		,,	,, ,, ,,
,, ,,	४		,,	,, ,, ,,
,, ,,	३,२,५		,,	उत्तरोत्तर ,, ,,
बा. तेज पर्याप्त	१		,,	शेषके ,, ,,
त्रस पर्याप्त	६		,,	,, सं ,,
,, ,,	७–१४		,,	उत्तरोत्तर ,, ,,
४. योग मार्गणा				
पाँचों मनोयोगी		३१/५०७		सर्व जीव+अनं
पाँचों वचनयोगी		,,		,,
काययोगी सा.		३८/५०७		सर्वजीवके अनं. बहु
औदारिक काय		४०/५०८		,, सं ,,

मार्गणा	गुणस्था.	ष. खं.	ध. पु.	भागाभाग
औदारिक मिश्र		४२/६८		सर्वजीव + सं
वैक्रियक व मिश्र		३१/६७		„ + अनं
आहारक व „		„		„ „
कार्मण काय		४४/६८		सर्व जीव + असं
औदारिक काय	१		४०४	सर्व जीवोंके सं. बहु
„ मिश्र	१		„	शेष „ असं. „
कार्मण काय	१		„	„ „ अनं „
सिद्ध जीव			„	„ „ „ „
अनुभय वचन	१		„	„ „ असं „
वैक्रियक काय	१		४०४	शेषके सं. बहु
उभय वचन	१		„	„ असं. „
असत्य „	१		„	„ स. „
सत्य „	१		„	„ „ „
अनुभय मन	१		„	„ „ „
उभय „	१		„	„ „ „
असत्य „	१		„	„ „ „
सत्य „	१		„	„ „ „
वैक्रि. मिश्र	१		४०५	„ असं. „
वैक्रि. काय	४		„	„ सं „
अनुभय वचन	४		„	„ „ „
उभय „	४		„	„ „ „
असत्य „	४		„	„ „ „
सत्य „	४		„	„ „ „
उपरोक्त क्रमसे चार मनोयोगी	४		„	उत्तरोत्तर „ „
वैक्रि. काय	३		„	शेषके „ „
उपरोक्त क्रमसे चार वचनयोगी	३		„	उत्तरोत्तर „ „
उपरोक्त क्रमसे चार मनोयो.	३		४०६	„ „ „
वैक्रि. काय	२		„	शेषके „ „
उपरोक्त क्रमसे चार वचन	२		„	उत्तरोत्तर „ „
उपरोक्त क्रमसे चार मन	२		„	„ „ „
औदा. काय	४		„	शेषके असं. बहु.
„	३		„	„ सं. „
„	२		„	„ असं. „
„	५		„	„ सं. „
उपरोक्त क्रमसे चार वचन	५		„	उत्तरोत्तर „ „
उपरोक्त क्रमसे चार मन	५		„	„ „ „
वैक्रि. मिश्र	४		४०७	शेषके असं. बहु.
कार्मण काय	४		„	„ „ „
औदा. मिश्र	२		„	„ „ „
वैक्रि. मिश्र	२		„	„ „ „
कार्मण काय	२		„	„ „ „

मार्गणा	गुणस्था.	ष. खं.	ध. पु.	भागाभाग
उपरोक्त क्रमसे सर्व योग	६-७		„	ओघके आधार पर जान लेना
५. वेद मार्गणा—				
स्त्री, पुरुष व अपगत वेदी		४१/६८		सर्व जीव + अनं.
नपुंसक वेदी		४८/६९०		सर्व जीवोंके अनं. बहु.
नपुंसक „	१		४२१	„ „ „ „
अपगत „			„	शेषके „ „
स्त्री „	१		„	„ सं. „
पुरुष „	१		„	„ असं. „
तीनों वेदी	४		„	„ „ „
„	५-९		„	„ „ „ ओघवत
६. कषाय मार्गणा—				
क्रोधी मानी मायी		५०/६९०		सर्व जीव/४ से कुछ कम
लोभ कषायी		५२/६९०		सर्व जीव/४ से कुछ अधिक
अकषायी		५४/६९१		सर्व जीव ÷ अनं.
चारों कषायी	१		४३१	सर्व जीवके अनं. बहु.
(अकषायी +	२-१०)		„	शेष एक भाग

नोट—चारों कषायीकी मिथ्यादृष्टि सामान्य राशिके असं बहुभागके चार समान खण्ड करके एक एक खण्ड प्रत्येकको दीजिये। इस एक खण्डकी सहनानी—क / शेष असं.वें भागकी सहनानी—ख। इस शेष ख राशिके उपरोक्त असं. बहु. भागको चारोंकी क राशिमें मिलाना। असं—आ/असं.।

मार्गणा	गुणस्था.	ष. खं.	ध. पु.	भागाभाग
लोभ कषायी	१		४३२	क + खका असं. बहु.
माया „	१		„	क + शेषका „ „
क्रोध „	१		„	क + „ „ „
मान „	१		„	क + शेष एक भाग
अकषायी			„	उपरोक्त अकषायी + २-१० गुणस्थानकी सर्व राशिके अनं. बहु.
क्रमसे लोभ, माया, मान व क्रोध कषायी	४		„	उत्तरोत्तर सं. बहु.
„ „	३		„	„ „ „
„ „	२		४३३	„ „ „
चारों कषाय	५		„	शेषके असं. बहु.

नोट—उपरोक्त नोटकी भाँति यहाँ संयतासंयतकी अपेक्षा 'क' व 'ख' राशि जानना।

मार्गणा	गुणस्था.	ष. खं.	ध. पु.	भागाभाग
लोभ कषायी	५		४३३	क + खका असं. बहु.
माया „	५		„	क + शेषका „ „
क्रोध „	५		„	क + „ „ „
मान „	५		„	क + शेष एक भाग
उपरोक्त क्रमसे चारों	६-१०		„	संयतासंयतके क्रमसे यथा योग्य

मार्गणा	गुणस्था.	ष.खं.	ध./पु.	भागाभाग
७. ज्ञान मार्गणा—				
मति श्रुत अज्ञानी		५६/८६६		सर्वजीवोंके अनं. बहु.
विभंग ज्ञानी		५८/८६६		सर्व जीव ÷ अनं.
पाँचों ज्ञानोंमें-से प्रत्येक		,,		,,
मति श्रुत अज्ञानी	१		४४२	सर्व जीवोंके अनं. बहु.
केवलज्ञानी			,,	शेषके अस बहु.
विभंग	१		,,	,, ,, ,,
मति श्रुत ज्ञानी	४		,,	,, ,, ,,
अवधि ज्ञानी	४		,,	मतिश्रुत ज्ञानीके असं. बहु(असं) = $\frac{\text{आ.}}{\text{असं.}}$
मति श्रुत मिश्र	३		,,	शेषके सं. बहु.
मति श्रुत अवधि मिश्र	३		,,	मतिश्रुत मिश्रके असं. बहु(असं) = $\frac{\text{आ}}{\text{असं.}}$
मति श्रुत अज्ञानी	२		४४३	शेषके असं. बहु.
विभंग ज्ञानी	२		,,	मति श्रुत अज्ञानीके
मति श्रुत ज्ञानी	५		,,	असं. बहु(असं) = $\frac{\text{आ.}}{\text{अस.}}$
				शेषके असं बहु.
अवधिज्ञानी	५		,,	,, ,, ,,
दूसरे प्रकारसे—				
मति श्रुत अज्ञानी	१		,,	सर्व जीवोंके अनं. बहु.
केवलज्ञानी			,,	शेषके ,, ,,
विभंगज्ञानी	१		,,	,, असं. ,,
तीन ज्ञान वाले	४		,,	,, ,, ,,
,, ,, ,,	३		,,	,, सं. ,,
,, ,, ,,	२		,,	,, असं. ,,
दो ज्ञान वाले	४		,,	,, ,, ,,
,, ,, ,,	३		,,	,, सं. ,,
,, ,, ,,	२		,,	,, असं. ,,
,, ,, ,,	५		,,	,, ,, ,,
तीन ज्ञान वाले	५		,,	,, ,, ,,
मनःपर्यय सहित २,३,४ ज्ञानवाले	६-१२		,,	संयतासंयतके क्रम से यथायोग्य
८. संयम मार्गणा—				
संयत सा.		६०/८६२		सर्व जीव ÷ अनं.
पाँचों संयत		,,		,,
संयतासंयत		,,		,,
असंयत		६२/८६३		सर्वजीवोंके अनं. बहु.
असंयत	१		४५१	सर्वजीवोंके अनं. बहु.
सिद्ध			,,	शेषके अनं. बहु.
,,	४		,,	,, असं ,,
,,	३		,,	,, सं ,,
,,	२		,,	,, असं ,,
संयतासंयत	५		,,	,, ,, ,,

मार्गणा	गुणस्था.	ष.खं.	ध./पु.	भागाभाग
सामायिक व छेदोपस्थापना	६-९		४५१	शेषके सं. बहु.
यथाख्यात	११-१४		,,	,, ,, ,,
परिहार वि.	६-९		,,	,, ,, ,,
सूक्ष्मसाम्पराय	१०		,,	शेष एक भाग
९. दर्शन मार्गणा—				
चक्षुदर्शनी		६४/८६३		सर्व जीव ÷ अनं.
अवधि दर्शनी		,,		,,
केवल ,,		,,		,,
अचक्षु ,,		६६/८६३		सर्व जीवोंके अनं. बहु.
,, ,,	१		४५७	,, ,, ,, ,,
केवल ,,			,,	शेषके ,, ,,
चक्षु ,,	१		,,	,, असं. ,,
चक्षु अचक्षु दर्शनी	४		,,	,, ,, ,,
अवधि ,,	४		,,	चक्षु अचक्षुका असं. बहु.
चक्षु अचक्षु ,,	३		,,	शेषके सं. बहु.
,, ,,	२		,,	,, असं ,,
,, ,,	५		,,	,, ,, ,,
अवधि ,,	५		,,	,, ,, ,,
उपरोक्त तीन,,	६ १२		४५८	उपरोक्त संयतासंयत-वत यथायोग्य
१०. लेश्या मार्गणा—				
कृष्ण लेश्या		६८/८६४		$\frac{\text{सर्वजीव}}{३}$ से कुछ अधिक
नील, कापोत		७०/८६४		$\frac{\text{सर्वजीव}}{३}$ से कुछ कम
तेज, पद्म, शुक्ल +		७२/८६५		सर्व जीव ÷ अनं.
कृ. + नील + कापोत			४६६	सर्व जीवोंके अनं. बहु.
अलेश्य			,,	शेषके ,, ,,
तेजो लेश्या			,,	,, सं. ,,
पद्म ,,			,,	,, असं. ,,
शुक्ल ,,			,,	शेष एक भाग

नोट—उपरोक्त कृष्णादि तीन लेश्याके प्रमाणमें इन्द्रिय मार्गणावत 'क' व 'ख' राशि उत्पन्न करना। असं = आ/असं. विशेषता यह कि यहाँ चारकी बजाय तीन समान खंड करना।

मार्गणा	गुणस्था.	ष.खं.	ध./पु.	भागाभाग
कृ. लेश्या			४६६	क + खका असं. बहु.
नील ,,			,,	क + शेषका ,, ,,
कापोत ,,			,,	क + शेष एक भाग
कापोत ,,	१		,,	कापोत राशिका अनं. बहु
,, ,,	४			शेषका असं. बहु.
,, ,,	३		४६७	,, सं ,,
,, ,,	२		,,	शेषका एक भाग
नील ,,	१,४ ३,२			नील राशिमेंसे कापोतके क्रमवत
कृष्ण लेश्या	१,४, ३,२		,,	कृष्ण राशिमेंसे कापोतवत
तेज ,,	१		,,	तेज राशिका असं. बहु
,, ,,	४		,,	शेष ,, ,, ,,

मार्गणा	गुणस्थान	ष. खं.	ध./पु.	भागाभाग
तेज लेश्या	३		४६७	,, ,, सं. ,,
,, ,,	२		,,	,, ,, असं. ,,
,, ,,	५		,,	,, ,, ,, ,,
,, ,,	६–७		,,	शेष एक भाग
पद्म ,,	१–७		,,	पद्म लेश्या राशिमें से सर्व क्रम तेजो लेश्यावत्
शुक्ल ,,	४		,,	शुक्ल राशिका सं. बहु.
,, ,,	१		,,	शेषका असं. ,,
,, ,,	३		,,	,, सं. ,,
,, ,,	२		,,	,, असं. ,,
,, ,,	५		,,	,, ,, ,,
,, ,,	६–१२		,,	शेषका एक भाग
११. भव्यत्व मार्गणा—				
भव्य		७४/८५८		सर्व जीवोंके अनं. बहु.
अभव्य		७६/८१६		सर्व जीव + अनं.
भव्य	१		४७३	सर्व जीव + अनं
भव्य अभव्यसे अतीत			,,	शेषका अनं. बहु.
अभव्य	१		,,	,, ,, ,,
भव्य	४		,,	,, असं. ,,
,,	५–१४		,,	ओघ भागाभागवत्
१२. सम्यक्त्व मार्गणा—				
सम्यग्दृष्टि सा.		७८/५५६		सर्व जीव + अनं.
क्षायिक		,,		,,
वेदक		,,		,,
उपशम		,,		,,
सासादन		,,		,,
सम्यग्मिथ्यात्व		,,		,,
मिथ्यादृष्टि		८०/८५८		सर्व जीवोंके अनं. बहु.
,,	१		४७८	,, ,, ,, ,,
सिद्ध			,,	शेषका ,, ,,
वेदक	४		,,	,, असं. ,,
क्षायिक	४		,,	,, ,, ,,
उपशम	४		,,	,, ,, ,,
सम्यग्मिथ्यात्व	३		४७६	,, सं. ,,
सासादन	२		,,	,, असं. ,,
वेदक	५		,,	,, ,, ,,
उपशम	५			,, ,, ,,
क्षायिक	५			,, ,, ,,
तीनों सम्य.	६			शेषके सं. बहु.
,, ,,	७			,, ,, ,,
उपशम क्षायिक	८–१४			यथा योग्य
१३. संज्ञी मार्गणा				
संज्ञी		८२/८५७		सर्व जीव + अनं.
असंज्ञी		८४/८५८		सर्व जीवोंके अनं. बहु.

मार्गणा	गुणस्थान	ष. खं.	ध./पु.	भागाभाग
असंज्ञी			४८३	सर्वजीवोंके अनं. बहु.
संज्ञी असंज्ञी रहित			,,	शेषका ,, ,,
संज्ञी	१		,,	,, असं. ,,
,,	२–१४		,,	ओघ भागाभागवत्
१४. आहारक मार्गणा—				
आहारक		८६/८५८		सर्व जीवोंके असं. बहु.
अनाहारक		८८/८५९		सर्व जीव + असं.
आहारक	१		४०५	सर्व जीवोंके असं. बहु.
बन्ध मुक्त अनाहारक			,,	शेषका अनंत ,,
अबन्धक अनाहारक			,,	,, ,, ,,
आहारक	४		,,	,, असं ,,
,,	३		,,	,, सं. ,,
,,	२		,,	,, असं. ,,
,,	५		,,	,, ,, ,,
अनाहारक	४		,,	,, ,, ,,
,,	२		,,	,, ,, ,,
आहारक अनाहारक	६		,,	,, स ,,
	७–१३		,,	शेष एक भाग

५. चारों गतियोंकी अपेक्षा स्वपर स्थान भागाभाग

(ध. ३/१,२,७३/२६५-२६७)

मार्गणा	गुण स्थान	भागाभाग
एकेन्द्रिय + विकलेंद्रिय	१	सर्व जीवोंके अनं. बहु
सिद्ध जीव		शेष के ,, ,,
पचेन्द्रिय अपर्याप्त	१	,, ,, असं. ,,
,, ,,	१	,, ,, सं. ,,
ज्योतिषी देव	१	,, ,, ,, ,,
(व्यन्तर देव)	१	,, ,, असं. ,,
भवनवासी	१	,, ,, ,, ,,
प्रथम पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
सौधर्म ऐशान	१	,, ,, ,, ,,
द्वितीय पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
सनत्कुमार माहेन्द्र	१	,, ,, ,, ,,
तृतीय पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
ब्रह्म ब्रह्मोत्तर	१	,, ,, ,, ,,
चतुर्थ पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
लांतव कापिष्ठ	१	,, ,, ,, ,,
पंचम पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
शुक्र महाशुक्र	१	,, ,, ,, ,,
शतार सहस्रार	१	,, ,, ,, ,,
षष्ठम पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
सप्तम पृथिवी	१	,, ,, ,, ,,
सौधर्म ऐशान	४	,, ,, ,, ,,
,, ,,	३	,, ,, सं. ,,
,, ,,	२	,, ,, असं. ,,
{ सनत्कुमार युगलसे शतार	४	उत्तरोत्तर सौधर्म युगलवत
{ युगल तक प्रत्येक युगलमें	३	
	२	,,
ज्योतिषी	४,३,२	,,
व्यन्तर	,,	,,
भवनवासी	,,	,,
तिर्यंच सामान्य	,,	,,
सातों पृथिवियोंमेंसे प्रत्येक पृ.	,,	,,
आनत-प्राणत	१	शेषके सं. बहु भाग
आरण-अच्युत	१	,, ,, ,, ,,
१-६ ग्रैवेयक	१	उत्तरोत्तर ,, ,,
नव अनुदिश	४	शेषके ,, ,,
विजय आदि चार अनुत्तर	४	,, ,, असं. ,,
आनत-प्राणत	३	,, ,, सं. ,,
आरण अच्युत	३	शेष॰ ं. बहु ,,
१-६ ग्रैवेयक	३	उत्तरोत्तर ,, ,,
आनत-प्राणत	२	शेषका ,, ,,
आरण-अच्युत	२	,, ,, ,, ,,
१-८ ग्रैवेयक	२	उत्तरोत्तर ,, ,,
नवां ग्रैवेयक	२	शेषका असं. ,,
सर्वार्थसिद्धि	४	,, ,, सं. ,,
मनुष्य पर्याप्त	१	,, ,, ,, ,,
,, ,,	५	,, ,, ,, ,,
मनुष्य पर्याप्त	३	शेषका सं. युगलवत्
,, ,,	२	,, ,, ,, ,,
,, ,,	४	,, ,, ,, ,,
,, ,,	६	,, ,, ,, ,,
,, ,,	७	,, ,, ,, ,,
सयोगकेवली	१३	,, ,, ,, ,,
चारों क्षपक	८-१२	,, ,, ,, ,,
चारों उपशामक	८-११	,, ,, ,, ,,
अयोगकेवली		शेष एक भाग

६. एक समयमें विवक्षित स्थानमें प्रवेश व निर्गमन करनेवाले जीवोंका प्रमाण

(ध. ६/४,१,६६/२७७-२७८)

मार्गणा	ध./पृ.	संख्या
१. सञ्चयकी अपेक्षा		
मनुष्य अपर्याप्त	२७७	१,२ या अधिक
वैक्रियक मिश्र	,,	,,
आहारक द्विक	,,	,,
सूक्ष्मसाम्परायिक	,,	,,
उपशम सम्यग्दृष्टि	,,	,,
सासादन सम्यग्दृष्टि	,,	,,
सम्यग्मिथ्यादृष्टि	,,	,,
प्रमत्त संयत	३, संख्या/३/२	५९३९८२०६
अप्रमत्त संयत		प्रमत्तसे आधे २९९ या
चारों उपशामक		३०० या ३०४
चारों क्षपक		उपशामकों से दुगुन
सयोग केवली		८९८५०२
अयोग केवली		क्षपकों वत.
२. प्रवेशकी अपेक्षा		
सर्व नारकी	२७८	१,२ या अधिक
सर्व तिर्यंच	,,	,,
सर्व देव	,,	,,
मनुष्य सा.	,,	,,
मनुष्य पर्याप्त	२७८	१,२ या अधिक
मनुष्यणी	,,	,,
एकेन्द्रिय	,,	,,
सब विकलेन्द्रिय	,,	,,
सब पंचेन्द्रिय	,,	,,
बा. पृथिवी कायिक	,,	,,
बा. जलकायिक	,,	,,

मार्गणा	ध./पृ.	संख्या
बा. तेजकायिक	२७८	१,२ या अधिक
बा. वायुकायिक	"	"
बा. वन. प्रत्येक प.	"	"
त्रस सामान्य	"	"
त्रस पर्याप्त	"	"
त्रस अपर्याप्त	"	"
पाँचों मनोयोगी	"	"
पाँचों वचनयोगी	"	"
काय योगी सा.	"	"
वैक्रियक काय यो.	"	"
स्त्री वेदी	"	"
पुरुषवेदी	"	"
नपुंसक वेदी	"	"
अपगत वेदी	"	"
अकषायी	"	"
आठों ज्ञान	"	"
सूक्ष्म सम्पराय बिना ४ संयम	"	"
संयमासंयम	"	"
संयम सा.	"	"
चक्षु दर्शनी	"	"
अवधि दर्शनी	"	"
केवल दर्शनी	"	"
तेज पद्म शुक्ल लेश्या	"	"
सम्यग्दृष्टि सा.	"	"
क्षायिक, वेदक सम्यग्दृष्टि	"	"
मिथ्यादृष्टि	"	"
संज्ञी, असंज्ञी	"	"
शेष सर्व स्थान	२७९	१,२ के प्रवेशका अभाव है। अधिकका ही होता है।
चारों उपशामक	(३. संख्या/३/२)	प्रथम समयमें १-१६ द्वि. " " १-२४ तृ. " " १-३० चतु. " " १-३६ पंचम " " १-४२ षष्ठ " " १-४८ सप्तम " " १-५४
चारों क्षपक सयोगी, अयोगी	(३. संख्या/३/२)	उपशामकोंसे दूने क्षपक वत्

मार्गणा	ध./पृ.	संख्या
१. चरम समयमें अवस्थानकी अपेक्षा		
भव्य सिद्धिक	२८०	१,२ या अधिक
अचक्षु दर्शनी	"	"
इन दो स्थानोंके अतिरिक्त उपशीर्षक नं. २ में कथित सर्व स्थान	"	१,२ नहीं होते। २ से अधिक नहीं

७ अन्य विषयों सम्बन्धी संख्या व भागाभाग सूची

संकेत—भागा.=भागाभाग; (ध./पृ./पंक्ति)

	विषय	संख्या या भागा	प्रमाण
१	ज. उ. योगस्थानमें अवस्थित जीव	संख्यात भागा.	ध. १०/६१/१३ ध. १०/६५/१
२	१४ जीव समासोंमें पृथक् पृथक् योग स्थान	संख्यात	ष. खं. १०/ सू. १८७/४८०
३	उत्कृष्टादि क्षेत्रोंके स्वामी	" भागा.	ध. ११/३२/४ ध. ११/३२/१६
४	अधः कर्म आदि कर्मोंके स्वामी	संख्यात	ध. ३/१३/६३-६८
५	उत्कृष्टादि अवगाहना	भागा.	ध. ११/२७/१६
६	वर्गणाओंमें परमाणु	संख्यात भागा.	ध. १४/१५४-१६० ध. १४/१६०-१६३
७	पंच शरीर योग्य जघन्य व उत्कृष्ट पुद्गल स्कन्ध का संघातन परिशातन	संख्यात	ध. ९/३५८-३६४
८	पंच शरीरों सम्बन्धी २,३,४ शरीरोंका स्वामित्व	"	ष. खं. १४/सू. २४९-२५३/ ३३६)
९	पंच शरीरोंके प्रवेश	"	ष. खं. १४/सू. २४२-२४४/ ३३०
१०	पंच शरीरोंके एक समय प्रबद्ध प्रवेश	"	ष. खं. १४/सू. २४९-२५३/ ३३६-३३९
११	स्थितिबन्ध अध्यवसाय स्थान	"	ध. ११/३४६-३५२
१२	अष्टकर्म बद्धप्रदेश	"	ध. १२/१०४-११०
१३	अनुभाग बन्ध अध्यवसाय स्थानकी यवमध्य	"	ध. १२/२०२-२०५
१४	उपरोक्त स्थानोंके स्वामी	"	ष. खं. १२/सू. २६९-२७१/ १४२
१५	कर्म बन्धकी समय प्रबद्धार्थता व क्षेत्र प्रयास	भागा.	ष. खं. १२/अ. ६/सू. १२१/ ५०१-५०८

८ कर्म बन्धकोंकी अपेक्षा संख्या व भागाभाग सूची

(म. बं./पुस्तक सं./पृ. सं.) । संकेत—भागा—भागाभाग

मूल या उत्तर प्रकृति	संख्या या भागाभाग	सामान्य	जघन्य उत्कृष्ट स्थान	भुजगारादि पद	संख्यात भागादि वृद्धि
१ अष्ट कर्म प्रकृति बन्धक जीव—					
उत्तर	भागा.	१/२०४-२४१/१४१			
	संख्या	१/२४७-२८०/१७६			
२ अष्टकर्म अनुभाग बन्धक जीव—					
मूल	भागा.		२/१४१-१४७/८८-६१	२/३०२-३०८/१५६	२/३८६/११६
	संख्या		२/१४८-१६०/६१-६५	२/३०२-३०८/१५६	२/३८७/११६-११७
उत्तर	भागा.		३/४४६-४५१/२०४	३/७६८-७६६/३६३	३/६१६-६१८/४४६
	संख्या		३/४५२-४७०/२०६	३/७७०-७७१/३६४	३/६१८-६२८/४४८
३ अष्टकर्म अनुभाग बन्धक जीव—					
मूल	भागा.		४/१८६-१८६/८१	४/२८६/१३२	४/३६८/१६४
	संख्या		४/१६०-२०२/८३	४/२८७/१३३	४/३६६/१६६
उत्तर	भागा.		५/३१४/१२६	५/४६८/२७८	५/६१८/३६३
	संख्या		५/३१६-३३७/१३१	५/४६६-५०६/२७६	५/६१६/३६४
४ अष्टकर्म प्रदेशबन्धक जीव—					
मूल	भागा.			६/१२७/६६	
	संख्या			६/१२८-१३०/६७	
उत्तर	भागा.	६/१६५-१६७/८७	६/५७०-५७१/३५४		
	संख्या		६/५७२-५६२/३५६		

९ मोहनीय कर्म सत्त्वकी अपेक्षा संख्या व भागाभाग सूची

(क. पा./पुस्तक सं./§ सं./पृ. सं.) । संकेत—भागा—भागाभाग।

मूल या उत्तर प्रकृति	संख्या या भागाभाग	सत्त्वासत्त्व	जघन्य उत्कृष्ट स्थान	भुजगारादि बन्ध	असंख्यात भाग आदि वृद्धि
१ प्रकृति सत्त्वकी अपेक्षा—					
मूल	भागा.	२/६७-६६/४७			
	संख्या	२/७०-७६/४६-५३			
उत्तर	भागा.	२/१६०/१६७/१५१	२/३५०-३५३/३१६	२/४५०-४५२/४०६	२/५०८-५११/४५६
	संख्या	२/१६८-१७४/१५७	२/३५४-३५६/३१६	२/४४६-४४६/४०४	२/५१२/५१४/४६१
कषाय	भागा.	१/३७८-३७६/३६२			
	संख्या	१/३८०-३८२/३६६			
२ स्थिति सत्त्वकी अपेक्षा—					
मूल	भागा.		३/६८-१०१/५८	३/१६८-१६६/११३	३/२६५-२६८/१६४
	संख्या		३/१०४-१११/६१	३/२००-२०२/११४	३/२६६-३०५/१६६
उत्तर	भागा.		३/५६६/६०३/३५४	४/१०४-१०८/५५	४/३६५-३६७/२२७
	संख्या		३/६०४-६१५/३५८	४/१०६-११३/५७	४/३६८-३७३/२२८
३ अनुभाग सत्त्वकी अपेक्षा—					
मूल	भागा.	हतहत समुत्पात्तक स्थान	५/८८-६२/५६	५/१५२/१०१	५/१७६/१२०
	संख्या	५/१८७/१२७	५/६३-६७/५६	५/१५३-१५७/१०२	५/१८०/१२१
उत्तर	भागा.		५/३४५-३५०/२२०	५/४६०-४६२/२८८	५/६४७-५४६/३१८
	संख्या		५/३५१-३५६/२२४	५/४६३-४६५/२८६	५/५५०-५५२/३२०

संख्यात—दे. संख्या।

संख्यातुल्य घात—Raising of number to its own Power. (ध. ५/प्र. २८)

संख्या व्यभिचार—दे. नय./III/६/८।

संगति—मनपर संगतिका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक होनेके कारण मोक्षमार्गमें भी साधुओंके लिए दुर्जनों, स्त्रियों व आर्यिकाओं आदिके संसर्गका कड़ा निषेध किया गया है और गुणाधिककी संगतिमें रहनेकी अनुमति दी है।

१. संगतिका प्रभाव

भ. आ./मू./३४३ जो जारिसीय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चेव। वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसंगेण।३४३। —जैसे छुरी सुवर्णादिककी जिल्हई देनेसे सुवर्णादि स्वरूपकी दीखती है वैसे मनुष्य भी जिसकी मित्रता करेगा वैसा ही अर्थात दुष्टके सहवाससे दुष्ट और सज्जनके सहवाससे सज्जन होगा।३४३।

२. दुर्जनकी संगतिका निषेध

भ. आ./मू./३४४-३४८ दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सज्जणो वि। सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण।३४४। सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंमेलणाए दोसेण। माला वि मोल्लगरुया होदि लहू मडयसंसिट्ठा।३४५। दुज्जणसंसग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण। पाणागारे दुद्धं पियंतओ बंभणो चेव।३४६। अदिसंजदो वि दुज्जणकएण दोसेण पाउणइ दोसं। जह घूगकए दोसे हंसो य हओ अपावो वि।३४८। —सज्जन मनुष्य भी दुर्जनके संगसे अपना उज्ज्वल गुण छोड़ देता है। अग्निके सहवाससे ठण्डा भी जल अपना ठण्डापना छोड़कर क्या गरम नहीं हो जाता? अर्थात् हो जाता है।३४४। दुर्जनके दोषोंका संसर्ग करनेसे सज्जन भी नीच होता है, बहुत कीमतकी पुष्पमाला भी प्रेतके (शवके) संसर्गसे कौड़ीकी कीमतकी होती है।३४५। दुर्जनके संसर्गसे दोष रहित भी मुनि लोकोंके द्वारा दोषयुक्त गिना जाता है। मदिरागृहमें जाकर कोई ब्राह्मण दूध पीवे तो भी मद्यपी है ऐसा लोक मानते हैं।३४६। महान् तपस्वी भी दुर्जनोंके दोषसे अनर्थमें पड़ते हैं अर्थात् दोष तो दुर्जन करता है परन्तु फल सज्जनको भोगना पड़ता है। जैसे उल्लूके दोषसे निष्पाप हंस पक्षी मारा गया।३४८।

३. लौकिकजनोंकी संगतिका निषेध

प्र. सा./मू./२६८ णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि। लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि। —जिसने सूत्रोंके पदोंको और अर्थोंको निश्चित किया है, जिसने कषायोंका शमन किया है और जो अधिक तपवान् है ऐसा जीव भी यदि लौकिकजनोंके संसर्गको नहीं छोड़ता, तो वह संयत नहीं है।२६८।

र. सा./मू./४२ लोइयजणसंगादो होइ मइमुहरकुडिलदुब्भावो। लोइयसंग तहमा जोइ वि तिविहेण मुंचाओ।४२। —लौकिक मनुष्योंकी संगतिसे मनुष्य अधिक बोलनेवाले वक्रड कुटिल परिणाम और दुष्ट भावोंसे अत्यन्त क्रूर हो जाते हैं इसलिए लौकिकजनोंकी संगतिको मन-वचन-कायसे छोड़ देना चाहिए।

स. श. मू./७२ जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः। भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्।७२। —लोगोंके संसर्गसे वचनकी प्रवृत्ति होती है। उससे मनकी व्यग्रता होती है, तथा चित्तकी चंचलतासे चित्तमें नाना विकल्प होते हैं। इसलिए योगी लौकिकजनोंके संसर्गका त्याग करे।

भ. आ./वि./६०६/८०७/१५ उपवेशनं अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु निषद्या कस्तत्र दोष इति चेत् ब्रह्मचर्यस्य विनाशः स्त्रीभिः सह संवासात्।...भोजनार्थिनां च विघ्नः। कथमिव यतिसमीपे भुजिक्रियां संपादयामः।...किमर्थमयमत्र ब्राह्मणां मध्ये निषण्णो यतिर्भुक्त्वे न यातीति। —आहारके लिए श्रावकके घरपर जाकर वहाँ बैठना यह भी अयोग्य है। स्त्रियोंके साथ सहवास होनेसे ब्रह्मचर्यका विनाश होता है। जो भोजन करना चाहते हैं उनको विघ्न उपस्थित होता है, मुनिके सन्निधिमें आहार लेनेमें उनको संकोच होता है..."ये यति स्त्रियोंके बीचमें क्यों बैठते हैं, यहाँसे क्यों अपने स्थानपर जाते नहीं?" घरके लोग ऐसा कहते हैं।

पं. ध./उ./६५५ सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम्। कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः।६५५। —आचार्य असंयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्ध, भाषण, प्रेम-व्यवहार, करे कोई ऐसा कहते हैं, परन्तु वह आचार्य न तो आचार्य है और न अर्हत्का अनुयायी ही।६५५।

४. तरुणजनोंकी संगतिका निषेध

भ. आ./मू./१०७२-१०८४ खोभेदि पत्थरो जह दहे पडंतो पसण्णमवि पंकं। खोभेइ तहा मोहं पसण्णमवि तरुणसंसग्गी।१०७२। संडयसंसग्गीए जह पादुं संडओऽभिलसदि सुरं। विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोट्ठीए।१०७८। जादो खु चारुदत्तो गोट्ठीदोसेण तह विणीदो वि। गणियासत्तो मज्जासत्तो कुलदूसओ य तहा।१०८२। परिहरइ तरुणगोट्ठी विसं व वुड्ढासले य आयदणे। जो वसइ कुणइ गुरुणिद्देसं सो णिच्छरइ बंभं।१०८४। —जैसे बड़ा पत्थर सरोवरमें डालनेसे उसका निर्मल पानी उछलकर मलिन बनता है वैसा तरुण संसर्ग मनके अच्छे विचारोंको मलिन बनाता है।१०७२। जैसे मद्यपीके सहवाससे मद्यका प्राशन न करनेवाले मनुष्यको भी उसके पानकी अभिलाषा उत्पन्न होती है वैसे तरुणोंके संगसे वृद्ध मनुष्य भी विषयोंकी अभिलाषा करता है।१०७८। ज्ञानी भी चारुदत्त कुसंसर्गसे गणिकामें आसक्त हुआ, तदनन्तर उसने मद्यमें आसक्ति कर अपने कुलको दूषित किया।१०८२। जो मनुष्य तरुणोंका संग विष तुल्य समझकर छोड़ता है, जहाँ वृद्ध रहते हैं, ऐसे स्थानमें रहता है, गुरुकी आज्ञाका अनुसरण करता है वही मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन करता है।

★ **सल्लेखनामें संगतिका महत्त्व**—दे. सल्लेखना/५

५. सत्संगतिका माहात्म्य

भ. आ./मू./३५०-३५३ जहदि य णिययं दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयरगुणेण। जह मेरुमल्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि।३५०। कुसममगंधमवि जहा देवयसेसत्ति करिदे सीसे। तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ।३५१। संविग्गाणं मज्झे अप्पियधम्मो वि कायरो वि णरो। उज्जमदि करणचरणे भावणभयमाणलज्जाहि।३५२। संविग्गोवि य संविग्गदरो संवेगमज्झारम्मि। होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुरभिदव्वसंजोए।३५३। —दुर्जन मनुष्य सज्जनोंके सहवाससे पूर्व दोषोंको छोड़कर गुणोंसे युक्त होता है, जैसे—कौआ मेरुका आश्रय लेनेसे अपनी स्वाभाविक मलिन कान्तिको छोड़कर सुवर्ण कान्तिका आश्रय लेता है।३५०। निर्गन्ध भी पुष्प यह देवताकी शेषा है—प्रसाद है ऐसा समझकर लोक अपने मस्तकपर धारण करते हैं वैसे सज्जनोंमें रहनेवाला दुर्जन भी पूजा जाता है।३५१। जो मुनि संसारभीरु मनुष्योंके पास रहकर भी धर्मप्रिय नहीं होते हैं। तो भी भावना, भय, मान और लज्जाके वश पाप क्रियाओंको वे त्यागते हैं।३५२। जो प्रथम ही संसारभीरु हैं वे संसारभीरुके सहवाससे अधिक संसार भीरु होते हैं। स्वभावतः गन्धयुक्त कस्तूरी, चन्दन वगैरह पदार्थोंके सहवाससे कृत्रिम गन्ध पूर्वसे भी अधिक सुगन्धयुक्त होता है।३५३।

भ. आ./मू./१०७३-१०८३ कलुसीकदंपि उदयं अच्छं जह होइ कदयजोएण। कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु वुड्ढसेवाए।१०७३।

तरुणो वि बुड्ढसीलो होदि णरो बुड्ढसंसिओ अचिरा । लज्जासंकामाणावमाण भयधम्म बुद्धीहिं ।१०७६। तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हाविज्जदि णरस्स बुड्ढेहिं । पण्हाविज्जइ पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ।१०८३। —जैसे मलिन जल भी कतक फलके संयोगसे स्वच्छ होता है वैसा कलुष मोह भी शील वृद्धोंके संसर्गसे शान्त होता है ।१०७३। वृद्धोंके संसर्गसे तरुण मनुष्य भी शीघ्र ही शील गुणोंकी वृद्धि होनेसे शीलवृद्ध बनता है। लज्जासे, भीतिसे, अभिमानसे, अपमानके डरसे और धर्म बुद्धिसे तरुण मनुष्य भी वृद्ध बनता है ।१०७६। जैसे बछड़ेके स्पर्शसे गौके स्तनोंमें दुग्ध उत्पन्न होता है वैसे ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध और तपोवृद्धोंके सहवाससे तरुणके मनमें भी वैराग्य उत्पन्न होता है ।१०८३।

कुरल/४६/५ मनसः कर्मणश्चापि शुद्धेर्मूलं सुसंगतिः । तद्विशुद्धौ यतः सत्यां सद्बुद्धिर्जायते तयो ।५। —मनकी पवित्रता और कर्मोंकी पवित्रता आदमीको संगतिकी पवित्रतापर निर्भर है ।५।

ज्ञा./१५/१६-३१ वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चारित्रादिसंपदः । भवत्यपि च निर्लेपं मनः क्रोधादिकश्मलम् ।१६। मिथ्यात्वादि नगोत्तुङ्गशृङ्गभङ्गाय कल्पितः । विवेकः साधुसङ्गोत्थो वज्रादप्यजयो नृणाम् ।२४। एकैव महतां सेवा स्याज्जेत्री भुवनत्रये । ययैव यमिनामुच्चैरन्तर्ज्योतिर्विजृम्भते ।२७। दृष्ट्वा श्रुत्वा यमी योगिपुण्यानुष्ठानमूर्जितम् । आक्रामति निरातङ्कं पदवीं तैरुपासिताम् ।२८। —वृद्धोंकी सेवा करने वाले पुरुषोंके ही चारित्र आदि सम्पदा होती हैं और क्रोधादि कषायोंसे मैला मन निर्लेप हो जाता है ।१६। सत्पुरुषोंकी संगतिसे उत्पन्न हुआ मनुष्योंका विवेक मिथ्यात्वादि पर्वतोंके ऊँचे शिखरोंको खण्ड-खण्ड करनेके लिए वज्रसे अधिक अजेय है ।२४। इस त्रिभुवनमें सत्पुरुषोंकी सेवा ही एकमात्र जयनशील है। इससे मुनियोंके अन्तरमें ज्ञानरूप ज्योतिका प्रकाश विस्तृत होता है ।२७। संयमी मुनि महापुरुषोंके महापवित्र आचरणके अनुष्ठानको देखकर या सुनकर उन योगीश्वरोंकी सेवी हुई पदवीको निरुपद्रव प्राप्त करता है।

अन. ध./४/१०० कुशीलोऽपि सुशील: स्यात् सद्गोष्ठ्या मारिदत्तवत् । —कुशील भी सद्गोष्ठीसे सुशील हो जाता है, मारिदत्तकी भाँति।

६. गुणाधिकका ही संग श्रेष्ठ है

प्र. सा./मू./२७० तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं । अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ।२७०। —(लौकिक जनके संगसे संयत भी असंयत होता है।) इसलिए यदि श्रमण दुखसे परिमुक्त होना चाहता हो तो वह समान गुणों वाले श्रमणके अथवा अधिक गुणों वाले श्रमणके संगमें निवास करो ।२७०।

७. स्त्रियों आदिकी संगतिका निषेध

भ.आ./मू./३३४/५४४ सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सया अवीसत्थो । णित्थरदि बंभचेरं तव्विवरीदो ण णित्थरदि ।३३४। —सम्पूर्ण स्त्रीमात्रमें मुनिको विश्वास रहित होना चाहिए, प्रमाद रहित होना चाहिए, तभी आजन्म ब्रह्मचर्य पालन कर सकेगा, अन्यथा ब्रह्मचर्यको नहीं निभा सकेगा।

भ. आ./मू./१०९२-११०२ संसग्गीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लद्धपसरस्स । अग्गिसमीवे लक्खेव मणो लहुमेव वियलाइ ।१०९२। संसग्गीसम्मूढो मेहुणसहिदो मणो हु दुम्मेरो । पुव्वावरमगणंतो लंघेज सुसीलपायारं ।१०९३। मादं सुदं च भगिणीमेगंते अल्लियंतगस्स मणो । खुब्भइ णरस्स सहसा किं पुण सेसासु महिलासु ।१०९५। जो महिलासंसग्गी विसं व दट्ठूण परिहरइ णिच्चं । णित्थरइ बंभचेरं जावज्जीवं अकंपो सो ।११०२। —स्त्रीके साथ सहगमन करना, एकासनपर बैठना, इन कार्योंसे अल्प धैर्य वाले और स्वच्छन्दसे बोलना-हँसना वगैरह करने वाले पुरुषका मन अग्निके समीप लाखकी भाँति पिघल जाता है ।१०९२। जो सहवाससे मनुष्यका मन मोहित होता है, मैथुनकी तीव्र इच्छा होती है, कारण-कार्यका विचार न कर शील तट उल्लंघन करनेको उतारू हो जाता है ।१०९३। माता, अपनी लड़की और बहन इनका भी एकान्तमें आश्रय पाकर मनुष्यका मन क्षुब्ध होता है, अन्यका तो कहना ही क्या ।१०९५। जो पुरुष स्त्रीका संसर्ग विषके समान समझकर उसका नित्य त्याग करता है वही महात्मा यावज्जीवन ब्रह्मचर्यमें दृढ़ रहता है ।११०२।

मू. आ./१७९ तरुणो तरुणीए सह कहा व सल्लावणं च जदि कुज्जा । आणाकोवादीया पंचवि दोसा कदा तेण ।१७९। —युवावस्था वाला मुनि जवान स्त्रीके साथ कथा व हास्यादि मिश्रित वार्तालाप करे तो उसने आज्ञाकोप आदि पाँचों ही दोष किये जानना।

बो. पा./मू./५७ पसुमहिलासंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ··· पव्वज्जा एरिसा भणिया ।५७। —जिस प्रव्रज्यामें पशु, महिला, नपुंसक और कुशील पुरुषका संग नहीं है तथा विकथा न करे ऐसी प्रव्रज्या कही है ।५७।

लिं. पा./मू./१७ रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेइ । दंसण णाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।१७। —जो लिंग धारण कर स्त्रियोंके समूहके प्रति राग करता है, निर्दोषीको दूषण लगाता है, सो मुनि दर्शन व ज्ञान कर रहित तिर्यंच योनिया पशुसम है।

८. आर्यिकाकी संगतिका निषेध

भ.आ./मू./३३१-३३६ थेरस्स वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाणभूदस्स । अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि ।३३१। जदि वि सयं थिरबुद्धी तहा वि संसग्गिलद्धपसराए । अग्गिसमीवे व घदं विलेज्ज चित्तं खु अज्जाए ।३३३। खेलपडिदमप्पाणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं । अज्जाणुचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं ।३३६। —मुनि, वृद्ध, तपस्वी, बहुश्रुत और जनमान्य होने पर भी यदि आर्यिकाका सहवास करेगा तो वह लोगोंकी निन्दाका स्थान बनेगा ही ।३३१। मुनि यद्यपि स्थिर बुद्धिका धारक होगा तो भी मुनिके सहवाससे जिसका चित्त चंचल हुआ है ऐसी आर्यिकाका मन अग्निके समीप घी जैसा पिघल जाता है ।३३३। जैसे मनुष्यके कफमें पड़ी मक्खी उससे निकलनेमें असमर्थ होती है वैसे आर्यिकाके साथ परिचय किया मुनि छुटकारा नहीं पा सकता ।३३६।

मू. आ./१७७-१८५ अज्जागमणे काले ण अत्थिदव्वं तहेव एक्केण । ताहि पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण ।१७७। तासिं पुण पुच्छाओ एक्कस्से णय कहेज्ज एक्को दु । गणिणीं पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं ।१७८। णो कप्पदि विरदाणं विरदीमुवासयम्हि चिट्ठेदुं । तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झाहारभिक्खवोसरणे ।१८०। कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सलिंगं वा । अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ।१८५। —आर्यिका आदि स्त्रियोंके आनेके समय मुनिको वनमें अकेला नहीं रहना चाहिए और उनके साथ धर्म कार्यादि प्रयोजनके बिना बोले नहीं ।१७७। उन आर्यिकाओंमेंसे यदि एक आर्यिका कुछ पूछे तो निन्दाके भयसे अकेला न रहे। यदि प्रधान आर्यिका अगाड़ी करके कुछ पूछे तो कह देना चाहिए ।१७८। संयमी मुनिको आर्यिकाओंकी वस्तिकामें ठहरना, बैठना, सोना, स्वाध्याय करना, आहार व भिक्षा ग्रहण करना तथा प्रतिक्रमण व मलका त्याग करना आदि क्रिया नहीं करनी चाहिए ।१८०। कन्या, विधवा, रानी वा विलासिनी, स्वेच्छाचारिणी तथा दीक्षा धारण करने वाली, ऐसी स्त्रियोंके साथ क्षणमात्र भी वार्तालाप करता मुनि लोक निन्दाको पाता है ।१८५।

९. आर्यिकाको साधुसे सात हाथ दूर रहनेका नियम

मू. आ./१९५ पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य। परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति।१९५। –आर्यिकाएँ साधुसे पाँच हाथ दूरसे, उपाध्यायको छह हाथ दूरसे और साधुओंको सात हाथ दूरसे गौ आसनसे बैठकर नमस्कार करती हैं।१९५।

१. कथंचित् एकान्तमें आर्यिकाकी संगति

प. पु./१०६/२२५–२२८ ग्रामो मण्डलिको नाम तमायातः सुदर्शनः। मुनिमुद्यानमायातं वन्दित्वा तं गता जनाः।२२५। सुदर्शनां स्थितां तत्र स्वसारं सद्व्रतो मुवद्। ईक्षितो वेदवत्याऽसौ तया श्रमणया तया।२२६। सतो ग्रामीणलोकाय सम्यग्दर्शनतत्परा। जगाद पश्यतेदृक्षं श्रमणं ब्रूथ सुन्दरम्।२२७। मया सुयोषिता साकं स्थितो रहसि वीक्षितः। ततः कैश्चित् प्रतीतं तत्र तु कैश्चिद्विचक्षणैः।२२८। –उस ग्राममें एक सुदर्शन नामक मुनि आये। वन्दना कर जब सब लोग चले गये तब उनके पास एक सुदर्शना नामकी आर्यिका जो कि मुनिकी बहन थी बैठी रही और मुनि उसे सद्वचन कहते रहे। अपने आपको सम्यग्दृष्टि बताने वाली वेदवती (सीताके पूर्व भवकी पर्याय) ने गाँवके लोगोंसे कहा कि मैंने उन साधुओंको एकान्तमें सुन्दर स्त्रीके साथ बैठे देखा है।

★ पार्श्वस्थादि मुनि संग निषेध—दे० साधु/५।

११. मित्रता सम्बन्धी विचार

१. मित्रतामें परीक्षाका स्थान

कुरल/८०/१,३,१० अपरीक्ष्यैव मैत्री चेत क. प्रमादो ह्यतः परः। भद्राः प्रीतिं विधायातौ न ता मुञ्चन्ति कर्हिचित्।१। कथं शीलं कुलं किं कः संबन्धः का च योग्यता। इति सर्वं विचार्यैव कर्तव्यो मित्रसंग्रहः।३। विशुद्धहृदयैरार्यैः सह मैत्रीं विधेहि वै। उपयाचितदानेन मुञ्चस्वानार्यमित्रताम्।१०। –इससे बढ़कर अप्रिय बात और कोई नहीं है कि बिना परीक्षा किये किसीके साथ मित्रता कर ली जाय, क्योंकि एक बार मित्रता हो जाने पर सहृदय पुरुष फिर छोड़ नहीं सकता।१। जिस मनुष्यको तुम अपना मित्र बनाना चाहते हो उसके कुलका, उसके गुण-दोषोंका, किन-किनके साथ उसका सम्बन्ध है, इन सब बातोंका विचार कर, पश्चात् यदि वह योग्य हो तो मित्र बना लो।३। पवित्र लोगोंके साथ बड़े चावसे मित्रता करो, लेकिन जो अयोग्य हैं उनका साथ छोड़ दो, इसके लिए चाहे तुम्हें कुछ भी देना पड़े।१०।

२. मित्रतामें विचार स्वतन्त्रताका स्थान

कुरल/८१/२,४ सत्यरूपात् तयोर्मैत्री वर्तते विज्ञसंमता। स्वाश्रितौ यत्र पक्षौ द्वौ भवतो नापि बाधकः।२। प्रगाढमित्रयोरेकः किमप्यनुमतिं विना। कुरुते चेद् द्वितीयोऽपि सख्यमाध्याय हृष्यति।४। –सच्ची मित्रता वही है जिसमें मित्र आपसमें स्वतन्त्र रहें और एक-दूसरेपर दबाव न डालें। विज्ञजन ऐसी मित्रताका कभी विरोध नहीं करते।२। जब कि जिन दो व्यक्तियोंमें प्रगाढ़ मैत्री है उनमेंसे एक दूसरेकी अनुमतिके बिना ही कोई काम कर लेता है तो दूसरा मित्र आपसके प्रेमका ध्यान करके उससे प्रसन्न ही होगा।४।

३. अयोग्य मित्रकी अपेक्षा अकेला रहना ही अच्छा है

कुरल/८२/४ पलायते यथा युद्धात् पातयित्वारमश्वकम्। कुरस्यसम्प्रित्तथा मायी का सिद्धिस्तस्य सख्यतः।४। –कुछ आदमी उस अक्खड़ घोड़ेकी तरह होते हैं कि जो युद्धक्षेत्रमें अपने सवारको गिराकर भाग जाता है। ऐसे लोगोंसे मैत्री रखनेसे तो अकेला रहना ही हजारगुना अच्छा है।४।

संज्ञा—क्षुद्र प्राणीसे लेकर मनुष्य व देव तक सभी संसारी जीवोंमें आहार, भय, मैथुन व परिग्रह इन चारके प्रति जो तृष्णा पायी जाती है उसे संज्ञा कहते हैं। निचली भूमिओंमें ये व्यक्त होती हैं और ऊपरकी भूमिकाओंमें अव्यक्त।

१. संज्ञा सामान्यका लक्षण

१. नामके अर्थमें

स. सि./२/२४/१८१/१० संज्ञा नामेत्युच्यते। –संज्ञाका अर्थ नाम है। (रा. वा./२/२४/१/१३६/१३)।

२. ज्ञानके अर्थमें

दे. मतिज्ञान/१ मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता ये सब सम्यग्ज्ञानकी संज्ञाएँ हैं।

स. सि./१/१३/१०६/५ संज्ञानं संज्ञा। –'संज्ञानं संज्ञा' यह इनकी व्युत्पत्ति है।

गो. जी./मू./६६० णो इंदियआवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा। – –नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमको या तज्जन्य ज्ञानको संज्ञा कहते हैं।

३. इच्छाके अर्थमें

स. सि./२/२४/१८२/१ आहारादिविषयाभिलाषः संज्ञेति। –आहारादि विषयोंकी अभिलाषाको संज्ञा कहा जाता है। (रा. वा./२/२४/७/१३६/१७)।

पं. सं./प्रा./१/५१ इह जाहि बाहिया वि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं। सेवंता वि य उभए…।५१। –जिनसे बाधित होकर जीव इस लोकमें दारुण दुःखको पाते हैं, और जिनको सेवन करनेसे जीव दोनों ही भवोंमें दारुण दुःखको प्राप्त करते हैं उन्हें संज्ञा कहते हैं। (पं. सं./सं./१/३४४); (गो. जी./मू./१३४)।

गो. जी./जी. प्र./२/२१/१० आगमप्रसिद्धा वाञ्छा संज्ञा अभिलाष इति। –आगममें प्रसिद्ध वाञ्छा संज्ञा अभिलाषा ये एकार्थवाची हैं। (गो. जी./जी. प्र./१३४/३४७/१६)।

२. संज्ञाके भेद

ध. २/१,१/४१३/२ सण्णा चउव्विहा आहार-भय-मेहुणपरिग्गहसण्णा चेदि।—खीणसण्णा वि अत्थि (पृ. ४१९/१)। –संज्ञा चार प्रकारकी है; आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। क्षीणसंज्ञावाले भी होते हैं। (ध. २/१,१/४१९/१); (नि. सा./ता. वृ./६६); (गो. जी./जी. प्र./१३४/३४७)।

३. आहारादि संज्ञाओंके लक्षण

गो. जी./जी. प्र./१३५-१३८/३४८ ३५१ आहारे-विशिष्टान्नादौ संज्ञा—वाञ्छा आहारसंज्ञा (१३५-३४८) भयेन उत्पन्ना पलायनेच्छा भयसंज्ञा (१३६/३४९) मैथुने-मिथुनकर्मणि सुरतव्यापाररूपे संज्ञा—वाञ्छा मैथुनसंज्ञा (१३७/३५०) परिग्रहसंज्ञा—तदर्जनादि वाञ्छा जायते। (१३८/३५१) –विशिष्ट अन्नादिमें संज्ञा अर्थात् वाञ्छाका होना सो आहारसंज्ञा है। (१३५/३४८) अत्यन्त भयसे उत्पन्न जो भागकर छिप जाने आदिकी इच्छा सो भयसंज्ञा है। मैथुनरूप क्रियामें जो वाञ्छा उसको मैथुनसंज्ञा कहते हैं। धन-धान्यादिके अर्जन करने रूप जो वाञ्छा सो परिग्रहसंज्ञा जानना।

ध. २/१,१/४१९/३ एदासिं चउण्हं सण्णाणं अभावो खीणसण्णा णाम। –इन चारों संज्ञाओंके अभावको क्षीणसंज्ञा कहते हैं।

४. आहारादि संज्ञाओंके कारण

पं. सं./प्रा./१/५२-५५ आहारदंसणेण य तस्सुवओगेण ऊणकुट्ठेण। सादिदरुदीरणाए होदि हु आहारसण्णा हु।५२। अइ भीमदंसणेण य तस्सुवओगेण ऊणसत्तेण। भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चउहिं।५३। पणिदरसभोयणेण य तस्सुवओगेण कुसीलसेवणाए। वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं।५४। उवयरणदंसणेण य तस्सुवओगेण मुच्छियाए य। लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायते सण्णा।५५। – बहिरंगमें आहारके देखनेसे, उसके उपयोगसे और उदररूप कोठेके खाली होनेपर तथा अन्तरंगमें असाता वेदनीयकी उदीरणा होनेपर आहारसंज्ञा उत्पन्न होती है।५२। बहिरंग अति भीमदर्शनसे, उसके उपयोगसे, शक्तिकी हीनता होनेपर, अन्तरंगमें भयकर्मकी उदीरणा होनेपर भयसंज्ञा उत्पन्न होती है।५३। बहिरंगमें गरिष्ठ, स्वादिष्ट, और रसयुक्त भोजन करनेसे, पूर्व-भुक्त विषयोंका ध्यान करनेसे, कुशीलका सेवन करनेसे तथा अन्तरंगमें वेदकर्मकी उदीरणा होनेपर मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है।५४। बहिरंगमें भोगोपभोगके साधनभूत उपकरणोंके देखनेसे, उनका उपयोग करनेसे, उनमें मूर्च्छाभाव रखनेसे तथा अन्तरंगमें लोभकर्मकी उदीरणा होनेपर परिग्रहसंज्ञा उत्पन्न होती है।५५। (गो. जी./मू./१३५-१३८); (पं. सं./सं./१/३४८-३५२)।

५. संज्ञा व संज्ञीमें अन्तर

स. सि./२/२४/१८१/८ ननु च संज्ञिन इत्यनेनैव गतार्थत्वात्समनस्का इति विशेषणमनर्थकम्। यतो मनोव्यापारहिताहितप्राप्तिपरिहारपरीक्षा। संज्ञापि सैवेति। नैतद्युक्तम्, संज्ञाशब्दार्थव्यभिचारात्। संज्ञा नामेत्युच्यते। तद्वन्तः संज्ञिन इति सर्वेषामतिप्रसङ्गः। संज्ञा ज्ञानमिति चेत्, सर्वेषां प्राणिनां ज्ञानात्मकत्वादतिप्रसङ्गः। आहारादिविषयाभिलाषः संज्ञेति चेत्। तुल्यं तस्मात्समनस्का इत्युच्यते। – प्रश्न—सूत्रमें 'संज्ञिन' इतना पद देनेसे ही काम चल जाता है, अतः 'समनस्काः' यह विशेषण देना निष्फल है, क्योंकि हितकी प्राप्ति और अहितके त्यागकी परीक्षा करनेमें मनका व्यापार होता है यही संज्ञा है? उत्तर—यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि संज्ञा शब्दके अर्थमें व्यभिचार पाया जाता है। संज्ञाका अर्थ नाम है। यदि नाम वाले जीव संज्ञी माने जायें तो सभी जीवोंको संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। संज्ञाका अर्थ यदि ज्ञान मान लिया जाता है तो भी सभी प्राणी ज्ञान स्वभावी होनेसे सबको संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि आहारादि विषयोंकी अभिलाषाको संज्ञा कहा जाता है तो भी पहलेके समान दोष प्राप्त होता है। चूँकि यह दोष प्राप्त न हो अतः सूत्रमें 'समनस्काः' यह पद रखा है। (रा. वा./२/२४/७/१३६/१७)।

६. वेद व मैथुन संज्ञामें अन्तर

ध. २/१,१/४१३/२ मैथुनसंज्ञा वेदस्यान्तर्भवतीति चेन्न, वेदत्रयोदयसामान्यनिबन्धनमैथुनसंज्ञाया वेदोदयविशेषलक्षणवेदस्य चैकत्वानुपपत्तेः। – प्रश्न—मैथुन संज्ञाका वेदमें अन्तर्भाव हो जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि तीनों वेदोंके उदय सामान्यके निमित्तसे उत्पन्न हुई मैथुन संज्ञा और वेदके उदय विशेष स्वरूप वेद, इन दोनोंमें एकत्व नहीं बन सकता है।

७. लोभ व परिग्रह संज्ञामें अन्तर

ध. २/१,१/४१३/४ परिग्रहसंज्ञापि न लोभेनैकत्वमास्कन्दति; लोभोदयसामान्यस्यालीढबाह्यार्थलोभतः परिग्रहसंज्ञामादधानतो भेदात्। – परिग्रह संज्ञा भी लोभ कषायके साथ एकत्वको प्राप्त नहीं होती है; क्योंकि बाह्य पदार्थोंको विषय करनेवाला होनेके कारण परिग्रह संज्ञाको धारण करनेवाले लोभसे लोभकषायके उदयरूप सामान्य लोभका भेद है। (अर्थात् बाह्य पदार्थोंके निमित्तसे जो लोभ विशेष होता है उसे परिग्रह संज्ञा कहते हैं।) और लोभ कषायके उदयसे उत्पन्न परिणामोंको लोभ कहते हैं।

८. संज्ञाओंका स्वामित्व

गो. जी./जी. प्र./७०२/११३६/६ मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तान्त…आहारादि चतस्रः संज्ञा भवन्ति। षष्ठगुणस्थाने आहारसंज्ञा व्युच्छिन्ना। शेषास्तिस्रः अप्रमत्तादिषु…अपूर्वकरणा – तत्र भयसंज्ञा व्युच्छिन्ना। अनिवृत्तिकरणप्रथमसवेदभागान्तं…मैथुनपरिग्रहसंज्ञे स्तः। तत्र मैथुनसंज्ञा व्युच्छिन्ना। सूक्ष्मसाम्पराये परिग्रहसंज्ञा व्युच्छिन्ना। उपरि उपशान्तादिषु कार्यरहिता अपि संज्ञा न सन्ति कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात्। – मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर प्रमत्त पर्यन्त चारों संज्ञाएँ होती हैं। षष्ठ गुणस्थानमें आहार संज्ञाका व्युच्छेद हो जाता है। अपूर्वकरण पर्यन्त शेष तीन संज्ञा हैं तहाँ भय संज्ञाका विच्छेद हो जाता है। अनिवृत्तिकरणके सवेद भाग पर्यन्त मैथुन और परिग्रह दो संज्ञाएँ हैं। तहाँ मैथुनका विच्छेद हो गया। तब सूक्ष्म साम्परायमें एक परिग्रहसंज्ञा रह जाती है, उसका भी वहाँ विच्छेद हो गया। तब ऊपरके उपशान्त आदि गुणस्थानमें कारणके अभावमें कार्यका अभाव होता है, अतः वह कार्य रहित भी संज्ञा नहीं है।

९. अप्रमत्तादि गुणस्थानोंमें संज्ञा उपचारसे है

ध. २/१,१/४१३,४३३/६,३ यदि चतस्रोऽपि संज्ञा आलीढबाह्यार्थाः, अप्रमत्तानां संज्ञाभावः स्यादिति चेन्न, तत्रोपचारतस्तत्सत्त्वाभ्युपगमात्।४१३/६। (कारणभूद-कम्मोदय-संभवादो उवयारेण भयमेहुण-परिग्गहसण्णा अत्थि (४३३/३)। – प्रश्न—यदि ये चारों ही संज्ञाएँ बाह्य पदार्थोंके संसर्गसे उत्पन्न होती हैं तो अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवोंके संज्ञाओंका अभाव हो जाना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि अप्रमत्तोंमें उपचारसे उन संज्ञाओंका सद्भाव स्वीकार किया गया है। भय आदि संज्ञाओंके कारणभूत कर्मोंका उदय संभव है इसलिए उपचारसे भय और मैथुन संज्ञाएँ हैं।

गो. जी./मू./७०२ छट्ठोत्ति पढमसण्णा सकज्ज सेसा य कारणावेक्खा। – मिथ्यात्वसे लेकर अप्रमत्त पर्यन्त चारों ही संज्ञाएँ कार्यरूप होती हैं। किन्तु ऊपरके गुणस्थानोंमें तीन आदिक संज्ञाएँ कारणरूप होती हैं। (गो. क./मू./१३६)।

१०. संज्ञा कर्मके उदयसे नहीं उदीरणासे होती है

ध. २/१,१/४३३/२ असादावेदणीयस्स उदीरणाभावादो आहारसण्णा अप्पमत्तसंजदस्स णत्थि। – असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणाका अभाव होनेसे अप्रमत्त संयतके आहार संज्ञा नहीं है।

दे. संज्ञा/४ चारों संज्ञाओंके स्वस्व कर्मकी उदीरणा होनेपर वह वह संज्ञा उत्पन्न होती है।

* **संज्ञाके स्वामित्व सम्बन्धी गुणस्थान आदि २० प्ररूपणाएँ।** —दे. सत्।
* **संज्ञा प्ररूपणाका कषाय मार्गणामें अन्तर्भाव।** —दे. मार्गणा।

संज्ञासंज्ञ — क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष। अपरनाम सन्नासन्न—दे. गणित/I/१।

संज्ञी — मनके सद्भावके कारण जिन जीवोंमें शिक्षा ग्रहण करने व विशेष प्रकारसे विचार, तर्क आदि करनेकी शक्ति है वे संज्ञी कहलाते हैं। यद्यपि चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओंमें भी इष्ट पदार्थकी प्राप्ति के प्रति गमन और अनिष्ट पदार्थोंसे हटनेकी बुद्धि देखी जाती है पर उपरोक्त लक्षणके अभावमें वे संज्ञी नहीं कहे जा सकते।

१. संज्ञी-असंज्ञी सामान्यका लक्षण

१. शिक्षा आदि ग्राहीके अर्थमें

पं. सं./प्रा./१/१७३ सिक्खाकिरिओवएसा आलावगाही मणोवलंबेण। जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीओ असण्णी य ।१७३। –जो जीव मनके अवलम्बनसे शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते हैं, जो इससे विपरीत है उसको असंज्ञी कहते हैं। (ध. १/१.१.४/गा. ९७/१५२); (त. सा./२/९३); (गो. जी./मू./६६१); (पं. सं./सं.१/३१६)।

रा. वा./९/७/११/६०४/१७ शिक्षाक्रियालापग्राही संज्ञी, तद्विपरीतोऽसंज्ञी। –जो जीव शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है सो संज्ञी और उससे विपरीत असंज्ञी है। (ध. १/१.१.४/१५२/४); (ध. ७/२.१.३/७/७); (पं. का./ता. वृ./११७/१८०/१३)।

२. मन सहितके अर्थमें

त. सू./२/२४ संज्ञिनः समनस्काः ।२४। –मनवाले जीव संज्ञी होते हैं। (ध. १/१.१.३५/२५९/६)।

पं. सं./प्रा./१/१७४-१७५ मीमंसइ जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च। सिक्खइ णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीओ ।१७४। एवं कए मए पुण एवं होदि त्ति कज्ज णिप्पत्ती। जो दु विचारइ जीवो सो सण्णि असण्णि इयरो य ।१७५। –जो जीव किसी कार्यको करनेसे पूर्व कर्तव्य और अकर्तव्यकी मीमांसा करे, तत्त्व और अतत्त्वका विचार करे, योग्यको सीखे और उसके नामको पुकारनेपर आवे सो समनस्क है उससे विपरीत अमनस्क है। (गो. जी./मू./६६२) जो जीव ऐसा विचार करता है कि मेरे इस प्रकार कार्यके करनेपर कार्यकी निष्पत्ति होगी, वह संज्ञी है और इससे विपरीत असंज्ञी है।

रा. वा./२/६/५/१०९/१३ हिताहितपरीक्षां प्रत्यसामर्थ्यं असंज्ञित्वम्। –हिताहित परीक्षाके प्रति असामर्थ्य होना सो असंज्ञित्व है।

ध. १/१.१.४/१५२/३ सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी। –जो भली प्रकार जानता है उसको संज्ञ अर्थात् मन कहते हैं, वह मन जिसके पाया जाता है उसको संज्ञी कहते हैं।

गो. जी./मू./६६० णोइंदिय आवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा। सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदियअवबोहो। –नोइन्द्रिय कर्मके क्षयोपशमसे तज्जन्य ज्ञानको संज्ञा कहते हैं वह जिसको हो उसको संज्ञी कहते हैं और जिनके यह संज्ञा न हो किन्तु केवल यथासम्भव इन्द्रिय ज्ञान हो उसको असंज्ञी कहते हैं।

पं. का./ता. वृ./११७/१८०/१५ नोइन्द्रियावरणस्यापि क्षयोपशमलाभात्संज्ञिनो भवन्ति। –नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे जीव संज्ञी होते हैं।

द्र. सं./टी./१२/३०/१ समस्तशुभाशुभविकल्पातीतपरमात्मद्रव्यविलक्षणं नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते, तेन सह ये वर्तन्ते ते समनस्काः संज्ञिनः, तद्विपरीता अमनस्का असंज्ञिनः ज्ञातव्याः। –समस्त शुभाशुभ विकल्पोंसे रहित परमात्मरूप द्रव्य उससे विलक्षण अनेक तरहके विकल्पजाल रूप मन है, उस मनसे सहित जीवको संज्ञी कहते हैं। तथा मनसे शून्य अमनस्क अर्थात् असंज्ञी है।

२. संज्ञी मार्गणाके भेद

ष. खं. १/१.१/सू. १७२/४०८ सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी ।१७२। [णेव सण्णि णेव असण्णिणो वि अत्थि ध./२]। –संज्ञी मार्गणाके अनुवादसे संज्ञी और असंज्ञी जीव होते हैं।१७२। संज्ञी तथा असंज्ञी विकल्प रहित स्थान भी होता है। (रा. वा./९/७/११/६०४/१८); (ध. २/१.१/४१६/११); (द्र. सं./टी./१३/४०/३)।

३. संज्ञी मार्गणाका स्वामित्व

१. गति आदिकी अपेक्षा

पं. का./मू./१११ मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ।१११। –मन परिणामसे रहित एकेन्द्रिय जीव जानने।

रा. वा./२/११/३/१२५/२७ एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियेषु च केषांचित् मनोविषयविशेषव्यवहाराभावात् अमनस्क। –एक, दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय जीवोंमें कोई जीव मनके विषयभूत विशेष व्यापारके अभावसे अमनस्क हैं।

द्र. सं. टी./१२/३०/४ संज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्च एव, नारकमनुष्यदेवाः संज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव।...पञ्चेन्द्रियात्सकाशात् परे सर्वे द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः।...बादरसूक्ष्मा एकेन्द्रियास्तेऽपि...असंज्ञिन एव। –पञ्चेन्द्रिय जीव संज्ञी तथा असंज्ञी दोनों होते हैं, ऐसे संज्ञी तथा असंज्ञी ये दोनों पंचेन्द्रिय। तिर्यंच ही होते हैं। नारकी मनुष्य और देव संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। पंचेन्द्रियसे भिन्न अन्य सब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय जीव मन रहित असंज्ञी होते हैं। बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय हैं वे भी...असंज्ञी हैं।

गो. जी./जी. प्र./६९७/११३३/८ जीवसमासौ संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ द्वौ। तु-पुनः असंज्ञिजीवः स्थावरकायाद्यसंज्ञ्यन्तं मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने एव स्यान्नियमेन तत्र जीवसमासा द्वादशसंज्ञिनो द्वयाभावात्। –संज्ञीमार्गणामें पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं। असंज्ञी जीव स्थावरकायसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त होते हैं। इनमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान तथा जीवसमास संज्ञी सम्बन्धी पर्याप्त और इन दोको छोड़कर शेष बारह होते हैं।

२. गुणस्थान व सम्यक्त्वकी अपेक्षा

ष. खं. १/१.१/सू. १७३/४०८ सण्णी मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ।१७३। –संज्ञी जीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय, वीतराग, छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं।

ति. प./५/२९९ तेत्तीसभेदसंजुदतिरिक्खजीवाण सव्वकालम्मि। मिच्छत्तगुणट्ठाणं वोच्छं सण्णीण तं माणं ।२९९। –संज्ञी जीवोंको छोड़कर शेष तेतीस प्रकारके भेदोंसे युक्त तिर्यंचोंके (दे. जीवसमास) सर्व कालमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है।

गो. जी./मू./६९७ सण्णी सण्णिप्पहुदी खीणकसाओत्ति होदि णियमेण। –संज्ञी जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त होते हैं।

दे. संज्ञी/३/१ में गो. जी. असंज्ञी जीवोंमें नियमसे एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

गो. क./जी. प्र./५५१/७५३/४ सासादनरुचौ...असंज्ञिसंज्ञितिर्यङ्मनुष्येषु...। –सासादनसम्यक्त्वमें...संज्ञी असंज्ञी तिर्यंच व मनुष्योंमें...।

४. एकेन्द्रियादिकमें मनके अभाव संबंधी शंका समाधान

रा. वा./५/१९/३०-३१/४७२/२६ यदि मनोऽन्तरेण इन्द्रियाणां वेदनावगमो न स्यात् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च वेदनावगमो न स्यात् ।३०।...पृथगुपकारानुपलम्भात् तदभाव इति चेद्; न; गुणदोषविचारादिदर्शनात् ।३१। ...अतोऽस्त्यन्तःकरणं मनः। –यदि मनके बिना इन्द्रियोंमें स्वयं सुख-दुःखानुभव न हो तो एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंको दुःखका अनुभव नहीं होना चाहिए। प्रश्न—मनका (इन्द्रियोंसे) पृथक् उपकारका अभाव होनेसे मनका भी अभाव है? उत्तर—नहीं, गुण-दोष विचार आदि मनके स्वतन्त्र कार्य हैं इसलिए मनका स्वतन्त्र अस्तित्व है।

ध. १/१.१.७३/३१४/४ विकलेन्द्रियेषु मनसोऽभावः कुतोऽवसीयत इति चेदार्षात्। कथमार्षस्य प्रामाण्यमिति चेत्स्वाभाव्यात्प्रत्यक्षस्येव।

—प्रश्न—विकलेन्द्रियोंमें मनका अभाव है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है। उत्तर—आगम प्रमाणसे जाना जाता है। और आगम प्रत्यक्षकी भाँति स्वभावसे प्रमाण है।

पं. का./ता. वृ./११७/१८०/१६ क्षयोपशमविकल्परूपं हि मनो भण्यते तत्तेषामप्यस्तीति कथमसंज्ञिनः। परिहारमाह। यथा पिपीलिकाया गन्धविषये जातिस्वभावेनैवाहारादिसंज्ञारूपं पटुत्वमस्ति न चान्यत्र कार्यकारणव्याप्तिज्ञानविषये अन्येषामप्यसंज्ञिनां तथैव। —प्रश्न—क्षयोपशमके विकल्परूप मन होता है। वह एकेन्द्रियादिके भी होता है, फिर वे असंज्ञी कैसे हैं। उत्तर—इसका परिहार करते हैं। जिस प्रकार चींटी आदि गन्धके विषयमें जाति स्वभावसे ही आहारादि रूप संज्ञामें चतुर होती है, परन्तु अन्यत्र कारणकार्य व्याप्तिरूप ज्ञानके विषयमें चतुर नहीं होती, इसी प्रकार अन्य भी असंज्ञी जीवोंके जानना।

५. मनके अभावमें श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति कैसे

ध. १/१,१,३५/२६१/१ अथ स्यादर्थालोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः संप्रवर्तमानं रूपज्ञानं समनस्केषूपलभ्यते तस्य कथममनस्केष्वाविर्भाव इति नैष दोषः भिन्नजातित्वात्। —प्रश्न—पदार्थ, प्रकाश, मन और चक्षु इनसे उत्पन्न होनेवाला रूप ज्ञान समनस्क जीवोंमें पाया जाता है, यह तो ठीक है, परन्तु अमनस्क जीवोंमें उस रूपज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि समनस्क जीवोंके रूप ज्ञानसे अमनस्क जीवोंका रूप ज्ञान भिन्न जातीय है।

ध. १/१.१,७३/३१४/१ मनसः कार्यत्वेन प्रतिपन्नविज्ञानेन सह तत्रतनविज्ञानस्य ज्ञानत्व प्रत्यविशेषान्मनोनिबन्धनत्वमनुमीयत इति चेन्न, भिन्नजातिस्थितविज्ञानेन सहाविशेषानुपपत्तेः। —प्रश्न—मनुष्योंमें मनके कार्यरूपसे स्वीकार किये गये विज्ञानके साथ विकलेन्द्रियोंमें होनेवाले विज्ञानकी ज्ञान सामान्यकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, इसलिए यह अनुमान किया जाता है कि विकलेन्द्रियोंका विज्ञान भी मनसे उत्पन्न होता होगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि भिन्न-जातिमें स्थित विज्ञानके साथ भिन्न जातिमें स्थित विज्ञानकी समानता नहीं बनती।

ध. १/१,१,११६/३६१/८ अमनसां तदपि कथमिति चेन्न, मनोऽन्तरेण वनस्पतिषु हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपलम्भतोऽनेकान्तात्। —प्रश्न—मन रहित जीवोंमें श्रुतज्ञान कैसे सम्भव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, मनके बिना वनस्पतिकायिक जीवोंके हितमें प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्ति देखी जाती है, इसलिए मन सहित जीवोंके ही श्रुतज्ञान माननेमें उनसे अनेकान्त दोष आता है। (और भी दे. अगला शीर्ष।)

६. श्रोत्रके अभावमें श्रुतज्ञान कैसे

ध. १/१,१,११६/३६१/६ कथमेकेन्द्रियाणां श्रुतज्ञानमिति चेत्कथं च न भवति। श्रोत्राभावान्न शब्दावगतिस्तदभावान्न शब्दार्थावगम इति; नैष दोषः, यतो नायमेकान्तोऽस्ति शब्दार्थावबोध एव श्रुतमिति। अपि तु अशब्दरूपादपि लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमपि श्रुतमिति। —प्रश्न—एकेन्द्रियोंके श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है। उत्तर—कैसे नहीं हो सकता है। प्रश्न—एकेन्द्रियोंके श्रोत्र इन्द्रियका अभाव होनेसे शब्दका ज्ञान नहीं हो सकता है, शब्दज्ञानके अभावमें शब्दके विषयभूत अर्थका भी ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए उनके श्रुतज्ञान नहीं होता यह बात सिद्ध है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह एकान्त नियम नहीं है कि शब्दके निमित्तसे होनेवाले पदार्थके ज्ञानको ही श्रुत कहते हैं। किन्तु शब्दसे भिन्न रूपादिक लिंगसे भी जो लिंगीका ज्ञान होता है उसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं।

ध. १३/५,५,२१/२१०/६ एइंदिएसु सोद-णोइंदियवज्जिएसु कधं सुदणाणुप्पत्ती। ण, तत्थ मणेण विणा वि जादिविसेसेण लिंगिविसयणाणुप्पत्तीए विरोहाभावादो। —प्रश्न—एकेन्द्रिय जीव श्रोत्र और नोइन्द्रियसे रहित होते हैं, उनके श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि वहाँ मनके बिना भी जातिविशेषके कारण लिंगी विषयक ज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता।

७. संज्ञीमें क्षयोपशम भाव कैसे है

ध. ७/२,१,८३/१११/१० णोइंदियावरणस्स सव्वघादिफद्दयाणं जादिविसेण अणंतगुणहाणीए हाइदूण देसघादित्तं पाविय उवसंताणमुदएण सण्णित्तं सणादो। —नोइन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके अपनी जाति विशेषके प्रभावसे अनन्तगुणी हानिरूप घातके द्वारा देशघातित्वको प्राप्त होकर उपशान्त हुए पुनः उन्हींके उदयसे संज्ञित्व उत्पन्न होता देखा जाता है।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. संज्ञा व संज्ञीमें अन्तर। —दे० संज्ञा।
२. संज्ञी जीव सम्मूर्च्छन भी होते हैं। —दे० सम्मूर्च्छन।
३. असंज्ञी जीवोंमें वचन प्रवृत्ति कैसे सम्भव है। —दे० योग/४।
४. असंज्ञियोंमें देवादि गतियोंका उदय व तत्सम्बन्धी शंका-समाधान। —दे० उदय/५।
५. संज्ञित्वमें कौन सा भाव है। —दे० भाव/२।
६. संज्ञीके गुणस्थान, जीवसमास, आदिके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
७. संज्ञीके सत्, संख्या, क्षेत्र आदि सम्बन्धी ८ प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
८. सभी मार्गणामें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम। —दे० मार्गणा।

संग्रह—म. पु./१६/१७६ दशग्राम्यास्तु मध्ये यो महान् ग्रामः स संग्रहः। —दश गाँवोंके बीच जो एक बड़ा भारी गाँव होता है, उसे संग्रह (जहाँ हर वस्तुओंका संग्रह रखा जाता हो) कहते हैं।

संग्रह कृष्टि—दे. कृष्टि।

संग्रह नय—दे. नय/III/४।

संघ—**१. संघका लक्षण**

स. सि./६/१३/३३१/१२ रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः।

स. सि./६/२४/४४२/६ चातुर्वर्णश्रमणनिवहः संघः। —रत्नत्रयसे युक्त श्रमणोंका समुदाय संघ कहलाता है। (रा. वा./६/१३/३/५२३) चार वर्णोंके श्रमणोंके समुदायको संघ कहते हैं। (रा. वा./६/२४/४४२/६); (चा. सा./६५१/४); (प्र. सा./ता. वृ./२४६/३४३/१०)

दे. वैयावृत्य/२ आचार्यसे लेकर गण पर्यन्त सर्व साधुओंकी व्याधि दूर करना संघ वैयावृत्य कहलाता है।

भा. पा./टी./७८/२२५/१ ऋषिमुनियत्यनगारनिवहः संघः अथवा ऋष्यार्यिकाश्रावकश्राविकानिवहः संघः। —ऋषि, मुनि, यति और अनगारके समुदायका नाम संघ है। अथवा ऋषि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाके समुदायका नाम संघ है। (और भी दे. अगला शीर्षक)

* **संघके भेद**—दे. इतिहास/६।

१. एक मुनिको असंघपना हो जायेगा

रा. वा./६/१३/४/५२४/१ स्यादेतत् सङ्घो गणो वृन्दमित्यनर्थान्तरं तस्य कथमेकस्मिन् वृत्तिरिति। तन्न; किं कारणम्। अनेकव्रतगुण-

संहननादेकस्यापि सङ्घत्वसिद्धेः। उक्तं च—संघो गुणसंघादो कम्माणविमोयदो हवदि संघो। दंसणणाणचरित्ते संघादितो हवदि संघो। —प्रश्न—संघ, गण और समुदाय ये एकार्थवाची हैं, तो इस कारण एक साधुको संघ कैसे कह सकते हैं। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि एक व्यक्ति भी अनेक गुणव्रतादिका धारक होनेसे संघ कहा जाता है। कहा भी है—गुण संघातको संघ कहते हैं। कर्मोंका नाश करने और दर्शन, ज्ञान और चारित्रका संघटन करनेसे एक साधुको भी संघ कहा जाता है।

संघात—१. संघात सामान्यका लक्षण

स. सि./५/२६/२९८/४ पृथग्भूतानामेकत्वापत्तिः संघातः। —पृथग्भूत हुए पदार्थोंके एकरूप हो जानेको संघात कहते हैं। (रा. वा./५/२६/-२/४९३/२५)

ध. १४/५,६,९८/१२१/३ परमाणुपोग्गलसमुदायसमागमो संघादो णाम। —परमाणु पुद्गलोंका समुदाय समागम होना संघात है।

२. भेद संघातका लक्षण

ध. १४/५,६,९८/१२१/४ भेदं गंतूण पुणो समागमो भेदसंघादो णाम। —भेदको प्राप्त होकर पुनः संघात अर्थात् समागम होना भेद संघात है।

३. संघात नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९०/१ यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवररहितान्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशेन एकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम। —जिसके उदयसे औदारिकादि शरीरोंकी छिद्र रहित होकर परस्पर प्रदेशोंके अनुप्रवेशन द्वारा एकरूपता आती है वह संघात नामकर्म है। (रा. वा./८/११/७/५७६/२७); (गो. क./जी. प्र./३३/२९/२)

ध. ६/१,९-१,२८/५३/३ जेहि कम्मखंधेहि उदयं पत्तेहि बंधणणामकम्मोदएण बंधमागयाणं सरीरपोग्गलक्खंधाणं मट्ठत्तं कीरदे तेसिं सरीरसंघादसण्णा। जदि सरीरसंघादणामकम्मं जीवस्स ण होज्ज, तो तिलमोअओ व्व अमुट्ठसरीरो जीवो होज्ज। —उदयको प्राप्त जिन कर्म स्कन्धोंका मृष्टत्व अर्थात् छिद्र रहित संश्लेष किया जाता है उन पुद्गल स्कन्धोंकी 'शरीरसंघात' यह संज्ञा है। यदि शरीर संघात नामकर्म सज्ञा न हो, तो तिलके मोदकके समान अपुष्ट शरीरवाला जीव हो जावे। (ध. १३/५,५,१०१/३६४/२)

४. शरीर संघातके भेद

ष. खं. ६/१,९-१,/सू. ३३/७० जं तं सरीरसंघादणामकम्मं तं पंचविहं, ओरालियसरीरसंघादणामं वेउव्वियसरीरसंघादणामं आहारसरीरसंघादणामं तेजससरीरसंघादणामं कम्मइयसरीरसंघादणामं चेदि। —जो शरीर संघात नामकर्म है, वह पाँच प्रकार है—औदारिक शरीर संघात नामकर्म, वैक्रियकशरीर संघात नामकर्म, आहारकशरीरसंघातनामकर्म, तैजसशरीर संघातनामकर्म, और कार्मणशरीरसंघात नामकर्म। (ष. खं. १३/५,५/सू. १०६/३६७)

संघात—दूसरे नरकका दसवाँ पटल—दे० नरक/५/११।

संघात ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

संघातन—१. संघातन कृतिका लक्षण

ध. ९/४,१,६९/३२६/९ तत्थ अप्पिदसरीरपरमाणूणं णिज्जराए विणा जो संचओ सा संघादणकदी णाम। —(पाँचों शरीरोंमेंसे) विवक्षित शरीरके परमाणुओंका निर्जराके बिना जो संचय होता है उसे संघातन कृति कहते हैं।

२. संघातन-परिशातन (उभय रूप) कृतिका लक्षण

ध. ९/४,१,६९/३२७/२ अप्पिदसरीरस्स पोग्गलक्खंधाणमागम-णिज्जराओ संघादण-परिसादणकदी णाम। —(पाँचों शरीरोंमें-से) विवक्षित शरीरके पुद्गल स्कन्धोंका आगमन और निर्जराका एक साथ होना संघातन-परिशातन कृति कही जाती है।

★ पाँचों शरीरोंकी संघातन-परिशातन कृति।

दे० (ध. ९/३५५-४५१)।

संघात समास ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

संघातिम—दे० निक्षेप/५/९।

संघायणी—बृहत्संग्रहणी सूत्रका अपरनाम है। —दे० बृहत्संग्रहणी सूत्र।

संचया—पूर्व विदेहस्थ मंगलावती क्षेत्रकी मुख्य नगरी। —दे० लोक/७।

संचार—१. एक अक्ष या भंगको अनेक भंगनि विषै क्रमसे पलटना। —दे० गणित/II/३।

२. न्या. वि./वृ./१/२०/२१७/२६ असंचार असंप्रतिपत्तिः। —असंचार अर्थात् प्रतिपत्ति यानी निश्चयका न होना।

संचेतन—स. सा./आ./क. २२४ पं. जयचन्द्र—किसीके प्रति एकाग्र होकर उसका ही अनुभव रूप स्वाद लिया करना उसका संचेतन कहलाता है।

संजयत—म. पु./५९/श्लोक सं. पूर्व भव सं. ७ में सिंहपुर नगरका राजा सिंहसेन (१४६) छटेमें सल्लकी वनमें अशनिघोष नामक हाथी हुआ (१९७)। ५वेमें रविप्रभ विमानमें देव (२१८-२१९) चौथेमें राजपुत्र रश्मिवेग तीसरेमें कापिष्ठ स्वर्गमें देव (२३७-२३८) दूसरेमें राजा अपराजितका पुत्र (२३९) पूर्व भवमें सर्वार्थसिद्धिमें देव था (२७३)। वर्तमान भवमें गन्धमालिनी देशमें वीतशोक नगरके राजा वैजयन्तका पुत्र था (१०९-११०) विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण की (११२)। ध्यानस्थ अवस्था में एक विद्युद्दंष्ट्र नामक विद्याधरने इनको उठाकर इला पर्वतपर नदीमें डुबा दिया। तथा पत्थरोंकी वर्षा की। इस घोर उपसर्गको जीतनेके फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त किया (११६-१२६)। (म. पु./५९/३०९-३०७), (प. पु./५/२७-४४)।

संजयंत नगरी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

संजय—एक परिव्राजक था। जिसने मौद्गलायन व सारिपुत्रको बुद्धका शिष्य होनेसे रोका था।

संज्वलन—१. संज्वलनका लक्षण

स. सि./८/९/३८६/१० समेकीभावे वर्तते। संयमेन सहावस्थानादेकीभूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः। —'सं' एकीभाव अर्थमें रहता है। संयमके साथ अवस्थान होनेसे एक होकर जो ज्वलित होते हैं अर्थात् चमकते हैं या जिनके सद्भावमें संयम चमकता रहता है वे संज्वलन, क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। (रा. वा./८/९/५/५७५/४), (गो. क./-जी. प्र./३३/२८/५), (गो. क./जी. प्र./४५/४६/१३)।

ध. १३/५,५,९५/३६०/१२ सम्यक् शोभनं ज्वलतीति संज्वलनः। —जो सम्यक् अर्थात् शोभन रूपसे 'ज्वलति' अर्थात् प्रकाशित होता है वह संज्वलन कषाय है।

गो. जी./जी. प./२८३/६०८/१५ संज्वलनास्ते यथाख्यातचारित्रपरिणामं कषन्ति, सं समीचीनं विशुद्धं संयमं यथाख्यातचारित्रनामधेयं

ज्वलन्ति वहन्ति इति संज्वलनाः इति निरुक्तिबलेन तदुदये सत्यपि सामायिकादीतरसंयमाविरोधः सिद्धः । —संज्वलन क्रोधादिक सकल कषायके अभाव रूप यथाख्यात चारित्रका घात करते हैं। 'सं' कहिए समीचीन निर्मल यथाख्यात चारित्रको 'ज्वलति' कहिए दहन करता है, तिनको संज्वलन कहते हैं. इस निरुक्तिसे संज्वलनका उदय होने पर भी सामायिक आदि चारित्रके सद्भावका अविरोध सिद्ध होता है।

२. संज्वलन कषायमें सम्यक्पना क्या

ध. ६/१,९-१,२३/४४/६ किमत्र सम्यक्त्वम्। चारित्रेण सह ज्वलनम्। चारित्तमविणासेंता उदयं कुणंति त्ति जं उत्तं होदि। —प्रश्न—इस संज्वलन कषायमें सम्यक्पना क्या? उत्तर—चारित्रके साथ जलना ही इसका सम्यक्पना है अर्थात् चारित्रको विनाश नहीं करते हुए भी ये उदयको प्राप्त होते हैं, यह अर्थ कहा है।

ध. १३/५,५,९५/३६१/१ कुतस्तस्य सम्यक्त्वम्। रत्नत्रयाविरोधात्।— प्रश्न—इसे (संज्वलनको) सम्यक्पना कैसे है? उत्तर—रत्नत्रयका अविरोधी होनेसे।

३. यह कषाय यथाख्यात चारित्रको घातती है

पं. सं./प्रा./१/११५ चउत्थो जहखायघाईया। —संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्रकी घातक है। (और भी दे. शीर्षक सं. १); (पं. सं./प्रा./१/११०), (गो. जी./२८३); (गो. क./मू./४५); (पं सं./सं./१/२०४)।

४ इसके चार भेद कैसे

ध. १३/५,५,९५/३६१/१ कोह-माण-माया-लोहेसु पादेक्क संजलणणिद्देसो किमट्ठं कदो। एदेसिं बंधोदया पुध पुध विणट्ठा, पुव्विल्लतिय चउक्कस्सेव अक्कमेण ण विणट्ठा त्ति जाणावणट्ठं। —प्रश्न—क्रोध, मान, माया और लोभमें-से प्रत्येक पदके साथ संज्वलन शब्दका निर्देश किस लिए किया गया है? उत्तर—इनके बन्ध और उदयका विनाश पृथक्-पृथक् होता है, पहली तीन कषायोंके चतुष्कके समान इनका युगपत् विनाश नहीं होता, इस बातका ज्ञान करानेके लिए क्रोधादि प्रत्येक पदके साथ संज्वलन पद निर्देश किया गया है। (ध. ६/१,९-१,२३/४४/६)।

५. इसको चारित्र मोहनीय कहनेका कारण

ध. ६/१,९-१,२३/४४/६ चारित्तमविणासेंता उदयं कुणंति त्ति जं उत्तं होदि। चारित्तमविणासेंताणं संजुलणाणं कधं चारित्तावरणत्तं जुज्जदे। ण, संजमम्हि मलमुप्पाइय जहाक्खादचारित्तुप्पत्तिपडिबंधयाणं चारित्तावरणत्ताविरोहा। —चारित्रको विनाश नहीं करते हुए ये (संज्वलन) कषाय प्रगट होते हैं। प्रश्न—चारित्रको नहीं नाश करने वाले संज्वलन कषायोंके चारित्रावरणता कैसे बन सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि ये संज्वलन कषाय संयममें मलको उत्पन्न करके यथाख्यात चारित्रकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक होते हैं, इसलिए इनके चारित्रावरणता माननेमें विरोध नहीं है।

६. संज्वलन कषायका वासना काल

गो. क./मू. व टी./४६/४७ अंतोमुहुत्त…संजलणमवासणाकालो दु णियमेण ।४६। उदयाभावेऽपि तत्संस्कारकालो वासनाकाल: स च संज्वलनानामन्तर्मुहूर्तः। —उदयका अभाव होनेपर भी कषायका संस्कार जितने काल तक रहे उसका नाम वासना काल है। सो संज्वलन कषायोंका वासना काल अन्तर्मुहूर्त है।

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१. संज्वलन प्रकृतिके बन्ध उदय सत्त्व सम्बन्धी नियम व शंका समाधानादि। —दे० वह वह नाम।
२. कषायोंकी मन्दता संज्वलनके कारणसे नहीं बल्कि लेश्याके कारणसे है। —दे० कषाय/३।
३. संज्वलनमें दशों करण सम्भव हैं। —दे० करण/२।
४. संज्वलन प्रकृतिका देशघातीपना। —दे० अनुभाग/४।

संज्वलित—तीसरे नरकका आठवाँ पटल। —दे० नरक/५/११।

संतलाल—सिद्धचक्रपाठ व दशलक्षिक अंकके कर्ता एक जैन कवि। (वि. श. १८ का मध्य; ई. श. १७–१८) हि. जै. सा. इ./-१९९ कामता।

संततता—Continuum (ज. प./प्र. १०६)।

संतान—एक ग्रह। —ग्रह।

संतोष भावना—दे० भावना।

संथारा—दे० संस्तर।

संदिग्धानैकान्तिक हेत्वाभास—दे० व्यभिचार।

संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास—दे० असिद्ध।

संदृष्टि—Symbol (ज. प./प्र. १०६)।

संधि—१. एक ग्रह—दे० ग्रह। २. औदारिक शरीरमें सन्धियोंका प्रमाण—दे० औदारिक/१/७।

संपराय—स. सि./६/१२/४११/३ संपराय कषायः। —१. संपराय कषायको कहते हैं। (ध. १/१,१,१७/१८४/४) दे. आस्रव/१/५; २. संपराय संसारको कहते हैं।

संपृच्छनीबोध—दे. भाषा।

संप्रज्वलित—तीसरे नरकका नवम पटल—दे. नरक/५।

संप्रति—मगधराज अशोक का पौत्र, अपर नाम चन्द्र गुप्त द्वि.। समय—ई. पू. २२०-२११। (द्वि. इतिहास/३/३/४)।

संप्रदान कारक—१. प्र. सा./पं. जयचन्द/१६ कर्म जिसको देनेमें आवे अर्थात् जिसके लिए करनेमें आवे सो सम्प्रदान। २. अभिन्न-कारकी व्यवस्थामें सम्प्रदानका प्रयोग—दे. कारक/१।

संप्रदान शक्ति—स. सा./आ./परि./शक्ति ४४ स्वयं दीयमान-भावोपेयत्वमयी संप्रदान शक्तिः।—अपने द्वारा दिया जाता जो भाव उसके उपेयत्वमय (उसे प्राप्त करनेके योग्यपनामय, उसे लेनेके पात्रपनामय) सम्प्रदान शक्ति।

संबंध – १. संबंध सामान्यका लक्षण

न. च. वृ./२९५ संबंधो संसिलेसो णाणीणं णाणणेय माईहिं—ज्ञानीका ज्ञान और ज्ञेयका संसिलेश सो सम्बन्ध है।

रा. वा./हि.१/७/६४ प्रत्यासत्ति है सो ही सम्बन्ध है।

रा. वा. हि/४/४२/२०/११८७ जहाँपर अभेद प्रधान और भेद गौण होता है वहाँपर सम्बन्ध समझना चाहिए।

२. सम्बन्धके भेद

[आगममें अनेकों सम्बन्धोंका निर्देश पाया जाता है। यथा—१ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध, ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध (स. सा./आ./३१); भाव्य-भावक सम्बन्ध (स. सा./आ./३२, ८३); तादात्म्य सम्बन्ध (स.

सा./आ./५०.६१); संश्लेष सम्बन्ध (स. सा./ता. वृ./५७); व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध (स. सा./आ./८५); आधार-आधेय सम्बन्ध (स. सा./आ./१८१-१८३); (पं. ध./पू./३५०); आश्रय-आश्रयी (पं. ध./पू./७६); संयोग सम्बन्ध। सो दो प्रकारका है—देश प्रत्यासत्तिक संयोग सम्बन्ध; और गुण प्रत्यासत्तिक संयोग सम्बन्ध (ध. १४/५,६,२३/२७/२); (पं. ध./पू /७६); धर्म-धर्मिमें अविनाभाव सम्बन्ध (पं. ध./पू./७, ५४५, ५६१,६६,२४६); लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध (पं.ध./पू/१२, ८८, ६१६); साध्य-साधक सम्बन्ध (पं. ध./पू./५४५); दण्ड-दण्डी सम्बन्ध (पं. ध./पू /४१); समवाय सम्बन्ध (पं. ध./पू./७६); भविष्याभाव सम्बन्ध (स. म./११/२१७/२४);] [इनके अतिरिक्त बाध्य-बाधक सम्बन्ध, बध्य-घातक सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध, वाच्य-वाचक सम्बन्ध, उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध, प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक सम्बन्ध, पूर्वापर सम्बन्ध, द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध, व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध, प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध,उपादान-उपादेय सम्बन्ध, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध इत्यादि अनेकों सम्बन्धोंका कथन आगममें अनेकों स्थलोंपर किया गया है।]

३. सम्बन्धके भेदोंके लक्षण

१. भाव्य-भावक

स. सा./आ./३२ भावकत्वेन भवन्तमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन—। —(मोहकर्म) भावकपनेसे प्रगट होता है तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्माभाव्य...।

२. व्याप्य-व्यापक

स. सा./आ./७५ घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापक भाव...।—घड़े और मिट्टीके व्याप्य-व्यापकभावका सद्भाव...।

न्या. दी./३/§६७/१०६/५ साहचर्यनियमरूपां व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्म तद्व्याप्यम्...एतामेव व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्तृ तद्व्यापकम्...एवं सति धूममग्निर्व्याप्नोति,...धूमस्तु न तथाऽग्निं व्याप्नोति—। —साहचर्य नियमरूप व्याप्तिक्रियाका जो कर्म है उसे व्याप्य कहते हैं,...व्याप्तिका जो कर्म है—विषय है वह व्याप्य कहलाता है।... अग्नि धूमको व्याप्त करती है, किन्तु धूम अग्निको व्याप्त नहीं करता।

३. ज्ञेय ज्ञायक व ग्राह्य-ग्राहक

स. सा./आ./३१ ग्राह्यग्राहकलक्षणसंबन्धप्रत्यासत्तिवशेन...भावेन्द्रियावगृह्यमानस्पर्शादीनीन्द्रियार्थां...ज्ञेयज्ञायक संकरदोषत्वेनैव। —ग्राह्यग्राहक लक्षण वाले सम्बन्धकी निकटताके कारण...भावेन्द्रियोंके द्वारा (ग्राहक) ग्रहण किये हुए, इन्द्रियोंके विषयभूत स्पर्शादि पदार्थोंको (ग्राह्य पदार्थोंको)...। ज्ञेय (बाह्य पदार्थ) ज्ञायक (जाननेवाला) आत्मा-संकर नामक दोष...।

४. आधार-आधेय सम्बन्ध

स. सा./आ./१८१-१८३ न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेः, तदसत्वे च तेन सहाधाराधेयसम्बन्धोऽपि नास्त्येव, ततः स्वरूपप्रतिष्ठितत्वलक्षण एवाधाराधेयसंबन्धोऽवतिष्ठते।—वास्तवमें एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है, क्योंकि दोनोंके प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए उनमें एक सत्ताकी अनुपपत्ति है, इस प्रकार जबकि एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है तब उनमें परस्पर आधार (जिसमें रहा जाये) आधेय (जो आश्रय लेवे) सम्बन्ध भी नहीं है। स्व स्वरूपमें प्रतिष्ठित वस्तुमें आधार-आधेय सम्बन्ध है।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. संयोग आदि अन्य सम्बन्धोंके लक्षण। —दे. वह वह नाम।
२. संश्लेष सम्बन्ध। —दे. श्लेष।
३. सम्बन्धकी अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद। —दे. सप्तभंगी/५।
४ भिन्न द्रव्योंमें आध्यात्मिक भेदाभेद। —दे. कारक/२।
५ द्रव्य गुण पर्यायोंमें युत सिद्ध व समवाय सम्बन्धका निषेध। —दे. द्रव्य/४।

संबंध कारक—दे. कारक/२।

संबंध शक्ति— स. सा./आ./परि./शक्ति/४७, स्वभावमात्र स्वस्वामित्वमयी संबन्धशक्तिः।—स्वभावमात्र स्वस्वामित्वमयी सम्बन्ध शक्ति। (अपना भाव स्व है और स्वयं उसका स्वामी है ऐसी सम्बन्धमयी सम्बन्ध शक्ति है।)

संभव—१. एक ग्रह—दे. ग्रह; २. असत वस्तुओंकी भी कथंचित् सम्भावना—दे. असत।

संभवनाथ—म. पु./४६/श्लोक सं. पूर्वभव सं. २ में कच्छ देशके क्षेमंकरपुरका राजा विमलवाहन था (२)। पूर्वभवमें ग्रैवेयकके सुदर्शन विमानमें अहमिन्द्र, (६)। वर्तमानभवमें तीसरे तीर्थंकर थे (१६)। विशेष परिचय—दे. तीर्थंकर/५।

संभवयोग—दे. योग/१।

संभावना सत्य—दे. सत्य/१।

संभाषण—१. हितमित अथवा मिष्ट व कटु सभाषणकी इष्टता-अनिष्टता—दे. सत्य/३; २. व्यर्थ संभाषणका निषेध- दे. सत्य/३।

संभिन्नमति—म. पु./सर्ग/श्लोक महाबल (ऋषभदेवका पूर्वका नवमा भव) राजाका एक मिथ्यादृष्टि मन्त्री था (४/१९१)। इसने राजसभामें नास्तित्व मतकी सिद्धि की थी (५/३७-३८)। अन्तमें मरकर निगोद गया (१०/७)।

संभिन्न श्रोतृत्व ऋद्धि—दे. ऋद्धि/२।

संभ्रान्त—प्रथम नरकका छठा पटल—दे नरक/५/११ तथा रत्नप्रभा।

संमत सत्य—दे. सत्य/१।

संमूर्च्छिम—१. संमूर्च्छिम का लक्षण

स. सि./२/३१/१८७/३ त्रिषु लोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छनं संमूर्च्छनमवयवप्रकल्पनम्।—तीनों लोकोंमें ऊपर, नीचे, और तिरछे देहका चारों ओरसे मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना सम्मूर्च्छन है। (अर्थात चारों ओरसे पुद्गलोंका ग्रहण कर अवयवोंकी रचना होना); (रा. वा./२/३१/१४०/२३)।

गो. जी./जी. प्र./८३/२०४/१७ सं समन्तात् मूर्च्छनं जायमानजीवानुग्राहकाणां शरीराकारपरिणमनयोग्यपुद्गलस्कन्धानां समुच्छ्रयणं सम्मूर्च्छनम्।—सं अर्थात समस्तपने, मूर्च्छनं अर्थात जन्म ग्रहण करता जो जीव, उसको उपकारी ऐसे जो शरीराकार परिणमने योग्य पुद्गल स्कन्धोंका स्वमेव प्रगट होना सो संमूर्च्छन जन्म है।

२. संमूर्च्छिम जन्मका स्वामित्व

त. सू./२/३३ शेषाणां संमूर्च्छनम् ।३३।—गर्भज और उपपादज जन्म वालोंके अतिरिक्त शेष जीवोंका संमूर्च्छन जन्म होता है।

ति. प./४/२६४८ उप्पत्ती मणुवाणं गब्भज सम्मुच्छिमं खु दुभेदा। —मनुष्योंका जन्म गर्भ व सम्मूर्च्छनके भेदसे दो प्रकारका है।

ति. प./५/२९३ उप्पत्ती तिरियाणं गब्भजसमुच्छिमो त्ति ।—तिर्यंचोंकी उत्पत्ति गर्भ और संमूर्च्छन जन्मसे होती है। (गो. जी./जी.प्र./९१/२१३/४)।

रा. वा./२/३१/११/१४४/२१ एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां तिरश्चां मनुष्याणां च केषांचित्संमूर्च्छनमिति···।—एक, दो, तीन, चार इन्द्रियवाले जीवोंका, किन्हीं पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों तथा मनुष्योंका संमूर्च्छन जन्म होता है।

गो. जी./जी. प्र./८४/२०७/६ एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां केषांचित्पञ्चेन्द्रियाणां लब्ध्यपर्याप्तमनुष्याणां च संमूर्च्छनमेव जन्मेति प्रवचने निर्दिष्टम् ।—एकेन्द्रीय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, कोई पंचेन्द्रिय तिर्यंच और लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य इनके सम्मूर्च्छन ही जन्म होता है, ऐसा प्रवचनमें कहा है। (गो. जी./जी. प्र./९०/२१२/११)

३. संमूर्च्छन मनुष्य निर्देश

भ आ./वि./७८१/९३७ पर उद्धृत गाथा—कर्मभूमिषु चक्रास्त्रहलभृद्भूरिभूभुजाम् । स्कन्धावारसमूहेषु प्रस्रवोच्चारभूमिषु ॥ शुक्रसिंघाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलेषु च। अत्यन्ताशुचिदेशेषु सद्यः सम्मूर्च्छनेन ये॥ भूत्वाङ्गुलस्यासंख्येयभागमात्रशरीरकाः। आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूर्च्छना नराः ॥ —कर्मभूमिमें चक्रवर्ती, बलभद्र वगैरह बड़े राजाओंके सैन्योंमें मलमूत्रोंका जहाँ क्षेपण करते हैं ऐसे स्थानोंपर, वीर्य, नाकका मल, कफ, कान और दाँतोंका मल और अत्यन्त अपवित्र प्रदेश इनमें तो तत्काल उत्पन्न होते हैं। जिनका शरीर अंगुलके असंख्यात भाग मात्र रहता है। और जो जन्म लेनेके बाद शीघ्र नष्ट होते हैं और जो लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं उनको सम्मूर्च्छन मनुष्य कहते हैं।

४. संमूर्च्छिम तिर्यंच संज्ञी भी होते हैं तथा सम्यक्त्वादि प्राप्त कर सकते हैं

ध. ४/१,५,१८/३५०/२ सण्णि पंचिंदियतिरिक्खसंमुच्छिमपज्जत्तएसु मच्छ-कच्छव-मंडूकादिसु उववण्णो। सव्वलहुएण अंतोमुहुत्तकालेण सव्वाहिपज्जत्तीहि पज्जत्तयदो जादो। विसंतो। विसुद्धो होदूण संजमासंजमं पडिवण्णो। पुव्वकोडिकालं संजमासंजममणुपालिदूण-मदो सोधम्मादि-आरणच्चुदंतेसु देवेसु उववण्णो। —संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्तक, ऐसे संमूर्च्छन तिर्यंच, मच्छ, कच्छप, मेंढकादिकोंमें उत्पन्न हुआ, सर्व लघु अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा सर्व पर्याप्तियोंसे पर्याप्तपनेको प्राप्त हुआ। पुनः विश्राम लेता हुआ, विशुद्ध हो करके संयमासंयमको प्राप्त हुआ। वहाँपर पूर्वकोटि काल तक संयमासंयमको पालन करके मरा और सौधर्म कल्पको आदि लेकर आरण, अच्युतान्तकल्पोंमें देवोंमें उत्पन्न हुआ। (ध. ५/१,६,२३४/११५/६)

५ परन्तु प्रथमोपशमको नहीं प्राप्त कर सकते

ध. ५/१,६ १२१/७३/१ सण्णिसम्मुच्छिम-पंचिंदिएसुप्पाइय···पढमसम्मत्तग्गहणाभावा। —संज्ञी पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवोंमें प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणका अभाव है। (ध. ५/१,६,२३७/११८/११)।

६. संमूर्च्छिमोंमें संयमासंयम व अवधिज्ञानकी प्राप्ति सम्बन्धी दो मत

ध. ५/१,६,२३४/११५/११ अट्ठावीससंतकम्मिओ सण्णि-समुच्छिम-पज्जत्तएसु···विसुद्धो वेदगसम्मत्तं पडिवण्णो तदो अंतोमुहुत्तेण ओहिणाणी जादो।

ध. ५/१,६,२३७/११८/११ सण्णिसमुच्छिमपज्जत्तएसु संजमासंजमस्सेव ओहिणाणुवसमसम्मत्ताणं संभवाभावादो। तं कथं णव्वदे। 'पंचिंदिएसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु' त्ति चूलियासुत्तादो।—१. मोहकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला संज्ञी सम्मूर्च्छिम पर्याप्तकोंमें उत्पन्न हुआ।···विशुद्धि हो वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। पश्चात् अवधिज्ञानी हो गया। (ध. ५/१,६,२३४/११५,११७)। २. संज्ञी सम्मूर्च्छिम पर्याप्तकोंमें संयमासंयमके समान अवधिज्ञान और उपशम सम्यक्त्वकी सम्भवताका अभाव है। —प्रश्न—यह कैसे जाना है? उत्तर—'पंचेन्द्रियोंमें दर्शनमोहका उपशमन करता हुआ गर्भोत्पन्न जीवोंमें ही उपशमन करता है। सम्मूर्च्छिमोंमें नहीं', इस प्रकार चूलिका सूत्रसे जाना जाता है।

७. महामत्स्यकी विशालकायका निर्देश

ध. ११/४,२,५,८/१६/१ के वि आइरिया महामच्छो मुहपुच्छेसु सुट्ठु सण्हओ त्ति भणंति। एत्थतणमच्छे दट्ठूण एदं ण घडदे, कत्थवि मच्छेसु वियहिचारदंसणादो। अधवा एदे विक्खंभुस्सेहा समकरणसिद्धा त्ति के वि आइरिया भणंति। ण च सुट्ठु सण्णमुहो महामच्छो अण्णेगजोयणसदोगाहणतिमिंगिलादिणिगलणक्खमो, विरोहादो। —महामत्स्य मुख और पूँछमें अतिशय सूक्ष्म है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु यहाँके मत्स्योंको देखकर यह घटित नहीं होता, तथा कहीं-कहीं मत्स्योंके अंगोंमें व्यभिचार भी देखा जाता है। अथवा ये विष्कम्भ और उत्सेध समकरणसिद्ध हैं, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। दूसरी बात यह है कि अतिशय सूक्ष्म मुखसे संयुक्त महामत्स्य एक सौ योजनकी अवगाहना वाले अन्य तिमिंगिल आदि मत्स्योंके निगलनेमें समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि विरोध आता है।

ध. १४/५,६,५८०/४६७-४६८/१० ण च महामच्छउक्कस्सविस्सासुवचओ अणंतगुणो होदि, जहण्णबादरणिगोदवग्गणादो उक्कस्ससुहुमणिगोदवग्गणाए अणंतगुणत्तप्पसंगादो।··· महामच्छाहारो पोग्गलकलाओ पत्तेयसरीरबादर-सुहुमणिगोदवग्गणसमूहमेत्तो ण होदि किंतु तस्स पुट्ठीए संभूवउट्ठियकलाओ तत्तो सम्मुच्छिदपत्थर-सज्जज्जुण-णिंब-कयंब-जंबु-जंबीर-हरि-हरिणादयो च विस्ससोवचयसंभूदा दट्ठव्वा। ण च तत्थ मट्टियादीणमुप्पत्ती असिद्धा, सइलोदए पविट्ठपण्णाण पि सिलाभावेण परिणामदंसणादो सुत्तिपुडपडिदोदबिंदूणं मुत्ताहलागारेण परिणामुवलंभादो। ण च तत्थ सम्मुच्छिमपंचिंदियजीवाणमुप्पत्ती असिद्धा, पाउसयारंभवासजलधरणिसंबंधेण भेगंदर-मच्छ-कच्छादीणमुप्पत्ति दंसणादो।··· ण च एदेसिं महामच्छत्तमसिद्धं, माणुसजडसप्पण्णगंडुवालाणं पि माणुसववएसुवलंभादो। सव्वेसिमेदेसिं गहणादो सिद्धं उक्कस्सविस्सासुवचयस्स अणंतगुणत्तं। अधवा ओरालिय-तेजा-कम्मइयपरमाणुपोग्गलाण बंधणगुणेण जे एयबंधणबद्धा पोग्गला विस्सासुवचयसण्णिया तेसिं सच्चित्तवग्गणाणं अंतब्भावो होदि।··· जे पुण···बंधणगुणेण तत्थ समवेदा पोग्गला··· जीवेण अणणुगय भावादो अलद्धसच्चित्तवग्गणववएसा ते एत्थ विस्सासुवचया घेत्तव्वा। ण च णिज्जीवविस्सासुवचयाणं अत्थित्तमसिद्धं, रुहिर-वस-सुक्क-रस-सेंभ पित्त-मुत्त-खरिस-मत्थुलिंगादीणं जीवविज्जियाणं विस्सासुवचयाणमुवलंभादो। ण च दंतट्ठ वाला हव सव्वे विस्सासुवचया णिज्जीवा पच्चक्खा चेव, अणुभावेण अणंताणं विस्सासुवचयाणं आगमचक्खु गोयराणमुवलंभादो। एदे विस्सासुवचया महामच्छदेहधुवखजीवणिकायविसया अणंतगुणा त्ति घेत्तव्वा। —प्रश्न—महामत्स्यका उत्कृष्ट विस्रसोपचय अनन्तगुणा नहीं है, क्योंकि जघन्य बादर निगोद वर्गणासे उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणाके अनन्तगुणे प्राप्त होनेका प्रसंग प्राप्त होता है? उत्तर—महामत्स्यका आहार रूप जो पुद्गल कलाप है, वह प्रत्येक शरीर, बादर-निगोद-वर्गणा और सूक्ष्मनिगोदवर्गणाका समुदायमात्र नहीं होता है किन्तु उसकी पीठपर आकर जमी हुई जो मिट्टीका प्रचय है वह और उसके कारण उत्पन्न हुए पत्थर, सर्ज नामके वृक्ष विशेष, अर्जुन, नीम, कदम्ब, आम, जामुन, जम्बीर, सिंह और

हरिण आदिक ये सब विस्रसोपचयमें अन्तर्भूत जानने चाहिए। वहाँ मिट्टी आदिकी उत्पत्ति असिद्ध है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शीलके पानीमें गिरे हुए पत्तोंका शिलारूपसे परिणमन देखा जाता है तथा शुक्तिपुटमें गिरे हुए जलबिन्दुओंका मुक्ताफल रूपसे परिणमन उपलब्ध होता है। वहाँ पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवोंकी उत्पत्ति असिद्ध है यह बात भी नहीं है, क्योंकि वर्षाकालके प्रारम्भमें वर्षाकालके जल और पृथिवीके सम्बन्धसे मेंढक, चूहा, मछली और कछुआ आदिकी उत्पत्ति देखी जाती है···इनका महामत्स्य होना असिद्ध है यह कहना भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि मनुष्यके जठरमें उत्पन्न हुई कृमि विशेषको भी मनुष्य संज्ञा उपलब्ध होती है। इन सबके ग्रहण करनेसे उत्कृष्ट विस्रसोपचय अनन्तगुणा है यह बात सिद्ध होती है। अथवा औदारिक तैजस और कार्मण परमाणु पुद्गलोंके बन्धन गुणके कारण जो एक बन्धनबद्ध विस्रसोपचय संज्ञावाले पुद्गल हैं उनका सचित्त वर्गणाओंमें अन्तर्भाव देखा होता है।··· बन्धनगुणके कारण जो पुद्गल वहाँ समवेत होते हैं···और जो सचित्त वर्गणाओंको नहीं प्राप्त होते, इसलिए यहाँ विस्रसोपचय रूपसे ग्रहण करना चाहिए। निर्जीव विस्रसोपचयोंका अस्तित्व असिद्ध है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीव रहित रुधिर, वसा, शुक्र, रस, कफ पित्त, मूत्र, खरिस, और मस्तकमेंसे निकलनेवाले चिकने द्रव्यरूप विस्रसोपचय उपलब्ध होते हैं। दाँतोंकी हड्डियोंके समान सभी विस्रसोपचय प्रत्यक्षसे निर्जीव होते हैं यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभावके कारण आगम चक्षुके विषयभूत अनन्त विस्रसोपचय उपलब्ध होते हैं। महामत्स्यके देहमें उत्पन्न हुए छह जीव निकायोंको विषय करनेवाले ये विस्रसोपचय अनन्तगुणे होते हैं ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

भ. आ./वि./१६४६/१४८६/७ उत्थानिका — आहारलोलुपतया स्वयंभूरमणसमुद्रे तिमितिमिंगिलादयो मत्स्या महाकाया योजनसहस्रायामाः षण्मासं विवृतवदनाः स्वपन्ति। निद्राविमोक्षानन्तरं पिहिताननाः स्वजठरप्रविष्टमत्स्यादीनाहारीकृत्य अवधिष्ठाननामधेयं नरकं प्रविशन्ति। तत्कर्णविलग्नमलाहाराः शालिसिक्थसंज्ञकाः यदीदृशमस्माकं शरीरं भवेत्। किं निःसर्तुं एकोऽपि जन्तुर्लभते। सर्वान्भक्षयामीति कृतमनःप्रणिधानास्ते तमेवावधिस्थानं प्रविशन्ति। —स्वयंभूरमण समुद्रमें तिमि तिमिंगिलादिक महामत्स्य रहते हैं, उनका शरीर बहुत बड़ा होता है। उनके शरीरकी लम्बाई हजार योजन की कही है। वे मत्स्य छह मास तक अपना मुँह उघाड़कर नींद लेते हैं, नींद खुलनेके बाद आहारमें लुब्ध होकर अपना मुँह बन्द करते हैं, तब उनके मुँहमें जो मत्स्य आदि प्राणी आते हैं, उनको वे निगल जाते हैं। वे मत्स्य आयुष्य समाप्तिके अनन्तर अवधिस्थान नामक नरकमें प्रवेश करते हैं। इन मत्स्योंके कानमें शालिसिक्थ नामक मत्स्य रहते हैं, वे उनके कानका मल खाकर जीवन निर्वाह करते हैं। उनका शरीर तन्दुलके सिक्थके प्रमाण होता है इसलिए उनका नाम सार्थक है। वे अपने मनमें ऐसा विचार करते हैं कि यदि हमारा शरीर इन महामत्स्योंके समान होता तो हमारे मुँहसे एक भी प्राणी न निकल सकता, हम सम्पूर्णको खा जाते। इस प्रकारके विचारसे उत्पन्न हुए पापसे वे भी अवधिस्थान नरकमें प्रवेश करते हैं।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. संमूर्च्छन जीव नपुंसकवेदी होते हैं—दे. वेद/५/३।

२. चींटी आदि संमूर्च्छित कैसे हैं—दे. वेद/५/६।

३. महामत्स्य मरकर कहाँ जन्म धारे इस सम्बन्धमें दो मत —दे. मरण/५/६।

४. मारणान्तिक समुद्घात गत महामत्स्यका विस्तार —दे मरण/५/५,६।

५. बीजवाला ही जीव या अन्य कोई भी जीव इस योनि स्थानमें जन्म धारण कर सकता है—दे. जन्म/२।

संमोह—पिशाच जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे. पिशाच।

संमोही भावना—भ.आ./मू./१८४/४०२ उम्मग्गदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य। मोहेण य मोहिंतो संमोहं भावणं कुणइ।१८४। —जो मिथ्यात्वादिका उपदेश करनेवाला हो, जो सच्चे मार्गको अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप मोक्षमार्गको दूषण लगाता हो, जो मार्गसे विरुद्ध मिथ्यामार्गको चलाता हो, ऐसा साधु मिथ्यात्व तथा मायाचारीसे जगत्को मोहता हुआ सम्मोही देवोंमें उत्पन्न होता है। (मू. आ./६७)

संयत—बहिरंग और अन्तरंग आस्रवोंसे विरत होनेवाला महाव्रती श्रमण संयत कहलाता है। शुभोपयोगयुक्त होनेपर वह प्रमत्त और आत्मसंवित्तिमें रत होनेपर अप्रमत्त कहलाता है। प्रमत्त संयत यद्यपि संज्वलनके तीव्रोदयवश धर्मोपदेश आदि कुछ शुभक्रिया करनेमें अपना समय गँवाता है, पर इससे उसका संयतपना घाता नहीं जाता, क्योंकि वह अपनी भूमिकानुसार ही वे क्रियाएँ करता है, उसको उल्लंघन करके नहीं।

*	भोगभूमिमें संयम न होनेका कारण। —दे. भूमि/६।
*	प्रत्येक मार्गणामें गुणस्थानोंके स्वामित्व सम्बन्धी शंका समाधान। —दे. वह वह नाम।
*	दोनों गुणस्थानोंमें सम्भव जीवसमास मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ। —दे. सत्।
*	दोनों गुणस्थानों सम्बन्धी सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तरभाव व अल्पबहुत्वरूप आठ प्ररूपणाएँ। - दे. वह वह नाम।
*	सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम। —दे. मार्गणा।
*	दोनों गुणस्थानोंमें कर्म प्रकृतियोंका बन्ध, उदय, सत्त्व। —दे. वह वह नाम।
२	**संयत निर्देश सम्बन्धी शंकाएँ**
१	प्रमत्त होते हुए भी संयत कैसे।
*	सामायिक स्थित भी गृहस्थ संयत नहीं। —दे. सामायिक/३।
*	व्रती भी मिथ्यादृष्टि संयत नहीं है। - दे. चारित्र/३/८।
२	अप्रमत्तसे पृथक् अपूर्वकरण आदि गुणस्थान क्या हैं।
३	संयतोंमें क्षायोपशमिक भाव कैसे।
४	संज्वलनके उदयके कारण औदयिक क्यों नहीं।
*	इन्हें उदयोपशमिक क्यों नहीं कहते। —दे. क्षयोपशम/२/३।
५	सम्यक्त्वकी अपेक्षा तीनों भाव हैं।
६	फिर सम्यक्त्वकी अपेक्षा इन्हें औपशमिकादि क्यों नहीं कहते।
७	सामायिक व छेदोपस्थापना संयतमें तीनों भाव कैसे।
३	**प्रमादजनक दोष परिचय**
१	आर्तध्यान व स्खलना होती है पर निरर्गल नहीं।
२	साधु योग्य शुभ कार्योंकी सीमा।
*	शुभोपयोगी साधु भव्यजनोंको तार देते हैं। —दे. धर्म/५/२।
३	परन्तु फिर भी संयतपना घाता नहीं जाता।

१. संयत सामान्य निर्देश

१. संयत सामान्यका लक्षण

ध. १/१,१,१२३/३६६/१ सम् सम्यक् सम्यग्दर्शनज्ञानानुसारेण यताः बहिरङ्गान्तरङ्गास्रवेभ्यो विरताः संयताः। —'सम्' उपसर्ग सम्यक् अर्थका वाची है, इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक 'यताः' अर्थात् जो बहिरंग और अन्तरंग आस्रवोंसे विरत हैं उन्हें संयत कहते हैं।

दे. संयम/१ [व्रत समिति आदि १३ प्रकारके चारित्रका सम्यक्त्वयुक्त पालन करना संयम है। उस संयमको धारण करनेवाला संयत है।]

दे. अनगार [श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त, यति ये सब एकार्थवाची हैं।]

दे. व्रती [घरके प्रति जो निरुत्सुक है, वह संयत है।]

दे. साधु/३/४ [कषाय हीनताका नाम चारित्र है और कषायसे असंयत होता है। इसलिए जिस व जितने कालमें साधु कषायोंका उपशमन करता है, उस व उतने कालमें वह संयत होता है।]

२. प्रमत्त संयतका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१४ वत्तावत्तपमाए जो वसइ पमत्तसंजओ होइ। सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो।१४। —जो पुरुष सकल मूलगुणोंसे और शील अर्थात् उत्तरगुणोंसे सहित है, अतएव महाव्रती, तथा व्यक्त और अव्यक्त प्रमादसे रहता है अतएव चित्रल आचरणी है, वह प्रमत्त संयत कहलाता है।१४। (ध. १/१,१,१५/गा ११३/१७८); (गो. जी./मू./३३/६२); (इसका विवेचन दे. आगे)

रा. वा./९/१/१७/५९०/३ सम्मूलसाधनोपपादितोपजननं बाह्यसाधनसंनिधानाविर्भावमापद्यमानं प्राणेन्द्रियविषयभेदात् द्वितयीं वृत्तिमास्कन्दं संयमोपयोगमारम्भसात्कुर्वन् पञ्चदशविधप्रमादवशात् क्वचित्प्रस्खलितचारित्रपरिणामः प्रमत्तसंयत इत्याख्यायते। —उस संयमलब्धि (दे. लब्धि/५/१) रूप अभ्यन्तर संयम परिणामोंके अनुसार बाह्य साधनोंके सन्निधानको स्वीकार करता हुआ प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमको पालता हुआ भी पन्द्रह प्रकारके प्रमादोंके वश कहीं कभी चारित्र परिणामोंसे स्खलित होता रहता है, अतः प्रमत्त संयत कहलाता है।

ध. १/१,१,१४/१७६/१० प्रकर्षेण मत्ताः प्रमत्ताः, सं सम्यग् यताः विरताः संयताः। प्रमत्ताश्च ते संयताश्च प्रमत्तसंयताः। —प्रकर्षसे मत्त जीवको प्रमत्त कहते हैं, और अच्छी तरहसे विरत या संयमको प्राप्त जीवोंको संयत कहते हैं। जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं, उन्हें प्रमत्त संयत कहते हैं।

गो. जी./मू./३२/६१ संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा। मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो।३२। —क्रोधादि संज्वलन कषाय और हास्यादि नोकषाय, इनके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण जिस संयममें मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद पाया जाता है, वह प्रमत्तविरत कहलाता है।

द्र. सं./टी./१३/३४/६ स एव सदृष्टिः···पञ्चमहाव्रतेषु वर्तते यदा तदा दुःस्वप्नादिव्यक्ताव्यक्तप्रमादसहितोऽपि षष्ठगुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयतो भवति। —स सम्यग्दृष्टि जब पंच महाव्रतोंमें बर्तता है; तब वह दुःस्वप्नादि व्यक्त या अव्यक्त प्रमाद सहित होता हुआ छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत होता है।

गो. जी./जी. प्र./३३/६३/४ प्रमत्तसंयतः चित्रलाचरण इत्युक्तम्। चित्रं प्रमादमिश्रितं लातीति चित्रलं आचरणं यस्यासौ चित्रलाचरण। अथवा चित्रलः सारंगः, तद्वद् शबलितं आचरणं यस्यासौ चित्रलाचरणः। अथवा चित्तं लातीति चित्तलं, चित्तलं आचरणं यस्यासौ चित्तलाचरणः, इति विशेषव्युत्पत्तिरपि ज्ञातव्या। —प्रमत्त संयतको चित्रलाचरण कहा गया है। 'चित्रं' अर्थात् प्रमादसे मिश्रित, 'लाति' अर्थात् ग्रहण करता है उसे चित्रल कहते हैं। ऐसा चित्रल आचरण वाला चित्रलाचरण है। अथवा चित्रल नाम चीतेका है, उसके समान चितकबरे आचरण वाला चित्रलाचरण है। अथवा 'चित्तं लाति' अर्थात् मनको प्रमादस्वरूप करे सो चित्तल, ऐसे चित्तल आचरणवाला चित्तलाचरण है। ऐसी विशेष निरुक्ति भी पाठान्तरकी अपेक्षा जाननी चाहिए।

३. अप्रमत्त संयत सामान्यका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१६ णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी । अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो ।१६। –जो व्यक्त और अव्यक्तरूप समस्त प्रकारके प्रमादसे रहित है, महाव्रत, मूलगुण और उत्तरगुणोंकी मालासे मण्डित है, स्व और परके ज्ञानसे युक्त है और कषायोंका अनुपशामक या अक्षपक होते हुए भी ध्यानमें निरन्तर लीन रहता है, वह अप्रमत्तसंयत कहलाता है। (ध. १/१.१.१५/गा. ११५/१७६), (गो. जी./मू./४६/९८) ।

रा. वा./९/१/१८/५९०/६ पूर्ववत संयममास्कन्दत् पूर्वोक्तप्रमादविरहाद अविचलितसंयमवृत्तिः अप्रमत्तसंयतः समाख्यायते । –पूर्ववत (दे० प्रमत्तसंयतका लक्षण) संयमको प्राप्त करके, प्रमादका अभाव होनेसे अविचलित संयमी अप्रमत्त संयत कहलाता है ।

ध. १/१.१.१५/१७८/७ प्रमत्तसंयताः पूर्वोक्तलक्षणाः, न प्रमत्तसंयता अप्रमत्तसंयताः पञ्चदशप्रमादरहितसंयता इति यावत् । –प्रमत्तसंयतोंका स्वरूप पहले कह आये हैं (दे० शीर्षक स./२)। जिनका संयम प्रमाद सहित नहीं होता है उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं। अर्थात संयत होते हुए जिन जीवोंके पन्द्रह प्रकारका प्रमाद नहीं पाया जाता है, उन्हें अप्रमत्तसंयत समझना चाहिए ।

गो. जी./मू./४५/९७ संजलणणोकसायाणुदयो मंदो जदा तदा होदि। अपमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि । –जब क्रोधादि संज्वलन कषाय और हास्य आदि नोकषाय इनका मन्द उदय होता है, तब अप्रमत्तगुण प्राप्त हो जानेसे वह अप्रमत्त संयत कहलाता है ।४५। (द्र. सं./टी./१३/३४/१०) ।

४. स्वस्थान व सातिशय अप्रमत्त निर्देश

गो. जी./जी. प्र./४५/९७/८ स्वस्थानाप्रमत्तः सातिशयप्रमत्तश्चेति द्वौ भेदौ । तत्र स्वस्थानाप्रमत्तसंयतस्वरूपं निरूपयति । –अप्रमत्त संयतके स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त ऐसे दो भेद हैं। तहाँ स्वस्थान अप्रमत्तसंयतका स्वरूप कहते हैं। [मूल व उत्तर गुणोंसे मण्डित, व्यक्त व अव्यक्त प्रमादमे रहित, कषायोंका अनुपशामक व अक्षपक होते हुए भी ध्यानमें लीन अप्रमत्तसंयत स्वस्थान अप्रमत्त कहलाता है—गो. जी./मू./४६ (दे० शीर्षक नं. ३)] ।

ल.सा./मू./२०५/२५९ उवसमचरियाहिमुहो वेदगसम्मो अणं बिजयित्ता । अंतोमुहुत्तकालं अधापवत्तो पमत्तो य ।२०५।

ल. सा./जी. प्र./२२०/२७३/७ चारित्रमोहोपशमने कर्त्तव्ये अधःप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरण···चेत्यष्टाधिकारा भवन्ति । तेष्वधःप्रवृत्तकरणं सातिशयाप्रमत्तसंयतः···यथा प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुखसातिशयमिथ्यादृष्टेर्भणितानि··· । –उपशमचारित्रके सम्मुख वेदक सम्यग्दृष्टि जीव (अप्रमत्त गुणस्थानमें) अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करके अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त अधःप्रवृत्त अप्रमत्त कहलाता है ।२०५। चारित्र मोहके उपशमनमें अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि आठ अधिकार होते हैं। उनमेंसे जो अधःप्रवृत्तकरण, अप्रमत्तसंयत है वह सातिशय अप्रमत्त कहलाता है, जिस प्रकार कि प्रथमोपशम सम्यक्त्वके सम्मुख जीव सातिशय मिथ्यादृष्टि होता है ।

५. दोनों गुणस्थानोंका आरोहण व अवरोहण क्रम

१. अप्रमत्तपूर्वक ही प्रमत्त गुणस्थान होता है

ध. ५/१.६.१२१/७४/८ उवसमसम्मत्तमप्पमत्तगुणं च जुगवं पडिवण्णो पमत्तो जादो हेट्ठा पडिदूणंतरिदो सगट्ठिदिं परिभमिय अपच्छिमे भवे मणुसो जादो । ···अंतोमुहुत्तावसेसे संसारे अप्पमत्तो होदूण पमत्तो जादो । लद्धमंतरं ।

ध. ५/१.६.१२१/७५/२ उवसम्मत्तमप्पमत्तगुणं च जुगवं पडिवण्णो··· अंतरिदो···मणुस्सेसु उववण्णो···अंतोमुहुत्तावसेसे संसारे विसुद्धो अप्पमत्तो जादो । तदो पमत्तो अप्पमत्तो ···।

ध. ५/१.६.३५९/१६६/३ एक्को सेडीदो ओदरिय असंजदो जादो । तत्थ अंतोमुहुत्तमच्छिय संजमासंजमं पडिवण्णो । तदो अप्पमत्तो पमत्तो होदूण असंजदो जादो । लद्धमुक्कस्संतरं ।

ध. ५/१.६.३६१/१६७/३ एक्को सेडीदो ओदरिय संजदासंजदो जादो । अंतोमुहुत्तमच्छिय अप्पमत्तो पमत्तो असंजदो च होदूण संजदासंजदो जादो । लद्धमुक्कस्संतरं । –१. (कोई जीव) उपशमसम्यक्त्व और अप्रमत्तसंयतको एक साथ प्राप्त हुआ, पश्चात प्रमत्तसंयत हुआ। पीछे नीचे गिरकर अन्तरको प्राप्त हो अपनी स्थिति प्रमाण परिभ्रमण कर अन्तिम भवमें मनुष्य हुआ। अन्तर्मुहूर्त काल संसारमें अवशिष्ट रहने पर अप्रमत्त संयत होकर पुनः प्रमत्तसंयत हुआ। इस प्रकार प्रमत्तसयतका उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हुआ। २. (कोई जीव) उपशम सम्यक्त्व व अप्रमत्त गुणस्थानको युगपत प्राप्त हुआ। पश्चात् अन्तरको प्राप्त हो मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ। संसारके अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहने पर विशुद्ध हो अप्रमत्तसंयत हुआ। पश्चात् प्रमत्तसंयत हो पुनः अप्रमत्त संयत हुआ। इस प्रकार अप्रमत्त संयतका उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हुआ। ३. एक संयत उपशम श्रेणीसे उतरकर असंयत सम्यग्दृष्टि हुआ। वहाँ अन्तर्मुहूर्त रहकर संयमासंयमको प्राप्त हुआ। पश्चात अप्रमत्त और प्रमत्त संयत होकर असंयतसम्यग्दृष्टि हो गया। इस प्रकार प्रकार उपशम सम्यग्दृष्टि असंयतोंका उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हुआ। ४. एक संयत उपशम श्रेणीसे उतरकर संयतासंयत हुआ। अन्तर्मुहूर्त रहकर अप्रमत्तसंयत, प्रमत्तसयत और असंयत सम्यग्दृष्टि होकर पुनः संयतासंयत हो गया। इस प्रकार संयतासंयत उपशम सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हुआ। ५. [इसी प्रकार काल व अन्तर प्ररूपणाओंमें सर्व पहले अप्रमत्त गुणस्थान प्राप्त कराके पीछे प्रमत्त गुणस्थान प्राप्त कराया गया है।] (और भी दे० गुणस्थान/२/१) ।

२. आरोहण व अवरोहण सम्बन्धी कुछ नियम

ध. ४/१.५.९/३४३/६ तस्स संकिलेस-विसोहीहि सह पमत्तापुव्वगुणे मोत्तूण गुणंतरगमणाभावा । मदस्स वि असंजदसम्मादिट्ठिं वदिरित्त-गुणंतरगमणाभावा । –अप्रमत्तसंयत जीवके संक्लेशकी वृद्धि हो तो प्रमत्त गुणस्थानको और यदि विशुद्धिकी वृद्धि हो तो अपूर्वकरण गुणस्थानको छोड़कर दूसरे गुणस्थानोंमें गमनका अभाव है। यदि अप्रमत्त संयत जीवका मरण भी हो तो असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानको छोड़कर दूसरे गुणस्थानोंमें गमन नहीं होता है। [ल. सा./मू. व जी. प्र./३४५/४३५) ।

दे० उपशीर्षक सं. १/१.२ [मिथ्यादृष्टि सीधा सम्यक्त्व व अप्रमत्त गुणस्थानको युगपत् प्राप्त कर सकता है। तथा संयतासंयतसे भी सीधा अप्रमत्त हो सकता है] ।

दे. गुणस्थान/२/१ [आरोहणकी अपेक्षामें अनादि व सादि दोनों प्रकारके मिथ्यादृष्टि, तीनों सम्यक्त्वोंसे युक्त सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत व प्रमत्त संयत ये सब सीधे अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त कर सकते हैं। अवरोहणकी अपेक्षासे अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती ही अप्रमत्तसंयतको प्राप्त होता है अन्य नहीं और अप्रमत्तसंयत ही प्रमत्तसंयतको प्राप्त है अन्य नहीं।]

दे. काल/६/२ [अपने उत्कृष्ट काल पर्यंत प्रमत्त संयत रहे तो नियमसे मिथ्यात्वको प्राप्त होता है।]

६. संयत गुणस्थानोंका स्वामित्व

गो. जी./मू./७१० दुविहं पि अपज्जत्तं ओघे मिच्छेव होदि णियमेण । सासण अयद पमत्ते णिव्वत्तिअपुण्णगो होदि ।७१०।

गो. जी./जी. प्र./७०३/६ प्रमत्ते मनुष्याः पर्याप्ताः साहारकर्द्धयस्तु उभये। अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्ताः पर्याप्ताः। –१. निर्वृत्ति व लब्धि ये दोनों प्रकारके अपर्याप्त नियमसे मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। सासादन असंयत व प्रमत्तसंयतमें निर्वृत्त्यपर्याप्त आलाप तो होता है (पर लब्ध्यपर्याप्त नहीं)। २. प्रमत्तसंयत मनुष्य पर्याप्त होते हैं परन्तु आहारक ऋद्धि सहित पर्याप्त व अपर्याप्त (निर्वृत्त्यपर्याप्त) दोनों होते हैं और अप्रमत्तादि क्षीणकषाय पर्यंत केवल पर्याप्त ही होते हैं। (और भी दे./काय/२/४)।

दे. मनुष्य/२/२ [मनुष्यगतिमें ही सम्भव है।]

दे. मनुष्य/३/१ [मनुष्य व मनुष्यनियाँ (भावसे स्त्रीवेदी और द्रव्यसे पुरुषवेदी) दोनोंमें सम्भव है। वहाँ भी कर्मभूमिजोंमें ही सम्भव है भोगभूमिजोंमें नहीं. आर्यखण्डमें ही सम्भव है म्लेच्छ खण्डोंमें नहीं. आर्यखण्डमें आकर म्लेच्छ भी तथा उनकी कन्याओंसे उत्पन्न हुई सन्तान भी कदाचित् संयत हो सकते हैं, विद्याओंका त्याग कर देने-पर विद्याधरोंमें भी सम्भव है अन्यथा नहीं।]

दे. वह वह गति—[नरक तिर्यंच व देव गतिमें सम्भव नहीं।]

दे. आयु/६/७ [देव आयुके अतिरिक्त अन्य तीन आयु जिसने पहिले बाँध ली है, उसको संयमकी प्राप्ति नहीं हो सकती।]

दे. चारित्र/३/७-८ [मिथ्यादृष्टि व्रतीको भी संयत नहीं कहा जा सकता है।]

दे. वेद/७ -[द्रव्य स्त्री संयत नहीं हो सकती।]

२. संयत निर्देश सम्बन्धी शंकाएँ

१. प्रमत्त होते हुए भी संयत कैसे

ध. १/१,१,१४/१७६/१ यदि प्रमत्ताः न संयताः स्वरूपासंवेदनात्। अथ संयताः न प्रमत्ताः संयमस्य प्रमादपरिहाररूपत्वादिति नैष दोष, संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः गुप्तिसमित्यनुरक्षितः, नासौ प्रमादेन विनाश्यते तत्र तस्मान्मलोत्पत्तेः। संयमस्य मलोत्पादक एवात्र प्रमादो विवक्षितो न तद्विनाशक इति। कुतोऽवसीयत इति चेत् संयमाविनाशान्यथानुपपत्तेः। न हि मन्दतमः प्रमादः क्षणक्षयी संयमविनाशकोऽसति विबन्धर्यनुपलब्धेः। –प्रश्न—यदि छठे गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो संयत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, उनको अपने स्वरूपका संवेदन नहीं हो सकता है। यदि वे संयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि संयम भाव प्रमादके अभावस्वरूप होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापोंसे विरतिभावको संयम कहते हैं, जो कि तीन गुप्ति और पंच समितियोंसे अनुरक्षित हैं (दे. संयम/१)। वह संयम वास्तवमें प्रमादसे नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, संयममें प्रमादसे केवल मलकी ही उत्पत्ति है। प्रश्न—ऐसा ही सूक्ष्म प्रमाद यहाँ विवक्षित है, यह कैसे जाना? उत्तर—छठे गुणस्थानमें संयमका विनाश न होना अन्यथा बन नहीं सकता। वहाँ होनेवाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद संयमका नाश भी नहीं कर सकता है, क्योंकि, सकल संयमका उत्कटरूपसे प्रतिबन्ध करनेवाले प्रत्याख्यानावरणके अभावमें संयमका नाश नहीं पाया जाता।

गो. जी./जी. प्र./३३/६३/४ अत्र साकल्यं महत्त्वं च देशसंयतापेक्षया ज्ञातव्यं, ततः कारणादेव प्रमत्तसंयतः चित्रलाचरण इत्युक्तम्। –यहाँ सकलचारित्रपना या महाव्रतपना अपनेसे नीचेवाले देशसंयमकी अपेक्षा जानना चाहिए अपनेसे ऊपरके गुणस्थानोंकी अपेक्षा नहीं। इसलिए ही प्रमत्तसंयतको चित्रलाचरण कहा गया है।

२. अप्रमत्तसे पृथक् अपूर्वकरणादि गुणस्थान क्या हैं

ध. १/१,१,१५/१७८/८ शेषाशेषसंयतानामत्रैवान्तर्भावाच्छेषसंयतगुणस्थानानामभाव: स्यादिति चेन्न, संयतानामुपरिष्टात्प्रतिपद्यमानविशेषणविशिष्टानामसत्प्रमादानामिह ग्रहणात्। –प्रश्न—बाकीके सम्पूर्ण संयतोंका इसी अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए शेष गुणस्थानोंका अभाव हो जायगा? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो आगे चलकर प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरण आदि विशेषणोंसे अविशिष्ट हैं अर्थात् भेदको प्राप्त नहीं होते हैं और जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है, ऐसे संयतोंका ही यहाँपर ग्रहण किया गया है, इसलिए आगेके समस्त गुणस्थानोंका इसमें अन्तर्भाव नहीं होता है।

३. संयतोंमें क्षायोपशमिक भाव कैसे

ध. १/१,१,१४/१७६/७ पञ्चसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्यायं प्रमत्तसंयतगुण उत्पन्नश्चेत्संयमापेक्षया क्षायोपशमिकः। कथम्। प्रत्याख्यानावरणसर्वघातिस्पर्धकोदयक्षयात्तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमात् संज्वलनोदयाच्च प्रत्याख्यानसमुत्पत्तेः। –प्रश्न—पाँचों भावोंमेंसे किस भावका आश्रय लेकर यह प्रमत्त संयत गुणस्थान उत्पन्न होता है? उत्तर—संयमकी अपेक्षा यह क्षायोपशमिक है। प्रश्न—क्षायोपशमिक किस प्रकार है? उत्तर—१. क्योंकि वर्तमानमें प्रत्याख्यानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय क्षय होनेसे और आगामी कालमें उदयमें आनेवाले सत्तामें स्थित उन्हींके उदयमें न आनेरूप उपशमसे तथा संज्वलन कषायके उदयसे प्रत्याख्यान अर्थात् संयम उत्पन्न होता है इसलिए क्षायोपशमिक है। [बिलकुल इसी प्रकार अप्रमत्तगुणस्थान भी क्षायोपशमिक है—(ध. १/१,१,१५/१७६/२)] (ध. ५/१,७,७/२०३/१)।

ध. ७/२,१,४६/९२/४ कधं खओवसमिया लद्धी। चदुसंजलण-णवणोकसायाणं देसघादिफद्दयाणमुदयेण संजमुप्पत्तीदो। कधमेदेसि उदयस्स खओवसमववएसो। सव्वघादिफद्दयाणि (दे. क्षयोपशम/१/१)।... एवं सामाइयच्छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदाणं पि वत्तव्वं। –प्रश्न- १. संयतके क्षायोपशमिक लब्धि कैसे होती है? उत्तर—२. चारों संज्वलन कषायों और नौ नोकषायोंके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे संयमकी उत्पत्ति होती है, इस प्रकार संयतके क्षायोपशमिक लब्धि पायी जाती है। प्रश्न—नोकषायोंके देशघाती स्पर्धकोंके उदयको क्षयोपशम नाम क्यों दिया गया? उत्तर—[सर्वघाती स्पर्धकोंकी शक्तिका अनन्त गुणा हीना ही क्षय है और देशघाती स्पर्धकोंके रूपमें उनका अवस्थान उपशम है। दोनोंके योगसे क्षयोपशम नाम सार्थक है (दे. क्षयोपशम/१/१)] इसी प्रकार सामायिक और छेदोपस्थापना शुद्धिसंयतोंके विषयमें भी कहना चाहिए।

ध. ५/१,७,७/२०२/३ पच्चक्खाणावरण-चदुसंजलणणवणोकसायाणमुदयस्स सव्वप्पणा चारित्तविणासणसत्तीए अभावादो तस्स खयसण्णा। तेसिं चेव उप्पण्णचारित्तं सेडिवावारंतस्स उवसमसण्णा। तेहि दोहितो उप्पण्णा एदे तिण्णि वि भावा खओवसमिया जादा। –३. प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन चतुष्क और नवनोकषायोंके उदयके सर्वप्रकारसे चारित्र विनाश करनेकी शक्तिका अभाव है, इसलिए उनके उदयकी क्षय संज्ञा है, उन्हीं प्रकृतियोंकी उत्पन्न हुए चारित्रको अथवा श्रेणीको आवरण नहीं करनेके कारण उपशम संज्ञा है। क्षय और उपशम इन दोनोंके द्वारा उत्पन्न हुए ये उक्त तीनों भाव (संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत) भी क्षायोपशमिक हो जाते हैं।

४. संज्वलनके उदयके कारण औदयिक क्यों नहीं

ध. १/१,१,१४/१७७/१ संज्वलनोदयात्संयमो भवतीत्यौदयिकव्यपदेशोऽस्य किं न स्यादिति चेन्न, ततः संयमस्योत्पत्तेरभावात्। क्व तद्व्याप्रियत इति चेत्प्रत्याख्यानावरणसर्वघातिस्पर्धकोदयक्षयसमुत्पन्नसंयममलोत्पादने तस्य व्यापारः। –प्रश्न–संज्वलन कषायके उदयसे संयम होता है, इसलिए उसे औदयिक नामसे क्यों नहीं कहा जाता है? उत्तर–नहीं, क्योंकि, संज्वलन कषायके उदयसे संयमकी उत्पत्ति नहीं होती है। प्रश्न–तो संज्वलनका व्यापार कहाँ पर होता है? उत्तर–प्रत्याख्यानावरण कषायके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे उत्पन्न हुए संयममें मलके उत्पन्न करनेमें संज्वलनका व्यापार होता है।

५. सम्यक्त्वकी अपेक्षा तीनों भाव हैं

ध. १/१,१,१४/१७७/४ संयमनिबन्धनसम्यक्त्वापेक्षया क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकगुणनिबन्धनः। –संयमके कारणभूत सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो यह गुणस्थान क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावनिमित्तक है। (और भी दे. भाव/२/१०)।

६. फिर सम्यक्त्वकी अपेक्षा इन्हें औपशमिकादि क्यों नहीं कहते

ध. ७/१,७,७/२०३/१० दंसणमोहणीयकम्मस्स उवसमखय-खओवसमे अस्सिदूण संजदासंजदादीणमोवसमियादिभावा किण्ण परूविदा। ण, तदो संजमासंजमादिभावाणमुप्पत्तीए अभावादो। ण च एत्थ सम्मत्तविसया पुच्छा अत्थि, जेण दंसणमोहणिबंधणओवसमियादिभावेहि संजदासंजदादीणं ववएसो होज्ज। ण च एवं तधाणुवलंभा। –प्रश्न–दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमका आश्रय करके संयतासयतादिकोंके औपशमिकादि भाव क्यों नहीं बताये गये? उत्तर–नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयकर्मके उपशमादिसे संयमासंयम आदि भावोंकी उत्पत्ति नहीं होती। दूसरे, यहाँपर सम्यक्त्वविषयक पृच्छा (प्रश्न) भी नहीं है, जिससे कि दर्शनमोहनीय निमित्तक औपशमिकादि भावोंकी अपेक्षा संयतासंयतादिकके औपशमिकादि भावोंका व्यपदेश हो सके। ऐसा है नहीं, क्योंकि उस प्रकारकी व्याख्या नहीं पायी जाती है।

दे. सान्निपातिक–[अथवा सान्निपातिक भावोंकी अपेक्षा करनेपर यहाँ औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक व पारिणामिक इन चारों भावोंके द्वि त्रि आदि संयोगी अनेक भंग बन जाते हैं]।

७. सामायिक व छेदोपस्थापनामें तीनों भाव कैसे

ध. ७/१,१,४६/६३/६ कधमेक्कस्स चरित्तस्स तिण्णि भावा। ण एक्कस्स वि चित्तपयंगस्स बहुवण्णदंसणादो। –[संयत सामान्य, सामायिक व छेदोपस्थापना संयम इनमें औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक तीनों भाव संभव हैं–दे. भाव/२/१०]। प्रश्न–एक ही चारित्रमें औपशमिकादि तीनों भाव कैसे होते हैं? उत्तर–जिस प्रकार एक ही बहुवर्ण पक्षीके बहुतसे वर्ण देखे जाते हैं, उसी प्रकार एक ही चारित्र नाना भावोंसे युक्त हो सकता है।

३. प्रमादजनक दोष परिचय

१. आर्तध्यान व स्खलना होते हैं पर निरर्गल नहीं

नोट–[साधुको प्रमाद वश आर्तध्यान होना सम्भव है–(दे. आर्तध्यान/३)। परन्तु उसे रौद्रध्यान कदापि नहीं होता (दे. रौद्रध्यान/८)। बकुश व प्रतिसेवना कुशील साधुको भी उपकरणोंमें आसक्ति होनेके कारण कदाचित् आर्तध्यान सम्भव है (दे. साधु/५/५)। वह प्रमाद वश कदाचित् चारित्रके परिणामोंसे स्खलित भी हो जाता है–(दे. संयत/१/२)। उसका आचरण चित्रल होता है–(दे. संयत/१/२)। परन्तु यह आर्तध्यान सर्वसाधारण नहीं होता।–(दे. अगले संदर्भ)]।

र. सा./११०-१११ वसहीपडिमोवयरणे गणगच्छे समयसंगजाइकुले। सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुयजाते कप्पडे पुत्थे।११०। पिच्छे संथरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं। यावच्च अट्टरुद्दं ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं।१११। –वसतिका, प्रतिमोपकरण, गण, गच्छ, समय, जाति, कुल, शिष्य, प्रतिशिष्य, विद्यार्थी, पुत्र, पौत्र, कपड़े, पुस्तक, पीछी, संस्तर, आदिमें लोभसे जो साधु ममत्व करता है, तथा ममत्व करनेके कारण जब तक आर्त और रौद्रध्यान करता है, तब तक क्या वह मोक्षसुखसे वंचित नहीं रहता।११०-१११।

ज्ञा./२५/४१-४२ इत्यार्तरौद्रे गृहिणामजस्रं ध्याने सुनिन्द्ये भवतः स्वतोऽपि। परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्कितेऽन्तःकरणे विशङ्कम्।४१। क्वचित्क्वचिदमी भावाः प्रवर्तन्ते मुनेरपि। प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं प्राय संसारकारणम्।४२। –इस प्रकार ये आर्त और रौद्रध्यान गृहस्थियोंके परिग्रह आरम्भ और कषायादिके दोषसे मलिन अन्तःकरणमें स्वयमेव निरन्तर होते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।४१। और कभी-कभी ये भाव पूर्वकर्मकी विचित्रतासे मुनिके भी होता है। बाहुल्यसे ये संसारके कारण हैं।४२।

दे. गुरु/२/२ [कदाचित् शिष्यको लात तक मार देते हैं।]

दे. अपवाद/३ [परोपकारार्थ कदाचित् मन्त्र तन्त्र व शस्त्रादि भी प्रदान करते हैं।]

दे. अपवाद/४/३ [परन्तु योग्य ही उपधिका ग्रहण करता है अयोग्यका नहीं।]

दे. साधु/२/८ [बिना सोधे आहारादिका ग्रहण नहीं करता, मैत्रीभावसे रहित हो पैशुन्य आदि भाव नहीं करता। दूसरोको पीड़ा नहीं देता, आरम्भ व सावद्य कार्य नहीं करता। मन्त्र तन्त्र आदिका प्रयोग नहीं करता इत्यादि।

दे. तीसरा शीर्षक–[यद्यपि संज्वलनके तीव्र उदयसे अनेकों प्रकारके शुभ कार्योंमें रत रहता है, शुद्धात्म भावनासे च्युत हो जाता है, परन्तु फिर भी वह संयतपनेको उल्लंघन नहीं करता।]

२. साधु योग्य शुभ कार्योंकी सीमा

प्र. सा./मू./गा. बालो वा वुड्ढो समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा। चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि।२३०। अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु। विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया।२४६। वंदणणमंसणेहि अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती। समणेसु समावणओ णिदिदा रायचरियम्हि।२४७। दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं। चरिया हि सरागाणं जिणिदपूजोवदेसो य।२४८। उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स। कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से।२४९। जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं। अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो।२५१। रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं। दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए।२५२। –बाल, वृद्ध, श्रान्त, या ग्लान श्रमण मूलका छेद जैसे न हो उस प्रकारसे अपने योग्य आचरण करो।२३०। [अर्थात् युवाकी अपेक्षा वृद्धमें और स्वस्थकी अपेक्षा रोगीमें यद्यपि अवश्य ही कुछ शिथिलता होती है, और इसलिए उनकी क्रियाओंमें भी तरतमता होती पर वह मूलगुणोंको उल्लंघन नहीं कर पाती]। श्रामण्यमें यदि अरहंतादिकोंके प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवोंके प्रति वात्सल्य पाया जाता है, वह शुभयुक्त चर्या है।२४६। श्रमणोंके प्रति वन्दन, नमस्कार सहित अभ्युत्थान और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति करना तथा उनका

श्रम दूर करना रागचर्यामें निन्दित नहीं है।२४७। दर्शनज्ञानका उपदेश, शिष्योंका ग्रहण तथा उनका पोषण और जिनेन्द्रकी पूजाका उपदेश वास्तवमें सरागियोंकी चर्या है।२४८। जो कोई सदा छह कायकी विराधनासे रहित चार प्रकारके श्रमणसंघका उपकार करता है, वह भी रागकी प्रधानतावाला है।२४९। यद्यपि अल्प लेप होता है तथापि साकार अनाकार चर्या युक्त (अर्थात् शुद्धात्माके ज्ञान-दर्शनमें प्रवर्तमान वृत्तिवाले) जैनोंका अनुकम्पासे निरपेक्षतया (शुभोपयोगसे) उपकार करो।२५१। रोगसे, क्षुधासे, तृषासे अथवा श्रमसे आक्रान्त श्रमणको देखकर साधु अपनी शक्तिके अनुसार वैयावृत्ति आदि करो।२५२।

मू. आ./११५ पोसह उवओ पक्खे तह साहू जो करेदि णियदं तु। णावाए कल्लाणं चादुम्मासेण णियमेण।११५। —जो साधु चातु-र्मासिक प्रतिक्रमणके नियमसे दोनों चतुर्दशी तिथियोंमें प्रोषधो-पवास अवश्य करता है वह सुखकी प्राप्ति अवश्य करता है।११५।

र. सा./९९ तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणसहावजुदो। अणवरयं धम्मकहापसंगदो होइ मुणिराओ।९९। —जो मुनिराज सदा आत्म-तत्त्वके विचार करनेमें लीन रहते हैं, मोक्षमार्गको आराधन करनेका जिनका स्वभाव हो जाता है, और जिनका समय निरन्तर धर्मकथामें ही लीन रहता है, वे ही यथार्थ मुनिराज कहाते हैं।

दे० संयम/१/६ [व्रत, समिति, गुप्ति, आदि पालन साधुका धर्म है और दानपूजा आदि गृहस्थोंका]।

दे. साधु/२/२ [पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियोंका रोध, केशलोंच, षड् आवश्यक, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदंत-धोवन, स्थिति भोजन, एकभुक्ति ये तो साधुके २८ मूलगुण हैं और १८००० शील व ८४०००,०० उत्तर गुण इन सबका यथा योग्य पालन करता है।]

दे. कृतिकर्म/४/१ [देव वन्दना आचार्य वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि साधुके नित्यकर्म हैं।]

दे. वैयावृत्त्य/८ [वैयावृत्त्यके अर्थ लौकिक जनोंके साथ बातचीत करना निन्द्य नहीं है।]

दे. अपवाद/३ [सल्लेखना गत क्षपकके लिए आहार वर्तन आदि माँगकर लाते हैं, उनको तैलमर्दन करते हैं, गर्मियोंमें शीतोपचार और सर्दियोंमें उष्णोपचार करते हैं, कदाचित उसको अनीमा लगाते हैं, क्षपकके मृत शरीरके अंग आदिका छेदन करते हैं, इत्यादि अनेकों अपवाद ग्रस्त क्रियाएँ भी कारण व परिस्थिति वश करता है।]

३. परन्तु फिर भी संयतपना घाता नहीं जाता

प्र. सा./मू./२२१-२२२ किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स। तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि।२२१। छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स। समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता।२२२। —प्रश्न—उपधिके सद्भावमें उस भिक्षुके मूर्च्छा आरम्भ या असंयम न हो यह कैसे हो सकता है, तथा जो परद्रव्यमें रत हो वह आत्माको कैसे साध सकता है।२२१। उत्तर—जिस उपधिके ग्रहण विसर्जनमें, सेवन करनेमें, जिससे सेवन करनेवाले-के छेद नहीं होता, उस उपधियुक्त [अर्थात् कमण्डलु पीछी व शास्त्ररूप लौकिक जनोंके द्वारा अप्रार्थनीय उपधियुक्त - दे. अप-वाद/४/३] काल, क्षेत्रको जानकर इस लोकमें श्रमण भले वर्ते।२२२।

पं. ध./उ./६५७, ६८०-६८६ यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम्। तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः।६५७। सति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्धकाः देशघातिनः। तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमाद्द्वयाः।६८०। संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः। सोऽपि तरतमस्वांशैः सोऽप्यनेकैरनेकधा।६८१। अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह। तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः।६८२। तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिति। संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः।६८३। किन्तु दैवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोऽथवा क्वचित्। तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुनः।६८४। तेषां तीव्रोदयस्तावदेतावानत्र बाधकः। सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोऽपरोऽस्त्यतः।६८५। तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः। कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः।६८६। —जो मोहसे अथवा प्रमादसे जितने काल तक वह लौकिकी क्रियाको करता है उतने काल तक अन्तरंग व्रतोंसे च्युत होनेके कारण वह आचार्य नहीं है।६५७। वास्तवमें संज्वलन कषायका तीव्र या मन्द उदय ही चारित्रकी क्षति व अक्षतिमें हेतु है।६८०। संक्लेशसे क्षति होती है और असंक्लेशसे अक्षति। वह संक्लेश भी तरतमताकी अपेक्षा अनेक प्रकारका है और वह तरतमता भी अपने कारणोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारकी है।६८१। उस संक्लेश या विशुद्धिके योगसे आचार्यके शिथिलता होवे या न होवे परन्तु इतने मात्रसे उनकी आत्मामें अतत्परता सिद्ध नहीं होती।६८२। तथा उस संज्वलनके मन्दोदयसे होनेवाला विशुद्धि अंश और उसके तीव्रोदयसे होनेवाला संक्लेश अंश ये दोनों ही उस आचार्यपदके साधक या बाधक नहीं हैं, कर्मोदयवश कभी विशुद्धि अंश और कभी संक्लेश अंश उनके पाये ही जाते हैं।६८३-६८४। उसका तीव्र उदय वास्तवमें उस विशुद्धिका ही बाधक है, पर आचार्य पदका नहीं। यदि वह संक्लेश आचार्य पदका ही बाधक हो जाय तो फिर उससे बड़ा कोई अपराध ही नहीं है। अर्थात् फिर उसे मल दोष न कहकर अपराध कहना चाहिए।६८५। उस तीव्रोदयके द्वारा उनकी आत्मा शुद्धात्मानुभवसे च्युत नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसा करनेमें संज्वलनका तीव्र उदय नहीं बल्कि मिथ्यात्वका उदय कारण है।६८६।

दे. संयत/२/१ [व्रत समिति गुप्ति रूप चारित्र प्रमादसे नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका प्रतिबन्धक प्रत्याख्यानावरण है, न कि संयतोंमें पाया जानेवाला संज्वलनका स्वल्पकालिक मन्दतम उदय।

दे. संयत/२/४ [संज्वलनके उदयसे संयममें केवल मल उत्पन्न होता है, उसका विनाश नहीं।]

दे. धर्म/६/६ [व्यवहाररूप शुभधर्म प्राय. गृहस्थोंको होता है, साधुओंके केवल गौणरूपसे पाया जाता है।]

संयतासंयत—संयम धारनेके अभ्यासकी दशामें स्थित कुछ संयम और कुछ असंयम परिणाम युक्त श्रावक संयतासंयत कहलाता है। विशेष दे. श्रावक।

४	संयमासंयमका स्वामित्व ।
*	मिथ्यादृष्टिको सम्भव नहीं । —दे. चारित्र/३/८ ।
*	इसमें सम्भव जीवसमास मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ । —दे. सत ।
*	मार्गणाओंमें इसके स्वामित्व सम्बन्धी शंका-समाधान । —दे. वह वह नाम ।
*	इस सम्बन्धी सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव व अल्पबहुत्वरूप ८ प्ररूपणाएँ । —दे. वह वह नाम ।
*	सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार व्यय । —दे. मार्गणा ।
*	भोगभूमिमें संयमासंयमके निषेधका कारण । —दे. भूमि/६ ।
*	शूद्रको क्षुल्लक दीक्षा सम्बन्धी । —दे. वर्णव्यवस्था/४ ।
५	इसके पश्चात् भव धारणकी सीमा ।
*	सर्वलघु कालमें संयमासंयम धारणकी योग्यता । —दे. संयम/२ ।
*	पुनः पुनः संयमासंयम प्राप्तिकी सीमा । — दे. संयम/२ ।
६	संयतासंयतोंमें सम्भव भाव ।
७	इसमें क्षायोपशमिक भाव कैसे ।
*	इसे औदयिकौपशमिक नहीं कह सकते । —दे. क्षायोपशमिक/२/३ ।
*	सम्यग्दर्शनके आश्रयसे औपशमिकादि क्यों नहीं । —दे. संयत/२/६ ।
*	इसमें कर्म प्रकृतियोंका बन्ध उदय सत्त्व । —दे. वह वह नाम ।
*	एकान्तानुवृद्धि आदि संयतासंयत । —दे. लब्धि/५/८ ।
*	स्वर्गमें ही जन्मनेका नियम । —दे. जन्म/५/४ ।
*	इसमें आत्मानुभव सम्बन्धी । —दे. अनुभव/५ ।

१. संयतासंयतका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/गा. जो तसवहाउ विरदो णो विरओ अक्खथावरवहाओ। पडिसमयं सो जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई ।१३। जो ण विरदो दु भावो थावरवहइंदियत्थदोसाओ। तसवहविरओ सोच्चिय संजमासंजमो दिट्ठो ।१३४। पंच तिय चउविहेहिं अणुगुण-सिक्खावएहिं संजुत्ता। वुच्चंति देसविरया सम्माइट्ठी झडियकम्मा ।१३५। —१. जो जीव एक मात्र जिन भगवान्में ही मतिको रखता है, तथा त्रस जीवोंके घातसे विरत है, और इन्द्रिय विषयोंसे एवं स्थावर जीवोंके घातसे विरक्त नहीं है, वह जीव प्रति समय विरताविरत है। अर्थात् अपने गुणस्थानके कालके भीतर दोनों संज्ञाओंको युगपत् धारण करता है ।१३। २. भावोंसे स्थावरवध और पाँचों इन्द्रियोंके विषय सम्बन्धी दोषोंसे विरत नहीं होने किन्तु त्रस वधसे विरत होनेको संयमासंयम कहते हैं, और उनका धारक जीव नियमसे संयमासंयमी कहा गया है ।१३४। ३. पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंसे संयुक्त होना विशिष्ट संयमासंयम है। उसके धारक और असंख्यात गुणश्रेणीरूप निर्जराके द्वारा कर्मोंके झाड़नेवाले ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव देशविरत या संयतासंयत कहलाते हैं ।१३५। (ध. १/१,१,१२३/गा. १९२/१७३); (गो. जी./४७६/८८३)

रा. वा./२/५/८/१०८/७ विरताविरतं परिणामः क्षायोपशमिकः संयमासंयमः ।

रा. वा./६/१२/७/५२२/२७ संयमासंयमः अनात्यन्तिकी विरतिः । —क्षायोपशमिक विरताविरत परिणामको संयमासंयम कहते हैं । अथवा अनात्यन्तिकी विरक्तताको संयमासंयम कहते हैं ।

ध. १/१,१,१३/१७३/१० संयताश्च ते असंयताश्च संयतासंयताः । —जो संयत होते हुए भी असंयत होते हैं, उन्हें संयतासंयत कहते हैं ।

पु. सि. उ./४१ या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति । —जो एकदेश विरतिमें लगा हुआ है वह श्रावक होता है ।

दे. व्रती—[घरके प्रति जिसकी रुचि समाप्त हो चुकी है वह संयत है और गृहस्थी संयतासंयत हैं ।]

दे. विरताविरत [बारह व्रतोंसे सम्पन्न गृहस्थ विरताविरत हैं ।]

२. संयम व असंयम युगपत् कैसे

ध. १/१,१,१३/१७३/१० यदि संयतः, नासावसंयतः । अथासंयतः, नासौ संयत इति विरोधान्नायं गुणो घटत इति चेदस्तु गुणानां परस्पर-परिहारलक्षणो विरोधः इष्टत्वात्, अन्यथा तेषां स्वरूपहानिप्रसंगात् । न गुणानां सहानवस्थानलक्षणो विरोधः संभवति, संभवेद्वा न वस्त्वस्ति तस्यानेकान्तनिबन्धनत्वात् । यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु । सा च नैकान्ते एकानेकाभ्यां प्राप्तनिरूपितावस्थाभ्यामर्थक्रिया-विरोधात् । न चैतन्याचैतन्याभ्यामनेकान्तस्तयोर्गुणत्वाभावात् । सहभुवो हि गुणाः, चानयोः सहभूतिरस्ति असति बन्धपर्ययेनुपलम्भात् । भवति च विरोधः समाननिबन्धनत्वे सति । न चात्र विरोधः संयमासंयमयोरेकद्रव्यवर्तिनोस्त्रसस्थावरनिबन्धनत्वात् । —प्रश्न—जो संयत होता है, वह असंयत नहीं हो सकता है, और जो असंयत होता है वह संयत नहीं हो सकता है, क्योंकि, संयमभाव और असंयमभावका परस्पर विरोध है, इसलिए यह गुणस्थान नहीं बनता है ? उत्तर—१. विरोध दो प्रकारका है—परस्परपरिहारलक्षण विरोध और सहानवस्थालक्षण विरोध । इनमेंसे एक द्रव्यके अनन्तगुणोंमें होनेवाला परस्पर परिहारलक्षण विरोध यहाँ इष्ट ही है, क्योंकि यदि एक दूसरेका परिहार करके गुणोंका अस्तित्व न माना जावे तो उनके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है । परन्तु इतने मात्रसे गुणोंमें सहानवस्थालक्षण विरोध सम्भव नहीं है । यदि नाना गुणोंका एक साथ रहना ही विरोधस्वरूप मान लिया जाये तो वस्तुका अस्तित्व ही नहीं बन सकता है, क्योंकि, वस्तुका सद्भाव अनेकान्त निमित्तक ही होता है । जो अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है वह वस्तु है और वह एकान्त पक्षमें बन नहीं सकती, क्योंकि यदि अर्थक्रियाको एकरूप माना जावे तो पुनः पुनः उसी अर्थक्रियाकी प्राप्ति होनेसे, और यदि अनेकरूप माना जावे तो अनवस्था दोष आनेसे एकान्तपक्षमें अर्थक्रियाके होनेमें विरोध आता है । २. ऊपरके कथनसे चैतन्य और अचैतन्यके साथ भी व्यभिचार नहीं आता है, क्योंकि, चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों गुण नहीं हैं । जो सहभावी होते हैं उन्हें गुण कहते हैं, परन्तु ये दोनों सहभावी नहीं हैं, क्योंकि बन्धरूप अवस्थाके नहीं रहनेपर चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों एक साथ नहीं पाये जाते हैं । ३. दूसरे विरुद्ध दो धर्मोंकी उत्पत्तिका कारण यदि एक मान लिया जावे तो विरोध आता है, परन्तु संयमभाव और असंयमभाव इन दोनोंको एक आत्मामें स्वीकार कर लेनेपर भी कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, उन दोनोंकी उत्पत्तिके कारण भिन्न-भिन्न हैं । संयमभावकी उत्पत्तिका कारण त्रसहिंसासे विरति भाव है और असंयम भावकी उत्पत्तिका कारण स्थावर हिंसासे अविरति भाव है । इसलिए संयतासंयत नामका पाँचवाँ गुणस्थान बन जाता है ।

३. इसके परिणामोंमें चतु:स्थान पतित हानि वृद्धि

ल. सा./मू./१७६/२२८ वेगो समये समये सुज्झंतो संकिलिस्समाणो य। चउवड्ढिहाणिदव्वादव्वड्ढिदं कुणदि गुणसेढिं। —अथाप्रवृत्त देशसंयत जीव समय-समय विशुद्ध और संक्लिष्ट होता रहता है। विशुद्ध होनेपर असंख्यातभाग, संख्यातभाग, संख्यातगुण व असंख्यातगुण इन चार प्रकारकी वृद्धि सहित, और संक्लिष्ट होनेपर इन्हीं चार प्रकारकी हानि सहित द्रव्यका अपकर्षण करके गुणश्रेणीमें निक्षेपण करता है। इस प्रकार उसके कालमें यथासम्भव चतु:स्थान-पतित वृद्धि हानि सहित गुणश्रेणी विधान पाया जाता है।

४. संयमासंयमका स्वामित्व

दे. नरक/४/१ [नरक गतिमें सम्भव नहीं।]

दे. तिर्यंच/२/२-४ [केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचको सम्भव है, अन्य एकेन्द्रियसे असंज्ञी पर्यंतको नहीं, कर्मभूमिजोंको ही होता है भोगभूमिजोंको नहीं, कर्म भूमिजोंको भी आर्यखण्डमें ही होता है, म्लेच्छ-खण्डमें नहीं। वहाँ भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंचको नहीं होता। सर्वत्र पर्याप्तकोंमें ही होता है अपर्याप्तकोंमें नहीं।]

दे. मनुष्य/३/२ [मनुष्योंमें केवल कर्मभूमिजोंका ही सभव है भोगभूमिजोंको नहीं, वहाँ भी आर्य खण्डोंमें ही सम्भव है म्लेच्छखण्डोंमें नहीं। विद्याधरोंमें भी सम्भव है। सर्वत्र पर्याप्तकोंमें ही होता है अपर्याप्तकोंमें नहीं।]

दे. देव/II/३/२ [देव गतिमें सम्भव नहीं।]

दे. आयु/६/७ [जिसने पहिले देवायुके अतिरिक्त तीन आयुको बाँध लिया है ऐसा कोई जीव संयमासंयमको प्राप्त नहीं हो सकता।]

दे. सम्यग्दर्शन/IV/५/५ [क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयत मनुष्य ही होते हैं तिर्यंच नहीं।]

५. संयमासंयमके पश्चात् भवधारणकी सीमा

वसु श्रा./५३९ सिज्झइ तइयम्मि भवे पंचमए कोवि सत्तमट्ठमए। भुंजिवि सुरमणुयसुहं पावेइ कमेण सिद्धपयं।५३९। —उपरोक्त रीतिसे श्रावकोंका आचार पालन करनेवाला (दे. श्रावक)] तीसरे भवमें सिद्ध होता है। कोई क्रमसे देव और मनुष्योंके सुखको भोगकर पाँचवें सातवें या आठवें भवमें सिद्ध पदको प्राप्त करते हैं। [यह नियम या तो क्षायिक सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा जानना चाहिए (दे. सम्यग्दर्शन/I/५/४), और या प्रत्येक तीसरे भवमें संयमासंयमको प्राप्त होनेवालेकी अपेक्षा जानना चाहिए, अथवा उपचाररूप जानना चाहिए, क्योंकि एक जीव पल्यके असंख्यातवें बार तक संयमासंयमकी प्राप्ति कर सकता है ऐसा निर्देश प्राप्त है (दे. संयम/२)]।

६. संयतासंयतमें सम्भव भाव

ध. १/१,१,१३/१७४/७ औदयिकादिपञ्चसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्य संयमासंयमगुण: समुत्पन्न इति चेत् क्षायोपशमिकोऽयं गुण:।...संयमासंयमधाराधिकृतसम्यक्त्वानि कियन्तीति चेत्क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकानि त्रीण्यपि भवन्ति पर्यायेण। —प्रश्न – औदयिकादि पाँच भावोंमेंसे किस भावके आश्रयसे संयमासंयम भाव पैदा होता है? उत्तर—संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है। (और भी दे. भाव/२/६)। प्रश्न—संयमासंयमरूप देशचारित्रकी धारासे सम्बन्ध रखनेवाले कितने सम्यग्दर्शन होते हैं? उत्तर—क्षायिक, क्षायोपशमिक व औपशमिक इन तीनोंमेंसे कोई एक सम्यग्दर्शन विकल्प रूपसे होता है। (और भी दे. भाव/२/१२)।

७. इसमें क्षायोपशमिक भाव कैसे

रा. वा./२/५/८/१०८/६ अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदयक्षयात् सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषायोदये संज्वलनकषायस्य देशघातिस्पर्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च विरताविरतपरिणाम: क्षायोपशमिक:। —अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण रूप आठ कषायोंका उदयक्षय और सदवस्थारूप उपशम, प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय, संज्वलनके देशघाति स्पर्धक और यथासंभव नोकषायोंका उदय होनेपर विरत—अविरत परिणाम उत्पन्न करनेवाला भाव क्षायोपशमिक है।

ध. १/१,१,१३/१७४/८ अप्रत्याख्यानावरणीयस्य सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् सत: चोपशमात् प्रत्याख्यानावरणीयोदयादप्रत्याख्यानोत्पत्ते:। —अप्रत्याख्यानावरणीय कषायके वर्तमान कालिक सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय होनेसे, और आगामी कालमें उदयमें आने योग्य उन्हींके सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषायके उदयसे संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यान-चारित्र उत्पन्न होता है। (गो. जी./मू./४६६/८७६)।

ध. ७/२,१,५१/९४/६ चदुसंजलण-णवणोकसायाणं खओवसमसण्णिदेसघादिफद्दयाणमुदएण संजमासंजमुप्पत्तीदो खओवसमलद्धीए संयमासंयमो। तेरसण्हं पयडीणं देसघादिफद्दयाणमुदओ संजमलंभणिमित्तो कधं संजमासंजमणिमित्तं पडिवज्जदे। ण, पच्चक्खाणावरणसव्वघादिफद्दयाणमुदएण पडिहय चदुसंजलणादिदेसघादिफद्दयाणमुदयस्स संजमासंजमं मोत्तूण संजमुप्पायणे असमत्थादो। —चार संज्वलन और नवनोकषायोंके क्षयोपशम संज्ञावाले देशघातीस्पर्धकोंके उदयसे संयमासंयमकी उत्पत्ति होती है, इसलिए क्षयोपशम लब्धिसे संयमासंयम होता है। (ध. ५/१,७,७/२०२/३)। प्रश्न—चार संज्वलन और नव नोकषाय, इन तेरह प्रकृतियोंके देशघाती स्पर्धकोंका उदय तो संयमकी प्राप्तिमें निमित्त होता है (दे० संयत/२/३)। वह संयमासंयमका निमित्त कैसे स्वीकार किया गया है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रत्याख्यानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे जिन चार संज्वलनादिकके देशघाती स्पर्धकोंका उदय प्रतिहत हो गया है, उस उदयके संयमासंयमको छोड़ संयम उत्पन्न करनेका सामर्थ्य नहीं होता है।

दे० अनुभाग/४/६/६ [इससे प्रत्याख्यानावरणका सर्वघातीपना भी नष्ट नहीं होता है।]

संयम — सम्यक् प्रकार यमन करना अर्थात् व्रत-समिति-गुप्ति आदि रूपसे प्रवर्तना अथवा विशुद्धात्मध्यानमें प्रवर्तना संयम है। तहाँ समिति आदि रूप प्रवर्तना अपहृत या व्यवहार संयम और दूसरा लक्षण उपेक्षा या निश्चय संयम है। इन्हीं दोनोंको वीतराग व सराग चारित्र भी कहते हैं। अन्य प्राणियोंकी रक्षा करना प्राणिसंयम है और इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होना इन्द्रिय संयम है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ऐसे इसके पाँच भेद हैं।

१. भेद व लक्षण

१. संयमका लक्षण

ध. ७/२,१,३/७/२ सम्यक् यमो वा संयमः। —सम्यक् रूपसे अर्थात नियन्त्रण सो संयम है।

दे० चारित्र/३/७ [संयमन करनेको संयम कहते हैं। अर्थात भावसंयम से रहित द्रव्यसंयम संयम नहीं है।]

२. व्यवहार संयमका लक्षण

१. व्रत समिति गुप्ति आदिकी अपेक्षा

प्र. सा./मू./२४० पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदिय संवुडो जिदकसाओ दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो।२४०। —पंचसमिति युक्त, पाँच इन्द्रियोंके संवरवाला, तीन गुप्ति सहित, कषायों जीतने वाला, दर्शन ज्ञानसे परिपूर्ण जो श्रमण है वह संयत कहा गया है।

प्र. सा./प्रक्षेपक गा. मू /२४०-१ चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं। सो संजमोत्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण। —बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग, मन वचन कायरूप व्यापारसे निवृत्ति अनारम्भ, इन्द्रिय विषयोंसे विरक्तता, कषायोंका क्षय यह सामान्य रूपसे संयमका लक्षण कहा गया है। विशेष रूपसे प्रव्रज्याकी अवस्थाएँ होती हैं।

चा. पा./मू./२८ पंचिंदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु। पंचसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं णिरायारं।२८। —पाँच इन्द्रियोंका संवर (दे. संयम/२) पाँच व्रत और पचीस क्रिया, पाँच समिति तीन गुप्ति इनका सद्भाव निरागार संयमाचरण चारित्र है।

बा. अ./७६ वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण। परिणमाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा।७६। —व्रत व समितियोंका पालन, मन वचन कायकी प्रवृत्तिका त्याग, इन्द्रियजय यह सब जिसको होते हैं उसको नियमसे संयम धर्म होता है।

पं. स./प्रा. १२७ वदसमिदिकसायाणं दंडाणं इंदियाणं पंचण्हं। धारणपालणणिग्गह-चाय-जओ संजमो भणिओ।१२७। —पाँच महाव्रतोंका धारण करना, पाँच समितियोंका पालन करना, चारों कषायोंका निग्रह करना, मन-वचन-काय रूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पाँच इन्द्रियोंका जीतना (दे. संयम/२) सो संयम कहा गया है।१२७। (ध. १/१, १,४/ गा. ९२/१४५); (ध. ७/२, १/७/२); (गो. जी./मू./४६५/८७६)।

दे० तप/२/१ [तेरह प्रकारके चारित्रमें प्रयत्न करना संयम है।]

३. निश्चय संयमका लक्षण

प्र. सा./त प्र./१४.२४२ सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पञ्चेन्द्रियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्धस्वरूपे संयमनात्…।१४। ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण च त्रिभिरपि यौगपद्येन…परिणतस्यात्मनि यदात्मनिष्ठत्वे सति संयतत्वं ।२४२। –१. समस्त छह जीवनिकायके हननके विकल्पसे और पंचेन्द्रिय सम्बन्धी अभिलाषाके विकल्पसे आत्माको व्यावृत्त करके आत्मा शुद्धस्वरूपमें संयमन करनेसे (संयमयुक्त है)। २. ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्वकी तथा प्रकार प्रतीति, तथा प्रकार अनुभूति और क्रियान्तरसे निवृत्तिके द्वारा रचित उसी तत्त्वमें परिणति, ऐसे लक्षणवाले सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र इन तीनों पर्यायोंकी युगपतताके द्वारा परिणत आत्मामें आत्मनिष्ठता होनेपर जो संयतपना होता है …।

पं. ध./उ /१११७ शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च। –निष्क्रिय आत्माके स्वशुद्धात्माकी उपलब्धि ही संयम कहलाता है।

४. संयम मार्गणाकी अपेक्षा भेद व लक्षण

ष. खं. १/१.१/सूत्र १२३/३६८ संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइयछेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदा परिहारसुद्धिसंजदा सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि। ।१२३। –संयम मार्गणाके अनुवादसे सामायिक शुद्धिसंयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहारशुद्धिसंयत, सूक्ष्मसाम्पराय शुद्धिसंयत और यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत ये पाँच प्रकारके संयत तथा संयतासंयत और असंयत जीव होते हैं।१२३। (द्र. सं./टी./१३/३८/२)।

दे. चारित्र/१/३ [सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ऐसे चारित्र पाँच प्रकारके हैं।]

नोट–[इनके लक्षणोंके लिए–दे. वह वह नाम।]

५. निक्षेपोंकी अपेक्षा भेद व लक्षण

ध. ७/२.१.४८/६१/५ णामसंजमो ठवणसंजमो दव्वसंजमो भावसंजमो चेदि चउव्विहो संजमो।……तव्वदिरित्तदव्वसंजमो संजमसाहणपिच्छाहारकवलीपोत्थयादीणि। भावसंजमो दुविहो आगमणोआगमभेएण। आगमो गदो। णोआगमो तिविहो खइओ खओवसमिओ उवसमिओ चेदि। –नामसंयम, स्थापनासंयम, द्रव्यसंयम और भावसंयम। इस प्रकार संयम चार प्रकारका है। (नाम स्थापना आदि भेद-प्रभेद निक्षेपवत् जानने)। तद्वयतिरिक्त नोआगमद्रव्यसंयम संयमके साधनभूत पिच्छिका, आहार, कमण्डलु, पुस्तक आदिको कहते हैं। भावसंयम आगम और नोआगमके भेदसे दो प्रकारका है–आगमभावसंयम तो गया, अर्थात् निक्षेपवत जानना। नोआगम भावसंयम तीन प्रकारका है–क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक। [तहाँ क्षायोपशमिक संयमके लिए।–दे. संयत/२ और औपशमिक व क्षायिकके लिए–दे. श्रेणी]।

६. सकल व देश संयमकी अपेक्षा

चा. पा./मू./२१ दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं। सायारं सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं ।२१। –संयम चरण चारित्र दो प्रकारका है–सागार तथा निरागार। सागार तो परिग्रहसहित श्रावक के होता है, बहुरि निरागार परिग्रहसे रहित मुनिकै होता है ।२१।

र. क. श्रा./५० सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्। अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम् ।५०। –वह चारित्र सकल और विकलके भेदसे दो प्रकारका है। समस्त प्रकारके परिग्रहसे रहित मुनियोंके सकल चारित्र और गृहस्थोंके विकल चारित्र होता है।

पु. सि. उ./४० हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः। कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ।४०। –हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचोंके सर्वदेश व एकदेश त्यागसे चारित्र दो प्रकारका होता है। (दे. व्रत/३/१)।

ल. सा./मू./१६८/२११ दुविहा चरित्तलद्धी देसे सयले…। –चारित्रकी लब्धि सकल व देशके भेदसे दो प्रकार है।

पं. का./ता. वृ./१६०/२३१/१३ चारित्रं तपोधनानामाचारादिचरणग्रन्थविहितमार्गेण प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानयोग्यं पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिषडावश्यकादिरूपम्, गृहस्थानां पुनरुपासकाध्ययनग्रन्थविहितमार्गेण पञ्चमगुणस्थानयोग्यं दानशीलपूजोपवासादिरूपं दार्शनिकव्रतिकाद्येकादशनिलयरूपं वा इति। –मुनियोंका चारित्र आचारांग आदि चारित्र विषयक ग्रन्थोंमें कथित मार्गसे, प्रमत्त व अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोंके योग्य (दे. संयत) पंच महाव्रत, पंच समिति, त्रिगुप्ति, छह आवश्यक आदि रूप होता है (दे. संयम/१/२) और गृहस्थोंका चारित्र उपासकाध्ययन आदि ग्रन्थोंमें कथित मार्गसे, पंचमगुणस्थानके योग्य (दे. संयतासंयत) दान शील, पूजा, उपवास आदि रूप होता है। अथवा दार्शनिक प्रतिमा, व्रतप्रतिमा आदि ११ स्थानोंरूप होता है–(दे. श्रावक)।

सिद्धान्त प्रवेशिका/२२४-२२५ श्रावकके व्रतोंको देशचारित्र कहते हैं।२२४। मुनियोंके व्रतोंको सकल चारित्र कहते हैं।२२५।

७. अपहृत व उपेक्षा संयम निर्देश

१. लक्षण

रा. वा./९/६/१५/५९६/२९ संयमो हि द्विविधः–उपेक्षासंयमोऽपहृतसंयमश्चेति। देशकालविधानज्ञस्य परानुपरोधेन उत्सृष्टकायस्य त्रिधा गुप्तस्य रागद्वेषानभिष्वङ्गलक्षण उपेक्षासंयमः। अपहृतसंयमस्त्रिविधः, उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्चेति। तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य जीवान् प्रतिपालयत उत्कृष्टः, मृदुना प्रमृज्य जन्तून् परिहरतो मध्यमः, उपकरणान्तरेच्छया जघन्यः। –संयम दो प्रकारका होता है–एक उपेक्षा संयम और दूसरा अपहृत संयम। देश और कालके विधानको समझनेवाले स्वाभाविक रूपसे शरीरसे विरक्त और तीन गुप्तियोंके धारक व्यक्तिके राग और द्वेषरूप चित्तवृत्तिका न होना उपेक्षासंयम है। अपहृतसंयम उत्कृष्ट मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकार है। प्रासुक, वसति और आहारमात्र हैं। बाह्यसाधन जिनके, तथा स्वाधीन हैं ज्ञान और चारित्ररूप करण जिनके ऐसे साधुका बाह्य जन्तुओंके आनेपर उनसे अपनेको बचाकर संयम पालना उत्कृष्ट अपहृत संयम है। मृदु उपकरणसे जन्तुओंको बुहार देनेवाले मध्यम और अन्य उपकरणोंकी इच्छा रखनेवालेके जघन्य अपहृत संयम होता है। (चा. सा./६५/७-७५/२) (और भी दे. संयम/२/६)।

नि. सा./ता. वृ./६४ अपहृतसंयमिनां संयमज्ञानाद्युपकरणग्रहणविसर्गसमयसमुद्भवसमितिप्रकारोक्तिरियम्। उपेक्षासंयमिनां न पुस्तककमण्डलुप्रभृतयः, अतस्ते परमजिनमुनयः एकान्ततो निस्पृहाः, अतएव बाह्योपकरणनिर्मुक्ताः। –यह अपहृतसंयमियोंको संयमज्ञानादिकके उपकरण लेते, रखते समय उत्पन्न होनेवाली समितिका प्रकार कहा है। उपेक्षा संयमियोंको पुस्तक, कमण्डलु आदि नहीं होते, वे परम जिनमुनि एकान्तमें निस्पृह होते हैं, इसलिए वे बाह्य उपकरण रहित होते हैं।

२. दोनोंकी वीतराग व सराग चारित्रके साथ एकार्थता

प्र. सा./ता. वृ./२/६७/१८८/१५ अथवोपेक्षासंयमापहृतसंयमौ वीतरागसरागापरनामानौ तावपि तेषामेव संभवतः। –उपेक्षासंयम और अपहृतसंयम जिनको कि वीतराग व सराग संयम भी कहते हैं, ये दोनों भी उन शुद्धोपयोगियोंको ही होते हैं।

दे. चारित्र/१/१४,१५ [अपवाद, व्यवहारनय, एकदेश परित्याग, अपहृतसंयम, सरागचारित्र, शुभोपयोग ये सब शब्द, तथा उत्सर्ग, निश्चयनय सर्वपरित्याग, परमोपेक्षासंयम, वीतरागचारित्र, शुद्धोपयोग ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।]

३. अपहृतसंयमकी विशेषताएँ

दे. संयम/२/२ [अपहृत संयम दो प्रकारका है—इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम।]

दे. शुद्धि/२ [इस अपहृत संयममें भाव, काय, विनय आदिके भेदसे आठ शुद्धियोंका उपदेश है।]

८. प्राणि व इन्द्रिय संयमके लक्षण

दे. असंयम [असंयम दो प्रकारका है–प्राणि असंयम और इन्द्रिय असंयम। तहाँ षट्काय जीवोंकी विराधना प्राणि असंयम है और इन्द्रिय विषयोंमें प्रवृत्ति इन्द्रिय असंयम है। (इससे विपरीत प्राणि व इन्द्रिय संयम हैं—यथा)]

मू. आ./४१८ पंचरस पंचवण्ण दोगंधे अट्ठफास सत्तसरा। मणसा चोद्दसजीवा इंदियपाणा य संजमो णेओ। =पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, षड्ज आदि सात स्वर ये सब मनके २८ विषय हैं। इनका निरोध सो इन्द्रिय संयम है और चौदह प्रकारकी जीवोंकी (दे. जीव समास) रक्षा करना सो प्राणिसंयम है।

पं. सं./प्रा./१/१२८ सगवण्ण जीवहिंसा अट्ठावीसिंदियत्थ दोसा य। तेहिंतो जो विरओ भावो सो संजमो भणिओ ।१२८। =पहले जीवसमास प्रकरणमें जो सत्तावन प्रकारके जीव बता आये हैं (दे. जीवसमास), उनकी हिंसासे तथा अठाईस प्रकारके इन्द्रिय विषयोंके (दे. सन्दर्भ सं. १) दोषोंसे विरति भावका होना संयम है ।१२८।

स. सि./९/१२/३३१/११ प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः।

स सि./९/६/४१२/९ समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारस्संयमः। —१. प्राणियों व इन्द्रियोंके विषयोंमें अशुभ प्रवृत्तिके त्यागको संयम कहते हैं। (रा. वा./९/१२/६/५२२/२१)। २. समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवाले मुनिके उनका परिपालन करनेके लिए जो प्राणियोंका और इन्द्रियोंका परिहार होता है, वह संयम है। (रा. वा./९/६/१४/५९६/२६); (चा सा./७५/१); (त सा./६/१८); (पं. वि./१/९६)

रा. वा./९/६/१४/५९६/२७ एकेन्द्रियादिप्राणिपीडापरिहारः प्राणिसंयमः। शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु रागानभिष्वङ्ग इन्द्रियसंयमः। =एकेन्द्रियादि प्राणियोंको पीडाका परिहार प्राणिसंयम है और शब्दादि जो इन्द्रियोंके विषय उनमें रागका अभाव सो इन्द्रिय संयम है। (चा. स./७५/१); (अन. ध./६/३७-३८/५९१)

का. अ./मू./३९९ जो जीवरक्खणपरो गमणागमणादिसव्वकज्जेसु। तणछेदं पि ण इच्छदि संजमधम्मो हवे तस्स। =जीव रक्षामें तत्पर जो मुनि गमनागमन आदि सब कार्योंमें तृणका भी छेद नहीं करना चाहता उस मुनिके (प्राणि) संयम धर्म होता है ।३९९।

नि. सा./ता. वृ./१२३ संयमः सकलेन्द्रियव्यापारपरित्यागः। =समस्त इन्द्रियोंके व्यापारका परित्याग सो संयम है।

पं. ध./उ./१११८-११२२ पञ्चानामिन्द्रियाणां च मनसश्च निरोधनात्। स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः प्रथमो मतः ।१११८। स्थावराणां च पञ्चानां त्रसस्यापि च रक्षणात्। असुसंरक्षणाख्यः स्याद्द्वितीयः प्राणसंयमः ।१११९। सत्यमक्षार्थसंबन्धाज्ज्ञानं नासंयमाय यत्। तत्र रागादिबुद्धिर्या संयमस्तन्निरोधनम् ।११२१। त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मनः। न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम् ।११२२। =पाँचों इन्द्रियों व मनके रोकनेसे इन्द्रिय संयम और त्रस स्थावरोंकी रक्षा प्राणसंयम है ।१११८-१११९। इन्द्रियों द्वारा जो अर्थविषयक ज्ञान होता है वह असंयम नहीं है, बल्कि उन विषयोंमें राग वृद्धिका न होना इन्द्रिय संयम है ।११२१। और इसी प्रकार त्रस व स्थावर जीवोंमेंसे किसीके भी वधके लिए मन, वचन व कायका उद्यत न होना सो प्राणिसंयम है ।११२२।

९. प्राणि व इन्द्रिय संयमके १७ भेद

मू. आ./४१६-४१७ पुढविदगतेउवाऊवणप्फदीसंजमो य बोधव्वो। विगतिचदुपंचेंदिय अजीवकायेसु संजमणं ।४१६। अप्पडिलेहं दुप्पडिलेहमुवेक्खावहरणदु संजमो चेव। मणवयणकायसंजम सत्तरस विधो दु णादव्वो ।४१७। =पृथिवी, अप्, तेज, वायु व वनस्पति ये पाँच स्थावरकाय और दो, तीन, चार व पाँच इन्द्रियवाले चार त्रस जीव इनकी रक्षामें ९ प्रकार तो प्राणि संयम है, सूखे तृण आदिका छेदन न करना ऐसा १ भेद अजीवकायकी रक्षारूप है ।४१६। अप्रतिलेखन, दुष्प्रतिलेखन, उपेक्षासंयम, अपहृतसंयम, मन, वचन व काय संयम, इस प्रकार कुल मिलकर १७ संयम होते हैं ।४१७। (यहाँ पीछीसे द्रव्यका शोधन सो प्रतिलेख संयम है और अप्रमाद रहित यत्नपूर्वक शोधन दुष्प्रतिलेख संयम है।)

२. नियम व शंका-समाधान आदि

१. संयम व विरतिमें अन्तर

ध. १४/५,६,१६/१२/१ संजम-विरईण को भेदो। ससमिदिमहव्वयाणुव्वयाइं संजमो। समईहि विणा महव्वयाणुव्वया विरई। =प्रश्न—संयम और विरतिमें क्या भेद है? उत्तर—समितियोंके साथ महाव्रत और अणुव्रत संयम कहलाते हैं। और समितियोंके बिना महाव्रत और अणुव्रत विरति कहलाते हैं। (चा. सा./४०/१)

दे. संवर/२/५ [विरति प्रवृत्तिरूप होती है और संयम निवृत्ति रूप]

२. संयम गुप्ति व समितिमें अन्तर

रा. वा./९/६/११-१५/५९६/१५ अथ कः संयमः। कश्चिदाह—भाषादिनिवृत्तिरिति। न भाषादिनिवृत्तिः संयमः, गुप्त्यन्तर्भावात् ।११। गुप्तिर्हि निवृत्तिप्रवणा, अतोऽत्रान्तर्भावात् संयमाभावः स्यात्। अपरमाह—कायादिप्रवृत्तिविशिष्टः संयम इति। नापि कायादिप्रवृत्तिविशिष्टः; समितिप्रसङ्गात् ।१२। समितयो हि कायादिदोषनिवृत्तयः, अतस्तत्रान्तर्भावः प्रसज्यते। त्रसस्थावरवधप्रतिषेध आत्यन्तिकः संयम इति चेत्, न; परिहारविशुद्धिचारित्रान्तर्भावात् ।१३। ...कस्तर्हि संयमः। समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः ।१४। अतोऽपहृतसंयमभेदसिद्धिः ।१५। =१. कोई भाषादिकी निवृत्तिको संयम कहता है, पर वह ठीक नहीं है, क्योंकि उसका गुप्तिमें अन्तर्भाव हो जाता है। गुप्ति निवृत्तिप्रधान होती है इसलिए उपरोक्त लक्षणमें संयमका अभाव है। २. काय आदिकी प्रवृत्तिको भी संयम कहना ठीक नहीं है; क्योंकि काय आदि दोषोंकी निवृत्ति करना समिति है। इसलिए इस लक्षणका समितिमें अन्तर्भाव हो जानेसे वह संयम नहीं हो सकता। ३. त्रसस्थावर जीवोंके वधका आत्यन्तिक प्रतिषेध भी संयम नहीं है, क्योंकि परिहार विशुद्धि चारित्रमें अन्तर्भाव हो जाता है। ४. प्रश्न—तब फिर संयम क्या है? उत्तर—समितियोंमें प्रवर्तमान जीवके प्राणिवध व इन्द्रिय विषयोंका परिहार संयम कहलाता है। इससे अपहृत संयमके भेदोंकी सिद्धि होती है। (अर्थात् अपहृत संयम दो प्रकारका है—प्राणिसंयम व इन्द्रिय संयम।) (चा. सा./७५/१); (अन. ध./६/३७/५९१)

३. चारित्र व संयममें अन्तर

रा. वा./९/१८/५/६१७/७ स्यादेतत् दशविधो धर्मो व्याख्यातः, तत्र संयमेऽन्तर्भावोऽस्य प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्। अन्ते वचनस्य कृत्स्नकर्मक्षयहेतुत्वात्। धर्मे अन्तर्भूतमपि चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्ष-

प्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनाय। —प्रश्न—दश प्रकारका धर्म कहा गया है। तहाँ संयम नामके धर्ममें चारित्रका अन्तर्भाव प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सकलकर्मोंके क्षयका कारण होनेसे चारित्र मोक्षका साक्षात्कारण है। और इसीलिए सूत्रमें उसका अन्तमें ग्रहण किया गया है।

दे॰ चारित्र/१/६ [चारित्र जीवका स्वभाव है पर संयम नहीं।]

४. इन्द्रिय संयममें जिह्वा व उपस्थकी प्रधानता

मू. आ./६८८-६८९ जिब्भोवत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादिसंसारे। पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जह दाणिं।६८८। चदुरंगुला च जिब्भा असुहा चदुरंगुलो उवत्थो वि। अट्ठंगुलदोसेण दु जीवो दुक्खं हु पप्पोदि।६८९। —इस अनादिसंसारमें इस जीवने जिह्वा व उपस्थ इन्द्रियके कारण अनन्त बार दुःख पाया। इसलिए अब इन दोनोंको जीत।६८८। चार अंगुल प्रमाण तो अशुभ यह जिह्वा इन्द्रिय और चार ही अंगुल प्रमाण अशुभ यह उपस्थ इन्द्रिय, इन आठ अंगुलोंके दोषसे ही यह जीव दुःख पाता है।६८९।

कुरल काव्य/१३/७ अन्येषां विजयो मास्तु संयतां रसनां कुरु। असंयतो यतो जिह्वा बह्वपायैरधिष्ठिता।७। —और किसी इन्द्रियको चाहे मत रोको, पर अपनी जिह्वाको अवश्य लगाम लगाओ, क्योंकि बेलगामकी जिह्वा बहुत दुःख देती है।७।

दे. रसपरित्याग/२ [जिह्वाके वश होनेपर सब इन्द्रियाँ वश हो जाती हैं।]

५. इन्द्रिय व मनोजयका उपाय

भ. आ./मू./१८३७-१८३८ इंदियदुद्दंतस्सा णिग्घिप्पंति दमणाणखलिणेहिं। उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहिं जह तुरया।१८३७। अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति। विज्जामंतोसधहीणेणव आसीविसा सप्पा।१८३८। —उन्मार्गगामी दुष्ट घोड़ोंका जैसे लगामके द्वारा निग्रह करते हैं वैसे ही तत्त्वज्ञानकी भावनासे इन्द्रियरूपी अश्वोंका निग्रह हो सकता है।१८३७। विद्या, औषध और मन्त्रसे रहित मनुष्य जैसे आशीविष सर्पोंको वश करनेको समर्थ नहीं होते वैसे ही इन्द्रिय-सर्प भी मनकी एकाग्रता नष्ट होनेसे ज्ञानके द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकते।१८३८।

चा. पा./मू./२९ अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य। ण करेइ रायदोसे पंचेंदियसंवरो भणिओ। —पाँचों इन्द्रियोंके विषयभूत अमनोज्ञ पदार्थोंमें तथा स्त्री-पुत्रादि जीवरूप और धन आदि अजीवरूप ऐसे मनोज्ञ पदार्थोंमें राग-द्वेषका न करना ही पाँच इन्द्रियोंका संवर है। (मू. आ./१७-२१)।

कुरल काव्य/३५/३ निग्रहं कुरु पञ्चानामिन्द्रियाणां विकारिणाम्। प्रियेषु त्यज संमोहं त्यागस्यायं शुभक्रमः।३। —अपनी पाँचों इन्द्रियोंका दमन करो और जिन पदार्थोंसे तुम्हें सुख मिलता है उन्हें बिलकुल ही त्याग दो।३।

त. अनु./७६ संचिन्तयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः। जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थ-पराङ्मुखः।७६। —जो साधु भले प्रकार अनुप्रेक्षाओंका सदा चिन्तवन करता है, स्वाध्यायमें उद्यमी और इन्द्रिय विषयोंसे प्रायः मुख मोड़े रहता है वह अवश्य ही मनको जीतता है।७६।

६. कषाय निग्रहका उपाय

भ. आ./मू./१८३६ उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरेहिं। सक्का काउं आउहकरेण रक्खा व चोराणं।१८३६। —जैसे सशस्त्रपुरुष चोरोंसे अपना रक्षण करता है, उसी प्रकार उपशम दया और निग्रह रूप तीन शस्त्रोंको धारण करनेवाला कषायरूपी चोरोंसे अवश्य अपनी रक्षा करता है।

भ. आ./मू./२६०-२६८ कोधं खमाए माणं च मद्दवेणाज्जवं च मायं च। संतोसेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि वि कसाए।२६०। तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडिउप्पज्जदे कसायग्गी। तं वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं।२६२। तम्हा हु कसायग्गी पावं उप्पज्जमाणयं चेव। इच्छामिच्छादुक्कडवंदणसलिलेण विज्झाहि।२६७। —हे क्षपक! तू क्षमारूप परिणामोंसे क्रोधको, मार्दवसे मानको, आर्जवसे मायाको और सन्तोषसे लोभ कषायको जीत।२६०। जिस वस्तुके निमित्तसे कषायरूपी अग्नि होती है वह त्याग देनी चाहिए और कषायका शमन करनेवाली वस्तुका आश्रय करना चाहिए।२६२। [धीरे-धीरे बढ़ते हुए कषाय अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व तकका कारण बन जाती है] इसलिए यह कषायाग्नि अब पापको उत्पन्न करेगी ऐसा समझकर उसके उत्पन्न होते ही, हे भगवन्! आपका उपदेश ग्रहण करता हूँ। मेरे पाप मिथ्या होवें मैं आपका वन्दन करता हूँ, ऐसे वचनरूप जलसे शान्त करना चाहिए।२६७।

प. प्र./मू./२/१८४ णिठुरु-वयणु सुणेवि जिय जइ मणि सहण ण जाइ। तो लहु भावहि बंभु परु जिं मणु झत्ति विलाइ।१८४। —हे जीव! जो कोई अविवेकी किसीको कठोर वचन कहे, उसको सुनकर जो न सह सके तो कषाय दूर करनेके लिए परब्रह्मका मनमें शीघ्र ध्यान करो।

आ. अनु./२१३ हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे, वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्। श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं, सयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व। —निर्मल और अथाह हृदयरूप सरोवरमें जबतक कषायोंरूप हिंस्र जलजन्तुओंका समूह निवास करता है, तब तक निश्चयसे यह उत्तम क्षमादि गुणोंका समुदाय निःशंक होकर उस हृदयरूप सरोवरका आश्रय नहीं लेता है। इसलिए हे भव्य! तू व्रतोंके साथ तीव्र-मध्यमादि उपशम भेदोंसे उन कषायोंके जीतनेका प्रयत्न कर।२१३।

स. सा./आ./१७६/क. १७६ इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः। रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः।१७६। —ज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभावको जानता है, इसलिए वह रागादिको निजरूप नहीं करता, अतः वह रागादिकका कर्ता नहीं है।१७६। (दे. चेतना/३/२,३)।

यो. सा./अ./५/७ विशुद्धदर्शनज्ञानचारित्रमयमुज्ज्वलम्। यो ध्यायत्यात्मनात्मानं कषायं क्षपयत्यसौ।७। —अपनी आत्मासे ही विशुद्ध दर्शनज्ञान चारित्रमयी उज्ज्वलस्वरूप अपनी आत्माका जो ध्यान करता है वह अवश्य ही समस्त कषायोंका नाश कर देता है।

दे. राग/५/३ [राग और द्वेषका मूल कारण परिग्रह है। अतः उसका त्याग करके रागद्वेषको जीत लेता है।]

७. संयमपालनार्थ भावना विशेष

रा. वा./९/६/२७/५९९/११ संयमो ह्यात्महितः तमुतिष्ठन्निहैव पूज्यते परत्र किमस्ति वाच्यम्। असंयतः प्राणिवधविषयरणेषु नित्यप्रवृत्तः कर्माशुभं संचिनुते। —संयमी पुरुषकी यहीं पूजा होती है, परलोककी तो बात ही क्या? असंयमी निरन्तर हिंसा आदि व्यापारोंमें लिप्त होनेसे अशुभ कर्मोंका संचय करता है।

पं. वि./१/९७ मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादयस्तेष्वेवाप्तवचः श्रुतिः स्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने। प्राप्ते ते अतिनिर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते, स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयमः।९७। —इस संसारी प्राणीको मनुष्यत्व, उत्तम जाति आदि, जिनवाणी श्रवण, लम्बी आयु, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान ये सब मिलने उत्तरोत्तर अधिक अधिक दुर्लभ हैं। ये सब भी संयमके बिना स्वर्ग एवं मोक्षरूप अद्वितीय फलको नहीं दे सकते, इसलिए संयम कैसे प्रशंसनीय नहीं हैं। (और भी दे. अनुप्रेक्षा/१/११)।

८. पंचम कालमें भी सम्भव है

र. सा./३८ सम्मविसोही तवगुणचारित्तसण्णाणदानपरिधाणं। भरहे दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियद ।३८। —इस दुस्सह दुःखम (पंचम) कालमें मनुष्योंके सम्यग्दर्शन सहित तप व्रत अठाईस मूलगुण, चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दान आदि सब होते हैं ।३८।

दे. धर्मध्यान/५ [यद्यपि पंचम कालमें शुक्लध्यान सम्भव नहीं परन्तु अपनी अपनी भूमिकानुसार तरतमता लिये धर्मध्यान अवश्य सम्भव है]।

९. जन्म पश्चात् संयम प्राप्ति योग्य सर्व लघुकाल

१. तिर्यंचोंमें

ध. ५/१,६,३७/३२/४ एत्थ बे उवदेसा। तं जहा–तिरिक्खेसु बेमास-मुहुत्तपुधत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमासंजमं जीवो पडिवज्जदि।...एसा दक्खिणपडिवत्ती।...तिरिक्खेसु तिण्णिपक्ख-तिण्णिदिवस-अंतो-मुहुत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमासंजमं च पडिवज्जदि।...एसा उत्तर-पडिवत्ती। —इस विषयमें दो उपदेश हैं। वे इस प्रकार हैं—१. तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुआ जीव, दो मास और मुहूर्त पृथक्त्वसे ऊपर सम्यक्त्व और संयमासंयमको प्राप्त करता है। यह दक्षिण प्रतिपत्ति है। २. वह तीन पक्ष, तीन दिवस और अन्तर्मुहूर्तके ऊपर सम्यक्त्व और संयमासंयमको प्राप्त होता है। यह उत्तर प्रतिपत्ति है।

दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/५ [तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुआ जीव दिवस पृथक्त्वसे लगाकर उपरिमकालमें प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करता है नीचेके कालमें नहीं।]

२. मनुष्योंमें

ध. ५/१,६,३७/३२/४ एत्थ बे उवदेसा। तं जहा...मणुसेसु गब्भादि अट्ठवस्सेसु अंतोमुहुत्तब्भहिएसु सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि त्ति। एसा दक्खिणपडिवत्ती।...मणुसेसु अट्ठवस्साणुवरि सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि त्ति। एसा उत्तरपडि-वत्ती। —इस विषयमें दो उपदेश हैं—१. मनुष्योंमें गर्भकालसे प्रार-म्भकर अन्तर्मुहूर्तसे अधिक आठ वर्षोंके व्यतीत हो जानेपर सम्यक्त्व संयम और संयमासंयमको प्राप्त होता है। यह दक्षिण प्रतिपत्ति है। (ध. ५/१,६,६६/५२) २. वह आठ वर्षोंके ऊपर सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयमको प्राप्त होता है। यह उत्तर प्रतिपत्ति है।

ध. ६/४,१,६६/३०७/५ मणुस्सेसु वासपुधत्तेण विणा मासपुधत्तब्भंतरे सम्मत्त-संजम-संजमासंजमाणं गहणाभावादो। —मनुष्योंमें वर्ष पृथक्त्वके विना मास पृथक्त्वके भीतर सम्यक्त्व संयम और संयमा-संयमके ग्रहणका अभाव है।

ध. १०/४,२,४,५६/२७८/१२ गब्भादो णिक्खंतपढमसमयप्पहुडि अट्ठवस्सेसु गदेसु संजमग्गहणपाओग्गो होदि, हेट्ठा ण होदि त्ति एसो भावत्थो। गब्भम्मि पदिदपढमसमयप्पहुडि अट्ठवस्सेसु गदेसु संज-मग्गहणपाओग्गो होदि त्ति के वि भणंति। तण्ण घडदे, जोणिणि-क्खमणजम्मणेणेत्ति वयणण्णहाणुववत्तीदो। जदि गब्भम्मि पदिदपढम-समयादो अट्ठवस्साणि घेप्पंति तो गब्भपदणजम्मणेण अट्ठवस्सीओ जादो त्ति सुत्तकारो भणेज्ज। ण च एवं, तम्हा सत्तमासाहिय अट्ठहि वासेहि संजमं पडिवज्जदि त्ति एसो चेव अत्थो घेत्तव्वो; सव्वलहु-णिद्देसण्णहाणुववत्तीदो। —गर्भसे निकलनेके प्रथम समयसे लेकर आठ वर्ष बीत जानेपर संयम ग्रहणके योग्य होता है, इसके पहले संयम ग्रहणके योग्य नहीं होता, यह इसका भावार्थ है। गर्भमें आने-के प्रथम समयसे लेकर आठ वर्षोंके बीतनेपर संयम ग्रहणके योग्य होता है ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा माननेपर 'योनिनिष्क्रमण रूप जन्मसे' यह सूत्र-वचन (इसी पुस्तकके सूत्र नं. ७२,५६) नहीं बन सकता। यदि गर्भ-में आनेके प्रथम समयसे लेकर आठ वर्ष ग्रहण किये जाते हैं तो 'गर्भ-पतनरूप जन्मसे आठ वर्षका हुआ' ऐसा सूत्रकार कहते हैं। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं कहा है। इसलिए सात मास अधिक आठ वर्षका होनेपर संयमको प्राप्त करता है, यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्यथा सूत्रमें 'सर्वलघु' पदका निर्देश घटित नहीं होता।

दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/५ [जन्म लेनेके पश्चात् आठ वर्षोंके ऊपर प्रथम-सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसके नीचे नहीं।]

३. सूक्ष्म आदि जीवोंमें

ध. १०/५,२,४५६/२७६/६ अपज्जत्तेहितो णिग्गयस्स सव्वलहुएण कालेण संजमासंजमग्गहणाभावादो।......आउकाइयपज्जत्तेहितो मणुस्सेसु-प्पण्णस्स सव्वलहुएण कालेण संजमादिगहणाभावादो। —अपर्याप्तकों-मेंसे निकले हुए जीवके सर्व लघुकाल द्वारा संयमासंयमके ग्रहणका अभाव है।...अप्कायिक पर्याप्तकोंमेंसे मनुष्योंमें उत्पन्न हुए जीवके सर्वलघुकालके द्वारा संयम आदिका ग्रहण सम्भव नहीं है।

दे. जन्म/५/५ [सूक्ष्म निगोदियासे निकले हुए जीवके सर्व लघुकाल द्वारा संयमासंयम या संयमका ग्रहण। सूक्ष्म निगोदियासे निकलकर सीधे मनुष्य होनेवाले जीव युगपत् सम्यक्त्व व संयमासंयम ग्रहण नहीं कर सकते, बीचमें एक भव त्रसका धारण करके मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले जीवके ही वह सम्भव है।]

१०. पुनः पुनः संयमादि प्राप्त करनेकी सीमा

ष. खं. १०/४,२,४/सूत्र ७१/२६४ एवं णाणाभवग्गहणेहि अट्ठ संजमकंड-याणि अणुपालइत्ता चदुक्खुत्तो कसाए उवसामइत्ता पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्ताणि संजमासंजमकंडयाणि सम्मत्तकंडयाणि च अणुपालइत्ता एवं संसारिदूण अपच्छिमे भवग्गहणे पुणरवि पुव्व-कोडाउएसु मणुसेसु उववण्णो ।७१। —इस सूत्रके द्वारा संयम, संयमा-संयम और सम्यक्त्वके काण्डकोंकी तथा कषायोपशमनाकी संख्या कही गयी है। यथा—चार-बार संयमको प्राप्त करनेपर एक संयम काण्डक होता है। ऐसे आठ ही संयम काण्डक होते हैं (अर्थात् अधिक-से अधिक ३२ बार ही संयमका ग्रहण होता है। क्योंकि इससे आगे संसार नहीं रहता।) इन आठ संयम काण्डकोंके भीतर कषायोपशा-मनाके बार चार ही होते हैं। जीवस्थान चूलिकामें जो चारित्र मोह-के उपशामन विधानकी और दर्शनमोहके उपशामन विधानकी प्ररू-पणा की गयी है, उसकी यहाँ प्ररूपणा करनी चाहिए। परन्तु संयमा-संयम काण्डक पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं (अर्थात् अधिकसे अधिक पल्य/असंके चौगुने बार संयमासंयमका ग्रहण होना संभव है। संयमासंयमकाण्डकोंसे सम्यक्त्वकाण्डक विशेष अधिक है, जो पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र है।

गो. क./मू./६१८-६१६/८२२ सम्मत्तं देसजमं अणसंजोजणविहिं च उक्कस्सं। पल्लासंखेज्जदिमं बारं पडिवज्जदे जीवो ।६१८। चत्तारि वारमुवसमसेढिं समरुहदि खविदकम्मंसो। बत्तीसं वाराइं संजममुव-लहिय णिव्वदि ।६१६। —प्रथमोपशम सम्यक्त्व, वेदकसम्यक्त्व, देशसंयम और अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनका विधान ये एक जीवमें उत्कृष्टतः पल्योपमके असंख्यात बार ही होते हैं ।६१८। उपशमश्रेणी चार बार चढ़नेके पीछे अवश्य कर्मोंका क्षय होता है। संयम ३२ बार होता है, पीछे अवश्य निर्वाण प्राप्त करता है। (पं. सं./प्रा./टी./५/-४८८।

संयम—भूतकालीन १२ वें तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५।

संयमी—दे. संयत।

संयोग—दे. सम्बन्ध।

संयोग द्रव्य—दे. द्रव्य/१।

संयोगवाद—

गो. क./मू./८६२/१०७२ संजोगमेवेति वदंति तण्णा णेवेक्कचक्केण रहो पयादि। अंधो य पंगू य वणं पविट्ठा ते संपजुत्ता णयरं पविट्ठा ।८६२। —यथार्थ ज्ञानी संयोग ही को सार्थक मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे एक पहियेसे रथ नहीं चलता और वनमें प्रविष्ट अन्धा और पांगला एक दूसरेके संप्रयोगसे दावाग्निसे अपनी रक्षा करके नगरमें प्रवेश कर जाते हैं, उसी प्रकार वस्तुओंके संयोगसे ही सर्वार्थ-सिद्धि होती है ।८६२।

नोट—[उपरोक्त बात मिथ्या एकान्तरूप संयोगवादके सम्बन्धमें कही गयी है, पर बिलकुल यही बात इसी उदाहरण सहित सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्रकी मैत्री दर्शानेके लिए आगममें कही गयी- दे. मोक्ष-मार्ग/१/२/रा. वा.]।

संयोग सम्बन्ध—१. लक्षण सामान्य

स. सि./६/९/३२६/७ संयुजाते इति संयोगो मिश्रीकृतम्। —संयोगका अर्थ मिश्रित करना अर्थात् मिलाना है। (रा. वा./६/९/२/५१६/१)।

रा. वा./५/१६/२७/१२ अप्राप्तिपूर्विका हि प्राप्तिः संयोगः। —आपके (वैशेषिकोंके मतमें) अप्राप्ति पूर्वक प्राप्तिको संयोग कहा है। (स. म./२७/३०२/२६)।

ध. १५/२४/२ को संजोगो। पुधप्पसिद्धाण मेलणं संजोगो। —पृथक् सिद्ध पदार्थोंके मेलको संयोग कहते हैं।

मू. आ./४८ की वसुनन्दि कृत टीका—अनात्मीयस्यात्मभावः संयोगः। —अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मभाव होना संयोग है।

दे. द्रव्य/१/१० [पृथक् सत्ताधारी पदार्थोंके संयोगसे संयोग द्रव्य बनते हैं, जैसे छत्री, मौली आदि]।

२. संयोगके भेद व उनके लक्षण

ध. १४/५.६.२३/२७/३ तत्थ संजोगो दुविहो देसपच्चासत्तिकओ गुण-पच्चासत्तिकओ चेदि। तत्थ देसपच्चासत्तिकओ णाम दोण्णं दव्वाण-मवयवफासं काऊण जमच्छणं सो देसपच्चासत्तिकओ संजोगो। गुणेहि जमण्णोण्णाणुहरणं सो गुणपच्चासत्तिकओ संजोगो। —संयोग दो प्रकारका है—देशप्रत्यासत्तिकृत संयोगसम्बन्ध और गुणप्रत्यासत्ति-कृत संयोगसम्बन्ध। देशप्रत्यासत्ति कृतका अर्थ है दो द्रव्योंके अव-यवोंका सम्बद्ध होकर रहना, यह देशप्रत्यासत्तिकृत संयोग है। गुणों द्वारा जो परस्पर एक दूसरेको ग्रहण करना वह गुणप्रत्यासत्ति-कृत संयोगसम्बन्ध है।

★ **संयोग व बन्धमें अन्तर**—दे. युति।

★ **द्रव्य गुण पर्यायमें संयोग सम्बन्धका निरास**

—दे. द्रव्य/४।

संयोगाधिकरण— दे. अधिकरण।

संयोजन—आहारका एक दोष—दे. आहार/II/४/४।

संयोजना सत्य—दे. सत्य/१।

संरंभ—स. सि./६/८/३२५/३ प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवतः प्रयत्ना-वेशः संरम्भः। —प्रमादी जीवोंका प्राणोंकी हिंसा आदि कार्यमें प्रयत्नशील होना संरम्भ है। (रा. वा./६/८/२/५१३/३२); (चा. सा./८७/४)।

संवत्सर—१. वीरसंवत, विक्रमसंवत्, शकसंवत, ईस्वी संवत्, गुप्त संवतोंका निर्देश—दे. इतिहास/२। २. कालका एक प्रमाण विशेष। अपर नाम वर्ष—दे. गणित/I/१/४।

संवर—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति ये सब कर्मोंके आनेके द्वार होनेसे आस्रव हैं। इनसे विपरीत सम्यक्त्व देश व महाव्रत, अप्रमाद, मोह व कषायहीन शुद्धात्म परिणति तथा मन, वचन, कायके व्यापारकी निवृत्ति ये सब नवीन कर्मोंके निरोधके हेतु होनेसे संवर हैं। तहाँ समिति गुप्ति आदि रूप जीवके शुद्धभाव तो भाव संवर है और नवीन कर्मोंका न आना द्रव्य संवर है।

१. संवर सामान्य निर्देश

१. संवर सामान्यका लक्षण

त. सू./९/१ आस्रवनिरोधः संवरः ।१। —आस्रवका निरोध संवर है।

रा. वा./१/४/११,१८/पृष्ठ/पंक्ति संव्रियतेऽनेन संवरणमात्रं वा संवरः (११/२६/१)। संवर इव संवरः। क उपमार्थः। यथा सुगुप्तसुसंवृत-द्वारकपाटं पुरं सुरक्षितं दुरासादमरातिभिर्भवति, तथा सुगुप्ति-समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रात्मनः सुसंवृतेन्द्रियकषाययोगस्य अभिनवकर्मागमद्वारसंवरणात् संवरः। (१८/२७/४)।

रा. वा./९/१/१,२,६/५८७ कर्मागमनिमित्ता प्रादुर्भूतिरास्रवनिरोधः ।१। तन्निरोधे सति तत्पूर्वकर्मादानाभावः संवरः ।२। मिथ्यादर्शनादि-प्रत्ययकर्मसंवरणं संवरः ।६। —१. जिनसे कर्म रुकें वह कर्मोंका रुकना संवर है ।११। संवरकी भाँति संवर होता है। जैसे जिस नगरके द्वार अच्छी तरह बन्द हों, वह नगर शत्रुओंको अगम्य है, उसी तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रसे कर ली है संवृत इन्द्रिय कषाय व योग जिसने ऐसी आत्माके नवीन कर्मोंका द्वार रुक जाना संवर है ।१८। २. अथवा मिथ्यादर्शनादि जो कर्मोंके आगमनके निमित्त है (दे० आस्रव) उनका अप्रादुर्भाव आस्रवका निरोध है ।१। उसके निरोध हो जानेपर, उस पूर्वक जो कर्मोंका ग्रहण पहले होता था, उसका अभाव हो जाना संवर है ।२। अर्थात् मिथ्यादर्शन आदिके निमित्तसे होने वाले कर्मोंका रुक जाना संवर है ।६।

भ. आ./वि./३८/१३४/१६ संव्रियते संरुध्यते मिथ्यादर्शनादिः परिणामो येन परिणामान्तरेण सम्यग्दर्शनादिना, गुप्त्यादिना वा स संवरः। —जिस सम्यग्दर्शनादि परिणामोंसे अथवा गुप्ति, समिति आदि परिणामोंसे मिथ्यादर्शनादि परिणाम रोके जाते हैं वे रोकनेवाले परिणाम संवर शब्दसे कहे जाते हैं।

न. च. वृ./१५६ रुंधिय छिद्दसहस्से जलजाणे जह जलं तु णासवदि। मिच्छत्ताइअभावे तह जीवे संवरो होई ।१५६। —जिस प्रकार नावके छिद्र रुक जानेपर उसमें जल प्रवेश नहीं करता, इसी प्रकार मिथ्या-त्वादिका अभाव हो जानेपर जीवमें कर्मोंका संवर होता है, अर्थात् नवीन कर्मोंका आस्रव नहीं होता है।

★ **संवरानुप्रेक्षाका लक्षण**—दे० अनुप्रेक्षा

२. द्रव्य व भाव संवर सामान्य निर्देश

स. सि./९/१/४०६/५ स द्विविधो भावसंवरो द्रव्यसंवरश्चेति। तत्र संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः। तन्निरोधे तत्पूर्वकर्मपुद्-गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः। —वह दो प्रकारका है—भावसंवर और द्रव्यसंवर। संसारकी निमित्तभूत क्रियाकी निवृत्ति होना भावसंवर है, और इसका (उपरोक्त क्रियाका) निरोध होनेपर तत्पूर्वक होने वाले कर्मपुद्गलोंके ग्रहणका विच्छेद होना द्रव्यसंवर है। (रा. वा./९/१/७-९/५८८/१), (ज्ञा./२/८/१-३)।

द्र. सं./मू./३४-३५ चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू। सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ।३४। वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य। चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवर-

विसेसा ।३५। —आत्माका जो परिणाम कर्मके आस्रवको रोकनेमें कारण है, उसको भाव संवर कहते हैं और जो द्रव्यास्रवको रोकनेमें कारण है द्रव्य संवर है ।३४। पाँचव्रत, पाँचसमिति, तीनगुप्ति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय तथा अनेक प्रकारका चारित्र इस तरह ये सब भाव संवरके विशेष जानने चाहिए ।३५।

द्र. सं./टी./३४/९६/१ निरास्रवसहजस्वभावत्वात्सर्वकर्मसंवरहेतुरित्युक्तलक्षणः परमात्मा तत्स्वभावेनोत्पन्नो योऽसौ शुद्धचेतनपरिणामः स भावसंवरो भवति। यस्तु भावसंवरात्कारणभूतादुत्पन्नः कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मागमनाभावः स द्रव्यसंवर इत्यर्थः। —आस्रवविरहित सहजस्वभाव होनेसे सब कर्मोंके रोकनेमें कारण, जो शुद्ध परमात्मतत्त्व है उसके स्वभावसे उत्पन्न जो शुद्धचेतन परिणाम है सो भावसंवर है। और कारणभूत भावसंवरसे उत्पन्न हुआ जो कार्यरूप नवीन द्रव्यकर्मोंके आगमनका अभाव सो द्रव्यसंवर है। यह गाथार्थ है।

३. संवरके निश्चय हेतु

स. सा./मू./१८७–१८९ अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु। दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ।१८७। जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा। णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ।१८८। अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ। लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मविप्पमुक्को ।१८९। [एष संवरप्रकारः— स. सा./आ./१८९] —आत्माको आत्माके द्वारा जो पुण्यपापरूपी शुभाशुभ योगोंसे रोककर दर्शनज्ञानमें स्थित होता हुआ और अन्य वस्तुकी इच्छासे विरत होता हुआ ।१८७। जो आत्मा सर्वसंगसे रहित होता हुआ अपने आत्माको आत्माके द्वारा ध्याता है और कर्म तथा नोकर्मको नहीं ध्याता एवं चेतयिता (होनेसे) एकत्वको ही चिन्तवन करता है, अनुभव करता है ।१८८। वह (आत्मा) आत्माको ध्याता हुआ दर्शनज्ञानमय और अनन्यमय होता हुआ अल्पकालमें ही कर्मोंसे रहित आत्माको प्राप्त करता है ।१८९। यह संवरकी विधि है।

स. सा./आ./१८१/क. १२६ के पीछे—भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलम्भः प्रभवति। शुद्धात्मोपलम्भात् रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति। —भेद विज्ञानसे शुद्धात्माकी उपलब्धि होती है और शुद्धात्माकी उपलब्धिसे राग-द्वेष मोहका अभाव जिसका लक्षण है ऐसा संवर होता है।

द्र. सं./टी./२८/८५/१२ कर्मास्रवनिरोधसमर्थस्वसंवित्तिपरिणतजीवस्य शुभाशुभकर्मागमनसंवरणं संवरः। —कर्मोंके आस्रवको रोकनेमें समर्थ स्वानुभवमें परिणत जीवके जो शुभ तथा अशुभ कर्मोंके आनेका निरोध है वह संवर है। (पं. का/ता. वृ./१४४/२०९/१०)।

४. संवरके व्यवहार हेतु

त. सू./९/२ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ।२। —वह संवर गुप्ति, समिति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय और सामायिकादि पाँच प्रकार चारित्र इनसे होता है। (रा. वा/९/७/१४/४०/१२); (का. अ./मू./९६); (दे. संवर/१/१)।

का. आ./मू./९५,१०१ सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं। एदे संवरणामा जोगाभावो तहा चेव ।९५। जो पुण विसयविरत्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरइ। मणहरविसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि ।१०१। —१. सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायोंका जीतना और योगोंका अभाव ये सब संवरके नाम हैं ।९५। [(दे. संवर/२/२)– मिथ्यात्व अविरति आदि जो पाँच बन्धके हेतु कहे गये हैं, उनसे विपरीत ये सम्यक्त्व आदि संवरके हेतु सिद्ध हैं।] (दे. संवर/१/१)। २. जो मुनि विषयोंसे विरक्त होकर, मनको हरनेवाले पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे अपनेको सदा दूर रखता है, उनमें प्रवृत्ति नहीं करता, उसी मुनिके निश्चयसे संवर होता है ।१०१।

दे. संवर/१/२/द्र. सं. [उपरोक्त समिति गुप्ति आदि भाव संवरके विशेष हैं।]

द्र. सं./टी./३५/१४६/६ निरास्रवशुद्धात्मतत्त्वपरिणतिरूपस्य संवरस्य कारणभूता द्वादशानुप्रेक्षाः। —निरास्रव शुद्धात्मतत्त्वकी परिणतिरूप जो संवर है उसकी कारणरूप बारह अनुप्रेक्षा है। [अर्थात् शुद्धात्मानुभूति तो संवरमें कारण है, और अनुप्रेक्षा तथा अन्य समिति गुप्ति आदि संवरके उस कारणके भी कारण हैं।]

दे. तप/४/५ [तप संवर व निर्जरा दोनोंका कारण है।]

★ **कर्मोंके संवरकी ओघ आदेश प्ररूपणा** —दे. प्रकृतिबन्ध/७।

★ **निर्जरामें संवरकी प्रधानता**—दे. निर्जरा/२।

★ **संवर व निर्जराके कारणोंकी समानता**—दे. निर्जरा/२/४।

२. निश्चय व्यवहार संवरका समन्वय

१. निश्चय संवरकी प्रधानतामें हेतु

स. सा./मू./१८६ [कथं शुद्धात्मोपलम्भादेव संवर इति चेत्—(उत्थानिका)]—सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेव अप्पयं लहइ जीवो। जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ।१८६। —प्रश्न—शुद्धात्माकी उपलब्धि ही संवर कैसे है? उत्तर—शुद्धात्माको जानता हुआ, अनुभव करता हुआ जीव शुद्धात्माको ही प्राप्त करता है, और अशुद्धात्माको जानता हुआ जीव अशुद्धात्माको ही प्राप्त करता है ।१८६। (विशेष दे. संवर/१/३)

पं. का./मू./१४२–१४३ जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसे। णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ।१४२। जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स। संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स ।१४३। —जिसे सर्व द्रव्योंके प्रति राग, द्वेष या मोह नहीं है, उस समसुख-दुःख भिक्षुको शुभ और अशुभ कर्म आस्रवित नहीं होते ।१४२। जिसे विरतरूप वर्तते हुए योगमें अर्थात् मन, वचन, काय इन तीनोंमें ही जब पुण्य व पापमेंसे कोई भी नहीं होता है, तब उसे शुभ व अशुभ दोनों भावोंकृत कर्मका अर्थात् पुण्य व पाप दोनोंका संवर होता है ।१४३।

बा. अ./६३ सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स। सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि। —मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तियोंसे अशुभयोगका संवर होता है और शुद्धोपयोगसे शुभयोगका भी संवर हो जाता है ।६३। (और भी दे. संवर/२/४)

दे. धर्म/७/१ [जब तक साधु आत्मस्वरूपमें लीन रहता है तब तक ही सकल विकल्पोंसे विहीन उस साधुको संवर व निर्जरा जाननी चाहिए।]

२. व्यवहार संवर निर्देशमें हेतु

बा. आ./६२ पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा। कोहादि आसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहिं (?) ।६२। —पाँच महाव्रतोंसे नियमपूर्वक पाँच अविरति रूप परिणामोंका निरोध होता है और कषाय रहित परिणामोंसे क्रोधादि रूप आस्रवोंके द्वारा रुक जाते हैं ।६२।

ध. ७/२,१,७/गा. २/९ मिच्छत्ताविरदी वि य कसायजोगा य आसवा होंति ।२। —मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये कर्मोंके आस्रव हैं। तथा (इनसे विपरीत) सम्यग्दर्शन, विषयविरक्ति, कषायनिग्रह, और मन, वचन, कायका निरोध ये संवर हैं ।२।

स. सि./६/सूत्रसं/पृष्ठ सं./पंक्ति सं. कायादियोगनिरोधे सति तन्निमित्तं कर्म नास्रवतीति संवरप्रसिद्धिरवगन्तव्या। (४/४११/५)। तथा प्रवर्तमानस्यासंयमपरिणामनिमित्तकर्मास्रवात्संवरो भवति। (५/४११/११)। तान्येतानि धर्मव्यपदेशभाञ्जि स्वगुणप्रतिपक्षदोषसद्भावनाप्रणिहितानि संवरकारणानि भवन्ति। (६/४१३/५)। एवमनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षासंनिधाने उत्तमक्षमादिधारणान्महान् संवरो भवति। (७ ४१६/७)। एवं परिषहान् असंकल्पोपस्थितान् सहमानस्यासंक्लिष्टचेतसो रागादिपरिणामास्रवनिरोधान्महान्संवरो भवति। (६/४२८/१)।

रा. वा./६/१८/१४/६१८/६ तदेतच्चारित्रं पूर्वास्रवनिरोधकारणत्वात्परमसंवरहेतुरवसेयः। —१. काय आदि योगोंका निरोध होनेपर योग निमित्तक कर्मका आस्रव नहीं होता है, इसलिए गुप्तिसे संवरकी सिद्धि जान लेना चाहिए।४। (रा. वा./६/४/४/५६३/२०); (त. सा./६/५)। इस प्रकार समितियों रूप प्रवृत्ति करनेवालेके असंयमरूप परिणामोंके निमित्तसे होनेवाले कर्मोंके आस्रवका संवर होता है।५। (रा. वा./६/५/६/५६४/३२); (त. सा./६/१२)। इस प्रकार जीवनमें उतारे गये स्वगुण तथा प्रतिपक्षभूत दोषोंके सद्भावमें यह लाभ और यह हानि है, इस तरहकी भावनासे प्राप्त हुए ये धर्मसंज्ञावाले उत्तम क्षमादिक संवरके कारण हैं।६। (रा.वा./६/६/२७/५६६/३२); (त. सा./६/२२)। इस प्रकार अनित्यादि अनुप्रेक्षाओंका सान्निध्य मिलनेपर उत्तमक्षमादिके धारण करनेसे महान् संवर होता है।७। (रा. वा./६/७/११/६०७/५); (त. सा./६/२६)। इस प्रकार जो संकल्पके बिना उपस्थित हुए परिषहोंको सहन करता है, और जिसका चित्त संक्लेश रहित है, उसके रागादि परिणामोंके आस्रवका निरोध होनेसे महान् संवर होता है।८। (रा. वा./६/६/२८/६१२/२१); (त. सा./६/४३)। २. यह सामायिकादि भेदरूप चारित्र पूर्व आस्रवोंके निरोधका हेतु होनेसे परमसंवरका हेतु है। (त. सा./६/५०)

३. व्रत वास्तवमें शुभास्रव हैं संवर नहीं

स. सि./७/१ की उत्थानिका/३४२/२ आस्रवपदार्थो व्याख्यातः। तत्प्रारम्भकाले एवोक्तं 'शुभ: पुण्यस्य' इति तत्सामान्येनोक्तम्। तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं क: पुन: शुभ इत्युक्ते इदमुच्यते—हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।१। —आस्रव पदार्थका व्याख्यान करते समय उसके आरम्भमें 'शुभ योग पुण्यका कारण है' यह कहा है (त. सू./६/3)। पर वह सामान्य रूपसे ही कहा है अतः विशेषरूपसे उसका ज्ञान करानेके लिए शुभ क्या है ऐसा पूछनेपर आगेका सूत्र कहते हैं कि हिंसा आदिसे निवृत्त होना व्रत है।

रा. वा./७/१ की उत्थानिका/५३१/४ कैस्ते क्रियाविशेषाः प्रारभ्यमाणास्तस्यास्रवा भवन्तीति। अत्रोच्यते—व्रतिभिः। —प्रश्न—वे क्रिया विशेष कौन सी हैं, जिनके द्वारा कि उसके प्रारम्भ करनेवालोंको पुण्यका आस्रव होता है? उत्तर—व्रतरूप क्रियाओंके द्वारा पुण्यका आस्रव होता है।

दे. पुण्य/१/५ [जीव दया, शुभ योग व उपयोग, सरलता, भक्ति, चारित्रमें प्रीति, यम, प्रशम, व्रत, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य, आगमाभ्यास, सुगुप्तकाय योग, व कायोत्सर्ग आदिसे पुण्य कर्मका आस्रव होता है।]

दे. तत्त्व/२/६ [पुण्य और पाप दोनों तत्त्व आस्रवमें अन्तर्भूत हैं।]

दे. वेदनीय/४ [सराग संयम आदि सातावेदनीयके आस्रवके कारण हैं।]

दे. आयु/३/११ [सराग संयम व संयमासंयम आदि देवायुके आस्रवके कारण हैं।]

दे. चारित्र/१/४ [व्रत, समिति, गुप्ति आदि शुभ प्रवृत्ति रूप चारित्र है।]

दे. मनोयोग/५ [व्रत, समिति, शील, संयम आदिको शुभ मनोयोग जानना चाहिए।]

४. व्रतादिसे केवल पापका संवर होता है

पं. का./मू./१४१ इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गम्मि। जावत्तावत्तेहिं पिहियं पावासवच्छिद्दं। —जो भलीभाँति मार्गमें रहकर इन्द्रिय, कषाय और संज्ञाओंका जितना निग्रह करते हैं उतना पाप आस्रवका छिद्र उनका बन्द होता है।

द्र. सं./टी./३५/१४६/५ एवं व्रतसमितिगुप्तिधर्मद्वादशानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणां भावसंवरकारणभूतानां यद्व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसंवरणानि ज्ञातव्यानि। यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवरकारणानि भवन्तीति ज्ञातव्यम्। —इस प्रकार भावसंवरका कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र इन सबका जो पहले व्याख्यान किया है (दे. संवर/१/४) उस व्याख्यानमें निश्चय रत्नत्रयको साधनेवाला जो व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभोपयोग है, उसका निरूपण करनेवाले जो वाक्य हैं वे पापास्रवके संवरमें कारण जानने चाहिए। और जो व्यवहार रत्नत्रयसे साध्य शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रयके प्रतिपादक वाक्य हैं वे पुण्य तथा पाप इन दोनों आस्रवोंके संवरके कारण होते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

दे. संवर/२/२ [शुभयोगरूप प्रवृत्तिसे अशुभयोगका संवर होता है और शुद्धोपयोगसे शुभयोगका भी]।

दे. निर्जरा/३/१ [सरागी जीवोंको निर्जरासे यद्यपि अशुभकर्मका विनाश होता है, पर साथ ही शुभकर्मोंका बन्ध हो जाता है।]

★ सम्यग्दृष्टिको ही संवर होता है मिथ्यादृष्टिको नहीं

—दे. मिथ्यादृष्टि/४/२।

★ प्रवृत्तिके साथ भी निवृत्तिका अंश—दे. चारित्र/७/७।

५. निवृत्त्यंशके कारण ही व्रतादि संवर हैं

स. सि./७/१/३४३/७ ननु चास्य व्रतस्यास्रवहेतुत्वमनुपपन्नं संवरहेतुष्वन्तर्भावात्। संवरहेतवो वक्ष्यन्ते गुप्तिसमित्यादयः। तत्र दशविधे धर्मे संयमे वा व्रतानामन्तर्भाव इति। नैष दोषः; तत्र संवरो निवृत्तिलक्षणो वक्ष्यते। प्रवृत्तिश्चात्र दृश्यते; हिंसानृतादत्तादानादिपरित्यागे अहिंसासत्यवचनदत्तादानादिक्रियाप्रतीतेः गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च। व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधु सुखेन संवरं करोतीति ततः पृथक्त्वेनोपदेशः क्रियते। —प्रश्न—यह व्रत आस्रवका कारण है यह बात नहीं बनती क्योंकि संवरके कारणोंमें इसका अन्तर्भाव होता है। आगे गुप्ति, समिति आदि संवरके कारण कहनेवाले हैं। वहाँ दस प्रकारके धर्मोंमें एक संयम नामका धर्म बताया है। उसमें व्रतोंका अन्तर्भाव होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वहाँ निवृत्तिरूप संवरका कथन करेंगे, और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है; क्योंकि, हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदिका त्याग करनेपर भी अहिंसा, असत्य, वचन और दत्तवस्तुका ग्रहण आदिरूप क्रिया देखी जाती है। दूसरे ये व्रत, गुप्ति आदि रूप संवरके अंग हैं। जिस साधुने व्रतोंकी मर्यादा कर ली है, वह सुख पूर्वक संवर करता है, इसलिए व्रतोंका अलगसे उपदेश दिया है। (रा. वा./७/१/१०-१४/५३४/१४)।

त. सा./६/४३, ५१ एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः। ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवरः।४३। तपस्तु वक्ष्यते तद्धि सम्यग्भावयतो यतेः। स्नेहक्षयात्तथा योगरोधाद्भवति संवरः।५१। —इस प्रकार १२ अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करनेसे साधुके धर्मका महान् उद्योत होता है, ऐसा करनेसे उसके प्रमाद दूर हो जाते हैं

और प्रमाद रहित होनेसे कर्मोंका महान् संवर होता है ।४३। तप आगे कहेंगे। उसकी यथार्थ भावना करनेवाले योगीका राग-द्वेष नष्ट हो जाता है, और योग भी रुक जाते हैं। इसलिए उसके संवर सिद्ध होता है ।५१।

दे. उपयोग/II/३/३ [जितना रागांश है उतना बन्ध है और जितना वीतरागांश है उतना संवर है।]

दे. निर्जरा/२/४ [जब तक आत्मस्वरूपमें स्थिति रहती है तब तक संवर व निर्जरा होती है।]

संवर्गित—वर्गित संवर्गितकरण विधि—दे. गणित/II/१/६।

संवाद—दे. वाद।

संवास अनुमति—दे. अनुमति।

संवाह—

ध. १३/५.५,६३/३३६/२ यत्र शिरसा धान्यमारोप्यते स संवाहः। —जहाँपर शिरसे लेकर धान्य रखा जाता है उसका नाम संवाह है।

म. पु./१६/१७३ संवाहस्तु शिरोव्यूढधान्यसंचय इष्यते ।१७३। —जहाँ मस्तक पर्यन्त ऊँचे-ऊँचे धान्यके ढेर लगे हों वह संवाहन कहलाता है।

त्रि. सा./६७४-६७६ संवाह ।६७४। ..सिन्धुवेलावलयितः ।६७६। —समुद्रकी वेलासे वेष्टित स्थान संवाह कहलाता है।

संवाहन—

ति. प./४/१४०० संवाहणं ति बहुविहरः रामहासेलसिहरत्थं ।१४००। —बहुत प्रकारके अरण्योंसे युक्त महापर्वतके शिखरपर स्थित संवाहन जानना चाहिए।

संवित्—स्या. म./१६/२२१/२८ सम्यग्वैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित्। —जिससे यथार्थ रीतिसे वस्तुका ज्ञान हो उस ज्ञानको संवित् कहते हैं।

संवित्ति—दे. अनुभव/१।

संवृत—स. सि./२/३२/१८७/११ सम्यग्वृतः संवृतः। संवृत इति दुरुपलक्ष्यप्रदेश इत्युच्यते। —भले प्रकारसे जो ढका हो उसे संवृत कहते हैं। यहाँ संवृत ऐसे स्थानको कहते हैं जो देखनेमें न आवे। (विशेष दे. योनि); (रा. वा./२/३२/३/१४१/२६)

संवृति सत्य—दे. सत्य/१।

संवेग—१. संसारसे भयके अर्थमें

स. सि./६/२४/३३८/११ संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः। —संसारके दुःखोंसे नित्य डरते रहना संवेग है (रा. वा./६/२४/५/५२६/२५); (चा. सा./५३/५); (भा. पा./टी./७७/२२१/७)

भ.आ./वि./३५/१२७/१३ संविग्गो संसाराद् द्रव्यभावरूपात् परिवर्तनात् भयमुपगतः। —संवेग अर्थात् द्रव्य व भावरूप पंचपरिवर्तन संसारसे जिसको भय उत्पन्न हुआ है।

२. धर्मोत्साहके अर्थमें

ध. ८/३,४१/८६/३ सम्मद्दंसणणाणचरणेसु जीवस्स समागमो लद्धी णाम। हरिसो सत्तो संवेगो णाम। लद्धीए संवेगो लद्धिसंवेगो, तस्स संपण्णदा संपत्ती। —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें जो जीवका समागम होता है उसे लब्धि कहते हैं, और हर्ष व सात्त्विक भावका नाम संवेग है। लब्धिसे या लब्धिमें संवेगका नाम लब्धि संवेग और उसकी सम्पन्नताका अर्थ सम्प्राप्ति है।

द्र. सं./टी./३५/११२/७ पर उद्धृत—धम्मे य धम्मफलम्हि दंसणे य हरिसो य हुंति संवेगो। —धर्ममें, धर्मके फलमें और दर्शनमें जो हर्ष होता है, वह संवेग है।

पं. ध./उ./४३१ संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः। सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ।४३१। —धर्ममें व धर्मके फलमें आत्माके परम उत्साहको संवेग कहते हैं, अथवा धार्मिक पुरुषोंमें अनुराग अथवा पंचपरमेष्ठीमें प्रीति रखनेको संवेग कहते हैं ।४३१।

★ **संवेगोत्पादक कुछ भावनाएँ**—दे. वैराग्य/२।

★ **अकेले संवेगसे तीर्थंकरत्वके बन्धकी सम्भावना** —दे. भावना/२।

२. संवेगमें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध. ८/३,४१/८६/५ कधं लद्धिसंवेगसंपयाए सेसकारणाणं संभवो। ण सेसकारणेहि विणा लद्धिसंवेगस्स संपया जुज्जदे, विरोहादो। लद्धिसंवेगो णाम तिरयणदोहलओ, ण सो दंसणविसुज्झदादीहि विणा संपुण्णो होदि, हिरण्णसुवण्णादीहि विणा अड्ढो व्व। तदो अप्पणो अंतोखित्तसेसकारणा लद्धिसंवेगसंपया छट्ठं कारणं। —प्रश्न—लब्धिसंवेग सम्पन्नतामें शेष कारणोंकी सम्भावना कैसे है? उत्तर—क्योंकि शेष कारणोंके बिना विरुद्ध होनेसे लब्धिसंवेगकी सम्पदाका संयोग ही नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि रत्नत्रय जनित हर्षका नाम लब्धिसंवेग है। और वह दर्शनविशुद्धतादिकोंके बिना सम्पूर्ण होता नहीं है, क्योंकि, इसमें हिरण्य सुवर्णादिकोंके बिना धनाढ्य होनेके समान विरोध है। अतएव शेष कारणोंको अपने अन्तर्गत करनेवाली लब्धिसंवेग सम्पदा तीर्थंकर कर्मबन्धका छठा कारण है।

संवेजनीकथा—दे. कथा।

संव्यवहरण—आहारका एक दोष—दे. आहार/II/४/४।

संशय—यह सीप है या चाँदी इस प्रकारके दो कोटिमें झूलनेवाले ज्ञानको संशय कहते हैं। देव व धर्म आदिके स्वरूपमें यह ठीक है या नहीं ऐसी दोलायमान श्रद्धा संशय मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शनमें क्षयोपशमकी हीनताके कारण संशय व संशयातिचार हो सकते हैं पर तत्त्वोंपर दृढ़ प्रतीति निरन्तर बने रहनेके कारण उसे संशय मिथ्यात्व नहीं होता।

१. संशय सामान्यका लक्षण

रा. वा./१/६/६/३६/११ सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः।

रा. वा./१/१५/१३/६१/२७ किं शुक्लमुत कृष्णम् इत्यादि विशेषाप्रतिपत्तेः संशयः। —१. सामान्य धर्मका प्रत्यक्ष होनेपर और विशेष धर्मका प्रत्यक्ष न होनेपर किन्तु उभय विशेषोंका स्मरण होनेपर संशय होता है। (और भी दे. अवग्रह/२/१)। २. 'यह शुक्ल है कि कृष्ण' इत्यादिमें विशेषताका निश्चय न होना संशय है।

न्या. दी./१/§६/६/५ विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। स्थाणुपुरुषसाधारणोर्ध्वतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य वक्रकोटरशिरःपाण्यादेः साधकप्रमाणाभावादनेककोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य। —विरुद्ध अनेक पक्षोंका अवगाहन करने वाले ज्ञानको संशय कहते हैं। जैसे—'यह स्थाणु है या पुरुष है,' स्थाणु और पुरुषमें सामान्य रूपसे रहने वाले ऊँचाई आदि साधारण धर्मोंके देखने और स्थाणुगत टेढ़ापन, कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत शिर, पैर आदि विशेष धर्मोंके साधक प्रमाणोंका अभाव होनेसे नाना कोटियोंको अवगाहन करने वाला यह संशय ज्ञान उत्पन्न होता है। (स. भ. त./८०/४), (न्या. सू./टी./१/१/२३/२८/२५)।

स. भ. त./८०/४ एकवस्तुविशेष्यकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकज्ञानं हि संशयः। —एक ही वस्तु विषयक, विरुद्ध नानाधर्म विशेषणक युक्त ज्ञानको संशय कहते हैं।

श्लो. वा./४/१/३३/न्या. ४५६/भाषाकार/५५१/१४ भेदाभेदात्मकत्वे सदसदात्मकत्वे वा वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्यत्वं संशयः। —सम्पूर्ण पदार्थोंको अस्ति-नास्तिरूप या भेद अभेदात्मक स्वीकार करनेपर, वस्तुका असाधारण स्वरूप करके निश्चय नहीं किया जा सकता है, अतः संशय दोष आता है।

२. संशयके भेद व उनके लक्षण

न्या.सू. व भाष्यका भावार्थ/१/१/२३/२८-३० समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः। —१. समान धर्मके ज्ञानसे विशेषकी अपेक्षासहित अवमर्शको संशय कहते हैं जैसे—दूर स्थानसे सूखा वृक्ष देखकर यह क्या वस्तु है? स्थाणु है या पुरुष? ऐसे अनिश्चित रूप ज्ञानको संशय कहते हैं। २. अनेक धर्मोंका ज्ञान होनेपर यह धर्म किसका है ऐसा निश्चय न होना संशय है। जैसे—यह सत् नामका धर्म द्रव्यका है, गुणका है अथवा द्रव्य गुण दोनोंका है। ३. विप्रतिपत्ति अर्थात् परस्पर विरोधी पदार्थोंको साथ देखनेसे भी सन्देह होता है। जैसे—एक शास्त्र कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि नहीं, दोमें से एकका निश्चय कराने वाला कोई हेतु मिलता नहीं, उसमें तत्त्वका निश्चय न होना संशय है। ४. उपलब्धिकी अव्यवस्थासे भी सन्देह होता है, जैसे सत्य, जल, तालाब आदिमें और असत्य किरणोंमें। फिर कहीं प्राप्ति होनेसे यथार्थके निश्चय कराने वाले प्रमाणके अभावसे क्या सत्का ज्ञान होता है या असत्का? यह सन्देह वा संशय होना। ५. इसी प्रकार अनुपलब्धिकी अव्यवस्थासे भी संशय होता है। पहले लक्षणमें तुल्य अनेक धर्म जानने योग्य वस्तुमें है और उपलब्धि यह ज्ञातामें है। इतनी विशेषता है।

३. संशय मिथ्यात्वका लक्षण

स. सि./८/१/३७५/७ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्यतरपक्षापरिग्रहः संशयः। —सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है या नहीं, इस प्रकार किसी एक पक्षको स्वीकार नहीं करना संशय मिथ्यादर्शन है। (रा. वा./८/१/२८/५६४/२१), (त. सा./५/५)।

भ. आ./वि./५६/१८०/२० संसयिदं संशयितं किंचित्तत्त्वमिति। तत्त्वानवधारणात्मकं संशयज्ञानसहचारि अश्रद्धानं संशयितम्। न हि संदिहानस्य तत्त्वविषयं श्रद्धानमस्ति इदमित्थमेवेति। निश्चयप्रत्ययसहभावित्वात् श्रद्धानस्य। —जिसमें तत्त्वोंका निश्चय नहीं है ऐसे संशयज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले अश्रद्धानको संशय मिथ्यात्व कहते हैं। जिसको पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय नहीं है उसको जीवादिकोंका स्वरूप ऐसा ही है अन्य नहीं है ऐसी तत्त्व विषयक सच्ची श्रद्धा नहीं रहती है। जब सच्ची श्रद्धा होती है तब निश्चय ज्ञान होता है।

ध. ८/३,६/२०/८ सव्वत्थ संदेहो चेव णिच्छओ णत्थि त्ति अहिणिवेसो संसयमिच्छत्तं। —सर्वत्र सन्देह ही है, निश्चय नहीं है, ऐसे अभिनिवेशको संशय मिथ्यात्व कहते हैं।

नि. सा./ता. वृ./५१ संशयः तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति। —जिनदेव होंगे या शिवदेव होंगे, यह संशय है।

गो. जी./जी. प्र./१६/४१/४ इन्द्रो नाम श्वेताम्बरगुरुः तदादयः संशयमिथ्यादृष्टयः। —इन्द्र नामक श्वेताम्बरोंके गुरुको आदि देकर संशय मिथ्यादृष्टि हैं।

द्र. सं./टी./४२/१८०/६ शुद्धात्मतत्त्वादिप्रतिपादकमागमज्ञानं किं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं भविष्यति परसमयप्रणीतं वेति, संशयः। —शुद्ध आत्मतत्त्वादिका प्रतिपादक तत्त्वज्ञान, क्या वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ सत्य है या अन्य मतियों द्वारा कहा हुआ सत्य है, यह संशय है।

४. संशय, विपर्यय व अनध्यवसायमें अन्तर

न्या. दी./१/६/११ इदं हि नानाकोट्यवलम्बनाभावान्न संशयः विपरीतैककोटिनिश्चयाभावान्न विपर्यय इति पृथगेव। —यह (अनध्यवसाय) ज्ञान नाना पक्षोंका अवगाहन न करनेसे न संशय है और विपरीत एक पक्षका निश्चय न करनेसे न विपर्यय है।

५. शंका अतिचार व संशय मिथ्यात्वमें अन्तर

भ. आ./वि./४४/१४३/६ ननु सति सम्यक्त्वे तदतिचारो युज्यते। संशयश्च मिथ्यात्वमावहति। तथाहि मिथ्यात्वभेदेषु संशयोऽपि गणितः।...सत्यपि संशये सम्यग्दर्शनमस्त्येवेति अतिचारता युक्ता। कथं। श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्...यदि नामनिर्णयो नोपजायते। तथापि तु इदं यथा सर्वविदा उपलब्धं तथैवेति श्रद्धेहमिति भावयतः कथं सम्यक्त्वहानिः। एवं भूतश्रद्धानरहितस्य को वेत्ति किमत्र तत्त्वमिति...'तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होदि अत्थाणं' मिति।...किं च छद्मस्थानां रज्जूरगस्थाणुपुरुषादिषु किमियं रज्जूरगः, स्थाणुः पुरुषो वा किमित्यनेकः संशयप्रत्ययो जायते इति ते सम्यग्दृष्टयः स्युः। —प्रश्न—यदि सम्यग्दर्शन हो तो उसका शंका अतिचार मानना योग्य है परन्तु संशय मिथ्यापनेको धारण करता है।...मिथ्यात्वके भेदोंमें आचार्यने इसकी गणना भी की है? उत्तर—आपका कहना ठीक है, संशयके सद्भावमें भी सम्यक्त्व रहता ही है। अतः संशयको अतिचारपना मानना युक्तियुक्त है इसका स्पष्टीकरण ऐसा करते हैं।...विशिष्ट क्षयोपशम न होना...इत्यादि कारणोंसे वस्तुस्वरूपका निर्णय नहीं होता, तो भी जैसा सर्वज्ञ जिनेश्वरने वस्तु स्वरूप जाना है वह वैसा ही है ऐसी मैं श्रद्धा रखता हूँ, ऐसी भावना करने वाले भव्यके सम्यक्त्वकी हानि कैसे होगी, उसका सम्यग्दर्शन समल होगा परन्तु नष्ट न होगा।...उपर्युक्त श्रद्धासे जो रहित है वह हमेशा संशयाकुलित ही रहता है, वास्तविक तत्त्वस्वरूप क्या है? उसको कौन जानता है कुछ निर्णय कर नहीं सकते ऐसी उसकी मति रहती है...संशय मिथ्यात्वसे सच्चे तत्त्वके प्रति अरुचि भाव रहता है।...छद्मस्थोंको भी डोरी, सर्प, खूँट, मनुष्य इत्यादि पदार्थोंमें यह रज्जु है? या सर्प है? यह खूँट है या मनुष्य है इत्यादि अनेक प्रकारका संशय उत्पन्न होता है तो भी वे सम्यग्दृष्टि हैं।

अन. ध./२/७१ विश्वं विश्वविदाज्ञयाभ्युपगतः शङ्कास्तमोहोदयाज्ज्ञानावृत्युदयान्मतिः प्रवचने दोलायिता संशयः। दृष्टिं निश्चयमाश्रितां मलिनयेत्सा नाहिरज्ज्वादिगा-या मोहोदयसंशयात्तदरुचिः स्यात्सा तु संशीतिदृक्।७१। —मोहोदयके उदयका अस्त होनेसे यथावत् विश्वास करनेवाले जीवको ज्ञानावरण कर्मके उदयसे तत्त्वोंके विषयमें दोलायमान बुद्धिको संशय कहते हैं। इस संशयको ही शंका नामक अतिचार कहते हैं वही निश्चय सम्यग्दर्शनको मलिन करती है। सर्प रज्जु आदिके विषयमें उत्पन्न शंका उसको मलिन नहीं करती। अर्थात् जिस शंकासे सम्यग्दर्शन मलिन हो उसे शंका अतिचार कहते हैं। जो शंका मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हो और जिससे सर्वज्ञोक्त तत्त्वोंमें अश्रद्धा हो उसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं।

★ संशय मिथ्यात्व व मिश्र गुणस्थानमें अन्तर

—दे. मिश्र/२।

★ सम्यग्दृष्टिको भी कदाचित् पदार्थके स्वरूपमें संशय

—दे. निःशंकित।

★ सम्यग्दृष्टिको संशयके समय कथंचित् अन्धश्रद्धान या अश्रद्धान—दे. श्रद्धान/३।

संशयवचनी भाषा—दे. भाषा।

संशयसमा जाति —

न्या. सू./मू. व भाष्य/५/१/१४/२९३/१३ सामान्यदृष्टान्तयोरिन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसम.।१४। अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते हेतौ संशयेन प्रत्यवतिष्ठते। सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वे अस्त्येवास्य नित्येन सामान्येन साधर्म्यमैन्द्रियकत्वमस्ति च घटेनानित्येनातो नित्यानित्यसाधर्म्यादनिवृत्तः संशय-इति अस्योत्तरम्।१४। —सामान्य (शब्दत्व) और दृष्टान्त (घट) दोनोंके ऐन्द्रियकत्व समान होनेपर नित्य, अनित्योंके साधर्म्यसे संशयसम प्रतिषेध उठा दिया जाता है।१४। जैसे—शब्द अनित्य है प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाले घटकी भाँति। ऐसा कहनेपर हेतुमें सन्देह खड़ा रहता है। प्रयत्नकी समानता रहनेपर भी इसका नित्य सामान्यके साथ ऐन्द्रियकत्व रूप साधर्म्य है और अनित्य घटके साथ भी समानधर्मता है, इसलिए नित्यानित्यके साधर्म्यसे संदेह निवृत्त न हुआ। (श्लो. वा. ४/१/३/न्या. ३८०/५०६/१३ में इसपर चर्चा)।

संशयानेकान्तिक हेत्वाभास—दे. व्यभिचार।

संशयासिद्ध हेत्वाभास—दे. असिद्ध।

संश्लेश बन्ध—दे. श्लेष।

संसक्त साधु—१. भ. आ./मू./१३१३-१३१४ इंदियकसायदोसेहिं अधवा समण्णजोगपरित्तंतो। जो उब्वायदि सो होदि णियत्तो साधुसत्थादो।१३१३। इंदियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि। पाविज्जंते दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता।१३१४। —इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अथवा सामान्य ध्यानादिकसे विरक्त होकर जो साधु चारित्रसे भ्रष्ट होता है वह साधु सार्थसे अलग होता है।१३१३। इन्द्रिय विषय और कषायके वशीभूत कितनेक भ्रष्ट मुनि सर्व दोषोंसे युक्त होकर सर्व अशुभ स्थानको प्राप्ति करानेवाले परिणामोंको प्राप्त होते हैं।१३१४।

भ. आ./वि./१९५०/१७२२/२४ संसक्तो निरूप्यते—प्रियचारित्रे प्रियचारित्रः अप्रियचारित्रे दृष्टे अप्रियचारित्रः, नटवदनेकरूपग्राही संसक्तः, पञ्चेन्द्रियेषु प्रसक्तः त्रिविधगौरवप्रतिबद्धः, स्त्रीविषये संक्लेशसहित., गृहस्थजनप्रियश्च संसक्त। —संसक्त मुनिका वर्णन—ऐसे मुनि चारित्रप्रिय मुनिके सहवाससे चारित्रप्रिय और चारित्र-अप्रिय मुनिके सहवाससे चारित्र अप्रिय बनते हैं। नटके समान इनका आचरण रहता है। ये संसक्त मुनि इन्द्रियोंके विषयमें आसक्त रहते हैं, तथा तीन प्रकार गारवोंमें आसक्त होते हैं। स्त्रीके विषयमें इनके परिणाम संक्लेश युक्त होते हैं। गृहस्थोंपर इनका विशेष प्रेम होता है।

चा. सा./१४४/१ १. मन्त्रवैद्यकज्योतिष्कोपजीवी राजादिसेवकः संसक्तः। —जो मन्त्र, वैद्यक वा ज्योतिष शास्त्रसे अपनी जीविका करते हैं और राजा आदिकोंकी सेवा करते हैं वे संसक्त साधु हैं। (भा. पा./टी./१४/१३७/२०)। २. संसक्त साधु सम्बन्धी विषय—दे. साधु/५।

संसर्ग— १. स्या. म./२३/२८४/२८ संसर्गे तु भेदः प्रधानम् -अभेदो-गौण इति विशेषः। —संसर्गमें भेदकी प्रधानता और अभेदकी गौणता होती है। (स. भं. त./३३/२१)। २. संसर्गकी अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद—दे. सप्तभंगी/५/८।

संसार—संसरण करने अर्थात् जन्म मरण करनेका नाम संसार है। अनादिकालसे जन्म मरण करते हुए इस जीवने एक-एक करके लोकके सर्व परमाणुओंको, सर्व प्रदेशोंको, कालके सर्व समयोंको, सर्व प्रकारके कषाय भावोंको और नरकादि सर्वभवोंको अनन्त-अनन्त-बार ग्रहण करके छोड़ा है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भवके भेदसे यह संसार पंच परिवर्तन रूप कहा जाता है।

१. संसार सामान्य निर्देश

१. संसार सामान्यका लक्षण

१. परिवर्तन

स. सि./२/१०/१६४/८ संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः।

स. सि./६/७/४१५/१ कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। —१. संसरण करनेको संसार कहते हैं जिसका अर्थ परिवर्तन है। २. कर्मके विपाकके वशसे आत्माको भवान्तरकी प्राप्ति होना संसार है। (रा. वा./—२/१०/१/१२४/१५; ६/१/८/५८८/२; ६/७/३/-६००/२८)।

का. अ./मू./३२-३३ एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो। पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहु वारं।३२। एवं जं संसरणं णाणा-देहेसु होदि जीवस्स। सो संसारो भण्णदि मिच्छ-कसाएहि जुत्तस्स।३३। —जीव एक शरीरको छोड़ता है और दूसरे नये शरीरको ग्रहण करता है। पश्चात् उसे भी छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार अनेक बार शरीरको ग्रहण करता है और अनेक बार उसे छोड़ता है। मिथ्यात्व कषाय वगैरहसे युक्त जीवका इस प्रकार अनेक शरीरोंमें जो संसरण (परिभ्रमण) होता है, उसे संसार कहते हैं।

२. कर्म

ध. १३/५.४,१७/४४/१० संसरन्ति अनेन घातिकर्मकलापेन चतसृषु गतिष्विति घातिकर्मकलापः संसारः। —जिस घातिकर्म समूहके कारण जीव चारों गतियोंमें संसरण करते हैं, वह घातिकर्म समूह संसार है।

२. संसार असंसार आदि संसार निर्देश

रा. वा./९/७/३/६००/२८ चतुर्विधात्मावस्था:—संसारः असंसारः नोसंसारः तत्त्रितयव्यपायश्चेति। तत्र संसारश्चतसृषु गतिषु नानायोनिविकल्पासु परिभ्रमणम्। अनागतिरसंसार. शिवपदपरमामृतसुखप्रतिष्ठा। नोसंसारः सयोगकेवलिनः चतुर्गतिभ्रमणाभावात् असंसारप्राप्त्यभावाच्च ईषत्संसारो नोसंसार इति। अयोगकेवलिनः तत्त्रितयव्यपायः भवभ्रमणाभावात् सयोगकेवलिवत् प्रदेशपरिस्पन्दः विगमात् असंसारावाप्त्यभावाच्च। —आत्माकी चार अवस्थाएँ होती हैं - संसार, असंसार, नोसंसार और इन तीनों से विलक्षण अनेक योनिवाली चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना संसार है। फिर जन्म न लेना—शिवपद प्राप्ति या परमसुख प्रतिष्ठा असंसार है। चतुर्गतिमें परिभ्रमण न होनेसे तथा अभी मोक्षकी प्राप्ति न होनेसे सयोगकेवलीकी जीवन्मुक्त अवस्था ईषत्संसार या नोसंसार है। अयोगकेवली इन तीनोंसे विलक्षण है। इनके चतुर्गति भ्रमण और असंसारकी प्राप्ति तो नहीं है पर केवलीकी तरह शरीर परिस्पन्द भी नहीं है। जब तक शरीर परिस्पन्द न होनेपर भी आत्म प्रदेशोंका चलन होता रहता है तब तक संसार है। (चा. सा./१८०/३)।

३. द्रव्य क्षेत्रादि संसार निर्देश

रा. वा./९/७/३/६०१/४ द्रव्यनिमित्तसंसारश्चतुर्विधः कर्मनोकर्मवस्तुविषयाश्रयभेदात्। तत्र क्षेत्रहेतुको द्विविधः—स्वक्षेत्रपरक्षेत्रविकल्पात्। लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यात्मनः कर्मोदयवशात् संहरणविसर्पणधर्मणः हीनाधिकप्रदेशपरिणामावगाहित्वं स्वक्षेत्रसंसारः। सम्मूर्छनगर्भोपपादजन्मनवयोनिविकल्पावालम्बनः परक्षेत्रसंसारः। कालो द्विविधः—परमार्थरूपो व्यवहाररूपश्चेति। तयोर्लक्षणमाख्यातम्-

तम्। तत्र परमार्थकालवर्तितपरिस्पन्देतरपरिणामविकल्पः तत्पूर्वक-कालव्यपदेशौपचारिककालप्रवृत्तिः कालसंसारम्। भवनिमित्तः संसारः द्वात्रिंशद्विधः—पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकाः प्रत्येकं चतुर्विधाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्। वनस्पतिकायिका द्वेधा-प्रत्येकशरीराः साधारणशरीराश्चेति। प्रत्येकशरीरा द्वेधा—पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्। साधारणशरीराश्चतुर्धा सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकविकल्पात्। विकलेन्द्रिया प्रत्येकं द्विधा पर्याप्तकापर्याप्तकविकल्पात्। पञ्चेन्द्रियाश्चतुर्धा संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकापेक्षयेति। भावनिमित्तो संसारो द्वेधा स्वभावपरभावाश्रयात्। स्वभावो मिथ्यादर्शनादि परभावो ज्ञानावरणादिकर्मरसादि। —१. कर्म नोकर्म वस्तु और विषयाश्रयके भेदसे द्रव्यसंसार चार प्रकारका है। २. स्वक्षेत्र और परक्षेत्रके भेदसे क्षेत्रसंसार दो प्रकारका है। लोकाकाशके समान असंख्य प्रदेशी आत्माको कर्मोदयवश संहरणविसर्पण स्वभावके कारण जो छोटे-बड़े शरीरमें रहना है वह स्वक्षेत्र संसार है। सम्मूर्छन गर्भ उपपाद आदि नौ प्रकारकी योनियोंके आधीन परक्षेत्र संसार है। ३. काल व्यवहार और परमार्थके भेदसे दो प्रकारका है।...परमार्थ कालके निमित्तसे होनेवाले परिस्पन्द और अपरिस्पन्दरूप परिणमन जिनमें व्यवहारकालका विभाग भी होता है कालसंसार है। ४. भवनिमित्त संसार बत्तीस प्रकारका है—सूक्ष्म, बादर और पर्याप्त व अपर्याप्तके भेदसे चार-चार प्रकारके—पृथिवी, जल, तेज और वायुकायिक; पर्याप्तक और अपर्याप्तक प्रत्येक वनस्पति—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्तक ये चार साधारण वनस्पति; पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे दो दो प्रकारके—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय; संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार पंचेन्द्रिय इस प्रकार बत्तीस प्रकार भवसंसार है। ५. भावनिमित्तक संसारके दो भेद हैं स्वभाव और परभाव। मिथ्यादर्शनादि स्वभाव संसार है तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंका रस परभाव ससार हैं।

प्र. सा./ता. प्र./ यन्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशापरित्यागोपादानात्मकः क्रियाख्यपरिणामस्तत्संसारस्य स्वरूपम्। —परिणमन करते हुए द्रव्यका पूर्वोत्तर दशाका त्याग-ग्रहणात्मक क्रिया नामक परिणाम है सो वह (भाव) संसारका स्वरूप है।

प्र. सा./ता. वृ./७/९ ६ मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे पतन्त...... —मिथ्यात्व रागादिके संसरणरूप भाव संसारे...

★ जितने जीव मोक्ष जाते हैं उतने ही निगोदसे निकलते हैं—दे. मोक्ष/२।

★ निरन्तर मुक्त होते भी जीवोंसे संसार रिक्त नहीं होता—दे. मोक्ष/६।

२. पंच परिवर्तनरूप संसार निर्देश

१. परिवर्तनके पाँच भेद

स. सि./२/१०/१६५/१ तद् परिवर्तनं पञ्चविधं द्रव्यपरिवर्तनं क्षेत्रपरिवर्तनं कालपरिवर्तनं भवपरिवर्तनं भावपरिवर्तनं चेति। —परिवर्तनके पाँच भेद हैं—द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन। (मू. आ./७०४); (ध. ४/१,५,४/३२५/५); (गो. जी./जी. प्र./५६०/९८६/१४)

२. द्रव्यपरिवर्तन आदिके उत्तर भेद

स. सि./२/१०/१६५/२ द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधम्-नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं कर्मद्रव्यपरिवर्तनं चेति।

ध. ४/१,५,४/३२७/१० पोग्गलपरियट्टकालो तिविहो होदि, अगहिदगहणद्धा गहिदगहणद्धा मिस्सयगहणद्धा चेदि। —१. द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं—नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन। (ध. ४/१,५,४/३२५/७); (गो. जी./जी. प्र./५६०/९८६/१४)। २. यह पुद्गल (नोकर्म) परिवर्तनकाल तीन प्रकारका होता है—अगृहीतग्रहण काल, गृहीतग्रहण काल और मिश्र काल।

३. द्रव्यपरिवर्तन निर्देश

स. सि./२/१०/१६५/२ तत्र नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां च योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिभिस्तीव्रमन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य मिश्रकांश्चानन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतांश्चानन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनम्। कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेनाष्टविधकर्मभावेन ये गृहीताः पुद्गलाः समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः, पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं उक्तं च—"सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण। असइं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे।" —नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप कहते हैं—किसी एक जीवने तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको एक समयमें ग्रहण किया। अनन्तर वे पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण और गन्ध आदिके द्वारा जिस तीव्र, मन्द और मध्यम भावसे ग्रहण किये थे उस रूपसे अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयोंमें निर्जीर्ण हो गये। तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओंको अनन्तबार ग्रहण करके छोड़ा, मिश्र परमाणुओंको अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा और बीचमें गृहीत परमाणुओंको अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा। तत्पश्चात् जब उसी जीवके सर्वप्रथम ग्रहण किये गये वे ही परमाणु उसी प्रकारसे नोकर्म भावको प्राप्त होते हैं, तब यह सब मिलकर एक नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन है। अब कर्मद्रव्यपरिवर्तनका कथन करते हैं—एक जीवने आठ प्रकारके कर्मरूपसे जिन पुद्गलोंको ग्रहण किया वे समयाधिक एक आवलीकालके बाद द्वितीयादिक समयोंमें झर गये। पश्चात् जो क्रम नोकर्म द्रव्यपरिवर्तनमें बतलाया है उसी क्रमसे वे ही पुद्गल उसी प्रकारसे उस जीवके जब कर्मभावको प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक कर्म द्रव्यपरिवर्तन होता है। "इस जीवने सभी पुद्गलोंको क्रमसे भोगकर छोड़ा है। और इस प्रकार यह जीव अनन्तबार पुद्गल परिवर्तनरूप संसारमें घूमता रहता है। (भा. पा./मू./२२); (बा. अनु./२५); (ध. ४/१,५,४/३२५-३३); (का. अ./६७); (द्र. सं./टी./३५/१०३/५); (गो. जी./जी. प्र./५६०/९८९/१५)

४. क्षेत्रपरिवर्तन निर्देश

१. स्वक्षेत्र

गो. जी./जी. प्र./५६०/९९१/२० स्वक्षेत्रपरिवर्तनमुच्यते—कश्चिज्जीवः सूक्ष्मनिगोदजघन्यावगाहनेनोत्पन्नः स्वस्थितिं जीवित्वा मृतः पुनः प्रदेशोत्तरावगाहनेन उत्पन्नः। एवं द्व्यादिप्रदेशोत्तरक्रमेण महामत्स्यावगाहनपर्यन्ताः संख्यातघनाङ्गुलप्रमितावगाहनविकल्पाः तेनैव जीवेन यावत्स्वीकृताः तत् सर्वं समुदितं स्वक्षेत्रपरिवर्तनं भवति। —स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं—कोई जीव सूक्ष्मनिगोदियाकी जघन्य अवगाहनासे उत्पन्न हुआ, और अपनी आयु प्रमाण जीवित रहकर मर गया। फिर वही जीव एक प्रदेश अधिक अवगाहना लेकर उत्पन्न हुआ। एक-एक प्रदेश अधिककी अवगाहनाओंको क्रमसे धारण करते-करते महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त संख्यात घनांगुल प्रमाण अवगाहनाके विकल्पोंको वही जीव जितने समयमें धारण करता है उतने कालके समुदायको स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

२. परक्षेत्र

बा. अणु./२६ सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्थि जण्ण उप्पण्णं। उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ।२६। —क्षेत्र परिवर्तनरूप संसारमें अनेकबार भ्रमण करता हुआ यह जीव तीनों लोकोंमें सम्पूर्ण क्षेत्रमें ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँपर अपनी अवगाहना वा परिणामको लेकर उत्पन्न न हुआ हो। (भा. पा./मू./२१); (स. सि./२/१० पर उद्धृत); (प. प्र./मू./६५/प्रक्षेपक); (ध. ४/१.५.४/गा. २३/३२३); (का. अ./मू./६८); (द्र. सं./टी./३५/१०३/७)।

स. सि./२/१०/१६५/१३ क्षेत्रपरिवर्तनमुच्यते—सूक्ष्मनिगोदजीवोऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्ये कृत्वोत्पन्नः क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः। स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिस्तथा चतुरित्येवं यावद् घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वो लोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत्क्षेत्रपरिवर्तनम्। —जिसका शरीर आकाशके सबसे कम प्रदेशोंपर स्थित है, ऐसा एक सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकजीव लोकके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यमें करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण कालतक जीवित रहकर मर गया। पश्चात् वही जीव पुनः उसी अवगाहनासे वहाँ दूसरी बार उत्पन्न हुआ, तीसरी बार उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अंगुलके असंख्यातवें भागमें आकाशके जितने प्रदेश प्राप्त हों उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ। पुनः उसने आकाशका एक-एक प्रदेश बढ़ाकर सब लोकको अपना जन्म क्षेत्र बनाया। इस प्रकार यह सब मिलकर एक क्षेत्रपरिवर्तन होता है। (गो. जी./जी. प्र./५६०/९९२/२)।

५. काल परिवर्तन निर्देश

बा. अणु./२७ अवसप्पिणि उस्सप्पिणि समयावलियासु णिरवसेसासु। जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे। —काल परिवर्तनरूप संसारमें भ्रमण करता हुआ उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके सम्पूर्ण समयों और आवलियोंमें अनेक बार जन्म धारण करता है और मरता है। (भा. पा./मू./३५); (स. सि./२/१०/१६६ पर उद्धृत); (ध. ४/१.५.४/गा. २४/३२२); (का. अ./मू./६६); (द्र. सं./टी./३५/१०३/६)।

स. सि./२/१०/१६६/६ कालपरिवर्तनमुच्यते-उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः। स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषःक्षयान्मृतः। स एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः। एवमनेन क्रमेणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता। तथावसर्पिणी च। एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तम्। मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ग्राह्यम्। एतावत्कालपरिवर्तनम्। —कोई जीव उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ और आयुके समाप्त हो जानेपर मर गया। पुनः वही जीव दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होनेपर मर गया। पुनः वही जीव तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ इस प्रकार इसने क्रमसे उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी प्रकार अवसर्पिणी भी। यह जन्म नैरन्तर्य कहा। तथा इसी प्रकार मरणका भी नैरन्तर्य लेना चाहिए। यह सब मिलकर एक कालपरिवर्तन है। (गो. जी./जी. प्र./५६०/९९२/१२)।

६. भव परिवर्तन निर्देश

बा. अणु./२८ णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्ल वा [गा] दु गेवेज्जा मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदीभमिदा ।२८। —इस मिथ्यात्व संयुक्त जीवने नरककी छोटीसे छोटी आयु लेकर ऊपरके ग्रैवेयक विमान तककी आयु क्रमसे अनेक बार पाकर भ्रमण किया है। (भा. पा./मू./२४); (स. सि./२/१०/१६७ पर उद्धृत); (ध. ४/१.५.४/गा. २५/३३३); (का. अ./मू./७०); (द्र. सं./टी./१३/१०४/१)।

स. सि./२/१०/१६७/१ नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि। तेनायुषा तत्रोत्पन्नः पुनः परिभ्रम्य तेनैवायुषा जातः। एवं दशवर्षसहस्राणां यावन्तः समयास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जातो मृतः। पुनरेकैकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि। ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतावन्तर्मुहूर्तायुः समुत्पन्नः। पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि तेन परिसमाप्तानि। एवं मनुष्यगतौ च। देवगतौ च नारकवत्। अयं तु विशेषः—एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमाप्तानि यावत्तावद् भवपरिवर्तनम्। —नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है। एक जीव उस आयुसे वहाँ उत्पन्न हुआ पुनः घूम-फिरकर पुनः उसी आयुसे वहाँ उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय हैं उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ और मर गया। पुनः आयुमें एक-एक समय बढ़ाकर नरककी तेतीस सागर आयु समाप्त की। तदनन्तर नरकसे निकलकर अन्तर्मुहूर्त आयुके साथ तिर्यंच गतिमें उत्पन्न हुआ। और पूर्वोक्त क्रमसे उसने तिर्यंच गतिकी तीन पल्य आयु समाप्त की। इसी प्रकार मनुष्य गतिमें अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्य आयु समाप्त की। तथा देवगतियोंमें नरक गतिके समान आयु समाप्त की। किन्तु देवगतिमें इतनी विशेषता है कि यहाँ ३१ सागर आयु समाप्त होने तक कथन करना चाहिए। [क्योंकि ऊपर नव अनुदिश आदिके देव संसारमें भ्रमण नहीं करते] इस प्रकार यह सब मिलकर एक भवपरिवर्तन है। (गो. जी./जी. प्र./५६०/९९२/२०)।

७. भाव परिवर्तन निर्देश

बा. अनु./२९ सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंधट्ठाणाणि। जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे ।२९। —इस जीवने मिथ्यात्वके वशमें पड़कर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्धके कारणभूत जितने प्रकारके परिणाम वा भाव हैं, उन सबका अनुभव करते हुए भाव परिवर्तनरूप संसारमें अनेक बार भ्रमण किया है। (स. सि./२/१०/१६६ पर उद्धृत); (ध. ४/१.५.४/गा. २६/३३३); (का. अ./मू./७१)।

स. सि./२/१०/१६७/१० भावपरिवर्तनमुच्यते-पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटीकोटीसंज्ञिकामापद्यते। तस्य कषायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थितियोग्यानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनुभागाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति। एवं सर्वजघन्यां स्थितिं सर्वजघन्यं च कषायाध्यवसायस्थानं सर्वजघन्यमेवानुभागबन्धस्थानमास्कन्दतस्तद्योग्यं सर्वजघन्यं योगस्थानं भवति। तेषामेव स्थितिकषायानुभागस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति। एवं च तृतीयादिषु चतुःस्थानपतितानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति। तथा तामेव स्थितिं तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयमनुभवाध्यवसायस्थानं भवति। तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि अनुभवाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेः। एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति। तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्यः। उक्ताया जघन्यायाः स्थितेः समयाधिकायाः कषायादिस्थानानि पूर्ववत्। एवं समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीपरिमितायाः कषायादिस्थानानि वेदितव्यानि। अनन्तभागवृद्धिः...इमानि षट्वृद्धिस्थानानि। हानिरपि तथैव। अनन्तभागवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरहितानि

चत्वारि स्थानानि। एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च परिवर्तनक्रमो वेदितव्यः। तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्तनम्। —भाव परिवर्तनका कथन करते हैं—पंचेंद्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृतिकी सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तःकोड़ा-कोड़ी प्रमाण स्थितिको प्राप्त होता है उसके उस स्थितिके योग्य षट्स्थान पतित असंख्यात लोक प्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थान होते हैं। और सबसे जघन्य इन कषाय अध्यवसाय स्थानोंके निमित्तसे असंख्यात लोक प्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थान होते हैं। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान और सबसे जघन्य अनुभाग अध्यवसाय स्थानको धारण करनेवाले इस जीवके तद्योग्य सबसे जघन्य योग स्थान होता है। तत्पश्चात् स्थिति कषाय अध्यवसाय स्थान और अनुभाग अध्यवसाय स्थान वहीं रहते हैं किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता है जो असंख्यात भाग वृद्धि संयुक्त होता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योग स्थानोंमें समझना चाहिए। ये सब योग-स्थान चार स्थान पतित होते हैं, और इनका प्रमाण श्रेणीके असंख्यातवें भाग है। तदनन्तर उसी स्थिति और उसी कषाय अध्यवसाय स्थान-को धारण करनेवाले जीवके दूसरा अनुभाग अध्यवसायस्थान होता है इसके योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ भी पूर्वोक्त तीनों बातें ध्रुव रहती हैं किन्तु योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण होते हैं। इस प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थानोंके होने तक तीसरे आदि अनुभाग अध्यवसाय स्थानोंमें जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ स्थिति और कषाय अध्यवसायस्थान तो जघन्य ही रहते हैं। किन्तु अनुभाग अध्यवसाय स्थान क्रमसे असंख्यात लोक प्रमाण हो जाते हैं और एक-एक अनुभाग अध्यवसाय स्थानके प्रति जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान होते हैं। तत्पश्चात् उसी स्थितिको प्राप्त होनेवाले जीवके दूसरा कषाय अध्यवसाय स्थान होता है, इसके अनु-भाग अध्यवसाय स्थान और योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिए। इस प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थानोंके होने तक तीसरे कषाय अध्यवसाय स्थानोंमें वृद्धिका क्रम जानना चाहिए। जिस प्रकार सबसे जघन्य स्थितिके कषायादि स्थान कहे हैं उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्य स्थितिके भी कषायादि स्थान जानना चाहिए। और इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तक प्रत्येक स्थिति विकल्पके भी कषायादि स्थान जानने चाहिए। अनन्तभागवृद्धि···ये वृद्धिके छह स्थान हैं तथा इसी प्रकार हानि भी छह प्रकारकी है। इनमेंसे अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इन दो स्थानोंके कम कर देनेपर चार स्थान होते हैं। इस प्रकार सर्व मूल व उत्तर प्रकृतियोंके परिवर्तनका क्रम जानना चाहिए। यह सब मिलकर एक भाव परिवर्तन होता है। (द्र. सं./टी./३५/१०४/८); (गो. जी./जी. प्र./५६०/९९१/२२)।

८. पाँच परिवर्तनोंमें अल्पबहुत्व

ध.४/१,५,४/३३४/७ अदीदकाले एगस्स जीवस्स सव्वत्थोवा भावपरियट्ट-वारा। भवपरियट्टवारा अणंतगुणा। कालपरियट्टवारा अणंतगुणा। खेत्तपरियट्टवारा अणंतगुणा। पोग्गलपरियट्टवारा अणंतगुणा। सव्व-त्थोवो पोग्गलपरियट्टकालो। खेत्तपरियट्टकालो अणंतगुणो। कालपरि-यट्टकालो अणंतगुणो। भवपरियट्टकालो अणंतगुणो भावपरियट्टकालो अणंतगुणो। —१. अतीतकालमें एक जीवके सबसे कम भाव परिवर्तन-के वार हैं। भव परिवर्तनके वार भावपरिवर्तनके वारोंसे अनन्तगुणे हैं। काल परिवर्तनके वार भव परिवर्तनके वारोंसे अनन्तगुणे हैं। क्षेत्र परिवर्तनके वार कालपरिवर्तनके वारोंसे अनन्तगुणे हैं। पुद्गल परिवर्तनके वार क्षेत्र परिवर्तनके वारोंसे अनन्तगुणे हैं। २. पुद्गल परिवर्तनका काल सबसे कम है। क्षेत्र परिवर्तनका काल पुद्गल परिवर्तनके कालसे अनन्तगुणा है। कालपरिवर्तनका काल क्षेत्र परिवर्तनके कालसे अनन्तगुणा है। भव परिवर्तनका काल, काल परिवर्तनके कालसे अनन्तगुणा है। भावपरिवर्तनका काल भव-परिवर्तनके कालसे अनन्तगुणा है। (गो. जी./जी.प्र./५६०/९९४/१)।

संसारानुप्रेक्षा—अनुप्रेक्षा।

संसारी—१. जीवोंका एक भेद—दे. जीव/१ २. न. च. वृ./१०६ कम्मकलंकालीणा अलद्धससहावभावसब्भावा। गुणमग्गण जीवठिया जीवा संसारिणो भणिया ।१०६। —कर्म कलंकसे जो लिप्त हैं, स्व-स्वभावको जिन्होंने प्राप्त नहीं किया। गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा जीवस्थानमें जो स्थित हैं वे संसारी जीव कहे गये हैं।

पं. का./ता. वृ./१०६/१७४/११ कर्मचेतनाकर्मफलचेतनात्मकाः संसा-रिणः···अशुद्धोपयोगयुक्ताः संसारिणः। —कर्म व कर्मफलचेतना-त्मक संसारी जीव हैं। ···संसारी जीव अशुद्धोपयोगसे युक्त हैं।

पं. ध./उ./३४ बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान्। मूर्च्छितोऽ-नादितोऽष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृतिकर्मभि.। —जो अनादिकालसे आठ कर्मोंसे मोहित होकर अपने स्वरूपको नहीं पाने वाला और बँधा हुआ वह संसारी जीव है।

संस्कार—व्यक्तिके जीवनकी सम्पूर्ण शुभ और अशुभ वृत्ति उसके संस्कारोंके अधीन है, जिनमें-से कुछ वह पूर्व भवसे अपने साथ लाता है, और कुछ इसी भवमें संगति व शिक्षा आदिके प्रभावसे उत्पन्न करता है। इसी लिए गर्भमें आनेके पूर्वसे ही बालकमें विशुद्ध संस्कार उत्पन्न करनेके लिए विधान बताया गया है। गर्भावतरणसे लेकर निर्वाण पर्यन्त यथावसर जिनेन्द्र पूजन व मन्त्र विधान सहित ५३ क्रियाओंका विधान है, जिनसे बालकके संस्कार उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए एक दिन वह निर्वाणका भाजन बन जाता है।

१. संस्कार सामान्य निर्देश

१. संस्कार सामान्यका लक्षण

सि. वि./वृ./१/६/३४/१४ वस्तुस्वभावोऽयं यत् संस्कार. स्मृतिबीजमा-दधीत। —वस्तुका स्वभाव ही संस्कार है। जिसको स्मृतिका बीज माना गया है।

स. श./टी./३७/२३६/८ शरीरादौ स्थिरात्मीयादिज्ञानान्यविद्यास्ता-साम्भ्य सः पुनः पुनः प्रवृत्तिस्तेन जनिता. संस्कारा वासनास्तैः कृत्वा। —शरीरादिको शुचि स्थिर और आत्मीय मानने रूप जो अविद्या अज्ञान है उसके पुनः-पुनः प्रवृत्ति रूप अभ्याससे उत्पन्न संस्कार अर्थात् वासना द्वारा करके···।

पं. का./ता. वृ./परि./२५३/१६ निजपरमात्मनि शुद्धसंस्कारं करोति स आत्मसंस्कारः। —निज परम आत्मामें शुद्ध संस्कार करता है वह आत्म संस्कार है।

२. पठित ज्ञानके संस्कार साथ जाते हैं

मू. आ./२८६ विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं। तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहादि। —विनयसे पढ़ा हुआ शास्त्र किसी समय प्रमादसे विस्मृत हो जाये तो भी वह अन्य जन्ममें स्मरण हो जाता है, संस्कार रहता है और क्रमसे केवलज्ञान-को प्राप्त कराता है। (ध. ६/४.१.१८/गा. २२/८२)।

ध. ६/४,१,१८/८२/१ तत्थ जम्मंतरे चउव्विहणिम्मलमदिबलेण विण-एणावहारिददुवालसंगस्स देवेसुप्पज्जिय मणुस्सेसु अविणट्ठसंसकारेणु-प्पण्णस्स एत्थ भवम्मि पढण-सुणण-पुच्छणवावारविरहियस्स उप्पत्तिया णाम। —उनमें (चार प्रकार प्रज्ञाओंमें) जन्मान्तरमें

चार प्रकारकी निर्मल बुद्धिके बलसे विनयपूर्वक बारह अंगका अवधारण करके देवोंमें उत्पन्न होकर पश्चात् अविनष्ट संस्कारके साथ मनुष्योंमें उत्पन्न होनेपर इस भवमें पढ़ने-सुनने व पूछने आदिके व्यापारसे रहित जीवकी प्रज्ञा औत्पत्तिकी कहलाती है।

स. सा./आ. प्र./६/४५/४ नारकादिभवेषु पूर्वभवश्रुतधारिततत्त्वार्थस्य संस्कारबलात् सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्भवति। –नरकादि भवोंमें जहाँ उपदेशका अभाव है, वहाँ पूर्व भवमें धारण किये हुए तत्त्वार्थ-ज्ञानके संस्कारके बलसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। (और भी दे० सम्यग्दर्शन/III)।

मो. मा. प्र./७/२८३/१० इस भवमें अभ्यास करि परलोक विषै तिर्यंचादि गतिविषैं भी जाय–तौ तहाँ संस्कारके बलसे देव गुरु शास्त्र बिना भी सम्यक्त्व होय जाय। …तारतम्यतैं पूर्व अभ्यास संस्कारतैं वर्तमान इनका निमित्त न होय (देव-शास्त्र आदि निमित्त न होय) तौ भी सम्यक्त्व होय सकै।

३. संस्कारके उदाहरण

स. श./मू./३७ अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः। तदेव ज्ञान-संस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते।३७। –अविद्याके अभ्यास रूप संस्कारोंके द्वारा मन स्वाधीन न रहकर विक्षिप्त हो जाता है। वही मन विज्ञान रूप संस्कारोंके द्वारा स्वयं ही आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है।

ध. ६/१,९-१,२३/४१/१० एदेहि जीवम्हि जणिदसंसकारस्स अणंतेसु भवेसु अवट्ठाणब्भुवगमादो। –इन (अनन्तानुबन्धी) कषायोंके द्वारा जीवमें उत्पन्न हुए संस्कारका अनन्त भवोंमें अवस्थान माना गया है।

ध. ८/३,३६/७१/१ तित्थयराइरिय-बहुसुद-पवयण-विसयरागजणिद-संसकाराभावादो। –वहाँ (अपूर्वकरणके उपरिम सप्तम भागमें) तीर्थंकर, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन विषयक रागसे उत्पन्न हुए संस्कारोंका अभाव है।

ध. ९/४,१,४५/१५४/३ आहितसंस्कारस्य कस्यचिच्छब्दग्रहणकाल एव तद्रसादिप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात्। –शब्द ग्रहणके कालमें ही संस्कार युक्त किसी पुरुषके उसके (शब्दके वाच्यभूत पदार्थके) रसादि विषयक प्रत्ययकी उत्पत्ति पायी जाती है।

४. पूर्व संस्कारका महत्त्व

स. श./मू./४५ जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि। पूर्वविभ्रम-संस्काराद् भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति। –शुद्ध चैतन्य स्वरूपको जानता हुआ भी, और अन्य पदार्थोंसे भिन्न अनुभव करता हुआ भी पूर्व भ्रान्तिके संस्कारवश पुनरपि भ्रान्तिको प्राप्त होता है।

द्र. सं./टी./३५/१५९-१६०/९ सम्यग्दृष्टि…तत्र (शुद्धात्मतत्त्वे) असमर्थः सन्…परमं भक्तिं करोति। तेन…पश्चाद्विदेहेषु गत्वा पश्यति…समवशरणं … पूर्वभवभावितविशिष्टभेदज्ञानवासना(संस्कार)बलेन मोहं न करोति, ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा…मोक्षं गच्छति। –सम्यग्दृष्टि शुद्धात्मभावना भानेमें असमर्थ होता है, तब वह परम भक्ति करता है।…पश्चात् पंच विदेहोंमें जाकर समवशरण-को देखता है। पूर्व जन्ममें भावित विशिष्ट भेदज्ञानकी वासना (संस्कार) के बलसे मोह नहीं करता अतः दीक्षा धारण करके मोक्ष पाता है।

* शरीर संस्कारका निषेध—दे० साधु/२/७।
* धारणा ज्ञान सम्बन्धी संस्कार—दे० धारणा।
* रजस्वला स्त्री व सूतक पातक आदि—दे० सूतक।

२. संस्कार कर्म निर्देश

१. गर्भान्वयादि क्रियाओंका नाम निर्देश

म. पु./३८/५१-६८ गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः। कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधैर्मताः।५१। आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशत् ज्ञेया गर्भान्वयक्रियाः। चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रिया।५२। कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुच्चिताः। तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूद्यते।५३। अङ्गानां सप्तमादङ्गाद् दुस्तरादर्णवादपि। श्लोकैरष्टभिरुन्नेष्ये प्राप्तं ज्ञानलवं मया।५४। (नोट–आगे केवल भावार्थ)। –गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया इस प्रकार विद्वान् लोगोंने तीन प्रकारकी क्रियाएँ मानी हैं।५१। गर्भान्वय क्रिया आधानादि तिरपन (५३) जाननी चाहिए। और दीक्षान्वय क्रियाएँ अड़तालीस (४८) समझना चाहिए।५२। इसके अतिरिक्त इस विषयके जानकार लोगोंने कर्त्रन्वय क्रियाएँ सात (७) संग्रह की हैं। अब आगे यथा क्रमसे उनका नाम निर्देश किया जाता है।५३। जो समुद्रसे भी दुस्तर है, ऐसे १२ अंगोंमें सातवें अंग (उपासकाध्ययनांग) से जो कुछ मुझे ज्ञानका अंश प्राप्त हुआ है उसे मैं नीचे लिखे हुए श्लोकोंसे कहता हूँ।५५। केवल भावार्थ–गर्भान्वयकी ५३ क्रियाएँ—१ गर्भाधान, २ प्रीति, ३ सुप्रीति, ४ धृति, ५ मोद, ६ प्रियोद्भव, ७ नामकर्म, ८ बहिर्यान, ९ निषद्या, १० प्राशन, ११ व्युष्टि, १२ केशवाप, १३ लिपि संख्यान संग्रह, १४ उपनीति, १५ व्रतचर्या, १६ व्रतावरण, १७ विवाह, १८ वर्णलाभ, १९ कुलचर्या, २० गृहीशिता, २१ प्रशान्ति, २२ गृहत्याग, २३ दीक्षाद्य, २४ जिन-रूपता, २५ मौनाध्ययन व्रतत्व, २६ तीर्थकृत्भावना, २७ गुरुस्थानाभ्युपगमन, २८ गणोपग्रहण, २९ स्वगुरुस्थान संक्रान्ति, ३० निःसंगत्वात्मभावना, ३१ योगनिर्वाणसे प्राप्ति, ३२ योगनिर्वाणसाधन, ३३ इन्द्रोपपाद, ३४ अभिषेक, ३५ विधिदान, ३६ सुखोदय, ३७ इन्द्रत्याग, ३८ अवतार, ३९ हिरण्योत्कृष्टजन्मता, ४० मन्दरेन्द्राभिषेक, ४१ गुरुपूजोपलम्भन, ४२ यौवराज्य, ४३ स्वराज, ४४ चक्रलाभ, ४५ दिग्विजय, ४६ चक्राभिषेक, ४७ साम्राज्य, ४८ निष्क्रान्ति, ४९ योगसन्मह, ५० आर्हन्त्य, ५१ तद्विहार, ५२ योगत्याग, ५३ अग्रनिर्वृत्ति। परमागममें ये गर्भसे लेकर निर्वाण पर्यन्त ५३ क्रियाएँ मानी गयी हैं।५२-६३। २. दीक्षान्वयकी ४८ क्रियाएँ—१ अवतार, २ वृत्तलाभ, ३ स्थानलाभ, ४ गणग्रह, ५ पूजाराध्य, ६ पुण्ययज्ञ, ७ दृढचर्या, ८ उपयोगिता। इन आठ क्रियाओंके साथ (गर्भान्वय क्रियाओंमें-से) उपनीति नामकी चौदहवीं क्रियासे अग्रनिर्वृत्ति नामकी तिरपनवीं क्रिया तककी चालीस क्रियाएँ मिलाकर कुल अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती हैं।६४-६५। ३. कर्त्रन्वयकी ७ क्रियाएँ—कर्त्रन्वय क्रियाएँ वे हैं जो कि पुण्य करनेवाले लोगोंको प्राप्त हो सकती हैं, और जो समीचीन मार्गकी आराधना करनेके फलस्वरूप प्रवृत्त होती हैं।६६। १ सज्जाति, २ सद्गृहित्व, ३ पारिव्राज्य, ४ सुरेन्द्रता, ५ साम्राज्य, ६ परमार्हन्त्य, ७ परमनिर्वाण। ये सात स्थान तीनों लोकोंमें उत्कृष्ट माने गये हैं और ये सातों ही अर्हन्त भगवान्के वचनरूपी अमृतके आस्वादनसे जीवोंको प्राप्त हो सकते हैं।६७-६८। महर्षियोंने इन क्रियाओंका समूह अनेक प्रकार माना है अर्थात् अनेक प्रकारसे क्रियाओंका वर्णन किया है, परन्तु मैं यहाँ विस्तार छोड़कर संक्षेपसे उनके लक्षण कहता हूँ।६९।

२. गर्भान्वयकी ५३ क्रियाओंके लक्षण

म. पु./३८/७०-३१० आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मन्त्रपूर्वकः। पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया।७०। ……तत्रापि पूर्ववद्दानं जैनी पूजा च पूर्ववत्। इष्टबन्धुसमाह्वानं समाशादिश्च लक्ष्यताम्।९७। …क्रियाग्रनिर्वृतिर्नाम परानिर्वाणमापुषः। स्वभाव-

अनिलाभूर्भ्रमज्यामास्कन्वतो मता ।६०६। इति निर्वाणपर्यन्ताः क्रिया गर्भादिकाः सदा। भव्यात्मभिरनुष्ठेयाः त्रिपञ्चाशत्समुच्चयात् ।३१०। १. गर्भाधान क्रिया—ऋतुमती स्त्रीके चतुर्थ स्नानके पश्चात्, गर्भाधानके पहले, अर्हन्तदेवकी पूजाके द्वारा मन्त्र पूर्वक जो संस्कार किया जाता है, उसे आधान क्रिया कहते हैं ।७०। भगवान्‌के सामने तीन अग्नियोंकी अर्हन्तकुण्ड, गणधरकुण्ड, व केवली कुण्डमें स्थापना करके भगवान्‌की पूजा करें। तत्पश्चात् आहुति दें। फिर केवल पुत्रोत्पत्तिकी इच्छासे भोगाभिलाष निरपेक्ष स्त्रीसंसर्ग करें। इस प्रकार यह आधानक्रिया विधि है ।७१-७६। २. प्रीतिक्रिया—गर्भाधानके पश्चात् तीसरे महीने, पूर्ववत् भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। उस दिनसे लेकर प्रतिदिन बाजे, नगाड़े आदि बजवाने चाहिए ।७३-७६। ३. सुप्रीति क्रिया—गर्भाधानके पाँचवें महीने पुनः पूर्वोक्त प्रकार भगवान्‌की पूजा करे ।८०-८१। ४. धृति क्रिया—गर्भाधानके सातवें महीनेमें गर्भकी वृद्धिके लिए पुनः पूर्वोक्त विधान करना चाहिए ।८२। ५. मोदक्रिया—गर्भाधानके नवमें महीने गर्भकी पुष्टिके लिए पुनः पूर्वोक्त विधान करके, स्त्रीको गात्रिकाबन्ध, मन्त्रपूर्वक बीजाक्षर लेखन, व मंगलाभूषण पहनाना ये कार्य करने चाहिए ।८३-८४। ६. प्रियोद्भव क्रिया—प्रसूति होनेपर जात कर्मरूप, मन्त्र व पूजन आदिका बड़ा भारी पूजन विधान किया जाता है। जिसका स्वरूप उपासकाध्ययनसे जानने योग्य है ।८५-८६। ७. नामकर्म क्रिया—जन्मसे १२वें दिन, पूजा व द्विज आदिके सत्कार पूर्वक, अपनी इच्छासे या भगवान्‌के १००८ नामोंमेंसे घटपत्र विधिद्वारा (Ballat Paper System) बालकका कोई योग्य नाम छाँटकर रखना (८७-८६) ८. बहिर्यान क्रिया—जन्मसे ३।४ महीने पश्चात् ही बालकको प्रसूतिगृहसे बाहर लाना चाहिए। बालकको यथाशक्ति कुछ भेंट आदि दी जाती है ।६०-६२। ६. निषद्या क्रिया—बहिर्यानके पश्चात् सिद्ध भगवान्‌की पूजा विधिपूर्वक, बालकको किसी बिछाये हुए शुद्ध आसनपर बिठाना चाहिए ।६३-६४। १०. अन्नप्राशन क्रिया—जन्मके ७/८ माह पश्चात् पूजन विधिपूर्वक बालकको अन्न खिलाये ।६५। ११. व्युष्टि क्रिया—जन्मके एक वर्ष पश्चात् जिनेन्द्र पूजनविधि, दान व बन्धुवर्ग निमन्त्रणादि कार्य करना चाहिए। इसे वर्षवर्धन या वर्षगाँठ भी कहते हैं ।६६-६७। १२. केशवाप क्रिया—तदनन्तर किसी शुभ दिन, पूजा विधिपूर्वक बालकके सिरपर उस्तरा फिरवाना अर्थात् मुण्डन करना, व उसे आशीर्वाद देना आदि कार्य किया जाता है। बालक द्वारा गुरुको नमस्कार कराया जाता है ।६८-१०१। १३. लिपि संख्यान—पाँचवें वर्ष अध्ययनके लिए पूजा विधिपूर्वक किसी योग्य गृहस्थी गुरुके पास छोड़ना ।१०२-१०३। १४. उपनीति क्रिया—आठवें वर्ष यज्ञोपवीत धारण कराते समय, केशोंका मुण्डन तथा पूजा विधिपूर्वक योग्य व्रत ग्रहण कराके बालककी कमरमें मूंजकी रस्सी बाँधनी चाहिए। यज्ञोपवीत धारण करके, सफेद धोती पहनकर, सिरपर चोटी रखनेवाला वह बालक माता आदिके द्वारपर जाकर भिक्षा माँगे। भिक्षामें आगत द्रव्यसे पहले भगवान्‌की पूजा करे, फिर शेष बचे अन्नको स्वयं खाये। अब यह बालक ब्रह्मचारी कहलाने लगता है ।१०४-१०८। १५. व्रतचर्या क्रिया—ब्रह्मचर्य आश्रमको धारण करनेवाला वह ब्रह्मचारी बालक अत्यन्त पवित्र व स्वच्छ जीवन बिताता है। कमरमें रत्नत्रयके चिह्न स्वरूप तीन लरकी मूंजकी रस्सी, टाँगोंमें पवित्र अर्हन्त कुलकी सूचक उज्ज्वल व सादी धोती, वक्षस्थलपर सात लरका यज्ञोपवीत, मन वचन व कायकी शुद्धिका प्रतीक सिरका मुण्डन—इतने चिह्न धारण करके अहिंसाणुव्रतका पालन करता हुआ गुरुके पास विद्याध्ययन करता है। वह कभी हरी दाँतौन नहीं करता, पान खाना, अंजन लगाना, उबटनसे स्नान करना व पलंगपर सोना आदि बातोंका त्याग करता है। स्वच्छ जलसे स्नान करता है तथा अकेला पृथिवीपर सोता है। अध्ययन क्रममें गुरुके मुखसे पहले श्रावकाचार और फिर अध्यात्म शास्त्रका ज्ञान कर लेनेके अनन्तर व्याकरण, न्याय, छन्द, अलंकार, गणित, ज्योतिष आदि विद्याओंको भी यथा शक्ति पढ़ता है ।१०६-१२०। १६. व्रतावतरण क्रिया—विद्याध्ययन पूरा कर लेनेपर बारहवें या सोलहवें वर्षमें गुरु साक्षीमें, देवपूजादि विधिपूर्वक गृहस्थ आश्रममें प्रवेश पानेके लिए उपरोक्त सर्व व्रतोंको त्यागकर, श्रावकके योग्य आठ मूलगुणों (दे. श्रावक) को ग्रहण करता है। और कदाचित् क्षत्रिय धर्मके पालनार्थ अथवा शोभार्थ कोई शस्त्र धारण करता है। ।१२१-१२६। १७. विवाह क्रिया—विवाहकी इच्छा होनेपर गुरु साक्षीमें सिद्ध भगवान् व पूर्वोक्त (प्रथम क्रियावत्) तीन अग्नियोंकी पूजा विधिपूर्वक, अग्निकी प्रदक्षिणा देते हुए, कुलीन कन्याका पाणि ग्रहण करे। सात दिन पर्यन्त दोनों ब्रह्मचर्यसे रहें, फिर तीर्थयात्रादि करें। तदनन्तर केवल सन्तानोत्पत्तिके लिए, स्त्रीके ऋतुकालमें सेवन करें। शारीरिक शक्तिहीन हो तो पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहें ।१२७-१३४। १८. वर्णलाभ क्रिया—यथोक्त पूजन विधिपूर्वक पिता उसको कुछ सम्पत्ति व घर आदि देकर धर्म व न्याय पूर्वक जीवन बिताते हुए पृथक् रहनेके लिए कहता है ।१३५-१४१। १६. कुलचर्या क्रिया—अपनी कुल परम्पराके अनुसार देव पूजादि गृहस्थके षट्कर्मोंको यथाविधि नित्य पालता है यही कुलचर्या है ।१४२-१४३। २०. गृहीशिता क्रिया—धार्मिक क्षेत्रमें तथा ज्ञानके क्षेत्रमें वृद्धि करता हुआ, अन्य गृहस्थोंके द्वारा सत्कार किये जाने योग्य गृहीश या गृहस्थाचार्य होता है ।१४४-१४६। २१. प्रशान्ति क्रिया—अपने पुत्रको गृहस्थका भार सौंपकर विरक्त चित्त हो विशेष रूपसे धर्मका पालन करते हुए शान्त वृत्तिसे रहने लगता है। १४७-१४६। २२. गृह त्याग क्रिया—गृहस्थाश्रममें कृतार्थताको प्राप्त हो, योगिपूजा विधि पूर्वक अपने ज्येष्ठ पुत्रको घरकी सम्पूर्ण सम्पत्ति व कुटुम्ब पोषणका कार्य भार सौंपकर, तथा धार्मिक जीवन बितानेका उपदेश करके स्वयं घर त्याग देता है ।१५०-१५६। २३. दीक्षाद्य क्रिया—क्षुल्लक व्रत रूप उत्कृष्ट श्रावककी दीक्षा लेता है ।१५७-१५८। २४. जिनरूपता क्रिया—क्रमसे यथा अवसर दिगम्बर रूपवाले मुनिव्रतकी दीक्षा ।१५६-१६०। २५. मौनाध्ययन वृत्ति क्रिया—गुरुके पास यथोक्त कालमें मौनपूर्वक शास्त्राध्ययन करना ।१६१-१६३। २६. तीर्थकृद्भावना क्रिया—तीर्थंकर पदकी कारणभूत सोलह भावनाओंको भाता है। ।१६४-१६५। २७. गुरुस्थानाभ्युपगमन क्रिया—प्रसन्नता पूर्वक उसे योग्य समझकर गुरु (आचार्य) अपने संघके आधिपत्यका गुरुपद प्रदान करे तो उसे विनय पूर्वक स्वीकार करना ।१६६-१६७। २८. गणोपग्रहण क्रिया—गुरुपदमिष्ठ होकर चतुःसंघकी रक्षा व पालन करे तथा नवीन जिज्ञासुओंको उनकी शक्तिके अनुसार व्रत व दीक्षाएँ दे ।१६८-१७१। २६. स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया—गुरुकी भाँति स्वयं भी अवस्था विशेषको प्राप्त हो जानेपर, संघमेंसे योग्य शिष्यको छाँटकर उसे गुरुपदका भार प्रदान करे। १७२-१७४। ३०. निःसंगत्वभावना क्रिया—एकल विहारी होकर अत्यन्त निर्ममता पूर्वक अधिकाधिक चारित्रमें विशुद्धि करना ।१७५-१७७। ३१. योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रिया—आयुका अन्तिम भाग प्राप्त हो जानेपर वैराग्यकी उत्कर्षता पूर्वक एकत्व व अन्यत्व भावनाको भाता हुआ सल्लेखना धारण करके शरीर त्याग करनेके लिए साम्यभाव सहित इसे धीरे-धीरे कृश करने लगता है ।१७८-१८५। ३२. योग निर्वाण साधन क्रिया—अन्तिम अवस्था प्राप्त हो जानेपर साक्षात् समाधि या सल्लेखनाको धारणकर तिष्ठे ।१८६-१८६। ३३. इन्द्रोपपाद क्रिया—उपरोक्त तपके प्रभावसे वैमानिक देवोंके इन्द्र रूपसे उत्पाद होना ।१६०-१६४। ३४. इन्द्राभिषेक क्रिया—इन्द्रपदपर आरूढ़ करनेके लिए देव लोग उसका इन्द्राभिषेक करते हैं ।१६५-१६८। ३५. विधिदान क्रिया—देवोंको उन-उनके पदोंपर नियुक्त करना ।१६६। ३६. सुखोदय क्रिया—

इन्द्रके योग्य सुख भोगते हुए देवलोकमें चिरकाल तक रहना ।२००-२०१। ३७. इन्द्र त्याग क्रिया—आयुके अन्तमें शान्ति पूर्वक समस्त वैभवका त्याग कर तथा देवोंको उपदेश देकर देवलोकसे च्युत होना ।२०२-२१३। ३८. इन्द्रावतार क्रिया—सिद्ध भगवान्‌को नमस्कार करके, १६ स्वप्नों द्वारा माताको अपने अवतारकी सूचना देना ।२१४-२१६। ३९. हिरण्योत्कृष्ट जन्मता—छह महीने पूर्वसे ही कुबेर द्वारा हिरण्य, सुवर्ण व रत्नोंकी वर्षा हो रही है जहाँ, तथा श्री ह्री आदि देवियाँ कर रही हैं सेवा जिसकी, ऐसा तथा शुद्ध गर्भवाली माताके गर्भमें तीन ज्ञानोंको लेकर अवतार धारण करना ।२१७-२२४। ४०. मन्दराभिषेक क्रिया—जन्म धारण करते ही नवजात इस बालकका इन्द्र द्वारा सुमेरु पर्वतपर अभिषेक किया जाना ।२२५-२२८। ४१. गुरु पूजन क्रिया—बिना शिक्षा ग्रहण किये तीनों जगत्‌के गुरु स्वीकारे जाना ।२२९-२३०। ४२. यौवराज्य क्रिया—पूजन अभिषेक पूर्वक युवराज पटका बाँधा जाना ।२३१। ४३. स्वराज्य क्रिया - राज्याधिपतिके स्थानपर मिष्ठ होना ।२३२। ४४. चक्रलाभ क्रिया—पुण्यके प्रतापसे नवनिधि व चक्ररत्नकी प्राप्ति ।२३३। ४५. दिशांजय क्रिया—षट् खण्ड सहित समुद्रान्त पृथिवीको जीतकर वहाँ अपनी सत्ता स्थापित करना ।२३४। ४६. चक्राभिषेक क्रिया—दिग्विजय पूर्ण कर नगरमें प्रवेश करते समय चक्रका अभिषेक करना। नगरके लोग चक्रवर्ती पदपर आसीन उनके चरणोंका अभिषेक कर चरणोदकको मस्तकपर चढ़ाते हैं ।२३५-२५२। ४७. साम्राज्य क्रिया—शिष्टोंका पालन व दुष्टोंका निग्रह करनेका तथा प्रेम व न्याय पूर्वक राज्य करनेका उपदेश अपने आधीन राजाओंको देकर सुखपूर्वक राज्य करना ।२५३-२६५। ४८. निष्क्रान्ति क्रिया—वैराग्य पूर्वक राज्यको त्यागना, लौकान्तिक देवों द्वारा सम्बोधनको प्राप्त होना। क्रमसे मनुष्यों, विद्याधरों व देवों द्वारा उठायी हुई शिबिकापर आरूढ होकर वनमें जाना। वस्त्रालंकारको त्याग कर सिद्धोंकी साक्षीमें दिगम्बर व्रतको धारण कर पंचमुष्टि केश लौंच करना आदि क्रियाएँ ।२६६ २९४। ४९. योग सम्मह क्रिया—ज्ञानाध्ययनके योगसे उत्कृष्ट तेज स्वरूप केवलज्ञानकी प्राप्ति ।२९५-३००। ५०. आर्हन्त्य क्रिया—समवशरणकी दिव्य रचनाकी प्राप्ति ।३०१-३०३। ५१. विहारक्रिया—धर्मचक्रको आगे करके भव्य जीवोंके पुण्यसे प्रेरित, उनको उपदेश देनेके अर्थ उन अर्हन्त भगवान्‌का विहार होना ।३०४। ५२. योग त्याग क्रिया—केवलिसमुद्घात करके मन, वचन, काय रूप योगोंको अत्यन्त निरोध कर, अत्यन्त निश्चल दशाको प्राप्त होना ।३०५-३०७। ५३. अग्रनिर्वृत्ति क्रिया - समस्त अघातिया कर्मोंका भी नाश कर, विनश्वर शरीरसे सदाके लिए नाता तुड़ाकर उत्कृष्ट व अविनश्वर सिद्ध पदको प्राप्त हो, लोक शिखरपर अष्टम भूमिमें जा निवास करना ।३०८-३०९।

३. दीक्षान्वयकी ४८ क्रियाओंका लक्षण

म. पु/३९/१-८० अथानवीद्द्विजन्मभ्यो मनुर्दीक्षान्वयक्रियाः ।१।... तदुन्मुखस्य या वृत्तिः पुंसो दीक्षेत्यसौ मता। तामन्विता क्रिया या तु सा स्याद् दीक्षान्वया क्रिया ।५।...यस्त्वेतास्तत्त्वतो ज्ञात्वा भव्यः समनुतिष्ठति। सोऽधिगच्छति निर्वाणम् अचिरात्सुखसाद्भवन् ।८०। इति दीक्षान्वय क्रिया। —दीक्षान्वय सामान्य—व्रतको धारण करनेके सन्मुख व्यक्ति विशेषकी प्रवृत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओंको दीक्षान्वय क्रियाएँ कहते हैं ।१-५। १. अवतार क्रिया—मिथ्यात्वसे दूषित कोई भव्य समीचीन मार्गको ग्रहण करनेके सम्मुख हो किन्हीं मुनिराज अथवा गृहस्थाचार्यके पास जाकर, यथार्थ देव शास्त्र गुरु व धर्मके सम्बन्धमें योग्य उपदेश प्राप्त करके, मिथ्या मार्गसे प्रेम हटाता है और समीचीन मार्गमें बुद्धि लगाता है। गुरु ही उस समय पिता है, और तत्त्वज्ञान रूप संस्कार ही गर्भ है। यहाँ यह भव्य प्राणी अवतार धारण करता है ।६-३५। २. वृत्तिलाभ क्रिया—गुरुके द्वारा प्रदत्त व्रतोंको धारण करना ।३६। ३. स्थानलाभ क्रिया—गृहस्थाचार्य उसके हाथसे मन्दिर जीमें जिनेन्द्र भगवान्‌के समवशरणकी पूजा करावे। तदनन्तर उसका मस्तक स्पर्श करके उसे श्रावककी दीक्षा दे। पंच मुष्टि लौंचके प्रतीक स्वरूप उसके मस्तकका स्पर्श करे। तत्पश्चात् विधि पूर्वक उसे पंच नमस्कार मन्त्र प्रदान करे ।३७-४४। ४. गण ग्रहणक्रिया—मिथ्या देवताओंको शान्ति पूर्वक विसर्जन करता हुआ अपने घरसे हटाकर किसी अन्य योग्य स्थानमें पहुँचाना ।४५-४८। ५. पूजाराध्य क्रिया—जिनेन्द्र देवकी पूजा करते हुए द्वादशांगका अर्थ ज्ञानी जनोंके मुखसे सुनना ।४९। ६. पुण्य यज्ञक्रिया—साधर्मी पुरुषोंके साथ पुण्य वृद्धिके कारणभूत चौदह पूर्व विद्याओंका सुनना ।५०। ७. दृढचर्या क्रिया—शास्त्रके अर्थका अवधारण करके स्वमतमें दृढता धारना ।५१। ८ उपयोगिता क्रिया—पर्वके दिन उपवासमें अर्थात् रात्रिके समय प्रतिमा योग धारण करके ध्यान करना ।५२। ९. उपनीति क्रिया—ब्रह्मचारीका स्वच्छवेश व यज्ञोपवीत आदि धारण करके शास्त्रानुसार नाम परिवर्तन पूर्वक जिनमतमें श्रावककी दीक्षा लेना ।५३-५६। १०. व्रतचर्या क्रिया - तदनन्तर उपासकाध्ययन करके योग्य व्रतादि धारण करना ।५७। ११. व्रतावरण क्रिया—विद्याध्ययन समाप्त हो जानेपर गुरुकी साक्षीमें पुनः आभूषण आदिका ग्रहण करके गृहस्थमें प्रवेश करना ।५८। १२. विवाह क्रिया—स्व स्त्रीको भी अपने मतमें दीक्षित करके पुनः उसके साथ पूर्वरूपेण सर्व विवाह संस्कार करे ।५९-६०। १३. वर्णलाभक्रिया—समाजके चार प्रतिष्ठित व्यक्तियोंसे अपनेको समाजमें सम्मिलित होनेकी प्रार्थना करे और वे विधि पूर्वक इसे अपने वर्णमें मिला लें ।६१-७१। १४. कुलचर्या क्रिया—जैनकुलकी परम्परानुसार देव पूजादि षट् आवश्यक क्रियाओंमें नियमसे प्रवृत्ति करना ।७२। १५. गृहीशिता क्रिया—शास्त्रमें पूर्ण अभ्यस्त हो जानेपर तथा प्रायश्चित्तादि विधिका ज्ञान हो जानेपर गृहस्थाचार्यके पदको प्राप्त होना ।७३-७४। १६. प्रशान्तता क्रिया—नाना प्रकारके उपवासादिको भावनाओंको प्राप्त होना ।७५। १७. गृहत्याग क्रिया—योग्य पुत्रको नीति सहित धर्माचारकी शिक्षा देकर, विरक्त बुद्धि वह द्विजोत्तम गृह त्याग कर देता है ।७६। १८. दीक्षाद्य क्रिया—एक वस्त्रको धारण करके वनमें जा क्षुल्लककी दीक्षा लेना ।७७। १९. जिनरूपता क्रिया—गुरुके समीप दिगम्बरी दीक्षा धारण करना ।७८। २०-४८. मौनाध्ययन वृत्ति—से लेकर अग्रनिर्वृत्ति क्रिया तक ये आगेकी सर्व क्रियाएँ गर्भान्वय क्रियाओंमें नं २५ से नं. ५३ तककी क्रियाओं वत् जानना ।७९-८०।

४. कर्त्रन्वयादि ७ क्रियाओंके लक्षण

म. पु./३८/६६ तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया याः प्राप्याः पुण्यकर्तृभिः। फलरूपतया वृत्ताः सन्मार्गाराधनस्य वै ।६६। —कर्त्रन्वय क्रियाएँ वे हैं जो कि पुण्य करनेवाले लोगोंको प्राप्त हो सकती हैं; और जो समीचीन मार्गकी आराधना करनेके फलस्वरूप प्रवृत्त होती हैं ।६६।

म. पु./३९/८०-२०७ अथातः संप्रवक्ष्यामि द्विजाः कर्त्रन्वयक्रियाः ।८१। तत्र सज्जातिरित्याद्या क्रिया श्रेयोऽनुबन्धिनी। या सा वासन्नभव्यस्य नृजन्मोपगमे भवेत् ।८२।...कृत्स्नकर्ममलापायात् संशुद्धिर्याऽन्तरात्मनः। सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः सा नाभावो न गुणोच्छिदा ।२०६। इत्यागमानुसारेण प्रोक्ताः कर्त्रन्वयक्रियाः। सप्तैताः परमस्थानसंगतिर्यत्र योगिनाम् ।२०७। —१. सज्जाति क्रिया—रत्नत्रयकी सहज प्राप्तिका कारणभूत मनुष्य जन्म, उसमें भी पिताका उत्तम कुल और माताकी उत्तम जातिमें उत्पन्न हुआ कोई भव्य, जिस समय यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंको पाकर परब्रह्मको प्राप्त होता है, तब अयोनिज दिव्य ज्ञानरूपी गर्भसे उत्पन्न हुआ होनेके कारण सज्जातिको धारण

करनेवाला समझा जाता है ।८१-९८। २ सद्गृहित्व क्रिया—गृहस्थ योग्य असि मसि आदि षट्कर्मोंका पालन करता हुआ, पृथिवी-तलपर ब्रह्मतेजके वेद या शास्त्रज्ञानको स्वयं पढ़ता हुआ और दूसरोंको पढ़ाता हुआ वह प्रशंसनीय देव-ब्राह्मणपनेको प्राप्त होता है। अर्हन्त उसके पिता हैं, रत्नत्रय रूप संस्कार उनकी उत्पत्तिकी अगर्भज योनि है। जिनेन्द्र देवरूप ब्रह्माकी सन्तान है, इसलिए वह देव ब्राह्मण है। उत्तम चारित्रको धारण करनेके कारण वर्णोत्तम है। ऐसा सच्चा जैन श्रावक ही सच्चा द्विज व ब्राह्मणोत्तम है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ्यादि पक्ष तथा चर्या व प्रायश्चित्तादि साधनके कारण उनसे उद्योग सम्बन्धी हिंसाका भी स्पर्श नहीं होता। इस प्रकार गुणोंके द्वारा अपने आत्माकी वृद्धि करना सद्गृहित्व क्रिया है ।९९-१५४। ३. पारिव्राज्य क्रिया—गृहस्थ धर्मका पालन कर घरके निवाससे विरक्त होते हुए पुरुषका जो दीक्षा ग्रहण करना है उसे परिव्रज्या कहते हैं। ममत्व भावको छोड़कर दिगम्बररूप धारण करना यह पारिव्राज्य क्रिया है ।१५५-२००। ४. सुरेन्द्रता क्रिया—परिव्रज्याके फलस्वरूप सुरेन्द्र पदकी प्राप्ति ।२०१। ५—साम्राज्य क्रिया चक्रवर्तीका वैभव व राज्य प्राप्ति ।२०२। ६. आर्हन्त्य क्रिया—अर्हन्त परमेष्ठीको जो पंचकल्याणक रूप सम्पदाओंकी प्राप्ति होती है, उसे आर्हन्त्य क्रिया जानना चाहिए ।२०३-२०४। ७. परिनिर्वृत्ति क्रिया—अन्तमें सर्वकर्म विमुक्त सिद्ध पदकी प्राप्ति ।२०५-०६।

★ इन सब क्रियाओंके लिए मन्त्र विधान—दे. मंत्र/१/७।

५. गृहस्थको ये क्रियाएँ अवश्य करनी चाहिए

म. पु./३८/४९-५० तवेषां जातिसंस्कारं द्रढयन्निति सोऽधिराट्। स प्रोवाच द्विजन्मेभ्यः क्रियाभेदानशेषतः ।४९। ताश्च क्रियास्त्रिधाम्नाताः श्रावकाध्यायसंग्रहे। सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदकाः शुभावहा ।५०। —इसके लिए इन द्विजों (उत्तम कुलीनों) की जातिके संस्कारको दृढ करते हुए सम्राट् भरतेश्वरने द्विजोंके लिए नीचे लिखे अनुसार क्रियाओंके समस्त भेद कहे ।४९। उन्होंने कहा कि श्रावकाध्ययन संग्रहमें क्रियाएँ तीन प्रकारकी कही हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको उन क्रियाओंका पालन अवश्य करना चाहिए। क्योंकि वे सभी उत्तम फल देनेवाली और शुभ करनेवाली हैं ।५०।

★ यज्ञोपवीत संस्कार विशेष—दे. यज्ञोपवीत।

★ संस्कार द्वारा अजैनको जैन बनाया जा सकता है
—दे. यज्ञोपवीत/२।

संस्तनक—दूसरे नरकका दूसरा पटल—दे. नरक/५/११।

संस्तर—भ. आ./मू./६४०-६४५/८४०-८४५ पुढविसिलामओ वा फलमओ तणमओ य संथारो। होदि समाधिणिमित्तं उत्तरसिर अहव पुव्वसिरो ।६४०। अघसे समे असुसिरे अहिसुयअबिले य अप्पपाणे य। असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो ।६४१। विद्धत्थो य अफुडिदो णिक्कपो सव्वदो असंसत्तो। समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो ।६४२। भूमि समरुंदलओ अकुडिल एगंगि अप्पमाणो य। अच्छिद्दो य अफुडिदो लण्हो वि य फलय संथारो ।६४३। णिस्संघी य अपोल्लो णिरुवहदो समधि वास्सणिज्जंतु। सुहपडिलेहो मउओतण-संथारो हवे चरिमो ।६४४। जुत्तो पमाणरइयो उभयकालपडिलेहणासुद्धो। विधिविहिदो संथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण ।६४५। —पृथिवी, शिलामय, फलकमय, और तृणमय ऐसे चार प्रकारके संस्तर हैं। समाधिके निमित्त इनकी आवश्यकता पड़ती है। इन संस्तरोंके मस्तकका भाग पूर्व व उत्तर दिशाकी तरफ होना चाहिए ।६४०। भूमि-संस्तर—जो जमीन मृदु नहीं है, जो छिद्र रहित, सम, सूखी, प्राणि-रहित, प्रकाशयुक्त, क्षपकके देहप्रमाणके अनुसार और गुप्त, और सुरक्षित है ऐसी जमीन संस्तररूप होगी अन्यथा नहीं ।६४१। शिलामय संस्तर—शिलामय संस्तर अग्निज्वालसे दग्ध, टाँकीके द्वारा उकेरा गया, वा घिसा हुआ, होना चाहिए। यह संस्तर टूटा-फूटा न हो निश्चल हो, सर्वतः जीवोंसे रहित हो, खटमल आदि दोषोंसे रहित, समतल और प्रकाशयुक्त होना चाहिए ।६४२। फलकमय संस्तर—चारों तरफसे जो भूमिसे संलग्न है, रुन्द और हलका, उठाने रखनेमें अनायास कारक, सरल, अखण्ड, स्निग्ध, मृदु, अफूट ऐसा फलक संस्तरके लिए योग्य है ।६४३। तृणसंस्तर—तृणसंस्तर गाँठ रहित तृणसे बना हुआ, छिद्र रहित, न टूटे हुए तृणसे बना हुआ, जिसपर सोने व बैठनेसे खुजली न होगी ऐसे तृणसे बना हुआ, मृदुस्पर्शवाला, जन्तुरहित, जो सुखसे सोधा जाता है, ऐसा होना चाहिए ।६४४। संस्तरके सामान्य लक्षण—चारों प्रकारके संस्तरोंमें ये गुण होने चाहिए। योग्य, प्रमाणयुक्त हो। तथा सूर्योदय व सूर्यास्तकालमें शोधन करनेसे शुद्ध होता है। शास्त्रोक्त विधिसे जिसकी रचना हुई है, ऐसे संस्तरपर मन वचन कायको शुद्ध कर आरोहण करना चाहिए ।६४५।

संस्तव—दे. भक्ति/३।

संस्थान—**१. संस्थान सामान्य व संस्थान नामकर्मका लक्षण**

स. सि./५/२४/२९६/१ संस्थानमाकृतिः।

स. सि./८/११/३९०/३ यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवति तत्संस्थाननाम। —१. संस्थानका अर्थ आकृति है। (रा. वा./३/८/३/-१७०/१४)। २. जिसके उदयसे औदारिकादि शरीरोंकी आकृति बनती है वह संस्थाननामकर्म है। (रा. वा./८/११/८/५७६/२९); (ध. ६/१,९-१,२८/५३/६); (ध. १३/५.५ १०१/३६४/३); (गो. क./जी. प्र./३३/२९/३)

रा. वा./५/२४/१/४८५/१३ संतिष्ठते, संस्थीयतेऽनेनेति, संस्थितिर्वा संस्थानम्। —जो संस्थित होता है या जिसके द्वारा संस्थित होता है या संस्थितिको संस्थान कहते हैं।

क. पा. २/२-२२/§१५/९/२ तंस-चउरंस-वट्टादीणि संठाणाणि। —त्रिकोण, चतुष्कोण, और गोल आदि (आकार) को संस्थान कहते हैं।

२. संस्थानके भेद

ष. खं. ६/१,९-१/सू. ३४/७० जं तं सरीरसंठाणणामकम्मं तं छव्विहं, समचउरससरीरसंठाणणामं णग्गोहपरिमंडलसरीरसंठाणणामं सादियसरीरसंठाणणामं खुज्जसरीरसंठाणणामं वामणसरीरसंठाणणामं हुंडसरीरसंठाणणामं चेदि। —जो शरीर संस्थान नामकर्म है वह छह प्रकारका है—समचतुरस्र शरीरसंस्थाननामकर्म, न्यग्रोधपरिमण्डल-शरीरसंस्थाननामकर्म, स्वातिशरीरसंस्थाननामकर्म, कुब्जशरीर-संस्थान नामकर्म, वामनशरीरसंस्थाननामकर्म, और हुंडकशरीर-संस्थाननामकर्म। (ष. खं. १३/५. ५/सू. १०७/३६८); (स. सि./-८/११/३९०/३); (पं. सं./प्रा./१/४ की टीका); (द्र. सं./१६/५३/-६); (भा पा./टी./६४/२-९/१३)

स. सि./५/२४/२९६/१ तद् (संस्थानं) द्विविधमित्थंलक्षणमनित्थंलक्षणं चेति। —इस (संस्थान) के दो भेद हैं—इत्थंलक्षण और अनित्थंलक्षण।

द्र. सं./टी./१६/५३/८ वृत्तत्रिकोणचतुष्कोणादिव्यक्ताव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानम्। —गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि प्रगट अप्रगट अनेक प्रकारके संस्थान हैं।

३. संस्थानके भेदोंके लक्षण

१. समचतुरस्र

रा. वा./८/११/८/५७६/३२ तत्रोर्ध्वाधोमध्येषु समप्रविभागेन शरीरावयवसंनिवेशव्यवस्थापनं कुशलशिल्पिनिर्वर्तितसमस्थितिचक्रवत् अवस्थानकरं समचतुरस्रसंस्थाननाम। –ऊपर नीचे मध्यमें कुशल शिल्पीके द्वारा बनाये गये समचक्रकी तरह समान रूपसे शरीरके अवयवोंकी रचना होना समचतुरस्र संस्थान है।

ध. ६/१,९-१,३४/७१/१ समं चतुरस्रं समचतुरस्रं समविभक्तमित्यर्थः। जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं समचउरस्ससंठाणं होदि तस्स कम्मस्स समचउरससंठाणमिदि सण्णा। –समान चतुरस्र अर्थात् समविभक्तको समचतुरस्र कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे जीवोंके समचतुरस्रसंस्थान होता है उस कर्मकी समचतुरस्र संज्ञा है।

ध. १३/५,५,१०७/३६९/५ चतुरं शोभनम्, समन्ताच्चतुरं समचतुरम्, समानमानोन्मानमित्यर्थः। समचतुरं च तत् शरीरसंस्थानं च समचतुरशरीरसंस्थानम्। तस्य संस्थानस्य निवर्तकं यत् कर्म तस्याप्येषैव संज्ञा, कारणे कार्योपचारात्। –चतुरका अर्थ शोभन है, सब ओरसे चतुर समचतुर कहलाता है। समान मान और उन्मानवाला, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। समचतुर ऐसा जो शरीरसंस्थान वह समचतुरस्रशरीरसंस्थान है। उस संस्थानके निर्वर्तक कर्मकी भी कारणमें कार्यके उपचारसे यही संज्ञा है।

२. न्यग्रोध परिमण्डल

रा. वा./८/११/८/५७६/३३ नाभेरुपरिष्टाद् भूयसो देहसंनिवेशस्याधस्ताच्चाल्पीयसो जनकं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानम्। –बड़के पेड़की तरह नाभिके ऊपर भारी और नीचे लघुप्रदेशोंकी रचना न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है।

ध. ६/१,९-१,३४/७१/२ णग्गोहो वडरुक्खो, तस्स परिमंडलं व परिमंडलं जस्स सरीरस्स तण्णग्गोहपरिमंडलं। णग्गोहपरिमंडलमेव सरीरसंठाणं णग्गोहपरिमंडलसरीरसंठाणं आयतवृत्तमित्यर्थः। –न्यग्रोध वट वृक्षको कहते हैं, उसके परिमण्डलके समान परिमण्डल जिस शरीरका होता है उसे न्यग्रोध परिमण्डल कहते हैं। न्यग्रोध परिमण्डलरूप ही जो शरीर संस्थान है, वह न्यग्रोध परिमण्डल अर्थात् आयतवृत्त शरीरनामकर्म है।

ध. १३/५,५,१०७/३६८/७ न्यग्रोधो वटवृक्षः समन्तान्मण्डलं परिमण्डलम्, न्यग्रोधस्य परिमण्डलमिव परिमण्डलं यस्य शरीरसंस्थानस्य तन्न्यग्रोधपरिमण्डलशरीरसंस्थानं नाम। अधस्तात् श्लक्ष्णं उपरि विशालं यच्छरीरं तन्न्यग्रोधपरिमण्डलशरीरसंस्थानं नाम। एतस्य यत् कारणं कर्म तस्याप्येषैव संज्ञा, कारणे कार्योपचारात् –न्यग्रोधका अर्थ वटका वृक्ष है, और परिमण्डलका अर्थ सब ओरका मण्डल। न्यग्रोधके परिमण्डलके समान जिस शरीर संस्थानका परिमण्डल होता है वह न्यग्रोध परिमण्डल शरीर संस्थान है। जो शरीर नीचे सूक्ष्म और ऊपर विशाल होता है वह न्यग्रोध परिमण्डल शरीर संस्थान है। कारणमें कार्यके उपचार इसके कारण कर्मकी यही संज्ञा है।

३. स्वाति

रा. वा./८/११/८/५७७/२ तद्विपरीतसंनिवेशकरं स्वातिसंस्थाननाम वल्मीकतुल्याकारम्। –न्यग्रोधसे उलटा ऊपर लघु और नीचे भारी, वाल्मीकी रचना स्वाति संस्थान है। (ध. १३/५,५,१०७/३६८/१०)।

ध. ६/१,९-१,३४/७१/४ स्वातिर्वल्मीकः शाल्मलिर्वा, तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य शरीरस्य तत्स्वातिशरीरसंस्थानम्। अहो विसालं उवरि सण्णमिदि जं उत्तं होदि। –स्वाति नाम वल्मीक या शाल्मली वृक्षका है। उसके आकारके समान आकार जिस शरीरका है, वह स्वाति संस्थान है। अर्थात् यह शरीर नाभिसे नीचे विशाल और ऊपर सूक्ष्म या हीन होता है।

४. कुब्ज

रा. वा./८/११/८/५७७/२ पृष्ठप्रदेशभाविबहुपुद्गलप्रचयविशेषलक्षणस्य निर्वर्तकं कुब्जसंस्थाननाम। –पीठपर बहुत पुद्गलोंका पिण्ड हो जाना अर्थात् कुबड़ापन कुब्जक संस्थान है।

ध. ६/१,९-१,३४/७१/६ कुब्जस्य शरीरं कुब्जशरीरम्। तस्य कुब्जशरीरस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य तत्कुब्जशरीरसंस्थानम्। 'जस्स कम्मस्स उदएण साहाणं दीहत्तं मज्झस्स रहस्सत्तं च होदि तस्स खुज्जशरीरसंठाणमिदि सण्णा। – कुबड़े शरीरको कुब्ज शरीर कहते हैं। उस कुब्ज शरीरके संस्थानके समान संस्थान जिस शरीरका होता है, वह कुब्ज शरीर संस्थान है। जिस कर्मके उदयसे शाखाओंकी दीर्घता और मध्य भागके ह्रस्वता होती है, उसको 'कुब्ज शरीर संस्थान' यह संज्ञा है। (ध. १३/५,५,१०७/३६८/१२)।

५. वामन

रा. वा./८/११/८/५७७/३ सर्वाङ्गोपाङ्गह्रस्वव्यवस्थाविशेषकारणं वामनसंस्थाननाम। –सभी अंग उपांगोंको छोटा बनानेमें कारण वामन संस्थान है।

ध. ६/१,९-१, ३४/७१/८ वामनस्य शरीरं वामनशरीरम्। वामनशरीरस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य तद्वामनशरीरसंस्थानम्। जस्स कम्मस्स उदएण साहाणं जं रहस्सत्तं कायस्स दीहत्तं च होदि तं वामणसरीरसंठाणं होदि। –बौनेके शरीरको वामन शरीर कहते हैं। वामन शरीरके संस्थानके समान संस्थान जिसमें होता है, वह वामन शरीर संस्थान है। जिस कर्मके उदयसे शाखाओंके ह्रस्वता और शरीरके दीर्घता होती है, वह वामनशरीर संस्थान नामकर्म है। (ध. १३/५,५,१०७/३६८/१३)।

६. हुंडक

रा. वा./८/११/८/५७७/४ सर्वाङ्गोपाङ्गानां हुण्डसंस्थितत्वात् हुण्डसंस्थाननाम। –सभी अंग और उपांगोंका बेतरतीब हुंडकी तरह रचना हुंडक संस्थान है।

ध. ६/१,९,१,३४/७२/२ विसमपासाणभरियदइओ व्व विस्सदो विसमं हुंडं। हुंडस्स शरीरं हुंडशरीरं, तस्स संठाणमिव संठाणं जस्स त हुंडसरीरसंठाणणाम। जस्स कम्मस्स उदएण पुव्वुत्तपंचसंठाणेहितो वदिरित्तमण्णसंठाणमुप्पज्जइ एक्कत्तीसभेदभिण्णं तं हुंडसंठाणसण्णिदं होदि त्ति णादव्वं। –विषम अर्थात् समानता रहित अनेक आकारवाले पाषाणोंसे भरी हुई मशकके समान सर्व ओरसे विषम आकारको हुंड कहते हैं। हुंडके शरीरको हुंड शरीर कहते हैं। उसके संस्थानके समान संस्थान जिसके होता है उसका नाम हुंड शरीर संस्थान है। जिस कर्मके उदयसे पूर्वोक्त पाँच संस्थानोंसे व्यतिरिक्त, इकतीस भेद भिन्न अन्य संस्थान उत्पन्न होता है, वह शरीर हुंडसंस्थान संज्ञा वाला है, ऐसा जानना चाहिए। (ध. १३/५,५,१०९/३६९/१)।

४. इत्थं अनित्थं संस्थानके लक्षण

स. सि./५/२४/२९६/१ वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतपरिमण्डलादीनामित्थंलक्षणम्। अतोऽन्यन्मेघादीनां संस्थानमनेकविधमित्थमिदमिति निरूपणाभावादनित्थंलक्षणम्। –जिसके विषयमें 'यह संस्थान इस प्रकारका है' यह निर्देश किया जा सके वह इत्थंलक्षण संस्थान है। वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत और परिमण्डल, आदि ये सब इत्थंलक्षण संस्थान हैं। तथा इसके अतिरिक्त मेघ आदिके आकार जो कि अनेक प्रकारके हैं और जिनके विषयमें 'यह इस प्रकारका है।' यह नहीं कहा

जा सकता वह अनित्थंलक्षण संस्थान है। (रा. वा./५/२४/१३/४८६/१)।

५. गति मार्गणामें संस्थानोंका स्वामित्व

मू. आ./१०६० समचउरसणिग्गोहासादि य खुज्जा य वामणा हुंडा। पंचिंदियतिरियणरा देवा चउरस्स णारया हुंडा। —समचतुरस्र, न्यग्रोध, सातिक, कुब्जक, वामन और हुंड ये छह संस्थान पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्योंके होते हैं, देव चतुरस्र संस्थान वाले हैं, नारकी सब हुंडक संस्थान वाले होते हैं।१०६०।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. एकेन्द्रियोंमें संस्थानका अभाव तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान। —दे. उदय/५।
२. विकलेन्द्रियोंमें हुंडक संस्थानका नियम तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान। —दे. उदय/५।
३. विग्रहगतिमें जीवोंका संस्थान। —दे. अवगाहना/१।
४. संस्थान नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा तथा तत्सम्बन्धी नियम व शंका समाधान आदि। —दे. वह वह नाम।

संस्थान निर्माण कर्म—दे. निर्माणकर्म।

संस्थान विचय धर्म ध्यान—दे. धर्मध्यान/१।

संस्थानाक्षर—दे. अक्षर।

संहनन—१. संहनन सामान्यका लक्षण

स. सि./८/११/३९०/५ यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहनननाम। —जिसके उदयसे अस्थियोंका बन्धन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। (रा. वा./८/११/६/५७७/५), (ध. ६/१, ९-१, २८/५४/८) (ध. १३/५,५,१०७/३६४/५), (गो. क./जी. प्र./३३/२९/६)।

२. संहननके भेद

ष. खं. ६/१,९-१/सू. ३६/७३ जं तं सरीरसंघडणणामकम्मं तं छव्विहं, वज्जरिसहवइरणारायणसरीरसंघडणणाम वज्जणारायणसरीरसंघडणणामं णारायणसरीरसंघडणणामं अद्धणारायणसरीरसंघडणणामं खीलियसरीरसंघडणणामं असंपत्तसेवट्टसरीरसंघडणणामं चेदि।३६। —जो शरीर संहनन नामकर्म है वह छह प्रकारका है— वज्रऋषभनाराचशरीरसंहनन नामकर्म, वज्रनाराचशरीरसंहनन नामकर्म, नाराचशरीरसंहनन नामकर्म, अर्धनाराच शरीरसंहनन नामकर्म, कीलकशरीरसंहनन नामकर्म, और असंप्राप्त सृपाटिकाशरीरसंहनन नामकर्म। (ष. खं. १३/५,५/सू. १०९/३६९), (स. सि./८/११/३९०/६), (पं. सं./प्रा./१/४ की टी.) (रा. वा./८/११/९/५७७/६), (गो. क./जी. प्र./३३/२९/६)।

३. संहननके भेदोंके लक्षण

रा. वा./८/११/९/५७७/७ तत्र वज्राकारोभयास्थिसन्धि प्रत्येकं मध्ये वलयबन्धनं सनाराचं सुसंहतं वज्रर्षभनाराचसंहननम्। तदेव वलयबन्धनविरहितं वज्रनाराचसंहननम्। तदेवोभयं वज्राकारबन्धनव्यपेतमवलयबन्धनं सनाराचं नाराचसंहननम्। तदेवैकपार्श्वे सनाराचम् इतरत्रानाराचम् अर्धनाराचसंहननम्। तदुभयमन्ते सकीलं कीलिकासंहननम्। अन्तरसंप्राप्तपरस्परास्थिसन्धि बहिः सिरास्नायुमांसघटितम् असंप्राप्तसृपाटिकासंहननम्। —दोनों हड्डियोंकी सन्धियाँ वज्राकार हों। प्रत्येकमें वलयबन्धन और नाराच हों ऐसा सुसंहत बन्धन वज्रर्षभनाराचसंहनन है। वलय बन्धनसे रहित वही वज्रनाराच संहनन है। वही वज्राकार बन्धन और वलय बन्धनसे रहित पर नाराच युक्त होनेपर सनाराच संहनन है। वही एक तरफ नाराच युक्त तथा दूसरी तरफ नाराच रहित अवस्थामें अर्ध नाराच है। जब दोनों हड्डियोंके छोरोंमें कील लगी हों तब वह कीलक संहनन है। जिसमें भीतर हड्डियोंका परस्पर बन्ध न हो मात्र बाहिरसे वे सिरा स्नायु मांस आदि लपेट कर संघटित की गयी हों वह असंप्राप्तसृपाटिका संहनन है। (ध. १३/५,५,१०९/३६९/११)।

ध. ६/१,९-१,३६/७३/८ संहननमस्थिसंचयः, ऋषभो वेष्टनम्, वज्रवदभेद्यत्वाद्वज्रऋषभः। वज्रवन्नाराचः, वज्रनाराचः, तौ द्वावपि यस्मिन् वज्रशरीरसंहनने तद्वज्रऋषभवज्रनाराचशरीरसंहननम्। जस्स कम्मस्स उदएण वज्जहड्डाइं वज्जवेट्ठेण वेढियाइं वज्जणाराएण खीलियाइं च होंति तं वज्जरिसहवइरणारायणसरीरसंघडणमिदि उत्तं होदि। एसो चेव हड्डबंधो वज्जरिसहवज्जिओ जस्स कम्मस्स उदएण होदि तं कम्मं वज्जणारायणसरीरसंघडणमिदि भण्णदे। जस्स कम्मस्स उदएण वज्जविसेसणरहिदणारायणखीलियाओ हड्डसंधिओ हवंति तं णारायणसरीरसंघडणं णाम। जस्स कम्मस्स उदएण हड्डसंधीओ णाराएण अद्धविद्धाओ हवंति तं अद्धणारायणसरीरसंघडणं णाम। जस्स कम्मस्स उदएण अवज्जहड्डाइं खीलियाइं हवंति तं खीलियसरीरसंघडणं णाम। जस्स कम्मस्स उदएण अण्णोण्णमसंपत्ताइं सरिसिवहड्डाइं व छिरावद्धाइं हड्डाइं हवंति तं असंपत्तसेवट्टसरीरसंघडणं णाम। —हड्डियोंके संचयको संहनन कहते हैं। वेष्टनको ऋषभ कहते हैं। वज्रके समान अभेद होनेसे 'वज्रऋषभ' कहलाता है। वज्रके समान जो नाराच है वह वज्रनाराच कहलाता है। ये दोनों अर्थात् वज्रऋषभ और वज्रनाराच, जिस वज्र संहननमें होते हैं, वह वज्रऋषभ वज्रनाराच शरीर संहनन है। जिस कर्मके उदयसे वज्रमय हड्डियाँ वज्रमय वेष्टनसे वेष्टित और वज्रमय नाराचसे कीलित होती हैं, वह वज्रऋषभनाराच शरीर संहनन है। ऐसा अर्थ कहा गया है। यह उपर्युक्त अस्थिबन्ध ही जिस कर्मके उदयसे वज्र ऋषभसे रहित होता है, वह कर्म वज्रनाराचशरीर संहनन इस नामसे कहा जाता है। जिस कर्मके उदयसे वज्र विशेषणसे रहित नाराच कीलें और हड्डियोंकी सधियाँ होती हैं वह नाराच शरीर संहनन नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे हाड़ोंकी सन्धियाँ नाराचसे आधी बिंधी हुई होती हैं, वह अर्धनाराच शरीर संहनन नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे वज्र-रहित हड्डियाँ और कीलें होती हैं वह कीलक शरीर संहनन नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे सरीसृप अर्थात् सर्पकी हड्डियोंके समान परस्परमें असंप्राप्त और शिराबद्ध हड्डियाँ होती हैं, वह असंप्राप्तासृपाटिका शरीर संहनन नामकर्म है।

४. उत्तम संहननका तात्पर्य प्रथम तीन संहनन

रा. वा./९/२७/१/६२५/१९ आद्यं संहननत्रयमुत्तमम्।१। वज्रर्षभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराचसंहननमित्येतत्त्रितयं संहननमुत्तमम्। कुतः। ध्यानादिवृत्तिविशेषहेतुत्वात्। —आदिके तीन उत्तम संहनन हैं अर्थात् वज्रऋषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन ये तीनों ध्यानकी वृत्ति विशेषका कारण होनेसे उत्तम संहनन कहे गये हैं। (भ. आ./वि./१६९९/१५२१/१४)।

५. ध्यानके लिए उत्तम संहननकी आवश्यकता

रा. वा./९/२७/१,११/६२५-६२६/२० तत्र मोक्षस्य कारणमाद्यमेकमेव। ध्यानस्य त्रितयमपि (१/६२५) उत्तमसंहननाभिधानम् अन्यस्येयत्कालाध्यवसायधारणासामर्थ्यात्।११/६२६। —उपरोक्त तीनों

उत्तम संहननमेंसे मोक्षका कारण प्रथम संहनन होता है और ध्यानके कारण तो तीनों हैं ।१। क्योंकि उत्तम संहननवाला हो इतने समय तक ध्यान धारण कर सकता है अन्य संहननवाला नहीं । (भ. आ./वि./१९९१/१५२१/१४) ।

ध. १३/५.४.२६/७९/१२ सुक्कलेस्सिओ...वज्जरिसहवइरणारायणसरीर-संघडणो...खविदासेसकसायवग्गो...। = जिसके शुक्ल लेश्या है... (जो) वज्रऋषभ नाराच संहननका स्वामी है...ऐसा क्षीणकषाय जीव ही एकत्व वितर्क अविचार ध्यानका स्वामी है ।

ज्ञा./४१/६-७ न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम् । आद्य-संहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातनैः ।६। छिन्ने भिन्ने हते दग्धे देहे स्वमिव दूरगम् । प्रपश्यन् वर्षवातादिदुःखैरपि न कम्पते ।७। = पहले संहननवालेके ही शुक्लध्यान कहा है क्योंकि इस संहननवालेका ही चित्त ऐसा होता है कि शरीरको छेदने, भेदने, मारने और जलानेपर भी अपने आत्मको अत्यन्त भिन्न देखता हुआ चलायमान नहीं होता, न वर्षाकाल आदिके दुःखोंसे कम्पायमान होता है ।६-७।

त. अनु./८४ यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः । श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तन्निषेधकम् ।८४। = 'वज्रकायस्य ध्यानं' ऐसा जो वचन निर्देश है वह दोनों श्रेणियोंको लक्ष्य करके कहा गया है इसलिए वह नीचेके गुणस्थानवर्तियोंके लिए ध्यानका निषेधक नहीं है (पं. का./ता. वृ./१२६/२१२/१४), (द्र. सं./टी./५७/२३२/४) ।

द्र. सं./टी./५७/२३२/६ उपशमक्षपकश्रेण्योः शुक्लध्यानं भवति, तच्चोत्तमसंहननेनैव, अपूर्वगुणस्थानादधस्तनेषु गुणस्थानेषु धर्म-ध्यानं, तच्चादिमत्रिकोत्तमसंहननाभावेऽप्यन्तिमत्रिकसंहननेनापि भवति । = उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणीमें जो ध्यान होता है वह उत्तम संहनन से ही होता है, किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थानसे नीचेके गुणस्थानमें जो धर्मध्यान होता है वह पहले तीन उत्तम संहननके अभाव होने पर भी अन्तिमके तीन संहननसे भी होता है ।

६. स्त्रीको उत्तम संहनन नहीं होती

गो. क./मू./३२ अंतिमतियसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं । आदिमतिगसंहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं । = कर्म भूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन अर्द्धनाराच आदि संहननका ही उदय होता है, आदिके तीन वज्रऋषभनाराचादि संहननका उदय नहीं होता । (पं. का./ता. वृ./प्रक्षेपक/२२५-८/३०४ पर उद्धृत) ।

७. अन्य सम्बन्धित विषय—

१. किस संहननवाला जीव मरकर कहाँ उत्पन्न हो तथा कौन सा गुण उत्पन्न करनेको समर्थ हो । —दे. जन्म/६ ।
२. संहनन नाम कर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान । —दे. वह वह नाम ।
३. सल्लेखनामें संहनन निर्देश । —दे. सल्लेखना/३ ।

सककापिर—भरतक्षेत्र दक्षिण आर्य खण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४ ।

सकलकीर्ति—नन्दीसंघ बलात्कार गणकी ईडर गद्दी पर यह पद्मनन्दि नं. ३ के शिष्य तथा भुवनकीर्ति के गुरु, संस्कृत एवं प्राकृत वाङ्मय के संरक्षक, अनेकानेक ग्रन्थों के रचयिता । कृतियें मूलाचार प्रदीप, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, सिद्धान्तसार दीपक, तत्त्वार्थसार दीपक, आगमसार, द्वादशानुप्रेक्षा, समाधिमरणोत्साह दीपक, सार चतुर्विंशतिका, सद्भाषितावली, परमात्मराज स्तोत्र, पंचपरमेष्ठी पूजा, अष्टाह्निका पूजा, सोलहकारण पूजा, गणधरवलय पूजा, आदि पुराण, उत्तर पुराण, पुराणसार संग्रह, सुकुमाल, धन्यकुमार आदि अनेकों चारित्र ग्रन्थ । समय—जन्म वि. १४४३, पट्टाभिषेक वि. १४७१, समाधि वि. १४९९ । (ई. १३८६-१४४२) । (ती./३/३२६); (दे. इतिहास ७/४) ।

सकलचंद्र—नन्दिसंघ देशीयगण, अभयनन्दि के शिष्य, मेघचन्द्र त्रैविद्य के गुरु । समय—(ई. ९५०-१०१०) । (दे. इतिहास/७/५) ।

सकलदत्ति—दे. दान/१ ।

सकल परमात्मा—दे. परमात्मा/१ ।

सकल विधि विधान—दे. पूजापाठ ।

सकलादेश—१. सकलादेश निर्देश

रा. वा./४/४२/१३/२५२/२३ यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देन एकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकत्वमापन्नस्य अनेकाशेषरूपस्य प्रतिपादनसंभवात् यौगपद्यम् । तत्र यदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः, स एव प्रमाणमित्युच्यते । 'सकलादेशः प्रमाणाधीनः' इति वचनात् । = जब उन्हीं अस्तित्वादि धर्मोंकी कालादिककी दृष्टिसे अभेद विवक्षा होती है तब एक भी शब्दके द्वारा एक धर्ममुखेन तादात्म्य रूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखण्ड भावसे युगपत् कथन हो जाता है । यह सकलादेश कहलाता है । सकलादेश प्रमाण रूप है । कहा भी है—सकलादेश प्रमाणाधीन है । (श्लो. वा. २/१/६/५४/४५१/१५), (स्या. म./२३/२८२/१०) ।

श्लो. वा. २/१/६/५६/पृष्ठ सं./पंक्ति सं. धर्मिमात्रवचनं सकलादेशः धर्ममात्रकथनं तु विकलादेश इत्यप्यसारम्, सत्त्वाद्यन्यतमेनापि धर्मेणा-विशेषितस्य धर्मिणो वचनासंभवात् । धर्ममात्रस्य क्वचिद्धर्मिण्य-वर्तमानस्य वक्तुमशक्तेः । स्याज्जीव एव स्यादस्त्येवेति धर्मिमात्रस्य च धर्ममात्रस्य वचनं संभवत्येवेति चेत्, न, जीवशब्देन जीवत्व-धर्मात्मकस्य जीववस्तुन कथनादस्तिशब्देन चास्तित्वस्य क्वचिद्वि-शेष्ये विशेषणतया प्रतीयमानस्याभिधानात् । (४५९/११) सकलप्रति-पादकत्वात् प्रत्येकं सदादिवाक्यं विकलादेश इति न समीचीना युक्तिस्तत्समुदायस्यापि विकलादेशत्वप्रसंगात् ।४६०/२३। यदि पुनरस्तित्वादिधर्मसप्तकमुखेनाशेषानन्तसप्तभङ्गीविषयानन्तधर्मसप्तक-स्वभावस्य वस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्त्या भेदोपचारेण प्रकाशनात्स-दादिसप्तविकल्पात्मकवाक्यस्य सकलादेशत्वसिद्धिस्तदा स्यादस्त्येव जीवादिवस्त्वित्यस्य सकलादेशत्वमस्तु । विवक्षितास्तित्वमुखेन शेषानन्तधर्मात्मनो वस्तुनस्तथावृत्त्या कथनात् (४६२/१) = १. केवल धर्मीको कथन करनेवाला वाक्य सकलादेश है और केवल धर्मको कथन करना हो तो विकलादेश है । इस प्रकार...लक्षण साररहित है क्योंकि अस्तित्व नास्तित्वादि धर्मोंमेंसे किसी एक भी धर्मसे विशिष्ट नहीं किये गये धर्मीका कथन असम्भव है । अर्थात् सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित शुद्ध वस्तुका निरूपण नहीं हो सकता है । किसी न किसी धर्मसे युक्त हो धर्मीका कथन किया जा सकता है । (स. भं. त./१७/१) २. कथंचित् जीव ही है, इस प्रकार केवल जीवद्रव्य रूप धर्मीको कहनेवाला वचन विद्यमान है, और 'कथंचित् है ही' ऐसे केवल अस्तित्व धर्मको कहनेवाला वाक्य भी सम्भवता है । ऐसा कोई कटाक्ष करते हैं । सो ऐसा तो नहीं कहना क्योंकि धर्मी वाचक जीव शब्द करके प्राणधारणरूप जीवत्व धर्मसे तदात्मक हो रही जीव वस्तु कथन की गयी है केवल धर्मीका ही कथन नहीं । और धर्म-वाचक अस्ति शब्द करके किसी विशेष्यमें विशेषण होकर प्रतीत किये जा रहे हो अस्तित्वका निरूपण किया गया है कोरे अस्तित्वधर्मका नहीं ।४५९/११। ३. अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मोंको कहनेवाले सातों भी वाक्य यदि प्रत्येक अकेले बोले जाँय तो सकलादेश हैं इस प्रकार दूसरे अन्यवादी कह रहे हैं । वे भी युक्ति और शास्त्र प्रमाणमें प्रवीण नहीं हैं क्योंकि युक्ति और आगम दोनोंका अभाव है । यों तो उन सातों वाक्योंके समुदायको भी विकलादेशपनेका प्रसंग होगा । अस्तित्वादि सातों वाक्य भी समुदित होकर भी सम्पूर्ण वस्तुभूत अर्थके प्रतिपादक नहीं हैं ।४६०/२३। ४. अस्तित्व आदि सातों धर्मकी

प्रमुखतासे शेष बचे हुए अनन्त सप्तभंगियोंके विषयभूत अनन्त संख्यावाले सातों धर्मस्वरूप वस्तुका काल, आत्म रूप आदि अभेद वृत्ति या भेदउपचार करके प्ररूपण होता है। इस कारण अस्तित्व नास्तित्व आदि सप्त भेद स्वरूप वाक्यको सकलादेशपना सिद्ध हो जाता है ऐसा विचार होनेपर हम कहेंगे कि तब तो 'स्यात् अस्ति एव जीवादि वस्तु'' किसी अपेक्षासे जीवादि वस्तु है ही। इस प्रकार इस एक भंगको सकलादेशपन हो जाओ। क्योंकि विवक्षा किये गये एक अस्तित्व धर्मकी प्रधानता करके शेष बचे हुए अनन्त धर्म स्वरूप वस्तुका तिस प्रकार अभेद वृत्ति या अभेद उपचारसे कथन कर दिया गया है (४६२/१)।

क. पा. १/१,१३-१४/§१७०/२०२/२ कथमेतेषां सप्तानां सुनयानां सकलादेशत्वम्; नः, एकधर्मप्रधानभावेन साकल्येन वस्तुन. प्रतिपादकत्वात्। सकलमादिशति कथयतीति सकलादेश.। न च त्रिकालगोचरानन्तधर्मोपचितं वस्तु स्यादस्तीत्यनेन आदिश्यते तथानुपलम्भात् ततो नैते सकलादेशा इति; न; उभयनयविषयीकृतविधिप्रतिषेधधर्मव्यतिरिक्तत्रिकालगोचरानन्तधर्मानुपलम्भात्, उपलम्भे वा द्रव्यपर्यायार्थिकनयाभ्यां व्यतिरिक्तस्य तृतीयस्य नयस्यास्तित्वमासजेत्, न चैवम्। –प्रश्न—इन सातों (स्यादस्ति आदि) सुनयरूप वाक्योंको सकलादेशपना कैसे प्राप्त है? उत्तर—ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि ये सुनय वाक्य किसी एक धर्मको प्रधान करके साकल्य रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करते हैं, इसलिए ये सकलादेश रूप हैं; क्योंकि साकल्य रूपसे जो वस्तुका प्रतिपादन करता है वह सकलादेश कहा जाता है। प्रश्न—त्रिकालके विषयभूत अनन्त धर्मोंसे उपचित वस्तु 'कथंचित् है' इस एक वाक्यके द्वारा तो कही नहीं जा सकती है, क्योंकि एक धर्मके द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तुका ग्रहण नहीं देखा जाता है। इसलिए उपर्युक्त सातों वाक्य सकलादेश नहीं हो सकते हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके द्वारा विषय किये गये विधि और प्रतिषेध रूप धर्मोंको छोड़कर इससे अतिरिक्त दूसरे त्रिकालवर्ती अनन्त धर्म नहीं पाये जाते हैं। अर्थात् वस्तुमें जितने धर्म हैं वे या तो विधिरूप हैं या प्रतिषेध रूप, विधि और प्रतिषेधसे बहिर्भूत धर्म नहीं है। तथा विधिरूप धर्मोंको द्रव्यार्थिक नय विषय करता है। यदि विधि और प्रतिषेधके सिवाय दूसरे धर्मोंका सद्भाव माना जाय तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके अतिरिक्त एक तीसरे नयको मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा है नहीं।

स. भं. त./पृष्ठ/पंक्ति—अत्र केचित्…अनेकधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं सकलादेशत्वं।…तेषां प्रमाणवाक्यानां नयवाक्यानां च सप्तविधत्वव्याघात.। (१६/३)। सिद्धान्तविदस्तु एकधर्मबोधनमुखेन तदात्मकानेकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वम्। तदुक्तम् : 'एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसङ्ग्रहात्सकलादेश', इति। (१६/८)। –यहाँपर कोई ऐसा कहते हैं:…सत्त्व असत्त्व आदि अनेक धर्म रूप जो वस्तु है उस वस्तु विषयक बोधजनक अर्थात् वस्तुके अनेक धर्मोंका ज्ञान करानेवाला सकलादेश है।…उनके मतमें प्रमाण वाक्योंके तथा नय वाक्योंके भी सात प्रकारका भेद नहीं सिद्ध होगा। (१६/३)। सिद्धान्तवेत्ता ऐसा कहते हैं कि एक धर्मके बोधनके मुखसे उसको आदि लेके सम्पूर्ण जो धर्म हैं उन सब धर्म स्वरूप जो वस्तु तादृश वस्तु विषयक बोधजनक जो वाक्य हैं उनको सकलादेश कहते हैं। इसी बातको अन्य आचार्यने भी कहा है। 'वस्तुके एक धर्मके द्वारा शेष सर्व वस्तुओंके स्वरूपोंका' संग्रह करनेसे सकलादेश कहलाता है।

*** नय कथंचित् सकलादेश है**—दे. सप्तभंगी/२।

★ प्रमाण सकलादेश है—दे. नय/I/२।

सकलेन्द्रिय जीव—दे. इन्द्रिय/४।

सक्तनिभ—एक ग्रह—दे. ग्रह।

सत्ता—जीवको सत्ता कहनेकी विवक्षा—दे. जीव/१/३।

सगर—१. म. पु./सर्ग/श्लोक पूर्व भव नं. २ में विदेहमें वत्सकावती देशका राजा जयसेन था (४८/५८) तथा पूर्व भवमें अच्युत स्वर्गमें महाकाल नामक देव था (४८/६८)। इस भवमें कौशल देशके इक्ष्वाकु वंशी राजा समुद्रविजयका पुत्र था (४८/७१-७२) तथा प. पु.'५/७४ की अपेक्षा इसके पिताका नाम विजयसागर था। यह द्वितीय चक्रवर्ती था (दे. शलाकापुरुष)। दिग्विजय करके भोगोंमें आसक्त हो गया। यह देखकर पूर्व भवके मित्र मणिकेतु नामक देवने अनेक दृष्टान्त दिखाकर इसको सबोधा। जिसके प्रभावसे यह विरक्त होकर मुक्त हो गया (४८/१३६-१३७)। यह अजितनाथ भगवान्‌का मुख्य श्रोता था—दे० तीर्थंकर। २. म. पु./६७/श्लोक मुनिसुव्रतनाथ भगवान्‌के समयमें, भरत चक्रवर्तीके बाद इक्ष्वाकुवंशमें असंख्यात राजाओंके पश्चात् तथा दसवें चक्रवर्तीके १००० वर्ष पश्चात् अयोध्यामें राजा हुआ था। उस समय रामचन्द्रका ५५वाँ कुमार काल था। एक बार सुलसा कन्याके स्वयंवरमें मधुपिंगलको छलसे वरके दुष्ट लक्षणोंसे युक्त बता कर स्वयं सुलसासे विवाह किया। तब मधुपिंगलने असुर बनकर पर्वत नामक ब्राह्मण पुत्रकी सहायतासे (१५४-१६०) वैर शोधनके अर्थ यज्ञ रचा। जिसमें उसको बलि चढ़ा दिया गया (६७/३६४)।

सचित्त—जीव सहित पदार्थोंको सचित्त कहते हैं। सूखनेसे, अग्निपर पकनेसे, कटने छटनेसे अथवा नमक आदि पदार्थोंसे संसक्त होनेपर वनस्पति, जल आदि पदार्थ अचित्त हो जाते हैं। व्रती लोग सचित्त पदार्थोंका सेवन नहीं करते।

१. सचित्त सामान्यका लक्षण

स. सि./२/३२/१८७/१० आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम्। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः।

स. सि./७/३५/३७१/६ सह चित्तेन वर्तते इति सचित्तं चेतनावद् द्रव्यम्। –१. आत्माके चैतन्य विशेषरूप परिणामको चित्त कहते हैं। जो उसके साथ रहता है वह सचित्त कहलाता है। (रा. वा./२/३२/१/१४१/२२) २. जो चित्त सहित है वह सचित्त कहलाता है। (रा. वा./७/३५/१/५५८)।

२. सचित्त त्याग प्रतिमाका लक्षण

र. क. श्रा./१४१ मूलफलशाकशाखाकरीरकंदप्रसूनबीजानि। नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः। –जो कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, जमीकन्द, पुष्प और बीज नहीं खाता है वह दयाकी मूर्ति सचित्त त्याग प्रतिमाधारी है।१४१। (चा. सा./३८/१); (का. अ./मू./३७९-३८०); (ला. स./७/१६)।

वसु. श्रा./२९५ जं वज्जिज्जइ हरियं तुय-पत्त-पवाल-कंदफलबीयं। अप्पासुग च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं। –जहाँपर हरित, त्वक् (छाल), पत्र, प्रवाल, कन्द, फल, बीज और अप्रासुक जल त्याग किया जाता है वह सचित्त विनिवृत्तिवाला पाँचवाँ प्रतिमा स्थान है। (गुण. श्रा./१७८); (द्र. सं./टी./४५/१९५/८)।

सा. ध./७/८-१० हरिताङ्कुरबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन्। जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठः, सचित्तविरतः स्मृतः।८। पादेनापि स्पृशन्नर्थ-वशाद्योऽति ऋतीयते। हरिताण्याश्रितानन्त-निगोतानि स भोक्ष्यते।९। अहो जिनोक्ति निर्णीतिरहो अक्षजितिः सताम्। नालक्ष्यजन्त्वपि हरित्प्सान्त्येतेऽसुक्षयेऽपि यत्।१०। –प्रथम चार प्रतिमाओंका पालक तथा

प्रासुक नहीं किये गये हरे अंकुर, हरे बीज, जल, नमकादि पदार्थोंको नहीं खानेवाला दयामूर्ति श्रावक सचित्त विरत माना गया है ।८। जो प्रयोजनवश पैरसे भी छूता हुआ अपनी निन्दा करता है वह श्रावक मिले हुए हैं अनन्तानन्त निगोदिया जीव जिसमें ऐसी वनस्पतियोंको कैसे खायेगा ।९। सज्जनोंका जिनागम सम्बन्धी निर्णय, इन्द्रिय विषय आश्चर्यजनक है, क्योंकि वैसे सज्जन दिखाई नहीं देते जो, प्राणोंका क्षय होनेपर भी हरी वनस्पतिको नहीं खाते ।१०।

३. सचित्तापिधान आदिके लक्षण

स. सि./७/३५-३६/३७१/६ सचित्तं चेतनावद् द्रव्यम्। तदुपश्लिष्टः संबन्धः। तद्व्यतिकीर्णः संमिश्रः ।३५। सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः। अपिधानमावरणम्। सचित्तेनैव सम्बध्यते सचित्तापिधानमिति ।३६। —सचित्तसे चेतना द्रव्य लिया जाता है। इससे सम्बन्धको प्राप्त हुआ द्रव्य **सम्बन्धाहार** है। और इससे मिश्रित द्रव्य **सम्मिश्र** है ।३५। (रा. वा./७/३५/२-३/५५८/४)। सचित्त कमल पत्र आदिमें रखना **सचित्तनिक्षेप** है। अपिधानका अर्थ ढाँकना है। इस शब्दको भी सचित्त शब्दसे जोड़ लेना चाहिए जिससे **सचित्तापिधानका** सचित्त कमलपत्र आदिसे ढाँकना यह अर्थ फलित होता है। (रा. वा./७/३६/१-२/५५८/२०)।

४. भोगोपभोग परिमाण व्रत व सचित्त त्याग प्रतिमामें अन्तर

चा. सा./३८/१ अस्योपभोगपरिभोगपरिमाणशीलव्रतातिचारो व्रतं भवतीति। —उपभोग परिभोग परिमाण शीलके जो अतिचार हैं उनका त्याग ही इस प्रतिमामें किया जाता है।

सा. ध./७/११ सचित्तभोजनं यत्प्राङ् मलत्वेन जिहासितम्। व्रतयत्यङ्गिपञ्चत्व-चकितस्तच्च पञ्चमः ।११। —व्रती श्रावकने सचित्त भोजन पहले भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार रूपसे छोड़ा था उस सचित्त भोजनको प्राणियोंके मरणसे भयभीत पंचम प्रतिमाधारी व्रत रूपसे छोड़ता है ।११।

ला. सं./७/१६ इतः पूर्वं कदाचिद्वै सचित्तं वस्तु भक्षयेत्। इत· परं स नाश्नुयात्सचित्तं तज्जलाद्यपि ।१६। —पंचम प्रतिमासे पूर्व कभी-कभी सचित्त पदार्थोंका भक्षण कर लेता था। परन्तु अब सचित्त पदार्थोंका भक्षण नहीं करता। यहाँ तक कि सचित्त जलका भी प्रयोग नहीं करता ।१६।

५. वनस्पतिके सर्व भेद अचित्त अवस्थामें ग्राह्य हैं

दे. भक्ष्याभक्ष्य/४/४ [जिमिकंद आदिको सचित्त रूपमें खाना संसारका कारण है।]

दे० सचित्त /२ [सचित्त विरत श्रावक सचित्त वनस्पति नहीं खाता]

दे. सचित्त/६ [आगपर पके व विदारे कंदमूल आदि प्रासुक हैं]।

मू. आ./८२५-८२६ फलकंदमूलबीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि। णच्चा अणेसणीयं णवि य पडिच्छंति ते धीरा ।८२५। जं हवदि अणिव्बीयं णिवट्टिमं फासुयं कयं चेव। णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणिपडिच्छंति ।८२६। —अग्निकर नहीं पके, ऐसे कंद, मूल, बीज, तथा अन्य भी जो कच्चा पदार्थ उसको अभक्ष्य जानकर वे धीर वीर मुनि भक्षणकी इच्छा नहीं करते ।८२५। जो निर्बीज हो और प्रासुक किया गया है ऐसे आहारको खाने योग्य समझ मुनिराज उसके लेनेकी इच्छा करते हैं ।८२६।

ला. सं./२/१०४ विवेकस्यावकाशोऽस्ति देशतो विरतावपि। आदेयं प्रासुकं योग्यं नादेयं तद्विपर्ययम् ।१०४। —देश त्यागमें विवेककी बड़ी आवश्यकता है। निर्जीव तथा योग्य पदार्थोंका ग्रहण करना चाहिए। सचित्त तथा अयोग्य ऐसे पदार्थोंका ग्रहण नहीं करना चाहिए ।१०४।

६. पदार्थोंको प्रासुक करनेकी विधि

मू. आ./८२४

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवणेण मिस्सयं दव्वं। जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं पासुयं भणियं ।८२४। —सूखी हुई, पकी हुई, तपायी हुई, खटाई या नमक आदिसे मिश्रित वस्तु तथा किसी यंत्र अर्थात् चाकू आदिसे छिन्न-भिन्न की गयी सर्व ही वस्तुओंको प्रासुक कहा जाता है।

गो. जी./जी. प्र./२२४/४८३/१४ शुष्कपक्वध्वस्ताम्ललवणसंमिश्रदग्धादि द्रव्यं प्रासुकं···। —सूखे हुए, पके हुए, ध्वस्त, खटाई या नमक आदिसे मिश्रित अथवा जले हुए द्रव्य प्रासुक हैं।

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१. सचित्त त्याग प्रतिमा व आरम्भ त्याग प्रतिमामें अन्तर। —दे. आरम्भ।

२. सूखे हुए भी उदम्बर फल निषिद्ध हैं। —दे. भक्ष्याभक्ष्य।

३. साधुके विहारके लिए अचित्त मार्ग। —दे. विहार/१/७।

४. मांसको प्रासुक किया जाना सम्भव नहीं। —दे. मांस/२।

५. अनन्त कायिकको प्रासुक करनेमें फल कम है और हिंसा अधिक। —दे. भक्ष्याभक्ष्य/४/३।

६. वही जीव या अन्य कोई भी जीव उसी बीजके योनि स्थानमें जन्म धारण कर सकता है। —दे. जन्म/२।

सचित्त गुणयोग—दे. योग।

सचित्त निक्षेप—दे. निक्षेप।

सचित्त योनि—दे. योनि।

सचित्त संबंध—दे. सचित्त/३।

सचित्त समिश्र—दे. सचित्त/३।

सचित्तापिधान—दे. सचित्त/३।

सज्जनचित्त वल्लभ—आ. मल्लिषेण (ई. १०४७) द्वारा विरचित अध्यात्म उपदेश रूप संस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ है। इसमें २५ श्लोक हैं।

सत्— सत्का सामान्य लक्षण पदार्थोंका स्वतः सिद्ध अस्तित्व है। जिसका निरन्वय नाश असम्भव है। इसके अतिरिक्त किस गति जाति व कायका पर्याप्त या अपर्याप्त जीव किस-किस योग मार्गणामें अथवा कषाय सम्यक्त्व व गुणस्थानादिमें पाने सम्भव हैं, इस प्रकारकी विस्तृत प्ररूपणा ही इस अधिकारका विषय है।

१. सत् निर्देश

१. सत् सामान्यका लक्षण

स. सि./१/८/२९/६ सदित्यस्तित्वनिर्देशः । —सत अस्तित्वका सूचक है । (स. सि./१/३२/१३९/७); (रा. वा./१/८/१/४१/१६); (रा. वा./५/३०/८/४९५/२८); (गो. क./जी. प्र./४३६–५९२) ।

ध. १/१,१,८/१५६/६ सत्सत्त्वमित्यर्थः ।…सच्छब्दोऽस्ति शोभनवाचकः, यथा सदभिधानं सत्यमित्यादि । अस्ति अस्तित्ववाचकः, सति सत्ये प्रतीत्यादि । अत्रास्तित्ववाचको ग्राह्यः । —सत्का अर्थ सत्त्व है ।… सत् शब्द शोभन अर्थात् सुन्दर अर्थका वाचक है । जैसे, सदभिधान, अर्थात् शोभनरूप कथनको सत्य कहते हैं । सत् शब्द अस्तित्वका वाचक है ।

दे. द्रव्य/१/७ [सत्ता, सत्त्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि ये सब एकार्थवाची शब्द हैं ।

दे. उत्पाद/२/१ [उत्पाद, व्यय, ध्रुव इन तीनोंकी युगपत प्रवृत्ति सत् है ।]

२. सत् शब्दका अनेकों अर्थोंमें प्रयोग

स. सि./१/८/२९/६ स (सत) प्रशंसादिषु वर्तमानो नेह गृह्यते । —वह (सत्) प्रशंसा आदि अनेकों अर्थोंमें रहता है…।

रा. वा./१/८/१/४१/१६ सच्छब्दः प्रशंसादिषु वर्तते । तद्यथा प्रशंसायां तावत् 'सत्पुरुषः, सदश्वः' इति । क्वचिदस्तित्वे 'सन् घटः, सन् पटः' इति। क्वचित् प्रतिज्ञायमाने–प्रव्रजितः सन् कथमनृतं ब्रूयात । 'प्रव्रजितः' इति प्रज्ञायमान इत्यर्थः । क्वचिदादरे 'सत्कृत्यातिथीन् भोजयतीति' 'आदृत्य इत्यर्थः । —सत् शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें होता है जैसे 'सत्पुरुष, सदश्व' यह प्रशंसार्थक सत् शब्द है । 'सन् घटः, सन् पटः' यहाँ सत् शब्द अस्तित्व वाचक है । 'प्रव्रजितः सन्' प्रतिज्ञावाचक है ।'सत्कृत्य'में सत् शब्द आदरार्थक है (रा. वा./५/-३०/८/४९५/२५) ।

ध. १३/५,५,८८/३५७/१ सत सुखम् । —सत्का अर्थ सुख है ।

३. सत् स्वतः सिद्ध व अहेतुक है

प्र. सा./त. प्र./गा. नं. यदिदं सदकारणतया स्वतः सिद्धमन्तर्बहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदकं मदीयं मम नाम चैतन्यम्… ।९०। अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततयाहेतुकयैक रूपया वृत्त्या ।९६। न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भ, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात् । स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात् । अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते ।९८। —सत् और अकारण सिद्ध होनेसे स्वतः सिद्ध अन्तर्मुख-बहिर्मुख प्रकाशवाला होनेसे स्वपरका ज्ञायक ऐसा जो मेरा चैतन्य…।९०। अस्तित्व वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है और वह (अस्तित्व) अन्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण अनादि-अनन्त होनेसे अहेतुक, एक वृत्ति रूप…।९६। वास्तवमें द्रव्योंसे द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्य स्वभावसिद्ध हैं (उनकी) स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादि निधनतासे है । क्योंकि अनादि निधन साधनान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता ।९८।

प. ध./पू./८–९ तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम् । तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ।८। इत्थं नो चेदसतः प्रादुर्भूतिर्निरंकुशा भवति । परतः प्रादुर्भावो युतिसिद्धत्वं सतोविनाशो वा । ९ । —तत्त्व का लक्षण सत् है । सत् ही तत्त्व है । जिस कारणसे कि वह स्वभावसे ही सिद्ध है इसलिए वह अनादि अनन्त है । स्वसहाय है, निर्विकल्प है ।८। यदि ऐसा न मानें तो असत्की उत्पत्ति होने लगेगी । तथा परसे उत्पत्ति होने लगेगी । पदार्थ, दूसरे पदार्थके संयोगसे पदार्थ कहलावेगा । सत्के विनाशका प्रसंग आवेगा ।९।

दे. कारण/II/१ [वस्तु स्वतः अपने परिणमनमें कारण है ।]

४. सत्का विनाश व असत्का उत्पाद असम्भव है

पं. का./मू./१५ भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो । गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति । —भाव (सत्) का नाश नहीं है । तथा अभाव (असत्) का उत्पाद नहीं है । भाव (सत् द्रव्यों) गुण पर्यायोंमें उत्पाद व्यय करते हैं ।१५।

स्व. स्तो./२४ नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ।४। —जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और सत्का कभी नाश नहीं होता । दीपक बुझने पर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकार रूप पुद्गल पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है ।२४।

पं. ध./पू./१८१ नैवं यतः स्वभावादसतो जन्म न सतो विनाशो वा। उत्पादादित्रयमपि भवति च भावेन भावतया।१८१। –इस प्रकार शंका ठीक नहीं है। क्योंकि स्वभावसे असत्‌की उत्पत्ति और सत्‌का विनाश नहीं होता है किन्तु उत्पादादि तीनोंमें भवनशील रूपसे रहता है।

५. सत् ही जगत्‌का कर्ता-हर्ता है

पं. का./मू./२२ जीवा पुग्गलकाया आयासं अत्थिकाइय सेसा। अमया अत्थित्तमया कारणभूदा हि लोगस्स।२२। –जीव पुद्गलकाय आकाश और शेष दो अस्तिकाय अकृत हैं, अस्तित्वमय हैं और वास्तवमें लोकके कारणभूत हैं।२२।

२. सत् विषयक प्ररूपणाएँ

१. सत् प्ररूपणाके भेद

ष. खं. व धवला/१/१,१/सू. ८/१५६ संतपरूवणदाए दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य।८। ···न च प्ररूपणायास्तृतीयः प्रकारोऽस्ति सामान्यविशेषव्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात्। –सत्प्ररूपणामें ओघ अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे और आदेश अर्थात् विशेषकी अपेक्षासे इस तरह दो प्रकारका कथन है।८। इन दो प्रकारकी प्ररूपणाको छोड़कर वस्तुके विवेचनका तीसरा उपाय नहीं पाया जाता, क्योंकि वस्तुमें सामान्य विशेष धर्मको छोड़कर तीसरा धर्म नहीं पाया जाता।

२. सत् व सत्त्वमें अन्तर

रा. वा./१/८/१२/४२/२५ नानेन सम्यग्दर्शनादेः सामान्येन सत्त्वमुच्यते किन्तु गतीन्द्रियकायादिषु चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु 'क्वास्ति सम्यग्दर्शनादि, क्व नास्ति' इत्येवं विशेषणार्थं सद्वचनम्। –इस (सत्) के द्वारा सामान्य रूपसे सम्यग्दर्शन आदिका सत्त्वमात्र नहीं कहा जाता है किन्तु गतिइन्द्रिय न्याय आदि चौदह मार्गणा स्थानोंमें 'कहाँ है, कहाँ नहीं है' आदि रूपसे सम्यग्दर्शनादिका अस्तित्व सूचित किया जाता है।

३. सत् प्ररूपणाका कारण व प्रयोजन

रा. वा./१/८/१३/४२/२८ ये त्वनधिकृता जीवपर्यायाः। क्रोधादयो ये चाजीवपर्याया वर्णादयो घटादयश्च तेषामस्तित्वाधिगमार्थं पुनर्वचनम्। –अनधिकृत क्रोधादि या अजीव पर्याय वर्णादिके अस्तित्व सूचन करनेके लिए 'सत्' का ग्रहण आवश्यक है।

ध. सत/२/२ गति इन्द्रियादि चौदह मार्गणाओंमें सम्यग्दर्शनादि कहाँ है कहाँ नहीं है यह सूचित करनेको सत शब्दका प्रयोग है।

पं. का./ता. वृ./८/२३/१ शुद्ध जीवद्रव्यस्य या सत्ता सैवोपादेया भवतीति भावार्थः। –शुद्ध जीव द्रव्यकी जो सत्ता है वही उपादेय है ऐसा भावार्थ है।

४. सारणीमें प्रयुक्त संकेत सूची

अज्ञा.	अज्ञान
अना.	अनाकार, अनाहारक
अनु.	अनुभय
अप.	अपर्याप्त, अपर्याप्ति, अपकायिक
अभ.	अभव्य
अव.	अवधिज्ञान
अवि.	अविरत गुणस्थान
अशु.	अशुभ लेश्या आदि
असं.	असंज्ञी, असंयम
आ.	आहारक, आहारसंज्ञा
उ.	उत्कृष्ट, उभय
एके.	एकेन्द्रिय
औ.	औदारिक काययोग, औपशमिक सम्य.
का.	कापोत लेश्या, कार्मण
केवल.	केवलज्ञान, केवलदर्शन
क्षयो.	क्षयोपशमिक सम्य.
क्षा.	क्षायिक सम्यग्दर्शन
ज्ञा.	ज्ञान
च.	चतुर्गतिनिगोद
छे.	छेदोपस्थापना चारित्र
ति.	तिर्यंचगति
ते.	तेजोलेश्या (पीत.)
त्र.	त्रसकाय
दे.	देवगति
देश. सं.	देशसंयम
न.	नरकगति
नि.	नित्यनिगोद
पं.	पंचेन्द्रिय
परि.	परिग्रह, परिहार वि.
प.	पर्याप्ति, पर्याप्त
पृ.	पृथिवीकाय
प्र.	प्रतिष्ठित, प्रत्येक
व.	वनस्पतिकाय
भ.	भव्य
मन:	मन पर्यय, मनोयोग
मनु.	मनुष्यगति
मा.	मानकषाय
मि.	मिथ्यात्व
मै.	मैथुनसंज्ञा
यथा.	यथाख्यात
लो.	लोभकषाय
व.	वचनयोग
वै.	वैक्रियकयोग
शु.	शुक्ललेश्या
श्रु.	श्रुतज्ञान
सं.	संज्ञी
सा.	साधारण वनस्पति
सा.	सामायिक, सासादन
सू.	सूक्ष्म, सूक्ष्मसाम्पराय

५. सत् विषयक ओघ प्ररूपणा

ध. २/१,१/४२१-४४८

सं.	गु० स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१ ओघ सामान्य—(ध. २/१,१/४२१-४२३)																							
१		पर्याप्त	१४	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०/६; ८/७; ६/४	४	४	५	६	११ तीनों मिश्र व कार्मण बिना	३ व अपगत	४व अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ सं., असं.	२ आहा., अना.	२ साकार अनाकार
२		अपर्याप्त	५ (१,२, ४,६, १३)	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७/७; ६/५; ४/३	४ क्षीणसंज्ञा	४	५	६	४ तीनों मिश्र व कार्मण	३व अपगत	४व अकषाय	६ मन, विभंग बिना	४ सामा. छे., यथा., असंयम	४	२ का., शु	६	२ भव्य, अभव्य	५ सम्यग्मिथ्या रहित	२ सं. असं. अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार अनाकार युगपत्, उभय
२ मिथ्यादृष्टि—(ध. २/१,१/४२४-४२५)																							
१	१	सामान्य	१ मिथ्या.	१४ प. अप.	६,५,४ प. ६,५,४ अप.	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/3	४	४	५	६	१३ आहा. द्वि. बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	६	६	२ भ., अभ.	१ मिथ्या.	२ सं., असं.	२ आहा., अना.	२ साकार अनाकार
२	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४	४	४	५	६	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	२ सं., असं.	१ आहा.	२ साकार अनाकार
३	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या.	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५ ४,३	४	४	५	६	३ औ. मि. वै. मिश्र, कार्म.	३	४	२ कुमति व कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	२ का., शु.	६	२ भव्य, अभ.	१ मिथ्या.	२ सं., असं.	२ आहा., अना.	२ साकार अनाकार
३ सासादन सम्यग्दृष्टि—(ध. २/१,१/४२६-४२७)																							
१	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं. अप	६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०,७	४	४	१ पंचें	१ त्रस	१३ औ. द्वि. बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अनाकार
२	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पंचें	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अनाकार
३	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप ७ अप द्वि० जन्म	६ अपर्याप्ति	७ पंचे. अप. के	४	३ नरक बिना	१ पंचें	१ त्रस	३ औ. मि. वै. मिश्र. कार्म.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	२ का. शु.	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४. सम्यग्मिथ्यादृष्टि—(ध. २/१,१/४२८)																							
१	३	सा.व प. (अप. नहीं है)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन.४, वच.४ औ.१ व वै.१	३	४	३ तीनों ज्ञान व अज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
५. असंयत सम्यग्दृष्टि—(ध.२/१,१/४२९-४३१)																							
१	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प., सं. अप.	६ पर्याप्ति, ६ अपर्याप्ति	१० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ.द्वि. के बिना	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु व अवधि	६	६	१ भव्य	३ औप., क्षा., क्षयो	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१० पर्याप्तिके	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच४, औ. १, वै. १	३	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७ अप. के	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै मिश्र व कार्मण	१ पु. नपुं.	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का शु	६	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
६. संयतासंयत—																							
१	५	सा. पर्या.	१ ५ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ मनु. ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ संयमासंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
७. प्रमत्त संयत—(ध. २/१,१/४३२)																							
१	६	सा. पर्या.	१ छठाँ	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० प. के ७ अप. के	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच४ औ. १, आहा. २	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मन:	३ सामा., छे., परि.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणाविशेष			१० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
८. अप्रमत्त संयत—(ध. २/१,१/४३४)																							
१	७	सा. प.	१ ७वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन.४, वच.४ औ. १	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मनः	३ सा., छे. परि.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शु.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९. अपूर्वकरण—(ध. २/१,१/४३५)																							
१	८	पर्याप्त	१ ८वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन.४, वच.४ औ. १	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मन.	२ सामा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१०. अनिवृत्तिकरण—(ध. २/१,१/४३६-४३८)																							
१	६	पर्याप्त—प्र. भाग	१ ९वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	२ मै., परि	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच.४ औ. १	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मनः	२ सामा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२	६	द्वि. भाग	१ ९वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	१ परि	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन.४, वच ४ औ. १	० अपगत	४	४ मति, श्रुत, अव., मनः	२ सामा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	६	तृ. भाग	१ ९वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	१ परि	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन.४, वच.४ औ. १	० अपगत	३ क्रो. रहित	४ मति, श्रुत, अव., मनः	२ सामा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
४	६	चतुर्थ भाग	१ ९वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	१ परि	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन.४, वच.४ औ. १	० अपगत	२ मा. लो.	४ मति, श्रुत, अव., मनः	२ सामा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
५	६	पंचम भाग	१ ९वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	१ परि	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन.४, वच.४ औ. १	० अपगत	१ लो.	४ मति, श्रुत, अव., मनः	२ सामा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
११. सूक्ष्म साम्पराय—(ध. २/१,१/४३६)																							
१	१०	पर्याप्त	१ १० वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	१ सू. परि.	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस.	९ मन४, वच.४ औ. १	० अपगत	१ सूक्ष्म लोभ	४ मति, श्रुत, अव, मनः	१ सूक्ष्म सांप.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ, क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१२. उपशान्त कषाय—(ध. २/१,१/४४०)																							
१	११	पर्याप्त	१ ११वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	० उपशान्त संज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच४ औ. १	० अपगत	० अकषाय	४ मति, श्रुत, अव, मन	१ यथा.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३. क्षीण कषाय—(ध. २/१,१/४४०)																							
१	१२	पर्याप्त	१ १२वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	१ क्षीण संज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच४ औ. १	० अपगत	० अकषाय	४ मति, श्रुत अव., मनः	१ यथा.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१४. सयोग केवली—(ध. २/१,१/४४५)																							
१	१३	पर्याप्त	१ १३वाँ	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	४/२ (४/३,२,१ दे. केवली/ ५/१०)	० क्षीण संज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	७ मन २, वच२ औ. २, का.१	० अपगत	० अकषाय	१ केवलज्ञान	१ यथा.	१ केवलदर्शन	६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार, अना. युगपत
१५. अयोग केवली—(ध. २/१,१/४४७)																							
१	१४	पर्याप्त	१ १४वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१ आयु	० क्षीण संज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	० अयोग	० अपगत	० अकषाय	१ केवल ज्ञान	१ यथा.	१ केवलदर्शन	६	० अलेश्या	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ अना.	२ साकार, अना. युगपत

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१६. सिद्ध—(ष. खं. ७/२,१/सू./पृ.); (ध. २/१,१/४४८)																							
१			० अपगत	० अपगत	० अपगत	० अपगत	क्षीण संज्ञा	० सिद्ध	० अनि.	० अपगत	० अयोग	० अपगत	० अकषाय	१ केवल ज्ञान	० अनु. (२७/२१)	१ केवल दर्शन	० अलेश्या	०	० अनुभय (३४/२२)	१ क्षा.	० अनु. ३८-३९/२३	१ अना.	२ साकार, अना. युगपत्

६. सत् विषयक आदेश प्ररूपणा

(ध. २/१,१/४४९-८५५)

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१. गति मार्गणा—(ध. २/१,१/४४९-५६८)																							
१. नरक गति—																							
१. नरकगति सामान्य—(ध. २/१,१/४४९-४५६)																							
१		सामान्य	४ (१-४)	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्याप्तके ७ अपर्याप्तके	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच४ वै. २, का. १	१ नपुं.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ कृ., का., शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	४ (१-४)	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन, वचन, वै. ४ ४ १	१ नपुं.	४	६ ३ ज्ञान, ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	१ कृ.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	२ (१,४)	१ सं. अ.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ नपुं.	४	५ ३ज्ञा., कुमति कुश्रुत	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	३ मि., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
सं.	गुण० स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्याप्तके ७ अपर्याप्तके	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, वै.२, का.१	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	३ कृ., का., शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, वै. १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	१ कृ.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुम., कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, वै. १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	१ कृ.	३ अशुभ	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
८	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, वै. १	१ नपुं.	४	३ ज्ञान, अज्ञा. मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	१ कृ.	३ अशुभ	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
९	४	सामान्य	१ ४ था.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्याप्तके ७ अपर्याप्तके	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, वै. २, का.१	१ नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	३ कृ., का., शु.	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१०	४	पर्याप्त	१ ४ था.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वचन४, वै.१	१ नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ कृ.	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
११	४	अपर्याप्त	१ ४ था.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै मि., का.	१ नपुं.	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का., शु.	३ शुभ	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

२. प्रथम पृथिवी—(ध. २/१,१/४५७-४६४)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	४ १-४	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या०के ७ अपर्या०के	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वचन४, वै.२, का. १	१ नपुं.	४	६ ३ ज्ञान, ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	३ कृ., का., शु.	१ का.	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	४ १-४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, वै. १	१ नपुं.	४	६ ३ ज्ञान, ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ कृ.	१ का.	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	२ १,४	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ नपुं.	४	५ ३ ज्ञान, कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का., शु.	१ का.	२ भव्य अभव्य	३ क्षा, क्षयो. मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	२ सं. प सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या. के ७ अप. के	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, वै. २, का.१	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	३ कृ., का., शु.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ वै.१	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का., शु.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य (पर्या. ही)	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ वै. १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ.	१ का.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
८	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४ वै. १	१ नपुं.	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ.	१ का.	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या. के ७ अपर्या. के	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ वै.२, का.१	१ नपुं.	४	३ ज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ कृ., का., शु.	१ का.	१ भव्य	३ क्षा., क्षयो., औ.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१०	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ वै. १	१ नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	१ कृ.	१ का.	१ भव्य	३ क्षा., क्षयो., औ.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
११	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै.मि., का.	१ नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का., शु.	१ का.	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.,	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३. द्वितीय पृथिवी—(ध. २/१,१/४६५-४७०)																							
१		सामान्य	४ १-४	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या. के ७ अपर्या. के	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच ४ वै. २, का १	१ नपुं.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ कृ., का., शु.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	५ क्षा. के बिना	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	४ १-४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४ वै. १	१ नपुं.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	१ कृ	१ का.	२ भव्य, अभव्य	५ क्षा. के बिना	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का., शु.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या. के ७ अपर्या. के	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच४ वै. २, का. १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	३ कृ., का., शु.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, वै. १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	२ वै मि., का	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का., शु.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७	२	सामान्य (पर्या. ही)	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच४, वै. १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ.	१ का.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
८	३	सामान्य (पर्या. ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच ४ वै. १	१ नपुं.	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ कृ.	१ का.	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	४	सामान्य (पर्या. ही)	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ न.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४ वै. १	१ नपुं.	४	३ ज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ कृ.	१ का.	१ भव्य	२ औ., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
४. तृतीय से सप्तम पृथिवी – (ध. २/१.१/४७०)																							
१		तृतीय पृथिवी			—	—					सर्वत्र द्वितीय पृथिवी वत			—		—	१ कृ.	२ का., नी.		—	द्वितीय पृ. वत		—
२		चतुर्थ ,,			—	—					,,			—		—	,,	नी.		—		,,	—
३		पंचम ,,			—	—					,,			—		—	,,	नी., कृ.		—		,,	—
४		षष्ठ ,,			—	—					,,			—		—	,,	कृ.		—		,,	—
५		सप्तम ,,			—	—					,,			—		—	,,	कृ.		—		,,	—
२. तिर्यंच गति																							
१. तिर्यंच सामान्य – (ध. २/१.१/४७२-४८३)																							
१		सामान्य	५ १-५	१४	६ प./६ अप. ५ प./५ अप. ४ प./४ अप.	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३;	४	१ ति.	५	६	११ मन४, वच४ औ.२, का. १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२	×	पर्याप्त	५ १–५	७ पर्या.	६, ५, ४ पर्याप्ति	१०, ९, ८, ७, ६, ४	४	१ ति.	५	६	९ मन.४, वच.४ औ. १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३	×	अपर्याप्त	३ १,२,४	७ अप.	६, ५, ४ अपर्याप्ति	७/७, ६/५; ४/३	४	१ ति.	५	६	२ औ. मि., का.	३	४	५ कुमति, कुश्रुत मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ शु., का.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	४ मि., सा., क्षा., क्षयो.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	१४	६ प., ६ अप. ५ प., ५ अप ४ प., ४ अप.	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३;	४	१ ति.	५	६	११ मन ४, वच ४ औ. २, का. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी.	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	७ पर्या.	६, ५, ४ पर्याप्ति	१०, ९, ८, ७, ६, ४	४	१ ति.	५	६	९ मन.४, वच.४ औ. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या.	७ अप.	६, ५, ४ अपर्याप्ति	७/७; ६/५; ४/३	४	१ ति.	५	६	२ औ. मि., का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ शु., का.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या. के ७ अप. के	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन.४, वच.४ औ.२, का. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन.४, वच.४ औ. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप. (७ अप.) (दे. जन्म)	६ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.
१०	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच४ औ. १.	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० पर्या. के ७ अप. के	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच. ४. औ. २, का. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच. ४ औ. १	३	४	३ मति., श्रुत., अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि. का. १	१ पु.	४	३ मति., श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	१ का.	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१४	५	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ५ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन. ४, वच. ४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ संयमासंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	२ औ. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

२. पंचेन्द्रिय तिर्यंच—(ध. २/१,१/४८३-४९२)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	५ १-५	४ सं. प., सं. अप. असं. प., असं. अप.	६/५ ६ प., अप. ५ प., अप.	१०/७, ९/७ १०/७ ९/७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच४ औ. २, का. १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देश. सं.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी, असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	५ १-५	२ सं. प. असं. प	६/५ ६ पर्याप्ति ५ पर्याप्ति	१०/९ १० ९	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच४ औ. १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देश. सं.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	२ सं. अप. असं. अ.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	३	४	५ कुमति,कुश्रुत ३ ज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	३ कृ.	२ भव्य, अभव्य	४ मि., सा., क्षा. क्षयो.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	४ सं. प. सं. अप असं. प. असं. अ.	६/५ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७,९/७ १० ७ ९ ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ. २, का.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	२ सं. प. असं. प.	६/५ ६ ५	१०/९ १० ९	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.,	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१	२ सं. अप. असं. अ.	६/५	७/७ ७ ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ कृ.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	२ संज्ञी, असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार. अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.२, का.१	३	४	३. अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ., मि., का.	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ शुभ	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१०	३	सामान्य (पर्या. ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, औ. १	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र.	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, औ.२, का.१	३	४	३ मति., श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	३	४	३ मति., श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ., मि., का.	१ पु.	४	३ मति., श्रुत., अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	१ का.	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा दिवस			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
मं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१४	५	सामान्य (पर्या. ही)	१ ५ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच४, औ. १	३	४	३ मति., श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	२ औ., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

३. पचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमति—(ध. २/१,१/४९३-५००)

मं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	५ १-५	४ सं. प. सं. अप. असं. प. असं. अप.	६/५ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७; ९/७ १० ७ ९ ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच४, औ. २, का. १	१ स्त्री	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देशसं.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	५ क्षा. बिना	२ संज्ञी, असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	५ १-५	२ सं. प. असं. प	६/५ ६ पर्याप्ति ५ पर्याप्ति	१०/९ १० ९	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन.४, वच.४, औ. १	१ स्त्री	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देश सं	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	५ क्षा. बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	२ मिथ्या सासा.	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ., मि. का.	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ [illegible]	२ भव्य, अभव्य	२ मिथ्या, सासा.	२ संज्ञी, असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	४ सं. प सं. अप असं. प. असं. अप.	६/५ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७, ९/७ १० ७ ९ ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच४, औ. २, का. १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी, असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																			
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं. प. असं. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ पर्याप्ति	१०/९ १० ९	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी, असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.२, का.१	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१०	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ ज्ञानाज्ञान. मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ ज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	१ भव्य	२ औ. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
म.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य.	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१२	५	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ५ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच ४ औ. १	१ स्त्री	४	३ ज्ञान	१ देश. सं.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि.	६	३ शुभ	१ भव्य	२ औ., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
४. लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच—(ध. २/१,१/५०१)																							
१		सामान्य (अपर्याप्त ही)	१ मिथ्या	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति. कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
३. मनुष्य गति—																							
१. मनुष्य सामान्य—(ध. २/१.१/५०२-५१२)																							
१		सामान्य	१४	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१३ मन४, वच.४ औ.२, आ.२, का. १	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना., युगपत्
२		पर्याप्त	१४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, आ.१	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना., युगपत्
३		अपर्याप्त	१,२,४ ६,१३	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., आहा. मि., का.	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभंग व मनः बिना	४ असंयम सा., छे., यथा	४	२ का. शु.	६	२ भव्य अभव्य	५ मि., सा., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना., युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, औ २, का.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ.मि., का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ. २, का.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.,	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, औ. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ.मि., का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना
१०	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच४. औ. १	३	४	३ ज्ञानाज्ञान-मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४. औ.२, का.१	३	४	३ मति. श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु. अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ.१	३	४	३ मति. श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ पु.	४	३ मति. श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का., शु.	६	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१४	५	सामान्य (पर्या. ही)	१ ५ वाँ.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच४, औ. १	३	४	३ मति. श्रुत, अवधि	१ देश. सं.	३ चक्षु. अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना
१५	६-१४	सामान्य (पर्याप्त अप.)	—	—	—	—	—	—	—	→	ओघवत्	←	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—

२. मनुष्य पर्याप्त—(ध. २/१,१/११२)

सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	१-१४	सामान्य पर्याप्त व अपर्याप्त	—	—	—	—	—	—	—	→	ओघवत्	२ पुं., नपुं.	←	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य०	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३. मनुष्यणी—(ध. २/१,१/५१३-५३०)																							
१		सामान्य	१४	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, औ.२, का.१	१ स्त्री अपगत	४ अकषाय	७ मनः बिना	६ परि. बिना	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	१४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, औ. १	१ स्त्री अपगत	४ अकषाय	७ मनः बिना	६ परि. बिना	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना. युगपत
३		अपर्याप्त	३ १,२,१३	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ स्त्री अपगत	४ अकषाय	३ कुमति,कुश्रुत केवल	२ असंयम यथा.	३ चक्षु, अचक्षु केवल	२ का. शु.	३/१ अशु. शु.१	२ भव्य, अभव्य	३ मि., सा. क्षा.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	२ सं. प. सं.अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच ४ औ.२, का.१	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच ४, औ. १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																			
नं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ स्त्री	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भ. अभ.	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं.प. सं.अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, औ. २, का. १	१ स्त्री	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच. ४, औ. १	१ स्त्री	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ स्त्री	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१०	३	सामान्य (पर्या. ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच. ४ औ. १	१ स्त्री	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य (पर्या. ही)	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच. ४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति., श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१२	५	सामान्य (पर्या. ही)	१ ५ वाँ.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच. ४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति., श्रुत. अवधि	१ देश. सं.	३ चक्षु,अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१३	६	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ६ठा.	१ सं.प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४,वच.४, औ.१	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु,अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१४	७	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ७वाँ.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. बिना	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, औ.१	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु,अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१५	८	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ८वाँ.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. बिना	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, औ.१	१ स्त्री	४	३ मति,श्रुत अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु,अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.,	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१६	९/i	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ९वाँ.	१ सं.प.	६ पर्याप्ति	१०	२ मै. परि.	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, औ.१	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु,अचक्षु, अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१७	९/ii	"	"	"	"	"	परि.	"	"	"	"	अपगत०	४	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"
१८	९/iii	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	३ क्रो	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"
१९	९/iv	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	२ मान लो.	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"
२०	९/v	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	१ लो.	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२१	१०	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ १०वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	१ सू. परि.	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४,वच.४, औ. १	० अपगत	१ सू. लो.	३ मति, श्रुत, अवधि	१ सू. सा.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२२	११	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ११वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	० असं.	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४,वच.४, औ. १	० अपगत	० अकषाय	३ मति, श्रुत, अवधि	१ यथा.	३ चक्षु,अचक्षु. अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२३	१२	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ १२वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	० असं.	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन४,वच.४, औ. १	० अपगत	० अकषाय	३ मति, श्रुत., अवधि	१ यथा	३ चक्षु. अचक्षु अवधि	६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२४	१३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ १३वाँ	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६पर्याप्ति ६अपर्याप्ति	४/२ ४ २	० असं.	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	७ मन२, वच.२ औ.२,का. १	० अपगत	० अकषाय	१ केवलज्ञान	१ यथा.	१ केवलदर्शन	६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	२ आहा, अना,	२ साकार, अना, युगपत्
२५	१४	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ अयो.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१ आयु.	० असं.	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	० अयोग	० अपगत	० अकषाय	१ केवल	१ यथा.	१ केवलदर्शन	६	० अलेश्य	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अना. युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य—(ध. २/१,१/५३१)																						
१		अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार, अना.
५	आर्य म्लेच्छ खण्डके मनुष्य—(ति. प./४/२९३४-२९४३)																						
१	ओघ	सामान्य	१४	२ सं. प. सं. अप. ल. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१३ वै. द्वि. बिना	३ ओघवत्	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना. युगपत्.
२	,,	भरतै-रावतके १० क्षेत्र	१४	२ सं. प. स. अप. ल. अप	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ,,	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१३ वै. द्वि. बिना	३ अवेद	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना. युगपत्
३	,,	विदेहके १६० क्षेत्र	१४	२ सं प. सं. अप. ल. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ,,	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१३ वै. द्वि. बिना	३ अवेद	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना. युगपत्.
४	,,	विद्याधर (विद्या सहित)	५ १-५	२ सं. प. सं. अप. ल. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ,,	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच४ औ. २, का. १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	२ असंयम देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना. युगपत्
५	,,	विद्याधर (विद्या छोड़ देनेपर)	१४	२ सं प सं. अप. ल. अप.	६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ,,	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१३ वै. द्वि. बिना	३ अवेद	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना. युगपत्.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
६	[illegible]	कर्म-भूमिज	१ मिथ्या.	३ सं.प. सं.अप. ल.अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति „	१०/७ १० ७ ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४,वच४ औ.२, का.१	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	„	अन्त-र्द्वीपज	४ १–४	२ सं.प. सं.अ.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४,वच४ औ.२. का १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
८	[illegible]	भोग भूमिज	४ १–४	२ सं.प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४,वच.४, औ.२.का.१	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

४. देवगति—

१. देव सामान्य —(ध.२/१,१/५३१-५४३)

सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	१-४	सामान्य	४ १–४	२ सं.प. सं.अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन४,वच ४, वै.२,का १	२ स्त्री पु.	४	६ ३ अज्ञान ३ ज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
२	१-४	पर्याप्त	४ १–४	१ सं.प.	६ पर्याप्ति	१० १०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन४,वच.४. वै. १	२ स्त्री पु.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा.	२ साकार. अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गु० स्था०	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३	१,२,४	अपर्याप्त	३ १,२,४	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री पु.	४	५ मति. श्रुत, अव. कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४ वै. २, का. १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच ४, वै १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ शुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या.	१ सं. अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, वै. २, का. १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच. ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ शुभ	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि.,का.	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	२ का. शु.	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१०	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	६	३ शुभ	१ भव्य.	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, वै. २ का.१	२ स्त्री पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु. अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु. अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य.	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि.,का.	१ पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु. अवधि	२ का. शु.	२ शुभ	१ भव्य.	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

२. भवनत्रिकदेव—(ति.प./२/५४३–५५०); (ध. २/१,१/१८३–१९३)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	१-४	सामान्य	४ १-४	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, वै. २, का.१	२ स्त्री पु.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु. अवधि	६	४ अशुभ तेज	२ भव्य अभव्य	५ क्षा. बिना	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अनाकार

मार्गणाविशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	४ १–४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ तेज	२ भव्य, अभव्य	५ क्षा. बिना	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	२ १–२	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु	२ भव्य, अभव्य	२ मिथ्या. सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, वै. २, का. १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	४ अशु तेज	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच. ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ तेज	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, वै. २, का. १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	४ अशु तेज	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच. ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ तेज	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
मं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ कृ.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
१०	३	सामान्य (पर्या. ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र.	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ तेज	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य (पर्या. ही)	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ तेज	१ भव्य	२ औ., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३. सौधर्म ऐशान देव – (ध. २/१,१/५५१-५६०)																							
१		सामान्य	४ १-४	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच ४, वै. २, का. १	२ स्त्री पु.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ का. शु. ते.	१ तेज	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	४ १-४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	१ तेज	१ तेज	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का	२ स्त्री पु.	४	५ ३ ज्ञान, कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का. शु.	१ तेज	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गु. स्था.	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, वै.२, का १	२ स्त्री. पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	३ [illegible]	१ ते	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, वै. १	२ स्त्री. पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	१ ते.	१ ते.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री. पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का. शु.	१ ते.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४, वै.२, का. १	२ स्त्री. पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	३ का. शु. ते	१ ते.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, वै. १	२ स्त्री. पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	१ ते.	१ ते.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा., अना.	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा.	२ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	२ स्त्री. पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का. शु.	१ ते.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१०	३	सामान्य (पर्या. ही)	१ मिश्र.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ ते.	१ ते.	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच ४, वै. २, का. १	२ स्त्री पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ का. शु. ते	१ ते.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४, वै. १	२ स्त्री पु.	४	३ मति, श्रुत, अव.	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	१ ते.	१ ते.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का. शु.	१ ते.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

४. सनत्कुमार माहेन्द्र देव—(ध. २/१.१/५६१-५६३)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	४ १-४	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच ४, वै. २ का. १	१ पु.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	३ का. शु. ते.	२ ते.उ प.ज	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	४ १-४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४, वै. १	१ पु.	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ ते. प.	२ ते.उ प.ज	२ भव्य, अभव्य		१ संज्ञी	२ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ पु.	४	५ ३ ज्ञान कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का. शु.	२ ते. पद्म	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५. ब्रह्मसे महाशुक्र तकके देव—(ध. २/१.१/५६३)																							
१		सामान्य	—	—	—	—		—	—	→	सनत्कुमार माहेन्द्रवत्			←	—	—	३ का. शु. म. पद्म	१ मध्य. प.	→	सनत्कुमार माहेन्द्रवत्		←	—
२		पर्याप्त	—	—	—	—		—	—	→	„	„		←	—	—	१ पद्म	१ पद्म	→	„	„	←	—
३		अपर्याप्त	—	—	—	—		—	—	→	„	„		←	—	—	२ का. शु.	१ म. पद्म	→	„	„	←	—

६. शतार सहस्रार—(ध. २/१.१/५६४)

१		सा., प. अ. अप.	सर्वत्र सनत्कुमारवत् / केवल लेश्यामें विशेष है (द्रव्य लेश्या—सामान्य में कापोत, शुक्ल तथा मध्यम पद्म ये तीन। पर्याप्त में मध्यम पद्म। अपर्याप्त में कापोत तथा शुक्ल ये दो। भावलेश्या—सामान्य पर्याप्त तथा अपर्याप्त तीनों में केवल १ मध्यम पद्म।)

७. आनतसे अच्युत—(ध. २/१.१/५६४)

१	४	सा. प. अ. अप.	सर्वत्र सनत्कुमारवत् / लेश्यामें विशेष है। (द्रव्य लेश्या—सामान्य में कापोत शुक्ल तथा मध्यम शुक्ल ये तीन। पर्याप्त में मध्यम शुक्ल। अपर्याप्त में कापोत तथा शुक्ल ये दो। भाव लेश्या—सामान्य पर्याप्त तथा अपर्याप्त तीनों में उत्कृष्ट पद्म और जघन्य शुक्ल ये दो।)

८. नव अनुदिश व पंच अनुत्तर—

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच ४, वै.२ का. १	१ पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	३ का. शु. उ.शु	१ उ. शु.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, वै. १	१ पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ उ. शु.	१ उ. शु.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष: सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	२० प्ररूपणाएँ: गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		अपर्याप्त	१ अवि	१ सं.अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	२ का. शु.	१ उ. शु.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षायो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
९. देव पुरुष वेदी—(ध. २/१,१/५६०)																							
सर्व विकल्प					→ देवोंके सर्व आलापोंवत् ←						—	१ पु.		—	→	देवोंके सर्व आलापों वत् ←					—	—	
१०. देवियाँ—(ध. २/१,१/५५०,५६०)																							
१		सा. पर्याप्त	—	—	→ सौधर्म या भवनत्रिकवत् ←						—	१ स्त्री.		—	→	सौधर्म या भवनत्रिक वत्				५ ← क्षा. बिना	—	—	—
२		अपर्याप्त	—	—	→	,,	,,		←		—	१ स्त्री.		—	→	,,		,,		२ मिथ्या. सासा.	←	—	—
२. इन्द्रिय मार्गणा—																							
१. एकेन्द्रिय																							
१. एकेन्द्रिय सामान्य—(ध. २/१,१/५६६-५७१)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या (सासा.) (दे. जन्म/४)	४ बा. प. बा. अप. सू. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस बिना	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या. (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	१ मिथ्या.	२ बा.प. सू.प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस बिना	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त नि.अप.	१ मिथ्या. (सासा.) (दे. जन्म/४)	२ बा. अप. सू. अप	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस बिना	२ औ.मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२. बादर एकेन्द्रिय—																							
१		सामान्य	१ मिथ्या, (सासा.) (दे. जन्म/४)	२ बा. प. बा. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस बिना	३ औ.२, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या.	१ बा. प	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस रहित	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त नि.अप.	१ मिथ्या, (सासा.) (दे. जन्म/४)	१ बा. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस रहित	२ औ.मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
३. सूक्ष्म एकेन्द्रिय—(ध. २/१,१/ ५७३-५७४)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या, (सासा.) (दे. जन्म/४	२ सू. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस रहित	३ औ २, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस रहित	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके.	५ त्रस रहित	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२. द्वीन्द्रिय—(ष. २/१,१/५७६-५७७)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	२ द्वी. प. द्वी. अप.	५/५ ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	६/४ ६ ४	४	१ ति.	१ द्वी.	१ त्रस	४ औ. २, का. १ अनुभय वच.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ द्वी. प.	५ पर्याप्ति	६	४	१ ति.	१ द्वी.	१ त्रस	२ औ. १व अनुभय वच.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ द्वी. अप.	५ अपर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ द्वी.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
३. त्रीन्द्रिय—(ष. २/१,१/५७८-५९१)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	२ त्री. प. त्री. अप.	५/५ ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/५ ७ ५	४	१ ति.	१ त्री.	१ त्रस	४ औ. २, का. १ अनुभय वच.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष: सं.	[illegible]	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ त्री. प.	५ पर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ त्री.	१ त्रस	२ औ. वच.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ त्री. अप.	५ अपर्याप्ति	५	४	१ ति.	१ त्री.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या. (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अनाकार

४. चतुरिन्द्रिय—(ष. २/१,१/५८०-५८१)

सं.	[illegible]	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	२ चतु. प. चतु. अ.	५/५ ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	८/६ ८ ६	४	१ ति.	१ चतु.	१ त्रस	४ औ. २, का. १ अनुभय वच.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या. (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अनाकार
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ चतु. प.	५ पर्याप्ति	८	४	१ ति.	१ चतु.	१ त्रस	२ औ. अनुभय वच.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ चतु.- अप.	५ अपर्याप्ति	६	४	१ ति.	१ चतु.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५. पंचेन्द्रिय—																							
१. पंचेन्द्रिय सामान्य—(ध.२/१,१/५८२-५८७)																							
१		सामान्य	१४ १-१४	४ सं. प. सं. अप. असं. प. असं. अप.	६/६; ५/५ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७; ९/७ १० ७ ९ ७	४ क्षीणसंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	१५ अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१-१४	२ सं. प. असं. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/९ १० ९	४ क्षीणसंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १ आ. १, अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अना, युगपत्
३		अपर्याप्त	५ १,२,४, ६,१३	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४ क्षीणसंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि., आ. मि., का.	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभंग, मनः बिना	४ सा., छे., यथा., असंयम	४	२ का. शु.	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	४ सं. प. सं. अप. असं. प. असं. अप.	६/५ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७; ९/७ १० ७ ९ ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्था०	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	१	पर्याप्ति	१ मिथ्या	२ सं. प. असं. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ पर्याप्ति	१०/९ १० ९	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४, औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्ति	१ मिथ्या	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ वै. मि., औ. मि. का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
७	२-१४	—	—	—	—	—	—	—	—	—	→ मूलओघवत् ←			—	—	—	—	—	—	—	—	—	—

२. संज्ञि पंचेन्द्रिय—(ध. २/१,१/५८७)

सं.	गुण स्था०	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	→ मूल ओघवत् ←			—	—	—	—	—	—	—	—	—	—

३. असंज्ञि पंचेन्द्रिय—(ध. २/१,१/५८७-५८८)

सं.	गुण स्था०	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ असं. प. असं. अप.	५/५ ५ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	९/७ ९ ७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	४ अनुभयवच. औ. २, का. १	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्ति	१ मिथ्या	१ असं. प.	५ पर्याप्ति	९	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ अनुभय वच. औ. १	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा.)	१ असं. अप.	५ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
४. पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त—(ध. २/१,१/५८६-५९०)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७ ७ ७	४	२ मनु. ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		संज्ञि अप.	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ मनु. ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
३		असंज्ञि अप.	१ मिथ्या	१ असं. अप.	५ अपर्याप्ति	७	४	१ ति.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
३. काय मार्गणा—																							
१. षट् काय सामान्य—(ध. २/१,१/६०१-६०३)																							
१		सामान्य	१४ १-१४	१९	६/६; ५/५ ४/४ ६,५,४ प. ६,५,४ अप.	१०/७; ९/७ ८/६; ७/५ ६/४; ४/३ ४/२; १	४ असंज्ञा	४	५	६	१५ अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार, अना. युगपत्
२		पर्याप्त	१४ १-१४	११	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९/८,७/६ ४/४; १	४ असंज्ञा	४	५	६	११ मन४, वच.४, औ. १, वै. १ आ. १	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्या	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ*																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३	४	अपर्याप्त	५ १,२,४, ६, १३	३८	६, ५, ४ अपर्याप्ति	७/७; ६/५ ४/३; २	४ क्षीणसंज्ञा	४	५	६	४ औ. मि. वै. मि. आ. मि. का.	३ अवेद	४ अकषाय	६ विभंग, मनः बिना	४ सा., छे. यथा असंयम	४	२ का. शु.	६ अलेश्या	२ भव्य अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

२. पृथिवी काय

१. सामान्य—(ष. २/१,१/६०४-६०७)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	४ बा. प. बा. अप. सू. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३ ४ ४	४	१ ति.	१ एकें.	१ पृ.	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. प. सू. प.	४ पर्याप्ति पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ पृ.	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	२ बा. अप. सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ पृ.	२ औ. मि, का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा) दे. जन्म/४	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य.	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२. बादर पृथ्वी काय—(ध. २/१.१/६०७-६०९)																							
१		सामान्य (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या सासा	२ बा. प. बा. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें	१ पृ.	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे., जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ बा. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें	१ पृ.	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त ल. अप. नि. अप. (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा.)	१ बा. अप.	४ पर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें	१ पृ.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
३. सूक्ष्म पृथ्वी काय - (ध.२/१.१/६०८-६०९)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ सू. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें	१ पृ.	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें	१ पृ.	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त (ल. अप.)	१ मिथ्या	१ सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें	१ पृ.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त		गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२ अप्कायिक																							
१ अप्कायिक सामान्य—(ध. २/१,१/६०६-६१०)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	४ बा. प. सू. प. बा. अप. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति " " ४ अपर्याप्ति " "	४/३ ४ ३ ४ ३	४	१ ति.	१ एके.	१ अप.	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. प. सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके.	१ अप.	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त नि अप.	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	२ बा. अप. सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके.	१ अप.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२. बादर अप्कायिक—(ध. २/१,१/६०६)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	२ बा. प. बा. अप.	४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एके.	१ अप.	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ बा. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके.	१ अप.	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त ल. अप. निवृ. अप.	१ मिथ्या (सासा.) (दे. जन्म/४)	१ बा. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या (सासा) (दे. जन्म/४)	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
३. सूक्ष्म अप्कायिक—																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ सू. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त ल. अप.	१ मिथ्या	१ सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ अप.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
३. तेज कायिक—																							
१. तेज कायिक सामान्य—(ध. २/१,१/६१०)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	४ बा. प. सू. प. बा. प. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ,, ,, ४ अपर्याप्ति ,, ,,	४/३ ४ ३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ तेज.	३ औ. २, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु. ते.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. प. सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ तेज	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ तेज	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य॰	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. अप. सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ तेज	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२. बादर तेजस् कायिक—(ध. २/१.१/६११)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ बा. प. बा. अप.	४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ तेज	३ औ. २, का. १	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	३ का. शु. ते.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ बा. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ तेज	१ औद.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ तेज	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त (ल.अप.)	१ मिथ्या	१ बा. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ तेज	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
३. सूक्ष्म तेजस्कायिक—(ध. २/१.१/६११)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ सू. प. सू. अप.	४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ तेज	३ औ. २, का. १	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ तेज	१ औ.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त ल. अप.	१ मिथ्या	१ सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ तेज	२ औ. मि., का.	१ नपुं	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गु. स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४. वायुकायिक—																							
१. वायु कायिक सामान्य—																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	४ बा. प. सू. प. बा. अप. सू. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति " " ४ अपर्याप्ति " "	४/३ ४ " ३ "	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	३ औ.२, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	४ का. शु. गो मूत्र मूंगा	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. प. सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	१ औद.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	३ का. गो मूत्र मूंगा	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ बा. अप. सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२. बादर वायु कायिक—																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ बा. प. बा. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	३ औ.२, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	४ का. शु. गो मूत्र मूंगा	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ बा. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	१ औद.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ गो मूत्र मूंगा	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त (ल.अप.)	१ मिथ्या	१ बा. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
३. सूक्ष्म वायुकायिक—(ध. २/१.१/६११)																							
१		सामान्य	१ मिथ्या	२ सू. प. सू. अप	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	३ औ.२, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सू. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त (ल.अप.)	१ मिथ्या	१ सू. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वायु.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
५. वनस्पति काय—																							
१. वनस्पति सामान्य—(ध. २/१.१/६१२-६१४)							संकेत — साधा. = साधारण ; प्रत्ये. = प्रत्येक ; प्रति. = प्रतिष्ठित ; अप्रति. = अप्रतिष्ठित																
१		सामान्य (दे. जन्म /४)	१ मिथ्या (सासा.)	१२ साधा.८ प्रत्ये.४	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	३ औ.२, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या (सासा.) (दे. जन्म /४)	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																			
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	६ साधा.४ प्रत्ये.२	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	१ औ.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त नि. अप. (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा.)	६ साधा.४ प्रत्ये.२	४/४ ४ पर्याप्ति ४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	२ औ.मि.,का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२. प्रत्येक वनस्पति प्रति. अप्रति.—(ध. २/१,१/६१४–६१६) संकेत— प्र. = प्रतिष्ठित प्रत्येक; अप्र. = अप्रतिष्ठित प्रत्येक।																							
१		सामान्य (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा.)	४ प्र. प. अप्र. प. प्र. अप. अप्र. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ,, ,, ४ अपर्याप्ति ,, ,,	४/३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	३ औ.२, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	२ प्र. प. अप्र. प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	१ औद.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त नि. अप. (दे. जन्म/४)	१ मिथ्या (सासा.)	२ प्र. अप. अप्र. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	२ औद. मि. १, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
३ साधारण वनस्पति सामान्य —(ध. २/१,१/६१७–६२१) संकेत— नि. = नित्यनिगोद; च. = चतुर्गतिनिगोद।																							
१		सामान्य बा. सू.	१ मिथ्या	८ ४ प. ४ अप.	४/४ ४ पर्या. ४ अप.	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	३ औ.२, का. १	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
क्र.	[illegible]	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त (बा.सू.)	१ मिथ्या	४	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके	१ वन.	१ औद.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त बा. सू.	१ मिथ्या	४	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके	१ वन.	२ औ. मि., का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
१		बा. सामान्य	१ मिथ्या	४ नि. प. च. प. नि. अप. च. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ,, ,, ४ अपर्याप्ति ,, ,,	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एके	१ वन.	३ औ.२, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		बा. पर्याप्त	१ मिथ्या	२ नि. प. नि. अप.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एके	१ वन.	१ औद.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	६	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		बा. अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ नि. अप. च. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एके	१ वन.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१		सू. सामान्य	१ मिथ्या	४ नि. प. च. प. नि. अप. च. अप.	४/४ ४ पर्याप्ति ,, ,, ४ अपर्याप्ति ,, ,,	४/३ ४ ३	४	१ ति.	१ एके	१ वन.	३ औ.२, का.१	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		सू. पर्याप्त	१ मिथ्या	२ नि.प. च.प.	४ पर्याप्ति	४	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	१ औद.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
३		सू. अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ नि.अप. च. अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
१		चतुर्गति व नित्य निगोद साधारण बा.सू.प. अप.	—	—	—	—	—	—	—	—	→ सर्वत्र बादर व सूक्ष्म साधारण वनस्पतिवत् ←						—	—	—	—	—	—	—
२		ल. अप.	१ मिथ्या	१ अप.	४ अपर्याप्ति	३	४	१ ति.	१ एकें.	१ वन.	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
६. त्रस कायिक—(ष. २/१,१/६२१-६२८)																							
१		सामान्य	१-१४	१० द्वी. त्री. चतु. असं, सं. प., अप.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७; ६/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/२; १	४ असंज्ञा	४	४ द्वी. त्री. चतु.पं.	१ त्रस	१५ अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी, असंज्ञी अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार युगपत्
२		पर्याप्त	१-१४	५ द्वी. त्री. चतु. प. अप. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४,१	४ असंज्ञा	४	४ द्वी. त्री. चतु. पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, औ.२, का.१ अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६ अलेश्य	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अनाकार युगपत्

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
	मार्गणा विशेष		२० प्ररूपणाएँ																				
३		अपर्याप्त	५ १,२,४ ६,१३	५ द्वी. त्रि. चतु. सं. असं. अप.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७,७,६,५, ४,२	४ क्षीणसंज्ञा	४	४ द्वी. त्री. चतु. पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि., आ. मि., का.	३ अपगतवेद	४ अकषाय	६ विभंग, मनः बिना	४ सा., छे. यथा., असंयम	४	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार युगपत्
४	द्वी., त्री., चतु., संज्ञि, असंज्ञिके सर्व आलाप — — — — → दे. पीछे इन्द्रिय मार्गणा सम्बन्धी सर्व आलाप ← — — — — — — — —																						
५	१	सामान्य	१ मिथ्या	१० द्वी. त्री. चतु. सं. असं प. अप.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०/७; ९/७, ८/६; ७/५ ६/४	४	४	४ द्वी. त्री चतु. पं	१ त्रस	१३ आहा. द्वि. बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
६	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	५ द्वी. त्री. चतु. सं. असं. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	१०,९,८,७, ६	४	४	४ द्वी. त्री. चतु. पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४, औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
७	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	५ द्वी. त्री चतु. सं. असं. अप.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७,७,६,५ ४	४	४	४ द्वी. त्री. चतु. पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., का.	३	४	३ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
८	२-१४	सामान्य	प. अप.	—	—	—	—	—	—	—	→ मूल ओघवत् ←				—	—	—	—	—	—	—	—	—
९	१	ल. अप.	१ मिथ्या	५ द्वी. त्री. चतु. सं. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ अपर्याप्ति	७/७, ६/५ ४	४	२	४ द्वी. त्री. चतु. पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
सं.	गुण स्था.	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७. अकायिक—(ध. २/१,१/६२७)																							
१		सामान्य	अतीत गुण	अतीत जीव. समास	अतीत पर्याप्ति	अतीत प्राण	क्षीण संज्ञा	अतीत गति	अतीत इन्द्रिय	अतीत काय	अयोग	अपगत वेद	अकषाय	केवल ज्ञान	अतीत संयम	केवल दर्शन	अलेश्य	अलेश्य	अतीत भव्या-भव्य	क्षा.	अतीत संज्ञी असंज्ञी	अना.	२ साकार, अनाकार युगपत्
४. योगमार्गणा—																							
१. मनोयोग—																							
१. मनोयोग सामान्य—(ध. २/१,१/६२८-६३४)																							
१		सामान्य (पर्याप्त ही)	१-१३	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४ क्षीणसंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	४ मनोयोग	३ अपगत वेद	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी, अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अनाकार युगपत्
२	१	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ मनो.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
३	२	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ मनो.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
४	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ मनो.	३	४	३ ज्ञानाज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु . अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	४	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ मनोयोग	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा.; क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	५	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ५ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति मनु.	१ पं.	१ त्रस	४ मनोयोग	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
७	६	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ प्रमत्त	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	४ मनोयोग	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मन;	३ सा., छे. परि.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
८	७-१२	सामान्य (पर्याप्त ही)	६ ७-१२	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	—	—	—	—	४ मनोयोग	—		यथा योग्य	मूल ओघ वत		—	—	—	—	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	१३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ सयोग	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	० क्षीणसंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ सत्य, अनुभय	० अपगत	० अकषाय	१ केवलज्ञान	१ यथा	१ केवलदर्शन	६	१ शुभ	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अना. युगपत्

१. मनोयोग विशेष—(ध. २/१,१/६३३-६३४)

सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सत्य-मनो पर्याप्त ही	१३	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४ क्षीणसंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	१ सत्यमन	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अनाकार युगपत्
२		”	१-१२	← — —	मूलोघवत	— — →					१ सत्यमन			← — —	मूलोघवत	— — →							

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		असत्य-मन (पर्याप्ति ही)	१२ १–१२	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४ [illegible]	४	१ पं.	१ त्रस	१ मृषामन	३ [illegible]	४ [illegible]	७ केवल बिना	७	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
४		”	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	१ मृषामनो	—	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—
५		उभय सामान्य विशेष	१२ १–१२	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	१ सत्यमृषा	—	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—
६		अनुभय सामान्य विशेष	१३ १–१३	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	१ असत्यमृषा	—	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—

२. वचन योग—(ध. २/१,१/६३१-६३६)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य (पर्याप्ति ही)	१३ १–१३	५ द्वी., त्री., चतु. सं., असं. प.	६/५	६,७,८,९,१०	४ [illegible]	४	४ एकें. बिना	१ त्रस	४ वचन	३ [illegible]	४ [illegible]	८	७	४	६	६ [illegible]	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी.	१ आहा.	२ साकार अना.
२	१	”	१ मिथ्या	५ द्वी., त्री., चतु. प., असं. प.	६/५	१०,९,८,७,६	४	४	४ एकें. बिना	१ त्रस	४ वचन	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३	१-१३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१२ २-१२	—	→ मनोयोगी वत्		←	—	—	—	४ वचन योग	—	—	→	मनोयोगी वत्		←	—	—	—	—	—	—
४	१३	,,	—	—	→ मनोयोगी वत्		←	—	—	—	२ सत्य, अनुभय	—	—	→	मनोयोगी वत्		←	—	—	—	—	—	—
५		सत्य वचन	—	—	→ सत्य मनोयोगी वत्		←	—	—	—	१ सत्य वचन	—	—	→	सत्य मनोयोगी वत्			←	—	—	—	—	—
६		मृषा वचन	—	—	→ मृषा मनोयोगी वत्		←	—	—	—	१ मृषा वचन	—	—	→	मृषा मनोयोगी वत्			←	—	—	—	—	—
७		उभय वचन	—	—	→ उभय मनोयोगी वत्		←	—	—	—	१ उभय वचन	—	—	→	उभय मनोयोगी वत्			←	—	—	—	—	—
८		अनुभय वचन	—	—	अनुभय मनोयोगी व.त.			—	—	—	१ अनुभय वच.	—	—	→	अनुभय मनोयोगी व.त.			←	—	—	—	—	—

३. काय योग

१. काय योग सामान्य—(ष. २/१,१/६३७-६४१)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१३ १-१३	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३; ४/२	४ क्षीण संज्ञा	४	५	६	७ काय	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना. युगपत्
२		पर्याप्त	१३ १-१३	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९, ८,७ ६,४,४	४ क्षीण संज्ञा	४	५	६	३ औ., वै., आ.	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना. युगपत्

मार्गणा विशेष: सं.	गु० स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग
३		अपर्याप्त	५ १,२,४ ६,१३	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६, ५,४,३,२	४ क्षीणसंज्ञा	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि., आ. मि.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	१४ ७ प. ७ अप.	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ औ. २, वै. २ का. १
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९, ८/७, ६,४	४	४	५	६	३ औ.१, वै. १, का. १
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५, ४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि. का.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ स. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	५ औ. २, वै. २, का. १
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	२ औ., वै.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., का.

सं.	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभंग व मनः बिना	४ सा.,छे. यथा, असंयम	४	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	३ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार, अना. युगपत
४	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
५	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
६	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
७	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य, अभव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.,	२ साकार अना.
८	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार
९	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	१ भव्य,	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१०	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	२ औ., वै.	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	५ औ.२, वै.२ का. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	२ औ., वै.	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., का.	३	४	३ मति., श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	२ का. शु.	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१४	५	पर्याप्त ही	१ ५वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ.	३	४	३ मति., श्रुत. अवधि	१ देशसं.	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१५	६	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ प्रमत्त	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	३ औ.१, आ.२,	३	४	४ मति., श्रुत. अव., मन:	३ सा., छे. परि.	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
	मार्गणा विशेष		२० प्ररूपणाएँ																				
१६	७	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ७वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ.	३	४	४ केवल बिना	३ सा.,छे. परि	चक्षु. अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१७	८-१२	सामान्य (पर्याप्त ही)	५ ८-१२	१ सं. प.	→	मूलोघवत्	← क्षा. रहित	—	—	—	१ औ.	—	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—
१८	१३	सामान्य	१ सयो	१/२ सं. प. प. अप.	६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	४/२ ४ २	० क्षीण संज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	३ औ.२, का.१	० अपगत वेद	० अकषाय	१ केवल	१ यथा	१ केवल दर्शन	६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	२ आहा., अना.	२ साकार अना युगपत्
२. औदारिक काययोग—																							
१		पर्याप्त ही	१३ १-१३	७ प.	६, ५, ४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६, ४	४ क्षीण संज्ञा	२ ति. मनु	५	६	१ औ.	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा	२ साकार अना.
२	१	पर्याप्त ही	१ मिथ्या	७ प.	६, ५, ४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६, ४	४	२ ति. मनु.	५	६	१ औ.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	२	पर्याप्त ही	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औद.	३	४	३ ज्ञानाज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
५	४	पर्याप्त ही	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औद.	३	४	३ मति, श्रुत. अव.	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु, अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ, क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१०-१२	पर्याप्त ही	—	—	→ कायमोग सामान्य वत् ←		—	—	—	—	१ औद.	—	—	—	—	→ कायमोग सामान्य वत् ←				—	—	—	
७	१३	पर्याप्त ही	१ अयो.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	४	० क्षीणसंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ.	० अवेद	० अकषाय	१ केवल	१ यथा.	१ केवल	६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना. युगपत्

३. औदारिक मिश्र काययोग—(ध. २/१,१/६६३-६६१)

सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		अपर्याप्त ही	४ १,२ ४, १३	७ अप.	६, ५, ४ अपर्याप्ति	७,७,६,५ ४,३,२	४ क्षीणसंज्ञा	२ मनु. ति.	५	६	१ औ. मि.	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभंग, मनः बिना	२ असंयम यथा.	४ चक्षु. रहित३ के. दर्शन/७/१	१ का.	६	२ भव्य, अभव्य	४ मि., सा. क्षा. क्षयो.	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना. युगपत्
२	१	अपर्याप्त ही	१ मिथ्या	७ अप.	६, ५, ४ अपर्याप्ति	७, ७, ६, ५, ४ ३	४	२ मनु. ति.	५	६	१ औ. मि.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			१० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३	२	अपर्याप्त ही	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ. मि.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	३ अशु	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
४	४	अपर्याप्त ही	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अप.	७	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ. मि.	१ पु.	४	३ कुमति, कुश्रुत अवधि	१ असंयम	२ अचक्षु अवधि	१ का.	६	१ भव्य	२ क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
५	१३	अपर्याप्त ही	१ सयो.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	२ या ४ (दे. केवली)	० क्षीणसंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ औ. मि.	० अपगत	० अकषाय	१ केवल	१ यथा.	१ केवल.	१ का.	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना. युगपत्
४ वैक्रियक काययोग—(ध. २/१.१/६६१-६६४)																							
१		पर्याप्त ही	४ १-४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै.	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२	१	पर्याप्त ही	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	२	पर्याप्त ही	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
४	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै.	३	४	३ ज्ञानाज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा	१ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	४	पर्याप्त हो	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै.	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
५. वैक्रियिक मिश्र काययोग —(ध. २/१,१/६६४-६६६)																							
१		अपर्याप्त हो	३ १,२,४	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै. मि.	३	४	५ ३ ज्ञान,कुमति कुश्रुत	१ असंयम	२ अचक्षु अवधि	१ का.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२	१	अपर्याप्त हो	१ मिथ्या	१ स. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै. मि.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत.	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	६	२ भव्य. अभव्य	१ मिथ्या.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	२	अपर्याप्त हो	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै. मि.	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ का.	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
४	४	अपर्याप्त हो	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ नरक देव	१ पं.	१ त्रस	१ वै. मि.	२ पु. नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	२ अचक्षु अवधि	१ का.	४ का. शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६. आहारक काययोग—(ध. २/१,१/६६७)																							
१		पर्याप्त हो	१ प्रमत्त	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ आहा.	१ पु.	४	३ मति, श्रुत. अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	१ शु.	३ शुभ	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
सं.	गुण०	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७. आहारक मिश्र काययोग—(ष. २/१,१/६६८)																							
१		अपर्याप्त ही	१ प्रमत्त	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ आ. मि.	१ पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	१ का.	३ शुभ	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
८. कार्मण काययोग—																							
१		सामान्य	४ १,२,४ १३	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६ ५,४,३,२	४ क्षीणसंज्ञा	४	५	६	१ कार्मण	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभंग, मनः बिना	२ असंयम यथा.	३ चक्षु बिना के. दर्शन/०/३	१/६ शु. सर्व	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ अना.	२ साकार अना.
२	१	अपर्याप्त ही	१ मिथ्या	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५, ४,३	४	४	५	६	१ कार्मण	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ सं. असं.	१ अना.	२ साकार अना.
३	२	अपर्याप्त ही	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१ कार्मण	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	२ असंयम	१ अचक्षु	१ शु.	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ अना.	२ साकार अना.
४	४	अपर्याप्त ही	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१ कार्मण	२ नपुं. पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	२ अचक्षु अवधि	१ शु.	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ अना.	२ साकार, अना.
५	१३	अपर्याप्त ही	१ सयो.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	० क्षीणसंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१ कार्मण	० अपगत	० अकषाय	१ केवल	१ यथा.	१ केवल	१/६ शु. सर्व	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ अना.	२ साकार, अना. युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य०	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५. वेद मार्गणा—																							
१. स्त्री वेद—(ध. २/१,१/६७३-६८४)																							
१		सामान्य	९ १-९	४ सं. प. असं. प. सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ पर्या. ५ „ ६ अप. ५ „	१०,९,७ १० ९ ७ ७	४	३ ति. मनु. देव	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	१ स्त्री	४	६ केवल, मनः बिना	४ असंयम देश सं. सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	९ १-९	२ सं. प. असं. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ „	१०/९ १० ९	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १	१ स्त्री	४	६ केवल, मनः बिना	४ असंयम देश सं. सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	२ १,२	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ „	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. का.	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य अभव्य	२ मिथ्या सासा	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	४ सं. प. असं. प. सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ पर्या. ५ „ ६ अप. ५ „	१०,९,७ १० ९ ७ ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं. प. असं. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ „	१०/९ १० ९	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या०	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गु० स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं. अप असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ "	७/७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि. वै. मि., कार्मण	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना,
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्या. ६ अप.	१०/७ १० ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना,
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १	१ स्त्री	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना,
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्या.	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. का.	१ स्त्री	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशुभ	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना,
१०	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४, औ. १, वै. १	१ स्त्री	४	३ ज्ञानाज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
११	४	पर्याप्त ही	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच ४, औ. १, वै. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना,

मार्गणा विशेष			१० प्ररूपणाएँ																				
सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१२	५	पर्याप्त ही	१ ५वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा.; क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३	६	पर्याप्त ही	१ प्रमत्त	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१४	७	पर्याप्त ही	१ ७वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१५	८	पर्याप्त ही	१ ८वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शुभ	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१६	९	पर्याप्त ही	१ ९वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	२ मै. परि.	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	१ स्त्री	४	३ मति, श्रुत, अवधि	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	१ शुभ	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

२. पुरुष वेद—(ध. २/१,१/६८२-६८७)

सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	९ १-९	४ सं. प. असं. प. सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ ,, ६ अपर्याप्ति ५ ,,	१०, ९, ७ १० ९ ७ ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	११	१ पु.	४	७ केवल. रहित	५ सू., यथा रहित	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																			
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	६ १–६	१ सं. प. असं. प.	६/५ ६ पर्याप्ति ५ ,,	१०/६ १० ६	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.१, वै. १ आ. १	१ पु.	४	७ केवल बिना	५ सू. यथा रहित	३ चक्षु. अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
३		अपर्याप्त	४ १, २, ४ ६	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ ,,	७/७ ७ ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै.मि., आ. मि., का.	१ पु.	४	५ कुमति, कुश्रुत ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.	३ चक्षु. अचक्षु अवधि	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	४ सं. प. असं. प. सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ पर्या. ५ ,, ६ अप. ५ ,,	१०, ६, ७ १० ६ ७ ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	१ पु.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं. प. असं. प	६/५ ६ पर्या. ५ ,,	१०/६ १० ६	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१	१ पु.	४	३ कुमति, कुश्रुत. विभंग	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार. अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	२ सं. अप. असं. अप.	६/५ ६ अपर्याप्ति ५ ,,	७/७ ७ ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि. वै. मि. कार्मण	१ पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७	२,३	सा प. अप.	—	→	मूलोघवत्	←		३ नरक रहित	—	—		१ पु.	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—
८	४-६	सा. प. अप.	—	→	मूलोघवत्	←		—	—	—		१ पु	—	—	→	मूलोघवत्	←	—	—	—	—	—	—

३. नपुंसक वेद—(ध. २/१,१/६८८-६६८)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	६ १-६	१४ प, अप	६/५/४ पर्या.; अप.	१०/७;६/७ ८/६; ७/५ ६/४; ४/३	४	३ देव रहित	५	६	१३ आ द्वि. बिना	१ नपुं.	४	६ केवल, मन बिना	४ असंयम देश सं सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	६ १-६	७ प.	६/५/४ पर्याप्ति	१०,६,८ ७/६, ४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	१ नपुं.	४	६ केवल. मन. बिना	४ असंयम देश सं. सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	७ अप.	६/५/४ अप.	७,७,६,५,४,३	४	३ देव रहित	५	६	३ औ मि., वै. मि. का.	१ नपुं.	४	५ कुमति, कुश्रुत ३ ज्ञान	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु. अवधि	२ का. शु.	३ कृ.	२ भव्य अभव्य	४ मि., सासा क्षा. क्षयो.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आ. अना.	२ साकार, अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या.	१४ प. अप.	६/५/४ पर्या. अपर्या.	१०/७; ६/७ ८/६; ७/५ ६/४. ४/३	४	३ देव रहित	५	६	१३ आ द्वि. बिना	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ प.	६/५/४ पर्याप्ति	१०,९,८,७ ६/४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	१ नपुं	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप.	६/५/४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	३ देव रहित	५	६	३ औ. मि., वै. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन ४, वच. ४ औ. २, वै. १. का. १	१ नपुं.	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १	१ नपुं	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ नपुं.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ [illegible]	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१०	३	पर्याप्त हो	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १.	१ नपुं.	४	३ ज्ञानाज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन ४, वच. ४ औ. १, वै. २. का. १	१ नपुं.	४	३ मति., श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	१ नपुं	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ नरक	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ नपुं	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	१ का.	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.
१४	५	पर्याप्त ही	१ ५ वां	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४ औ. १	१ नपुं	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार. अना.
१५	६-९	पर्याप्त ही	—	—	→ स्त्रीवेदीवत् ←			—	—	—	—	१ नपुं	—	—	→ स्त्रीवेदीवत् ←			—	—	—	—	—	—

४. अपगत वेद—(ध. २/१,१/६६६)

स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	९-१४	सामान्य	६ ९-१४	२ सं. प. सं. अप. अतीत	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति अतीत	१०/४, २/१ १०/४ २/१ अतीत	१ परि. क्षीणसंज्ञा	१ मनु. सिद्ध	१ पं. अनिन्द्रि.	१ त्रस अकाय	११ मन ४, वच ४. औ. २, का. १ अयो.	० अपगत	४ अकषाय	५ ज्ञान	४ सा., छे सू. यथा. अनुभय	४	६	१ शुक्ल	१ भव्य अनुभय	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार. अना.

६. कषाय मार्गणा

१. क्रोध कषाय—(ध. २/१,१/७००-७१२)

स.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	९ १-९	१४ ७ पर्याप्त ७ अपर्याप्त	६/५/४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१५	३ अपगत	१ क्रो.	७ केवल के बिना	५ सू. यथा के बिना	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार. अना.

सं.	गु॰ स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
२		पर्याप्त	६ १–६	७ प.	६/५/४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४	४	४	५	६	११ मन ४, वच.४ औ. १, वै. १ आ.१	३	१ क्रो.	७ केवल बिना	५ सू. यथा. के बिना	३ चक्षु. अचक्षु अवधि	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३		अपर्याप्त	४ १,२,४ ६	७ अप.	६/५/७ अपर्याप्ति	७,७,६,५ ४,३	४	४	५	६	४ औ. मि., वै. मि., आ. मि. का.	३	१ क्रो.	५ कुमति,कुश्रुत ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	७ प. अप.	६/५/४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/९; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	३	१ क्रो.	३ कुमति,कुश्रुत विभंग	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ प.	६/५/४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४	४	४	५	६	१० मन४,वच,४, औ. १, वै. १	३	१ क्रो.	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१.	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप.	६/५/४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि., का.	३	१ क्रो.	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं अ.	६/६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	३	१ क्रो.	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १	३	१ क्रो.	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	१ भव्य,	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना,
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि. वै. मि., कार्मण	३	१ क्रो.	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना,
१०	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच ४, औ. १, वै. १	३	१ क्रो.	३ ज्ञानाज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना,
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	३	१ क्रो.	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो,	१ संज्ञी	२ आहा, अना.	२ साकार, अना,
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४, औ. १, वै. १	३	१ क्रो.	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ मि., वै. मि. का.	३	१ क्रो.	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	२ का. शु.	६	१ भव्य	३ औ, क्षा. क्षयो,	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना,

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएं																			
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१४	५	पर्याप्त ही	१ ५वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	१ क्रो.	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१५	६	पर्याप्त ही	१ प्रमत्त	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.१, आ.२	३	१ क्रो.	४ मति, श्रुत, अवधि, मनः	३ सा., छे. परि.	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१६	७	पर्याप्त ही	१ ७ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	१ क्रो.	४ मति, श्रुत, अवधि, मनः	३ सा., छे. परि.	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१७	८	पर्याप्त ही	१ ८ वाँ.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	१ क्रो.	४ मति., श्रुत, अवधि, मनः	२ सा., छे.	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	१ शुभ	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१८	९/i	पर्याप्त ही	१ ९ वाँ प्र.समय	१ सं. प	६ पर्याप्ति	१०	२ मै. परि.	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	१ क्रो.	४ मति., श्रुत, अवधि, मनः	२ सा., छे.	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ शुभ	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१९	९/ii	पर्याप्त ही	१ ९वाँ द्वि.समय	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	१ परि.	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	० अपगत	१ क्रो.	४ मति, श्रुत, अवधि, मनः	२ सा., छे.	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	१ शुभ	१ भव्य	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२. मान कषाय—(ध. २/१,१/७१२)																							
१-११ तक सर्व आलाप—					—	→ क्रोध कषायवत् ←				—	—		१ मान	—	—	→ क्रोध कषायवत् ←				—	—	—	—
३. माया कषाय—(ध. २/१,१/७१२)																							
१-११ तक सर्व आलाप—					—	→ क्रोध कषायवत् ←				—	—		१ मान	—	—	→ क्रोध कषायवत् ←				—	—	—	—
४. लोभ कषाय—(ध. २/१,१/७१२)																							
१		सामान्य	१० १-१० *	१४ प. अप.	६/५/४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१५	३ अपगत	१ लोभ	७ केवल बिना	६ यथा. बिना	३ केवलके बिना	६	६	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

नोट—२-११ सर्व आलाप क्रोध कषायवत् जानना। विशेषता यह है कि पर्याप्त आलापोंमें गुणस्थान, कषाय व संयमकी प्ररूपणा लोभ सामान्यवत् जाननी। अपर्याप्तोंमें कषाय तो लोभवत् कहनी पर गुणस्थान व संयम क्रोधवत् जानना।

सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५. अकषायी—(ध. २/१,१/७१३)																							
१		सामान्य	४ ११-१४ अतीत	२ सं. प. सं. अप. अतीत	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति अतीत प.	१०, ४/२ १ अतीत प्रा.	० क्षीणसंज्ञा	१ मनु. सिद्ध	१ पंचें. अतीन्द्रिय	१ त्रस अकाय	११ मन४, वच.४ औ.२, का.१ अयोग	० अपगत	० अकषाय	५ मति, श्रुत, अव., मनः, केवल	१ यथा. अनुभय	४	६	१ शु. अलेश्य	१ भव्य अनुभय	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना. युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
सं.	गु. स्था.	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७. ज्ञान मार्गणा																							
१. मतिश्रुत अज्ञानी—(ध. २/१,१/७१४-७२०)																							
१		सामान्य	२ १,२	१४	६/५/४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	२ मि., सासा	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
२		पर्याप्त	२ १,२	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४	४	४	५	६	१० मन४, वच.४ औ.१ वै. १	३	४	२ कुमति.कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	६	६	२ भव्य, अभव्य	२ मि.,सासा	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
३		अपर्याप्त	२ १,२	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५, ४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि. कार्मण	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	६ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	२ मि.,सासा	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७ ८/६; ७/५ ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या.	७ अप.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६, ४	४	४	५	६	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु.,अचक्षु,	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५ ४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि. का.	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	२ का. शु.	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०,७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४ औ. १ वै. १	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप	६ पर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. कार्मण	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	२ का. शु.	६	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

२. विभंग ज्ञान—(ध. २/१,१/७२१-७२२)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा	उपयोग
१		पर्याप्त ही	२ १,२	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	१ विभंग	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	२ मिथ्या सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना
२	१	पर्याप्त ही)	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १	३	४	१ विभंग	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	२	पर्याप्त ही	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	१ विभंग	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३. मतिश्रुत ज्ञान—(ध २/१,१/७२३-७२६)																							
१		सामान्य	६ ४-१२	२ सं. प. स. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०,७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१५	३	४	२ मति, श्रुत.	७	३ केवल के बिना	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार अनाकार
२		पर्याप्त	६ ४-१२	१ सं. प.	६	१०	४ +असंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच.४ वै. १, औ. १ आ. १	३ +अपगत	४ +अकषाय	२ मति, श्रुत.	७	३ केवल के बिना	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा, क्षयो,	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अनाकार
३		अपर्याप्त	२ अवि प्रमत्त	१ सं, अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ वै. मि, औ. मि. आ. मि., का	२ पु. नपुं.	४	२ मति. श्रुत.	३ असंयम सा. छेदो.	३ केवल के बिना	२ का. शु.	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
४	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि., बिना	३	४	२ मति, श्रुत.	१ असंयम	३ केवल के बिना	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना,	२ साकार, अनाकार
५	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच.४ औ. १, वै. १	३	४	२ मति, श्रुत.	१ असंयम	३ केवल के बिना	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
६	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं, अप.	६	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि, वै. मि., कार्मण	२ पु. नपुं	४	२ मति, श्रुत.	१ असंयम	३ केवल के बिना	२ का. शु.	६	१ भव्य,	३ औ. क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
७	५-१२	सामान्य प. अप.	५-१२	⟶	⟶	ओघवत्	⟵	⟵	—	—	—	—	—	२ मति, श्रुत.	⟶	ओघवत्	⟵	⟵	—	—	—	—	—

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४. अवधिज्ञान—(ध.२/१,१/७२६)																							
		सर्व आलाप	—	—	—	—	मतिश्रुत वत			—	—	—	—	१ अवधि.	—	—	मति श्रुतवत्			—	—	—	—
५. मनःपर्यय ज्ञान—(ध. २/१,१/७२७)																							
१		पर्याप्त ही	७ ६-१२	१ सं. प.	६	१०	४ असंज्ञा	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४ औ. १	१ पु.	४ अकषाय	१ मन.	४ सा., छे., सू., यथा	३ केवल के बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ.. क्षा क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
२		६-१२	सर्व आलाप	—	←	ओघवत	→		—	—	—	—	—	१ मनः	४ परिहार रहित	←			ओघवत	→		—	—
६. केवलज्ञान—(ध. २/१,१/७२७)																							
१		सामान्य	२ १३,१४ अतीत	२ पर्या. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	४/२,१ अतीत	० असंज्ञा	१ मनु. सिद्ध	१ पं. अतीत	१ त्रस अकाय	७ मन २, वचन२ औ. २, का.१ अयोग	० अपगत	० अकषाय	१ केवल	१ यथा., अनुभय	१ केवल	६	१ शु. अलेश्य	१ भव्य अनुभय	१ क्षा.	० अनुभय	२ आहा अना.	२ साकार, अना. युगपत्

८. संयम मार्गणा

१. संयम सामान्य—

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	६ ६-१४	२ सं. प. सं. अप.	६,६ ६ पर्या ६ अप.	१०/७ ,४/२ १	४ असंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	१३ वै. द्वि. बिना अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	५ मति, श्रुत., अव., मनः केवल	५ सा., छे., परि., सू., यथा	४	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना. युगपत्

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२	६	सामान्य	१ ६	२ सं. प. सं अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच ४ औ. १, आ. २	३	४	४ मति, श्रुत. अव.. मन.	३ सा., छे. परि.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
३	७	सामान्य	१ ७ वाँ	१ सं. प.	६	१०	३ आ. बिना	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच ४ औ. १	३	४	४ मति, श्रुत अवधि, मन.	३ सा. छे. परि.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
४	८-१४	सर्व आलाप	—	—	← मूलोघवत् →						—	—	—	—	—	← मूलोघवत् →						—	—

२. सामायिक संयम—(ध. २/१,१/७३२)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	६-९	सामान्य	४ ६-९	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच ४ औ. १, आ. २	३	४	४ मति, श्रुत, अवधि, मनः	२ सासा	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२	६-९	सर्व आलाप	—	—	← मूलोघवत् →						—	—	—	—	१ सासा	← मूलोघवत् →						—	—

३. छेदोपस्थापना संयम—(ध. २/१,१/७३३)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	६-९	सर्व आलाप	—	—	← सामायिक संयम वत् →						—	—	—	—	१ छेदो.	← सामायिक संयम वत् →							—

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४. परिहार विशुद्धि संयम—																							
१		सामान्य	२ ६,७	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	१ पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ परिहार	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य.	२ क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२	६,७	सर्व आलाप			← मूलोघवत →						९ मन४, वच ४, औ. १	१ पु.		३ मति, श्रुत अवधि	१ परिहार	→ मूलोघवत ←				२ क्षा. क्षयो.	→ मूलोघवत ←		
५. सूक्ष्म साम्पराय संयम—(ध. २/१,१/७३४)																							
		पर्याप्त ही	१ १०वाँ	—	← मूलोघवत →						—	—	—	—	—	—	← मूलोघवत →					—	—
६. यथाख्यात संयम—(ध. २/१,१/७३५)																							
१	११-१४	सामान्य	४ ११-१४	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०,४/२,१	० क्षीण संज्ञा	१ मनु.	१ पं	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.२, का.१	० अपगत वेद	० अकषाय	५ ज्ञान	१ यथा	४	६	१ शु. अलेश्य	१ भव्य	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना. युगपत्
२	११-१४	सर्व	—	—	← मूलोघवत →						—	—	—	—	—	—	← मूलोघवत →					—	—
७. असंयम—(ध. २/१,१/७३६-७३७)																							
१		सामान्य	४ १-४	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६, ७/५, ६/४; ४/३,	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	४ १-४	७ प.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७,६ ४	४	४	५	६	१० मन४, वच.४, औ.१ वै १	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार. अनाकार
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५, ४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि., का.	३	४	५ कुमति, कुश्रुत ३ ज्ञान	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार. अनाकार
८	संयमासंयम—																						
१		पर्याप्त ही	१ ५वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ चक्षु, अचक्षु, अवधि	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा.; क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९.	**दर्शन मार्गणा**																						
१.	चक्षु दर्शन—(ध. २/१,१/७३८-७४३)																						
१		सामान्य	१२ १-१२	६ चतु. सं असं.के प. अप.	६/५ ६,५ पर्या. ६,५ अप.	१०/७; ९/७ ८/६	४ क्षीणसंज्ञा	४	२ चतु. पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच.४, औ. १, वै. १ आ.२ दे. दर्शन/७/३	३ अपगतवेद	४ अकषाय	७ केवलके बिना	७	१ चक्षु.	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
२		पर्याप्त	१२ १-१२	३ चतु. सं. असं. प.	६/५ पर्या.	१०,९,८	४ क्षीणसंज्ञा	४	२ चतु. प.	१ त्रस	११ मन ४, वच.४ औ.१ वै.१ आ. १	३ अपगतवेद	४ अकषाय	७ केवलके बिना	७	१ चक्षु.	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
३		अपर्याप्त	४ १,२,४ ६	३ चतु. सं. असं. अप.	६/५ अपर्याप्ति	७,७,६	४	४	२ चतु. पं.	१ त्रस	१ आ. मि.,	३	४	५ कुमति, कुश्रुत ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.	१ चक्षु.	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ सा. अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	६ चतु.सं. असं.पं अप.	६,५ पर्या. अप.	१०/७; ९/७; ८/६	४	४	२ चतु.पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४, औ. १ वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	१ चक्षु.	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्य	३ चतु. स. असं. प.	६,५ पर्याप्ति	१०,९,८	४	४	२ चतु. पं.	१ त्रस	१० मन४, वच ४, औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	१ चक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	३ चतु. सं., असं. अप.	६,५ अपर्याप्ति	७,७,६	४	४	२ चतु. पं.	१ त्रस	—	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ चक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अना.
	२ २,४	सा, अक्रि.			←	मूलोघवत्	→		—	—	——	—	—	— —	—	——	←	→		मूलोघवत्	→		—
७	५-१२	सर्व आलाप		—	←	मूलोघवत्	→		—	—	—		—	—	—	१ चक्षु	—	←		मूलोघवत्	→		—

२. अचक्षु दर्शन—(ध. २/१,१/७४३-७४७)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१२ १-१२	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७, ८/६ ७/५ ६/४, ४/३	४ अतीतसंज्ञा	४	५	६	१५	३ अपगत	४ अकषाय	७ केवल के बिना	७	१ अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	१२ १-१२	७ पर्याप्त	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७,६ ४	४ अतीतसंज्ञा	४	५	६	११ मन४, वच ४, वै. १, औ. १, आ. १	३ अपगत	४ अकषाय	७ केवलके बिना	७	१ अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	४ १,२,४, ६	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	४ औ. मि., वै. मि., आ. मि. कार्मण	३	४	५ कुमति, कुश्रुत ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.	१ अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्य	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	१ अज्ञान	१ असंयम	१ अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ पर्याप्त	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७,६, ४	४	४	५	६	१० मन४, वच.४, औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	१ अचक्षु	६	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अपर्याप्त	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि., कार्मण	३	४	३ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२-१२	सर्व आलाप	←	—	—	मूलोघवत	—	—	→	—	—	—	—	—	—	१ अचक्षु	←		मूलोघवत			→	—
३. अवधि दर्शन—(ध २/१,१/७४८-७५०)																							
१		सामान्य	९ ४-१२	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४ क्षीणसंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	१५	३ अपगत वेद	४ अकषाय	४ मति, श्रुत, अव., मनः	७	१ अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	९ ४-१२	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४ क्षीणसंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ वै १ औ. १ आ. १	३ अपगत वेद	४ अकषाय	४ मति, श्रुत, अव., मनः	७	१ अवधि	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	२ ४, ६	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि., आ. मि., कार्मण	२ पु. नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	३ असंयम सा., छे.	१ अवधि	२ का. शु.	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	४-१२	सर्व आलाप	—	←	अवधिज्ञानवत्					→	—	—	—	३ मति, श्रुत, अवधि	—	१ अवधि	←		अवधिज्ञानवत्			→	—

४. केवल दर्शन—(ध. २/१,१/७५०)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१	१३,१४	सर्व आलाप	—	←	केवलज्ञानवत्					→	—	—	—	—	—	←			केवलज्ञानवत्			→	—

१०. लेश्या मार्गणा—

१. कृष्ण लेश्या— (ध. २/१,१/७५०-७५६)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	४ १-४	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/६;६/७, ८/६; ७/५ ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	६ अज्ञान ३ ज्ञान ३	१ असयम	३ केवल बिना	६	१ कृ.	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	४ १-४	७ पर्या.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७ ६,४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन ४, वच ४, औ. १, वै. १,	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ कृ.	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि., का.	३	४	५ कुमति, कुश्रु. ३ ज्ञान	१ असयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ कृ.	२ भव्य, अभव्य	३ मि., सा. क्षयो.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७, ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अच.	६	१ कृ.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ पर्याप्त	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ कृ.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि. वै. मि. कार्मण	३	४	२ कुमति, कुश्रु.	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	१ कृ.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं. अप.	६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ कृ.	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ कृ.	१ भव्य	१ सास	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., कार्मण	३	४	२ कुमति, कुश्रु.	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	१ कृ.	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
१०	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ कृ.	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच.४ औ. २, वै. १ कार्मण १	३	४	३ मति, श्रु. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु., अचक्षु अवधि	६	१ कृ.	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४, औ.१, वै.१	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ कृ.	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं अ.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., का.	१ पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ कृ.	१ भव्य	१ क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२. नील लेश्या—(ध. २/१,१/७७६)																							
१	१–४	सर्व आलाप	—	—	—	←		कृष्ण लेश्या वत्				→	—	—	—	—	१	१ नील	—	←	कृष्ण लेश्या वत्		→
३. कापोत लेश्या—(ध. २/१,१/७७६-७७८)																							
१		सामान्य	४ १–४	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७ ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. के बिना	३	४	६ ३ ज्ञान ३ अज्ञान	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ का.	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	४ १–४	७ पर्या	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन ४, वच.४ वै.१, औ.१	३	४	६ ३ अज्ञान ३ ज्ञान	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ का.	२ भव्य अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	३ १,२,४	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि., कार्मण	३	४	५ कुमति, कुश्रु. ३ ज्ञान	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ का.	२ भव्य, अभव्य	४ मि., सा. क्षा., क्षयो.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०,६,८,७, ६,४ ७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. के बिना	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७ पर्या	६,५,४ पर्याप्ति	१०,६,८,७, ६,४	४	३ देव रहित	५	६	१० मन४,वच ४, औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ का.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि. वै. मि., कार्मण	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	१ का.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं. अप.	६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	३	४	३ अज्ञान	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ का.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ का.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार. अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. का.	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	१ का.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१०	३	पर्याप्त ही	३ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४,वच ४, औ. १, वै. १	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ का.	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
११	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०,७	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ का.	१ भव्य	३ क्षा., क्षयो., औप.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच४ औ.१, वै.१	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ का.	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ देव रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. कार्मण	२ पु. नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ का.	१ भव्य	२ क्षा., क्षयो.,	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना

४. तेज लेश्या—(ध. २/१,१/७६८-७७१)

सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	७ १-७	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१५	३	४	७ केवल ज्ञान रहित	५ सू., यथा रहित	३ केवल बिना	६	१ ते.	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	७ १-७	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच४ औ.१, वै.१ आ. १	३	४	७ केवल ज्ञान रहित	५ सू. यथा. रहित	३ केवल बिना	६	१ ते.	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	१,२,४, ६	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ देव मनु.	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि., आ. मि., कार्मण	२ पु. नपुं.	४	५ कुमति, कुश्रुत ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ ते.	२ भव्य अभव्य	५ मिश्र बिना	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	२ सं. प. सं. अप.	६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०.७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच.४ औ.१.वै.२. कार्मण	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	१ ते.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१. वै.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	१ ते.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., कार्मण	२ पु. स्त्री	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	२ का. शु.	१ ते	१ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं. अप.	६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच.४ औ.१, वै.२ कार्मण	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	१ ते.	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	१ ते.	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., कार्मण	२ स्त्री पु.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	१ ते.	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१०	३	पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ सं.प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ प.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१,	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ ते.	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
११	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि., रहित	३ पं.	४ त्रस	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ ते.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ ते.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ देव मनु	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., कार्मण	१ पु.	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ ते.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
४१	५	पर्याप्त ही	१ ५वाँ.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन ४, वच ४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ देश सं.	३ केवल बिना	६	१ ते.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा.	२ साकार, अनाकार
१५	६	पर्याप्त ही	१ प्रमत्त	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	३	४	४ मति, श्रुत. अवधि, मनः	३ सा. छेदो. परि.	३ केवल बिना	६	१ ते.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
१६	७	पर्याप्त ही	१ अप्रमत्त	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४, औ. १	३	४	४ मति, श्रुत. अवधि, मनः	३ सा., छे. परि.	३ केवल बिना	६	१ ते.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																			
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
५. पद्मलेश्या—(ध २/१,१/७७१-७७८)																						
१		सामान्य	७ १-७	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	११	३	४	७ केवल ज्ञान बिना	५ दे.सं., सा., छे. परि.,असं.	३ केवल बिना	६	१ पद्म	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
२		पर्याप्त	७ १-७	१ सं. पं.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	११ मन ४, वच.४ औ.१ वै.१ आ. १	३	४	७ केवल ज्ञान बिना	५ दे.सं., सा.,छे. परि.,असं.	३ केवल बिना	६	१ पद्म	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
३		अपर्याप्त	४ १,२,४ ६	१ सं. प.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ देव मनु.	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि. आ. मि., का.	१ पु.	४	५ कुमति, कुश्रु. ३ ज्ञान	३ असंयम सा., छे.	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ पद्म	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र रहित	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	२ सं. पं. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच.४, औ.१ वै.२ कार्मण	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.,	६	१ पद्म	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. पं.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच४, औ.१ वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	६	१ पद्म	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., कार्मण	१ पु.	४	२ कुमति, कुश्रु.	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु.	२ का. शु.	१ पद्म	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएं																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन ४, वच.४ औ. १, वै. २ का.	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	१ पद्म	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	१ पद्म	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., कार्मण	१ पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	२ का. शु.	१ पद्म	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१०	३	सामान्य (पर्या. ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच. ४ औ. १, वै. १	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	१ पद्म	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
११	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ चक्षु, अचक्षु अवधि	६	१ पद्म	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ पद्म	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार. अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	२ देव मनु	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. कार्मण	१ पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ पद्म	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१४	५	पर्याप्त ही	१ ५ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ मनु. ति.	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच ४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ देश सं.	३ केवल बिना	६	१ पद्म	१ भव्य	३ औ. क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१५	६	पर्याप्त ही	१ प्रमत्त	१ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच ४ औ. १, आ. २	३	४	४ मति, श्रुत अव., मनः	३ सा., छे. परि.	३ केवल बिना	६	१ पद्म	१ भव्य	३ औ. क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
१६	७	पर्याप्त ही	१ ७ वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच ४ औ. १	३	४	४ मति, श्रुत, अवधि, मनः	३ सा., छे. परि.	३ केवल बिना	६	१ पद्म	१ भव्य	३ औ. क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार

६. शुक्ल लेश्या—(ध. २/१,१/७९०-८०१)

सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१३ १-१३	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७, ४/२, १०, ४, ७, २	४ असंज्ञा	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	११	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	१ शु.	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
२		पर्याप्त	१३ १-१३	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०, ४	४ असंज्ञा	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच ४ औ. १, वै. १ आ. १	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	१ शु.	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			१० प्ररूपणाएँ																			
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त	५ १,२,४, ६,१३	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७,२	४ [illegible]	२ देव मनु	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि., आ. मि. कार्मण	१ पु. [illegible]	४ [illegible]	६ विभंग, मन रहित	४ असंयम सा.,छे., परि.	४	२ का. शु.	१ शु.	२ भव्य अभव्य	५ मिश्र रहित	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना. युगपत
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन ४, वच.४ वै.२ औ. १, कार्मण	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	१ शु.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच.४ औ.१, वै.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	१ शु.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि. कार्मण	१ पु.	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	२ का. शु.	१ शु.	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प, सं. अप.	६/६ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच.४ वै.२ औ. १, कार्मण	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	१ शु.	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	१ शु.	२ भव्य,	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
९	२	अपर्याप्ति	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., कार्मण	१ पु.	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	१ शु.	१ भव्य	१ सासा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१०	३	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्रित	१ असंयम	२ चक्षु., अचक्षु	६	१ शु.	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प., सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्या.	१०/७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ शु.	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१ वै.१.	३	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१ शु.	१ भव्य	३ औ., क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. अप.	६ पर्याप्ति	७	४	२ देव मनु	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., कार्मण	१ पु.	४	३ मति, श्रुत अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	१ शु.	१ भव्य	३ औ. क्षा, क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
१४	५	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ५वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ.१,	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	१	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१५	६ठा	सामान्य	१ प्रमत्त	१ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.१, आ.२	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मनः	३ सा. छे. परि.	३ केवल बिना	६	१ शु.	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गु० स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१५	७	सामान्य (पर्या. ही)	१ ७ वां	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन४,वच.४, औ. १	३	४	४ मति., श्रुत., अव., मन.	३ सा., छे., परि.	३ केवल बिना	६	१ शु.	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१६	८-१४	सर्व आलाप		—	—	—	—	—	—	—	→	मूलोघवत् ←			—	—	—	—	—	—	—	—	—
७. अलेश्य—(ध. २/१,१/८०१)																							
१	१४	पर्याप्त ही	१ १४वां सिद्ध	—	—	—	—	—	—	—	→	मूलोघवत् ←			—	—	—	—	—	—	—	—	—
११. भव्यत्व मार्गणा—																							
१. भव्य—(ध. २/१,१/८०१)																							
१	१-१४	सर्व आलाप	—	—	—	—	—	—	—	—	→	मूलोघवत् ←			—	—	—	—	—	—	—	—	—
२. अभव्य—(ध. २/१,१/८०३)																							
१	१	सामान्य	१ मि.	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७,९/७, ८/६,७/५, ६/४,४/३	४	४	५	६	१३ आ. द्वि. रहित	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ अभव्य	१ मि.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२	१	पर्याप्त	१ मि.	७	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४	४	४	५	६	१० मन ४, वच.४ औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ अभव्य	१ मि.	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३	१	अपर्याप्त	१ मि.	७	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	३ औ. मि. वै. मि., कार्मण	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	६	१ अभव्य	१ मि.	२ संज्ञी असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

१२. सम्यक्त्व मार्गणा—

१. सम्यक्त्व सामान्य—

सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	११ ४–१४ अतीत गुण.	२ सं. प. असंअप. अतीत जीव स.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति अतीत पर्याप्ति	१०/७,४/२ १ अतीत प्राण	४ असंज्ञा	४ सिद्ध गति	१ पं. अनिन्द्रिय	१ त्रस अकाय	१५ अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	५	७ अनुभय	४	६	६ अलेश्य	१ भव्य अनुभय	३ औ., क्षा.; क्षयो.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना. युगपत्
२		पर्याप्त	११ ४–१४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०,४. १	४ असंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	१४ वै. मि. रहित अथवा ११ मन४, वच.४ औ.१, वै.१ आ. १	३ अपगत	४ अकषाय	५	७	४	६	६ अलेश्य	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	३ ४,६ १३	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७,२	४ असंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि.,आ.मि., कार्मण	२ पु. नपुं. अप.	४ अकषाय	४ मति, श्रुत, अव., केव.	४ असंयम सा., छे. यथा	४	२ का. शु.	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी, अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना. युगपत्

२. क्षायिक सम्यक्त्व—(ध. २/१,१/८०७-८१२)

सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	११ ४–१४ अतीत	२ सं. प. सं. अप. अतीत	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति अतीत प.	१०/७,४/२,१ अतीत प्राण	४ असंज्ञा	४ सिद्ध गति	१ पं. अनि.	१ त्रस अकाय	१५	३ अपगत	४ अकषाय	५ मति, श्रुति, अव., मन., केवल	७ अनुभय	४	६	६ अलेश्य	१ भव्य अनुभय	१ क्षा.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार, अना. युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गु० स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	११ ४-१४	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०,४/२,१	४ क्षीणसंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, औ. १, वै. १ आ. १	३ अपगतवेद	४ अकषाय	५ ज्ञान	७	४	६	६ अलेश्य	१ भव्य	१ क्षा.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	३ ४,६ १३	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७,२	४ क्षीणसंज्ञा	४	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि., आ. मि., कार्मण	२ पु. नपुं. अप.	४ अकषाय	४ मति, श्रुत, अव, केवल	४ असंयम सा., छे. यथा.	४	२ का. शु.	४ का. शुभ	१ भव्य	१ क्षा.	१ संज्ञी अनुभय	२ आहा. अना.	२ साकार अना. युगपत्
४	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. स अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७ १० ७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	१ क्षा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच.४ औ.१ वै. १,	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	१ क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. का.	२ पु. नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	४ का. शुभ	१ भव्य	१ क्षा.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	५	सामान्य	१ देश	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश स.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	१ क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
८	सिद्ध ६-१४	सर्व आलाप	—	—	←——— मूलोघवत्				———→	←——— मूलोघवत				———→	—	—	—	—	—	१ क्षा.	←——— मूलोघवत्		———→

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३. वेदक सम्यक्त्व—(ध २/१,१/८१२-८१७)																							
१		सामान्य	४ ४–७	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६अपर्याप्ति	१०,७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१५	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मन:	५ असंयम देश सं. सा., छे., परि.	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	१ क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	४ ४–७	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ. १ वै १ आ.	३	४	४ मति, श्रुत, अव, मन:	५ असंयम देश सं. सा., छे परि.	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	१ क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
३		अपर्याप्त	२ ४, ६	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ औ.मि., वै. मि, आ.मि., कार्मण	२ पु. नपुं.	४	३ मति, श्रुत. अवधि	३ असंयम सा., छे.	३ केवल बिना	२ का. शु.	६	१ भव्य	१ क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
४	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	१ क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४, औ. १, वै. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	१ क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., कार्मण	२ पु. न.पुं.	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	६	१ भव्य	१ क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ															लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य०	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
७	५	सामान्य (पर्या. ही)	१ देश	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच ४. औ.१	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	१ क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
८	६	सामान्य	१ प्रमत्त	२ सं प सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, औ. १, आ.२	३	४	४ मति, श्रुत, अवधि, मनः	३ सा., छे. परि.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	१ क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	७	सामान्य (पर्या ही)	१ अप्रमत्त	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४, औ. १	३	४	४ मति, श्रुत, अवधि, मनः	३ सा., छे. परि.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	१ क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.

४. उपशम सम्यक्त्व—

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य०	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	८ ४-११	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४ क्षीण सं.	४	१ पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच.४ औ.१, वै. २, कार्मण	३ अपगत	४ उप. क.	४ मति, श्रुत, अवधि, मनः	६ परि. रहित	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	१ औप.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
२		पर्याप्त	८ ४-११	१ सं. प.	६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०	४ क्षीण सं.	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४, औ.१, वै.१.	३ अपगत	४ उप. क.	४ मति, श्रुत, अव., मनः	६ परि. रहित	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	१ औ.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुणस्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि., का.	१ पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	३ शुभ	१ भव्य	१ औप. द्वितीयोपशम	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
४	४	सामान्य	१ अवि	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१२ मन ४, वच ४ औ. १, वै. २, का.	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	१ औप.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.
५	४	पर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	१ औप.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	४	अपर्याप्त	१ अवि	१ सं. प.	६ अपर्याप्ति	७	४	१ देव	१ पं.	१ त्रस	२ वै. मि. कार्मण	१ पु.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	३ शुभ	१ भव्य	१ औप. द्वितीयोपशम	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
७	५	सामान्य (पर्या. ही)	१ देश स.	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ ति. मनु	१ पं.	१ त्रस	६ मन ४, वच ४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ देश सं.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	१ औप.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
८	६	सामान्य	१ प्रमत्त	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच ४, औ. १	३	४	४ मति, श्रुत, अव., मनः	२ सा., छे.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	१ औप.	१ संज्ञी	१ आहा	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
६	७	पर्याप्त ही	१ ७वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, औ. १	३	४	४ मति, श्रुत अवधि, मनः	२ सा., छे.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	१ औप.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१०	८, ११	सर्व आलाप	—	—	—	—	—	←			मूलोघवत			→	—	—	—	—	—	१ औ.	←	मूलोघवत	→
५. मिथ्यात्व—(ध. २/१,१/८२५)																							
१	१	सर्व आलाप	—	—	—	—	—	←			ओघमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवत्					→	—	—	—	—	—	—	—
६. सासादन सम्यक्त्व—(ध. २/१,१/८२५)																							
१	२	सर्व आलाप	—	—	—	—	—	←			ओघमें सासादन गुणस्थानवत्					→	—	—	—	—	—	—	—
७. सम्यग्मिथ्यात्व—(ध. २/१,१/८२५)																							
१	३	सर्व आलाप	—	—	—	—	—	←			मूलोघमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवत					→	—	—	—	—	—	—	—
१३. संज्ञी मार्गणा																							
१. संज्ञी— (ध. २/१,१/८२५-८३४)																							
१		सामान्य	१२ १-१२	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१५	३ अपगत	४ अकषाय	७ केवल ज्ञान बिना	७	३ केवल बिना	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
२		पर्याप्त	१२ १-१२	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४ औ.१, वै.१, आहा १	३ अपगत	४ अकषाय	७ केवल ज्ञान बिना	७	३ केवल बिना	६	६	२ भव्य अभव्य	६	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएं														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
३		अपर्याप्ति	४ १,२,४ ६	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	४ औ. मि., वै. मि, आ. मि, कार्मण	३	४	५ कुमति, कुश्रुत ३ ज्ञान	३ असयम सा., छे.	३ केवल बिना	२ का. शु	६	२ भव्य अभव्य	५ सम्यग्मि. बिना	१ संज्ञी	२ आहार अना.	२ साकार अना.
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच. ४ औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
६	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	१ स. प.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि. कार्मण	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	२ का. शु.	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना
७	२	सामान्य	१ सासा	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. रहित	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार अना.
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन ४, वच ४ औ. १, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
९	२	अपर्याप्त	१ सासा	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि. वै. मि. का.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	२ का. शु.	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१०	३	सामान्य पर्याप्त ही	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ. १, वै. १	३	४	३ ज्ञानाज्ञान मिश्र	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१३ आ. द्वि. बिना	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ. १, वै. १	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
१३	४	अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	३ औ. मि., वै. मि., का.	२ पु. नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	२ का. शु.	६	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	२ आहा., अना.	२ साकार, अनाकार
१४	५-१२	सर्व आलाप	—	—	—	—	—	—	—	→	मूलोघवत्	—	—	←	—	—	—	—	—	—	—	—	—

२. असंज्ञी—(ध. २/१,१/८३४-८३५)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य (दे. जन्म/४)	१ मि. (२)	१२ सं. प. व सं. अप. रहित	५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३;	४	१ ति.	५	६	४ अनु. वच. १, औ. २, का. १	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ अशु	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२		पर्याप्त	१ मिथ्या	६ सं. प. बिना	५,४ पर्याप्ति	९,८,७,६,४	४	१ ति.	५	६	२ अनु. वच. १, औ. १	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
३	१	अपर्याप्त	१ मिथ्या	६ सं. अप. बिना	५,४ अपर्याप्ति	७,६ ५,४,३	४	१ ति.	५	६	२ औ. मि १ कार्मण १	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	२ का. शु.	३ अशु.	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	१ असंज्ञी	२ आहा. अना.	२ साकार, अनाकार

३. अनुभय—(ध. २/१,१/८३८)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
	१४-१	सिद्ध	सर्व	आलाप	—	—	—	—	—	→	मूलोघवत्	—	—	←	—	—	—	—	—	—	—	—	—

१४. आहारक मार्गणा—

१. आहारक—(ध. २/१,१/८३६-८५०)

सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१		सामान्य	१३ १-१३	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७ ८/६; ७/५ ६/४; ४/३, ४/२	४ असंज्ञा	४	५	६	१४ कार्मण रहित	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अनाकार युगपत्
२		पर्याप्त	१३ १-१३	७ पर्या.	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४, ४	४ असंज्ञा	४	५	६	११ मन ४, वच. ४ औ. १, वै. १ आ. १	३ अपगत	४ अकषाय	८	७	४	६	६	२ भव्य, अभव्य	६	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार, अनाकार युगपत्
३		निर्वृत्ति अपर्याप्त	५ १,२,४, ६,१३	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४, ३,२	४ असंज्ञा	४	५	६	३ औ. मि., वै. मि. आ. मि.,	३ अपगत	४ अकषाय	६ कुमति, कुश्रुत मति, श्रुत, अव., केवल	४ असंयम. सा., छे. परि.	४	१ शु.	६	२ भव्य, अभव्य	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी अनुभय	१ आहा.	२ साकार अना. युगपत्

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	१	सामान्य	१ मिथ्या	१४	६,५,४ पर्याप्ति अपर्याप्ति	१०/७; ९/७; ८/६; ७/५; ६/४; ४/३	४	४	५	६	१२ मन४, वच.४ औ.२, वै.२	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
५	१	पर्याप्त	१ मिथ्या	७	६,५,४ पर्याप्ति	१०,९,८,७, ६,४	४	४	५	६	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.१	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
६	१	निर्वृत्ति अपर्याप्त	१ मिथ्या	७	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५,४,३	४	४	५	६	२ औ. मि., वै. मि.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ का.	६	२ भव्य अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
७	२	सामान्य	१ सासा.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१२ मन४, वच.४ औ. २, वै.२	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अनाकार
८	२	पर्याप्त	१ सासा	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै. १	३	४	३ अज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु. अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
९	२	निर्वृत्ति अपर्याप्त	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि. वै. मि.	३	४	२ कुमति, कुश्रुत	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	१ का.	६	१ भव्य	१ सासा	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१०	३	पर्याप्त ही.	१ मिश्र	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ. १, वै. १	३	४	३ ज्ञानाज्ञान	१ असंयम	२ चक्षु, अचक्षु	६	६	१ भव्य	१ मिश्र	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																					
मं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
११	४	सामान्य	१ अवि.	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१२ मन ४, वच.४ औ.२, वै.२.	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१२	४	पर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	४	१ पं.	१ त्रस	१० मन४, वच.४ औ.१, वै.,१	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	६	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१३	४	निर्वृत्ति अपर्याप्त	१ अवि.	१ सं. प.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	२ औ. मि., वै. मि.	२ पु.	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ असंयम	३ केवल बिना	१ का.	६	१ भव्य	३ औ. क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१४	५	सामान्य (पर्याप्त ही)	१ ५वाँ	१ स. प.	६ पर्याप्ति	१०	४	२ ति. मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	४	३ मति, श्रुत. अवधि	१ देश सं.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
१५	६	सामान्य	१ प्रमत्त	२ सं. प. सं. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	१०/७	४	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	११ मन४, वच.४, औ.१, आ.२	३	४	४ मति, श्रुत. अव. मनः	३ सा., छे. परि.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१६	७	पर्याप्त ही	१ अप्रमत्त	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	९ मन४, वच.४ औ. १	३	४	४ मति श्रुत. अव, मनः	३ सा., छे. परि.	३ केवल बिना	६	३ शुभ	१ भव्य	३ औ., क्षा. क्षयो.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ																				
सं.	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
१८	८	पर्याप्त ही	१ ८वाँ	१ सं.प.	६ पर्याप्ति	१०	३ आ. रहित	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४, औ. १	३	४	४ मति, श्रुत., अव., मनः	२ सा. छे.	३ केवल बिना	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
१९	९	प्रथम भाग	१ ९वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	२ मै. परि	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४ औ.१	३	४	४ मति, श्रुत., अव. मनः	२ सा. छे.	३ केवल बिना	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ., क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार, अना.
२०	९	शेष ४ भाग—	—	—	—	—	—	—	—	→	मूलोघवत	←	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
२१	१०	पर्याप्त ही	१ सू.	१ सं. प	६ पर्याप्ति	१०	१ परि	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४ औ.१	० अपगत	१ सू. लोभ	४ मति, श्रुत., अव. मनः	१ सूक्ष्म	३ केवल बिना	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२२	११	पर्याप्त ही	१ ११वाँ	१ सं.प.	६ पर्याप्ति	१०	० उप. सं.	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४ औ. १	० अपगत	० क. उप.	४ मति, श्रुत., अव., मनः	१ यथा.	३ केवल बिना	६	१ शु.	१ भव्य	२ औ. क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.
२३	१२	पर्याप्त ही	१ १२वाँ	१ सं. प.	६ पर्याप्ति	१०	० असंज्ञा	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	६ मन४, वच.४ औ.१	० अपगत	० अकषाय	४ मति, श्रुत., अव. मनः	१ यथा.	३ केवल बिना	६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	१ संज्ञी	१ आहा.	२ साकार अना.

मार्गणा विशेष			२० प्ररूपणाएँ														लेश्या						
सं.	गुण स्थान	पर्याप्ति अपर्याप्ति	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	द्र.	भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
२४	१३	सामान्य प., अप.	१ सयो.	२ प. अप.	६/६ ६ पर्याप्ति ६ अपर्याप्ति	४,२	० क्षीणसंज्ञा	१ मनु.	१ पं.	१ त्रस	६ मन २, वच.२ औ.२	० अपगत	० अकषाय	१ केवल.	१ यथा	३ केवल बिना	६	१ शुभ	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ आहा.	२ साकार अनाकार
२. अनाहारक—(ध २/१,१/८५०-८५५)																							
१		अपर्याप्ति ही	५ १,२,४ १३-१४ अतीत	८ ७ अप. १ अयो प. अतीत प.	६,५,४ अपर्याप्ति ६ पर्याप्ति अतीत प.	७,७,६,५, ४,३,२, १ अतीत प्राण.	४ क्षीणसंज्ञा	४ सिद्ध गति	५ अतीन्द्रिय	६ अकाय	१ कार्मण अयोग	३ अपगत	४ अकषाय	६ विभंग व मन: बिना	२ असंयम यथा अनुभय	३ ३ चक्षु रहित दे. दर्शन/७/३	६	६ अलेश्य	२ भव्य, अभव्य अनुभय	५ मिश्र बिना	२ संज्ञी असंज्ञी	१ अना.	२ साकार अना.
२	१	अपर्याप्ति ही	१ मिथ्या	७ अप.	६,५,४ अपर्याप्ति	७,७,६,५, ४,३	४	४	५	६	१ कार्मण	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ शु.	६	२ भव्य, अभव्य	१ मिथ्या	२ संज्ञी असंज्ञी	१ अना.	२ साकार, अनाकार
३	२	अपर्याप्ति ही	१ सासा.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	३ नरक रहित	१ पं.	१ त्रस	१ कार्मण	३	४	२ कुमति,कुश्रुत	१ असंयम	१ अचक्षु	१ शु.	६	१ भव्य.	१ सासा	१ संज्ञी	१ अना.	२ साकार, अनाकार

मार्गणा विशेष			१० प्ररूपणाएँ																				
सं	गुण स्थान	पर्याप्त अपर्याप्त	गुण स्थान	जीव समास	पर्याप्ति	प्राण	संज्ञा	गति	इन्द्रिय	काय	योग	वेद	कषाय	ज्ञान	संयम	दर्शन	लेश्या द्र.	लेश्या भा.	भव्य	सम्य.	संज्ञित्व	आहा.	उपयोग
४	४	अपर्याप्त ही	१ अवि.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	७	४	४	१ पं.	१ त्रस	१ कार्मण	२ पु. नपुं.	४	३ मति, श्रुत, अवधि	१ असंयम	२ अचक्षु अवधि	१ शु.	६	१ भव्य	३ औ., क्षा., क्षयो.	१ संज्ञी	१ अना.	२ साकार अना.
५	१३	अपर्याप्त ही	१ सयो.	१ सं. अप.	६ अपर्याप्ति	२	० असंज्ञा	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	१ कार्मण	० अपगत	० अकषाय	१ केवल	१ यथा.	१ केवल दर्शन	१ शु. ६	१ शु.	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ अना.	२ साकार अना. युगपत्
६	१४	पर्याप्त ही	१ अयो.	१ पर्याप्त	६ पर्याप्ति	१ आयु	० असंज्ञा	१ मनु	१ पं.	१ त्रस	० अयोग	० अपगत	० अकषाय	१ केवल	१ यथा.	१ केवल दर्शन	६	० अलेश्य	१ भव्य	१ क्षा.	० अनुभय	१ अना.	२ साकार अना. युगपत्
७	सिद्ध	अतीत	० अतीत गुणस्थान	० अतीत जीव समास	० अतीत प.	० अतीत प्रा.	० असंज्ञा	० सिद्ध गति	० अतीन्द्रिय	० अकाय	० अयोग	० अपगत	० अकषाय	१ केवल	० अनुभय	१ केवल दर्शन	० अलेश्य	० अलेश्य	० अनुभय	१ क्षा.	० अनुभय	० अतीत	२ साकार अना. युगपत्

६. अधःकर्म आदि विषयक आदेश प्ररूपणा—(ध. १३/५,४/६१-६२)

सं.	मार्गणा	प्रयोग कर्म	समवधान कर्म	अधः कर्म	ईर्यापथ कर्म	तप: कर्म	क्रियाकर्म
१	गति मार्गणा :—						
१	नरक गति सामान्य विशेष	,,	,,	×	×	×	,,
२	तिर्यंचगति सामान्य विशेष पर्याप्त	,,	,,	,,	×	×	,,
	,, पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	,,	,,	,,	×	×	×
३	मनुष्यगति सामान्य विशेष पर्याप्त	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	,, ,, अपर्याप्त	,,	,,	,,	×	×	×
४	देवगति सामान्य विशेष	,,	,,	×	×	×	,,
२	इन्द्रिय मार्गणा :—						
१	एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय	,,	,,	,,	×	×	×
२	पंचेन्द्रिय पर्याप्त	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३	पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	,,	,,	,,	×	×	×
३	काय मार्गणा :—						
१	पाँचों स्थावर	,,	,,	,,	×	×	×
२	त्रस पर्याप्त	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३	त्रस अपर्याप्त	,,	,,	,,	×	×	×
४	योग मार्गणा :—						
१	पाँचो मन वचन योग	,,	,,	,,	,,	,,	,,
२	औदारिक व औ. मिश्र काय योग	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३	वैक्रियिक व वै. मिश्र काय योग	,,	,,	×	×	×	,,
४	आहारक व आ. मिश्र काय योग	,,	,,	,,	×	,,	,,
५	कार्मण काय योग	,,	,,	,,	,,	,,	,,
५	वेद मार्गणा :—						
१	तीनों वेद	,,	,,	,,	×	,,	,,
२	अपगत वेद	,,	,,	,,	,,	,,	,,
६	कषाय मार्गणा :—						
१	चारों कषाय	,,	,,	,,	×	,,	,,
२	अकषाय	,,	,,	,,	,,	,,	×
७	ज्ञान मार्गणा :—						
१	मतिश्रुत अज्ञान व विभंग	,,	,,	,,	×	×	×
२	मतिश्रुत ज्ञान	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३	अवधि मनःपर्यय ज्ञान	,,	,,	,,	,,	,,	,,
४	केवल ज्ञान	,,	,,	,,	,,	,,	×
८	संयम मार्गणा :—						
१	संयत सामान्य	,,	,,	,,	,,	,,	,,
२	सामायिक, छेदोपस्थापना परिहार वि०	,,	,,	,,	×	,,	,,
३	सूक्ष्म साम्पराय	,,	,,	,,	×	,,	×
४	यथाख्यात	,,	,,	,,	,,	,,	×
५	संयतासंयत	,,	,,	,,	×	×	,,
६	असंयत	,,	,,	,,	×	×	,,
९	दर्शन मार्गणा :—						
१	चक्षु; अचक्षु व अवधिदर्शन	,,	,,	,,	,,	,,	,,
२	केवल दर्शन	,,	,,	,,	,,	,,	×
१०	लेश्या मार्गणा :—						
१	कृष्ण, नील व कापोत लेश्या	,,	,,	,,	×	×	,,
२	पीत पद्म	,,	,,	,,	×	,,	,,
३	शुक्ल	,,	,,	,,	,,	,,	,,
४	अलेश्य	,,	,,	,,	,,	,,	×
११	सम्यक्त्व मार्गणा :—						
१	सामान्य, क्षायिक, उपशम	,,	,,	,,	,,	,,	,,
२	क्षयोपशम	,,	,,	,,	×	,,	,,
३	सासादन व मिश्र	,,	,,	,,	×	×	×
४	मिथ्यादर्शन	,,	,,	,,	×	×	×
१२	भव्यत्व मार्गणा :—						
१	भव्य	,,	,,	,,	,,	,,	,,
२	अभव्य	,,	,,	,,	×	×	×
१३	संज्ञी मार्गणा :—						
१	संज्ञी	,,	,,	,,	×	×	×
२	असंज्ञी	,,	,,	,,	×	×	×
१४	आहारक मार्गणा :—						
१	आहारक, अनाहारक	,,	,,	,,	,,	,,	,,

७. पाँचों शरीरोंकी संघातन परिशातन कृति सम्बन्धी

* पाँचों शरीरोंके योग्य पुद्गल स्कन्धोंकी उत्कृष्ट जघन्य संघातन व परिशातन कृतियाँ ओघ व आदेश प्ररूपणा— (ध. ९/४,१,७१/३५४-३५८)

सत्कथा—दे. कथा।

सत्कर्म तथा सत्कर्म पञ्जिका—दे. परिशिष्ट।

सत्कर्मिक—दे. सत्व।

सत्क्रिया—दे. क्रिया/३/३।

सत्पुरुष—किम्पुरुष जातिका व्यन्तर देव—दे. किंपुरुष।

सत्वाद—ध/१५/१७/१७ भाषा—चूंकि असत् कार्य नहीं किया जा सकता है।...अतएव...कारण व्यापारसे पूर्व भी कार्य सत ही है, यह सिद्ध है। ऐसा किन्हीं कपिलादिका कहना है।

सत्संगति—दे संगति।

सतालक—पिशाच जातीय व्यन्तर देव—दे. पिशाच।

सतीपुत्र—मद्रास प्रान्तमें वर्तमान केरल। (म.पु./प्र.५०)।

सत्कार पुरस्कार परिषह—

स.सि./९/९/४२६/९ सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः। पुरस्कारो नाम क्रियारम्भादिष्वग्रतः करणमामन्त्रणं वा, तत्रानादरो मयि क्रियते। चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयनिर्णयज्ञस्य बहुकृत्वः परवादिविजयिनः प्रणामभक्तिसंभ्रमासनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोति। मिथ्यादृष्टय एवातीवभक्तिमन्तः किंचिदजानन्तमपि सर्वज्ञसंभावनया संमान्यस्वसमयप्रभावनं कुर्वन्ति। व्यन्तरादयः पुरा अत्युग्रतपसां प्रत्यग्रपूजां निर्वर्तयन्तीति मिथ्याश्रुतिर्यदि न स्यादिदानीं कस्मान्मादृशां न कुर्वन्तीति, दुष्प्रणिधानविरहितचित्तस्य सत्कारपुरस्कारपरिषहविजय इति विज्ञायते।—सत्कारका अर्थ पूजा-प्रशंसा है। तथा क्रिया आरम्भ आदिकमें आगे करना या आमन्त्रण देना पुरस्कार है। इस विषयमें यह मेरा अनादर करता है। चिरकालसे मैंने ब्रह्मचर्यका पालन किया है, महा तपस्वी हूँ, स्वसमय और परसमयका निर्णयज्ञ हूँ, मैंने बहुत बार परवादियोंको जीता है तो भी कोई मुझे प्रणाम, और मेरी भक्ति नहीं करता एवं उत्साहसे आसन नहीं देता, मिथ्यादृष्टि ही अत्यन्त भक्तिवाले होते हैं, कुछ नहीं जानने वालेको भी सर्वज्ञ समझ कर आदर-सत्कार करके अपने समयकी प्रभावना करते हैं, व्यन्तरादिक पहले अत्यन्त उग्र तप करने वालोंकी प्रत्यग्र पूजा रचते हैं यदि मिथ्या श्रुति नहीं है तो इस समय वे हमारे समान तपस्वियोंकी क्यों नहीं करते इस प्रकार खोटे अभिप्रायसे जिसका चित्त रहित है उसके सत्कारपुरस्कार परीषह जय जानना चाहिए। (रा.वा./९/९/२५/६१२/४); (चा.सा./१२६/५)।

सत्तरिका—दे. परिशिष्ट में 'सप्ततिका'।

सत्ता—पं.का./मू./८ सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया। भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का।८।—सत्ता, उत्पाद, व्यय-ध्रौव्यात्मक, एक सर्वपदार्थ स्थित, सविश्वरूप, अनन्तपर्यायमय और सप्रतिपक्ष है।८। (ध.९/४,१,४५/गा. ६०/१७१); (ध.१३/५, ३,१२/गा.४/१६)।

दे. द्रव्य/१/७ [सत्ता, सत्त्व, सत, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये एकार्थक शब्द हैं]

नि सा./ता.वृ./३४ अस्तित्वं नाम सत्ता।—अस्तित्वको सत्ता कहते हैं।

★ **सत्ताके दो भेद**—महासत्ता व अवान्तर सत्ता—(दे. अस्तित्व)।

सत्ताग्राहक द्रव्यार्थिक नय—दे. नय/IV/२।

सत्तावलोकन—दे. दर्शन/१,३।

सत्य—जैसा हुआ हो वैसा ही कहना सत्यका सामान्य लक्षण है, परन्तु अध्यात्म मार्गमें स्व व पर अहिंसाकी प्रधानता होनेसे हित व मित वचनको सत्य कहा जाता है, भले ही कदाचित् वह कुछ असत्य भी क्यों न हो। सत्य वचन अनेक प्रकारके होते हैं।

१. सत्य निर्देश

१. सत्य धर्मका लक्षण

बा.अणु./७४ परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं। जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं।७४।—जो मुनि दूसरेको क्लेश पहुँचाने वाले वचनोंको छोड़कर अपने और दूसरेके हित करने वाले वचन कहता है उसके चौथा सत्य धर्म होता है।

स.सि./९/६/४१२/७ सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्यमित्युच्यते।—अच्छे पुरुषोंके साथ साधु वचन बोलना सत्य है। (रा.वा./९/६/६/५९६/७); (चा.सा./६१/१); (अन ध./६/३१)।

भ.आ./वि./४६/१५४/१६ सतो साधूनां हितभाषणं सत्यम्।—मुनि और उनके भक्त अर्थात् श्रावक इनके साथ आत्महितकर भाषण बोलना यह सत्य धर्म है।

त.सा./६/१७ ज्ञानचारित्रशिक्षादौ स धर्मः सुनिगद्यते। धर्मोपबृंहणार्थं यत् साधु सत्यं तदुच्यते।१७।—धर्मकी वृद्धिके लिए धर्म सहित बोलना वह सत्य कहाता है। इस धर्मके व्यवहारकी आवश्यकता ज्ञान चारित्रके सिखाने आदिमें लगती है।

पं.वि./१/९१ स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च। वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेयं धीधनैर्मौनम्।९१।—मुनियोंको सदैव ही स्वपर हितकारक, परिमित तथा अमृतके सदृश ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए। यदि कदाचित सत्य वचन बोलनेमें बाधा प्रतीत होती है तो मौन रहना चाहिए।९१।

का.अ./मू./३९८ जिण-वयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि। ववहारेण वि अलियं ण वददि जो सच्चवाई सो।३९८।—जो जिन-आचारोंको पालनेमें असमर्थ होता हुआ भी जिन-वचनका कथन करता है उससे विपरीत कथन नहीं करता है तथा व्यवहारमें भी झूठ नहीं बोलता वह सत्यवादी है।३९८।

२. महाव्रतका लक्षण

नि.सा./५७ रागेण व दोसेण व मोहेण व मोस भासपरिणामं। जो पजहदि साहु सया बिदियवयं होइ तस्सेव।५७।—रागसे, द्वेषसे अथवा मोहसे होनेवाले, मृषा भाषाके परिणामको जो साधु छोड़ता है, उसीको सदा दूसरा व्रत है।५७।

मू आ./६,२९० रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणोत्तिं। सुत्तत्थाणवि कहणे अयधा वयणुज्झणं सच्चं।६। हस्सभयकोहलोहा मणिवचिकायेण सव्वकालम्मि। मोस ण य भासिज्जो पच्चयघादी हवदि एसो।२९०।—राग, द्वेष, मोहके कारण असत्य वचन तथा दूसरोंको सन्ताप करनेवाले ऐसे सत्यवचनको छोड़ना और द्वादशांगके अर्थ कहनेमें अपेक्षा रहित वचनको छोड़ना सत्य महाव्रत है।६। हास्य, भय, क्रोध अथवा लोभसे मन-वचन-कायकर किसी समयमें भी विश्वास घातक दूसरेको पीड़ाकारक वचन न बोले। यह सत्यव्रत है।२९०।

३. सत्य अणुव्रतका लक्षण

र.क.श्रा./५५ स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे। यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम्।—स्थूल झूठ तो न आप बोले न दूसरोंसे बुलवावे, तथा जिस वचनसे विपत्ति आती हो, ऐसा वचन यथार्थ भी न आप बोले और न दूसरोंसे बुलवावे ऐसे उसको सत्पुरुष सत्याणुव्रत कहते हैं।

स.सि./७/२०/३५८/८ स्नेहमोहादिवशाद् गृहविनाशे ग्रामविनाशे वा कारणमित्यभिमतादसत्यवचनान्निवृत्तो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम्।—गृहस्थ स्नेह और मोहादिकके वशसे गृहविनाश और ग्रामविनाशके

कारण असत्य वचनसे निवृत्त है, इसलिए उसके दूसरा अणुव्रत है। (रा.वा./७/२०/२/५४७/८)।

वसु.श्रा./२१० अलियं ण जंपणीयं पाणिवहकरं तु सच्चवयणं पि। रायेण य दोसेण य णेयं विदियं वयं थूलं।२१०। —रागसे अथवा द्वेषसे झूठ वचन नहीं बोलना चाहिए, और प्राणियोंका घात करनेवाला सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए, यह दूसरा स्थूल सत्यव्रत जानना चाहिए।

का. अ./३३३-३३४ हिंसा वयणं ण वयदि कक्कस-वयणं पि जो ण भासेदि। णिट्ठुरं वयणं पि तहा ण भासदे गुज्झ-वयणं पि।३३३। हिद-मिद वयणं भासदि संतोस-करं तु सव्व-जीवाणं। धम्म-पयासण-वयणं अणुव्वदी होदि सो विदियो।३३४। —जो हिंसाका वचन नहीं कहता, कठोर वचन नहीं कहता, निष्ठुर वचन नहीं कहता, और न दूसरोंकी गुप्त बातको प्रकट करता है। तथा हित-मित वचन बोलता है, सब जीवोंको सन्तोषकारक वचन बोलता है, और धर्मका प्रकाशन करनेवाला वचन बोलता है वह दूसरे सत्याणुव्रतका धारी है।३३३-३३४।

४. सत्यके भेद

भ. आ./मू./११९३/११८९ जणवदसंमदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे। संभावणववहारे भावेणोपम्मसच्चेण।११९३। —जनपद, सम्मति, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीति, सम्भावना, व्यवहार, भाव और उपमा-सत्य ऐसे सत्यके १० भेद हैं। (मू. आ./३०८); (गो. जी./मू./२२२)।

रा. वा./१/२०/१२/७५/२० दशविधः सत्यसद्भावः नामरूपस्थापना-प्रतीत्य-संवृति-संयोजना-जनपद-देशभाव-समयसत्यभेदेन। —सत्यके दश भेद हैं—नाम, रूप, स्थापना, प्रतीति, संवृति, संयोजना, जनपद, देश, भाव, और समयसत्य। (ध. १/१,१,२/११७/६); (ध. ९/४,१,४५/२१८/१)।

५. जघन्योत्कृष्ट सत्य निर्देश

सा. ध./४/४१-४३ यद्वस्तु यद्देशकालप्रमाकारं प्रतिश्रुतम्। तस्मिंस्तथैव संवादि, सत्यासत्यं वचो वदेत।४१। असत्यं वय वासोऽन्धो, रन्धयेत्यादि-सत्यगम्। वाच्यं कालातिक्रमेण, दानात्सत्यमसत्यगम्।४२। यत्स्वस्य नास्ति तत्कल्ये, दास्यामीत्यादिसंविदा। व्यवहारं विरुन्धानं, नासत्यासत्यमालपेत्।४३। —जो वस्तु जिस देश, काल, प्रमाण और आकारवाली प्रसिद्ध है, उस वस्तुके विषयमें उसी देश, काल, प्रमाण और आकार रूप कथन करनेवाले सत्यासत्य वचनको बोलना चाहिए।४१। सत्याणुव्रतके पालक श्रावकके द्वारा वस्त्रको बुनो और भातको पकाओ इत्यादि सत्यसूचक असत्यवचन तथा कालकी मर्यादाको उल्लंघन करके देनेसे असत्य सूचक वचन बोलने योग्य हैं। ऐसे वचन सत्यासत्य कहलाते हैं।४२। सत्याणुव्रतको पालन करनेवाला श्रावक जो वस्तु अपनी नहीं है वह वस्तु मैं तुम्हारे लिए प्रातःकाल दूँगा इत्यादि रूप प्रतिज्ञाके द्वारा लोक व्यवहारको बाधा देनेवाले असत्यासत्य वचनको नहीं बोले।४३।

६. जनपद आदि दश सत्योंके लक्षण

मू. आ./३०९-३१३ जणवदसच्चं जध ओदणादि रुचिदे य सव्वभासाए। बहुजणसंमदमवि होदि जं तु लोए तहा देवी।३०९। ठवणा ठविदं जह देवदादि णामं च देवदत्तादि। उक्कडदरोत्ति वण्णे रूवे सेओ जध बलाया।३१०। अण्णं अपेच्छसिद्धं पडुच्चसच्चं जहा हवदि दिग्घं। ववहारेण य सच्चं रज्झदि कूरो जहा लोए।३११। संभावणा य सच्चं जदि णामेच्छेज्ज एव कुज्जंति। जदि सक्को इच्छेज्जो जंबूदीवं हि पल्लत्थे।३१२। हिंसादिदोसविजुदं सच्चमकप्पियवि-भावदो भावं। ओवम्मेण दु सच्चं जाणसु पलिदोवमादीया।३१३। —जो सब भाषाओंमें भातके नाम पृथक्-पृथक् बोले जाते हैं जैसे चोरु, कूल, भक्त आदि ये देशसत्य हैं। और बहुत जनोंके द्वारा माना गया जो नाम वह सम्मतसत्य है, जैसे—लोकमें राजाकी स्त्रीको देवी कहना।३०९। जो अर्हन्त आदिकी पाषाण आदिमें स्थापना वह स्थापनासत्य है। जो गुणकी अपेक्षा न रखकर व्यवहारके लिए देवदत्त आदि नाम रखना वह नामसत्य है। और जो रूपके बहुतपनेसे कहना कि बगुलोंकी पंक्ति सफेद होती है वह रूपसत्य है।३१०। अन्यकी अपेक्षासे जो कहा जाय सो वह प्रतीत्य-सत्य है जैसे 'यह दीर्घ है' यहाँ ह्रस्वकी अपेक्षासे है। जो लोकमें 'भात पकता' है ऐसा वचन कहा जाता है वह व्यवहार सत्य है।३११। जैसी इच्छा रखे वैसा कर सके वह सम्भावना सत्य है। जैसे इन्द्र इच्छा करे तो जम्बूद्वीपको उलट सकता है।३१२। जो हिंसादि दोष रहित अयोग्य वचन भी हो वह भावसत्य है जैसे किसीने पूछा कि, 'चोर देखा, उसने कहा कि, 'नहीं देखा'। जो उपमा सहित हो वह वचन उपमासत्य है जैसे पल्योपम, सागरोपम आदि कहना। (भ. आ. वि./११९३/११८९/११); (गो. जी./जी. प्र./२२३-२२४/४८१/२)

रा. वा./१/२०/१२/७५/२१ तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्यासत्यप्यर्थे यद्व्यवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यम्, इन्द्र इत्यादि। यदर्थासंनिधानेऽपि रूप-मात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यम्, यथा चित्रपुरुषादिषु असत्यमपि चैतन्यो-पयोगादावर्थे पुरुष इत्यादि। असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताक्षनिक्षेपादिषु तत् स्थापनासत्यम्। आदिमदनादिमदौपशमि-कादीन् भावान् प्रतीत्य यद्वचः तत्प्रतीत्यसत्यम्। यल्लोके संवृत्या-नीतं वचस्तत् संवृतिसत्यं यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति 'पङ्के जातं पङ्कजम्' इत्यादि। धूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्म-मकर-हंस-सर्वतोभद्र-क्रौञ्च-व्यूहादिषु वा सचेतनेतरद्रव्याणां यथा भागविधिसंनिवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत् संयोजनासत्यम्। द्वात्रिंश-ज्जनपदेष्वार्यानार्यभेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं यद्वचः तत् जनपदसत्यम्। ग्रामनगरराजगणपाखण्डजातिकुलादिधर्माणामुपदेष्टृ यद्वचः तद् देशसत्यम्। छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुक-मित्यादि यद्वचः तत् भावसत्यम्। प्रतिनियतषट्तयद्रव्यपर्यायाणाम-गमगम्यानां याथात्म्याविष्करणं यद्वचः तत् समयसत्यम्। —पदार्थोंके न होनेपर भी सचेतन और अचेतन द्रव्यकी संज्ञा करनेको नामसत्य कहते हैं जैसे इन्द्र इत्यादि। पदार्थका सन्निधान न होनेपर भी रूपमात्रकी अपेक्षा जो कहा जाता है वह रूपसत्य है जैसे चित्रपुरुषादिमें चैतन्य उपयोगादि रूप पदार्थके न होनेपर भी 'पुरुष' इत्यादि कहना। पदार्थके न होनेपर भी कार्यके लिए जो जूएँके पाँसे आदि निक्षेपोंमें स्थापना की जाती है वह स्थापना सत्य है। सादि व अनादि आदि भावोंकी अपेक्षा करके जो वचन कहा जाता है वह प्रतीत्यसत्य है। जो वचन लोक रूढ़िमें सुना जाता है वह संवृतिसत्य है, जैसे पृथिवी आदि अनेक कारणोंके होनेपर भी पंक अर्थात् कीचड़में उत्पन्न होनेसे 'पंकज' इत्यादि वचनप्रयोग। सुगन्धित धूपचूर्णके लेपन और घिसनेमें अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और क्रौंचरूप व्यूह (सैन्यरचना) आदिमें भिन्न द्रव्योंकी विभाग विधिके अनुसार की जानेवाली रचनाको प्रगट करनेवाला वचन वह संयोजना सत्य वचन कहलाता है। आर्य व अनार्य भेदयुक्त बत्तीस जनपदोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका प्रापक जो वचन वह जनपदसत्य है। जो वचन, ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति एवं कुल आदि धर्मोंका व्यपदेश करनेवाला है वह देशसत्य है। छद्मस्थ ज्ञानीके द्रव्यके यथार्थ स्वरूपका दर्शन होनेपर भी संयत अथवा संयतासंयतके अपने गुणोंका पालन करनेके लिए 'यह प्रासुक है—यह अप्रासुक है' इत्यादि जो वचन कहा जाता है वह भावसत्य है। जो वचन आगमगम्य प्रतिनियत छह द्रव्य व उनकी पर्यायोंकी

यथार्थताको प्रगट करनेवाला है वह समयसत्य है। (ध. १/१,१,२-/११७/८); (ध. ६/४,१,४५/२१८/२); (चा. सा./६२/२); (अन. ध./४/४७)।

आमंत्रणी आदि भाषाओंमें कथंचित् सत्यासत्यपना।—दे० भाषा।

७. सत्यकी भावनाएँ

१. सत्यधर्मकी अपेक्षा

रा.वा./९/६/२७/५९९/१८ सत्यवाचि प्रतिष्ठिताः सर्वा गुणसंपदः। अनृतभाषिणं बन्धवोऽपि अवमन्यते(न्ते) मित्राणि च परित्यजन्ति, जिह्वाच्छेदनसर्वस्वहरणादिव्यसनभागपि भवति। —सभी गुण सम्पदाएँ सत्य वक्तामें प्रतिष्ठित होती हैं। झूठेका बन्धुजन भी तिरस्कार करते हैं। उसके कोई मित्र नहीं रहते। जिह्वा छेदन, सर्व धन हरण आदि दण्ड उसे भुगतने पड़ते हैं। (चा. सा./६५/४)।

२. सत्यव्रतकी अपेक्षा

मू. आ./३३८ कोहभयलोहहासपइण्णा अणुवीचिभासणं चेव। बिदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति। —क्रोध, भय, लोभ, हास्य, इनका त्याग और सूत्रानुसार बोलना—ये पाँच सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं। (भा. पा./मू./३३)।

त. सू./७/५ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पञ्च।५।

स. सि./७/९/३४७/६ अनृतवादीऽश्रद्धेयो भवति इहैव च जिह्वाच्छेदादीन् प्रतिलभते मिथ्याभ्याख्यानदुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यो बहूनि व्यसनान्यवाप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति अनृतवचनादुपरमः श्रेयान्।…एवं हिंसादिष्वपायावद्यदर्शनं भावनीयम्। —१. क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचीभाषण ये सत्यव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं। २. असत्यवादीका कोई श्रद्धान नहीं करता। वह इस लोकमें जिह्वाछेद आदि दुःखोंको प्राप्त होता है तथा असत्य बोलनेसे दुःखी हुए अतएव जिन्होंने वैर बाँध लिया है, उनसे बहुत प्रकारकी आपत्तियोंको और परलोकमें अशुभगतिको प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है इसलिए असत्य वचनका त्याग श्रेयस्कर है। … इस प्रकार हिंसा आदि दोषोंमें अपाय और अवद्यके दर्शनकी भावना करनी चाहिए।

८. सत्याणुव्रतके अतिचार

त. सू./७/२६ मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः।२६। —मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार हैं।२६। [र. क. श्रा. में साकारमन्त्रके स्थानपर पैशुन्य है।] (र. क. श्रा./५६)।

सा. ध./४५ मिथ्यादेशं रहोभ्याख्यां कूटलेखक्रियां त्यजेत्। न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञां मन्त्रभेदं च तद्व्रतः।४५। —सत्याणुव्रतको पालनेवाले श्रावकोंको मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्या, कूटलेखक्रिया, न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा और मन्त्रभेद इन पाँचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिए।४५।

★ सत्यव्रतकी भावनाओं व अतिचारों सम्बन्धी विशेष विचार—दे. व्रत/२।

२. सत्यासत्य व हिताहित वचन विवेक

१. अहितकारी सत्य भी असत्य और हितकारी असत्य भी सत्य है

कुरल/३/२ संकटाकीर्णजीवानामुद्धारकरणेच्छया। कथिता साधुभिर्जातु मृषोक्तिरमृषैव सा।२। —उस झूठमें भी सत्यताकी विशेषता है जिसके परिणाममें नियमसे भलाई ही होती है।२। —(आराधनासार/३/८)।

चा. सा./टी./२ यद्विद्यमानार्थविषयं प्राणिपीडाकारणं तत्सत्यमप्यसत्यम्। —विद्यमान पदार्थोंको विद्यमान कहनेवाले वचन यदि प्राणियोंको पीड़ा देनेवाले हों तो वे सत्य होकर भी असत्य माने जाते हैं।

ज्ञा./९/३ असत्यमपि तत्सत्यं यत्सत्त्वाशंसकं वचः। सावद्यं यच्च पुष्णाति तत्सत्यमपि निन्दितम्।३। —जो वचन जीवोंका इष्ट हित करनेवाला हो वह असत्य हो तो भी सत्य है और जो वचन पाप सहित हिंसारूप कार्यको पुष्ट करता हो वह सत्य भी हो तो असत्य और निन्दनीय है। (आचारसार/५/२२-२३)।

अन. ध./४/४२ सत्यं प्रियं हितं चाहुः सूनृतं सूनृतव्रताः। तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत्।४२। —जो वचन प्रशस्त, कल्याणकारक तथा सुननेवालेको आह्लाद उत्पन्न करनेवाला, उपकारी हो, ऐसे वचनको सत्यव्रतियोंने सत्य कहा है। किन्तु उस सत्यको सत्य न समझना जो अप्रिय और अहितकर हो।

ला. सं./६/६,७ सत्यमपि असत्यतां याति क्वचिद्धिंसानुबन्धतः।६। असत्यं सत्यतां याति क्वचिज्जीवस्य रक्षणात्।७। —जिन वचनोंसे जीवोंकी हिंसा सम्भव हो ऐसे सत्य वचन भी असत्य हैं।६। इसी प्रकार कहीं-कहीं जीवोंकी रक्षा होनेसे असत्य वचन भी सत्य कहलाते हैं।

मो. मा. प्र./८/४१३/१५ जो झूठ भी है अर साँचा प्रयोजन कौं पोषै तौ वाकौ झूठ न कहिये बहुरि साँच भी है अर झूठा प्रयोजन कौं पोषै तौ वह झूठ ही है।

२. कटु भी हितोपदेश असत्य नहीं

भ. आ./मू./३५७/५६१ पत्थं हिदयाणिट्टं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स। कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स।३५७। —हे मुनिगण! तुम अपने संघवासी मुनियोंसे हितकर वचन बोलो, यद्यपि वह हृदयको अप्रिय हो तो कोई हरकत नहीं है। जैसे—कटुक भी औषध परिणाममें मधुर और कल्याणकारक होता है वैसे तुम्हारा भाषण मुनिका कल्याण करेगा।

पु. सि. उ./१०० हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्। हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम्।१००। —समस्त ही अनृत वचनोंका प्रमाद सहित योग निर्दिष्ट होनेसे हेयोपादेयादि अनुष्ठानोंका कहना झूठ नहीं होता। [हेयोपादेयका उपदेश करनेवाले मुनिराजके वचनोंमें नवरसपूर्ण क्रियोंका वर्णन होनेपर भी तथा पापकी निन्दा करनेसे पापी जीवोंको अप्रिय लगनेपर भी तथा अपने बन्धुओंको हितोपदेशके कारण दुखी होते हुए भी उन्हें असत्यका दोष नहीं है, क्योंकि उन्हें प्रमादयोग नहीं है। (पं. टोडरमल)]।

★ कठोर भी हितोपदेशकी इष्टता—दे. उपदेश/३।

३. असत्य सम्भाषणका निषेध

भ. आ./मू./८४७, ८५०/९७५,९७७ अलियं सकिं पि भणिदं घादं कुणदि बहुगाण सच्चाणं। अदिसंकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो।८४७। परलोगम्मि वि दोसा ते चेव हवंति अलियवादिस्स। मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स।८५०।—एक बार बोला हुआ असत्य भाषण अनेक बार बोले सत्य भाषणोंका संहार करता है। असत्यवादी स्वयं डरता है तथा शंकायुक्त है कि मेरा असत्य भाषण प्रकट होगा तो मेरा नाश होगा।८४७। असत्य भाषीके अविश्वास आदि दोष परलोकमें भी प्राप्त होते हैं परजन्ममें प्रयत्नसे इनका त्याग करनेपर भी इन दोषोंका उसके ऊपर आरोप आता है।८५०।

कुरल/१२/६ नीतिं मनः परित्यज्य कुमार्गं यदि धावति। सर्वनाशं विजानीहि तदा निकटसंस्थितम्।६।—जब तुम्हारा मन सत्यसे विमुख होकर असत्यकी ओर झुकने लगे तो समझ कि तुम्हारा सर्वनाश निकट ही है।

४. कटु सम्भाषणका निषेध

कुरल./१३/८,६ एकमेव पदं वाण्यामस्ति चेन्मर्मघातकम्। विनष्टास्तर्हि विज्ञेया उपकाराः पुराकृताः।८। दग्धमङ्गं पुनः साधु जायते कालपाकतः। कालपाकमपि प्राप्य न प्ररोहति वाक्क्षतम्।६।

कुरल./१४/६ विद्याविनयसंपन्नः शालीनो गुणवान् नरः। प्रमादादपि दुर्वाक्यं न ब्रूते हि कदाचन।६।—यदि तुम्हारे एक शब्दसे भी किसीको कष्ट पहुँचता है तो तुम अपनी सब भलाई नष्ट हुई समझो।८। आगका जला हुआ तो समय पाकर अच्छा हो जाता है, पर वचनका घाव सदा हरा बना रहता है।६। अवाच्य तथा अपशब्द, भूलकर भी संयमी पुरुषके मुखसे नहीं निकलेंगे।

५. व्यर्थ सम्भाषणका निषेध

कुरल./२०/७,१० उचितं बुध चेद् भाति कुर्याः कर्कशभाषणम्। परं नैव वृथालापं यतोऽस्माद्वै तदुत्तमम्।७। वाचस्ता एव वक्तव्या याः श्लाघ्याः सभ्यमानवैः। वर्जनीयास्ततो भिन्ना अवाच्या या वृथोक्तयः।१०।—यदि समझदारको मालूम पड़े तो मुखसे कठोर शब्द कह ले, क्योंकि यह निरर्थक भाषणसे कहीं अच्छा है।७। मुखसे बोलने योग्य वचनोंका ही तू उच्चारण कर, परन्तु निरर्थक शब्द मुखसे मत निकाल।१०।

६. सत्यकी महत्ता

भ. आ./मू./८३५-८५२ ण डहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुड्डेइ। सच्चबलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदी वि।८३८। सच्चेण देवदाओ णवंति पुरिसस्स ठंति य वसम्मि। सच्चेण य गहगहिदं मोएइ करेंति रक्खं च।८३६।—सत्यवादीको अग्नि जलाती नहीं, पानी उसको डुबोनेमें असमर्थ होता है। सत्य भाषण ही जिसका सामर्थ्य है ऐसे मनुष्यको बड़े वेगसे पर्वतसे कूदनेवाली नदी नहीं बहा सकती।८३८। सत्यके प्रभावसे देवता उनका वन्दन करते हैं, उसके वश होते हैं, सत्यके प्रभावसे पिशाच भाग जाता है तथा देवता उनके रक्षण करते हैं।८३६। (ज्ञा./६/२८)।

कुरल./१०/३,५ स्नेहपूर्णा, दयार्द्रहार्दिकी या च वाक्सुधा। एतयोरेव मध्ये तु धर्मो वसति सर्वदा।३। भूषणे द्वे मनुष्यस्य नम्रताप्रियभाषणे। अन्यद्धि भूषणं शिष्टैर्नादृतं सभ्यसंसदि।५।

कुरल./३०/७ न वक्तव्यं न वक्तव्यं मृषावाक्यं कदाचन। सत्यमेव परो धर्मः किं परैर्धर्मसाधनैः।७।—हृदयसे निकली हुई मधुर वाणी और ममतामयी स्निग्ध दृष्टिमें ही धर्मका निवासस्थान है।३। नम्रता और प्रिय-सम्भाषण, बस ये ही मनुष्यके आभूषण हैं अन्य नहीं।५। असत्य भाषण मत करो यदि मनुष्य इस आदेशका पालन कर सके तो उसे दूसरे धर्मको पालन करनेकी आवश्यकता नहीं है।७।

ज्ञा./६/२७,२६ व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणम्। चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम्।२७। चन्द्रमूर्तिरिवानन्दं वर्द्धयन्ती जगत्त्रये। स्वर्गिभिर्ध्रियते मूर्ध्नि कीर्तिः सत्योत्थिता नृणाम्।२६।—सत्यव्रत श्रुत और यमोंका स्थान है, विद्या और विनयका भूषण है, और सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र उत्पन्न करनेका कारण सत्य वचन ही है।२७। तीन लोकोंमें चन्द्रमाके समान आनन्दको बढ़ानेवाली सत्यवचनसे उत्पन्न हुई मनुष्योंकी कीर्तिको देवता भी मस्तकपर धारण करते हैं।२६। (पं. वि./१/६२-६३)।

७. धर्मापत्तिके समय सत्यका त्याग भी न्याय है

सा.ध./४/३६ कन्यागोक्ष्मालीक-कूटसाक्ष्यन्यासापलापवत्। स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन्।३६। —व्रती श्रावक कन्या अलीक, गोअलीक, पृथ्वी अलीक, कूटस्थ अलीक और न्यासालापकी तरह अपने तथा परको विपत्तिके हेतु सत्यको भी छोड़ता हुआ सत्याणुव्रतधारी कहलाता है।३६।

अमि. श्रा./६/४७ सत्यमपि विमोक्तव्यं परपीडारम्भतापभयजनकम्। पापं विमोक्तुकामैः सुजनैरिव पापिनां वृत्तम्।—पापारम्भको छोड़नेकी वाँछावाला पुरुष पर जीवोंको पीड़ाकारक आरम्भ, भय व सन्ताप जनक ऐसे सत्य वचनको भी छोड़े।४७।

★ **धर्म हानिके समय बिना बुलाये भी बोले**—दे. वाद।

८. सत्यधर्म व भाषा समितिमें अन्तर

स. सि./६/६/४१२/७ ननु चैतद् भाषासमितावन्तर्भवति। नैष दोषः; समितौ प्रवर्तमानो मुनिः साधुष्वसाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितं च ब्रूयात् अन्यथा रागादनर्थदण्डदोषः स्यादिति वाक्समितिरित्यर्थः। इह पुनः सन्तः प्रव्रजितास्तद्भक्ता वा तेषु साधु सत्यं ज्ञानचारित्रशिक्षणादिषु बह्वपि कर्तव्यमित्यनुज्ञायते धर्मोपबृंहणार्थम्।—प्रश्न—इसका (सत्यका) भाषा समितिमें अन्तर्भाव नहीं होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि समितिके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि साधु और असाधु दोनों प्रकारके मनुष्योंमें भाषा व्यवहार करता हुआ हितकारी परिमित वचन बोले, अन्यथा राग होनेसे अनर्थदण्ड दोष लगता है यह वचन समितिका अभिप्राय है। किन्तु सत्य धर्मके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि सज्जन पुरुष, दीक्षित या उनके भक्तोंमें साधु सत्य वचन बोलता हुआ भी ज्ञान चारित्रके शिक्षणके निमित्त बहुविध कर्तव्योंकी सूचना देता है और यह सब धर्मकी अभिवृद्धिके अभिप्रायसे करता है। इसलिए सत्य धर्मका भाषा समितिमें अन्तर्भाव नहीं होता। (रा. वा./६/६/१०/५६६/१)।

सत्यका अहिंसामें अन्तर्भाव—दे. अहिंसा/३।

सत्यकिपुत्र—१ भावि कालीन २३, २४ वें तीर्थंकरका पूर्व अनन्तर भव—दे. तीर्थंकर/५। २. वर्तमान कालीन ११वाँ रुद्र ८। दे. शलाका पुरुष/७।

सत्यघोष—१. म पु./५६/श्लोक सं. सिंहपुर नगरके राजा सिंहसेन राजाका श्रीभूति नामक मन्त्री था। परन्तु इसने अपनेको सत्यघोष प्रसिद्ध कर रखा था (१४६-१४७)। एक समय भद्रमित्र सेठके रत्न लेकर मुकर गया (१५१)। तब रानीने चतुराईसे इसके घरसे रत्न

मँगवाये (१६८-१६६)। इसके फलमें राजा द्वारा दण्ड दिया जानेपर आर्तध्यानसे मरकर सर्प हुआ (१७५-१७७) अनेकों भवोंके पश्चात् विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर हुआ। तब इसने सिंहसेनके जीव संजयन्त मुनि पर उपसर्ग किया। —विशेष दे. विद्युद्दंष्ट्र। २. इसीके रत्न उपरोक्त सत्यघोषने मार लिये थे। इसकी सत्यतासे प्रसन्न होकर राजाने इसको मन्त्री पदपर नियुक्त कर सत्यघोष नाम रखा। – दे. चंद्रमित्र

सत्यदत्त—एक विनयवादी —दे. वैनयिक।

सत्य प्रवाद—द्रव्यश्रुतका छठा पूर्व —दे. श्रुतज्ञान/III

सत्यभामा—ह. पु./सर्ग/श्लोक—सुकेतु विद्याधरकी पुत्री थी। कृष्णकी रानी थी (३६/५८) इसके भानु नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई (४४/१)। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली (६१/४०)।

सत्यमनोयोग—दे. मन।

सत्यवचनयोग—दे. वचन।

सत्यवाक कंगुनीवरम्—एक राजा था। समय—ई. १०८-११० (जीवन्धर चम्पु/प्र./१४)।

सत्य शासन परीक्षा—आ. विद्यानन्दि(ई.७७५-८४०)द्वारा रचित संस्कृत भाषा बद्ध न्यायविषयक ग्रन्थ है जिसमें न्याय पूर्वक जिन-शासनकी स्थापना की गयी है। (ती./२/३५७)।

सत्यादेवी—रुचकपर्वत निवासिनी दिक्कुमारीदेवी —दे. लोक५/१३।

सत्याभ—एक लौकान्तिकदेव —दे. लौकान्तिक।

सत्योपचार—दे. उपचार/१।

सत्त्व—सत्त्वका सामान्य अर्थ अस्तित्व है, पर आगममें इस शब्दका प्रयोग संसारी जीवोंमें यथा योग्य कर्म प्रकृतियोंके अस्तित्वके अर्थ में किया जाता है। एक बार बँधनेके पश्चात् जब तक उदयमें आ-आकर विवक्षित कर्मके निषेक पूर्णरूपेण झड़ नहीं जाते तब तक उस कर्मकी सत्ता कही गयी है।

१. सत्त्व निर्देश

१. सत्त्व सामान्यका लक्षण

१. अस्तित्वके अर्थमें

दे. सत्/१/१ सत्त्वका अर्थ अस्तित्व है ।

दे. द्रव्य/१/७ सत्ता, सत्त्व, सत, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये सब एकार्थक हैं ।

२. जीवके अर्थमें

स. सि /७/११/३४६/८ दुष्कर्मविपाकवशान्नानायोनिषु सीदन्तीति सत्त्वा जीवाः । —बुरे कर्मोंके फलसे जो नाना योनियोंमें जन्मते और मरते हैं वे सत्त्व हैं । सत्त्व यह जीवका पर्यायवाची नाम है । (रा. वा./७/११/५/५३८/२१)

३. कर्मोंकी सत्ताके अर्थमें

पं. सं./प्रा./३/३ धण्णस्स संगहो वा संतं···। —धान्य संग्रहके समान जो पूर्व संचित कर्म हैं, उनके आत्मामें अवस्थित रहनेको सत्त्व कहते हैं ।

क. पा./१/१,१३-१४/§२५०,२९१/६ ते चेव विदियसमयप्पहुडि जाव फलदाणहेट्ठिमसमओ त्ति ताव संतववएसं पडिवज्जंति । —जीवसे सबद्ध हुए वे ही (मिथ्यात्वके निमित्तसे संचित) कर्म स्कन्ध दूसरे समयसे लेकर फल देनेसे पहले समय तक सत्त्व इस संज्ञाको प्राप्त होते हैं ।

२. उत्पन्न व स्वस्थान सत्त्वके लक्षण

गो. क./भाषा/३५१/५०६/१ पूर्व पर्याय विषै जो बिना उद्वेलना [अपकर्षण द्वारा अन्य प्रकृतिरूप करके नाश करना] व उद्वेलनातै सत्त्व भया तिस तिस उत्तर पर्याय विषै उपजै, तहाँ उत्तरपर्याय विषैतिस सत्त्वको उत्पन्न स्थानविषै सत्त्व कहिए । तिस विवक्षित पर्याय विषै बिना उद्वेलना व उद्वेलना तै जो सत्त्व होय ताकौ स्वस्थान विषै सत्त्व कहिए ।

३. सत्त्व योग्य प्रकृतियोंका निर्देश

ध. १२/४,२,१४.३८/४९५/१२ जासिं पुण पयडीणं बंधो चेव णत्थि, बंधे संतेवि जासिं पयडीणं ट्ठिदिसंतादो उवरि सव्वकालं बंधो ण संभवदि; ताओ संतपयडीओ, संतपहाणत्तादो । ण च आहारदुग-तित्थयराणं ट्ठिदिसंतादो उवरि बंधो अत्थि, सम्माइट्ठीसु तदणुवलंभादो तम्हा सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणं व एदाणि तिण्णि वि संत-कम्माणि । —जिन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है और बन्धके होनेपर भी जिन प्रकृतियोंका स्थिति सत्त्वसे अधिक सदाकाल बन्ध सम्भव नहीं है वे सत्त्व प्रकृतियाँ हैं, क्योंकि, सत्त्वकी प्रधानता है । आहारकद्विक और तीर्थंकर प्रकृतिका स्थिति सत्त्वसे अधिक बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सम्यग्दृष्टियोंमें नहीं पाया जाता है, इस कारण सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्वके समान ये तीनों भी सत्त्व प्रकृतियाँ हैं ।

गो. क./मू./३८ पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणउदी । दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ सत्त पयडीओ ।३८। —पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तिरानवे, दो और पाँच, इस तरह सब (आठों कर्मोंकी सर्व) १४८ सत्तारूप प्रकृतियाँ कही हैं ।३८।

२. सत्त्व प्ररूपणा सम्बन्धी कुछ नियम

१. तीर्थंकर व आहारकके सत्त्व सम्बन्धी

१. मिथ्यादृष्टिको युगपत् सम्भव नहीं

गो. क/जी. प्र./३३३/४८५/४ मिथ्यादृष्टौ तीर्थकृत्त्वसत्त्वे आहारकद्वयसत्त्वं न । आहारकद्वयसत्त्वे च तीर्थकृत्त्वसत्त्वं न, उभयसत्त्वे तु मिथ्यात्वाभ्ययणं न तेन तद् द्वयम् । तत्र युगपदेकजीवापेक्षया न नानाजीवापेक्षयास्ति··· तत्सत्त्वकर्मणा जीवानां तद्गुणस्थानं न संभवतीति कारणात् । —मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें जिसके तीर्थंकरका सत्त्व हो उसके आहारक द्विकका सत्त्व नहीं होता, जिसके आहारक द्वयका सत्त्व हो उसके तीर्थंकरका सत्त्व नहीं होता, और दोनोंका सत्त्व होनेपर मिथ्यात्व गुणस्थान नहीं होता । इसलिए मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें एक जीवकी अपेक्षा युगपत् आहारक द्विक व तीर्थंकरका सत्त्व नहीं होता, केवल एकका ही होता है । परन्तु एक ही जीवमें अनुक्रमसे वा नाना जीवकी अपेक्षा उन दोनों का सत्त्व पाया जाता है ।···इसलिए इन प्रकृतियोंका जिनके सत्त्व हो उसके यह गुणस्थान नहीं होता (गो. क./जी.प्र./६११/८२३/११) ।

२. सासादनको सर्वथा सम्भव नहीं

गो. क./जी. प्र./३३३/४८५/५ सासादने तदुभयमपि एकजीवापेक्षयानेकजीवापेक्षया च क्रमेण युगपद्वा सत्त्वं नेति । —सासादन गुणस्थानमें एक जीवकी अपेक्षा वा नाना जीव अपेक्षा आहारक द्विक तथा तीर्थंकरका सत्त्व नहीं है ।

३. मिश्र गुणस्थानमें सत्त्व व असत्त्व सम्बन्धी दो दृष्टियाँ

गो. क./जी. प्र./३३३/४८५/६ मिश्रे तीर्थंकरत्वसत्त्वं न···तत्सत्त्वकर्मणां जीवानां तद्गुणस्थानं न संभवीति कारणात् ।

गो.क./जी.प्र./६११/प्रक्षेपक/१/२२३/१२ मिश्रे गुणस्थाने तीर्थयुतं चास्ति । तत्र कारणमाह । तत्तत्कर्मसत्त्वजीवानां तत्तद्गुणस्थानं न संभवति । —१. मिश्र गुणस्थानमें तीर्थंकरका सत्त्व नहीं होता । २. इसका सत्त्व

होनेपर इस गुणस्थानमें तीर्थंकर सहित सत्त्व स्थान है, परन्तु आहारक सहित सत्त्व स्थान नहीं है, क्योंकि इन कर्मोंकी सत्ता होनेपर यह गुणस्थान जीवोंके नहीं होता। [यह दूसरी दृष्टि है]

२. अनन्तानुबन्धीके सत्त्व असत्त्व सम्बन्धी

क. पा. २/२-२२/§ सं./पृ. सं./पं. अविहत्ती कस्स। अण्ण-सम्मादिट्ठिस्स *विसंजोयिद-अणंताणुबंधिचउक्कस्स* (§११०/९४/७) णिरयगदीए णेरइसु......अणंताणुबंधिचउक्काणं आघभंगो।......एवं पढमाए पुढवीए...त्ति वत्तव्वं। बिदियादि जाव सत्तमि त्ति एवं चेव णवरि मिच्छत्त-अविहत्ती णत्थि (§१११/९२/३-७) वेदगसम्मादिट्ठिसु-अविहत्ति कस्स। अणणविसंजोइद-अणंताणु० चउक्कस्स।...उव-समसम्मादिट्ठीसु...विसंयोजिय्द अणंताणुबंधि चउक्कस्स।...सास-णसम्मादिट्ठीसु सव्वपयडीण विहत्ती कस्स। अण्ण०। सम्मामि० *अणंताणु० चउक्क० विहत्ती अविहत्ति च कस्स। अण्ण०* (§११७/९८/१-८) मिच्छत्तस्स जो विहत्तिओ सो सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त-अणंताणुबंधिचउक्काणं सिया विहत्तियो, सिया अविहत्तिओ (§१४२/१३०/५) णेरइयो तिरिक्खो मणुस्सो देवो वा सम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी च सामिओ होदि त्ति। (§२४६/२१६/८) —जिस अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना कर दी है, ऐसे किसी भी सम्यग्दृष्टि जीवके अनन्तानुबन्धी चतुष्क अविभक्ति है। (§११०/९४/७) नरकगतिमें...अनन्तानुबन्धि चतुष्कका कथन ओघके समान है।...इस प्रकार पहली पृथिवीके नारकियोंके जानना चाहिए।...दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तकके नारकियोंके इसी प्रकार जानना चाहिए। इतनी विशेषता है कि इनके मिथ्यात्व अविभक्ति नहीं है। (§१११/९२/३-७) वेदक सम्यग्दृष्टि जीवके... जिसने अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना की है उसकी *अविभक्ति है।...जिसने अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना कर* दी है उस उपशम सम्यग्दृष्टिके अविभक्ति है।...सासादन सम्य-ग्दृष्टि जीवके सभी प्रकृतियोंकी विभक्ति है। सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंमें *अनन्तानुबन्धी चतुष्कको विभक्ति और अविभक्ति*...किसी भी सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवके है (§११७/९८/१-८) जो जीव मिथ्यात्वकी विभक्ति वाला है वह सम्यक् प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, और अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विभक्तिवाला कदाचित् है और कदाचित् नहीं है। (§१४२/१३०/५) नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देव इनमेंसे किसी भी गतिका सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव चौबीस प्रकृतिक स्थानका स्वामी होता है। (§२४६/२१६/८)

३. छब्बीस प्रकृति सत्त्वका स्वामी मिथ्यादृष्टि ही होता

क. पा. २/२-२२/ चूर्णसूत्र/§ २४७/२२१ छव्वीसाए विहत्तिओ को होदि। मिच्छाइट्ठी णियमा। —नियमसे मिथ्यादृष्टि जीव छब्बीस प्रकृतिक स्थानका स्वामी होता है।

४. २८ प्रकृतिका सत्त्व प्रथमोपशमके प्रथम समयमें होता है

दे० उपशम/२/२ प्रथमोपशम सम्यक्त्वसे पूर्व अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें अनादि मिथ्यादृष्टि जीव जब मिथ्यात्वके तीन खण्ड करता है तब उसके मोहकी २६ प्रकृतियोंकी बजाय २८ प्रकृतियोंका सत्त्व स्थान हो जाता है।

५. जघन्य स्थिति सत्त्व निषेक प्रधान है और उत्कृष्ट काल प्रधान

क. पा. ३/३, २२/§ ४७१/२६७/१० जहण्णट्ठिदि अद्धाछेदो णिसेग-पहाणो।...उक्कस्सट्ठिदी पुण कालपहाणो तेण णिसेगेण विणा एगसमए गलिदे वि उक्कस्सत्तं फिट्टदि। —जघन्य स्थिति अद्धाच्छेद निषेक प्रधान है।...किन्तु उत्कृष्ट स्थिति काल प्रधान है, इसलिए निषेकके बिना एक समयके गल जानेपर भी उत्कृष्ट स्थितिके उत्कृष्टत्व नाश हो जाता है।

क. पा. ३/३, २२/§५१३/२९१/८ जहण्णट्ठिदि-जहण्णट्ठिदि अद्धाच्छेदाणं जइवसहुच्चारणाइरिएहि णिसेगपहाणाणं गहणादो। उक्कस्सट्ठिदी उक्कस्सट्ठिदि अद्धाछेदो च उक्कस्सट्ठिदिसमयपबद्धणिसेगे मोत्तूण णाणासमयपबद्धणिसेगपहाणा।...पुव्विल्लवक्खाणमेदेण सुत्तेण सह किण्ण विरुज्झदे।...विरुज्झदे चेव, किंतु उक्कस्सट्ठिदि उक्क० ट्ठिदि अद्धाछेद जहण्णट्ठिदि-ज०ट्ठिदिअद्धाछेदाणं भेदपरूवणट्ठं तं वक्खाणं कयं वक्खाणाइरिएहि। चुण्णिसुत्तुच्चारणाइरियाणं पुण एसो णाहिप्पाओ। —जघन्य स्थिति और जघन्य स्थिति अद्धाच्छेदको यतिवृषभ आचार्य और उच्चारणाचार्यने निषेक प्रधान स्वीकार किया है। तथा उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्टस्थिति अद्धाच्छेद उत्कृष्ट स्थितिवाले समय प्रबद्धके निषेकोंकी अपेक्षा न होकर नाना समय प्रबद्धोंके निषेकोंकी प्रधानतासे होता है। प्रश्न— पूर्वोक्त व्याख्यान इस सूत्रके साथ विरोधको क्यों नहीं प्राप्त होता? उत्तर—विरोधको प्राप्त होता ही है किन्तु उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट स्थिति अद्धाच्छेदमें तथा जघन्य स्थिति और जघन्य अद्धाच्छेदमें भेदके कथन करनेके लिए व्याख्यानाचार्यने यह व्याख्यान किया है। चूर्णसूत्रकार और उच्चारणाचार्यका यह अभिप्राय नहीं है।

६. जघन्य स्थिति सत्त्वका स्वामी कौन

क. पा. ३/३, २२/§३५/२२/३ जो एइंदिओ हतसमुप्पत्तियं काऊण जाव सक्का ताव संतकम्मस्स हेट्ठा बंधिय सेकाले समट्ठिदिं बोलेहदि त्ति तस्स जहण्णयं ट्ठिदिसंतकम्मं।. मिच्छादि०...त्ति। —जो कोई एकेन्द्रिय जीव हतसमुत्पत्तिकको करके जबतक शक्य हो तबतक सत्तामें स्थित मोहनीयकी स्थितिसे कम स्थितिवाले कर्मका बन्ध करके तदनन्तर कालमें सत्तामें स्थित मोहनीयकी स्थितिके समान स्थितिवाले कर्मका बन्ध करेगा उसके मोहनीयका जघन्य स्थिति सत्त्व होता है। इसी प्रकार...मिथ्यादृष्टि जीवोंके...जानना चाहिए।

७. प्रदेशोंका सत्त्व सर्वदा १½ गुणहानि प्रमाण होता है

गो. क./मू./५/५ गुणहाणीणदिवड्ढ समयपबद्धं हवे सत्तं।५।

गो. क./मू./९४३ सत्तं समयपबद्धं दिवड्ढगुणहाणि ताडियं ऊणं। तियकोणसरूवट्ठिददव्वे मिलिदे हवे णियमा।९४३। —कुछ कम डेढ गुणहानि आयामसे गुणित समय प्रमाण समय प्रबद्ध सत्ता (वर्तमान) अवस्थामें रहा करते है।५। सत्त्व द्रव्य कुछ कम डेढ गुणहानिकर गुणा हुआ समय प्रबद्ध प्रमाण है। वह त्रिकोण रचनाके सब द्रव्यका जोड़ देनेसे नियमसे इतना ही होता है।

८. सत्त्वके साथ बन्धका सामानाधिकरण नहीं है

ध ६/१,९-२,६१/१०३/२ ण च संतम्मि विरोहाभावं दट्ठूण बंधम्हि वि तदभावो वोत्तुं सक्किज्जइ, बंध-संताणमेयत्ताभावा। —सत्त्वमें

(परस्पर विरोधी प्रकृतियोंके) विरोधका अभाव देखकर बन्धमें भी उस (विरोध) का अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बन्ध और सत्त्वमें एकत्वका विरोध है।

९. सम्यग्मिथ्यात्वका जघन्यस्थिति सत्त्व दो समय कैसे

क. पा. ३/२,२२/§४२०/२४४/१ एगसमयकालट्ठिदिय किण्ण वुच्चदे। ण, उदयाभावेण उदयणिसेयट्ठिदी परसरूवेण गदाए बिदियणिसेयस्स दुसमयकालट्ठिदियस्स एगसमयावट्ठाणविरोहादो। बिदियणिसेओ सम्मामिच्छत्तसरूवेण एगसमयं चेव अच्छदि उवरिमसमए मिच्छत्त-स्स सम्मत्तस्स वा उदयणिसेयसरूवेण परिणाममुवलंभादो। तदो एयसमयकालट्ठिदिसेसं त्ति वत्तव्वं। ण, एगसमयकालट्ठिदिए णिसेगे संते बिदियसमए चेव तस्स णिसेगस्स अदिण्णफलस्स अकम्मसरूवेण परिणामप्पसंगादो। ण च कम्मं सगसरूवेण परसरूवेण वा अदत्त-फलमकम्मभावं गच्छदि, विरोहादो। एगसमयं सगसरूवेणच्छिय बिदियसमए परपयडिसरूवेणच्छिय तदियसमए अकम्मभावं गच्छदि त्ति दुसमयकालट्ठिदिणिद्देसो कदो। —प्रश्न— सम्य-ग्मिथ्यात्वकी जघन्य स्थिति एक समय काल प्रमाण क्यों नहीं कही जाती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि जिस प्रकृतिका उदय नहीं होता उसकी उदय निषेक स्थिति उपान्त्य समयमें पर रूपसे संक्रमित हो जाती है। अतः दो समय कालप्रमाण स्थितिवाले दूसरे निषेककी जघन्य स्थिति एक समय प्रमाण माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—सम्यग्मिथ्यात्वका दूसरा निषेक सम्यग्मिथ्यात्व रूपसे एक समय काल तक ही रहता है, क्योंकि अगले समयमें उसका मिथ्यात्व या सम्यक्त्वके उदयनिषेक रूपसे परिणमन पाया जाता है अतः सूत्रमें 'दुसमयकालट्ठिदिसेसं'के स्थानपर 'एकसमयकाल-ट्ठिदिसेसं' ऐसा कहना चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि इस निषेकको यदि एक समय काल प्रमाण स्थितिवाला मान लेते हैं तो दूसरे ही समयमें उसे फल न देकर अकर्म रूपसे परिणमन करनेका प्रसंग प्राप्त होता है और कर्म स्वरूपसे या पररूपसे फल बिना दिये अकर्म भावको प्राप्त होते नहीं, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है। किन्तु अनुदयरूप प्रकृतियोंके प्रत्येक निषेक एक समय तक स्वरूपसे रहकर और दूसरे समयमें पर प्रकृतिरूपसे रहकर तीसरे समयमें अकर्मभावको प्राप्त होते हैं ऐसा नियम है अतः सूत्रमें दो समय काल प्रमाण स्थितिका निर्देश किया है।

१०. पाँचवेंके अभिमुखका स्थिति सत्त्व पहलेके अभि-मुखसे हीन है

ध. ६/१,९-८-१४/२६९/१ एदस्स अपुव्वकरणचरिमसमए वट्टमाणमिच्छा-इट्ठिस्स ट्ठिदिसंतकम्मं पढमसम्मत्ताभिमुहअणियट्टीकरणचरिम-समयट्ठिदमिच्छाइट्ठिट्ठिदिसंतकम्मादो कधं संखेज्जगुणहीणं। ण, ट्ठिदिसंतमोवट्टियं काऊण संजमासंजमपडिवज्जमाणस्स संजमा-संजमचरिममिच्छाइट्ठिस्स तदविरोहादो। तत्थतणअणियट्टी-करणट्ठिदिघादादो वि एत्थतणअपुव्वकरणट्ठिदिघादस्स बहुवयत्तादो वा। ण चेद ण पुव्वकरणं पढमसम्मत्ताभिमुहमिच्छाइट्ठि अपुव्वकरणेण तुल्लं, सम्मत्त-संजम-संजमासंजमफलाणं तुल्लत्तविरोहा। ण चापुव्वकरणाणि सव्वअणियट्टीकरणेहिंतो अणंतगुणहीणाणि त्ति मोत्तुं जुत्तुं, तप्पदुप्पायणसुत्ताभावा। —प्रश्न—अपूर्वकरणके अन्तिम समयमें वर्तमान इस उपर्युक्त मिथ्यादृष्टि जीवका स्थिति सत्त्व, प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें स्थित मिथ्यादृष्टिके स्थितिसत्त्वसे संख्यात गुणित हीन कैसे है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, स्थिति सत्त्वका अपवर्तन करके संयमासंयमको प्राप्त होनेवाले संयमासंयमके अभिमुख चरमसमय-वर्ती मिथ्यादृष्टिके संख्यात गुणित हीन स्थिति सत्त्वके होनेमें कोई विरोध नहीं है। अथवा वहाँके, अर्थात् प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके, अनिवृत्तिकरणसे होनेवाले स्थिति घातकी अपेक्षा यहाँके अर्थात् संयमासंयमके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके, अपूर्व-करणसे होनेवाला स्थितिघात बहुत अधिक होता है। तथा, यह, अपूर्वकरण, प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके अपूर्व-करणके साथ समान नहीं है, क्योंकि, सम्यक्त्व, संयम और संयमा-संयम रूप फलवाले विभिन्न परिणामोंके समानता होनेका विरोध है। तथा, सर्व अपूर्वकरण परिणाम सभी अनिवृत्तिकरण परिणामोंके अनन्तगुणित हीन होते हैं, ऐसा कहना भी युक्त नहीं हैं, क्योंकि, इस बातके प्रतिपादन करनेवाले सूत्रका अभाव है।

११. सत्त्व व्युच्छित्ति व सत्त्व स्थान सम्बन्धी दृष्टि भेद

गो. क./मू./३७३,३९१,३९२ तित्थाहारचउक्कं अण्णदराउगदुगं च सत्तेदे। हारचउक्कं वज्जिय तिण्णि य केइ समुद्दिट्ठं ।३७३। अत्थि अणं उवसमगे खवगापुव्वं खवित्तु अट्ठा य। पच्छा सोलादीणं खवणं इदि केइ णिद्दिट्ठं ।३९१। अणियट्टिगुणट्ठाणे मायारहिदं च ठाण-मिच्छंति। ठाणा भंगपमाणा केई एवं परूवेंति ।३९२। —सासादन गुणस्थानमें तीर्थंकर, आहारककी चौकड़ी, भुज्यमान व बद्ध्यमान आयुके अतिरिक्त कोई भी दो आयुसे सात प्रकृतियाँ हीन १४१ का सत्त्व है। परन्तु कोई आचार्य इनमें-से आहारककी ४ प्रकृतियों-को छोड़कर केवल तीन प्रकृतियाँ हीन १४५ का सत्त्व मानते हैं।३७३। श्री कनकनन्दी आचार्यके सम्प्रदायमें उपशम श्रेणी वाले चार गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्धी चारका सत्त्व नहीं है। इस कारण २४ स्थानोंमें-से बद्ध व अबद्धायुके आठ स्थान कम कर देनेपर १६ स्थान हो हैं। और क्षपक अपूर्वकरण वाले पहले आठ कषायोंका क्षय करके पीछे १६ आदिक प्रकृतियोंका क्षय करते हैं।३९१। कोई आचार्य अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें मायारहित चार स्थान हैं, ऐसा मानते हैं। तथा कोई स्थानोंको भंगके प्रमाण कहते हैं।३९२।

दे. सत्त्व/२/१ मिश्रमें तीर्थंकरके सत्त्वका कोई स्थान नहीं, परन्तु कोई कहते हैं कि मिश्रमें तीर्थंकरका सत्त्व स्थान है।

३. सत्त्व विषयक प्ररूपणाएँ—

सारणीमें प्रयुक्त संकेत सूची

मिथ्या०	मिथ्यात्व	तिर्य०	तिर्यञ्च	आ०	आहारक शरीर
सम्य०	सम्यक्त्व मोहनीय	मनु०	मनुष्य	औ.,वै.,आ.,द्विक्	वह वह शरीर व अंगोपांग
मिश्र०	मिश्र मोहनीय	नरकादि द्विक	वह वह गति व आनुपूर्वी	औ. वै. आ. चतु०	वह वह शरीर, अंगोपांग, बन्धन तथा संघात
अनन्तानु०	अनन्तानुबन्धी चतुष्क	नरकादि त्रिक्	वह वह गति, आनुपूर्वी तथा आयु	तीर्थ०	तीर्थंकर
अप्र०	अप्रत्याख्यान "			भु०	भुज्यमान आयु.
प्र०	प्रत्याख्यान "	नरकादि चतु०	वह वह गति, आनुपूर्वी, तथा तद्योग्य शरीर और अंगोपांग	ब०	बद्ध्यमान आयु.
सं०	संज्वलन "			वैक्रि० षटक्	नरक गति आनुपूर्वी, देव गति, आनुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर तथा वैक्रियिक अंगोपांग
नपुं०	नपुंसक वेद				
पु०	पुरुष वेद	आनु०	आनुपूर्वी		
स्त्री	स्त्री वेद	औ०	औदारिक शरीर		
हा० चतु०	हास्य, रति, अरति, शोक	वै०	वैक्रियक "		

१. प्रकृति सत्त्व व्युच्छित्तिकी ओघप्ररूपणा

सत्त्व योग्य प्रकृतियाँ—नाना जीवों की अपेक्षा=१४८। एक जीव की अपेक्षा सर्वत्र ६ विकल्प हैं—

१. बद्धायुष्क तीर्थंकर रहित=१४५,
२. बद्धायुष्क आहारक द्विक रहित १४४;
३. बद्धायुष्क आहारक द्विक व तीर्थंकर रहित=१४३;
४ अबद्धायुष्क तीर्थंकर रहित=१४४;
५. अबद्धायुष्क आहारकद्विक रहित=१४३;
६. अबद्धायुष्क आहारक द्विक व तीर्थंकर रहित=१४२

नोट—इस प्रकार सत्त्व योग्य प्रकृतियोंके आधार पर प्रत्येक गुणस्थानमें अपनी ओरसे एक जीवकी अपेक्षा छह-छह विकल्प बना लेने चाहिए।

प्रमाण— (पं. सं./प्रा./३/४६-६३); (पं. सं./प्रा./५/४८९-५००); (पं. सं./सं./३/६१-७७); (पं. सं./सं./५/४६२-४७७);
(गो. क./३३६-३४३/४८८-४९६)।

गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	असत्त्व	कुल सत्त्व योग्य	असत्त्व	सत्त्व	व्युच्छि.	शेष सत्त्व योग्य
१	×	×	१४८	×	१४८	×	१४८
२	×	तीर्थंकर व आ. द्वि	१४८	३	१४५	×	१४५
३		तीर्थंकर	१४८	१	१४७	×	१४७
	१ उपशम व क्षयोपशम सम्यक्त्व						
४	×	×	१४८	×	१४८	×	१४८
५	×	नरकायु	१४८	१	१४७	×	१४७
६	×	नरक व तिर्यंचायु	१४८	२	१४६	×	१४६
७	×	" "	१४८	२	१४६	×	१४६
८-११	×	" "	१४८	२	१४६	×	१४६
	२ क्षायिक सम्यक्त्व—(गो. क./जी. प्र./३५५/५१२/४)						
४	नरकायु, तिर्यंचायु, दर्शनमोहकी ३, अनन्तानुबन्धी ४ =८	दर्शनमोह, अनन्ता-७	१४८	७	१४१	८	१४०
५	तिर्यंचायु =१	×	१४०	×	१४०	१	१३९
६	×	×	१३९	×	१३९	×	१३९
७	उपशम श्रेणी में = × ; क्षपक श्रेणी में = देवायु =१	×	१३९	×	१३९	१	१३८
	३ क्षायिक सम्यक्त्व उपशम श्रेणी—(गो. क./जी. प्र./३५५/५१२/४)						
८-११	×	×	१३८	×	१३८	×	१३८
	४ क्षायिक सम्यक्त्व क्षपक श्रेणी—(गो.क./जी.प्र./३३६-३४३/४८८-४९६) नोट—अबद्धायुष्क ही क्षपक श्रेणी पर चढ़े।						
८	×	×	१३८	×	१३८	×	१३८
९/i	नरकद्विक, तिर्यंच द्वि; १ ४ इन्द्रिय, स्त्यानगृद्धित्रिक, आतप, उद्योत, सूक्ष्म, साधारण, स्थावर=१६	×	१३८	×	१३८	१६	१२२
९/ii	प्रत्याख्यान ४, अप्रत्याख्यान ४=८	×	१२२	×	१२२	८	११४

गुण स्थान	पुरुष वेदोदय सहित					स्त्री वेदोदय सहित					नपुंसक वेदोदय सहित				
	मोह सत्त्व स्थान (दे. सत्त्व/३/७)	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	सत्त्व योग्य	व्युच्छि.	शेष सत्त्व	मोह सत्त्व स्थान (दे. सत्त्व/३/७)	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	सत्त्व योग्य	व्युच्छित्ति	शेष सत्त्व	मोह सत्त्व स्थान (दे. स=३/३/७)	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	सत्त्व योग्य	व्युच्छित्ति	शेष सत्त्व
६/iii	१३	नपुंसक वेद	११४	१	११३	१३	×	११४	×	११४	१३	×	११४	×	११४
६/iv	१२	स्त्री वेद	११३	१	११२	१३	स्त्रीवेद	११४	१	११३	१३	×	११४	×	११४
६/v	११	हास्यादि छह नोकषाय	११२	६	१०६	१२	नपुंसक वेद	११३	१	११२	१३	स्त्री व नपुंसक वेद	११४	२	११२
६/vi	५	पुरुष वेद	१०६	१	१०५	११	पुरुष वेद व हास्यादि ६	११२	७	१०५	११	पुरुष वेद, हास्यादि ६	११२	७	१०५
६/vii	४	सं. क्रोध	१०५	१	१०४	४	सं. क्रोध	१०५	१	१०४	४	सं. क्रोध	१०५	१	१०४
६/viii	३	सं. मान	१०४	१	१०३	३	सं. मान	१०४	१	१०३	३	सं. मान	१०४	१	१०३
६/ix	२	सं. माया	१०३	१	१०२	२	सं. माया	१०३	१	१०२	२	सं. माया	१०३	१	१०२

गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	असत्त्व	कुल सत्त्व योग्य	असत्त्व	सत्त्व	व्युच्छित्ति	शेष सत्त्व योग्य
१०	संज्वलन लोभ =१	×	१०२	×	१०२	१	१०१
१२/i	(द्विचरम समयमें) निद्रा, प्रचला =२	×	१०१	×	१०१	२	९९
१२/ii	(अन्त समयमें) ५ ज्ञानावरणी, ४ दर्शनावरणी, ५ अन्तराय=१४	×	९९	×	९९	१४	८५
१३	×	×	८५	×	८५	×	८५
१४/i	(द्विचरम समय) ५ शरीर, ५ बन्धन, ५ संघात, ६ संस्थान, ६ संहनन ३ अंगोपांग, ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श=५०+स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, स्वरद्वय, देवद्विक, विहायोगतिद्वय, दुर्भग, निर्माण, अयश, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अनुदयरूप अन्यतम वेदनीय, नीचगोत्र=७२	×	८५	×	८५	७२	१३
१४/ii	(चरम समयमें) शेष उदयवाली वेदनीय, मनुष्य त्रिक, पंचेन्द्रिय सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यश, तीर्थंकर, उच्चगोत्र=१३	×	१३	×	१३	१३	×

२. सातिशय मिथ्यादृष्टिमें सर्व प्रकृतियोंका सत्त्व चतुष्क—(ध. ६/२०७-२१३)

प्रमाण—(ध. ६/२६८)प्रथमोपशमसहित संयमासंयमके अभिमुख सातिशय मिथ्यादृष्टिका स्थिति सत्त्व इस सारणीमें कथित अन्तःकोटाकोटिसे संख्यात गुणा हीन अन्तःकोटाकोटि जानना।

संकेत—अन्तः को. को.—अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर; ब.—बध्यमान आयुष्क भु.—भुज्यमान आयुष्क
द्वि स्थान—निम्ब व काञ्जीर रूप अनुभाग; चतुः स्थान—गुड़ खण्ड शर्करा अमृत रूप अनुभाग।

क्र.	प्रकृतिका नाम	सत्त्व			
		प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
१	ज्ञानावरणीय				
	पाँचों	है	अन्तको.को.	द्विस्थान	अजघन्य
२	दर्शनावरणीय—				
१	निद्रा-निद्रा	है	,,	,,	,,
२	प्रचला-प्रचला	,,	,,	,,	,,
३	स्त्यान. गृद्धि	,,	,,	,,	,,
४	शेष सर्व	,,	,,	,,	,,
३	वेदनीय—				
१	साता	,,	,,	चतुःस्थान	,,
२	असाता	,,	,,	द्वि. ,,	,,
४	मोहनीय—				
१	दर्शनमोह प्रकृति स्थान	प्रस्थान (२८) (२७)			
i	सम्यग् प्रकृति	है नहीं	,,	,,	,,
ii	मिथ्यात्व	है है	,,	,,	,,
iii	सम्यग्मिथ्यात्व	है नहीं	,,	,,	,,
	,,	२६ प्र. स्था. में भी है	,,	,,	,,
२	चारित्र मोह—				
i	अनन्ता. चतु.	है	,,	,,	,,
ii	अप्रत्याख्यान.	,,	,,	,,	,,
iii	प्रत्याख्यान	,,	,,	,,	,,
iv	संज्वलन ,,	,,	,,	,,	,,
v	सर्व नोकषाय	,,	,,	,,	,,
५	आयु—				
१	नरक, तिर्यंचगति	ब. भु. है	ब. भु. है	द्विस्थान	अजघन्य
२	मनुष्य, देवगति	,,	,,	चतु. ,,	,,
६	नाम—				
१	नरक, तिर्यंचगति	है	अन्तको.को.	द्विस्थान	,,
	मनुष्य, देवगति	,,	,,	चतु. ,,	,,
२	१-४ इन्द्रि. जाति	,,	,,	द्वि. ,,	,,

क्र.	प्रकृतिका नाम	सत्त्व			
		प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
	पंचेन्द्रिय जाति	है	अन्त को.को	चतु.स्थान	अजघन्य
३	औदारिक शरीर	,,	,,	,,	,,
	वैक्रियक ,,	,,	,,	,,	,,
	आहारक ,,	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
	तैजस कार्मण	है	अन्त को को.	चतु.स्थान	अजघन्य
४	अंगोपांग	—	स्व स्व	शरीरवत्	—
५	निर्माण	है	अन्तको.को.	चतु.स्थान	अजघन्य
६	बन्धन	—	स्व स्व	शरीरवत्	—
७	संघात	—	,,	,,	—
८	सम चतुरस्रसंस्थान	है	अन्तको.को.	चतु स्थान	अजघन्य
	शेष पाँच	,,	,,	द्वि. ,,	,,
९	वज्र ऋषभ नाराच	,,	,,	चतु. ,,	,,
	शेष पाँच संहनन	,,	,,	द्वि. ,,	,,
१०—१३	वर्ण, गन्ध, रस व		,,		
	स्पर्श प्रशस्त	,,	,,	चतु. ,,	,,
	अप्रशस्त	,,	,,	द्वि. ,,	,,
१४	आनुपूर्वी	—	स्व स्व	शरीरवत्	—
१५	अगुरु लघु	है	अन्तको.को	चतुस्थान	अजघन्य
१६	उपघात	,,	,,	द्वि. ,,	,,
१७	परघात	,,	,,	चतु. ,,	,,
१८	आतप	,,	,	,,	,,
१९	उद्योत	,,	,,	,,	,,
२०	उच्छ्वास	,,	,,	,,	,,
२१	विहायोगति				,,
	प्रशस्त	,,	,,	चतु. ,,	,,
	अप्रशस्त	,,	,,	द्वि. ,,	,,
२२	प्रत्येक	,,	,,	चतु. ,,	,,
२३	साधारण	,,	,,	द्वि ,,	,,
२४	त्रस	,,	,,	चतु. ,,	,,
२५	स्थावर	,,	,,	द्वि. ,,	,,
२६	सुभग	,,	,,	चतु. ,,	,,
२७	दुर्भग	,,	,,	द्वि. ,,	,,
२८	सुस्वर	,,	,,	चतु. ,,	,,
२९	दुःस्वर	,,	,,	द्वि. ,,	,,

क्र.	प्रकृतिका नाम	सत्त्व			
		प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
३०	शुभ	है	अन्तःको.को.	चतु. स्थान	अजघन्य
३१	अशुभ	,,	,,	द्वि. ,,	,,
३२	बादर	,,	,,	चतु. ,,	,,
३३	सूक्ष्म	,,	,,	द्वि. ,,	,,
३४	पर्याप्त	,,	,,	चतु. ,,	,,
३५	अपर्याप्त	,,	,,	द्वि. ,,	,,
३६	स्थिर	,,	,,	चतु. ,,	,,
३७	अस्थिर	,,	,,	द्वि. ,,	,,
३८	आदेय	,,	,,	चतु. ,,	,,
३९	अनादेय	,,	,,	द्वि. ,,	,,
४०	यशःकीर्ति	,,	,,	चतु. ,,	,,
४१	अयशःकीर्ति	,,	,,	द्वि. ,,	,,
४२	तीर्थंकर	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
७	गोत्र—				
१	उच्च	है	अन्तःको.को.	चतु. स्थान	अजघन्य
२	नीच	,,	,,	द्वि. ,,	,,
८	अन्तराय—				
	पाँचों	,,	,,	,,	,,

३. प्रकृति सत्त्व असत्त्व आदेश प्ररूपणा —

प्रमाण— इस सारिणी में केवल सत्त्व तथा असत्त्व योग्य प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है, सत्त्व-व्युच्छित्तिका नहीं। उसका कथम सर्वत्र ओघवत् जानना। जिस स्थान में जिस जिस प्रकार प्रकृति का असत्त्व कहा गया है, उस स्थान में उस उस प्रकृति को छोड़ कर शेष प्रकृतियों की व्युच्छित्ति ओघवत् जान लेना। जहाँ कुछ विशेषता है, वहाँ उसका निर्देश कर दिया गया है। सत्त्व असत्त्व का कथन भी यहाँ तीन अपेक्षाओं से किया गया है—उद्वेलना रहित सामान्य जीवों की अपेक्षा, स्वस्थान उद्वेलना युक्त जीवों की अपेक्षा और उत्पन्न स्थान उद्वेलना युक्त जीवों की अपेक्षा।

क्र.	मार्गणा	गुण स्थान	असत्त्व	कुल सत्त्व योग्य	असत्त्व	सत्त्व	कुल गुण स्थान
१	गति मार्गणा—						
(१)	नरक गति—(गो.क./भाषा./३४६/४९८)						
१	सामान्य		देवायु —१	१४८	१	१४७	४
	उद्वेलना सहित		देखो आगे पृथक् शीर्षक				
२	१-३ पृथिवी		—	नरकगति सामान्यवत्			—
३	४-६ ,,		देवायु, तीर्थंकर —२	१४८	२	१४६	४
४	७ ,,		देव, मनुष्यायु, तीर्थ —३	१४८	३	१४५	४
(२)	तिर्यंच गति—(गो. क./भाषा./३४५/४९९-५००)						
१	सामान्य		तीर्थंकर —१	१४८	१	१४७	५
	उद्वेलना सहित		देखो आगे पृथक् शीर्षक				
	अविरत सम्यग्दृष्टि		नरक व मनुष्य आयुकी व्युच्छित्ति — २	१४७	×	१४७	—
	संयतासंयत		×	१४७	२	१४५	—
२	पंचेन्द्रिय प.		—	सामान्य तिर्यंचवत्			—

क्र.	मार्गणा	गुण स्थान	असत्त्व	कुल सत्त्व योग्य	असत्त्व	सत्त्व	कुल गुण स्थान
३	योनिमति प.		—	सामान्य तिर्यंचवत			—
४	तिर्यंच ल. अप.		तीर्थ, देवायु, नरकायु −३	१४८	३	१४५	१
(३)	मनुष्यगति—(गो. क./भाषा/३४६/५०१)			१४८	×	१४८	१४
१	सामान्य		×				
	उद्वेलना सहित		देखो आगे पृथक् शीर्षक				
	संयतासंयत		तिर्यंच, नरकायु −२	१४८	२	१४६	—
२	मनुष्य पर्याप्त		—	मनुष्य सामान्यवत			—
३	मनुष्यणी प.			”	”	—	—
	(तीर्थ सहित क्षपक)	७	स्त्री वेदकी व्युच्छित्ति −१	१४६	×	१४६	—
	”	८	×	१४६	१	१४५	
४	ल. अप. मनुष्य		तीर्थ, देवायु, नरकायु −३	१४८	३	१४५	१
(४)	देवगति—(गो. क./भाषा.)/३४६/५०१)						
१	सामान्य		नरकायु −१	१४८	१	१४७	४
	उद्वेलना सहित		देखो आगे पृथक् शीर्षक				
२	भवनत्रिक देव		तीर्थंकर, नरकायु −२	१४८	२	१४६	४
३	सौधर्म ईशानदेवी		—	भवनत्रिकवत्			—
४	सौधर्म-सहस्रार		—	सामान्य देववत्			—
५	आनत-नवग्रैवेयक		नरक, तिर्यंचायु −२	१४८	२	१४६	४
६	अनुदिश-सर्वार्थसिद्धि		” ” −२	१४८	२	१४६	१ चौथा
(५)	चारों गतिके उद्वेलना सहित जीव						
१	सामान्य (३ प्रकृतियोंके असत्त्व वाले)		देवायु, तीर्थंकर, नरकायु −३	१४८	३	१४५	—
२	आहार. द्वि.की उद्वेलना सहित को		आहारक द्विक −२	१४५	२	१४३	
३	सम्यग्.की ”		सम्यक्त्व मोह −१	१४३	१	१४२	
४	मिश्रकी ”		मिश्र मोह −१	१४२	१	१४१	
२	इन्द्रिय मार्गणा—						
	१-४ इन्द्रिय						
१	सामान्य उद्वेलना सहित को—		तीर्थंकर, देव, नरकायु −३	१४८	३	१४५	२
			आहा, द्वि. −२	१४५	२	१४३	२
			सम्यक् प्रकृति −१	१४३	१	१४२	२
(i)	उत्पन्न उद्वेलना		मिश्र. −१	१४२	१	१४१	२
(ii)	” ”		उच्चगोत्र −१	१४१	१	१४०	२
(iii)	” ”		मनुष्यद्विक −२	१४०	२	१३८	२
i	स्वस्थान उद्वेलना		देवद्विक −२	१४१	२	१३९	२
ii	”		नरक चतु. (नरक द्विक, वै. द्विक) −४	१३९	४	१३५	२
iii	उत्पन्न स्थान उद्वेलना से युक्त होनेपर		उच्च गोत्र मनुष्य द्विक −३	१३९	३	१३६	२
iv	” ” ” ”		” ” −३	१३५	३	१३२	२
२	पंचेन्द्रिय		×	१४८	×	१४८	१४
३	काय मार्गणा—(गो.क./भाषा./३४६–३५१/५०१–५०४)						
१	पृथि. अप. वन. सा		देवायु, नरकायु, तीर्थ. −३	१४८	३	१४५	२
	” द्विविध उद्वेलना सहित		—	१–४ इन्द्रियवत्			—
२	तेज. वातकाय. सा.		देव, नरक, मनुष्यायु, तीर्थ. −४	१४८	४	१४४	१
	” उत्पन्न स्थान उद्वेलना सहित		आहारक द्विक −२	१४४	२	१४२	१
			सम्यक्त्व मोह −१	१४२	१	१४१	१
			मिश्र मोह −१	१४१	१	१४०	१
			देव द्विक −२	१४०	२	१३८	१

क.	मार्गणा	गुण स्थान	असत्त्व		कुल सत्त्व योग्य	असत्त्व	सत्त्व	कुल गुण स्थान
	स्व स्थानमें उद्वेलना सहित		नरक द्वि., वैक्रि. द्वि.	−४	१३८	४	१३४	१
			उच्च गोत्र	−१	१३४	१	१३३	१
			मनुष्य द्वय	−२	१३३	२	१३१	१
३	पंचेन्द्रिय —		×		१४८	×	१४८	१४
४.	योग मार्गणा—(गो. क./भाषा/३५२-३५३/५०६-५०८)							
१	चार मन, चार वचन व औदारिक काय योग		×		१४८	×	१४८	१२,१३
२	आहारक व आ. मिश्र		नरकायु, तिर्यंचायु	−२	१४८	२	१४६	१ (६ठा)
३	वैक्रियक		×		१४८	×	१४८	४
		१	तीर्थंकर प्रकृतिवाला तीसरे नरक तक या देवगतिमें जाता है।					
४	वैक्रियक मिश्र		तिर्यंच, मनुष्यायु	−२	१४८	२	१४६	४
		१,४			१४६	×	१४६	—
		२	आ. द्वि., तीर्थ., नरकायु	−४	१४६	४	१४२	—
५	औदारिक मिश्र.		देवायु, नरकायु	−२	१४८	२	१४६	१,२,४ व १३ वाँ
६	कार्माण				१४८	×	१४८	४
			— वैक्रियक मिश्र व सयोगीवत् —		—	—	—	—
५.	वेद मार्गणा—(गो क./जी. प्र./३५४/५०८/१)							
१	पुरुष वेद		×		१४८	×	१४८	१४
२	स्त्री वेद सा.		×		१४८	×	१४८	१४
	,, क्षपक श्रेणी		तीर्थंकर	−१	१४८	१	१४७	६ (८-१४)
३	नपुंसक वेद		— स्त्रीवेदवत —		—	—	—	—
६.	कषाय मार्गणा—							
	क्रोधादिमें गुणस्थान	९	लोभमें गुणस्थान १०		१४८	×	१४८	९ या १०
७.	ज्ञान मार्गणा—(गो. क./जी. प्र/३५४/५०८/६)							
१	कुमति, कुश्रुत, विभंग		×		१४८	×	१४८	२
२	मति, श्रुत, अवधि		×		१४८	×	१४८	४-१२
३	मनःपर्यय		नरक तिर्यंचायु	−२	१४८	२	१४६	६-१२
४	केवल		ओघवत् व्युच्छित्ति	−६३	१४८	६३	८५	१३-१४
८.	संयम मार्गणा—(गो. क./जी./प्र./३५४/५०८/६)							
१	सामान्य							
२	सामायिक छेदोपस्था.		नरक, तिर्यंचायु	−२	१४८	२	१४६	६-९
३	परिहार विशुद्धि		,,		,,	,,	,,	६-७
४	सूक्ष्म साम्पराय (उप.)		,,		,,	,,	,,	१ (१०)
	,, ,, (क्षपक)		ओघवत ४६ व्युच्छि.	−४६	१४८	४६	१०२	१० वाँ
५	यथाख्यात उप.×उपशम.		नरक, तिर्यंचायु	−२	१४८	२	१४६	१ (११ वाँ)

क्र.	मार्गणा	गुण स्थान	असत्त्व	कुल सत्त्व योग्य	असत्त्व	सत्त्व	कुल गुण स्थान
	यथाख्यात क्षा. (× उपशम.)		नरक, तिर्यंच, देवायु, दर्शन मोहकी ३, अनन्तानुबन्धि ४ =१०	१४८	१०	१३८	११ वाँ
	,, (क्षा. × क्षपक.)		ओघवत् व्युच्छिन्न ४७ =४७	१४८	४७	१०१	१२-१४
६	संयतासंयत		नरकायु =१	१४८	१	१४७	१ (५ वाँ)
७	असंयत		×	१४८	×	१४८	१-४
९.	दर्शन मार्गणा—(गो. क./जी. प्र./३५४/५०६/५)						
१	चक्षु, अचक्षु दर्शन		×	१४८	×	१४८	१-१२
२	अवधि दर्शन		×	१४८	×	१४८	४-१२
३	केवल ,,		ओघवत् व्युच्छिन्न =६३	१४८	६३	८५	१३-१४
१०	लेश्या मार्गणा—(गो. क./जी. प्र./३५४/५०६/७)						
१	कृष्ण, नील		तीर्थंकर =१	१४८	१	१४७	४
२	कापोत	१	×	१४८	×	१४८	४
३	पीत, पद्म		×	१४८	×	१४८	१-७
		१	तीर्थंकर =१ (तीर्थ. सत्त्ववाला नरक जानेके सम्मुख होय तभी सम्यक्त्वको छोड़े। परन्तु तब लेश्या भी कापोत हो जाये। क्योंकि शुभ लेश्यामें सम्यक्त्वकी विराधना नहीं होती।)	१४८	१	१४७	—
४	शुक्ल			१४८	×	१४८	८-१३
११	भव्यत्व मार्गणा—(गो. क./जी. प्र./३५४-३५५/५०६-५१०/१६)						
१	भव्य		×	१४८	×	१४८	१४
२	अभव्य		तीर्थ., सम्य., मिश्रमोह, आ. द्वि., आ. बन्धन संघात द्वय =७	१४८	७	१४१	१
१२	सम्यक्त्व मार्गणा—(गो.क./जी.प्र./३५५/५१२/१)						
१	क्षायिक सम्य.		नरक, तिर्यंचायु, दर्शन, मोह ३, अनन्तानुबन्धी ४ =६	१४८	६	१३६	४-१४
२	वेदक सम्य.		×	१४८	×	१४८	४-७
३	उपशम ,,		×	१४८	×	१४८	४-११
४	द्वितीयोपशम (ल. सा./२२०)		अनन्तानुबन्धी ४, नरक, तिर्यंचायु =६	१४८	६	१४२	४-११
४	सम्यग्मिथ्यात्व		तीर्थंकर =१	१४८	१	१४७	१ (३रा)
५	सासादन		तीर्थ., आ. द्वि =३	१४८	३	१४५	१ (२रा)
६	मिथ्यादृष्टि		×	१४८	×	१४८	१
१३	संज्ञी मार्गणा—(गो. क./जी.प्र./३५५/५१३/७)						
१	संज्ञी		×	१४८	×	१४८	१-१२
२	असंज्ञी		तीर्थंकर =१	१४८	१	१४७	२
१४	आहारक मार्गणा—(गो.क./जी.प्र./३५५/५१२/६)						
१	आहारक		×	१४८	×	१४८	१३
२	अनाहारक		×	१४८	×	१४८	५ (१,२,४ १३, १४)
		१,२,४	—— कार्माण काय योगवत् ——	—	—	—	—
		१३	—— ओघवत् ——	—	—	—	—

४. मोह प्रकृति सत्त्वकी विभक्ति अविभक्ति

प्रमाण—क. पा. २/§ १०१/८३-८७।

संकेत -२८ प्र. — मोहकी सर्व २८ प्रकृतियाँ ७ प्र. — दर्शन मोह ३+अनन्तानु. ४; ६ प्र. — मिथ्यात्व रहित उक्त ७; २ प्र — सम्य. व मिश्र मोह
वि. — विभक्ति ; अवि. — अविभक्ति। शेषके लिए देखो सारणी नं. १ का प्रारम्भ।

प्रमाण	मार्गणा	विभक्ति अविभक्तिकी प्रकृति या शेषकी विभक्ति				
		२८ प्र.	७ प्र.	६ प्र.	२ प्र.	अन्य विकल्प
१	गति मार्गणा					
८३	नरक गति सामान्य	×	,,	×	×	×
८४	प्रथम पृथिवी	×	,,	×	×	×
८४	२-७ पृथिवी	×	×	,,	×	×
८४	तिर्यंच सामान्य	×	,,	×	×	×
८४	पंचेन्द्रिय ति. सा. प.	×	,,	×	×	×
८४	तिर्यंच यो.नमति	×	×	,,	×	×
८४	पंचे ति. ल. अप.	×	×	×	,,	×
८३	मनुष्य त्रिक	,,	×	×	×	×
८४	मनुष्य ल. अप.	×	×	×	,,	×
८४	देव सामान्य	×	,,	×	×	×
८४	भवनत्रिक देवी	×	×	,,	×	×
८४	सर्वकल्प वासी	×	,,	×	×	×
२	इन्द्रिय मार्गणा					
८४	सर्व एकेन्द्रि. प. अप.	×	×	×	,,	×
८४	,, विकलेन्द्रि, प. अप.	×	×	×	,,	×
८३	,, पञ्चेन्द्रिय सा. प.	,,	×	×	×	×
८४	,, पंचे. ल. अप.	×	×	×	,,	×
३	काय मार्गणा	—	इन्द्रिय मार्गणावत्		—	—
४	योगमार्गणा					
८३	पाँचों मनोयोग	,,	×	×	×	×
८३	,, वचन ,,	,,	×	×	×	×
८३	काय योग सामान्य	,,	×	×	×	×
८३	औ., औ. मिश्र	,,	×	×	×	×
८४	वै., वै. मिश्र	×	,,	×	×	×
८५	आ., आ. मिश्र	×	,,	×	×	×
८३	कार्मण	,,	×	×	×	×
५	वेद मार्गणा					
८५	स्त्री वेद	×	×	×	×	अप्रत्य. आदि १२ कषाय, दर्शन मोह ३, नपु.—१६ की वि. अवि. शेष १२ की अवि.।
८५	पुरुष वेद	×	×	×	×	संज्व. ४, व पुरुष वेदके बिना २३ की विभक्ति अवि.। और इन ५ की वि.।
८५	नपुंसक वेद	×	×	×	×	१२ कषाय, दर्शनमोह ३, नपुं. इन १६ की वि. अवि.। शेष १२ की वि.।
	अपगत वेद	×	×	×	×	अनन्तानु ४के बिना २४ वि.अवि. अनन्तानु.की विभक्ति।

प्रमाण	मार्गणा	२८ प्र.	७ प्र.	७ प्र.	१ प्र.	अन्य विकल्प
६	कषाय मार्गणा					
८६	क्रोध	×	×	×	×	संज्व. ४ बिना २४ की वि. अवि.
८६	मान	×	×	×	×	संज्व, मान, माया, लोभ बिना २५ की वि. अवि. ।
८६	माया	×	×	×	×	संज्व, माया, लोभ, बिना २७ की वि, अवि. ।
८६	लोभ	×	×	×	×	संज्व. लोभ बिना २७ की वि, अवि. ।
८६	अकषायी	×	×	×	×	अनन्तानु. ४ बिना २४ की वि, अवि, ।
७	ज्ञान मार्गणा					
८४	मति, श्रुत, अज्ञान	×	×	×	,,	×
८४	विभंग ज्ञान	×	×	×	,,	×
८३	मति, श्रुत, अवधि	,,	×	×	×	×
८३	मनः पर्यय	,,	×	×	×	×
८	संयम मार्गणा					
८३	संयम सा.	,,	×	×	×	×
८६	सामायि, छेदो.	×	×	×	×	संज्व. लोभ बिना २७ की वि. अवि. ।
८४	परिहार विशुद्धि	×	,,	×	×	×
८६	सूक्ष्म साम्पराय	×	×	×	×	संज्व, लोभ अनन्ता. ४ बिना २३ की वि, अवि. ।
८६	यथाख्यात	×	×	×	×	अनन्ता. ४ बिना २४ की वि. अवि. ।
८५	संयतासंयत	×	,,	×	×	×
×	असंयत	×	×	×	×	×
९	दर्शन मार्गणा					
८३	चक्षु, अचक्षु	,,	×	×	×	×
८३	अवधि	,,	×	×	×	×
१०	लेश्या मार्गणा					
८४	कृष्णादि ५	×	,,	×	×	×
८३	शुक्ल	,,	×	×	×	×
११	भव्य मार्गणा					
८३	भव्य	,,	×	×	×	
८७	अभव्य	×	×	×	×	सम्य., मिश्र मोह बिना २६ की वि., अवि. ।
१२	सम्यक्त्व मार्गणा					
८३	सम्यक्त्व सा.	,,	×	×	×	×
८७	क्षायिक	×	×	×	×	अनन्ता. ४, दर्शन मोह ३ बिना २१ की वि., अवि. ।
८७	वेदक	×	×	×	×	अनन्ता, ४, सम्य., मिश्र मोह बिना २२ की वि., अवि.।
८७	उपशम	×	×	×	×	अनन्ता. ४ बिना २४ की वि, अवि. ।
८७	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	×	×	×	×	,, ,, ,,
८७	सासादन	×	×	×	×	सर्व २८ की वि. । × की वि. अवि. ।
	मिथ्यादृष्टि	×	×	×	,,	×
१३	संज्ञी मार्गणा					
८३	संज्ञी	,,	×	×	×	×
८५	असंज्ञी	×	×	×	,,	×
१४	आहारक मार्गणा					
८३	आहारक	,,	×	×	×	×
८३	अनाहारक	,,	×	×	×	×

५. मूलोत्तर प्रकृति सत्त्व स्थानोंकी ओघ प्ररूपणा

संकेत— ब० = बद्धयमान आयुष्क; भु = भुज्यमान आयुष्क।

स्थान सं.	अबद्धायुष्कके भंग — स्थान का स्वामी	असत्त्वकी प्रकृतियाँ	कुल सत्त्व योग्य	असत्त्व	सत्त्व प्रकृति	प्रति स्थान भंग	बद्धायुष्कके भंग — विवरण	प्रति स्थान भंग	अबद्धायुष्कके भंग — विवरण
१	मिथ्यादृष्टि—(गो. क/३६६-३७१/५२२-५३५)। कुल स्थान १८ (बद्धा. १०, अबद्धा. ८): कुल भंग = ५० (बद्धा. २६, अबद्धा. २४)								
१	तीर्थयुक्त नरकायु बद्ध मनुष्य नरक जानेके सम्मुख	तिर्यंच, देवायु	१४८	२	१४६	१	भुज्यमान मनुष्य, बद्धयमान नरक	१	भुज्यमान मनुष्य
२	तीर्थ, रहित कोई भी जीव	भु. ब. बिना २ आयु, तीर्थ = ३	१४८	३	१४५	५	(देखो आयु कर्मके सत्त्व स्थान)	४	अन्यतम भुज्यमानायु
३		तिर्य.,देवायु, आ. चतु. = ६	१४८	६	१४२	१	मनुष्य नरकायु सहित	१	केवल १ भुज्यमानायु
४		कोई २ आयु, आ. चतु., तीर्थ. = ७	१४८	७	१४१	५	(देखो आयु कर्मके सत्त्व स्थान)	४	अन्यतम ,,
५		उपरोक्त ७+सम्यक्त्व = १	१४१	१	१४०	५	,, ,,	४	,,
६		,, +सम्यक्त्व, मिश्र = २	१४१	२	१३९	५	,, ,,	४	,,
७	देवद्विककी उद्वेलना वाला चतुरिन्द्रिय	उपरोक्त ९ व देवद्विक = २	१३९	२	१३७	१	भुज्यमान तिर्यंच, बद्धयमान मनुष्य अथवा भु. ति., ब. ति., भु. मनुष्य., ब. ति.	४	,,
८	नरक द्विक, वै. द्वि, देव द्वि., की उद्वेलना वाला चतुरिन्द्रिय	उपरोक्त ११+(नरक द्विक, देवद्विक, वैक्रियक द्विक) = ६	१३७	६	१३१	१	भुज्यमान तिर्यंच, बध्यमान मनुष्य	२	मनुष्य या तिर्यंचायु
९	उच्चगोत्रके उद्वेलनवाला तेज, वात कायिक	उपरोक्त १७+मनुष्यायु उच्चगोत्र = २	१३१	२	१२९	१	भुज्यमान तिर्यंच बध्यमान तिर्यंच	×	पुनरुक्त
१०	मनुष्यद्विककी उद्वेलनावाला उपरोक्त तेज वात कायिक	उपरोक्त १९ व मनुष्य द्विक	१२९	२	१२७	१	,, ,,	×	,,
						२६		२४	
२	सासादन—(गो. क. ३७२-३७५/५३६-५३९) कुल स्थान = ६ (बद्धा. २, अबद्धा. ४); कुल भंग = १८ (बद्धा. ६; अबद्धा. १२)								
१		भु. ब. बिना २ आयु,तीर्थ.,आ. चतु.,	१४८	७	१४१	५	(देखो आयु कर्मके सत्त्व स्थान)	४	अन्यतम भुज्यमानायु
२	आ. चतु के बन्धवाले किसीको सासादनकी प्राप्ति होय।	भु. ब. बिना २ आयु, तीर्थ = ३	१४८	३	१४५	१		२	
३		न. १ की ७—ब. आयु = १	१४५	१	१४४	×	×	४	अन्यतम भुज्यमान
४		नं. २ की ३— ,, = १	१४५	१	१४४	×	×	२	
						६		१२	
३	मिश्र—(गो. क./३७२-३७५/५३६-५३९) कुल स्थान = ८ (बद्धा. ४; अबद्धा ४); कुल भंग = ३६ (बद्धा. २०; अबद्धा. १६)								
१		भु. ब. बिना २ आयु, तीर्थ	१४८	३	१४५	५	(देखो आयु कर्मके सत्त्व स्थान)	४	अन्यतम भुज्यमानायु
२		उपरोक्त ३+अनन्ता. ४	१४५	४	१४५	५	,, ,,	४	,,
३		,, +आ. चतु.	१४५	४	१४१	५	,, ,,	४	,,
४		उपरोक्त ७+अनन्ता. ४	१४१	४	१३७	५	,, ,,	४	,,
						२०		१६	

स्थान सं.	अबद्धायुष्कके भंग: स्थानका स्वामी	असत्त्वकी प्रकृतियाँ	कुल सत्त्व योग्य	असत्त्व	सत्त्व प्रकृति	प्रति स्थान भंग	बद्धायुष्कके भंग: विवरण	प्रति स्थान भंग	अबद्धायुष्कके भंग: विवरण
४.	अविरत सम्यग्दृष्टि—गो. क./३७६-३८१/४४०-४४१ कुल स्थान=४० (बद्धा.=२०, अबद्धा.=२०); कुल भंग=१२० (बद्धा.=६०, अबद्धा.=६०)								
१	तीर्थंका सत्त्व तिर्य.को न हो।	तिर्यंच व अन्य कोई आयु = २	१४८	२	१४६	२	भु. मनु., ब. नरक, भु. मनु., ब. देव Vice versa	३	अन्यतम ३ आयु
२		उपरोक्त २+अनन्ता. ४ = ४	१४६	४	१४२	२	,,	३	,,
३		उपरोक्त ६+मिथ्यात्व = १	१४२	१	१४१	२	,,	१	भु. मनुष्यायु
४		,, + मिश्र व मिथ्यात्व = २	१४२	२	१४०	२	,,	३	भु. अन्यतम तीन
५		,, + दर्शन मोह ३ = ३	१४२	३	१३९	२	,,	३	,,
६		तीर्थ, भु. ब. बिना २ आयु = ३	१४८	३	१४५	५	(देखो आयु कर्मके सत्त्व स्थान)	४	अन्यतम चारों आयु
७		भु ब. बिना २ आयु, अन. ४, तीर्थ = ७	१४८	७	१४१	५	,,	४	चारों भुज्यमानायु
८	मनुष्य	उपरोक्त ७+मिथ्यात्व = ८	१४८	८	१४०	३	भु. मनु., ब. ति., नारक देव। ब. मनु., पुनरुक्त	१	भु., मनुष्यायु
९		उपरोक्त + मिथ्यात्व, मिश्र = ९	१४८	९	१३९	३	,,	४	चारों भु. आयु
१०		,, + दर्शनमोह ३ = १०	१४८	१०	१३८	४	भु. नरक. ब. मनु, भु. ति. ब. देव, भु. मनु., ब. देव, भु. मनु. ब. ति.।	३	अन्यतम ३ आयु
११		ति. व अन्य कोई आयु, आ. चतु. = ६	१४८	६	१४२	२	भु. मनु. ब. नरक, भु. मनु. ब. देव, व Vice versa	३	अन्यतम ३ आयु
१२		+ ४ अनन्तानु. = ४	१४२	४	१३८	२	,,	३	,,
१३		+ मिथ्यात्व = १	१३८	१	१३७	२	,,	१	
१४		+ मिश्र = १	१३७	१	१३६	२	,,	३	अन्यतम ३ आयु
१५		+ सम्यक्त्व = १	१३६	१	१३५	२	,,	३	,,
१६		अन्यतम २ आयु, तीर्थ, आ. चतु. = ७	१४८	७	१४१	५	(देखो आयु कर्मके सत्त्व स्थान)	४	चारोंमें अन्यतम आयु
१७		+ अनन्तानु. ४ = ४	१४१	४	१३७	५	,,	४	,,
१८		+ मिथ्यात्व = १	१३७	१	१३६	३	भु. मनु. ब. ति., नारक, देव / ब. मनुष्य, पुनरुक्त	१	भु. मनु.
१९		+ मिश्र = १	१३६	१	१३५	३	,,	४	अन्यतम ४ आयु
२०		+ सम्यक्त्व = १	१३५	१	१३४	४	देखो नं. (१०)	४	,,
						६०		६०	
५.	देश संयत—(गो. क./३८२/४५०) कुल स्थान=४० (बद्धा. २०; अबद्धा.=२०); कुल भंग=४८ (बद्धा.=२४; अबद्धा.=२४)								
१-५	अविरतवत्	अविरतवत्				१×५	बीसों स्थानोंमें भु. मनु., ब. देवका एक भंग	१×५	भु. मनुष्य
६,७	,,	,,				२×२	भु. मनु., ब. देव / भु. ति., ब. देव।	२×२	भु. मनु. या तिर्यंच
८-१५	,,	,,				१×८	भु. मनु., ब. देवका एक भंग सर्वत्र	१×८	भु. मनु. सर्वत्र
१६-१७	,,	,,				२×२	सं. ६, ७ वत्	२×२	सं. ६,७ वत्
१८-२०	,,	,,				१×३	सं. १-५ वत्	१×३	सं. १-५ वत्
						२४		२४	
६-७	प्रमत्त अप्रमत्त संयत—(गो. क./३८२/४५०) कुल स्थान ४०=(बद्धा.=२०; अबद्धा.=२०) कुल भंग=१२० (बद्धा.=६०: अबद्धा.=६०)								
१-२०	अविरतवत्	अविरतवत्				१×२०	भु. मनु., बद्धा. देवका एक भंग सर्वत्र	१×२०	भु. मनु. सर्वत्र
						२०		२०	

८. उपशम श्रेणी // उप. क्षा. सम्यक्त्व (अपूर्व करण)

(गो. क./३८३-३८४/५५१-५५३)—स्थान—२४; भंग—२४ ।

द्रष्टव्य—कनकनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्तीके अनुसार यहाँ स्थान नं. १,२,७,८,१३,१४,१९ इन आठ स्थानोंको छोड़कर १६ स्थान व १६ भंग होते हैं ।

(गो. क./३९१/५५८) ।

संकेत— दे. सारणी सं. १ का प्रारम्भ ।

स्थान सं.	असत्त्ववाली प्रकृतियाँ	पहले सत्त्व योग्य	असत्त्व	अब सत्त्व योग्य	भंग	विवरण
१	नरक, तिर्य. आयु	१४८	२	१४६	१	बद्धायु मनुष्य
२				१४५	१	अबद्धायु मनुष्य
३	अनन्तानु. चतु.	१४६	४	१४२	१	बद्धायु मनुष्य
४				१४१	१	अबद्धायुष्क मनु.
५	दर्शनमोह त्रिक.	१४२	३	१३९	१	बद्धायु मनुष्य
६				१३८	१	अबद्धायु मनुष्य
७	नरक. तिर्य. आयु.+ तीर्थ.	१४८	३	१४५	१	बद्धायुष्क मनु.
८				१४४	१	अबद्धायु मनुष्य
९	अनन्तानु. चतु.	१४५	४	१४१	१	बद्धायु मनुष्य
१०				१४०	१	अबद्धायु मनुष्य
११	दर्शनमोह त्रिक	१४१	३	१३८	१	बद्धायु मनुष्य
१२				१३७	१	अबद्धायु मनुष्य
१३	नरक-तिर्य. आयु + आहा. चतु.	१४८	६	१४२	१	बद्धायु मनुष्य
१४				१४१	१	अबद्धायु मनुष्य
१५	अनन्तानु. चतु.	१४२	४	१३८	१	बद्धायु मनुष्य
१६				१३७	१	अबद्धायु मनुष्य
१७	दर्शनमोह त्रिक	१३८	३	१३५	१	बद्धायु मनुष्य
१८				१३४	१	अबद्धायु मनुष्य
१९	नरक-तिर्य. आयु + आहा. चतु. + तीर्थ.	१४८	७	१४१	१	बद्धायु मनुष्य
२०				१४०	१	अबद्धायु मनुष्य
२१	अनन्तानु. चतु.	१४१	४	१३७	१	बद्धायु मनुष्य
२२				१३६	१	अबद्धायु मनुष्य
२३	दर्शनमोह त्रिक	१३७	३	१३४	१	बद्धायु मनुष्य
२४				१३३	१	अबद्धायु मनुष्य

९-११ उपशम श्रेणी / उपशम व क्षा. सम्यक्त्व (अनिवृत्तिकरणादि उपशान्त कषाय पर्यन्त) ।

(गो. क./३८५/५५३) स्थान २४; भंग २४ ।

द्रष्टव्य—आ. कनकनन्दिके अनुसार स्थान १६, भंग—१६ ।

→ उपरोक्त ८ वें गुणस्थानवत् ←

८. क्षपक श्रेणी (अपूर्व करण)

(गो. क./३८५/५५३)—स्थान—४; भंग—४।

द्रष्टव्य—बद्धायुष्कको क्षपक श्रेणी सम्भव नहीं अतः केवल अबद्धायुष्क मनुष्यके ही स्थान हैं।

स्थान सं.	असत्त्ववाली प्रकृतियाँ	पहले सत्त्व योग्य	असत्त्व	अब सत्त्व योग्य	भंग	विवरण
१	तीन आयु + अनन्त चतु. + दर्शनमोह त्रिक.	१४८	१०	१३८	१	×
२	तीर्थंकर	१३८	१	१३७	१	×
३	आहा. चतु.	१३८	४	१३४	१	×
४	आहा. चतु. + तीर्थ	१३८	५	१३३	१	×

९. क्षपक श्रेणी (अनिवृत्तिकरण)

(गो. क./३८६–३८८/५५४–५५५)—स्थान—३६; भंग—

द्रष्टव्य—गो. सा. में पुरुष वेदी व स्त्रीवेदी दोनोंके समान आलाप मानकर कुल स्थान ३६ बताये हैं, पर सारणी १ के अनुसार पुरुष व स्त्री-वेदीके आलापोंमें कुछ अन्तर होनेसे यहाँ स्थान ४४ बनते हैं।

संकेत—पुं. वेदी—पुरुषवेदोदय सहित श्रेणी चढ़ने वाला।
स्त्रीवेदी—स्त्रीवेदोदय सहित श्रेणी चढ़ने वाला।
नपुं. वेदी—नपुंसकवेदोदय सहित श्रेणी चढ़ने वाला।

द्रष्टव्य—केवल अबद्धायुष्क मनुष्यके आलाप ही सम्भव है क्योंकि बद्धायुष्क क्षपक श्रेणी पर नहीं चढ़ सकता।

गुण स्थान	सत्त्व स्थान	असत्त्ववाली प्रकृतियाँ	पहले सत्त्व योग्य	असत्त्व	अब सत्त्व योग्य	भंग	विवरण
६/i	१	३ आयु + अनन्त चतु. + दर्शनमोह त्रि. = १० व्युच्छिन्न	१४८	१०	१३८	१	×
	२	तीर्थंकर	१३८	१	१३७	१	×
	३	आहारक चतु.	१३८	४	१३४	१	×
	४	आहा. चतु. + तीर्थ	१३८	५	१३३	१	×
६/ii	१	नरक द्वि. तिर्य. द्वि. १–४ इन्द्रिय, स्त्यान. त्रिक, आतप उद्योत, सूक्ष्म, साधारण, स्थावर = १६ व्युच्छिन्न	१३८	१६	१२२	१	×
	२	तीर्थंकर	१२२	१	१२१	१	×
	३	आहा. चतु.	१२१	४	११८	१	×

गुण स्थान	सत्त्व स्थान	असत्त्व वाली प्रकृतियाँ	पहले सत्त्व योग्य	असत्त्व	अब सत्त्व योग्य	भंग	विवरण
६/ii	४	आ. चतु.+तीर्थ.	१२२	५	११७	१	×
६/iii	१	अप्रत्या. ४+प्रत्या. ४—दंड्युच्छि.	१२२	८	११४	१	×
	२	तीर्थंकर	११४	१	११३	१	×
	३	आ. चतु.	११४	४	११०	१	×
	४	आ. चतु.+तीर्थ	११४	५	१०९	१	×
६/iv	१	×	११४	×	११४	१	स्त्रीवेदी व नपुं. वेदी
	२	तीर्थंकर	११४	१	११३	१	,,
		नपुं.	११४	१	,,	१	पु. वेदी
	३	तीर्थ+नपुं.	११४	२	११२	१	,,
	४	आ. चतु.	११४	४	११०	१	स्त्रीवेदी व नपुं. वेदी
	५	आ. चतु.+नपुं.	११४	५	१०९	१	पु. वेदी
		आ. चतु.+तीर्थ	११४	५	,,	१	स्त्री व नपुं. वेदी
	६	आ. चतु.+तीर्थ+नपुं.	११४	६	१०८	१	पु. वेदी
६/v	१	×	११४	×	११४	१	नपुं. वेदी
	२	तीर्थंकर	११४	१	११३	१	,,
		स्त्री वेद	११४	१	,,	१	पु. वेदी व स्त्री वेदी
	३	तीर्थ+स्त्रीवेद	११४	२	११२	१	,,
	४	आ. चतु.	११४	४	११०	१	नपुं. वेदी
	५	आ. चतु.+स्त्री.	११४	५	१०९	१	पु. वेदी+स्त्री वेदी
		आ. चतु.+तीर्थ	११४	५	,,	१	नपुं. वेदी
	६	आ. चतु.+तीर्थ+स्त्री.	११४	६	१०८	१	पु. वेदी व स्त्री वेदी

गुण स्थान	सत्त्व स्थान	असत्त्व वाली प्रकृतियाँ	पहले सत्त्व योग्य	असत्त्व	अब सत्त्व योग्य	भंग	विवरण
६/vi	१	स्त्री. व नपुं. –२ व्युच्छि.	११४	२	११२	१	स्त्रीवेदी व नपुं. वेदी
	२	तीर्थंकर	११२	१	१११	१	,,
	३	आ. चतु.	११२	४	१०८	१	,,
	४	आ. चतु.+तीर्थ	११२	५	१०७	१	,,
	५	हास्यादि –६ व्युच्छि.	११२	६	१०६	१	पु. वेदी
	६	तीर्थ.	१०६	१	१०५	१	,,
	७	आ. चतु.	१०६	४	१०२	१	,,
	८	आ. चतु.+तीर्थ	१०६	५	१०१	१	,,
६/vii	१	पु वेद –१ व्युच्छि.	१०६	१	१०५	१	तीनों वेदी
	२	तीर्थंकर	१०५	१	१०४	१	,,
	३	आ. चतु.	१०५	४	१०१	१	,,
	४	आ. चतु.+तीर्थ	१०५	५	१००	१	,,
६/viii	१	संज्व. क्रोध –१ व्युच्छि.	१०५	१	१०४	१	×
	२	तीर्थंकर	१०४	१	१०३	१	×
	३	आहा. चतु.	१०४	४	१००	१	×
	४	आ. चतु.+तीर्थ	१०४	५	९९	१	×
६/ix	१	संज्व. मान. –१ व्युच्छि.	१०४	१	१०३	१	×
	२	तीर्थकर	१०३	१	१०२	१	×
	३	आ. चतु.	१०३	४	९९	१	×
	४	आ. चतु.+तीर्थ	१०३	५	९८	१	×
		१०. क्षपक श्रेणी (सूक्ष्म साम्पराय) (गो.क./३८९/५५६)–स्थान–४; भंग–४					
	१	संज्व. माया –१ व्युच्छि.	१०३	१	१०२	१	×
	२	तीर्थंकर	१०२	१	१०१	१	×
	३	आ. चतु.	१०२	४	९८	१	×
	४	आ. चतु.+तीर्थ	१०२	५	९७	१	×

गुण स्थान	सत्त्व स्थान	असत्त्ववाली प्रकृतियाँ	पहले सत्त्व योग्य	असत्त्व	अब सत्त्व योग्य	भंग	विवरण
१२	क्षीण कषाय–(गो. क./३८९/५२६)—स्थान = ८; भंग = ८						
	१	संज्व. लोभ = १ व्युच्छि.	१०२	१	१०१	१	×
	२	तीर्थंकर	१०१	१	१००	१	×
	३	आ. चतु.	१०१	४	९७	१	×
	४	आ. चतु.+तीर्थं	१०१	५	९६	१	द्विचरम समय
	५	निद्रा, प्रचला = २ व्युच्छि.	१०१	२	९९	१	चरम समय
	६	तीर्थंकर	९९	१	९८	१	,,
	७	आ. चतु.	९९	४	९५	१	,,
	८	आ. चतु.+तीर्थं	९९	५	९४	१	,,
१३	सयोगकेवली—(गो. क./३९०/५५७)—स्थान = ४; भंग = ४						
	१	५ ज्ञानावरण + ५ दर्शनावरण + ४ अन्तराय = १४ व्युच्छि.	९९	१४	८५	१	×
	२	तीर्थंकर	८५	१	८४	१	×
	३	आहा. चतु.	८५	४	८१	१	×
	४	आ. चतु.+तीर्थं	८५	५	८०	१	×
१४	अयोग केवली— (गो. क./३९०/५५७)—स्थान = ८; भंग = ८						
	१-४	सयोगीवत् चारों स्थान					द्वि चरम समय तक
	५	व्युच्छित्ति = ७२ (दे. सारणी नं. १)	८५	७२	१३	१	चरम समय
	६	तीर्थंकर	१३	१	१२	१	,,
	७	व्युच्छित्ति = १३	१३	१३	×	१	चरम समयके अन्तमें
	८	व्युच्छित्ति = १२	१२	१२	×	१	

१. मूल प्रकृति सत्व स्थान सामान्य प्ररूपणा

संकेत — देखो सारणी १ का प्रारम्भ।

सं.	मार्गणा	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियोंका विवरण
१.	ज्ञानावरणीय—(पं. सं /प्रा /५ /४,२४); (पं. सं./सं./५/५-३०); (गो. क./६३०/८३०)				
	१-१२ गुणस्थान	१	५	×	पाँचों ज्ञानावरणीय
		१			
२.	दर्शनावरणीय—(गो. क./६३१-३२/८३१)				
१	१-९/i	१	९	१	सर्व दर्शनावरणीय
२	९/ii–१२/i	१	६	१	सत्या. त्रिक् रहित ६
३	१२/ii	१	४	१	चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल
		३			
३.	वेदनीय—(गो. क./६३३-६३४/८३२)				
१	१-१४/i	१	२	१	दोनों वेदनीय
२	१४/ii	१	१	१	साता या असाता
		२			
४.	मोहनीय — (देखो पृथक् सारणी)				
५	आयु—(गो. क./३६६-३७१/५२२-५३५)				
१	बद्धायुष्क	२	१	२	(i) भु. मनु., बध्य. मनु. (ii) ,, ति., ,, तिर्य.
			२	५	(i) भु. मनु., ब. ति. ii व vice versa (ii) भु. मनु. ब. नारक व vice versa (iii) भु. मनु. ब. देव व vice versa (iv) भु. ति., ब. नारक व vice versa (v) भु. ति. ब. देव व vice versa
	अबद्धायुष्क	१	१	४	अन्यतम भु. आयु से ४ भंग
		३			
६.	नाम — (देखो पृथक् सारणी)				
७.	गोत्र—(गो. क./६३५/८३३-८३५)				
१	१-१४/i	१	२	१	दोनों गोत्र
२	१४/ii	१	१	१	उच्च गोत्र
		२			
८.	अन्तराय—(गो. ६३०/८३०/)				
१	१-१२/ii	१	५	१	पाँचों अन्तराय

७. मोह प्रकृति सत्त्व स्थान सामान्य प्ररूपणा

(क. पा. २/पृष्ठ), (पं. सं./प्रा./५/११-३६), (पं. सं./सं./५/४२-४७) कुल सत्त्व योग्य—२८; कुल सत्त्व स्थान—१५

प्रमाण—अनिवृत्ति करणमें मोहनीयके क्षयका क्रम :—

१. नवें गुणस्थानके कालके संख्यातवें भागको व्यतीत करके (अप्रमत्त व प्रमत्त) ८ प्रकृतियोंका क्षय करता है।

२. अनन्तर अन्तर्मुहूर्त बिता कर क्रमसे (९/i) में दर्शायी १६ का क्षय करता है।

३. ओघमें की प्ररूपणा पुरुषवेद सहित चढ़नेवालोंकी है। यदि स्त्री., नपुं. वेदके साथ श्रेणी चढ़े तो ९/iii व ९/iv में तीनों वेदोंकी क्षपणा ६ नो कषायोंके साथ युगपत् प्रारम्भ करता है। तहाँ पुरुष वेदकी अन्तिम खण्डकी क्षपणाके निकट उससे पहले ही स्त्री व नपुं. वेदोंके अन्तिम खण्डोंका अभाव हो जाता है। तब वहाँ ९/iv स्थान बजाय ५ के सत्त्वके ११ के सत्त्ववाला बनता है। फिर पुं. वेद व ६ नोकषायको युगपत् क्षय करके ९/vii में पुरुषवेदीवत् ही ४ का सत्त्व कर लेता है।

संकेत—देखो सारणी सं. १ का प्रारम्भ।

सं.	मार्गणा		गुणस्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रमाण	प्रकृतियोंका विवरण
	प्रमाण	स्वामी जीव				विवरण
	क.पा.२/पृ.				क.पा.२/पृ.	
१	२११	क्षपक मनु मनुष्यणी	९/x	१	२०२	संज्वलन लोभ
२	२१२	,,	९/ix	२	,,	सं. लोभ, माया
३	,,	,,	९/viii	३	,,	,, ,, ,, व मान
४	,,	,,	९/vii	४	,,	चारों संज्वलन
५	,,	,,	९/vi	५	२०३	चारों सं. व पुरुष वेद
६	,,	,,	९/v	११	,,	४ संज्व., पु. वेद, ६ नो कषाय
७	,,	,,	९/iv	१२	,,	४ सं., ६ नो कषाय, पु. स्त्रीवेद
८	,,	,,	९/iii	१३	,,	,, ,, ३ वेद
९	,,	दर्शन मोहके क्षय सहित चारों गतिके जीव	९/ii	२१	,,	४ अनन्ता. रहित चारित्र मोहकी २५
१०	,,	दर्शन मोह क्षपक मनुष्य, मनुष्यणी	४–७ कृत-कृत्य वे	२२	,,	उपरोक्त २१ व सम्य. प्रकृ.
११	२१७	,, (मिथ्यात्वका क्षय कर चुका हो शेष दोका क्षय करना बाकी हो)	,,	२३	,,	मिथ्यात्व, अन. रहित सर्व
१२	२१८	चतुर्गतिके उपशम या वेदक सम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि अनन्ता. की विसंयोजना सहित				
१३	२२१	चतुर्गतिके अनादि या सादि मिथ्यादृष्टि	१	२६	२०३	सम्य. व मिश्र मोह
१४	२२१	चतुर्गतिके सादि मि. (मिश्र मोहकी उद्वेलना सहित)	१	२७	,,	सम्य. प्रकृति रहित सर्व
१५	,,	उपशम व वेदक सम्य., यो. १–३ गु. स.	१–४	२८	,,	सर्व

८. मोह सत्त्व स्थान ओघ प्ररूपणा—(क.पा.२/पृष्ठ), (पं.सं./प्रा./५/३९३-३९८), (पं.सं./सं./५/४०५-४१०), (गो. क./६५५-६५६/८४६-८४८)

द्रष्टव्य—(सत्त्व स्थानमें प्रकृतियोंका विवरण देखो सारणी सं. ४) ।

सं.	प्रमाण	गुणस्थान	विकल्प नं. १	विकल्प नं. २	विकल्प नं. ३	विकल्प नं. ४
	क. पा. २/पृ.	सादि मि.	अनादि मि.	सातिशय मि.		
१		मिथ्यादृष्टि	२६,२७,२८	२६	२६	
२		सासादन	२८	×	×	
३		सम्यग्मिथ्यात्व	२८	×	×	
		सम्यक्त्व	क्षायिक	कृतकृत्य वेदक	वेदक	उपशम
४	२१२/२११	अविरत सम्य.	२१	२२,२३,२४	२८	२८
५	,,	संयतासंयत	,,	,,	,,	,,
६	,,	प्रमत्तसंयत	,,	,,	,,	,,
७	,,	अप्रमत्तसंयत	,,	,,	,,	,,
	,,	अप्रमत्त सा.	×	,,	×	×
		क्षपक श्रेणी—	पुरुषवेदी आरोहक	स्त्रीवेदी आरोहक	नपुं. वेदी आरोहक	
८	,,	अपूर्वकरण	२१	२१	२१	
९	२१२	अनिवृत्तिकरण (i)	,,	,,	,,	
	द्रष्टव्य—[देखो सत्त्व/३/४—सारणी सं. १]					
		,, (ii)	,,	,,	,,	
		,, (iii)	१३	१३	१३	
		,, (iv)	१३-नपुं. = १२	,,	,,	
		,, (v)	१२-स्त्री = ११	१२ (१३-स्त्री.)	१३	
		,, (vi)	११-६ नो कषाय = ५	११ (१२-नपुं.)	११ (१३ स्त्री)	
		,, (vii)	५-पु. = ४	४ (११-पु. ६ कषाय)	४ (११-पु. ६)	
		,, (viii)	५	३	३	
		,, (ix/i)	२	२	२	
		,, (ix/ii)	१ (बादर)	१ (बादर)	१ बादर	
१०	२११	सूक्ष्मसाम्पराय	१ सूक्ष्म	१ सूक्ष्म	१ सूक्ष्म	
१२		क्षीण कषाय	×	×	×	
	उपशम श्रेणी उपशम सम्यक्त्व—					
		८-११	२८-२४ के दो स्थान			
	उपशम श्रेणी क्षायिक सम्यक्त्व—					
		८-११	२१ का स्थान			

९. मोह सत्त्व स्थान आदेश प्ररूपणाका स्वामित्व विशेष

सं.	मार्गणा स्थान	सं.	मार्गणा स्थान
१	गति अपेक्षा—		सम्यक्त्व अपेक्षा—
	पर्याप्त—		पर्याप्त—
		१०	अन्यतम सम्यक्त्व
१	चारोंमें अन्यतम गतिके जीव पर्याप्त	११	केवल क्षायिक सम्यक्त्व
२	केवल मनुष्य गति ,, ,,	१२	केवल कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्व
३	मनुष्य व देव गति ,, ,,	१३	केवल वेदक सम्यक्त्व
४	मनुष्य व तिर्यंच ,, ,, ,,	१४	केवल उपशम सम्यक्त्व
५	देव व नरक	१५	उपशम व वेदक सम्यक्त्व
६	नरक व मनुष्य ,, ,, ,,	१६	उपशम वेदक सम्यग्दृष्टि व सम्यग्मिथ्यादृष्टि
७	देव मनुष्य व तिर्यंच ,, ,, ,,	१७	उपर्युक्त सं. १६ + सासादन व सादि मि.
८	,, ,, ,, नरक ,, ,, ,,	१८	सादि मि. व सासादन
९	मनुष्य, तिर्यंच व नरक ,, ,, ,,	१९	वेदक सम्य., मिश्र., सासादन, मि.
	दृष्टव्य—(i) यह ९ स्थान 'पर्याप्तक' के जानने।	२०	सादि मिथ्यादृष्टि
	(ii) इन्हीं ९ स्थानोंको 'अपर्याप्तक' बनानेके लिए पर्याप्त के स्थान पर अपर्याप्त लिख लेना।	२१	अनादि मिथ्यादृष्टि
		२२	सादि अनादि मिथ्यादृष्टि
	(iii) इन्हीं ९ स्थानोंको पर्याप्तापर्याप्तके बनानेके लिए पर्याप्त के स्थान पर उभय लिख लेना।		वेदकी अपेक्षा
		२३	केवल पुरुष वेद

१०. मोह सत्त्व स्थान आदेश प्ररूपणा

प्रमाण—क. पा. २/ पृष्ठ), संकेत— प्रकृतियोंका विवरण देखो सारणी सं. ४।

प्रमाण	मार्गणा	कुल सत्त्व स्थान	प्रति स्थान प्रकृतियाँ	प्रत्येक स्थानका क्रमशः स्वामित्व विशेष (दे. सारणी सं. ६)
१.	गति मार्गणा			
२२१	नरक गति—			
,,	सामान्य	६	२८, २७, २६, २४, २२, २१	१७, २०, २२, १५, १२/अ., १०
,,	प्रथम पृथिवी	६	,,	,,
,,	२–७ ,,	४	२८, २७, २६, २४	१७, २०, २२, १५
	तिर्यंचगति—			
,,	सामान्य	६	२८, २७, २६, २४, २२, २१	१७, २०, २२, १५, १२/अ. भोग भूमि, १०
,,	पंचेन्द्रिय सा. व प.	६	,,	,,
,,	,, योनिमति	४	२८, २७, २६, २४	१७, २०, २२, १५
२२३	लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंच	३	२८, २७, २६	२०, २०, २२
	मनुष्यगति—			
,,	सामान्य		— → ओघवत ←	— —
,,	मनु. प. व मनुष्यणी		— → ,, ←	— —
२२४	मनुष्य ल. अप.	३	२८, २७, २६	१८, २०, २२
	देवगति—			
२२२	सामान्य	६	२८, २७, २६, २४, २२, २१	१७, २०, २२, १५/अ., १२/२१/अ. ११-२१
,,	भवनत्रिक देव	४	२८, २७, २६, २४	१७, २०, २२, १५
,,	सौधर्मादि देवियाँ	४	,,	,,
,,	सौधर्म-नवग्रैवेयक	६	२८, २७, २६, २४, २२, २१	१७, २०, २२, १५, १२/२१/अ., ११/२३
,,	अनुदिश-सर्वार्थसिद्धि	४	२८, २४, २२, २१	१५, १५, १२/अ., ११

प्रमाण	मार्गणा	कुल सत्त्व स्थान	प्रति स्थान प्रकृतियाँ	प्रत्येक स्थानका क्रमशः स्वामित्व विशेष (दे. सारणी सं. ८)
२.	इन्द्रिय मार्गणा			
२२४	एकेन्द्रिय सर्व भेद	३	२८, २७, २६	१८, २०, २२
,,	विकलेन्द्रिय ,,	३	,,	२०, २०+२१
,,	पं. सामान्य व पर्याप्त	१५	— → ओघवत् ←	— —
,,	पं. लब्ध्यपर्याप्त	३	२८, २७, २६	२०, २०, २२
३.	काय मार्गणा			
२२४	सर्वस्थावर	३	२८, २७, २६	२०, २०, २२
,,	त्रस सा. व पर्याप्त	१५	— → ओघवत् ←	— —
,,	त्रस ल. अप.	३	२८, २७, २६	२०, २०, २२
४.	योग मार्गणा			
२२४	५ मन, ५ वचन, व काय सामान्य योगी	१५	— → ओघवत् ←	— —
,,	औदारिक काय		— → ,, ←	— —
२२५	औदारिक मिश्र	६	२८	२/अ./१३, २/अ. भोग भू. १२
			२८	ति. अ. भोग भूमि/१२
			२८, २७, २६	४/अ./१८, ४/अ./२० ,४/अ./२०
			२४, २२ व २१	२/अ./१३, ४/अ. योग/१३
,,	वैक्रियक		२८, २७, २६, २४, २१	५/१७, ५/२०, ५/२२
२२६	वैक्रियक मिश्र	६	उपरोक्त सर्व + २२	५/अ. के उपरोक्त सर्व + ५ अ./१२
,,	आहारक व आ. मि.	३	२८, २४, २१	१३, १३, ११
,,	कार्मण	६	२८, २८, २८, २७, २६, २४, २४	१/१८, १/१३, वेद/१४, १/२० १/२२, १/१३, वेद/१४, १/१२, १/११ (यहाँ तिर्य., को भोगभूमिज ही जानना।)

प्रमाण	मार्गणा	कुल सत्त्व स्थान	प्रति स्थान प्रकृतियाँ	प्रत्येक स्थानका क्रमशः स्वामित्व विशेष (दे. सारणी सं. ८)
५.	वेद मार्गणा			
२१७	स्त्रीवेदी	६	२८, २७, २६, २४ २३, २२, १३, १२, २१	७/१७, ७/२०, ७/२२, ७/१५ २/१२, २ क्षपक, २/११
,,	पुरुषवेदी	११	२८, २७, २६, २४ २१, २३, २२ १३, १२, ११, ५	७/१७, ७/२०, ७/२२, ७/१५ ७/११, २/१२, ७/१२ व ओघवत
२१८	नपुंसकवेदी	६	२८, २७, २६, २४ २२, २१, १३, १३, १२	६/१७, ६/२०, ६/२२, ६/१५ ६/१२, ६/११, २/१२ ओघवत
२२६	अपगतवेदी	८	२४, २१ ११, ५, ४, ३, २, १	उपशान्त कषाय → ओघवत् ←
६.	कषाय मार्गणा			
२२६	क्रोध	१२	२८ से ४ तक	→ ओघवत ←
,,	मान	१३	२८ से ३ तक	→ ,, ←
,,	माया	१४	२८ से २ तक	→ ,, ←
,,	लोभ	१५	२८ से १ तक	→ ,, ←
,,	अकषायी	२	२४, २१	उपशान्त कषाय
७.	ज्ञान मार्गणा			
२२४	मति, श्रुत अज्ञान	३	२८, २७, २६	१८, २०, २२
,,	विभंग	,,	,,	,,
२२६	मति, श्रुतज्ञान	१३	२८, २४ से १ तक	१/१५, ओघवत्
,,	अवधिज्ञान	,,	,,	,,
,,	मनःपर्ययज्ञान	,,	,,	,,

प्रमाण	मार्गणा	कुल सत्त्व स्थान	प्रति स्थान प्रकृतियाँ	प्रत्येक स्थानका क्रमशः स्वामित्व विशेष (दे. सारणी सं. ८)
८	संयम मार्गणा			
	संयम सामान्य			
२२६	सामायिक, छेदोप.	१३	२८, २४ से १ तक	२/१५, ओघवत्
२३०	परिहार विशुद्धि	५	२८, २४, २३, २२, २१	२/१५, ११, १२, ११
,,	सूक्ष्म साम्पराय	३	२४, २१, १	उपशामक, क्षपक
२२६	यथाख्यात	२	२४, २१	उपशान्त कषाय
२३०	संयमासंयम	५	२८, २४, २३, २२, २१	४/१५, ४/१५, २/१२, २/११
,,	असंयम	०	२८ से २१ तक	→ ओघवत् ←
९	दर्शन मार्गणा			
२२२	चक्षु	—	— → ओघवत् ← —	— —
	अचक्षु	—	,,	— —
२२६	अवधि	१३	२८, २४ से १	१/१५, ओघवत्
१०	लेश्या मार्गणा			
२३०	कृष्ण	५	२८, २८, २७, २६, २४, २१	१/१८, ६/१५, १/२०, १/२२ ६/१५, २/११
,,	नील	५	,,	
,,	कापोत	२	२२	ति. अपर्याप्त भोग भूमिज
			२१	६/उभय/१२, ११
२३१	पीत, पद्म	७	२८, २७, २६, २४	७/१७, ७/२०, ७/२२, ७/१५
			२१, २३, २२	७/११, २/१२, ३/१२ शेष अपर्याप्त
२२४	शुक्ल	१५	२२, सर्व १५ स्थान	→ ओघवत् ←

प्रमाण	मार्गणा	कुल सत्त्व स्थान	प्रति स्थान प्रकृतियाँ	प्रत्येक स्थानका क्रमशः स्वामित्व विशेष (दे. सारणी सं.८)
११	भव्यत्व मार्गणा			
२२१	भव्य		→ ओघवत् ←	— — —
२३२	अभव्य	१	२६	२१
१२	सम्यक्त्व मार्गणा			
२२६	सम्यक्त्व सा.	१३	२८, २४ से १ तक	१/१५ ओघवत्
२३२	क्षायिक	६	२१ से १ तक	१/११ ,,
,,	वेदक	४	२८, २४, २३, २२	१/१३, १/१३, २/१३, १/१२
,,	उपशम	२	२८, २४	१, १
,,	सम्यग्मिथ्या.	२	,,	,,
,,	सासादन	१	२८	१
२३४	मिथ्यादृष्टि	३	२८, २७, २६	२०, २०, २१
१३	संज्ञी मार्गणा			
२२३	संज्ञी		→ ओघवत् ←	— — —
२२४	असंज्ञी	३	२८, २७, २६	१८, २०, २२
१४	आहारक मार्गणा			
२२२	आहारक		→ ओघवत् ←	— — —
२३२	अनाहारक		→ कार्मणकाय योगवत् ←	— — —

११. नामप्रकृति सत्त्वस्थान सामान्य प्ररूपणा—(पं. सं./प्रा./५/२०८-२११); (पं. सं./सं /५/२२२-२२६); (गो. क./भाषा./६१०/-८१७); (गो. क./भाषा/६२०-८२४); (गो. क./भाषा./७५६/९३१) कुल सत्त्व स्थान—१३; कुल सत्त्व योग—९३ ।

संकेत— दे. सारणी सं. १ का प्रारम्भ ।

सं.	स्वामी जीव गो. क./भाषा/६२०-८२४	प्रति स्थान प्रकृति	प्रकृतियोंका विवरण (गो. क /भाषा/६१०/८१७)
१	कर्म भूमिज मनु. प. व नि. अप. असंयमादि वैमानिक देव असंयत	९३	२
२	सासादन रहित चतुर्गतिके जीव	९२	९३-तीर्थंकर
३	देव सम्यग्दृष्टि, मनुष्य, नारकी सम्यक् व मिथ्यादृष्टि	९१	९३-आहारक द्विक्
४	अनिवृत्ति क. में प्रकृतियोंका क्षय भये पीछे चतुर्गति ।	९०	९३-आ. द्वि. व तीर्थ.
५	देव द्विक्की उद्वेलना, एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रियके होय तो वह मरकर जहाँ उपजे वहाँ तिर्यंच, मनुष्य मिथ्यादृष्टि भी उस उद्वेलना सहित रहे हैं।	८८	उपर्युक्त ९०-देवद्विक्
६	उपर्युक्त सं. ५ जीव नारकद्विक्की उद्वेलना कर ले तो ।	८४	उपर्युक्त ८८-नारक द्विक् व वैक्रियक द्विक्
७	मनुष्यद्विक्की उद्वेलना भये तेज, वात कायिक या अन्य ८८ वाले स्थानगत होय ऐसा तिर्यंच सा मिथ्यादृष्टि ।	८२	९३-(तीर्थ , आ. द्वि., देवद्विक्, नारकद्विक्, वै. द्विक्, मनु. द्विक्
८	अनिवृत्तिकरण ९/ii से १४/ı तक	८०	९३-(नरक द्वि , ति. द्वि., १-४ इन्द्रिय आतप, उद्योत, सूक्ष्म साधारण, स्थावर ।
९	”	७९	८०-तीर्थंकर
१०	”	७८	८०-आ. द्विक्
११	”	७७	८०-आ. द्विक, तीर्थ.
१२	तीर्थंकर अयोगीका अन्तसमय	१०	मनु. गति, पंचे., सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यश, तीर्थ, मनुष्यानुपूर्वी
१३	सामान्य अयोगी का अन्तसमय	९	उपर्युक्त १०—तीर्थंकर

१२. जीव पदोंकी अपेक्षा नामकर्म सत्त्व स्थान प्ररूपणा—(गो. क./६२३-६२७/८२८)

क.	मार्गणा	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृतियाँ	प्रकृतियों का विवरण
१	नारकी सामान्य	३	९०, ९१, ९२	देखो सत्त्व स्थानोंकी सारणी
२	नारकी (४-७ पृ.)	२	९०, ९२	
३	तिर्यंच (सर्व)	३	८२, ८४, ८८	
४	मनु. सामान्य	१२	८२ रहित सर्व	
५	अयोग केवली	४	७७, ७८, ७९, ८०, ९, १०	
६	सयोग केवली	४	७७, ७८, ७९, ८०	
७	आहारक	२	९२, ९३	
८	सर्व भोग भू. मनु. ति.	२	९०, ९३	
९	वैमानिक देव	४	९०, ९१, ९२, ९३	
१०	भवनत्रिक	२	९०, ९२	
११	सर्व सासादनवर्ती	१	९०	

१३. नाम कर्म सत्त्व स्थान ओघ प्ररूपणा—(पं. सं./प्रा./५/२१७); (प. सं./प्रा./४०२-४१७); (गो. क./६९२-७०२/८७२) (प. सं./सं./५/४१९-४२८)। संकेत— सत्त्व स्थान — प्रकृतियोंका विवरण = देखो सारणी सं. ११।

गुण स्थान	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृति (देखो सारणी सं. ११)	गुण स्थान	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकतियाँ (देखो सारणी सं. ११)
१	६	८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२	८	४	९०, ९१, ९२, ९३
२	१	९०	९	८	क्षपक ७७, ७८, ७९ ८० उपशामक, ९०, ९१, ९२, ९३
३	२	९०, ९२	१०	८	पूर्वोक्त नवम गुणस्थानवत्
४	४	९०, ९१, ९२, ९३	११	४	९०, ९१, ९२, ९३
५	४	,,	१२	४	७७, ७८, ७९, ८०
६	४	,,	१३	४	,,
७	४	,,	१४	६	९, १०, ७७, ७८, ७९, ८०

१४. नाम कर्म सत्त्व स्थान आदेश प्ररूपणा—(पं. सं./प्रा./५/२१८–२१९, ४१९–४७२); (पं. सं./सं./५/२३०–२३१) (गो. क./७१२–७३८/८८१–८८७)

क.	मार्गणा	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति (देखो सारणी सं. ११)
१	गति मार्गणा—		
१	नरक	३	९०, ९१, ९२
२	तिर्यंच	५	८२, ८४, ८८, ९०, ९२
३	मनुष्य	१२	७७, ७८, ७९, ८०, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३, ९, १०
४	देव	४	९०, ९१, ९२, ९३
२	इन्द्रिय मार्गणा—		
१	एकेन्द्रिय	५	८२, ८४, ८८, ९०, ९२
२	विकलेन्द्रिय	५	,,
३	पंचेन्द्रिय	१३	७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३, ९, १०
३	काय मार्गणा—		
१	पृ. अप., तेज. वायु वनस्प.	५	८२, ८४, ८८, ९०, ९२
२	त्रस	१३	पंचेन्द्रियवत्
४	योग मार्गणा—		
१	सर्व मन वचन	१२	७७, ७८, ८९, ८०, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३, ९, १०
२	औदारिक	११	७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३
३	औ. मिश्र.	११	,,

क.	मार्गणा	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति (दे. सारणी सं. ११)
४	वैक्रियक	४	९०, ९१, ९२, ९३
५	वैक्रियक मिश्र.	४	,,
६	आहारक	२	९२, ९३
७	आ. मिश्र.	२	,,
८	कार्माण	११	७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८२, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३
५	वेद मार्गणा—		
१	स्त्री वेद	९	७७, ७९, ८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३
२	नपुं. वेद	९	पूर्वोक्त स्त्रीवेदवत्
३	पु. ,,	११	७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३
७	ज्ञान मार्गणा—		
१	मति, श्रु. अज्ञान	६	८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२
२	विभंग	३	९०, ९१, ९२
३	मति, श्रुत. अवधि	८	७७, ८८, ७९, ८०, ९०, ९१, ९२, ९३
४	मनःपर्यय	८	,,
५	केवल	६	७७, ७८, ७९, ८०, ९, १०
८	संयम मार्गणा—		
१	सा. छेदो.	८	७७, ७८, ७९, ८०, ९०, ९१, ९२, ९३
२	परि. विशुद्धि	४	९०, ९१, ९२, ९३
३	सूक्ष्म साम्पराय	८	७७, ७८, ८९, ८०, ९०, ९१, ९२, ९३

क्र.	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृति (देखो सारणी ११)
४	यथाख्यात	१०	७७, ७८, ७९, ८०, ९०, ९१, ९२, ९३, ९, १०
५	देश संयत	४	९०, ९१, ९२, ९३
६	असंयत	७	८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३
९	दर्शन मार्गणा		
१	चक्षु.	९	७७, ७९, ८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३
२	अचक्षु.	९	,,
३	अवधि	८	७७, ७८, ७९, ८०, ९०, ९१, ९२, ९३
४	केवल	६	७७, ७८, ७९, ८०, ९, १०
१०	लेश्या मार्गणा		
१	कृष्णादि ३	७	८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३
२	पीत	४	९०, ९१ ९२, ९३
३	पद्म	४	,,
४	शुक्ल	८	७७, ७८, ७९, ८०, ९०, ९१, ९२, ९३
११	भव्य मार्गणा		
१	भव्य	१३	सर्व स्थान
२	अभव्य	४	८२, ८४, ८८, ९०

क्र.	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृति (दे. सारणी ११)
१२	सम्यक्त्व मार्गणा		
१	क्षायिक	१०	७७, ७८, ७९, ८०, ९०, ९१, ९२, ९३, ९, १०
२	वेदक	४	९०, ९१, ९२, ९३
३	उपशम	४	,,
४	सम्य. मि.	२	९०, ९२
५	सासादन	१	९०
६	मिथ्यादृष्टि	६	८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२
१३	संज्ञी मार्गणा		
१	संज्ञी	९	७७, ७८, ८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३
२	असंज्ञी	५	८२, ८४, ८८, ९०, ९१
१४	आहारक मार्गणा		
१	आहारक	९	७७, ७९, ८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३
२	अना. सामान्य	११	७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३
३	अना. अयोगी	२	९, १०

१५. नाम प्रकृति सत्त्वस्थान पर्याप्तापर्याप्त प्ररूपणा—(गो. क./७०४-७१२/८७८)

क.	मार्गणा	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति (दे. सारणी ११)	क.	मार्गणा	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति (दे. सारणी ११)
१	अपर्याप्तक—						
१	अप. सातों समास	५	८२,८४,८८,९०,९२	१	संज्ञी पर्याप्त	११	७७,७८,७९,८०,८२,
२	सर्व एकें. वि. तथा असंज्ञी पर्याप्त	५	८२,८४,८८,९०,९२				८४,८८,९०,९१,९२,९३

१६. मोह स्थिति सत्त्वकी ओघप्ररूपणा—(क. पा. ३/पृष्ठ) अन्त: = अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर

क.	प्रकृति	प्रमाण	जघन्य स्थिति क्षपक श्रेणीमें ही सम्भव	क.	प्रकृति	प्रमाण	जघन्य स्थिति क्षपक श्रेणीमें ही सम्भव
१	मिथ्यात्व	२०३	२ समय	८	संज्वलन माया	२०९	अन्त. कम १/२ मास
२	सम्य. मिथ्यात्व	,,	२ समय	९	,, लोभ	२०५	१ समय
३	सम्यक्प्रकृति	२०५	१ समय	१०	६ नोकषाय	२१०	संख्यात वर्ष
४	अनन्ता. ४		२ समय	११	स्त्री वेद	२०५	१ समय
५	८ कषाय	२०३	२ समय	१२	पुरुष वेद	२०६	अन्त कर्म ८ वर्ष
६	संज्वलन क्रोध	२०७	अन्त: कम २ मास	१३	नपुं. वेद	२०५	१ समय
७	,, मान	२०८	अन्त: कम १ मास	१४	संक्रमण होनेके पश्चात् शेष बची सम्यक्प्रकृति	२०५	,,

१७. मोह स्थिति सत्त्वकी आदेश प्ररूपणा—(क. पा. ३/पृष्ठ) अन्तः=अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर

प्रमाण	गुणस्थान व प्रकृति	स्थिति सत्त्व		
		जघन्य	प्रमाण	उत्कृष्ट
	१ मिथ्यादृष्टि—			
६	मोह सामान्य	१ सा. १०य/असं'	३. स्थिति/६४	७० को. को. सा.
१६४	मिथ्यात्व	२ समय (दे. सत्त्व/३/१६)		,,
१६५	सम्य. मिश्रमोह	,,		अन्त· कम १ सा.
१६७	१६ कषाय	,,		४० को. को. सा.
,,	नो कषाय	,,		१ आवली कम १ सा.
	२ सासादन—			
११	सामान्य मोह	अन्तः को. को. सा.		अन्तः को. को. सा.
२००	दर्शन मोह त्रिक	२ समय (दे. सत्त्व/३/१६)		,,
,,	१६ कषाय	,,		,,
,,	नो कषाय	,,		,,
	३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि—			
१०	मोह सामान्य	अन्तः		अन्त. कम ७० को. को. सा.
२००	दर्शन मोह त्रि.	२ समय (दे. सत्त्व/३/१६)	२००	अन्त· कम ७० को. को. सा.
,,				
,,	१६ कषाय	,,	,,	अन्तः कम ४० को. को. सा.
,,	नो कषाय	,,	,,	,,
	४ अविरत सम्यग्दृष्टि (क्षायिक)—			
११	मोह सामान्य	अन्त.	११	अन्त
२००	१२ कषाय	(दे. सत्त्व/३/१६)	२००	,,
,,	नो कषाय	,,	,,	,,
	४ अविरत सम्यग्दृष्टि (वेदक)—			
१३	मोह सामान्य	अन्तः को. को. सा.	१०	अन्तः कम ७० को. को. सा.
२०३	दर्शन मोह त्रिक	२ समय (दे. सत्त्व/३/१६)	२००	,,
,,	१६ कषाय	,,	,,	अन्तः कम ४० को. को. सा.
	नो कषाय	२ समय (दे. सत्त्व/३/१६)	,,	अन्तः कम ४० को. को. सा.
	४ अविरत सम्यग्दृष्टि (उपशम)—			
१३	मोह सामान्य	अन्त.	११	अन्तः
२०३	दर्शन मोह त्रिक	२ समय (दे. सत्त्व/३/१६)	२००	,,
,,	१६ कषाय	,,	,,	,,
	नो कषाय	,,	,,	,,
	५ संयतासंयत—			
१३	मोह सामान्य	अन्त. (दे. सत्त्व/३/१६)	११	अन्तः
२०३	दर्शन मोह त्रिक		२००	,,
,,	१६ कषाय	,,	,,	,,
	नो कषाय	,,	,,	,,

प्रमाण	गुणस्थान	स्थिति सत्त्व जघन्य	प्रमाण	स्थिति सत्त्व उत्कृष्ट
	६-७ प्रमत्त अप्रमत्त संयत (सामान्य)—			
	सामान्य सं.	संयतासंयतवत्	१०	संयतासंयतवत्
	सा. छेदो.	"	२००	"
१३	परिहार वि.	"	"	"
	६ क्षायिक सामायिक छेदो० —			
१४	मोह सामान्य	अन्तर्मुहूर्त		
	६-७ क्षायिक परिहार विशुद्धि—			
	मोह सामान्य			
	१२ कषाय			
	९ कषाय			
	८-९ (उपशामक)—			
	सर्व स्थान		२००	संयतासंयतवत्
	१० सूक्ष्म साम्पराय उपशामक —			
	सर्व स्थान	दे. सत्त्व/३/१६	२००	"

प्रमाण	गुणस्थान	स्थिति सत्त्व जघन्य	प्रमाण	स्थिति सत्त्व उत्कृष्ट
	११ उपशान्त कषाय—			
१३	मोह सामान्य	अन्त:	१०	अन्त:
	दर्शनमोह त्रि.	दे. सत्त्व/३/१६	२००	अन्त:
	१२ कषाय	"	"	"
	नोकषाय	"	"	"
	८-९ क्षपक—			
	मोह सामान्य	दे. सत्त्व/३/१६		
	१२ कषाय	"		
	नोकषाय	"		
	१० सूक्ष्म साम्पराय क्षपक—			
१२	मोह सामान्य	१ समय		
	लोभ	दे. सत्त्व/३/१६		

१८. मूलोत्तर प्रकृति चतुष्कको प्ररूपणाओं सम्बन्धी सूची

प्रकृति	मूल या उत्तर	विषय	सत्त्व स्थान	भुजगारादि पद	अ. व. वृद्धि-हानि	संख्यात भागादि वृद्धि	सामान्य सत्कर्म
१. ओघ आदेशसे प्रकृति सत्त्व—(क. पा. २/ §... / पृ. सं.							
मोह	मूल	भंगविचय					६५-६६ / ४४-४७
	उत्तर	समुत्कीर्तना	२१०-२३४ / २०२-२०६	४१८ / ३८४-३८६	४७६-४७७ / ४२६-४२८	४८५-४८६ / ४३७-४३६	१०१-१०४ / ८३-८८
	„	सन्निकर्ष					१४२-१५२ / १३०-१४४
	„	भंगविचय	३०८-३४६ / २८१-३१६	४४३-४४५ / ४०२-४०४		५०५-५०७ / ४५६-४५८	१५३-१५६ / १४४-१५१
२. ओघ आदेशसे स्थिति सत्त्व—क. पा./पु. सं./ §... / पृ. सं.							
मोह	मूल	समुत्कीर्तना	३ ८-२१ / ८-१६	३ १६६-१७० / ६५-६६	३ २२६-२२८ / १२७-१२६	३ २४६-२४८ / १३६-१३८	
	„	भंगविचय	३ ६३-६७ / ५४-५८	३ ११५-११७ / १११-११३		३ २६०-२६४ / १६०-१६४	
	उत्तर	समुत्कीर्तना	३ ३६१-४०० / १६४-२२६			४ २२३-२६६ / ११७-१६०	४ ४०७-६४० / २१६-३३६
	„	भंगविचय	३ ५७३-५६८ / २४५-३५४	४ ६२-१०३ / ५०-५५		४ ३५८-३६४ / २२२-२२६	
	„	सन्निकर्ष	३ ७०६-८७० / ४२५-५२४	४ १६३-१७६ / ८३-६५		४ ४१८-४२७ / २४६-२५६	
	„	अद्धाच्छेद	३ ३६१-४०० / १६४-२२६				

१९. अनुभाग सत्त्वकी ओघ आदेश प्ररूपणा सम्बन्धी सूची—क., पा. ५/ $\frac{\text{§...}}{\text{पृ. सं.}}$

प्रकृति	मूल व उत्तर	विषय	सत्त्व स्थान	भुजगारादि पद	ज. उ. वृद्धि-हानि	संख्यात भागादि वृद्धि	सामान्य सत्कर्म
मोह	मूल	समुत्कीर्तना		१४१ / ६२	१६२-१६४ / १०७-१०८	१६६-१७० / ११२-११३	हतसमु. १८६ / १२५-१२७
	,,	भंगविचय	८२-८७ / ५३-५६	१५१ / ९९-१०१		१७७ / ११८-११९	
	उत्तर	समुत्कीर्तना	१९६-२२३ / १३५-१५५	४७१-४७३ / २७३-२७५	५३१-५३५ / ३०७		
	,,	भंगविचय	३२५-३४५ / २१३-२२१	४८७-४८९ / २८६-२८८	५४५-५४७ / ३१९		
	,,	सन्निकर्ष	४१८-४२७ / २४९ २५६				
	,,	सत्कर्म	१८९-१९५ / १२९-१३५				५७०-६२७ / ३३०-३६०

सत्त्व काल—दे. काल/१/६।

सत्त्व भावना—दे. भावना/१।

सत्त्वस्थान त्रिभंगी—आ. कनकनन्दि (ई. ९३९) कृत ५० गाथा, प्रमाण कर्म विषयक ग्रन्थ। (जै./१/३८४)।

सदर चउक—गो. क./भाषा./११३/१००/८ तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्या-नुपूर्वी, तिर्यंचायु और उद्योत इन चार प्रकृतिनिको सदर चउक कहिए।

सदवस्था रूप उपशम—दे. उपशम/१।

सदाशिव तत्त्व—दे. शैवदर्शन।

सदाशिवमत—सांख्य दर्शन—दे. सांख्य।

सदासुखदास—जयपुर निवासी एक विरक्त पण्डित थे। दिगम्बर आम्नायमें थे। पिताका नाम दुलीचन्द था। काशलीवाल गोत्रीय थे। वंशका नाम 'डेडराज' था। इनका जन्म वि. १८५२ में हुआ था। राजकीय स्वतन्त्र संस्था (कापड़द्वारे) में कार्य करते थे। कुटुम्ब बीसपन्थी था, पर ये स्वयं तेरापन्थी थे। इनके गुरुका नाम पं. मुन्नालाल था। इनके पं. पन्नालाल संघी, नाथूलाल जो दोशी, पं. पारसदास जो निगोत्या सहपाठी थे। इनको विरागकी इतनी रुचि थी कि इन्होंने राजकीय संस्था से ८) मासिककी बजाय ६) मासिक लेना स्वीकार किया था। ताकि २ घण्टे शास्त्र स्वाध्यायके लिए मिल जाये। कृति—भगवती आराधनाकी भाषा वचनिका, नाटक समयसार टीका, तत्त्वार्थ सूत्रकी लघु टी., रत्नकरण्ड श्रावका-चारकी टीका, अकलंक स्तोत्र, मृत्यु महोत्सव, नित्य नियम पूजा संस्कृतकी टीका, तथा आरावासी पं. परमेष्ठीदासकृत अर्थप्रकाशिका-का शोधन तथा उसमें ४००० श्लोकोंकी वृद्धि की। समय—जन्म वि. १८५२, समाधि वि. १९२३ (ई. १७९५-१८६६)। (ती./४/२९४)।

सदृश—१. एक ग्रह—दे. ग्रह। २. पं. ध./पू. १२७ जीवस्य यथा ज्ञानं परिणामः परिणमस्तदेवेति। सदृशस्योदाहृतिरिति जातेरनतिक्रमत्वतो वाच्या।१२७। —जैसे जीवका ज्ञानरूपपरिणाम तैपरिणमन करता हुआ प्रतिसमय ज्ञानरूप ही रहता है। यही ज्ञानत्व जातिका उल्लं-घन न करनेसे सदृशका उदाहरण है।

सद्भाव स्थापना—दे. निक्षेप/४।

सद्भावानित्य—दे. नय/IV/४।

सद्भूत नय—दे. नय/V/५।

सनत्कुमार—१. चौथा चक्रवर्ती—दे. शलाकापुरुष/२। २. कल्पवासी देवोंका एक भेद तथा उनका अवस्थान—दे. स्वर्ग/३ व ५/२।

सन्नासन्न—क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपरनाम संज्ञासंज्ञा—दे. गणित/I/१/३।

सन्निकर्ष—१. ष.खं.व धवला१२/४,२,१३/सू.२-३/३७५ जो सो वेयण-सण्णियासो सो दुविहो सत्थाणवेयणसण्णियासो चेव परत्थाणवेयण-सण्णियासो चेव।२। अप्पिदेगकम्मस्स दव्व-खेत्त-काल-भावविसओ सत्थाणसण्णियासो णाम। अट्ठकम्मविसओ परत्थाणसण्णियासो णाम। सण्णियासो णाम किं। दव्व-खेत्त-काल-भावेसु जहण्णुक्कस्स-भेदभिण्णेसु एक्कम्हि णिरुद्धे सेसाणि किमुक्कस्साणि किमणुक्कस्साणि किं जहण्णाणि किं अजहण्णाणि वा पदाणि होंति त्ति जा परिक्खा सो सण्णियासो णाम ॥ सन्निकर्ष है वह दो प्रकार है—स्वस्थान-वेदना।१।—जो वह वेदना सन्निकर्ष है वह दो प्रकार है—स्वस्थान-वेदनासन्निकर्ष और परस्थान-वेदना सन्निकर्ष।२। किसी विवक्षित एक कर्मका जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव विषयक सन्निकर्ष होता है वह स्वस्थानसन्निकर्ष कहा जाता है और आठों कर्मों विषयक सन्निकर्ष परस्थान सन्निकर्ष कहलाता है। प्रश्न—सन्निकर्ष (सामान्य) किसे कहते हैं। उत्तर—जघन्य व उत्कृष्ट भेद रूप द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावोंमेंसे किसी एकको विवक्षित करके उसमें शेष पद क्या उत्कृष्ट है, क्या अनुत्कृष्ट है, क्या जघन्य है और क्या अजघन्य है, इस प्रकारकी जो परीक्षा की जाती है वह सन्निकर्ष है। २. प्रवचन-सन्निकर्ष के लिये दे० प्रवचन सन्निकर्ष।

सन्निकर्ष प्रमाण—दे. प्रमाण/४।

सन्निपातिक भाव—

१. सान्निपातिक भाव सामान्यका लक्षण

रा. वा./२/७/२२/११४/१० सान्निपातिकएको भावो नास्तीति···संयोग-भङ्गापेक्षया अस्ति। ··(यथा) औदयिकौपशमिकसान्निपातिक-जीवाभावो नाम। —सान्निपातिक नामका एक स्वतन्त्र भाव नहीं है। संयोग भंगकी अपेक्षा उसका ग्रहण किया।···जैसे औदयिक-औपशमिक-मनुष्य और उपशान्त क्रोध।(ज्ञा./६/४२) जीव भाव सान्निपातिक है।

ध. ५/१,७,१/१९३/१ एक्कम्हि गुणट्ठाणे जीवसमासे वा बहवो भावा जम्हि सण्णिवदंति तेसिं भावाणं सण्णिवादिएत्ति सण्णा। —एक ही गुणस्थान या जीवसमासमें जो बहुतसे भाव आकर एकत्रित होते हैं, उन भावोंकी सान्निपातिक ऐसी संज्ञा है।

२. सान्निपातिक भावोंके भेद

रा. वा./२/७/२२/११४/१५ पर उद्धृत - दुग तिग चदु पंचेव य संयोगा होंति सन्निवादेसु। दस दस पंच य एक्क य भावा छव्वीस पिंडेण ॥ —सान्निपातिक भाव दो संयोगी, तीन, चार तथा पाँच संयोगी क्रमसे १०, १०, ५ तथा १ इस प्रकार छब्बीस बताये हैं (ध. ५/१,७,१/१९३/३)।

रा.वा./२/७/२२/११४/१३ सान्निपातिकभावः···षड्विंशतिविधः षट्-त्रिंशद्विध एकचत्वारिंशद्विधः इत्येवमादिरागमे उक्तः। —सान्निपातिक भाव २६, ३६ और ४१ आदि प्रकारके आगममें बताये गये हैं [४१ भंगोंमें २६ व ३६ आदि सर्व भंग गर्भित हैं इसलिए नीचे ४१ भंगोंका निर्देश किया जाता है]।

संकेत—औद०=औदयिक; औप०=औपशमिक; क्षा०=क्षायिक; क्षयो०=क्षायोपशमिक; पा०=पारिणामिक।

१. द्विसंयोगी—

क्र.	भंग निर्देश	विवरण
१	औद.+औद.	मनुष्य और क्रोधी
२	औद.+औप.	मनुष्य और उपशान्त क्रोध
३	औद.+क्षा.	मनुष्य और क्षीणकषाय
४	औद.+क्षयो.	क्रोधी और मतिज्ञानी
५	औद.+पारि.	मनुष्य और भव्य
६	औप.+औप.	उपशम सम्यग्दृष्टि और उपशान्त कषाय
७	औप.+औद.	उपशान्त कषाय और मनुष्य
८	औप.+क्षा.	उपशान्त क्रोध और क्षायिक सम्यग्दृष्टि
९	औप.+क्षयो.	उपशान्त कषाय और अवधिज्ञानी
१०	औप.+पारि.	उपशम सम्यग्दृष्टि और जीव
११	क्षा.+क्षा.	क्षायिक सम्यग्दृष्टि और क्षीणकषाय
१२	क्षा.+औद.	क्षीणकषाय और मनुष्य
१३	क्षा.+औप.	क्षायिक सम्यग्दृष्टि और उपशान्त वेद
१४	क्षा.+क्षयो.	क्षीण कषायी और मतिज्ञानी
१५	क्षा.+पारि.	क्षीण मोह और भव्य
१६	क्षयो.+क्षयो.	संयत और अवधिज्ञानी
१७	क्षयो.+औद.	संयत और मनुष्य
१८	क्षयो.+औप.	संयत और उपशान्त कषाय
१९	क्षयो+क्षा.	संयतासंयत और क्षायिक सम्यग्दृष्टि
२०	क्षयो.+पारि.	अप्रमत्त संयत और जीव
२१	पारि.+पारि.	जीव और भव्य
२२	पारि.+औद.	जीव और क्रोधी
२३	पारि.+औप.	भव्य और उपशान्त कषाय
२४	पारि.+क्षा.	भव्य और क्षीण कषाय
२५	पारि+क्षयो.	संयत और भव्य

२. त्रिसंयोगी

क्र.	भंग निर्देश	विवरण
१	औद.+औप.+क्षा.	उपशान्त मोह और क्षायिक सम्यग्दृष्टि
२	औद.+औप+क्षयो	मनुष्य उपशान्त क्रोध और वाग्योगी
३	औद.+औप+पा.	मनुष्य उपशान्तमोह और जीव
४	औद+क्षा.+क्षयो	मनुष्य क्षीणकषाय और श्रुतज्ञानी
५	औद+क्षा.+पारि.	मनुष्य क्षायिक सम्यग्दृष्टि और जीव
६	औद+क्षयो+पारि.	मनुष्य मनोयोगी और जीव
७	औप.+क्षा+पारि.	उपशान्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि और काययोगी
८	औप+क्षा+पारि.	उपशान्त वेद क्षायिकसम्यग्दृष्टि और भव्य
९	औप+क्षयो+पारि.	उपशान्तमान मतिज्ञानी और जीव
१०	क्षा.+क्षयो+पारि.	क्षीणमोह पंचेन्द्रिय और भव्य

३. चतुः संयोगी

क्र.	भंग निर्देश	विवरण
१	औप+क्षा+क्षयो+पारि.	उपशान्त लोभ क्षायिक सम्यग्दृष्टि पञ्चेन्द्रिय और जीव
२	औद.+क्षा.+क्षयो+पारि.	मनुष्य क्षीणकषाय मतिज्ञानी और भव्य
३	औद.+औप+क्षयो+पारि	मनुष्य उपशान्त वेद श्रुतज्ञानी और जीव
४	औद.+औप+क्षा.+पारि	मनुष्य उपशान्तराग क्षायिक सम्यग्दृष्टि और जीव
५	औद.+औप+क्षा.+क्षयो.	मनुष्य उपशान्त मोह क्षायिक सम्यग्दृष्टि और अवधिज्ञानी

४. पंच भाव संयोगी

औद.+औप.+क्षा.+क्षयो.+पारि—मनुष्य उपशान्तमोह क्षायिक सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय जीव।

सन्निवेश—ध. १३/५.५.६३/३३६/२ विषयाधिपस्य अवस्थानं संनिवेशः।—देशके स्वामीके रहनेके स्थानका नाम सन्निवेश है।

सभोरा—भरत क्षेत्रस्थ मध्य आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

सन्मति—१. भगवान् महावीरका अपर नाम था—दे. महावीर; २. द्वितीय कुलकर थे—दे. शलाका पुरुष/६।

सन्मति कीर्ति—सुमति कीर्तिका अपरनाम था।—दे. सुमतिकीर्ति।

सन्मतिसूत्र—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (वि. ६२५) द्वारा रचित तत्त्वार्थ विषयक संस्कृत भाषाबद्ध ग्रन्थ। यह दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनोंको मान्य है। दिगम्बराचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें उसकी गाथाएँ अपनी बातकी पुष्टिके अर्थ प्रमाण रूपसे उद्धृत की हैं—यथा क. पा. १/१-२०/गा. १३४-१४४/३५१-३६०। इसपर श्वेताम्बराचार्य श्री अभयदेव सूरि (ई. श. १०) ने एक टीका लिखी है। (ती./२/२१२)।

संन्यास मरण—दे. सल्लेखना।

सपर्या—दे. पूजा/१/१ याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख, मह यह सब पूजाविधिके नाम हैं।

सप्तऋषि—प. पु./९२/श्लोक सं. प्रभापुर नगरके राजा श्री नन्दनके सात पुत्र थे—सुरमन्यु, श्रीमन्यु, श्रीनिचय, सर्वसुन्दर, जयवान्, विनयलालस, और जयमित्र। (२-३) प्रीतिंकर महाराजके केवलज्ञानके अवसरपर देवोंके आगमनसे प्रतिबोधको प्राप्त हुए तथा पिता सहित सातोंने दीक्षा ले ली (५-६)। उत्तम तपके कारण सातों भाई सप्तऋषि कहलाये (७)। उनके प्रभावसे ही मथुरा नगरीमें चमरेन्द्र यक्ष द्वारा प्रसारित महामारी रोग नष्ट हुआ था।९।

सप्त ऋषि पूजा—दे. पूजा।

सप्त कुंभ—ह. पु./३४/९० इसकी विधि तीन प्रकार कही गयी है—उत्तम, मध्यम व जघन्य। विधि—१. उत्तम—क्रमशः १६,१५,१४,१३, १२,११,१०,९,८,७,६,५,४,३,२,१; १५,१४,१३,१२,११,१०,९,८,७,६,५,४, ३,२,१; १५,१४,१३,१२,११,१०,९,८,७,६,५,४,३,२,१; १५,१४,१३,१२ ११,१०,९,८,७,६,५,४,३,२,१—इस प्रकार एक हानिक्रमसे एक बार १६ से १ तक और इससे आगे ३ बार १५ से एक तक कुल ४९६ उपवास करे। बीचके (१) वाले ६१ स्थानोंमें सर्वत्र एक एक पारणा करे। २. मध्यम—ह. पु./३४/८९ सर्व विधि उपरोक्त ही प्रकार है। अन्तर इतना है कि यहाँ १६ की बजाय ९ उपवासोंसे प्रारम्भ करना। एक बार ९ से १ तक और इससे आगे ३ बार ८ से १ तक-एक हानि क्रमसे कुल १५३ उपवास करे। बीचके ३३ स्थानोंमें एक-एक पारणा करे। जघन्य—ह. पु./३४/८८ क्रमशः ५,४,३,२,१;४,३,२,१; ४,३,२,१; ४,३, २,१ इस प्रकार ४५ उपवास करे। बीचके १७ स्थानोंमें एक-एक पारणा करे। तथा तीनों ही विधियोंमें नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रतविधान संग्रह/५६)।

सप्त गोदावर—भरतक्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी नदी—दे. मनुष्य/४।

सप्त तत्त्व—दे. तत्त्व।

सप्ततिका—दे परिशिष्ट।

सप्ततिका चूर्णी—दे. चूर्णी

सप्तपारा—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी नदी—दे. मनुष्य/४।

सप्तभंगी—प्रश्नकारके प्रश्नवश अनेकान्त स्वरूप वस्तुके प्रतिपादनके सात ही भंग होते हैं। न तो प्रश्न सातसे हीन या अधिक हो सकते हैं और न ये भंग ही। उदाहरणार्थ—१, जीव चेतन स्वरूप ही है, २ शरीर स्वरूप बिलकुल नहीं; ३ क्योंकि स्वलक्षणरूप अस्तित्व परकी निवृत्तिके बिना और परकी निवृत्ति स्व लक्षणके अस्तित्वके बिना हो नहीं सकती है; ४ पृथक् या क्रमसे कहे गये ये स्वसे अस्तित्व और परसे नास्तित्व रूप दोनों धर्म वस्तुमें युगपत सिद्ध होनेसे वह अवक्तव्य है; ५ अवक्तव्य होते हुए भी वह स्वस्वरूपसे सत है; ६ अवक्तव्य होते हुए भी वह परसे सदा व्यावृत्त ही है; ७ और इस प्रकार वह अस्तित्व, नास्तित्व, व अवक्तव्य इन तीन धर्मोंके अभेद स्वरूप है। इस अवक्तव्यको वक्तव्य बनानेके लिए इन सात बातोंका क्रमसे कथन करते हुए प्रत्येक वाक्यके साथ कथंचित वाचक 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करते हैं जिसके कारण अनुक्त भी शेष छह बातोंका संग्रह हो जाता है, और साथ ही प्रत्येक अपेक्षाके अवधारणार्थ एवकार का भी। स्यात् शब्द सहित कथन होनेके कारण यह पद्धति स्याद्वाद् कहलाती है।

१	**सप्तभंगी निर्देश**
१	सप्तभंगीका लक्षण।
२	सप्तभंगोंके नाम निर्देश।
३	सातों भंगोंके पृथक्-पृथक् लक्षण।
४	भंग सात ही हो सकते हैं हीनाधिक नहीं।
५	दो या तीन ही भंग मूल हैं।
*	सात भंगीमें स्यात्कारकी आवश्यकता —दे. स्याद्वाद/५।
*	सप्तभंगीमें एवकारकी आवश्यकता —दे. एकान्त/२।
*	सापेक्ष ही सातों भंग सम्यक् हैं निरपेक्ष नहीं —दे. नय/II/७।
६	स्यात्कारका प्रयोग कर देनेपर अन्य अंगोंकी क्या आवश्यकता।
*	सप्तभंगीका प्रयोजन —दे. अनेकान्त/३।
२	**प्रमाण नय सप्तभंगी निर्देश**
१	प्रमाण व नय सप्तभंगीके लक्षण व उदाहरण।
*	प्रमाण व नय सप्तभंगी सम्बन्धी विशेष विचार —दे. सकलादेश व विकलादेश।
२	प्रमाण सप्तभंगीमें हेतु।
३	प्रमाण व नय सप्तभंगीमें अन्तर।

१. सप्तभंगी निर्देश

१. सप्तभंगीका लक्षण

रा. वा./१/६/५/३३/१५ एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशात् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाविरुद्धा विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी विज्ञेया। —प्रश्नके अनुसार एक वस्तुमें प्रमाणसे अविरुद्ध विधि प्रतिषेध धर्मोंकी कल्पना सप्तभंगी है। (स. म./२३/२७८/८)।

पं. का./ता. वृ./१४/३०/१५ पर उद्धृत—एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनयवाक्यतः। सदादिकल्पना या च सप्तभङ्गीति सा मता। —प्रमाण वाक्यसे अथवा नय वाक्यसे, एक ही वस्तुमें अविरोध रूपसे जो सत्-असत् आदि धर्मकी कल्पना की जाती है उसे सप्तभंगी कहते हैं।

स्या. दी./३/§८२/१२७/३ सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गीति। —सप्त-भंगोंके समूहको सप्तभंगी कहते हैं (स. भं. त./१/१०)।

स. भं. त./३/१ प्राश्निकप्रश्नज्ञानप्रयोज्यत्वे सति, एकवस्तुविशेष्यकाविरुद्धविधिप्रतिषेधात्मकधर्मप्रकारकबोधजनकसप्तवाक्यपर्याप्तसमुदायत्वम्। —प्रश्नकर्ताके प्रश्नज्ञानका प्रयोज्य रहते, एक पदार्थ विशेष्यक अविरुद्ध विधि प्रतिषेध रूप नाना धर्म प्रकारक बोधजनक सप्त वाक्य पर्याप्त समुदायता (सप्तभंगी है)।

२. सप्तभंगोंके नाम निर्देश

पं. का./मू./१४ सिय अत्थि णत्थि उहय अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं। दव्वं खु सत्तभंगं आदेशवसेण संभवदि। १४। —आदेश (कथन) के वश द्रव्य वास्तवमें स्यात्-अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य और अवक्तव्यता युक्त तीन भंगवाला (स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, और स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य) इस प्रकार सात भंगवाला है। १४। (प्र. सा./मू./ ११५); (रा. वा./४/४२/१५/२५३/३); (स्या. मं./२३/२७८/११); (स. भं. त./२/१)।

न. च. वृ./२५२ सत्तेव हुंति भंगा पमाणणयदुणयभेदजुत्तावि। —प्रमाण सप्तभंगी में, अथवा नय सप्तभंगीमें, अथवा दुर्नय सप्तभंगीमें सर्वत्र सात ही भंग हो है।

स. भं. त./१६/१ स च सप्तभंगी द्विविधा—प्रमाणसप्तभंगी नयसप्तभंगी चेति। —सप्तभंगी दो प्रकारकी है—प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी।

३. सातों भंगोंके पृथक्-पृथक् लक्षण

स.भं.त./पृष्ठ सं./पंक्ति सं. तत्र धर्मान्तराप्रतिषेधकत्वे सति विधिविषयकबोधजनकवाक्यं प्रथमो भङ्गः। स च स्यादस्त्येव घट इति वचनरूपः। धर्मान्तराप्रतिषेधकत्वे सति प्रतिषेधविषयकबोधजनकवाक्यं द्वितीयो भङ्गः। स च स्यान्नास्त्येव घट इत्याकारः (२०/३)। घटः स्यादस्ति च नास्ति चेति तृतीयः। घटादिरूपैकधर्मिविशेष्यकक्रमार्पितविधिप्रतिषेधप्रकारकबोधजनकवाक्यत्वं तल्लक्षणम्। क्रमार्पितस्वरूपपररूपाद्यपेक्षयास्तिनास्त्यात्मको घट इति निरूपितप्रायम्। सहार्पितस्वरूपपररूपादिविवक्षायां स्यादवाच्यो घट इति चतुर्थः। घटादिविशेष्यकावक्तव्यत्वप्रकारकबोधजनकवाक्यत्वं तल्लक्षणं (६०/१) व्यस्तं द्रव्यं समस्तौ सहार्पितौ द्रव्यपर्यायावाश्रित्य स्यादस्ति चावक्तव्य एव घट इति पञ्चमभङ्गः। घटादिरूपैकधर्मिविशेष्यकसत्त्वविशिष्टावक्तव्यत्वप्रकारकबोधजनकवाक्यत्वं तल्लक्षणम्। तत्र द्रव्यार्पणादस्तित्वस्य युगपद्द्रव्यपर्यायार्पणादवक्तव्यत्वस्य च विवक्षितत्वात्। (७१/७) तथा व्यस्तं पर्यायं समस्तौ द्रव्यपर्यायौ चाश्रित्य स्यान्नास्ति चावक्तव्यो घट इति षष्ठः। तल्लक्षणं च घटादिरूपैकधर्मिविशेष्यकनास्तित्वविशिष्टावक्तव्यत्वप्रकारकबोधजनकवाक्यत्वम्। एवं व्यस्तौ क्रमार्पितौ समस्तौ सहार्पितौ च द्रव्यपर्यायावाश्रित्य स्यादस्ति

नास्ति चावक्तव्य एव घट इति सप्तमभङ्गः। घटादिरूपैकवस्तुविशेष्यकसत्त्वासत्त्वविशिष्टावक्तव्यत्वप्रकारकबोधजनकवाक्यत्वं तल्लक्षणम् (७३/१)।—१. अन्य धर्मोंका निषेध न करके विधि विषयक बोध उत्पन्न करनेवाला प्रथम भंग है। वह 'कथंचित घट है' इत्यादि वचन रूप है। २. धर्मान्तरका निषेध न करके निषेध विषयक बोधजनक वाक्य द्वितीय भंग है। 'कथंचित घट नहीं है' इत्यादि वचनरूप उसका आकार है। (२०/३)। ३. 'किसी अपेक्षासे घट है किसी अपेक्षासे नहीं है' यह तीसरा भंग है। घट आदि रूप एक धर्मी विशेष्यवाला तथा क्रमसे योजित विधि प्रतिषेध विशेषणवाले बोधका जनक वाक्यत्व, यह तृतीय भंगका लक्षण है। क्रमसे अर्पित स्वरूप पररूप द्रव्य आदिकी अपेक्षा अस्ति नास्ति आत्मक घट है। यह विषय निरूपित है। ४. सह अर्पित स्वरूप-पररूप आदिकी विवक्षा करनेपर किसी अपेक्षासे घट अवाच्य है यह चतुर्थ भंग होता है। घटादि पदार्थ विशेष्यक और अवक्तव्य विशेषणवाले बोध (ज्ञान) का जनक वाक्यत्व, इसका लक्षण है। (६०/१) ५. पृथक् भूत द्रव्य और मिलित द्रव्य वपर्याय इनका आश्रय करके 'कथंचित घट अवक्तव्य है' इस भंगकी प्रवृत्ति होती है। घट आदिरूप धर्मी विशेष्यक और सत्त्व सहित अवक्तव्य विशेषणवाले ज्ञानका जनक वाक्यत्व, यह इसका लक्षण है। इस भंगमें द्रव्यरूपसे अस्तित्व, और एक युगपत द्रव्य वपर्यायको मिलाके योजन करनेसे अवक्तव्यत्वरूप विवक्षित है। ६. ऐसे ही पृथग्भूत पर्याय और मिलित द्रव्य व पर्यायका आश्रय करके 'किसी अपेक्षासे घट नहीं है तथा अवक्तव्य है' इस भंगकी प्रवृत्ति होती है। घट आदि रूप एक पदार्थ विशेष्यक और असत्त्व सहित अवक्तव्यत्व विशेषणवाले ज्ञानका जनक वाक्यत्व, इसका लक्षण है। ७. क्रमसे योजित तथा युगपत योजित द्रव्य तथा पर्यायका आश्रय करके, 'किसी अपेक्षासे सत्त्व असत्त्व सहित अवक्तव्यत्वका आश्रय घट, इस सप्तम भंगकी प्रवृत्ति होती है। घट आदि रूप एक पदार्थ विशेष्यक और सत्त्व असत्त्व सहित अवक्तव्यत्व विशेषणवाले ज्ञानका जनक वाक्य, इसका लक्षण है। (और भी दे. नय/I/५/२)

४. भंग सात ही हो सकते हैं हीनाधिक नहीं

रा. वा./४/४२/१५/२५३/७ पर उद्धृत—पुच्छावसेण भंगा सत्तेव दु संभवदि जस्स जधा। वत्थुत्ति तं पउच्चदि सामण्णविसेसदो णियदं। —प्रश्नके वशसे ही भंग होते हैं। क्योंकि वस्तु सामान्य और विशेष उभय धर्मोंसे युक्त है।

श्लो. वा./२/१/६/४९-५२/४१४/१६ ननु च प्रतिपर्यायमेक एव भङ्गः स्याद्वचनस्य न तु सप्तभङ्गी तस्य सप्तधा वक्तुमशक्तेः। पर्यायशब्दैस्तु तस्याभिधाने कथं तन्नियमः सहस्रभङ्ग्या अपि तथा निषेद्धुमशक्तेरिति चेत नेतत्सारं, प्रश्नवशादिति वचनात। तस्य सप्तधा प्रवृत्तौ तत्प्रतिवचनस्य सप्तविधत्वोपपत्तेः प्रश्नस्य तु सप्तधा प्रवृत्तिः वस्तुन्येकस्य पर्यायस्याभिधाने पर्यायान्तराणामाक्षेपसिद्धेः। —प्रश्न—प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षासे वचनका भंग एक ही होना चाहिए। सात भंग नहीं हो सकते, क्योंकि एक अर्थका सात प्रकारसे कहना अशक्य है। पर्यायवाची सात शब्दों करके एकका निरूपण करोगे तो सातका नियम कैसे रहा? हजारों भंगोंके समाहारका निषेध भी नहीं कर सकते हो? उत्तर—यह कथन सार रहित है। क्योंकि, प्रश्नके वश ऐसा पद डालकर कहा है। प्रश्न सात प्रकारसे प्रवृत्त हो रहा है तो उसके उत्तर रूप वचनको सात-सात प्रकारपना युक्त ही है। और यह वस्तुमें एक पर्यायके कथन करनेपर अन्य प्रतिषेध, अवक्तव्य आदि पर्यायोंके आक्षेप कर लेनेसे सिद्ध है।

स.भं.त./८ पर उद्धृत श्लोक-भङ्गास्सत्त्वादयस्सप्त संशयास्सप्त तद्गताः। जिज्ञासास्सप्त सप्त स्युः प्रश्नास्सप्तोत्तराण्यपि। —'कथंचित् घट है' इत्यादि वाक्यमें सत्त्व आदि सप्त भंग इस हेतुसे हैं कि उनमें स्थित संशय भी सप्त हैं, और सप्तसंशयके लिए जिज्ञासाओंके भेद भी सप्त हैं, और जिज्ञासाओंके भेदसे ही सप्त प्रकारके प्रश्न तथा उत्तर भी हैं। (स्या. म./२३/२८२/१४,१७); (स. भं. त. /४/७)।

५. दो या तीन ही भंग मूल हैं

स्या. म./२४/२८६/१२ अमीषामेव त्रयाणां (अस्ति नास्ति अवक्तव्यानां) मुख्यत्वाच्छेषभङ्गानां च संयोगजत्वेनामीष्वेवान्तर्भावादिति। —क्योंकि आदिके (अस्ति, नास्ति व अवक्तव्य ये) तीन भंग ही मुख्य भंग हैं, शेष भंग इन्हीं तीनोंके संयोगसे बनते हैं, अतएव उनका इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है।

स. भं. त./७५/६ इत्येवं मूलभङ्गद्वये सिद्धे उत्तरे च भङ्गा एवमेव योजयितव्याः। —इस रीतिसे मूलभूत (अस्ति-नास्ति) दो भंगकी सिद्धि होनेसे उत्तर भंगोकी योजना करनी चाहिए।

६. स्यात्कारका प्रयोग कर देने पर अन्य अंगोंकी क्या आवश्यकता

रा. वा./४/४२/१५/२५३/१३/२० यद्ययमनेकान्तार्थस्तेनैव सर्वस्योपादानात् इतरेषां पदानामानर्थक्यं प्रसज्यते, नैष दोषः, सामान्येनोपादानेऽपि विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्यः।१३। यद्येवं स्यादस्त्येव जीवः इत्यनेनैव सकलादेशेन जीवद्रव्यगतानां सर्वेषां धर्माणां संग्रहाद इतरेषां भङ्गानामानर्थक्यमासजति; नैष दोषः; गुणप्राधान्यव्यवस्थाविशेषप्रतिपादनार्थत्वात सर्वेषां भङ्गानां प्रयोगोऽर्थवान्। —प्रश्न—यदि इस 'स्याद्' शब्दसे अनेकान्तार्थका द्योतन हो जाता है, तो इतर पदोंके प्रयोगका क्या अर्थ है? ऐसा प्रसंग आता है। उत्तर—इसमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि सामान्यतया अनेकान्तका द्योतन हो जानेपर भी, विशेषार्थी विशेष शब्दका प्रयोग करते हैं। प्रश्न—यदि 'स्यात अस्त्येव जीव.' यह वाक्य सकलादेशी है तो इसीसे जीव द्रव्यके सभी धर्मोंका संग्रह हो ही जाता है, तो आगेके भंग निरर्थक हैं? उत्तर—गौण और मुख्य विवक्षासे सभी भंगोंकी सार्थकता है।

२. प्रमाण नय सप्तभंगी निर्देश

१. प्रमाण व नय सप्तभंगीके लक्षण व उदाहरण

रा. वा./४/४५/१५/२५३/३ तत्रैतस्मिन् सकलादेश आदेशवशात सप्तभङ्गी प्रतिपदं वेदितव्या। तद्यथा—स्यादस्त्येव जीवः, स्यान्नास्त्येव जीवः, स्यादवक्तव्य एव जीवः, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च इत्यादि। ...तत्र स्यादस्त्येव जीव इत्येतस्मिन् वाक्ये जीवशब्दो द्रव्यवचनः विशेष्यत्वात्, अस्तीति गुणवचनो विशेषणत्वात। तयोस्सामान्यार्थविच्छेदेन विशेषणविशेष्यसंबन्धावद्योतनार्थ एवकारः।

रा. वा./४/४२/१७/२६०/२२ तत्रापि विकलादेशो तथा आदेशवशेन सप्तभङ्गी वेदितव्या। ... तद्यथा सर्वसामान्यादिषु द्रव्यार्थविशेषु केनचिदुपलभ्यमानत्वात् स्यादस्त्येवात्मेति प्रथमो विकलादेशः। ...एवं शेषभङ्गेष्वपि विवक्षितांशमात्रप्ररूपणायाम् इतरेष्वौदासीन्येन विकलादेशकल्पना योज्या। —१. इस सकलादेशमें प्रत्येक धर्मकी अपेक्षा सप्तभंगी होती है। १. स्यात् अस्त्येव जीव', २. स्यात् नास्त्येव जीवः, ३. स्यात् अवक्तव्य एव जीव', ४. स्यात अस्ति च नास्ति च, ५. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यश्च, ६ स्यात नास्ति च अवक्तव्यश्च, ७. स्यात अस्ति नास्ति च अवक्तव्यश्च। — ...'स्यात्' 'अस्त्येव जीवः' इस वाक्यमें जीव शब्द विशेष्य है द्रव्यवाची है और अस्ति शब्द विशेषण है गुणवाची है। उनमें विशेषण विशेष्यभाव द्योतनके लिए 'एव' का प्रयोग है। २. विकलादेशमें भी सप्त-

भंगी होती है ··· यथा—सर्व सामान्य आदि किसी एक द्रव्यार्थ दृष्टिसे 'स्यादस्त्येव आत्मा' यह पहला विकलादेश है।······इसी तरह अन्य धर्मोंमें भी स्व विवक्षित धर्मकी प्रधानता होती है और अन्य धर्मोंके प्रति उदासीनता; न तो उनका विधान ही होता है और न प्रतिषेध ही।

क. पा. १/१, १३-१४/§ १७०/२०१/२ स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्यः स्यादस्ति च नास्ति च स्यादस्ति चावक्तव्यश्च स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति सप्तापि सकलादेशः।···एषः सकलादेशः प्रमाणाधीनः प्रमाणायत्तः प्रमाणव्यपाश्रयः प्रमाणजनित इति यावत्।

क. पा. १/१, १३-१४/§१७१/२०३/६ अस्त्येव नास्त्येव अवक्तव्य एव अस्ति नास्त्येव अस्त्यवक्तव्य एव नास्त्यवक्तव्य एव अस्ति नास्त्यवक्तव्य एव घट इति विकलादेशः। ··· अयं च विकलादेशो नयाधीनः नयायत्तः नयवशादुत्पद्यत इति यावत्। —१. कथंचित् घट है, कथंचित घट नहीं है, कथंचित् घट अवक्तव्य है, कथंचित घट है और नहीं है, कथंचित् घट है और अवक्तव्य है, कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है, कथंचित घट है नहीं है और अवक्तव्य है, इस प्रकार ये सातों भंग सकलादेश कहे जाते हैं।···यह सकलादेश प्रमाणाधीन है अर्थात् प्रमाणके वशीभूत हैं, प्रमाणाश्रित है या प्रमाणजनित है ऐसा जानना चाहिए। २. घट है ही, घट नहीं ही है, घट अवक्तव्य रूप है, घट है ही और नहीं ही है, घट है ही और अवक्तव्य ही है, घट नहीं ही है और अवक्तव्य ही है, घट है ही नहीं ही है और अवक्तव्य रूप है, इस प्रकार यह विकलादेश है। ···यह विकलादेश नयाधीन है, नयके वशीभूत है या नयसे उत्पन्न होता है।

ध. ६/४,१ ४५/१६५/४ सकलादेशः···स्यादस्तीत्यादि···प्रमाणनिबन्धनत्वात् स्याच्छब्देन सूचिताशेषप्रधानीभूतधर्मत्वात्।······ विकलादेश अस्तीत्यादिः···नयोत्पन्नत्वात्।

ध. ६/४,१,४५/१८३/७ स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चावक्तव्यं च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च इति एतानि सप्त सुनयवाक्यानि प्रधानीकृतैकधर्मत्वात्। —१. 'कथंचित् हैं' इत्यादि सात भंगोंका नाम सकलादेश है, क्योंकि प्रमाण निमित्तक होनेके कारण इसके द्वारा 'स्यात्' शब्दसे समस्त अप्रधानभूत धर्मोंकी सूचना की जाती है।···'अस्ति' अर्थात् है इत्यादि सात वाक्योंका नाम विकलादेश है, क्योंकि वे नयोंसे उत्पन्न होते हैं। २. कथंचित् है, कथंचित् नहीं है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् है और नहीं है, कथंचित् है और अवक्तव्य है, कथंचित् नहीं है और अवक्तव्य है, कथंचित है और नहीं है और अवक्तव्य है, इस प्रकार ये सात सुनय वाक्य हैं, क्योंकि वे एक धर्मको प्रधान करते हैं।

न. च.श्रुत./६२/११ प्रमाणवाक्यं यथा स्यादस्ति स्यान्नास्ति·· आदयः। नयवाक्यं यथा अस्त्येव स्वद्रव्यादिग्राहकनयेन। नास्त्येव परद्रव्यादिग्राहकनयेन। (इत्यादि) स्वभावानां नये योजनिकामाह। —प्रमाण वाक्य निम्न प्रकार हैं—जैसे कथंचित है, कथंचित् नहीं है। ···इत्यादि प्रमाणकी योजना है। नयवाक्य निम्न प्रकार हैं जैसे—स्वद्रव्यादिग्राहक नयकी अपेक्षासे भावरूप ही है। परद्रव्यादिग्राहक नयकी अपेक्षासे अभावरूप ही है···(इसी प्रकार अन्य भंग भी लगा लेने चाहिए) स्वभावोंकी नयोंमें योजना बतलाते हैं। (वह उपरोक्त प्रकार लगा लेनी चाहिए)। (न. च. वृ /२५२-२५५)।

पं. का./ता. वृ./१४/३२/११ सूक्ष्मव्याख्यानविवक्षायां पुनः सदेकनित्यादिधर्मेषु मध्ये एकैकधर्मे निरुद्धे सप्तभङ्गा वक्तव्याः। कथमिति चेत्। स्यादस्ति स्यान्नास्ति। —सूक्ष्म व्याख्यानकी विवक्षामें सत्, एक नित्यादि आदि एक-एक धर्मको लेकर सप्तभंग कहने चाहिए। जैसे—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, ··· (इत्यादि इसी प्रकार अन्य भंगोंकी योजना करनी चाहिए)।

प्र. सा./११५/पृ./पं. नयसप्तभङ्गी विस्तारयति स्यादस्त्येव···स्यान्नास्त्येव (१६१/१०) पूर्वं पञ्चास्तिकाये स्यादस्तीत्यादिप्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभङ्गी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहणं तन्नयसप्तभङ्गीज्ञापनार्थमिति भावार्थः।१६२।१६। — नय सप्तभङ्गी कहते हैं—यथा—'स्यादस्त्येव' अर्थात् कथंचित् जीव है ही, कथंचित् जीव नहीं ही है। इत्यादि। पहले पञ्चास्तिकाय ग्रन्थमें 'कथंचित् है' इत्यादि प्रमाण वाक्यसे प्रमाणसप्त भंगी व्याख्यान की गयी। और यहाँपर जो 'कथंचित है ही' इसमें जो एवकारका ग्रहण किया है वह नय सप्तभंगीके ज्ञान करानेके लिए किया गया है।

न्या. दी./३/§८२/१२६-१२७ द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णं स्यादेकमेव, पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण स्यादनेकमेव।··· सैषा नयविनियोगपरिपाटी सप्तभङ्गीत्युच्यते। —द्रव्यार्थिक नयके अभिप्रायसे सोना कथंचित एकरूप है, पर्यायार्थिक नयके अभिप्रायसे कथंचित् अनेक रूप है।··· इत्यादि नयोंके कथन करनेकी इस शैलीको ही सप्तभंगी कहते हैं।

२. प्रमाण सप्तभंगीमें हेतु

रा. वा./४/४२/१५/पृ.सं./पं. सं. जीवः स्यादस्ति स्यान्नास्तीति। अत्र द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकमात्मसात्कुर्वन् व्याह्रियते, पर्यायार्थिकोऽपि द्रव्यार्थिकमिति उभावपि इमौ सकलादेशौ (२५७/८)। ताभ्यामेव क्रमेणाभिधित्सायां तथैव वस्तुसकलस्वरूपसंग्रहात् चतुर्थोऽपि विकल्पसकलादेशः (२५८।२०) ततः स्यादस्ति चावक्तव्यश्च जीव.। अयमपि सकलादेशः। अंशाभेदविवक्षायाम् एकांशमुखेन सकलसंग्रहात् (२५६/२७) यश्च वस्तुत्वेन सन्निति द्रव्यार्थांशः यश्च तत्प्रतियोगिनावस्तुत्वेनासन्निति पर्यायांशः, ताभ्यां युगपदभेदविवक्षायां अवक्तव्य इति द्वितीयोंऽशः। तस्मान्नास्ति चावक्तव्यश्चात्मा। अयमपि सकलादेशः शेषवाग्गोचरस्वरूपसमूहस्याविनाभावात् तत्रैवान्तर्भूतस्य स्याच्छब्देन द्योतितत्वात् (२६०/१) सप्तमो विकल्पः चतुर्भिरात्मभिः त्र्यंशः। द्रव्यार्थविशेषं कंचिदाश्रित्यास्तित्वं पर्यायविशेषं च कंचिदाश्रित्य नास्तित्वमिति समुच्चितरूपं भवति, द्वयोरपि प्राधान्येन विवक्षितत्वात्। द्रव्यपर्यायविशेषेण च केनचित द्रव्यपर्यायसामान्येन च केनचित् युगपदवक्तव्यः इति तृतीयोंऽशः। ततः स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च आत्मा। अयमपि सकलादेशः। यतः सर्वान् द्रव्यार्थान् द्रव्यमित्यभेदादेकं द्रव्यार्थं मन्यते। सर्वान् पर्यायार्थांश्च पर्यायजात्यभेदादेकं पर्यायार्थम्। अतो विवक्षितवस्तुजात्यभेदात् कृत्स्नं वस्तु एकद्रव्यार्थाभिन्नम् एकपर्यायाभेदोपचरितं वा एकमिति सकलसंग्रहात् (२६०/५)। —जीव स्यादस्ति और स्यान्नास्तिरूप है। इनमें द्रव्यार्थिक पर्यायर्थिकको तथा पर्यायार्थिक द्रव्यार्थिकको अपनेमें अन्तर्भूत करके व्यापार करता है, अतः दोनों ही भंग सकलादेशी हैं (२५७/८)। (अवक्तव्य भेद—दे. सप्तभंगी/६) जब दोनों धर्मोंकी क्रमशः मुख्य रूपसे विवक्षा होती है तब उनके द्वारा समस्त वस्तुका ग्रहण होनेसे चौथा भी भंग सकलादेशी होता है (२५८/२०) जीव स्यात् अस्ति और अवक्तव्य है, यह भी विवक्षासे अखण्ड वस्तुको संग्रह करनेके कारण सकलादेश है क्योंकि इसने एक अंश रूपसे समस्त वस्तुको ग्रहण किया है (२५६/२७) जो 'वस्तुत्वेन' सत् है द्रव्यांश वही तथा जो अवस्तुत्वेन असत् है वही पर्यायांश है। इन दोनोंकी युगपत अभेद विवक्षामें वस्तु अवक्तव्य है यह दूसरा अंश है। इस तरह आत्मा नास्ति अवक्तव्य है यह भी सकलादेश है क्योंकि विवक्षित धर्मरूपसे अखण्ड वस्तुको ग्रहण करता है। (२६०/१) सातवाँ भंग चार स्वरूपोंसे तीन अंशवाला है। किसी द्रव्यार्थ विशेषकी अपेक्षा अस्तित्व किसी पर्याय विशेषकी अपेक्षा नास्तित्व है। तथा किसी

द्रव्यपर्याय विशेष, और द्रव्य पर्याय सामान्यकी युगपत् विवक्षामें वही अवक्तव्य भी हो जाता है। इस तरह अस्ति नास्ति अवक्तव्य भंग बन जाता है। यह भी सकलादेश है। सर्व द्रव्योंको द्रव्य जाति-की अपेक्षासे एक कहा जाता है, तथा सर्व पर्यायोंको पर्याय जातिकी अपेक्षासे एक कहा जाता है। क्योंकि इसने विवक्षित धर्मरूपसे अखण्ड समस्त वस्तुका ग्रहण किया है।

ध. ४/१,४,१/१४५/१ दव्वपज्जवट्ठियणए अणवलंबिय कहणोवाया-भावादो। जदि एवं, तो पमाणवक्कस्स अभावो पसज्जदे इदि वुत्ते, होदु णाम अभावो, गुणप्पहाणभावमंतरेण कहणोवायाभावादो। अथवा, पमाणुप्पाइदं वयणं पमाणवक्कमुवयारेण वुच्चदे। —द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके अवलम्बन किये बिना वस्तु स्वरूपके कथन करनेके उपायका अभाव है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो प्रमाण वाक्यका अभाव प्राप्त होता है। उत्तर—भले ही प्रमाण वाक्यका अभाव हो जावे, क्योंकि, गौणता और प्रधानताके बिना वस्तु स्वरूपके कथन करनेके उपायका भी अभाव है। अथवा प्रमाणसे उत्पादित वचनको उपचारसे प्रमाण वाक्य कहते हैं।

३. प्रमाण व नय सप्तभंगीमें अन्तर

स्या. म./२८/३०८/४ सदिति उल्लेखनात् नयः। स हि 'अस्ति घट' इति घटे स्वाभिमतमस्तित्वधर्मं प्रसाधयन् शेषधर्मेषु गजनिमिलिका-मालम्बते। न चास्य दुर्नयत्वम्। धर्मान्तरातिरस्कारात्। न च प्रमाणत्वम्। स्याच्छब्देन अलाञ्छितत्वात्। स्यात्सदिति 'स्यात्कथं-चित् सद् वस्तु' इति प्रमाणम्। प्रमाणत्वं चास्य दृष्टेष्टाबाधितत्वाद् विपक्षे बाधकसद्भावाच्च। सर्वं हि वस्तु स्वरूपेण सत् पररूपेण चासद् इति असकृदुक्तम्। सदिति दिङ्मात्रदर्शनार्थम्। अनया दिशा असत्त्वनित्यत्वानित्यत्ववक्तव्यत्वसामान्यविशेषादि अपि बोद्धव्यम्। —१. किसी वस्तुमें अपने इष्ट धर्मको सिद्ध करते हुए अन्य धर्मोंमें उदासीन होकर वस्तुके विवेचन करनेको नय कहते हैं—जैसे 'यह घट है'। नयमें दुर्नयकी तरह एक धर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता, इसलिए नयको दुर्नय नहीं कहा जा सकता। तथा नयमें स्यात् शब्दका प्रयोग न होनेसे इसे प्रमाण भी नहीं कह सकते। २. वस्तुके नाना दृष्टियोंकी अपेक्षा कथंचित् सत्रूप विवेचन करनेको प्रमाण कहते हैं, जैसे 'घट कथंचित् सत् है'। प्रत्यक्ष और अनुमानसे अबाधित होनेसे और विपक्षका बाधक होनेसे इसे प्रमाण कहते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावसे सत् और दूसरे स्वभावसे असत् है, यह पहले कहा जा चुका है। यहाँ वस्तुके एक सत् धर्मको कहा गया है। इसी प्रकार असत्, नित्य, अनित्य, वक्तव्य, अवक्तव्य, सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्म समझने चाहिए।

स्या. म./२८/३२१/१ स्याच्छब्दलाञ्छितानां नयानामेव प्रमाणव्यपदेश-भाक्त्वात्। —नय वाक्योंमें स्यात् शब्द लगाकर बोलनेवालेको प्रमाण कहते हैं।

पं. का./ता. वृ./१५/३२/१६ स्यादस्ति द्रव्यमिति पठनेन वचनेन प्रमाण-सप्तभङ्गी ज्ञायते। कथमिति चेत्। स्यादस्तीति सकलवस्तुग्राहक-त्वात्प्रमाणवाक्यं स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वान्नय-वाक्यम्। —'द्रव्य कथंचित् है' ऐसा कहनेपर प्रमाण सप्तभंगी जानी जाती है क्योंकि, 'कथंचित् है' यह वाक्य सकल वस्तुका ग्राहक होनेके कारण प्रमाण वाक्य है। '*द्रव्य कथंचित् है ही*' ऐसा कहनेपर यह वस्तुका एकदेश ग्राहक होनेसे नय वाक्य है।

दे. विकलादेश केवल धर्मी विषयक बोधजनक वाक्य सकलादेश, तथा केवल धर्म विषयक बोधजनक वाक्य नय है ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि धर्मी और धर्म दोनों स्वतन्त्र रूपसे नहीं रहते हैं।

४. सप्तभंगीमें प्रमाण व नयका विभाग युक्त नहीं

स. भं. त./१६/९ न च त्रीण्येव नयवाक्यानि चत्वार्येव प्रमाणवाक्यानि इति वक्तुं युक्तं सिद्धान्तविरोधात्। —तीन (प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ भंग) ही नय वाक्य हैं और चार (तृतीय, पंचम, षष्ठ, सप्तम भंग) ही प्रमाण वाक्य हैं, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि सिद्धान्तसे विरोध आता है।

५. नय सप्तभंगीमें हेतु

दे. सप्तभंगी/२/१ में ध./९ 'स्याद् अस्ति' आदि ये सात वाक्य सुनय वाक्य हैं, क्योंकि वे एक धर्मको विषय करते हैं।

पं. ध./पू./६८२,६८८,६८९ यदनेकांशग्राहकमिह प्रमाणं न प्रत्यनीकतया। प्रत्युत मैत्रीभावादिति नयभेदादद: प्रभिन्नं स्यात्।६८२। स यथास्ति च नास्तीति च क्रमेण युगपच्च वाच्योर्भावः। अपि वा वक्तव्यमिदं नयो विकल्पानतिक्रमादेव।६८८। तत्रास्ति च नास्ति समं भङ्गस्या-स्यैकधर्मता नियमात्। न पुनः प्रमाणमिव किल विरुद्धधर्मद्वयाधि-रूढत्वम्।६८९। —प्रमाण अनेक अंशोंको ग्रहण करनेवाला परस्पर विरोधीपनेसे नहीं कहा गया है किन्तु सापेक्ष भावसे कहा गया है। इसलिए संयोगी भंगात्मक नयोंके भेदसे भिन्न है।६८२। (नय-विकल्पात्मक हैं) जैसे विकल्पका उल्लंघन नहीं करनेसे ही क्रमपूर्वक अस्ति और नास्ति, अस्तिनास्तिक्रम पूर्वक एक साथ कहना यह भंग तथा यह अवक्तव्य भंग भी नय है।६८८। उन भंगोंमें-से निश्चय करके एक साथ अस्ति और नास्ति मिले हुए एक भंगको नियमसे एक धर्मपना है किन्तु प्रमाणकी तरह विरुद्ध दो धर्मोंको विषय करनेवाला नहीं है।६८९।

३. अनेक प्रकारसे सप्तभंगी प्रयोग

१. एकान्त व अनेकान्तकी अपेक्षा

रा. वा./१/६/७/३५/१७-२२ अनेकान्ते तदभावादव्याप्तिरिति चेत्; न; तत्रापि तदुपपत्तेः।७।…स्यादेकान्तः स्यादनेकान्तः…इति। तत्कथ-मिति चेतः। —प्रश्न—अनेकान्तमें सप्तभंगीका अभाव होनेसे 'सप्त-भंगीकी योजना सर्वत्र होती है' इस नियमका अभाव हो जायेगा। उत्तर—ऐसा नहीं है, अनेकान्तमें भी सप्तभंगीकी योजना होती है। …*यथा-'स्यादेकान्तः', स्यादनेकान्तः…इत्यादि'*। क्योंकि (यदि अनेकान्त अनेकान्त ही होवे तो एकान्तका अभाव होनेसे अनेकान्त-का अभाव हो जावेगा और यदि एकान्त ही होवे तो उसके अविना-भावि शेष धर्मोंका लोभ होनेसे सब लोप हो जावेगा। (दे. अनेकान्त/२/५)।

स. भं. त./७५/१ सम्यगेकान्तसम्यगनेकान्तावाश्रित्य प्रमाणनयार्पणा-भेदात्, स्यादेकान्तः स्यादनेकान्तः…सप्तभङ्गी योज्या। तत्र नयार्पणा-देकान्तो भवति, एकधर्मगोचरत्वान्नयस्य। प्रमाणादनेकान्तो भवति, अशेषधर्मनिश्चयात्मकत्वात्प्रमाणस्य। —सम्यगेकान्त और सम्यगने-कान्तका आश्रय लेकर प्रमाण तथा नयके भेदकी योजनासे किसी अपेक्षासे एकान्त, किसी अपेक्षासे अनेकान्त.. (आदि)। इस रीतिसे सप्तभंगीकी योजना करनी चाहिए। उसमें नयकी योजनासे एकान्त पक्ष सिद्ध होता है, क्योंकि नय एक धर्मको विषय करता है। और प्रमाणकी योजनासे अनेकान्त सिद्ध होता है, क्योंकि प्रमाण सम्पूर्ण धर्मोंको विषय करता है।

२. स्व-पर चतुष्टयकी अपेक्षा

पं. का./त. प्र./१४ तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यं, परद्रव्य-क्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यं...इति। न चैतदनुपपन्नम्; सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपादिना अशून्यत्वात्, पररूपादिना शून्यत्वात्…इति। —द्रव्य स्वद्रव्य क्षेत्र काल-भावसे कथन किया जानेपर 'अस्ति' है। द्रव्य परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे कथन किया जानेपर 'नास्ति' है,…

(आदि)। यह (उपरोक्त बात) अयोग्य नहीं है, क्योंकि सर्व वस्तु स्वरूपादिसे अशून्य हैं, पररूपादिसे शून्य हैं…(आदि)। (प्र. सा./त. प्र./११५) (ध. ६/४,१,४५/२१३/४) और भी दे. नय/I/५/२)

३. सामान्य विशेषकी अपेक्षा

रा. वा./४/४२/१५/२५८-२५९/२ कथमेते निरूप्यन्ते।……सर्वसामान्येन तदभावेन च…तत्र आत्मा अस्तीति सर्वप्रकारानाश्रयणादिच्छावशात् कल्पितेन सर्वसामान्येन वस्तुत्वेन अस्तीति प्रथमः। तत्प्रतिपक्षेणाभावसामान्येनावस्तुत्वेन नास्त्यात्मा इति द्वितीयः।…विशिष्टसामान्येन तदभावेन च यथाश्रुतत्वात् श्रुत्युपात्तेन आत्मत्वेनाभिसंबन्धः, ततश्चात्मत्वेनैव अस्त्यात्मा इति प्रथमः। यथाश्रुतप्रतियोगित्वात् अनात्मत्वेनैव नास्त्यात्मा इति द्वितीयः।……विशिष्टसामान्येन तदभावसामान्येन च-यथाश्रुतत्वात् आत्मत्वेनैवास्तीति प्रथमः। अभ्युपगमविरोधभयात् वस्त्वन्तरात्मना क्षित्युदकज्वलनघटपटगुणकर्मादिना सर्वेण प्रकारेण सामान्यो नास्तीति द्वितीयः। विशिष्टसामान्येन तद्विशेषेण च-आत्मसामान्येनास्त्यात्मा। आत्मविशेषेण मनुष्यत्वेन नास्ति।……सामान्येन विशिष्टसामान्येन च-अविशेषरूपेण द्रव्यत्वेन अस्त्यात्मा। विशिष्टेन सामान्येन प्रतियोगिना नात्मत्वेन नास्त्यात्मा।……द्रव्यसामान्येन गुणसामान्येन च वस्तुनस्तथा तथा संभवात् तां तां विवक्षामाश्रित्याविशेषरूपेण द्रव्यत्वेनास्त्यात्मा, तत्प्रतियोगिना विशेषरूपेण गुणत्वेन नास्त्यात्मा।……धर्मसमुदायेन तद्व्यतिरेकेण च-त्रिकालगोचरानेकशक्तिज्ञानादिधर्मसमुदायरूपेणात्मास्ति। तद्व्यतिरेकेण नास्त्यनुपलब्धेः।…धर्मसामान्यसंबन्धेन तदभावेन च गुणरूपगतसामान्यसंबंधविवक्षायां यस्य कस्यचित् धर्मस्य आश्रयत्वेन अस्त्यात्मा। न तु कस्यचिदपि धर्मस्याश्रयो न भवतीति धर्मसामान्यानाश्रयत्वेन नास्त्यात्मा। …धर्मविशेषसंबन्धेन तदभावेन च अनेकधर्मणोऽन्यतमधर्मसंबन्धेन तद्विपक्षेण वा विवक्षायाम् यथा अस्त्यात्मा नित्यत्वेन निरवयवत्वेन चेतनत्वेन वा, तेषामेवान्यतमधर्मप्रतिपक्षेण नास्त्यात्मा।—सप्त भंगीका निरूपण इस प्रकार होता है—१. सर्वसामान्य और तदभावसे 'आत्मा अस्ति' यहाँ सभी प्रकारके अवान्तर भेदोंकी विवक्षा न रहनेपर सर्व विशेष व्यापी सन्मात्रकी दृष्टिसे उसमें 'अस्ति' व्यवहार होता है और उसके प्रतिपक्ष अभाव सामान्यसे 'नास्ति' व्यवहार होता है।…२. विशिष्ट सामान्य और तदभावसे—आत्मा आत्मत्वरूप विशिष्ट सामान्यकी दृष्टिसे 'अस्ति' है और अनात्मत्व दृष्टिसे 'नास्ति' है।…३. विशिष्टसामान्य और तदभाव सामान्यसे। आत्मा 'आत्मत्व' रूपसे 'अस्ति है तथा पृथिवी जल, पट आदि सब प्रकारसे अभाव सामान्य रूपसे 'नास्ति' है।… ४. विशिष्ट सामान्य और तद्विशेषसे। आत्मा 'आत्मत्व' रूपसे अस्ति है, और आत्मविशेष 'मनुष्यरूपसे' 'नास्ति' है। ५. सामान्य और विशिष्ट सामान्यसे। सामान्य दृष्टिसे द्रव्यत्व रूपसे आत्मा 'अस्ति' है और विशिष्ट सामान्यके अभावरूप अनात्मत्वसे 'नास्ति' है।…६. द्रव्य सामान्य और गुण सामान्यसे। द्रव्यत्व रूपसे आत्मा 'अस्ति' है तथा प्रतियोगी गुणत्वकी दृष्टिसे 'नास्ति' है। ७. धर्मसमुदाय और तद्व्यतिरेकसे। त्रिकाल गोचर अनेक शक्ति तथा ज्ञानादि धर्म समुदाय रूपसे आत्मा 'अस्ति' है। तथा तदभाव रूपसे नास्ति है। …८—धर्म समुदाय सम्बन्ध से और तदभावसे। ज्ञानादि गुणोंके सामान्य सम्बन्धकी दृष्टिसे आत्मा 'अस्ति' है तथा किसी भी समय धर्म सामान्य सम्बन्धका अभाव नहीं होता अतः तदभावकी दृष्टिसे 'नास्ति' है।…९—धर्मविशेष सम्बन्ध और तदभावसे। किसी विवक्षित धर्मके सम्बन्धकी दृष्टिसे आत्मा 'अस्ति' है तथा उसीके अभावरूपसे 'नास्ति' है। जैसे—आत्मा नित्यत्व या चेतनत्व किसी अमुक धर्मके सम्बन्धसे 'अस्ति' है और विपक्षी धर्मसे नास्ति है। (श्लो. वा./२/१/६/५६/४६९/११)।

स्या. म./२३/२८२/७ यथा हि सदसत्त्वाभ्याम्, एवं सामान्यविशेषाभ्यामपि सप्तभङ्ग्येव स्यात् तथाहि स्यात्सामान्यम्, स्याद्विशेषं…… इति। न चात्र विधिनिषेधप्रकारौ न स्त इति वाच्यम्। सामान्यस्य विधिरूपत्वाद् विशेषस्य च व्यावृत्तिरूपतया निषेधात्मकत्वात्। अथवा प्रतिपक्षशब्दत्वाद् यदा सामान्यस्य प्राधान्यं तदा तस्य विधिरूपता विशेषस्य च निषेधरूपता। यदा विशेषस्य पुरस्कारस्तदा तस्य विधिरूपता इतरस्य च निषेधरूपता।—जिस प्रकार सत्त्व असत्त्वकी दृष्टिसे सप्त भंग होते हैं, उसी तरह सामान्य विशेषकी अपेक्षासे भी स्यात् सामान्य, स्यात् विशेष……(आदि) सात भंग होते हैं। प्रश्न—सामान्य विशेषकी सप्तभंगीमें विधि और निषेध धर्मों की कल्पना कैसे बन सकती है? उत्तर—इसमें विधि निषेध धर्मोंकी कल्पना बन सकती है। क्योंकि सामान्य विधि रूप है, और विशेष व्यवच्छेदक होनेसे निषेध रूप है। अथवा सामान्य और विशेष दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव जब सामान्यकी प्रधानता होती है उस समय सामान्यके विधिरूप होनेसे विशेष निषेध रूप कहा जाता है, और जब विशेषकी प्रधानता होती है, उस समय विशेषके विधिरूप होनेसे सामान्य निषेध रूप कहा जाता है।

४. नयोंकी अपेक्षा

रा. वा./४/४२/१७/२६१/६ एते त्रयोऽर्थनया एकैकात्मका, संयुक्ताश्च सप्त वाक्प्रकारान् जनयन्ति। तत्राद्यः संग्रह एकः, द्वितीयो व्यवहार एकः, तृतीयः संग्रहव्यवहारावविभक्तौ चतुर्थः संग्रहव्यवहारौ समुच्चितौ, पञ्चमः संग्रहः संग्रहव्यवहारौ चाविभक्तौ। षष्ठो व्यवहारः संग्रहव्यवहारौ चाविभक्तौ। सप्तमः संग्रहव्यवहारौ प्रचितौ तौ चाविभक्तौ। एष ऋजुसूत्रेऽपि योज्यः।—ये तीनों (संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र) अर्थनय मिलकर तथा एकाकी रहकर सात प्रकारके भंगोंको उत्पन्न करते हैं। पहला संग्रह, दूसरा व्यवहार, तीसरा अविभक्त (युगपत् विवक्षित) संग्रह व्यवहार, चौथा समुच्चित (क्रम विवक्षित समुदाय) संग्रह व्यवहार, पाँचवाँ संग्रह और अविभक्त संग्रह व्यवहार छठा व्यवहार और अविभक्त संग्रह व्यवहार तथा सातवाँ समुदित संग्रह व्यवहार और अविभक्त संग्रह व्यवहार। इसी प्रकार ऋजुसूत्र नय भी लगा लेनी चाहिए।

५. अनन्तों सप्त भंगियोंकी सम्भावना

स्या. म./२३/२८२/५ न च वाच्यमेकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभङ्गीप्रसङ्गाद् असङ्गतैव सप्तभङ्गीति। विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुनि अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव सम्भवात्।—प्रश्न—यदि आप प्रत्येक वस्तुमें अनन्तधर्म मानते हो, तो अनन्त भंगोंकी कल्पना न करके वस्तुमें केवल सात ही भंगोंकी कल्पना क्यों करते हो? उत्तर—प्रत्येक वस्तुमें अनन्तधर्म होनेके कारण वस्तुमें अनन्त भंग होते हैं। परन्तु ये अनन्त भंग विधि और निषेधकी अपेक्षासे सात ही हो सकते हैं।

दे. सप्तभंगी/५/७ [अस्ति नास्तिकी भाँति द्रव्यके नित्य-अनित्य, एक-अनेक, वक्तव्य-अवक्तव्य आदि धर्मोंमें भी सप्त भंगीकी योजना कर लेनी चाहिए।]

४. अस्ति नास्ति भंग निर्देश

१. वस्तुकी सिद्धिमें इन दोनोंका प्रधान स्थान

रा. वा./१/६/५/पृ. सं./पं. सं. स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्। यदि स्वस्मिन् पटाद्यात्मव्यावृत्तिविपरिणतिर्न स्यात् सर्वात्मना घट इति व्यपदिश्येत। अथ परात्मना व्यावृत्तावपि स्वात्मोपादानविपरिणतिर्न स्यात् खरविषाणवदवस्त्वेव स्यात् (३३/-२१)। यदीतरात्मनापि घटः स्यात् विवक्षितात्मना वाघटः; नामादि-

व्यवहारोच्छेदः स्यात् (३१/२६) यदीतरात्मकः स्यात्: एकघटमात्र-प्रसङ्गः (३१/३०) यदि हि कुशूलान्तकपालाद्याकारमपि घटः स्यात्; घटावस्थायामपि तदुपलब्धिर्भवेत् (३४/१)। यदि हि पृथुबुध्नाद्याकारमनात्मापि घटो न स्यात् स एव न स्यात् (३४/११)। यदि वा रसादिवद्रूपमपि घट इति न गृह्येत; चक्षुर्विषयतास्य न स्यात् (३४/१६)। यदि वा इतरव्यपेक्षयापि घटः स्यात्, पटादिष्वपि तत्क्रियाविरहितेषु तच्छब्दवृत्तिः स्यात् (३४।२१)। इतरोऽसंनिहितोऽपि यदि घटः स्यात्; पटादीनामपि स्याद् घटत्वप्रसङ्गः (३४/२७)। यदि ज्ञेयाकारेणाप्यघटः स्यात्; तदाश्रयेतिकर्तव्यतानिरासः स्यात्। अथ हि ज्ञानाकारेणापि घटः स्यात्; (३४/३४) उक्तैः प्रकारैरर्पितं घटत्वमघटत्वं च परस्परतो न भिन्नम्। यदि भिद्येत; सामानाधिकरण्येन तद्बुद्ध्यभिधानवृत्तिर्न स्यात् घटपटवत् (३५/१)।—१. स्वरूप ग्रहण और पररूप त्यागके द्वारा ही वस्तुकी वस्तुता स्थिर की जाती है। यदि पररूपकी व्यावृत्ति न हो तो सभी रूपोंसे घट व्यवहार होना चाहिए। और यदि स्वरूप ग्रहण न हो तो निःस्वरूपत्वका प्रसंग होनेसे यह खरविषाणकी तरह असत् हो जायेगा। २. यदि अन्य रूपसे नष्ट हो जाये तो प्रतिनियत नामादि व्यवहारका उच्छेद हो जायेगा (३१/२६) ३. यदि इतर घटके आकारसे भी वह घट 'घट' रूप हो जाये तो सभी घड़े एक रूप हो जायेंगे (३१/३०) ४. यदि स्थास, कोश, कुशूल और कपाल आदि अवस्थाओंमें घट है तो घट अवस्थामें भी उनकी उपलब्धि होवे। (३४/१) ५. यदि पृथुबुध्नोदर आकारसे भी घड़ा न हो तो घटका अभाव हो जायेगा (३४/११) ६. यदि रसादिकी तरह रूप भी स्वात्मा न हो तो वह चक्षुके द्वारा दिखाई ही न देगा (३४-१६)। ७. यदि इतर रूपसे भी घट कहा जाये तो घटन क्रिया रहित पट आदि में घट शब्द का व्यवहार होगा (३४/२१)। यदि इतर के न होने पर भी घट कहा जाये तो पटादिमें भी घट व्यवहारका प्रसंग प्राप्त होगा (३४/२७) ८. यदि ज्ञेयाकारसे घट न माना जाये तो घट व्यवहार निराधार हो जायेगा (३४/३४)। इस प्रकार उक्त रीतिसे सूचित घटत्व और अघटत्व दोनों धर्मोंका आधार घड़ा ही होता है। यदि दोनोंमें भेद माना जाये तो घटमें ही दोनों धर्मोंके निमित्त से होने वाली बुद्धि और वचन प्रयोग नहीं हो सकेंगे।

(स. म /१४/१७६/६; १७७/१७)।

श्लो.वा./२/१/६/२२ पृष्ठ सं./पंक्ति सं. सर्वं वस्तु स्वद्रव्येऽस्ति न परद्रव्ये तस्य स्वपरद्रव्यस्वीकारतिरस्कारव्यवस्थितसाध्यत्वात्। स्वद्रव्यवत् परद्रव्यस्य स्वीकारे द्रव्याद्वैतप्रसक्तेः स्वपरद्रव्यविभागाभावात्। तच्च विरुद्धम्। जीवपुद्गलादिद्रव्याणां भिन्नलक्षणानां प्रसिद्धेः (४२०/१७)। तथा स्वक्षेत्रेऽस्ति परक्षेत्रे नास्तीत्यपि न विरुध्यते स्वपरक्षेत्रप्राप्तिपरिहाराभ्यां वस्तुनो वस्तुत्वसिद्धेरन्यथा क्षेत्रसंकरप्रसङ्गात्। सर्वस्याक्षेत्रत्वापत्तेश्च। न चैतत्साधीयः प्रतीतिविरोधात् (४२२/१४)। तथा स्वकालेऽस्ति परकाले नास्तीत्यपि न विरुद्धं, स्वपरकालग्रहणपरित्यागाभ्यां वस्तुनस्तत्त्वप्रसिद्धेरन्यथाकालसांकर्यप्रसङ्गात्। सर्वदा सर्वस्याभावप्रसङ्गाच्च (४२३/२१)।—सम्पूर्ण वस्तु अपने द्रव्यमें है पर द्रव्यमें नहीं है क्योंकि वस्तुकी व्यवस्था स्वकीय द्रव्यके स्वीकार करनेसे और परकीय द्रव्यके तिरस्कार करनेसे साधी जाती है। यदि वस्तु स्व द्रव्यके समान परद्रव्यको भी स्वीकार करे तो संसारमें एक ही द्रव्य होनेका प्रसंग हो जायेगा। स्वद्रव्य व परद्रव्यका विभाग न हो सकेगा। किन्तु जीव पुद्गल आदिका विभाग न होना प्रतीतियोंसे विरुद्ध है क्योंकि जीव, पुद्गल भिन्न लक्षणवाले अनेक द्रव्य प्रसिद्ध हैं ।४२०/१७। वस्तु स्वक्षेत्रमें है पर क्षेत्रमें नहीं है, यह कहना भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि स्वकीय क्षेत्रकी प्राप्तिसे परकीय क्षेत्रके परित्यागसे वस्तुका वस्तुपना सिद्ध हो रहा है। अन्यथा क्षेत्रोंके संकर होनेका प्रसंग होगा। तथा सम्पूर्ण पदार्थोंको क्षेत्ररहितपनेकी आपत्ति हो जायेगी। किन्तु यह क्षेत्ररहितपना प्रशस्त नहीं है क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध आ रहा है। (४२२/१४)। स्वकीय कालमें वस्तु है परकीयकालमें नहीं। यह कथन विरुद्ध नहीं है, क्योंकि अपने कालका ग्रहण करनेसे और दूसरे कालकी हानि करनेसे वस्तुका वस्तुपना सिद्ध हो रहा है। अन्यथा कालके संकर हो जानेका प्रसंग आता है। सभी कालोंमें सम्पूर्ण वस्तुओंके अभावका प्रसंग प्राप्त हो जायेगा।

दे. सप्तभंगी/१ [ये दोनों भंगमूल हैं।]

स्या. म./१३/१५५/२८ अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः।

स्या. म./१४/१७६/१४ सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च। अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः।

स्या. म./२३/२८०/१० स्यात्कथंचिद् नास्त्येव कुम्भादिः स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपाभावाद् वस्तुप्रतिनियतिर्न स्यात्। न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धमिति वक्तव्यम्। कथंचित् तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात् साधनवत्।—१. बिना किसी वस्तुका निषेध किये हुए विधिरूप ज्ञान नहीं हो सकता है। २. प्रत्येक वस्तु स्वरूपसे विद्यमान है, पर रूपसे विद्यमान नहीं है। यदि वस्तुको सर्वथा भावरूप स्वीकार किया जाये, तो एक वस्तुके सद्भावमें सम्पूर्ण वस्तुओंका सद्भाव मानना चाहिए, और यदि सर्वथा अभाव रूप माना जाये तो वस्तुको सर्वथा स्वभाव रहित मानना चाहिए। ३. घट आदि प्रत्येक वस्तु कथंचित् नास्ति रूप ही है। यदि पदार्थको स्व चतुष्टयकी तरह पर चतुष्टयसे भी अस्तिरूप माना जाये, तो पदार्थका कोई भी निश्चित स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता। सर्वथा अस्तित्ववादी भी वस्तुमें नास्तित्व धर्मका प्रतिषेध नहीं करते, क्योंकि जिस प्रकार एक ही साधनमें किसी अपेक्षासे अस्तित्व और किसी अपेक्षासे नास्तित्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार अस्ति रूप वस्तुमें कथंचित नास्ति रूप भी युक्तिसे सिद्ध होता है।

२. दोनोंमें अविनाभावी सापेक्षता

न. च. वृ./३०४ अत्थित्तं णो मण्णदि णत्थिसहावस्स जो हु सावेक्खं। णत्थीविय तहदव्वे मूढो मूढो दु सव्वत्थ।—जो अस्तित्वको नास्तित्वके सापेक्ष तथा नास्तित्वको अस्तित्वके सापेक्ष नहीं मानता है, तथा द्रव्यमें जो मूढ है वह सर्वत्र मूढ है ।३०४।

भा. पा./टी./५७/२०४/१० एकस्य निषेधोऽपरस्य विधिः।—एकका निषेध ही दूसरेकी विधि है।

पं. ध./पू./६५५ न कश्चिन्नयो हि निरपेक्षः सति च विधौ प्रतिषेधः, प्रतिषेधे सति विधेः प्रसिद्धत्वात् ।६५५।—कोई भी नय निरपेक्ष नहीं है किन्तु विधिके होनेपर प्रतिषेध और प्रतिषेधके होनेपर विधिकी प्रसिद्धि है ।६५५।

स. भं. त./५३/६ अस्तित्वं स्वभावं नास्तित्वेनाविनाभूतम्। विशेषणत्वात् वैधर्म्यवत्।—अस्तित्व स्वभाव नास्तित्वसे व्याप्त है क्योंकि वह विशेषण है जैसे वैधर्म्य।

३. दोनोंकी सापेक्षतामें हेतु

रा.वा./४/४२/१५/२५४/१४ स्यादेतत्—यदस्ति तत् स्वायत्तद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण भवति नेतरेण तस्याप्रस्तुतत्वात्। यथा घटो द्रव्यतः पार्थिवत्वेन, क्षेत्रत इहत्यतया कालतो वर्तमानकालसंबन्धितया, भावतो रक्तत्वादिना, न परायत्तैर्द्रव्यादिभिस्तेषामप्रसक्तत्वात् इति।.. यदि हि असौ द्रव्यतः पार्थिवत्वेन तथोदकादित्वेनापि भवेत्, ततोऽसौ घट एव न स्यात् पृथिव्युदकदहनपवनादिषु वृत्तत्वात् द्रव्यत्ववत्। तथा, यथा इहत्यतया अस्ति तथाविरोधिदिगन्तानियतदेशस्थतयापि यदि स्यात्तथा चासौ घट एव न स्यात् विरोधिदिगन्तानियतसर्वदेशस्थत्वात् आकाशवत्। तथा, यथा वर्तमानघटकालतया अस्ति तथातीतशिवकाद्यनागतकपालादिकालतयापि स्यात् तथा चासौ घट एव

न स्यात् सर्वकालसंबन्धित्वात् मृद्द्रव्यवत्।…तथा, यथा नवत्वेन तथा पुराणत्वेन, सर्वरूपरसगन्धस्पर्शसंख्यासंस्थानादित्वेन वा स्यात्; तथा चासौ घट एव न स्यात् सर्वथा भावित्वात् भवनवत्।—जो अस्ति है वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही है, इतर द्रव्यादिसे नहीं, क्योंकि वे अप्रस्तुत हैं। जैसे घड़ा पार्थिव रूपसे, इस क्षेत्रसे, इस कालकी दृष्टिसे तथा अपनी वर्तमान पर्यायोंसे अस्ति है अन्यसे नहीं, क्योंकि वे अप्रस्तुत हैं।…यदि घड़ा पार्थिवत्वकी तरह जलादि रूपसे भी अस्ति हो जाये तो जलादि रूप भी होनेसे वह एक सामान्य द्रव्य बन जायेगा न कि घड़ा। यदि इस क्षेत्रकी तरह अन्य समस्त क्षेत्रोंमें भी घड़ा 'अस्ति' हो जाये तो वह घड़ा नहीं रह पायेगा किन्तु आकाश बन जायेगा। यदि इस कालकी तरह अतीत अनागत कालसे भी वह 'अस्ति' हो तो भी घड़ा नहीं रह सकता किन्तु त्रिकालानुयायी होनेसे मृद् द्रव्य बन जायेगा।…इसी तरह जैसे वह नया है उसी तरह पुराने या सभी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संस्थान आदिकी दृष्टिसे भी 'अस्ति' हो तो वह घड़ा नहीं रह जायेगा किन्तु सर्वव्यापी होनेसे महासत्ता बन जायेगा।

४. नास्तित्व भंगकी सिद्धिमें हेतु

श्लो. वा./२/१/६/५२/४१७/१७ कथंचिदस्तित्वसिद्धिसामर्थ्यात्तस्यान्यत्र नास्तित्वस्य सिद्धेर्न रूपान्तरत्वमिति चेत् व्याहतमेतत्। सिद्धौ सामर्थ्यसिद्धं च न रूपान्तरं चेति कथमवधेयं कस्यचित् कथंचिन्नास्तित्वसामर्थ्याच्चास्तित्वस्य सिद्धेस्ततो रूपान्तरत्वाभावप्रसंगात्।—प्रश्न—अस्तित्वके सामर्थ्यसे उसका दूसरे स्थलोंपर नास्तित्व अपने आप सिद्ध हो जाता है, अतः अस्तित्व और नास्तित्व ये दो भिन्न स्वरूप नहीं हैं।—उत्तर—यह व्याघात दोष है कि एकको सिद्धिपर अन्यतरको सामर्थ्यसे सिद्धि कहना और फिर उनको भिन्न स्वरूप न मानना। (स्या. म./१६/२००/१२)।

पं. ध./पू./श्लोक सं. अस्तीति च वक्तव्यं यदि वा नास्तीति तत्त्वसंसिद्ध्यै। नोपादानं पृथगिह युक्तं तदनर्थकादिति चेत् ।२६०। तन्न यतः सर्वस्वं तदुभयभावाध्यवसितमेवेति। अन्यतरस्य विलोपे तदितरभावस्य निह्नवापत्तेः ।२६१। न पटाभावो हि घटो न पटाभावे घटस्य निष्पत्तिः। न घटाभावो हि पटः पटसर्गो वा घटव्ययादिति च ।२६७। तत्किं व्यतिरेकस्य भावेन विनान्वयोऽपि नास्तीति ।२६८। तन्न यतः सदिति स्याद्द्वैतं द्वैतभावभागपि च। तत्र विधौ विधिमात्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रं स्यात् ।२६९।—प्रश्न—तत्त्व सिद्धिके अर्थ केवल अस्ति अथवा केवल नास्ति ही कहना चाहिए, क्योंकि दोनोंका मानना अनर्थक है अतः दोनोंका ग्रहण करना युक्त नहीं है।२६०। उत्तर—यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यका स्वरूप अस्ति नास्तिरूप भावसे युक्त है, इसलिए एकको माननेपर उससे भिन्नके लोपका प्रसंग प्राप्त होता है।२६१। प्रश्न—निश्चयसे न पटका अभाव घट है और न पटके अभावमें घटकी उत्पत्ति होती है। तथा न घटका अभाव पट है और न घटके नाशसे पटकी उत्पत्ति होती है।२६७। तो फिर व्यतिरेकके सद्भाव बिना अन्वयकी सिद्धि नहीं होती, यह कैसे।२६८। उत्तर—यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँपर सत् द्वैत भावका धारण करनेवाला है तो भी अद्वैत ही है क्योंकि उस सत्में विधि विवक्षित होनेपर वह सत् केवल विधिरूप और निषेधमें केवल निषेध रूप प्रतीत होता है।२६९।

५. नास्तित्व वस्तुका धर्म है तथा तद्गत शंका

रा. वा./१/४/१५/२६/११ कथमभावो निरूपाख्यो वस्तुनो लक्षणं भवति। अभावोऽपि वस्तुधर्मो हेत्वङ्गत्वादेः भाववत्। अतोऽसौ लक्षणं युज्यते। स हि वस्तुनो लक्षणं न स्यात् सर्वसंकरः स्यात्।—प्रश्न—अभाव भी वस्तुका लक्षण कैसे होता है? उत्तर—अभाव भी वस्तुका धर्म होता है जैसे कि विपक्षाभाव हेतुका स्वरूप है। यदि अभावको वस्तुका स्वरूप न माना जाये तो सर्व सांकर्य हो जायेगा क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें स्वभिन्न पदार्थोंका अभाव होता ही है। (रा. वा./४/४२/१५/२५९/४)।

स. भं. त./पृ./पं. सं. ननु पररूपेणासत्त्वं नाम पररूपासत्त्वमेव। न हि घटे पटस्वरूपाभाववद्घटे नास्तीति वक्तुं शक्यम्। भूतले घटाभावे भूतले घटो नास्तीति वाक्यप्रवृत्तिवत् घटे पटस्वरूपाभावे पटो नास्तीत्येव वक्तुमुचितत्वात्। इति चेन्न—विचारासहत्वात्। घटादिषु पररूपासत्त्वं पटादिधर्मो घटधर्मो वा। नाद्यः, व्याघातात्। न हि पटरूपासत्त्वं पटेऽस्ति। पटस्य शून्यत्वापत्तेः। न च स्वधर्मः स्वस्मिन्नास्तीति वाच्यम्। तस्य स्वधर्मत्वविरोधात्। पटधर्मस्य घटाद्याधारकत्वायोगाच्च। अन्यथा वितानविवितानाकारस्यापि तदाधारकत्वप्रसंगात्। अन्त्यपक्षस्वीकारे तु विवादो विश्रान्तः। (८३/७) घटे पटरूपासत्त्वं नाम घटनिष्ठाभावप्रतियोगित्वम्। तच्च घटधर्मः। यथा भूतले घटो नास्तीत्यत्र भूतलनिष्ठाभावप्रतियोगित्वमेव भूतले नास्तित्वम् तच्च घटधर्मः। इति चेन्न; तथापि पटरूपाभावस्य घटधर्मत्वाविरोधात्, घटाभावस्य भूतलधर्मत्ववत्। तथा च घटस्य भावाभावात्मकत्वं सिद्धम्। कथंचित्तादात्म्यलक्षणसंबन्धेन संबन्धिन एव स्वधर्मत्वात् (८४/३); नन्वेवं रीत्या घटस्य भावाभावात्मकत्वे सिद्धेऽपि घटोऽस्ति पटो नास्तीत्येव वक्तव्यम् (८५/१); घटस्य भावाभावात्मकत्वे सिद्धेऽस्माकं विवादो विश्रान्तः समीहितसिद्धेः। शब्दप्रयोगस्तु पूर्वपूर्वप्रयोगानुसारेण भविष्यति। न हि पदार्थसत्ताधीनः शब्दप्रयोगः (८५/७); घटादौ वर्तमानः पटरूपाभावो घटाद्भिन्नोऽभिन्नो वा। यदि भिन्नस्तस्यापि परत्वात्तदभावस्तत्र कल्पनीयः (८६/१) यद्यभिन्नस्तर्हि सिद्धं स्वस्मादभिन्नेन भावधर्मेण घटादौ सत्त्ववदभावधर्मेण तादृशेनासत्त्वमपि स्वीकरणीयमिति (८६/४);—प्रश्न—पररूपसे असत्त्व नाम परकीय रूपका असत्त्व अर्थात् दूसरे पट आदिका रूप घटमें नहीं है। क्योंकि घटमें पट स्वरूपका अभाव होनेसे घट नहीं है ऐसा नहीं कह सकते किन्तु भूतलमें घटका अभाव होनेपर भूतलमें घट नहीं है, इस वाक्यकी प्रवृत्तिके समान घटमें पटके स्वरूपका अभाव होनेसे घटमें पट नहीं है यह कथन उचित है? उत्तर—नहीं, क्योंकि घट आदि पदार्थोंमें जो पट आदि रूपका असत्त्व है वह पट आदिका धर्म है अथवा घटका है, प्रथम पक्ष माननेपर पट रूपका ही व्याघात होगा, क्योंकि पटरूपका असत्त्व पट नहीं है। और स्वकीय धर्म अपनेमें ही नहीं है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तब तो स्वधर्मत्व इस कथनका ही विरोध हो जायेगा। और पटके धर्मका आधार घट आदि पदार्थ हो नहीं सकते, क्योंकि ऐसा माननेसे घट भी ताना-बाना का आधार हो जायेगा। पटरूप का असत्त्व भी घटका धर्म है ऐसा माननेपर तो विवादका ही विश्राम हो जायेगा (८३/७)। प्रश्न—घटमें पटरूपके असत्त्वका अर्थ यह है कि घटमें रहनेवाला जो अन्य पदार्थोंका अभाव, उस अभावका प्रतियोगी रूप और यह घटधर्म रूप होगा। जैसे भूतलमें घट नहीं है यहाँपर भूतलमें रहनेवाला जो अभाव उस अभावकी प्रतियोगिता ही भूतलमें नास्तिता रूप पड़ती है और प्रतियोगिता वा नास्तिता घटका धर्म है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पटरूपका जो अभाव उसके घट धर्म होनेसे कोई भी विरोध नहीं है। जैसे कि भूतलमें घटाभाव भूतलका धर्म है। इस रीतिसे घटके भाव-अभाव उभयरूप सिद्ध हो गये। क्योंकि किसी अपेक्षासे तादात्म्य अर्थात्—अभेद सम्बन्धसे सम्बन्धी होकर स्वधर्मरूपता हो जाती है (८४/३); प्रश्न—पूर्वोक्त रीतिसे घटकी भाव-अभाव उभयरूपता सिद्ध होनेपर भी घट है पट नहीं है ऐसा ही प्रयोग करना चाहिए, न कि घट नहीं है ऐसा प्रयोग (८५/१)? उत्तर—घटके भाव-अभाव उभय स्वरूप सिद्ध होनेसे हमारे विवादकी समाप्ति है, क्योंकि उभयरूपता माननेसे ही हमारे अभीष्टकी सिद्धि है। और शब्द प्रयोग तो पूर्व-पूर्व प्रयोगके अनुसार होगा। क्योंकि शब्द प्रयोग पदार्थकी सत्ताके वशीभूत नहीं है। (८५/७) और भी घट आदिमें

पररूपका जो अभाव है वह घटसे भिन्न है अथवा अभिन्न है। यदि घटसे भिन्न है तब तो उसके भी पट होनेसे वहाँ उसके अभाव होकी कल्पना करनी चाहिए (८६/१); यदि पटरूपाभाव घटसे अभिन्न है तो हमारा अभीष्ट सिद्ध हो गया, क्योंकि अपनेसे अभिन्न भाव धर्मसे घट आदिमें जैसे सत्त्वरूपता है ऐसे ही अपनेसे अभिन्न अभाव धर्मसे असत्त्व रूपता भी घट आदिमें स्वीकार करनी चाहिए।

६. उभयात्मक तृतीय भंगकी सिद्धिमें हेतु

रा. वा./४/४२/१५/२५५-२५६/१ इतरच्च स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्वपरसत्ता भावाभावोभयाधीनत्वात् जीवस्य। यदि परसत्तया अभावं स जीवं स्वात्मनि नापेक्षते, अतः स जीव एव न स्यात् सन्मात्रं स्यात् नासौ जीवः सत्त्वे सति विशेषरूपेण अनवस्थितत्वात् सामान्यवत्। तथा परसत्ताभावापेक्षायामपि जीवत्वे यदि स्वसत्तापरिणतिं नापेक्षते तथापि तस्य वस्तुत्वमेव न स्यात् जीवत्वं वा, सद्भावापरिणतत्वे परभावमात्रत्वात् खपुष्पवत्। अतः पराभावोऽपि स्वसत्तापरिणत्यपेक्ष एव अस्तित्वस्वात्मवत्।...किं हि वस्तुसर्वात्मकं सर्वाभावरूपं वा दृष्टमिति।...अभावः स्वसद्भावं भावाभावं च अपेक्षमाणः सिध्यति। भावोऽपि स्वसद्भावम् अभावाभावं चापेक्ष्य सिद्धिमुपयाति। यदि तु अभाव एकान्तेनास्ति इत्यभ्युपगम्येत ततः सर्वात्मनास्तित्वात् स्वरूपवद्भावात्मनापि स्यात्, तथा च भावाभावरूपसंकरादस्थितरूपत्वादुभयोरप्यभावः। अथ एकान्तेन नास्ति इत्यभ्युपगम्येत ततो यथा भावात्मना नास्ति तथा भावात्मनापि न स्यात्, ततश्च अभावस्याभावात् भावस्याप्रतिपक्षत्वात् भावमात्रमेव स्यात्। तथा खपुष्पादयोऽपि भावा एव अभावभावरूपत्वात् घटवत् इति सर्वभावप्रसङ्गः।...एवं स्वात्मनि घटादिवस्तुसिद्धौ च भावाभावयोः परस्परापेक्षत्वात् यदुच्यते "अर्थाद्वि प्रकरणाद्वा घटे अप्रसक्तायाः पटादिसत्तायाः किमिति निषेधः क्रियते"। इति; तदयुक्तम्। किंच घटे अर्थत्वात् अर्थसामान्यात् पटादिसर्वार्थप्रसंगः संभवत्येव। तत्र विशिष्टं घटार्थत्वम् अभ्युपगम्यमानं पटादिसत्तारूपस्यार्थसामर्थ्यप्रापितस्य अर्थतत्त्वस्य निरासेनैव आत्मानं शक्नोति लब्धुम्, इतरथा हि असौ घटार्थ एव न स्यात् पटाद्यर्थरूपेणानिवृत्तत्वात् पटाद्यर्थस्वरूपवत्, विपरीतो वा। —१. स्वसद्भाव और परअभावके आधीन जीवका स्वरूप होनेसे वह उभयात्मक है। यदि जीव परसत्ताके अभावकी अपेक्षा न करे तो वह जीव न होकर सन्मात्र हो जायेगा। इसी तरह परसत्ताके अभावकी अपेक्षा होनेपर भी स्वसत्ताका सद्भाव न हो तो वह वस्तु ही नहीं हो सकेगा, जीव होनेकी बात तो दूर ही रही। अतः परका अभाव भी स्वसत्ता सद्भावसे ही वस्तुका स्वरूप बन सकता है।...क्या कभी वस्तु सर्वाभावात्मक या सर्व-सत्तात्मक देखी गयी है।...इस तरह भावरूपता और अभावरूपता दोनों परस्पर सापेक्ष हैं अभाव अपने सद्भाव तथा भावके अभावकी अपेक्षा सिद्ध होता है तथा भाव स्वसद्भाव और अभावके अभावकी अपेक्षासे सिद्ध होता है। २. यदि अभावको एकान्तसे अस्ति स्वीकार किया जाये तो जैसे वह अभावरूपसे अस्ति है उसी तरह भावरूपसे भी 'अस्ति' हो जानेके कारण भाव और अभावमें स्वरूप सांकर्य हो जायेगा। यदि अभावको सर्वथा 'नास्ति' माना जाये तो जैसे वह भावरूपसे नास्ति है उसी तरह अभावरूपसे भी नास्ति होनेसे अभावका सर्वथा लोप हो जानेके कारण भावमात्र ही जगत् रह जायेगा। और इस तरह खपुष्प आदि भी भावात्मक हो जायेंगे। अतः घटादिक भाव स्यादस्ति और स्यान्नास्ति हैं। इस तरह घटादि वस्तुओंमें भाव और अभावको परस्पर सापेक्ष होनेसे प्रतिवादीका कथन यह है कि "अर्थ या प्रकरणसे जब घटमें पटादिकी सत्ताका प्रसंग ही नहीं है, तब उसका निषेध क्यों करते हो?" अयुक्त हो जाता है। किंच, अर्थ होनेके कारण सामान्य रूपसे घटमें पटादि अर्थोंकी सत्ताका प्रसंग प्राप्त है ही, यदि उसमें हम विशिष्ट घटरूपता स्वीकार करना चाहते हैं तो वह पटादिकी सत्ताका निषेध करके ही आ सकती है। अन्यथा वह घट नहीं कहा जा सकता क्योंकि पटादि रूपोंकी व्यावृत्ति न होनेसे उसमें पटादिरूपता भी उसी तरह मौजूद है। (स्या. म./२३/२८०/१०); (स. भं. त./८३/५)।

५. अनेक प्रकारसे अस्तित्व नास्तित्व प्रयोग

१. स्वपर द्रव्य गुण पर्यायकी अपेक्षा

रा. वा./१/६/५/पृ./पं. सं. तत्र स्वात्मना स्याद्घटः, परात्मना स्यादघटः। को वा घटस्य स्वात्मा को वा परात्मा। घटबुद्ध्यभिधानप्रवृत्तिलिङ्गः स्वात्मा, यत्र तयोरप्रवृत्तिः स परात्मा पटादिः।...नामस्थापनाद्रव्यभावेषु यो विवक्षितः स स्वात्मा, इतरः परात्मा। तत्र विवक्षितात्मना घटः, नेतरात्मना।३३।२०। घटशब्दप्रयोगानन्तरमुत्पद्यमान उपयोगाकारः स्वात्मा...बाह्यो घटाकारः परात्मा...स घट उपयोगाकारेणास्ति नान्येन।...तत्र ज्ञेयाकारः स्वात्मा...ज्ञानाकारः परात्मा।३४।२४। —स्वात्मासे कथंचित् घड़ा है, और परात्मासे कथंचित् अघट है। प्रश्न—घड़ेके स्वात्मा और परात्मा क्या हैं? उत्तर—जिसमें घट बुद्धि और घट शब्दका व्यवहार हो वह स्वात्मा तथा उससे भिन्न पटादि परात्मा हैं।...नाम, स्थापना, द्रव्य और भावनिक्षेपोंका जो आधार होता है वह स्वात्मा तथा अन्य परात्मा है ३३।२०। घट शब्द प्रयोगके बाद उत्पन्न घट ज्ञानाकार स्वात्मा है...बाह्य घटाकार परात्मा है। अतः घड़ा उपयोगाकारसे है अन्यसे नहीं है।...ज्ञेयाकार स्वात्मा है...और ज्ञानाकार परात्मा है।

ध. ९/४,१,४५/पृष्ठ सं./पं. सं. स्वरूपादिचतुष्टयेन अस्ति घटः, ...पररूपादिचतुष्टयेन नास्ति घटः, ...मृद्घटो मृद्घटरूपे अस्ति, न कल्याणादि घटरूपेण। (२१३।४) तत्परिणतरूपेणास्ति घटः, न नामादिघटरूपेण (२१४।६) अथवोपयोगरूपेणास्ति घटः, नार्थाभिधानाभ्याम्।...अथवोपयोगघटोऽपि वर्त्तमानरूपतयास्ति, नातीतानागतोपयोगघटैः। अथवा घटोपयोगघटः स्वरूपेणास्ति, न पटोपयोगादिरूपेण।...इत्यादिप्रकारेण सकलार्थानामस्तित्व-नास्तित्वावक्तव्यभङ्गा योज्याः। (२१५।६) —स्वरूपादि चतुष्टयके द्वारा घट है...पररूपादि चतुष्टयसे 'घट नहीं है'...मिट्टी का घट मिट्टी के घट रूप से है, स्वर्ण के घट रूप से नहीं है। (२१३।४) अथवा घटरूप पर्यायसे परिणत स्वरूपसे घट है, नामादि रूपसे वह घट नहीं है (२१४।६) उपयोग रूपसे घट है और अर्थ व अभिधानकी अपेक्षा वह नहीं है...अथवा उपयोग घट भी वर्तमान रूपसे है, अतीत व अनागत उपयोग घटोंकी अपेक्षा वह नहीं है...अथवा घटोपयोग स्वरूपसे घट है, पटोपयोगादि स्वरूपसे नहीं है।...इत्यादि प्रकारसे सब पदार्थोंके अस्तित्व, नास्तित्व व अवक्तव्य भंगोंको कहना चाहिए।

स. सा./आ./परि./क. २५२-२५३ स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता, स्याद्वादी...।२५२। स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तिताम्।२५३। —स्याद्वादी तो, आत्माको स्वद्रव्यरूपसे अस्तिपनेसे निपुणतया देखता है।२५२। और स्याद्वादी तो, समस्त वस्तुओंमें परद्रव्य स्वरूपसे नास्तित्वको जानता है।२५३।

स्या. म./२३/२७८/१० कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनास्ति। नाप्यादिरूपत्वेन। —घड़ा द्रव्यकी अपेक्षा पार्थिव रूपसे विद्यमान है जलरूपसे नहीं।

२. स्व-पर क्षेत्रकी अपेक्षा

रा. वा./१/६/५/पृष्ठ/पंक्ति अथवा, तत्र विवक्षितघटशब्दवाच्यसादृश्यसामान्यसंबन्धिषु कस्मिंश्चिद् घटविशेषे परिगृहीते प्रतिनियतो यः

संस्थानादिः स स्वात्मा, इतरः परात्मा। तत्र प्रतिनियतेन रूपेण घटः नेतरेण (३३।२८)। परस्परोपकारवर्तिनि पृथुबुध्नाद्याकारः स्वात्मा, इतरः परात्मा। तेन पृथुबुध्नाद्याकारेण स घटोऽस्ति नेतरेण। (३४।१)। —घट शब्दके वाच्य अनेक घड़ोंमें-से विवक्षित अमुक घटका जो आकार आदि है वह स्वात्मा, अन्य परात्मा है। सो प्रतिनियत रूपसे घट है, अन्य रूपसे नहीं (३३।२८)। (प्रत्युत्पन्न घट क्षणमें रूप, रस, गन्ध) पृथुबुध्नोदराकार आदि अनेक गुण और पर्यायें हैं। अतः घड़ा पृथुबुध्नोदराकारसे 'है' क्योंकि घट व्यवहार इसी आकारसे होता है अन्यसे नहीं।

ध. ६/४,१,४५/२१४/५ अर्पितसंस्थानघट. अस्तित्वरूपेण, नार्पितसंस्थान-घटरूपेण। अथवार्पितक्षेत्रवृत्तिर्घटोऽस्ति स्वरूपेण नानर्पितक्षेत्र-वृत्तैर्घटैः। —विवक्षितआकारयुक्त घट स्वरूपसे है, अविवक्षित आकार रूप घट स्वरूपसे नहीं है।···अथवा विवक्षित क्षेत्रमें रहनेवाला घट अपने स्वरूपसे है, अविवक्षित क्षेत्रमें रहनेवाले घटोंकी अपेक्षा वह नहीं है।

स. सा./आ./२५४-२५५ स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुनस्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ।२५४। स्याद्वादी तु वसत् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां···।२५५। —स्याद्वादी तो स्वक्षेत्रसे अस्तित्वके कारण जिसका वेग रुका हुआ है, ऐसा होता हुआ, आत्मामें ही ज्ञेयोंमें निश्चित व्यापारकी शक्तिवाला होकर, टिकता है।२५४। स्याद्वादी तो स्वक्षेत्रमें रहता हुआ, परक्षेत्रमें अपना नास्तित्व जानता (है)।२५५।

स्या. म./२३/२७१/१ क्षेत्रत. पाटलिपुत्रकत्वेन। न कान्यकुब्जादित्वेन। —(घट) क्षेत्रकी अपेक्षा पटना नगरकी अपेक्षा मौजूद है, कन्नौजकी अपेक्षा नहीं।

पं. ध./पू./१४८ अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम्। तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः। —जो एक देश जितने क्षेत्रको रोककर रहता है वह उस देश (द्रव्य) का स्वक्षेत्र है। अन्य असका नहीं है, किन्तु दूसरा दूसरा ही है, पहला पहला ही।

३. स्व-पर कालकी अपेक्षा

रा. वा./१/६/५/३३/१२ तस्मिन्नेव घटविशेषे कालान्तरावस्थायिनि पूर्वोत्तरकुशूलान्तकपालाद्यवस्थाकलापः परात्मा, तदन्तरालवर्ती स्वात्मा। स तेनैव घटः तत्कर्मगुणव्यपदेशदर्शनात् नेतरात्मना।··· अथवा ऋजुसूत्रनयापेक्षया प्रत्युत्पन्नघटस्वभावः स्वात्मा, घटपर्याय एवातीतोऽनागतश्च परात्मा। तेन प्रत्युत्पन्नस्वभावेन सता स घटः नेतरेणासता। —अमुक घट भी द्रव्यदृष्टिसे अनेक क्षणस्थायी होता है। अतः अन्वयी मृद्द्रव्यकी अपेक्षा स्थास कोश कुशूल घट कपाल आदि पूर्वोत्तर अवस्थाओंमें भी घट व्यवहार हो सकता है। इनमें स्थास, कोश, कुशूल और कपाल आदि पूर्व और उत्तर अवस्थाएँ परात्मा हैं तथा मध्य क्षणवर्ती घट अवस्था स्वात्मा है।···अथवा ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिसे एक क्षणवर्ती घट ही स्वात्मा है, और अतीत अनागतकालीन उस घटकी पर्यायें परात्मा हैं। क्योंकि प्रत्युत्पन्न स्वभावसे घट है, अन्यसे नहीं।

ध. ६/४,१,४५/२१४/६ तत्परिणतरूपेणास्ति घटः, न पिण्ड-कपालादिप्राक् प्रध्वंसाभावैः विरोधात्।...वर्तमानो घटो वर्तमानघटरूपेणास्ति, नातीतानागतघटैः। —घट पर्यायसे घट है, प्रागभावरूप पिण्ड और प्रध्वंसाभावरूप कपाल पर्यायसे वह नहीं है, क्योंकि वैसा माननेमें विरोध है।···वर्तमान घट वर्तमान रूपसे है, अतीत व अनागत घटोंकी अपेक्षा वह नहीं है।

स. सा./आ./परि./क. २५६–२५७ अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः।२५६। नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः···।२५७। —स्याद्वादका ज्ञाता तो आत्माका निज कालसे अस्तित्व जानता हुआ···।२५६। स्याद्वादका ज्ञाता तो परकालसे आत्माका नास्तित्व जानता (है)।२५८।

स्या. म./२३/२७१/१ (घटः) कालतः शैशिरत्वेन। न वासन्तिकादित्वेन। —(घटः) कालकी अपेक्षा शीत ऋतुकी दृष्टिसे है, वसन्त ऋतुकी दृष्टिसे नहीं।

पं. ध./पू./१४१ अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेन्न साप्यन्या। भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयोऽपि कालव्यतिरेकः।१४१। —एक समयमें जो अवस्था होती है वह वह ही है अन्य नहीं। और दूसरे समयमें भी जो अवस्था होती है वह भी उससे अन्य ही होती है पहली नहीं।१४१। (पं. ध./पू./१७२/४६७)।

४. स्व-पर भावकी अपेक्षा

रा. वा./१/६/५/३४/१४रूपमुखेन घटो गृह्यत इति रूपं स्वात्मा, रसादिः परात्मा। स घटो रूपेणास्ति नेतरेण रसादिना।···तत्र घटनक्रिया विषयकर्तृभावः स्वात्मा, इतरः परात्मा। तत्भावेन घट. नेतरेण। —घड़ेके रूपको आँखसे देखकर ही घटके अस्तित्वका व्यवहार होता है अतः रूप स्वात्मा है तथा रसादि परात्मा। क्योंकि घड़ा रूपसे है अन्य रसादि रूपसे नहीं।···घटका घटनक्रियामें कर्ता रूपसे उपयुक्त होने वाला स्वरूप स्वात्मा है और अन्य परात्मा।

ध. ६/४,१,४५/२१४/१ रूपघटो रूपघटरूपेणास्ति, न रसादिघटरूपेण। ···रक्तघटो रक्तघटरूपेणास्ति, न कृष्णादिघटरूपेण।···अथवा नवघटो नवघटरूपेणास्ति, न पुराणादिघटरूपेण। —रूपघट रूपघट रूपसे है, रसादि घट रूपसे नहीं,···रक्तघट रक्तघट रूपसे है कृष्णादि घट रूपसे नहीं है।···अथवा नवीन घट नवीन घट स्वरूपसे है, पुराने आदि घट स्वरूपसे नहीं।

स. सा./आ./परि./क. २५८–२५९ सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन् स्याद्वादी···।२५८। स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरादारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः।२५९। —स्याद्वादी तो अपने नियत स्वभावके भवन स्वरूप ज्ञानके कारण सब (परभावों) से भिन्न वर्तता हुआ···।२५८। स्याद्वादी तो अपने स्वभावमें अत्यन्त आरूढ होता हुआ, परभाव रूप भवनके अभावकी दृष्टिके कारण निष्कम्प वर्तता हुआ।२५९।

स्या. म./२३/२७१/२ (घटः) भावतः श्यामत्वेन। न रक्तादित्वेन। —घट भावकी अपेक्षा काले रूपसे मौजूद है, लाल रूपसे नहीं।

पं. ध./पू./१५० भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति न चाप्यन्यः। सोऽपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योऽपि भावव्यतिरेकः।१५०। —जो कोई एक गुणका अविभागी प्रतिच्छेद है वह वह ही होता है, अन्य नहीं हो सकता। और दूसरा भी पहला नहीं हो सकता है। किन्तु उससे भिन्न है वह उससे भिन्न ही रहता है।१५०।

५. वस्तुके सामान्य विशेष धर्मोंकी अपेक्षा

स्या. वि./मू./३/६६/३५० द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः। स्याद्विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गी प्रवर्तते। —द्रव्य अर्थात् सामान्य और पर्याय अर्थात् विशेष; द्रव्य सामान्य व द्रव्य विशेषमें तथा पर्याय सामान्य व पर्याय विशेषमें कथंचित् विधि प्रतिषेधके द्वारा सात सप्तभंगी प्रवर्तती है।

ध. ६/४,१,४५/पृष्ठ/पंक्ति पर्यायघटः पर्यायघटरूपेणास्ति, न द्रव्यघटरूपेण (२१५/७) अथवा व्यञ्जनपर्यायेणास्ति घटः नार्थपर्यायेण (२१५/३)। —पर्यायघट पर्यायघट रूपसे है, द्रव्य घट रूपसे नहीं (२१४/७) अथवा व्यंजन पर्यायसे घट है, अर्थ पर्यायसे नहीं है (२१५/३)।

पं. का./त. प्र./८/२२/६ महासत्तावान्तरसत्तारूपेणासत्तावान्तरसत्ता च महासत्तारूपेणासत्तेत्यसत्ता सत्तायाः। – महासत्ता अवान्तरसत्ता रूपसे असत्ता है और अवान्तर सत्ता महासत्ता रूपसे असत्ता है इसलिए सत्ता असत्ता है। (जो सामान्य विशेषात्मक सत्ता महासत्ता होनेसे 'सत्ता' है वही अवान्तर सत्ता रूप होनेसे असत्ता भी है)।

पं. ध./पू./श्लो. सं. *अयमर्थो वस्तु यदा सदिति महासत्तयावधार्येत।* स्यात्तदवान्तरसत्तारूपेणाभाव एव न तु मूलात् (२६७) अपि चावान्तरसत्तारूपेण यदावधार्यते वस्तु। अपरेण महासत्तारूपेणाभाव एव भवति तदा (२६८) अथ केवलं प्रदेशात् प्रदेशमात्रं यदेष्यते वस्तु। अस्ति स्वक्षेत्रतया तदंशमात्राविवक्षितत्वान्न।२७१। अथ केवलं तदंशात्तावन्मात्राद्यदेष्यते वस्तु। अस्त्यंशाविवक्षितया नास्ति च देशाविवक्षितत्वाच्च।२७२। सामान्यं विधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति *विशेषश्च। उभयोरन्यतरस्योन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति* (२७५) सामान्यं विधिरेव हि शुद्धः प्रतिषेधकश्च निरपेक्षः। प्रतिषेधो हि विशेषः प्रतिषेध्यः सांशकश्च सापेक्षः।२८१। तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सामान्यतो यदाप्यस्ति। शेषविशेषविवक्षाभावादिह तदैव तन्नास्ति।२८३। यदि वा सर्वमिदं यद्विवक्षितत्वाद्विशेषतोऽस्ति यदा। अविवक्षितसामान्यात्तदैव तन्नास्ति नययोगात् (२८४) अपि चैवं प्रक्रियया नेतव्याः पञ्चशेषभङ्गाश्च। वर्णवदुक्तद्वयमिहापटवच्छेषास्तु तद्योगात् (२८७) नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्य विवक्षितायां वा। सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्ति नयः।७५७। – १. (द्रव्य) जिस *समय वस्तु सत् इत्याकारक महा सत्ताके द्वारा अवधारित की जाती* है उस समय उस उसकी अवान्तर सत्ता रूपसे उसका अभाव ही है किन्तु मूलसे नहीं है।२६७। जिस समय वस्तु अवान्तर सत्ता रूपसे अवधारित की जाती है, उस समय दूसरी महासत्ता रूपसे उस वस्तुका अभाव ही विवक्षित होता।२६८। २. (क्षेत्र) जिस समय वस्तु केवल प्रदेशसे प्रदेशमात्र मानी जाती है, उस समय अपने क्षेत्रसे अस्ति रूप है, और उन-उन वस्तुओंके उन-उन अंशोंकी अविवक्षा होनेसे नास्ति रूप है।२७१। और जिस समय वस्तु केवल अमुक द्रव्यके इतने प्रदेश है इत्यादि विशेष क्षेत्रकी विवक्षासे मानी जाती है उस समय विशेष अंशोंकी अपेक्षासे अस्ति रूप है, सामान्य प्रदेशकी *विवक्षा न होनेसे नास्ति रूप भी है।* २७२। ३. (काल) विधि रूप वर्तन सामान्य काल है और निषेध स्वरूप विशेष काल है। इन दोनोंमेंसे एककी मुख्यता होनेसे अस्ति-नास्ति रूप विकल्प होते हैं। २७५। ४. (भाव) *सामान्य भाव विधि रूप शुद्ध विकल्पमात्रका* प्रतिषेधक है तथा निरपेक्ष ही होता है तथा निश्चयसे विशेष रूप भाव निषेध रूप निषेध करने योग्य अंशकल्पना सहित और सापेक्ष होता है। २८१। ५. (सारांश) इसलिए सब कथन निर्दोष है कि जिस समय भी सामान्य रूपसे अस्तिरूप होता है उसी समय यहाँ पर विशेषों की विवक्षाके अभावसे वह सत् नास्तिरूप भी रहता है। २८३। अथवा जिस समय जो यह सब विशेष रूपसे विवक्षित होनेसे अस्ति रूप होता है, उसी समय नय योगसे सामान्य अविवक्षित होनेसे वह नास्ति रूप भी होता है। २८४। विशेष यह है कि यहाँ पर इसी शैलीसे पटकी तरह अनुलोम क्रमसे तथा पटगत वर्णादि *की तरह प्रतिलोम क्रमसे दो भंग कहे हैं और शेष पाँच भंग तो इनके* मिलानेसे लगा लेने चाहिए। (२८७)

वस्तु सामान्यकी विवक्षामें विशेष धर्मकी गौणता होने पर विशेष धर्मोंके द्वारा नास्ति रूप है अथवा विशेषकी विवक्षामें सामान्य धर्मोंके द्वारा नहीं है। जो यह कथन है वह नास्तिनय है। ७५७।

६. नयोंकी अपेक्षा

ध० ६/४,१,४५/२१५/४ ऋजुसूत्रनयविषयीकृतपर्यायैरस्ति घटः, न शब्दादिनयविषयीकृतपर्यायैः।...अथवा शब्दनयविषयीकृतपर्यायैरस्ति घटः, न शेषनयविषयीकृतपर्यायैः। ...अथवा समभिरूढनयविषयीकृतपर्यायैरस्ति घटः, न शेषनयविषयैः। – ऋजुसूत्र नयसे विषय की गयी पर्यायोंसे घट है, शब्दादिनयोंसे विषय की गयी पर्यायोंसे वह नहीं है।...अथवा शब्द नयसे विषय की गयी पर्यायोंसे घट है शेष नयोंसे विषय की गयी पर्यायोंसे वह नहीं है।...समभिरूढनयसे विषय की गयी पर्यायोंसे घट है शेष नयोंसे विषय की गयी पर्यायोंसे वह नहीं है।...अथवा एवम्भूत नयसे विषय की गयी पर्यायोंसे घट है, शेष नयोंसे विषय की गयी पर्यायोंसे वह नहीं है।

७. विरोधी धर्मोंमें

न. च. श्रुत./६५-६७ द्रव्यरूपेण नित्य...स्यादस्ति अनित्य इति पर्यायरूपेणैव...सामान्यरूपेणैकत्वम्...स्यादनेक इति विशेषरूपेणैव...सद्भूतव्यवहारेण भेद...स्यादभेद इति द्रव्यार्थिकेनैव...स्याद्भव्यः...स्वकीयस्वरूपेण भवनादिति—स्यादभव्य इति पररूपेणैव...स्यादचेतनः...चेतनस्वभावप्रधानत्वेनेति...स्यादचेतन इति व्यवहारेणैव...स्यान्मूर्तः असद्भूतव्यवहारेण...स्यादमूर्त इति परमभावेनैव...स्यादेकप्रदेशः भेदकल्पनानिरपेक्षेणेति...स्यादनेकप्रदेश इति व्यवहारेणैव...स्याच्छुद्ध...केवलस्वभावप्रधानत्वेनेति...स्यादशुद्ध इति मिश्रभावे...स्यादुपचरितः...स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादिति...स्यादनुपचरित इति निश्चयादेव...। – द्रव्यरूप अभिप्रायसे नित्य है...कथंचित् अनित्य है, यह पर्याय रूपसे ही समझना चाहिए।...सामान्यरूप अभिप्रायसे एकत्वपना है...कथंचित् अनेकरूप है, यह विशेष रूपसे ही जानना चाहिए...सद्भूत व्यवहारसे भेद है...द्रव्यार्थिक नयसे अभेद है...कथंचित् स्वकीय स्वरूपसे हो सकनेसे भव्य स्वरूप है...पररूपसे नहीं होनेसे अभव्य है...चेतन स्वभावकी प्रधानतासे कथंचित् चेतन है...व्यवहारनयसे अचेतन है...असद्भूत व्यवहार नयसे मूर्त है...परमभाव अमूर्त है...भेदकल्पनानिरपेक्ष नयसे एक प्रदेशी है...व्यवहार नयसे अनेक प्रदेशी है...केवल स्वभावकी प्रधानतासे कथंचित् शुद्ध है...मिश्र भावसे कथंचित् अशुद्ध है...स्वभावके भी अन्यत्र उपचारसे कथंचित् उपचरित है...निश्चयसे अनुपचरित है। (स. भं. त./७५/८; ७६/१०; ७६/३)

स. सा./आ./क. २४८-२४९ बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिज-प्रव्यक्तिरिक्तीभवद्-विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति। यत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति।२४८। विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया-भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते। यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्।२४९। – बाह्य पदार्थोंके द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया, अपनी भक्ति छोड़ देनेसे रिक्त हुआ, सम्पूर्णतया पररूपमें ही विश्रान्त, ऐसे पशुका ज्ञान नाशको प्राप्त होता है, और स्याद्वादीका ज्ञान तो, जो सत् है वह स्वरूपसे तत् है, ऐसी मान्यताके कारण, अत्यन्त प्रकट हुए ज्ञानघन रूप स्वभावके भारसे सम्पूर्ण उदित होता है।२४९। पशु (सर्वथा एकान्तवादी) अज्ञानी 'विश्व ज्ञान है' ऐसा विचार कर सबको निजतत्त्वकी आशासे देखकर विश्वमय होकर, पशुकी भाँति स्वच्छन्दतया चेष्टा करता है। और स्याद्वादी तो, यह मानता है कि 'जो तत् है वह पररूपसे तत् नहीं है, इसलिए विश्वसे भिन्न ऐसे तथा विश्वसे रचित होनेपर भी विश्व रूप न होनेवाले ऐसे अपने तत्त्वका अनुभव करता है।२४९। (पं. ध./पू./३३२)

न्या. दी./३/§८२/१२६/६ द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णं स्यादेकमेव, पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण स्यादनेकमेव...। – द्रव्यार्थिक नयके अभिप्रायसे सोना कथंचित् एकरूप ही है, पर्यायार्थिक नयके अभिप्रायसे कथंचित् अनेक स्वरूप ही है। (न्या. दी./३/§८५/१२८/११)

८. कालादिकी अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद

श्लो. वा. २/१/६/५४/४५२/१४ के पुनः कालादयः। कालः आत्मरूपं, अर्थः, संबन्धः, उपकारो, गुणिदेशः, संसर्गः शब्द इति। तत्र स्याज्जीवादि वस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति, तेषां कालेनाभेदवृत्तिः। यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः। य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः। य एवाविष्वग्भावः कथंचित्तादात्म्यलक्षणः संबन्धोऽस्तित्वस्य स एवाशेषविशेषाणामिति संबन्धेनाभेदवृत्तिः। य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः। य एव च गुणिदेशोऽस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः। य एव चैकवस्त्वात्मनास्तित्वस्य संसर्गः स एव शेषधर्माणामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः। य एवास्तीतिशब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः। पर्यायार्थे गुणभावे द्रव्यार्थिकत्वप्राधान्यादुपपद्यते।

श्लो. वा. २/१/६/५४/४५३/२७ द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्येन तु न गुणानां कालादिभिरभेदवृत्तिः अष्टधा संभवति। प्रतिक्षणमन्यतोपपत्तेर्भिन्नकालत्वात्। सकृदेकत्र नानागुणानामसंभवात् संभवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रसंगात् तेषामात्मरूपस्य च भिन्नत्वात् तदभेदे तद्भेदविरोधात्। स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात् अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात्। संबन्धस्य च संबन्धिभेदेन भेददर्शनात् नानासंबन्धिभिरेकत्रैकसंबन्धाघटनात्। तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात्। गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात् तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसंगात्। संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गभेदात्। तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात्। शब्दस्य च प्रतिविषयं-नानात्वात् गुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैफल्यात्। —वे कालादिक—काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द इस प्रकार आठ हैं। १. तहाँ जीवादिक वस्तु कथंचित् हैं ही। इस प्रकार इस पहले भंगमें ही जो अस्तित्वका काल है, वस्तुमें शेष बचे हुए अनन्त धर्मोंका भी वही काल है। इस प्रकार उन अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मोंकी कालकी अपेक्षासे अभेद वृत्ति हो रही है। २. जो ही उस वस्तुके गुण हो जाना अस्तित्वका अपना स्वरूप है, वही उस वस्तुके गुण हो जानापना अन्य अनन्तगुणोंका भी आत्मीय रूप है। इस प्रकार आत्मीय स्वरूप करके अनन्तधर्मोंकी परस्परमें अभेद वृत्ति है। ३. तथा जो ही आधार द्रव्य नामक अर्थ 'अस्तित्व'का है वही द्रव्य अन्य पर्यायोंका भी आश्रय है, इस प्रकार एक आधाररूप अर्थपनेसे सम्पूर्ण धर्मोंके आधेयपनेकी वृत्ति हो रही है। ४. एवं जो ही पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकना रूप कथंचित् तादात्म्य स्वरूप सम्बन्ध अस्तित्वका है वही अन्य धर्मोंका भी है। इस प्रकार धर्मोंका वस्तुके साथ अभेद वर्त रहा है।

५. और जो ही अपने अस्तित्वसे वस्तुको अपने अनुरूप रंग युक्त कर देना रूप उपकार अस्तित्व धर्म करके होता है, वे ही उपकार बचे हुए अन्य गुणों करके भी किया जाता है। इस प्रकार उपकार करके सम्पूर्ण धर्मोंका परस्परमें अभेद वर्त रहा है। ६. तथा जो ही गुणी द्रव्यका देश अस्तित्व गुणने घेर लिया है, वही गुणीका देश अन्य गुणोंका भी निवास स्थान है। इस प्रकार गुणिदेश करके एक वस्तुके अनेक धर्मोंकी अभेदवृत्ति है। ७. जो ही एक वस्तु स्वरूप करके अस्तित्व धर्मका संसर्ग है, वही शेष धर्मोंका भी संसर्ग है। इस रीतिसे संसर्ग करके अभेद वृत्ति हो रही है। ८. तथा जो ही अस्ति यह शब्द अस्तित्व धर्म स्वरूप वस्तुका वाचक है वही शब्द बचे हुए अनन्त अनन्त धर्मोंके साथ तादात्म्य रखनेवाली वस्तुका भी वाचक है। इस प्रकार शब्दके द्वारा सम्पूर्ण धर्मोंकी एक वस्तुमें अभेद प्रवृत्ति हो रही है।

यह अभेद व्यवस्था पर्यायस्वरूप अर्थको गौण करनेपर और गुणोंके पिण्डरूप द्रव्य पदार्थको प्रधान करनेपर प्रमाण द्वारा बन जाती है। १. किन्तु द्रव्यार्थिकके गौण करनेपर और पर्यायार्थिककी प्रधानता हो जानेपर तो गुणोंकी काल आदि करके आठ प्रकारकी अभेदवृत्ति नहीं सम्भवती है क्योंकि प्रत्येक क्षणमें गुण भिन्न-भिन्न रूपसे परिणत हो जाते हैं अतः भिन्न-भिन्न धर्मोंका काल भिन्न-भिन्न है। अथवा एक समय एक वस्तुमें अनेक गुण नहीं पाये जा सकते हैं। यदि बलात्कारसे अनेक गुणोंका सम्भव मानोगे तो उन गुणोंके आश्रय वस्तुका उतने प्रकारसे भेद हो जानेका प्रसंग होगा। अतः कालकी अपेक्षा अभेद वृत्ति न हुई। २. पर्यायदृष्टिसे उन गुणोंका आत्मरूप भी भिन्न है अन्यथा उन गुणोंके भेद होनेका विरोध है। ३. नाना धर्मोंका अपना-अपना आश्रय अर्थ भी नाना है अन्यथा एकको नाना गुणोंके आश्रयपनका विरोध हो जाता है। ४. एवं सम्बन्धियोंके भेदसे सम्बन्धका भी भेद देखा जाता है। अनेक सम्बन्धियों करके एक वस्तुमें एक सम्बन्ध होना नहीं घटता है। ५. उन धर्मों करके किया गया उपकार भी वस्तुमें न्यारा-न्यारा नियत होकर अनेक स्वरूप है। ६. प्रत्येक गुणकी अपेक्षासे गुणीका देश भी भिन्न-भिन्न है। यदि गुणके भेदसे गुणवाले देशका भेद न माना जायेगा तो सर्वथा भिन्न दूसरे अर्थके गुणोंका भी गुणीदेश अभिन्न हो जायेगा। ७. संसर्ग तो प्रत्येक संसर्गवालेके भेदसे भिन्न ही माना जाता है। यदि अभेद माना जायेगा तो संसर्गियोंके भेद होनेका विरोध है। ८. प्रत्येक विषयकी अपेक्षासे वाचक शब्द नाना होते हैं, यदि सम्पूर्ण गुणोंका एक शब्द द्वारा ही वाच्य माना जायेगा, तब तो सम्पूर्ण अर्थोंको भी एक शब्द द्वारा निरूपण किया जानेका प्रसंग होगा। ऐसी दशामें भिन्न-भिन्न पदार्थोंके लिए न्यारे-न्यारे शब्दोंका बोलना व्यर्थ पड़ेगा। (स्या. म./२३/२८४/१८); (स. भं. त./३३/६)

९. मोक्षमार्गकी अपेक्षा

पं. का./तं. प्र./१०६ मोक्षमार्गः···सम्यक्त्वज्ञानयुक्तमेव नासम्यक्त्वज्ञानयुक्तं चारित्रमेव नाचारित्रं, रागद्वेषपरिहीणमेव न रागद्वेषापरिहीणम्, मोक्षस्यैव न भावतो बन्धस्य, मार्ग एव नामार्गः, भव्यानामेव नाभव्यानां, लब्धबुद्धीनामेव नालब्धबुद्धीनां, क्षीणकषायत्वे भवत्येव न कषायसहितत्वे भवतीत्यष्टधा नियमोऽत्र द्रष्टव्यः। —मोक्षमार्ग सम्यक्त्व और ज्ञानसे ही युक्त है न कि असम्यक्त्व और अज्ञानसे युक्त, चारित्र ही है न कि अचारित्र, राग-द्वेष रहित हो ऐसा है—न कि राग-द्वेष सहित हो ऐसा, भावतः मोक्षका ही न कि बन्धका, मार्ग ही—न कि अमार्ग, भव्योंको ही—न कि अभव्योंको, लब्धबुद्धियोंको ही न कि अलब्ध बुद्धियोंको, क्षीणकषायपनेमें ही होता है—न कि कषाय सहितपनेमें होता है इस प्रकार आठ प्रकारसे नियम यहाँ देखना।

६. अवक्तव्य भंग निर्देश

१. युगपत् अनेक अर्थ कहने की असमर्थता

रा. वा./४/४२/१५/२५८/१३ अथवा वस्तुनि मुख्यप्रवृत्त्या तुल्यबलयोः परस्पराभिधानप्रतिबन्धे सति इष्टविपरीतनिर्गुणत्वापत्तेः विवक्षितोभयगुणत्वेनाऽनभिधानात् अवक्तव्यः। —शब्दमें वस्तुके तुल्य बल वाले दो धर्मोंका मुख्य रूपसे युगपत् कथन करनेकी शक्यता न होनेसे या परस्पर शब्द प्रतिबन्ध होनेसे निर्गुणत्वका प्रसंग होनेसे तथा विवक्षित उभय धर्मोंका प्रतिपादन न होनेसे वस्तु अवक्तव्य है। (श्लो. वा. २/१/६/५६/४८२/११)

पं. ध./उ./३१६ ततो वक्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः। तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते। ३१६। —निर्विकल्प वस्तुके कथनको अनिर्वचनीय होनेके कारण ज्ञानके द्वारा उन सामान्यात्मक गुणोंका उल्लेख करके उनका निरूपण किया जाता है।

२. वह सर्वथा अवक्तव्य नहीं

आप्त. मी./४६-५० अवक्तव्यचतुष्कोटिर्विकल्पोऽपि न कथ्यताम्। असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्यविशेषणम् ।४६। अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात् सर्वान्तैः परिवर्जितम्। वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ।४८। सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः। संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थविपर्ययात् ।४९। अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः। आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ।५०। —'चार प्रकारका विकल्प अवक्तव्य है' ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि सर्वथा अवक्तव्य होनेसे विशेषण-विशेष्य भावका अभाव होगा। इस प्रकार सर्व वस्तुओंको अवस्तुपनेका प्रसंग आवेगा ।४६। प्रश्न—यदि सर्व धर्मोंसे रहित वह अवस्तु अवक्तव्य है तो उसको आप अवस्तु भी कैसे कह सकते हैं? उत्तर—हमारे हाँ अवस्तु सर्वथा धर्मोंसे रहित नहीं है, बल्कि वस्तुके धर्मोंसे विपरीत धर्मोंका कथन करनेपर अवस्तु स्वीकार की जाती है ।४८। जिनके मतमें सर्व धर्म सर्वथा अवक्तव्य हैं उनके हाँ तो स्वपक्ष साधन और पर पक्ष दूषणका वचन भी नहीं बनता है, तब उन्हें तो मौन ही रहना चाहिए। 'वचन तो व्यवहार प्रवृत्ति मात्रके लिए होता है,' ऐसा कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि परमार्थसे विपरीत तथा उपचार मात्र कथन विपरीत होता है ।४९। हम तुमसे पूछते हैं कि वस्तु इसलिए अवक्तव्य है कि तुममें उसके कहनेकी सामर्थ्य नहीं है या इसलिए अवक्तव्य है कि उसका अभाव है, या इसलिए अवक्तव्य है कि तुम उसे जानते नहीं। तहाँ आदि और अन्त वाले दो पक्ष तो आप बौद्धोंके हाँ सम्भव नहीं है क्योंकि आप बुद्धको सर्वज्ञ मानते हैं। मध्यका पक्ष अर्थात् वस्तुका अभाव मानते हो तो छल पूर्वक घुमा-फिरा कर क्यों कहते हो स्पष्ट कहिए।

रा. वा./४/४२/१५/२५८/१७ स च अवक्तव्यशब्देन अन्यैश्च षड्भिर्वचनैः पर्यायान्तरविवक्षया च वक्तव्यत्वात् स्यादवक्तव्यः। यदि सर्वथा अवक्तव्यः स्यात् अवक्तव्य इत्यपि चावक्तव्यः स्यात् कुतो बन्धमोक्षादिप्रक्रियाप्ररूपणविधिः। —यह (वस्तु) अवक्तव्य शब्दके द्वारा अन्य छह भंगोंके द्वारा वक्तव्य होनेसे 'स्याद्' अवक्तव्य है सर्वथा नहीं। यदि सर्वथा अवक्तव्य हो जाये तो 'अवक्तव्य शब्दके द्वारा भी उसका कथन नहीं हो सकता। ऐसी दशामें बन्ध मोक्षादिकी प्रक्रियाका निरूपण निरर्थक हो जायेगा। (रा. वा./१/६/१०/४५/२६)

श्लो. वा. २/१/६/५६ पृ./पं. सकलवाचकरहितत्वादवक्तव्यं वस्तु युगपत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते, तच्च न सर्वथैवावक्तव्यमेवावक्तव्यशब्देनास्य वक्तव्यत्वादित्येके (४८०/२१) कथमिदानीं "अवाच्यैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते" इत्युक्तं घटते। सकृद्धर्मद्वयाक्रान्तत्वेनेव सत्त्वाद्येकैकधर्मसमाक्रान्तत्वेनाप्यवाच्यत्वे वस्तुनो वाच्यत्वाभावधर्मेणाक्रान्तस्यावाच्यपदेनाभिधानं न युज्यते इति व्याख्यानात् (४८१/२६)। —एक ही समयमें प्रधानपनसे विवक्षित किये गये सत्त्व और असत्त्व धर्मों करके चारों ओरसे घिरी हुई वस्तु अवस्थित हो रही है। वह सम्पूर्ण वाचक शब्दोंसे रहित है। अतः अवक्तव्य है और वह सभी प्रकारोंसे अवक्तव्य ही हो यह नहीं समझना, क्योंकि अवक्तव्य शब्द करके ही इसका वाचन हो रहा है। श्री समन्तभद्र स्वामीका कहना कैसे घटित होगा कि "अवाच्यता ही यदि एकान्त माना जायेगा तो अवाच्य इस प्रकारका कथन भी युक्त नहीं होता है" (आ. मी./५५) एक समयमें हो रहे धर्मोंसे आक्रान्तपने करके जैसे वस्तु अवाच्य है, उसी प्रकार सत्त्व, असत्त्व आदिमेंसे एक-एक धर्मसे आरूढपने करके भी वस्तुको यदि अवाच्य माना जायेगा तो वाच्यत्वाभाव नामके एक धर्म करके घिरी हुई वस्तुका अवाच्य पद करके कथन करना नहीं युक्त हो सकता है। (स्या. मं./२३/२८१/३); (स. भं. त./६६/१०)

स. भं. त./७३/३ एवमवक्तव्यमेव वस्तुतत्त्वमित्यवक्तव्यत्वैकान्तोऽपि स्ववचनपराहतः, सदामौनव्रतिकोऽहमितिवत्। —जो यह कहते हैं कि सर्वथा अवक्तव्य रूप ही वस्तु स्वरूप है, उनका कथन स्ववचन विरोध है जैसे—मैं सदा मौनव्रत धारण करता हूँ।

३. कालादिकी अपेक्षा वस्तु धर्म अवक्तव्य है

रा. वा./४/४२/१५/२५७/११ द्वाभ्यां प्रतियोगिभ्यां गुणाभ्यामवधारणात्माभ्यां युगपदेकस्मिन् काले एकेन शब्देन एकस्यार्थस्य कृत्स्नस्यैवाभेदरूपेणाभिधित्सा तदा अवाच्यः तद्विधार्थस्य वृत्तिः, न च तैरभेदोऽत्र संभवति। के पुनस्ते कालादयः। काल आत्मरूपमर्थः संबन्धः उपकारो गुणिदेशः संसर्गः शब्द इति। तत्र येन कारणेन विरुद्धा भवन्ति गुणास्तेषामेकस्मिन् काले क्वचिदेकवस्तुनि वृत्तिर्न दृष्टा अतस्तयोर्नास्ति वाचकशब्दः तथावृत्त्यभावात्। अत एकस्मिन्नात्मनि सदसत्त्वे प्रविभक्ते असंसर्गात्मरूपे अनेकान्तरूपे न स्तः। एककाले येनात्मा तथोच्येत ताभ्यां विविक्तं च परस्परतः आत्मरूपं गुणानां नान्योन्यात्मनि वर्तते, यत उभाभ्यां युगपदभेदेनोच्येत। न च विरुद्धत्वात् सदसत्त्वादीनाम् एकान्तपक्षे गुणानामेकद्रव्याधारा वृत्तिरस्ति यतः अभिन्नाधारत्वेनाभेदो युगपद्भावः स्यात्, येन केनचित् शब्देन वा सदसत्त्वे उच्येयाताम्। न च संबन्धतोऽभिन्नता गुणानां संभवति भिन्नत्वात् संबन्धस्य। यथा छत्रदेवदत्तसंबन्धोऽन्यः दण्डदेवदत्तसंबन्धात्।...न च गुणा उपकारेणाभिन्नाः, यतो द्रव्यस्य गुणाधीन उपकारो नीलरक्ताद्युपरञ्जनम्, ते च स्वरूपतो भिन्नाः।...न चैकान्तपक्षे गुणानां संसृष्टमनेकात्मकं रूपमस्ति अवधृतैकान्तरूपत्वात् सत्त्वासत्त्वादेर्गुणस्य। यदा शबलरूपव्यतिरिक्तौ...शुक्लकृष्णौ गुणौ असंसृष्टौ नैकस्मिन्नर्थे सह वर्तितुं समर्थौ अवधृतरूपत्वात्, अतः ताभ्यां संसर्गाभावात् एकान्तपक्षे न युगपदभिधानमस्ति अर्थस्य तथा वर्तितुं शक्त्यभावात्...न चैकः शब्दो द्वयोर्गुणयोः सहवाचकोऽस्ति। यदि स्यात् सच्छब्दः स्वार्थवदसदपि सत्कुर्यात् असच्छब्दोऽपि स्वार्थवत् सदपि असत्कुर्यात्, न च तथा लोके संप्रत्ययोऽस्ति तयोर्विशेषशब्दत्वात्। एवमुक्तात् कालादियुगपद्भावासंभवात्। शब्दस्य च एकस्य उभयार्थवाचिनोऽनुपलब्धेः अवक्तव्य आत्मा। —जब दो प्रतियोगी गुणोंके द्वारा अवधारण रूपसे युगपत् एक कालमें एक शब्दसे समस्त वस्तुके कहने की इच्छा होती है तो वस्तु अवक्तव्य हो जाती है क्योंकि वैसा शब्द और अर्थ नहीं है। गुणोंके युगपद्भावका अर्थ है कालादिकी दृष्टिसे अभेद वृत्ति। वे कालादि आठ हैं—काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द। जिस कारण गुण परस्पर विरुद्ध हैं अतः उनकी एक कालमें किसी एक वस्तुमें वृत्ति नहीं हो सकती अतः सत्त्व और असत्त्वका वाचक एक शब्द नहीं है एक वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व परस्पर भिन्न (आत्म) रूपमें हैं उनका एक स्वरूप नहीं है जिससे वे एक शब्दके द्वारा युगपत् कहे जा सकें। परस्पर विरोधी सत्त्व और असत्त्वकी एक अर्थमें वृत्ति भी नहीं हो सकती जिससे अभिन्न आधार मानकर अभेद और युगपद्भाव कहा जाये तथा किसी एक शब्दसे उनका प्रतिपादन हो सके। सम्बन्धसे भी गुणोंमें अभिन्नताकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध भिन्न होता है। देवदत्त और दण्डका सम्बन्ध यज्ञदत्त और छत्रके सम्बन्धसे जुदा है ही।...उपकार दृष्टिसे भी गुण अभिन्न नहीं हैं, क्योंकि द्रव्यमें अपना प्रत्यय या विशिष्ट व्यवहार कराना रूप उपकार प्रत्येक गुणका जुदा-जुदा है। जब शुक्ल और कृष्ण वर्ण परस्पर भिन्न हैं तब उनका संसृष्ट रूप एक नहीं हो

सकता जिससे एक शब्दसे कथन हो सके। कोई एक शब्द या पद दो गुणोंको युगपद् नहीं हो सकता। यदि कहे तो 'सत्' शब्द सत्त्वकी तरह असत्त्वका भी कथन करेगा। तथा 'असत्' शब्द सत्का। पर ऐसी लोक प्रतीति नहीं है, क्योंकि प्रत्येकके वाचक शब्द जुदा-जुदा हैं। इस तरह कालादि दृष्टिसे युगपत् भावकी सम्भावना नहीं है तथा उभय वाची कोई एक शब्द है नहीं अतः वस्तु अवक्तव्य है। श्लो. वा. २/१/६/५६/४७७/६)

सं.भं.त./पृष्ठ./पं. ननु कथमवक्तव्यो घटः, इति ब्रूमः। सर्वोऽपि शब्दः प्रधानतया न सत्त्वासत्त्वे युगपत्प्रतिपादयति. तथा प्रतिपादने शब्दस्य शक्त्यभावात्, सर्वस्य पदस्यैकपदार्थविषयत्वसिद्धेः (६०।६) सर्वेषां पदानामेकार्थत्वनियमे नानार्थकपदोच्छेदापत्तिः इति चेन्न,... सादृश्योपचारादेव तस्यैकत्वेन व्यवहरणात्···समभिरूढनयापेक्षया शब्दभेदाद्ध्रुवोऽर्थभेदः।...अन्यथा वाच्यवाचकनियमव्यवहार-विलोपात् (६१/१) सेनावनयुद्धपङ्क्तिमालापालकग्रामनगरादिशब्दा-नामनेकार्थप्रतिपादकत्वं दृष्टमिति चेन्न। करितुरगरथपदातिसमूह-स्यैवैकस्य सेनाशब्देनाभिधानात् (६४/१) वृक्षावितिपदं वृक्षद्वय-बोधकं वृक्षा इति च बहुवृक्षबोधकम्···लुप्तावशिष्टशब्दयोः साम्याद् वृक्षरूपार्थस्य समानत्वाच्चैकत्वोपचारात्तत्रैकशब्दप्रयोगोपपत्तिः। (६४/५) वृक्षपदेन वृक्षरूपैकधर्मावच्छिन्नस्यैव बोधो नान्यधर्मा-वच्छिन्नस्य (६६/२) द्वन्द्वस्यापि क्रमेणैवार्थद्वयप्रत्यायनसमर्थत्वेन गुणप्रधानभावस्य तत्रापि सत्त्वात्।६८/३)। —प्रश्न—घट अवक्तव्य कैसे है? उत्तर—सर्व ही शब्द एक कालमें ही प्रधानतासे सत्त्व और असत्त्व दोनोंका युगपत् प्रतिपादन नहीं कर सकते, क्योंकि उस प्रकारसे प्रतिपादन करनेकी शब्दमें शक्ति नहीं है क्योंकि सर्व ही शब्दोंमें एक ही पदार्थको विषय करना सिद्ध है। प्रश्न—सर्व ही शब्दोंको एकार्थवाची माना जाये तो अनेकार्थवाची शब्दोंका अभाव हो जायेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसे शब्द वास्तवमें अनेक ही होते हैं परन्तु केवल सादृश्यके उपचार से ही उनमें एकपनेका व्यवहार होता है। समभिरूढ नयकी अपेक्षा शब्द भेद होनेपर अवश्य ही अर्थ का भेद हो जाता है अन्यथा वाच्य-वाचकपनेके नियमका व्यवहार नहीं हो सकता। प्रश्न—सेना, वन, युद्ध, पंक्ति, माला, तथा पालक इत्यादि शब्दोंकी अनेकार्थवाचकता इष्ट है? उत्तर—नहीं, क्योंकि हस्ति, अश्व, रथ व पयादोंके समूह रूप एक ही पदार्थ सेना शब्दसे कहा जाता है। प्रश्न—'वृक्षौ' कहनेसे दो वृक्षोंका तथा वृक्षाः कहनेसे बहुतसे वृक्षोंका ज्ञान कैसे हो सकेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि वहाँ भी अनेक शब्दोंके द्वारा ही अनेक वृक्षोंका अभिधान होता है। किसी एक शब्दसे अनेकार्थका बोध नहीं होता। व्याकरणके नियमानुसार शेष शब्दोंका लोप करके केवल एक ही शब्द शेष रहता है। लुप्त शब्दोंकी अवशिष्ट शब्दके साथ समानता होनेसे उनमें एकत्वका उपचार मानकर एक ही शब्दका प्रयोग कर दिया जाता है। तथा बहुवचनान्त वृक्ष पदसे भी वृक्षत्व रूप एक धर्मसे अवच्छिन्न एक-एक वृक्षका ही भाव होता है, किसी, अन्य धर्मसे अवच्छिन्न पदार्थका नहीं। प्रश्न—बहुवचनान्त पद बहुत्व और वृक्षत्व ऐसे अनेक धर्मोंसे अवच्छिन्न वृक्षका ज्ञान होनेके कारण उपरोक्त भंग हो जाता है? उत्तर—यद्यपि आपका कहना ठीक है परन्तु यहाँ प्रथम वृक्ष शब्द एक वृक्षत्व रूप धर्मसे अवच्छिन्न अर्थका ज्ञान कराता है और तत् पश्चात् लिंग और संख्याका। इस प्रकार शब्द जन्य ज्ञान क्रमसे ही होता है। और इसलिए 'वृक्षाः' इत्यादि पदसे वृक्षत्व धर्मसे अवच्छिन्न पदार्थका बोध तो प्रधानतासे होता है, परन्तु लिंग तथा बहुत्व संख्याका गौणतासे। और इस प्रकार मुख्यता और गौणता द्वन्द्व समासमें भी विवक्षित है क्योंकि वह भी क्रमसे दो या अधिक पदार्थोंको बोध करानेमें समर्थ है।

४. सर्वथा अवक्तव्य कहना मिथ्या है

स्व. स्तो./१०० ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः। त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः। —वे एकान्तवादी जन उस स्वघाती दोषको दूर करनेके लिए असमर्थ हैं, आपसे द्वेष रखते हैं, आत्म घाती हैं और उन्होंने तत्त्वकी अवक्तव्यताको आश्रित किया है। १००।

५. वक्तव्य व अवक्तव्यका समन्वय

स. भं. त./७०/७ अयं खलु तदर्थः सत्त्वाद्यैकैकधर्ममुखेन वाच्यमेव वस्तु युगपत्प्रधानभूतसत्त्वासत्त्वोभयधर्मावच्छिन्नत्वेनावाच्यम्। —सत्त्वा-दिधर्मोंमेंसे किसी एक धर्मके द्वारा पदार्थ वाच्य है, वही सत्त्व, असत्त्व उभय धर्मसे अवाच्य है।

पं.ध./उ./६६३-६६५ तदभिज्ञानं हि यथा वक्तुमशक्यात् समं नयस्य यतः। अपि तुर्यो नयभङ्गस्तत्त्वावक्तव्यतां श्रितस्तस्मात्। ६६३। न पुनर्व-क्तुमशक्यं युगपद्धर्मद्वयं प्रमाणस्य क्रमवर्ती। केवलमिह नयः प्रमाणं न तद्वदिह यस्मात्।६६४। यत्किल पुनः प्रमाणं वक्तुमलं वस्तुजातमिह यावत्। सदसदनेकैकमथो नित्यानित्यादिकं च युगपदिति।६६५।—जिस कारणसे दो धर्मोंको नय कहनेमें असमर्थ है, तिस कारण तत्त्व-की अवक्तव्यताको आश्रित करने वाला चौथा भी नय भंग है।६६३। किन्तु प्रमाणको एक साथ दो धर्मोंका प्रतिपादन करना अशक्य नहीं है, क्योंकि यहाँ केवल नय क्रमवर्ती है किन्तु प्रमाण नहीं। और निश्चयसे प्रमाण सत्-असत्, एक-अनेक और नित्य-अनित्य वगैरह सम्पूर्ण वस्तुके धर्मोंको एक साथ कहनेके लिए समर्थ है।६६४-६६५।

पं.ध./पू./३९६ ततो वक्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः। तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञान द्वारा निरूप्यते।३९६।—इसलिए निर्विकल्पक वस्तुके कथनको अनिर्वचनीय होनेके कारण ज्ञानके द्वारा उन सामान्यात्मक गुणोंका उल्लेख करके उनका निरूपण किया जाता है।

सप्तभंगी तरंगिणी—विमलदास (श्रावक) (ई.श. १४-१५) कृत संस्कृत भाषाका न्याय विषयक ग्रन्थ।

सप्त व्यसन—दे. व्यसन।

सप्त व्यसन चारित्र—पं. मनरंग लाल (ई. १८५० -१८६०) द्वारा रचित भाषा छन्द बद्ध कथा।

सप्तांक—असंख्यात गुणवृद्धिकी सप्तांक संज्ञा है।
—दे. श्रुतज्ञान।II/२/३।

सप्रतिपक्षी—सत सदा अपने प्रतिपक्षीकी अपेक्षा रखता है।
—दे. अनेकान्त।४।

सप्रतिपक्षी प्रकृतियाँ—दे. प्रकृतिबन्ध/२।

सप्रतिपक्षी हेत्वाभास—जिस हेतुका प्रतिपक्षी साधन मौजूद हों।

समंतभद्र—शिलालेखों तथा शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर ती./२/पृ. नं.···आपको श्रुतकेवलियों के समकक्ष/१७१। प्रथम जैन संस्कृत कवि एवं स्तुतिकार, वादी, वाग्मी, गमक, तार्किक/१७२ तथा युग संस्थापक माना गया है। १७४। आप उरगपुर (त्रिचना-पल्ली) के नागवंशी चोल नरेश कीलिक वर्मन के कनिष्ठ पुत्र शान्ति वर्मन होने क्षत्रियकुलोत्पन्न थे। १८३। श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. ५४, राजावलिक थे, आराधना कथाकोष। १७६-१७७। तथा प्रभाचन्द्र कृत कथाकोष के अनुसार आपको भस्मक व्याधि हो गई थी। धर्म तथा साहित्य को इनसे बहुत कुछ प्राप्त होने वाला है यह जानकर गुरु ने इन्हें समाधिमरण की आज्ञा न देकर लिंगछेद की आज्ञा दी। अतः आप पहले पुण्ड्रवर्द्धन नगर में बौद्ध भिक्षुक हुए, फिर दशपुर नगर में परिव्राजक हुए और अन्त में दक्षिण देशस्थ काञ्ची नगर में शैव तापसी बनकर वहाँ के राजा शिवकोटि के शिवालय में रहते हुये शिव पर चढ़े नैवेद्यका भोग करने लगे। पकड़े

जाने पर आपने स्वयम्भू स्तोत्र के पाठ द्वारा शिवलिंग में से चन्द्रप्रभु भगवान् की प्रतिमा प्रगट की जिससे प्रभावित होकर शैवराज शिवकोटि दीक्षा धारण कर उनके शिष्य हो गए। १७७।

आपकी रचनाओं में ११ प्रसिद्ध हैं—१. बृहत् स्वयम्भू स्तोत्र २. स्तुति विद्या (जिनशतक), ३. देवागम स्तोत्र (आप्त मीमांसा), ४. युक्त्यनुशासन, ५. तत्त्वानुशासन, ६. जीवसिद्धि, ७. प्रमाण पदार्थ, ८. कर्म प्राभृत टीका, ९. गन्धहस्तिमहाभाष्य, १०. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ११. प्राकृतव्याकरण। १२. षट्खंडागम के आद्य पाँच खंडों पर एक टीका भी बताई जाती है, परन्तु अधिकतर विद्वान् इसे प्रमाणित नहीं मानते (क. पा./१/प्र. ६१/पं. महेन्द्र), (म. बा./प्र.४/प्रेमी जी), (यु. अनु./प्र. ४४/पं. मुख्तार साहब), (ष. १/प्र. ५०/H. L. Jain), (प. प्र./प्र. १२१/उपाध्ये.), (स. सि./प्र.-१७/पं. महेन्द्र), (ह. पु./प्र. ६/पं. पन्नालाल) इत्यादि।

बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति के समकालीन बताकर डा. सतीशचन्द्र विद्याभूषण इन्हें ई. ६०० में स्थापित करते हैं। १८१। रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक ६ को सिद्धसेन गणी कृत न्यायावतार में से आगत बताकर श्वेताम्बर विद्वान् पं. सुख लाल जी इन्हें इसी समय में हुआ मानते हैं। प्रेमी जी तथा डा. हीरा लाल इन्हें ई. श. ६ में कल्पित करते हैं। १८२। परन्तु मानवंशी चोल नरेश कीलिकवर्मन के अनुसार ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर डा. ज्योति प्रसाद इन्हें ई. १२०-१८५ में और मुख्तार साहब तथा डा. महेन्द्र कुमार ई. श. २ में प्रतिष्ठित करते हैं। १८३। परन्तु ऐसा मानने पर श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. ४० में इन्हें जो गृद्धपिच्छ (उमास्वामी) के प्रशिष्य और बलाक पिच्छ के शिष्य कहा गया है। १८०। वह घटित नहीं हो सकता। (ती./२/पृष्ठ सं.···) (दे. इतिहास/७/१)।

समंतानुपात क्रिया—दे. क्रिया/३/२।

सम—स. सा/आ/२ समयत एकत्वेन···। —समयत अर्थात् एकत्व रूपसे। (स. सा./आ./३)।

गो. क./जी. प्र./५४७/७१३/५ सम एकीभावेन। —सम अर्थात् एकीभावसे···।

दे. सामायिक/१/२ घी संगत है अर्थात् घीके साथ एकीभूत है।

समकित चौबीसी व्रत—एक वर्ष पर्यन्त प्रत्येक चतुर्दशीको उपवास करे। तथा 'ओं ह्रीं वृषभादि चतुर्विंशतिजिनाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप। कुल ४८ उपवास करे।

समकेंद्रिय—Concentric (ध./५/प्र. २८)।

समचतुरस्र संस्थान—दे. संस्थान।

समच्छिन्नक—Frustrum (ज./प्र./१०८)।

समच्छेद—गणितकी भिन्न परिकर्माष्टक विधिमें अंशों और हरोंको यथायोग्य गुणा करके सब राशियोंके हार समान करना। विशेष—दे. गणित/II/१/१०।

समता—१. दे. सामायिक। २. समताके अपर नाम—दे. मोक्षमार्ग/२/५।

समतोया—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

समदत्ति—दे. दान/२।

समद्विबाहु—Squaloidral (ज. पं./प्र. १०८)

समधारा—दे. गणित/II/५/२।

समन्वय—भिन्न-भिन्न विषयोंके अनेकों विकल्पोंका परस्पर समन्वय—दे. बहु-बहु विषय।

समभिरूढ नय—दे. नय/III/७।

समय—१. समय सामान्यके लक्षण

१. कालके अर्थमें

ति. प./४/२८५ परमाणुस्स णियट्ठिदगयणपदेसस्स दिक्कमणमेत्तो। जो कालो अविभागी होदि पुढं समयणामा सो।२८५। —पुद्गल परमाणुका निकटमें स्थित आकाश प्रदेशके अतिक्रमण प्रमाण जो अविभागी काल है वही समय नामसे प्रसिद्ध है। (ध. ४/१,५,१/३१८/२); (न. च. वृ./१४०); (गो. जी./मू. व. जी. प्र./५७३/१); (पं. का./ता. वृ./२५); (पं. का./ता. वृ./२५/५२/१)

रा. वा./४/३८/७/२०८/१४ सर्वजघन्यपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाहामकाशप्रदेशव्यतिक्रमकालः परमनिरुद्धो निर्विभागः समयः। —जघन्यगतिसे एक परमाणु सटे हुए द्वितीय परमाणु तक जितने काल में जाता है उसे समय कहते हैं।

दे. काल/१ काल समय और अद्धा ये एकार्थवाची हैं।

ध. १३/५,५,५९/२९८/११ दोण्णं परमाणूणं तप्पाओग्गवेगेण उड्ढमधो च गच्छंताणं सरीरेहि अण्णोण्णफोसणकालो समओ णाम। —तत्प्रायोग्य वेगसे एकके ऊपरकी ओर और दूसरेके नीचेकी ओर जानेवाले दो परमाणुओंका उनके शरीर द्वारा स्पर्शन होनेमें लगनेवाला काल समय कहलाता है। (गो. जी./मू./५७३)।

गो. जी./मू./५७१ अवरा पज्जायट्ठिदी खणमेत्तं होदि तं च समओत्ति। —सम्पूर्ण द्रव्योंकी जघन्य पर्याय स्थिति एक समयमात्र होती है, इसीको समय भी कहते हैं।

२. आत्माके अर्थमें

स. सा./आ./२ जीवनाम पदार्थः स समयः, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः। —जीव नामक पदार्थ समय है। जो एकत्व रूपसे एक ही समयमें जानता तथा परिणमता हुआ वह समय है।

स.सा./आ./३ समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः। —समय शब्दसे सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि व्युत्पत्तिके अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभावसे अपने गुणपर्यायोंको प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो समय है। (स. सा./ता. वृ./१५१/२१४/११)

स. सा./ता. वृ./१५१/२१४/११ सम्यगयः संशयादिविरहितो बोधो ज्ञानं यस्य भवति स समयः अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समयः। —'सम्यगयः' अर्थात् संशय आदि रहित ज्ञान जिसका होता है ऐसा जीव समय है। अथवा एकीभावरूपसे परमसमरसी भाव स्वरूप अपने शुद्ध स्वरूपमें गमन करना, परिणमन करना सो समय है।

स.सा./पं. जयचन्द/२ 'सम' उपसर्ग है, जिसका अर्थ 'एक साथ' है और 'अय गतौ' धातु है, जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है, इसलिए एक साथ ही जानना और परिणमन करना, यह दोनों क्रियाएँ जिसमें हों वह समय है। यह जीव नामक पदार्थ एक ही समयमें परिणमन भी करता है और जानता भी है इसलिए वह समय है।

३. पदार्थसमूहके अर्थमें

पं. का./मू./३ समवाओ पंचण्ह समउ त्ति जिणुत्तमेहि पण्णत्तं।···। —पाँच अस्तिकायका समभावपूर्वक निरूपण अथवा उनका समवाय वह समय है।

दे. समय/१/२ समय शब्दसे सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं।

४. सिद्धान्तके अर्थमें

स्या. म. ३०/३३५/१२ सम्यक् एति गच्छति शब्दोऽर्थमनेन इति "पुन्नाम्नि घः" समयसंकेतः। यद्वा सम्यग् अवैपरीत्येन ईयन्ते ज्ञायन्ते जीवाजीवादयोऽथवा अनेन इति समयः सिद्धान्तः। अथवा सम्यग् अयन्ते गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः स्वरूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन् इति समय आगमः।...उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समयः। —जिससे शब्दका अर्थ ठीक-ठीक मालूम हो सो समय है अर्थात् संकेत। यहाँ सम-इ धातुसे 'पुंनाम्नि घः' इस सूत्रसे समय शब्द बनता है। अथवा जिससे जीव, अजीव आदि पदार्थोंका भले प्रकारसे ज्ञान हो ऐसा सिद्धान्त समय है। अथवा जिसमें जीव आदिक पदार्थोंका ठीक-ठीक वर्णन हो ऐसा आगम समय है। अथवा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यके सिद्धान्तको समय कहते हैं।

५. सामायिकके अर्थमें

दे. सामायिक/३/१/२ ज्ञानी पुरुष मुठी वा वस्त्र बाँधनेको, पलाठी मारने आदिको अथवा सामायिक करने योग्य समयको जानते हैं।

२. शब्द अर्थ व ज्ञान समय

पं. का./त प्र./३ तत्र च पञ्चानामस्तिकायानां समो मध्यस्थो रागद्वेषाभ्यनुपहतो वर्णपदवाक्यसंनिवेशविशिष्टः पाठो वादः शब्दसमयः शब्दागम इति यावत्। तेषामेव मिथ्यादर्शनोदयोच्छेदे सति सम्यग्वायः परिच्छेदो ज्ञानसमयो ज्ञानागम इति यावत्। तेषामेवाभिधानप्रत्ययपरिच्छिन्नानां वस्तुरूपेण समवायः संघातोऽर्थसमयः सर्वपदार्थसार्थ इति यावत्। —सम् अर्थात् मध्यस्थ यानी जो राग-द्वेषसे विकृत नहीं हुआ, वाद अर्थात् वर्ण पद और वाक्यके समूह-वाला पाठ। पाँच अस्तिकायका 'समवाय' अर्थात् मध्यस्थ पाठ वह शब्दसमय है अर्थात् शब्दागम वह शब्द समय है। मिथ्यादर्शनके उदयका नाश होनेपर, उस पंचास्तिकायका ही सम्यग् अवाय अर्थात् सम्यग्ज्ञान वह ज्ञान समय है अर्थात् ज्ञानागम वह ज्ञान समय है। कथनके निमित्तसे ज्ञात हुए उस पंचास्तिकायका ही वस्तु रूपसे समवाय अर्थात् समूह वह अर्थसमय है।

३. स्व व परसमय

र. सा./मू./१४७ बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णए जिणिंदेहिं। परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे।१४७। —जिनेन्द्र देवने बहिरात्मा, अन्तरात्माको परसमय बतलाया है। तथा परमात्माको स्वसमय बतलाया है। इनके विशेष भेद गुणस्थानकी अपेक्षा समझने चाहिए।

दे. मिथ्यादृष्टि/१/१ मिथ्यादृष्टि परसमय रत है।

स. सा./मू./२ जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण। पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं।२। —हे भव्य, जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें स्थित हो रहा है वह निश्चयसे स्वसमय जानो और जीव पुद्गल कर्मके प्रदेशोंमें स्थित है उसे पर-समय जानो।

प्र. सा./मू./९४ जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा। आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा। —जो जीव पर्यायोंमें लीन हैं उन्हें परसमय कहा गया है (प्र. सा./मू./९३) जो आत्म-स्वभावमें लीन हैं वे स्वसमय जानने।

पं. का./मू./१५५ जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओघपरसमओ। जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो। —जीव (द्रव्य अपेक्षासे) स्वभाव नियत होनेपर भी, यदि अनियत गुणपर्याय-वाला हो तो पर समय है। यदि वह (नियत गुणपर्यायसे परिणत होकर) स्वसमयको करता है तो कर्मबन्ध करता है।

पं. का./मू. व ता. वृ./१६५ उत्थानिका—सूक्ष्मपरसमयस्वरूपाख्यानमेतत्। —अण्णाणदो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो। हवदि त्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो।१६५। कश्चित्पुरुषो निर्विकारशुद्धात्मभावनालक्षणे परमोपेक्षा संयमे स्थातुमीहते तत्राशक्त. सन् कामक्रोधाद्यशुद्धपरिणामवञ्चनार्थं संसारस्थितिछेदनार्थं वा यदा पञ्चपरमेष्ठिषु गुणस्तवनभक्ति करोति तदा सूक्ष्मपरसमयपरिणतः सन् सरागसम्यग्दृष्टिर्भवतीति, यदि पुनः शुद्धात्मभावनासमर्थोऽपि तां त्यक्त्वा शुभोपयोगादेव मोक्षो भवतीत्येकान्तेन मन्यते तदा स्थूलपरसमयपरिणामेनाज्ञानी मिथ्यादृष्टिर्भवति। ततः स्थितं अज्ञानेन जीवो नश्यतीति। —यह सूक्ष्म पर-समयके स्वरूपका कथन है। शुद्धसंप्रयोगसे दुख मोक्ष होता है ऐसा यदि अज्ञानके कारण ज्ञानी माने तो वह परसमयरत जीव है।१६५। कोई पुरुष निर्विकार शुद्धात्म भावना है लक्षण जिसका ऐसे परमोपेक्षा संयममें स्थित होनेकी इच्छा करता है परन्तु अशक्त होता हुआ, जब काम-क्रोधादि अशुद्ध परिणामोंसे बचनेके लिए तथा संसार स्थितिके विनाशके लिए पंचपरमेष्ठीके गुणस्तवन आदि रूप भक्ति करता है, तब सूक्ष्म परसमयसे परिणत होता हुआ सराग सम्यग्दृष्टि होता है। और यदि शुद्धात्म भावनामें समर्थ होनेपर भी उसको छोड़ कर, शुभोपयोगसे ही मोक्ष होता है ऐसा मानता है, तब वह स्थूल परसमय रूप परिणामसे अज्ञानी व मिथ्यादृष्टि होता है। अतः सिद्ध हुआ कि अज्ञान से जीव का नाश होता है।

★ परसमय निर्देश

समयप्रबद्ध—१. समयप्रबद्ध सामान्य

ध. १२/४,२,१४,२/४७८/७ समये प्रबध्यत इति समयप्रबद्धः। —एक समयमें जो बाँधा जाता है वह समय-प्रबद्ध है।

गो. जी./जी. प्र./२४५/५०६/४ समये समयेन वा प्रबध्यतेस्म कर्म-नोकर्मरूपतया आत्मना संबध्यते स्म यः पुद्गलस्कन्धः स समय-प्रबद्धः। —जो समय-समयमें कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल स्कन्धोंका आत्मसे सम्बन्ध किया जाता है वह समय प्रबद्ध है।

२. समयप्रबद्ध विशेष

कर्म-नोकर्म समयप्रबद्ध

गो. जी./जी. प्र./२४५/५०६/४ सिद्धानन्तैकभागाभव्यराश्यनन्तप्रमिता-नन्तवर्गणाभिर्नियमेनैकसमयप्रबद्धो भवति।

गो. जी./जी. प्र./२४६/५१०/११ सर्वतः स्तोकः औदारिकसमयप्रबद्धः। ...ततः श्रेण्यसंख्येयभागगुणितपरमाणुप्रमितो वैक्रियिकशरीर-समयप्रबद्धः। ततः संख्येयभागगुणितपरमाणुप्रमितः आहारकशरीर-समयप्रबद्धः। ...अग्रे तैजसशरीरसमयप्रबद्धोऽनन्तगुणपरमाणु-प्रमितः। —१. सिद्धोंके अनन्तवे भाग तथा अभव्योंसे अनन्तगुणे ऐसे मध्य अनन्तानन्त प्रमाण वर्गणाओंसे नियमसे एक समयप्रबद्ध होता है। २. औदारिक शरीरका समयप्रबद्ध सबसे कम है। इससे श्रेणीके असंख्यातवें भाग गुणित परमाणु प्रमाण समयप्रबद्ध वैक्रियक शरीरका है। और उससे भी श्रेणीके असंख्यातवें भागसे गुणित परमाणु प्रमाण समय-प्रबद्ध आहारक शरीरका है। इससे आगे तैजस व कार्मण शरीरका समयप्रबद्ध क्रमशः अनन्तगुणा अनन्तगुणा है।

२. नवक समयप्रबद्ध

गो. क./भाषा./५१४/६७२/१ जिनका बन्ध भये थोड़ा काल भया, संक्रमणादि करने योग्य जे निषेक न भये ऐसे नूतन समयप्रबद्धके निषेक तिनिका नाम नवकसमय प्रबद्ध है।

समयभूषण—आ. इन्द्रनन्दि (ई. श. १०-११) की रचना।

समय सत्य—दे. सत्य/१।

समयसार—१. समयसार सामान्यका लक्षण

न. च. वृ./३५५ सामण्णं परिणामी जीवसहावं च परमसब्भावं। उज्झेयं गुज्झं परमं तहेव तच्चं समयसारं ।३५५। —सामान्य, परिणामी, जीवस्वभाव, परमस्वभाव, ध्येय, गुह्य, परम तथा तत्त्व ये सब समयसारके अपर नाम हैं ।३५५।

२. कारण-कार्य समयसार निर्देश

न. च. वृ./३६०-३६२ कारणकज्जसहावं समयं णाऊण होइ ज्झायव्वं। कज्जं सुद्धसरूवं कारणभूदं तु साहणं तस्स ।३६०। सुद्धो कम्मखयादो कारणसमओ हु जीवसब्भावो। खय पुणु सहावझाणे तह्मा तं कारणं झेयं ।३६१। किरियातीदो सत्थो अणंतणाणाइसंजुतो अप्पा। तह मज्झत्थो सुद्धो कज्जसहावो हवे समओ ।३६२। —कारण व कार्य समयसारको जानकर ध्यान करना चाहिए। कार्य समयसार शुद्धस्वरूप है तथा कारण समयसार उसका साधन है ।३६०। शुद्ध तथा कर्मोंके क्षयसे कार्य समयसार होता है। कारणसमयसार जीवका स्वभाव है, स्वभावके ध्यान करनेसे कर्मोंका क्षय होता है। इसलिए कारणसमयसारका ध्यान करना चाहिए ।३६१। क्रियातीत, प्रशस्त, अनन्त ज्ञानादिसे संयुक्त मध्यस्थ तथा शुद्ध आत्मा, कार्यसमयसार है। वही स्वभाव तथा समय है।

प्र. सा./ता. वृ./६५/१२४/१६ शुद्धात्मस्वरूपपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशे सति शुद्धात्मोपलम्भव्यक्तिरूपकार्यसमयसारस्योत्पादः। —शुद्धात्मा रूप परिच्छित्ति, उस ही की निश्चल अनुभूति रूप जो कार्य समयसार पर्याय, उसका विनाश होनेपर, शुद्धात्मोपलब्धिकी व्यक्तिरूप कार्यसमयसारका उत्पाद है।

द्र. सं./टी./२८/८४/५ केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपेण कार्यसमयसारस्योत्पादो निर्विकल्पसमाधिरूपकारणसमयसारस्य विनाशः...। —केवलज्ञानादिकी प्रगटता रूप कार्यसमयसारका उत्पाद होता है उसी समय निर्विकल्प ध्यान रूप जो कारणसमयसार है उसका विनाश होता है।

द्र. सं./टी./३७/१५४/१ निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसाररूपो... आत्मनः परिणामः...चतुष्टयकर्मणो यः क्षयहेतुरिति। —निश्चय रत्नत्रयरूप कारणसमयसाररूप आत्म परिणाम...चारघातिया कर्मोंके नाशका कारण है।

३. कारण-कार्य समयसारके उदाहरण

न. च. वृ./३६८ चूलिका—सकलसमयसारार्थं परिगृह्य पराश्रितोपादेयवाच्यवाचकरूपं पञ्चपदाश्रितं श्रुतं कारणसमयसारः। भावनमस्काररूपं कार्यसमयसारः। तदाधारेण चतुर्विधधर्मध्यानं कारणसमयसारः। तदनन्तरं प्रथमशुक्लध्यानं द्विचत्वारिंशभेदरूपं पराश्रितं कार्यसमयसारः। तदाश्रितभेदज्ञानं कारणसमयसारः। तदाधारीभूतं पराङ्मुखाकारस्वसंवेदनभेदरूपं कार्यसमयसारः।...स्वाश्रितस्वरूपनिरूपकं भावनिराकाररूपं सम्यग्द्रव्यश्रुतं कारणसमयसारः। तदेकदेशसमर्थो भावश्रुतं कार्यसमयसारः। ततः स्वाश्रितोपादेयभेदरत्नत्रयं कारणसमयसारः। तेषामेकत्वावस्था कार्यसमयसारः...ततः स्वाश्रितधर्मध्यानं कारणसमयसारः। ततः प्रथमशुक्लध्यानं कार्यसमयसारः। ततो द्वितीयशुक्लध्यानाभिधानकं क्षीणकषायस्य द्विचरमसमयपर्यन्तं कार्यपरम्परा कारणसमयसारः। एवमप्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यंतं समयं समयं प्रति कारणकार्यरूपं ज्ञातव्यम्। —आगमके आधारपर सकल समयसारके अर्थको ग्रहण करके, पराश्रितरूपसे उपादेयभूत तथा वाच्यवाचक रूपसे भेदको प्राप्त पंचपरमेष्ठीके वाचक शब्दोंके आश्रित जो श्रुतज्ञान होता है वह कारणसमयसार है और भाव नमस्कार कार्यसमयसार है। उसके आधारसे होनेवाला चार प्रकारका धर्मध्यान कारणसमयसार है, तथा तदनन्तर उत्पन्न होनेवाला बयालीस भेदरूप (बयालीस व्यंजनोंमें संक्रान्ति करनेवाला), पराश्रित प्रथम शुक्लध्यान कार्यसमयसार है। उसके आश्रय से होनेवाला भेदज्ञान कारण समयसार है। उसके आश्रय से होने वाला परोन्मुखाकार स्वसंवेदन रूप भेदज्ञान कार्य समयसार है। स्वाश्रितस्वरूपका निरूपक, निराकार तथा भावात्मक, सम्यक् द्रव्यश्रुत कारणसमयसार है, तथा उससे उत्पन्न एकदेशसमर्थ भावश्रुत कार्यसमयसार है। उसके आगे स्वाश्रितरूपसे उपादेय भेदरत्नत्रय कारणसमयसार है और उस रत्नत्रयमें एकात्मक अवस्था कार्यसमयसार है। उसके आगे स्वाश्रित धर्मध्यान कारणसमयसार है और उससे होनेवाला भावात्मक प्रथम शुक्लध्यान कार्यसमय है। उसके आगे द्वितीय शुक्लध्यान संज्ञाको प्राप्त जो क्षीणकषाय गुणस्थानका द्विचरम समय, तहाँ पर्यंत कार्य-परम्परागत कारणसमयसार है। इस प्रकार अप्रमत्त गुणस्थानको आदि लेकर क्षीण कषाय गुणस्थान पर्यन्त समय समय प्रति कारणकार्य रूप जानना चाहिए। (अर्थात् पूर्वपूर्वके भाव कारण समयसार हैं और उत्तर उत्तरके भाव कार्यसमयसार।)

समयसार—आ. कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) कृत महान् आध्यात्मिक कृति। इसमें ४१५ प्राकृत गाथाएँ निबद्ध हैं। इस पर निम्न टीकाएँ उपलब्ध हैं—१. आ. अमृतचन्द्र (ई. ९०५-९५५) कृत आत्मख्याति। २. आ. जयसेन (ई.श.१२-१३) कृत तात्पर्यवृत्ति। ३. आ. प्रभाचन्द्र नं. ५ (ई. ९५०—१०२०) कृत। ४. पं. जयचन्द छाबड़ा (ई. १८०७) कृत भाषा वचनिका। (ती./२/११३)।

समयसार नाटक—पं. बनारसीदास (ई. १६३६) की अद्वितीय आध्यात्मिक रचना है। इसमें १२ अधिकार और ६१६ पद हैं। यह ग्रन्थ समयसारकी आत्मख्याति टीकाके कलशोंके आधारपर लिखा गया है। इसपर पं. सदासुखदास (ई.१७९५-१८६७) ने एक टीका भी लिखी है। (ती./४/२५२)।

समवदान—दे. कर्म/१।

समवसरण—अर्हंत भगवान्‌के उपदेश देनेकी सभाका नाम समवसरण है, जहाँ बैठ कर तिर्यंच मनुष्य व देव—पुरुष व स्त्रियाँ सब उनकी अमृतवाणीसे कर्ण तृप्त करते हैं। इसकी रचना विशेष प्रकारसे देव लोग करते हैं। इसकी प्रथम सात भूमियोंमें बड़ी आकर्षक रचनाएँ, नाट्यशालाएँ, पुष्प वाटिकाएँ, वापियाँ, चैत्य वृक्ष आदि होते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्यजन अधिकतर इसीके देखनेमें उलझ जाते हैं। अत्यन्त भावुक व श्रद्धालु व्यक्ति ही अष्टमभूमिमें प्रवेशकर साक्षात् भगवान्‌के दर्शनोंसे तथा उनकी अमृतवाणीसे नेत्र, कान व जीवन सफल करते हैं।

१. समवसरण का लक्षण

म. पु./३३/७३ समेत्य वसरा यस्मिन् देवा सर्वे सुरासुराः। इति तज्ज्ञैर्निरुक्तं तत्सरणं समवादिकम् ।७३। —इसमें समस्त सुर और असुर आकर दिव्यध्वनिके अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं, इसलिए जानकार गणधरादि देवोंने इसका समवसरण ऐसा सार्थक नाम कहा है ।७३।

२. समवसरणमें अन्य केवली आदिके उपदेश देनेका स्थान

ह. पु./५७/८५-८६ ततः स्तम्भसहस्रस्थो मण्डपोऽस्ति महोदयः। नाम्ना मूर्तिमतिर्यत्र वर्तते श्रुतदेवता ।८५। तां कृत्वा दक्षिणे भागे धीरैर्बहु-

श्रुतेषूं तः । श्रुतं व्याकुरुते यत्र भापसं श्रुतकेवली ।८७। तदर्धमाना-श्चत्वारस्तत्परीवारमण्डपाः । आक्षेपण्यादयो येषु कथ्यन्ते कथकैः कथा ।८८। तत्प्रकीर्णकवासेषु चित्रेष्वाचक्षते स्फुटम् । ऋषयः स्वेष्टमर्थिभ्यः केवलादिमहर्द्धयः ।८९। −[भवनभूमि नामकी सप्तम भूमिमें स्तूपोंसे आगे एक पताका लगी हुई है] उसके आगे १००० खम्भोंपर खड़ा हुआ महोदय नामका मण्डप है, जिसमें मूर्तिमती श्रुतदेवता विद्यमान रहती है ।८६। उस श्रुतदेवताको दाहिने भागमें करके बहुश्रुतके धारक अनेक धीर वीर मुनियोंसे घिरे श्रुतकेवली कल्याणकारी श्रुतका व्याख्यान करते हैं ।८७। महोदय मण्डपसे आधे विस्तारवाले चार परिवार मण्डप और हैं, जिनमें कथा कहनेवाले पुरुष आक्षेपिणी आदि कथाएँ कहते रहते हैं ।८८। इन मण्डपोंके समीपमें नाना प्रकारके फुटकर स्थान भी बने रहते हैं, जिनमें बैठकर केवलज्ञान आदि महाऋद्धियोंके धारक ऋषि इच्छुकजनोंके लिए उनको इष्ट वस्तुओंका निरूपण करते हैं ।८९। (हरिषेण कृत कथाकोष । कथा नं. ६०/श्लो. १५५-१६०)

३. मिथ्यादृष्टि अभव्य जन श्रीमण्डपके भीतर नहीं जाते

ति. प./४/९३२ मिच्छाइट्ठिअभव्वा तेसुमसण्णी ण होंति कइआइं । तह −य अणज्झवसाया संदिद्धा विविहविवरीदा ।९३२। −इन (बारह) कोठोंमें मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते तथा अनध्यवसायसे युक्त, सन्देहसे संयुक्त और विविध प्रकारकी विपरीतताओंसे सहित जीव भी नहीं होते हैं ।९३२।

ह. पु./५७/१०४ भव्यकूटाख्यया स्तूपा भास्वत्कूटास्ततोऽपरे । यानभव्या न पश्यन्ति प्रभावान्धीकृतेक्षणाः ।१०४। −[सप्तभूमिमें अनेक स्तूप हैं । उनमें सर्वार्थसिद्धि नामके अनेकों स्तूप हैं ।] उनके आगे देदीप्यमान शिखरोंसे युक्त भव्यकूट नामके स्तूप रहते हैं, जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते । क्योंकि उनके प्रभावसे उनके नेत्र अन्धे हो जाते हैं ।१०४।

४. समवसरणका माहात्म्य

ति. प./४/९२९-९३३ जिणवंदणापयट्टा पल्लासंखेज्जभागपरिमाणा । चेट्ठंति विविहजीवा एक्केक्के समवसरणेसुं ।९२९। कोट्ठाणं खेत्तादो जीवक्खेत्तं फलं असंखगुणं । होदूण अपुट्ठ त्ति हु जिणमाहप्पेण गच्छंति ।९३०। संखेज्जजोयणाणि बालप्पहुदी पवेसणिग्गमणे । अंतोमुहुत्तकाले जिणमाहप्पेण गच्छंति ।९३१। आतंकरोगमरणुप्पत्तीओ वेरकामबाधाओ । तण्हा छुहपीडाओ जिणमाहप्पेण ण हवंति ।९३३। −एक-एक समवसरणमें पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण विविध प्रकारके जीव जिनदेवकी वन्दनामें प्रवृत्त होते हुए स्थित रहते हैं ।९२९। कोठोंके क्षेत्रसे यद्यपि जीवोंका क्षेत्रफल असंख्यातगुणा है, तथापि वे सब जीव जिनदेवके माहात्म्यसे एक दूसरेसे अस्पृष्ट रहते हैं ।९३०। जिनभगवान्के माहात्म्यसे बालकप्रभृति जीव प्रवेश करने अथवा निकलनेमें अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर संख्यातयोजन चले जाते हैं ।९३१। इसके अतिरिक्त वहाँपर जिनभगवान्के माहात्म्यसे आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, बैर, कामबाधा तथा तृष्णा (पिपासा) और क्षुधाकी पीड़ाएँ नहीं होती हैं ।९३३।

५. समवसरण देव कृत होता है

ति. प./४/७१० ताहे सक्काणाए जिणाण सयलाण समवसरणाणि । विक्किरियाए धणदो विरएदि विचित्तरूवेहिं ।७१०। −सौधर्म इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर विक्रियाके द्वारा सम्पूर्ण तीर्थंकरोंके समवसरणको विचित्र रूपसे रचता है ।७१०।

१. समवसरणका स्वरूप

ति. प./४/गा. का भावार्थ−१. समवसरणके स्वरूपमें ३१ अधिकार हैं-सामान्य भूमि, सोपान, विन्यास, वीथी, धूलिशाल, (प्रथमकोट चैत्यप्रासाद भूमियाँ, नृत्यशाला, मानस्तम्भ, वेदी, खातिकाभूमि वेदी, लताभूमि, साल (द्वि. कोट), उपवनभूमि, नृत्यशाला, वेदी ध्वजभूमि, साल (तृतीय-कोट), कल्पभूमि, नृत्यशाला, वेदी, भवन भूमि, स्तूप, साल (चतु. कोट), श्रीमण्डप, ऋषि आदि गण, वेदी पीठ, द्वि.-पीठ, तृतीय पीठ, और गन्धकुटी ।७१२-७२१। २. सम सरणकी सामान्य भूमि गोल होती है ।७१६। ३. इसकी प्रत्ये दिशामें आकाशमें स्थित बीस-बीस हजार सोपान (सीढ़ियाँ) ।७२०। ४. इसमें चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीचमें आठ भूमिय और सर्वत्र अन्तर भागमें तीन-तीन पीठ होते हैं । यह उसक विन्यास (कोटों आदिका सामान्य निर्देश) है ।७२ (दे. चित्र सं. १ पृष्ठ ३३१) ५. प्रत्येक दिशामें सोपानोंसे लेक अष्टम भूमिके भीतर गन्धकुटीकी प्रथम पीठ तक, एक-एक वीथ (सड़क) होती है ।७२४। वीथियोंके दोनों बाजुओंमें वीथिय जितनी ही लम्बी दो वेदियाँ होती हैं ।७२८। आठों भूमियो मूलमें बहुतसे तोरणद्वार होते हैं ।७३१। ६. सर्वप्रथम धूलिशा नामक प्रथम कोट है ।७३३। इसकी चारों दिशाओंमें चार गो द्वार हैं । (७३४) । (दे. चित्र सं. २ पृष्ठ ३३३) प्रत्येक गोपु (द्वार)के बाहर मंगल द्रव्य नवनिधि व धूप घट आदि युक्त पुतलि स्थित हैं ।७३७। प्रत्येक द्वारके मध्य दोनों बाजुओंमें एक-ए नाट्यशाला है ।७४३। (दे. चित्र सं. ३ पृष्ठ ३३३) ज्योतिषदेव द्वारोंकी रक्षा करते हैं ।७४४। ७. धूलिसाल कोटके भीतर चै प्रासाद भूमियाँ हैं (विशेष दे. वृक्ष) ।७५१। जहाँ पाँच-पाँच प्रासादों के अन्तरालसे एक-एक चैत्यालय स्थित हैं ।७५२। इस भूमि भीतर पूर्वोक्त चार वीथियोंके पार्श्वभागोंमें नाट्यशालाएँ हैं ।७५ जिनमें ३२ रंगभूमियाँ हैं । प्रत्येक रंगभूमिमें ३२ भवनवास कन्याएँ नृत्य करती हैं ।७५८-७५९ । ८. प्रथम (चैत्यप्रासाद भूमिके बहुमध्य भागमें चारों वीथियोंके बीचोंबीच गो मानस्तम्भ भूमि है ।७६१। (विशेष दे मानस्तम्भ । चित्र स. पृष्ठ ३३३) ९. इस प्रथम चैत्यप्रासादभूमिसे आगे, प्रथम वेदी जिसका सम्पूर्ण कथन धूलिशालकोट वत् जानना ।७६२-७६३। १० इस वेदीसे आगे खातिका भूमि है ।७६५। जिसमें जलसे पू खातिकाएँ हैं ।७६६। ११. इससे आगे पूर्व वेदिका सदृश ह द्वितीय वेदिका है ।७९९। १२. इसके आगे लताभूमि है, ज अनेकों क्रीड़ा पर्वतों व वापिकाओं आदिसे शोभित है ।८००-८०१ १३. इसके आगे दूसरा कोट है, जिसका वर्णन धूलिसालवत् परन्तु यह यक्षदेवोंसे रक्षित है ।८०२। १४. इसके आगे उपव नामकी चौथी भूमि है ।८०३। जो अनेक प्रकारके वनों, वापिकाओं व चैत्य वृक्षोंसे शोभित है ।८०४-८०५। १५. सब वनोंके आभि सब वीथियोंके दोनों पार्श्व भागोंमें दो-दो (कुल १६) नाट्यशाला होती हैं । आदि वाली आठमें भवनवासी देवकन्याएँ और अ की आठमें कल्पवासी देवकन्याएँ नृत्य करती हैं ।८१५-८१ १६. इसके पूर्वसदृश ही तीसरी वेदी है जो यक्षदेवोंसे रक्षि है ।८१७। १७. इसके आगे ध्वज-भूमि है, जिसकी प्रत्येक दिशा सिंह, गज आदि दस चिह्नोंसे चिह्नित ध्वजाएँ हैं । प्रत्येक चिह्न वाली ध्वजाएँ १०८ हैं । और प्रत्येक ध्वजा अन्य १०८ क्षुद्रध्वजाओं से युक्त है । कुल ध्वजाएँ −(१०×१०८×४)+(१०×१०८×१०८ ४)−४७०८८० । १८. इसके आगे तृतीय कोट है जिसक समस्त वर्णन धूलिसाल कोटके सदृश है ।८२७। १९. इसके आ छठी कल्पभूमि है ।८२८। जो दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे तथा अनेक वापिकाओं, प्रासादों, सिद्धार्थ वृक्षों (चैत्यवृक्षों) से शोभित है ।८२९-

८३३। २०. कल्पभूमिके दोनों पार्श्वभागोंमें प्रत्येक वीथीके आश्रित चार-चार (कुल १६) नाट्यशालाएँ हैं।८३८। यहाँ ज्योतिष कन्याएँ नृत्य करती हैं।८३६। २१. इसके आगे चौथी वेदी है, जो भवनवासी देवों द्वारा रक्षित है।८४०। २२. इसके आगे भवनभूमियाँ हैं, जिनमें ध्वजा-पताकायुक्त अनेकों भवन हैं।८४१। २३. [इस भवनभूमिके पार्श्वभागोंमें प्रत्येक वीथीके मध्यमें जिनप्रतिमाओंयुक्त नौ-नौ स्तूप (कुल ७२ स्तूप) हैं।८४४। २४. इसके आगे चतुर्थ कोट है जो कल्पवासी देवों द्वारा रक्षित है।८४८-८४१। २५. इसके आगे अन्तिम श्रीमण्डप भूमि है।८५१। इसमें कुल १६ दीवारें व उनके बीच १२ कोठे हैं।८५३। २६. पूर्व-दिशाको आदि करके इन १२ कोठोंमें क्रमसे गणधर आदि मुनि-जन; कल्पवासी देवियाँ, आर्यिकाएँ व श्राविकाएँ, ज्योतिषी देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासी देवियाँ, भवनवासीदेव, व्यन्तरदेव, ज्योतिषीदेव, कल्पवासीदेव, मनुष्य व तिर्यंच बैठते हैं।८५७-८६१। २७. इसके आगे पंचम वेदी है, जिसका वर्णन चौथे कोटके सदृश है।८६४। २८. इसके आगे प्रथम पीठ है, जिस-पर बारह कोठों व चारों वीथियोंके सम्मुख सोलह-सोलह सीढ़ियाँ हैं।८६५-८६६। इस पीठपर चारों दिशाओंमें सरपर धर्मचक्र रखे चार यक्षेन्द्र स्थित हैं।८७०। पूर्वोक्त बारहके बारह गण इस पीठ-पर चढ़कर प्रदक्षिणा देते हैं।८७३। २९. प्रथम पीठके ऊपर द्वितीय पीठ होता है।८७५। जिसके चारों दिशाओंमें सोपान हैं।८७६। इस पीठपर सिंह, बैल आदि चिह्नोंवाली ध्वजाएँ हैं व अष्टमंगल द्रव्य, नवनिधि, धूपघट आदि शोभित हैं।८८०-८८१। ३०. द्वितीय पीठके ऊपर तीसरी पीठ है।८८४। जिसके चारों दिशाओंमें आठ-आठ सोपान हैं।८८६। ३१. तीसरी पीठके ऊपर एक गन्धकुटी है, जो अनेक ध्वजाओंसे शोभित है।८८७-८८८। गन्धकुटीके मध्यमें पादपीठ सहित सिंहासन है।८९३। जिसपर भगवान् चार अंगुलके अन्तरालसे आकाशमें स्थित हैं।८९५। (ह. पु./७/१-१६१); (ध./६/४, १,४४/१०६-११३); (म. पु./२२/७७-३१२) ((चित्र सं. १, पृष्ठ ३३४)

★ **मानस्तम्भका स्वरूप व विस्तार**—दे. मानस्तम्भ।

★ **चैत्य वृक्षका स्वरूप व विस्तार**—दे. वृक्ष।

(चित्र सं. ६, पृष्ठ ३३४)

७. समवसरणका विस्तार

ति. प./४/७१८ अवसप्पिणिए एदं भणिदं उस्सप्पिणीए विवरीदं। बारस जोयणमेत्ता सा सयलविदेहकत्ताणं।७१८। =यह जो सामान्य भूमिका प्रमाण बतलाया है (दे. आगे सारणी) वह अवसर्पिणी-कालका है। उत्सर्पिणी कालमें इससे विपरीत है। विदेह क्षेत्रके सम्पूर्ण तीर्थंकरोंके समवसरणकी भूमि बारह योजन प्रमाण ही रहती है।७१८। [अवसर्पिणी कालमें जिस प्रकार प्रथम तीर्थसे अन्तिम तीर्थ तक भूमि आदिके विस्तार उत्तरोत्तर कम होते गये हैं उसी प्रकार उत्सर्पिणीकालमें वे उत्तरोत्तर बढ़ते होंगे। विदेह क्षेत्रके सभी समवसरणोंमें ये विस्तार प्रथम तीर्थंकरके समान जानने।]

प्रमाण—ति. प./४/गाथा सं.।

नोट—तीर्थंकरोंकी ऊँचाईके लिए। दे. तीर्थंकर/५/३/२.१६।

संकेत—यो =योजन; को.=कोश; ध.=धनुष; अं.=अंगुल।

नाम	गाथा सं.	लम्बाई चौड़ाई या ऊँचाई	प्रथम ऋषभदेवके समवसरणमें	२२ वें नेमिनाथ तक क्रमिक हानि	२३ वें पार्श्वनाथके समवसरणमें	२४वें वर्धमानके समवसरणमें
सामान्य भूमि	८१६	विस्तार (विशेष दे. तीर्थंकर/५/३/४-३२)	१२ यो.	२ को.	५/४ यो.	१ यो.
सोपान	७२१	लम्बाई	२४×२४ यो.	२४ यो.	$\frac{5}{48}$ को.	$\frac{4}{96}$ को.
	७२२	चौड़ाई व ऊँचाई	१ हाथ	×	१ हाथ	१ हाथ
वीथी	७२४	चौड़ाई	→	सोपानवत	←	
	७२५	लम्बाई	$\frac{552}{24}$ को.	$\frac{23}{24}$ को.	$\frac{115}{48}$ को.	$\frac{63}{48}$ को.
वीथीके दोनों बाजुओंमें वेदी	७२६	ऊँचाई	$\frac{1000}{?}$ ध.	$\frac{250}{?}$ ध	$\frac{125}{8}$ ध.	$\frac{125}{2}$ ध.
प्रथम कोट	७४६	ऊँचाई	स्व स्व तीर्थंकरसे चौगुनी			
	७४८	मूलमें विस्तार	$\frac{25}{?}$ को.	[illegible] को.	[illegible] को	[illegible] को.
तोरण व गोपुर द्वार	७४७	ऊँचाई	कोटसे तोरण और उससे गोपुर अधिक-अधिक ऊँचे हैं।			
चैत्य व प्रासाद	७५१	ऊँचाई	स्व-स्व तीर्थंकरसे १२ गुनी			
चैत्यप्रासाद भूमि	७५४	विस्तार	$\frac{214}{?}$ यो.	[illegible] यो.	$\frac{55}{?}$ यो.	$\frac{44}{?}$ यो.
नाट्यशाला	७५७	ऊँचाई	स्व स्व तीर्थंकरसे १२ गुनी			
प्रथम वेदी	७६४	ऊँचाई व विस्तार	प्रथम कोटवत्			
खातिका भूमि	७६७	विस्तार	→ प्रथम चैत्यप्रासाद भूमिवत्		←	
द्वि. वेदी	७६६	विस्तार	→प्रथम कोटसे दूना←		←	
	”	ऊँचाई	→ प्रथम कोटवत् ←		←	
लताभूमि	८०१	विस्तार	→चैत्यप्रासाद भूमिसे दूना←		←	
द्वि. कोट	८०२	ऊँचाई	प्रथम कोटवत्			
		विस्तार	प्रथम कोटसे दूना			

नाम	गाथा सं.	लम्बाई चौड़ाई या ऊँचाई	प्रथम ऋषभदेवके समवसरणमें	२२ वें नेमिनाथ तक क्रमिक हानि	२३ वें पार्श्वनाथके समवसरणमें	२४ वें वर्धमानके समवसरणमें
उपवन भूमि	८१४	विस्तार	चैत्यप्रासाद भूमिसे दुगना			
उपवनभूमिके भवन	८१३	ऊँचाई	स्व स्व तीर्थंकरसे १२ गुणी			
तृतीय वेदी	८१७	विस्तार व ऊँचाई	द्वितीय वेदीवत्			
ध्वज भूमि	८२६	विस्तार	लता भूमिवत्			
ध्वजस्तम्भ	८२१	ऊँचाई	स्व स्व तीर्थंकरसे १२ गुना			
	८२२	विस्तार	$\frac{२५४}{३}$ अं.	$\frac{११}{३}$ अं.	$\frac{५५}{६}$ अं.	$\frac{४४}{६}$ अं.
तृतीय कोट	८२७	विस्तार व ऊँचाई	द्वितीय कोटवत्			
कल्प भूमि	८२८	विस्तार	ध्वज भूमिवत्			
चतुर्थ वेदी	८४०	विस्तार व ऊँचाई	प्रथम वेदीवत्			
भवन भूमि		विस्तार	(कल्पभूमिवत् ?)			
भवनभूमिकी भवन पंक्तियाँ	८४३	विस्तार	प्रथम वेदीसे ११ गुणा			
स्तूप	८४६	ऊँचाई	चैत्य वृक्षवत् अर्थात् स्व-स्व तीर्थंकरसे १२ गुणा (दे. वृक्ष)			
चतुर्थ कोट	८५०	विस्तार	$\frac{२४}{२८८}$ को.	$\frac{१}{२८८}$ को.	$\frac{१२५}{३२}$ ध.	$\frac{१२५}{६}$ ध.
श्रीमण्डपके कोठे	८५३	ऊँचाई	स्व-स्व तीर्थंकरसे १२ गुणी			
	८५४	विस्तार	$\frac{१३०}{१४४}$ को	$\frac{५}{१४४}$ को.	$\frac{२५}{२८८}$ को.	$\frac{१२५०}{९}$ ध.
पंचम वेदी	८६४	विस्तार	चतुर्थ कोट सदृश			
प्रथम पीठ	८६५	ऊँचाई	मानस्तम्भके पीठवत्			
			$\frac{२४}{३}$ ध. (दे. मानस्तम्भ)	$\frac{१}{३}$ ध.	$\frac{५}{६}$ ध.	$\frac{२}{३}$ ध.
	८६७	विस्तार	$\frac{२४}{९६}$ को.	$\frac{१}{९६}$ को.	$\frac{५}{२४}$ को.	$\frac{१}{६}$ को.
	८७१	मेखला	$\frac{१०००}{८}$ ध.	$\frac{२५०}{८}$ ध.	$\frac{१२५}{८}$ ध.	$\frac{१२५}{२}$ ध.
द्वि. पीठ	८७५	ऊँचाई	४ ध.	$\frac{१}{६}$ ध.	$\frac{४}{६}$ ध.	$\frac{३}{६}$ ध.
	८८२	विस्तार	$\frac{१२०}{९६}$ को	$\frac{५}{९६}$ को.	$\frac{२५}{१९२}$ को.	$\frac{५}{४८}$ को.
	८७७	मेखला	प्रथम पीठवत्			
तृतीय पीठ	८८४	ऊँचाई	द्वितीय पीठवत्			
	८८५	विस्तार	प्रथम पीठसे चौथाई			
गन्धकुटी	८८६	विस्तार	६०० ध.	२५ ध.	१२५ ध.	५० ध.
	८९१	ऊँचाई	९०० ध.	$\frac{१००}{२४}$ ध.	$\frac{३७५}{४}$ ध.	७५ ध.
सिंहासन	८९४	ऊँचाई	स्व स्व तीर्थंकरके योग्य			
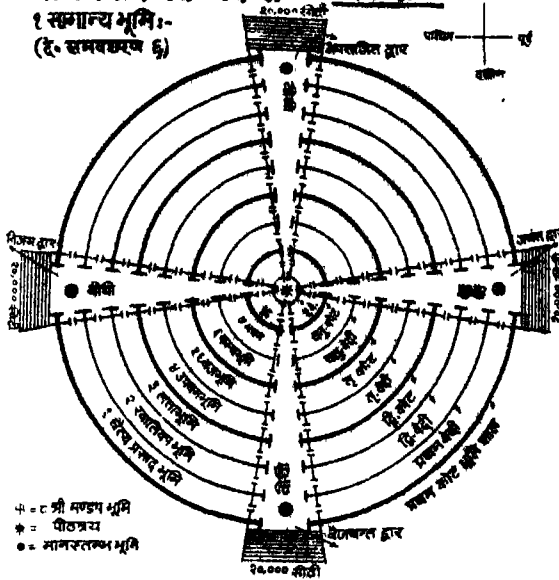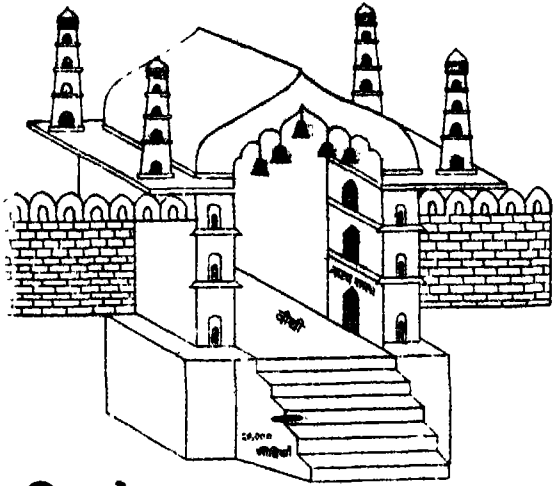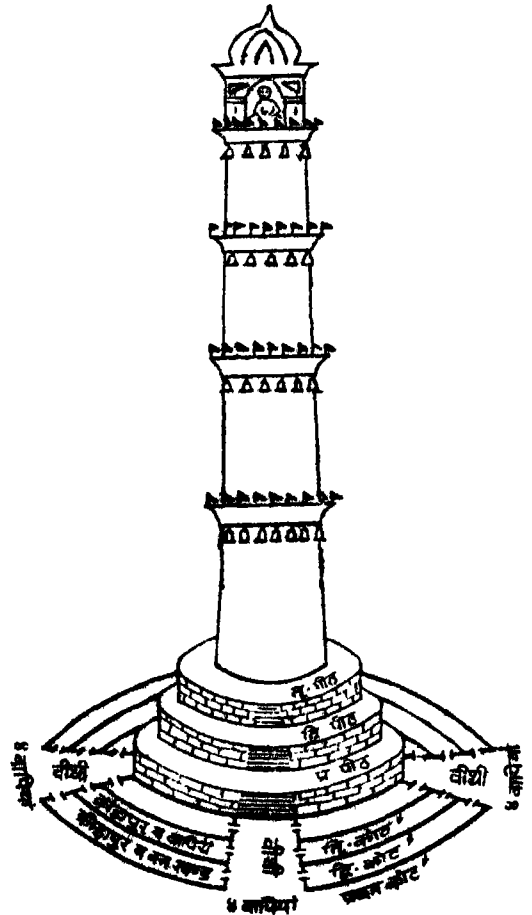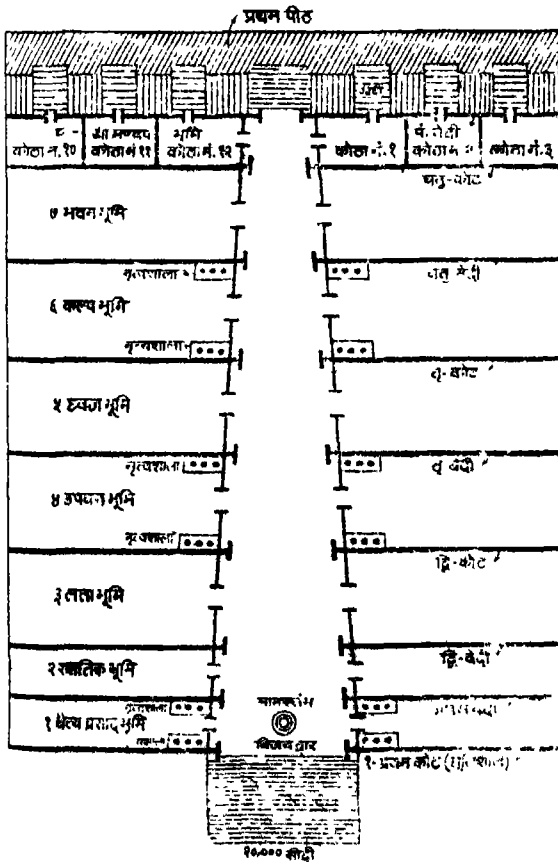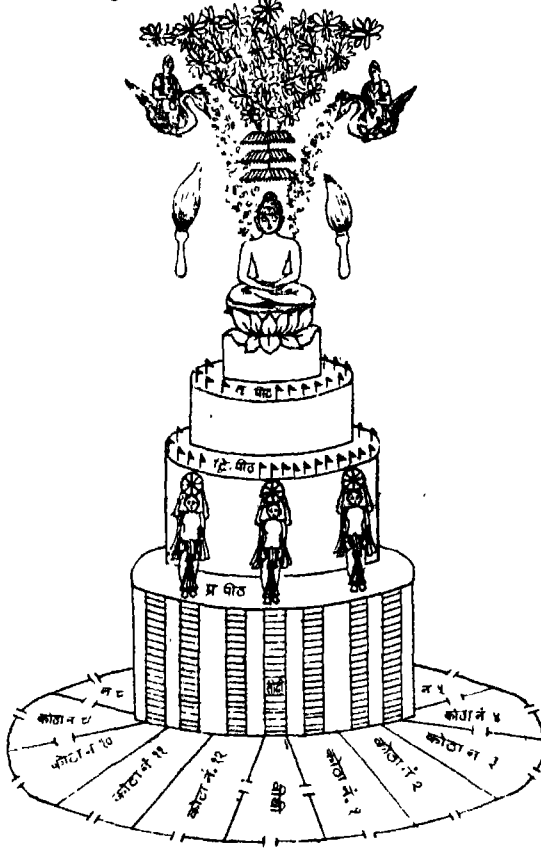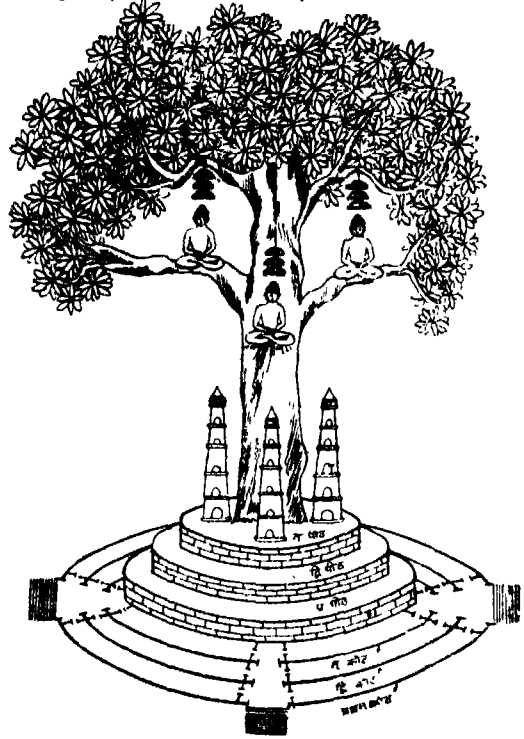
समवसरण व्रत—एक वर्ष पर्यन्त प्रत्येक चतुर्दशीको एक उपवास करे। इस प्रकार २४ उपवास करे। तथा "ओं ह्रीं जगदापद्विनाशाय सकलगुणकरण्डाय श्री सर्वज्ञाय अर्हत्परमेष्ठिने नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./८५)

समवाय—१. समवाय सम्बन्धका लक्षण

पं. का./मू./५० समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य। तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धि त्ति णिद्दिट्ठा। —समवर्तीपन वह समवाय है। वही अपृथक्पना और अयुतसिद्धपना है इसलिए द्रव्य और गुणोंकी अयुक्तसिद्धि कही है। (रा. वा./१/१०/२२/५१/३१)

ध. १/१,१,१/१८/१ समवाय-दव्वं णाम जं दव्वम्मि समवेदं।…समवाय-णिमित्तं णाम गल-गंडो काणो कुंडो इच्चेवमाइ। —जो द्रव्यमें समवेत हो अर्थात् कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध रखता हो उसे समवाय द्रव्य कहते हैं।…गलगण्ड, काना, कुबड़ा इत्यादि समवाय निमित्तक नाम हैं।

ध. १५/२४/२ को समवाओ। एगत्तेण अजुवसिद्धाणं मेलणं। —अयुतसिद्ध पदार्थोंका एक रूपसे मिलनेका नाम समवाय है।

स्या. म./७/६३/२६ अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुः संबन्धः समवायः। —अयुतसिद्ध (एक दूसरेके बिना न रहनेवाले) आधार्य (पट) और आधार (तंतु) पदार्थोंका इह प्रत्यय हेतु (इन तन्तुओंमें पट है) संबंध (वैशेषिक मान्य) समवाय सम्बन्ध है।

*** द्रव्यगुण पर्यायके समवाय सम्बन्धका निषेध—**

—दे. द्रव्य/४।

२. समवाय पदार्थके अस्तित्व सम्बन्धी तर्क-वितर्क

रा. वा./१/१/१३-१६/६/८ स्यान्मतम्—समवायो नामायुतसिद्धलक्षणः संबन्ध इहेदं बुद्धयभिधानप्रवृत्तिहेतुः तेनैकत्वमिव नीतानां व्यपदेशो भवति।…नास्ति तत्परिकल्पितः समवायः। कुतः। वृत्त्यन्तराभावात्। यथा गुणादीनां पदार्थानां द्रव्ये समवायसंबन्धाद्वृत्तिरिष्टा तथा समवायः पदार्थान्तरं भूत्वा केन संबन्धेन द्रव्यादिषु वर्त्स्यति समवायान्तराभावात्। एक एव हि समवायः। न च संयोगेन वृत्तिः युतसिद्धभावात् युतसिद्धानामप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिसंयोगः। न चान्यः संबन्धसंयोगसमवायविलक्षणोऽस्ति येन समवायस्य द्रव्यादिषु वृत्तिः स्यात्। अतः समवायिभिरनभिसंबन्धात् नास्ति।…द्रव्यादीनि प्राप्तिमन्ति अतस्तेषां यया कयाचित् प्राप्त्या भवितव्यम्, समवायस्तु प्राप्तिर्न प्राप्तिमान्, अतः प्राप्त्यन्तराभावेऽपि स्वत एव प्राप्नोतीति; तच्च न; कस्मात्। व्यभिचारात्। यथा संयोगः प्राप्तिरपि सन् प्राप्त्यन्तरेण समवाये वर्तते तथा समवायस्यापि

स्यादिति। ...यथा प्रदीपः प्रदीपान्तरमनपेक्षमाण आत्मानं प्रकाशयति घटादींश्च, तथा समवायः संबन्धान्तरापेक्षामन्तरेणात्मनश्च द्रव्यादिषु वृत्तिहेतुर्द्रव्यादीनां च परस्परत इति; तन्न; कुतः। तत्परिणामादनन्यत्वसिद्धेः।...यथा प्रदीपः स्वलक्षणप्रसिद्धो घटादिभ्योऽन्यो नैवं समवायः स्वलक्षणप्रसिद्धः द्रव्यादिभ्योऽस्ति। –प्रश्न–वैशेषिक समवाय नामका पृथक् पदार्थ मानते हैं, इससे अपृथक् सिद्ध पदार्थोंमें 'इह इदम्' यह प्रत्यय होता है और इसीसे गुण-गुणीमें अभेदकी तरह भान होने लगता है। उत्तर–समवाय नामका पृथक् पदार्थ भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि–१. जिस प्रकार गुणगुणीमें समवाय सम्बन्धसे वृत्ति मानी जाती है उसी तरह समवायकी गुण और गुणीमें किस सम्बन्धसे वृत्ति होगी। समवायान्तरसे तो नहीं, क्योंकि समवाय पदार्थ एक ही स्वीकार किया गया है। संयोगसे भी नहीं, क्योंकि दो पृथक् सिद्ध द्रव्योंमें ही संयोग होता है।...यदि कहा जाय कि–चूँकि समवाय 'सम्बन्ध' है अतः उसे स्वसम्बन्धियोंमें रहनेके लिए अन्य सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि संयोगसे व्यभिचार दूषण आता है। संयोग भी सम्बन्ध है पर उसे स्वसम्बन्धियोंमें समवायसे रहना पड़ता है। २. जिस प्रकार दीपक स्व-परप्रकाशी दोनों है उसी प्रकार समवाय भी अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा किये बिना स्वतः ही द्रव्यादिकी परस्पर वृत्ति करा देगा तथा स्वयं भी उनमें रह जायेगा, यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे समवायको द्रव्यादिकी पर्याय ही माननी पड़ेगी।...दीपकका दृष्टान्त भी उचित नहीं है क्योंकि जैसे दीपक घटादि प्रकाश्य पदार्थोंसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है उसी तरह समवायकी द्रव्यादिसे भिन्न अपनी स्वतन्त्रसत्ता नहीं है।

क. पा. १/१,१/§३२-३३/४७/१ विसयीकयसमवायपमाणाभावादो। ण पच्चक्खं; अमुत्ते णिरवयवे अदव्वे इंदियसण्णिकरिसाभावादो।...ण च 'इहेदं' पच्चयसेज्झसमवाओ; तहाविहपच्चओवलंभाभावादो, आहाराहेयभावेण ट्ठिदकुंडबदरेसु चेव तदुवलंभादो। 'इह कवालेसु घडो इह तंतुसु पडो' त्ति पच्चओ वि उप्पज्जमाणो दीसइ त्ति चे; ण; घडावत्थाए खप्पराणं पडावत्थाए तंतूणं च अणुवलंभादो।...णाणुमाणमवि तग्गाहयं; तदविणाभाविलिंगाणुवलंभादो।...ण च अत्थावत्तिगम्मो समवाओ अणुमाणपुधभूदत्थावत्तीए अभावादो। ण चागमगम्मो; वादि-पडिवादीपसिद्धागमाभावादो।–३. समवायको विषय करनेवाला प्रमाण नहीं पाया जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो समवायको विषय कर नहीं सकता है, क्योंकि समवाय स्वयं अमूर्त है, निरवयव है और द्रव्य रूप नहीं है, इसलिए उसमें इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं हो सकता है।...'इहेदम्' प्रत्ययसे समवायका ग्रहण हो जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकारका प्रत्यय नहीं पाया जाता है, यदि पाया भी जाता है तो आधार-आधेय भावसे स्थित कुण्ड और बेरोंमें ही 'इस कुण्डमें ये बेर हैं' इस प्रकारका 'इहेदम्' प्रत्यय पाया जाता है, अन्यत्र नहीं। प्रश्न–'इन कपालोंमें घट है, इन तन्तुओंमें पट है' इस प्रकार भी 'इहेदम्' प्रत्यय उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है? उत्तर–नहीं; क्योंकि घट रूप अवस्थामें कपालोंकी और पटरूप अवस्थामें तन्तुओंकी उपलब्धि नहीं होती। (प्र. सा./त.प्र./९८)...यदि कहा जाय कि अनुमान प्रमाण समवायका ग्राहक है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि समवायका अविनाभावी कोई लिंग नहीं पाया जाता है।..यदि कहा जाय कि अर्थापत्ति प्रमाणसे समवायका ज्ञान हो जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थापत्ति अनुमान प्रमाणसे पृथक्भूत कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।...यदि कहा जाय कि आगम प्रमाणसे समवायका ज्ञान होता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिसे वादी और प्रतिवादी दोनों मानते हों, ऐसा कोई आगम भी नहीं है।

क. पा. १/१,२०/§३२४/३५४/४ तत्र नित्ये क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। न स क्षणिकोऽपि; तत्र भावाभावाभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। नान्यत् आगच्छति, तत्परित्यक्ताशेषकार्याणामसत्त्वप्रसङ्गात्। नापरित्यज्य आगच्छति, निरवयवस्यापरित्यक्तपूर्वकार्यस्यागमनविरोधात्। न समवायः सावयवः, अनित्यतापत्तेः। न सोऽनित्यः, अनवस्थाभावाभ्यां तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न नित्यः सर्वगतो वा, निष्क्रियस्य व्याप्ताशेषदेशस्यागमनविरोधात्। नासर्वगतः, समवायबहुत्वप्रसङ्गात्। नान्येनानीयते अनवस्थापत्तेः न कार्योत्पत्तिप्रदेशे प्रागस्ति; संबन्धिभ्यां विना संबन्धस्य सत्त्वविरोधात् न च तत्रोत्पद्यते निरवयवस्योत्पत्तिविरोध।

क. पा. १/१,१/§३३/४८/८ ण च अण्णत्थ संतो आगच्छदि; किरियाए विरहियस्स आगमणाणुववत्तीदो। ण च समवाओ किरियावंतो; अणिच्चदव्वत्तप्पसंगादो।

–४. [यदि कहो कि वह नित्य है तो वह नित्य भी नहीं है, क्योंकि नित्य माननेसे] उसमें क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रियाके मानने में विरोध आता है। ५. उसी प्रकार समवाय क्षणिक भी नहीं है, क्योंकि क्षणिक पदार्थमें भाव और अभाव रूपसे अर्थ क्रियाके मानने में विरोध आता है। ६. अन्य क्रियाको छोड़कर उत्पन्न होनेवाले पदार्थमें समवाय आता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर समवायके द्वारा छोड़े गये समस्त कार्योंका असत्त्वका प्रसंग प्राप्त होता है। ७. अन्य पदार्थको नहीं छोड़कर समवाय आता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो निरवयव है और जिसने पहलेके कार्यको नहीं छोड़ा है ऐसे समवाय का आगमन नहीं बन सकता है। ८. समवायको सावयव मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर उसे अनित्यपनेकी प्राप्ति होती है। ९. यदि कहा जाय कि समवाय अनित्य होता है तो हो जाओ सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि समवायवादियोंके मतमें उत्पत्तिका अर्थ स्व कारणसत्ता समवाय माना है। अतः समवायकी भी उत्पत्ति दूसरे समवायकी अपेक्षासे होगी, और ऐसा माननेपर अनवस्था दोषका प्रसंग प्राप्त होता है।...१०. उसकी उत्पत्ति, स्वतः अर्थात् समवायान्तर निरपेक्ष मानी जायेगी तो समवायका अभाव हो जानेसे उसकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है। ११. समवायको नित्य और सर्वगत कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि जो क्रिया रहित है और जो समस्त देशमें व्याप्त है उसका आगमन माननेमें विरोध आता है। १२. यदि असर्वगत माना जाय सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर समवायको बहुत्वका प्रसंग प्राप्त होता है। समवाय अन्यके द्वारा कार्य देशमें लाया जाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अनवस्था दोषकी आपत्ति प्राप्त होती है। (क. पा. १/१,१/§३३/४९/१)... १३. कार्यके उत्पत्ति देशमें समवाय पहलेसे रहता है; ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सम्बन्धियोंके बिना सम्बन्धका सत्त्व माननेमें विरोध आता है। (क. पा. १/१,१/§३३/४८/७) १४. कार्यके उत्पत्ति देशमें समवाय उत्पन्न होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय अवयव रहित है अर्थात् नित्य है इसलिए उसकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। १५. यदि कहा जाय कि समवाय कार्योत्पत्तिके पहले अन्यत्र रहता है और कार्योत्पत्ति कालमें वहाँ आ जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय स्वयं क्रिया रहित है।...क्रियावान् माननेपर उसे अनित्य द्रव्यत्वका प्रसंग प्राप्त होता है।

समवाय द्रव्य—दे. द्रव्य/१।

समवायि—१. समवाय व असमवायका लक्षण

वैशेषिक द./भाषा./१०/२/३०५/७ द्रव्य हीमें गुण और कर्म समवाय सम्बन्धसे रह सकते हैं...द्रव्यमें ही समवायि कारण होता है।

वैशेषिक/भाषा./१०/२/३/३०६ जो कारण और कार्यके सम्बन्धको एक हीमें मिला दे वह असमवायी कारण है।

समवायिनी क्रिया—दे. क्रिया/३।

समवृत्तस्तूप—Circular Pyramid. (ज. प./प्र. १०८)

समवृत्ति—पं. का./त. प्र./५० द्रव्यगुणानामेकास्तित्वनिर्वृत्तित्वादनादिरनिधना सहवृत्तिर्हि समवर्तित्वम्। —द्रव्य और गुण एक अस्तित्वसे रचित हैं, इसलिए उनकी जो अनादि-अनंत सहवृत्ति (एक साथ रहना) वह वास्तवमें समवर्तीपना है।

पं. का./ता. वृ./५०/९९/५ समवृत्तिः सहवृत्तिर्गुणगुणिनोः कथंचिदेकत्वेनादितादात्म्यसंबन्ध इत्यर्थः। —समवृत्तिका अर्थ सहवृत्ति है, अर्थात् गुण-गुणीका एकत्व रूपसे अनादि तादात्म्य सम्बन्ध समवृत्ति है।

समान्तर श्रेणि—Arithematical Progression (ज. प./प्र. १०८)

समान्तरानीक—Parallelepiped (ज. प./प्र. १०८)

समान्तरी गुणोत्तर श्रेणि—Arithematico-geometrical Progression (ज. प./प्र. १०८)

समाचार—१. समाचार सामान्यका लक्षण

मू. आ./१२३ समदा समाचारो सम्माचारो समो व आचारो। सव्वेसिं हि समाणं समाचारो दु आचारो।१२३। —समता भाव समाचार है, अथवा सम्यक् अर्थात् अतिचार रहित जो मूलगुणोंका आचरण, अथवा समस्त मुनियोंका समान अहिंसादि रूप जो आचरण, अथवा सर्व क्षेत्रोंमें हानिवृद्धि रहित कायोत्सर्गादिकर सदृश परिणामरूप आचरण वह समाचार है।

न. च. वृ./३३८ लोगिगसद्धारहिओ चरणविहूणो तहेव अववादी। विवरीओ खलु तच्चे वज्जेव्वाते समायारे। —जो श्रमण लौकिक हैं, श्रद्धाविहीन हैं, चारित्र रहित हैं, अपवादशील हैं और तत्त्वमें विपरीत हैं उनके साथ समाचार (संसर्ग) नहीं करना चाहिए। समान आचारवाले साधुके साथ ही साधुको संसर्ग रखना चाहिए।

२. समाचारके भेद

मू. आ./१२४-१२५, १३६,१४४ दुविहो समाचारो ओघो वि य पदविभागिओ चेव। दसहा ओघो भणिओ अणेगहा पदविभागी य।१२४। इच्छामिच्छाकारो तथाकारो य आसिआ णिसिही। आपुच्छा पडिपुच्छा छंदण सणिमंतणा य उपसंपा।१२५। उवसंपया य णेया पंचविहा जिणवरेंहि णिद्दिट्ठा। विणए खेत्ते मग्गे सुहदुक्खे चेय सुत्ते य।१३६। उपसंपया य सुत्ते तिविहा सुत्तत्थतदुभया चेव। एक्केक्का वि य तिविहा लोइय वेदे तहा समये।१४४। —समाचार दो प्रकारका है—औघिक व पदविभागी। औघिकके दश भेद हैं और पदविभागीके अनेक भेद हैं।१२४। औघिक समाचारके दश भेद हैं—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदन, सनिमन्त्रणा और उपसंयत।१२५। गुरुजनोंके लिए आत्मसमर्पण करने वाला उपसंयत पाँच प्रकारका है—विनयमें, क्षेत्रमें, मार्गमें, सुख-दुखमें, और सूत्रमें कहना चाहिए।१३६। सूत्रोपसंयत तीन प्रकारका है—सूत्र अर्थ व तदुभय। वह एक-एक भी तीन तरहके हैं—लौकिक, वैदिक, व सामायिक।

३ औघिक व पदविभागी निर्देश

मू. आ./१३०, १४५-१४७ उग्गमसूरप्पहुदी समणाहोरत्तमंडले कसिणे। जं अच्चरंति सददं एसो भणिदो पदविभागी।१३०। कोइ सव्वसमत्थो सगुरुसुदं सव्व आगमित्ताणं। विणएणुवक्कमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण।१४५। तुज्झं पादपसाएण अण्णमिच्छामि गंतुमायदणं। तिण्णि व पंच व छ वा पुच्छाओ एत्थ सो कुणइ।१४६। एवं आपुच्छित्ता सगवरगुरुणा विसज्जिओ संतो। अप्पचउत्थो तदिओ बिदिओ वासो तदो णीदी।१४७। —[औघिक समाचारके इच्छाकारादि दश भेद हैं। उनके लक्षण देखो अगला शीर्षक] जिस समय सूर्य उदय होता है, वहाँसे लेकर समस्त दिन रातकी परिपाटीमें मुनि लोग नियमादिकोंको निरन्तर आचरण करें सो यह प्रत्यक्ष रूप पदविभागी समाचार कहा है।१३०। वीर्य आदिसे समर्थ कोई मुनि अपने गुरुसे सर्व शास्त्रोंको जानकर विनय सहित प्रणाम करके प्रमाद रहित हुआ गुरुसे पूछे।१४५। हे गुरो! मैं तुम्हारे चरण प्रसादसे अन्य आचार्यके पास जाना चाहता हूँ। इस अवसरपर तीन वा पाँच वा छह बार तक पूछना चाहिए, करनेसे उत्साह व विनय मालूम होता है।१४६। इस प्रकार अपने श्रेष्ठ गुरुसे पूछ कर उनसे आज्ञा लेता हुआ अपने साथ तीन, दो वा एक मुनिको साथ लेकर जावे अकेला न जावे।१४७। [एकाकी विहारकी विधि व निषेध सम्बन्धी—दे. एकल विहारी, विहार]

४. इच्छाकार आदिका विषय

मू. आ./१२६-१२८ इट्ठे इच्छाकारो मिच्छाकारो, तहेव अवराधे। पुडिसुणणम्हि तहत्ति य णिग्गमणे आसिया भणिया।१२६। पविसंते अ णिसीही आपुच्छणिया सकज्जआरंभे। साधम्मिणा य गुरुणा पुव्वणिसिट्ठम्हि पडिपुच्छा।१२७। छंदण गहिदे दव्वे अगिहदव्वे णिमंतणा भणिदा। तुह्ममहत्ति गुरुकुले आदणिसग्गो दु उवसंपा।१२८। —शुभ परिणामोंमें हर्ष होना इच्छाकार है। अतिचार होनेरूप अशुभ परिणामोंमें मिथ्या शब्द कहना मिथ्याकार है। सूत्रके अर्थ सुननेमें 'तथेति' कहना तथाकार है। रहनेकी जगहसे पूछकर निकलना आसिका है। स्थान प्रवेशमें पूछकर प्रवेश करना निषेधिका है। पठनादि कार्योंमें गुरु आदिकोंसे प्रश्न करना आपृच्छा है। साधर्मी अथवा गुरु आदिसे पहले दिये हुए उपकरणोंको पूछकर ग्रहण करना प्रतिपृच्छा है। उपकरणोंको देने वालेके अभिप्रायके अनुकूल रखना सो छन्दन है। तथा अगृहीत द्रव्यकी याचना करना निमन्त्रणा है। और गुरुकुलमें 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहकर आचरण करना वह उपसंयत है।

५. इच्छाकार आदिका स्वरूप

मू. आ./१३१-१३८ संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे। जोगग्गहणादीसु अ इच्छाकारो दु कादव्वो।१३१। जं दुक्कडं तु मिच्छा तं णेच्छदि दुक्कडं पुणो कादु। भावेण य पडिकंतो तस्स भवे दुक्कडे मिच्छा।१३२। वायण पडिच्छणाए उवदेसे सुत्तअत्थकहणाए। अवितहमेदत्ति पुणो पडिच्छणाए तधाकारो।१३३। कंदरपुलिणगुहादिसु पवेसकाले णिसिद्धिअं कुज्जा। तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा।१३४। आदावणादिगहणे सण्णा उब्भामगादिगमणे वा। विणये णायरियादिसु आपुच्छा होदि कायव्वा।१३५। जं किंचि महाकज्जं करणीयं पुच्छिऊण गुरुआदि। पुणरवि पुच्छदि साधु तं जाणसु होदि पडिपुच्छा।१३६। गहिदुवकरणे विणए वंदणसुत्तत्थपुच्छणादीसु। गणधरवसभादीणं अणुवुत्ति छंदणिच्छाए।१३७। गुरुसाहम्मियदव्वं पोत्थयमण्णं च गेण्हिदुं इच्छे। तेसिं विणयेण पुणो णिमंतणा होइ कायव्वा।१३८। —१. संयमके पीछी आदि उपकरणोंमें, ज्ञानके उपकरणोंमें अथवा अन्य भी तपादिके उपकरणोंमें तथा आतापनादि योगोंमें इच्छाकार अर्थात् मनको प्रवर्ताना।१३१। २. जो व्रतादिमें मेरे अतिचार लगा हो वह मिथ्या होवे, ऐसे मिथ्या किये पापोंको फिर करनेकी इच्छा न करे, और अन्तरंग भावसे प्रतिक्रमण करता है उसीके दुष्कृतमें मिथ्याकार होता है।१३२। ३. जीवादिकके व्याख्यानका सुनना, सिद्धान्त श्रवण, परम्परासे चला आया उपदेश और सूत्रादिका अर्थ—इनमें जो अर्हतने कहा वह सत्य है, ऐसा समझना तथाकार है।१३३। ४-५. कंदर, जलकेमध्यप्रदेश

रूप पुलिन, गुफा, इत्यादि निर्जन्तु स्थानोंमें प्रवेश करनेके समय निषेधिका करे और निकलनेके समय आसिका करे।१३४। ६. आतापनादि ग्रहणमें, आहारादिकी इच्छाएँ तथा अन्य ग्रामादिको जानेमें नमस्कार पूर्वक पूछकर उनके अनुसार करना वह आपृच्छा है।१३५। ७. जो कुछ महान् कार्य करना हो वह गुरु प्रवर्तक स्थविरादिकसे पूछकर करना चाहिए फिर अन्य साधर्मी साधुओंसे पूछना वह प्रतिपृच्छा है।१३६। ८. ग्रहण किये हुए पुस्तकादि उपकरणोंमें, विनयके कालमें, वन्दना-सूत्रके अर्थको पूछना इत्यादिकमें आचार्य आदिकी इच्छाके अनुकूल वर्तना छन्दन है।१३७। ९. गुरु अथवा साधर्मीके पुस्तक व कमण्डलु आदिको लेना चाहे तो उनसे नम्रीभूत होकर याचना करे। उसे निमन्त्रणा कहते हैं।१३८। १०. उपसंयतका स्वरूप —दे. अगला शीर्षक]

६. उपसंपत सामान्य व विशेषका स्वरूप

मू. आ./१४०-१४३ पाहुणविणउवचारो तेसिं चावासभूमि संपुच्छा। दाणाणुवत्तणादी विणये उवसंपया णेया।१४०। संजमतवगुणसीला जमणियमादी य जह्मि खेत्तह्मि। वड्ढंति तह्मि वासो खेत्ते उवसंपया णेया।१४१। पाहुणवत्थव्वाण अण्णोण्णागमणगमणसुहपुच्छा। उवसंपदा य मग्गे संजमतवणाणजोगजुत्ताणं।१४२। सुहदुक्खे उवयारो वसहीआहारभेसजादीहिं। तुह्मं अहंति वयणं सुहदुक्खुवसंपया णेया।१४३। —अन्य संघसे आये हुए मुनियोंका अंग मर्दन प्रिय वचनरूप विनय करना, आसनादिपर बैठाना, इत्यादि उपचार करना, गुरुके विराजनेका स्थान पूछना, आगमनका रास्ता पूछना, संस्तर, पुस्तकादि उपकरणोंका देना, और उनके अनुकूल आचरणादिक करना वह विनयोपसंयत है।१४०। संयम तप व उपशमादि गुण व व्रत रक्षारूप शील तथा यम, नियम, इत्यादिक जिस स्थानमें रहनेसे बढ़ें, उस क्षेत्रमें रहना वह क्षेत्रोपसंयत है।१४१। अपने संघसे आये मुनि, तथा अपने स्थानमें रहने वाले मुनियोंसे आपसमें आने-जानेके विषयमें कुशलका पूछना, वह संयम, तप, ज्ञान, योग—गुणोंकर सहित मुनिराजोंके मार्गोपसंयत है।१४२। सुख-दुःख युक्त पुरुषोंको वसतिका, आहार, औषध आदिकर उपकार करना, तथा मैं और मेरो वस्तुएँ आपकी हैं, ऐसा वचन कहना वह सुखदुःखोपसंयत है।१४३। (सूत्रोपसंयतके तीन भेद है—सूत्र, अर्थ, तदुभय। इन तीनोंके लौकिक, वैदिक व सामाजिक ये तीन-तीन भेद हैं।—दे. समाचार/२)।

समाचार काल—दे. काल/१/४।

समादान क्रिया—दे. क्रिया/३/२।

समावेश—उद्दिष्ट आहारका एक भेद—दे. उद्दिष्ट।

समाधान—उत्तम परिणामोंमें चित्तका स्थिर रखना समाधान है।—दे. समाधि/१।

समाधि—**१. समाधि सामान्यका लक्षण**

नि. सा./मू./१२२-१२३ वयणोच्चारणकिरियं परिचत्तं वीयरायभावेण। जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।१२२। संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण। जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।१२३। —वचनोच्चारणकी क्रिया परित्याग कर वीतराग भावसे जो आत्माको ध्याता है, उसे समाधि है।१२२। संयम, नियम और तपसे तथा धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानसे जो आत्माको ध्याता है, उसे परम समाधि है।१२३।

प. प्र./मू./२/१९० सयल-वियप्पहं जो विलउ परम-समाहि भणंति। तेण सुहासुह-भावणा मुणि सयलवि मेल्लंति।१९०। —जो समस्त विकल्पोंका नाश होना, उसको परमसमाधि कहते हैं, इसीसे मुनिराज समस्त शुभाशुभ विकल्पोंको छोड़ देते हैं।१९०।

रा. वा./९/१/१२/५०५/२७ युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्। —योगका अर्थ समाधि और ध्यान भी होता है।

भ. आ./वि./६७/१९४/८ (समाधि)—समेकीभावे वर्तते तथा च प्रयोगः—संगतं तैलं संगतं घृतमित्यर्थ एकीभूतं तैलं एकीभूतं घृतमित्यर्थः। समाधानं मनसः एकाग्रताकरणं शुभोपयोगे शुद्धे वा। —मनको एकाग्र करना, सम शब्दका अर्थ एकरूप करना ऐसा है जैसे घृत संगत हुआ, तैल संगत हुआ इत्यादि। मनको शुभोपयोगमें अथवा शुद्धोपयोगमें एकाग्र करना यह समाधि शब्दका अर्थ समझना।

म. पु./२१/२२६ यत्सम्यक् परिणामेषु चित्तस्याधानमञ्जसा। स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम्।२२६। —उत्तम परिणामोंमें जो चित्तका स्थिर रखना है वही यथार्थमें समाधि या समाधान है अथवा पंच परमेष्ठियोंके स्मरणको समाधि कहते हैं।

दे. उपयोग/II/२/१ साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योगनिरोध, और शुद्धोपयोग ये समाधिके एकार्थवाची नाम हैं।

दे. ध्यान/४/३ ध्येय और ध्याताका एकीकरण रूप समरसी भाव ही समाधि है।

सं. स्तो./टी./१६/२६ धर्मं शुक्लं च ध्यानं समाधिः। —धर्म और शुक्ल ध्यानको समाधि कहते हैं।

स्या. म./टी./१७/२२६/१६ बहिरन्तर्जल्पत्यागलक्षणः योगः स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणं समाधिः। —बहिर और अन्तर्जल्पके त्याग स्वरूप योग है। और स्वरूपमें चित्तका निरोध करना समाधि है।

दे. अनुप्रेक्षा/१/११ सम्यग्दर्शनादिको निर्विघ्न अन्य भवमें साथ ले जाना समाधि है।

२. साधु समाधि भावनाका लक्षण

स. सि./६/२४/३३९/१ यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात्तथानेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्संधारणं समाधिः। —जैसे भाण्डागारमें आग लग जानेपर बहुत उपकारी होनेसे आगको शान्त किया जाता है, उसी प्रकार अनेक प्रकारके व्रत और शीलोंसे समृद्ध मुनिके तप करते हुए किसी कारणसे विघ्नके उत्पन्न होनेपर उसका संधारण करना शान्त करना समाधि है। (रा. वा./६/२४/८/५३०/१); (चा. सा./५४/४)।

ध. ८/३,४१/८८/१ साहूणं समाहिसंधारणदाए-दंसण-णाण-चरित्तेसु-सम्मवट्ठाणं समाही णाम। सम्मं साहणं धारणं सधारणं। समाहीए संधारणं समाहिसंधारणं, तस्स भावो समाहिसंधारणदा। ताए तित्थयरणामकम्मं बज्झदि त्ति। केण वि कारणेण पदंतिं समाहिं दट्ठूण सम्माइट्ठी पवयणवच्छलो पवयणप्पहावओ विणयसंपण्णो सीलवदादिचारवज्जिओ अरहंतादिसु भत्तो संतो जदि धारेदि तं समाहिसंधारणं।...सं सद्दपउं जणादो। —साधुओंकी समाधि-संधारणासे तीर्थंकर नामकर्म बाँधता है—दर्शन, ज्ञान व चारित्रमें सम्यक् अवस्थानका नाम समाधि है। सम्यक् प्रकारसे धारण या समाधिका नाम संधारण है। समाधिका संधारण समाधिसंधारण और उसके भावका नाम समाधि-संधारणता है। उससे तीर्थंकर नाम-कर्म बँधता है। किसी भी कारणसे गिरती हुई समाधिको देखकर सम्यग्दृष्टि, प्रवचनवत्सल, प्रवचन प्रभावक, विनय सम्पन्न, शील-व्रतातिचार वर्जित और अर्हन्तादिकोंमें भक्तिमान् होकर चूँकि उसे धारण करता है इसलिए वह समाधि संधारण है।...यह संधारण शब्दमें दिये गये 'सं' शब्दसे जाना जाता है।

भा. पा./टी./७७/२२१/१ मुनिगणतपःसंधारणं साधुसमाधिः। —मुनिगण तपको सम्यक् प्रकारसे धारण करते हैं वह साधु समाधि है।

३. एक साधु समाधि भावनामें शेष १५ भावनाओंका अन्तर्भाव

ध. ८/३,४१/८८/६ ण च एत्थ सेसकारणाभावो, तदत्थित्तस्स दरिसिदत्तादो। एवमेदं णवमं कारणं। –इस (साधु समाधि संधारणता) में शेष कारणोंका अभाव नहीं है, क्योंकि उनका अस्तित्व (किसी भी कारणसे गिरती हुई समाधिको देखकर सम्यग्दृष्टि, प्रवचनवत्सल, प्रवचन प्रभावक, विनयसम्पन्न,...आदि होकर उसे धारण करता है इसलिए वह समाधिसंधारणा है—दे. ऊपरवाला शीर्षक।) वहाँ दिखला ही चुके हैं। इस प्रकार वह तीर्थंकर नामकर्म बँधनेका नवम कारण है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. निर्विकल्प समाधि व शुक्लध्यानकी एकार्थता। —दे. पद्धति।
२. परम समाधिके अपरनाम। —दे. मोक्षमार्ग/२/५।
३. अन्य मत मान्य समाधि ध्यान नहीं है। —दे. प्राणायाम।
४. एक ही भावनासे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्भव। —दे. भावना/२।

समाधिगुप्त—यह भाविकालीन अठारहवें तीर्थंकर हैं।—दे. तीर्थंकर/५।

समाधितन्त्र—इसका दूसरा नाम समाधिशतक भी है। यह ग्रन्थ आचार्य पूज्यपाद (ई. श. ५) कृत अध्यात्म विषयक १०५ संस्कृत श्लोकोंमें निबद्ध है। इसपर आ. प्रभाचन्द्र (ई. ९५०-१०२०) ने एक संस्कृत टीका लिखी है। (ती./२/२२१); (जै./२/१९६)

समाधिमरण—दे. सल्लेखना।

समान खंड—जैसे $\frac{२५१}{५३} = १९\frac{६}{५३}$।

समानगोल—Sphere. (ज. प./प्र. १०८)।

समानाधिकरण—१. ...भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामान्याधिकरण्यम्। यथा तत् त्वमसि—भिन्नप्रवृत्ति में जो निमित्त है ऐसे विभिन्न शब्दोंकी एक ही अर्थ में वृत्ति होना सामान्याधिकरण्य है। जैसे 'तत् त्वमसि' इस पद में 'तत्' का अर्थ अशरीरी ब्रह्म और 'त्वम' का अर्थ शरीरी ब्रह्म या जीवात्मा ये दोनों एक हैं, ऐसा इस पद का अर्थ है। २. लक्ष्य लक्षणमें सामानाधिकरण्य। —दे. लक्षण।

समानुपात सिद्धान्त—Theory of Proportion. (ज. प./प्र. १०८)

समारम्भ—स. सि./६/८/३२५/३ साध्यनसमभ्यासीकरणं समारम्भः। –साधनोंका जुटाना समारम्भ है। (रा. वा./६/८/२/५१३/२२)

रा. वा./६/८/३/५१३/३२ साध्यायाः क्रियायाः साधनानां समभ्यासीकरणं समाहारः, समारम्भ इत्याख्यायते। –साध्यके साधनोंका इकट्ठा करना समारंभ है। (चा. सा./८९/४)

समास—जीव समास – दे. जीव समास।

समाहार—१. रुचकवरनिवासिनी दिक्कुमारी देवी।—दे. लोक/५/१३; २. स. भं. त./१/१० समाहारः समूहः। –समाहार अर्थात् समूह।

समिति—चलने-फिरनेमें, बोलने चालनेमें, आहार ग्रहण करनेमें, वस्तुओंको उठाने-धरनेमें और मलमूत्र निक्षेपण करनेमें यत्न पूर्वक सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्ति करते हुए जीवोंको रक्षा करना समिति है।

१. समिति निर्देश

१. समिति सामान्यका लक्षण

१. निश्चय समिति

रा. वा./९/५/२/५९४/२४ सम्यगितिः समितिरिति। –सम्यग् प्रकारसे प्रवृत्तिका नाम समिति है।

नि. सा./ता. वृ./६१ अभेदानुपचाररत्नत्रयमार्गेण परमधर्मिणमात्मानं सम्यग् इति परिणतिः समितिः। अथवा निजपरमतत्त्वनिरतसहजपरमबोधादिपरमधर्माणां संहतिः समितिः। –अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयरूपी मार्गपर परमधर्मी ऐसे (अपने) आत्माके प्रति सम्यग् 'इति' (गति) अर्थात् परिणति वह समिति है, अथवा निज परम तत्त्वमें लीन सहज परम ज्ञानादिक परमधर्मोंकी संहति (मिलन, संगठन) वह समिति है।

प्र. सा./ता. वृ./२४०/३३२/२१ निश्चयेन तु स्वस्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितः। –निश्चयसे तो अपने स्वरूपमें सम्यग् प्रकारसे गमन अर्थात् परिणमन समिति है।

द्र. सं./टी./३५/१०१/३ निश्चयेनानन्तज्ञानादिस्वभावे निजात्मनि सम-सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिन्तनतन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समितिः। –निश्चय नयकी अपेक्षा अनन्तज्ञानादि स्वभावधारक निज आत्मा है, उसमें 'सम' भले प्रकार अर्थात् समस्त रागादि भावोंके त्याग द्वारा आत्मामें लीन होना, आत्माका चिन्तन करना, तन्मय होना आदि रूपसे जो अयन (गमन) अर्थात् परिणमन सो समिति है।

२. व्यवहार समिति

स. सि./९/२/४०९/७ प्राणिपीडापरिहारार्थं सम्यगयनं समितिः। –प्राणि पीड़ाका परिहारके लिए सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्ति करना समिति है। (रा. वा./९/२/२/५९१/३१)

भ. आ./वि./१६/६१/१६ समिदीसु य सम्यगयनादिषु अयनं समितिः। सम्यक्श्रुतज्ञाननिरूपितक्रमेण गमनादिषु वृत्तिः समितिः।

भ. आ./वि./११५/२६७/१ प्राणिपीडापरिहारादरवतः सम्यगयनं समितिः। –गमनादि कार्योंमें जैसी प्रवृत्ति आगममें कही है वैसी प्रवृत्ति करना समिति है। प्राणियोंको पीड़ा न होवे ऐसा विचार कर दया भावसे अपनी सर्व प्रवृत्ति जो करना है, वह समिति है।

प्र. सा./ता. वृ./२४०/३३२/२१ व्यवहारेण पञ्चसमितिभिः समितः संवृतः पञ्चसमितः। –व्यवहारसे ईर्यासमिति आदि पाँच समितियोंके द्वारा सम्यक् प्रकार 'इतः' अर्थात् प्रवृत्ति करना सो पंचसमिति है।

द्र. सं./टी./३५/१०१/४ व्यवहारेण तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूताचारादिचरणग्रन्थोक्ता...समितिः। –व्यवहारसे उस निश्चय समिति के बहिरंग सहकारि कारणभूत आचार चारित्र विषयक ग्रन्थों में कही हुई समिति है।

२. समितिके भेद

चा. पा./मू./३७ इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो। संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंच समिदीओ। –ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन ये पाँच समिति संयम शुद्धिके कारण कही गयी हैं। (मू. आ./१०, ३०१); (त. सू./९/५); (स. सि./९/५/४११/९); (द्र. सं./टी./३५/१०१/५)

२. ईर्यासमिति निर्देश

१. ईर्यासमितिका लक्षण

मू. आ./११,३०२,३०३ फासुयमग्गेण दिवा जुवंतरप्पेहेणा सकज्जेण। जंतूण परिहरंति इरियासमिदी हवे गमणं ॥११॥ मग्गुज्जोदुपओगालंबणसुद्धीहि इरियदो मुणिणो। सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि ॥३०२॥ इरियावहपडिवण्णेणवलोगंतेण होदि गंतव्वं। पुरदो जुगप्पमाणं सयापमत्तेण सत्तेण ॥३०३॥ –१. प्रासुक मार्गसे (दे. विहार/१/७) दिनमें चार हाथ प्रमाण देखकर अपने कार्यके लिए प्राणियोंको पीड़ा नहीं देते हुए संयमीका जो गमन है वह ईर्यासमिति है। (नि. सा./६१)। २. मार्ग, नेत्र, सूर्यका प्रकाश, ज्ञानादिमें यत्न, देवता आदि आलम्बन–इनकी शुद्धतासे तथा प्रायश्चित्तादि सूत्रोंके अनुसारसे गमन करते मुनिके ईर्यासमिति होती है ऐसा आगममें कहा है ॥३०२॥ (भ. आ./मू./११९१) ३. कैलास गिरनार आदि यात्राके कारण गमन करता हो तो ईर्यापथसे आगेकी चार हाथ प्रमाण भूमिको सूर्यके प्रकाशसे देखता मुनि सावधानीसे हमेशा गमन करे ॥३०३॥ (त. सा./६/७)

रा. वा./९/५/३/५९४/१ विदितजीवस्थानादिविधेर्मुनेर्धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितर्युदिते चक्षुषो विषयग्रहणसामर्थ्ये उपजाते मनुष्यादिचरणपातोपहतावश्यायप्रायमार्गे अनन्यमनसः शनैर्न्यस्तपादस्य संकुचितावयवस्य युगमात्रपूर्वनिरीक्षणावहितदृष्टेः पृथिव्याद्यारम्भाभावात् ईर्यासमितिरित्याख्यायते। –जीवस्थान आदिकी विधिको जाननेवाले, धर्मार्थ प्रयत्नशील साधुका सूर्योदय होनेपर चक्षुरिन्द्रियके द्वारा दिखने योग्य मनुष्य आदिके आवागमनके द्वारा कुहरा क्षुद्र जन्तु आदिसे रहित मार्गमें सावधान चित्त हो शरीर संकोच करके धीरे-धीरे चार हाथ जमीन आगे देखकर पृथिवी आदिके आरम्भसे रहित गमन करना ईर्यासमिति है। (चा. सा./६६/२); (ज्ञा./१८/६-७); (अन. ध./४/१६४/४९९)

२. ईर्यापथ शुद्धिका लक्षण

रा. वा./९/६/१६/५९७/१३ ईर्यापथशुद्धिः नानाविधजीवस्थानयोन्याश्रयावबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी द्रुतविलम्बितसंभ्रान्तविस्मितलीलाविकारदिगन्तरावलोकनादिदोषविरहितगमना। तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इव सुनीतौ। –अनेक प्रकारके जीवस्थान योनिस्थान जीवाश्रय आदिके विशिष्ट ज्ञानपूर्वक प्रयत्नके द्वारा जिसमें जन्तु पीड़ाका बचाव किया जाता है, जिसमें ज्ञान, सूर्य प्रकाश, और इन्द्रिय प्रकाशसे अच्छी तरह देखकर गमन किया जाता है तथा जो शीघ्र, विलम्बित, सम्भ्रान्त, विस्मित, लीला विकार अन्य दिशाओंकी ओर देखना आदि गमनके दोषोंसे रहित गतिवाली है वह ईर्यापथ शुद्धि है। (चा. सा./७६/७)

३. ईर्यासमितिकी विशेषताएँ

भ. आ./वि./११०/१४४/९ स्ववासदेशान्निर्गन्तुमिच्छता शीतलादुष्णाद्वा देशाच्छरीरप्रमार्जनं कार्यं, तथा विशतापि। किमर्थं। शीतोष्णजंतूनामबाधापरिहारार्थं अथवा श्वेतरक्तगुणासु भूमिषु अन्यस्या निःक्रमेण अन्यस्याश्च प्रवेशने प्रमार्जनं कटिप्रदेशादधः कार्यं। अन्यथा विरुद्धयोनिसंक्रमेण पृथिवीकायिकानां तद्भूमिभागोत्पन्नानां त्रसानां चाबाधा स्यात्। तथा जलं प्रविशता सचित्ताचित्तरजसोः पदादिषु लग्नयोर्निरासः। यावच्च पादौ शुष्यतस्तावन्न गच्छेज्जलान्तिक एव तिष्ठेत्। महतीनां नदीनां उत्तरणे आराद्भागे कृतसिद्धवन्दनः यावत्परकूलप्राप्तिस्तावन्मया सर्वं शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यानः समाहितचित्तो द्रोण्यादिकमारोहेत्, परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत्। तदतिचारव्यपोहार्थं। एवमेव महत् कान्तारस्य प्रवेशनिःक्रमणयोः। –शीत और उष्ण जन्तुओंको बाधा न हो इसलिए शरीर प्रमार्जन करना चाहिए। तथा सफेद भूमि या लाल रंगकी भूमिमें प्रवेश करना हो अथवा एक भूमिसे निकलकर दूसरी भूमिमें प्रवेश करना हो तो कटिप्रदेशसे नीचेतक सर्व अवयव पिच्छिकासे प्रमार्जित करना चाहिए। ऐसी क्रिया न करनेसे विरुद्ध योनि संक्रमसे पृथ्वीकायिक जीव और त्रस कायिक

जीवोंको बाधा होगी। जलमें प्रवेश करनेके पूर्व साधु हाथ-पाँव वगैरह अवयवोंमें लगे हुए सचित्त और अचित्त धूलिको पीछीसे दूर करे। अनन्तर जलमें प्रवेश करे। जलसे बाहर आनेपर जब तक पाँव न सूख जावें, तब तक जलके समीप ही खड़ा रहे। पाँव सूखनेपर विहार करे। बड़ी नदियोंको उलांघनेका कभी अवसर आवे तो नदीके प्रथम तटपर सिद्ध वन्दना कर, समस्त वस्तुओं आदिका प्रत्याख्यान करे। मनमें एकाग्रता धारण कर नौका वगैरहपर आरूढ़ होवे। दूसरे तटपर पहुँचनेके अनन्तर उसके अतिचार नाशार्थ कायोत्सर्ग करे। प्रवेश करनेपर अथवा वहाँसे बाहर निकलनेपर यही आचार करना चाहिए।

दे. भिक्षा/२/६ जो गीली है, हरे तृण आदिसे व्याप्त है, ऐसी पृथ्वीपर गमन नहीं करना चाहिए।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/४ खरान्, करभान्, बलीवर्दान्, गजांस्तुरगान्महिषान्सारमेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्दूरतः परिहरेत्।··· मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो गच्छेद्यदि निरन्तरमुसमाहितफलादिकं बाध्यतो भवेत् मार्गान्तरमस्ति। भिण्णवर्णां वा भूमि प्रविशंस्तद्वर्णभूभाग एव अङ्गप्रमार्जनं कुर्यात्। – मार्गमें गदहा, ऊँट, बैल, हाथी, घोड़ा, भैंसा, कुत्ता और कलह करनेवाले लोगोंको दूरसे ही त्याग करे।···रास्तेमें जमीनसे समान्तर फलक पत्थर वगैरह चीज होगी, अथवा दूसरे मार्गमें प्रवेश करना पड़े अथवा भिन्न वर्णकी जमीन हो तो जहाँसे भिन्नवर्ण प्रारम्भ हुआ है वहाँ खड़े होकर प्रथम अपने सर्व अंगपरसे पिच्छी फिरानी चाहिए। (और भी–दे. संयम/१/७)

२. ईर्यासमितिके अतिचार

भ. आ./वि./१६/६२/४ ईर्यासमितेरतिचारः मन्दालोकगमनं, पदविन्यासदेशस्य सम्यगनालोचनम्, अन्यगतचित्तादिकम्। – सूर्यके मन्द प्रकाशमें गमन करना, जहाँ पाँव रखना हो वह जगह नेत्रसे अच्छी तरहसे न देखना, इतर कार्यमें मन लगाना इत्यादि।

४. भाषासमिति निर्देश

१. भाषासमितिका लक्षण

मू. आ./१२,३०७ पेसुण्णहासककसपरणिंदाप्पप्पसंसविकहादी। वज्जित्ता सपरहिदं भासासमिदी हवे कहणं।१२। सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं। वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवे सुद्धा।३०७। – १. झूठ दोष लगाने रूप पैशुन्य, व्यर्थ हँसना, कठोर वचन, परनिंदा, अपनी प्रशंसा, और विकथा इत्यादि वचनोंको छोड़कर स्व-पर हितकारक वचन बोलना भाषा समिति है। (नि. सा./मू. ६२) २. द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा सत्य वचन (दे. सत्य), सामान्य वचन, मृषावादादि दोष रहित, पापोंसे रहित आगमके अनुसार बोलनेवालेके शुद्ध भाषासमिति होती है। (भ. आ./मू./११९२); (स. सा./६/८)

रा. वा./९/५/५/५९४/१७ मोक्षपदप्रापणप्रधानफलं हितम्। तद्द्विधम्-स्वहितं परहितं चेति। मितमनर्थकप्रलपनरहितम्। स्फुटार्थं व्यक्ताक्षरं चासंदिग्धम्। एवंविधमभिधानं भाषासमितिः। तत्प्रपञ्चः-मिथ्याभिधानासूयाप्रियसंभेदाल्पसारशङ्कितसंभ्रान्तकषायपरिहासा-युक्तासभ्यनिष्ठुरधर्मविरोध्यदेशकालालक्षणातिसंस्तवादिवाग्दोषवि-रहिताभिधानम्। – स्व और परको मोक्षकी ओर ले जानेवाले स्व-पर हितकारक, निरर्थक बकवाद रहित मित स्फुटार्थ व्यक्ताक्षर और असन्दिग्ध वचन बोलना भाषासमिति है। मिथ्याभिधान, असूया प्रियभेदक, अल्पसार, शंकित, संभ्रान्त, कषाय युक्त, परिहास युक्त, अयुक्त, असभ्य, निष्ठुर, अधर्म विधायक, देशकाल विरोधी, और चापलूसी आदि वचन दोषोंसे रहित भाषण करना चाहिए।

ज्ञा./१८/८-९ धूर्तकामुकक्रव्यादचौरचार्वाकसेविता। शङ्कासंकेतपापाढ्या त्याज्या भाषा मनीषिभिः।८। दशदोषविनिर्मुक्तां सूत्रोक्तां साधुसंमताम्। गदतोऽस्य मुनेर्भाषां स्याद्भाषासमितिः परा।९। – धूर्त (मायावी), कामी, मांसभक्षी, चौर, नास्तिकमति,–चार्वाक आदिसे व्यवहारमें लायी हुई भाषा तथा संदेह उपजानेवाली, व पापसंयुक्त हो ऐसी भाषा बुद्धिमानोंको त्यागनी चाहिए।८। तथा वचनोंके दश दोष (दे. भाषा) रहित सूत्रानुसार साधुपुरुषोंको मान्य हों ऐसी भाषाको कहनेवाले मुनिके उत्कृष्ट भाषा समिति होती है।९।

२. वाक् शुद्धिका लक्षण

मू. आ./८५३-८६१ भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जये वयणं। पुच्छिदमपुच्छिदं वा णवि ते भासंति सप्पुरिसा।८५३। अच्छीहिं य पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहा य सुणमाणा। अत्थंति भूयभूया ण ते करंति हु लोइयकहाओ।८५४। विकहाविसोत्तियाणं खणमवि हिदएण ते ण चिंतंति। धम्मे लद्धमदीया विकहा तिविहेण वज्जंति।८५७। कुक्कुयकंदप्पाइय हास उल्लावणं च खेडं च। मददप्पहत्थवट्टिं ण करेंति मुणी ण कारेंति।८५८। ते होंति णिव्वियारा थिमिदमदी पदिट्ठिदा जहा उदधी। णियमेसु दढव्वदिणो पारत्तविमग्गया समणा।८५९। जिणवयणभासिदत्थं पत्थं च हिदं च धम्मसंजुत्तं। समओवयारजुत्तं पारत्तहिदं कधं करेंति।८६०। सत्ताधिया सप्पुरिसा मग्गं मण्णंति वीदरागाणं। अणयारभावणाए भावेंति य णिच्चमप्पाणं।८६१। – सत्पुरुष वे मुनि विनय रहित कठोर भाषाको तथा धर्मसे विरुद्ध वचनोंको छोड़ देते हैं। और अन्य भी विरोध जनक वाक्योंको नहीं बोलते।८५३। वे नेत्रोंसे सब योग्य-अयोग्य देखते हैं और कानोंसे सब तरहके शब्द सुनते हैं परन्तु वे गूंगेके समान तिष्ठते हैं, लौकिक कथा नहीं करते।८५४। स्त्रीकथा आदि विकथा (दे. कथा) और मिथ्या शास्त्र, इनको वे मुनि मनसे भी चिन्तवन नहीं करते। धर्ममें प्राप्त बुद्धिवाले मुनि विकथाको मन वचन कायसे छोड़ देते हैं।८५७। हृदय कंठसे अप्रगट शब्द करना, कामोत्पादक हास्य मिले वचन, हास्य वचन, चतुराई युक्त मीठे वचन, परको ठगने रूप वचन, मदके गर्वसे हाथका ताड़ना, इनको वे न स्वयं करते हैं, न कराते हैं।८५८। वे निर्विकार उद्धत चेष्टा रहित, विचारवाले, समुद्रके समान निश्चल, गम्भीर छह आवश्यकादि नियमोंमें दृढ़ प्रतिज्ञावाले और परलोकके लिए उद्यमवाले होते हैं।८५९। वीतरागके आगम द्वारा कथित अर्थवाली पथ्यकारी धर्मकर सहित आगमके विनयेकर सहित परलोकमें हित करनेवाली कथाको करते हैं।८६०। उपसर्ग सहनेसे अकंपपरिणामवाले ऐसे साधुजन वीतरागोंके सम्यग्दर्शनादि रूप मार्गको मानते हैं और अनगार भावनासे सदा आत्माका ही चिंतवन करते हैं।८६१।

रा. वा./९/६/१६/५९८/१ वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकारम्भादिप्रेरणरहिताः (ता) परुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका व्रतशीलदेशनादिप्रधानफला हितमितमधुरमनोहरा संयतस्य योग्या। तदधिष्ठाना हि सर्वसपदः। – पृथिवीकायिक आदि सम्बन्धी आरम्भादिकी प्रेरणा जिसमें न हो तथा जो परुष, निष्ठुर और पर पीड़ाकारी प्रयोगोंसे रहित हो व्रतशील आदिका उपदेश देनेवाली हो, वह सर्वतः योग्य हित, मित, मधुर और मनोहर वाक्यशुद्धि है। वाक्यशुद्धि सभी सम्पदाओंका आश्रय है। (चा. सा./८१/४); (वसु. श्रा./२३०)

२. भाषा समितिके अतिचार

भ. आ./वि./१६/६२/४ इदं वचनं मम गदितुं युक्तं न वेति अनालोच्य भाषणं अज्ञात्वा वा। अत एवोक्तं 'अपुट्ठो दु ण भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे' इति अपृष्टश्रुतधर्मतया मुनिः अपृष्ट इत्युच्यते। भाषासमितिक्रमानभिज्ञो मौनं गृह्णीयात् इत्यर्थः। एवमादिको भासासमित्यति-

चार: । —यह वचन बोलना योग्य है अथवा नहीं, इसका विचार न कर बोलना, वस्तुका स्वरूप ज्ञान न होनेपर भी बोलना, ग्रन्थान्तरमें भी 'अपुट्ठी दु ण भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे' कोई पुरुष बोल रहा है और अपने प्रकरणको, विषय मालूम नहीं है तो बीचमें बोलना अयोग्य है, जिसने धर्मका स्वरूप सुना नहीं अथवा धर्मके स्वरूपका ज्ञान नहीं ऐसे मुनिको अपृष्ट कहते हैं। भाषासमितिका क्रम जो जानता नहीं वह मौन धारण करे ऐसा अभिप्राय है, इस तरह भाषा समितिके अतिचार हैं।

५. एषणासमिति निर्देश

१. एषणासमितिका लक्षण

मू. आ./१३,३१८ छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी। सीदादी समभुत्ती परिसुद्धा एषणासमिदी ।१३। उग्गमउप्पादणएसणेहिं पिंडं च उवधि सज्जं च। सोधंतस्स य मुणिणो परिसुज्झइ एसणासमिदी ।३१८। —१. उद्गमादि ४६ दोषों (दे. आहार/II/४) कर रहित, भूख आदि मेंटना व धर्म साधन आदि कर युक्त, कृत-कारित आदि नौ विकल्पों कर विशुद्ध (रहित) ठंडा-गरम आदि भोजनमें राग-द्वेष रहित, समभाव कर भोजन करना, ऐसे आचरण करनेवालेके एषणासमिति है ।१३। २. उद्गम, उत्पाद, अशन दोषोंसे आहार, पुस्तक, उपधि, वसतिकाको शोधनेवाले मुनिके शुद्ध एषणासमिति है ।३१८। (भ. आ./मू./११६७)' (त. सा./६/६)

रा. वा./६/५/६/५६४/२१ अनगारस्य गुणरत्नसंचयसंवाहिशरीरशकटिसमाधिपत्तनं निनीषतोऽक्षम्रक्षणमिव शरीरधारणमौषधमिव जाठराग्निदाहोपशमनिमित्तमन्नाद्यनास्वादयतो देशकालसामर्थ्यादिविशिष्टमगर्हितमभ्यवहरतः उद्गमोत्पादनैषणासंयोजनप्रमाणकारणाङ्गारधूमप्रत्ययनवकोटिपरिवर्जनमेषणासमितिरिति समाख्यायते। —गुणरत्नोंको ढोनेवाली शरीररूपी गाड़ीको समाधि नगरकी ओर ले जानेकी इच्छा रखनेवाले साधुका जठराग्निके दाहको शमन करनेके लिए औषधिकी तरह या गाड़ीमें औंगन देनेकी तरह अन्नादि आहारको बिना स्वादके ग्रहण करना एषणासमिति है। देश, काल और प्रत्यय इन नव कोटियोंसे रहित आहार ग्रहण किया जाता है। (चा. सा./६७/३), (ज्ञा./१८/१०-११), (अन. ध./४/१६७)।

२. एषणासमितिके अतिचार

भ. आ./वि./१६/६२/७ उद्गमादिदोषै गृहीतं भोजनमनुमननं वचसा, कायेन वा प्रशंसा, तै सह वासः, क्रियासु प्रवर्तनं वा एषणासमितेरतीचारः । —उद्गमादि दोषोंसे सहित आहार लेना, मनसे, वचनसे, ऐसे आहारको सम्मति देना, उसकी प्रशंसा करना, ऐसे आहारकी प्रशंसा करनेवालोंके साथ रहना, प्रशंसादि कार्यमें दूसरोंको प्रवृत्त करना। एषणासमितिके अतिचार हैं।

६. आदान निक्षेपण समिति निर्देश

१. आदान निक्षेपण समितिका लक्षण

मू. आ./१४,३१९,३२० णाणुवहिं संजमुवहिं सौचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा। पयदं गहणणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ।१४। आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा पमज्जेज्जो। दव्वं च दव्वठाणं संजमलद्धीए सो भिक्खू ।३१९। सहसाणा भोइदुप्पमज्जिदअपच्चुवेक्खणा दोसा। परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवा ।३२०। —१. ज्ञानके उपकरण, संयमके उपकरण तथा शौचके उपकरण, व अन्य सांथरे आदिके निमित्त उपकरण, इनका यत्नपूर्वक उठाना, रखना वह आदान निक्षेपण समिति है। (नि. सा./६४)। २. ग्रहण और रखनेमें पीछी, कमण्डलु आदि वस्तुको तथा वस्तुके स्थानको अच्छी तरह देखकर पीछीसे जो शोधन करता है वह भिक्षु कहलाता है, यही आदान निक्षेपण समिति है ।३१९। (भ. आ./मू./११९८), (त. सा./६/१०) शीघ्रतासे बिना देखे, अनादरसे, बहुत कालसे रखे उपकरणोंका उठाना-रखना स्वरूप दोषोंका जो त्याग करता है उसके आदाननिक्षेपण समिति होती है ।३२०।

रा. वा./६/५/७/५६४/२५ धर्माविरोधिनां परानुपरोधिनां द्रव्याणां ज्ञानादिसाधनानां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य प्रमृज्य प्रवर्तनमादाननिक्षेपणा समितिः । —धर्माविरोधी और परानुपरोधी ज्ञान और संयमके साधक उपकरणोंको देखकर और शोधकर रखना और उठाना आदाननिक्षेपण समिति है। (चा. सा./७४/२), (ज्ञा./१८/१२-१३), (अन. ध./४/१६८/४९९)।

२. आदान निक्षेपण समितिके अतिचार

भ. आ./वि./१६/६२/८ आदातव्यस्य, स्थाप्यस्य वा अनालोचनं, किमत्र जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति दुःप्रमार्जनं च आदाननिक्षेपणसमित्यतिचारः । —जो वस्तु लेनी है, अथवा रखनी है वह लेते समय अथवा रखते समय, इसमें जीव हैं या नहीं इसका ध्यान नहीं करना तथा अच्छी तरह जमीन वा वस्तु स्वच्छ न करना आदान-निक्षेपण समितिके अतिचार हैं।

७. प्रतिष्ठापन समिति निर्देश

१. प्रतिष्ठापन समितिका लक्षण

मू. आ./१५,३२१-३२५ एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे। उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ।१५। वणदाहकिसिमसिकदे थंडिल्लेणुपरोधे वित्थिण्णे। अवगदजंतु विवित्ते उच्चारादी विसज्जेज्जो ।३२१। उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयादियं दव्वं। अच्चित्तभूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जेज्जो ।३२२। रादो दु पमज्जित्ता पण्णसमणपेक्खिदम्मि ओगासे। आसंकविसुद्धीए अपहत्थगफासणं कुज्जा ।३२३। जदि तं हवे असुद्धं विदियं तदियं अणुण्णवे साहू। लघुए अणिच्छायारे ण देज्ज साधम्मिए गुरुयो ।३२४। पदिठवणासमिदीवि य तेणेव कमेण वण्णिदा होदि। वोसरणिज्जं दव्वं थंडिले वोसरत्तस्स ।३२५। —१. एकान्तस्थान, अचित्तस्थान, दूर, छिपा हुआ, बिल तथा छेदरहित चौड़ा, और जिसकी निन्दा व विरोध न करे ऐसे स्थानमें मूत्र, विष्ठा आदि देहके मलका क्षेपण करना प्रतिष्ठापना समिति कही गयी है ।१५। (नि. सा./६५), (ज्ञा./१८/१४)। २. दावाग्निसे दग्धप्रदेश, हलकर जुता हुआ प्रदेश, मसान भूमिका प्रदेश, खार सहित भूमि, लोग जहाँ रोकें नहीं, ऐसा स्थान, विशाल स्थान, त्रस जीवोंकर रहित स्थान, जनरहित स्थान—ऐसी जगह मूत्रादिका त्याग करे ।३२१। (भ.आ./मू./११९९), (त.सा./६/११), (अन. ध./४/१६९/४९७) ३. विष्ठा, मूत्र, कफ, नाकका मैल, आदिको हरे तृण आदिसे रहित प्रासुक भूमिमें अच्छी तरह देखकर निक्षेपण करे ।३२२। रात्रिमें आचार्यके द्वारा देखे हुए स्थानको आप भी देखकर मूत्रादिका क्षेपण करे। यदि वहाँ सूक्ष्म जीवोंकी आशंका हो तो आशंकाकी विशुद्धिके लिए कोमल पीछीको लेकर हथेलीसे उस जगहको देखे ।३२३। यदि पहला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा, तीसरा आदि स्थान देखे। किसी समय रोग पीड़ित होके अथवा शीघ्रतासे अशुद्ध प्रदेशमें मल छूट जाये तो उस धर्मात्मा साधुको प्रायश्चित्त न दे ।३२४। (अन. ध./४/१६६) उसी कहे हुए क्रमसे प्रतिष्ठापना समिति भी वर्णन की गयी है उसी क्रमसे त्यागने योग्य मल-मूत्रादिको उक्त स्थण्डिल स्थानमें निक्षेपण करें। उसीके प्रतिष्ठापना समिति शुद्ध है ।३२५।

रा. वा./६/५/८/५६४/२८ स्थावराणां जङ्गमानां च जीवानामविरोधेनाङ्गमलनिर्हरणं शरीरस्य च स्थापनम् उत्सर्गसमिति-

रचनगन्तव्या । —जहाँ स्थावर या जंगम जीवोंको विराधना न हो ऐसे निर्जन्तु स्थानमें मल-मूत्र आदिका विसर्जन करना और शरीरका रखना उत्सर्ग समिति है। (चा. सा./७४/१)।

२ प्रतिष्ठापना शुद्धिका लक्षण

रा. वा./९/६/१६/५९७/१२ प्रतिष्ठापनशुद्धिपरः संयतः नखरोमसिङ्घाण-कनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च विदितदेशकालो जन्तूपरोधमन्तरेण प्रयतते। —प्रतिष्ठापन शुद्धिमें तत्पर संयत देश और कालको जानकर नख, रोम, नाक, थूक, वीर्य, मल, मूत्र या देह परित्यागमें जन्तु बाधाका परिहार करके प्रवृत्ति करता है। (चा. सा./८०/१)।

३. प्रतिष्ठापना समितिके अतिचार

भ. आ./वि./१६/६२/६ कायभूम्यशोधनं, मलसंपातदेशानिरूपणादि, पवमर्संनिवेशदिनकरादिपूर्वक्रमेण वृत्तिश्च प्रतिष्ठापनसमित्यतिचारः। —शरीर व जमीन पिच्छिकासे न पोंछना, मल-मूत्रादिक जहाँ क्षेपण करना है वह स्थान न देखना इत्यादि प्रतिष्ठापना समितिके अतिचार हैं।

२. निश्चय व्यवहार समिति समन्वय

१. समितिमें सम्यग् विशेषणकी आवश्यकता

स. सि./९/५/४११/६ सम्यग् इत्यनुवर्तते । तेनेर्यादयो विशेष्यन्ते। सम्यगीर्या सम्यग्भाषा…इति । —यहाँ 'सम्यक्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। उससे ईर्यादिक विशेष्यपनेको प्राप्त होते हैं—सम्यगीर्या सम्यग्भाषा…इत्यादि। (रा. वा./९/५/१/५९३/३२)।

भ. आ./वि/११५/२६७/१ सम्यग्विशेषणाज्जीवनिकायस्वरूपज्ञान-श्रद्धानपुरस्सरा प्रवृत्तिर्गृहीता । —इस (समितिके) लक्षणमें जो समितिका सम्यक् यह विशेषण है उसका भाव ऐसा है—जीवोंके भेद और उनके स्वरूपके ज्ञानके साथ श्रद्धान गुण सहित जो पदार्थ उठाना, रखना, गमन करना, बोलना इत्यादि प्रवृत्ति की जाती है वही सम्यक् है।

पु. सि. उ./२०३ सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् । सम्यग्ग्रहणनिक्षेपो व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ।२०३। —भले प्रकार गमन-आगमन, उत्तम हितमित रूप वचन, योग्य आहार-का ग्रहण, पदार्थोंका यत्नपूर्वक ग्रहण-विसर्जन, भूमि देखकर मूत्रादिका मोचन; नामका सम्यग्व्युत्सर्ग, ये पाँच समिति हैं।

२. प्रमाद न होना ही सच्ची समिति है

मो. मा. प्र./७/३३५/१० बहुरि परजीवनिकी रक्षाकै अर्थ यत्नाचार प्रवृत्ति ताकौं समिति मानैं हैं। सो हिंसाके परिणामनितैं तौ पाप हो है, अर रक्षाके परिणामनितैं संवर कहोगे, तौ पुण्यबंधका कारण कौन ठहरैगा। बहुरि एषणासमिति विषैं दोष टालै है। तहाँ रक्षाका प्रयोजन है नाहीं। तातैं रक्षा ही कै अर्थ समिति नाहीं है। तौ समिति कैसैं हो है—मुनिनकैं किंचित् राग भए गमनादि क्रिया हो है। तहाँ तिन क्रियानिविषैं अति आसक्तताके अभावतैं प्रमादरूप प्रवृत्ति न हो है। बहुरि और जीवनिकौं दुखी करि अपना गमनादि प्रयोजन न साधै है। तातैं स्वयमेव ही दया पलै है। ऐसैं साँची समिति है।

३. समितिका उपदेश असमर्थजनोंके लिए है

स. सि./९/५/४११/७ की उत्थानिका—तत्राशक्तस्य मुनेर्निरवद्यप्रवृत्ति-ख्यापनार्थमाह—। —गुप्तिके पालन करनेमें अशक्त मुनिके निर्दोष प्रवृत्तिकी प्रसिद्धिके लिए आगेका सूत्र कहते हैं। (रा. वा./९/६/-१/५९४/१६); (त. सा./६/६)।

४. समितिका प्रयोजन अहिंसाव्रतकी रक्षा

स. सि./९/५/४११/१० ता एताः पञ्च समितयो विदितजीवस्थानादि-विधेर्मुनेः प्राणिपीडापरिहाराभ्युपाया वेदितव्याः । —इस प्रकार कही गयी ये पाँच समितियाँ जीव स्थानादि विधिको जाननेवाले मुनिके प्राणियोंकी पीड़ाको दूर करनेके उपाय जानने चाहिए।

ला. सं./५/१८५ यथा समितयः पञ्च सन्ति..। अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तैः ।१८५। —अहिंसा व्रतकी रक्षा करनेके लिए श्रावकोंको पाँच समितियोंका पालन अवश्य करना चाहिए।

५. समिति पालनेका फल

भ. आ./मू./१२०१ पउमणिपत्तं व जहा उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुण-जुत्तं। तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधु काएसु इरियंतो ।१२०१। —स्नेहगुणसे युक्त कमलका पत्र जलसे लिप्त होता नहीं है तद्वत् प्राणियोंके शरीरमें विहार करनेवाला यतिराज समितियोंसे युक्त होनेसे पापसे लिप्त होता नहीं।

स. सि./९/५/४११/११ प्रवर्तमानस्यासंयमपरिणामनिमित्तकर्मास्रवात्सं-वरो भवति। —इस प्रकारसे (समितिपूर्वक) प्रवृत्ति करनेवालेके असंयम रूप परिणामोंके निमित्तसे जो कर्मोंका आस्रव होता है उसका संवर होता है।

समीकरण—Equation.

समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान—दे. शुक्लध्यान।

समुत्पत्तिक बन्धस्थान—दे. अनुभाग/१।

समुद्घात—१. समुद्घात सामान्यका लक्षण

रा. वा./१/२०/१२/७७/१२ हन्तेर्गमिक्रियात्वात् संभूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्हननं समुद्घातः। —वेदना आदि निमित्तोंसे कुछ आत्म-प्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकलना समुद्घात है। (गो. जी./जी. प्र./५४३/६३९/३)

ध. १/१,१,६०/३००/६ घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाश इति यावत्। ...उपरि घातः उद्घातः, समीचीन उद्घातः समुद्घातः। —(केवलि समुद्घातके प्रकरणमें) घातने रूप धर्मको घात कहते हैं, जिसका प्रकृतमें अर्थ कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका विनाश होता है।··· उत्तरोत्तर होनेवाले घातको उद्घात कहते हैं, और समीचीन उद्घातको समुद्घात कहते हैं।

गो. जी./मू./६६८ मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स। णिग्ग-मणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ।६६८। —मूल शरीरको न छोड़कर तैजस कार्मण रूप उत्तर देहके साथ-साथ जीव प्रदेशोंके शरीरसे बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं। (द्र. सं./टी./१०/२५ में उद्धृत)

२. समुद्घातके भेद

पं. सं./प्रा./१/१९९ वेयण कसाय वेउव्विय मारणंतिओ समुग्घाओ। तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं च ।१९९। —वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवलि समुद्घात; ये सात प्रकारके समुद्घात होते हैं। (रा. वा./१/२०/१२/७७/१२); (ध. ४/१,३,२/गा. ११/२९); (ध. ४/१,३,२/२६/५); (गो. जी./मू./-६६७/१११२); (बृ. द्र. सं./१०/२४); (गो. जी./जी. प्र./५४३/-९३६/१३); (पं. सं./१/११७)

★ समुद्घात विशेष—दे. वह वह नाम।

३. गमनकी दिशा सम्बन्धी नियम

दे. मरण/५/७ [मारणान्तिक समुद्घात निश्चयसे आगे जहाँ उत्पन्न होना है, ऐसे क्षेत्रकी दिशाके अभिमुख होता है, शेष समुद्घात दशों दिशाओंमें प्रतिबद्ध होते हैं।]

रा. वा./१/२०/१२/७७/२१ आहारकमारणान्तिकसमुद्घातावेकदिक्कौ। यत आहारकशरीरमात्मा निर्वर्तयन् श्रेणिगतित्वात् एकदिक्कानात्मप्रदेशानसंख्यातान्निर्गमय्य आहारकशरीरमरत्निमात्रं निर्वर्तयति। अन्यक्षेत्रसमुद्घातकारणाभावात् यत्रानेन नरकादावुत्पत्तव्यं तत्रैव मारणान्तिकसमुद्घातेन आत्मप्रदेशा एकदिक्काः समुद्घन्यन्ते, अतस्तावेकदिक्कौ। शेषाः पञ्च समुद्घाताः षड्दिक्काः। यतो वेदनादिसमुद्घातवशाद् बहिर्निःसृतानामात्मप्रदेशानां पूर्वापरदक्षिणोत्तरोर्ध्वाधोदिक्षु गमनमिष्टं श्रेणिगतित्वादात्मप्रदेशानाम्। —आहारक और मारणान्तिक समुद्घात एक ही दिशामें होते हैं। (गो. जी./मू./-६६९) क्योंकि आहारक शरीरकी रचनाके समय श्रेणि गति होनेके कारण एक ही दिशामें असंख्य आत्मप्रदेश निकलकर…आहारक शरीरको बनाते हैं। मारणान्तिकमें जहाँ नरक आदिमें जीवको मरकर उत्पन्न होना है वहाँकी ही दिशामें आत्मप्रदेश निकलते हैं। शेष पाँच समुद्घात छहों दिशाओंमें होते हैं। क्योंकि वेदना आदिके वशसे बाहर निकले हुए आत्मप्रदेश श्रेणीके अनुसार ऊपर, नीचे, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन छहों दिशाओंमें होते हैं।

४. अवस्थान काल सम्बन्धी नियम

रा. वा./१/२०/१२/७७/२६ वेदना-कषाय-मारणान्तिकतैजो-वैक्रियिकाहारकसमुद्घाताः षडसंख्येयसमयिकाः। केवलिसमुद्घातः अष्टसमयिकः। —वेदनादि छह समुद्घातोंका काल असंख्यात समय है। और केवलिसमुद्घातका काल आठ समय है। [विशेष—दे. केवली/७/८]।

५. समुद्घातोंके स्वामित्व विषयक ओघ आदेश प्ररूपणा

(ध. ४/१,२,३-२/३८-४७)

क्र.	गुणस्थान	ध/४/पृ.	वेदना	ध. ४/पृ.	कषाय	ध. ४/पृ.	मारणान्तिक	ध. ४/पृ.	वैक्रियिक	ध. ४/पृ.	तैजस	ध. ४/पृ.	आहारक	ध. ४/पृ.	केवली
१	मिथ्यादृष्टि	४३	हाँ	४३	हाँ	४३	हाँ	३८	हाँ	३८	नहीं	३८	नहीं	३८	नहीं
२	सासादन	४१	,,	४१	,,	,,	,,	४१	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३	मिश्र	,,	,,	,,	,,	४१	नहीं	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
४	असंयत	,,	,,	,,	,,	४३	हाँ	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
५	संयतासंयत	४४	,,	४४	,,	४४	,,	४४	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
६	प्रमत्त	४६	,,	४६	,,	४६	,,	४६	,,	४५	हाँ	४७	हाँ	,,	,,
७	अप्रमत्त	४७	नहीं	४७	नहीं	४७	,,	४७	नहीं	४७	नहीं	,,	नहीं	,,	,,
८	अपूर्व. क. उप.	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
९	,, ,, क्षपक	,,	,,	,,	,,	,,	नहीं	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१०	९-११ उप.	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
११	९-११ क्षपक	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१२	क्षीणकषाय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१३	सयोगी	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	४८	हाँ
१४	अयोगी	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	४७	नहीं

समुद्दिष्ट—अक्ष संचार गणितमें अक्ष या भंगके नामके आधारपर संख्या बताना समुद्दिष्ट है। विशेष—दे. गणित/II/३/१,२।

समुद्देश—उद्दिष्ट आहारका एक भेद—दे. उद्दिष्ट।

समुद्र—१. दे. सागर; २. मध्य लोकमें स्थित समुद्र—दे. लोक/५; ३. समुद्रके नक्शे—दे. लोक/७।

समुद्रगुप्त—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह गुप्तवंशी राजाओंका दूसरा राजा था। समय—वी. नि. ८५६-६०१ (ई. ३३०-३७५)—दे. इतिहास/३/४।

समुद्रविजय—ह. पु./सर्ग/श्लोक अन्धकवृष्णिका पुत्र था। तथा कृष्णके ताऊ थे। (१८/१२-१४) आदिनाथ भगवान्के पिता थे (३८/६; ४८/४३-४४) अन्तमें दीक्षा धारण कर (६१/६) गिरनार पर्वतपर-से मोक्ष प्राप्त किया (६५/१६)।

सम्मेदाचल माहात्म्य—पं. मनरंगलाल (ई. १७९३-१८४३) द्वारा विरचित भाषा छन्द बद्ध कृति।

सम्यक्—स. सि./१/१/५/३ सम्यगित्यव्युत्पन्नः शब्दो व्युत्पन्नो वा। अञ्चतेः क्वौ समञ्चतीति सम्यगिति। अस्यार्थः प्रशंसा। —'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढिक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरण सिद्ध है। 'सम्' उपसर्ग पूर्वक अञ्च धातुसे क्विप् प्रत्यय करनेपर 'सम्यक्' शब्द बनता है। संस्कृतमें इसकी व्युत्पत्ति 'समञ्चति इति सम्यक्' इस प्रकार होती है। इसका अर्थ प्रशंसा है।

रा. वा./१/२/१/१६/४ सम्यगित्ययं निपातः प्रशंसार्थो वेदितव्यः सर्वेषां प्रशस्तरूपगतिजातिकुलायुर्विज्ञानादीनाम् आभ्युदयिकानां मोक्षस्य च प्रधानकारणत्वात्। ... "सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः" इति वचनात् प्रशंसार्थाभाव इति; तन्न; अनेकार्थत्वान्निपातानाम्। अथवा, सम्यगिति तत्त्वार्थो निपातः,...अविपरीतार्थविषयं तत्त्वमित्युच्यते। अथवा क्वचन्तोऽयं शब्दः समञ्चतीति सम्यक्। यथा अर्थोऽवस्थितस्तथैवावगच्छतीत्यर्थः। —सम्यक् यह प्रशंसार्थक शब्द (निपात) है। यह प्रशस्त रूप, गति, जाति, आयु विज्ञानादि अभ्युदय और निःश्रेयसका प्रधान कारण होता है। 'सम्यगिष्टार्थतत्त्वयो'' इस प्रमाणके अनुसार सम्यक् शब्दका प्रयोग इष्टार्थ और तत्त्व अर्थमें होता है अतः इसका प्रशंसार्थ उचित नहीं है, इस शंकाका समाधान यह है कि निपात शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं। अथवा 'सम्यक्'का अर्थ तत्त्व भी किया जा सकता है।...अथवा यह क्विप् प्रत्ययान्त शब्द है। इसका अर्थ है जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जाननेवाला।

सम्यक्चारित्र—दे. चारित्र।

सम्यक्त्व—दे. सम्यग्दर्शन।

सम्यक्त्व कौमुदी—आ. शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) द्वारा रचित एक आध्यात्मिक ग्रन्थ।

सम्यक्त्व क्रिया—दे. क्रिया/३/२।

सम्यक्त्वप्रकृति—दे. मोहनीय/२। (ई. १५१६-१५५६) द्वारा

सम्यक्त्व लब्धि—दे. लब्धि/१/३।

सम्यक्त्ववाद—दे. अज्ञानवाद।

सम्यक्त्वाचरणचारित्र—दे. स्वरूपाचरणचारित्र।

सम्यक् नय—दे. नय/II।

सम्यक् प्रकृति—दे. मोहनीय/२।

सम्यक मिथ्यात्व गुणस्थान—दे. मिश्र।

सम्यगनेकांत—दे. अनेकान्त/१।

सम्यगेकांत—दे. एकान्त/१

सम्यग्ज्ञान—दे. ज्ञान/III।

सम्यग्दर्शन—दुरभिनिवेश रहित पदार्थोंका श्रद्धान अथवा स्वात्म प्रत्यक्षपूर्वक स्व-पर भेदका या कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक सम्यग्दर्शन कहा जाता है। किन्हींको यह स्वभावसे ही होता है और किन्हींको उपदेशपूर्वक। आज्ञा आदिकी अपेक्षा यह दश प्रकारका तथा कर्मोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी अपेक्षा तीन प्रकारका होता है। इनमें-से पहले दो अत्यन्त निर्मल व निश्चल होते हैं, पर तीसरेमें समल होनेके कारण कदाचित् कुछ अतिचार लगने सम्भव हैं। रागके सद्भाव व अभावकी अपेक्षा भी इसके सराग व वीतराग दो भेद हैं। तहाँ सराग तो प्रशम, संवेग आदि गुणोंके द्वारा अनुमानगम्य है और वीतराग केवल स्वानुभवगम्य है। सभी भेद निःशंकित आदि आठ गुणोंसे भूषित होते हैं। सम्यक्त्व व ज्ञानमें महान् अन्तर होता है जो सूक्ष्म विचारके बिना पकड़में नहीं आता। जितनी भी विकल्पात्मक उपलब्धियाँ, श्रद्धा, अनुभव आदि हैं वे सब ज्ञानरूप हैं, सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प होनेके कारण अन्तरमें अभिप्राय या लब्धरूप अवस्थित मात्र रहा करता है। मोक्षमार्गमें इसका सर्वोच्च स्थान है, क्योंकि इसके बिनाका आगम ज्ञान, चारित्र, व्रत, तप आदि सब वृथा हैं। सम्यग्दर्शनके लक्षणोंमें भी स्वात्म संवेदन सर्वप्रधान है, क्योंकि बिना इसके तत्त्वोंकी श्रद्धा आदि अकिंचित्कर है। ये सम्यग्दर्शन स्वतः या किसीके उपदेशसे, या जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन आदिके निमित्तसे काल पाकर भव्य जीवोंको उत्पन्न होता है। इसको प्राप्त करनेकी योग्यता केवल संज्ञी पर्याप्त जीवोंमें चारों ही गतियोंमें होती है। अनादि मिथ्यादृष्टिको सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। वहाँसे नियमसे गिरकर वह पुनः मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है। पीछे कदाचित् वेदक-सम्यक्त्वको और तत्पूर्वक यथायोग्य गुणस्थानोंमें द्वितीयोपशम व क्षायिक हो जाता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन अत्यन्त अचल व अप्रतिपाती है, तथा केवली-के पादमूलमें मनुष्योंको ही होना प्रारम्भ होता है। पीछे यदि मरण हो जाये तो चारों गतियोंमें पूर्ण होता है।

२	क्षायिक सम्यक्त्वका स्वामित्व । १. गति व पर्याप्तिकी अपेक्षा । २. प्रस्थापक व निष्ठापककी अपेक्षा । ३. गुणस्थानोंकी अपेक्षा ।
३	तीर्थंकर आदिके सद्भाव युक्त क्षेत्र व कालमें ही सम्भव है ।
*	तीर्थंकर सत्कर्मिकको इसकी प्रतिष्ठापनाके लिए केवलीके पादमूल दरकार नहीं । –दे. तीर्थंकर/३/११ ।
*	इसकी प्रतिष्ठापना अढ़ाई द्वीपसे बाहर संभव नहीं । तथा तद्गत शंकाएँ । – दे. तिर्यंच/२/११ ।
४	वेदक सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है ।
*	दर्शनमोह क्षपण विधि । —दे. क्षय/२ ।
५	क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयत होते हैं पर अत्यंत अल्प ।
*	तीनों वेदोंमें क्षायिक सम्यक्त्वका कथंचित् विधि-निषेध । —दे. वेद/६ ।
*	एकेन्द्रिय या निगोदसे आकर सीधे क्षायिक सम्यक्त्व-की प्राप्ति सम्बन्धी । —दे. जन्म/५ ।
*	गतियों व गुणस्थानोंमें इसका स्वामित्व, सत् , संख्या आदि प्ररूपणाएँ, कर्मोंके बन्ध आदि, मरण व जन्म व संसारस्थिति सम्बन्धी नियम । —दे. सम्यग्दर्शन/IV/१ ।

I सम्यग्दर्शन सामान्य निर्देश

१. सामान्य सम्यग्दर्शन निर्देश

१. सम्यग्दर्शनके भेद

स. सि./१/७/२८/४ विधानं सामान्यादेकं सम्यग्दर्शनम् । द्वितयं निसर्गजाधिगमजभेदात् । त्रितयं औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिक-भेदात् । एवं संख्येया विकल्पतः शब्दतः । असंख्येया अनन्ताश्च भवन्ति श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात् (अध्यवसायभेदात्—रा. वा.) । —भेदकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन सामान्यसे एक है । निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका है (त. सू./१/३) । औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है । (और भी दे. सम्यग्दर्शन/IV/१) । शब्दोंकी अपेक्षा संख्यात प्रकारका है, तथा श्रद्धान करनेवालेकी अपेक्षा असंख्यात प्रकारका है, और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों व अध्यवसायोंकी अपेक्षा अनन्त प्रकारका है । (रा. वा./१/७/१४/४०/२९): (द. पा./टी./१२/१२/११) ।

रा. वा./३/३६/२/२०१/१२ दर्शनार्या दशधा—आज्ञामार्गोपदेशसूत्रबीज-संक्षेपविस्तारार्थावगाढपरमावगाढरुचिभेदात् । —आज्ञा, मार्ग, उप-देश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ रुचिके भेदसे दर्शनार्य दश प्रकार हैं । (आ. अनु./११); (अन. ध./२/६२/१८५)

२. आज्ञा आदि १० भेदोंके लक्षण

रा. वा./३/३६/२/२०१/१३ तत्र भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीताज्ञामात्रनिमि श्रद्धाना आज्ञारुचयः । निःसंगमोक्षमार्गश्रवणमात्रजनितरुचयो म रुचयः । तीर्थकरबलदेवादिशुभचरितोपदेशहेतुकश्रद्धाना उपदे रुचयः । प्रव्रज्यामर्यादाप्ररूपणाचारसूत्रश्रवणमात्रसमुद्भूतसम्यग्दर्श सूत्ररुचयः । बीजपदग्रहणपूर्वकसूक्ष्मार्थतत्त्वार्थश्रद्धाना बीजरुच जीवादिपदार्थसमाससंबोधनसमुद्भूतश्रद्धानाः संक्षेपरुचयः । अङ्गपू विषयजीवाद्यर्थविस्तारप्रमाणनयादिनिरूपणोपलब्धश्रद्धाना विस्त रुचयः । वचनविस्तारविरहितार्थग्रहणजनितप्रसादा अर्थरुच आचारादिद्वादशाङ्गाभिनिविष्टश्रद्धाना अवगाढरुचयः । परमाव केवलज्ञानदर्शनप्रकाशितजीवाद्यर्थविषयात्मप्रसादाः परमावग रुचयः । —भगवत् अर्हंत सर्वज्ञकी आज्ञामात्रको मानकर सम्य र्शनको प्राप्त हुए जीव आज्ञारुचि हैं । अपरिग्रही मोक्षमार्गके श्र मात्रसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए जीव मार्गरुचि हैं । तीर्थंकर बल आदि शुभचारित्रके उपदेशको सुनकर सम्यग्दर्शनको धारण क वाले उपदेशरुचि हैं । दीक्षा आदिकके निरूपक आचारांगादिसू सुननेमात्रसे जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, वे सूत्ररुचि हैं । बीजपद ग्रहणपूर्वक सूक्ष्मार्थ तत्त्वार्थ श्रद्धानको प्राप्त करनेवाले बीजरुचि जीवादि पदार्थोंके संक्षेप कथनसे ही सम्यग्दर्शनको प्राप्त होने संक्षेपरुचि हैं । अंगपूर्वके विषय, प्रमाण नय आदिके विस्तार कथ जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है वे विस्ताररुचि हैं । वचन विस्तारके बि केवल अर्थ ग्रहणसे जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है वे अर्थरुचि हैं । आ रांग द्वादशांगमें जिनका श्रद्धान अतिदृढ़ है वे अवगाढरुचि हैं । पर वधि या केवलज्ञान दर्शनसे प्रकाशित जीवादि पदार्थविषयक प्रका जिनकी आत्मा विशुद्ध है वे परमावगाढरुचि हैं ।

आ. अनु./१२-१४ आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञ त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः । मार्गश्रद्धानम पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता, या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशा रादेशि दृष्टिः ।१२। आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधा सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः । केश्चिज्जात लब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्, संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमु गतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ।१३। यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ विद्धि विस्तारदृष्टिं, संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेण दृष्टि. । दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा, कैवल लोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ।१४। —दर्शनमो उपशान्त होनेसे ग्रन्थश्रवणके बिना केवल वीतराग भगवान्की आज्ञ ही जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है वह आज्ञासम्यक्त्व है । दर्श मोहका उपशम होनेसे ग्रन्थश्रवणके बिना जो कल्याणकारी मोक्षमा का श्रद्धान होता है उसे मार्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं । तिरसठ शला पुरुषोंके पुराण (वृत्तान्त) के उपदेशसे जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न हो है उसे उपदेश सम्यग्दर्शन कहा है ।१२। मुनिके चारित्रानुष्ठान सूचित करनेवाले आचारसूत्रको सुनकर जो तत्त्वार्थश्रद्धान होत उसे सूत्रसम्यग्दर्शन कहा गया है । जिन जीवादिपदार्थोंके समू अथवा गणितादि विषयोंका ज्ञान दुर्लभ है उनका किन्हीं बीजपद द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाले भव्यजीवके जो दर्शनमोहनीयके असाधा उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है उसे बीजसम्यग्दर्शन कहते हैं । भव्यजीव पदार्थोंके स्वरूपको संक्षेपसे ही जान करके तत्त्वश्रद्धान प्राप्त हुआ है उसके उस सम्यग्दर्शनको संक्षेप सम्यग्दर्शन कहा जा है ।१३। जो भव्यजीव १२ अंगोंको सुनकर तत्त्वश्रद्धानी हो जाता उसे विस्तार सम्यग्दर्शनसे युक्त जानो । अंग बाह्य आगमोंके पढ़ बिना भी उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थके निमित्तसे जो अर्थश्रद्ध होता है वह अर्थसम्यग्दर्शन कहलाता है । अंगोंके साथ अंगबा श्रुतका अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे अवगा सम्यग्दर्शन कहते हैं । केवलज्ञानके द्वारा देखे गये पदार्थों के वि

में रुचि होती है वह यहाँ परमावगाढ सम्यग्दर्शन इस नाम से प्रसिद्ध है ।१४। (द. पा./टी./१२/१२/२०)।

३. आज्ञा सम्यग्दर्शनकी विशेषताएँ

गो. जी./जी. प्र./२७/५६/१२ यः अर्हदाद्युपदिष्टं प्रवचनं आप्तागमपदार्थत्रयं श्रद्धाति रोचते, तेषु असद्भावं अतत्त्वमपि स्वस्य विशेषज्ञानशून्यत्वेन केवलगुरुनियोगात् अर्हदाद्याज्ञातः श्रद्धाति सोऽपि सम्यग्दृष्टिरेव भवति तदाज्ञाया अनतिक्रमात् । –जो व्यक्ति अर्हंत आदिके उपदिष्ट प्रवचनकी या आप्त आगम व पदार्थ इन तीनोंकी श्रद्धा करता है और विशेष ज्ञान शून्य होनेके कारण केवल गुरुनियोगसे या अर्हंतकी आज्ञासे अतत्त्वोंका भी श्रद्धान कर लेता है वह भी सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि, उसने उनकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया है। (विशेष दे. श्रद्धान/३)

अन. ध./२/६३/१८६ देवोऽर्हन्नेव तस्यैव वचस्तथ्यं शिवप्रदः । धर्मस्तदुक्त एवेति निर्बन्ध साधयेद् दृशम् ।६३। –एक अर्हंत ही देव है और उसका वचन ही सत्य है । उसका कहा गया धर्म ही मोक्षप्रद है । इस प्रकारका अभिनिवेश ही आज्ञासम्यक्त्वको सिद्ध करता है ।६३।

ध. १/१,१,१४४/गा. २१२/३९५ छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं । आणाए अहिगमेण व सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।२१२। –जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, और नव पदार्थोंकी आज्ञा अथवा अधिगमसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ।२१२। (ध. ४/१,५,१/गा. ६/३१६)

४. सम्यग्दर्शनमें 'सम्यक्' शब्दका महत्त्व

स. सि./१/१/५/३ सम्यगित्यव्युत्पन्नः शब्दो व्युत्पन्नो वा । अञ्चतेः क्वौ समञ्चतीति सम्यगिति । अस्यार्थः प्रशंसा । स प्रत्येकं परिसमाप्यते । सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति । भावानां याथात्म्यप्रतिपत्तिविषयश्रद्धानसंग्रहार्थं दर्शनस्य सम्यग्विशेषणम् । –'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढिक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरण सिद्ध है । जब यह व्याकरणसे सिद्ध किया जाता है तब 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'अञ्च्' धातुसे क्विप् प्रत्यय करनेपर 'सम्यक्' शब्द बनता है । संस्कृतमें इसकी व्युत्पत्ति 'समञ्चति इति सम्यक्' इस प्रकार होती है । प्रकृतमें इसका अर्थ प्रशंसा है । सूत्रमें आये हुए इस शब्दको दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें-से प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र । पदार्थोंके यथार्थ ज्ञान मूलके श्रद्धानका संग्रह करनेके लिए दर्शनके पहले सम्यक् विशेषण दिया है । (रा. वा./१/१/३५/१०/६)

पं. ध./उ./४१७ सम्यक्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः । सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद्व्यभिचारिणः ।४१७। –सम्यक् और मिथ्या विशेषणोंके बिना केवल श्रद्धा आदिकी, सपक्षके समान विपक्षमें भी वृत्ति रहनेके कारण वे व्यभिचार दोषसे युक्त हैं ।

५. सम्यग्दर्शनमें दर्शन शब्दका अर्थ

१. सत्ता मात्र अवलोकन इष्ट नहीं है

द्र. सं./टी./४३/१८६/६ नेवमेव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनं वक्तव्यम् । कस्मादिति चेत्–तत्र श्रद्धानं विकल्परूपमिदं तु निर्विकल्पं मतः । –इस दर्शनको अर्थात् सत्तावलोकनमात्र दर्शनोपयोगको 'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है' इस सूत्रमें जो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन कहा गया है, सो न कहना चाहिए । इसका तात्पर्य यह है कि उपरोक्त श्रद्धान तो विकल्परूप है और यह (दर्शनोपयोग) निर्विकल्प है । (विशेष दे. सम्यग्दर्शन/II)।

२. कथंचित् सत्तामात्रावलोकन भी इष्ट है

रा. वा./२/७/६/११०/६ मिथ्यादर्शने अदर्शनस्यावरोधो भवति । निद्रानिद्रादीनामपि दर्शनसामान्यावरणत्वात्तत्रैवान्तर्भावः । ननु च तत्त्वार्थाश्रद्धानं मिथ्यादर्शनमित्युक्तम्; सत्यमुक्तम्; सामान्यनिर्देशे विशेषान्तर्भावात्, सोऽप्येको विशेषः । अयमपरो विशेषः–अदर्शनमप्रतिपत्तिर्मिथ्यादर्शनमिति । –मिथ्यादर्शनमें दर्शनावरणके उदयसे होनेवाले अदर्शनका अन्तर्भाव हो जाता है । और दर्शनसामान्यको आवरण करनेवाली होनेके कारण (दे. दर्शन/४/६), निद्रानिद्रा आदिका भी यहाँ ही अन्तर्भाव होता है । प्रश्न–तत्त्वार्थके अश्रद्धानको मिथ्यादर्शन कहा गया है? उत्तर–वह ठीक ही कहा गया है, क्योंकि, सामान्य निर्देशमें विशेषका अन्तर्भाव हो जाता है । तथा दूसरी बात यह है कि अदर्शन नाम अप्रतिपत्तिका है और वही मिथ्यादर्शन है । [अर्थात् स्वपर स्वरूपका यथार्थ अवलोकन न होना ही मिथ्यादर्शन है ।]

दे. दर्शन/१/३ अन्तरंग चित्प्रकाशका नाम अथवा जाननेके प्रति आत्मप्रयत्नका नाम दर्शनोपयोग है । अथवा स्वरूप संवेदनका नाम दर्शनोपयोग है ।

दे. मोक्षमार्ग/१/६ दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों ही दर्शन व ज्ञानरूप सामान्य व विशेष परिणति है ।

दे. आगे इसी शीर्षकका समन्वय–[लौकिक जीवोंको दर्शनोपयोगसे बहिर्विषयोंका सत्तावलोकन होता है और सम्यग्दृष्टियोंको उसी दर्शनोपयोगसे आत्माका सत्तावलोकन होता है । दर्शन, श्रद्धा, रुचि ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं ।]

३. व्यवहार लक्षणमें दर्शनका अर्थ श्रद्धा इष्ट है

स. सि./१/२/९/३ दृष्टेरालोकार्थत्वात् श्रद्धार्थगतिर्नोपपद्यते । धातूनामनेकार्थत्वाददोषः । प्रसिद्धार्थत्यागः कुत इति चेन्मोक्षमार्गप्रकरणात् । तत्त्वार्थश्रद्धानं ह्यात्मपरिणामो मोक्षसाधनं युज्यते, भव्यजीवविषयत्वात् । आलोकस्तु चक्षुरादिनिमित्तः सर्वसंसारिजीवसाधारणत्वान्न मोक्षमार्गो युक्तः । –प्रश्न–दर्शन शब्द 'दृशि' धातुसे बना है जिसका अर्थ आलोक है अतः इससे श्रद्धानरूप अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता? उत्तर–धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं, अतः 'दृशि' धातुका श्रद्धानरूप अर्थ करनेमें कोई दोष नहीं है । प्रश्न–यहाँ (अर्थात् 'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग् है'–दे. सम्यग्दर्शन/II/१, इस प्रकरणमें) दृशि धातुका प्रसिद्ध अर्थ क्यों छोड़ दिया? उत्तर–मोक्षमार्गका प्रकरण होनेसे ।–तत्त्वार्थोंका श्रद्धानरूप जो आत्माका परिणाम होता है वह तो मोक्षका साधन बन जाता है, क्योंकि वह भव्योंके ही पाया जाता है, किन्तु आलोक, चक्षु आदिके निमित्तसे होता है जो साधारणरूपसे सब संसारी जीवोंके पाया जाता है, अतः उसे मोक्षमार्ग मानना युक्त नहीं । (रा. वा./१/२/२-४/१९/१०); (श्लो. वा./२/१/२/२/४)

नि. सा./ता. वृ./३ दर्शनमपि...जीवास्तिकायसमुजनितपरमश्रद्धानमेव भवति ।

नि. सा./ता. वृ./१३ कारणदृष्टिः...सहजपरमपारिणामिकभावस्वभावस्य कारणसमयसारस्वरूपस्य...स्वरूपश्रद्धानमात्रमेव । –१. शुद्ध जीवास्तिकायसे उत्पन्न होनेवाला जो परम श्रद्धान वही दर्शन है । २. कारण दृष्टि परमपारिणामिकभावरूप जिसका स्वभाव है, ऐसे कारणसमयसारस्वरूप आत्माके यथार्थ स्वरूपश्रद्धानमात्र है ।

प्र. सा./ता. वृ./८२/१०४/१६ तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धाः ।

प्र. सा./ता. वृ./२४०/३३३/१५ दर्शनशब्देन निजशुद्धात्मश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं ग्राह्यम् । –१. तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणरूप दर्शनसे शुद्ध

हुआ दर्शनशुद्ध कहलाता है। २. दर्शन शब्दसे निजशुद्धात्म श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिए।

४. उपरोक्त दोनों अर्थोंका समन्वय

चा. पा./मू./१८ सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया। सम्मेण य सद्दहदि परिहरदि चरित्तजे दोसे।१८। –यह आत्मा सम्यग्दर्शनसे सत्तामात्र वस्तुको देखता है और सम्यग्ज्ञानसे द्रव्य व पर्यायको जानता है। सम्यक्त्वके द्वारा द्रव्य पर्यायस्वरूप वस्तुका श्रद्धान करता हुआ चारित्रजनित दोषोंको दूर करता है।

दे. मोहनीय/२/१/ में ध./१ —१. दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और स्पर्शन ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। (दे. मिश्र/१/१ में ध./१/१६६)—२. आप्त या आत्मामें, आगम और पदार्थोंमें रुचि या श्रद्धाको दर्शन कहते हैं।

ध. १/१,१,१३३/३८४/४ अस्वसंविद्रूपो न कदाचिदप्यात्मोपलभ्यत इति चेन्न, तस्य बहिरङ्गोपयोगावस्थायामन्तरङ्गोपयोगानुपलम्भात्। –प्रश्न—अपने आपके संवेदनसे रहित आत्माकी तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बहिरंगपदार्थोंकी उपयोगरूप अवस्थामें अन्तरंग पदार्थका उपयोग नहीं पाया जाता है।

प. प्र./टी./२/१३/१२७/६ तत्त्वार्थश्रद्धानरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं मोक्षमार्गो भवति नास्ति दोषः, पश्यति निर्विकल्परूपेणावलोकयति इत्येवं यदुक्तं तत्सत्तावलोकदर्शनं कथं मोक्षमार्गो भवति, यदि भवति चेत्तर्हि तत्सत्तावलोकदर्शनमभव्यानामपि विद्यते, तेषामपि मोक्षो भवति स चागमविरोध इति। परिहारमाह—तेषां निर्विकल्पसत्तावलोकदर्शनं बहिर्विषये विद्यते न चाभ्यन्तरशुद्धात्मतत्त्वविषये।

प. प्र./टी./२/३४/१५४/१५ निजात्मा तस्य दर्शनमवलोकनं दर्शनमिति व्याख्यातं भवद्भिरिदं तु सत्तावलोकदर्शनं मिथ्यादृष्टीनामप्यस्ति तेषामपि मोक्षो भवतु। परिहारमाह। चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदेन चतुर्धा दर्शनम्। अत्र चतुष्टयमध्ये मानसमचक्षुर्दर्शनमात्मग्राहकं भवति, तच्च मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमजनिततत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यक्त्वाभावात् शुद्धात्मतत्त्वमेवोपादेयमिति श्रद्धानाभावे सति तेषां मिथ्यादृष्टीनां न भवत्येवेति भावार्थः। –१. प्रश्न—'तत्त्वार्थ श्रद्धा या तत्त्वार्थरुचिरूप सम्यग्दर्शन (दे. सम्यग्दर्शन/II/१) मोक्षमार्ग होता है', ऐसा कहनेमें दोष नहीं; परन्तु 'जो देखता है या निर्विकल्परूपसे अवलोकन करता है' ऐसा सत्तावलोकनरूप दर्शन जो आपने कहा है, वह मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है। यदि 'हो तो है', ऐसा मानो तो वह सत्तावलोकनरूप दर्शन तो अभव्योंके भी होता है, उनको भी मोक्ष होना चाहिए और इस प्रकार आगमके साथ विरोध आता है? उत्तर—उनके निर्विकल्प सत्तावलोकरूप दर्शन बाह्य विषयोंमें ही होता है, अभ्यन्तर शुद्धात्म तत्त्वके विषयमें नहीं। २. प्रश्न—निजात्माके दर्शन या अवलोकनको आपने दर्शन कहा है, और वह सत्तावलोकरूप दर्शन मिथ्यादृष्टियोंके भी होता है। उनको भी मोक्ष होना चाहिए? उत्तर—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलके भेदसे दर्शन चार प्रकारका है। इन चारोंमें-से यहाँ मानस अचक्षु दर्शन आत्मग्राहक होता है। और वह मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशम जनित तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणवाले सम्यग्दर्शनका अभाव होनेके कारण, 'शुद्धात्मतत्त्व ही उपादेय है' ऐसे श्रद्धानका अभाव है। इसलिए वह मोक्ष उन मिथ्यादृष्टियोंके नहीं होता है।

दे. सम्यग्दर्शन/II/३ (सच्चा तत्त्वार्थ श्रद्धान वास्तवमें आत्मानुभव सापेक्ष ही होता है।)

६. सम्यग्दर्शनके अपर नाम

म. पु./९/१२३ श्रद्धारुचिस्पर्शप्रत्ययाश्चेति पर्ययाः।१२३। –श्रद्धा, रुचि स्पर्श और प्रत्यय या प्रतीति ये सम्यग्दर्शनके पर्याय हैं। (पं. ध./उ./४११)।

७. सम्यक्त्वकी विराधना व पुनः पुनः प्राप्ति सम्बन्धी नियम

दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/५—[मनुष्योंमें जन्म लेनेके आठ वर्ष पश्चात् व देव नारकियोंमें अन्तर्मुहूर्त पश्चात् और तिर्यंचोंको दिवस पृथक्त्व पश्चात् प्रथम सम्यक्त्व होना सम्भव है, इससे पहले नहीं।]

दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/७ [उपशम सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त काल पश्चात् अवश्य छूट जाता है।]

दे. सम्यग्दर्शन/IV/४/७ [वेदकसम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वसे च्युत होते हैं पर अत्यन्त अल्प।]

दे. सम्यग्दर्शन/IV/५/१ [क्षायिक सम्यग्दर्शन अप्रतिपाती है।]

दे. सम्यग्दर्शन/IV/४/८ [एक बार गिरनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त कालसे पहले सम्यक्त्व पुनः प्राप्त नहीं होता।]

दे. आयु/६/८ [वर्द्धमान देवायुवालेका सम्यक्त्व विराधित नहीं होता।]

दे. तीर्थंकर/३/८ [तीर्थंकर प्रकृति सत्कर्मिकका सम्यक्त्व विराधित नहीं होता।]

दे. लेश्या/५/१ [शुभ लेश्याओंमें सम्यक्त्व विराधित नहीं होता।]

दे. संयम/२/१० [औपशमिक व वेदक सम्यक्त्व व अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना पल्यके असंख्यातवें भाग बार विराधित हो सकते हैं इससे आगे वे नियमसे मुक्त होते हैं।]

दे. श्रेणी/३ उपसमश्रेणीके साथ द्वितीयोपशम सम्यक्त्व अधिकसे अधिक चार बार विराधित होता है।]

दे. सम्यग्दर्शन/I/५/४ [क्षायिक सम्यग्दृष्टि जघन्यसे ३ भव और उत्कर्षसे ७-८ भवोंमें अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है।]

२. सम्यग्दर्शनके अंग अतिचार आदि

१. सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका नाम

मू. आ./२०१ णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदिगिंच्छा अमूढदिट्ठी य। उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ।२०१। –निःशंकित निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्वके अंग या गुण जानने चाहिए।२०१। (स. सि./६/२४/३३८/६); (रा. वा./६/२४/१/५२९/६); (वसु. श्रा./४८); (पं. ध./उ./४७९-४८०)

२. आठों अंगोंकी प्रधानता

र. क. श्रा./२१ नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम्। न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्।२१। –जैसे एक दो अक्षरहीन अशुद्ध मन्त्र विषकी वेदनाको नष्ट नहीं करता है, वैसे ही अंगरहित सम्यग्दर्शन भी संसारकी स्थिति छेदनेको समर्थ नहीं है। (चा. सा./६/१)

का. अ./मू./४२५ णिस्संकापहुदि गुणा जह धम्मे तह य देव गुरु तच्चे। जाणेहि जिणमयादो सम्मत्तविसोहया एदे।४२५। –ये निःशंकितादि आठ गुण जैसे धर्मके विषयमें कहे वैसे ही देव गुरु और तत्त्वके विषयमें भी जैनागमसे जानने चाहिए। ये आठों अंग सम्यग्दर्शनको विशुद्ध करते हैं। (वसु. श्रा./५०)।

३. सम्यग्दर्शनके अनेकों गुण

(स. सा./प्रक्षेपक गा./१७७)—संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरहा य उवसमो भत्ती। वच्छल्लं अणुकंपा गुणट्ठ सम्मत्तजुत्तस्स।—संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकंपा, वात्सल्य ये आठ गुण सम्यक्त्व युक्त जीवके होते हैं। (चा. सा./६/१); (वसु. श्रा./४९); (ध./उ./४६५ में उद्धृत)।

ज्ञा./६/७ में उद्धृत श्लो. सं. ४ एकं प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम्। आत्मनः शुद्धिमात्रं स्यादितरच्च समन्ततः ।४।—एक (सराग) सम्यक्त्व तो प्रशम संवेग अनुकम्पा व आस्तिक्यसे चिह्नित है और दूसरा (वीतराग) समस्त प्रकारसे आत्माकी शुद्धिमात्र है। (पं. ध./उ./४२४-२५); (और भी दे. सम्यग्दर्शन/II/४/१)।

म. पु./२१/९७ संवेगः प्रशमः स्थैर्यम् असंमूढत्वमस्मयः। आस्तिक्यमनुकम्पेति ज्ञेयाः सम्यक्त्वभावनाः।९७।—संवेग, प्रशम, स्थिरता, अमूढता, गर्व न करना, आस्तिक्य और अनुकम्पा ये सात सम्यग्दर्शनकी भावनाएँ जाननेके योग्य हैं।९७। (म. पु./९/१२३)।

का. अ./मू./३१५ उत्तमगुणगहणरओ उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो। साहम्मिय अणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो।३१५।—जो उत्तम गुणोंको ग्रहण करनेमें तत्पर रहता है, उत्तम साधुओंकी विनय करता है तथा साधर्मी जनोंसे अनुराग करता है वह उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि है।

दे. सम्यग्दृष्टि/२/ (सम्यक्त्वके साथ ज्ञान, वैराग्य व चारित्र अवश्यम्भावी हैं)।

दे. सम्यग्दर्शन/II/२ (आत्मानुभव सम्यग्दर्शनका प्रधान चिह्न है)।

दे. सम्यग्दर्शन/II/१/१ (देव गुरु शास्त्र धर्म आदिके प्रति भक्ति तत्त्वोंके प्रति श्रद्धा सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं)।

दे. सम्यग्दृष्टि/५ (सम्यग्दृष्टिमें अपने दोषोंके प्रति निन्दन गर्हण अवश्य होता है)।

४. सम्यग्दर्शनके अतिचार

त. सू./७/२३ शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ।२३।—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दृष्टिके ५ अतिचार हैं। (भ. आ./वि./१६/६२/१४; तथा ४८७/७०७/१)।

५. सम्यग्दर्शनके २५ दोष

ज्ञा./६/८ में उद्धृत—मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्। अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः।—तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शंकादि आठ दोष अर्थात् आठ अंगोंसे उलटे आठ दोष ये २५ दोष सम्यग्दर्शनके कहे गये हैं। (द्र. सं./टी./४१/१६६/१०)।

६. कारणवश सम्यक्त्वमें अतिचार लगनेकी संभावना सम्बन्धी

स. सि./७/२३/३६४/८ तत्सम्यग्दर्शनं किं सापवादं निरपवादमिति। उच्यते—कस्यचिन्मोहनीयावस्थाविशेषात्कदाचिदिमे भवन्त्यपवादाः—।—प्रश्न—सम्यग्दर्शन सापवाद होता है या निरपवाद? उत्तर—किसी जीवके मोहनीयकी अवस्था विशेषके कारण ये (अगले सूत्रमें बताये गये शंका कांक्षा आदि) अपवाद या अतिचार होते हैं।

दे. सम्यग्दर्शन/IV/४ (सम्यक्प्रकृतिके उदयसे चलमल आदि दोष होते हुए उससे सम्यक्त्वमें क्षति नहीं होती)।

३. सम्यग्दर्शनकी प्रत्यक्षता व परोक्षता

१. छद्मस्थोंका सम्यक्त्व भी सिद्धोंके समान है

दे. देव/I/१/५ (आचार्य, उपाध्याय व साधु इन तीनोंके रत्नत्रय भी सिद्धोंके समान हैं)।

दे. सम्यग्दर्शन/IV/१ (उपशम, क्षायिक व क्षायोपशमिक इन तीनों सम्यक्त्वोंमें यथार्थ श्रद्धानके प्रति कोई भेद नहीं है)।

पं. का./ता. वृ./१६०/२३१/१२ वीतरागसर्वज्ञप्रणीतजीवादिपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धानं ज्ञानं चेत्युभयं गृहस्थतपोधनयोः समानं चारित्रं...। —वीतराग सर्वज्ञप्रणीत जीवादि पदार्थोंके विषयमें सम्यक् श्रद्धान व ज्ञान ये दोनों गृहस्थ व तपोधन साधुओंके समान ही होते हैं। परन्तु इनके चारित्रमें भेद है।

मो. मा. प्र./९/४७५/११ जैसे छद्मस्थके श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति पाइए है...जैसा सप्ततत्त्वनिका श्रद्धान छद्मस्थके भया था, तैसा ही केवली सिद्ध भगवान्‌के पाइए है। तातैं ज्ञानादिककी हीनता अधिकता होतैं भी तिर्यंचादिक वा केवली सिद्ध भगवान्‌कैं सम्यक्त्व गुण समान है।

२. सम्यग्दर्शनमें कथंचित् स्व-परगम्यता

श्लो. वा./२/१/२/श्लो. १२/२१ सरागे वीतरागे च तस्य संभवतोऽञ्जसा। प्रशमादेरभिव्यक्तिः शुद्धिमात्रा च चेतसः ।१२।

श्लो. वा. २/१/२/१२/पृष्ठ/पंक्ति—एतानि प्रत्येकं समुदितानि वा स्वस्मिन् स्वसंविदितानि, परत्र कायवाग्व्यवहारविशेषलिङ्गानुमितानि सरागसम्यग्दर्शनं ज्ञापयन्ति, तदभावे मिथ्यादृष्टिष्वसंभविष्णुत्वात् संभवे वा मिथ्यात्वायोगात्। (३४/१७)। मिथ्यादृशामपि केषांचित्क्रोधाद्यनुद्रेकदर्शनात् प्रशमोऽनैकान्तिक इति चेन्न. तेषामपि सर्वथैकान्तेऽनन्तानुबन्धिनो मानस्योदयात्। स्वात्मनि चानेकान्तात्मनि द्वेषोदयस्यावश्यंभावात् पृथिवीकायिकादिषु प्राणिषु हननदर्शनाच्च। (३५/५)। नन्वेवं यथा सरागेषु तत्त्वार्थश्रद्धानं प्रशमादिभिरनुमीयते यथा वीतरागेष्वपि तत्तैः किं नानुमीयते। इति चेन्न, तस्य स्वस्मिन्नात्मविशुद्धिमात्रत्वात् सकलमोहाभावे समारोपानवतारात् स्वसंवेदनादेव निश्चयोपपत्तेरनुमेयत्वाभावः। परत्र तु प्रशमादीनां तल्लिङ्गानां सतामपि निश्चयोपायानां कायादिव्यवहारविशेषाणामपि तद्व्यापारानामभावात्। (४४/१०)। कथमिदानीमप्रमत्तादिषु सूक्ष्मसाम्परायान्तेषु सद्दर्शनं प्रशमादेरनुमातुं शक्यम्। तन्निर्णयोपायानां कायादिव्यवहारविशेषाणामभावादेव ...सोऽप्यभिहितानभिज्ञः, सर्वेषु सरागेषु सद्दर्शनं प्रशमादिभिरनुमीयत इत्यनभिधानात्। यथासंभवं सरागेषु वीतरागेषु च सद्दर्शनस्य तदनुमेयत्वमात्मविशुद्धिमात्रत्वं चेत्यभिहितत्वात्। (४५/१)। —१. सराग व वीतराग दोनोंमें ही सम्यग्दर्शन सम्भव है। तहाँ सरागमें तो प्रशमादि लक्षणोंके द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है और वीतरागमें वह केवल चित्तविशुद्धि द्वारा लक्षित होता है। श्लो १२। (अन. ध./२/५१/१७८)। २. प्रशमादि गुण एक-एक करके या समुदित रूपसे अपनी आत्मामें तो स्वसंवेदनगम्य हैं और दूसरोंमें काय व वचन व्यवहाररूप विशेष ज्ञापक लिंगों द्वारा अनुमानगम्य हैं। इन प्रशमादि गुणों परसे सम्यग्दर्शन जान लिया जाता है। (३४/१७)—(पं. ध./उ./४८८); (और भी दे. अनुमान ३/५); (चा. पा./पं. जयचन्द/१२/८१); (रा. वा./हि/१/२/२४)। ३. सम्यग्दर्शनके अभावमें ये प्रशमादि गुण मिथ्यादृष्टि जीवोंमें सम्भव नहीं हैं यदि वहाँ इनका होना माना जायेगा तो वहाँ मिथ्यादृष्टिपना सम्भव न हो सकेगा। (३७/१८)। प्रश्न—किन्हीं, किन्हीं मिथ्यादृष्टियोंमें भी क्रोधादिका तीव्र उदय नहीं पाया जाता है, इसलिए सम्यग्दर्शनकी सिद्धिमें दिया गया उपरोक्त प्रशमादि गुणों वाला हेतु व्यभिचारी है? उत्तर—नहीं है, क्योंकि, उनके सर्वथा एकान्त मतोंमें अनन्तानुबन्धीजन्य तीव्र भाव पाया जाता है।

आत्मस्वरूप व अनेकान्तमतमें उन्हें द्वेषका होना अवश्यंभावी है। तथा पृथिवीकायिक आदिकोंको हिंसा करना भी उनमें पाया जाता है। (३५/५) [जैसे सम्यग्दृष्टिमें होते हैं वैसे प्रशमादि गुण मिथ्यादृष्टि में नहीं पाये जाते—द. पा./पं. जयचन्द] (द. पा./पं. जयचन्द/२/पृष्ठ ७ व १५)। —प्रश्न—४. जिस प्रकार सराग सम्यग्दृष्टिमें उसकी अभिव्यक्ति प्रशमादि गुणोंद्वारा अनुमानगम्य है, उसी प्रकार वीतराग सम्यग्दृष्टियोंमें भी उन्हींके द्वारा अनुमानगम्य क्यों नहीं? उत्तर-नहीं, क्योंकि वीतरागोंका तत्त्वार्थश्रद्धान अपनेमें आत्मविशुद्धिरूप होता है। सकल मोहके अभावमें तहाँ समारोपको अर्थात् संशय आदिको अवकाश न होनेसे, उसका स्वसंवेदनसे ही निश्चय होता है, क्योंकि, वह विशुद्धि अनुमानका विषय नहीं है। ५. दूसरी बात यह भी है कि वीतराग जनोंमें, सम्यग्दर्शनके ज्ञापक प्रशमादि गुणोंका तथा वचन व काय व्यवहाररूप विशेष ज्ञापक लिंगोंका सद्भाव होते हुए भी, वे अति सूक्ष्म होनेके कारण वे छद्मस्थोंके गोचर नहीं हो पाते, क्योंकि, छद्मस्थोंके पास उनको जाननेका कोई साधन नहीं है। इसलिए वे गुण व लिंग वीतराग सम्यग्दर्शनके अनुमानके उपाय नहीं हैं। (४४/१०)। प्रश्न—६. सातवेंसे लेकर दसवें पर्यंतके अप्रमत्त सराग गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शनका अनुमान कैसे किया जा सकता है, क्योंकि, उनमें उसके निर्णयके उपाय भूत, काय व वचन व्यवहाररूप विशेष ज्ञापक लिंगोंका अभाव है? उत्तर—तुम हमारे अभिप्रायको नहीं समझे। सर्व ही सराग जीवोंके सम्यग्दर्शनका अनुमान केवल इन गुणों व लिंगोंपरसे ही होता हो, ऐसा नियम नहीं किया गया है। बल्कि यथा सम्भव वीतराग व सराग दोनोंमें ही सम्यग्दर्शनकी अनुमेयता आत्मविशुद्धि होती है, ऐसा हमारा अभिप्राय है [अर्थात् ४-६ वाले सराग प्रमत्त गुणस्थानोंमें तो प्रशमादि गुणोंसे तथा ७-१० तकके सराग अप्रमत्त गुणस्थानोंमें आत्मविशुद्धिमे उसकी अभिव्यक्ति होती है]। (४५/३) (अन. ध./२/५३/१७६)।

दे. अनुभव/४ (आत्मानुभव स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है)।

मो. मा./प्र./७/३५७/८ द्रव्य लिंगीके स्थूल तो अन्यथापना है नाहीं, सूक्ष्म अन्यथापनो है, सो सम्यग्दृष्टिकौ भासे है।

दे. प्रायश्चित्त/३/१ (सहवासमें रहकर दूसरोंके परिणामोंका अनुमान किया जा सकता है।)

३. वास्तवमें सम्यग्दर्शन नहीं बल्कि प्रशमादि गुण ही प्रत्यक्ष होते हैं

श्लो. वा./२/१/२/१२/३८/१ ननु प्रशमादयो यदि स्वस्मिन् स्वसंवेद्या श्रद्धानमपि तत्त्वार्थानां किं न स्वसंवेद्यम् यतस्तेभ्योऽनुमीयते। स्वसंवेद्यत्वाविशेषेऽपि तैस्तदनुमीयते न पुनस्ते तस्मादिति कः श्रद्धीतान्यत्रापरीक्षकादिति चेत्, नैतत्सारम्, दर्शनमोहोपशमादिविशिष्टात्मस्वरूपस्य तत्त्वार्थश्रद्धानस्य स्वसंवेद्यत्वानिश्चयात्। स्वसंवेद्य पुनरास्तिक्यं तदभिव्यञ्जकं प्रशमसंवेगानुकम्पावत् कथंचित्ततो भिन्नं तत्फलत्वात्। तत एव फलतद्वतोरभेदविवक्षायामास्तिक्यमेव तत्त्वार्थश्रद्धानमिति, तस्य तद्वत्प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तदनुमेयत्वमपि न विरुध्यते। —प्रश्न—यदि प्रशमादि गुण अपनी आत्मामें स्वसंवेदनगम्य हैं तो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन ही स्वसंवेदनगम्य क्यों न हो जाय। क्यों उसे प्रशमादिके द्वारा अनुमान करनेकी आवश्यकता पड़े। क्योंकि, आत्माके परिणामपनेरूपसे दोनोंमें कोई भेद नहीं है। पहिले स्वसंवेदनसे प्रशमादिको जानें और फिर उनपरसे सम्यग्दर्शनका अनुमान करें, ऐसा व्यर्थका परस्पराश्रय क्यों कराया जाय? उत्तर—यह कहना सार रहित है, क्योंकि दर्शनमोहके उपशमादि विशिष्ट आत्मस्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धानका स्वसंवेदनसे निश्चय नहीं हो सकता। परन्तु प्रशम संवेग आदि गुणोंकी भाँति आस्तिक्य गुण स्वसंवेद्य होता हुआ उसका अभिव्यंजक हो जाता है। श्रद्धानके फलरूप होनेके कारण ये चारों प्रशमादि गुण उस श्रद्धानसे कथंचि[त्] भिन्न हैं। फल और फलवान्की अभेद विवक्षा करने पर आ[स्तिक्य] आस्तिक्य गुण ही तत्त्वार्थश्रद्धान है। इस प्रकार उस आस्तिक्यकी भाँति उस तत्त्वार्थ श्रद्धानकी भी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्धि हो जाती है।

४. सम्यक्त्व वस्तुतः प्रत्यक्षज्ञान गम्य है

पं. ध./उ./श्लो. सं. सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्। गोचरं स्वावधिस्वान्तःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ।३७५। न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक्। नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ।३७६। सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्। तस्माद् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ।४००। —सम्यक्त्व वास्तवमें सूक्ष्म है और केवल ज्ञानके गोचर है, तथा अवधि और मनःपर्यय ज्ञानके भी गोचर है। [क्योंकि अवधि ज्ञान भी जीवके औपशमिक आदि कर्म संयोगी भावोंको प्रत्यक्ष जाननेमें समर्थ है (दे. अवधिज्ञान/८)] ।३७५। परन्तु मति और श्रुत ज्ञान और देशावधि इनके द्वारा उसकी उपलब्धि सम्भव नहीं है ।३७६। वास्तवमें सम्यक्त्व सूक्ष्म है और वचनोंके अत्यन्त अगोचर है, इसलिए कोई भी जीव उसके विधिपूर्वक कहने और सुननेका अधिकारी नहीं है ।४००।

दे. सम्यग्दर्शन/I/४ [प्रशमादि गुण तथा आत्मानुभूति भी सम्यग्दर्शन नहीं ज्ञानकी पर्यायें हैं। अतः स्वसंवेद्य श्रुतज्ञान द्वारा भी वह प्रत्यक्ष नहीं है।]

५. सम्यक्त्वको सर्वथा केवलज्ञानगम्य कहना युक्त नहीं है।

द. पा./पं. जयचन्द/२/पृ. ८—प्रश्न—केई कहे है जो सम्यक्त्व तो केवलीगम्य है यातैं आपकै सम्यक्त्व भयेका निश्चय नहीं होय तातैं आपकूं सम्यग्दृष्टि नहीं मानना? उत्तर—सो ऐसे सर्वथा एकान्त करि कहना तो मिथ्यादृष्टि है, सर्वथा ऐसैं कहे व्यवहारका लोप होय, सर्व मुनि श्रावककी प्रवृत्ति मिथ्यात्वसहित ठहरै। तब सब ही मिथ्यादृष्टि आपकूं मानैं, तब व्यवहार काहेका रह्या, तातैं परीक्षा भये पीछैं (दे. शीर्षक सं. २) यह श्रद्धान नाहीं राखणा जो मिथ्यादृष्टि ही हूं।

४. सम्यग्दर्शनका ज्ञान व चारित्रके साथ भेद

१. श्रद्धान आदि व आत्मानुभूति वस्तुतः सम्यक्त्व नहीं ज्ञानकी पर्याय हैं

पं. ध./उ./श्लो. सं. श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः। सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ।३८६। अपि चात्मानुभूतिश्च ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात्। अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ।३८७। तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा। प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ।४१२। अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञा[नं] ज्ञानस्यैवात्र पर्ययात्। चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्म[सु] ।४१३। —सम्यग्दृष्टि जीवके श्रद्धान आदि गुण (लक्षण) बाह्य लक्षण हैं। इसलिए केवल उन श्रद्धानादिकको ही सम्यक्त्व नहीं कह सकते क्योंकि वे वास्तवमें ज्ञान की पर्यायें हैं ।३८६। तथा आत्मानुभूति भी ज्ञान ही है, क्योंकि वह ज्ञानकी पर्याय है। इसलिए इसको भी ज्ञान ही कहना चाहिए सम्यक्त्व नहीं। यदि इसे सम्यक्त्वका लक्षण भी कहें तो बाह्य लक्षण ही कहें अन्तरंग नहीं ।३८७। (ला. सं/३/४१-४२) तत्त्वार्थोंके विषयमें उन्मुख बुद्धि श्रद्धा कहलाती है तथा उन विषयमें तन्मयता रुचि कहलाती है; और 'यह ऐसे ही है' इस प्रकारका स्वीकार प्रतीति कहलाती है, तथा उसके अनुसार

आचरण करना चरण कहलाता है ।४१२। इन चारोंमें वास्तवमें आदि वाले श्रद्धादि तीन ज्ञानकी ही पर्याय होनेसे ज्ञानरूप है तथा वचन, काय व मन से शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करना चरण कहलाता है ।४१३। दे. अनुभव/४ (आत्मानुभव स्वसंवेदन रूप ज्ञान है)

२. प्रशमादिक ज्ञानरूप नहीं बल्कि सम्यक्त्वके कार्य हैं

श्लो.वा./२/१/२/१२/३६-४१ सम्यग्ज्ञानमेव हि सम्यग्दर्शनमिति केचिद्विप्रवदन्ते, तान् प्रतिज्ञानात् भेदेन दर्शनं प्रशमादिभिः कार्यविशेषैः प्रकाश्यते। (३६।६)। ज्ञानकार्यत्वात्तेषां न तत्प्रकाशकत्वमिति चेन्न अज्ञाननिवृत्तिफलत्वात् ज्ञानस्य। साक्षादज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञानस्य फलं, परम्परया प्रशमादयो हानादिबुद्धिवदिति चेत्, तर्हि हानादिबुद्धिवदेव ज्ञानादुत्तरकालं प्रशमादयोऽनुभूयेरन्, न चैवं ज्ञानसमकालं प्रशमाद्यनुभवनात्। (३१।२५)। सम्यग्दर्शनसमसमयमनुभूयमानत्वात् प्रशमादेस्तत्फलत्वमपि माभूत् इति चेन्न, तस्य तदभिन्नफलत्वोपगमात्तत्समसमयवृत्तित्वाविरोधात्, ततो दर्शनकार्यत्वाद्दर्शनस्य ज्ञापकाः प्रशमादयः।—प्रश्न—सम्यग्ज्ञान ही वास्तवमें सम्यग्दर्शन है? उत्तर—प्रशम आदिक विशेष कार्योंसे दर्शन व ज्ञानमें भेद है। प्रश्न—प्रशमादि क्रिया विशेष तो सम्यग्ज्ञानके कार्य हैं, अतः वे सम्यग्ज्ञानके ही ज्ञापक होंगे? (३१/६) उत्तर - नहीं, क्योंकि ज्ञानका फल तो अज्ञान निवृत्ति है। प्रश्न—ज्ञानका अव्यवहित फल तो अज्ञान निवृत्ति है, किन्तु उसका परम्परा फल प्रशम आदि है जैसे कि हेय पदार्थमें त्याग बुद्धि होना उसका परम्परा फल है? उत्तर—यदि ऐसा है तो उस त्याग बुद्धिके समान ये प्रशमादि भी ज्ञानके उत्तर कालमें ही अनुभवमें आने चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ज्ञानके समकालमें ही उनका अनुभव देखा जाता है। (३१/२५) प्रश्न—तब तो सम्यग्दर्शनके समकालमें ही अनुभव गोचर होनेके कारण वे सम्यग्दर्शनके भी फल न हो सकेंगे? उत्तर—नहीं, सम्यक्त्वके अभिन्न फलस्वरूप होनेके कारण प्रशमादिकी समकाल वृत्तिमें कोई विरोध नहीं है। इसलिए दर्शनके कार्य होनेसे वे प्रशमादि सम्यग्दर्शनके ज्ञापक हेतु हैं।

३. प्रशमादि कथंचित् सम्यग्ज्ञानके भी ज्ञापक हैं

श्लो.वा./२/१/२/१२/४१/६ प्रशमादयः सहचरकार्यत्वात्तु ज्ञानस्येत्यनवद्यम्।—सम्यग्ज्ञानरूप साध्यके साथ रहनेवाले सम्यग्दर्शनके कार्य हो जानेसे वे प्रशमादिक सम्यग्ज्ञानके भी ज्ञापक हेतु हो जाते है।

४. स्वानुभूतिके ज्ञान व सम्यक्त्वरूप होने सम्बन्धी समन्वय

पं.ध./उ./श्लो. सं. नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम्। सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ।३८६। नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः। अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ।३९०। ततो वक्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः। तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ।३९६। तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः। सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद्व्यतिरेकतः ।४०२। ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः। सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्सा चेच्छुद्धनयात्मिका ।४०३। —प्रश्न—साक्षात् आत्माका अनुभव वास्तवमें स्वयं सम्यक्त्वस्वरूप है, क्योंकि, किसी भी क्षेत्र या कालमें वह मिथ्यादृष्टिको प्राप्त नहीं हो सकता है? ।३८६। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सामान्य और विशेषके लक्षणभूत अनाकार और साकारके विषयमें भी तुम अनभिज्ञ हो ।३९०। [ज्ञानके अतिरिक्त सर्वगुण निर्विकल्प व निराकार हैं (दे. गुण/२/१०)] और निर्विकल्प वस्तुके कथनको, अनिर्वचनीय होनेके कारण, ज्ञानके द्वारा उन सामान्यात्मक गुणोंका उल्लेख करके उनका निरूपण किया गया है। ।३९६। उस सम्यग्दर्शनके लक्षणमें भी जो आत्माका अनुभव है वह आत्माका विशेष ज्ञान है जो सम्यक्त्वके साथ अन्वय व्यतिरेकसे अविनाभावी है ।४०२। इसलिए इन दोनोंमें व्याप्ति होनेके कारण वचनके अगोचर भी सम्यक्त्व वचन गोचर हो जाता है, इसलिए यदि शुद्धनयात्मिका हो तो वह स्वानुभूति सम्यक्त्व कहलाती है ।४०३।

५. अनुभूति उपयोगरूप होती है और सम्यक्त्व लब्धरूप

पं.ध./उ/श्लोक सं. किंचास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः। नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ।४०४। तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि। अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ।४०५। यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान्। शुद्धानुभवस्तत्र लब्धिरूपोऽस्ति वस्तुनः ।४०६। हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह। ज्ञानसंचेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ।८५२। सार्धं तेनोपयोगेन न स्याद्व्याप्तिर्द्वयोरपि। विना तेनापि सम्यक्त्वं तदास्ते सति स्यात्तत: ।८७५। आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिते ज्ञाने परात्मसु। ज्ञानसंचेतनायाः स्यात्क्षतिः साधीयसी तदा ।६००। सत्यं चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न क्वचित्। इयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुतः ।६०१। साध्यं यद्दर्शनाद्धेतोर्निर्जरा चाष्टकर्मणाम्। स्वतो हेतुवशाच्छक्तेर्न तद्धेतुः स्वचेतना ।६०२। अनिच्छन्नपिह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः। नूनं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसंचेतनामिमाम् ।६१८। —सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनोंमें विषमव्याप्ति है क्योंकि (अनुभूति उपयोग रूप है और सम्यक्त्व लब्धरूप) उपयोगरूप स्वानुभूतिके साथ सम्यक्त्वकी समव्याप्ति नहीं है किन्तु लब्धिरूप स्वानुभूतिके साथ ही उसकी समव्याप्ति है ।४०४। वह इस प्रकार कि स्वानुभवके होनेपर अथवा स्वानुभूतिके कालमें भी उस आत्मामें अवश्य ही ज्ञात होता है, क्योंकि उस सम्यग्दर्शनरूप कारणके बिना वह स्वानुभूतिरूप कार्य नहीं होता है ।४०५। अथवा यों कहिए कि सम्यग्दर्शनके होनेपर वह आत्मा स्वानुभूतिके उपयोगसे सहित हो ही ऐसा कोई नियम नहीं, परन्तु स्वानुभूति यदि होती है तो सम्यक्त्वके रहनेपर ही होती है ।४०६। इसमें भी हेतु यह है कि सम्यक्त्वके अविनाभूत स्वानुभूति मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे समीचीन ज्ञानचेतनाकी लब्धि उसके सदैव पायी जाती है ।८५२। परन्तु आत्मोपयोगके साथ सम्यक्त्वकी व्याप्ति नहीं है; क्योंकि आत्माके उपयोगके न रहते हुए भी वह सम्यक्त्व रहता है और उपयोगके रहते हुए भी ।८७५। प्रश्न—शुद्धात्माके सिवा किन्हीं अन्य पदार्थोंमें जब ज्ञानका उपयोग होता है तब ज्ञान चेतनाकी हानि अवश्य होती है? ।६००। उत्तर- ठीक है कि तब ज्ञानचेतनाकी क्षति तो हो जाती है परन्तु उसकी साध्यभूत संवर निर्जराकी हानि नहीं होती है, क्योंकि, वह उपयोगरूप ज्ञानचेतना संवर निर्जराके हेतु नहीं है ।६०१। स्वात्माको विषय करना ही उसका कार्य है, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके निमित्तसे आठों कर्मोंकी निर्जरा होना जो साध्य है, वह स्वयं सम्यक्त्वकी शक्तिके कारण होता है, अतः ज्ञान चेतना उसमें कारण नहीं है ।६०२। यहाँपर यह बुद्धिपूर्वक औदयिक भावरूप राग सम्यक्त्वका घात नहीं करता है, इसलिए वह इस लब्धरूप ज्ञानचेतनाका घात करनेको समर्थ नहीं है ।६१८।

६. सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें अन्तर

रा.वा./१/१/६०/१६/४ ज्ञानदर्शनयोर्युगपत्प्रवृत्तेरेकत्वमिति चेत्; न; तत्त्वावायश्रद्धानभेदात् तापप्रकाशवत्। —प्रश्न—ज्ञान व दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति होनेके कारण ये दोनों एक हैं? उत्तर - नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार युगपत् होते हुए भी अग्निका ताप व प्रकार (अथवा दीपक व उसका प्रकाश—पु. सि. उ.) अपने-अपने लक्षणोंसे भेदको

प्राप्त हैं, उसी प्रकार युगपत् होते हुए भी ये दोनों अपने-अपने लक्षणोंसे भिन्न हैं। सम्यग्ज्ञानका लक्षण तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय करना है और सम्यग्दर्शनका लक्षण उनपर श्रद्धान करना है। (पु. सि. उ./३२-३४), (छहढाला/४/१)।

दे. सम्यग्दर्शन/I/१/५/३ (निर्विकल्प रूपसे देखना सम्यग्दर्शन है और विशेष रूपसे जानना सम्यग्ज्ञान है)।

द्र. सं. टी./४४/१९१/१ यत्तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं वस्तुविचाररूपं सम्यग्ज्ञानं तयोर्विशेषो न ज्ञायते। कस्मादिति चेत्। सम्यग्दर्शने पदार्थनिश्चयोऽस्ति, तथैव सम्यग्ज्ञाने च, को विशेष इति। अत्र परिहारः। अर्थग्रहणपरिच्छित्तिरूपः क्षयोपशमविशेषो ज्ञानं भण्यते, तत्रैव भेदनयेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मादितत्त्वेष्विदमेवेत्थमेवेति निश्चयसम्यक्त्वमिति। अविकल्परूपेणाभेदनयेन पुनर्यदेव सम्यग्ज्ञानं तदेव सम्यक्त्वमिति। कस्मादिति चेत्—अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिरदेवे देवबुद्धिरधर्मे धर्मबुद्धिरित्यादिविपरीताभिनिवेशरहितस्य ज्ञानस्यैव सम्यग्विशेषणवाच्योऽवस्थाविशेषः सम्यक्त्वं भण्यते यतः कारणात्। यदि भेदो नास्ति तर्हि कथमावरणद्वयमिति चेत्—तत्रोत्तरम्।...भेदनयेनावरणभेदः। निश्चयनयेन पुनरभेदविवक्षायां कर्मत्वं प्रत्यावरणद्वयमप्येकमेव विज्ञातव्यम्।

द्र. सं./टी./५२/२१८/१० स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यग्दर्शनं।...तस्यैव शुद्धात्मनो.. मिथ्यात्वरागादिपरभावेभ्यः पृथक्परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानम्। — प्रश्न—१. "तत्त्वार्थका श्रद्धान करनेरूप सम्यग्दर्शन और पदार्थका विचार करने स्वरूप सम्यग्ज्ञान है" इन दोनोंमें भेद नहीं जाना जाता, क्योंकि जो पदार्थका निश्चय सम्यग्दर्शनमें है वही सम्यग्ज्ञानमें है। इसलिए इन दोनोंमें क्या भेद है? उत्तर—पदार्थके ग्रहण करनेमें जाननेरूप जो क्षयोपशम विशेष है, वह 'ज्ञान' कहलाता है। और ज्ञानमें ही भेदनयसे जो वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुए शुद्धात्मा आदि तत्त्व हैं उनमें, 'यह ही तत्त्व है, ऐसा ही तत्त्व है' इस प्रकारका जो निश्चय है, वह सम्यक्त्व है। २. और अभेद नयसे तो जो सम्यग्ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन है। कारण कि अतत्त्वमें तत्त्वकी बुद्धि, अदेवमें देवकी बुद्धि और अधर्ममें धर्मकी बुद्धि, इत्यादिरूप जो विपरीत अभिनिवेश है, उस विपरीताभिनिवेशसे रहित जो ज्ञान है; उसके 'सम्यक्' विशेषणसे कहे जानेवाली अवस्थाविशेष सम्यक्त्व कहलाता है। प्रश्न—३. जो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें भेद नहीं है, तो उन दोनों गुणोंके घातक ज्ञानावरणीय व मिथ्यात्व ये दो कर्म कैसे कहे गये? उत्तर—भेदनयसे आवरणका भेद है और अभेदकी विवक्षामें कर्मत्वके प्रति जो दो आवरण हैं, उन दोनोंको एक ही जानना चाहिए। ४. 'शुद्धात्मा ही उपादेय है', ऐसी रुचि होने रूप सम्यग्दर्शन है और उसी शुद्धात्माको रागादि परभावोंसे भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है। (दे. उन-उनके लक्षण)

७. सम्यक्त्वके साथ चारित्रका कथंचित् भेद व अभेद

द. पा./पं. जयचन्द/२२ जो कोऊ कहै सम्यक्त्वभए पीछे तौ सर्व परद्रव्य संसारकूं हेय जानिये है, ताकूं छोड़ै मुनि होय चारित्र आचरै तब सम्यक्त्व भया जानिये, ताका समाधान रूप यह गाथा है, जो सर्व परद्रव्यकूं हेय जानि निज स्वरूपकूं उपादेय जान्या श्रद्धान किया तब मिथ्या भाव तौ न रहा परन्तु चारित्रमोह कर्मका उदय प्रबल होय जातैं चारित्र अंगीकार करनेकी सामर्थ्य नहीं होय तैतैं जेती सामर्थ्य होय तैता तौ करै तिस सिवायका श्रद्धान करै। (दे. श्रद्धान/१/३)

दे. चारित्र/3/५ [यद्यपि चारित्र सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सम्यक्त्व होते ही चारित्र प्रगट हो जाय। हाँ, सम्यक्त्व हो जानेके पश्चात् क्रमशः धीरे-धीरे वह यथाकाल प्रगट अवश्य हो जाता है।]

५. मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनकी प्रधानता

१. सम्यग्दर्शनकी प्रधानताका निर्देश

भ. आ./मू./७३६-७३९ णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं। तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं ।७३६। दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं। सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ।७३८। दंसण भट्ठो भट्ठो ण हु भट्ठो होइ चरणभट्ठो हु। दंसणममुयंतस्स हु परिवडणं णत्थि संसारे ।७३९। — १. नगरमें जिस प्रकार द्वार प्रधान है, मुखमें जिस प्रकार चक्षु प्रधान है तथा वृक्षमें जिस प्रकार मूल प्रधान है, उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, वीर्य व तप इन चार आराधनाओंमें एक सम्यक्त्व ही प्रधान है ।७३६। २. दर्शनभ्रष्ट ही वास्तवमें भ्रष्ट है क्योंकि दर्शनभ्रष्टको निर्वाण नहीं होता। चारित्र भ्रष्टको मोक्ष हो जाती है, पर दर्शनभ्रष्टको नहीं होती ।७३८। (द. पा./मू./३) (भा. अ./१९) ३. दर्शनभ्रष्ट ही भ्रष्ट है, चारित्रभ्रष्ट वास्तवमें भ्रष्ट नहीं होता, क्योंकि, जिसका सम्यक्त्व नहीं छूटा है ऐसा चारित्रभ्रष्ट संसारमें पतन नहीं करता ।७३९।

मो. पा./मू./३९ दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं। दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं ।३९। — दर्शन शुद्ध ही वास्तवमें शुद्ध है, क्योंकि दर्शनशुद्ध ही निर्वाणको प्राप्त करते हैं। दर्शन विहीन पुरुष इष्टलाभ अर्थात् मोक्षको प्राप्त नहीं करते। (र. सा./९०)

मो. पा./मू./८८ किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले। सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणइ सम्ममाहप्पं ।८८। — बहुत कहनेसे क्या, जो प्रधान पुरुष अतीतकालमें सिद्ध हुए हैं या आगे सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्वका माहात्म्य जानो। (बा. अ./९०)

मो. पा./मू./२१ जह ण वि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झय विहीणो। तह ण वि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ।२१। — जैसे बाण रहित वेधक धनुषके अभ्याससे रहित होता हुआ निशानेको प्राप्त नहीं करता है, वैसे ही अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मोक्षमार्गके लक्ष्यभूत परमात्म तत्त्वको प्राप्त नहीं करता है।

भा. पा./मू./१४४ जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं। अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावय दुविहधम्माणं ।१४४। — जिस प्रकार ताराओंमें चन्द्र और पशुओंमें सिंह प्रधान है, उसी प्रकार मुनि व श्रावक दोनों प्रकारके धर्मोंमें सम्यक्त्व प्रधान है ।१४४।

र. सा./४७ सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण। तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ।४७। — सम्यक्त्वके बिना नियमसे सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र नहीं होते हैं। रत्नत्रयमें एक यह सम्यक्त्व गुण ही प्रशंसनीय है ।४७। (र. क. श्रा./३१-३२)

स. सि./१/१/७/२ अल्पाक्षरादभ्यर्हितं पूर्वं निपतति। कथमभ्यर्हितत्वं ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात्। — अल्पाक्षरवाले शब्दसे पूज्य शब्द पहले रखा जाता है, इसलिए सूत्रमें पहले ज्ञान शब्दको न रखकर दर्शन शब्दको रखा है। प्रश्न—सम्यग्दर्शन पूज्य क्यों है? उत्तर—क्योंकि सम्यग्दर्शनसे ज्ञानमें समीचीनता आती है। (रा. वा./१/१/३१/९/२७) (और भी दे. ज्ञान/III/२)

प्र. सा./त. प्र./२३८-२३९ आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम् ।२३८। अत आत्मज्ञानशून्यमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यमप्यकिंचित्करमेव। — आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपत्ता होनेपर भी आत्मज्ञानको ही मोक्षमार्गका साधकतम सम्मत करना ।२३८। आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्वकी युगपत्ता भी अकिंचित्कर ही है ।२३९।

ज्ञा./६/५४ चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितम्। तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सद्भिः सद्दर्शनं मतम् ।५४। — सत्पुरुषोंने सम्यग्दर्शनको चारित्र व

ज्ञानका बीज, यम व प्रशमका जीवन तथा तप व स्वाध्यायका आश्रय माना है ।

नोट:—[सम्यग्दर्शन विहीन धर्म, चारित्र, ज्ञान, तप आदि सब निरर्थक व अकिंचित्कर हैं । और सम्यक्त्व सहित ही वे सब यथार्थताको प्राप्त होते हैं ।] (दे. धर्म/२); (दे. चारित्र/१); (दे. ज्ञान/III/२ तथा IV/१); (दे. तप/३) ।

२. सम्यग्दर्शन ही सार, सुखनिधान व मोक्षकी प्रथम सीढ़ी है इत्यादि महिमा

भ. आ./मू/७३५ मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुःखणासयरे । —यह सम्यग्दर्शन सर्व दुःखोंका नाश करनेवाला है, अतः इसमें प्रमादी मत बनो ।

चा. पा./मू./२० संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमत्ताणं । सम्मत्तमणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा ।२०। —सम्यक्त्वको आचरण करनेवाले धीर पुरुष संख्यात व असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा करते हैं तथा संसारी जीवोंकी मर्यादा रूप जो सर्व दुःख उनका नाश करते हैं।

द. पा./मू./२१ एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण । सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढममोक्खस्स ।२१। —जिनप्रणीत सम्यग्दर्शनको अन्तरंग भावोंसे धारण करो, क्योंकि, यह सर्व गुणोंमें और रत्नत्रयमें सार है तथा मोक्षमन्दिरकी प्रथम सीढ़ी है ।२१।

र. सा./५४,१५८ कामदुहि कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं य समं । लद्धो भुंजइ सोक्खं जहच्छियं जाण तह सम्मं ।५४। सम्मद्दंसणसुद्धं जाव ण लभदे हि ताव सुही । सम्मद्दंसणसुद्धं जाव ण लभते हि ताव दुही ।१५८। —जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य कामधेनु कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न और रसायनको प्राप्त कर मनोवांछित उत्तम सुखको प्राप्त होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनसे भव्य जीवोंको सर्व प्रकारके सर्वोत्कृष्ट सुख व समस्त प्रकारके भोगोपभोग स्वयमेव प्राप्त होते हैं ।५४। सम्यग्दर्शनको यह जीव जब प्राप्त हो जाता है तब परम सुखी हो जाता है और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता तब तक दुःखी बना रहता है ।१५८।

र. क. श्रा./३४,३६ न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि । श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ।३४। ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः । महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ।३६। —तीन काल और तीन जगत्में जीवोंका सम्यक्त्वके समान कुछ भी कल्याणकारी नहीं है, मिथ्यात्वके समान अकल्याणकारी नहीं है ।३४। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव कान्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यशोवृद्धि, विजय, विभववान, उच्चकुली, धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके साधक तथा मनुष्योंमें शिरोमणि होते हैं ।३६।

र. क. श्रा./२८ सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् । देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ।२८। —गणधरादि देव सम्यग्दर्शन सहित चाण्डालको भी भस्मसे ढकी हुई चिनगारीके समान देव कहते हैं ।२८।

पं. वि./१/७७ जयति सुखनिधानं मोक्षवृक्षैकबीजं, सकलमलविमुक्तं दर्शनं यद्विना स्यात् । मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्रं चरित्रम् भवति मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव ।७७। —जिस सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान तो मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र हुआ करता है, वह सुखका स्थानभूत, मोक्षरूपी वृक्षका अद्वितीय बीजस्वरूप तथा समस्त दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन जयवन्त होता है । उसके बिना प्राप्त हुआ भी मनुष्य जन्म अप्राप्त हुएके समान है ।

ज्ञा./६/५९ अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं, जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् । दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं, पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ।५९। —हे भव्यो ! तुम सम्यग्दर्शनरूपी अमृतका पान करो, क्योंकि, यह अतुल सुखनिधान है, समस्त कल्याणोंका बीज है, संसारसागर तरनेको जहाज है, भव्यजीव ही इसका पात्र है, पापवृक्षको काटनेके लिए कुठार है, पुण्यतीर्थोंमें प्रधान है तथा विपक्षी जो मिथ्यादर्शन उसको जीतने वाला है ।

ज्ञा./६/५३ सद्दर्शनमहारत्नं विश्वलोकैकभूषणम् । मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम् ।५३। —यह सम्यग्दर्शन महारत्न समस्त लोकका आभूषण है और मोक्ष होने पर्यन्त आत्माको कल्याण देनेमें चतुर है ।५३।

आ. अनु./२/६८ मान्यः सद्दर्शनी ज्ञानी हीनोऽपि अपरसद्गुणैः । वरं रत्नमनिष्पन्नं, शोभं किं नार्घ्यमर्हति ।६८। —अन्य गुणोंसे हीन भी सम्यग्दृष्टि सर्वमान्य है । क्या बिना शानपर चढ़ा रत्न शोभाको प्राप्त नहीं होता है ।

का. अ./मू./३२५-३२६ रयणाण महारयणं सव्वं जोयाण उत्तम जोयं । रिद्धीण महारिद्धी सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं ।३२५। सम्मत्तगुणपहाणो देविंद-णरिंद-वंदिओ होदि । चत्त-वओ वि य पावदि सग्गसुहं उत्तमं विविहं ।३२६। —सम्यग्दर्शन सब रत्नोंमें महारत्न है, सब योगोंमें उत्तम योग है, सब ऋद्धियोंमें महा-ऋद्धि है । अधिक क्या, सम्यक्त्व सब सिद्धियोंका करनेवाला है ।३२५। सम्यक्त्वगुणसे जीव देवोंके इन्द्रोंसे तथा चक्रवर्ती आदिसे वन्दनीय होता है, और व्रत रहित होता हुआ भी नाना प्रकारके उत्तम स्वर्गसुखको पाता है ।३२६।

अ. ग. श्रा./२/८३ अपारसंसारसमुद्रतारकं, वशीकृतं येन सुदर्शनं परम् । वशीकृतास्तेन जनेन संपदः, परैरलभ्या विपदामनास्पदम् ।८३। —अपार संसारसमुद्र तारनेवाला और जिसमें विपदाओंको स्थान नहीं, ऐसा यह सम्यग्दर्शन जिसने अपने वश किया है उस पुरुषने कोई अलभ्य सम्पदा ही वश करी है ।

सा. ध./१/४ नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः । पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतसः ।४। —मिथ्यात्वसे ग्रस्त चित्तवाला मनुष्य भी पशुके समान है । और सम्यक्त्वसे व्यक्त चित्तवाला पशु भी मनुष्यके समान है ।

३. सम्यग्दर्शनकी प्रधानतामें हेतु

द. पा./मू./१५-१६ सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी । उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ।१५। सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि । सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ।१६। —सम्यक्त्वसे तो ज्ञान सम्यक् होता है । (और भी दे. शीर्षक सं. १ में स. सि./१/१/७/२) । उन दोनोंसे सर्व पदार्थों या तत्त्वोंकी उपलब्धि होती है । पदार्थोंकी उपलब्धि होनेपर श्रेय व अश्रेयका ज्ञान होता है ।१५। श्रेय व अश्रेयको जानकर वह पुरुष मिथ्यात्वको उड़ाकर तथा सम्यक् स्वभावयुक्त होकर अभ्युदय व तीर्थंकर आदि पदोंको प्राप्त होता हुआ पीछे निर्वाण प्राप्त करता है ।१६।

दे. शीर्षक सं. १, (सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रका बीज है) ।

४. सम्यग्दर्शनके पश्चात् भव धारणकी सीमा

भ. आ./मू./गा. लद्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति । तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा ।५३। —जो जीव मुहूर्तकाल पर्यन्त भी सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके अनन्तर छोड़ देते हैं, वे भी इस संसारमें अनन्तानन्त कालपर्यन्त नहीं रहते ।[अर्थात् उनको अधिकसे अधिक अर्द्धपुद्गल परिवर्तन कालमात्र ही संसार शेष रहता है इससे अधिक नहीं—दे. काल/६ तथा अन्तर/४]

क. पा./सुत्त/११/गा. ११३/६४१ खवणाए पट्ठवगो जम्मि भवे णियमदो तदो अण्णे । णाधिच्छदि तिण्णि भवे दंसणमोहम्मि खीणम्मि ।२०३। —जो मनुष्य जिस भवमें दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापन करता है, वह दर्शनमोहके क्षीण होनेपर तीन भवमें नियमसे मुक्त हो जाता है ।२०३। (पं. सं./प्रा./१,२०३) ।

रा. वा./४/२५/३/२४४/११ अप्रतिपतितसम्यग्दर्शनानां परीतविषयः सप्ताष्टानि भवग्रहणानि उत्कर्षेण वर्तन्ते, जघन्येन द्वित्रीणि अनुबन्ध्योच्छिद्यन्ते। प्रतिपतितसम्यक्त्वानां तु भाज्यम्। – जो सम्यग्दर्शनसे पतित नहीं होते उनको उत्कृष्टतः सात या आठ भवोंका ग्रहण होता है और जघन्यसे दो-तीन भवोंका। इतने भवोंके पश्चात् उनके संसारका उच्छेद हो जाता है। जो सम्यक्त्वसे च्युत हो गये हैं उनके लिए कोई नियम नहीं है। (प. पु./१४/२२४)

क्ष. सा./मू./१६५/२१८ दंसणमोहे खविदे सिज्झदि तत्थेव तदियतुरियभवे। णादिक्कदि तुरियभवे ण विणस्सदि सेससम्मे वा। – दर्शनमोहका क्षय हो जानेपर उस ही भवमें या तीसरे भवमें अथवा मनुष्य तिर्यंचकी पूर्वमें आयु बाँध ली हो तो भोगभूमिकी अपेक्षा चौथे भवमें सिद्धि प्राप्त करते हैं। चौथे भवको उल्लंघन नहीं करते। औपशमिक व क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी भाँति यह नाशको प्राप्त नहीं होता ।१६५। (गो. जी./जी. प्र./६४६/१०९७/२ पर उद्धृत)

वसु. श्रा./२६१ अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणुसत्तं पुणो पुणो लहिऊण। सत्तट्ठभवेहि तओ करंति कम्मक्खयं णियमा ।२६१। – कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्वको पुनः पुनः प्राप्त करके सात-आठ भवोंके पश्चात् नियमसे कर्मक्षय करते हैं ।२६१।

II निश्चय व्यवहार सम्यग्दर्शन

१. निश्चय व्यवहार सम्यक्त्व लक्षण निर्देश

१. सम्यग्दर्शनके दो भेद

र. सा./४ सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं। तं जाणिज्जइ णिच्छयववहारसरूवदो भेदं ।४। – सम्यग्दर्शन समस्त रत्नोंमें सारभूत रत्न है और मोक्षरूपी वृक्षका मूल है, इसके निश्चय व व्यवहार ऐसे दो भेद जानने चाहिए।

२. व्यवहार सम्यग्दर्शनके लक्षण

१. देव शास्त्र गुरु व धर्मकी श्रद्धा

मो. पा./मू./९० हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे। णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।९०। – हिंसादि रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग व गुरु इनमें श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है ।९०।

र. क. श्रा./४ श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।४। – सत्यार्थ देव, शास्त्र और गुरु इन तीनोंका आठ अंग सहित, तीन मूढता और आठ मदरहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

का. अ./मू./३१७ णिज्जियदोसं देवं सव्वजिणाणं दयावरं धम्मं। वज्जियगंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ।३१७। – जो वीतराग अर्हन्तको देव, दयाको उत्कृष्ट धर्म और निर्ग्रन्थको गुरु मानता है वही सम्यग्दृष्टि है।

२. आप्त आगम व तत्त्वोंकी श्रद्धा

नि. सा./मू./५ अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं। – आप्त आगम और तत्त्वोंकी श्रद्धासे सम्यक्त्व होता है। [इनका सम्यक् श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है–(इसी गाथाकी ता. वृ. टीका); (ध. १/१,१,४/१५१/४); (वसु. श्रा./६)।

३. तत्त्वार्थ या पदार्थों आदिका श्रद्धान

त. सू./१/२,३ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।२। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।३। – अपने-अपने स्वभावमें स्थित तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। जीव-अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा व मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। (द. पा./मू./२०); (मू. आ./२०३); (ध. १/१,१,४/१५१/२); (द्र. सं./मू./४१); (वसु. श्रा./१०)

पं. का./मू./१०७ सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं [भावाः खलु कालकलितपञ्चास्तिकायविकल्परूपा नव पदार्थाः। (ता. प्र. टीका)] – काल सहित पंचास्तिकायके भेदरूप नव पदार्थ वास्तवमें भाव हैं। उन भावोंका श्रद्धान सो सम्यक्त्व है।

द. पा./मू./१९ छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा। सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ।१९। – छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय, सप्त तत्त्व, ये जिनवचनमें कहे गये हैं। इनके स्वरूपका जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है।

पं. सं./प्रा./१/१५९ छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं। आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं। – जिनवरोंके द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, और नौ पदार्थोंका आज्ञा या अधिगमसे श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। (ध. १/१,१,४/गा. ९६/१५); (ध. १/१,१,१४४/गा. २१२/३९५); (गो. जी./मू./५६१/१००६)

४. पदार्थोंका विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान

पं. का./ता. वृ./१०७/१६९/२४ मिथ्यात्वोदयजनितविपरीताभिनिवेशरहितं श्रद्धानम्। केषां संबन्धि। पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यविकल्परूपं जीवाजीवद्रव्यं जीवपुद्गलसंयोगपरिणामोत्पन्नास्रवादिपदार्थसप्तकं चेत्युक्तलक्षणानां भावानां जीवादिनवपदार्थानाम्। इदं तु नवपदार्थविषयभूतं व्यवहारसम्यक्त्वम्। – मिथ्यात्वोदयजनितविपरीत अभिनिवेश रहित, पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य, जीवादि सात पदार्थ अथवा जीवादि नव पदार्थ, इनका जो श्रद्धान सो व्यवहार सम्यक्त्व है। (पु. सि. उ./२२); (स. सा./वृ./१५५/२२०/६)

५. यथावस्थित पदार्थोंका श्रद्धान

प. प्र./मू./२/१५ दव्वइँ जाणइ जह ठियइँ तह जगि मण्णइ जो जि। अप्पहं केरउ भावडउ अविचलु दंसणु सो जि ।१५। – जो द्रव्योंको जैसा उनका स्वरूप है वैसा जाने और उसी तरह इस जगत्में श्रद्धान करे, वही आत्माका चलमलिनअवगाढ दोष रहित निश्चल भाव है। वही आत्मभाव सम्यग्दर्शन है। (और भी दे. सम्यग्दर्शन/I/१/४); (दे. तत्त्व/१/१)।

६. तत्त्वोंमें हेय व उपादेय बुद्धि

सू. पा./मू./५ सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं। हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ।५। – सूत्रमें जिनेन्द्र भगवान्ने जीव अजीव आदि बहुत प्रकारके पदार्थ कहे हैं। उनको जो हेय और अहेयरूपसे जानता है (अर्थात् जीव संवर निर्जरा व मोक्ष अहेय हैं और शेष तीन हेय। इस प्रकार जो जानता है) वह सम्यग्दृष्टि है।

७. तत्त्व रुचि

मो. पा./मू./३८ तच्चरुई सम्मत्तं। – तत्त्वरुचि सम्यग्दर्शन है। (ध. १/१,१,४/१५१/६)

३. निश्चय सम्यग्दर्शनके लक्षण

१. उपरोक्त पदार्थोंका शुद्धात्मासे भिन्न दर्शन

प्र. सा./त. प्र./२४२ ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण – ज्ञेय और ज्ञाता इन दोनोंकी यथारूप प्रतीति सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

स. सा./आ./३१४-३१५ स्वपरयोर्विभागदर्शनेन दर्शको भवति। – स्व व परके विभाग दर्शनसे दर्शक होता है।

स. सा./ता. वृ./१५५/२२०/११ अथवा तेषामेव भूतार्थेनाधिगतानां पदार्थानां शुद्धात्मनः सकाशात् भिन्नत्वेन सम्यगवलोकनं निश्चय-

सम्यक्त्वम्। —अथवा उन भूतार्थरूपसे जाने गये जीवादि नौ पदार्थोंका शुद्धात्मासे भिन्न करके सम्यक् अवलोकन करना निश्चय सम्यक्त्व है।

२. शुद्धात्माकी रुचि

स. सा./ता. वृ./३८/७२/६ शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं सम्यक्त्वम्। —'शुद्धात्मा ही उपादेय है', ऐसा श्रद्धान सम्यक्त्व है। (द्र. सं./टी./१४/४२/४)

स. सा./ता./वृ./२/८/१० विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजपरमात्मनि यद्रुचिरूपं सम्यग्दर्शनम्। —विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावरूप निज परमात्मामें रुचिरूप सम्यग्दर्शन है।

पं. का./ता./वृ./१०७/१७०/६ शुद्धजीवास्तिकायरुचिरूपस्य निश्चय-सम्यक्त्वस्य···। —शुद्ध जीवास्तिकायकी रुचि निश्चयसम्यक्त्व है।

दे. मोहनीय/२/१ में ध./६ (आप्त या आत्मामें रुचि या श्रद्धा दर्शन है।

३. अतीन्द्रिय सुखकी रुचि

प्र. सा./ता. वृ./५/६/१६ रागादिभ्यो भिन्नोऽयं स्वात्मोत्थसुखस्वभावः परमात्मेति भेदज्ञानं, तथा स एव सर्वप्रकारोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वम्। —रागादिसे भिन्न यह जो स्वात्मासे उत्पन्न सुखरूप स्वभाव है वही परमात्मतत्त्व है। वही परमात्म तत्त्व सर्व प्रकार उपादेय है, ऐसी रुचि सम्यक्त्व है।

द्र. सं/टी./४१/१७८/२ शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूपसुखामृतरसास्वादनमेवोपादेयमिन्द्रियसुखादिकं च हेयमिति रुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च ज्ञातव्यमिति। —शुद्धोपयोगरूप निश्चय रत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न परम आह्लादरूप सुखामृत रसका आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुख आदिक हेय हैं, ऐसी रुचि तथा जो वीतराग चारित्रके बिना नहीं होता ऐसा जो वीतराग सम्यक्त्व वह ही निश्चय सम्यक्त्व है। (द्र. सं/टी./२२/६७/१); (द्र. सं./टी./४५/१६४/१०); (प. प्र./२/१७/१३२/७)।

४. वीतराग सुखस्वभाव ही मैं हूँ, ऐसा निश्चय

द्र. सं./टी.४०/१६३/१० रागादिविकल्पोपाधिरहितचिच्चमत्कारभावोत्पन्नमधुररसास्वादसुखोऽहमिति निश्चयरूपं सम्यग्दर्शनम्। —'रागादि विकल्प रहित चित्त चमत्कार भावनासे उत्पन्न मधुर रसके आस्वादरूप सुखका धारक मैं हूँ', इस प्रकार निश्चय रूप सम्यग्दर्शन है।

५. शुद्धात्मा की उपलब्धि आदि

स. सा./मू./१४४ सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदित्ति णवरि ववदेसं। सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।१४४। —जो सर्व नय पक्षोंसे रहित कहा गया है वह समयसार है। इसी समयसारकी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान संज्ञा है।१४४। (और भी दे. मोक्षमार्ग/३)।

पं. ध./उ./२१५ न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम्। शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक्। —केवल आत्माकी उपलब्धि सम्यग्दर्शनका लक्षण नहीं है। यदि वह शुद्ध है तो उसका लक्षण हो सकती है और यदि अशुद्ध है तो नहीं।

४. लक्षणमें तत्त्व व अर्थ दोनों शब्द क्यों

स. सि./१/२/६/७ अर्थश्रद्धानमिति चेत्सर्वार्थप्रसङ्गः। तत्त्वश्रद्धानमिति चेद्भावमात्रप्रसङ्गः 'सत्ताद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि तत्त्वम्' इति कैश्चित्कल्प्यत इति। तत्त्वमेकत्वमिति वा सर्वैक्यग्रहणप्रसङ्गः। 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि कैश्चित्कल्प्यत इति। एवं सति दृष्टेष्टविरोधः। तस्मादव्यभिचारार्थमुभयोरुपादानम्। —प्रश्न—सूत्रमें 'तत्त्वार्थश्रद्धान' के स्थानमें 'अर्थश्रद्धानम्' इतना कहना पर्याप्त है? उत्तर—इससे अर्थ शब्दके धन प्रयोजन अभिधेय आदि जितने भी अर्थ हैं उन सबके ग्रहणका प्रसंग आता है? प्रश्न—तब 'तत्त्वश्रद्धानम्' केवल इतना ही कहना चाहिए? उत्तर—इससे केवल भाव मात्रके ग्रहणका प्रसंग प्राप्त होता है। कितने ही लोग (वैशेषिक) तत्त्व पदसे सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व इत्यादिका ग्रहण करते हैं। केवल 'तत्त्वश्रद्धानम्' ऐसा कहनेपर इन सबका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। अथवा तत्त्व शब्द एकत्ववाची है, इसलिए केवल 'तत्त्व' शब्दका ग्रहण करनेसे 'सब एक है' इस प्रकारके स्वीकारका प्रसंग आता है। 'यह सब दृश्य व अदृश्यजगत् पुरुषस्वरूप ही है' ऐसा किन्हींने माना है। इसलिए भी केवल 'तत्त्वश्रद्धान' कहना युक्त नहीं। क्योंकि ऐसा माननेपर प्रत्यक्ष व अनुमान दोनोंसे विरोध आता है। अतः इन सब दोषोंके दूर करनेके लिए सूत्रमें 'तत्त्व' और 'अर्थ' इन दोनों पदोंका ग्रहण किया है। (रा. वा./१/२/१७-२५/२०-२१); (श्लो. वा./२/१/२/३-४/१६/४)।

५. व्यवहार लक्षणोंका समन्वय

ध. १/१,१,४/१५१/२ प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम्। सत्येवं असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाभावः स्यादिति चेत्सत्यमेतत् शुद्धनये समाश्रीयमाणे। अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। अस्य गमनिकोच्यते, आप्तागमपदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु श्रद्धानमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः। कथं पौरस्त्येन लक्षणेनास्य न विरोधश्चेन्नैष दोषः, शुद्धाशुद्धसमाश्रयणात्। अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम् अशुद्धतरनयसमाश्रयणात्। —१. प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यकी प्रकटता ही जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं। (दे. सराग सम्यग्दर्शनका लक्षण)। प्रश्न—इस प्रकार सम्यक्त्वका लक्षण मान लेनेपर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानका अभाव हो जायेगा? उत्तर—यह कहना शुद्धनिश्चयनयके आश्रय करनेपर ही सत्य कहा जा सकता है। २. अथवा, तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि आप्त आगम और पदार्थको तत्त्वार्थ कहते हैं। और इनके विषयमें श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहाँ पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है, तथा आप्त आगम और पदार्थका श्रद्धान लक्षण है। प्रश्न—पहिले कहे हुए (प्रशमादिकी अभिव्यक्तिरूप) सम्यक्त्व के लक्षण के साथ इस लक्षण का विरोध क्यों न माना जाय? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध नय की अपेक्षा से ये दोनों लक्षण कहे गये हैं। अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण शुद्ध नय की अपेक्षा से है और यह तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप लक्षण अशुद्ध नय की अपेक्षा से है। ३.—अथवा तत्त्वरुचि को सम्यक्त्व कहते हैं। यह लक्षण अशुद्धतर नय की अपेक्षा जानना चाहिए।

६. निश्चय लक्षणोंका समन्वय

प. प्र./टी./२/१७/१३२/८ अत्राह प्रभाकरभट्टः। निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वं भवद्भिः, इदानीं पुनः वीतरागचारित्राविनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः कस्मादिति चेत् निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपम् निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थकरपरमदेवभरतसगररामपाण्डवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतरागचारित्रमस्तीति परस्परविरोधः, अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः। तत्र परिहारमाह। तेषां शुद्धात्मोपादेयभावनारूपम् निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते परं किंतु चारित्रमोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभङ्गो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते। शुद्धात्मभावनाच्युताः सन्तः भरतादयो.. शुभरागयोगात् सरागसम्यग्दृष्टयो

भवन्ति। या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा वीतरागचारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परम्परया साधकत्वादिति। वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः। —प्रश्न—'निज शुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व होता है, ऐसा पहिले कई बार आपने कहा है, और अब 'वीतराग चारित्रका अविनाभूत निश्चय सम्यक्त्व है' ऐसा कह रहे हैं। दोनोंमें पूर्वापर विरोध है। वह ऐसे कि 'निज शुद्धात्मतत्त्व ही उपादेय है' ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व गृहस्थावस्थामें तीर्थंकर परमदेव तथा भरत, सगर, राम, पाण्डव आदिको रहता है परन्तु उनको वीतराग चारित्र नहीं होता, इसलिए परस्पर विरोध है। यदि 'होता है' ऐसा मानें तो उनके असंयतपना कैसे हो सकता है? उत्तर—उनके शुद्धात्माकी उपादेयताकी भावनारूप निश्चय सम्यक्त्व रहता है, किन्तु चारित्रमोहके उदयके कारण स्थिरता नहीं है, व्रतकी प्रतिज्ञा भंग हो जाती है, इस कारण उनको असंयत कहा जाता है। शुद्धात्मभावनासे च्युत होकर शुभरागके योगसे वे सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं। उनके सम्यक्त्वको जो सम्यक्त्व कहा गया है, उसका कारण यह है कि वह वीतराग चारित्रके अविनाभूत निश्चयसम्यक्त्वका परम्परा साधक है। वस्तुतः तो वह सम्यक्त्व भी सरागसम्यक्त्व नामवाला व्यवहार सम्यक्त्व ही है।

७. व्यवहार व निश्चय लक्षणोंका समन्वय

मो. मा. प्र./९/पृष्ठ/पंक्ति —प्रश्न—सात तत्त्वोंके श्रद्धानका नियम कहो हो सो बने नाहीं। जातैं कहीं परतैं भिन्न आपका श्रद्धान ही कौं सम्यक्त्व कहैं हैं…कहीं एक आत्माके निश्चय ही कौं सम्यक्त्व कहैं हैं।…तातैं जीव अजीव ही का वा केवल जीव ही का श्रद्धान भए सम्यक्त्व हो है।५७७/१८। उत्तर—१. परतैं भिन्न आपका श्रद्धान हो है सो आस्रवादिका श्रद्धानकरि रहित हो है कि सहित हो है। जो रहित हो है, तौ मोक्षका श्रद्धान बिना किस प्रयोजनके अर्थि ऐसा उपाय करै है।…तातैं आस्रवादिकका श्रद्धान रहित आपापरका श्रद्धान करना सम्भवै नाहीं। बहुरि जो आस्रवादिका श्रद्धान सहित हो है, तौ स्वयमेव सातौं तत्त्वनिके श्रद्धानका नियम भया। (४७८/८)। २. बहुरि केवल आत्माका निश्चय है, सो परका पररूप श्रद्धान भए बिना आत्माका श्रद्धान न होय तातैं अजीवका श्रद्धान भए ही जीवका श्रद्धान होय।. तातैं यहाँ भी सातौं तत्त्वनिके ही श्रद्धानका नियम जानना। बहुरि आस्रवादिकका श्रद्धान बिना आपापरका श्रद्धान वा केवल आत्माका श्रद्धान साँचा होता नाहीं। जातैं आत्मा द्रव्य है, सो तौ शुद्ध अशुद्ध पर्याय लिये है।…सो शुद्ध अशुद्ध अवस्थाकी पहिचान आस्रवादिककी पहिचानतें हो है। (४७८/१५)। —प्रश्न—३. जो ऐसे है, तौ शास्त्रनिविषैं…नव तत्त्वकी सन्तति छोड़ि हमारे एक आत्मा ही होहु ऐसी कह्या। सो कैसें कह्या? (स. सा./आ/१२/क ६) उत्तर—जाकौ साचा आपापरका श्रद्धान होय, ताकौ सातौं तत्त्वनिका श्रद्धान होय ही होय, बहुरि जाकै साँचा सात तत्त्वनिका श्रद्धान होय, ताकै आपापरका वा आत्माका श्रद्धान होय ही होय। ऐसा परस्पर अविनाभावीपना जानि आपापरका श्रद्धानकौं या आत्मश्रद्धान होनकौं सम्यक्त्व कह्या है। (४७९/१५)। प्रश्न—४. जो कहीं शास्त्रनिविषैं अर्हंत देव निर्ग्रन्थ गुरु हिंसारहित धर्मका श्रद्धानकौं सम्यक्त्व कह्या है, सो कैसें है (४८०/२२)? उत्तर—१. अर्हंत देवादिकका श्रद्धान होनेतैं वा कुदेवादिकका श्रद्धान दूर होने करि गृहीत मिथ्यात्वका अभाव हो है, तिस अपेक्षा याकौ सम्यक्त्वी कह्या है। सर्वथा सम्यक्त्वका लक्षण नाहीं। (४८१/२) २. अर्हंतदेवादिकका श्रद्धान होतैं तौ सम्यक्त्व होय वा न होय, परन्तु अर्हंतादिकका श्रद्धान भए बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व कदाचित् न होय। तातैं अर्हंतादिकके श्रद्धानकौं अन्वयरूपकारण जानि कारणविषैं कार्यका उपचारकरि इस श्रद्धानकौं सम्यक्त्व कह्या है। याही तै याका नाम व्यवहार सम्यक्त्व है। ३ अथवा जाकै तत्त्वार्थश्रद्धान होय, ताकै साँचा अर्हन्तादिकके स्वरूपका श्रद्धान होय ही होय। (४८१/१०)…जाकै साँचा अर्हंतादिकके स्वरूपका श्रद्धान होय ताकै तत्त्वार्थ श्रद्धान होय ही होय। जातैं अर्हन्तादिकका स्वरूप पहिचानें जीव अजीव आस्रव आदिककी पहिचानि हो है। ऐसे इनिकौ परस्पर अविनाभावी जानि, कहीं अर्हन्तादिकके श्रद्धानकौं सम्यक्त्व कह्या है। (४८१/१५)। प्रश्न—५. जो केई जीव अर्हंतादिकका श्रद्धान करैं हैं तिनिके गुण पहचानैं हैं अर उनकै तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व न हो है। (४८२/१७)? उत्तर—जातैं जीव अजीवकी जाति पहिचानें बिना अरहन्तादिकके आत्माश्रित गुणनिकौं वा शरीराश्रित गुणनिकौं भिन्न-भिन्न न जानैं। जो जानैं तौ अपने आत्माकौं परद्रव्यतैं भिन्न कैसें न मानै? (४८३/२) प्रश्न—६. अन्य-अन्य प्रकार लक्षण करनेका प्रयोजन कहा (४८३/२१)? उत्तर—साँची दृष्टिकरि एक लक्षण ग्रहण किये चारयों लक्षणका ग्रहण हो है। तथापि मुख्य प्रयोजन जुदा-जुदा विचारि अन्य-अन्य प्रकार लक्षण कहे हैं। १. जहाँ तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण कह्या है, तहाँ तौ यहु प्रयोजन है, जो इनि तत्त्वनिकौं पहिचानैं, तौं यथार्थ वस्तुके स्वरूप वा अपने हित अहितका श्रद्धान करौं तब मोक्षमार्गविषैं प्रवर्तैं। (४८४/१)। २. आपापरका भिन्न श्रद्धान भए परद्रव्यविषै रागादि न करनेका श्रद्धान हो है। ऐसें तत्त्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन आपापरका भिन्न श्रद्धानतै सिद्ध होता जानि इस लक्षणकौं कहा है। (४८४/१०)। ३. बहुरि जहाँ आत्मश्रद्धान लक्षण कह्या है तहाँ आपापरका भिन्न श्रद्धानका प्रयोजन इतना ही है—आपकौं आप जानना। आपकौं आप जानैं परका भी विकल्प कार्यकारी नाहीं। ऐसा मूलभूत प्रयोजनकी प्रधानता जानि आत्मश्रद्धानकौं मुख्य लक्षण कह्या है। (४८४/१३) ४. बहुरि जहाँ देवगुरुधर्मका श्रद्धान लक्षण कह्या है, तहाँ बाह्य साधनकी प्रधानता करी है। जातैं अर्हन्तादिकका श्रद्धान साँचा तत्त्वार्थश्रद्धानकौं कारण है।…ऐसे जुदे-जुदे प्रयोजनकी मुख्यता करि जुदे-जुदे लक्षण कहे हैं। (४८४/१७)।

२. निश्चय व्यवहार सम्यग्दर्शनकी कथंचित् मुख्यता गौणता

१. स्वभाव मान बिना सम्यक्त्व नहीं

न.च.वृ./१८२ जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धी। वत्थुसहावविहूणा सम्माइट्ठी कहं हुंति ।१८२। —जो नयदृष्टिविहीन हैं उनके वस्तुस्वभावकी उपलब्धि नहीं होती है। और वस्तुस्वभावसे विहीन सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं।

मो.मा.प्र./७/३२६/१२ वस्तुके भावका नाम तत्त्व कह्या। सो भाव भासैं बिना तत्त्वार्थ श्रद्धान कैसें होय?

२. आत्मानुभवीको ही आठो अंग होते हैं

का.अ./मू./४२४ जो ण कुणदि परतत्तिं पुणु पुणु भावेदि सुद्धमप्पाणं। इंदियसुहणिरवेक्खो णिस्संकाई गुणा तस्स। —जो पुरुष परायी निन्दा नहीं करता और बारम्बार शुद्धात्माको भाता है, तथा इन्द्रिय सुखकी इच्छा नहीं करता, उसके निःशंकित आदि गुण होते हैं।

३. आठों अंगोंमें निश्चय अंग ही प्रधान हैं।

पं.ध./उ/श्लो सं. तद् द्विधाथ वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात्। प्रधानं स्वात्मसंबन्धिगुणो यावत्परात्मनि ।८०९। पूर्ववत्सोऽपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः। तत्राद्यो वरमादेयः समादेयः परोऽप्यतः ।८१४। —वह वात्सल्य अंग भी स्व और परके विषयके भेदसे दो

प्रकारका है, उनमेंसे स्वात्मसम्बन्धी प्रधान है तथा परात्मसम्बन्धी गौण है ।८०१। वह प्रभावना अंग भी वात्सल्यकी तरह स्व व परके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे पहला प्रधान रीतिसे आदेय है तथा दूसरी जो परप्रभावना है वह गौणरूपसे उपादेय है ।८१४।

द.पा./पं. जयचन्द/२/७/२४ 'ते चिह्न कौन, सो लिखिए है—तहाँ मुख्य चिह्न तौ यह है जो उपाधि रहित शुद्ध ज्ञानचेतनास्वरूप आत्माकी अनुभूति है, सो यद्यपि यह अनुभूति ज्ञानका विशेष है (दे. सम्यग्दर्शन/I/४/१) तथापि सम्यक्त्व भये यह होय है, तातै याकूं बाह्य चिह्न कहिए है।'

४. श्रद्धान आदि सब आत्माके परिणाम हैं

रा.वा./१/२/६/१६/३० स्यादेतद्-वक्ष्यमाणनिर्देशादिसूत्रविवरणात् पुद्गलद्रव्यस्य संप्रत्ययः प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम्। आत्मपरिणामेऽपि तदुपपत्तेः। किं तत्त्वार्थश्रद्धानम्। आत्मपरिणामः। कस्य। आत्मन इत्येवमादि।—मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंमें भी सम्यक्त्व नामकी कर्मप्रकृति है और 'निर्देश स्वामित्व' आदि सूत्रके विवरणसे भी ज्ञात होता है कि यहाँ सम्यक्त्व कर्मप्रकृतिका सम्यग्दर्शनसे ग्रहण है अतः सम्यक्त्वको कर्म पुद्गलरूप मानना चाहिए? उत्तर—यहाँ मोक्षके कारणोंका प्रकरण है, अतः उपादानभूत आत्मपरिणाम ही विवक्षित है। (द्र. सं./मू./४१)

दे. भाव/२/३ औपशमिकादि सम्यग्दर्शन भी सीधे आत्मपरिणाम स्वरूप हैं कर्मोंकी पर्यायरूप नहीं।]

५. निश्चय सम्यक्त्वकी महिमा

पं.वि./४/२३ तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता। निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ।२३।—उस आत्मतेजके प्रति मनमें प्रेमको धारण करके जिसने उसकी बात भी सुनी है, वह निश्चयसे भव्य है, व भविष्यमें प्राप्त होनेवाली मुक्तिका पात्र है।

६. श्रद्धान मात्र सम्यग्दर्शन नहीं है

रा.वा./१/२/२६-२८/२१/२६ इच्छाश्रद्धानमित्यपरे ।२६। तदयुक्तम् मिथ्यादृष्टेरपि प्रसङ्गात् ।२७। केवलिनि सम्यक्त्वाभावप्रसंगाच्च ।२८।—कोई वादी इच्छापूर्वक श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं ।२६। उनका यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि (जैन शास्त्रोंको पढ़कर) वैसा श्रद्धान तो कर लेते हैं ।२७। दूसरी बात यह है कि ऐसा माननेसे केवली भगवान्‌में सम्यक्त्वका अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि, उनमें इच्छाका अभाव है ।२८।

श्लो. वा. २/१/२/२/३/१ दृशेरवालोचने स्थितिः प्रसिद्धा, दृशिर् प्रेक्षणे इति वचनात्। तत्र सम्यक् पश्यत्यनेनेत्यादिकरणसाधनत्वादिव्यवस्थायां दर्शनशब्दनिरुक्तेरिष्टलक्षणं सम्यग्दर्शनं न लभ्यत एव ततः प्रशस्तालोचनमात्रस्य लब्धेः। न च तदेवेष्टमतिव्याप्तित्वादभव्यस्य मिथ्यादृष्टेः प्रशस्तालोचनस्य सम्यग्दर्शनप्रसंगात्।—प्रश्न—दृश धातुकी 'सामान्यसे देखना' ऐसी व्युत्पत्ति जगत प्रसिद्ध है। वहाँ 'सम्यक् देखता है जिसके द्वारा' ऐसा करण प्रत्यय करनेपर जो इष्ट लक्षण प्राप्त होता है वह आप स्याद्वादियोंके यहाँ प्राप्त नहीं होता है। भले प्रकार देखना ऐसा भाव साधनरूप अर्थ भी नहीं मिलता है? उत्तर—ऐसा अर्थ हम इष्ट नहीं कर सकते, क्योंकि इसमें अतिव्याप्ति दोष होगा। मिथ्यादृष्टि अभव्यके प्रशस्त देखना होनेके कारण सम्यग्दर्शन हो जानेका प्रसंग हो जायेगा।

पं. ध./उ./४१४ व्यस्तास्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा। सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ।४१४।—श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और चरण, ये चारों पृथक्-पृथक् अथवा समस्तरूपसे भी सम्यग्दर्शनके वास्तविक लक्षण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, सपक्ष और विपक्ष दोनों ही अवस्थाओंमें होते भी हैं और नहीं भी होते हैं। रहस्यपूर्ण चिट्ठी पं. टोडर मल/मो.मा.प्र./५०६/६ जो आपापरका यथार्थ श्रद्धान नाहीं है, अर जिनमत विषैं कहे जे देव, गुरु, धर्म तिनि ही कूं मानैं हैं, अन्य मत विषैं कहे देवादि वा तत्त्वादि तिनिको नाहीं मानै है, तो ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त्व करि सम्यक्त्वी नाम पावै नाहीं।

७. मिथ्यादृष्टिकी श्रद्धा आदि यथार्थ नहीं

दे. श्रद्धान/३/६ [एक बारका ग्रहण किया हुआ पक्ष, मिथ्यादृष्टि जीव, सम्यक् उपदेश मिलनेपर भी नहीं छोड़ता। उसीकी हठ पकड़े रहता है।]

पं. ध./उ. ४१८ अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः। मिथ्या श्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो ततः।—क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवके श्रद्धादिक वास्तवमें श्रद्धा आदिक हैं और मिथ्यादृष्टिके श्रद्धा आदिक मिथ्या है, इसलिए मिथ्यादृष्टिके श्रद्धा आदिक वास्तविक नहीं है ।४१८।

दे. मिथ्यादृष्टि/२/२ व ४/१ [मिथ्यादृष्टि व्यक्ति यद्यपि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि सभी अंगोंका पालन करता है, परन्तु उसके वे सब अंग मिथ्या हैं, क्योंकि, वे सब भोगके निमित्त ही होते हैं मोक्षके निमित्त नहीं।] मो.मा. प्र./७/३३०/११ व्यवहारावलम्बी-की तत्त्वश्रद्धा ऐसी होती है, कि] शास्त्रके अनुसारि जानितौ ले है। परन्तु आपकौं आप जानि परका अंश भी न मिलावना अर आपका अंश भी पर विषै न मिलावना, ऐसा साँचा श्रद्धान नाहीं करै है।

३. निश्चय व्यवहार सम्यक्त्व समन्वय

१. नव तत्त्वोंका श्रद्धाका अर्थ शुद्धात्मकी श्रद्धा ही है

स. सा./मू. व आ./१३ भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च। आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।१३। नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोऽनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणायाः संपद्यमानत्वात्।—भूतार्थ नयसे ज्ञात जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं ।१३। क्योंकि, नव तत्त्वोंमें एकत्व प्रकट करनेवाले भूतार्थ नयसे एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनयरूपसे स्थापित आत्माकी अनुभूति—जिसका लक्षण आत्मख्याति है, वह प्राप्त होती है। (पं. ध./उ./१८६)

स. सा./आ./१३/क ८ चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं, कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे। अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं, प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ।८।—इस प्रकार नवतत्त्वोंमें (अनेक पर्यायोंमें) बहुत समयसे छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनयसे बाहर निकालकर प्रकट की गयी है, जैसे वर्णोंके समूहमें छिपे हुए एकाकार स्वर्णको बाहर निकालते हैं। इसलिए अब हे भव्यो! इसे सदा अन्य द्रव्योंसे तथा उनसे होनेवाले (राग आदिक) नैमित्तिक भावोंसे भिन्न, एकरूप देखो। यह (ज्योति), पद-पदपर अर्थात् प्रत्येक पर्यायमें एकरूप चिच्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।

स. सा./ता. वृ./१३/३१/१२ नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तः सम्यक्त्वं भवन्तीत्युक्तं भवद्भिस्तत्कीदृशं भूतार्थपरिज्ञानमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह। यद्यपि नवपदार्थाः तीर्थवर्तनानिमित्तं प्राथमिकशिष्यापेक्षया भूतार्था भण्यन्ते तथाप्यभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था असत्यार्था शुद्धात्मस्वरूपं न भवन्ति। तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति।—प्रश्न—नव पदार्थ यदि भूतार्थरूपसे जाने गये हों तो सम्यग्दर्शन रूप होते हैं ऐसा आपने कहा है। वह भूतार्थ परिज्ञान कैसा है? उत्तर—यद्यपि तीर्थप्रवृत्तिके निमित्त प्राथमिक शिष्यकी अपेक्षा ये नवपदार्थ भूतार्थ कहे जाते हैं,

(दे. नय/V/८/४) तथापि अभेद रत्नत्रयरूप निर्विकल्प समाधिकाल-में वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं, क्योंकि वे शुद्धात्मस्वरूप नहीं हैं। उस परम समाधिके कालमें इन नवपदार्थोंमेंसे शुद्धनिश्चयनयसे एक शुद्धात्मा ही अर्थात् नित्य निरंजन चित्स्वभाव ही द्योतित होता है, प्रकाशित होता है, प्रतीतिमें आता है, अनुभव किया जाता है। (और भी दे. तत्त्व/३/४); (स. सा./ता. वृ./१६/१५४/६)

दे. अनुभव/३/३ [आत्मानुभव सहित ही तत्त्वोंकी श्रद्धा या प्रतीति सम्यग्दर्शनका लक्षण है, बिना आत्मानुभवके नहीं।]

२. व्यवहार सम्यक्त्व निश्चयका साधक है

द्र. सं/टी./४१/१७८/४ अत्र व्यवहारसम्यक्त्वमध्ये निश्चयसम्यक्त्वं किमर्थं व्याख्यातमिति चेद् व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यत इति साध्यसाधकभावज्ञापनार्थमिति। —प्रश्न—यहाँ इस व्यवहार सम्यक्त्वके व्याख्यानमें निश्चय सम्यक्त्वका वर्णन क्यों किया? उत्तर—व्यवहार सम्यक्त्वसे निश्चय सम्यक्त्व सिद्ध किया जाता है, इस साध्य-साधक भावको बतलानेके लिए किया गया है।

पं. का./ता. वृ./१०७/१७०/८ इदं तु नवपदार्थविषयभूतं व्यवहारसम्यक्त्वं। किं विशिष्टम्। शुद्धजीवास्तिकायरुचिरूपस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य छद्मस्थावस्थामात्मविषयस्वसंवेदनज्ञानस्य परम्परया बीजम्। —यह जो नवपदार्थका विषयभूत व्यवहार सम्यक्त्व है, वह शुद्ध जीवास्तिकायकी रुचिरूप जो निश्चय सम्यक्त्व है उसका तथा छद्मस्थ अवस्थामें आत्मविषयक स्वसंवेदन ज्ञानका परम्परासे बीज है।

३. तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यक्त्व कहनेका कारण व प्रयोजन

यो. सा./अ./१/२-४ जीवाजीवद्वयं त्यक्त्वा नापरं विद्यते यत। तल्लक्षणं ततो ज्ञेयं स्वस्वभावबुभुत्सया।२। यो जीवाजीवयोर्वेत्ति स्वरूपं परमार्थतः। सोऽजीवपरिहारेण जीवतत्त्वे निलीयते।३। जीवतत्त्व-विलीनस्य रागद्वेषपरिक्षयः। ततः कर्माश्रयच्छेदस्ततो निर्वाणसंगमः।४। —संसारमें जीव व अजीव इन दोनोंके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसलिए अपने स्वरूपज्ञानकी अभिलाषासे इन दोनोंके लक्षण जानने चाहिए।२। जो परमार्थसे इनके स्वरूपको जान जाता है वह अजीवको छोड़कर जीव तत्त्वमें लय हो जाता है। उससे रागद्वेषका क्षय और इससे मोक्षकी प्राप्ति होती है।२-४।

स. सा./ता. वृ./१७६/२५५/८ जीवादिनवपदार्थाः श्रद्धानविषयः सम्यक्त्वाश्रयत्वान्निमित्तत्वाद् व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति। —जीवादि नव पदार्थ श्रद्धानके विषय हैं। वे सम्यक्त्वके आश्रय या निमित्त होनेके कारण व्यवहारसे सम्यक्त्व कहे जाते हैं। (मो. मा. प्र./६/४८६/१६)

प. प्र./टी./२/१३/१२७/२ तत्त्वार्थश्रद्धानापेक्षया चलमलिनावगाढ़-परिहारेण शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपेण निश्चिनोति। —तत्त्वार्थ श्रद्धानकी अपेक्षा चलमलिन अवगाढ़ इन दोषोंके परिहार द्वारा 'शुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसी रुचिरूपसे निश्चय करता है।

४. सम्यक्त्वके अंगोंको सम्यक्त्व कहनेका कारण

मो. मा. प्र./८/४०१/१५ निश्चय सम्यक्त्वका तौ व्यवहारविषै उपचार किया, बहुरि व्यवहार सम्यक्त्वके कोई एक अंगविषै सम्पूर्ण व्यवहार सम्यक्त्वका उपचार किया, ऐसे उपचारकरि सम्यक्त्व भया कहिए।'

रा. वा./हि./१/२/२४ यह (प्रशम संवेगादि) चार चिह्न सम्यग्दर्शनको जनावै है, तातै सम्यग्दर्शनके कार्य हैं। तातै कार्य करि कारणका अनुमान हो है।

४. सराग वीतराग सम्यग्दर्शन निर्देश

१. सराग वीतराग रूप भेद व लक्षण

स. सि./१/२/१०/२ तद् द्विविधं, सरागवीतरागविषयभेदात्।'' प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्र-मितरत्। —सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदिकी अभिव्यक्ति लक्षणवाला सराग सम्यग्दर्शन है और आत्माकी विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है। (रा. वा./१/२/२६-३१/२२/६); (श्लो. वा. २/१/२/श्लो. १२/९९); (अन. ध./२/५१/१७८); (गो. जी./जी. प्र./५६१/१००६/१५ पर उद्धृत); (और भी दे. आगे शीर्षक नं. २)।

रा. वा./१/२/३१/२२/११ सप्तानां कर्मप्रकृतीनाम् आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते। —(दर्शन-मोहनीयकी) सातों प्रकृतियोंका आत्यन्तिक क्षय हो जानेपर जो आत्म विशुद्धिमात्र प्रकट होती है वह वीतराग सम्यक्त्व है।

भ. आ./वि./५१/१७५/१८,२१ इह द्विविधं सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं चेति।...तत्र प्रशस्तरागसहितानां श्रद्धानं सराग-सम्यग्दर्शनम्। रागद्वयरहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतराग-सम्यग्दर्शनम्। —सम्यक्त्व दो प्रकारका है—सरागसम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। तहाँ प्रशस्तराग सहित जीवोंका सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व है, और प्रशस्त व अप्रशस्त दोनों प्रकारके रागसे रहित क्षीणमोह वीतरागियोंका सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व है।

अ. ग. श्रा./२/६५-६६ वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा। विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरद्वयम्।६५। संवेगप्रशमास्तिक्यकारुण्य-व्यक्तलक्षणम्। सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम्।६६। —वीतराग और सरागके भेदसे सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है। तहाँ क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग है और शेष दो अर्थात् औपशमिक व क्षायोप-शमिक सराग है।६५। प्रशम, संवेग, आस्तिक और अनुकम्पा इन प्रगट लक्षणोंवाला सराग सम्यक्त्व जानना चाहिए। उपेक्षा अर्थात् वीतरागता लक्षणवाला वीतराग सम्यक्त्व है।६६।

स. सा./ता. वृ./१७/१२५/१३ सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुञ्चति। निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभ-सर्वकर्मकर्तृत्वं च मुञ्चति। —सरागसम्यग्दृष्टि केवल अशुभ कर्मके कर्तापनेको छोड़ता है (शुभकर्मके कर्तापनेको नहीं), जब कि निश्चय चारित्रके अविनाभूत वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर वह शुभ और अशुभ सर्व प्रकारके कर्मोंके कर्तापनेको छोड़ देता है।

द्र. सं./टी./४१/१६८/२ त्रिगुप्तावस्थालक्षणवीतरागसम्यक्त्वप्रस्तावे। —त्रिगुप्तिरूप अवस्था ही वीरागसम्यक्त्वका लक्षण है।

२. व्यवहार व निश्चय सम्यक्त्वके साथ इन दोनोंकी एकार्थता

द्र. सं./टी./४१/१७७/१२ शुद्धजीवादितत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहारसम्यक्त्वं विज्ञेयम्।...वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च ज्ञातव्यमिति। —शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थोंका श्रद्धानरूप सरागसम्यक्त्व व्यवहार जानना चाहिए और वीतराग चारित्रके बिना नहीं होनेवाला वीतराग सम्यक्त्व नामक निश्चयसम्यक्त्व जानना चाहिए।

प. प्र./टी./२/१७/१३२/५ प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते। तदेव व्यवहारसम्यक्त्वमिति।...वीतराग-सम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्राविनाभूतम्।

तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति।—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदिकी अभिव्यक्ति सराग सम्यक्त्वका लक्षण है (दे. शीर्षक नं. १)। वह ही व्यवहारसम्यक्त्व है। वीतराग सम्यक्त्व निजशुद्धात्मानुभूति लक्षणवाला है और वीतराग चारित्रके अविनाभावी है। वह ही निश्चय सम्यक्त्व है।

पं. का./ता वृ./१५०-१५१/२१७/१५ सप्तप्रकृतीनामुपशमेन क्षयोपशमेन च सरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादिरूपेण...।—सात प्रकृतियोंके उपशम या क्षयोपशमसे सरागसम्यग्दृष्टि होकर पंचपरमेष्ठीकी भक्ति आदिरूपसे (परिणमित होता है)।

दे. समय– [पंचपरमेष्ठी आदिकी भक्ति रूप परिणत होनेके कारण सराग सम्यग्दृष्टि सूक्ष्म परसमय है]।

३. सराग व वीतराग सम्यक्त्वका स्वामित्व

भ. आ./वि./५१/६२/३ वीतरागसम्यक्त्वं नेह गृहीतम्। मोहप्रलयमन्तरेण वीतरागता नास्ति। —यहाँ वीतराग सम्यक्त्वका ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि मोहका क्षय हुए बिना वीतरागता नहीं होती। (दे. सम्यग्दर्शन/II/४/१)।

दे. सम्यग्दर्शन/II/४/१ (क्षायिक सम्यग्दृष्टि वीतराग सम्यग्दृष्टि है और औपशमिक व क्षायोपशमिक सराग सम्यग्दृष्टि हैं) दे. सम्यग्दर्शन/II/४/२/—पं. का)।

दे. सम्यग्दर्शन/II/४/२ (भक्ति आदि शुभ रागसे परिणत सराग सम्यग्दृष्टि है और वीतरागचारित्रका अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि है)।

दे. सम्यग्दर्शन/I/३/२/६ (चौथेसे छठे गुणस्थानतक स्थूल सराग सम्यग्दृष्टि हैं, क्योंकि, उनकी पहिचान उनके काय आदिके व्यापारपरसे हो जाती है और सातवेंसे दसवें गुणस्थानतक सूक्ष्म सराग सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि, उसकी पहिचान काय आदिके व्यापारपरसे या प्रशम आदि गुणोंपरसे नहीं होती है। यहाँ अर्थापत्तिसे बात जान ली जाती है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि ११ वें से १४ वें गुणस्थान तक होते हैं। सकल मोहका अभाव हो जानेसे वे ही वास्तवमें वीतराग हैं या वीतराग चारित्रके धारक हैं)।

४. इन दोनों सम्यक्त्वों सम्बन्धी २५ दोषोंके लक्षणोंकी विशेषता

द्र. सं./टी./४१/१६६-१६६ का भावार्थ—[वीतराग सर्वज्ञको देव न मानकर क्षेत्रपाल आदिको देव मानना देवमूढ़ता है। गङ्गादि तीर्थोंमें स्नान करना पुण्य है, ऐसा मानना लोकमूढ़ता है। वीतराग निर्ग्रन्थ गुरुको न मानकर लौकिक चमत्कार दिखानेवाले कुलिंगियोंको गुरु मानना गुरुमूढ़ता है। विज्ञान ऐश्वर्य आदिका मद करना सो आठ मद हैं। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म तथा इसके उपासक ये छह अनायतन हैं। व्यवहार निःशंकितादिक आठ अंगोंसे विपरीत आठ दोष हैं। ये २५ दोष हैं (विशेष दे. वह वह नाम)]।

द्र.सं./टी./४१/पृष्ठ/पंक्ति–एवमुक्तलक्षणं मूढत्रयं सरागसम्यग्दृष्ट्यवस्थायां परिहरणीयमिति। त्रिगुप्तावस्थालक्षणवीतरागसम्यक्त्वप्रस्तावे पुनर्निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैव देव इति निश्चयबुद्धिर्देवमूढरहितत्वं विज्ञेयम्। तथैव च मिथ्यात्वरागादिरूपमूढभावत्यागेन स्वशुद्धात्मन्येवावस्थानं लोकमूढरहितत्वं विज्ञेयम्। तथैव च...परमसमरसीभावेन तस्मिन्नेव सम्यग्रूपेणायनं गमनं परिणमनं समयमूढरहितत्वं बोद्धव्यम्। (२१८/१)।...मद इक्त सरागसम्यग्दृष्टिभिस्त्याज्यमिति। वीतरागसम्यग्दृष्टीनां पुनर्मानकषायादुत्पन्नमदमात्सर्यादिसमस्तविकल्पजालपरिहारेण ममकाराहंकाररहिते शुद्धात्मनि भावनैव मदाष्टत्याग इति। (१६८/६)। चेत्युक्तलक्षणमनायतनषट्कं सरागसम्यग्दृष्टीनां त्याज्यं भवतीति। वीतरागसम्यग्दृष्टीनां पुनः समस्तदोषायतनभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायरूपायतनानां परिहारेण केवलज्ञानाद्यनन्तगुणायतनभूते स्वशुद्धात्मनि निवास एवानायतनसेवापरिहार इति।—इन उपरोक्त लक्षणवाली तीन मूढताओंको सराग सम्यग्दृष्टि अवस्थामें त्यागना चाहिए, और मन, वचन तथा कायकी गुप्तिरूप अवस्थावाले वीतराग सम्यक्त्वके प्रस्तावमें 'अपना निरंजन तथा निर्दोष परमात्मा ही देव है' ऐसी जो निश्चय बुद्धि है वही देवमूढ़तासे रहितता जानना चाहिए। तथा मिथ्यात्व राग आदि रूप जो मूढ़ भाव हैं, इनका त्याग करनेसे निजशुद्ध आत्मामें स्थितिका करना वही लोकमूढ़तासे रहितता है। तथा परमसमता भावसे उसी निज शुद्धात्मामें ही जो सम्यक् प्रकारसे अयन यानी गमन अथवा परिणमन है, उसको समयमूढ़ताका त्याग समझना चाहिए। उपरोक्त आठ मदोंका सराग सम्यग्दृष्टियोंको त्याग करना चाहिए। मान कषायसे उत्पन्न जो मद, मात्सर्य (ईर्ष्या) आदि समस्त विकल्पोंके त्यागपूर्वक जो ममकार अहंकारसे रहित शुद्ध आत्मामें भावनाका करना है वही वीतराग सम्यग्दृष्टियोंके आठ मदों का त्याग है। ये उपरोक्त छह अनायतन सराग सम्यग्दृष्टियोंको त्यागने चाहिए। और जो वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनके सम्पूर्ण दोषोंके स्थानभूत मिथ्यात्व, विषय तथा कषायरूप आयतनोंके त्यागपूर्वक केवलज्ञान आदि अनन्त गुणोंके स्थानभूत निजशुद्ध आत्मामें जो निवास करना है, वही अनायतनोंकी सेवाका त्याग है।

५. दोनोंमें कथंचित् एकत्व

श्लो. वा./पु.२/१/२/३-४/१६/२८ तत्त्वविशेषणे त्वर्थे श्रद्धानस्य न किंचिद्वचं दर्शनमोहरहितस्य पुरुषस्वरूपस्य वा 'तत्त्वार्थश्रद्धानम्' शब्देनाभिधानात् सरागवीतरागसम्यग्दर्शनयोस्तस्य सद्भावादव्याप्तेः स्फुटं विध्वंसनात्।—तत्त्व विशेषण लगानेसे तत्त्व करके निर्णीत अर्थका श्रद्धान करना रूप लक्षण अनवद्य है। क्योंकि, दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे रहित हो रहे आत्माके 'तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना' इस शब्दसे कहा गया यह लक्षण, सराग और वीतराग दोनों ही सम्यग्दर्शनोंमें घटित हो जाता है। अतः अव्याप्ति दोषका सर्वथा नाश हो जाता है।

६. इन दोनोंमें तात्त्विक भेद मानना भूल है

पं.ध./उ/श्लो.नं. तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना। सद्दृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन।८२८। व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः। प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना।८२९। इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः। तेषां यावत् श्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम्।८३०। वह्नेरौष्ण्यमिवात्मज्ञं पृथक्कर्तुं त्वमर्हसि। मा विभ्रमस्त्वदृष्ट्वापि चक्षुषाऽचक्षुषाशयोः।८३१। हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरिति स्मृतम्। आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम्।९१३। ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम्। शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना।९१४। प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना। अस्तीति वासनोन्मेषः केषांचित्स न सन्निह।९१५। यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम्। परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणं चापि पराश्रितम्।९१६।—१. इन दोनोंमें-से एक वीतराग निर्विकल्प सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना होती है और दूसरे अर्थात् सविकल्प व सराग सम्यग्दृष्टिके वह नहीं होती है।८२८। किन्तु उस सविकल्प सरागी व्यवहार सम्यग्दृष्टिके केवल प्रतीति मात्र श्रद्धा होती है, इसलिए उसके ज्ञानचेतना कैसे हो सकती है?।८२९। बुद्धिके दोषसे जो दुराशय लोग ऐसा कहते हैं, उनका जितना भी शास्त्राध्ययन है वह सब केवल शरीरक्लेशके लिए ही समझना चाहिए।८३०। भो आत्मज्ञ! अग्निकी उष्णताके समान तुम्हें अपने स्वभावको पृथक् करके देखना योग्य है। (स्वसंवेदन द्वारा उस वीतराग

तत्त्वको) प्रत्यक्ष देख कर भी सराग रूप अदृष्टकी आशासे भ्रममें मत पड़ो ।८३३। २. केवल रागरूप हेतुसे ही, प्रसिद्ध जिन स्थूल दृष्टिवाले आचार्योंने सम्यक्त्व और ज्ञानको छठे गुणस्थानतक सविकल्प और इससे ऊपरके गुणस्थानोंमें निर्विकल्प कहकर उसे शुक्ल ध्यान माना है; तथा वहाँ ही शुद्ध ज्ञान चेतना मानते हुए नीचेके छठे गुणस्थान तक विकल्पका सद्भाव होनेसे ज्ञान चेतनाका न होना माना है, ऐसे किन्हीं-किन्हींके वासनाका पक्ष होनेके कारण वह ठीक नहीं है ।६१३-६१५। क्योंकि जैसे अन्यके गुण-दोष अन्यके नहीं कहलाते उसी प्रकार अन्यके गुण दोष अन्यके गुण-दोषोंका आश्रय भी नहीं करते। (अर्थात् चारित्र सम्बन्धी रागका दोष सम्यक्त्वमें लगाना योग्य नहीं) ।६१६।

७. सराग सम्यग्दृष्टि भी कथंचित् वीतराग हैं

दे. मिथ्यादृष्टि/४/१ (सम्यग्दृष्टि सदा अपना काल वैराग्य भावसे गमाता है।)

दे. राग./६/४ (सम्यग्दृष्टिको ज्ञान व वैराग्यकी शक्ति अवश्य होती है)

दे. जिन/३ (मिथ्यात्व तथा रागादिको जीत लेनेके कारण असंयत सम्यग्दृष्टि भी एक देश जिन कहलाता है।)

दे. संवर/२ [सम्यग्दृष्टि जीवको प्रवृत्तिके साथ निवृत्तिका अंश भी अवश्य रहता है।]

दे. उपयोग/II/३/२[तहाँ उसे जितने अंशमें राग वर्तता है उतने अंशमें बन्ध है और जितने अंशमें राग नहीं है उतने अंशमें संवर निर्जरा है]

८. सराग व वीतराग कहनेका कारण प्रयोजन

पं.ध./उ./६१२ विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः। रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम् ।६१२। −(७-१० गुणस्थानतक अबुद्धिपूर्वकका सूक्ष्म राग होता है, जो इससे ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं होता—दे राग/३) केवल यही विचार करके किन्हीं आचार्योंने असद्भूत उपचारनयसे जिसप्रकार छठे गुणस्थान तकके ज्ञानको राग युक्त कहा है उसी प्रकार सम्यक्त्वको भी रागयुक्त कहा है ।६१२। (दे. सम्यग्दर्शन/II/१/६)

दे सम्यग्दर्शन/II/३/१/ [विकल्पात्मक निचली भूमिकाओंमें यद्यपि विषय कषाय वंचनार्थ नव पदार्थ भूतार्थ हैं पर समाधि कालमें एकमात्र शुद्धात्म तत्त्व ही भूतार्थ है। ऐसा अभिप्राय है।] (और भी दे. नय/I/३/१०)

III सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके निमित्त

१. सम्यक्त्वके अन्तरंग व बाह्य निमित्तोंका निर्देश

१. निसर्ग व अधिगम आदि

नि.सा./मू /५३/ सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।−सम्यग्दर्शनका निमित्त जिन सूत्र है, अथवा जिनसूत्रके जाननेवाले पुरुष हैं।

त. सू /१/३ तन्निसर्गादधिगमाद्वा।३। −वह सम्यग्दर्शन निसर्गसे अर्थात् परिणाममात्रसे और अधिगमसे अर्थात् उपदेशके निमित्तसे उत्पन्न होता है। (अन. ध./२/४७/१७१)

श्लो.वा.२/१/३ यथा ह्यौपशमिकं दर्शनं निसर्गादधिगमाच्चोत्पद्यते तथा क्षायोपशमिकं क्षायिकं चेति सुप्रतीतम्। −जिस प्रकार औपशमिक सम्यग्दर्शन निसर्ग व अधिगम दोनोंसे होता है, उसी प्रकार क्षायोपशमिक व क्षायिक भी सम्यक्त्व दोनों प्रकारसे होते हुए भले प्रकार प्रतीत हो रहे हैं।

न. च. वृ./२४८ सामण्ण अह विसेसं दव्वे णाणं हवेइ अविरोहो। साहइ तं सम्मत्तं णहु पुण तं तस्स विवरीयं ।२४८। −द्रव्यका अविरुद्ध सामान्य व विशेष ज्ञान सम्यग्दर्शनको सिद्ध करता है क्योंकि वह उससे विपरीत नहीं होता।

दे. स्वाध्याय/१/१० (आगम ज्ञानके बिना स्व व परका ज्ञान नहीं होता तब सम्यक्त्व पूर्वक कर्मोंका क्षय कैसे हो सकता है।

दे. लब्धि/३ (सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टिके उपदेशके निमित्त सम्बन्धी)

२. दर्शनमोहके उपशम आदि

नि. सा./मू./५३ अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ।५३। −सम्यग्दर्शनके अन्तरंगहेतु दर्शनमोहके क्षय उपशम व क्षयोपशम है।

स. सि /१/७/२६/१ अभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। −दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है। (रा. वा./७/१४/४०/२६); (म. पु./६/११८); (अन. ध./२/४६/१७१)

३. लब्धि आदि

म. पु./६/११६ देशनाकाललब्ध्यादिबाह्यकारणसंपदि। अन्तःकरणसामग्र्यां भव्यात्मा स्याद् विशुद्धदृक् ।११६। −जब देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरंगकारण तथा करणलब्धिरूप अन्तरंग कारण रूप सामग्रीकी प्राप्ति होती है, तभी यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शनका धारक हो सकता है।

न. च. वृ./३१५ काऊण करणलद्धी सम्मग्भावस्स कुणइ जं गहणं। उवसमखयमिस्सादो पयडीणं तं पि णियहेउं ।३१५। −जिस करणलब्धिको करके सम्यक्भावको तथा प्रकृतियोंके उपशम क्षय व क्षयोपशमको ग्रहण करता है, वह करण लब्धि भी सम्यक्त्वमें निजहेतु है।

दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/६ (पंच लब्धिको प्राप्त करके ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है।)

दे. क्षय./२/३ (क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए भी करण लब्धि निमित्त है।)

पं. ध./उ./३७८ दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे। भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ।३७८। −दैवयोगसे अथवा कालादि लब्धिकी प्राप्ति होनेपर अथवा संसार-सागरके निकट होनेपर अथवा भव्यभावका विपाक होनेपर जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ।३७८। (विशेष दे. नियति/२/१,३)

४. द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप निमित्त

श्लो. वा. ३/१/३/११/८२/२२ दर्शनमोहस्यापि संपन्नो जिनेन्द्रबिम्बादि द्रव्यं, समवसरणादि क्षेत्रं, कालश्चार्धपुद्गलपरिवर्तनविशेषादिर्भावश्चाधाप्रवृत्तिकरणादिरिति निश्चीयते। तदभावे तदुपशमादिप्रतिपत्ते', अन्यथा तदभावात्। −(विष आदिके नाशकी भाँति) दर्शनमोहके नाशमें भी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव हेतु होते हैं। तहाँ जिनेन्द्र बिम्ब आदि तो द्रव्य हैं, समवसरण आदि क्षेत्र हैं, अर्धपुद्गलपरिवर्तन विशेष काल है, अधःप्रवृत्तिकरण आदि भाव हैं। उस मोहनीय कर्मका अभाव होनेपर ही उपशमादिकी प्रतिपत्ति होती है। दूसरे प्रकारोंसे उन उपशम आदिके होनेका अभाव है।

ध. ६/१,६-८,४/२१४/५ 'सव्वविसुद्धो' त्ति एदस्स पदस्स अत्थो उच्चदे। तं जधा—एत्थ पढमसम्मत्तपडिवज्जंतस्स अधापवत्तकरण-अपुव्वकरण-अणियट्टीकरणभेदेण तिविहाओ विसोहीओ होंति। −अब सूत्रमें (दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/ उपशम सम्यक्त्वका स्वामित्व 'सर्वविशुद्ध' इस पदका अर्थ कहते हैं। वह इस प्रकार है—यहाँपर

प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होने वाले जीवके अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करणके भेदसे तीन प्रकारकी विशुद्धियाँ होती हैं। (विशेष दे. करण/३-६)

ल. सा./जी. प्र./२/४१/११ विशुद्धय इत्यनेन शुभलेश्यत्वं संगृहीतं वक्ष्यमाणत्वात् स्त्यानगृद्ध्यादित्रयोदयाभावस्य जागरत्वमप्युक्तमेव। —गाथामें प्रयुक्त 'विशुद्धय' इस शब्दसे यहाँ शुभलेश्याका संग्रह किया गया है। तथा आगे स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओंका अभाव कहेंगे जिससे 'जागृत अवस्थामें होता है' ऐसा भी कह दिया गया समझना चाहिए।

५. जाति स्मरण आदि

स. सि./२/३/१५३/६ 'आदि' शब्देन जातिस्मरणादिः परिगृह्यते।

स. सि./१/७/२६/२ बाह्यं···केषांचिज्जातिस्मरणं···। —'आदि' शब्दसे जाति स्मरण आदिका अर्थात् जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन, देवर्द्धिदर्शन व वेदना आदिका ग्रहण होता है। ये जातिस्मरण आदि बाह्यनिमित्त हैं। (रा. वा./२/३/२/१०५/४) (और भी दे. शीर्षक नं. ४)

न. च. वृ./२१६ तित्थयरकेवलिसमणभवसुमरणसत्थदेवमहिमादी। इच्चेवमाइ बहुगा बाहिरहेउ मुणेयव्वा।।२१६।। —तीर्थंकर, केवली, श्रमण, भवस्मरण, शास्त्र, देवमहिमा आदि बहुत प्रकारके बाह्य हेतु मानने चाहिए।

दे. क्रिया/३ में सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया—(जिन पूजा आदिसे सम्यक्त्वमें वृद्धि होती है।)

दे. सम्यग्दर्शन/III/३/१ (चारों गतियोंमें पृथक्-पृथक् जातिस्मरण आदि कारणोंकी यथा योग्य सम्भावना)

६. उपरोक्त निमित्तोंमें अन्तरंग व बाह्य विभाग

रा. वा./१/७/१४/४०/२६ बाह्यं चोपदेशादि। —सम्यग्दर्शनके बाह्य-कारण उपदेश आदि हैं।

दे. शीर्षक/नं. १,२ (नि. सा./गा. ५३ के अपरार्धमें दर्शनमोहके उपशमादिको अन्तरंग कारण कहा है। अतः पूर्वार्धमें कहे गये जिन सूत्र व उसके ज्ञायक पुरुष अर्थापत्तिसे ही बाह्य निमित्त कहे गये सिद्ध होते हैं।)

दे. शीर्षक/२ (दर्शनमोहनीय कर्मके उपशमादि अन्तरंग कारण हैं।)

दे. शीर्षक/३ (देशना लब्धि व काल लब्धि बाह्य कारण है तथा करण लब्धि अन्तरंग कारण है।)

दे. शीर्षक/४ (भावात्मक होनेके कारण करण लब्धि व शुभ लेश्या आदि अन्तरंग कारण हैं)।

२. कारणोंमें कथंचित् मुख्यता गौणता व भेदाभेद

१. कारणोंकी कथंचित् मुख्यता

रा. वा/१/३/१०/२४/६ यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात् बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टेष्टस्य वा विरोधः स्यात्—यदि सबका काल ही कारण मान लिया जाय (अर्थात् केवल काललब्धिसे मुक्ति होना मान लिया जाये) तो बाह्य और आभ्यन्तर कारण सामग्रीका ही लोप हो जायेगा।

ध. ६/१,९-९,३०/४३०/६ णइसग्गियमवि पढमसम्मत्तं तच्चट्ठे उत्तं, तं हि एत्थेव दट्ठव्वं, जाइस्सरण-जिणबिंबदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसग्गियपढमसम्मत्तस्स असंभवादो। —तत्त्वार्थ सूत्रोंमें नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्वका भी कथन किया गया है, उसका भी पूर्वोक्त कारणोंसे उत्पन्न हुए सम्यक्त्वमें ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिए, क्योंकि जातिस्मरण और जिनबिम्बदर्शनके बिना उत्पन्न होनेवाला नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व असम्भव है।

२. कारणोंकी कथंचित् गौणता

दे. सम्यग्दर्शन/III/३/४ [नारकी जीवोंमें केवल जाति स्मरण सम्यक्त्वका निमित्त नहीं है, बल्कि पूर्वभवकृत अनुष्ठानोंकी विफलताके दर्शन रूप उपयोग सहित जातिस्मरण कारण है।।१।। इसी प्रकार वहाँ केवल वेदना सामान्य कारण नहीं है, बल्कि 'यह वेदना अमुक मिथ्यात्व व असंयमका फल है' इस प्रकारके उपयोग सहित ही वह कारण है।२।]

दे. सम्यग्दर्शन/III/३/६ [अवधिज्ञान द्वारा जिनमहिमा आदि देखते हुए भी अपनी वीतरागताके कारण ग्रैवेयक वासी देवोंको विस्मय उत्पन्न करानेमें असमर्थ वे उन्हें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें कारण नहीं होते।]

दे. सम्यग्दर्शन/III/२/४ [मात्र देव ऋद्धि दर्शन सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण नहीं है बल्कि 'ये अमुक संयमके फल हैं अथवा बालतप आदिके कारण हम ऋद्धि हीन नीच देव रह गये' इत्यादि उपयोग सहित ही वे कारण हैं।]

३. कारणोंका परस्परमें अन्तर्भाव

दे. सम्यग्दर्शन/III/२/१ [नैसर्गिक सम्यक्त्वका भी इन्हीं कारणोंसे उत्पन्न सम्यक्त्वमें अन्तर्भाव हो जाता है।]

दे. सम्यग्दर्शन/III/३/३ [ऋषियों व तीर्थक्षेत्रोंके दर्शनका जिनबिम्बदर्शनमें अन्तर्भाव हो जाता है।]

दे. सम्यग्दर्शन/III/३/६,७ [जिनबिम्बदर्शन व जिन महिमादर्शनका एक दूसरेमें अन्तर्भाव हो जाता है।]

दे. सम्यग्दर्शन/III/३/८/४ [धर्मोपदेश व देवर्द्धिसे उत्पन्न जातिस्मरणका धर्मोपदेश व देवर्द्धिमें अन्तर्भाव हो जाता है।]

४. कारणोंमें परस्पर अन्तर

ध. ६/१,९-९,३७/४३३/५ देविद्धिदंसणं जाइस्सरणम्मि किण्ण पविसदि। ण पविसदि, अप्पणो अणिमादिरिद्धीओ दट्ठूण एदाओ रिद्धीओ जिणपण्णत्तधम्माणुट्ठाणादो जादाओ त्ति पढमसम्मत्तपडिवज्जणं जाइस्सरणणिमित्तं। सोहम्मिंदादिदेवाणं महिद्धीओ दट्ठूण एदाओ सम्मद्दंसणसंजुत्तसंजमफलेण जादाओ, अहं पुण सम्मत्तविरहिददव्वसंजमफलेण वाहणादिणीचदेवेसु उप्पण्णो त्ति णादूण पढमसम्मत्तग्गहणं देविद्धिदंसणणिबंधणं। तेण ण दोण्हमेयत्तमिदि। किंच जाइस्सरणमुप्पण्णपढमसमयप्पहुडि अंतोमुहुत्तकालब्भंतरे चेव होदि। देविद्धिदंसणं पुण कालंतरे चेव होदि, तेण ण दोण्हमेयत्तं। एसो अत्थो णेरइयाणं जाइस्सरणवेयणाभिभवणाणं पि वत्तव्वो। —प्रश्न—देवर्द्धिदर्शनका जातिस्मरणमें समावेश क्यों नहीं होता? उत्तर—१. नहीं होता, क्योंकि, अपनी अणिमादिक ऋद्धियोंको देखकर जब (देवोंको) ये विचार उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ जिनभगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्मके अनुष्ठानसे उत्पन्न हुई हैं, तब प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्ति जातिस्मरणनिमित्तक होती है। किन्तु जब सौधर्मेन्द्रादिक देवोंकी महा ऋद्धियोंको देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ सम्यग्दर्शनसे संयुक्त संयमके फलसे प्राप्त हुई हैं, किन्तु मैं सम्यक्त्वसे रहित द्रव्यसंयमके फलसे वाहनादिक नीच देवोंमें उत्पन्न हुआ हूँ, तब प्रथमसम्यक्त्वका ग्रहण देवर्द्धिदर्शननिमित्तक होता है। इससे ये दोनों कारण एक नहीं हो सकते। २. तथा जातिस्मरण उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लगाकर अन्तर्मुहूर्तकालके भीतर ही होता है। किन्तु देवर्द्धिदर्शन, उत्पन्न होनेके समयसे अन्तर्मुहूर्त कालके पश्चात् ही होता है। इसलिए भी उन दोनों कारणोंमें एकत्व नहीं है।—३. यही अर्थ नारकियोंके जातिस्मरण और वेदनाभिभवरूप कारणोंमें विवेकके लिए भी कहना चाहिए।

दे. सम्यग्दर्शन/III/३/८/४ [धर्मोपदेशसे हुआ जातिस्मरण और देवर्द्धिको देखकर हुआ जाति स्मरण ये दोनों जातिस्मरण रूपसे एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न माने गये हैं।]

३. कारणोंका स्वामित्व व शंकाएँ

१. चारों गतियोंमें यथासम्भव कारण

(ष. खं/६/१/९,९-९/सूत्र नं./४१९-४३१); (ति. प./अधि./गा. नं.); (स. सि./१/७/२६/२); (रा. वा./२/१/२/१०५/३)—

ष. खं/सूत्र नं.	मार्गणा	जिनबिम्ब द.	धर्मश्रवण	जातिस्मरण	वेदना	ष. खं./सूत्र नं.	मार्गणा	जिनमहिमा द.	धर्मश्रवण	जातिस्मरण	देवर्द्धि द.
१.	नरक गतिः—					४.	देवगति—				
६-६	१-३ पृथिवी.	×	,,	,,	,,	३७-३८	भवनवासी	,,	,,	,,	,,
			ति. प./२/३५६-३६०						ति.प/३/२३६-२४०		
१०-१२	४-७ पृथि.	×	×	,,	,,	,,	व्यंतर	,,	,,	,,	,,
			ति. प/२/३६१						ति.प/६/१०१		
२.	तिर्यंच गतिः—					,,	ज्योतिषी	,,	,,	,,	,,
									ति.प/७/३१७		
२१-२२	पंचे. संज्ञी. गर्भज.	,,	,,	,,	×	,,	सौधर्म—सहस्रार	,,	,,	,,	,,
			ति. प/५/१०६						ति.प/८/६७७-७८		
×	[कर्मभूमिज]	,,	,,	,,	,,	३६-४०	आनत आदि चार	,,	,,	,,	×
			ति. प/५/१०८								
३.	मनुष्यगतिः—										
२६-३०	मनु. गर्भज.	,,	,,	,,	×	४२	नवग्रैवेयक	×	,,	,,	,,
			ति. प/४/२६५६						ति.प/८/६७६.		
×	(कर्मभूमिज)	,,	,,	,,	,,	४३	अनुदिश व अनुत्तर	×	×	×	×
			ति. प/४/२६५५						(पहिलेसे ही सम्यग्दृष्टि होते हैं) ति.प/८/६७६.		

२. जिनबिम्ब दर्शन सम्यक्त्वका कारण कैसे

ध. ६/१,९-९,२२/४२७/६ कथं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं। जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो। =प्रश्न—जिनबिम्बदर्शन प्रथमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण किस कारणसे है? उत्तर—जिनबिम्बके दर्शनसे निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलापका क्षय देखा जाता है। (विशेष—दे. पूजा/२/४)।

३. ऋषियों व तीर्थक्षेत्रोंके दर्शनोंका निर्देश क्यों नहीं

ध. ६/१,९-९,३०/४३०/६ लद्धिसंपण्णरिसिदंसणं पि पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं होदि, तमेत्थ पुध किण्ण भण्णदे। ण, एदस्स वि जिणबिंबदंसणे अंतब्भावादो। उज्जंत-चंपा-पावाणयरादिदंसणं पि एदेण घेत्तव्वं। कुदो। तत्थतणजिणबिंबदंसण जिणणिव्वुइगमणकहणेहि विणा पढमसम्मत्तगहणाभावा। =प्रश्न—लब्धिसम्पन्न ऋषियोंका दर्शन भी तो प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होता है, अतएव इस कारणको यहाँ पृथक् रूपसे क्यों नहीं कहा? उत्तर—नहीं कहा, क्योंकि, लब्धिसम्पन्न ऋषियोंके दर्शनका भी जिनबिम्ब दर्शनमें ही अन्तर्भाव हो जाता है।—ऊर्जयन्त पर्वत तथा चम्पापुर व पावापुर आदिके दर्शनका भी जिनबिम्बदर्शनके भीतर ही ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि, उक्त प्रदेशवर्ती जिनबिम्बोंके दर्शन तथा जिनभगवान्के निर्वाण गमनके कथनके बिना प्रथम सम्यक्त्वका ग्रहण नहीं हो सकता।

४. नरकमें जातिस्मरण व वेदना सम्बन्धी

ध. ६/१,९-९,८/४२२/२ सव्वे णेरइया विभंगणाणेण एक्क-दो-तिण्णि-आदिभवग्गहणाणि जेण जाणंति तेण सव्वेसिं जाइंभरत्तमत्थि त्ति सव्वणेरइएहि सम्माइट्ठीहि होदव्वमिदि। ण एस दोसो, भवसामण्णसरणेण सम्मत्तुप्पत्तीए अणब्भुवगमादो। किं तु धम्मबुद्धीए पुव्वभवम्हि कयाणुट्ठाणाणं विहलत्तदंसणस्स पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणत्तमिच्छिज्जदे, तेण ण पुव्वुत्तदोसो ढुक्कदि त्ति। ण च एवंविहा बुद्धी सव्वणेरइयाणं होदि, तिव्वमिच्छत्तोदएण ओट्ठद्धणेरइयाणं जाणंताणं पि एवंविहउवजोगाभावादो, तम्हा जाइस्सरणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं।...वेयणाणुहवणं सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ण होदि, सव्वणेरइयाणं साहारणत्तादो। जइ होइ तो सव्वे णेरइया सम्माइट्ठिणो

होंति। ण चेदं, अणुवलंभा। परिहारो वुच्चदे—ण वेयणासामण्णं सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं। किंतु जेसिमेसा वेयणा एदम्हादो मिच्छत्तादो इमादो असंजमादो (वा) उप्पण्णेत्ति उवजोगो, जादो तेसिं चेव वेयणा सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं, णावरजीवाणं वेयणा, तत्थ एवंविहउवजोगाभावा। —प्रश्न—१. चूँकि सभी नारकी जीव विभंगज्ञानके द्वारा एक, दो, या तीन आदि भवग्रहण जानते हैं (वे. नरक), इसलिए सभीके जातिस्मरण होता है। अतएव सारे नारकीय जीव सम्यग्दृष्टि होने चाहिए? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सामान्य रूपसे भवस्मरणके द्वारा सम्यक्त्वकी उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु धर्मबुद्धिसे पूर्वभवमें किये गये अनुष्ठानोंकी विफलताके दर्शनसे ही प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारणत्व इष्ट है, जिससे पूर्वोक्त दोष प्राप्त नहीं होता। और इस प्रकारकी बुद्धि सब नारकी जीवोंके होती नहीं है, क्योंकि तीव्र मिथ्यात्वके उदयके वशीभूत नारकी जीवोंके पूर्व भवोंका स्मरण होते हुए भी उक्त प्रकारके उपयोगका अभाव है। इस प्रकार जातिस्मरण प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण है। प्रश्न—वेदनाका अनुभव सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि, यह अनुभव तो सब नारकियोंके साधारण होता है। यदि वह अनुभव सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण हो तो सब नारकी जीव सम्यग्दृष्टि होंगे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता? उत्तर—पूर्वोक्त शंकाका परिहार कहते हैं। वेदना सामान्य सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण नहीं है, किन्तु जिन जीवोंके ऐसा उपयोग होता है, कि अमुक वेदना अमुक मिथ्यात्वके कारण या अमुक असंयमसे उत्पन्न हुई, उन्हीं जीवोंकी वेदना सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण होती है। अन्य जीवोंकी वेदना नरकोंमें सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण नहीं होती, क्योंकि उसमें उक्त प्रकारके उपयोगका अभाव होता है।

५. नरकोंमें धर्म श्रवण सम्बन्धी

ध. ६/१,९-९,८/४२२/६ कधं तेसिं धम्मसुणणं संभवदि, तत्थ रिसीणं गमणाभावा। ण सम्माइट्ठिदेवाणं पुव्वभवसंबंधीणं धम्मपदुप्पायणे वावदाणं सयलबाधाविरहियाणं तत्थ गमणदंसणादो।

ध. ६/१,९-९,१२/४२४/५ धम्मसवणादो पढमसम्मत्तस्स तत्थ उप्पत्ती णत्थि, देवाणं तत्थ गमणाभावा। तत्थतणसम्माइट्ठिधम्मसवणादो पढमसम्मत्तस्स उप्पत्ती किण्ण होदि त्ति वुत्ते ण होदि, तेसिं भवसंबंधेण पुव्ववेरसंबंधेण वा परोप्परविरुद्धाणं अणुगेज्झणुग्गाहयभावाणमसंभवादो। —प्रश्न—१. नारकी जीवोंके धर्म श्रवण किस प्रकार सम्भव है, क्योंकि, वहाँ तो ऋषियोंके गमनका अभाव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अपने पूर्वभवके सम्बन्धी जीवोंके धर्म उत्पन्न करानेमें प्रवृत्त और समस्त बाधाओंसे रहित सम्यग्दृष्टि देवोंका नरकोंमें गमन देखा जाता है। २. नीचेकी चार पृथिवियोंमें धर्मश्रवणके द्वारा प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ देवोंके गमनका अभाव है। प्रश्न—वहाँ ही विद्यमान सम्यग्दृष्टियोंसे धर्मश्रवणके द्वारा प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती? उत्तर—ऐसा पूछनेपर उत्तर देते हैं कि नहीं होती, क्योंकि, भव सम्बन्धसे या पूर्व वैरके सम्बन्धसे परस्पर विरोधी हुए नारकी जीवोंके अनुगृह्य अनुग्राहक भाव उत्पन्न होना असम्भव है।

६. मनुष्योंमें जिनमहिमा दर्शनके अभाव सम्बन्धी

ध. ६/१,९-९,१०/४३०/१ जिणमहिमं दट्ठूण वि केई पढमसम्मत्तं पडिवज्जंता अत्थि तेण चदुहि कारणेहि पढमसम्मत्तं पडिवज्जंति त्ति वत्तव्वं। ण एस दोसो, एदस्स जिणबिंबदंसणे अंतब्भावादो। अधवा मणुसमिच्छाइट्ठीणं गयणगमणविरहियाणं चउव्विहदेवणिकाएहि णंदीसर-जिणवर-पडिमाणं कीरमाणमहामहिमालोयणे संभवाभावा। मेरुजिणवरमहिमाओ विज्जाधरमिच्छादिट्ठिणो पेच्छंति त्ति एस अत्थो ण वत्तव्वओ त्ति केई भणंति। तेण पुव्वुत्तो चेव अत्थो घेत्तव्वो। —प्रश्न—जिनमहिमाको देखकर भी कितने ही मनुष्य प्रथम सम्यक्त्वको प्राप्त करते हैं, इसलिए (तीनकी बजाय) चार कारणोंसे मनुष्य प्रथम सम्यक्त्वको प्राप्त करते हैं, ऐसा कहना चाहिए? उत्तर—१. यह कोई दोष नहीं क्योंकि, जिनमहिमादर्शनका जिनबिम्ब दर्शनमें अन्तर्भाव हो जाता है। २. अथवा मिथ्यादृष्टि मनुष्योंके आकाशमें गमन करनेकी शक्ति न होनेसे उनके चतुर्विध देवनिकायोंके द्वारा किये जानेवाले नन्दीश्वरद्वीपवर्ती जिनेन्द्र प्रतिमाओंके महामहोत्सवका देखना सम्भव नहीं है, इसलिए उनके जिनमहिमादर्शनरूप कारणका अभाव है। ३. किन्तु मेरुपर्वतपर किये जानेवाले जिनेन्द्र महोत्सवोंको विद्याधर मिथ्यादृष्टि देखते हैं, इसलिए उपर्युक्त अर्थ नहीं कहना चाहिए, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, अतएव पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना योग्य है।

७. देवोंमें जिनबिम्ब दर्शन क्यों नहीं

ध. ६/१,९-९,३७/४३२/१० जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तस्स कारणत्तेण एत्थ किण्ण उत्तं। ण एस दोसो; जिणमहिमादंसणम्मि तस्स अंतब्भावादो, जिणबिंबेण विणा जिणमहिमाए अणुववत्तीदो। सग्गोयरण-जम्माहिसेय-परिणिक्खमणजिणमहिमाओ जिणबिंबेण विणा कीरमाणीओ दिस्संति त्ति जिणबिंबदंसणस्स अविणाभावो णत्थि त्ति णासंकणिज्जं, तत्थ वि भाविजिणबिंबस्स दंसणुवलंभा। अधवा एदासु महिमासु उप्पज्जमाणपढमसम्मत्तं ण जिणबिंबदंसणणिमित्तं, किंतु जिणगुणसवणणिमित्तमिदि। —प्रश्न—यहाँ (देवोंमें) जिन बिम्बदर्शनको प्रथम सम्यक्त्वके कारणरूपसे क्यों नहीं कहा? उत्तर—१. यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जिन बिम्बदर्शनका जिनमहिमादर्शनमें ही अन्तर्भाव हो जाता है, कारण जिनबिम्बके बिना जिनमहिमाकी उपपत्ति बनती नहीं है। प्रश्न—स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमणरूप जिनमहिमाएँ जिनबिम्बके बिना ही की गयी देखी जाती हैं, इसलिए जिनमहिमा दर्शनमें जिनबिम्बदर्शनका अविनाभावीपना नहीं है? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमण रूप जिनमहिमाओंमें भी भावी जिनबिम्बका दर्शन पाया जाता है। २. अथवा इन महिमाओंमें उत्पन्न होनेवाला प्रथम सम्यक्त्व जिनबिम्बदर्शननिमित्तक नहीं है, किन्तु जिनगुण श्रवण निमित्तक है।

८. आनतादिमें देवऋद्धि दर्शन क्यों नहीं

ध. ६/१,९-९,४०/४३५/१ देविड्ढिदंसणेण चत्तारि कारणाणि किण्ण वुत्ताणि। तत्थ महिड्ढिसंजुत्तउवरिमदेवाणमागमाभावा। ण तत्थट्ठिददेवाणं महिड्ढिदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए णिमित्तं, भूयो दंसणेण तत्थ विम्हयाभावा, सुक्कलेस्साए महिड्ढिदंसणेण संकिलेसाभावादो वा। सोऊण जं जाइसरणं, देविड्ढि दट्ठूण जं च जाइस्सरणं, एदाणि दो वि जदि वि पढमसम्मत्तुप्पत्तीए णिमित्तं होंति, तो वि तं सम्मत्तं जाइस्सरणणिमित्तमिदि एत्थ ण घेप्पदि, देविड्ढिदंसणसुणणपच्छायदजाइस्सरणणिमित्तत्तादो। किंतु सवणदेविड्ढिदंसणणिमित्तमिदि घेत्तव्वं। —प्रश्न—यहाँपर (आनतादि चार स्वर्गोंमें) देवऋद्धिदर्शन सहित चार कारण क्यों नहीं कहे? उत्तर—१. आनत आदि चार कल्पोंमें महर्धिसे संयुक्त ऊपरके देवोंके आगमन नहीं होता, इसलिए वहाँ महर्द्धिदर्शनपरूप प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण नहीं पाया जाता। २. और उन्हीं कल्पोंमें स्थित देवोंके महर्द्धिका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका निमित्त हो नहीं सकता, क्योंकि उसी ऋद्धिको बार-बार देखनेसे विस्मय नहीं होता। ३. अथवा उक्त कल्पोंमें शुक्ललेश्याके सद्भावके कारण महर्द्धिके दर्शनसे उन्हें कोई

संक्लेशभाव उत्पन्न नहीं होते। ४. धर्मोपदेश सुन कर जो जातिस्मरण होता है और देवर्द्धिको देखकर जो जातिस्मरण होता है, ये दोनों ही जातिस्मरण यद्यपि प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके निमित्त होते हैं, तथापि उनसे उत्पन्न सम्यक्त्व वहाँ (आनत आदिमें) जाति स्मरण निमित्तक नहीं माना गया है, क्योंकि वहाँ देवर्द्धिके दर्शन व धर्मोपदेशके श्रवणके पश्चात् ही उत्पन्न हुए जातिस्मरणका निमित्त प्राप्त हुआ है। अतएव वहाँ धर्मोपदेश श्रवण और देवर्द्धि दर्शनको ही निमित्त मानना चाहिए।

९. नवग्रैवेयकोंमें जिनमहिमा व देवर्द्धि दर्शन क्यों नहीं

ध.६/१,९-९,४२/४३६/३ एत्थ महिड्ढिदंसणं णत्थि, उवरिमदेवाणमागमाभावा। जिणमहिमदंसणं पि णत्थि, णंदीसरादिमहिमाणं तेसिमागमणाभावा। ओहिणाणेण तत्थट्ठिया चेव जिणमहिमाओ पेक्खंति त्ति जिणमहिमादंसणं वि तेसिं सम्मत्तुप्पत्तीए णिमित्तमिदि किण्ण उच्चदे। ण तेसिं वीयरायाणं जिणमहिमादंसणेण विम्हयाभावा। – प्रश्न—नवग्रैवेयकोंमें महर्द्धिदर्शन नहीं है, क्योंकि वहाँ ऊपरके देवोंके आगमनका अभाव है। वहाँ जिनमहिमादर्शन भी नहीं है, क्योंकि ग्रैवेयकविमानवासी देव नन्दीश्वर आदिके महोत्सव देखने नहीं आते। प्रश्न—ग्रैवेयक देव अपने विमानोंमें रहते हुए ही अवधिज्ञानसे जिनमहिमाओंको देखते तो हैं, अतएव जिनमहिमाका दर्शन भी उनके सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें निमित्त होता है ऐसा क्यों नहीं कहा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ग्रैवेयक विमानवासी देव वीतराग होते हैं अतएव जिनमहिमाके दर्शनसे उन्हें विस्मय उत्पन्न नहीं होता।

१०. नवग्रैवेयकमें धर्मश्रवण क्यों नहीं

ध. ६/१,९-९,४२/४३६/६ कधं तेसिं धम्मसुणणसंभवो। ण, तेसिं अण्णोण्णसल्लावे संते अहमिंदत्तस्स विरोहाभावा। – प्रश्न—ग्रैवेयक विमानवासी देवोंके धर्म श्रवण किस प्रकार सम्भव होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि उनमें परस्पर संलाप होनेपर अहमिन्द्रत्वसे विरोध नहीं होता।

IV उपशमादि सम्यग्दर्शन

१. उपशमादि सम्यग्दर्शन सामान्य

१. सम्यक्त्व मार्गणाके उपशमादि भेद

ष. खं./१/१,१/सूत्र १४४/३९५ सम्मत्ताणुवादेण अत्थि सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी मिच्छाइट्ठी चेदि।१४४। – सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे सामान्यकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि सामान्य और विशेषकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं।१४४। (द्र.सं/टी./१३/४०/१/); (गो.जी./जी.प्र./७०४/११४२/१)।

ज्ञा./६/७ क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात्। तत् स्याद्द्रव्यादिसामग्र्या पुंसां सद्दर्शनं त्रिधा।७। – दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंके क्षय उपशम और क्षयोपशमरूप होनेसे क्रमशः तीन प्रकारका सम्यक्त्व है—क्षायिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक।

२. तीनों सम्यक्त्वोंमें कथंचित् एकत्व

ध.१/१,१,१४५/३९६/८ किं तत्सम्यक्त्वगतसामान्यमिति चेत् त्रिष्वपि सम्यग्दर्शनेषु यः साधारणोऽशस्तत्सामान्यम्। क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकेषु परस्परतो भिन्नेषु किं सादृश्यमिति चेन्न, तत्र यथार्थश्रद्धानं प्रति साम्योपलम्भात्। क्षयक्षयोपशमविशिष्टानां यथार्थश्रद्धानानां कथं समानतेति चेद्भवतु विशेषणानां भेदो न विशेष्यस्य यथार्थश्रद्धानस्य। – प्रश्न—सम्यक्त्वमें रहने वाला वह सामान्य क्या वस्तु है (जिससे कि इन भेदोंसे पृथक् एक सामान्य सम्यग्दृष्टि संज्ञक भेद ग्रहण कर लिया गया?) उत्तर—तीनों ही सम्यग्दर्शनोंमें जो साधारण धर्म है, वह सामान्य शब्दसे यहाँपर विवक्षित है। प्रश्न—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनोंके परस्पर भिन्न भिन्न होनेपर सदृशता क्या वस्तु हो सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि इन तीनों सम्यग्दर्शनोंमें यथार्थ श्रद्धानके प्रति समानता पायी जाती है। प्रश्न—क्षय, क्षयोपशम और उपशम विशेषणसे युक्त यथार्थ श्रद्धानोंमें समानता कैसे हो सकती है? उत्तर—विशेषणोंमें भेद भले ही रहा आवे, परन्तु इससे यथार्थ श्रद्धानरूप विशेष्यमें भेद नहीं पड़ता है।

२. प्रथमोपशम सम्यक्त्व निर्देश

१. उपशम सम्यक्त्व सामान्यका लक्षण

पं.सं./प्रा./१/१६५–१६६ देवे अणण्णभावो विसयविरागो य तच्चसद्दहणं। दिट्ठीसु असम्मोहो सम्मत्तमणूणयं जाणे।१६५। दंसणमोहस्सुदए उवसंते सच्चभावसद्दहणं। उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णकलुसं जहा तोयं।१६६। – उपशम सम्यक्त्वके होनेपर जीवके सत्यार्थ देवमें अनन्य भक्तिभाव, विषयोंसे विराग, तत्त्वोंका श्रद्धान और विविध मिथ्यादृष्टियों (मतों) में असम्मोह प्रगट होता है। इसे क्षायिक सम्यक्त्व से कुछ भी कम नहीं जानना चाहिए।१६५। जिस प्रकार पंकादि जनित कालुष्यके प्रशान्त होनेपर जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार दर्शन मोहके उदयके उपशान्त होनेपर जो सत्यार्थ श्रद्धान उत्पन्न होता है, उसे उपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं।१६६।

ध.१/१,१,१४४/गा. २१६/३९६ दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं। उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं। – दर्शनमोहनीयके उपशमसे, कीचड़के नीचे बैठ जानेसे निर्मल जलके समान, पदार्थोंका जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह उपशम सम्यग्दर्शन है।२१६। (गो.जी./मू./६५०/१०९९)

स. सि./२/३/१५२/६ आसां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम्। – (अनन्तानुबन्धी चार और दर्शनमोहकी तीन) इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है। (रा.वा./२/३/१/१०४/१७)।

ध.१/१,१,१२/१७१/५ एदासिं सत्तण्हं पयडीणमुवसमेण उवसमसम्माइट्ठी होइ।...एरिसो चेय। – पूर्वोक्त दर्शनमोहकी सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। यह भी क्षायिक जैसा ही निर्मल व सन्देह रहित होता है।

२. उपशम सम्यक्त्वका स्वामित्व

ष. खं./१/१,१/सू.१४७/३९८ उवसमसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था त्ति। – उपशम सम्यग्दृष्टि जीव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं। (विशेष दे. वह वह मार्गणा तथा 'सत्')।

३. उपशम सम्यक्त्वके २ भेद व प्रथमोपशमका लक्षण

गो.क./जी.प्र./५५०/७४२/१ तत्राद्यं प्रथमद्वितीयभेदाद् द्वेधा। – उनमें-से आदिका अर्थात् उपशम सम्यक्त्व दो प्रकारका है—प्रथम व द्वितीय।

ल.सा./भाषा/२/४१/१८ मिथ्यादृष्टि गुणस्थानतैं छूटि उपशम सम्यक्त्व होइ ताका नाम (प्रथम) उपशम सम्यक्त्व है। (विशेष दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/४/२)

४. प्रथमोपशमका प्रतिष्ठापक

१. गति व जीव समासोंकी अपेक्षा

ष.खं.६/१,९-८/सूत्र९/२३८ उवसामेंतो कम्हि उवसामेदि, चदुसु वि गदीसु उवसामेदि। चदुसु वि गदीसु उवसामेंतो पंचिंदिएसु उवसामेंतो पंचिंदिएसु उवसामेंतो, णो एइंदियविगलिंदिएसु। पंचिंदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु। सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु। गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि, णो अपज्जत्तएसु। पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवस्साउगेसु वि उवसामेदि, असंखेज्ज-वस्साउगेसु वि।९।

ष.खं.६/१,९-९/सूत्र १-३३/४१८-४३१ णेरइया···पज्जत्तएसु उप्पादेंति, णो अपज्जत्तएसु।१-३। एवं जाव सत्तसु पुढवीसु णेरइया।५। तिरिक्ख ··· पंचिंदिएसु···सण्णीसु ··· गब्भोवक्कंतिएसु··· पज्जत्तएसु उप्पादेंति।११-१८। एवं जाव सव्वदीवसमुद्देसु।२०। मणुस्सा... गब्भोवक्कंतिएसु...पज्जत्तएसु उप्पादेंति।२३-२५। एवं जाव अड्ढा-इज्जदीवसमुद्देसु।२८। देवा···पज्जत्तेसु उप्पादेंति। एवं जाव उवरिमगेवज्जविमाणवासियदेवा त्ति।३१-३५। —१. दर्शनमोहनीय कर्मको उपशमाता हुआ यह जीव कहाँ उपशमाता है। चारों ही गतियोंमें उपशमाता है। चारों ही गतियोंमें पंचेन्द्रियोंमें उपशमाता है, एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियोंमें नहीं। पंचेन्द्रियोंमें उपशमाता हुआ संज्ञियोंमें उपशमाता है, असंज्ञियोंमें नहीं। संज्ञियोंमें। उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकोंमें उपशमाता है सम्मूर्छिमोंमें नहीं, गर्भोप-क्रान्तिकोंमें उपशमाता हुआ पर्याप्तकोंमें उपशमाता है अपर्याप्तकों में नहीं। पर्याप्तकोंमें उपशमाता हुआ संख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंमें भी उपशमाता है और असंख्यात वर्षकी आयुवाले जीवोंमें भी उपशमाता है।९। २. (विशेष रूपसे व्याख्यान करनेपर) नरक गतिमें सातों ही पृथिवियोंमें पर्याप्तक ही उपशमाता है।१-५। तिर्यंचगतिमें सर्व ही द्वीप समुद्रोंमें-से पञ्चेन्द्रिय संज्ञी गर्भज पर्याप्तक ही उपशमाते हैं।११-२०। मनुष्यगतिमें अढ़ाई द्वीप समुद्रोंमें गर्भज पर्याप्तक ही उपशमाते हैं।२१-२८। देवगतिमें भवनवासियोंसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यंत पर्याप्तक ही उपशमाते हैं।३१-३५। [इनसे विपरीतमें अर्थात् अपर्याप्तक आदिमें नहीं उपशमाता है।] (रा.वा./२/३/२/१०५/१)

क.पा.सुत्त/१०/गा. ९५-९६/६३० दंसणमोहस्सुवसामगो दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो। पंचिंदिओ य सण्णी णियमा सो होई पज्जत्तो।९५। सव्वणिरय-भवणेसु दीवसमुद्दे गुह जोदिसि-विमाणे। अभिजोग्ग-अणभिजोग्ग उवसामो होइ बोद्धव्वो।९६। —१. दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम करनेवाला जीव चारों ही गतियोंमें जानना चाहिए। वह जीव नियमसे पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्तक होता है।९५। (पं.सं/प्रा./१/२०४/), (ध.६/१,९-८,९/गा.२/२३९) (और भी दे. उप-शीर्षक नं. २)। २. इन्द्रक श्रेणीबद्ध आदि सर्व नरकोंमें, सर्व प्रकारके भवनवासी देवोंमें, (तिर्यंचोंकी अपेक्षा) सर्व द्वीपसमुद्रोंमें, (और मनुष्योंकी अपेक्षा अढ़ाई द्वीप समुद्रोंमें), सर्व व्यन्तर देवोंमें, समस्त ज्योतिष देवोंमें, सौधर्मसे लेकर सर्व अभियोग्य अर्थात् वाहनादि रूप नीच देवोंमें, उनसे भिन्न किल्बिष आदि अनुत्तम तथा पारिषद आदि उत्तम देवोंमें दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम होता है।९६। (ध.६/१,९-८,९/गा ३/२३९)

ध.६/१,९-८,४/२०६/८ तत्थ वि असण्णी ण होदि, तेसु मणेण विणा विसिट्ठणाणाणुप्पत्तीदो। तदो सो सण्णी चेव। —पंचेन्द्रियोंमें भी वे असंज्ञी नहीं होते, क्योंकि, असंज्ञी जीवोंमें मनके बिना विशिष्ट ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है।

२. गुणस्थानकी अपेक्षा

ष.खं.६/१,९-८/सूत्र ४/२०६ सो पुण पंचिंदिओ सण्णीमिच्छाइट्ठी पज्जत्तओ सव्वविसुद्धो।४।

ष.खं./६/१,९-९/सूत्र नं./४१८-णेरइयामिच्छाइट्ठी···।१। तिरिक्ख-मिच्छाइट्ठी···।११। मणुस्सा मिच्छाइट्ठी···।२१। देवा मिच्छा-इट्ठी पढमसम्मत्तमुप्पादेंति।३१। —१. वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाला जीव पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि पर्याप्त और सर्व विशुद्ध होता है।४। (रा.वा./२/३/२/१०५/२६); (ल.सा./मू./२/४१); (गो.क./जी.प्र./५५०/४४२/९ में उद्धृत गाथा।) २. नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य व देव ये चारों ही मिथ्यादृष्टि प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं।१-३१।

ध.६/१,९-८,४/२०६/१ सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी वेदग-सम्माइट्ठी वा पढमसम्मत्तं ण पडिवज्जदि, एदेसिं तेण पज्जाएण परिणमणसत्तीए अभावादो। उवसमसेडि चडमाणवेदगसम्माइट्ठिणो उवसमसम्मत्तं पडिवज्जंता अत्थि, किंतु ण तस्स पढमसम्मत्तव-एसो। कुदो, सम्मत्ता तस्सुप्पत्तीए। तदो तेण मिच्छाइट्ठिणो चेव होदव्वं। —सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अथवा वेदक-सम्यग्दृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि, इन जीवोंके उस प्रथमोपशम सम्यक्त्वस्वरूप पर्यायके द्वारा परिणमन होनेकी शक्तिका अभाव है। उपशम श्रेणी पर चढ़नेवाले वेदकसम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाले होते हैं, किन्तु उस सम्यक्त्वका 'प्रथमोपशम सम्यक्त्व' यह नाम नहीं है, क्योंकि उस उपशम श्रेणीवालेके उपशम सम्यक्त्व-की उत्पत्ति सम्यक्त्वसे होती है। इसलिए प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही होना चाहिए।

३. उपयोग, योग व विशुद्धि आदिकी अपेक्षा

दे. उपशीर्षक नं. २—(वह सर्व विशुद्ध होना चाहिए)।

क.पा. सुत्त/१०/गा/९८/६३२ सागारे पट्ठवगो णिट्ठवगो मज्झिमो य भजियव्वो। जोगे अण्णदरम्हि य जहण्णगो तेउलेस्साए।९८। —साकारोपयोगमें वर्तमान जीव ही दर्शनमोहनीयकर्मके उपशमनका प्रस्थापक होता है। किन्तु निष्ठापक और मध्यस्थानवर्ती जीव भजितव्य है। तीनों योगोंमें-से किसी एक योगमें वर्तमान और तेजोलेश्याके जघन्य अंशको प्राप्त जीव दर्शनमोहका उपशमन करता है।९८। (ध.६/१,९-८,९/गा.५/२३९); (ल.सा./मू/१०१/१३८)

रा.वा./९/१/१२/५८८/२५ गृहीतुमारभमाणः शुभपरिणामाभिमुखः अन्तर्मुहूर्तमनन्तगुणवृद्धया वर्द्धमानविशुद्धिः,...अन्यतमेन मनोयो-गेन···अन्यतमेन वाग्योगेन...अन्यतमेन काययोगेन वा समाविष्टः हीयमानान्यतमकषायः साकारोपयोगः, त्रिष्वन्यतमेन वेदेन, संक्लेश-विरहितः। —प्रथम सम्यक्त्वको प्रारम्भ करनेवाला जीव शुभपरि-णामके अभिमुख होता है, अन्तर्मुहूर्तमें अनन्तगुण वृद्धिके द्वारा वर्धमान विशुद्धि वाला होता है। (तीनों योगोंके सर्व उत्तर भेदोंमें-से) अन्यतम मनोयोगवाला या अन्यतम वचनयोगवाला या अन्यतम काययोगवाला होता है। हीयमान अन्यतम कषायवाला होता है। साकारोपयोगी होता है। तीनों वेदोंमें से अन्यतम वेदवाला होता है। और संक्लेशसे रहित होता है। (ध.६/१,९-८,४/२०७/४)

ध. ६/१,९-८,४/२०७/६ असंजदो। मदिसुदसागारुवजुत्तो। तत्थ अणागारुवजोगो णत्थि, तस्स बज्झत्थे पउत्तीए अभावादो। छण्णं लेस्साणमण्णदरलेस्सो किंतु हीयमाणअसुहलेस्सो वड्ढमाणसुह-लेस्सो। —(वह प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख जीव) असंयत होता है, मति व श्रुतज्ञान रूप साकारोपयोगी होता है, अनाकारो-पयोगी नहीं होता, क्योंकि, अनाकार उपयोगकी बाह्य अर्थकी

प्रवृत्तिका अभाव है। कृष्णादि छहों लेश्याओंमेंसे किसी एक लेश्या वाला हो, किन्तु यदि अशुभ लेश्या वाला हो तो हीयमान होना चाहिए, और यदि शुभ लेश्या हो तो वर्धमान होना चाहिए।

ध. ६/१,९–८,४/२१४/५ 'सव्वविसुद्धो' त्ति एदस्स पदस्स अत्थो उच्चदे। तं जधा—एत्थ पढमसम्मत्तं पडिवज्जंतस्स अधापवत्तकरण-अपुव्व-करण–अणियट्टीकरणभेदेण तिविहाओ विसोहीओ होंति। —अब सूत्रोक्त सर्वविशुद्ध' (दे. इसी शीर्षकमें) इस पदका अर्थ कहते हैं। वह इस प्रकार है—यहाँपर प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होनेवाले जीवके अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके भेदसे तीन प्रकारकी विशुद्धियाँ होती हैं।

गो.जी./मू./६५२/११०० चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो य सागारो। जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्ममुवगमई। —चारोंमें से किसी भी गतिवाला, भव्य, सैनी, पर्याप्त, साकारोपयोगी, जागृत, शुभ-लेश्या वाला, तथा करण लब्धिरूप परिणमा जीव यथासम्भव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है।

ल.सा./जी.प्र./२/४१/१२ विशुद्ध इत्यनेन शुभलेश्यत्वं संगृहीतं उदय-प्रस्तावे स्त्यानगृद्ध्यादित्रयोदयाभावस्य वक्ष्यमाणत्वात् जागरत्वम-प्युक्तमेव। —गाथामें प्रयुक्त 'विशुद्ध' इस शब्दसे शुभ लेश्याका ग्रहण हो जाता है और स्त्यानगृद्धि आदि तीनों प्रकृतियोंके उदयका अभाव आगे कहा जायेगा (दे. उदय/६), इसलिए जागृतपना भी कह ही दिया गया।

४. कर्मोंके स्थिति बन्ध व स्थिति सत्त्वकी अपेक्षा

ष. खं.६/१,९–८ सूत्र ३.५/२०३.२२२ एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं बंधदि तावे पढमसम्मत्तं लभदि।३। एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं ठवेदि संखेज्जेहि सागरोवमसहस्सेहि ऊणियं तावे पढमसम्मत्तमुप्पादेदि।५। —इन ही सर्व कर्मोंकी अर्थात् आठों कर्मोंकी जब अन्तःकोड़ाकोड़ी स्थितिको बाँधता है, तब यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।३। जिस समय इन ही सर्व कर्मोंकी संख्यात हजार सागरो-पमोंसे हीन अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपमप्रमाण स्थितिको स्थापित करता है उस समय यह जीव प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है।५। (ल.सा./मू/९/४७)

ल. सा./मू./८/४९ जेट्ठवरट्ठिदिबंधे जेट्ठवरट्ठिदितियाण सत्ते य। ण य पडिवज्जदि पढमुवसमसम्मं मिच्छजीवो हु।८। —संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकोंमें सम्भव ऐसे उत्कृष्ट स्थिति बन्ध और उत्कृष्ट स्थिति अनुभाग व प्रदेश सत्त्व—तथा विशुद्ध क्षपक श्रेणी वालेके सम्भव ऐसे जघन्य स्थिति बन्ध और जघन्य स्थिति, अनुभाग व प्रदेश सत्त्व, इनके होते हुए जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं करता। नोट—[सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंके स्थिति सत्त्व सम्बन्धी विशेषता (दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/६]

५. जन्मके पश्चात् प्राप्ति योग्य सर्वलघु काल

ष. खं ६/१,९–९/सूत्र नं/४१९–४३१ णेरइया मिच्छाइट्ठी/…/१/ पज्ज-त्तएसु उप्पादेंता अंतोमुहुत्तप्पहुडि जाव तप्पाओग्गंतोमुहुत्तं उवरि-मुप्पादेंति, णो हेट्ठा।४। एवं जाव सत्तसु पुढवीसु णेरइया।५। तिरिक्ख-मिच्छाइट्ठी…।१३। पज्जत्तएसु उप्पादेंता दिवसपुधत्तप्पहुडि जाव-मुवरिमुप्पादेंति णो हेट्ठादो।१९। एवं जाव सव्वदीवसमुद्देसु।२०। मणुस्सा मिच्छादिट्ठी…।२३। पज्जत्तएसु उप्पादेंता अट्ठवस्सप्पहुडि जाव उवरिमुप्पादेंति, णो हेट्ठादो।२७। एवं जाव अड्ढाइज्जदीव-समुद्देसु।२८। देवा मिच्छाइट्ठी…।३१। पज्जत्तएसु उप्पाएंता अंतोमुहुत्तप्पहुडि जाव उवरि उप्पाएंति, णो हेट्ठदो।३४। एवं जाव उवरिम उवरिमगेवज्जविमाणवासियदेवा त्ति।३५। —नारकी मिथ्या-दृष्टि पर्याप्तकोंमें सम्यक्त्व उत्पन्न करनेवाले अन्तर्मुहूर्तसे लगाकर अपने योग्य अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् उत्पन्न करते हैं, उससे नीचे नहीं। इस प्रकार सातों पृथिवियोंमें जानना चाहिए।१–५। तिर्यंचमिथ्या-दृष्टि पर्याप्तकोंमें सम्यक्त्व उत्पन्न करनेवाले जीव दिवसपृथक्त्वसे लगाकर उपरिम कालमें उत्पन्न करते हैं, नीचेके कालमें नहीं। इस प्रकार सर्व द्वीपसमुद्रोंमें जानना चाहिए।१३–२०। मनुष्य मिथ्यादृष्टि पर्याप्तकोंमें सम्यक्त्व उत्पन्न करनेवाले जीव आठ वर्षसे लेकर ऊपर किसी समय भी उत्पन्न करते हैं, उससे नीचेके कालमें नहीं। इस प्रकार अढाई द्वीपसमुद्रोंमें जानना चाहिए।२१–२८। देव मिथ्यादृष्टि पर्याप्तकोंमें प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करनेवाले जीव अन्तर्मुहूर्त कालसे लेकर ऊपर उत्पन्न करते हैं, उससे नीचेके कालमें नहीं। इस प्रकार भवनवासीसे लेकर उपरिम उपरिम ग्रैवेयक विमानवासी देवों तक जानना चाहिए।३१–३५। (रा. वा./२/३/१/१०५/२,६,८,१२)

ध. १३/५.४.३१/१११/१० छहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदम्मि एक्को, विस्समणे विदियो, विसोहिआपूरणे तदियो मुहुत्तो। किमट्ठमेदे अवणिज्जंते। ण, एदेसु सम्मत्तग्गहणाभावादो। —छह पर्याप्तियोंसे प्राप्त होनेका प्रथम अन्तर्मुहूर्त है, विश्राम करनेका दूसरा अन्तर्मुहूर्त है और विशुद्धिको पूरा करनेका तीसरा अन्तर्मुहूर्त है। प्रश्न—ये अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थितियोंमेंसे क्यों घटाये जाते हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि, (जन्म होनेके पश्चात्) इन अन्तर्मुहूर्तोंके भीतर सम्यक्त्वका ग्रहण नहीं होता है। (अर्थात् ये तीन अन्तर्मुहूर्त बीत जानेके पश्चात चौथे अन्तर्मुहूर्तमें ही सम्यक्त्वका ग्रहण सम्भव है, उससे पहले नहीं। पर ये चारों अन्तर्मुहूर्त मिलकर भी एक अन्तर्मुहूर्तके कालको उल्लंघन नहीं कर पाते। ऐसे अन्तर्मुहूर्त द्वारा नारकी व देव प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण करते हैं।)

६. अनादि व सादि मिथ्यादृष्टिमें सम्यक्त्व प्राप्ति सम्बन्धी कुछ विशेषता

क. पा. सु./१०/गा. १०४/४३५ सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमेण तह वियट्ठेण। भजियव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण।१०४। —जो सर्व प्रथम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है, अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, उसके सम्यक्त्वका सर्वप्रथम लाभ सर्वोपशमनासे होता है। इसी प्रकार विप्रकृष्ट जीवके, [अर्थात् जिसने पहले कभी सम्यक्त्वको प्राप्त किया था किन्तु पश्चात् मिथ्यात्वको प्राप्त होकर और वहाँ सम्यक्त्व-प्रकृति एवं सम्यक्त्वमिथ्यात्वकर्मकी उद्वेलना कर बहुतकाल तक मिथ्यात्व सहित परिभ्रमण कर पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त किया है, अर्थात् अनादि तुल्य सादि मिथ्यादृष्टिके (दे. आगे IV/४/५/३) प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ भी सर्वोपशमसे होता है। किन्तु जो जीव सम्यक्त्वसे गिरकर जल्दी ही पुनः पुनः सम्यक्त्वको ग्रहण करता है, अर्थात् सादि मिथ्यादृष्टि जीव सर्वोपशम और देशोपशमसे भजनीय है। (तीनों प्रकृतियोंके उदयाभावको सर्वोपशम कहते हैं। तथा सम्यक्त्वप्रकृति सम्बन्धी देशघातीके उदयको देशोपशमना कहते हैं।) (पं. सं./प्र./१/१७१); (ध. ६/१,९–८ ९/गा.११/२४१); (रा. वा./९/१/१३/५८८/२३); (गो. क/जी. प्र./५५०/७४२/१५)

ध. १,६,३८/३३/१० तसेसु अच्छिदूण जेण सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणि उव्वेलिदाणि सो सागरोवमपुधत्तेण सम्मत्तसम्मामिच्छत्तट्ठिदिसं-तकम्मेण उवसमसम्मत्तं पडिवज्जदि एदम्हादो उवरिमासु ट्ठिदीसु जदि सम्मत्तं गेण्हदि, तो णिच्छएण वेदगसम्मत्तमेव गेण्हदि। अध एइंदिएसु जेण सम्मत्तसम्मामिच्छत्ताणि उव्वेलिदाणि, सो पलिदो-वमस्स असंखेज्जदिभागेणुणसागरोवममेत्ते समत्त-सम्मामिच्छत्ताणं ट्ठिदिसंतकम्मे सेसे तसेसुववज्जिय उवसमसम्मत्तं पडिवज्जदि। एदाहि ट्ठिदीहि ऊणसेस कम्मट्ठिदिउव्वेलणकालो जेण पलिदोवमस्स असंखे-ज्जदिभागो तेण सासणेगजीवजहण्णंतरं पि पलिदोवमस्स असंखेज-

द्विभागमेत्तं होदि। –१. त्रसजीवोंमें रहकर जिसने सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व, इन दो प्रकृतियोंका उद्वेलन किया है, वह जीव सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी स्थितिके सत्त्वस्वरूप सागरोपम पृथक्त्वके पश्चात् उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। यदि, इससे ऊपरकी स्थिति रहनेपर सम्यक्त्वको ग्रहण करता है, तो निश्चयसे वेदक सम्यक्त्वको ही प्राप्त होता है। २. और एकेन्द्रियोंमें आकरके जिसने सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वेलना की है, वह पल्यो-पमके असंख्यातवें भागसे कम सागरोपमकालमात्र सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका स्थितिसत्त्व अवशेष रहनेपर त्रस जीवोंमें उत्पन्न हुकर उपशमसम्यक्त्वको प्राप्त होता है इन स्थितियोंसे कम शेष कर्मस्थिति, उद्वेलनकाल चूँकि पल्योपमके असंख्यातवें भाग है (दे. संक्रमण) इसलिए सासादन गुणस्थानका एक जीव सम्बन्धी जघन्य अन्तर भी (प्रथमोपशमकी भाँति) पल्योपमके असंख्यात भागमात्र ही होता है। (विशेष दे. अन्तर/२/६)

गो. क./मू./६१५/८२० उदधिपुधत्तं तु तसे पल्लासंखूणमेगमेयक्खे। जाव य सम्मं मिस्सं वेदगजोग्गो य उवसमस्सतदो। –सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, इनकी पूर्वबद्ध सत्तारूप स्थिति, त्रसके तो सागरोपम प्रमाण अवशेष रहनेपर और एकेन्द्रियोंके पल्यका असं-ख्यातवाँ भाग हीन एक सागरोपम प्रमाण अवशेष रहने पर, तावत्काल वेदक योग्य काल माना गया है। और उससे भी हीन स्थितिसत्त्व हो जानेपर उपशम योग्य काल माना गया है।

गो. क./जी. प्र./५५०/७४२/१२ सादिर्यदि सम्यक्त्वमिश्रप्रकृतिसत्त्वस्तदा सप्तप्रकृतीः सदसत्त्वस्तदा सोऽप्यनादिरपि मिथ्यात्वानुबन्धिनः... प्रशस्तोपशमविधानेन युगपदेवोपशम्यान्तर्मुहूर्तकालं प्रथमोपशम-सम्यक्त्वं स्वीकुर्वन्। –सादि मिथ्यादृष्टिके यदि सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, इन दो प्रकृतियोंका सत्त्व हो तो उसके सात प्रकृतियाँ है और यदि इन दोनोंका सत्त्व नहीं है अर्थात् इनकी उद्वेलना कर दी है तो उसके दर्शनमोहकी पाँच प्रकृतियाँ है। ऐसा जीव भी अनादि मिथ्यादृष्टि ही है। वह भी मिथ्यात्व और अनन्ता-नुबन्धी चतुष्क इन पाँच प्रकृतियोंको प्रशस्त उपशम या सर्वोपशम विधानके द्वारा युगपत् उपशमाकर, अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त उपशम सम्यक्त्वको अंगीकार करता है। (विशेष दे. अन्तर/२/)

७. प्रथमोपशमसे च्युति सम्बन्धी नियम

क.पा.सुत्त/१०/गा.नं/९३२ मिच्छत्तवेदणीयं कम्मं उवसामगस्स बोद्धव्वं। उवसंते आसाणे तेण परं होइ भजियव्वो।९९। सव्वेहि ट्ठिदिविसेसेहिं उवसंता होंति तिण्णि कम्मंसा। एक्कम्हि य अणुभागे णियमा सव्वे ट्ठिदिविसेसा।१००। अंतोमुहुत्तमद्धं सव्वोवसमेण होइ उवसंतो। तत्तो परमुदयो खलु तिण्णेक्कदरस्स कम्मस्स।१०३। सम्मत्तपढमलंभस्स पच्छदो य पच्छदो य मिच्छत्तं। लंभस्स अपढमस्स दु भजियव्वो पच्छिदो होदि।१०५। –उपशामकके मिथ्यात्व वेदनीयकर्मका उदय जानना चाहिए। किन्तु उपशान्त अवस्थाके विनाश होनेपर तदनन्तर उसका उदय भजितव्य है।९९। (ध. ६/१,९-८,९/गा. ६/२४०)। २. दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्य-क्त्वप्रकृति, ये तीनों कर्मांश, दर्शनमोहकी उपशान्त अवस्थामें सर्वस्थितिविशेषोंके साथ उपशान्त रहते हैं, अर्थात् उस समय तीनों प्रकृतियोंमेंसे किसी एककी भी किसी स्थितिका उदय नहीं रहता है। तथा एक ही अनुभागमें उन तीनों कर्मांशोंके सभी स्थितिविशेष नियमसे अवस्थित रहते हैं।१००। (ध. ६/१,९-८,९/गा. ७/२४०)। ३. उपशमसम्यग्दृष्टि जीवके दर्शनमोहनीय कर्म अन्तर्मुहूर्त काल तक सर्वोपशमसे उपशान्त रहता है। इसके पश्चात् नियमसे उसके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति, इन तीन कर्मोंमेंसे किसी एक कर्मका उदय हो जाता है।१०३। (ध. ६/१,९-८,९/ गा. ९/२४०); (ल. सा./मू./१०२/१३९)। ४. सम्यक्त्वकी प्रथम बार प्राप्तिके अनन्तर और पश्चात् मिथ्यात्वका उदय होता है। किन्तु अप्रथम बार सम्यक्त्वकी प्राप्तिके पश्चात् वह भजितव्य है।१०५। (पं. सं./प्रा./१/१७२); (ध. ६/१,९-८,९/गा. १२/२४२); (अन. ध./२/१/१२० पर उद्धृत एक श्लोक)

८. गिरकर किस गुणस्थानमें आवे

ध. १/१,१,१२/१७१/८ एरिसो चेव उवसमसम्माइट्ठी, किंतु परिणाम-पच्चएण मिच्छत्तं गच्छइ, सासणगुणं वि पडिवज्जइ, सम्मामिच्छत्तगुणं पि ढुक्कइ, वेदगसम्मत्तं पि समल्लियइ। –उपशम सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि क्षायिकवत् निर्मल होता है, परन्तु परिणामोंके निमित्त-से उपशम सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वको जाता है, कभी सासा-दन गुणस्थानको भी प्राप्त करता है, कभी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको भी पहुँच जाता है और कभी वेदक सम्यक्त्वसे मेल कर लेता है।

गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/१५ ते अप्रमत्तसंयतं विना त्रय एव तत्स-म्यक्त्वकालान्तर्मुहूर्ते जघन्येन एकसमये उत्कृष्टेन च षडावलिमात्रेऽ-वशिष्टे अनन्तानुबन्ध्यन्यतमोदये सासादनाभवन्ति। अथवा ते चत्वा-रोऽपि यदि भव्यतागुणविशेषेण सम्यक्त्वविराधका न स्युः तदा तत्काले संपूर्णे जाते सम्यक्त्वप्रकृत्युदये वेदकसम्यग्दृष्टयः वा मिश्रप्रकृत्युदये सम्यग्मिथ्यादृष्टयः वा मिथ्यात्वोदये मिथ्यादृष्टयो भवन्ति। –[प्रथमोशम सम्यक्त्व ४-७ तकके चार गुणस्थानोंमें होना सम्भव है (दे. सत्)] तहाँ अप्रमत्तके बिना तीन गुणस्थानवर्ती जीव उस प्रथमोशमके अन्तर्मुहूर्तमात्र कालमेंसे जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवली शेष रह जानेपर, अनन्तानुबन्धी चतुष्कमें से किसी एकके उदयसे सासादन होते हैं। अथवा वे चारों ही गुणस्थानवर्ती यदि भव्यतागुणकी विशेषतासे सम्यक्त्वकी विराधना नहीं करते हैं, तो सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। अथवा मिश्र प्रकृतिके उदयसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। (और भी दे. सम्यग्दर्शन/IV/४/५/३)।

९. पंच लब्धि पूर्वक होता है

ध. ६/१,९-८,३/२०४/२ तिकरणचरिमसमए सम्मत्तुप्पत्तीदो। एदेण खओवसमलद्धी विसोहिलद्धी देसणलद्धी पाओग्गलद्धी त्ति चत्तारि लद्धीओ परूविदो। –तीनों करणोंके अन्तिम समयमें सम्यक्त्वकी उपलब्धि होती है। इस सूत्रके द्वारा क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, और प्रायोग्य लब्धि ये चारों लब्धियाँ प्ररूपण की गयीं–(और भी दे. लब्धि/२/५ तथा उपशम/२/२); (ल. सा./४/४१/९)।

१०. प्रारम्भ किये पश्चात् अवश्य प्राप्त करता है

क. पा. सु/१०/९७/६३१ उवसामगो च सव्वो णिव्वाघादो तहा णिरा-साओ।९७। –दर्शनमोहका उपशमन करनेवाला जीव उपद्रव व उपसर्ग आनेपर भी उसका उपशम किये बिना नहीं रहता। (ध. ६/१,९-८,१। गा ४/२३९); (ल. सा./मू/९९/१३६); (और भी दे. अपूर्वकरण/४)।

३. द्वितीयोपशम सम्यक्त्व निर्देश

१. द्वितीयोपशमका लक्षण

ल. सा./भाषा/२/४२/१ उपशमश्रेणी चढ़ता क्षयोपशम सम्यक्त्वतैं जो उपशम सम्यक्त्व (होता है) ताका नाम द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है। (और भी दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/४/२)।

२. द्वितीयोपशम सम्यक्त्वका स्वामित्व

ध. ६/१,९-८, १४/३३१/८ इदि तिसु आउएसु एक्केण वि बद्धेण ण सक्को कसाए उवसामेदुं, तेण कारणेण णिरय-तिरिक्ख-मणुसगदीओ ण गच्छदि।—निश्चयतः नरकायु, तिर्यगायु, और मनुष्यायु, इन तीनों आयुमेंसे पूर्वमें बाँधी गयी एक भी आयुसे कषायोंको उपशमानेके लिए समर्थ नहीं होता। इसी कारणसे वह नरक तिर्यंच व (मरकर) मनुष्यगतिको प्राप्त नहीं होता। (विशेष दे. मरण/३/७)।

गो. जी./मू/६९६, ७३१/११३२, १३२५ बिदियुवसमसम्मत्तं अविरदसम्मादि संतमोहोत्ति।६९६। बिदियुवसमसम्मत्तं सेढीदोदिण्णि अविरदादिसु।७३१।—१. द्वितीयोपशम सम्यक्त्व ४ थे से ११ वे गुण स्थान तक होता है।६९६। (विशेष दे. उपशम/२/४)। २. श्रेणीसे उतरते हुए अविरतादि गुणस्थान होते हैं। (विशेष दे. शीर्षक नं. ३, ४)।

गो. जी./जी. प्र/५५०/७४२/७ द्वितीयं पर्याप्तमनुष्यनिर्वृत्त्यपर्याप्तवैमानिकयोरेव।—द्वितीयोपशम सम्यक्त्व पर्याप्त मनुष्य व निर्वृत्त्यपर्याप्त वैमानिक देवोंमे ही होता है। (दे. द्र. सं./टी./४१/१७६/६); (और भी दे. मरण/३/७),

३. द्वितीयोपशमका अवरोहण क्रम

ध. ६/१,९-८,१४/३३१/४ एदिस्से उवसमसत्ताए अब्भंतरादो असंजमं पि गच्छेज्ज, संजमासंजमं पि गच्छेज्ज, छसु आवलियासु सेसासु आसाणं पि गच्छेज्ज।—इस द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके कालके भीतर असंयमको भी प्राप्त हो सकता है, संयमासंयमको भी प्राप्त हो सकता है और छह आवलियोंके शेष रहनेपर सासादनको भी प्राप्त हो सकता है। [सासादनको प्राप्त करने व न करनेके सम्बन्धमें दो मत हैं। (दे. सासादन)] (ल. सा./मू./३४८/४३७)।

गो. जी./मू./७३१/१३२५ बिदियुवसमसम्मत्तं सेढीदोदिण्णि अविरदादीसु। सगसगलेस्सा मरिदे देवअपज्जत्तगेव हवे।७३१।

गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/१९ द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा उपशमश्रेणिमारुह्य उपशान्तकषायं गत्वा अन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा क्रमेण अवतीर्य अप्रमत्तगुणस्थानं प्राप्य प्रमत्ताप्रमत्तपरावृत्तिसहस्राणि करोति। वा अधः देशसंयमो भूत्वा आस्ते वा असंयतो भूत्वा आस्ते वा मरणे देवासंयतः स्यात् वा मिश्रप्रकृत्युदये मिश्रः स्यात्। अनन्तानुबन्ध्यन्यतमोदये द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं विराधयतीत्याचार्यपक्षे सासादनः स्यात् वा मिथ्यात्वोदये मिथ्यादृष्टिः स्यात् इति।—द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होकर, उपशमश्रेणीपर आरोहण करके, उपशान्तकषाय गुणस्थानमें जाकर और वहाँ तद योग्य अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थित रहकर क्रमसे नीचे गिरता हुआ अर्थात क्रमपूर्वक १०,९,८ गुणस्थानोंमेंसे होता हुआ अप्रमत्तसंयत गुणस्थानको प्राप्त करता है। वहाँ प्रमत्त व अप्रमत्तमें हजारों बार उतरना गिरना करता है। अथवा नीचे देशसंयत होकर रहता है, अथवा असंयत होकर रहता है, या मरण करके असंयत देव (निर्वृत्त्यपर्याप्त) होता है, अथवा मिश्र प्रकृतिके उदयसे मिश्रगुणस्थानवर्ती होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्कमेंसे किसी एकका उदय आनेपर द्वितीयोपशमको विराधना करके किन्हीं आचार्योंके मतसे सासादन भी हो जाता है (विशेष दे. सासादन), अथवा मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टि हो जाता है। (और भी. दे. श्रेणी/३/३)।

४. श्रेणीसे नीचे आकर भी कुछ देर द्वितीयोपशमके साथ ही रहता है

ध. ६/१,९-८, १४/३३१/१ उवसामगस्स पढमसमयअपुव्वकरणप्पहुडि जाव पडिवणमाणयस्स चरिमसमयअपुव्वकरणेत्ति तदो एत्तो संखेज्जगुणं कालं पडिणियत्तो अधापवत्तकरणेण उवसमसम्मत्तद्धमणुपालेदि।—उपशामकके श्रेणी चढ़ते समय अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर उतरते हुए अपूर्वकरणके अन्तिम समय तक जो काल है, उससे संख्यातगुणे कालतक कषायोपशमनासे लौटता हुआ जीव अधःप्रवृत्तिकरण (७ वें गुणस्थान) के साथ द्वितीयोपशम सम्यक्त्वको पालता है। (ल. सा./मू./३४७/४३७); (और भी दे. मरण/३/७)।

गो. जी./जी प्र./६९६/११३२/१२ द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं असंयताद्युपशान्तकषायान्तं भवति। अप्रमत्ते उत्पाद्य उपरि उपशान्तकषायान्तं गत्वा अधोवतरणे असंयतान्तमपि तत्सभवात्।—द्वितीयोपशमसम्यक्त्व असंयतादि उपशान्तकषाय गुणस्थान पर्यन्त होता है। अप्रमत्त गुणस्थानमें उत्पन्न करके, ऊपर उपशान्तकषाय गुणस्थान तक जाकर, फिर नीचे उतरते हुए असंयत गुणस्थान तक भी सम्भव है। (गो. जी./जी. प्र/७३१/१३२५/१३)

४. वेदक सम्यक्त्व निर्देश

१. वेदक सामान्यका लक्षण

१. क्षयोपशमकी अपेक्षा

स. सि./२/५/१५७/६ अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्धकस्योदये तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्।—चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और इन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे, देशघाती स्पर्धकवाली सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयमें जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। (रा. वा/२/५/८/१०८/१); (विशेष दे. क्षयोपशम/१/१); (गो. जी./जी. प्र./२५/५०/१८)।

२. वेदक सम्यक्त्वकी अपेक्षा

ध. १/१,१,१४४/गा. २१५/३९६ दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थ सद्दहणं। चलमलिनमगाढं तं वेदगसम्मत्तमिह मुणहु।—सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृतिके उदयसे पदार्थोंका जो चल, मलिन और अगाढ़रूप श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। (गो. जी./मू./६४९/१०९९); (गो. जी./मू./२५/५०)।

ध. १/१,१,१२/१७१/६ सम्मत्त-सण्णिद-दंसणमोहणीयभेय-कम्मस्स उदएण वेदयसम्माइट्ठी णाम।

ध. १/१,१,१२/१७२/३ सम्मत्तदेसघादि-वेदयसम्मत्तुदएणुप्पण्णवेदयसम्मत्तं खओवसमियं।—१. जिसकी सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्मकी भेदरूप प्रकृतिके उदयसे यह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। (पं. सं/प्रा./१/१६४)। २. सम्यक्त्वका एक देशरूपसे वेदन करानेवाली सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाला वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है। (विशेष दे. क्षयोपशम/१/१।

२. कृतकृत्य वेदकका लक्षण

ध. ६/१,९-८,१२/२६२/१० चरिमे ट्ठिदिखंडए णिट्ठिदे कदकरणिज्जोत्ति भण्णदि। —(दर्शन मोहनीयका क्षय करने वाला कोई जीव ७ वें गुणस्थानके अन्तिम सातिशय भागमें कर्मोंकी स्थितिका काण्डक घात करता है—दे. क्षय) तहाँ अन्तिम स्थितिकाण्डकके समाप्त होनेपर वह 'कृतकृत्यवेदक' कहलाता है। (ल.सा./मू./१४५) (विशेष दे. क्षय/२/५)

३. वेदक सम्यक्त्वके बाह्य चिह्न

पं.सं./प्रा/१/१६३-१६४ खुहधो सुहाणुबंधी सुहकम्मरओ सुए य संवेगो। तच्चत्थे सद्दहणं पियधम्मे तिव्वणिव्वेदो।१६३। इच्चेवमाइया जे वेदयमाणस्स होंति ते य गुणा। वेदयसम्मत्तमिणं

सम्मत्तुदएण जीवस्स ।१६४। —वेदक सम्यक्त्वके उत्पन्न होनेपर जीवकी बुद्धि शुभानुबन्धी या सुखानुबन्धी हो जाती है। शुचिकर्ममें रति उत्पन्न होती है। श्रुतमें संवेग अर्थात् प्रीति पैदा होती है। तत्त्वार्थमें श्रद्धान, प्रिय धर्ममें अनुराग एवं संसारसे तीव्र निर्वेद अर्थात् वैराग्य जागृत हो जाता है।१६३। इन गुणोंको आदि लेकर इस प्रकारके जितने गुण हैं, वे सब वेदक सम्यक्त्वी जीवके प्रकट हो जाते हैं। सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयका वेदन करनेवाले जीवको वेदक-सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।१६४।

४. वेदक सम्यक्त्वकी मलिनताका निर्देश

ध. १/१,१,१२/१७१/१० जो पुण वेदयसम्माइट्ठी सो सिथिलसद्दहणो थेरस्स लट्ठिग्गहणं व सिथिलग्गाहो कुहेउ-कुदिट्ठंतेहि झडिदि विराहओ। —वेदक सम्यग्दृष्टि जीव शिथिलश्रद्धानी होता है, इसलिए वृद्धपुरुष जिस प्रकार अपने हाथमें लकड़ीको शिथिलतापूर्वक पकड़ता है, उसी प्रकार वह भी तत्त्वार्थके श्रद्धानमें शिथिलग्राही होता है। अतः कुहेतु और कुदृष्टान्तसे उसे सम्यक्त्वकी विराधना करनेमें देर नहीं लगती है। (और भी दे. अगाढ)

ध. ६/१,९-१,२१/४०/१ अत्तागमपयत्थसद्धाए सिथिलत्तं सद्धाहाणी वि सम्मत्तलिंगं। —आप्त आगम और पदार्थोंकी श्रद्धामें शिथिलता और श्रद्धाकी हीनता होना सम्यक्त्वप्रकृतिका चिह्न है। (दे मोहनीय/२/४)

दे सम्य/I/२/६ [दर्शनमोहके उदयसे (अर्थात् सम्यक्त्व-प्रकृतिके उदयसे) सम्यग्दर्शनमें शंका कांक्षा आदि अतिचार लगते हैं।

दे. अनुभाग/४/६/१ [सम्यक्त्व प्रकृति सम्यक्त्वके स्थिरता और निष्कांक्षता गुणोंका घात करती है।]

गो. जी./मू./२५/५० सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं। चलमलिनमगाढं तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदु।२५। —सम्यक्त्व नामकी देशघाती प्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्व चल मलिन व अगाढ़ दोषसे युक्त हो जाता है, परन्तु नित्य ही वह कर्मक्षयका हेतु बना रहता है। (और भी दे सम्यग्दर्शन/IV/४/१/२), (अन. ध/२/६६/१८२)

दे. चल—(अपने व अन्यके द्वारा स्थापित जिनबिम्बोंमें मेरे तेरेकी बुद्धि करता है, तथा कुछ मात्र काल स्थिर रह कर चलायमान हो जाता है।)

दे. मल—[शंका आदि दोषोंसे दूषित हो जाना मल है।]

५. वेदक सम्यक्त्वका स्वामित्व

१. गति व पर्याप्ति आदिकी अपेक्षा

स. सि./१/७/२२/६ गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकाणां पर्याप्तकानामौपशमिकं क्षायोपशमिकं चास्ति। प्रथमायां पृथिव्यां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति। तिर्यग्गतौ तिरश्चां ..क्षायिकं क्षायोपशमिकं च पर्याप्तापर्याप्तकानामस्ति। तिरश्चीनां क्षायिकं नास्ति। क्षायोपशमिकं च पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम्। मनुष्यगतौ मनुष्याणां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति। मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम्। देवगतौ देवानां पर्याप्तापर्याप्तकानां त्रितयमप्यस्ति ...विशेषेण भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्काणां देवानां देवीनां च सौधर्मैशानकल्पवासिनीनां च क्षायिकं नास्ति। तेषां पर्याप्तकानामौपशमिकं क्षायोपशमिकं चास्ति। —गतिमार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें सब पृथिवियोंमें पर्याप्तक नारकियोंके औपशमिक व क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। पहली पृथिवीमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक नारकियोंमें क्षायिक व क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। तिर्यंचगतिमें क्षायिक और क्षायोपशमिक पर्याप्त और अपर्याप्तक दोनों प्रकारके तिर्यंचोंके होता है। तिर्यंचिनीके क्षायिक नहीं होता क्षायोपशमिक पर्याप्तकके ही होता है, अपर्याप्तक तिर्यंचिनीके नहीं। मनुष्यगतिमें क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकारके मनुष्योंके होता है। मनुष्यणियोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु पर्याप्तक मनुष्यनीके ही होते हैं, अपर्याप्तक मनुष्यणीके नहीं। देवगतिमें पर्याप्तक, अपर्याप्तक दोनों प्रकारके देवोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं। विशेषरूपसे भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके, इन तीनोंकी देवांगनाओंके तथा सौधर्म और ऐशान कल्पमें उत्पन्न हुई देवांगनाओंके क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता शेष दो होते हैं, सो वे भी पर्याप्तक अवस्थामें ही होते हैं। (विशेष दे. वह-वह गति तथा सत)

गो. जी./मू./१२८/३३६ हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं। पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे।१२८। —नरक गतिमें प्रथम पृथिवीके अतिरिक्त नीचेकी छह पृथिवीमें, देव गतिमें ज्योतिषी व्यन्तर व भवनवासी देव, सर्व ही प्रकारकी स्त्रियाँ, इन सबको पर्याप्त अवस्थामें ही सम्यक्त्व होता है अपर्याप्त अवस्थामें नहीं। इसके अतिरिक्त नारकियोंको अपर्याप्त अवस्थामें सासादन भी नहीं होता है।

गो. जी./५५०/७४२/७ वेदकं चातुर्गतिपर्याप्तनिर्वृत्त्यपर्याप्तेषु।७। —वेदक सम्यग्दर्शन चारों ही गतियोंमें पर्याप्त व निर्वृत्त्यपर्याप्त दोनों दशाओंमें होता है।

२. गुणस्थानोंकी अपेक्षा

ष. खं. १/१,१/सूत्र १४६/३९७ वेदगसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति।१४६। —वेदक सम्यग्दृष्टि जीव असंयत-सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं। (विशेष दे. सत्)

३. उपशम सम्यग्दृष्टि व सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा

गो. क./जी. प्र./५५०/७४४/१६ कर्मभूमिमनुष्यप्रथमोपशमसम्यग्दृष्टयश्च स्वस्वान्तर्मुहूर्तकाले गते सम्यक्त्वप्रकृत्युदयाद्वेदकसम्यग्दृष्टयो जायन्ते। कर्मभूमिमनुष्यसादिमिथ्यादृष्टयः सम्यक्त्वप्रकृत्युदयेन मिथ्यात्वोदयनिषेकानुत्कृष्यासंयतादिचतुर्गुणस्थानवेदकसम्यग्दृष्टयो भूत्वा।...नरकगतौ प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टयः स्वकालानन्तरसमयं प्राप्य सम्यग्मिथ्यादृष्टिसादिमिथ्यादृष्टयः मिश्रमिथ्यात्वप्रकृत्युदयनिषेकानुत्कृष्य च सम्यक्त्वप्रकृत्युदयाद्वेदकसम्यग्दृष्टयो भूत्वा।... कर्मभोगभूमितिर्यंचो भोगभूमिमनुष्याश्च प्रथमोपशमसम्यक्त्वं त्यक्त्वा सादिमिथ्यादृष्टितिर्यञ्चो मिथ्यात्वोदयनिषेकानुत्कृष्य च सम्यक्त्वप्रकृत्युदयाद्वेदकसम्यग्दृष्टयो जायन्ते।...भवनत्रयाद्युपरिमग्रैवेयकान्तसादिमिथ्यादृष्टयः करणत्रयमकृत्वा वा यथासंभवं सम्यक्त्वप्रकृत्याम्मिथ्यात्वं त्यक्त्वा वेदकसम्यग्दृष्टयो भूत्वा तदेव बध्नन्ति। —कर्मभूमिज मनुष्य प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि अपने-अपने योग्य अन्तर्मुहूर्त कालके बीत जानेपर सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। कर्मभूमिज मनुष्य सादि मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे उदयगत मिथ्यात्वके निषेकोंका अभाव करके असंयतादि चार गुणस्थानवर्ती वेदक सम्यग्दृष्टि होकर...। नरक गतिमें प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि जीव अपने कालके अनन्तर समयको प्राप्त करके, मिश्रगुणस्थानवर्ती या सादि मिथ्यादृष्टि हो, मिश्र व मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयगत निषेकोंको हटाकर सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। कर्मभूमिज तिर्यंच और भोगभूमिज मनुष्य प्रथमोपशमको छोड़ और सादि मिथ्यादृष्टि तिर्यंच मिथ्यात्वके उदयगत निषेकोंका अभाव करके सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे वेदक-सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। भवनत्रिकसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्तके सादि मिथ्यादृष्टि देव करणत्रयको करके अथवा यथासम्भव सम्यक्त्व प्रकृतिके द्वारा मिथ्यात्वको छोड़कर वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। (इस प्रकार ये सभी जीव वेदक सम्यग्दृष्टि

होकर तीर्थंकर प्रकृतिको बाँधनेके योग्य हो जाते हैं, ऐसा यहाँ प्रकरण है।) (और भी दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/८)

६. अनादि मिथ्यादृष्टिको सीधा प्राप्त नहीं होता

ध. ५/१,६,१२१/७१/५ एइंदिएसु दीहद्धमवट्ठिदस्स उव्वेल्लिदसम्मत्त-सम्मामिच्छत्तस्स तदुप्पायणे संभवाभावा। —एकेन्द्रियोंमें दीर्घकाल तक रहनेवाले और उद्वेलना की है सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी जिसने ऐसे जीवके वेदक सम्यक्त्वका उत्पन्न कराना सम्भव नहीं है। (ध. ५/१,६,२५८/१३१/६)

दे. सम्यग्दर्शन/IV/२/६ में अन्तिम सन्दर्भ—[उपरोक्त प्रकारका जीव अनादिमिथ्यादृष्टि ही होता है।]

७. सम्यक्त्वसे च्युत होनेवाले बहुत कम हैं

ध. ३/१,२,१४/१२०/४ वेदगसम्माइट्ठीणमसंखेज्जदिभागो मिच्छत्तं गच्छदि। तस्स वि असंखेज्जदिभागो सम्मामिच्छत्तं गच्छदि।— वेदक सम्यग्दृष्टियोंका असंख्यातवाँ भाग मिथ्यात्वको प्राप्त होता है और उसका भी असंख्यातवाँ भाग सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होता है।

८. च्युत होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तसे पहले सम्यक्त्व पुनः प्राप्त नहीं होता

क. पा. ३/३-२२/§३६२/१९९/४ संकिलेसादो ओयरिय विसोहीए अंतोमुहुत्तावट्ठाणेण विणा सम्मत्तस्स गहणाणुववत्तीदो।—मिथ्यात्वमें आकर और उत्कृष्ट स्थितिबन्धके कारणभूत संक्लेशसे च्युत होकर, विशुद्धिको प्राप्त करके, जब तक उस विशुद्धिके साथ जीव मिथ्यात्वमें अन्तर्मुहूर्त कालतक नहीं ठहरता, तबतक उसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। (विशेष दे. अन्तर/५)।

९. ऊपरके गुणस्थानोंमें न होनेमें हेतु

ध. १/१,१,१४६/३९७/७ उपरितनगुणेषु किमिति वेदकसम्यक्त्वं नास्तीति चेन्न, अगाढसमलश्रद्धानेन सह क्षपकोपशमश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः।—प्रश्न—ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें वेदकसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है? उत्तर—नहीं होता, क्योंकि, अगाढ़ आदि मलसहित श्रद्धानके साथ क्षपक और उपशम श्रेणीका चढ़ना नहीं बनता है।

१०. कृतकृत्य वेदक सम्बन्धी कुछ नियम

ध. ६/१,९-८,१२/२६३/१ कदकरणिज्जकालब्भंतरे मरणं पि होज्ज, काउ-तेउ-पम्म-सुक्क-लेस्साणमण्णदराए लेस्साए वि परिणामेज्ज, संकिलिस्सदु वा विसुज्झदु वा, तो वि असंखेज्जगुणाए सेडीए जाव समयाहियावलिया सेसा ताव असंखेज्जाणं समयपबद्धाणमुदीरणा, उक्कस्सिया वि उदीरणा उदयस्स असंखेज्जदिभागो।—कृतकृत्य-वेदककालके भीतर उसका मरण भी हो (विशेष दे. मरण/३/८): कापोत तेज पद्म और शुक्ल इन लेश्याओंमेंसे किसी एक लेश्याके द्वारा भी परिणमित हो; संक्लेशको प्राप्त हो; अथवा विशुद्धिको प्राप्त हो; तो भी असंख्यातगुणित श्रेणीके द्वारा जब तक एक समय अधिक आवलीकाल शेष रहता है, तबतक असंख्यात समय प्रबद्धोंकी उदीरणा होती रहती है। उत्कृष्ट भी उदीरणा उदयके असंख्यातवें भाग होती है।

५. क्षायिक सम्यक्त्व निर्देश

१. क्षायिक सम्यग्दर्शनका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१६०-१६२ खीणे दंसणमोहे जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ। तं खाइयसम्मत्तं णिच्चं कम्मक्खवणहेउं। १६०। वयणेहिं वि हेऊहि य इंदियभय जणणेहिं रूवेहिं। बीभच्छ-दुगुंछेहि य णे तेल्लोक्केण चालिज्जा।१६१। एवं विउला बुद्धी ण य विम्हयमेदि किंचि दट्ठूणं। पट्ठविए सम्मत्ते खइए जीवस्स लद्धीए।१६२।—दर्शनमोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय हो जानेपर जो निर्मल श्रद्धान होता है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। वह सम्यक्त्व नित्य है और कर्मोंके क्षय करनेका कारण है।१६०। श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचनोंसे, तर्कोंसे, इन्द्रियोंको भय उत्पन्न करनेवाले रूपोंसे तथा बीभत्स और जुगुप्सित पदार्थोंसे भी चलायमान नहीं होता। अधिक क्या कहा जाय वह त्रैलोक्यके द्वारा भी चल-विचल नहीं होता।१६१। क्षायिक सम्यक्त्वके प्रारम्भ होनेपर अथवा प्राप्ति या निष्ठापन होनेपर, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवके ऐसी विशाल, गम्भीर एवं दृढ़ बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि वह कुछ (असम्भव या अनहोनी घटनाएँ) देखकर भी विस्मय या क्षोभको प्राप्त नहीं होता।१६२। (ध. १/१,१,१४४/गा. २१३-२१४); गो. जी./मू./६४६-६४७/१०९६)।

स. सि./२/४/१५४/११ पूर्वोक्तानां सप्तानां प्रकृतीनामत्यन्तक्षयात्क्षायिकं सम्यक्त्वम्।—पूर्वोक्त (दर्शनमोहनीयकी) सात प्रकृतियोंके अत्यन्त विनाशसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। (रा. वा./२/४/७/१०६/११)।

ल. सा./मू./१६४/२१७ सत्तण्णं पयडीणं खयादु खइयं तु होदि सम्मत्तं। मेरु व णिप्पकंपं सुणिम्मलं अक्खयमणंतं।१६४।—सात प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। वह मेरुकी भाँति निष्प्रकम्प, निर्मल व अक्षय अनन्त है।

द्र. सं./टी./१/६१/६१/६ शुद्धात्मादिपदार्थ विषये विपरीताभिनिवेशरहितः परिणामः क्षायिकसम्यक्त्वमिति भण्यते।—शुद्ध आत्मा आदि पदार्थोंके विषयमें विपरीत अभिनिवेश रहित परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व कहा जाता है। (द्र. सं./टी./१४/४२/५)

ध. १/१,१,१२/१७१/४ एदासिं सत्तण्हं णिरवसेसक्खएण खइयसम्माइट्ठी उच्चइ।...खइयसम्माइट्ठी ण कयाइ वि मिच्छत्तं गच्छइ, ण कुणइ सदेहं पि, मिच्छत्तुब्भवं। दट्ठूण णो विम्हयं जायदि।—सात प्रकृतियोंके सर्वथा विनाशसे जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।...क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता, किसी प्रकारके सन्देहको भी नहीं करता, और मिथ्यात्वजन्य अतिशयोंको देखकर विस्मयको भी प्राप्त नहीं होता है।

२. क्षायिक सम्यक्त्वका स्वामित्व

१. गति व पर्याप्तिकी अपेक्षा

दे. सम्यग्दर्शन/IV/४/५/१—[नरक गतिमें केवल प्रथम पृथिवीमें होता अन्य पृथिवियोंमें नहीं। वहाँ पर्याप्तक व अपर्याप्तक दोनोंके होता है। तिर्यंच गतिमें तिर्यंचोंको पर्याप्तक व अपर्याप्तक दोनोंको होता है, पर तिर्यंचिनियोंको सर्वथा नहीं। मनुष्य गतिमें मनुष्योंको पर्याप्तक व अपर्याप्तक दोनोंको होता है, मनुष्यनीके केवल पर्याप्तकको होता है। देवोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त दोनोंको होता है, पर भवनत्रिक व सर्व ही देवियोंके सर्वथा नहीं होता है।] विशेष दे. वह-वह गति)।

गो. क./जो./प्र./५५०/७४२/६ क्षायिक घर्मानारकभोगभूमितिर्यग्भोगकर्मभूमिमनुष्यवैमानिकेष्वेव पर्याप्तापर्याप्तेषु।—क्षायिक सम्यग्दर्शन घर्मानरक अर्थात् प्रथम पृथिवीमें, भोगभूमिज तिर्यंचोंमें, कर्म व भूमिज मनुष्योंमें तथा वैमानिक देवोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओंमें होते हैं (विशेष दे. वह-वह गति)।

२. प्रस्थापक व निष्ठापककी अपेक्षा

ष. खं. ६/१,९-८/सूत्र १२/२४७ णिट्ठवओ पुण चदुसु वि गदीसु णिट्ठवेदि।१२।—दर्शनमोहकी क्षपणाका निष्ठापक तो चारों ही गतियोंमें उसका निष्ठापन करता है। [पर इसका प्रस्थापन मनुष्य-गतिमें ही सम्भव है]।

क. पा. सुत्त/११/गा ११०-१११/६१६ दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु। णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ।११०। मिच्छत्तवेदणीयकम्मे ओवट्टिदम्मि सम्मत्ते। खवणाए पट्ठवगो जहण्णगो तेउलेस्साए ।१११।—१. नियमसे कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ और मनुष्यगतिमें वर्तमान जीव ही दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक (प्रारम्भ करनेवाला) होता है। किन्तु उसका निष्ठापक (पूर्ण करनेवाला) चारों गतियोंमें होता है ।११०। (पं. सं./प्रा./१/२०२); (ध. ६/१,६-८,११/गा. १७/२४५); (गो. जी./मू.६४८/१०६८); (दे. तिर्यंच/२/५ में स. सि.). २. मिथ्यात्ववेदनीयकर्मके सम्यक्त्व प्रकृतिमें अपवर्तित अर्थात संक्रमित कर देनेपर जीव दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक कहलाता है। दर्शनमोहकी क्षपणाके प्रस्थापकको जघन्य तेजोलेश्यामें वर्तमान होना चाहिए।१११।

ल. सा./मू./११०-१११/१४६ दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो।...।११०। णिट्ठवगो तट्ठाणे विमाणभोगावणीसु धम्मे य। किदकरणिज्जो चदुसु वि गदीसु उप्पज्जदे जम्हा ।१११।—दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है ।११०। परन्तु उसका निष्ठापक तो (अबद्धायुष्ककी अपेक्षा) उसी स्थानमें अर्थात् जहाँ प्रारम्भ किया था ऐसी उस मनुष्यगतिमें (और बद्धायुष्ककी अपेक्षा) विमानवासी देवोंमें, भोगभूमिज मनुष्यों व तिर्यंचोंमें और घर्मा नामक प्रथम नरक पृथिवीमें भी होता है, क्योंकि बद्धायुष्क कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि मरकर चारों ही गतियोंमें उत्पन्न होता है ।१११।(गो.क/-जी./५५०/७४४/११)

२. गुणस्थानोंकी अपेक्षा

ष.खं/१/१,१/सू.१४५/३९६ सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।१४५। —सामान्यसे सम्यग्दृष्टि और विशेषसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं ।१४५।

गो.क /जी.प्र./५५०/७४४/११ प्रस्थापकोऽयमसंयतादिचतुर्ष्वन्यतमो मनुष्य एव। —प्रस्थापक तो असंयतसे अप्रमत्त पर्यन्तके चार गुणस्थानवर्ती मनुष्य ही होते हैं।

गो.जी./जी.प्र./७०४/११४१।२२ क्षायिकसम्यक्त्वं तु असंयतादि चतुर्गुणस्थानमनुष्याणां असंयतदेशसंयतोपचारमहाव्रतमानुषीणां च कर्मभूमिवेदकसम्यग्दृष्टीनामेव...सप्तप्रकृतिनिरवशेषक्षये भवति। —क्षायिक सम्यक्त्व तो असंयतादि अप्रमत्त पर्यन्तके चार गुणस्थानवर्ती मनुष्योंके, तथा असंयत, देशसंयत और उपचारसे महाव्रती मनुष्यनियोंके, कर्मभूमिज वेदक सम्यग्दृष्टियोंके ही सात-प्रकृतियोंका निरवशेष क्षय हो जानेपर होता है।

दे. तिर्यंच/२/४ [क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच संयतासंयत नहीं होते]

३. तीर्थंकर आदिके सद्भाव युक्त क्षेत्र व कालमें ही प्रतिष्ठापना सम्भव है

ष.खं.६/१,९-८/सूत्र ११/२४३ दंसणमोहणीयं कम्मं खवेदुमाढवेंतो कम्हि आढवेदि, अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु जम्हि जिणा केवली तित्थयरा तम्हि आढवेदि ।११। —दर्शनमोहनीय कर्मका क्षपण करनेके लिए आरम्भ करता हुआ यह जीव कहाँपर आरम्भ करता है? अढ़ाई द्वीप समुद्रोंमें स्थित पन्द्रह कर्मभूमियोंमें जहाँ जिस कालमें जिन केवली और तीर्थंकर होते हैं उस कालमें आरम्भ करता है ।११।

ध.६/१,९-८,११/२४६/१ दुस्सम(दुस्समदुस्सम)-सुस्समासुस्समा-सुसमा-सुसमादुस्समाकालुप्पण्णमणुसाणं खवणणिवारणट्ठं 'जम्हि जिणा' त्ति वयणं। जम्हि काले जिणा संभवंति तम्हि चेव खवणाए पट्ठवओ होदि, ण अण्णकालेसु।...जम्हि केवलिणाणिणो अत्थि...तित्थयरपादमूले...अधवा चोद्दसपुव्वहरा...एदाणं तिण्हं पि पादमूले दंसणमोहक्खवणं पट्ठवेंति त्ति। —दुःषमा, (दुःषमा-दुःषमा), सुषमासुषमा, सुषमा, और सुषमादुःषमा कालमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके दर्शनमोहका क्षपण निषेध करनेके लिए (उपरोक्त सूत्रमें) 'जहाँ जिन होते हैं' यह वचन कहा गया है। जिस कालमें जिन सम्भव हैं उस ही कालमें दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक होता है, अन्य कालमें नहीं। अर्थात जिस कालमें केवलज्ञान होते हैं, या तीर्थंकरके पादमूलमें, अथवा चतुर्दश पूर्वधर होते हैं, इन तीनोंके पादमूलमें कर्मभूमिज मनुष्यदर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भक होता है।

ल.सा./मू/११०/१४६ तित्थयरपायमूले केवलिसुदकेवलीमूले ।११०। —तीर्थंकरके पादमूलमें अथवा केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमें ही (कर्मभूमिज मनुष्य दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक होता है।)

गो.जी./जी.प्र./७०४/११४१/२३ केवलिश्रुतकेवलिद्वयश्रीपादोपान्ते सप्तप्रकृतिनिरवशेषक्षये भवति। —केवली और श्रुतकेवली इन दोनोंमें-से किसीके श्रीपादमूलके निकट सात प्रकृतियोंका निरवशेषक्षय होनेपर होता है।

४. वेदक सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है

रा.वा./२/१/८/१००/११ सम्यग्दर्शनस्य हि आदिरौपशमिको भावस्ततः क्षायोपशमिकस्ततः क्षायिक इति। —सम्यग्दर्शनमें निश्चयसे पहले औपशमिक भाव होता है, फिर क्षायोपशमिक होता है और तत्पश्चात् क्षायिक होता है।

गो.जी./जी.प्र./७०४/११४१/२१ वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव...। —वेदक सम्यग्दृष्टियोंको ही होता है।

५. क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयत होते हैं पर अल्प

ष.खं.५/१,८/सूत्र १८/२५६ संजदासंजदट्ठाणे सव्वत्थोवा खइयसम्माइट्ठी ।१८।

ध.५/१,८,१८/२५६/६ कुदो। अणुव्वयसहिदखइयसम्मादिट्ठीणमइदुल्लभत्तादो। ण च तिरिक्खेसु खइयसम्मत्तेण सह संजमासंजमो लब्भदि, तत्थ दंसणमोहणीयक्खवणाभावा। —संयतासंयत गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम हैं ।१८। क्योंकि १. अणुव्रत सहित क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंका होना अत्यन्त दुर्लभ है। तथा २. तिर्यञ्चोंमें क्षायिक सम्यक्त्वके साथ संयमासंयम पाया नहीं जाता, क्योंकि, तिर्यंचोंमें दर्शनमोहकी क्षपणाका अभाव है। (विशेष दे. तिर्यंच/२)।

म.पु./२४/१६३-१६५ ततः सम्यक्त्वशुद्धिं च व्रतशुद्धिं च पुष्कलाम्। निष्कलाद्भरतो भेजे परमानन्दमुद्वहन् ।१६३। स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शननायकाम्। व्रतशीलावलीं मुक्तेः कण्ठिकामिव निर्मलाम् ।१६५। —परम आनन्दको धारण करते हुए भरतने शरीरानुरागसे रहित भगवान् वृषभदेवसे सम्यग्दर्शनकी शुद्धि और अणुव्रतोंकी परम विशुद्धिको प्राप्त किया ।१६३। भरतने गुरुदेवकी आराधना करके, जिसमें सम्यग्दर्शनरूपी प्रधान मणि लगा हुआ है और जो मुक्तिरूपी लक्ष्मीके निर्मल कण्ठहारके समान जान पड़ती थी ऐसी व्रत और शीलोंकी (५ अणुव्रत और सात शीलव्रत, इस प्रकार श्रावकके १२ व्रतोंकी) निर्मल माला धारण की ।१६५।

सम्यग्दर्शन क्रिया—दे. क्रिया/३।

सम्यग्दृष्टि—सम्यग्दर्शन युक्त जीवको सम्यग्दृष्टि कहते हैं जो चारों गतियोंमें होने सम्भव हैं। दृष्टिकी विचित्रताके कारण इनका विचारण व चिन्तवन सांसारिक लोगोंसे कुछ विभिन्न प्रकारका होता है, जिसे साधारण जन नहीं समझ सकते। सांसारिक लोग

बाह्य जगतकी ओर दौड़ते हैं और वह अन्तरंग जगत्की ओर। बाह्यपदार्थोंके संयोग आदिको भी कुछ विचित्र ही प्रकारसे ग्रहण करता है। इसी कारण बाहरमें रागी व भोगी रहता हुआ भी वह अन्तरंगमें विरागी व योगी बना रहता है। यद्यपि कषायोद्रेक वश कषाय आदि भी करता है पर विवेक ज्योति खुली रहनेके कारण नित्य उनके प्रति निन्दन गर्हण वर्तता है। इसीसे उसके कषाय युक्त भाव भी ज्ञानमयी व निरास्रव कहे जाते हैं।

*	सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम —दे. मार्गणा।
*	इस गुणस्थानमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व —दे. वह वह नाम।
*	अविरत सम्यग्दृष्टि व दर्शन प्रतिमामें अन्तर —दे. दर्शन प्रतिमा।
*	अविरत सम्यग्दृष्टि और पाक्षिक श्रावकमें कथंचित् समानता —दे. श्रावक/१।
*	पुनः पुनः यह गुणस्थान प्राप्तिकी सीमा —दे. सम्यग्दर्शन/I/१/७।
*	असंयत सम्यग्दृष्टि वन्द्य नहीं —दे. विनय/४।
*	अविरत भी वह मोक्षमार्गी है —दे. सम्यग्दर्शन/I/५।

१. सम्यग्दृष्टि सामान्य निर्देश

१. सम्यग्दृष्टिका लक्षण

मो. पा./मू./१४ सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ सो साहू। सम्मत्त-परिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं।१४। —जो साधु अपनी आत्मामें रत हैं अर्थात् रुचि सहित हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं। सम्यक्त्व भावसे युक्त होते हुए वे दुष्ट अष्ट कर्मोंका क्षय करते हैं। (भा. पा./मू./३१)

र. सा./मू./१/७६ अप्पि अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ। सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइं मुच्चेइ।७६। —अपनेको अपनेसे जानता हुआ यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यग्दृष्टि होता हुआ शीघ्र ही कर्मोंसे छूट जाता है।

दे. सम्यग्दर्शन/II/१/१/६ [सूत्र प्रणीत जीव अजीव आदि पदार्थोंको हेय व उपादेय बुद्धिसे जो जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।]

दे. नियति/१/२ [जो जब जहाँ जैसे होना होता है वह तब तहाँ तैसे ही होता है, इस प्रकार जो मानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

दे. सम्यग्दृष्टि/६ (वैराग्य भक्ति आत्मनिन्दन युक्त होता)

२. सिद्धान्त या आगमको भी कथंचित् सम्यग्दृष्टि व्यपदेश

ध. १३/५.५.५०/११ सम्यग्दृश्यन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्थाः अनया इति सम्यग्दृष्टिः श्रुतिः सम्यग्दृश्यन्ते अनया जीवादयः पदार्थाः इति सम्यग्दृष्टिः सम्यग्दृष्ट्यविनाभाववता सम्यग्दृष्टिः। —इसके द्वारा जीवादि पदार्थ सम्यक् प्रकारसे देखे जाते हैं अर्थात् जाने जाते हैं, इसलिए इस (सिद्धान्त) का नाम सम्यग्दृष्टि या श्रुति है। इसके द्वारा जीवादिक पदार्थ सम्यक् प्रकारसे देखे जाते हैं अर्थात् श्रद्धान किये जाते हैं इसलिए इसका नाम सम्यग्दृष्टि है। अथवा सम्यग्दृष्टिके साथ श्रुतिका अविनाभाव होनेसे उसका नाम सम्यग्दृष्टि है।

२. सम्यग्दृष्टिकी महिमाका निर्देश

१. उसके सब भाव ज्ञानमयी हैं

स. सा./मू./१२८ णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायए भावो। जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया। —क्योंकि ज्ञानमय भावोंमें-से ज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होते हैं, इसलिए ज्ञानियोंके समस्त भाव वास्तवमें ज्ञानमय ही होते हैं।१२८। (स. सा./आ./१२८/क. ६७);

पं. ध./उ./२३१ यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृताः। अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिषु।२३१। —क्योंकि ज्ञानियोंके सर्व-भाव ज्ञानमयी होते हैं, इसलिए सम्यग्दृष्टियोंमें अज्ञानमयी भाव अवकाश नहीं पाते।

२. वह सदा निरास्रव व अबन्ध है

स. सा. मू./१०७ चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं। समए समए जम्हा तेण अबंधोत्ति णाणी दु। —क्योंकि चार प्रकारके द्रव्यास्रव ज्ञानदर्शन गुणोंके द्वारा समय-समयपर अनेक प्रकारका कर्म बाँधते हैं, इसलिए ज्ञानी तो अबन्ध है। (विशेष दे. सम्यग्दृष्टि/३/२)

३. कर्म करता हुआ भी वह बँधता नहीं

स. सा./मू./१९६, २१८ जह मज्जं पिबमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो। दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव।१९६। णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो। णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं।२१८। —१. जैसे कोई पुरुष मदिराको अरति भावसे पीता हुआ मतवाला नहीं होता, इसी प्रकार ज्ञानी भी द्रव्यके उपभोगके प्रति अरत वर्तता हुआ बन्धको प्राप्त नहीं होता।१९६। २. ज्ञानी जो कि सर्व द्रव्योंके प्रति रागको छोड़नेवाला है, वह कर्मोंके मध्यमें रहा हुआ हो तो भी कर्म रूपी रजसे लिप्त नहीं होता—जैसे सोना कीचड़के बीच पड़ा हुआ हो तो भी लिप्त नहीं होता।२१८।

भा. पा./मू./१५४ जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए। तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो।१५४। —जिस प्रकार जलमें रहता हुआ भी कमलिनीपत्र अपने स्वभावसे ही जलसे लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष क्रोधादि कषाय और इन्द्रियोंके विषयोंमें संलग्न भी अपने भावोंसे उनके साथ लिप्त नहीं होता।

यो. सा./अ./४/१९ ज्ञानी विषयसंगेऽपि विषयैर्नैव लिप्यते। कनकं मलमध्येऽपि न मलैरुपलिप्यते।१९। —जिस प्रकार स्वर्ण कीचड़के बीच रहता हुआ भी कीचड़से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी विषय भोग करता हुआ भी विषयोंमें लिप्त नहीं होता।१९।

भा. पा./टी./१५२/२९६ पर उद्धृत—धात्री बालाऽसतीनाथपद्मिनीदल-वारिवत्। दग्धरज्जुवदाभासं भुञ्जन् राज्यं न पापभाक्।६। —जिस प्रकार पतिव्रता नहीं है ऐसी युवती धाय अपने पतिके साथ दिखावटी सम्बन्ध रखती है, जिस प्रकार कमलका पत्ता पानीके साथ दिखावटी सम्बन्ध रखता है, और जिस प्रकार जली हुई रज्जू मात्र देखनेमें ही रज्जू है, उसी प्रकार ज्ञानी राज्यको भोगता हुआ भी पापका भागी नहीं होता।

द. पा./टी./७/७/८ सम्यग्दृष्टेर्लग्नमपि पापं बन्धं न याति कोरघटस्थितं रज इव न बन्धं याति। —जिस प्रकार कोरे घड़ेपर पड़ी हुई रज उसके साथ बन्धको प्राप्त नहीं होती, उसी प्रकार पापके साथ लग्न भी सम्यग्दृष्टि बन्धको प्राप्त नहीं होता।

४. उसके सर्व कार्य निर्जराके निमित्त हैं

स. सा./मू./१९३ उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं। जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।१९३। —सम्यग्दृष्टि

जीव जो इन्द्रियोंके द्वारा अचेतन तथा चेतन द्रव्योंका उपभोग करता है वह सर्व उसके लिए निर्जराका निमित्त है।

ज्ञा./३२/३८ अलौकिकमहो वृत्तं ज्ञानिनः केन वर्ण्यते। अज्ञानी बध्यते यत्र ज्ञानी तत्रैव मुच्यते।३८। –अहो, देखो ज्ञानी पुरुषोंके इस अलौकिक चारित्रका कौन वर्णन कर सकता है। जहाँ अज्ञानी बन्धको प्राप्त होता है, उसी आचरणसे ज्ञानी कर्मोंसे छूट जाता है।३८। (मो. सा./अ./६/१८)

पं. ध./उ./२३० आस्तां न बन्धहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया। चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणाम्।२३०। –ज्ञानियोंकी कर्मसे उत्पन्न होनेवाली क्रिया बन्धका कारण नहीं होती है, यह बात तो दूर रही, परन्तु आश्चर्य तो यह है कि उनकी जो भी क्रिया है वह सब पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जराके लिए ही कारण होती है।२३०।

५. अनुपयुक्त दशामें भी उसे निर्जरा होती है

पं. ध./उ./८७८ आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं वा स्यात् परात्मनि। सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः। –ज्ञान चाहे आत्मामें उपयुक्त हो अथवा कदाचित् परपदार्थोंमें उपयुक्त हो परन्तु सम्यक्त्व भावके होनेपर वे निर्जरादिक अवश्य होते हैं।८७८।

६. उसकी कर्म चेतना भी ज्ञान चेतना है

पं. ध./उ./२७५ अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना। अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना।२७५। –यद्यपि जघन्य भूमिकामें किसी-किसी सम्यग्दृष्टिके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना भी होती है, पर वास्तवमें वह ज्ञानचेतना ही है।

७. उसके कुध्यान भी कुगतिके कारण नहीं

द्र. सं/टी./४८/२०१/३ चतुर्विधमार्तध्यानम्।...यद्यपि मिथ्यादृष्टीनां तिर्यग्गतिकारणं भवति तथापि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां न भवति।...रौद्रध्यानं...तच्च मिथ्यादृष्टीनां नरकगतिकारणमपि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां तत्कारणं न भवति। –चार प्रकारका आर्तध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीवोंको तिर्यंचगतिका कारण होता है तथापि बद्धायुष्कको छोड़कर अन्य सम्यग्दृष्टियोंको वह तिर्यंचगतिका कारण नहीं होता है। (इसी प्रकार) रौद्रध्यान भी मिथ्यादृष्टियोंको नरकगतिका कारण होता है, परन्तु बद्धायुष्कको छोड़कर अन्य सम्यग्दृष्टियोंको वह नरकका कारण नहीं होता है।

८. वह वर्तमानमें ही मुक्त है

स. सा./आ./३१८/क. १९८ ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म, जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्। जानन्परं करणवेदनयोरभावाच्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव।१९८। –ज्ञानी कर्मको न तो करता है और न भोगता है, वह कर्मके स्वभावको मात्र जानता ही है। इसप्रकार मात्र जानता हुआ करने और भोगनेके अभावके कारण, शुद्ध स्वभावमें निश्चल ऐसा वह वास्तवमें मुक्त है।

ज्ञा./६/५७ मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनम्। यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम्।५७। –जिसको विशुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है वह पुण्यात्मा मुक्त है ऐसा मैं मानता हूँ। क्योंकि, सम्यग्दर्शन ही मोक्षका मुख्य अंग कहा गया है।

नि. सा./ता. वृ./६१/क. ८१ इत्थं बुद्ध्वा परमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो, मुक्त्वा सङ्गं भवभयकरं हेमरामात्मकं च। स्थित्वाऽपूर्वे सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे, भेदाभावे समयति च यः सर्वदा मुक्त एव।८१। –इस प्रकार मुक्तिकान्ताकी सखी परम समितिको जानकर जो जीव भवभयके करनेवाले कंचनकामिनीके संगको छोड़कर, अपूर्व सहज विलसते अभेद चैतन्य चमत्कार मात्र स्थित रहकर सम्यक् 'इति' करते हैं अर्थात् सम्यक् रूपसे परिणमित होते हैं वे सर्वदा मुक्त ही हैं।

पं. ध./उ./२३२ वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम्। तद्द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च।२३२। –परमोपेक्षारूप वैराग्य और आत्मप्रत्यक्ष रूप स्वसंवेद ज्ञान ही ज्ञानीके लक्षण हैं। जिसके ये दोनों होते हैं, वह ज्ञानी जीवन्मुक्त है।

३. उपरोक्त महिमा सम्बन्धी समन्वय

१. भावोंमें ज्ञानमयीपने सम्बन्धी

स. सा /पं. जयचन्द/१२८ ज्ञानीके सर्वभाव ज्ञान जातिका उल्लंघन न करनेसे ज्ञानमयी हैं।

२. सदा निरास्रव व अबन्ध होने सम्बन्धी

स. सा./मू./१७७-१७८ रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स। तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति।१७७। हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं। तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति।१७८। –राग, द्वेष और मोह ये आस्रव सम्यग्दृष्टिके नहीं होते, इसलिए आस्रवभावके बिना द्रव्यप्रत्यय कर्मबन्धके कारण नहीं होते।१७७। मिथ्यात्व अविरति प्रमाद और कषाय ये चार प्रकारके हेतु, आठ प्रकारके कर्मोंके कारण कहे गये हैं, और उनके भी कारण रागादि भाव हैं। इसलिए उनके अभावमें ज्ञानीको कर्म नहीं बँधते।१७८।

इ. उ./४४ अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते। अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्ध्यते न विमुच्यते।४४। –स्वात्मतत्त्वमें निष्ठ योगीको जब पर पदार्थोंसे निवृत्ति होती है, तब उनके अच्छे बुरे आदि विकल्पोंका उसे अनुभव नहीं होता। तब वह योगी कर्मोंसे भी नहीं बँधता, किन्तु कर्मोंसे छूटता ही है।

स.सा./आ./१७०-१७१ ज्ञानी हि तावदास्रव-भावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव। यत्तु तस्यापि द्रव्यप्रत्ययाः प्रतिसमयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म बध्नन्ति तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतुः।१७०।...तस्यान्तर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतमोऽस्ति परिणामः। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बन्धहेतुरेव स्यात्।१७१। –ज्ञानी तो आस्रवभावकी भावनाके अभिप्रायके अभावके कारण निरास्रव ही है परन्तु जो उसे भी द्रव्यप्रत्यय प्रति समय अनेक प्रकारका पुद्गलकर्म बाँधते हैं, वहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानका परिणमन ही कारण है।१७०। क्योंकि वह अन्तर्मुहूर्तपरिणामी है। इसलिए यथाख्यात चारित्रअवस्थासे पहले उसे अवश्य ही रागभावका सद्भाव होनेसे, वह ज्ञान बन्धका कारण ही है।

स. सा /आ./१७२/क/११६ संन्यसन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं, वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्। उच्छिन्दन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णोभवन्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा।११६। –आत्मा जब ज्ञानी होता है, तब स्वयं अपने समस्त बुद्धिपूर्वक रागको निरन्तर छोड़ता हुआ अर्थात् न करता हुआ, और जो अबुद्धिपूर्वक राग है उसे भी जीतनेके लिए बारम्बार (ज्ञानानुभव रूप) स्वशक्तिको स्पर्श करता हुआ, और (इस प्रकार) समस्त प्रवृत्तिको—परपरिणतिको उखाड़ता हुआ, ज्ञानके पूर्ण भावरूप होता हुआ, वास्तवमें सदा निरास्रव है।

स. सा./आ.१७३-१७६ ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्ययाः पूर्वबद्धाः सन्ति, सन्तु; तथापि स तु निरास्रव एव, कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानामबन्धहेतुत्वात्। –ज्ञानीके यदि पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं; तो भले रहें; तथापि वह तो निरास्रव ही है; क्योंकि, कर्मोदयका कार्य जो रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव हैं उसके अभावमें द्रव्य प्रत्यय बन्धका कारण नहीं है।

स. सा./ता. वृ./१७२/२३६/६ यथाख्यातचारित्राधस्तादन्तर्मुहूर्तानन्तरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्यत इति भणितं पूर्वं। एवं सति कथं

ज्ञानी निरास्रव इति चेत्, ज्ञानी तावदीहापूर्वरागादिविकल्पकरणाभावान्निरास्रव एव। किं तु सोऽपि यावत्कालं परमसमाधेरनुष्ठानाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं चासमर्थः तावत्कालं तस्यापि संबन्धि यद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तज्जघन्यभावेन सकषायभावेन अनीहितवृत्त्या परिणमति, तेन कारणेन स तु भेदज्ञानी···विविधपुण्यकर्मणा बध्यते। –प्रश्न—यथाख्यात चारित्रसे पहले अन्तर्मुहूर्तके अनन्तर निर्विकल्प समाधिमें स्थित रहना शक्य नहीं है, ऐसा पहले कहा गया है। ऐसा होनेपर ज्ञानी निरास्रव कैसे हो सकता है? उत्तर—१. ज्ञानी क्योंकि ईहा पूर्वक अर्थात् अभिप्रायपूर्वक रागादि विकल्प नहीं करता है, इसलिए वह निरास्रव ही है। (अन. ध./८/४/७३३) २. किन्तु जबतक परमसमाधिके अनुष्ठानके अभावमें वह भी शुद्धात्मस्वरूपको देखने-जानने व आचरण करनेमें असमर्थ रहता है, तब तक उसके भी तत्सम्बन्धी जो दर्शन ज्ञान चारित्र हैं वे जघन्यभावसे अर्थात् कषायभावसे अनीहितवृत्तिसे स्वयं परिणमते हैं। उसके कारण वह भेदज्ञानी भी विविध प्रकारके पुण्यकर्मसे बँधता है।

दे. उपयोग/II/३ [जितने अंशमें उसे राग है उतने अंशमें आस्रव व बन्ध है और जितने अंशमें रागका अभाव है, उतने अंशमें निरास्रव व अबन्ध है।]

३. सर्व कार्योंमें निर्जरा सम्बन्धी

स. सा./मू./१९४ दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा। तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेदवि अह णिज्जरं जादि।१९४। –वस्तु भोगनेमें आनेपर सुख अथवा दुःख नियमसे उत्पन्न होता है। उदयको प्राप्त उस सुखदुःखका अनुभव करता है तत्पश्चात् वह (सुख-दुखरूपभाव) निर्जराको प्राप्त होता है। (इस प्रकार भाव निर्जराकी अपेक्षा समाधान है)।१९४।

स. सा./आ./१९३-१९४ रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्यद्रव्योपभोगो बन्धनिमित्तमेव स्यात्। स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात्। एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदयति।१९३। अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति। स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टेः रागादिभावानां सद्भावेन बन्धनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यजीर्णः सन् बन्ध एव स्यात्। सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बन्धनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीर्यमाणो निर्जीर्णः सन्निर्जरैव स्यात्।१९४। –रागादि भावोंके सद्भावसे मिथ्यादृष्टिके जो अचेतन तथा चेतन द्रव्योंका उपभोग बन्धका निमित्त होता है; वही रागादिभावोंके अभावके कारण सम्यग्दृष्टिके लिए निर्जराका निमित्त होता है। इस प्रकार द्रव्य निर्जराका स्वरूप कहा।१९३। अब भाव निर्जराका स्वरूप कहते हैं—जब उस (कर्मोदयजन्य सुखरूप अथवा दुःखरूप) भावका वेदन होता है तब मिथ्यादृष्टिको, रागादिभावोंके सद्भावसे (नवीन) बन्धका निमित्त होकर निर्जराको प्राप्त होता हुआ भी, निर्जरित न होता हुआ बन्ध ही होता है; किन्तु सम्यग्दृष्टिके रागादिभावोंके अभावसे बन्धका निमित्त हुए बिना केवल मात्र निर्जरित होनेसे, निर्जरित होता हुआ, निर्जरा ही होती है।१९४।

स. सा./ता. वृ./१९३/२६७/१४ अत्राह शिष्यः—रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जराकारणं भणितं सम्यग्दृष्टेस्तु रागादयः सन्ति, ततः कथं निर्जराकारणं भवतीति। अस्मिन्पूर्वपक्षे परिहारः—अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्तिसरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं, तत्र तु परिहारः पूर्वमेव भणितः। कथमिति चेत्। मिथ्यादृष्टेः सकाशादसंयतसम्यग्दृष्टेः अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिताः, श्रावकस्य च प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागादयो न सन्तीत्यादि। किंच सम्यग्दृष्टेः संवरपूर्विका निर्जरा भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत् बन्धपूर्विका भवति। तेन कारणेन मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया सम्यग्दृष्टिरबन्धक इति। एवं द्रव्यनिर्जराव्याख्यानरूपेण गाथा गता। –प्रश्न—राग-द्वेष व मोहका अभाव होनेपर भोग आदि निर्जराके कारण कहे गये हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टिके तो रागादि होते हैं, इसलिए उसे वे निर्जराके कारण कैसे हो सकते हैं? उत्तर—१. इस ग्रन्थमें वस्तु वृत्तिसे वीतराग सम्यग्दृष्टिका ग्रहण किया गया है, जो चौथे गुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टि है उसका गौण वृत्तिसे ग्रहण किया गया है। २. सराग सम्यग्दृष्टि सम्बन्धी समाधान पहले ही दे दिया गया है। वह ऐसे कि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टिको अनन्तानुबन्धी चतुष्क और मिथ्यात्वोदयजन्य रागादिक तथा श्रावकको अप्रत्याख्यान चतुष्क जनित रागादि नहीं होते हैं। ३. सम्यग्दृष्टिकी निर्जरा संवरपूर्वक होती है और मिथ्यादृष्टिकी गजस्नानवत् बन्धपूर्वक होती है। इस कारण मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि अबन्धक है। इस प्रकार द्रव्यनिर्जराके व्याख्यानरूप गाथा कही। ४. [सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहोदयके वशीभूत होकर अरुचि पूर्वक सुख-दुःख आदिक अनुभव करता है और मिथ्यादृष्टि उपादेय बुद्धिसे करता है। इसलिए सम्यग्दृष्टिको भोगोंका भोगना निर्जराका निमित्त है। इस प्रकार भाव निर्जराकी अपेक्षा व्याख्यान जानना। (दे. राग/६/६)]

४. ज्ञान चेतना-सम्बन्धी

पं. ध./उ. २७६ चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि। रागाभावान्न बन्धोऽस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना।२७६। –कर्म व कर्मफलरूप चेतनाका फल कर्म बन्ध है, पर सम्यग्दृष्टिको रागका अभाव होनेसे बन्ध नहीं होता है, इसलिए उसकी वह कर्म व कर्मफल चेतना ज्ञानचेतना है।२७६।

५. अशुभ ध्यानों सम्बन्धी

द्र. सं./टी./४८/२०१/५ कस्मादिति चेत्—स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति विशिष्टभावनाबलेन तत्कारणभूतसंक्लेशाभावादिति।५। –प्रश्न—आर्तध्यान सम्यग्दृष्टिको मिथ्यादृष्टिकी भाँति तिर्यंच गतिका कारण क्यों नहीं होता? उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीवोंके 'निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है' ऐसी भावनाके कारण तिर्यंचगतिका कारण रूप संक्लेश नहीं होता। [यही उत्तर रौद्रध्यानके लिए भी दिया गया है]

४. सम्यग्दृष्टिकी विशेषताएँ

१. सम्यग्दृष्टि ही सम्यक्त्व व मिथ्यात्वके भेदको यथार्थतः जानता है

स. सा./पं. जयचन्द/२००/क. १३७ सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व सहित राग नहीं होता और जिसके मिथ्यात्व सहित राग हो वह सम्यग्दृष्टि नहीं होता। ऐसे अन्तरको सम्यग्दृष्टि ही जानता है। पहले तो मिथ्यादृष्टिका आत्म शास्त्रमें प्रवेश ही नहीं है, और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है—शुभभावको सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट होता है अथवा अशुभभावोंमें प्रवर्तता है, अथवा निश्चयको भली भाँति जाने बिना व्यवहारसे ही (शुभभावसे ही) मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्त्वमें मूढ़ रहता है। यदि कोई विरला जीव स्याद्वाद न्यायसे सत्यार्थको समझे तो उसे अवश्य ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है, वह अवश्य सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

२. सम्यग्दृष्टिको पक्षपात नहीं होता

स्या. मं./मू. श्लो. ३०/३३४ अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः। नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथा ते।३०। –आत्मवादी लोग परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष

भाव रखनेके कारण एक दूसरेसे ईर्ष्या करते हैं, परन्तु सम्पूर्ण नयोंको एक समान देखने वाले (दे. अनेकान्त/२) आपके शास्त्रोंमें पक्षपात नहीं है।

३. जहाँ जगत् जागता है वहाँ ज्ञानी सोता है

मो. पा./मू./३१ जो सुत्तो ववहारे सो जोइ जग्गए सकज्जम्मि। जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।३१। —जो योगी व्यवहारमें सोता है वह अपने स्वरूपके कार्यमें जागता है। और व्यवहारमें जागता है, वह अपने कार्यमें सोता है ।३१। (स. श./७८)

प. प्र./मू./२/४६ जा णिसि सयलहँ देहियँ जोग्गिउ तहिँ जग्गेइ। जहिँ पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ ।४६। —जो सब संसारी जीवोंकी रात है, उसमें परम तपस्वी जागता है, और जिसमें सब संसारी जीव जाग रहे हैं, उस दशाको योगी रात मानकर योग निद्रामें सोता है। (ज्ञा./१८/३७)

५. अविरत सम्यग्दृष्टि निर्देश

१. अविरति सम्यग्दृष्टिका सामान्य लक्षण

पं. सं./प्रा./११ णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि। जो सद्दहइ जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ।११। —जो पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विरत नहीं है और न त्रस तथा स्थावर जीवोंके घातसे ही विरक्त है, किन्तु केवल जिनोक्त तत्त्वका श्रद्धान करता है, वह चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि है ।११। (ध. १/१,१,१२/गा. १११/१७३); (गो. जी./मू./२६/५८); (और भी दे. असंयम)

रा. वा./६/१/१५/५८६/२६ औपशमिकेन क्षायोपशमिकेन क्षायिकेण वा सम्यक्त्वेन समन्वितः चारित्रमोहोदयात् अत्यन्तमविरतिपरिणाम-प्रवणोऽसंयतसम्यग्दृष्टिरिति व्यपदिश्यते। —औपशमिक, क्षायो-पशमिक और क्षायिक इन तीनोंमेंसे किसी भी सम्यक्त्वसे समन्वित तथा चारित्रमोहके उदयसे जिसके परिणाम अत्यन्त अविरतिरूप रहते हैं, उसको 'असंयत सम्यग्दृष्टि' ऐसा कहा जाता है।

ध. १/१,१,१२/१७१/१ समीचीनदृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः, असंयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च, असंयतसम्यग्दृष्टिः। सो वि सम्मा-इट्ठी तिविहो, खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्मा-इट्ठी चेदि। — जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, और संयम रहित [अर्थात् इन्द्रिय भोग व जीव हिंसासे विरक्त न होना (दे. असंयम)] सम्यग्दृष्टिको असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारके हैं—क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिक सम्यग्दृष्टि।

२. अव्रत सम्यग्दृष्टि सर्वथा अव्रती नहीं

दे. श्रावक/३/४ [यद्यपि व्रतरूपसे कुछ भी अंगीकार नहीं करता, पर कुलाचाररूपसे अष्टमूलगुण धारण, स्थूल अणुव्रत पालन,स्थूल रूपेण रात्रि भोजन व सप्तव्यसन त्याग अवश्य करता है। क्योंकि ये सब क्रियाएँ व्रत न कहलाकर केवल कुलक्रिया कहलाती हैं, इसलिए वह अव्रती या असंयत कहलाता है। ये क्रियाएँ व्रती व अव्रती दोनोंको होती हैं। व्रतीको नियम व्रत रूपसे और अव्रतीको कुलाचार रूपसे।]

दे. सम्यग्दर्शन/II/१/४ [निश्चय सम्यक्त्व युक्त होनेपर भी चारित्र मोहोदयवश उसे आत्मध्यानमें स्थिरता नहीं है तथा व्रत व प्रतिज्ञाएँ भंग भी हो जाती हैं, इसलिए असंयत कहा जाता है।]

मो. मा. प्र./९/४६६/२२ कषायनिके असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं। तिनिविषै सर्वत्र पूर्वस्थानतैं उत्तरस्थानविषैं मन्दता पाइए है।... आदिके बहुत स्थान तौ असंयमरूप कहे, पीछै केतेक देश संयमरूप कहे।...तिनिविषैं प्रथमगुणस्थानतैं लगाय चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त जे कषायके स्थान हो हैं, ते सर्व असंयम ही के हो हैं।...परमार्थतै कषायका घटना चारित्रका अंश है...सर्वत्र असंयमकी समानता न जानना।

३. अपने दोषोंके प्रति निन्दन गर्हण करना उसका स्वाभाविक व्रत है

का. अ./मू./४ विरलो अज्जदि पुण्णं सम्मादिट्ठी वएहि संजुत्तो। उवसमभावे सहिदो णिंदण-गरहाहिसंजुत्तो। —सम्यग्दृष्टि, व्रती, उपशम भावसे युक्त, तथा अपनी निन्दा और गर्हा करनेवाले विरले जन ही पुण्य कर्मका उपार्जन करते हैं।

द्र. सं./टी./१३/३२/६ निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रिय-सुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्। —निज परमात्म द्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रिय सुख आदि परद्रव्य त्याज्य हैं, इसप्रकार सर्वज्ञ प्रणीत निश्चय, व्यवहारको साध्य साधक भावसे मानता है, परन्तु भूमिकी रेखाके समान क्रोध आदि अप्रत्याख्यानकषायके उदयसे, मारनेके लिए कोतवालसे पकड़े हुए चोरकी भाँति आत्म-निन्दादि सहित होकर इन्द्रिय सुखका अनुभव करता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवर्ती है। (सा.ध./१/१३)

पं. ध./उ/४२७ दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः। तत्राभि-व्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ।४७२। —दर्शनमोहनीयके उदयके अभावसे प्रशम गुण उत्पन्न होता है और प्रशमके बाह्यरूप अभिव्यंजक निन्दा तथा गर्हा ये दोनों होते हैं ।४७२।

का. अ./पं. जयचन्द/३९१ इसके असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि कार्योंमें हिंसा होती है। तो भी मारनेका अभिमत नहीं है, कार्यका अभिप्राय है। वहाँ घात होता है, उसके लिए अपनी निन्दा गर्हा करता है। इसके त्रस हिंसा न करनेके पक्ष मात्रसे पाक्षिक कहलाता है। यह अप्रत्याख्यानावरण कषायके मन्द परिणाम हैं, इसलिए अव्रती ही है।

४ अविरत सम्यग्दृष्टिके अन्य बाह्य चिह्न

का. अ./मू./३१३-३२४ जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु। उवसमभावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिणमेत्तं ।३१३। उत्तमगुण-गहणरओ उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो। साहम्मिय अणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो।३१५। एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्व-पज्जाए। सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुदिट्ठी ।३२३। जो ण विजाणदि तच्चं सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं। जं जिणवरेहि भणियं तं सव्वमहं समिच्छामि ।३२४। —वह सम्यग्दृष्टि पुत्र, स्त्री आदि समस्त पदार्थोंमें गर्व नहीं करता, उपशमभावको भाता है और अपनेको तृणसमान मानता है ।३१३। जो उत्तम गुणोंको ग्रहण करनेमें तत्पर रहता है, उत्तम साधुओंकी विनय करता है, तथा साधर्मी जनोंसे अनुराग करता है, वह उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि है ।३१५। इस प्रकार जो निश्चयसे सब द्रव्योंको और सब पर्यायोंको जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो उनके अस्तित्वमें शंका करता है, वह मिथ्या-दृष्टि है ।३२३। जो तत्त्वोंको नहीं जानता किन्तु जिनवचनमें श्रद्धान करता है [दे. सम्यग्दर्शन/I/१/२,३] कि जिनवर भगवान्ने जो कुछ कहा है, वह सब मुझे पसन्द है। वह भी श्रद्धावान् है ।३२४।

दे. सम्यग्दर्शन/II/१ (देव, गुरु, धर्म, तत्त्व व पदार्थों आदिकी श्रद्धा करता है, आत्मस्वभावकी रुचि रखता है।)

दे. सम्यग्दर्शन/I/२ (निःशंकितादि आठ अंगों को व प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य आदि गुणोंको धारण करता है।)

दे. सम्यग्दृष्टि/२. [सम्यग्दृष्टिको राग द्वेष व मोहका अभाव है।]

प्र. सं./टी./४५/१६४/१० शुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारवास्तवसुखामृतमुपादेयं कृत्वा संसारशरीरभोगेषु योऽसौ हेयबुद्धिः सम्यग्दर्शनशुद्धः स चतुर्थगुणस्थानवर्ती व्रतरहितो दर्शनिको भण्यते।—शुद्धात्म भावनासे उत्पन्न निर्विकार यथार्थ सुखरूपी अमृतको उपादेय करके संसार शरीर और भोगोंमें जो हेय बुद्धि है वह सम्यग्दर्शनसे शुद्ध चतुर्थगुणस्थानवाला व्रतरहित दर्शनिक है। (दे. सम्यग्दृष्टि/५-२); (और भी दे. राग/६)।

पं ध./उ./२६१,२७१ उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत्। अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ।२६१। इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक्। वैषयिके सुखे ज्ञाने राग-द्वेषौ परित्यजेत् ।२७१। —सम्यग्दृष्टिको सर्वप्रकारके भोगोंमें प्रत्यक्ष रोगकी तरह अरुचि होती है, क्योंकि, उस सम्यक्त्वरूप अवस्थाका, विषयोंमें अवश्य अरुचिका होना स्वतःसिद्ध स्वभाव है ।२६१। इसप्रकार तत्त्वोंको जाननेवाला स्वात्मदर्शी यह सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानमें राग तथा द्वेषका परित्याग करे ।२७१।—दे. राग/६।

सयोग केवली—दे. केवली/१।

सरःशोष कर्म—दे. सावद्य/५।

सरल समीकरण—Simple equation.

सरस्वती पूजा—दे. पूजा।

सरस्वती यन्त्र—दे. यन्त्र।

सरह—महायान सम्प्रदायके एक गूढ़वादी बौद्ध विद्वान्। समय—१००० (प. प्र./प्र./१०३/A, N. Up.)

सरहपा—बौद्धोंके ८४ सिद्धोंमेंसे एक थे। इन्होंने हिन्दी दोहाबद्ध ग्रन्थोंकी रचना की है। समय—७६६-८०६ (हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास ।पृ. २४। कामता प्रसाद)।

सराग संयम—दे. चारित्र/१/१४।

सराग सम्यग्दर्शन—दे. सम्यग्दर्शन/*II*/४।

सरित—अपर विदेहका एक क्षेत्र तथा सुखावह वक्षारका एक कूट।—दे. लोक/५/८।

सर्पिःस्रावी—दे. ऋद्धि/८।

सर्व— रा. वा./२/७/२/५३५/११ सरति गच्छति अशेषानवयवानिति सर्व इत्युच्यते।—अशेष अवयवोंको प्राप्त हो उसे सर्व कहते हैं।

ध. ३/४.१.४/४७ सर्वं विश्वं कृत्स्नम् ।३।...सरति गच्छति आकुञ्चनविसर्पणादीनीति पुद्गलद्रव्यं सर्वं।—विश्व, कृत्स्न ये 'सर्व' शब्दके समानार्थक हैं। अथवा जो आकुंचन और विसर्पण आदिको प्राप्त हो वह पुद्गलद्रव्य सर्व है।

ध. १३/५.५.५३/३२३/८ सव्वं केवलणाणं।—सर्वका अर्थ केवलज्ञान है।

सर्वगंध—उत्तर अरुणाभास द्वीप और अरुणसागरका रक्षक व्यन्तर देव—दे. व्यंतर/४।

सर्वगत—केवलज्ञानसे सर्व लोकालोकको जाननेके कारण जीव सर्वगत या सर्वव्यापी है।

सर्वगतत्व—रा. वा./२/७/१३/११२/२४ असर्वगतत्वमपि साधारणं परमाण्वादीनामविभुत्वात्, धर्मादीनां च परिमितासंख्यातप्रदेशत्वात्। कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम्। यदस्य कर्मोपात्तशरीरप्रमाणानुविधायित्वं तदसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम्; कर्मनिमित्तत्वात्।—'असर्वगतत्व' यह साधारण धर्म है, क्योंकि, परमाणु आदि द्रव्य अव्यापी हैं और धर्म आदि द्रव्य परिमित असंख्यात प्रदेशी हैं। कर्मोदय आदिको अपेक्षाका अभाव होनेसे यह धर्म पारिणामिक भी कहा जा सकता है। जीवके कर्मोंके निमित्तसे जो शरीरप्रमाणपना पाया जाता है वह असाधारण धर्म होते हुए भी पारिणामिक नहीं है, क्योंकि, वह कर्मोंके निमित्तसे होता है।

सर्वगत नय—दे. नय/I/५/४।

सर्वगुप्त—भगवती आराधनाके रचयिता आ. शिवकोटिके गुरु थे। तदनुसार इनका समय—ई. श. १ का पूर्वपाद। (भ. आ./प्र. २-३/प्रेमी जी)।—दे. शिवकोटि।

सर्वज्ञ—दे. केवलज्ञान।

सर्वज्ञत्व शक्ति—स. सा./आ./परि/शक्ति नं. १० विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः।—समस्त विश्वके विशेष भावोंको जाननेरूपसे परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्व शक्ति।

सर्वज्ञात्म मुनि—शंकराचार्यके शिष्य सुरेश्वरके शिष्य। समय—ई. ९००—दे. वेदान्त/१/२।

सर्वघाती प्रकृति—दे. अनुभाग/४।

सर्वघाती स्पर्धक—दे. स्पर्धक।

सर्वचन्द्र—नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप वसुनन्दिके शिष्य तथा वामनन्दिके गुरु थे। समय—वि. ९७५-१००५ (ई. ९१८-९४८); (दे. इतिहास/७/५)।

सर्वतंत्र—दे. सिद्धान्त।

सर्वतोभद्रपूजा—दे. पूजा/१।

सर्वतोभद्र यन्त्र—दे. यंत्र।

सर्वतोभद्र व्रत—१. लघु विधि

पंक्ति नं.						जोड़
१	१	२	३	४	५	=१५
२	४	५	१	२	३	=१५
३	२	३	४	५	१	=१५
४	५	१	२	३	४	=१५
५	३	४	५	१	२	=१५
	१५	१५	१५	१५	१५	=७५

दिखाये गये प्रस्तारमें १ से ५ तकके अंक ५ पंक्तियोंमें इस प्रकार लिखे गये हैं कि ऊपर नीचे आड़े टेढ़े किसी भी प्रकार पंक्तिबद्धसे जोड़नेपर १५ लब्ध आते हैं। पंक्ति नं. १ फिर पंक्ति नं २ आदिमें जितने-जितने अंक लिखे हैं उतने-उतने उपवास क्रमपूर्वक कुल ७५ करे। बीचके स्थानोंमें सर्वत्र एक-एक पारणा करे। त्रिकाल नमस्कार मन्त्रका जाप्य करे। (ह. पु./३४/५२-५५); (व्रत विधान संग्रह/पृ. ६०)।

२. बृहत् विधि

प्रस्तारमें १ से ७ तकके अंक सात पंक्तियोंमें इस क्रमसे लिखे गये हैं कि ऊपर नीचे आड़े टेढ़े किसी प्रकार भी जोड़ने पर २८ लब्ध आता है। प्रथम द्वितीय आदि पंक्तिमें लिखे क्रमसे कुल १९६ उपवास करे।

पंक्ति								जोड़
१	१	२	३	४	५	६	७	—२८
२	३	४	५	६	७	१	२	—२८
३	५	६	७	१	२	३	४	—२८
४	७	१	२	३	४	५	६	—२८
५	२	३	४	५	६	७	१	—२८
६	४	५	६	७	१	२	३	—२८
७	६	७	१	२	३	४	५	—२८
	२८	२८	२८	२८	२८	२८	२८	१९६

बीचके सब स्थानोंमें एक-एक पारणा करे। त्रिकाल नमस्कार मंत्रका जाप्य करे। (ह. पु./३४/५७-५८), (व्रत विधान संग्रह/पृ. ६१)

सर्वतोभद्रा—नन्दीश्वर द्वीपकी उत्तर दिशामें स्थित एक वापी—(दे. लोक/५/११)।

सर्वथा—'सर्वथा' शब्दका सम्यक् व मिथ्या प्रयोग। —दे. एकान्त/१/४

सर्वदर्शित्व शक्ति—स. सा./आ./परि/शक्ति नं. १—विश्वविश्वसामान्यभावपरिणामात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः।६। = समस्त विश्वके सामान्य भावको देखने रूपसे (अर्थात् लोकालोकको सत्तामात्र ग्रहण करनेरूपसे) परिणमित ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्व शक्ति है।

सर्वधन—दे. गणित/II/५/३।

सर्वधारा—दे. गणित/II/५/२।

सर्वनंदि—काशी नरेश सिंहवर्मके समकालीन तथा प्राकृत गाथाबद्ध लोक विभाग नामक ग्रन्थके रचयिता। इस ग्रन्थका संस्कृत रूपान्तर पीछे श्री सिंहनन्दि द्वारा ई. श. ११ में किया गया है। समय:—ई. ४५८ (श. ३८०); (ति. प./प्र. ६ A. N. Up)(जै./२/७)।

सर्वप्रभ—भावीकालीन १५वें तीर्थकर। अपर नाम सर्वात्मभूति व सर्वायुध। —दे. तीर्थंकर/५

सर्वभद्र—यक्ष जातिके व्यंतरदेवोंका एक भेद।—दे. यक्ष।

सर्वरक्षित—एक लौकान्तिक देव —दे. लौकान्तिक।

सर्वरत्न—मानुषोत्तर व रुचक पर्वतपर स्थित एक-एक कूट —दे. लोक/५/१०।

सर्वविद्याप्रकर्षिणी—दे. विद्या।

सर्वविद्याविराजिता—दे. विद्या।

सर्वव्यापी—दे. सर्वगत।

सर्वशून्य—दे. शून्य।

सर्वसंक्रमण—दे. संक्रमण/६।

सर्वसुन्दर—सप्त ऋषियोंमेंसे एक —दे. सप्त ऋषि।

सर्वस्थिति—दे. स्थिति/१/३।

सर्वस्पर्श—दे. स्पर्श/१/५।

सर्वातिचार—दे. अतिचार/३।

सर्वानशन—दे. अनशन।

सर्वानुकम्पा—दे. अनुकम्पा।

सर्वार्थपुर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर —दे. विद्याधर।

सर्वार्थसिद्धा—दे. विद्या।

सर्वार्थसिद्धि विमान—१. अनुदिश तथा अनुत्तर स्वर्ग का इन्द्रक —दे. स्वर्ग/५/३। २. ये देव केवल एक भवावतारी होते हैं। —दे. स्वर्ग/२/१।

रा. वा./४/१९/२/२२४/२२ सर्वार्थानां सिद्धेश्च।
रा. वा./४/२६/१/२४४/११ सर्वार्थसिद्ध इत्यन्वर्थनिर्देशात्। —३. सर्व अर्थोंकी अर्थात् सर्व प्रयोजनोंकी सिद्धि हो जानेसे उनकी 'सर्वार्थसिद्धि' यह अन्वर्थ संज्ञा है।

सर्वार्थसिद्धि व्रत—सप्तमीको धारणाके दिन एकाशना करे। ८–१५ तक ८ उपवास करे और पडिमाको पारणा करे। नमस्कार-मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ८६)

सर्वार्थसिद्धि शास्त्र—आ. पूज्यपाद (ई. श./५) द्वारा विरचित तत्त्वार्थ सूत्रकी विशद वृत्ति है। संस्कृतभाषामें लिखा गया है। इस पर निम्न टीकाएँ उपलब्ध हैं—(१) आ. अकलंक भट्ट (ई. ६२०–६८०) कृत तत्त्वार्थ राजवार्तिक (२) आ. प्रभाचन्द्र नं. ५ (ई. ९५०–१०२०) कृत एक वृत्ति। (३) पं. जयचन्द छाबड़ा (ई. १८०९) कृत भाषा वचनिका। (जै./२/२८०)।

सर्वावधि ज्ञान—दे. अवधिज्ञान/१।

सर्वासंख्यात—दे. असंख्यात।

सर्वौषध ऋद्धि—दे. ऋद्धि/७।

सर्षप फल—तोलका एक प्रमाण —दे. गणित/I/१/२।

सल्लेखना—अतिवृद्ध या असाध्य रोगग्रस्त हो जानेपर, अथवा अप्रतिकार्य उपसर्ग आ पड़नेपर अथवा दुर्भिक्ष आदिके होने पर साधक साम्य भाव पूर्वक अन्तरंग कषायोंका सम्यक् प्रकार दमन करते हुए, भोजन आदिका त्याग करके, धीरे-धीरे शरीरको कृश करते हुए, इसका त्याग कर देते हैं। इसे ही सल्लेखना या समाधि-मरण कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जनोंको यथार्थतः सम्भव होनेसे इसे पण्डित-मरण कहते हैं। शरीरके प्रति जो स्वभावसे ही उपेक्षित हैं, ऐसे श्रावक व साधुको ऐसे अवसरों पर अथवा आयु पूर्ण होनेपर इस ही प्रकारकी वीरतासे शरीरका त्याग योग्य है। इसे आत्म हत्या कहना अनभिज्ञताका सूचक है। सल्लेखनागत साधुको क्षपक कहते हैं। पीड़ाओंके प्रकर्षकी सम्भावना होनेके कारण सल्लेखना विधिमें निर्यापकों, परिचारकों, वैयावृत्ति उपदेश आदिका प्रधान स्थान है।

१. सल्लेखना सामान्य निर्देश

१. सल्लेखना सामान्यका लक्षण

स.सि/७/२२/३६३/१ सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। —अच्छे प्रकारसे काय और कषायका लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है। अर्थात् बाहरी शरीरका और भीतरी कषायोंका, उत्तरोत्तर काय और कषायको पुष्ट करनेवाले कारणोंको घटाते हुए भले प्रकारसे लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है। (स.सि./७/२९/३/५५०/२३); (भ.आ./वि./१५७/-३६१/१२)।

दे. सल्लेखना/२/१ [दुर्भिक्ष आदिके उपस्थित होनेपर धर्मके अर्थ शरीरका त्याग करना सल्लेखना है।]

दे. निक्षेप/५/५/२ [कदलीघातके बिना बहिरंग और अन्तरंग परिग्रहका त्याग करके जीवन व मरणकी आशासे रहित छूटा हुआ शरीर त्यक्त शरीर कहलाता है, जो भक्तप्रत्याख्यान आदिकी अपेक्षा तीन प्रकारका है।]

२. बाह्य व अभ्यन्तर सल्लेखना निर्देश

भ.आ./मू/२०६/४२३ सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव। अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे।२०६। —सल्लेखना दो प्रकारकी है—अभ्यन्तर और बाह्य। तहाँ अभ्यन्तर सल्लेखना तो कषायोंमें होती है और बाह्य सल्लेखना शरीरमें। अर्थात् उपरोक्त लक्षणमें कषायोंको कृश करना तो अभ्यन्तर सल्लेखना है और शरीरको कृश करना बाह्य सल्लेखना है।

पं. का./ता.वृ./१७३/२५३/१७ आत्मसंस्कारानन्तरं तदर्थमेव क्रोधादिकषायरहितानन्तज्ञानादिगुणलक्षणपरमात्मपदार्थे स्थित्वा रागादिविकल्पानां सम्यग्लेखनं तनुकरणं भावसल्लेखना, तदर्थं कायक्लेशानुष्ठानं द्रव्यसल्लेखना, तदुभयाचरणं स सल्लेखनाकालः। —आत्मसंस्कार (दे. काल/१/६) के अनन्तर उसके लिए ही क्रोधादि कषायरहित अनन्तज्ञानादि गुणलक्षण परमात्मपदार्थमें स्थित होकर रागादि विकल्पोंका कृश करना भाव सल्लेखना है, और उस भाव सल्लेखनाके लिए कायक्लेशरूप अनुष्ठान करना अर्थात् भोजन आदिका त्याग करके शरीरको कृश करना द्रव्य सल्लेखना है। इन दोनों रूप आचरण करना सल्लेखना काल है।

३. शरीर कृश करनेका उपाय

भ.आ./मू./२४६-२४९ उल्लीणोलीणेहिं य अहवा एक्कंतवड्ढमाणेहिं। सल्लिहइ मुणी देहं आहारविधि पयणुगितो।२४६। अणुपुव्वेणाहारं संवट्ठंतो य सल्लिहइ देहं। दिवसुग्गहिएण तवेण चावि सल्लेहणं कुणइ।२४७। विविहाहिं एसणाहिं य अवग्गहेहिं विविहेहिं उग्गेहिं। संजममविराहितो जहाबलं सल्लिहइ देहं।२४८। सदि आउगे सदि बले जाओ विविधाओ भिक्खुपडिमाओ। ताओ वि ण बाधंते जहाबलं सल्लिहंतस्स।२४९। —क्रमसे अनशनादि तपको बढ़ाते हुए यतिराज अपने देहको कृश कर शरीर सल्लेखना करते हैं।२४६। क्रमसे आहार कम करते करते क्षपक अपना देह कृश करता है। प्रतिदिन लिये गये नियमके अनुसार कभी उपवास और कभी वृत्तिसंख्यान, इस क्रमसे तपश्चरण कर क्षपक शरीर कृश करता है।२४७। नाना प्रकारके रसवर्जित, अल्प, रूक्ष ऐसे आचाम्ल भोजनोंसे अपने सामर्थ्यके अनुसार क्षपक मुनि देहको कृश करता है। नाना प्रकारके उग्र नियम ले ले कर संयमकी विराधना न करता हुआ स्व शक्ति अनुसार शरीरको कृश करता है।२४८। यदि आयु व देहकी शक्ति अभी काफ़ी शेष हो तो शास्त्रोक्त बारह भिक्षुप्रतिमाओंको (दे. सल्लेखना/४) स्वीकार करके शरीरको कृश करता है। उन प्रतिमाओंसे इस क्षपकको पीड़ा नहीं होती। (विशेष दे. सल्लेखना/३,४)।

४. सल्लेखना आत्महत्या नहीं है

स.सि./७/२२/३६३/५ स्यान्मतमात्मवधः प्राप्नोति; स्वाभिसन्धिपूर्वकायुरादिनिवृत्तेः। नैष दोषः; अप्रमत्तत्वात्। 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्युक्तम्। न चास्य प्रमादयोगोऽस्ति। कुतः। रागाद्यभावात्। रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति। न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषः। —प्रश्न—चूंकि सल्लेखनामें अपने अभिप्रायसे आयु आदिका त्याग किया जाता है, इसलिए यह आत्मघात हुआ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सल्लेखनामें प्रमादका अभाव है। 'प्रमत्तयोगसे प्राणोंका वध करना हिंसा है' यह पहले कहा जा चुका है (दे. हिंसा)। परन्तु इसके प्रमाद नहीं है, क्योंकि, इसके रागादिक नहीं पाये जाते। राग, द्वेष और मोहसे युक्त होकर जो विष और शस्त्र आदि उपकरणोंका प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है उसे आत्मघातका दोष प्राप्त होता है (दे. मरण/४/१)। परन्तु सल्लेखनाको प्राप्त हुए जीवके रागादिक तो हैं नहीं, इसलिए इसे आत्मघातका दोष प्राप्त नहीं होता है। [कहा भी है—रागादिकका न होना ही अहिंसा है (दे. अहिंसा/२/१) और उनकी उत्पत्ति ही हिंसा है (दे. हिंसा/१/१); (रा.वा./७/२२/६-७/५५०/३३) (पु.सि.उ./१७७-१७८); (सा.ध./८/८); (और भी दे. शीर्षक सं. ६)।

५. सल्लेखना जबरदस्ती नहीं करायी जाती

स.सि./७/२२/३६१/४ न केवलमिह सेवनं परिगृह्यते। किं तर्हि प्रीत्यर्थोऽपि। यस्मादसत्यां प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते। सत्यां हि प्रीतौ स्वयमेव करोति।—यहाँ पर (सूत्रमें प्रयुक्त 'जोषिता' शब्दका) केवल 'सेवन करना' अर्थ नहीं लिया गया है, क्योंकि प्रीतिके न रहनेपर बलपूर्वक सल्लेखना नहीं करायी जाती। किन्तु प्रीतिके रहनेपर स्वयं ही सल्लेखना करता है। (रा.वा./७/२२/४/५५०/२६)।

६. संयम रक्षार्थ मरना भी सल्लेखना नहीं

ध.१/१,१,१/२५/१ संजम-विनास-भएण उस्सासणिरोहं काऊण मुद-साहु-सरीरं कत्थ णिवददि ? ण कत्थ वि तहा-मुददेहस्स मंगलत्ता-भावादो।—प्रश्न—संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके मरे हुए साधुके शरीरका त्यक्तशरीरके तीन भेदों (भक्त प्रत्याख्यान आदि) में से किस भेदमें अन्तर्भाव होता है ? उत्तर—ऐसे शरीरका त्यक्तके किसी भी भेदमें अन्तर्भाव नहीं होता है; क्योंकि, इस प्रकारसे मृत शरीरको मंगलपना प्राप्त नहीं होता है।

दे मरण/१/५ [उपरोक्त प्रकारका मरण विप्राणसमरण कहलाता है। वह न अनुज्ञात है और न निषिद्ध।]

७. अभ्यन्तर सल्लेखनाकी प्रधानता

भ.आ./मू/ग. एवं सरीरसल्लेहणाविहिं बहुविहा वि फासेंतो। अज्झव-साणविसुद्धिं खणमवि खवओ ण मुंचेज्ज।२५६। अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थि त्ति। अज्झवसाणकसायसल्लेहणा भणिदा।२५७। अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्ठंपि। कुव्वंति बहिल्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी।२५८। सल्लेहणा-विसुद्धा केई तह चेव विविहसंगेहिं। संथारे विहरंता वि संकिलिट्ठा विवज्जंति।१६७४। —इस प्रकार अनेकविध शरीर सल्लेखनाविधिको करते हुए भी, क्षपक एक क्षणके लिए भी परि-णामोंकी विशुद्धिको न छोड़े।२५६। कषायसे कलुषित मनमें परिणामोंकी विशुद्धि नहीं होती। और परिणामोंकी विशुद्धि ही कषायसल्लेखना कही गयी है।२५१। परिणामोंकी विशुद्धिके बिना उत्कृष्ट भी तप करने वाले साधु ख्याति आदिके कारण ही तप करते हैं, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए उनके परिणामोंकी शुद्धि नहीं होती।२५७। जो साधु शरीरकी सल्लेखना तो निरतिचार कर रहे हैं, परन्तु उनके अन्तरंगमें रागद्वेषादिरूप भाव परिग्रह निवास करता है, वे संस्तरारूढ होते हुए भी परिणामोंकी संक्लेशताके कारण संसारमें भ्रमण करते हैं।१६७४।

सा.ध./८/२३ सल्लेखनासंल्लिखतः कषायान्निष्फला तनोः। कायोऽ-जडैर्दण्डयितुं कषायानेव दण्ड्यते।२३। —जो साधु कषायोंको कृश न करके केवल शरीरको ही कृश करता है, उसका वह शरीरको कृश करना निष्फल है, क्योंकि कषायोंको कृश करनेके लिए ही शरीरको कृश किया जाता है, केवल शरीरको कृश करनेके लिए नहीं।

८. सल्लेखना धारनेकी क्या आवश्यकता

स.सि./७/२२/३६४/१ किंच, मरणस्यानिष्टत्वाद्यथा वणिजो विविध-पण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः। तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति। दुष्परिहारे च पण्य-विनाशो यथा न भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशील-पण्यसंचये प्रवर्तमानः तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति। तदुपप्लव-कारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत।—मरण किसीको भी भी इष्ट नहीं है। जैसे नाना प्रकारकी विक्रेय वस्तुओंके देने, लेने और संचयमें लगे हुए किसी व्यापारीको अपने घरका नाश होना इष्ट नहीं है; फिर भी परिस्थितिवश उसके विनाशके कारण आ उपस्थित हों तो यथाशक्ति वह उनको दूर करता है, इतनेपर भी यदि वे दूर न हो सकें तो, जिससे विक्रेय वस्तुओंका नाश न हो, ऐसा प्रयत्न करता है। उसी प्रकार पण्य स्थानीय व्रत और शीलके संचयमें जुटा हुआ गृहस्थ भी उनके आधारभूत आयु आदिका पतन नहीं चाहता। यदा कदाचित उनके विनाशके कारण उपस्थित हो जायें तो जिससे अपने गुणोंमें बाधा नहीं पड़े, इसप्रकार उनको दूर करनेका प्रयत्न करता है। इतनेपर भी यदि वे दूर न हों तो, जिससे अपने गुणोंका नाश न हो इस प्रकार प्रयत्न करता है, इसलिए इसके आत्मघात नामका दोष कैसे हो सकता है। (रा.वा./७/२२/८/५५१/६); (आ. अनु./२०५); (सा. ध./८/६)।

९. सल्लेखनाके अतिचार

त.सू./७/३७ जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि।३७।—जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये सल्लेखनाके पाँच अतिचार हैं।३७। (र.क.श्रा./१२९);(चा.सा./४९/३); (सा.ध./८/४६)।

१०. सल्लेखनाका महत्त्व व फल

भ.आ./मू./१६४२-१६४५ भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण तत्तो चुदा सुमाणुसे। इड्ढिमतुलं चइत्ता चरंति जिणदेसियं धम्मं।१६४२। सुक्कं लेस्समुवगदा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा। सम्मुक्ककम्मकवया सव्विंति सिद्धिं धुदकिलेसा।१६४५। —स्वर्गोंमें अनुत्तर भोग भोगकर वे वहाँसे च्युत उत्तम मनुष्यभवमें जन्म धारण कर सम्पूर्ण ऋद्धियोंको प्राप्त करते हैं। पीछे वे जिनधर्म अर्थात् मुनि धर्म व तप आदिका पालन करते हैं।१६४२। शुक्ल लेश्याकी प्राप्ति कर वे आराधक शुक्लध्यानसे संसारका नाश करते हैं, और कर्मरूपी कवचको फोड़ कर सम्पूर्ण क्लेशोंका नाश कर मुक्त होते हैं।१६४५। (विशेष दे. सल्लेखना/३/४)।

र.क.श्रा./१३०निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिं। निष्पि-बति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः।१३०। —पिया है धर्मरूपी अमृत जिसने ऐसा सल्लेखनाधारी जीव समस्त प्रकारके दुःखोंसे रहित होता हुआ, अपार दुस्तर और उत्कृष्ट उदयवाले मोक्षरूपी सुखके समुद्रको पान करता है।

प.पु./१४/२०३ गृहधर्ममिमं कृत्वा समाधिप्राप्तपञ्चतः। प्रपद्यते सुदेवत्वं च्युत्वा च सुमनुष्यताम्।२०३। —इस गृहस्थ धर्मका पालनकर जो समाधिपूर्वक मरण करता है, वह उत्तम देवपर्यायको प्राप्त होता है, और वहाँसे च्युत होकर उत्तम मनुष्यत्व प्राप्त करता है।२०३। [पीछे आठ भवोंमें मुक्ति प्राप्त करता है—(दे. अगला शीर्षक)

पु.सि.उ/१७९ नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्। सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम्।१७९। —क्योंकि इस संन्यास मरणमें हिंसाके हेतुभूत कषाय क्षीणताको प्राप्त होते हैं, तिस कारणसे संन्यासको भी श्रीगुरु अहिंसाकी सिद्धिके लिए कहते हैं।१७९।

दे.भ आ/अ.ग./२२४८-२२७९—[सल्लेखनाकी अनेक प्रकारसे स्तुति]

११. क्षपककी भवधारणकी सीमा

भ.आ./मू/गा एक्कम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो। ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूण।६८२। णियमा सिज्झदि उक्कस्सएण वा सत्तमम्मि भवे।२०८६। इय बालपंडियं होदि मरण-मरहंतसासणे दिट्ठं।२०८७। एवं आराधित्ता उक्कस्साराहणं

चदुक्खंधं। कम्मरयविप्पमुक्का तेणेव भवेण सिज्झंति ।२१६०। आराधयित्तु धीरा मज्झिममाराहणं चदुक्खंध। कम्मरयविप्पमुक्का तच्चेण भवेण सिज्झंति ।२१६१। आराधयित्तु धीरा जहण्णमाराहणं चदुक्खंधं। कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमजम्मेण सिज्झंति ।२१६२। – १. जो यति एक भवमें समाधिमरणसे मरण करता है वह अनेक भव धारण कर संसारमें भ्रमण नहीं करता। उसको सात आठ भव धारण करनेके पश्चात् अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होगी ।६८२। (मू.आ./११८)। २. बालपंडित मरणसे मरण करनेवाला श्रावक (दे.मरण/१/४) उत्कृष्टतासे सात भवोंमें नियमसे सिद्ध होता है ।२०८६–२०८७। ३. चार प्रकारके इस (दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप) आराधनाको जो उत्कृष्ट रूपसे आराधता है वह उसी भवमें मुक्त होता है, जो मध्यमरूपसे आराधता है वह तृतीय भवसे मुक्त होता है, और जो जघन्य रूपसे आराधता है वह सातवें भवमें सिद्ध होता है ।२१६०–६२।

प.पु/१४/२०४ भावानामेवमष्टानामन्तः कृत्वानुवर्तनम्। रत्नत्रयस्य निर्ग्रन्थो भूत्वा सिद्धिं समश्नुते ।२०४। –[जो गृहस्थधर्मका पालन कर समाधि पूर्वक मरण करता है– (दे. शीर्षक सं.१०में प.पु./१४/२०३)] ऐसा जीव अधिकसे अधिक आठ भवोंमें रत्नत्रयका पालनकर अन्तमें निर्ग्रन्थ हो सिद्धपदको प्राप्त होता है ।२०४।

धर्मपरीक्षा/११/६६ का भावार्थ—जो सुधी पुरुष कषाय निदान और मिथ्यात्व रहित होकर संन्यासविधिके धारणपूर्वक मरण करते हैं, वे मनुष्य देवलोकमें सुखोंको भोगकर ११ भवके भीतर मोक्षपदको प्राप्त होते हैं।

१२. सल्लेखनामें सम्भव लेश्याएँ

भ.आ./मू./१९१८–१९२१ सुक्काए लेस्साए उक्कस्सं अंसयं परिणमित्ता। जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ।१९१८। जे सेसा सुक्काए दु अंसया जे य पम्मलेस्साए। तल्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ।१९२०। तेजाए लेस्साए ये अंसा तेसु जो परिणमित्ता। कालं करेइ तस्स हु जहण्णियाराधणा भणदि ।१९२१। –शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशसे परिणत होकर मरनेवाला क्षपक उत्कृष्ट आराधक है ।१९१८। शुक्ल लेश्याके शेष मध्यम व जघन्य अंश और पद्मलेश्याके सर्व अंशोंसे परिणमित होकर मरनेवाला मध्यम आराधक है ।१९२०। और पीत लेश्याके सर्व अंशोंसे परिणमित होकर मरनेवाला जघन्य आराधक है।

१३. संस्तर धारण व मरणकालमें परस्पर सम्बन्ध

भ आ./अमितगति कृत प्रशस्ति/पृ.१८७५—

नं.	संस्तरधारण कालका नक्षत्र	मरणकालका नक्षत्र	समय
१	अश्विनी	स्वाति	रात
२	भरणी	रेवती	प्रभात
३	कृत्तिका	उत्तर फाल्गुनी	मध्याह्न
४	रोहिणी	श्रवण	अर्धरात्रि
५	मृगशिर	पूर्व फाल्गुनी	?
६	आर्द्रा	उत्तरा या इससे अगला	दिन
७	पुनर्वसु	अश्विनी	अपराह्न
८	पुष्य	मृगशिर	?
९	आश्लेषा	चित्रा	?
१०	मघा	मघा या इससे अगला	दिन
११	पूर्व फाल्गुनी	धनिष्ठा	दिन
१२	उत्तर फाल्गुनी	मूल	सायं
१३	हस्त	भरणी	दिन
१४	चित्रा	मृगशिर	अर्धरात्रि
१५	स्वाति	रेवती	प्रभात
१६	विशाखा	आश्लेषा	?
१७	आश्लेषा	पूर्वभाद्रपद	दिन
१८	मूल	ज्येष्ठा	प्रभात
१९	पूर्वाषाढ़	मृगशिर	रातका प्रारम्भ
२०	उत्तराषाढ़	उत्तराषाढ़ अथवा भाद्रपद	अपराह्न
२१	श्रवण	उत्तरभाद्रपद	दिन
२२	धनिष्ठा	धनिष्ठा या उससे अगला	दिन
२३	शतभिषज	ज्येष्ठा	सूर्यास्त
२४	पूर्वभाद्रपद	पुनर्वसु	रात
२५	उत्तर भाद्रपद	उत्तरभाद्रपद	दिन या रात
२६	रेवती	मृगशिर	?

१४. सल्लेखनाका स्वामित्व

रा.वा./७/२२/१४/५५२/३ अयं सल्लेखनाविधि. न श्रावकस्यैव दिग्विरत्यादि शीलवत.। किं तर्हि। संयतस्यापीति अविशेषज्ञापनार्थत्वात् पृथगुपदेशः कृत'। –यह सल्लेखनाविधि शीलव्रतधारी गृहस्थको ही नहीं है, किन्तु महाव्रती साधुके भी होती है। इस सामान्य नियमकी सूचना पृथक् सूत्र बनानेसे मिल जाती है।

दे. सल्लेखना/२/१ में भ.आ./७४-[गृहस्थ व साधु दोनों ही भक्तप्रत्याख्यानके योग्य समझे जाते हैं।]

दे. सल्लेखना/१/८/ [गृहस्थ भी व्रत और शीलोंकी रक्षा करनेके लिए सल्लेखना धारण करता है]

दे. सल्लेखना/२/४ [श्रावक प्रीति पूर्वक मारणान्तिकी सल्लेखना धारण करता है।]

दे. सल्लेखना/२/७ में पु.सि.उ./१७६ ['मैं मरण कालमें अवश्य समाधिमरण करूँगा' श्रावकको ऐसी भावना नित्य भानी चाहिए।]

दे. मरण/१/४ [भक्त प्रत्याख्यान आदि पंडित मरण मुनियोंको होता है।]

१५. सभी व्रतियोंको सल्लेखना आवश्यक नहीं

रा.वा./७/२२/१२/५५१/३४ स्यादेतत्–पूर्वसूत्रेण सह एक एव योगः कर्तव्यः लघ्वर्थ इति: तन्न; किं कारणम्। कदाचित् कस्यचित् तां प्रत्याभिमुख्यज्ञापनार्थत्वात्। व्रतशीलवतः कदाचित् कस्यचित् गृहिणः सल्लेखनाभिमुख्यं न सर्वस्येति। –प्रश्न—इस सूत्रको पहले सूत्रके साथ ही मिला देना योग्य था, क्योंकि, ऐसा करनेसे सूत्र छोटा हो जाता? उत्तर— नहीं, क्योंकि, कभी-कभी तथा किसी किसीको ही सल्लेखनाकी अभिमुखता होती है, यह बात बतानेके लिए पृथक् सूत्र बनाया गया है। सात शील व्रतोंको धारनेवाला कोई एक आध गृहस्थ ही कदाचित् सल्लेखनाके अभिमुख होता है, सब नहीं।

दे. अथालंद–[जो साधु बल, वीर्य, धैर्य व स्थिरतामें हीन होनेके कारण परिहार विधि या भक्त प्रत्याख्यान आदि विधियोंको धारण करनेमें समर्थ नहीं हैं, वे अथालंद विधिको धारण करते हैं।]

११. सल्लेखनाके लिए हेमन्त ऋतु उपयुक्त है

भ.आ./मू./६३१/८३२ एवं वासारत्ते फासेदूण विविधं तवोकम्मं। संथारं पडिवज्जदि हेमंते सुहविहरंम्मि ।६३१। –इस प्रकारसे वर्षाकालमें नाना प्रकारके तप कर वह क्षपक जिसमें अनशनादि करने पर भी महान् कष्टका अनुभव नहीं आता है, ऐसे हेमन्तकालमें संस्तरका आश्रय करता है ।६३१।

२. सल्लेखनाके योग्य अवसर

१. सल्लेखना योग्य शरीर क्षेत्र व काल

भ.आ./मू./७१–७४ वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य समण्णजोग्गहाणिकरी। उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्स ।७१। अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स। दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ।७२। चक्खुं वा दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स। जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ।७३। अण्णम्मि चावि एदारिसंम्मि आगाढकारणे जादे। अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ।७४। –महाप्रयत्नसे चिकित्सा करने योग्य ऐसा कोई दुरुत्तर रोग होनेपर, श्रामण्यकी हानि करनेवाली अतिशय वृद्धावस्था आनेपर, अथवा निःप्रतिकार देव मनुष्य व तिर्यंचकृत उपसर्ग आ पड़नेपर ।७१। (लोभ आदिके वशीभूत हुए ऐसे) अनुकूल शत्रु जब चारित्रका नाश करनेको उद्युक्त हो जायें, भयंकर दुष्काल आ पड़नेपर, हिंसक पशुओंसे पूर्ण भयानक वनमें दिशा भूल जानेपर ।७२। आँख, कान व जंघा बल अत्यन्त क्षीण हो जानेपर ।७३। तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी तत्सदृश कारणोंके होनेपर मुनि या गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान (शरीर त्याग) के योग्य समझे जाते हैं ।७४।

र.क.श्रा./१२२ उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ।१२२। –निष्प्रतिकार उपसर्ग आनेपर, दुर्भिक्ष होनेपर, बुढ़ापा आनेपर, और मृत्युदायक रोग होनेपर धर्मार्थ शरीर छोड़नेको सल्लेखना कहते हैं ।१२२। (चा.सा./४८/१)

रा.वा./७/२२/११/५५१/२८/ जरारोगेन्द्रियहानिभिरावश्यकपरिक्षये ।११। –जरा, रोग, इन्द्रिय व शरीर बलकी हानि तथा षडावश्यकका नाश होनेपर सल्लेखना होती है।

सा.ध./८/६–१० कालेन वोपसर्गेण निश्चित्यायुः क्षयोन्मुखं। कृत्वा यथाविधि प्रायं तास्ताः सफलयेत्क्रियाः ।६। देहादिवैकृतैः सम्यग्निमित्तैश्च सुनिश्चिते। मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदं ।१०। –स्वकाल पाकद्वारा अथवा उपसर्ग द्वारा निश्चित रूपसे आयुका क्षय सम्मुख होनेपर यथाविधि रूपसे सन्यासमरण धारकर सकल क्रियाओंको सफल करना चाहिए ।६। जिनके होनेपर शरीर ठहर नहीं सकता ऐसे सुनिश्चित देहादि विकारोंके होनेपर, अथवा उसके कारण उपस्थित हो जानेपर अथवा आयुका क्षय निश्चित हो जाने पर निश्चयसे आराधनाओंके चिन्तवन करनेमें मग्न होता है, उसे मोक्ष पद दूर नहीं ।१०।

दे. सल्लेखना/३/१० [स्व कालपाकवश आयु क्षय होनेपर सविचार भक्त प्रत्याख्यान धारा जाता है और अकस्मात् आयुक्षय होने पर अविचार भक्त प्रत्याख्यान धारा जाता है।]

२. निर्यापककी उपलब्धिकी अपेक्षा

भ.आ./मू./७५/२०४ उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणदिचारं वा। णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ।७५।

भ.आ./वि./७५/२०५/१ इदानीमहं यदि न त्यागं कुर्यां निर्यापकाः पुनर्न लप्स्यन्ते सूरयस्तदभावे नाहं पण्डितमरणमाराधयितुं शक्नोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्यानार्ह एव। –जिस मुनीश्वरका चारित्रपालन सुखपूर्वक व निरतिचार हो रहा है, तथा जिसका निर्यापक भी सुलभ हो और जिसे दुर्भिक्ष आदिका भी भय न हो, ऐसा मुनीश्वर यद्यपि भक्त प्रत्याख्यानके अयोग्य है ।७५। तो भी 'इस समय यदि मैं भक्तप्रत्याख्यान न करूँ और आगे यदि निर्यापकाचार्य कदाचित् न मिले तो मैं पंडितमरण न साध सकूँगा' ऐसा जिसको भय हो तो वह मुनि भक्त प्रत्याख्यानके योग्य ही है।

३. योग्य कारणोंके अभावमें सल्लेखना धारनेका निषेध

भ.आ./मू./७६/२०५ तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो। सो मरणं पच्छिंतो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो ।७६। –पूर्वमें कहे गये सर्व भयोंके उपस्थित न होनेपर भी जो मुनि मरणकी इच्छा करेगा, वह मुनि चारित्रसे विरक्त है ऐसा समझना चाहिए।

दे. शीर्षक नं. २–[जिसका चारित्र निर्विघ्न पल रहा है और जिसे निर्यापक भी सुलभ हैं और दुर्भिक्ष आदिका भी भय नहीं है, वह भक्तप्रत्याख्यानके अयोग्य है।]

४. अन्त समयमें धारनेका निर्देश

त.सू./७/२२ मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ।२२।

स.सि./७/२२/३६२/१२ 'अन्तग्रहणं' तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थम्। मरणमन्तो मरणान्तः। स प्रयोजनमस्येति मारणान्तिकी। –तथा वह श्रावक मारणान्तिक सल्लेखनाका प्रीति पूर्वक सेवन करनेवाला होता है। उसी भवके मरणका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें मरण शब्दके साथ अन्त पदका ग्रहण किया है। मरण यही अन्त मरणान्त है और जिसका यह मरणान्त ही प्रयोजन है वह मारणान्तिकी कहलाती है। (रा.वा./७/२२/२/५५०/२१); (चा.सा./४७/५)

दे. श्रावक/१/३/ [अन्त समय समाधिमरण धरनेवाला श्रावक साधक कहलाता है।]

५. अन्त समयकी प्रधानताका कारण

भ.आ./मू./गा. जो जाए परिणमित्ता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं। तल्लेस्सो उववज्जइ तल्लेस्से चेव सो सग्गे ।१६२२। जदि दा सुभाविदप्पा वि चरिमकालम्मि संकिलेसेण। परिवडदि वेदणट्ठो खवओ सथारमारूढो ।१६४८। सुचिरमवि णिरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते। मरणे विराधयित्ता अणंतससारिओ दिट्ठो ।१५। –जो जीव जिस लेश्यासे परिणत होकर मरणको प्राप्त होता है, वह उत्तर भवमें उसी लेश्याका धारक होकर स्वर्गमें उत्पन्न होता है ।१६२२। जिसने आत्माको आराधनाओंसे सुसंस्कृत किया था, तो भी मरण-समय संक्लेशपरिणामोंकी उत्पत्ति होनेसे वह संस्तरपर आरूढ हुआ श्रमण सन्मार्गसे भ्रष्ट होता है ।१६४८। पूर्वमें न आराधी गयी रत्नत्रयकी आराधनाको यदि अन्तकालमें कोई भाये तो वह जीव स्थाणुके दृष्टान्तको प्राप्त होता है (अर्थात् जैसे अन्धेको स्तम्भसे टकराकर नेत्र खुल जानेसे भाग्य वश वहाँसे रत्नप्राप्ति हो जाय ऐसे ही उसे समझना ।२४।)

सा.ध./८/१६ आराद्धोऽपि चिरं धर्मो विराद्धो मरणे मुधा। स त्वाराद्धस्तत्क्षणेंऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितं ।१६। –चिर कालसे आराधन किया हुआ धर्म भी यदि मरनेके समय छोड़ दिया जाय वा उसकी

विराधना की जाय तो वह निष्फल हो जाता है। और यदि मरनेके समय उस धर्मकी आराधना की जाय तो वह चिर कालके उपार्जित पापोंका भी नाश कर देता है।

६. परन्तु केवल अन्त समयमें धरना अत्यन्त कठिन है

भ.आ./मू. व. वि./२४/८३ चिरमभावितरत्नत्रयाणामन्तर्मुहूर्तकाल-भावनानां सिद्धिरिष्यते तत्किं चिरभावनयेत्यस्योत्तरमाचष्टे—'पुव्वमभाविदजोग्गो आराधेज्ज मरणे जदि वि कोई। खण्णुग-दिट्ठंतो सो तं खु पमाणं ण सव्वत्थ।२४। —जिन्होंने बहुत काल-पर्यंत रत्नत्रयका आराधन नहीं किया परन्तु केवल अंतर्मुहूर्त कालपर्यन्त ही आराधन किया है, उनको भी मोक्षलाभ हो गया है। अतः चिरकाल पर्यन्त रत्नत्रयकी भावना आवश्यक नहीं है? उत्तर—पूर्व कालमें जिस जीवने रत्नत्रयका कभी आराधन नहीं किया है, वह मरणसमय उसकी आराधना करले, ऐसा व्यक्ति स्थाणुके दृष्टान्त-को प्राप्त होता है। अर्थात् बिलकुल उस अन्धे व्यक्तिकी भाँति है जो कि अकस्मात् स्थाणुसे सर टकरा जानेके कारण नेत्रवान हो गया है और साथ ही उस स्थाणुकी जड़में पड़े रत्नका लाभ भी जिसे हो गया हो।२४।

७. अतः सल्लेखनाकी भावना व अभ्यास जीवन पर्यन्त करना योग्य है

भ. आ./मू./१८-२१ जदि पवयणस्स सारो मरणे आराहणा हवदि दिट्ठा। किं दाइं सेसकाले जदि जइदि तवे चरित्ते य।१८। आराहणाए कज्जे परियम्मं सव्वदा वि य कायव्वं। परियम्मभाविदस्स हु सुहसज्झा-राहणा होइ।१९। जह रायकुलपसूओ जोग्गं णिच्चमवि कुणइ परि-कम्मं। तो जिदकरणो जुद्धे कम्मसमत्थो भविस्सदि हि।२०। इय सामण्णं साधू वि कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्मं। तो जिदकरणो मरणे झाणसमत्थो भविस्संति।२१। —प्रश्न—आगमकी सारभूत रत्न-त्रयपरिणति मरणकालमें यदि होती हुई देखी जाती है तो उससे भिन्न कालमें चारित्र व तपश्चरण करने की क्या आवश्यकता है? ।१८। उत्तर—मरण समयमें रत्नत्रयकी सिद्धिके लिए सम्यग्दर्शनादि कारणकलाप सामग्रीकी अवश्य प्राप्ति कर लेना चाहिए, अर्थात् उसका सर्वदा अभ्यास करना योग्य है, क्योंकि ऐसा करनेवालेको मरण समयमें सुखपूर्वक अर्थात् बिना क्लेशके उस आराधनाकी सिद्धि हो जाती है।१९। जैसे राजपुत्र शस्त्रविद्याका नित्य अभ्यास करता है और उसीसे वह युद्धमें उस प्रकारका कर्म करनेको समर्थ होता है।२०। इसी प्रकार साधु भी आराधनाके योग्य नित्य अभ्यास करता है, इसीसे वह जितेन्द्रिय होता हुआ मरण समय ध्यान करनेको समर्थ हो जाता है।२१।

पु. सि. उ./१७५-१७६ इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्। सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या।।१७५। मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि। इति भावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदं शीलम्।१७६। —यह एक ही सल्लेखना मेरे धर्मरूपी धनको मेरे साथ ले चलनेको समर्थ है। इस प्रकार भक्ति करके मरणान्त सल्लेखनाको निरन्तर भावना चाहिए।१७५। मैं मरणकालमें अवश्य ही शास्त्रोक्त विधिसे समाधिमरण करूँगा इस प्रकार भावनारूप परिणति करके मरणकाल प्राप्त होनेके पहले ही यह सल्ले-खनाव्रत पालना चाहिए।१७६। (सा. ध/७/५७)

सा. ध./८/१८-३१ सम्यग्भावितमार्गोऽन्ते स्यादेवाराधको यदि। प्रति-रोधि सुदुर्वारं किंचिन्नोदेति दुष्कृतम्।१८। प्रस्थितो यदि तीर्थाय म्रियते वान्तरे तदा। अस्त्येवाराधको यस्माद्भावना भवनाशिनी।३१। —यदि कोई दुर्निवार प्रतिरोधी कर्म उदयमें न आवे तो सम्यक् प्रकारसे पूर्वमें भावित रत्नत्रयके कारण वह अन्तकालमें अवश्य ही आराधक होता है।१८। तीर्थ क्षेत्र या निर्यापकके प्रति प्रारम्भ कर दिया है गमन जिसने, ऐसा व्यक्ति यदि मार्गमें मरणको प्राप्त हो जाये तो भी उस भावनाके कारण आराधक ही गिना जाता है, क्योंकि भावना भवनाशिनी होती है।३०।

८. अन्त समय व जीवन पर्यन्तकी आराधनाका समन्वय

भ. आ./वि./१८/६८/६ मरणे या विराधना सा महती संसृतिमावहति। अन्यदा जातायामपि विराधनायां मृतकाले रत्नत्रयोपगतौ संसारो-च्छित्तिर्भवत्येव ततो मरणकाले प्रयत्नः कार्य इत्यस्माभिरुप-न्यस्तम्। इतरकालवृत्तं तु रत्नत्रयं संवरनिर्जरयोर्घातिकर्मणां च क्षयकारणनिमित्तं इतीष्यत एव। —मरण समयमें रत्नत्रयकी विरा-धना करनेसे विराधकको दीर्घकालतक संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। परन्तु दीक्षा, शिक्षा आदि काल (दे. काल) में विराधना हो गयी हो तो भी मरणकालमें रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जानेसे संसारका नाश हो जाता है। अतः मरणकालमें रत्नत्रयमें परिणति करनी चाहिए। ऐसा हमारा अभिप्राय है। परन्तु इतर कालोंमें की गयी आराधना भी विफल नहीं होती, उससे कर्मका संवर व निर्जरा होती है, तथा घाती कर्मोंके क्षय करनेमें वह निमित्त होगी, ऐसा हम सम-झते हैं।

३. भक्तप्रत्याख्यान आदि विधि निर्देश

१. सल्लेखनामरणके व विधिके भेद

दे. मरण/१/४ [पण्डितमरण तीन प्रकार है—भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी व प्रायोपगमन। भक्तप्रत्याख्यान दो प्रकार है—सविचार व अविचार। अविचार तीन प्रकार है—निरुद्धतर व परम निरुद्ध। निरुद्ध दो प्रकार है—प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप।]

भ. आ./मू./१५५/३५२ किण्णु अधालंदविधी भत्तपइण्णेंगिणी य परि-हारो। पादोवगमणजिणकप्पियं च विहरामि पडिवण्णो।१५५। —अथालन्द विधि, भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनीमरण, परिहार विशुद्धि, चारित्र, पादोपगमन, मरण और जिनकल्पावस्था, इनमेंसे कौन-सी अवस्थाका आश्रय कर मैं रत्नत्रयमें विहार करूँ ऐसा विचार करके साधुको धारण करने योग्य अवस्थाको धारण करके समाधिमरण करना चाहिए।

२. भक्त प्रत्याख्यान आदि तीनके लक्षण

ध. १/१,१,१/२३/४ तत्रात्मपरोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनम्। आत्मोप-कारसव्यपेक्षं परोपकारनिरपेक्षं इंगिनीमरणम्। आत्मपरोपकारसव्य-पेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति। —[भोजनका क्रमिक त्याग करके शरीर-को कृश करनेकी अपेक्षा तीनों समान हैं। अन्तर है शरीरके प्रति उपेक्षा भावमें] तहाँ अपने और परके उपकारकी अपेक्षा रहित समाधिमरणको प्रायोपगमन विधान कहते हैं। जिस संन्यासमें अपने द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है किन्तु दूसरेके द्वारा किये गये वैयावृत्य आदि उपकारकी अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती, उसे इंगिनी समाधि कहते हैं। जिस संन्यासमें अपने और दूसरे दोनोंके द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है, उसे भक्तप्रत्याख्यान सन्यास कहते हैं। (भ. आ/वि/२०६४/१८११); (गो.क/मू./६१/५७); (चा. सा./१५४/४); (भा. पा./टी./३२/१४६/१४)

भ. आ./वि./२९/११३/६ पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणम्। इतरमरणयोरपि पादाभ्यामुपगमनमस्तीति नैवि-ध्यानुपपत्तिरिति चेन्न, मरणविशेषे वक्ष्यमाणलक्षणं रूढिरूपेणायं प्रवर्तते......। अथवा पाउग्गगमणमरणं इति पाठः। भवान्तकरण-प्रायोग्यं संहननं संस्थानं च इह प्रायोग्यशब्देनोच्यते। अस्य गमनं प्राप्तिः, तेन कारणभूतेन यन्निर्वर्त्यं मरणं तदुच्यते पाउग्गगमण-

मरणमिति। भज्यते सेव्यते इति भक्तं, तस्य पइण्णा त्यागो भत्त-पइण्णा। इतरयोरपि भक्तप्रत्याख्यानसंभवेऽपि रूढिवशान्मरणविशेषे एव शब्दोऽयं प्रवर्तते। इंगिनीशब्देन इंगितमात्मनो भण्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिनीमरणं। – पादोपगमन इसका शब्दार्थ, 'अपने पाँवके द्वारा संघसे निकलकर और योग्य प्रदेशमें जाकर जो मरण किया जाता है वह पादोपगमन मरण है। इतर मरणोंमें भी यद्यपि अपने पाँवसे चलकर मरण करना समान है, परन्तु यहाँ रूढिका आश्रय लेकर मरण विशेषमें ही यह लक्षण घटित किया है, इसलिये मरणके तीन भेदोंकी अनुपपत्ति नहीं बनती है। अथवा गाथामें 'पाओग्गगमणमरणं' ऐसा भी पाठ है। उसका ऐसा अभिप्राय है कि भवका अन्त करने योग्य ऐसे संस्थान और संहननको प्रायोग्य कहते हैं। इनकी प्राप्ति होना प्रायोग्यगमन है। अर्थात् विशिष्ट संस्थान व विशिष्ट संहनन वाले ही प्रायोग्य अंगीकार करते हैं। भक्त शब्दका अर्थ आहार है और प्रतिज्ञा शब्दका अर्थ त्याग होता है। अर्थात आहारका त्याग करके मरण करना वह भक्त-प्रत्याख्यान है। यद्यपि आहारका त्याग इतर दोनों मरणोंमें भी होता है, तो भी इस लक्षणका प्रयोग रूढिवश मरण विशेषमें ही कहा गया है। स्व अभिप्रायको इंगित कहते हैं। अपने अभिप्रायके अनुसार स्थित होकर प्रवृत्ति करते हुए जो मरण होता है उसी को इंगिनीमरण कहते हैं।

३. तीनोंके योग्य संहनन काल व क्षेत्र

भ. आ./वि./६४/११०/८ मरणं सा चैव भक्तप्रत्याख्यानमृतिरेव।…एदंहि काले…। संहननविशेषसमन्वितानां इतरमरणद्वयं। न च संहनन-विशेषाः वज्रऋषभनाराचादयः अद्यत्वेऽमुष्मिन्क्षेत्रे सन्ति नृणानां।… यदि ते वर्तयितुं इदानींतनानामसामर्थ्यं किं तदुपदेशेनेति चेत् स्वरूपपरिज्ञानात्सम्यग्ज्ञानं।

भ. आ./वि./२०४१/१७७६/१७ आद्येषु त्रिषु संहननेषु अन्यतमसंहनन: शुभसंस्थानोऽभेद्यधृतिकवचो जितकरणो जितनिद्रो नितरां शूरः। –१. भक्तप्रत्याख्यान मरण ही इस कालमें उपयुक्त है। इतर दो अर्थात् इंगिनी व प्रायोपगमनमरण संहनन विशेष वालोंके ही होते हैं। वज्रऋषभ आदि वे संहनन विशेष इस पंचमकालमें इस भरतक्षेत्रमें मनुष्योंमें होते नहीं हैं। यद्यपि इंगिनी व प्रायोपगमनकी सामर्थ्य इस कालमें नहीं है, फिर भी उनके स्वरूपका परिज्ञान करानेके लिए उनका उपदेश दिया गया है। २. इंगिनीमरणके धारक मुनि पहिले तीन (अर्थात् वज्रऋषभ नाराच, वज्रनाराच और नाराच) संहननोंमें-से कोई एक संहननके धारक रहते हैं। उनका शुभ संस्थान रहता है। वे निद्राको जीतते हैं। महाबल व शूर रहते हैं।

४. तीनोंके फल

भ. आ./मू./गा. इयमुक्कस्सियमाराधणमणुपालेत्तु केवली भविया। लोगग्गसिहरवासी हवंति सिद्धा धुयकिलेसा ।१६२६। इयमज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरयं हिच्चा। हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ।१६३३। दंसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपधाणा य। इरियावहपडिवण्णा हवंति लवसत्तमा देवा ।१६३४। जे वि हु जहण्णियं तेउलेस्समाराहणं जवणमंति। ते वि हु सोधम्माइसु हवंति देवा ण हेट्ठिल्ला ।१६४०। एवमधक्खादविधि साधित्ता इंगिणी धुदकिलेसा। सिज्झंति केइ केई हवंति देवा विमाणेसु ।२०६१। –इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानकी उत्कृष्ट आराधनाका पालन कर केवलज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं। सम्पूर्ण कर्मक्लेशसे मुक्त होकर लोकाग्र शिखरवासी सिद्ध परमेष्ठी होते हैं ।१६२६। उसी भक्तप्रत्याख्यानकी मध्यम आराधनाका पालन कर शरीरका त्याग करनेवाले मुनिराज विशुद्ध लेश्याको धारण कर अर्थात् उत्कृष्ट शुक्ललेश्याके स्वामी बनकर अनुत्तरवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं ।१६३३। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पालनेमें पूर्ण दक्ष, उत्कृष्ट तप ध्यान वगैरह नियमोंके धारक, ईर्यापथको जिन्होंने प्राप्त किया है अर्थात् कल्पवासी देवत्वकी प्राप्ति योग्य शुभास्रवको जो प्राप्त हो गये हैं ऐसे मुनिराज लवसत्तम देव होते हैं। अर्थात् मरकर नवग्रैवेयक, अनुदिश विमानमें रहनेवाले देव हो जाते हैं ।१६३४। तेजोलेश्याके धारक ऐसे क्षपककी भक्तप्रत्याख्यान आराधनाको जघन्य आराधना कहते हैं। इस आराधनाके आराधक क्षपक सौधर्मादिक स्वर्गोंमें देव होते हैं। इन देवोंसे हीन देवोंमें इनका जन्म नहीं होता ।१६४०। यहाँ तक जो इंगिनी मरणकी विधि कही है, उसको सिद्ध करके कोई मुनि सम्पूर्ण कर्मक्लेशोंको दूर करके मुक्त होते हैं। और कोई वैमानिक देव होते हैं ।२०६१।

५. भक्त प्रत्याख्यानकी जघन्य व उत्कृष्ट कालावधि

भ. आ./मू. २५२/४७४ उक्कस्सेण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिहिट्ठो। कालम्मि संपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि ।२५२। –आयुष्काल अधिक होने पर अर्थात् भक्त प्रतिज्ञाका उत्कृष्ट कालप्रमाण जिनेन्द्र भगवान्‌ने बारह वर्ष प्रमाण कहा है ।२५२।

ध. १/१,१,१/२४/१ तत्र भक्तप्रत्याख्यानं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यम-भेदात्। जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्। उत्कृष्टभक्तप्रत्याख्यानं द्वादश-वर्षप्रमाणम्। मध्यमेतयोरन्तरालमिति। –भक्तप्रत्याख्यान विधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी है। जघन्यका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है। उत्कृष्टका बारह वर्ष है। इन दोनोंके अन्तरालवर्ती सर्व कालप्रमाण मध्यम भक्तप्रत्याख्यानका है। (गो. क./मू./५६-६०/५७); (चा सा./१५४/४); (अन. ध./७/१०१/७२६)

६. साधुओंके लिए भक्त प्रत्याख्यानकी सामान्य विधि

मू. आ./१०६-१११ सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च। सव्वम-दत्तादाणं मेहुण्ण परिग्गहं चेव ।१०६। सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि। आसाए वोसरित्ताणं समाधिं पडिवज्जए ।११०। सव्वं आहारविहिं सण्णाओ आसाए कसाए य। सव्वं चेय ममत्तिं जहामि सव्वं खमावेमि ।१११। –संक्षेपसे प्रत्याख्यान करनेवाला ऐसी प्रतिज्ञा करता है, कि मैं सर्व प्रथम हिंसादि पाँचों पापोंका त्याग करता हूँ ।१०६। मेरे सब जीवोंमें समता भाव है, किसीके साथ भी मेरा वैर नहीं है इसलिए मैं सर्व आकांक्षाओंको छोड़कर समाधि (शुद्ध) परिणामको प्राप्त होता हूँ ।११०। मैं सब अन्नपान आदि आहारकी अवधिको, आहार संज्ञाको, सम्पूर्ण आशाओंका, कषायोंका और सर्व पदार्थोंमें ममत्व भावका त्याग करता हूँ ।१११। (दे. संस्कार/२ में ११वीं क्रिया)

दे. सल्लेखना/३/६ [जीवितका सन्देह होने पर तो 'उपसर्ग टलने पर पारणा कर लूँगा' ऐसा आहारत्याग करता है, और मरण निश्चित होने पर सर्वथा आहारका त्याग करता है।]

७. समर्थ श्रावकोंके लिए भक्त प्रत्याख्यानकी सामान्य विधि

र. क. श्रा./१२४-१२८ स्नेहं वैरं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः। स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः ।१२४। आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजं। आरोपयेन्महाव्रतमामरण-स्थायि निःशेषं ।१२५। शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा। सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ।१२६। आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानं। स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ।१२७। खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या। पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ।१२८। –[सल्लेखना धारण करनेवाला शीत उष्णमें हर्ष विषाद न करे—(चा. सा.)] स्नेह, वैर, परिग्रहको छोड़कर शुद्ध होता हुआ प्रिय वचनोंसे अपने

कुटुम्बियों और चाकरोंसे भी क्षमा करावे और आप भी सबको क्षमा करे।१२४। छलकपट रहित और कृत कारित अनुमोदना सहित किये हुए समस्त पापोंकी आलोचना करके मरण पर्यन्त रहनेवाले समस्त महाव्रतोंको धारण करे।१२५। शोक, भय, विषाद, राग कलुषता और अरतिको त्याग करके तथा अपने बल और उत्साहको प्रगट करके संसारके दुःखरूपी संतापको दूर करनेवाले अमृतरूप शास्त्रोंके श्रवणसे मनको प्रसन्न करे।१२६। क्रम क्रमसे आहारको छोड़कर दुग्ध वा छाछको बढ़ावे और पीछे दुग्धादिकको छोड़कर कांजी और गरम जलको बढ़ावे।१२७। तत्पश्चात् उष्ण जलपानका भी त्याग करके और शक्त्यनुसार उपवास करके पंचनमस्कार मन्त्रको मनमें धारण करता हुआ शरीरको छोड़े।१२८। (चा. सा./४८/२); (सा. ध /८/१७,६४,६५,६७); (विशेष दे. सल्लेखना/४)।

८. असमर्थ श्रावकोंके लिए भक्तप्रत्याख्यानकी सामान्य विधि

वसु. श्रा./२७१-२७२ धरिऊण वत्थमेत्तं परिग्गहं छंडिऊण अवसेसं। सगिहे जिणालए वा तिविहाहारस्स वोसरणं।२७१। जं कुणइ गुरुसयासम्मि सम्ममालोइऊण तिविहेण। सल्लेखणं चउत्थं सुत्ते सिक्खावयं भणियं।२७२।—[उपरोक्त दोनों शीर्षकोंमें कथित राग द्वेषका त्याग, समता धारण और परिजनों आदिसे क्षमा आदिकी यहाँ भी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए] वस्त्रमात्र परिग्रहको रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रहको छोड़कर अपने ही घरमें अथवा जिनालयमें रहकर जो श्रावक गुरुके समीपमें मन वचन कायसे अपनी भले प्रकार आलोचना करके पानके सिवाय शेष तीन प्रकारके आहार-का (खाद्य, स्वाद्य और लेह्य इन तीनका) त्याग करता है, उसे उपासकाध्ययन सूत्रमें सल्लेखना नामका चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है।२७१-२७२।

सा. ध./८/६६—व्याध्याद्यपेक्षयाम्भो वा समाध्यर्थं विकल्पयेत्। भृशं शक्तिक्षये जह्यात्तदप्यासन्नमृत्युकः।६६।—व्याधि आदिकी अपेक्षासे समाधिमें निश्चल होनेके लिए उस क्षपकको गुरुकी आज्ञानुसार केवल पानी पीनेकी प्रतिज्ञा रख लेनी चाहिए। और मृत्युका समय निकट आनेपर जब शरीरकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाय तब उसे जलका भी त्याग कर देना चाहिए।६६। (और भी दे. सल्लेखना/४/११/३)।

दे. मरण/१/४ [बिना सल्लेखना धारण किये अपने घरमें ही संस्तरारूढ हो साम्यता पूर्वक शरीरको त्यागना बालपण्डित मरण है]।

९. मृत्युका संशय या निश्चय होनेकी अपेक्षा भक्त-प्रत्याख्यान विधि

मू. आ./११२-११४ एदम्हि देसयाले उवक्कमो जीविदस्स, जदि मज्झं। एदं पच्चक्खाणं णित्थिण्णे पारणा होज्ज।११२। सव्वं आहारविहिं पच्चक्खामी य पाणयं वज्ज। उवहिं च वोसरामि य दुविहं तिविहेण सावज्जं।११३। जो कोइ मज्झ उवधी सब्भंतरबाहिरो य हवे। आहारं च सरीरं जावज्जीवं य वोसरे।११४।—जीवितमें सन्देह होनेकी अवस्थामें ऐसा विचार करे कि इस देशमें इस कालमें मेरा जीनेका सद्भाव रहेगा तो ऐसा त्याग है कि जब तक उपसर्ग रहेगा तब तक आहारादिकका त्याग है। उपसर्ग दूर होनेके पश्चात् यदि जीवित रहा तो फिर पारणा करूँगा।११२। [पर जहाँ निश्चय हो जाय कि इस उपसर्गादिमें मैं नहीं जी सकूँगा वहाँ ऐसा त्याग करे।] मैं जलको छोड़ अन्य तीन प्रकारके आहारका त्याग करता हूँ। बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहको तथा मन वचन कायकी पाप क्रियाओंको छोड़ता हूँ।११३। जो कुछ मेरे अभ्यन्तर बाह्य परिग्रह है उसे तथा चारों प्रकारके आहारोंको और अपने शरीरको यावज्जीवन छोड़ता हूँ। यही उत्तमार्थ त्याग है।११४।

१०. सविचार व अविचार भक्त प्रत्याख्यानके सामान्य लक्षण व स्वामी

भ. आ./वि./६५/१९२/६ द्विविधमेव भक्तप्रत्याख्यानं। सविचारमथ अविचारं इति। विचरणं नानागमनं विचारः। विचारेण वर्तते इति सविचारं एतदुक्तं भवति। वक्ष्यमाणार्हलिङ्गादिविकल्पेन सहितं भक्तप्रत्याख्यानं इति। अविचारं वक्ष्यमाणार्हादिनानाप्रकाररहितं। भवतु द्विविधं। सविचारभक्तप्रत्याख्यानं कस्य भवति इत्यस्योत्तरं। सविचारं भक्तप्रत्याख्यानं अनागाढे सहसा अनुपस्थिते मरणे चिर-कालभाविनि मरणे इति यावत्। सपरक्कमस्स सह पराक्रमेण वर्तते इति सपराक्रमस्तस्य भवे भवेत्। पराक्रमः उत्साहः एतेनैव सहसोप-स्थिते मरणे पराक्रमरहितस्य अविचारभक्तप्रत्याख्यानं भवतीति लभ्यते यतो विचारभक्तप्रत्याख्यानं अस्य अस्मिन्काले इति सूत्रे नोक्तं।—भक्तप्रत्याख्यानमरणके सविचार व अविचार ऐसे दो भेद हैं। तहाँ नाना प्रकारसे चारित्र पालना, चारित्रमें विहार करना विचार है। इस विचारके अर्ह, लिंग आदि ४० अधिकार हैं जिनका विवेचन आगे करेंगे (दे. सल्लेखना/४) उस विचारके साथ जो वर्तता है वह सविचार है और जो इन अर्ह लिंगादि रूप विचारके विकल्पोंके साथ नहीं वर्तता सो अविचार है। तहाँ जो गृहस्थ अथवा मुनि उत्साह व बलयुक्त है और जिसका मरणकाल सहसा उपस्थित नहीं हुआ है अर्थात् जिसका मरण दीर्घकालके अनन्तर प्राप्त होगा ऐसे साधुके मरणको सविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। जिसको सामर्थ्य नहीं है और जिसका मरणकाल सहसा उपस्थित हुआ है ऐसे पराक्रमरहित साधुके मरणको अविचारभक्त प्रत्याख्यान कहते हैं। [तहाँ सविचार विधि तो आगे सल्लेखना/४ के अन्तर्गत पृथक्से सविस्तार दी गयी है और अविचार विधि निम्न प्रकार है।]

११. अविचार भक्तप्रत्याख्यान विधि

भ. आ./मू./२०११-२०२४ तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढे। अपरक्कमस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि।२०११। तत्थ पढमं णिरुद्धं णिरुद्धतरयं तहा हवे बिदियं। तदियं परमणिरुद्धं एवं तिविधं अवीचारं।२०१२। तस्स णिरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो। जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो।२०१३। इय सण्णिरुद्धमरणं भणियं अणिहारिमं अवीचारं। सो चेव जधाजोग्गं पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स।२०१५। दुविहं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पगासं च। जणणादं च पगासं इदरं च जणेण अण्णादं।२०१६। खवयस्स चित्तसारं खित्तं कालं पडुच्च सजणं वा। अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु।२०१७। वालग्गिवग्घमहिसगयरिंछ पडिणीय तेण मेच्छेहिं। मुच्छाविसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती।२०१८। जाव ण वाया खिप्पदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि। तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खित्तं।२०१९। णच्चा संवट्टिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू। गणियादीणं सण्णिहिदाणं आलोचए सम्मं।२०२०। एवं णिरुद्धतरयं बिदियं अणिहारिमं अवीचारं। सो चेव जधाजोग्गं पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स।२०२१। वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया। तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं।२०२२। णच्चा संवट्टिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू। अरहंतसिद्धसाहूण अंतिगे सिग्घ-मालोचे।२०२३। आराधणाविधी जो पुव्वं उववण्णिदो सवित्थारो। सो चेव जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादव्वो।२०२४। —पराक्रम-रहित मुनिको सहसा मरण उपस्थित होनेपर अविचारभक्त प्रत्या-ख्यान करना योग्य है।२०११। वह तीन प्रकारका है—निरुद्ध, निरुद्धतर व परमनिरुद्धतर व परमनिरुद्ध।२०१२। रोगोंसे पीड़ित होनेके कारण जिसका जंघाबल क्षीण हो गया है और जो परगणमें जानेको समर्थ नहीं है, वह मुनि निरुद्ध अविचार भक्तप्रत्याख्यान

करते हैं ।२०१३। यह मुनि परगणमें न जाकर स्वगणमें ही रहता हुआ यथायोग्य पूर्वोक्त अर्थात् सविचार भक्तप्रत्याख्यान वाली विधिका पालन करता है। २०१५। इसके दो भेद हैं—प्रकाश और अप्रकाश। जो अन्य जनोंके द्वारा जाना जाय वह प्रकाशरूप है और जो दूसरोंके द्वारा न जाना जाय वह अप्रकाशरूप है ।२०१६। क्षपकका मनोबल अर्थात् धैर्य, क्षेत्र, काल, उसके बान्धव आदि कारणोंका विचार करके क्षपकके उस निरुद्धाविचार भक्तप्रत्याख्यानको प्रगट करते हैं अथवा अप्रगट करते हैं। अर्थात् अनुकूल कारणोंके होनेपर तो वह मरण प्रगट कर दिया जाता है और प्रतिकूल कारणोंके होनेपर प्रगट नहीं किया जाता ।२०१७। सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्च्छा, तीव्र शूलरोग इत्यादिसे तत्काल मरणका प्रसंग प्राप्त होनेपर ।२०१८। जब तक वचन व कायबल शेष रहता है और जब तक तीव्र वेदनासे चित्त आकुलित नहीं होता ।२०१९। तब तक आयुष्यको प्रति क्षण क्षीण होता जानकर शीघ्र ही अपने गणके आचार्य आदिके पास अपने पूर्व दोषोंकी आलोचना करनी चाहिए ।२०२०। इस प्रकार निरुद्धतर नामके दूसरे अविचार भक्त प्रत्याख्यानका स्वरूप है। इसमें भी यथा योग्य पूर्वोक्त अर्थात् सविचार भक्त प्रत्याख्यानवाली सर्व विधि (दे. सल्लेखना/४) होती है ।२०२१। व्याघ्रादि उपरोक्त कारणोंसे पीड़ित साधुके शरीरका बल और वचन बल यदि क्षीण हो जाय तो परमनिरुद्ध नामका मरण प्राप्त होता है ।२०२२। अपने आयुष्यको शीघ्र ही क्षीण होता जान वह मुनि शीघ्र ही मनमें अर्हन्त व सिद्ध परमेष्ठीको धारण करके उनसे अपने दोषोंकी आलोचना करे ।२०२३। आराधना विधिका जो पूर्वमें सविस्तार वर्णन किया है अर्थात् सविचार भक्तप्रत्याख्यान विधि (दे सल्लेखना/४) उसीको ही यहाँ भी यथायोग्य रूपसे योजना करनी चाहिए ।२०२४।

१२. इंगिनी मरण विधि

भ.आ./मू./२०३०-२०६१/१७७३ जो भत्तपविण्णाए उवक्कमो वण्णिदो सवित्थारो। सो चेव जधाजोग्गो उवक्कमो इंगिणीए वि ।२०३०। णिप्पादित्ता सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया।...।२०३१। परियाइगमालोचिय अणुजाणित्ता दिसं महजणस्स। तिविधेण खमावित्ता सबालवुड्ढाउलं गच्छं ।२०३३। एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं च थंडिले जोगे। पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ।२०३५। पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते। जदणाए संथरित्ता उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं ।२०३६। अरहादिअंतिगं तो किच्चा आलोचणं सुपरिसुद्धं। दंसणणाणचरित्तं परिसारेदूण णिस्सेसं ।२०३८। सव्वं आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताणं। वोसरिदूण असेसं अब्भंतरबाहिरे गंथे ।२०३९। ठिच्चा णिसिदित्ता वा तुवट्टिदूणव सकायपडिचरणं। सयमेव णिरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सो भयवं। ।२०४१। सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंटणादि किरियाओ। उच्चारादीणि तथा सयमेव विकिंचिदे विधिणा ।२०४२। सव्वो पोग्गलकाओ दुक्खत्ताए जदि तमुवणमेज्ज। तधवि य तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ।२०४७। सव्वो पोग्गलकाओ सोक्खत्ताए जदि वि तमुवणमेज्ज। तध वि हु तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ।२०४८। वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तधय धम्मथुदिं। सुत्तत्थपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तत्थमेयमणो ।२०५२। एवं अट्ठवि जामे अणुवट्टो तध ज्झादि एयमणो। जदि आधवा णिद्दा हविज्ज सो तत्थ अपडिण्णो ।२०५३। सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण संति किरियाओ। जम्हा सुसाणमज्झे तस्स य झाणं अपडिसिद्धं ।२०५४। आवासगं च कुणदे उभयोकालम्मि जं जहिं कमदि। उवकरणं पि पडिलिहदि उभयोकालम्मि जदणाए ।२०५५। पादे कंटयमादिं अच्छिम्मि रजादियं जदावेज्ज। णक्कदि अप्पाणं सो परिणीहरणे य तुसिणीओ ।२०५७। वेउव्वण-माहारयचारणखीरासवादिलद्धीसु। तवसा उप्पण्णासु वि विरागभावेण सेवदि सो ।२०५८। मोणाभिग्गहणिरिदो रोगादंकादिवेदणाहेदुं। ण कुणदि पडिकारं सो तहेव तण्हाछुहादीणं ।२०५९। उवएसं पुण आइरियाणं इंगिणिगदो वि छिण्णकधो। देवेहिं माणुसेहिं व पुट्ठो धम्मं कधेदित्ति ।२०६०। —भक्त प्रतिज्ञामें जो प्रयोगविधि कही है (दे. सल्लेखना/४) वही यथा सम्भव इस इंगिनीमरणमें भी समझनी चाहिए ।२०३०। अपने गणको साधुआचरणके योग्य बनाकर इंगिनी मरण साधनेके लिए परिणत होता हुआ, पूर्व दोषोंकी आलोचना करता है, तथा संघका त्याग करनेसे पहिले अपने स्थानमें दूसरे आचार्यकी स्थापना करता है। तत्पश्चात् बाल वृद्ध आदि सभी गणसे क्षमाके लिए प्रार्थना करता है ।२०३२-२०३३। स्वगणसे निकलकर अन्दर बाहरमे समान ऊँचे व ठोस स्थंडिलका आश्रय लेता है। यह स्थंडिल निर्जन्तुक पृथिवी या शिलामयी होना चाहिए ।२०३५। ग्राम आदिसे याचना करके लाये हुए तृण उस पूर्वोक्त स्थंडिल पर यत्नपूर्वक बिछा कर संस्तर तैयार करे जिसका सिरहाना पूर्व या उत्तर दिशाकी ओर रखे ।२०३६। तदनन्तर अर्हन्त आदिकोंके समीप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें लगे दोषोंकी आलोचना करके रत्नत्रयको शुद्ध करे ।२०३८। सम्पूर्ण आहारोंके विकल्पोंका तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका यावज्जीवन त्याग करे ।२०३९। कायोत्सर्गसे खड़े होकर, अथवा बैठकर अथवा लेट कर एक करवटपर पड़े हुए वे मुनिराज स्वयं ही अपने शरीरकी क्रिया करते हैं ।२०४१। शौच व प्रतिलेखन आदि क्रियाएँ स्वयं ही करते हैं ।२०४२। जगत्के सम्पूर्ण पुद्गल दुःखरूप या सुख रूप परिणमित होकर उनको दुःखी सुखी करनेको उद्यत होवें तो भी उनका मन ध्यानसे च्युत नहीं होता ।२०४७-२०४८। वे मुनि वाचना पृच्छना परिवर्तन और धर्मोपदेश इन सभोंका त्याग करके सूत्रार्थका अनुप्रेक्षात्मक स्वाध्याय करते हैं ।२०५२। इस प्रकार आठों पहरोंमें निद्राका परित्याग करके वे एकाग्र मनसे तत्त्वोंका विचार करते हैं। यदि बलात् निद्रा आ गयी तो निद्रा लेते हैं ।२०५३। स्वाध्याय काल और शुद्धि वगैरह क्रियाएँ उनको नहीं हैं। श्मशानमें भी उनको ध्यान करना निषिद्ध नहीं है ।२०५४। यथाकाल षडावश्यक कर्म नियमित रूपसे करते हैं। सूर्योदय व सूर्यास्तमें प्रयत्न पूर्वक उपकरणोंकी प्रतिलेखना करते हैं ।२०५५। पैरोंमें काँटा चुभने और नेत्रमें रजकण पड़ जानेपर वे उसे स्वयं नहीं निकालते। दूसरोंके द्वारा निकाला जानेपर मौन धारण करते हैं ।२०५७। तपके प्रभावसे प्रगटी वैक्रियक आदि ऋद्धियोंका उपयोग नहीं करते ।२०५८। मौन पूर्वक रहते हैं। रोगादिकोंका प्रतिकार नहीं करते ।२०५९। किन्हीं आचार्योंके अनुसार वे कदाचित् उपदेश भी देते हैं ।२०६०।

दे. अगला शीर्षक/अंतिम गाथा-[कोई मुनि कायोत्सर्गसे और कोई दीर्घ उपवाससे शरीरका त्याग करते।]

१३. प्रायोपगमन मरण विधि

भ.आ./मू./२०६३-२०७१/१९७० पाओवगमणमरणस्स होदि सो चेव दुवक्कमो सव्वो। वुत्तो इंगिणीमरणस्सुवक्कमो जो सवित्थारो ।२०६३। णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो। आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ।२०६४। सो सल्लेहिददेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि। उच्चारादिविकिंचणमवि णत्थि पवोगदो तम्हा ।२०६५। पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो। वोसट्ठचत्तदेहो अधाउगं पालए तत्थ ।२०६६। मज्जणगंधपुप्फोवयारपडिचारणे पिरंते। वोसट्टचत्तदेहो अधाउगं पालए तधवि ।२०६७। वोसट्टचत्तदेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं। जावज्जीवं तु सयं तहिं तमंगं ण चालेज्ज ।२०६८। एवं णिप्पडियम्मं भणंति पाओवगमणमरहंता। णियमा अणिहारं तं सिया णीहारमुवसग्गे

।२०६१। उवसग्गेण य साहरिदो सो अण्णत्थ कुणदि जं कालं। तम्हा वुत्तं णीहारमदो अण्णं अणीहारं ।२०७०। पडिमापडिवण्णा वि हु करंति पाओवगमणमप्पेगे ।२०७१। —इंगिनीमरणमें जो सविस्तार विधि कही है वही प्रायोपगमनमें भी समझनी चाहिए ।२०६३। इतनी विशेषता है कि यहाँ तृणके संस्तरका निषेध है, क्योंकि यहाँ स्व व पर दोनोंके प्रयोगका अर्थात् शुश्रूषा आदिका निषेध है ।२०६४। ये मुनि अपने मूत्र व विष्टा तकका भी निराकरण न स्वयं करते हैं और न अन्यसे कराते हैं ।२०६५। सचित्त, पृथिवी, अग्नि, जल, वनस्पति व त्रस जीवनिकायोंमें यदि किसीने उनको फेंक दिया तो वे शरीरसे ममत्व छोड़ कर अपनी आयु समाप्ति होने तक वहाँ ही निश्चल रहते हैं ।२०६६। इसी प्रकार यदि कोई उनका अभिषेक करे या गंध पुष्पादिसे उनकी पूजा करे तो वे न उनके ऊपर क्रोध करते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न ही उनका निराकरण करते है ।२०६७। जिसके ऊपर इन मुनिने अपना अंग रख दिया है, उसपरसे यावज्जीव वे उस अंगको बिलकुल हिलाते नहीं है ।२०६८। इस प्रकार स्व व पर दोनोंके प्रतिकारसे रहित इस मरणको प्रायोपगमनमरण कहते हैं। निश्चयसे यद्यपि यह मरण अनीहार अर्थात् अचल है परन्तु उपसर्गकी अपेक्षा इसको चल भी माना जाता है ।२०६९। उपसर्गके वश होनेपर अर्थात् किसी देव आदिके द्वारा उठाकर अन्यत्र ले जाये जानेपर स्वस्थानके अतिरिक्त यदि अन्यस्थानमें मरण होता है तो उसको नीहारप्रायोपगमन मरण कहते हैं और जो उपसर्गके अभावमें स्वस्थानमें ही होता है उसको अनीहार कहते हैं ।२०७०। कायोत्सर्ग-को धारण कर कोई मुनि प्रायोपगमन मरण करते हैं, और कोई दीर्घकालतक उपवास कर इस मरणसे शरीरका त्याग करते हैं। इसी प्रकार इंगिनी मरणके भी भेद समझने चाहिए ।२०७१।

४. सविचार भक्तप्रत्याख्यान विधि

१. इस विषयके ४० अधिकार

भ. आ./मू./६६–७०/१९१ सविचारभत्तपच्चक्खाणस्सिणमो उवक्कमो होइ। तत्थ य सुत्तपदाइं चत्तालं होंति णेयाइं ।६६। अरिहे लिंगे सिक्खा विणय समाधी य अणियदविहारे। परिणामोवधिजहणा सिदी य तह भावणाओ य ।६७। सल्लेहणा दिसा खामणा य अणुसिट्ठि परगणे चरिया। मग्गण सुट्ठिम उवसंपया य पडिछा य पडिलेहा ।६८। आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा। सेज्जा संथारो वि य णिज्जवग पयासणा हाणी ।६९। पच्चक्खाणं खामण खमणं अणुसट्ठिसारणाकवचे। समदाज्झाणे लेस्सा फलं विजहणा य णेयाइं ।७०। —सविचार भक्तप्रत्याख्यानके वर्णन करनेमें चालीस सूत्र या अधिकार जानने चाहिए ।६६। [जिनके नाम व संक्षिप्त लक्षण निम्न प्रकार हैं]।

सं.	नाम	लक्षण (भ. आ./वि./६७–७०)
१	अर्ह	अगले अधिकारोंको धारण करनेके योग्य व्यक्ति।
२	लिंग	शिक्षा विनय आदि रूप साधन सामग्रीके चिह्न।
३	शिक्षा	ज्ञानोपार्जन
४	विनय	ज्ञानादिके प्रति विनय होना
५	समाधि	मनकी एकाग्रता
६	अनियत विहार	अनियत स्थानोंमें रहना
७	परिणाम	कर्तव्य परायणता
८	उपधि त्याग	बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग
९	श्रिति	शुभ परिणामोंकी उत्तरोत्तर उन्नति।
१०	भावना	उत्तरोत्तर उत्तम भावनाओंका अभ्यास
११	सल्लेखना	कषाय व शरीरका कृश करना
१२	दिशा	अपने स्थानपर स्थापित करने योग्य बालाचार्य।
१३	क्षमणा	अन्योन्य क्षमाकी याचना करना।
१४	अनुशिष्टि	आगमानुसार उपदेश करना।
१५	परगणचर्या	अपना सघ छोड़कर अन्य संघमें जाना।
१६	मार्गण	समाधिमरण करानेमें समर्थ आचार्यकी खोज।
१७	सुस्थित	परोपकार तथा आचार्य पद योग्य कार्य करनेमें प्रवीण गुरु।
१८	उपसंपदा	आचार्यके चरणमूलमें गमन करना।
१९	परीक्षा	उत्साह, अभिलाषा, परिचारक गण आदिकी परीक्षा करना।
२०	प्रतिलेखन या निरूपण	राज्य देश आदिका शुभाशुभ अवलोकन।
२१	पृच्छा	संघसे अनुग्रहकी अनुज्ञा प्राप्त करना।
२२	एक संग्रह	प्रतिचारक मुनियोंकी स्वीकृति पूर्वक एक आराधकका ग्रहण।
२३	आलोचना	गुरुके आगे अपने अपराध कहना।
२४	गुण दोष	आलोचनाके गुण दोषोंका वर्णन।
२५	शय्या	आराधक योग्य वसतिका।
२६	संस्तर	आराधक योग्य शय्या।
२७	निर्यापक	सहायक आचार्य आदि।
२८	प्रकाशन	अन्तिम आहारको दिखाना।
२९	हानि	क्रमसे आहारका त्याग।
३०	प्रत्याख्यान	जलके अतिरिक्त तीन प्रकारके आहारका त्याग।
३१	क्षमण	आचार्य आदिसे क्षमाकी याचना।
३२	क्षपणा	प्रतिक्रमण आदि द्वारा कर्मोंका क्षय।
३३	अनुशिष्टि	आचार्य द्वारा उद्यत मुनिको उपदेश।
३४	सारणा	दुःख पीड़ित मोह ग्रस्त साधुको सचेत करना।
३५	कवच	क्षपकको वैराग्योत्पादक उपदेश देना।
३६	समता	जीवन मरण लाभ अलाभके प्रति उपेक्षा।
३७	ध्यान	एकाग्रचिन्तानिरोध।
३८	लेश्या	कषायानुरञ्जित योग प्रवृत्ति।
३९	फल	आराधनासे प्राप्त फल।
४०	शरीर त्याग	आराधकका शरीर त्याग।

२. इन अधिकारोंका कथन क्रम

नोट—[उपरोक्त ४० अधिकारोंमें सल्लेखना धारनेकी विधिका क्रमसे व्याख्यान किया गया है। तहाँ नं० १—११, १७, १८, २०, २१, व २४ ये अधिकार अन्वर्थक होनेसे सरल है। नं० १२, १३, १४, २३, २६, ३०, ३१, ३२, ३६, ३७ इनका कथन सल्लेखना/४ में किया गया है। नं० १६, २२, २७, २८, ३४ व ३५ का कथन सल्लेखना/५ में; नं० ३८ का सल्लेखना/१ में और नं० ३९ व ४० का सल्लेखना/६ में किया गया है।]

३. आचार्य पदत्याग विधि

भ. आ./मू./२७२-२७४ सल्लेहणं करेंतो जदि आयरिओ हवेज्ज तो तेण। ताए वि अवत्थाए चिंतेदव्वं गणस्स हियं।२७२। कालं संभाविता सव्वगणमणुदिसं च बाहरिय। सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे मंगलोगासे।२७३। गच्छाणुपालणत्थं आहोइय अत्तगुणसमं भिक्खू। तो तम्मि गणविसग्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो।२७४।—सल्लेखना करनेके लिए उद्युक्त हुआ क्षपक यदि आचार्य पदवीका धारक होगा तो उसको क्षपककी अवस्थामें भी अर्थात् जबतक आयुका अन्त निकट न आवे तबतक अपने गणके हितकी चिन्ता करनी चाहिए।२७३। अपनी आयु अभी कितनी रही है इसका विचार कर तदनन्तर अपने शिष्य समुदायको और अपने स्थानमें जिसकी स्थापना की है, ऐसे बालाचार्यको बुलाकर, सौम्य तिथि, करण, नक्षत्र और लग्नके समय, शुभप्रदेशमें।२७३। अपने गुणके समान जिसके गुण हैं ऐसा वह बालाचार्य गच्छका पालन करनेके लिए योग्य है, ऐसा विचारकर उसपर अपने गणको विसर्जित करते हैं, और उस समय उसे थोड़ा सा उपदेश भी देते हैं।२७४। (भ. आ./मू./१७७/३९५) (दे. संस्कार/२ में २१वीं क्रियाका लक्षण)।

४. सबसे क्षमा

भ. आ./मू./गा. आमंतेऊण गणिं गच्छम्मि तं गणिं ठवेदूण। तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउलं गच्छं।२७६। जं दीहकालसंवासदाए ममकारणेहरागेण। कडुगफरुसं च भणिया तमहं सव्वं खमावेमि।२७७। अब्भुट्ठिदआदहासो मत्थम्मि कदंजली कदपणामो। खामेइ सव्वसंघं संवेगं संजणेमाणो।७११। मणवयणकायजोगेहिं पुरा कदकारिदे अणुमदे वा। सव्वे अवराधपदे एस खमावेमि णिस्सल्लो।७१२।—उस नवीन आचार्यको बुलाकर उसको गणके बीचमें स्थापित कर और स्वयं अलग होकर बाल व वृद्ध आदि मुनियोंसे पूर्ण ऐसे गणसे मन वचन कायसे वह आचार्य क्षमा माँगते हैं। हे मुनिगण! तुम्हारे साथ मेरा दीर्घकाल तक सहवास हुआ है। मैंने ममत्वसे, स्नेहसे, द्वेषसे, आपको कटु और कठोर वाक्य कहे होंगे। इसलिए आप सब मेरे ऊपर क्षमा करेंगे ऐसी आशा है।२७७। (आयुका अन्त निकट आनेपर) वह क्षपक अपने मस्तकपर दो हाथ रखकर सर्व संघको नमस्कार करता है और साधर्मिकोंमें अनुराग उत्पन्न करता हुआ क्षमा ग्रहण कराता है।७१२। मन, वचन और शरीरके द्वारा जो-जो अपराध मैंने किये हैं, उनके लिए आप लोग मुझे क्षमा करो। मैं शल्य रहित हुआ हूँ।७१२। (मू. आ./५८)।

५. परगणचर्या व इसका कारण

भ. आ./मू./३८४-४०० एवं आउच्छित्ता सगणं अब्भुज्जदं पविहरंतो। आराधणाणिमित्तं परगणगमणे मई कुणदि।३८४। सगणे आणाकोवो फरुसं कलहपरिदावणादी य। णिब्भयसिणेहकालुणिगझाणविग्घो य असमाधी।३८५। परगणवासी य पुणो अव्वावारो गणी हवदि तेसु। णत्थि य असमाहाणं आणाकोवम्मि वि कदम्मि।३८७। कलहपरिदावणादि दोसे वा अमाउले करंतेसु। गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी।३९०। तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि सगणम्मि णिब्भओ संतो। जाएज्ज व सेएज्ज व अकप्पियं किं पि वीसत्थो।३९२। एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंति सगणवासिस्स। भिक्खुस्स वि तारिसयस्स होंति पाएण ते दोसा।३९६। एदे सव्वे दोसा ण होंति परगणणिवासिणो गणिणो। तम्हा सगणं पयहिय वच्चदि सो परगणं समाधीए।३९७। संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलम्मि तस्स विहरंतो। जिणवयणसव्वसारस्स होदि आराधओ तादी।४००।—इस प्रकार अपने गणसे पूछकर अपने रत्नत्रयमें अतिशय प्रयत्नसे प्रवृत्ति करनेवाले वे आचार्य आराधनाके निमित्त परगणमें गमन करनेकी इच्छा मनमें धारण करते हैं।३८४। स्वसंघमें रहनेसे आज्ञाकोप, कठोरवचन, कलह, दुःख, विषाद, खेद वगैरह निर्भयता, स्नेह, कारुण्य, ध्यानविघ्न और असमाधि ये दोष उत्पन्न होते हैं।३८५। जब आचार्य परगणमें जाकर रहते हैं तब उस गणस्थ मुनियोंको वे उपदेश आज्ञा करते नहीं, जिससे उनके द्वारा आज्ञाभंगका प्रसंग आता नहीं। और यदि कदाचित् आज्ञाभंग हो भी जाय तो भी 'इनपर तो मैंने कोई उपकार किया नहीं है, जो कि ये मेरी आज्ञा मानें' ऐसा विचारकर उनको वहाँ असमाधि दोष उत्पन्न नहीं होता है।३८७। अथवा अपने संघमें क्षुल्लकादि मुनि कलह, शोक, सन्तापादि परस्परमें करते हुए देखकर आचार्यको अपने गणपर ममता होनेसे चित्तकी एकाग्रता नष्ट हो जायेगी।३९०। समाधिमरणोद्युक्त आचार्यको भूख-प्यास वगैरहका दुःख सहन करना चाहिए। परन्तु वे अपने संघमें रहकर निर्भय होकर आहार जल वगैरह पदार्थोंकी याचना करेंगे अथवा स्वयं आहारादिका सेवन करेंगे। और भय व लज्जा रहित होकर छोड़ी हुई अयोग्य वस्तुओंका भी ग्रहण करेंगे।३९२। स्वगणमें रहनेवाले आचार्योंको ये दोष होंगे तथा जो आचार्यके समान उपाध्याय तथा प्रवर्तक मुनि हैं उन्हें भी स्वगणमें रहनेसे ये दोष होंगे।३९६। परगण निवासी गणीको ये दोष नहीं होते हैं। इसलिए स्वगण को छोड़कर परगण में जाते हैं।३९७। संसारभीरु, पापभीरु और आगमके ज्ञाता आचार्यके चरणमूलमें ही वह यति समाधिमरणोद्यमी होकर आराधनाकी सिद्धि करता है।४००।

६. उद्यत साधुके उत्साह आदिका विचार

भ. आ./मू./५१५-५१६ तो तस्स उत्तमट्ठे करणुच्छाहं पडिच्छदि विहण्हू। खीरोदणदव्वुग्गहदुगुंछणाए समाधीए।५१५। खवयस्सुवसंपण्णस्स तस्स आराधणा अविक्खेवं। दिव्वेण णिमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो।५१६।—यह क्षपक रत्नत्रयाराधनकी क्रिया करनेमें उत्साही है या नहीं, इसको परीक्षा करके अथवा मिष्ट आहारोंमें यह अभिलषित है या विरक्त, इसकी परीक्षा करके ही आचार्य उसे अनुज्ञा देनेका निर्णय करते हैं।५१५। हमारे संघका इस क्षपकने समाधिके लिए आश्रय लिया है। इसको समाधि निर्विघ्न समाप्त होगी या नहीं, इस विषयका भी आचार्य शुभाशुभ निमित्तोंसे निर्णय कर लेते हैं। यह भी एक परीक्षा है।५१६।

७. आलोचना पूर्वक प्रायश्चित्त ग्रहण

भ. आ./मू./गा. इय पयविभागियाए व ओघियाए व सल्लमुद्धरिय। सव्वगुणसोधिकंखी गुरुवएसं समायरइ।६१४। आलोयणं सुणित्ता तिक्खुत्तो भिक्खुणो उवायेण। जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पट्ठवेदव्वं।६१७। पडिसेवणादिचारे जदि आजंपदि जहाकमं सव्वे। कुव्वंति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स।६२१। सो कदसामाचारी सोज्झं कट्टुं विधिणा गुरुसयासे। विहरदि सुविसुद्धप्पा अब्भुज्जदचरणगुणकंखी।६३०।—विशेषालोचना करके अथवा सामान्यालोचना करके मायाशल्यको हृदयसे निकाल कर दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरणोंमें शुद्धिकी अभिलाषा रखता हुआ गुरुके द्वारा कहा हुआ प्रायश्चित्त, रोष, दीनता और अश्रद्धानका त्यागकर क्षपक ग्रहण करता है।६१४। सम्पूर्ण आलोचना सुनकर गुरु क्षपकको तीन बार

उपायसहित पूछते हैं। तब यदि यह क्षपक सरल परिणामका है, ऐसा गुरुके अनुभवमें आ जाय तो उसको प्रायश्चित्त देते हैं अन्यथा नहीं ।६१७। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे हुए सम्पूर्ण दोष क्षपक अनुक्रमसे कहेगा तो प्रायश्चित्त दान कुशल आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते हैं ।६२१। जिसका आचार निर्दोष है ऐसा वह क्षपक प्रायश्चित्त लेकर शास्त्रकथित विधि के अनुसार गुरु समीप रहकर अपनेको निर्मल चारित्रयुक्त बनाता हुआ रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करता है, तथा समाधिमरणके लिए जिस विशिष्ट आचरणको स्वीकार किया है, उसमें उन्नतिकी इच्छा करता है ।६३०। (विशेष दे. 'आलोचना' व 'प्रायश्चित्त'); (मू. आ./५५-५६)

८. क्षपणा, समता व ध्यान

र. आ./मू./गा. एवं पडिक्कमणाए काउसग्गे य विणयसज्झाए। अणुपेहासु य जुत्तो संथारगओ धुणदि कम्मं ।७१६। एवं अधियासेंतो सम्मं खवओ परीसहे एदे। सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं। ।१६८३। मित्तेसुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चावि। रागं वा दोसं वा पुव्वं जायंपि सो जहइ ।१६८६। इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सद्दफरिसरसरूवगंधेसु। इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ।१६८८। सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा। खवयस्स रागदोसा हु उत्तमट्ठं विराधेंति ।१६८६। सेज्जा संथारं पाणय च उवधि तहा सरीरं च। विज्जावच्चकरा वि य वोसरइ समत्तमारूढा ।१६६३। एवं सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा। मित्ती करुणं मुदिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि ।१६६५। एव कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं झाणं। झाणविहूणो खवओ जुद्धे व णिरावुधो होदि ।१८६२। —१. उक्त क्रमसे संस्तरारूढ जो क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा इनमें एकाग्र होकर कर्मका क्षय करता है ।७१६। २ इस प्रकार समस्त परीषहोंको अव्याकुलतासे सहन करनेवाला यह क्षपक शरीर, वसतिका, गण और परिचारक मुनि इन सर्व वस्तुओंमें ममत्वरहित होता है। रागद्वेषोंको छोड़कर समताभावमें तत्पर होता है ।१६८३। मित्र, बन्धु, माता, पिता, गुरु वगैरह, शिष्य और साधर्मिक इनके ऊपर दीक्षा ग्रहणके पूर्वमें अथवा कवचसे अनुगृहीत होनेके पूर्व जो राग-द्वेष उत्पन्न हुए थे, क्षपक उनका त्याग करता है ।१६८६। इष्ट और अनिष्ट ऐसे शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श, रूप विषयोंमें, इहलोक और परलोकमें, जीवित और मरणमें, मान और अपमानमें यह क्षपक समानभाव धारण करता है। ये राग-द्वेष रत्नत्रय, उत्तमध्यान और समाधिमरणका नाश करते हैं, इसलिए क्षपक अपने हृदयसे इनको दूर करता है ।१६८८-१६८९। सम्पूर्ण रत्नत्रयपर आरूढ होकर यह क्षपक वसतिका, तृणादिका संस्तर, पानाहार अर्थात् जल पान, पिच्छ, शरीर और वैयावृत्त्य करनेवाले परिचारक मुनि, इनका निर्मोह होकर त्याग करता है ।१६६३। इस प्रकार सम्पूर्ण वस्तुओंमें समताभाव धारण कर यह क्षपक अन्तःकरणको निर्मल बनाता है। उसमें मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओंको स्थान देता है ।१६६५। ३. कषायोंके साथ युद्ध करते समय ध्यान मुनिको शस्त्रके समान उपयोगी होता है। जैसे शस्त्र रहित वीर पुरुष युद्धमें शत्रुका नाश नहीं कर सकता है, वैसे ही ध्यानके बिना कर्म शत्रुको मुनि नहीं जीत सकता है। १८६२।

(विशेष दे. ध्यान/२/६)।

९. कुछ विशेष भावनाओंका चिन्तवन

भ. आ./मू./गा. जावंतु केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं। ते वज्जितो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ।१७८। एदाओ पंच वज्जिय इणमो छट्ठीए विहरदे धीरो। पंचसमिदो तिगुत्तो णिस्संगो सव्वसंगेसु ।१८६। तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणे चेव। धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा ।१८७। —जितना कुछ भी परिग्रह है वह सब राग और द्वेषको उत्पन्न करनेवाला है। और निःसंग होकर अर्थात् परिग्रहको छोड़नेसे क्षपक राग द्वेषको भी जीत लेता है ।१७८। इन कन्दर्पी आदि पाँच कुत्सित भावनाओंका (दे. भावना/३) त्यागकर जो धीर मुनि पाँच समिति और तीन गुप्तियोंका पालनकर सम्पूर्ण परिग्रहोंसे निस्पृह रहते हैं वे ही छठी भावनाके आश्रयसे रत्नत्रयमें प्रवृत्त होते हैं ।१८६। तप, श्रुताभ्यास, भयरहित होना, एकत्व, धृतिबल, ये पाँच प्रकारकी असंक्लिष्ट भावनाएँ हैं, जिन्हें क्षपकको भाना चाहिए ।१८७।

मू. आ./७५-८२ उड्ढमधो तिरियम्हि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि। दंसणणाणसहगदो पंडियमरणं अणुमरिस्से ।७५। जइ उप्पज्जइ दुक्खं तो दट्ठव्वो सभावदो णिरये। कदम मए ण पत्तं संसारे संसरंतेण ।७८। संसारचक्कवालम्मि मए सव्वेपि पोग्गला बहुसो। आहारिदा य परिणामिदा ण य मे गदा तित्ती ।७९। आहारणिमित्तं किर मच्छा गच्छंति सत्तमीं पुढविं। सच्चित्तो आहारो ण कप्पदि मणसावि पत्थेदुं ।८२। —ऊर्ध्व अधो व तिर्यक् लोकमें मैंने बालमरण बहुत किये हैं, अब दर्शन ज्ञानमयी होकर संन्यासपूर्वक पण्डित मरण करूँगा ।७५। यदि संन्यासके समय क्षुधादिकी वेदना उपजे तो नरकके स्वरूपका चिन्तवन करना चाहिए तथा जन्म, जरा, मरणरूप संसारमें मैंने कौनसे दुःख नहीं उठाये ऐसा चिन्तवन करना चाहिए ।७८। चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करते हुए मैंने सभी पुद्गल बहुत बार भक्षण किये हैं, और खल रस रूपसे परिणमित किये हैं परन्तु आज तक मेरी इनसे तृप्ति नहीं हुई है ।७९। आहारके कारण ही तन्दुल मत्स्य सातवें नरक जाता है। इसलिए जीवघातसे उत्पन्न सचित्त आहार मनसे भी याचना करने योग्य नहीं है ।८२।

१०. मौन वृत्ति

भ. आ./मू./१७४/३६१ गणिणा सह सलाओ कज्जं पइ सेसएहिं साहूहिं। मोणं से मिच्छजणे भज्जं सण्णीसु सजणे य ।१७४। —क्षपकको संघमें आचार्यके साथ तो बोलना चाहिए, पर अन्य साधुओंके साथ अल्प मात्र ही भाषण करना चाहिए अधिक नहीं। मिथ्यादृष्टि जनोंके साथ बिलकुल मौनसे रहे तथा विवेकी जनों या स्वजनोंके साथ थोड़ा-बहुत बोले अथवा बिलकुल न बोले ।१७४।

११. क्रम पूर्वक आहार व शरीरका त्याग

१. १२ वर्षोंका कार्य क्रम

भ. आ./मू./२५३-२५४ जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेइ संवच्छराणि चत्तारि। वियडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेदि ।२५३। आयंबिलणिव्वियडीहिं दोण्णि आयंबिलेण एक्कं च। अद्धं णादिविगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं ।२५४। —[भक्त प्रत्याख्यानका उत्कृष्ट काल १२ वर्ष प्रमाण है--(दे. सल्लेखना/३/५)। इन बारह वर्षोंका कार्यक्रम निम्न प्रकार है।] प्रथम चार वर्ष अनेक प्रकारके कायक्लेशों द्वारा बितावे, आगे के चार वर्षोंमें दूध, दही, घी, गुड़ आदि रसोंका त्याग करके शरीरको कृश करता है। इस तरह आठ वर्ष व्यतीत होते हैं ।२५३। दो वर्ष तक आचाम्ल व निर्विकृति भोजन ग्रहण करके रहता है। (दे. वह वह नाम)। एक वर्ष केवल आचाम्ल भोजन ग्रहण करता है। छह महीने तक मध्यम तपों द्वारा शरीरको क्षीण करता है और अन्तके छह महीनोंमें उत्कृष्ट तपों द्वारा शरीरको क्षीण करता है ।२५४। (दे. आगे उपशीर्षक नं. ४)।

२. आहारत्यागकी १२ प्रतिमाएँ

दे. सल्लेखना/१/३ [यदि आयु व देहकी शक्ति अभी बहुत शेष है तो शास्त्रोक्त १२ भिक्षु प्रतिमाओंको ग्रहण करे, जिससे कि क्षपकको पीड़ा न हो।]

भ. आ./मूलाराधना टीका/२४६/४७१/५ ईदृशमाहारं यदि मासाभ्यन्तरे लभेऽहं ततो भोजनं करोमि नान्यथेति। तस्य मासस्यान्तिमे दिने प्रतिमायोगमास्ते। सा एका भिक्षुप्रतिमा एवं पूर्वोक्ताहाराच्छतगुणेनोत्कृष्टदुर्लभान्यान्याभ्यवहारस्यावग्रहं गृह्णाति। यावद्द्वित्रिचतु:-पञ्चषट्सप्तमासा: सर्वत्रान्तिमदिनकृतप्रतिमायोगा: एता: । सप्त भिक्षु-प्रतिमा:। पुन: पूर्वाहाराच्छतगुणोत्कृष्टस्य दुर्लभस्य अन्यान्याहारस्य सप्त-सप्त दिनानि वारत्रयं व्रतं गृह्णाति। एतास्तिस्रो भिक्षुप्रतिमा:। ततो रात्रिदिनं प्रतिमायोगेन स्थित्वा पश्चाद्रात्रिप्रतिमायोगमास्ते। एते द्वे भिक्षुप्रतिमे। पूर्वमवधिमन:पर्ययज्ञाने प्राप्य पश्चात्सूर्योदये केवलज्ञानं प्राप्नोति। एवं द्वादशभिक्षुप्रतिमा:।—१. मुनि स्वयं ठहरे हुए देशमें उत्कृष्ट और दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है। अर्थात् उत्कृष्ट और दुर्लभ इस प्रकारका आहार यदि एक महीनेके भीतर-भीतर मिल गया तो मैं आहार करूँगा अन्यथा नहीं। ऐसी प्रतिज्ञा करके उस महीनेके अन्तिम दिनमें वह प्रतिमा-योग धारण करता है। यह एक भिक्षु प्रतिमा हुई।—(२-७) पूर्वोक्त, आहारसे शतगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न-भिन्न आहारका व्रत वह क्षपक ग्रहण करता है यह व्रत क्रमसे दो, तीन, चार, पाँच, छह और सात मास तकके लिए ग्रहण करता है। प्रत्येक अवधिके अन्तिम दिनमें प्रतिमायोग धारण करता है। ये कुल मिलकर सात भिक्षु प्रतिमाएँ हुई।—(८-१०) पुन: सात-सात दिनोंमें पूर्व आहारकी अपेक्षासे शतगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न-भिन्न आहार तीन दफा लेनेकी प्रतिज्ञा करता है। आहारकी प्राप्ति होनेपर तीन, दो और एक ग्रास लेता है। ये तीन भिक्षु प्रतिमाएँ हैं।—(११-१२) तदनन्तर रात्रि और दिन भर प्रतिमायोगसे खड़ा रहकर अनन्तर प्रतिमायोगसे ध्यानस्थ रहता है। ये दो भिक्षुप्रतिमाएँ हुई।—प्रथम अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञानकी प्राप्ति होती है। अनन्तर सूर्योदय होनेपर वह क्षपक केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है। इस रीतिसे १२ भिक्षु प्रतिमाएँ होती हैं।

३. शक्तिकी अपेक्षा तीन प्रकारके अथवा चारों प्रकारके आहारका त्याग

भ. आ./मू./७०७-७०८ खवयं पच्चक्खावेदि तदो सव्वं च चदुविधाहारं। संघसमवायमज्झे सागारं गुरुणिओगेण ।७०७। अहवा समाधिहेदुं कायव्वो पाणयस्स आहारो। तो पाणयं पि पच्छा वोसरिदव्वं जहाकाले ।७०८। —तदनन्तर संघके समुदायमें सविकल्पक प्रत्याख्यान अर्थात् चार प्रकारके आहारोंका निर्यापकाचार्य क्षपकको त्याग कराते हैं, और इतर प्रत्याख्यान भी गुरुकी आज्ञासे वह क्षपक करता है ।७०७। अथवा क्षपकके चित्तकी एकाग्रताके लिए पानकके अतिरिक्त अशन खाद्य और स्वाद्य ऐसे तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कराना चाहिए। जब क्षपककी शक्ति अतिशय कम होती है तब पानकका भी त्याग करना चाहिए। अर्थात् परीषह सहन करनेमें खूब समर्थ है उसको चार प्रकारके आहारका और असमर्थ साधुको तीन प्रकारके आहारका त्याग कराना चाहिए। (और भी दे. सल्लेखना/३/७-६)।

४. आहार त्यागका सामान्य क्रम

भ. आ./मू./६९८-६९९ अणुसज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वमुहरिय। एक्केक्कं हावेंतो ठवेदि पोराणमाहारे ।६९८। अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टेदूण सव्वमाहारं। पाणयपरिकम्मेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ।६९९। संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया। वोसरिदव्वो पुव्वं विधिणेव सोपाणगाहारो ।१४९२। —निर्यापकाचार्यके द्वारा आहाराभिलाषाके दोष बतानेपर भी क्षपक उस आहारमें यदि प्रेमयुक्त ही रहा तो समाधिमरणकी इच्छा रखनेवाले उस क्षपकके सम्पूर्ण आहारोंमेंसे एक-एक आहारको घटाते हैं, अर्थात् क्षपकसे एक-एक आहारका क्रमसे त्याग कराते हैं ।६९८। आचार्य उपर्युक्त क्रमसे मिष्टाहारका त्याग कराकर क्षपकको सादे भोजनमें स्थिर करते हैं। तब वह क्षपक भात वगैरह अशन और अपूप वगैरह खाद्य पदार्थोंको क्रमसे कम करता हुआ पानकाहार करनेमें अपनेको उद्युक्त करता है। (पानकके अनेकों भेद हैं—दे. पानक) ।६९९। संस्तरपर सोया हुआ क्षपक जब क्षीण होगा तब पानकके विकल्पका भी उपरोक्त सूत्रोंके अनुसार त्याग करना चाहिए ।१४९२। (और भी दे. सल्लेखना/३/७-६)।

१२. क्षपकके लिए उपयुक्त आहार

भ. आ./मू./गा. सल्लेहणासरीरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा। आयंबिलं महेसी तत्थ दु उक्कस्सयं विंति ।२५०। छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं अदिविकट्ठेहिं। मिदलहुगं आहारं करेदि आयंबिलं बहुसो ।२५१। आयंबिलेण सिंभं खीयदि पित्तं च उवसमं जादि। वादस्स रक्खणट्ठं एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ।७०१। अकडुगमतित्तयमणंबिलं च अकसायमलवणं मधुरं। अविरस मदुब्भिगंधं अच्छमणुण्हं अणदिसीदं ।१४६०। पाणगमसिंभलं परिपूयं खीणस्स तस्स दादव्वं। जह वा पच्छं खवयस्स तस्स तह होइ दायव्वं ।१४६१। —शरीर सल्लेखनाके लिए जो तपोंके अनेक विकल्प पूर्वोक्त गाथाओंमें कहे हैं, उनमें आचाम्ल भोजन करना उत्कृष्ट विकल्प है, ऐसा महर्षि गण कहते हैं ।२५०। दो दिनका उपवास, तीन दिनका उपवास, चार दिनका उपवास, पाँच दिनका उपवास ऐसे उत्कृष्ट उपवास होनेके अनन्तर मित और हलका ऐसा कांजी भोजन ही क्षपक बहुधा: करता है ।२५१। आचाम्लसे कफका क्षय होता है, पित्तका उपशम होता है और वातका रक्षण होता है, अर्थात् वातका प्रकोप नहीं होता। इसलिए आचाम्लमें प्रयत्न करना चाहिए ।७०१। जो आहार कटुक, तिक्त, आम्ल, कसायला, नमकीन, मधुर, विरस, दुर्गन्ध, अस्वच्छ, उष्ण और शीत नहीं है, ऐसा आहार क्षपकको देना चाहिए अर्थात् मध्यम रसोंका आहार देना चाहिए ।११६०। जो पेय पदार्थ क्षीण क्षपकको दिया जाता है, वह कफको उत्पन्न करनेवाला नहीं होना चाहिए और स्वच्छ होना चाहिए। क्षपकको जो देनेसे पथ्य—हितकर होगा ऐसा ही पानक देने योग्य है ।१४६१।

दे. भक्ष्याभक्ष्य/१/३ [शरीरकी प्रकृति तथा क्षेत्र कालके अनुसार देना चाहिए]।

५. भक्तप्रत्याख्यानमें निर्यापकका स्थान

१. योग्य निर्यापक व उसकी प्रधानता

भ. आ./मू./गा. पंचविधे आचारे समुज्जदो सव्वसमिदचेट्ठाओ। सो उज्जमेदि खवयं पंचविधे सुट्ठु आयारे ।४२३। आयारत्थो पुण से दोसे सव्वे वि ते विवज्जेदि। तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ ।४२७। —[क्षपकको सल्लेखना धारण करानेवाला आचार्य आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्ता, आयापायदर्शनोद्योत और उत्पीलक होता है। इनके अतिरिक्त वह अपरिस्रावी, निर्वापक, प्रसिद्ध, कीर्तिमान, और निर्यापकके गुणोंसे पूर्ण होना चाहिए—(दे. आचार्य/१/२)] जो आचार्य स्वयं पंचाचारमें तत्पर रहते हैं, अपनी सब चेष्टाएँ जो समितियोंके अनुसार ही करते हैं वे ही क्षपकको निर्दोष—तथा पंचाचारमें प्रवृत्ति करा सकते हैं ।४२३। आचारवत्त्व गुणको धारण करनेवाले आचार्य ऊपर लिखे हुए दोषोंका (दे. अगला शीर्षक) त्याग करते हैं, इसलिए गुणोंमें प्रवृत्त होनेवाले दोषोंसे रहित ऐसे आचार्य निर्यापक समझने चाहिए ।४२७। (और भी दे. आगे शीर्षक नं. ३)।

भ. आ./मू./गा. गीदत्थपादमूले होंति गुणा एवमादिया बहुगा। ण य होइ संकिलेसो ण चावि उप्पज्जदि विवत्ती ।४४७। खवओ किला-

मिदंगो पडिचरय गुणेण णिव्वुदिं लहइ। तम्हा णिव्विसिदव्वं खवएण पकुव्वयसयासे ।४५८। धिदिबलकरमादहिदं महुरं कण्णाहुदिं जदि ण देइ। सिद्धिसुहमावहंती चत्ता आराहणा होइ ।५०५। इय णिव्ववओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ। होइ य कित्ती पथिदा एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ।५०६। –जो आचार्य सूत्रार्थज्ञ है उसके पाद-मूलमें जो क्षपक समाध्यर्थ रहेगा, उसको उपर्युक्त अनेक गुणोंकी प्राप्ति होती है, उसके संक्लेश परिणाम नहीं होते, न ही रत्नत्रयमें कोई बाधा होती है। इसलिए आधारगुणयुक्त आचार्यका आश्रय लेना ही क्षपकके लिए योग्य है ।४४७। रोगसे ग्रसित क्षपक आचार्यके द्वारा की गयी शुश्रूषासे सुखी होता है, इसलिए प्रकुर्वी गुणके धारक आचार्यके के पास ही रहना श्रेयस्कर है ।४५८। निर्यापकाचार्यकी वाणी धैर्य उत्पन्न करती है, वह आत्माके हितका वर्णन करती है, मधुर और कर्णाह्लादक होती है। यदि ऐसी वाणीका प्रयोग न करे तो क्षपक आराधनाओंका त्याग करेगा ।५०५। इस प्रकारसे क्षपकका मन आह्लादित करनेवाले आचार्य निर्यापक हो सकते हैं अर्थात् निर्या-पकत्व गुणधारक आचार्य क्षपकका समाधिमरण करा सकता है। इन आचारवत्त्वादि गुणोंसे परिपूर्ण आचार्यकी जगत्‌में कीर्ति होती है ।५०६।

२. चारित्रहीन निर्यापकका आश्रय हानिकारक है

भ. आ./मू./४२४–४२६ सेज्जोवधिसंथारं भत्तं पाणं च चयणकप्पगदो। उवकप्पिज्ज असुद्धं पडिचरए वा असंविग्गे ।४२४। सल्लेहणं पयासेज्ज गंध मल्लं च समणुजाणिज्जा। अप्पाउग्गं व कधं करिज्ज सइरं व जंपिज्ज ।४२५। ण करेज्ज सारणं वारणं च खवयस्स चयणकप्पगदो। उद्देज्ज वा महल्लं खवयस्स किचणारंभं ।४२६। –पंचाचारसे भ्रष्ट आचार्य क्षपकको वसतिका, उपकरण, संस्तर, भक्त, पान, उद्गमादि दोष सहित देगा। वह वैराग्य रहित मुनियों-को उसकी शुश्रूषाके लिए नियुक्त करेगा, जिनसे क्षपकका आत्महित होना अशक्य है ।४२४। वह क्षपककी सल्लेखनाको लोकमें प्रगट कर देगा, उसके लिए लागोंको पुष्पादि लानेको कहेगा, उसके सामने परिणामोंको बिगाड़नेवाली कथाएँ कहेगा, अथवा योग्यायोग्यका विचार किये बिना कुछ भी बकने लगेगा ।४२५। वह न तो क्षपकको रत्नत्रयमें करने योग्य उपदेश देगा और न उसे रत्नत्रयसे च्युत होनेसे रोक सकेगा। उसके निमित्त पट्टकशाला, पूजा, विमान आदिके अनेक आरम्भ लोगोंसे करायेगा, इसलिए ऐसे आचार्यके सहवासमें क्षपकका हित होना शक्य नहीं ।४२६।

भ. आ./मू./ (उपोद्घात-क्षपकस्य चतुरङ्गं कथमगृहीतार्थो नाशयतीत्यारेकायामित्थमसौ नाशयतीति दर्शयति)–सम्मं सुदिमलहंतो दीहद्धं मुत्तिमुवगमित्ता वि। परिवडइ मरणकाले अकदाधारस्स पासम्मि ।४३३। सक्का वंसी छेत्तुं तत्तो उक्कड्ढिओ पुणो दुक्खं। इय संजमस्स वि मणो विसएसुक्कड्ढिदुं दुक्खं ।४३४। पढमेण व दोवेण व बाहिज्जतस्स तस्स खवयस्स। ण कुणदि उवदेसादिं समाधिकरणं अगीदत्थो ।४३७। –प्रश्न—चतुरंगको न जाननेवाला आचार्य क्षपक-का नाश कैसे करता है? उत्तर –[अनादि संसार चक्रमें उत्तम देश, कुल आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं।– गा, ४३०-४३२] योग्य कार्यमें प्रवृत्ति करनेवाली स्मृति प्राप्त होनेपर भी और चिरकाल तक संयम पालन कर लेनेपर भी अल्पज्ञ आचार्यके आश्रयसे मरणकालमें क्षपक संयम छोड़ देता है ।४३३। जिस प्रकार बाँसके समूहमेंसे एक छोटे बाँसको उखाड़ना बहुत कठिन है उसी प्रकार मन विषयोंसे निकाल-कर संयममें स्थापित करना अत्यन्त कठिन है ।४३४। अगीतार्थ आचार्य क्षुधा और तृषासे पीड़ित क्षपकको उपदेशादिक नहीं करता इसलिए उसके आश्रयसे उसको समाधि मरण लाभ नहीं होता ।४३७।

३. योग्य निर्यापकका अन्वेषण

भ. आ./मू./गा. पंचच्छसत्तजोयणसदाणि तत्तोऽहियाणि वा गंतुं। णिज्जावगमण्णेसदि समाधिकामो अणुण्णादं ।४०१। एक्कं व दो व तिण्णि य बारसवरिसाणि वा अपरिदंतो। जिणवयणमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ।४०२। आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्त-सोधिणिज्झंझा। अज्जवमद्दवलाघवतुट्ठी पल्हादणं च गुणा ।४०६। –जिसको समाधिमरणकी इच्छा है ऐसा मुनि ५००,६००,७०० अथवा इससे भी अधिक योजन तक विहारकर शास्त्रोक्त निर्यापकका शोध करता है। ४०१। वह एक, दो, तीन वर्षसे लेकर बारह वर्ष तक खेदयुक्त न होता हुआ जिनागमसे निर्णीत निर्यापकाचार्यका अन्वेषण करता है ।४०२। निर्यापकत्वकी शोध करनेके लिए विहार करनेसे क्षपकको आचारशास्त्र, जीतशास्त्र और कल्पशास्त्र इनके गुणोंका प्रकाशन होता है। आत्माकी शुद्धि होती है, संक्लेश परिणाम नष्ट होते हैं। आर्जव, मार्दव, लाघव (लोभरहितता) सन्तुष्टी, आह्लाद आदि गुण प्रगट होते हैं ।४०६।

४. एक निर्यापक एक ही क्षपकको ग्रहण करता है

भ. आ./मू./५१६-५२० एगो संथारगदो जजइ सरीरं जिणोवदेसेण। एगो सल्लिहदि मुणी उग्गेहिं तवोविहाणेहिं ।५१६। तदिओ णाणुण्णादो जजमाणस्स हु हवेज्ज वाघादो। पडिदेसु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति ।५२०।

भ. आ./वि./५२०/७३६/१६ तृतीयो यतिर्नानुज्ञातः तीर्थकृद्भिः एकेन निर्यापकेनानुग्राह्यत्वेन। –एक क्षपक जिनेश्वरके उपदेशानुसार संस्तरपर चढ़कर शरीरका त्याग करता है अर्थात् समाधिमरणका साधन करता है और एक मुनि उग्र अनशनादि तपोंके द्वारा शरीर-को शुष्क करता है ।५१६। इन दोनोंके अतिरिक्त तृतीय यति निर्यापकाचार्यके द्वारा अनुग्राह्य नहीं होता है। दो या तीन मुनि यदि संस्तरारूढ़ हो जायेंगे तो उनको धर्ममें स्थित रखनेका कार्य, विनय वैयावृत्त्य आदि कार्य यथायोग्य नहीं हो सकेंगे, जिससे उनके मनको संक्लेश होगा। अतः एक ही क्षपक संस्तरारूढ़ हो सकता है। ५२०।

५. निर्यापकोंकी संख्याका प्रमाण

भ. आ./मू./गा. कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा। गीदत्था भयवंता अडदालीसं तु णिज्जवया ।६४८।...। कालम्मि संकिलिट्ठम्मि जाव चत्तारि साधेंति ।६७२। णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा। एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ।६७३। एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परो पवयणं च। वसणमसमाधिमरणं उड्डाहो दुग्गदी चावि ।६७४। –योग्यायोग्य आहारको जाननेमें कुशल, क्षपकके चित्तका समाधान करनेवाले, प्रायश्चित्त ग्रन्थके रहस्यको जाननेवाले, आगमज्ञ, स्व व परका उपकार करनेमें तत्पर निर्यापक या परिचारक उत्कृष्टतः ४८ होते हैं ।६४८। संक्लेश परिणामयुक्त कालमें वे चार तक भी होते हैं ।६७२। और अतिशय संक्लिष्ट कालमें दो निर्यापक भी क्षपकके कार्यको साध सकते हैं। परन्तु जिनागममें एक निर्यापकका किसी भी कालमें उल्लेख नहीं है ।६७३। यदि एक ही निर्यापक होगा तो उसमें आत्मत्याग, क्षपकका त्याग और प्रवचनका भी त्याग हो जाता है। एक निर्यापकसे दुःख उत्पन्न होता है और रत्नत्रयमें एकाग्रताके बिना मरण हो जाता है। धर्मदूषण और दुर्गति भी होती है। (विशेष दे. भ. आ./मू./६७५-६७६)।

नि. सा./ता. वृ./६२ इह हि जिनेश्वरमार्गे मुनीनां सल्लेखनासमये हि द्विचत्वारिंशद्भिराचार्यैर्दत्तोत्तमार्थप्रतिक्रमणाभिधानेन देहत्यागो धर्मो व्यवहारेण –जिनेश्वरके मार्गमें मुनियोंकी सल्लेखनाके समय

चवालीस आचार्यों द्वारा, जिसका नाम उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है वह दिया जानेके कारण देहत्याग व्यवहारसे धर्म है।

६. सर्व निर्यापकोंमें कर्तव्य विभाग

भ. आ./मू./६४९-६७० का भावार्थ [१. चार परिचारक सावधानी पूर्वक क्षपकके हाथ पाँव दबाना, चलने-फिरनेमें सहारा देना, सुलाना, बैठाना, खड़ा करना, करवट दिलाना, पाँव पसारना व सिकोड़ना आदि उपकार करते हैं।६४९-६५०। २. चार मुनि विकथाओंका त्यागकर क्षपकको असन्दिग्ध, मधुर, हृदयस्पर्शी, सुखकर, तथा हितप्रद धर्मोपदेश देते हैं। ६५१-६५३। ३. भिक्षा लब्धि युक्त चार मुनि याचनाके प्रति ग्लानिका त्याग करके क्षपकके लिए उसकी रुचि व प्रकृतिके अनुसार उद्गमादि दोषों रहित आहार माँगकर लाते हैं।६६२। (दे. अपवाद/३/३) ४ चार मुनि उसके लिए पीने योग्य पदार्थ माँगकर लाते हैं।६६३। (दे. अपवाद/३/३)। ५. चार मुनि उस माँगकर लाये हुए आहार व पानके पदार्थोंकी चूहों आदिसे रक्षा करते हैं।६६४। (दे. अपवाद/३/३)। ६. चार मुनि क्षपकको मलमूत्र करानेका तथा उसकी वसतिका संस्तर व उपकरणोंको शोधनेका कार्य करते हैं।६६५। ७. चार मुनि क्षपककी वसतिकाके द्वारका रक्षण करते हैं ताकि असंयतजन वहाँ प्रवेश न कर सकें।६६६। ८. तथा चार मुनि धर्मोपदेश देनेके मंडपके द्वारकी रक्षा करते हैं।६६६। ९. चार मुनि क्षपकके पास रातको जागरण करते हैं।६६७। १०. और चार मुनि उस नगर या देशकी शुभाशुभ वार्ताका निरीक्षण करते हैं।६६७। ११. चार मुनि आगन्तुक श्रोताओंको सभामण्डपमें आक्षेपणी आदि कथाओंका तथा स्व व पर मतका सावधानी पूर्वक उपदेश देते हैं, ताकि क्षपक उसे न सुन सके।६६८। १२. चार वादी मुनि धर्मकथा करने वाले उपरोक्त मुनियोंकी रक्षार्थ सभामें इधर-उधर घूमते हैं।६६९।]

७. क्षपककी वैयावृत्ति करते हैं

भ. आ./मू./गा. तो पाणएण परिभाविदस्स उदरमलसोधणिच्छाए। मधुरं पज्जेदव्वो मंदं च विरेयणं खवओ।७०२। आणाहवत्तियादीहिं वा वि कादव्वमुदरसोधणयं। वेदणमुप्पादेज्ज हु करिसं अत्थंतयं उदरे।७०३। वेज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्वं विच्छरेण अक्खादा। तेसिं फिडिओ सो होइ जो उवेक्खेज्ज तं खवयं।१४९६। तो तस्स तिगिंछा जाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए। विज्जादेसेण वसे पडिकम्म होइ कायव्वं।१४९७।—पानक पदार्थका सेवन करनेवाले क्षपकको पेटके मलकी शुद्धि करनेके लिए माँडके समान मधुर रेचक औषध देना चाहिए।७०२। उसके पेटको सेंकना चाहिए तथा सेंधा नमक आदि पदार्थोंकी बत्ती बनाकर उसकी गुदामें प्रवेश कराना चाहिए। ऐसा करनेसे उसके उदरका मल निकल जाता है।७०३। वैयावृत्यके गुणोंका विस्तारसे पूर्वमें वर्णन किया गया है (दे. वैयावृत्य)। जो निर्यापक क्षपककी उपेक्षा करता है वह उन गुणोंसे भ्रष्ट होता है।१४९६। रोगका निदान जानने वाले मुनिको वैद्यके उपदेशानुसार अपनी सर्व शक्तिसे क्षपकके रोगका परिहार करना चाहिए।१४९७।

दे. सल्लेखना/५/६ [क्षपकके हाथ-पाँव दबाना, उसे उठाना, बैठाना, चलाना, सुलाना, करवट दिलाना, मल-मूत्र कराना, उसके लिए आहारादि माँग कर लाना इत्यादि कार्य निर्यापक व परिचारक नित्य करते हैं।]

दे. अपवाद/३/४-५ [जीभ और कानोंकी सामर्थ्यके लिए क्षपकको कई बार तेल व कषायले पदार्थोंके कुल्ले कराने चाहिए। उदरमें मलका शोधन करनेके लिए एनिमा करना, सर्दीमें उष्णोपचार और गरमीमें शीतोपचार करना तथा अंग मर्दन आदि रूपसे उसकी सेवा करते हैं।]

८. आहार दिखाकर वैराग्य उत्पन्न कराना

भ. आ./मू./६८९-६९५ दव्वपयासमकिच्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरणं। कम्हिवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ।६८९। तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि। सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज।६९०। पासित्तु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति। वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि।६९१। ।६९१। देसं भोच्चा हा हा तीरं···।६९३। सव्वं भोच्चा धिद्धी तीरं···।६९४। कोई तमादयित्ता मणुण्णरसवेदणाए संविद्धो। तं चेव अणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए।६९५।—क्षपकको आहार न दिखाकर ही यदि तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कराया जायेगा तो वह क्षपक किसी आहार विशेषमें उत्सुक होगा।६८९। इसलिए अच्छे-अच्छे आहारके पदार्थ बरतनोंमें पृथक् परोसकर उस क्षपकके समीप लाकर उसे दिखाना चाहिए।६९०। ऐसे उत्कृष्ट आहारको देखकर कोई क्षपक 'मैं तो अब इस भवके दूसरे किनारेको प्राप्त हुआ हूँ, इन आहारोंकी अब मुझको कोई आवश्यकता नहीं है' ऐसा मनमें समझकर भोगसे विरक्त व संसारसे भययुक्त होकर आहारका त्याग कर देता है।६९१। कोई उसमेंसे थोड़ा सा खाकर।६९३। और कोई सम्पूर्णका भक्षण करके उपरोक्त प्रकार ही विचारता हुआ उसका त्याग कर देता है।६९४। परन्तु कोई क्षपक दिखाया हुआ भक्षण कर उसके स्वादिष्ट रसमें लुब्ध होकर उस सम्पूर्ण आहारको बारम्बार भक्षण करनेकी इच्छा रखता है अथवा उसमें किसी एक पदार्थको बारम्बार खानेकी अभिलाषा रखता है।६९५। [ऐसा क्षपक कदाचित् निर्यापकका उपदेश सुनकर उससे विरक्त होता है (दे. शीर्षक सं० ११) और इसपर भी विरक्त न हो तो धीरे-धीरे क्रमपूर्वक उसका प्रत्याख्यान कराया जाता है। (दे. सल्लेखना/४/११)]

९. कदाचित् क्षपकको उग्र वेदनाका उद्रेक

भ. आ./मू./१५०१-१५१० अहवा तण्हादिपरिसहेहिं खवओ हविज्ज अभिभूदो। उवसग्गेहिं व खवओ अचेदणो होज्ज अभिभूदो।१५०१। तो वेदणावसट्ठो वाउलिदो वा परीसहादीहिं। खवओ अणप्पवसिओ सो विप्पलवेज्ज जं किं पि।१५०२। उब्भासेज्ज व गुणसेढीदो उदरणबुद्धिओ खवओ। छट्ठं दोच्चं पढम बसिया कुंटिलिदपदमिच्छंतो।१५०३। चेयंतोपि य कम्मोदएण कोइ परीसहपरद्धो। उब्भासेज्ज बउक्कावेज्ज व भिंदेज्ज व पदिण्णं।१५१०।—भूख-प्यास इत्यादि परिषहोंसे पीड़ित हो कर क्षपक निश्चेत होगा अथवा भ्रान्त होगा, अथवा मूर्च्छित होगा।१५०१। वेदनाकी असह्यतासे दुःखी होकर, परिषह और उपसर्गसे व्याकुल होकर क्षपक आपेमें नहीं रहेगा, जिससे वह बड़-बड़ करेगा।१५०२। अयोग्य भाषण बोलेगा, संयमसे गिरनेकी बुद्धि करेगा। रात्रिको भोजन-पान करनेका अथवा दिनमें प्रथम भोजन करनेका विचार उसके मनमें उत्पन्न होगा।१५०३। कोई क्षपक सावध होकर कर्मोदयसे परिषहोंसे व्याकुल होकर जो कुछ भी उचित-अनुचित भाषण करेगा। अथवा ली हुई प्रतिज्ञाओंका भंग करेगा।१५१०।

१०. उपरोक्त दशामें भी उसका त्याग नहीं करते

भ. आ./मू./१५११ ण हु सो कडुवं फरुसं व भाणिदव्वो ण खीसिदव्वो य। ण य वित्तासेदव्वो ण य वट्टदि हीलणं कादुं।१५११।—प्रतिज्ञा भंग करनेपर भी निर्यापकाचार्य उसे कड़वे और कठोर शब्द न बोले, उसकी भर्त्सना न करे, उसको भय न दिखावे अथवा उसका अपमान न करे।१५११।

११. यथावसर उपदेश देते हैं

१. सामान्य निर्देश

दे. उपदेश/३/४ [आक्षेपिणी, संवेजनी, और निर्वेजनी ये तीन कथाएँ क्षपकको सुनाने योग्य हैं। पर विक्षेपणी कथा नहीं।] (भ.आ./मू./ ६५५, १६०८)।

भ. आ./मू./गा. सं० का भावार्थ—[हे क्षपक ! तुम सुख स्वभावका त्याग करके चारित्रको धारण करो।५२२। इन्द्रिय व कषायोंको जीतो।५२३। हे क्षपक ! तू मिथ्यात्वका वमन कर। सम्यग्दर्शन, पंच-परमेष्ठी की भक्ति व ज्ञानोपयोगमें सदा प्रवृत्ति कर।७२२, ७२५। पंच महाव्रतोंका रक्षण कर, कषायोंका दमन कर, इन्द्रियोंको वश कर।७२३। (मू. आ./८३-९४)।

२. वेदनाकी उग्रतामें सारणात्मक उपदेश

भ. आ./मू./गा. सं० का भावार्थ—क्षुधादिसे पीड़ित होनेपर, वे आधार-वान् निर्यापकाचार्य क्षपककी मधुर व हितकर उपदेश द्वारा आर्त-ध्यानसे रक्षा करते हैं।४४१। हे मुनि ! यदि परिवारकोंने तेरा त्याग भी कर दिया है, तब भी तू कोई भय मत कर ऐसा कहकर उसे निर्भय करते हैं।४४३। शिक्षावचन रूप आहार देकर उसकी भूख-प्यास शान्त करते हैं।४४५। आचार्य क्षपकको आहारकी गृद्धिसे संयमकी हानि व असंयमकी वृद्धि दर्शाते हैं।६९६। जिसे सुनकर वह सम्पूर्ण अभिलाषाका त्याग करके वैराग युक्त व संसारसे भययुक्त हो जाता है।६९७। पूर्वाचरणका स्मरण करानेके लिए आचार्य उस क्षपकको भिन्न प्रकार पूछते हैं, जिससे कि उसकी लेश्या निर्मल हो जाती है।१५०४। हे मुने ! तुम कौन हो, तुम्हारा क्या नाम है, कहाँ रहते हो, अब कौनसा काल है अर्थात् दिन है या रात, तुम क्या कार्य करते हो, कैसे रहते हो ? मेरा क्या नाम है ? ।१५०५। ऐसा सुनकर कोई क्षपक स्मरणको प्राप्त हो जाता है कि मैंने यह अकालमें भोजन करनेकी इच्छा की थी। यह आचरण अयोग्य है, और अनुचित आचरणसे निवृत्त हो जाता है।१५०८। (मू. आ./९५-१०२)।

३. प्रतिज्ञाको कवच करनेके अर्थ उपदेश

भ. आ./मू./गा. सं० का भावार्थ—प्रतिज्ञा भंग करनेको उद्यत हुए क्षपकको निर्यापकाचार्य प्रतिज्ञा भंगसे निवृत्त करनेके लिए कवच करते हैं।१५१३। अर्थात् मधुर व हृदयस्पर्शी उपदेश देते हैं।१५१४। हे क्षपक ! तू दीनताको छोड़कर मोहका त्याग कर। वेदना व चारित्रके शत्रु जो राग व कोप उनको जीत।१५१५। तूने शत्रुको पराजित करनेकी प्रतिज्ञा की है, उसे याद कर। कौन कुलीन व स्वाभिमानी शत्रु समक्ष आनेपर पलायन करता है।१५१८। हे क्षपक ! तूने चारों गतियोंमें जो-जो दुःख सहन किये हैं उनको याद कर ।१५६१। [विशेष दे. वह-वह गति अथवा भ.आ./मू./१५६२-१६०१)] उस अनन्त दुःखके सामने यह दुःख तो ना के बराबर है।१६०२। अनन्त बार तुम्हें तीव्र भूख व प्यास सहन करनी पड़ी है।१६०५-१६०७। तुम संवेजनी आदि तीन प्रकार कथाएँ सुनो, जिससे कि तुम्हारा बल बढ़े।१६०८। कर्मोंका उदय होनेपर औषधि आदि भी असमर्थ हो जाती हैं।१६१०। मरण तो केवल उस भवमें ही होता है परन्तु असंयमसे सैकड़ों भवोंका नाश होता है।१६१४। असाताका उदय आने पर देव भी दुःख दूर करनेको समर्थ नहीं।१६१७-१६१९। अतः वह दुर्निवार है।१३२२। प्रतिज्ञा भंग करनेसे तो मरना भला है।१६३३। (दे. व्रत/१/७)। आहारकी लम्पटता पाँचों पापोंकी जननी है।१६४२। हे क्षपक ! यदि तेरी आहारकी अभिलाषा इस अन्तिम समयमें भी शान्त नहीं हुई हो तो अवश्य ही तू अनन्त संसारमें भ्रमण करनेवाला है।१६५२। हे क्षपक ! आज तक अनन्त बार तूने चारों प्रकारका आहार भक्षण किया है, पर तू तृप्त नहीं हुआ ।१६५७। जिह्वापर आनेके समय ही आहार सुखदायक प्रतीत होता है, पीछे तो दुःखदायक ही है।१६६०। वह सुख अत्यन्त क्षणस्थायी है।१६६२। तलवारकी धार एक भवमें ही नाशका कारण है पर अयोग्य आहार सैकड़ों भवोंमें हानिकारक है।१६६६। अब तू इस शरीरकी ममताको छोड़।१६६७। निःसंगत्वकी भावनासे अब इस मोहको क्षीण कर।१६७१। मरण समय संक्लेश परिणाम होनेपर ये संस्तर आदि बाह्य कारण तेरी सल्लेखनामें निमित्त न हो सकेंगे १६७२। (दे. सल्लेखना/१/७)। यद्यपि अब यह श्रम तुझे दुष्कर प्रतीत होता है परन्तु यह स्वर्ग व मोक्षका कारण है, इसलिए हे क्षपक ! इसे तू मत छोड़।१६७५। जैसे अभेद्य कवच धारण करके योद्धा रणमें शत्रुको जीत लेता है, वैसे ही इस उपदेशरूपी कवचसे युक्त होकर क्षपक परीषहोंको जीत लेता है।१६८१-१६८२।

६. मृत शरीरका विसर्जन व फल विचार

१. शव विसर्जन विधि

भ. आ./मू./गा. जे वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं। जग्गण-बंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा।१९७४। गीदत्था…रमिज्ज-काधेज्ज।१९७६-७७ (दे. अपवाद/३/६)। उवसय पडिहावणं…पि तो होज्ज।१९७८-७९। (दे. अपवाद/३/३);। तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता। उट्ठेंतरक्खणट्ठं गाम तत्तो सिरं किच्चा।१९८०। पुव्वाभोगिय मग्गेण आसु गच्छंति तं समादाय। अट्ठिदमणियत्तंता य पीट्ठदो ते अणिब्भंता।१९८१। तेण कुसमुट्ठि-धाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए। संथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगिं तत्थ।१९८३। जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा। संघरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवोच्छिण्णा १९८४। जत्तो दिसाए गामो तत्तो सीसं करित्त सोवधियं। उट्ठेतरक्खणट्ठं वोसरिदव्वं सरीरं तं।१९८६। जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करित्तु होज्ज सुरो। सो वि विबुज्झदि दट्ठूण सदेहं सोवधिं सज्जो।१९८७। गणरक्खत्थं तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण। एक्कं तु समे खेत्ते विसह्उसेत्ते दुवे देज्ज।१९९०। तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि। विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदियतदियाणं।१९९१। असदि तणे चुण्णेहिं व केसरच्छारि-ट्टियादिचुण्णेहिं। कादव्वोथ ककारो उवरिं हिट्ठा यकारो से।१९९२। —जिस समय भिक्षुका मरण हुआ होगा, उसी वेलामें उसका प्रेत ले जाना चाहिए। अवेलामें मर जानेपर जागरण, अथवा छेदन करना चाहिए।१९७४। [पराक्रमी मुनि उस शवके हाथ और पाँव तथा अँगूठा इनके कुछ भाग बाँधते हैं अथवा छेदते हैं। यदि ऐसा न करे तो किसी भूत या पिशाचके उस शरीरमें प्रवेश कर जानेकी सम्भावना है, जिसको लेकर वह शव अनेक प्रकारकी क्रीड़ाओं द्वारा संघको क्षोभ उत्पन्न करेगा।१९७६-१९७७। (दे.अपवाद/३/६)।—गृहस्थों से माँगकर लाये गये थाली आदि उपकरणोंको गृहस्थोंको वापस दे देने चाहिए। यदि सर्व जनोंको विदित किसी आर्यिका या क्षुल्लकने सल्लेखना मरण किया है तो उसके शवको किसी पालकी या विमानमें स्थापित करके गृहस्थजन उसे ग्रामसे बाहर ले जावें ।१९७८-१९७९। (दे. अपवाद/३/३)] शिबिकामें बिछानेके साथ उस शवको बाँधकर उसका मस्तक ग्रामकी ओर करना चाहिए। क्योंकि कदाचित् उसका मुख ग्रामकी तरफ न होनेसे वह ग्राममें प्रवेश नहीं करेगा। अन्यथा ग्राममें प्रवेश करनेका भय है।१९८०। पूर्वमें देखे गये मार्गसे उस शवको शीघ्र ले जाना चाहिए। मार्गमें न खड़े होना चाहिए और न पीछे मुड़कर देखना।१९८१। जिसने निषद्याका स्थान पहले देखा हो वह मनुष्य आगे ही वहाँ जाकर दर्भमुष्टिकी समानधारासे सर्वत्र सम ऐसा संस्तर करे।१९८३। दर्भ

तृणके अभावमें प्रासुक तण्डुल मसूरकी दाल इत्यादिकोंके चूर्णसे, कमल केशर वगैरहसे मस्तकसे लेकर पाँवतक बिना टूटी हुई रेखाएँ खेंचे ।१९८४। अब ग्रामकी दिशामें मस्तककर पीछीके साथ उस शवको उस स्थानपर रखे ।१९८६। जिसने सम्यग्दर्शनकी विराधनासे मरणकर देवपर्याय पाया है, वह भी पीछीके साथ अपना देह देखकर 'मैं पूर्व जन्ममें मुनि था' ऐसा जान सकेगा ।१९८७। गणके रक्षणके हेतु मध्यम नक्षत्रमें तृणका एक या दो प्रतिबिम्ब बनाकर उसके पास रखना चाहिए ।१९९०। उन्हें वहाँ स्थापनकर जोरसे बोलकर ऐसा कहें कि मैंने यह एक अथवा दो क्षपक तेरे अर्पण किये हैं। यहाँ रहकर ये चिरकाल पर्यन्त तप करें ।१९९१। यदि तृण न हों तो तण्डुल चूर्ण, पुष्प केसर, भस्म आदि जो कुछ भी उपलब्ध हो उससे ही वहाँ 'काय' ऐसा शब्द लिखकर उसके ऊपर क्षपकको स्थापन करे ।१९९२।

२. शरीर विसर्जनके पश्चात् संघका कर्तव्य

भ. आ./मू./१९९३-१९९६ उवगहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहारियं तु। पडिबोधित्ता सम्मं अप्पेदव्वं तयं तेसिं ।१९९३। आराधणपत्तीयं काउसग्गं करेदि तो संघो। अधिउत्ताए इच्छागारं खवयस्स वसधीए ।१९९४। सगणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइयं च तद्दिवसं। सज्झाइ परगणत्थे भयणिज्जं खमणकरणं पि ।१९९५। एवं पडिट्ठविता पुणो वि तदियदिवसे उवेक्खंति। संघस्स सुहविहारं तस्स गदी चेव णादुंजे ।१९९६। —मृतकको निषीधिकाके पास ले आनेके समय जो कुछ वस्त्र काष्ठादिक उपकरण गृहस्थोंसे याचना करके लाया गया था उसमें जो कुछ लौटाकर देने योग्य होगा वह गृहस्थोंको समझाकर देना चाहिए ।१९९३। चार आराधनाओंकी प्राप्ति हमको होवे ऐसी इच्छासे संघको एक कायोत्सर्ग करना चाहिए। क्षपककी वसतिकाका जो अधिष्ठाता देवता है उसके प्रति 'यहाँ संघ बैठना चाहता है' ऐसा इच्छाकार करना चाहिए ।१९९४। अपने गणका मुनि मरणको प्राप्त होवे तो उपवास करना चाहिए और उस दिन स्वाध्याय नहीं करनो चाहिए। यदि परगणके मुनिकी मृत्यु हुई हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। उपवास करे अथवा न करे ।१९९५। उपर्युक्त क्रमसे क्षपकके शरीरकी स्थापना कर पुनः तीसरे दिन वहाँ जाकर देखते हैं कि संघका सुखसे विहार होगा या नहीं और क्षपकको कौनसी गति हुई है। [ये बातें जाननेके लिए, पक्षियों द्वारा इधर-उधर ले जाकर डाले गये, शवके अंगोपांगोंको देखकर विचारते हैं। (दे. अगला शीर्षक)] ।१९९६।

३. फल विचार

१. निषीधिकाकी दिशाओंपरसे

भ. आ./मू./१९७१-१९७३ जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए। वसधीदो वण्णिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ।१९७०। सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तगं सुलभं। अवराए सुह-विहारो होदि य उवधिस्स लाभो य ।१९७१। जद तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ। अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ।१९७२। एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमंतुमा य कलहो य। भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ।१९७३। —वह निषीधिका क्षपककी वसतिकासे नैऋत्य दिशामें, दक्षिण दिशामें, अथवा पश्चिम दिशामें होनी चाहिए। इन दिशाओंमें निषीधिकाकी रचना करना प्रशस्त माना गया है ।१९७०। नैऋत्य दिशाकी निषीधिका सर्वसंघके लिए समाधिकी कारण है। अर्थात् वह संघका हित करनेवाली है। दक्षिण दिशाकी निषीधिकासे संघको आहार सुलभतासे मिलता है। पश्चिम दिशामें निषीधिका होनेसे संघका सुखसे विहार होता रहेगा, और उनको पुस्तक आदि उपकरणोंका लाभ होता रहेगा ।१९७१। यदि उपरोक्त तीन दिशाओंमें निषीधिका बनवानेमें कुछ बाधा उपस्थित होती है तो १. आग्नेय, २. वायव्य, ३. ऐशान्य, ४. उत्तर दिशाओंमेंसे भी किसी एक दिशामें बनवानी चाहिए ।१९७२। इन दिशाओंका फल क्रमसे—१. संघमें 'मैं ऐसा हूँ, तू ऐसा है' इस प्रकारकी स्पर्धा, २. संघमें कलह, फूट, व्याधि, परस्पर खेंचातानी और मुनिमरण समझना चाहिए ।१९७३।

२. शवके संस्तरपरसे

भ. आ./मू./१९८५ जदि विसमो संथारो उवरिं मज्झे व होज्ज हेट्ठा वा। मरणं व गिलाणं वा गणिवसभजदीण णायव्वं ।१९८५। —यदि तण्डुल चूर्ण आदिसे अंकित संस्तरमें रेखाएँ ऊपर नीचे व मध्यमें विषम हैं तो वह अनिष्ट सूचक है। ऊपरकी रेखाओंके विषम होनेपर आचार्यका मरण अथवा व्याधि; मध्यकी रेखाएँ विषम होनेपर एलाचार्यका मरण अथवा व्याधि, और नीचेकी रेखाओंके विषम होनेपर सामान्य यतिका मरण अथवा व्याधिको सूचना मिलती है ।१९८५।

३. नक्षत्रों परसे

भ. आ./मू./१९८८-१९८९ णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु सव्वेसिं। एको दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ।१९८८। सद-भिसभरणा अद्दा सादा असलेस्स जिट्ठ अवरवरा। रोहिणिविसाह-पुणव्वसुत्ति उत्तरा मज्झिमा सेसा ।१९८९। —जो नक्षत्र १५ मुहूर्तके रहते हैं उनको जघन्य नक्षत्र कहते हैं। शतभिषक, भरणी, आर्द्रा, स्वाती, आश्लेषा इन छह नक्षत्रोंमेंसे किसी एक नक्षत्र पर अथवा उसके अंशपर यदि क्षपकका मरण होगा तो सर्व संघका क्षेम होगा। ३० मुहूर्तके नक्षत्रोंको मध्यम नक्षत्र कहते हैं। अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपदा और रेवती इन १५ नक्षत्रों-पर अथवा इनके अंशोंपर क्षपकका मरण होनेसे, और भी एक मुनि-का मरण होता है। ४५ मुहूर्तके नक्षत्र उत्कृष्ट हैं—उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपद, पुनर्वसु, रोहिणी इन छहमेंसे किसी नक्षत्रपर अथवा उसके अंशपर क्षपकका मरण होनेसे और भी दो मुनियोंका मरण होता है।

४. शरीरके अंगोपांगोंपरसे

भ.आ./मू./१९९७ जदिदिवसे संचिट्ठदि तमणालद्धं च अक्खदं मडयं। तद्दिवसिसाणि सुभिक्खं खेमसिवं तम्हि रज्जम्मि ।१९९७। जं वा दिवसमुवणीदं सरीरयं खगचदुप्पदगणेहिं। खेमं सिवं सुभिक्खं विह-रिज्जो तं दिसं संघो ।१९९८। जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे। कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णादव्वो ।१९९९। वेमाणिओ थलगदो समम्मि जो दिसि य वाणविंतरओ। गड्डाए भवणवासी एस गदी से समासेणे ।२०००। —जितने दिन तक वृकादि पशु-पक्षियोंके द्वारा वह क्षपक शरीर स्पर्शित नहीं होगा और अक्षत रहेगा उतने वर्षतक उस राज्यमें क्षेम रहेगा ।१९९७। पक्षी अथवा चतुष्पद प्राणी जिस दिशामें उस क्षपकका शरीर ले गये होंगे, उस दिशामें संघ विहार करे, क्योंकि वे अंग उस दिशामें क्षेमके सूचक हैं ।१९९८। क्षपकका मस्तक अथवा दन्तपंक्ति पर्वतके शिखरपर दीख पड़ेगी तो यह क्षपक कर्ममलसे पृथक् होकर मुक्त हो गया है, ऐसा समझना चाहिए ।१९९९। क्षपकका मस्तक उच्च स्थलमें दीखने-पर वह वैमानिक देव हुआ है, समभूमिमें दीखनेपर ज्योतिष्क देव अथवा व्यन्तर देव और गड्ढेमें दीखनेपर भवनवासी देव हुआ समझना चाहिए ।२०००।

सवरी गुह्यगूहन—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे. व्युत्सर्ग १।

सवर्णकारिणी—दे. विद्या।

सविचार—दे. विचार।

सविपाक—दे. विपाक।

ससिक्थ—भ. आ./वि./७००/८८२/७ ससिरथर्गं सिरथसहितं।—जिसमें भातके सिक्थ हों ऐसा पानक या माँड।

सहकारी—

गा. अ./मू./२१८ सव्वाणं दव्वाणं जो उवयारो हवेइ अण्णोण्णं। सो चिय कारणभावो हवदि हु सहकारिभावेण।२१८।—सभी द्रव्य परस्परमें जो उपकार करते हैं वह सहकारी कारणके रूपमें ही करते हैं। (विशेष दे. कारण/III/२/५-६)।

सहचर—दे. हेतु।

सहज—स्वाभाविक—(दे. नि. सा./ता. वृ./१५)।

सहज दुःख—दे. दुःख।

सहज विपर्यय—दे. विपर्यय।

सहदेव—पां. पु./सर्ग/श्लो—रानी माद्रीसे पाण्डुका पुत्र था। (८/१७४-१७५) भीष्मपितामहसे तथा द्रोणाचार्यसे धनुर्विद्या सीखी। (८/२०८-२१४)। (विशेष दे. पाण्डव)। अन्तमें दीक्षा धारण की। (२५/१२)। घोर तप किया। (२५/१७-५१)। दुर्योधनके भानजे द्वारा शत्रुञ्जयगिरिपर घोर उपसर्ग होनेसे साम्यता पूर्वक देह त्यागकर सर्वार्थसिद्धि गये। (२५/५२-१३६)। पूर्वभव सं० २ में मित्री ब्राह्मणी थे (२३/८२) तथा पूर्वभव सं० १ में अच्युत स्वर्गमें देव हुए। (२३/११४) और वर्तमान भवमें सहदेव हुए। (२४/७७)।

सहदेवी—प. पु./सर्ग/श्लोक—सुकौशल मुनिकी माता थी। (२१/१५६)। पुत्र सुकौशलके मुनि हो जानेपर उसके वियोगमें मरकर सिंहनी हुई। (२२/४६)। पूर्वके क्रोधवश सुकौशलको खा लिया। (२२/८५-८८)। अन्तमें सुकौशलके पिता कीर्तिधरसे पूर्वभव जानकर पश्चात्ताप पूर्वक देह त्याग स्वर्गमें गयी। (२२/६७)।

सहनानी—गणितमें किसी प्रक्रियाके लिए कल्पित किया गया कोई चिन्ह, अक्षर, अंक आदि—दे. गणित/I/२-४।

सहभाव—१. अविनाभावका एक भेद। दे. अविनाभाव। २. गुणद्रव्यका स्वभावी विशेष है—दे. गुण/३/२।

सहभू—दे. सहभाव।

सहवृत्ति—पं. का./ता. वृ./५०/६६/५ समवृत्तिः सहवृत्तिर्गुणगुणिनोः कथंचिदेकत्वेनादितादात्म्यसम्बन्ध इत्यर्थः।—समवृत्ति अर्थात् गुण और गुणीका साथ-साथ रहना अर्थात् उनका कथंचित् एकत्व अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध।

सहसातिचार—दे. अतिचार/३।

सहसा निक्षेपाधिकरण—दे. अधिकरण।

सहस्रनयन—प. पु./५/७६ सगर चक्रवर्तीका साला तथा सुलोचनाका पुत्र।

सहस्रनाम स्तव—पं० आशाधर (ई. ११७३-१२४३) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ जिसमें १००८ नामों द्वारा भगवान्‌का स्तवन किया गया है। इसपर आ. श्रुतसागर (ई. १४७३-१५३३) ने एक टीका लिखी है। विशेष—दे. अर्हन्त/१।

सहस्रपर्वा—दे. विद्या।

सहस्ररश्मि—प पु./१०/श्लोक—माहिष्मती नगरीका राजा था।६७। रावणकी पूजामें बाधा डालनेके कारण।६१। युद्धमें।११४। रावण द्वारा पकड़ा गया।१२१। अन्तमें पिता शतबाहुकी प्रार्थनापर छोड़ा जाकर दीक्षा धारण कर ली।१४७, १६८।

सहस्रायुध—म. पु./६३/श्लोक—वज्रायुधका पुत्र था।४५। मुनि पिहितास्रवसे दीक्षा लेकर, पिताका भोग समाप्त होनेपर उसके पास जाकर घोर तप किया। संन्यासमरण कर अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ।१३८-१४१।

सहस्रार—१. बारहवाँ स्वर्ग—दे. स्वर्ग/५/२। २. प. पु./७/१४—रथनूपुरका राजा था। इसके पुत्र इन्द्रने रावणके दादा 'माली' को मारा था। पीछे रावण द्वारा युद्धमें परास्त किया गया।

सहानवस्था—दे. विरोध।

सह्य—मलयगिरिके समीपमें स्थित एक पर्वत—दे. मनुष्य/४।

सांख्य—१. सामान्य परिचय

स. म./परि-ख./पृ. ४२१ आत्माके तत्त्वज्ञानको अथवा सम्यग्दर्शन प्रतिपादक शास्त्रको सांख्य कहते हैं। इनको ही प्रधानता देनेके कारण इस मतका नाम सांख्य है। अथवा २५ तत्त्वोंका वर्णन करनेके कारण सांख्य कहा जाता है।

२. प्रवर्तक साहित्य व समय

स. म./परि-ख./पृ. ४२३ १. इसके मूल प्रणेता महर्षि कपिल थे, जिन्हें क्षत्रिय पुत्र बताया जाता है और उपनिषदों आदिमें जिसे अवतार माना गया है। कृतियाँ—सांख्य प्रवचन सूत्र, तथा तत्त्व समास। समय—भगवान् वीर व बुद्धसे पूर्व। २. कपिलके साक्षात् शिष्य आसुरि हुए। समय—ई. पू. ६००। ३. आसुरिके शिष्य पंचशिख थे। इन्होंने इस मतका बहुत विस्तार किया। कृतियाँ—तत्त्वसमास पर व्याख्या। समय—गार्बेके अनुसार ई. श. १। ४. वार्षगण्य भी इसी गुरु परम्परामें हुए। समय ई. २३०-३००। वार्षगण्यके शिष्य विन्ध्यवासी थे। जिनका असली नाम रुद्रिल था। समय—ई. २५०-३२०। ५. ईश्वर कृष्ण बड़े प्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं। कृतियाँ—षष्टितन्त्रके आधारपर रचित सांख्यकारिका या सांख्य सप्तति। समय—एक मान्यताके अनुसार ई. श. २ तथा दूसरी मान्यतासे ई. ३४०-३८०। ६. सांख्य कारिकापर माठर और गौड़पादने टीकाएँ लिखी हैं। ७. वाचस्पति मिश्र (ई. ८४०) ने न्याय वैशेषिक दर्शनोंकी तरह सांख्यकारिकापर सांख्यकौमुदी और व्यास भाष्यपर तत्त्व वैशारदी नामक टीकाएँ लिखीं। ८. विज्ञानभिक्षु एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इन्होंने पूर्वके विस्मृत ईश्वरवादका पुनः उद्धार किया। कृतियाँ—सांख्यसूत्रोंपर सांख्य प्रवचन भाष्य तथा सांख्यसार, पातञ्जलभाष्य वार्तिक, ब्रह्म सूत्रके ऊपर विज्ञानामृत भाष्य आदि ग्रन्थोंकी रचना की। ९. इनके अतिरिक्त भी—भार्गव, वाल्मीकि, हारीति, देवल, सनक, नन्द, सनातन, सनत्कुमार, अंगिरा आदि सांख्य विचारक हुए।

२. तत्त्व विचार

(षड् दर्शन समुच्चय/३४-४२/३२-३७); (भारतीय दर्शन)। १. मूल पदार्थ दो हैं—पुरुष व प्रकृति। २. पुरुष चेतन तत्त्व है। वह एक निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त, सूक्ष्म, व इन्द्रियातीत है। ३. प्रकृति जड़ है। वह दो प्रकार है—परा व अपरा। परा प्रकृतिको प्रधान मूला या अव्यक्त तथा अपरा प्रकृतिको व्यक्त कहते हैं। अव्यक्त प्रकृति तीन गुणोंकी साम्यावस्था स्वरूप है, तथा वह एक है। व्यक्तप्रकृति अनित्य, अव्यापक, क्रियाशील तथा सगुण है। यह सूक्ष्मसे स्थूल पर्यन्त क्रमसे २३ भेद रूप है—महत् या बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्राएँ व पाँच भूत। ४. सत्त्व, रज व तम तीन गुण हैं। सत्त्व, प्रकाशस्वरूप 'रज' क्रियाशील,

और 'तम' अन्धकार व अवरोधक स्वरूप है। यह तीनों गुण अपनी साम्यावस्थामें सदृश परिणामी होनेसे अव्यक्त रहते हैं और वैसा दृश्य होनेपर व्यक्त हैं, क्योंकि तब कभी तो सत्त्व गुण प्रधान हो जाता है और कभी रज या तमोगुण। उस समय अन्य गुणोंकी शक्ति हीन रहनेसे वे अप्रधान होते हैं। ५. रजो गुणके कारण व्यक्त व अव्यक्त दोनों ही प्रकृति नित्य परिणमन करती रहती हैं। वह परिणमन तीन प्रकारका है—धर्म, लक्षण व अवस्था। धर्मोंका आविर्भाव व तिरोभाव होना धर्मपरिणाम है, जैसे मनुष्यसे देव होना। प्रतिक्षण होनेवाली सूक्ष्म विलक्षणता लक्षण परिणाम है और एक ही रूपसे टिके हुए अवस्था बदलना अवस्था परिणाम है जैसे बच्चेसे बूढ़ा होना। इन तीन गुणोंकी प्रधानता होनेसे बुद्धि आदि २३ तत्त्व भी तीन प्रकार हो जाते हैं—सात्त्विक, राजसिक, व तामसिक। जैसे—ज्ञान-वैराग्य पूर्ण बुद्धि सात्त्विक है, विषय विलासी राजसिक है और अधर्म हिंसा आदिमें प्रवृत्त तामसिक है—इत्यादि। ६. चक्षु, आदि ज्ञानेन्द्रिय हैं। हाथ, पाँव, वचन, गुदा व जननेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय है, ज्ञानेन्द्रियोंके विषयभूत रूप आदि पाँच तन्मात्राएँ है और उनके स्थूल विषयभूत पृथ्वी आदि भूत कहलाते हैं।

४. ईश्वर व सुख-दुःख विचार

षड्दर्शन समुच्चय (३५-३६/२२-३३): (भारतीय दर्शन)। १. ये लोग ईश्वर तथा यज्ञ-याग आदि क्रियाकाण्डको स्वीकार नहीं करते। २. सत्त्वादि गुणोंकी विषमताके कारण ही सुख-दुख उत्पन्न होते हैं। वे तीन प्रकारके हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, व आधिदैविक। ३. आध्यात्मिक दो प्रकार हैं—कायिक व मानसिक। मनुष्य, पशु आदि कृत आधिभौतिक और यक्ष, राक्षस आदि या अतिवृष्टि आदिकृत आधिदैविक हैं।

५. सृष्टि, प्रलय व मोक्ष विचार

षड्दर्शन समुच्चय (४४/३८); (भारतीय दर्शन)। १. यद्यपि पुरुष तत्त्व रूपसे एक है। प्रकृतिकी विकृतिसे चेतन प्रतिबिम्ब रूप जो बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं—वे अनेक हैं। जड़ होते हुए भी यह बुद्धि चेतनवत् दीखती है। इसे ही बद्ध पुरुष या जीवात्मा कहते हैं। त्रिगुणधारी होनेके कारण यह परिणामी है। २. महत्, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ व पाँच तन्मात्राएँ, प्राण व अपान इन सत्तरह तत्त्वों-से मिलकर सूक्ष्म शरीर बनता है जिसे लिंग शरीर भी कहते हैं। वह इस स्थूल शरीरके भीतर रहता है, सूक्ष्म है और इसका मूल कारण है। यह स्वयं निरूपण योग्य है, पर नटकी भाँति नाना शरीरोंको धारण करता है। ३. जीवात्मा अपने अदृष्टके साथ परा प्रकृतिमें लय रहता है। जब उसका अदृष्ट पाकोन्मुख होता है तब तमो गुणका प्रभाव हट जाता है। पुरुषका प्रतिबिम्ब उस प्रकृतिपर पड़ता है, जिससे उसमें क्षोभ या चंचलता उत्पन्न होती है और स्वतः परिणमन करती हुई महत् आदि २३ विकारोंको उत्पन्न करती है। उससे सूक्ष्म शरीर और उससे स्थूल शरीर बनता है यही सृष्टि है। ४. अदृष्टके विषय समाप्त हो जानेपर ये सब पुनः उलटे क्रमसे पूर्वोक्त प्रकृतिमें लय होकर साम्यावस्थामें स्थित हो जाते हैं। यही प्रलय है। ५. अनादि कालसे इस जीवात्माको अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान नहीं है। २५ तत्त्वोंके ज्ञानसे उसे अपने स्वरूपका भान होता है तब उसके राजसिक व तामसिक गुणोंका अभाव हो जाता है। एक ज्ञानमात्र रह जाता है, वही कैवल्यकी प्राप्ति है। इसे ही मोक्ष कहते हैं। ६. वह मुक्तात्मा जब तक शरीरमें रहता है तब तक जीवन्मुक्त कहलाता है और शरीर छूट जानेपर विदेह मुक्त कहलाता है। ७. पुरुष व मुक्त जीवमें यह अन्तर है कि पुरुष तो एक है और मुक्तात्माएँ अपने अपने सत्त्व गुणोंकी पृथक्ताके कारण अनेक हैं। पुरुष, अनादि व नित्य है और मुक्तात्मा सादि व नित्य।

६. कारण कार्य विचार

(भारतीय दर्शन) ये लोक सत्कार्यवादी हैं। अर्थात् इनके अनुसार कार्य सदा अपने करणभूत पदार्थमें विद्यमान रहता है। कार्य क्षणसे पूर्व वह अव्यक्त रहता है। उसकी व्यक्ति ही कार्य है। वस्तुतः न कुछ उत्पन्न होता है न नष्ट।

७. प्रमाण विचार

(भारतीय दर्शन) प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम तीन प्रमाण मानता है। अनुमान व आगम नैयायिकोंवत् है। 'बुद्धि' अहंकार व मनको साथ लेकर बाहर निकल जाती है। और इन्द्रिय विशेषके द्वारा उसके प्रतिनियत विषयको ग्रहण करके तदाकार हो जाती है। बुद्धिका विषयाकार होना ही प्रत्यक्ष है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. वैदिक अन्य दर्शनोंका क्रमिक विकास—दे. दर्शन।
२. साधु तथा साधना—दे. योगदर्शन।
३. सांख्य व योगदर्शनकी तुलना—दे. योगदर्शन।

८. जैन बौद्ध व सांख्यदर्शनकी तुलना

स्या. म./परि-घ./पृ. ४२० १. जैन व बौद्धकी तरह सांख्य भी वेद, ईश्वर, याज्ञिक क्रियाकाण्ड, व जाति भेदको स्वीकार नहीं करता। जैनोंकी भाँति ही बहु आत्मवाद तथा जीवका मोक्ष होना मानता है। जैन व बौद्धकी भाँति परिणामवादको स्वीकार करता है। अपने तीर्थंकर कपिलको क्षत्रियोंमें उत्पन्न हुआ मानता है। वैदिक देवी-देवताओंपर विश्वास नहीं करता और वैदिक ऋचाओंपर कटाक्ष करता है। तत्त्वज्ञान, संन्यास, व तपश्चरणको प्रधानता देता है। ब्रह्मचर्यको यथार्थ यज्ञ मानता है। गृहस्थ धर्मकी अपेक्षा संन्यास धर्मको अधिक महत्त्व देता है। [self] २. सांख्योंकी भाँति जैन भी किसी न किसी रूपमें २५ तत्त्वोंको स्वीकार करते है। तथा परम भावग्राही द्रव्यार्थिक नयसे स्वीकार किया गया एक, व्यापक, नित्य, चैतन्यमात्र, जीव तत्त्व ही पुरुष है। संग्रह नयसे स्वीकार किया गया एक, व्यापक, नित्य, अजीव तत्त्व ही अव्यक्त प्रकृति है। द्रव्य व भावकर्म व्यक्त प्रकृति है। शुद्ध निश्चय नयसे जिसे उपरोक्त प्रकृतिका कार्य, विकार तथा जड़माया कहा गया है, ऐसा ज्ञानका क्षयोपशम सामान्य महत् या बुद्धि तत्त्व है, मोहजनित सर्व भाव-अहंकार तत्त्व हैं, संकल्प विकल्प रूप भावमन मनतत्त्व है, पाँचों भावेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। व्यवहार नयसे भेद करके देखा जाये तो शरीरके अवयवभूत वाक्, पाणि, पाद आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी पृथक् तत्त्व हैं। शुद्ध निश्चय नयसे ये सभी तत्त्व चिदाभास हैं, यही प्रकृतिपर पुरुषका प्रतिबिम्ब है। यह तो चेतन जगत्का विश्लेषण हुआ। जड़ जगत्की तरफ भी इसी प्रकार शुद्ध कारण परमाणु व्यक्त प्रकृति है। शुद्ध ऋजुसूत्र या पर्यायार्थिक दृष्टिसे भिन्न माने गये स्पर्श रस आदि उस परमाणुके गुणोंके स्वलक्षणभूत अविभाग प्रतिच्छेद ही तन्मात्राएँ हैं। नैगम व व्यवहार नयसे अविभाग प्रतिच्छेदोंसे युक्त परमाणु और परमाणुओंके बन्धसे पृथिवी आदि पाँच भूतोंकी उत्पत्ति होती है। असद्भूत व्यवहार नयसे द्रव्यकर्मरूप कार्मण शरीर और अशुद्ध निश्चयनय औदारिक व क्षायोपशमिक भावरूप कार्मण शरीर ही जीवका सूक्ष्म शरीर है जिसके कारण उसके स्थूल शरीरका निर्माण होता है और जिसके

विनाशसे उसका मोक्ष होता है। सृष्टि मोक्षकी यही प्रक्रिया सांख्यमतको मान्य है। शुद्ध पारिणामिक भावरूप पुरुष व अव्यक्त प्रकृतिको ही तत्त्वरूपसे देखते हुए अन्य सब भेदोंको उसीमें लय कर देना शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि है। वही परमार्थ ज्ञान या विवेक ख्याति है। तथा वही एक मात्र साक्षात् मोक्षका कारण है। इस प्रकार सांख्य व जैन तुल्य हैं। ३ परन्तु दूसरी ओर जैन तो उपरोक्त सर्व नयोंके विरोधी भी नयोंके विषयोंको स्वीकार करते हुए अनेकान्तवादी हैं और सांख्य उन्हें न स्वीकार करते हुए एकान्तवादी हैं। यथा संग्रहनयसे जो पुरुष व प्रकृति तत्त्व एक-एक व सर्व व्यापक हैं वही व्यवहार नयसे अनेक व अव्यापक भी हैं। शुद्ध निश्चय नयसे जो पुरुष नित्य है अशुद्ध निश्चय नयसे अनित्य भी है। शुद्ध निश्चय नयसे जो बुद्धि, अहंकार, मन व ज्ञानेन्द्रिय प्रकृतिके विकार हैं अशुद्ध निश्चय नयसे वही जीवकी स्वभावभूत पर्यायें हैं। इत्यादि। इस प्रकार दोनों दर्शनोंमें भेद है।]

सांतर निरन्तर वर्गणा—दे. वर्गणा/१।

सांतरबन्धी प्रकृति—दे. प्रकृति बन्ध/२।

सांतर मार्गणा—दे. मार्गणा।

सांतर स्थिति—दे. स्थिति/१।

सांद्र—नियमित सान्द्र—Regular Solid (जं. प./प्र. १०७)।

सांपराय—दे. संपराय।

सांपरायिक आस्रव—दे. आस्रव/१/५।

सांप्रति—सम्राट् अशोकका दादा व चन्द्रगुप्त मौर्यका पुत्र था। मगधका जैनधर्मानुयायी राजा था। मौर्य वंशकी वंशावलीके अनुसार इसका समय जैन मान्यतानुसार ई. पू. ३६४-३२४ तथा वर्तमान इतिहासके अनुसार ई. पू. २९८-२९८ आता है।—दे. इतिहास/३/३ (आ हेमचन्द्र रचित परिशिष्ट पर्व/९६-१०)।

सांप्रतिक कृष्टि—दे. कृष्टि।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—दे. प्रत्यक्ष/१/४।

सांशयिक मिथ्यात्व—दे. संशय।

साकांक्ष अनशन—दे. अनशन।

साकार—चेतनकी विकल्पात्मक वृत्ति अर्थात् ज्ञान—दे. आकार।

साकारमन्त्रभेद—स सि/७/२६/३६६/११ अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूविक्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य तदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं यत्तत्साकारमन्त्रभेद इति कथ्यते।—अर्थवश, प्रकरणवश, शरीरके विकारवश या भ्रूक्षेप आदिके कारण दूसरेके अभिप्रायको जानकर डाहसे उसका प्रगट कर देना साकारमन्त्रभेद है। (रा. वा./७/२६/५/५५४/१)।

साकेत—भरत क्षेत्रका एक नगर। अपर नाम अयोध्या। दे. मनुष्य/४।

सागर—मध्यलोकमें द्वीपोंके वेष्टित करते हुए एकके पीछे एक करके असंख्यात सागर स्थित हैं—दे.लोक/२/११। २. मान्यवान् गजदन्तपर स्थित एक कूट तथा नन्दनवनका एक कूट—दे. लोक/५/१४। ३. भूतकालीन द्वितीय तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५। ४. कालका एक प्रमाण—दे. गणित/I/१/५।

सागरवृद्धि—वरांग चरित्र/१४/७१—ललितपुरका एक वणिक् तथा वरांगका धर्म पिता।

सागरोपम—कालका एक प्रमाण—दे. गणित/I/१/५।

सागार—

चा. पा./मू./२१, २३ सायारं सग्गंथे…।२१। पंचेवाणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि। सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं।२३।—सागार संयमाचरण परिग्रहसहित श्रावकके होता है।२१। अणुव्रत पाँच, गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार ऐसे १२ प्रकार संयमाचरण चारित्र सो सागार है—विशेष, दे. व्रत प्रतिमा। (सा. ध./१/१२)।

प. वि./१/१३ आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैः पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या। तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं, तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः।१३। …एकादश स्थानानीति गृहिव्रते व्यसनितात्यागस्तदाद्यः स्मृतः।१४।—जिस गृहस्थ अवस्थामें जिनेन्द्रकी आराधना की जाती है, निर्ग्रन्थ गुरुओंके प्रति विनय, धर्मात्माओंके प्रति प्रीति व वात्सल्य, पात्रोंको दान, आपत्ति ग्रस्त पुरुषोंको दया बुद्धिसे दान, तत्त्वोंका परिशीलन, व्रतों व गृहस्थ धर्ममें प्रेम तथा निर्मल सम्यग्दर्शन धारण करना, ये सब किया जाता है वह गृहस्थ अवस्था विद्वानोंके लिए पूजनेके योग्य है अन्यथा दुःखरूप है। श्रावक धर्ममें ग्यारह प्रतिमाएँ निर्दिष्ट की गयी हैं। उस सबके आदिमें द्यूतादि व्यसनोंका त्याग स्मरण किया गया है।१४। (विशेष दे श्रावक)।

सा. ध/१/२ अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुःसंज्ञाज्वरातुराः। शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः सागारा विषयोन्मुखाः।२। —अनादिकालीन अविद्यारूपी वात पित्त कफसे उत्पन्न आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञारूपी ज्वरोंसे दुःखी और सदा अपने आत्मज्ञानसे विमुख तथा पंचेन्द्रियके विषयोंके उन्मुख, ऐसे सागार होते हैं। अर्थात् सकल परिग्रह सहित घरमें रहनेवाले सागार होते हैं।

सागारधर्मामृत—पं आशाधर (ई. ११७३-१२४३) द्वारा रचित संस्कृत श्लोक बद्ध श्रावकाचार विषयक विस्तृत ग्रन्थ। इसमें आठ अध्याय और ४७७ श्लोक हैं। (ती./४/४५)।

सातकर्णी—भृत्यवंशके गौतमीपुत्र शालिवाहनका दूसरा नाम। समय—वी. नि. ६००-६४६ (ई. ७४-१२०)—दे. इतिहास/३/४।

सातगारव—दे. गारव।

साततत्त्व व्यसन आदि—दे. सप्त।

सातत्य—Continuum (ध. ५/प्र. २८)।

साता—दे. 'वेदनीय'

सातिप्रयोग—मायाके एक भेद—दे माया/२।

सातिरेक—Excess—(जं. प्र./प्र. १०६)।

सातिशय अप्रमत्त—दे. संयत/१/४।

सातिशय मिथ्यादृष्टि—दे. मिथ्यादृष्टि/१/३।

सात्यकि पुत्र—११ वें रुद्र—दे. शलाका पुरुष/७।

सात्त्विक दान—दे. दान/१/५।

सादि—दे. अनादि।

सादृश्य—स. भ. त./७४/४—तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं सादृश्यम्। यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकरत्वादि मुखे

चन्द्रसादृश्यम् ।–उससे भिन्न हो तथा उसमें रहनेवाले धर्म पदार्थमें हों, यही सादृश्य है। जैसे चन्द्रमासे भिन्न रहते चन्द्रगत आह्लादकरत्व वर्तुलाकार युक्तत्व यह चन्द्रसादृश्य मुखमें है।

सादृश्य प्रत्यभिज्ञान—दे. प्रत्यभिज्ञान।

सादृश्यास्तित्व—दे. अस्तित्व।

साधक श्रावक—दे. श्रावक/१/२।

साधन—१.लक्षण

१. हेतुके अर्थमें

श्लो. वा./३/१/१३/श्लो. १२२/२६६ अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनं।–अन्यथा अनुपपत्ति ही एक जिसका लक्षण है, वह साधन है। (सि. वि./वृ./५/२२/३५१/७); (और भी दे. हेतु/१/१)।

न्या. दी./३/§११/६६ निश्चितसाध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनम्। यस्य साध्याभावासंभवनियमरूपा व्याप्त्यविनाभावाद्यपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्तिस्तर्काख्येन प्रमाणेन निर्णीता तत्साधनमित्यर्थः। तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः—"अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्ग्यते" [वादन्याय -] इति।–जिसकी साध्यके साथ अन्यथानुपपत्ति निश्चित है उसे साधन कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसकी साध्यके अभावमें नहीं होने रूप व्याप्ति, अविनाभाव आदि नामोंवाली साध्यानुपपत्ति–साध्यके होनेपर ही होना और साध्यके अभावमें नहीं होना–तर्क नामके प्रमाण द्वारा निर्णीत है वह साधन है। श्री कुमारनन्दि भट्टारकने भी कहा है—"अन्यथानुपपत्तिमात्र जिसका लक्षण है उसे लिंग कहा गया है।"—(और भी दे. हेतु/१/१)।

२. चारित्रके अर्थमें

भ. आ./वि./२/१४/२१ उपयोगान्तरेणान्तर्हितानां दर्शनादिपरिणामानां निष्पादनं साधनं।–अन्य कार्यके प्रति ज्ञानोपयोग लगनेसे तिरोहित हुए दर्शनादिपरिणामोंको उत्पन्न करना, अर्थात् नित्य व नैमित्तिक कार्य करनेमें चित्त लगनेसे तिरोहित हुए सम्यग्दर्शनादिकोंमेंसे, किसी एकको पुनः उपायोंके प्रयोगसे सम्पूर्ण करना साधन कहलाता है।

दे. श्रावक/१/२/४ [मरण समय आहार व मन वचन कायके व्यापारका त्याग करके आत्म शुद्धि करना साधन है। उसको करनेवाला श्रावक साधक श्रावक कहलाता है।]

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. कारणके अर्थमें साधन—दे. कारण/I/१/१।
२. साधन साध्य संबन्ध—दे. संबन्ध।
३. निश्चय व्यवहारमें साध्य साधन भाव—दे. सम्यग्दर्शन आदि वह वह नाम।

साधनमन्त्र—दे. मन्त्र/१/६।

साधन विकल—दे. दृष्टान्त/१/८।

साधन व्यभिचार—दे. नय/III/६/८।

साधर्म्य—स. भ. त./५१/२ साधर्म्यं नाम साध्याधिकरणवृत्तित्वेन निश्चितत्वम्।–साध्यके आधारोंमें जिसकी वृत्तिता निश्चित हो उसको साधर्म्य कहते हैं।

साधर्म्य उदाहरण—दे. दृष्टान्त/१/३।

साधर्म्य समा—

न्या. सू. व भाष्य/४/१/२ साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ।२।–निदर्शनं क्रियावानात्मा द्रव्यस्य क्रियाहेतुगुणयोगात्। द्रव्यं लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तः क्रियावान् तथा चात्मा तस्मात्क्रियावानिति। एवं उपसंहृते परः साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते निष्क्रिय आत्मा विभुनो द्रव्यस्य निष्क्रियत्वाद् विभु चाकाशं निष्क्रियं च तथा चात्मा तस्मान्निष्क्रिय इति।.. विशेषहेत्वभावात्साधर्म्यसमः प्रतिषेधो भवति। विशेषहेत्वभावात्साधर्म्यसमः प्रतिषेधो भवति। अथ वैधर्म्यसमः क्रियाहेतुगुणयुक्तो लोष्टः परिच्छिन्नो दृष्टो न च तथात्मा तस्मान्न लोष्टवत् क्रियावानिति।... विशेषहेत्वभावाद्वैधर्म्यसमः। वैधर्म्येण चोपसंहारे निष्क्रिय आत्मा विभुत्वात् क्रियावद् द्रव्यमविभु दृष्टं यथा लोष्टो न च तथात्मा तस्मान्निष्क्रिय इति वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं निष्क्रियं द्रव्यमाकाशं क्रियाहेतुगुणरहितं दृष्टं न तथात्मा तस्मान्न निष्क्रिय इति।... विशेषहेत्वभावाद्वैधर्म्यसमः क्रियावान् लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तो दृष्टः तथा चात्मा तस्मात् क्रियावानिति।–विशेष हेत्वभावात्साधर्म्यसमः।–१. वादी द्वारा साधर्म्यकी तरफसे हेतुका पक्षमें उपसंहार कर चुकनेपर उस साधर्म्यके विपर्यय धर्मकी उपपत्ति करनेसे जो वहाँ दूषण उठाया जाता है वह साधर्म्यसम प्रतिषेध माना गया है। २. और इसी तरह वादी द्वारा वैधर्म्यकी तरफसे पक्षमें हेतुका उपसंहार कर चुकनेपर पुनः प्रतिवाद द्वारा साध्य धर्मके विपर्ययकी उपपत्ति हो जानेसे वैधर्म्य या साधर्म्यकी ओरसे प्रत्यवस्थान दिया जाता है वह वैधर्म्यसमा जाति इष्ट की गयी है। ३. साधर्म्यसमाका उदाहरण–आत्मा क्रियावान् है क्योंकि यह एक द्रव्य है, और द्रव्य क्रिया हेतु गुणसे युक्त होनेके कारण क्रियावान् हुआ करता है। जैसे लोष्ट नामका द्रव्य क्रियाहेतु गुणसे युक्त होनेके कारण क्रियावान् है। इसप्रकार वादी द्वारा साधर्म्यकी तरफसे उपसहार किया जा चुकनेपर प्रतिवादी इसके विपर्ययमें यों कह रहा है कि आत्मा निष्क्रिय है, क्योंकि, यह विभु है और विभुद्रव्य निष्क्रिय हुआ करता है, जैसे कि आकाश। विशेष हेतुके अभावमें 'साधर्म्यसमा' प्रतिषेध होता है। वैधर्म्य समाका उदाहरण–क्रियाहेतुगुणसे युक्त लोष्ट तो परिच्छिन्न अर्थात् अव्यापक देखा जाता है, परमात्मा आत्मा तो वैसा नहीं है, इस लिए वह लोष्टकी भाँति क्रियावान् भी नहीं है। विशेष हेतुके अभावमें यह वैधर्म्यसमा जाति है। ४. अथवा वैधर्म्यको तरफसे उपसंहार किया जानेपर दोनोंके उदाहरण ऐसे हैं—आत्मा निष्क्रिय है, क्योंकि वह विभु है। लोष्टकी भाँति अविभु द्रव्य ही क्रियावान् देखा जाता है, परन्तु आत्मा वैसा नहीं है, इसलिए वह निष्क्रिय है, इस प्रकार वैधर्म्यकी तरफसे उपसंहार किया जा चुकनेपर प्रतिवादी वैधर्म्यके द्वारा ही प्रत्यवस्थान देता है कि निष्क्रिय आकाश द्रव्य ही क्रियाहेतु गुणसे रहित देखा जाता है, परन्तु आत्मा वैसा नहीं है, इसलिए वह निष्क्रिय नहीं है। विशेष हेतुके अभावमें यह वैधर्म्यसमा जाति है। क्रियावान् लोष्ट द्रव्य ही क्रियाहेतु गुणसे युक्त देखा जाता है और क्योंकि आत्मा भी वैसा ही है, इसलिए वह क्रियावान् है। विशेषहेतुके अभावमें यह साधर्म्यसमा जाति है। (श्लो. वा./४/१/३३/न्या. ३२५/४६२/५ तथा न्या./३२६/४५०/७)।

साधारण—१. साधारणत्वका लक्षण

स. भं. त./७८/६ अनेकव्यक्तिवृत्तित्वमेव हि साधारणत्वम्।–अनेक व्यक्तियोंमें अनुगतरूपसे होनेवाला वृत्तित्व ही साधारणत्व है। (विशेष दे. सामान्य)।

२. साधारणासाधारण शक्ति

स. सा./आ./परि/शक्ति नं. २६ स्वपरसमानासमानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्व-

शक्ति'।—स्व व परके समान, असमान और समानासमान ऐसे तीन प्रकारके भावोंकी धारणास्वरूप साधारण, असाधारण और साधारणासाधारण धर्मत्व शक्ति है।

३. साधारण व असाधारण हेत्वाभास

श्लो. वा./४/भाषाकार/१/३३/न्या./२७३/४२५/१३.१८ यः सपक्षे विपक्षे च भवेत् साधारणस्तु स।...यस्तूभयस्माद्व्यावृत्तः स त्वसाधारणो मतः।—व्यभिचारी हेत्वाभास तीन प्रकारका है—साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी। तहाँ जो हेतु सपक्ष व विपक्ष दोनोंमें रह जाता है वह साधारण है, और जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनोंमें नहीं ठहरता वह असाधारण है।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. साधारण व असाधारण गुण, निमित्त व पारिणामिक भाव —दे. वह वह नाम।

२. वसतिकाका एक दोष—दे. वसतिका।

३. साधारण नामकर्म व साधारण वनस्पति—दे. वनस्पति/४।

साधारणीकृत—Generalization. (ध. ५/प्र. २८)।

साधु—पंच महाव्रत पंच समिति आदि २८ मूलगुणों रूप सकल चारित्रको पालनेवाला निर्ग्रन्थ मुनि ही साधु संज्ञाको प्राप्त है। परन्तु उसमें भी आत्म शुद्धि प्रधान है, जिसके बिना वह नग्न होते हुए भी साधु नहीं कहा जा सकता। पुलाक बकुश आदि पाँच भेद ऐसे ही कुछ भ्रष्ट साधुओंका परिचय देते हैं। आचार्य, उपाध्याय व साधु तीनों ही साधुपनेकी अपेक्षा समान हैं। अन्तर केवल संघकृत उपाधिके कारण है।

१. साधु सामान्य निर्देश

१. साधु सामान्यका लक्षण

मू. आ./५१२ णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुजंति साधवो। समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो।५१२। —मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले मूलगुणादिक तपश्चरणोंको जो साधु सर्वकाल अपने आत्मासे जोड़ें और सर्व जीवोंमें समभावको प्राप्त हों इसलिए वे सर्वसाधु कहलाते हैं।५१२।

स. सि./६/२४/४४२/१० चिरप्रव्रजितः साधुः। —[तपस्वी शैक्षादिमें भेद दरशाते हुए] जो चिरकालसे प्रव्रजित होता है उसे साधु कहते है। (रा. वा./६/२४/११/६२३/२४), (चा. सा./१५१/४)।

प्र. स./मू./५४/२२१ दसणणाणसमग्ग मग्ग मोक्खस्स जो हु चारित्तं। साधयदि णिच्चसुद्ध साहू स मुणी णमो तस्स।५४। —जो दर्शन और ज्ञानसे पूर्ण मोक्षके मार्गभूत सदाशुद्ध चारित्रको प्रकटरूपसे साधते हैं वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं, उनको मेरा नमस्कार हो।५४। (पं. ध./उ./६६७)।

क्रियाकलाप/सामायिक दण्डककी टी./३/१/५/१४३ ये व्याख्यायन्ति न शास्त्रं न ददाति दीक्षादिकं च शिष्याणाम्। कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेया।५। —जो न शास्त्रोंकी व्याख्या करते हैं और न शिष्योंको दीक्षादि देते है। कर्मोंके उन्मूलन करनेको समर्थ ऐसे ध्यानमें जो रत रहते हैं वे साधु जानने चाहिए। (पं. ध./उ./६७०)।

प्र. सा./त. प्र./२०३ विरतिप्रवृत्तिसमानारमरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणम्। —विरतिकी प्रवृत्तिके समान ऐसे श्रामण्यपनेके कारण श्रमण हैं।

पं. ध./उ./६७१ वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः। दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः।६७१। —वैराग्यकी पराकाष्ठाको प्राप्त होकर प्रभावशाली दिगम्बर यथाजात रूपको धारण करनेवाले तथा दयापरायण ऐसे साधु होते हैं।

२. साधुके अनेकों सामान्य गुण

ध. १/१,१,१/गा. ३३/५१ सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मंदरिंदु-मणी। खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू।३३। —सिंहके समान पराक्रमी, गजके समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैलके समान भद्रप्रकृति, मृगके समान सरल, पशुके समान निरीह गोचरी वृत्ति करनेवाले, पवनके समान निःसंग या सब जगह बे-रोकटोक विचरनेवाले, सूर्यके समान तेजस्वी या सकल तत्त्वोंके प्रकाशक, सागरके समान गम्भीर, मेरु सम अकम्प व अडोल, चन्द्रमाके समान शान्तिदायक, मणिके समान प्रभापुंजयुक्त, क्षितिके समान सर्व प्रकारकी बाधाओंको सहनेवाले, सर्पके समान अनियत वसतिकामें रहनेवाले, आकाशके समान निरालम्बी व निर्लेप और सदाकाल परमपदका अन्वेषण करनेवाले साधु होते हैं।३३।

दे. तपस्वी—[विषयोंकी आशासे अतीत, निरारम्भ, अपरिग्रही तथा ज्ञान-ध्यानमें रत रहनेवाले ही प्रशस्त तपस्वी हैं। वही सच्चे गुरु हैं। (और भी दे. साधु/३/१)।

३. साधुके अपर नाम

दे. अनगार—[श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त व यति उसके नाम हैं।]

दे. श्रमण—श्रमणको यति मुनि व अनगार भी कहते हैं।

४. साधुके अनेकों भेद

१. यथार्थ व अयथार्थ दो भेद

दे. श्रमण—[श्रमण सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या भी।]

२. यथार्थ साधुके भेद

प्र. सा./मू./२४५ समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि। तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा।२४५। —शास्त्रोंमें ऐसा कहा है कि श्रमण शुद्धोपयोगी भी होते हैं और शुभोपयोगी भी। उनमें शुद्धोपयोगी (वीतराग) निरास्रव हैं और शुभोपयोगी (सराग) सास्रव हैं। (दे. श्रमण)

मू. आ./१४८ गिहिदत्थेय विहारो बिदिओऽगिहिदत्थसंसिदो चेव। एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं।१४८। —जिसने जीवादि तत्त्व अच्छी तरह जान लिये हैं ऐसा एकलविहारी और दूसरा अगृहीतार्थ अर्थात् जिसने तत्त्वोंको अच्छी तरह ग्रहण नहीं किया है, इन दोके अतिरिक्त तीसरा विहार जिनेन्द्रदेवने नहीं कहा है। इनमेंसे एकलविहारी देशान्तरमें जाकर चारित्रका अनुष्ठान करता है और अगृहीतार्थ साधुओंके संघमें रहकर साधन करता है।

चा. सा.४६/४ भिक्षवो जिनरूपधारिणस्ते बहुधा भवन्ति अनगारा यतयो मुनय ऋषयश्चेति। —जिनरूप धारी भिक्षु, अनगार, यति, मुनि, ऋषि आदिके भेदसे बहुत प्रकारके हैं। (और भी दे. साधु/१/३); (प्र. सा./ता. वृ./२४६/११); (और भी दे. संघ)।

दे. सल्लेखना/३/१ [जिनकल्पविधिधारी क्षपकका निर्देश किया गया है।]

दे. छेदोपस्थापना/६ [भगवान् वीरके तीर्थसे पहले जिनकल्पी साधु भी सम्भव थे पर अब पंचमकालमें केवल स्थविरकल्पी ही होते हैं।]

दे. वैयावृत्य–[आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश भेदोंकी अपेक्षा वैयावृत्य १० प्रकार की है।]

सा. ध./२/६४ का फुटनोट–ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः। भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु।–दान, मान आदि क्रियाओं-के करनेके लिए वे सब मुनि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन निक्षेपोंके भेदसे चार प्रकारके हैं।

३. पुलाक बकुशादिकी अपेक्षा भेद

त. सू./६/४६ पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः।–पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच निर्ग्रन्थ है। (विशेष दे. वह वह नाम)।

४. भ्रष्टाचारी साधुओंके भेद

मू. आ./५६३ पसत्थो य कुसीलो ससत्तोसण्ण मिगचरित्तो य। दंसणणा-णचरित्ते अणिउत्ता मंदसंवेगा।५६३।–पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न, और मृगचारित्र ये पाँच साधु दर्शन ज्ञान चारित्रमें युक्त नहीं हैं और धर्मादिमें हर्ष रहित हैं इसलिए बन्दने योग्य नहीं हैं। (भ. आ./मू./१९४९), (भ. आ./वि./३३६/५४६/११); (चा. सा./ १४३/३)।

२. व्यवहार साधु निर्देश

१. व्यवहारावलम्बी साधुका लक्षण

ध. १/१,१,१/५१/२ पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्र-धराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः।–जो पाँच महाव्रतोंको धारण करते हैं, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित हैं, १८००० शीलके भेदोंका धारण करते हैं और ८४०००,०० उत्तरगुणोंका पालन करते है वे साधु परमेष्ठी होते हैं। दे. संयम/१/२।

न. च. वृ./३३०-३३१ दंसणसुद्धिविसुद्धो मूलाइगुणेहि संजुओ तहय। ··३३०। असुहेण रायरहिओ वयाइरायेण जो हु संजुत्तो। सो इह भणिय सरागो···।३३१।–दर्शनशुद्धिसे जो विशुद्ध है तथा मूलादि गुणोंसे संयुक्त है।३३०। अशुभ रागसे रहित है, व्रत आदिके रागसे संयुक्त है वह सराग श्रमण है।३३१।

त. सा./६/५ श्रद्धानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि। तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः।५।–जो सातों तत्त्वोंका भेदरूपसे श्रद्धान करता है, वैसे ही भेदरूपसे उसे जानता है तथा वैसे ही भेदरूपसे उसे उपेक्षित करता है अर्थात विकल्पात्मक भेद रत्नत्रयकी साधना करता है वह मुनि व्यवहारावलम्बी है।५।

प्र. सा./त. प्र./२४६ शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धात्मानुरागयोगि चारि-त्रत्वलक्षणम्।४६।–शुद्धात्माका अनुराग युक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणोंका लक्षण है।

२. व्यवहार साधुके मूल व उत्तर गुण

प्र. सा./मू./२०८-२०९ वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं। खिदिसयणमदंतधोवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।२०८। एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहि पण्णत्ता।···।२०९।–पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियोंका रोध, केशलोंच, षड् आवश्यक, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े खड़े भोजन, एक बार आहार, ये वास्तवमें श्रमणोंके २८ मूलगुण जिनवरोंने कहे हैं। ।२०८-२०९। (मू. आ./२-३); (न. च. वृ./३३५); (पं. ध./उ./ ७४५-७४६)।

ब्रह्मचर्य/१/६ [(तीन प्रकारकी अचेतन स्त्रियाँ × मन वचन व काय× कृत कारित अनुमोदना×पाँच इन्द्रियाँ×चार कषाय=७२०); + (तीन-प्रकारकी चेतन स्त्रियाँ×मन वचन काय×कृत कारित अनुमोदना×पाँच इन्द्रियाँ×चार संज्ञा×सोलह कषाय=१७२८०); =१८०००] इस प्रकार ये ब्रह्मचर्यकी विराधनाके १८००० अंग हैं। इनके त्यागसे साधुको १८००० शील गुण कहे जाते हैं। अथवा [मन वचन काय-की शुभ क्रिया रूप तीन योग×इन्होंको शुभकी प्रवृत्तिरूप तीन करण×चार संज्ञा×पाँच इन्द्रिय×पृथिवी आदि दस प्रकारके जीव×दस धर्म–इस प्रकार साधुके १८००० शील कहे जाते हैं।]।

द. पा./टी./६/८/१८ का भावार्थ–[(पाँच पाप, चार कषाय, जुगुप्सा, भय, रति, अरति ये १३ दोष हैं+मन वचन कायकी दुष्टता ये ३+ मिथ्यात्व, प्रमाद, पिशुनत्व, अज्ञान, पाँच इन्द्रियोंका निग्रह ये पाँच–इन २१ दोषोंका त्याग २१ गुण हैं।) ये उपरोक्त २१ गुण× अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार ये चार×पृथिवी आदि १०० जीवसमास×१० शील विराधना (दे. ब्रह्मचर्य/२/४)×१० आलोचनाके दोष (दे. आलोचना)×१० धर्म=८४०००,०० उत्तर-गुण होते है।]

३. व्यवहार साधुके १० स्थितिकल्प

भ. आ./मू./४२१ आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे। जेट्ठ-पडिक्कमणे वि य मासं पज्जो सवणकप्पो।४२१।=१ अचेलकत्व, २. उद्दिष्ट भोजनका त्याग, ३. शय्याग्रह अर्थात बसतिका बनवाने या सुधरवानेवालेके आहारका त्याग, ४. राजपिंड अर्थात अमीरोंके भोजनका त्याग, ५. कृतिकर्म अर्थात साधुओंकी विनय शुश्रूषा आदि करना, ६ व्रत अर्थात् जिसे व्रतका स्वरूप मालूम है उसे ही व्रत देना, ७. ज्येष्ठ अर्थात् अपनेसे अधिकका योग्य विनय करना, ८. प्रतिक्रमण अर्थात् नित्य लगे दोषोंका शोधन, ९ मासैकवासता अर्थात् छहों ऋतुओंमेंसे एक मास पर्यन्त एकत्र मुनियोंका निवास और १०. पद्य अर्थात वर्षाकालमें चार मास पर्यन्त एक स्थानपर निवास–ये साधुके १० स्थितिकल्प कहे जाते है। (मू. आ./९०९)।

४. अन्य कर्तव्य

भा. पा./टी./७८/२२९/१६ त्रयोदशक्रिया भावय त्वं त्रिविधेन त्रिकरण-शुद्धया पञ्चनमस्काराः, षडावश्यकानि, चैत्यालयमध्ये प्रविशता निसिही निसिही निसिही इति वारत्रयं हृद्युच्चार्यते, जिनप्रतिमा-वन्दनाभक्ति कृत्वा बहिर्निर्गच्छता भव्यजीवेन असिही असिही असिही इति वारत्रयं हृद्युच्चार्यते इति त्रयोदशक्रिया हे भव्य! त्वं भावय।···अथवा पञ्चमहाव्रतानि पञ्चसमितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति त्रयोदशक्रियास्त्रयोदशविधं चारित्रं हे भव्यवरपुण्डरीकमुने! त्वं भावय।–हे भव्य, तू मन वचन व कायकी शुद्धि पूर्वक १३ क्रियाओंकी भावना कर। वे १३ क्रियाएँ ये हैं–१. पंच नमस्कार, षड् आवश्यक, चैत्यालयमें प्रवेश करते समय तीन बार 'निसही' शब्दका उच्चारण और चैत्यालयसे बाहर निकलते समय तीन बार 'असही' शब्दका उच्चारण। (अन. ध./८/१३०/८४१) २. अथवा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ये तेरह प्रकारका चारित्र ही तेरह क्रियाएँ हैं। (दे. चारित्र/१/४)।

दे. संयत/३/२ [अर्हदादिकी भक्ति, ज्ञानियोंमें वात्सल्य, श्रमणोंके प्रति वन्दन, अभ्युत्थान, अनुगमन, व वैयावृत्त्य करना, आहार व नीहार, तत्त्व विचार, धर्मोपदेश, पर्वके दिनोंमें उपवास, चातुर्मास योग, शिरोनति व आवर्त आदि कृतिकर्म सहित प्रतिदिन देव वन्दना, आचार्यवन्दना, स्वाध्याय, रात्रियोग धारण, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि, ये सब क्रियाएँ शुभोपयोगी साधुकी प्रमत्त अवस्थामें होती हैं।]

दे. संयम/१/६ [वीतरागी साधु स्वयं हटकर तथा अन्य साधु पीछीसे जीवोंको हटाकर उनकी रक्षा करते हैं।]

५. मूलगुणोंके मूल्यपर उत्तरगुणोंकी रक्षा योग्य नहीं

पं. वि./१/४० मुक्त्वा मूलगुणान् यतेर्विदधतः शेषेषु यत्नं परं, दण्डो मूलहरो भवत्यविरतं पूजादिकं वाञ्छतः। एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वा शिरश्छेदकं, रक्षत्यङ्गुलिकोटिखण्डनकरं कोऽन्यो रणे बुद्धिमान् ।४०। –मूलगुणोंको छोड़कर केवल शेष उत्तरगुणोंके परिपालनमें ही प्रयत्न करनेवाले तथा निरन्तर पूजा आदिकी इच्छा रखनेवाले साधुका यह प्रयत्न मूलघातक होगा। कारण कि उत्तरगुणोंमें दृढ़ता उन मूलगुणोंके निमित्तसे ही प्राप्त होती है। इसीलिए यह उसका प्रयत्न इस प्रकारका है जिस प्रकार कि युद्धमें कोई मूर्ख सुभट अपने शिरका छेदन करनेवाले शत्रुके अनुपम प्रहारकी परवाह न करके केवल अँगुलीके अग्रभागको खण्डित करनेवाले प्रहारसे ही अपनी रक्षा करनेका प्रयत्न करता है ।४०।

६. मूलगुणोंका अखण्ड पालन आवश्यक है

पं. ध./उ./७४३–७४४ यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः। नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ।७४३। सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम्। न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ।७४४। –वृक्षकी जड़के समान मुनिके २८ मूलगुण होते है। किसी भी समय मुनियोंमें न एक कम होता है, न एक अधिक ।७४३। सम्पूर्ण मुनिव्रत इन समस्त मूलगुणोंसे ही सिद्ध होता है, किन्तु केवल अंशको ही विषय करनेवाले किसी एक नयकी अपेक्षासे भी असमस्त मूलगुणोंके द्वारा एक देशरूप मुनिव्रत सिद्ध नहीं होता ।७४४।

७. शरीर संस्कारका कड़ा निषेध

मू. आ./८३६–८३८ ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि। ण करंति किंचि माहू परिमं ठप्पं सरीरम्मि ।८३६। मुहणयणदंतधोयणमुव्वट्टणपादधोयणं चेव। संबाहणपरिमद्दणसरीरसठावणं सव्वं ।८३७। धूवणमण विरेयण अंजण अब्भंगलेवणं चेव। णत्थुयवत्थियकम्मं सिखेज्भं अप्पणो सव्वं ।८३८। –पुत्र स्त्री आदिमें जिन्होंने प्रेमरूपी बन्धन काट दिया है और जो अपने शरीरमें भी ममता रहित हैं, ऐसे साधु शरीरमें कुछ भी संस्कार नहीं करते हैं ।८३६। मुख नेत्र और दाँतोंका धोना शोधना पखारना, उबटन करना, पैर धोना, अंगमर्दन करना, मुट्ठीसे शरीरका ताड़न करना, काठके यन्त्रसे शरीरका पीड़ना, ये सब शरीरके संस्कार हैं ।८३७। धूपसे शरीरका सस्कार करना, कण्ठशुद्धिके लिए वमन करना, औषध आदिसे दस्त लेना, अंजन लगाना, सुगन्ध तैल मर्दन करना, चन्दन, कस्तूरीका लेप करना, सलाई बत्ती आदिसे नासिकाकर्म व बस्तिकर्म (इनेमा) करना, नसोंसे लोहीका निकालना ये सब संस्कार अपने शरीरमें साधुजन नहीं करते ।८३८।

८. साधुके लिए कुछ निषिद्ध कार्य

मू. आ./गा. पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधिय जो य भुंजदे समणो। मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो ।९१६। किं तस्स ठाणमोणं किं काहदि अब्भवगासमादावो। मेत्तिविहूणो समणो सिज्झदि ण हु सिद्धिकंखोवि ।९२४। चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंसपडिसेवी। गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो ।९५५। दंभं परपरिवादं पिसुणत्तण पावसुत्त पडिसेवं। चिरपव्वइदंपि मुणी आरंभजुदं ण सेविज्ज ।९५७। –जो मुनि आहार, उपकरण, आवास इनको न सोधकर सेवन करता है वह मुनि गृहस्थपनेको प्राप्त होता है। और लोकमें मुनिपनेसे हीन कहलाता है ।९१६। उस मुनिके कायोत्सर्ग मौन और अभ्रावकाश योग, आतापन योग क्या कर सकता है। जो साधु मैत्री भाव रहित है वह मोक्षका चाहनेवाला होनेपर भी मोक्षको नहीं पा सकता ।९२४। जो अत्यन्त क्रोधी हो, चंचलस्वभाववाला हो, चारित्रमें आलसी, पीछे दोष कहनेवाला पिशुन हो, गुरुता कषाय बहुत रखता हो ऐसा साधु सेवने योग्य नहीं ।९५५। जो ठगनेवाला हो, दूसरोंको पीड़ा देनेवाला हो, झूठे दोषोंको ग्रहण करनेवाला हो, मारण आदि मन्त्रशास्त्र अथवा हिंसापोषक शास्त्रोंका सेवनेवाला हो, आरम्भ सहित हो, ऐसे बहुत कालसे भी दीक्षित मुनिको सदाचरणी नहीं सेवे ।९५७।

र. सा./१०० विकहाइ विप्पमुक्को आहाकम्माइविरहिओ णाणी ।१००। –यतीश्वर विकथा करनेसे मुक्त तथा आधाकर्मादि सहित चर्यासे रहित हैं। (विशेष दे. कथा/७; तथा आहार/II/२)।

भा. पा./मू./६९ अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण। पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ।६९। –पैशुन्य, हास्य, मत्सर, माया आदिकी बहुलतायुक्त श्रमणपनेसे अथवा उसके नग्नपनेसे क्या साध्य है। वह तो अपयशका भाजन है ।६९।

लिं. पा./मू./३–२० णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूपेण। सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।४। कलहं वादं जूआ णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी। वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगरूवेण ।६। कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं। मायी लिंग विवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।१२। उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण। इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।१५। रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं व दूसेइ। दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।१७। पव्वज्जहीण गहियं णेहि सासम्मि वट्टदे बहुसो। आयार विणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।१८। दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देहि वीसट्ठो। पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ।२०। –जो साधुका लिंग ग्रहण करके नृत्य करता है, गाता है, बाजा बजाता है, ।३। बहु मानसे गर्वित होकर निरन्तर कलह व वाद करता है (दे वाद/७); द्यूतक्रीड़ा करता है ।६। कन्दर्पादि भावनाओंमें वर्तता है (दे. भावना/१/३) तथा भोजनमें रसगृद्धि करता है (दे. आहार/II/३); मायाचारी व व्यभिचारका सेवन करता है (दे. ब्रह्मचर्य/३) ।१२। ईर्यापथ सोधे बिना दौड़ते हुए अथवा उछलते हुए चलता है, गिर पड़ता है और फिर उठकर दौड़ता है ।१५। महिला वर्गमें नित्य राग करता है, और दूसरोंमें दोष निकालता है ।१७। गृहस्थों व शिष्योंपर स्नेह रखता है ।१८। स्त्रियोंपर विश्वास करके उनको दर्शन ज्ञान चारित्र प्रदान करता है, वह तिर्यग्योनि है, नरकका पात्र है, भावोंसे विनष्ट हुआ वह पार्श्वस्थ है साधु नहीं ।२०।

पं. ध./उ./६५७ यद्वा मोहात् प्रमादाद्वा कुर्याद् यो लौकिकीं क्रियाम्। तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः। –जो मोहसे अथवा प्रमादसे जितने काल तक लौकिक क्रिया करता रहता है, उतने काल तक वह आचार्य नहीं है और अन्तरंगमें व्रतोंसे च्युत भी है ।६५७।

दे. सावद्य/८ (वैयावृत्त्य आदि शुभक्रियाएँ करते हुए षट् कायके जीवोंको बाधा नहीं पहुँचानी चाहिए)।

दे. विहार/१/१ [स्वच्छन्द व एकल विहार करना इस कालमें वर्जित है।]

दे धर्म/६/६ [अधिक शुभोपयोगमें वर्तन करना साधुको योग्य नहीं क्योंकि वैयावृत्त्यादि शुभ कार्य गृहस्थोंको प्रधान हैं और साधुओंको गौण।]

दे. मन्त्र/१/३–४ [मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, वशीकरण, उच्चाटन आदि करना, मन्त्र सिद्धि, शस्त्र अंजन सर्प आदिकी सिद्धि करना तथा आजीविका करना साधुके लिए वर्जित है।]

दे. संगति–[दुर्जन, लौकिक जन, तरुण जन, स्त्री, पुंश्चली, नपुंसक, पशु आदिकी संगति करना निषिद्ध है। आर्यिकासे भी सात हाथ

दे. वैयावृत्य—[आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश भेदोंकी अपेक्षा वैयावृत्य १० प्रकार की है।]

सा. ध./२/६४ का फुटनोट--ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः। भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु।—दान, मान आदि क्रियाओं-के करनेके लिए वे सब मुनि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन निक्षेपोंके भेदसे चार प्रकारके है।

३. पुलाक बकुशादिकी अपेक्षा भेद

त. सू./९/४६ पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः।—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच निर्ग्रन्थ हैं। (विशेष दे. वह वह नाम)।

४. भ्रष्टाचारी साधुओंके भेद

मू. आ./५९३ पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य। दंसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मंदसंवेगा॥५९३॥—पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न, और मृगचारित्र ये पाँच साधु दर्शन ज्ञान चारित्रमें युक्त नहीं हैं और धर्मादिमें हर्ष रहित हैं इसलिए वन्दने योग्य नहीं है। (भ. आ./मू./१९४९); (भ. आ./वि./३३६/५४६/१९); (चा सा./१४३/३)।

२. व्यवहार साधु निर्देश

१. व्यवहारावलम्बी साधुका लक्षण

ध. १/१,१,१/५१/२ पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः।—जो पाँच महाव्रतोंको धारण करते हैं, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित है, १८००० शीलके भेदोंको धारण करते है और ८४०००,०० उत्तरगुणोंका पालन करते है वे साधु परमेष्ठी होते हैं। दे संयम/१/२।

न. च. वृ./३३०-३३१ दंसणसुद्धिविसुद्धो मूलाइगुणेहि संजुओ तहय। ...।३३०। असुहेण रायरहिओ वयाइरायेण जो हु संजुत्तो। सो इह भणिय सरागो ...।३३१।—दर्शनशुद्धिसे जो विशुद्ध है तथा मूलादि गुणोंसे सयुक्त है।३३०। अशुभ रागसे रहित है, व्रत आदिके रागसे सयुक्त है वह सराग श्रमण है।३३१।

त. सा./९/५ श्रद्धानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि। तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनि।५।—जो सातों तत्त्वोंका भेदरूपसे श्रद्धान करता है, वैसे ही भेदरूपसे उसे जानता है तथा वैसे ही भेदरूपसे उसे उपेक्षित करता है अर्थात विकल्पात्मक भेद रत्नत्रयकी साधना करता है वह मुनि व्यवहारावलम्बी है।५।

प्र. सा./त. प्र./२४६ शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धात्मानुरागयोगि चारित्रत्वलक्षणम्।४६।—शुद्धात्माका अनुराग युक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणोंका लक्षण है।

२. व्यवहार साधुके मूल व उत्तर गुण

प्र. सा./मू./२०८-२०९ वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं। खिदिसयणमदंतधोवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।२०८। एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहि पण्णत्ता।...।२०९।—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियोंका रोध, केशलोंच, षड् आवश्यक, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खड़े खड़े भोजन, एक बार आहार, ये वास्तवमें श्रमणोंके २८ मूलगुण जिनवरोंने कहे हैं।।२०८-२०९। (मू. आ./२-३); (न. च. वृ./३३५); (पं. ध./उ./७४५-७४६)।

ब्रह्मचर्य/१/६ [(तीन प्रकारकी अचेतन स्त्रियाँ × मन वचन व काय× कृत कारित अनुमोदना×पाँच इन्द्रियाँ×चार कषाय=७२०); + (तीन-प्रकारकी चेतन स्त्रियाँ×मन वचन काय×कृत कारित अनुमोदना×पाँच इन्द्रियाँ×चार संज्ञा×सोलह कषाय=१७२८०); =१८०००] इस प्रकार ये ब्रह्मचर्यकी विराधनाके १८००० अंग हैं। इनके त्यागसे साधुको १८००० शील गुण कहे जाते है। अथवा [मन वचन काय-की शुभ क्रिया रूप तीन योग×इन्हींकी शुभकी प्रवृत्तिरूप तीन करण×चार संज्ञा×पाँच इन्द्रिय×पृथिवी आदि दस प्रकारके जीव×दस धर्म–इस प्रकार साधुके १८००० शील कहे जाते है।]।

द. पा./टी./९/८/१८ का भावार्थ – [(पाँच पाप, चार कषाय, जुगुप्सा, भय, रति, अरति ये १३ दोष है + मन वचन कायकी दुष्टता ये ३ + मिथ्यात्व, प्रमाद, पिशुनत्व, अज्ञान, पाँच इन्द्रियोंका निग्रह ये पाँच—इन २१ दोषोंका त्याग २१ गुण हैं।) ये उपरोक्त २१ गुण× अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार ये चार×पृथिवी आदि १०० जीवसमास×१० शील विराधना (दे. ब्रह्मचर्य/२/४)×१० आलोचनाके दोष (दे. आलोचना)×१० धर्म=८४०००,०० उत्तर-गुण होते है।]

३. व्यवहार साधुके १० स्थितिकल्प

भ. आ./मू./४२१ आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मं। जेट्ठ-पडिक्कमणे वि य मासं पज्जो सवणकप्पो।४२१।—१. अचेलकत्व, २. उद्दिष्ट भोजनका त्याग, ३. शय्याग्रह अर्थात् वसतिका बनवाने या सुधरवानेवालेके आहारका त्याग, ४. राजपिंड अर्थात् अमीरोंके भोजनका त्याग, ५. कृतिकर्म अर्थात साधुओंकी विनय शुश्रूषा आदि करना, ६. व्रत अर्थात् जिसे व्रतका स्वरूप मालूम है उसे ही व्रत देना, ७. ज्येष्ठ अर्थात् अपनेसे अधिकका योग्य विनय करना, ८. प्रतिक्रमण अर्थात् नित्य लगे दोषोंका शोधन, ९. मासैकवासता अर्थात् छहों ऋतुओंमेंसे एक मास पर्यन्त एकत्र मुनियोंका निवास और १०. पद्य अर्थात् वर्षाकालमें चार मास पर्यन्त एक स्थानपर निवास—ये साधुके १० स्थितिकल्प कहे जाते है। (मू. आ./९०९)।

४. अन्य कर्तव्य

भा. पा./टी./७८/२२९/११ त्रयोदशक्रिया भावय त्वं त्रिविधेन त्रिकरणशुद्ध्या पञ्चनमस्काराः, षडावश्यकानि, चैत्यालयमध्ये प्रविशता निसिही निसिही निसिही इति वारत्रयं हृद्युच्चार्यते, जिनप्रतिमावन्दनाभक्तिं कृत्वा बहिर्निर्गच्छता भव्यजीवेन असिही असिही असिही इति वारत्रयं हृद्युच्चार्यत इति त्रयोदशक्रिया हे भव्य! त्वं भावय।...अथवा पञ्चमहाव्रतानि पञ्चसमितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति त्रयोदशक्रियास्त्रयोदशविधं चारित्रं हे भव्यवरपुण्डरीकमुने! त्वं भावय।—हे भव्य, तू मन वचन व कायकी शुद्धि पूर्वक १३ क्रियाओंकी भावना कर। वे १३ क्रियाएँ ये हैं – १. पंच नमस्कार, षड् आवश्यक, चैत्यालयमें प्रवेश करते समय तीन बार 'निसही' शब्दका उच्चारण और चैत्यालयसे बाहर निकलते समय तीन बार 'असही' शब्दका उच्चारण। (अन. ध./८/१३०/८४१) २. अथवा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ये तेरह प्रकारका चारित्र ही तेरह क्रियाएँ हैं। (दे. चारित्र/१/४)।

दे. संयत/३/२ [अर्हदादिकी भक्ति, ज्ञानियोंमें वात्सल्य, श्रमणोंके प्रति वन्दन, अभ्युत्थान, अनुगमन, व वैयावृत्त्य करना, आहार व नीहार, तत्त्व विचार, धर्मोपदेश, पर्वके दिनोंमें उपवास, चातुर्मास योग, शिरोनति व आवर्त आदि कृतिकर्म सहित प्रतिदिन देव वन्दना, आचार्यवन्दना, स्वाध्याय, रात्रियोग धारण, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि, ये सब क्रियाएँ शुभोपयोगी साधुको प्रमत्त अवस्थामें होती हैं।]

दे. संयम/१/६ [वीतरागी साधु स्वयं हटकर तथा अन्य साधु पीछीसे जीवोंको हटाकर उनकी रक्षा करते है।]

५. मूलगुणोंके मूल्यपर उत्तरगुणोंकी रक्षा योग्य नहीं

पं. वि./१/४० मुक्त्वा मूलगुणान् यतेर्विदधतः शेषेषु यत्नं परं, दण्डो मूलहरो भवत्यविरतं पूजादिकं वाञ्छतः। एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वा शिरश्छेदकं, रक्षत्यङ्गुलिकोटिखण्डनकरं कोऽन्यो रणे बुद्धिमान् ।४०। –मूलगुणोंको छोड़कर केवल शेष उत्तरगुणोंके परिपालनमें ही प्रयत्न करनेवाले तथा निरन्तर पूजा आदिकी इच्छा रखनेवाले साधुका यह प्रयत्न मूलघातक होगा। कारण कि उत्तरगुणोंमें दृढ़ता उन मूलगुणोंके निमित्तसे ही प्राप्त होती है। इसीलिए यह उसका प्रयत्न इस प्रकारका है जिस प्रकार कि युद्धमें कोई मूर्ख सुभट अपने शिरका छेदन करनेवाले शत्रुके अनुपम प्रहारकी परवाह न करके केवल अँगुलीके अग्रभागको खण्डित करनेवाले प्रहारसे ही अपनी रक्षा करनेका प्रयत्न करता है ।४०।

६. मूलगुणोंका अखण्ड पालन आवश्यक है

पं. ध./उ./७४३–७४४ यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः। नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ।७४३। सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम्। न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ।७४४। –वृक्षकी जड़के समान मुनिके २८ मूलगुण होते हैं। किसी भी समय मुनियोंमें न एक कम होता है, न एक अधिक ।७४३। सम्पूर्ण मुनिव्रत इन समस्त मूलगुणोंसे ही सिद्ध होता है, किन्तु केवल अंशको ही विषय करनेवाले किसी एक नयकी अपेक्षासे भी असमस्त मूलगुणोंके द्वारा एक देशरूप मुनिव्रत सिद्ध नहीं होता ।७४४।

७. शरीर संस्कारका कड़ा निषेध

मू. आ./८३६–८३८ ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि। ण करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि ।८३६। मुहणयणदंतधोयणमुव्वट्टणपादधोयणं चेव। संवाहणपरिमद्दणसरीरसंठावणं सव्वं ।८३७। धूवणमण विरेयण अंजण अब्भंगलेवणं चेव। णत्थुयवत्थियकम्मं सिखेज्झ अप्पणो सव्वं ।८३८। –पुत्र स्त्री आदिमें जिन्होंने प्रेमरूपी बन्धन काट दिया है और जो अपने शरीरमें भी ममता रहित हैं, ऐसे साधु शरीरमें कुछ भी संस्कार नहीं करते हैं ।८३६। मुख नेत्र और दाँतोंका धोना शोधना पखारना, उबटन करना, पैर धोना, अंगमर्दन करना, मुट्ठीसे शरीरका ताड़न करना, काठके यन्त्रसे शरीरका पीड़ना, ये सब शरीरके संस्कार हैं ।८३७। धूपसे शरीरका सस्कार करना, कण्ठशुद्धिके लिए वमन करना, औषध आदिसे दस्त लेना, अंजन लगाना, सुगन्ध तेल मर्दन करना, चन्दन, कस्तूरीका लेप करना, सलाई बत्ती आदिसे नासिकाकर्म व वस्तिकर्म (इनेमा) करना, नसोंमे लोहीका निकालना ये सब संस्कार अपने शरीरमें साधुजन नहीं करते ।८३८।

८. साधुके लिए कुछ निषिद्ध कार्य

मू. आ./गा. पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधिय जो य भुंजदे समणो। मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो ।९१६। किं तस्स ठाणमोणं किं काहदि अब्भवगासमादावो। मेत्तिविहूणो समणो सिज्झदि ण हु सिद्धिकंखोवि ।९२४। चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंसपडिसेवी। गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो ।९५५। दंभं परपरिवादं पिसुणत्तण पावसुत्त पडिसेवं। चिरपव्वइदंपि मुणी आरंभजुदं ण सेविज्ज ।९५७। –जो मुनि आहार, उपकरण, आवास इनको न सोधकर सेवन करता है वह मुनि गृहस्थपनेको प्राप्त होता है। और लोकमें मुनिपनेसे हीन कहलाता है ।९१६। उस मुनिके कायोत्सर्ग मौन और अभ्रावकाश योग, आतापन योग क्या कर सकता है। जो साधु मैत्री भाव रहित है वह मोक्षका चाहनेवाला होनेपर भी मोक्षको नहीं पा सकता ।९२४। जो अत्यन्त क्रोधी हो, चंचलस्वभाववाला हो, चारित्रमें आलसी, पीछे दोष कहनेवाला पिशुन हो, गुरुता कषाय बहुत रखता हो ऐसा साधु सेवने योग्य नहीं ।९५५। जो ठगनेवाला हो, दूसरोंको पीड़ा देनेवाला हो, झूठे दोषोंको ग्रहण करनेवाला हो, मारण आदि मन्त्रशास्त्र अथवा हिंसापोषक शास्त्रोंका सेवनेवाला हो, आरम्भ सहित हो, ऐसे बहुत कालसे भी दीक्षित मुनिको सदाचरणी नहीं सेवे ।९५७।

र. सा./१०० विकहाइ विप्पमुक्को आहाकम्माइविरहिओ णाणी ।१००। –यतीश्वर विकथा करनेसे मुक्त तथा आधाकर्मादि सहित चर्यासे रहित हैं। (विशेष दे. कथा/७; तथा आहार/II/२)।

भा. पा./मू./६९ अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण। पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ।६९। –पैशुन्य, हास्य, मत्सर, माया आदिकी बहुलतायुक्त श्रमणपनेसे अथवा उसके नग्नपनेसे क्या साध्य है। वह तो अपयशका भाजन है ।६९।

लिं. पा./मू./३–२० णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण। सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।४। कलहं वादं जूआ णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी। वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगरूवेण ।६। कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं। मायी लिंग विवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।१२। उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण। इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।१५। रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं व दूसेइ। दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।१७। पव्वज्जहीण गहियं णेहि सासम्मि वट्टदे बहुसो। आयार विणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।१८। दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देहि वीसट्ठो। पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ।२०। –जो साधुका लिंग ग्रहण करके नृत्य करता है, गाता है, बाजा बजाता है, ।४। बहु मानसे गर्वित होकर निरन्तर कलह व वाद करता है (दे. वाद/७); द्यूतक्रीड़ा करता है ।६। कन्दर्पादि भावनाओं,में वर्तता है (दे. भावना/१/३) तथा भोजनमें रसगृद्धि करता है (दे. आहार/II/२); मायाचारी व व्यभिचारका सेवन करता है (दे. ब्रह्मचर्य/३) ।१२। ईर्यापथ सोधे बिना दौड़ते हुए अथवा उछलते हुए चलता है, गिर पड़ता है और फिर उठकर दौड़ता है ।१५। महिला वर्गमें नित्य राग करता है, और दूसरोंमें दोष निकालता है ।१७। गृहस्थों व शिष्योंपर स्नेह रखता है ।१८। स्त्रियोंपर विश्वास करके उनको दर्शन ज्ञान चारित्र प्रदान करता है, वह तिर्यग्योनि है, नरकका पात्र है, भावोंसे विनष्ट हुआ वह पार्श्वस्थ है साधु नहीं ।२०।

पं. ध./उ./६५७ यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम्। तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः। –जो मोहसे अथवा प्रमादसे जितने काल तक लौकिक क्रिया करता रहता है, उतने काल तक वह आचार्य नहीं है और अन्तरंगमें व्रतोंसे च्युत भी है ।६५७।

दे. सावद्य/८ (वैयावृत्त्य आदि शुभक्रियाएँ करते हुए षट् कायके जीवोंको बाधा नहीं पहुँचानी चाहिए)।

दे. विहार/१/१ [स्वच्छन्द व एकल विहार करना इस कालमें वर्जित है।]

दे. धर्म/६/६ [अधिक शुभोपयोगमें वर्तन करना साधुको योग्य नहीं क्योंकि वैयावृत्त्यादि शुभ कार्य गृहस्थोंको प्रधान हैं और साधुओंको गौण।]

दे. मन्त्र/१/३–४ [मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, वशीकरण, उच्चाटन आदि करना, मन्त्र सिद्धि, शस्त्र अंजन सर्प आदिकी सिद्धि करना तथा आजीविका करना साधुके लिए वर्जित है।]

दे. संगति–[दुर्जन, लौकिक जन, तरुण जन, स्त्री, पुंश्चली, नपुंसक, पशु आदिकी संगति करना निषिद्ध है। आर्यिकासे भी सात हाथ

दूर रहना योग्य है। पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनियोंकी संगति वर्जनीय है।]

दे. भिक्षा/२-३ [भिक्षार्थ वृत्ति करते समय गृहस्थके घरमें अभिमत स्थानसे आगे न जावे, छिद्रोंमेंसे झाँककर न देखे, अत्यन्त तंग व अन्धकारयुक्त प्रदेशमें प्रवेश न करे। व्यस्त व शोक युक्त घरमें, विवाह व यज्ञशाला आदिमें प्रवेश न करे। बहु जन संसक्त प्रदेशमें प्रवेश न करे। विधर्मी, नीच कुलीन, अति दरिद्री, तथा राजा आदिका आहार ग्रहण न करे।

दे. आहार/II/२ [मात्रासे अधिक, पौष्टिक व गृद्धता पूर्वक गृहस्थपर भार डालकर भोजन ग्रहण न करे।]

दे. साधु/४/१ तथा ५/७ [इतने कार्य करे वह साधु सच्चा नहीं।]

३. निश्चय साधु निर्देश

१. निश्चय साधुका लक्षण

प्र. सा./मू./२४१ समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो। समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।२४१। –जिसे शत्रु और बन्धुवर्ग समान है, सुख दुःख समान है, प्रशंसा और निन्दाके प्रति जिसको समता है, जिसे लोष्ठ (ढेला) और सुवर्ण समान है, तथा जीवन मरणके प्रति जिसको समता है, वह श्रमण है। (मू. आ./५२१)

नि. सा./मू. ७५ वावारविप्पमुक्का चउविहाराहणासयारत्ता। णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति।७५। –काय व वचनके व्यापारसे मुक्त, चतुर्विध आराधनामें सदा रक्त, निर्ग्रन्थ और निर्मोह–ऐसे साधु होते हैं।

मू. आ./१००० णिस्संगो णिरारंभो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो। य एगागी ज्झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो।१०००। –जो निष्परिग्रही व निरारम्भ है, भिक्षाचर्यामें शुद्धभाव रखता है, एकाकी ध्यानमें लीन होता है, और सब गुणोंसे परिपूर्ण होता है वह श्रमण है।१०००। (और भी दे. तपस्वी तथा लिंग/१/२)

ध. १/१,१,१/५१/१ अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः। –जो अनन्त ज्ञानादिस्वरूप शुद्धात्माकी साधना करते हैं उन्हें साधना कहते हैं।

ध. ८/३,४१/८७/४ अणंतणाणदंसणवीरियविरइखइयसम्मत्तादीणं साहया साहू णाम। –अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, विरति और क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणोंके जो साधक हैं वे साधु कहलाते हैं।

न. च. वृ./३३०-३३१ ...। सुहदुःखाइसमाणो झाणे लीणो हवे समणो।३३०।...।...सुहकं दोहणं पि खलु इयरो।३३१। –सुख दुःखमें जो समान है और ध्यानमें लीन है, वह श्रमण होता है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके रागसे मुक्त वीतराग श्रमण है।

त. सा./९/६ स्वद्रव्यं श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि। तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः।६। –जो निजात्माको ही श्रद्धानरूप व ज्ञान रूप बना लेता है और उपेक्षारूप ही जिसकी आत्माकी प्रवृत्ति हो जाती है, अर्थात् जो निश्चय व अभेद रत्नत्रयकी साधना करता है वह श्रेष्ठ मुनि निश्चयावलम्बी माना जाता है।६।

प्र. सा./ता. वृ./२५२/३४५/१६ रत्नत्रयभावनया स्वात्मानं साधयतीति साधुः। –रत्नत्रयकी भावनारूपसे जो स्वात्माको साधता है वह साधु है। (प. प्र./टी /१/७/१४/७); (पं. ध /उ./६६७)

२. निश्चय साधुकी पहचान

पं. ध./उ./६६८-६७४ नोच्यायायं यमी किंचिद्धस्तपादादिसंज्ञया। न किंचिद्दर्शयेत स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत्।६६८। आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम्। स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः।६६९। नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि। स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः।६७०। वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः...।६७१। निर्ग्रन्थोऽन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी।...।६७२। परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः।...।६७३। इत्याद्यनेकधानेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः। नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान्।६७४। –यह साधु कुछ नहीं बोले। हाथ पाँव आदिके इशारेसे कुछ न दर्शावे, आत्मस्थ होकर मनसे भी कुछ चिन्तवन न करे।६६८। केवल शुद्धात्मामें लीन होता हुआ वह अन्तरंग व बाह्य वाग्व्यापारसे रहित निस्तरंग समुद्रकी तरह शान्त रहता है।६६९। जब वह मोक्षमार्गके विषयमें ही किंचित् भी उपदेश या आदेश नहीं करता है, तब उससे विपरीत लौकिक मार्गके उपदेशादि कैसे कर सकता है।६७०। वह वैराग्यकी परम पराकाष्ठाको प्राप्त होकर अधिक प्रभावशाली हो जाता है।६७१। अन्तरंग बहिरंग मोहकी ग्रन्थिको खोलनेवाला वह यमी होता है।६७२। परीषहों व उपसर्गोंके द्वारा वह पराजित नहीं होता, और कामरूप शत्रुको जीतनेवाला होता है।६७३। इत्यादि अनेक प्रकारके गुणोंसे युक्त वह पूज्य साधु ही मोक्षकी प्राप्तिके लिए तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा अवश्य नमस्कार किये जाने योग्य है, किन्तु उनसे रहित अन्य साधु नहीं।६७४।

३. साधुमें सम्यक्त्वकी प्रधानता

प्र. सा./मू./गा. सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे। सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि।९१। ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि। जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे।२६४। जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये। अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं।२७१। –जो श्रमणावस्थामें इन सत्ता संयुक्त सविशेष (नव) पदार्थोंकी श्रद्धा नहीं करता वह श्रमण नहीं है उसमें धर्मका उद्भव नहीं होता।९१। सूत्र, संयम और तपसे संयुक्त होनेपर भी यदि जिनोक्त आत्मप्रधान पदार्थोंका श्रद्धान नहीं करता तो वह श्रमण नहीं है ऐसा कहा है।२६४। भले ही द्रव्यलिंगीके रूपमें जिनमतके अनुसार हों तथापि वे 'यह तत्त्व है (वस्तुस्वरूप ऐसा ही है), इस प्रकार निश्चयपना वर्तते हुए पदार्थोंको अयथार्थतया ग्रहण करते हैं (जैसे नहीं हैं वैसे समझते हैं) वे अत्यन्तफलसमृद्ध आगामी कालमें परिभ्रमण करेंगे।२७१।

र. सा./१२७ वयगुणसीलपरीसयजयं च चरियं च तव षडावसयं। झाणज्झयणं सव्वं सम्मविणा जाण भवबीयं। –बिना सम्यग्दर्शनके व्रत, २८ मूलगुण, ८४,००,०० उत्तरगुण, १८००० शील, २२ परीषहोंका जीतना, १३ प्रकारका चारित्र, १२ प्रकार तप, षडावश्यक, ध्यान व अध्ययन ये सब संसारके बीज हैं। (और भी दे चारित्र, तप आदि वह-वह नाम)

मो. पा./मू./९७ बहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गथो। किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसमभावं।९७। –बाह्य परिग्रहसे रहित होने पर भी मिथ्याभावसे निर्ग्रन्थ लिंग धारण करनेके कारण वह परिग्रह रहित नहीं है। उसके कायोत्सर्ग और मौन धारनेसे क्या साध्य है।

प्र. सा./त. प्र./२६४ आगमज्ञोऽपि...श्रमणाभासो भवति। (दे. ऊपर प्र. सा./मू./२६४ का अर्थ) इतना कुछ होनेपर भी वह श्रमणाभास है।

दे. कर्ता/३/१३ [आत्माको परद्रव्योंका कर्ता देखने वाले भले ही लोकोत्तर हों अर्थात् श्रमण हों पर वे लौकिकपनेको उल्लंघन नहीं करते।]

दे. लिंग/२/१ [सम्यग्दर्शन युक्त ही नग्नरूपको निर्ग्रन्थ संज्ञा प्राप्त है।]

४. निश्चय लक्षणकी प्रधानता

भ. आ. मू./१३४७/१३०४ घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स। बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स।१३४७।

—बगुलेकी चेष्टाके समान, अन्तरंगमें कषायसे मलिन साधुकी बाह्य क्रिया किस कामकी ? वह तो घोड़ेकी लीदके समान है, जो ऊपरसे चिकनी अन्दरसे दुर्गन्धी युक्त होती है।

नि. सा./मू./१२४ किं काहदि वनवासो कायकलेसो विचित्तउववासो। अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ।१२४। —वनवास, कायक्लेशरूप अनेकप्रकारके उपवास, अध्ययन, मौन आदि, ये सब समता रहित श्रमणको क्या कर सकते हैं।

मू. आ./९८२ अकसायं तु चारित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि। उवसमदि जम्हि काले तक्काले संजदो होदि ।९८२। —अकषायपनेको चारित्र कहते हैं। कषायके वश होनेवाला असंयत है। जिस कालमें कषाय नहीं करता उसी कालमें संयत है। (प. प्र./मू./२/४१)

सू. पा./मू./१५ अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइ करेइ णिरवसेसाई। तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुण भणिदो ।१५। —सर्व धर्मोंको निरवशेषरूपसे पालता हुआ भी जो आत्माकी इच्छा नहीं करता वह सिद्धिको प्राप्त नहीं होता बल्कि संसारमें ही भ्रमण करता है ।१५।

भा. पा./मू. १२२ जे के वि दव्वसमणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति। छिंदंति भावसमणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं ।१२२। —इन्द्रिय विषयोंके प्रति व्याकुल रहनेवाले द्रव्य श्रमण भववृक्षका छेदन नहीं करते, ध्यानरूपी कुठारके द्वारा भाव श्रमण ही भववृक्षका छेदन करते हैं। (दे. चारित्र/४/३ तथा लिंग/२/२)

दे. चारित्र/४/३ [मोहादिसे रहित व उपशम भाव सहित किये गये ही व्रत, समिति, गुप्ति, तप, परीषह जय आदि मूलगुण व उत्तरगुण संसारछेदके कारण हैं, अन्यथा नहीं।]

दे. ध्यान/२/१० [महाव्रत, समिति, गुप्ति, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त आदि सब एक आत्मध्यानमें अन्तर्भूत हैं।]

दे. अनुभव/५/५ [निश्चय धर्मध्यान मुनिको ही होता है गृहस्थको नहीं।]

प्र. सा/त.प्र/गा. एक एव हि स्वद्रव्यप्रतिबन्ध उपयोगमार्जकत्वेन मार्जितोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य परिपूर्णतायतनं, तस्मात्तद्भावादेव परिपूर्णश्रामण्यम् ।२१४। न चैकाग्र्यमन्तरेण श्रामण्यं सिद्ध्येत् ।२३२। —एक स्वद्रव्य-प्रतिबन्ध ही, उपयोगको शुद्ध करनेवाला होनेसे शुद्ध उपयोगरूप श्रामण्यकी पूर्णताका आयतन है, क्योंकि उसके सद्भावसे परिपूर्ण श्रामण्य होता है ।२१४। एकाग्रताके बिना श्रामण्य सिद्ध नहीं होता ।२३२।

५. निश्चय व्यवहार साधुका समन्वय

र. सा/११,९९ दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा। झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा तहा सो वि ।११। तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणसहावजुदो। अणवरयं धम्मकहापसंगादो होइ मुणिराओ ।९९। —दान व पूजा ये श्रावकके मुख्य धर्म हैं। इनके बिना श्रावक नहीं होता। परन्तु साधुओंको ध्यान व अध्ययन प्रधान हैं। इनके बिना यतिधर्म नहीं होता ।११। जो मुनिराज सदा तत्त्वविचारमें लीन रहते हैं, मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का आराधन करना जिनका स्वभाव है और जो निरन्तर धर्मकथामें लीन रहते हैं अर्थात् यथा अवकाश रत्नत्रयकी आराधना व धर्मोपदेशादि रूप दोनों प्रकारकी क्रियाएँ करते हैं वे यथार्थ मुनि हैं ।९९।

प्र. सा/मू/२१४ चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि। पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो। —जो श्रमण (अन्तरंग में तो) सदा ज्ञान व दर्शन आदिमें प्रतिबद्ध रहता है और (बाह्यमें) मूलगुणोंमें प्रयत्नशील विचरण करता है, वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् है ।२१४।

प्र. सा/त.प्र/२४५ ये खलु श्रामण्यपरिणतिं प्रतिज्ञायापि जीवितकषायकणतया समस्तपरद्रव्यनिवृत्तिप्रवृत्तिप्रवृत्तसुविशुद्धदृशिज्ञप्तिस्वभावात्मतत्त्ववृत्तिरूपां शुद्धोपयोगभूमिकामधिरोढुं न क्षमन्ते ते तदुपकण्ठनिविष्टाः कषायकुण्ठीकृतशक्तयो नितान्तमुत्कण्ठुलमनसः श्रमणाः किं भवेयुर्न वेत्यत्राभिधीयते। 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो। पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं' इति स्वयमेव निरूपितत्वादस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः। ततः शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद्भवेयुः श्रमणाः किंतु तेषां शुद्धोपयोगिभिः समं समकाष्ठत्वं न भवेत्, यतः शुद्धोपयोगिनो निरस्तसमस्तकषायत्वादनास्रवा एव। इमे पुनरनवकीर्णकषायकणत्वात्सास्रवा एव। —प्रश्न—जो वास्तवमें श्रामण्यपरिणतिकी प्रतिज्ञा करके भी, कषायकणके जीवित होने से समस्त परद्रव्यसे निवृत्तिसे प्रवर्त्तमान जो सुविशुद्ध दर्शनज्ञान स्वभाव आत्मतत्त्वमें परिणतिरूप शुद्धोपयोग भूमिका उसमें आरोहण करनेको असमर्थ हैं; वे (शुभोपयोगी) जीव—जो कि शुद्धोपयोगभूमिकाके उपकण्ठ (तलहटीमें) निवास कर रहे हैं, और कषायने जिनकी शक्ति कुण्ठित की है, तथा जो अत्यन्त उत्कण्ठित मनवाले हैं, वे श्रमण हैं या नहीं ? उत्तर—(आचार्यने इसी ग्रन्थकी ११वीं गाथामें) स्वयं ऐसा कहा है कि धर्मसे परिणमित स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्धोपयोगमें युक्त हो तो मोक्ष सुखको प्राप्त करता है, और यदि शुभोपयोगवाला हो तो स्वर्ग सुखको प्राप्त करता है ।११। इसलिए शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थ समवाय है। इसलिए शुभोपयोगी भी उनके धर्मका सद्भाव होनेसे श्रमण है। किन्तु वे शुद्धोपयोगियोंके साथ समान कोटिके नहीं हैं। क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायोंके निरस्त किया होनेसे निरास्रव ही हैं, और ये शुभोपयोगी तो कषायकणके विनष्ट न होनेसे सास्रव ही हैं।

प्र. सा/त.प्र/२५२ यदा हि समधिगतशुद्धात्मवृत्तेः श्रमणस्य तत्प्रच्यावनहेतोः कस्याप्युपसर्गस्योपनिपातः स्यात् स शुभोपयोगिनः स्वशक्त्या प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकालः। इतरस्तु स्वयं शुद्धात्मवृत्तेः समधिगमनाय केवलं निवृत्तिकाल एव। —जब शुद्धात्म परिणतिको प्राप्त श्रमणको, उससे च्युत करनेवाले कारण—कोई उपसर्ग आ जाय, तब वह काल, शुद्धोपयोगीको अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिकार करनेकी इच्छारूपप्रवृत्तिकाल है; और उसके अतिरिक्त का काल अपनी शुद्धात्मपरिणतिकी प्राप्तिके लिए केवल निवृत्तिका काल है।

४. अयथार्थ साधु सामान्य निर्देश

१. अयथार्थ साधुकी पहचान

भ. आ/मू२९०-२९३ एसा गणधरमेरा आयारत्थाण वण्णिया सुत्ते। लोगसुहाणुरदाणं अप्पच्छंदो जहिच्छेए ।२९०। सीदावेइ विहारं सुहसीलगुणेहिं जो अबुद्धीओ। सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो ।२९१। पिंडं उवधिं सेज्जामविसोधिय जो खु भुंजमाणो हु। मूलट्ठाणं पत्तो बालोत्तिय णो समणबालो ।२९२। कुलगामणयररज्जं पयहिय तेसु कुणइ दु ममत्तिं जो। सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो ।२९३। —जो लोकोंका अनुसरण करते हैं और सुखकी इच्छा करते हैं उनका आचरण मर्यादा स्वरूप माना नहीं जाता है। उनमें अनुरक्त साधु स्वेच्छासे प्रवर्तते हैं ऐसा समझना चाहिए ।२९०। यथेष्ट आहारादि सुखोंमें तल्लीन होकर जो मूर्ख मुनि रत्नत्रयमें अपनी प्रवृत्ति शिथिल करता है वह द्रव्यलिंगी है ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि, वह इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयमसे निःसार है ।२९१। उद्गमादि दोषोंसे युक्त आहार, उपकरण, वसतिका, इनका जो साधु ग्रहण करता है। जिसको प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम है ही नहीं, वह साधु मूलस्थान—प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है (दे.

प्रायश्चित्त/४/२)। वे अज्ञानी हैं, केवल नग्न हैं, वह यति भी नहीं है और न आचार्य है।२६२। जो मुनि कुल, गाँव, नगर और राज्यको छोड़कर उनमें पुनः प्रेम करता है अर्थात् उनमें मेरेपनेकी बुद्धि करता है, वह केवल नग्न है, संयमसे रहित है।२६३। (भ. आ/मू.। १३१६-१३२५)

र. सा/१०६-११४ देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता। अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता।१०६। संघविरोहकुसीला सच्छंदा रहियगुरुकुला मूढा। रायाइसेवया ते जिणधम्मविराहिया साहू।१०८। ण सहंति इयरदप्पं थुवंति अप्पाण अप्पमाहप्पं। जिब्भणिमित्तं कुणंति ते साहू सम्मउम्मुक्का।११४। —जो मुनि शरीर भोग व सांसारिक कार्योंमें अनुरक्त रहते हैं, जो विषयोंके सदा अधीन रहते हैं, कषायोंको धारण करते है, आत्मस्वभावमें सुप्त हैं, वे साधु सम्यक्त्व रहित हैं।१०६। (भ. आ/मू / १३१६-१३४७) जो संघसे विरोध करता है, कुशील सेवन करता है, स्वच्छन्द रहता है, गुरुकुल में नहीं रहता, राजा आदिकी सेवा करता है वह अज्ञानी है, जिनधर्म का विराधक है।१०८। जो दूसरेके ऐश्वर्य व अभिमानको सहन नहीं करता, अपनी महिमा आप प्रगट करता है और वह भी केवल स्वादिष्ट भोजनकी प्राप्तिके लिए, वह साधु सम्यक्त्व रहित है।११४।

दे. मंत्र/१/३ [मंत्र, तंत्र, ज्योतिष, वैद्यक, उच्चाटन, वशीकरण आदि करनेवाला साधु नहीं है।]

दे. श्रुतकेवली/१/३ [विद्यानुवादके समाप्त होनेपर आयी हुई रोहिणी आदि विद्याओंके द्वारा दिखाये गये प्रलोभनमें जो नहीं आते हैं वे अभिन्न दशपूर्वी हैं और लोभको प्राप्त हो जानेवाले भिन्न दशपूर्वी हैं।

दे. साधु/५/७ [पार्श्वस्थादि मुनियोंका आचार]

२. अयथार्थ साधु श्रावकसे भी हीन है

भा. पा/मू/१५५ ते वि य भणामि हं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं। बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो।१५५। —शील और संयमकी कलासे पूर्ण है उसीको हम मुनि कहते हैं; परन्तु जो बहुत दोषोंका आवास है तथा मलिन चित्त है वह श्रावकके समान भी नहीं है।

दे. निंदा/६ [मिथ्यादृष्टि व स्वच्छन्द द्रव्यलिंगी साधुओंको, पाप श्रमण, नट श्रमण, पाप जीव, तिर्यंचयोनि, नारद, लौकिक, अभव्य, राजवल्लभ, नौकर आदि निन्दनीय नाम दिये गये है।]

३. अयथार्थ साधु दुःखका पात्र

भा. पा/मू/१०० पावंति भावसमणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं। दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए।१००। —भावश्रमण तो कल्याणकी परम्परा रूप सुखको पाता है और द्रव्य श्रमण तिर्यंच मनुष्य व कुदेव योनियोंमें दु ख पाता है।१००।

४. अयथार्थ साधु से यथार्थ श्रावक श्रेष्ठ है

भ. आ/मू/३५४/५५६ पासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं खु एक्को वि। जं संसिदस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वड्ढंति।३५४। [पासत्थसदसहस्सादो वि पार्श्वस्थग्रहणं चारित्रक्षुद्रोपलक्षणार्थं। (वि. टीका)]—यहाँ पार्श्वस्थ शब्दसे चारित्रहीन मुनियोंका ग्रहण समझना चाहिए। अर्थात् चारित्रहीन मुनि लक्षावधि हों तो भी एक सुशील मुनि उनसे श्रेष्ठ समझना चाहिए। कारण कि सुशील मुनीश्वरके आश्रयमे शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र बढ़ते हैं।"

र. क. श्रा/३३—गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्। अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।३३। —दर्शनमोहरहित गृहस्थ भी मोक्षमार्गमें स्थित है किन्तु मोहवान् मुनि भी मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। इस कारण मोही मुनिसे निर्मोही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।

दे. विनय/५/३ [इस निकृष्ट कालके श्रावकोंमें तो किसी प्रकार श्रावकपना बन भी जाता है पर अयथार्थ मुनियोंमें किसी प्रकार भी मुनिपना सम्भव नहीं।]

५. पुलाक व पार्श्वस्थ आदि साधु

१. पुलाकादिमें संयम श्रुतादिकी प्ररूपणा

प्रमाण—(स. सि./९/४७/४६१/८); (रा. वा./९/४७/४/६३७ /३२); (चा. सा /१०३/२)।

संकेत— ← = इसके समान ; सा. = सामायिक संयम; छेद = छेदोपस्थाप संयम। परि. = परिहार विशुद्धि संयम; सूक्ष्म. = सूक्ष्म साम्पराय संयम।

अनुयोग	पुलाक	बकुश	कुशील		निर्ग्रन्थ	स्नातक
			प्रति सेवना	कषाय		
संयम	सामायिक व छेदो	←	←	सा., छेद. परि., सूक्ष्म.	यथाख्यात	←
श्रुतः— उत्कृष्ट	१० पूर्व	←	←	१४ पूर्व	←	केवलज्ञान
जघन्य	आचार-वस्तु	अष्ट प्रवचन माता	←	←	←	"
प्रति सेवना (विराधना)	बलात्कार वश महाव्रतों तथा रात्रिभुक्ति में कदाचित	उपकरणोंकी आकांक्षा व शरीर-संस्कार	उत्तर गुणोंमें कदाचित	×	×	×
तीर्थ	सब तीर्थंकरोंके तीर्थमें	←	←	←	←	←
लिंग— भाव—	भावलिंग	←	←	←	←	←
द्रव्य—	परस्पर भेद है—कोई आहार करे, कोई तप करे, कोई उपदेश करे, कोई अध्ययन करे, कोई तीर्थ बिहार करे, कोई अनेक आसन करे, किसीको दोष लगे, कोई प्रायश्चित्त ले, किसीको दोष नहीं लगे, कोई आचार्य है, कोई उपाध्याय है, कोई प्रवर्तक है, कोई निर्यापक है, कोई वैयावृत्य करे, कोई ध्यानकर श्रेणी माँडे, कोई केवल ज्ञान उपजावे, किसी की बड़ी विभूति व महिमा होय इत्यादि बाह्य प्रवृत्तिकी अपेक्षा लिंग भेद है—(रा. वा./हि.)।					
लेश्या	तीन शुभ	छहों	←	अन्तिम ४-(सूक्ष्म. साम्प.के केवल शुक्ल)	शुक्ल	←
उपपाद उत्कृष्ट	सहस्रार	अच्युत	←	सर्वार्थ सिद्धि	←	मोक्ष
जघन्य	सौधर्म	←	←	←	←	"

२. पुलाकादिमें संयम लब्धिस्थान

(स. सि /९/४७/४६२/१२); (रा. वा./९/४७/४/६३८/१९); (चा. सा./१०६/१)। संकेत— असं. — असंख्यात

स्थान	स्वामित्व
प्र. असं. स्थान	पुलाक व कषाय कुशील।
द्वि. असं. स्थान	केवल कषाय कुशील।
तृ. असं. स्थान	कषाय व प्रतिसेवना कुशील और बकुश।
चतु. असं. स्थान	कषाय व प्रतिसेवना कुशील।
पंच. असं. स्थान	केवल कषाय कुशील।
षष्ठ. असं. स्थान	निर्ग्रन्थोंके अकषाय स्थान।
अन्तिम १ स्थान	स्नातकोंका अकषाय स्थान।

३. पुलाक आदि पाँचों निर्ग्रन्थ हैं—

स. सि/९/४६/४६०/१२—त एते पञ्चापि निर्ग्रन्थाः। चारित्रपरिणामस्य प्रकर्षापकर्षभेदे सत्यपि नैगमसंग्रहादिनयापेक्षया सर्वेऽपि ते निर्ग्रन्था इत्युच्यन्ते।—ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ होते हैं। इनमें चारित्ररूप परिणामोंकी न्यूनाधिकताके कारण भेद होनेपर भी नैगम और संग्रह आदि (द्रव्यार्थिक) नयोंकी अपेक्षा वे सब निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। (चा. सा/१०१/१)

४. पुलाकादि के निर्ग्रन्थ होने सम्बन्धी शंका समाधान—

रा. वा/९/४६/६–१२/६३७/१—यथा गृहस्थश्चारित्रभेदान्निर्ग्रन्थव्यपदेशभाग् न भवति तथा पुलाकादीनामपि प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यचारित्रभेदान्निर्ग्रन्थत्वं नोपपद्यते। ।६। . न वैष दोषः। कुतः···यथा जात्या चारित्राध्ययनादिभेदेन भिन्नेषु ब्राह्मणशब्दोऽविशिष्टो वर्तते तथा निर्ग्रन्थशब्दोऽपि इति ।७। किंच,···यद्यपि निश्चयनयापेक्षया गुणहीनेषु न प्रवर्तते तथापि संग्रहव्यवहारनय-विवक्षावशात् सकलविशेषसंग्रहो भवति ।८। किंच दृष्टिरूपसामान्यात् ।९। भग्नव्रते वृत्तावतिप्रसंग इति चेत्; न; रूपाभावात् ।१०। अन्यस्मिन् सरूपेऽतिप्रसंग इति चेत्, न; दृष्ट्यभावात् ।११।·· किमर्थः पुलाकादिव्यपदेशः ···चारित्रगुणस्योत्तरोत्तरप्रकर्षे वृत्तिविशेषख्यापनार्थः पुलाकाद्युपदेशः क्रियते ।१२।—प्रश्न—जैसे गृहस्थ चारित्रभेद होनेके कारण निर्ग्रन्थ नहीं कहा जाता, वैसे ही पुलाकादि को भी उत्कृष्ट मध्यम जघन्य आदि चारित्र भेद होनेपर भी निर्ग्रन्थ नहीं कहना चाहिये?—उत्तर १—जैसे चारित्र व अध्ययन आदि का भेद होनेपर भी सभी ब्राह्मणोंमें जाति की दृष्टिसे ब्राह्मण शब्दका प्रयोग समानरूपसे होता है, उसी प्रकार पुलाक आदिमें भी निर्ग्रन्थ शब्दका प्रयोग हो जाता है। २—यद्यपि निश्चय नय से गुणहीनोंमें निर्ग्रन्थ शब्द नहीं प्रवर्तता परन्तु संग्रह और व्यवहार नयकी अपेक्षा वहाँ भी उस शब्दका प्रयोग सर्वसंग्रहार्थ कर लिया जाता है। ३—सम्यग्दर्शन और नग्न रूप की अपेक्षा भी वे सब समान हैं। प्रश्न—यदि व्रतोंका भंग हो जानेपर भी आप इनमें निर्ग्रन्थ शब्द की वृत्ति मानते हैं तब तो गृहस्थोंमें भी इसकी वृत्ति होनेका प्रसंग प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं होता, क्योंकि वे नग्नरूपधारी नहीं हैं। प्रश्न—तब जिस किसी भी नग्नरूपधारी मिथ्यादृष्टिमें उसकी वृत्तिका प्रसंग प्राप्त हो जायगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि उनमें सम्यग्दर्शन नहीं पाया जाता [और सम्यग्दर्शन युक्त ही नग्न रूपको निर्ग्रन्थ संज्ञा प्राप्त है—(दे. लिंग/२/१)] प्रश्न—फिर उसमें पुलाक आदि भेदोंका व्यपदेश ही क्यों किया? उत्तर—चारित्रगुणका क्रमिक विकास और क्रमप्रकर्ष दिखानेके लिए इनकी चर्चा की है।

५. निर्ग्रन्थ होते हुए भी इनमें कृष्ण लेश्या क्यों—

स. सि/९/४७/४६२/फुटनोट में अन्य पुस्तक से उपलब्ध पाठ—"कृष्णलेश्यादित्रयं तयोः कथमिति चेदुच्यते—तयोरुपकरणासक्तिसंभवादार्तध्यानं कदाचित्संभवति, आर्तध्यानेन च कृष्णादिलेश्यात्रितयं संभवतीति।—प्रश्न—बकुश और प्रतिसेवना कुशील (यदि निर्ग्रन्थ हैं तो) इन दोनोंके कृष्ण नील कापोत ये तीन लेश्याएँ कैसे हो सकती हैं? उत्तर—उनमें उपकरणों के प्रति आसक्ति भावकी संभावना होनेसे कदाचित आर्तध्यान सम्भव है और आर्तध्यानमें कृष्णादि तीनों लेश्याओं का होना सम्भव है। (त वृ/९/४७/३१६/२१)

त. वृ/९/४७/३१६/२३ "मतान्तरम्—परिग्रहसंस्काराकाङ्क्षायां स्वमेवोत्तरगुणविराधनायामार्तसंभवादार्ताविनाभावि च लेश्याषट्कम्। पुलाकस्यार्तकारणाभावान्न षड् लेश्याः।—दूसरे मतकी अपेक्षा परिग्रह और शरीर संस्कारकी आकांक्षामें स्वयमेव उत्तर गुणोंकी विराधना होती है, जिससे कि आर्तध्यान सम्भव है। और उसके होनेपर उसकी अविनाभावी छहों लेश्याएँ भी सम्भव हैं। पुलाक साधु के आर्त के उन कारणों का अभाव होनेसे छह लेश्या नहीं हैं।

६. पाश्र्वस्थादि मुनि भ्रष्टाचारी हैं—

भ. आ/मू/१३०६–१३१५—दूरेण साधुसत्थं छंडिय सो उप्पथेण खु पलादि। सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिट्ठाओ ।१३०६। इंदियकसायगुरुगत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो। णिद्धंधसो भवित्ता सेवदि हु कुसीलसेवाओ ।१३०७। सो होदि साधु सत्थादु णिग्गदो जो भवे जधाछंदो। उस्सुत्तमणुवदिट्ठं च जधिच्छाए विकप्पंतो ।१३१०। इय एदे पंचविधा जिणेहिं सवणा दुगुंछिदा सुत्ते। इंदियकसायगुरुयत्तणेण णिच्चंपि पडिकुद्धा ।१३१५।—भ्रष्टमुनि दूरसे ही साधुसार्थका त्याग करके उन्मार्गसे पलायन करता है तथा आगम में कहे हुए कुशील नामक मुनिके दोषोंका आचरण करते हैं ।१३०६। इन्द्रियके विषयों तथा कषायके तीव्र परिणामोंमें तत्पर हुए वे मुनि चारित्रको तृणवत् समझते हुए निर्लज्ज होकर कुशीलका सेवन करते हैं ।१३०७। जो मुनि साधुसार्थका त्यागकर स्वतंत्र हुआ है, जो स्वेच्छाचारी बनकर आगमविरुद्ध और पूर्वाचार्योंके द्वारा न कहे हुए आचारोंकी कल्पना करता है, उसे स्वच्छन्द नामका भ्रष्ट मुनि समझना चाहिए ।१३१०। इन पाँच तरह के भ्रष्ट मुनियोंकी जिनेश्वरोंने आगममें निन्दा की है। ये पाँचों इन्द्रिय व कषायके गुरुत्वसे सिद्धान्तानुसार आचरण करनेवाले मुनियोंके प्रतिपक्षी हैं ।१३१५।

चा सा./१४४/२ एते पञ्च श्रमणा जिनधर्मबाह्याः। —ये पाँचों मुनि जिनधर्मबाह्य हैं। (भा. पा/टी./१४/१३७/२३)।

दे. प्रायश्चित्त/४/२/८ [इन पाँचों मुनियोंको मूलच्छेद नामका प्रायश्चित्त दिया जाता है।]

७. पाँचोंके भ्रष्टाचारकी प्ररूपणा

भ. आ./मू./१९५२–१९५७ मुहसादा किमज्झा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी। विसयासापडिबद्धा गारवगुरुया पमाइल्ला ।१९५२। समिदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेसु। परतत्तीसु पसत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ।१९५३। गंथाणियत्ततण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी। सद्दरसरूवगंधे फासेसु य मुच्छिदा घडिदा ।१९५४। परलोग-

णिप्पिवासा इहलोगे चेव जे सुपडिबद्धा। सज्झायादीसु य जे अणुट्ठिदा संकिलिट्ठमदी।१९५५। सव्वेसु य मूलुत्तरगुणेसु तह ते सदा अइचरंता। ण लहंति खवोवसमं चरित्तमोहस्स कम्मस्स।१९५६। एवं मूढमदीया अवंतदोसा करेंति जे कालं। ते देवदुब्भगत्तं मायामोसेण पावंति।१९५७। –ये पाँचों मुनि सुखस्वभावी होते हैं। इसलिए 'मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं' यह विचारकर संघके सब कार्यसे उदासीन हो जाते हैं। सम्यग्दर्शनादि गुणोंके प्रति निरुत्साही हो जाते हैं। नीति, वैद्यक, सामुद्रिक आदि पाप शास्त्रोंका आदर करते हैं। इष्ट विषयोंकी आशासे बँधे हुए हैं। तीन गारवसे सदा युक्त और पन्द्रह प्रमादोंसे पूर्ण हैं।१९५२। समिति गुप्तिकी भावनाओंसे दूर रहते हैं। संयमके भेदरूप जो उत्तरगुण व शील वगैरह इनसे भी दूर रहते हैं। दूसरोंके कार्योंकी चिन्तामें लगे रहते हैं। आत्मकल्याणके कार्योंसे कोसों दूर हैं, इसलिए इनमें रत्नत्रयकी शुद्धि नहीं रहती।१९५३। परिग्रहमें सदा तृष्णा, अधिक मोह व अज्ञान, गृहस्थों सरीखे आरम्भ करना, शब्द रस गन्ध रूप और स्पर्श इन विषयोंमें आसक्ति।१९५४। परलोकके विषयमें निस्पृह, ऐहिक कार्योंमें सदा तत्पर, स्वाध्याय आदि कार्योंमें मन न लगना, संक्लेश परिणाम।१९५५। मूल व उत्तर गुणोंमें सदा अतिचार युक्तता, चारित्रमोहका क्षयोपशम न होना।१९५६। ये सब उन अवसन्नादि मुनियोंके दोष हैं, जिन्हें नहीं हटाते हुए वे अपना सर्व आयुष्य व्यतीत कर देते हैं। जिससे कि इन मायावी मुनियोंको देव दुर्गति अर्थात् नीच देवयोनिकी प्राप्ति होती है।१९५७।

८. पार्श्वस्थादिकी संगतिका निषेध

भ. आ./३३६, ३४१ पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे। हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा।३३६। संविग्गस्सवि संसग्गीए पीदी तदो य वीसंभो। सदि वीसंभे य रदी होइ रदीए वि तम्मयदा।३४१। –पार्श्वस्थादि पाँच भ्रष्ट मुनियोंका तुम दूरसे त्याग करो, क्योंकि उनके संसर्गसे तुम भी वैसे ही हो जाओगे।३३६। वह ऐसे कि संसारभययुक्त मुनि भी इनका सहवास करनेसे, पहले तो प्रीतियुक्त हो जाता है और तदनन्तर उनके विषयमें मनमें विश्वास होता है, अनन्तर उनमें चित्त विश्रान्ति पाता है अर्थात् आसक्त होता है और तदनन्तर पार्श्वस्थामय बन जाता है।३४१।

६. आचार्य, उपाध्याय व साधु

१. चारित्रादिकी अपेक्षा तीनों एक हैं

प्र. सा./त. प्र./२ ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात्संभावितपरमशुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि। –ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारयुक्त होनेसे जिन्होंने शुद्धोपयोग भूमिकाको प्राप्त किया है, ऐसे श्रमणोंको—जो कि आचार्यत्व उपाध्यायत्व और साधुत्वरूप विशेषोंसे विशिष्ट हैं, उन्हें–नमस्कार करता हूँ।

प्र. सा./ता. वृ./३/४/२० श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूंश्च। –आचार्य, उपाध्याय व साधु ये तीनों श्रमण शब्दके वाच्य हैं। (और भी दे. मन्त्र/२/५)।

पं. ध./उ./६३६-६४४ एको हेतुः क्रियाप्येका वेषश्चैको बहिः समः। तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा।६३६। त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा। मूलोत्तरगुणैश्चैकं संयमोऽप्येकधा मतः।६४०। परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम्। आहारादिविधिश्चैकश्चर्या स्थानासनादयः।६४१। मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः। रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिःस्थितम्।६४२। ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात्। चतुर्धाराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता।६४३। किंवात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते। विशेषाच्छेषनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक्।६४४। –उन आचार्यादिक तीनोंका एक ही प्रयोजन है, क्रिया भी एक है, बाह्य वेष, बारह प्रकारका तप और पंच महाव्रत भी एक हैं।६३६। तेरह प्रकारका चारित्र, समता, मूल तथा उत्तर गुण, संयम।६४०। परीषह और उपसर्गोंका सहन, आहारादिकी विधि, चर्या, शय्या, आसन।६४१। मोक्षमार्ग रूप आत्मके सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र–इस प्रकार ये अन्तरंग और बहिरंग रत्नत्रय।६४२। ध्याता ध्यान व ध्येय, ज्ञाता, ज्ञेयाधीन ज्ञान, चार प्रकार आराधना तथा क्रोध आदिका जीतना ये सब समान व एक हैं।६४३। अधिक कहाँ तक कहा जाय उन तीनोंकी सब ही विषयोंमें समानता है।६४४। (और भी दे. आचार्य व उपाध्यायके लक्षण)।

दे. देव I/१/४-५ [रत्नत्रयकी अपेक्षा तीनोंमें कुछ भी भेद न होनेसे तीनों ही देवत्वको प्राप्त हैं।]

दे. ध्येय/३/४ [रत्नत्रयसे सम्पन्न होनेके कारण तीनों ही ध्येय हैं।]

२. तीनों एक ही आत्माकी पर्यायें हैं

मो. पा./मू./१०४ अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहू पंचपरमेट्ठी। ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं। –अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच एक आत्मामें ही चेष्टारूप हैं, इसलिए मुझको एक आत्माका ही शरण है।

३. तीनोंमें कथंचित् भेद

पं. ध./उ./६३८ आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा गतिः। स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः।६३८। –आचार्य, उपाध्याय और साधु इस प्रकार उस गुरुकी तीन अवस्थाएँ होती हैं, क्योंकि ये तीनों मुनि कुंजर आचार्य आदि विशेष-विशेष पदमें आरूढ माने जाते हैं।६३८।

दे. उपाध्याय/ध. १/१,१,१/पृ. ५०/१ [संग्रह अनुग्रहको छोड़कर शेष बातोंमें आचार्य व उपाध्याय समान हैं।] (विशेष दे. उस उसके लक्षण।)

४. श्रेणी आदि आरोहणके समय इन उपाधियोंका त्याग

पं. ध./उ./७०६-७१३ किंचास्ति यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा परमागमे। विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरञ्जसा।७०६। तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा। क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम्।७१०। यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि। कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत्।७११। ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह। नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति यत्र तत्।७१२। न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनं वरम्। प्रागादाय क्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत्।७१३। –परमागममें यह अन्वर्थ रूढि प्रसिद्ध है कि वास्तवमें साधु पदके ग्रहण किये बिना किसीको भी केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है।७०६। तथा वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञाता सर्वज्ञ देवने यह अच्छी तरह कहा है कि श्रेणी पर अधिरूढ आचार्य आदिको क्षण भरमें वह साधु पद स्वयं प्राप्त हो जाता है।७१०। क्योंकि, वह आचार्य और उपाध्याय श्रेणी चढ़नेके कालमें सम्पूर्ण चिन्ताओंके निरोधरूप ध्यानको अवश्य ही धारण करते हैं।७११। इसलिए सिद्ध होता है कि श्रेणी कालमें उनको अनायास ही वह साधुपद प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वहाँपर निश्चयसे बाह्य उपयोगके

लिए बिलकुल अवकाश नहीं मिलता ।७१२। किन्तु ऐसा नहीं है कि आचार्य श्रेणीके आरोहण कालमें पहिले छेदोपस्थापनारूप चारित्रको ग्रहण करके पीछे साधुपदको ग्रहण करते हों ।७१३।

दे. सल्लेखना/४/३ [संस्तर धारणसे पूर्व आचार्य संघकी व्यवस्थाका कार्य भार बालाचार्यको सौंपकर स्वयं उस पदसे निवृत्त हो जाते हैं ।]

साधु प्रासुक परित्यक्तता—दे. त्याग/३ ।

साधुसंघ—दे. संघ व इतिहास/५ ।

साधु समाधि—दे. समाधि ।

साध्य—दे. पक्ष ।

साध्य विकल्प—दे. दृष्टान्त/८ ।

साध्य विरुद्ध—दे. विरुद्ध ।

साध्य सम—न्या. सू./मू./२/८ साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः ।८। —साध्य होनेके कारण साध्यसे जो अभिन्न है ऐसे हेतुको साध्यसम हेत्वाभास कहते हैं । [जैसे पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह वह्निमान् है ।] (श्लो. वा. ४/१/३३/न्या./२७३/४२६/२५)

साध्यसमा—न्या. सू./भाष्य/५/१/४/२८८/२३—[मूलसूत्र दे. वर्ण्यसमा]—क्रियाहेतुगुणयुक्त किंचिद्गुरु यथा लोष्ट. किंचिल्लघु यथा वायुरेवं क्रियाहेतुगुणयुक्त किंचित्क्रियावत्स्याद् यथा लोष्टः किंचिदक्रियं यथात्मा विशेषो वा वाच्य इति । हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगी धर्मः साध्यस्तं दृष्टान्ते प्रसञ्जतः साध्यसमः । यदि यथा लोष्टस्तथात्मा प्राप्तस्तर्हि यथात्मा तथा लोष्ट इति । साध्यश्चायमात्मा क्रियावानिति कामं लोष्टोऽपि साध्यः । अथ नैवं तर्हि यथा लोष्टः तथात्मा । एतेषामुत्तरम् । —क्रियाहेतुगुणसे युक्त पदार्थ कुछ भारी भी होता है जैसे लोष्ट, कुछ हलका भी होता है जैसे वायु, कुछ क्रियावाला होता है, जैसे लोष्ट और कुछ क्रियारहित भी होता है जैसे आत्मा । कुछ और विशेष हो तो कहिए । हेतु आदि अवयव की सामर्थ्यको जोड़नेवाला धर्म साध्य होता है । उसको दृष्टान्तमें प्रसंग करानेवालेको साध्यसम कहते हैं । उदाहरणार्थ—जैसा लोष्ट है वैसा ही आत्मा है, तब प्राप्त हुआ कि जैसा आत्मा है वैसा ही लोष्ट है । यदि आत्माका क्रियावान्‌पना साध्य है तो निस्सन्देह लोष्टका भी क्रियावान्‌पना भी साध्य है । यदि ऐसा नहीं है तो 'जैसा लोष्ट वैसा आत्मा' ऐसा नहीं कहा जा सकता । (श्लो. वा. ४/१/३३/न्या. ३३७/४७३/१०) ।

साध्य साधक सम्बन्ध—दे. सम्बन्ध ।

साध्य साधन भाव—(दे. निश्चय व्यवहार नय या धर्म या चारित्र आदि) ।

सदानन्द—वेदान्तसार नामक ग्रन्थके रचयिता । समय ई. श. १७ (दे. वेदान्त/१/२ ।)

सान—ध. १३/५,५,३७/२४२/३ स्यति छिनत्ति हन्ति विनाशयति अनध्यवसायमित्यवग्रहः सानम् । —जो अनध्यवसायको छेदता है, नष्ट करता है, वह अवग्रहका तीसरा नाम सान है ।

सान्निपातिक भाव—दे. सन्निपातिक भाव ।

सापेक्ष—दे. स्याद्वाद/२,३

सापेक्ष मात्रा—Relative mass—(जं. प./प्र. १०६) ।

सामानिक—

ति. प./३/६५ सामाणिया कलत्तसमा ।६५। —सामानिक देव इन्द्रके कलत्रके समान होते हैं । (त्रि. सा./२२४) ।

स.सि./४/११/२१८/६ समाने स्थाने भवाः सामानिकाः ।

स.सि./४/४/२३९/१ आज्ञैश्वर्यवर्जितं यत्स्थानायुर्वीर्यपरिवारभोगोपभोगादि तत्समानं, तत्समाने भवाः सामानिकाः महत्तराः, पितृगुरूपाध्यायतुल्याः । —१. समान स्थान या पदमें जो होते हैं सो सामानिक कहलाते हैं । (रा वा./३/११/३/१८३/११) । २. आज्ञा और ऐश्वर्यके अतिरिक्त जो आयु, वीर्य, परिवार, भोग और उपभोग हैं वे समान कहलाते हैं । उस समानमें जो होते हैं वे सामानिक कहलाते हैं । ये पिता, गुरु और उपाध्यायके समान सबसे बड़े हैं । (रा.वा./४/४/२/२१२/१७) ।

म. पु./२२/२४ पितृमातृगुरुप्रख्याः संमतास्ते सुरेशिनाम् । लभन्ते सममिन्द्रैश्च सत्कारं मान्यतोचितम् ।२४। —ये सामानिक जातिके देव इन्द्रोंके पिता माता और गुरुके तुल्य होते हैं तथा ये अपनी मान्यताके अनुसार इन्द्रोंके समान ही सत्कार प्राप्त करते हैं ।२४।

जं. प./११/३०६ सामाणिया वि देवा अणुसरिसा लोगवालाणं ।—सामानिक देव भी वैभव आदिमें लोकपालोंके सदृश होते हैं ।

अन्य सम्बन्धित विषय

१. सामानिक देवोंकी देवियाँ —(दे. स्वर्ग/३/७)

२. इन्द्रोंके परिवारमें सामानिक देवोंका प्रमाण—दे. भवन, व्यन्तर, ज्योतिषी और स्वर्ग ।

सामान्य—१. 'सामान्य' सामान्यके लक्षण

दे. द्रव्य/१/७ [द्रव्य, सामान्य, उत्सर्ग, अनुवृत्ति, सत्ता, सत्त्व, सत्, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि, अविशेष ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं ।]

दे.नय /I/५/४-[द्रव्यका सामान्यांश हारके डोरेवत् सर्व पर्यायोंमें अनुस्यूत एक भाव है ।]

दे. निक्षेप/२/७ [द्रव्यकी प्रारम्भसे लेकर अन्त तककी सब पर्यायें मिलकर एक द्रव्य बनता है । वही सामान्य द्रव्यार्थिक नयका विषय है ।] (और भी दे. नय/IV/१/२) ।

दे. दर्शन/४/२-४ [यह काला है या नीला इस प्रकार भेद किये बिना सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंका सामान्य रूपसे ग्रहण करनेके कारण आत्मा ही सामान्य है और वही दर्शनोपयोगका विषय है ।]

न्या./वि./मू./१/१२१/४५० समानभावः सामान्यं ।—समान अर्थात् एकताका भाव सामान्य है ।

न्या. वि./वृ./१/४/१२१/१० अनुवृत्तिबुद्धिहेतुत्वात्सामान्यम् ।—अनुवृत्ति अर्थात् एकताकी बुद्धिका कारण होनेसे सामान्य है । (प. मु./४/२) ।

न.च.वृ /६३ सामण्णसहावदो सव्वे । —सब द्रव्योंमें होना सामान्यका स्वभाव है ।

स म./४/१७/१२ स्वभाव एव ह्ययं सर्वभावानां यदनुवृत्ति····तथाहि । घट एव तावत् पृथुबुध्नोदराकारवान् प्रतीतिविषयीभवन् सन्नन्यानपि तदाकृतिभृतः पदार्थान् घटरूपतया घटैकशब्दवाच्यतया च प्रत्याययत् सामान्याख्यां लभते । —स्वयं ही सर्व भावोंकी अनुवृत्तिरूपसे ज्ञान करानेवाला ऐसा सब द्रव्योंका स्वभाव ही है । उदाहरणार्थ—मोटा गोल उदर आदि आकारवाला घड़ा स्वयं ही उसी आकृतिके अन्य पदार्थोंको भी घटरूपसे और घटशब्दरूपसे जानता हुआ 'सामान्य' कहा जाता है ।

द्र.सं./टी./६/१८/२ सामान्यमिति कोऽर्थः संसारिजीवमुक्तजीवविवक्षा नास्ति, अथवा शुद्धाशुद्धज्ञानदर्शनविवक्षा नास्ति । तदपि कथमिति चेद् विवक्षायाः अभावः सामान्यलक्षणमिति वचनात् ।—यहाँ 'सामान्य जीव' इस कथनका यह तात्पर्य है कि इस (जीवके) लक्षणमें संसारी तथा मुक्त जीवकी विवक्षा नहीं है अथवा शुद्ध अशुद्ध

ज्ञान दर्शनको भी विवक्षा नहीं है। क्योंकि, 'विवक्षाका अभाव ही सामान्यका लक्षण है' ऐसा कहा है। (स.सा./ता.वृ./१९८/२७४/७)।

न्या.दी./३/§७६/११७/२ तत्र सामान्यमनुवृत्तिस्वरूपम्। तद्धि घटत्वं पृथुबुध्नोदराकारः। गोत्वमिति सास्नादिमत्त्वमेव। —'घट घट' 'गौ गौ' इस प्रकारके अनुगतव्यवहारके विषयभूत सदृश परिणामात्मक 'घटत्व' 'गोत्व' आदि अनुगत स्वरूपको सामान्य कहते हैं। वह 'घटत्व' स्थूल कम्बुग्रीवादि स्वरूप तथा 'गोत्व' सास्ना आदि स्वरूप ही है।

पं.ध./उ./२ बहुव्यापकमेवैतत्सामान्यं सदृशत्वतः।२। —सदृशतासे जो बहुत देशमें व्यापक रहता है उसीको सामान्य कहते हैं।

वै. द./१-२/३,४ सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्।३। भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात सामान्यमेव।४। —सामान्य और विशेष बुद्धिकी अपेक्षासे किये जाते हैं।३। जैसे अनुवृत्ति अर्थात बार बार लौटकर प्रत्येक वस्तुके मिलनेसे यह विदित होता है कि भाव अर्थात सत्ता है।

२. सामान्यके भेद व उनके लक्षण

प.मु./४/३-५ सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात।३। सदृशपरिणाम-स्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत।४। परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।५। —सामान्य दो प्रकारका है—एक तिर्यक् सामान्य, दूसरा ऊर्ध्वता सामान्य।३। सदृश सामान्य परिणामको तिर्यक् सामान्य कहते हैं, जैसे गोत्व सामान्य, क्योंकि खाण्डी मुण्डी आदि गौवोंमें गोत्व सामान्यरूपसे रहता है। तथा पूर्वोत्तर पर्यायोंमें रहनेवाले द्रव्यको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं, जैसे घड़ेमें मिट्टी, क्योंकि, स्थास, कोश, कुशूल आदि जितनी भी एक घड़ेकी पूर्वोत्तर पर्यायें हैं उन सबमें मिट्टी अनुगत रूपसे रहती है।५। (विशेष दे. क्रम/६)।

स्या. म/८/६६/१५ तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्। तच्च द्विविधं परमपरं च। तत्र परं सत्ता भावो महासामान्यमिति चोच्यते। द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात्। अपरसामान्यं च द्रव्यत्वादि। एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते। —अनुवृत्ति प्रत्ययका कारण सामान्य है। वह दो प्रकारका है—पर सामान्य और अपर सामान्य। पर सामान्यको सत्ता, भाव, और महासामान्य भी कहते हैं। क्योंकि, यह द्रव्यत्व आदि अपरसामान्यकी अपेक्षासे महान् विषय वाला है। द्रव्यत्व केवल द्रव्यमें ही रहता है और परसामान्य द्रव्य गुण व कर्म तीनों में रहता है। द्रव्यत्वादि अपर सामान्य हैं। इसे सामान्य विशेष भी कहते हैं। (और भी दे. 'अस्तित्व'; नय/III/४/२/१)।

३. सर्वथा स्वतन्त्र सामान्य या विशेष कुछ नहीं

सि. वि./मू/२/१२/१४३ न पश्यामः क्वचित् किंचित् सामान्यं वा स्वलक्षणम्। जात्यन्तरं तु पश्यामः ततो नैकान्तहेतवः। —कोई किंचित् भी विशेष मात्र या सामान्य मात्र देखनेमें नहीं आता। हाँ सामान्य विशेषात्मक एक जात्यन्तर भाव अवश्य देखा जाता है। इसलिए 'सामान्य' अनेकान्त हेतुक है अर्थात अनेकान्तके द्वारा ही सिद्ध हो सकता है।

सि. वि/वृ/१/८/१५१/५ पर उद्धृत (प्रमाण वार्तिक/२/१२६) एकत्र दृष्टो भेदो हि क्वचिन्नान्यत्र दृश्यते। न तस्माद्भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः। —किसी एक स्थान पर देखा गया भेद किसी भी प्रकार अन्यत्र नहीं देखा जाता इस लिए बुद्धिके अभेदसे वह सामान्य कथंचित् भिन्न व अन्य नहीं है।

आ. प/श्लो नं. ६ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत। सामान्य-रहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि।६। —विशेषोंसे रहित सामान्य और इसी प्रकार सामान्यसे रहित विशेष। कुछ गधेके सींग के समान असत होते हैं।

४. वस्तु स्वयं सामान्य विशेषात्मक है

श्लो. वा/४/१/३३/६०/२४५/१६ सर्वस्य वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्। —सर्व ही वस्तुएँ सामान्यविशेषात्मक हैं।

दे. प्रमाण/२/५. [सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही प्रमाणका विशेष है।]

क. पा/१/१-२०/§३२४/३५६/२ ततः स्वयमेवैकत्वापत्तिरिति स्थितम्। सामान्य-विशेषोभयानुभयैकान्तव्यतिरिक्तत्वात् जात्यन्तरं वस्त्विति स्थितम्। —इसका (दे. अगला शीर्षक) यह अभिप्राय है कि वस्तु न सामान्य रूप है, न विशेषरूप है, न सर्वथा उभयरूप है और न अनुभय रूप है किन्तु जात्यन्तररूप ही वस्तु है, ऐसा सिद्ध होता है। (क. पा/१/१,१/§३३/४६/२)

५. सामान्य व विशेषकी स्वतन्त्र सत्ता न माननेमें हेतु

क. पा/१/१-२०/§३२२/३५३/३ ण ताव सामण्णमत्थि; विसेसवदिरित्ताणं तब्भावसारिच्छलक्खणसामण्णाणमणुवलंभादो समाणेगपच्चयाणमुप्पत्तीए अण्णहाणुववत्तीदो अत्थि सामण्णमिदि ण वोत्तुं जुत्तं; अणेगासमाणाणुविद्धेगसमाणग्गहणेण जच्चंतरीभूतपच्चयाणमुप्पत्तिदंसणादो। ण सामण्णवदिरित्तो विसेसो वि अत्थि; सामण्णाणुविद्धस्सेव विसेसस्सुवलंभादो। "ण च एसो सामण्ण-विसेसाणं संजोगो...।"

क. पा/१/१-२०/§३२३/३५४/१ ण सामण्ण-विसेसाणं संबंधो वत्थु। —१—केवल सामान्य तो है नहीं, क्योंकि अपने विशेषोंको छोड़कर केवल सद्भाव सामान्य और सादृश्यलक्षण सामान्य नहीं पाये जाते हैं। २—यदि कहा जाय कि सामान्यके सर्वत्र समान प्रत्यय और एक प्रत्यय की उपपत्ति बन नहीं सकती है इसलिए सामान्य नामका स्वतन्त्र पदार्थ है, सो कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि अनेकका ग्रहण असमानानुविद्ध होता है और एक का ग्रहण समानानुविद्ध होता है। ३—अतः सामान्य विशेषात्मक वस्तुको विषय करनेवाले जात्यन्तरभूत ज्ञानोंकी ही उत्पत्ति देखी जाती है। ४—तथा सामान्य से सर्वथा भिन्न विशेष नामका भी कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि सामान्यसे अनुविद्ध होकर ही विशेषकी उपलब्धि होती है। ५—यदि कहा जाय कि स्वतन्त्र रहते हुए भी उनके संयोगका ही परिज्ञान एक ज्ञानके द्वारा होता है, सो भी कहना ठीक नहीं—(विशेष दे. द्रव्य/५/३)। ६—सामान्य और विशेषके सम्बन्धको अर्थात् समवाय सम्बन्धको स्वतन्त्र वस्तु कहना भी ठीक नहीं—(दे. समवाय)।

६. सामान्य व विशेषमें कथंचित् भेद

ध. १३/५/५/३५/२३४/६ विसेसादो सामण्णस्स कथंचिद पुधभूदस्स उवलंभादो। तं जहा—सामण्णमेयसंखं विसेसो अणेयसंखो। वदिरेयलक्खणो विसेसो अण्णयलक्खणं सामण्णं, आहारो विसेसो आहेयो सामण्णं, णिच्चं सामण्णं अणिच्चो विसेसो। तम्हा सामाण-विसेसाणं णत्थि एयत्तमिदि। —विशेषसे सामान्यमें कथंचित् भेद पाया जाता है। यथा—सामान्य एक संख्या वाला होता है और विशेष अनेक संख्या वाला होता है, विशेष व्यतिरेक लक्षण वाला होता है और सामान्य अन्वय लक्षणवाला होता है, विशेष आधार होता है और सामान्य आधेय होता है, सामान्य नित्य होता है और विशेष अनित्य होता है। इसलिए सामान्य और विशेष एक नहीं हो सकते।

पं. ध./पू./२७५ सामान्यं विधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति विशेषश्च।..। २७५। —विधिरूप वर्तना सामान्य काल कहलाता है और निषेध स्वरूप विशेष काल कहलाता है। (दे. सप्तभंगी/३/२—स. म.)।

७. सामान्य विशेषके भेदाभेदका समन्वय

आप्त. मी./३४-३६ सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदत. । भेदाभेदव्यवस्थायामसाधारणहेतुवत् ।३४। विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणी । यतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः ।३५। प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती । तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ।३६। =सामान्यरूपसे देखने पर सब द्रव्य गुण कर्म आदिकोंमें एकत्व है और उनका भेद देखनेपर उनमें भेद है। तहाँ अभेद विवक्षामें 'सामान्य' और भेद विवक्षामें 'विशेष' ये असाधारण हेतु हैं ।३४। अनन्त धर्मोका आधारभूत जो विशेष्य उसमें सद्रूप विशेषणकी ही विवक्षा होती है, असद्रूपकी नहीं। और यह विवक्षा वक्ताकी इच्छापर निर्भर है ।३५। इसलिए वस्तुमें भेद व अभेद दोनों ही प्रमाण गोचर होनेसे प्रमार्थभूत हैं। मुख्य व गौणकी विवक्षासे ये दोनों स्याद्वाद मतमें अविरुद्ध हैं ।३६।

पं. ध./पू./२७५ उभयोरन्यतरस्योन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति ।२७५।= इन दोनोंमेंसे किसी एककी मुख्य विवक्षा होनेसे कालकृत अस्ति व नास्ति ये दो विकल्प पैदा होते है।

सामान्य गुण—दे. गुण/१।

सामान्य ग्राहक दर्शन—दे. दर्शन/१।

सामान्य छल—दे. छल।

सामान्यतोदृष्ट—दे. अनुमान/१/६।

सामान्य नय—दे. नय/I/५/४।

सामान्याधिकरण—

भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामान्याधिकरण्यम्। यथा 'तत् त्वमसि'। =भिन्न-भिन्न अर्थोकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत जो शब्द उनकी एक ही अर्थमें वृत्ति होना सामान्याधिकरण्य है। जैसे 'तत्त्वमसि' इस पदमें 'तत' का अर्थ अशरीरी ब्रह्म और 'त्वम्' का अर्थ शरीरी ब्रह्म अर्थात् जीवात्मा। ये दोनों एक हैं, ऐसे इस पदका अर्थ है। २. लक्ष्य लक्षण में सामानाधिकरण्य।

—दे. लक्षण।

सामान्यावलोकन—दे. दर्शन/१,२।

सामायिक—सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट आदि विषमताओंमें राग-द्वेष न करना बल्कि साक्षी भावसे उनका ज्ञाता द्रष्टा बने हुए समतास्वभावी आत्मामें स्थित रहना, अथवा सर्व सावद्य योगसे निवृत्ति सो सामायिक है। आवश्यक, चारित्र, व्रत व प्रतिमा चारों एक ही प्रकारके लक्षण हैं। अन्तर केवल इतना है कि श्रावक उस सामायिकको नियतकालका नियतकाल पर्यन्त धारकर अभ्यास करता है और साधुका जीवन ही समतामय बन जाता है। श्रावक की उस सामायिकको व्रत या प्रतिमा कहते हैं और साधुकी उस सार्वकालिक समताको सामायिक चारित्र कहते हैं।

१. सामायिक सामान्य निर्देश

१. समता व साम्यका लक्षण

ज्ञा./२४/श्लो. नं. चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितैः । न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत् ।२। आशा सद्यो विपद्यन्ते यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात् । म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ।११। अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम् । निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ।१७।

ज्ञा./२७/१३-१४ क्रोधविद्वेषु सत्त्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु । मधुमांससुराऽन्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ।१३। देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु । नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्तिता ।१४। — जिस पुरुषका मन चित् (पुत्र-मित्र-कलत्रादि) और अचित् (धन-धान्यादि) इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंके द्वारा मोहको प्राप्त नहीं होता उस पुरुषके ही साम्यभावमें स्थिति होती है ।२। जिस पुरुषके समभावकी भावना है, उसके आशाएँ तो तत्काल नाश हो जाती हैं, अविद्या क्षणभरमें क्षय हो जाती है, उसी प्रकार चित्तरूपी सर्प भी मर जाता है ।११। जिस समय यह आत्मा अपनेको समस्त परद्रव्यों व उनकी पर्यायोंसे भिन्नस्वरूप निश्चय करता है उसी काल साम्यभाव उत्पन्न होता है ।१७। क्रोधी, निर्दय, क्रूरकर्मी, मद्य, मांस, मधु व परस्त्रियोंमें लुब्ध, अत्यन्त पापी, देव गुरु शास्त्रादिकी निन्दा करनेवाले ऐसे नास्तिकोंमें तथा अपनी प्रशंसा करनेवालोंमें माध्यस्थ्य भावका होना उपेक्षा कही गयी है ।१३-१४।

प्र. सा./ता. वृ./४२/३३५/१० अथ यदेव संयततपोधनस्य साम्यलक्षणं भणितं तदेव श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो भण्यते । —[शत्रु-मित्र व बन्धु वर्गमें, सुख-दुःखमें, प्रशंसा-निन्दामें, लोष्ट व सुवर्णमें, जीवन और मरणमें जिसे समान भाव है वह श्रमण है ।२४१। (दे. साधु/३/१)] ऐसा जो संयत तपोधनका 'साम्य' लक्षण किया गया है वही श्रामण्यका अपर नाम, 'मोक्षमार्ग' कहा जाता है ।

मो. पा./टी./५०/३४२/१२ आत्मसु सर्वजीवेषु समभावः समतापरिणामः, यादृशो मोक्षस्थाने सिद्धो वर्तते तादृश एव ममात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः सिद्धपरमेश्वरसमानः, यादृशोऽहं केवलज्ञानस्वभावस्तादृश एव सर्वोऽपि जीवराशिरत्र भेदो न कर्तव्यः । —अपने आत्मामें तथा सर्व जीवोंमें समभाव अर्थात् समता परिणाम ऐसा होता है—'मोक्षस्थानमें जैसे सिद्ध भगवान् हैं वैसे ही मेरा आत्मा भी सिद्ध परमेश्वरके समान शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी है। और जैसा केवलज्ञान-स्वभावी मैं हूँ वैसी ही सर्व जीव राशि है। यहाँ भेद नहीं करना चाहिए ।

दे. धर्म/१/५/१ [मोह क्षोभ हीन परिणामको साम्य कहते हैं ।]

दे. मोक्षमार्ग/२/५ [परमसाम्य मोक्षमार्गका अपर नाम है ।]

दे. उपेक्षा—[माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, निःस्पृहता, वैतृष्ण्य, परम शान्ति, ये सब एकार्थवाची नाम हैं ।]

दे. उपयोग/II/२/१ [साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध, शुद्धोपयोग, ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। किसी प्रकारकी भी आकृति अक्षर वर्णका विकल्प न करके जहाँ केवल एक शुद्ध चैतन्य मात्रमें स्थिति होती है, वह साम्य है ।]

२. सामायिक सामान्यका व्युत्पत्ति अर्थ

स. सि./७/२१/३६०/७ समेकीभावे वर्तते । तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते । एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम् । समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम् । —१. 'सम' उपसर्गका अर्थ एक रूप है । जैसे घी संगत है, तैल संगत है', जब यह कहा जाता है तब संगतका अर्थ एकीभूत होता है । सामायिकमें मूल शब्द 'समय' है जिसका अर्थ है एक साथ जानना व गमन करना अर्थात् आत्मा (दे. समय)—वह समय ही सामायिक है । २. अथवा समय अर्थात् एकरूप हो जाना ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है । (रा. वा./७/२१/७/५४८/३); (गो. क./जी. प्र./५४७/७१३/१८)

रा. वा./६/१९/१/६१६/२५ आयन्तीत्यायाः अनर्थाः सत्त्वव्यपरोपणहेतवः, संगताः आयाः समायाः, सम्यग्वा आयाः समायास्तेषु ते वा प्रयोजनमस्येति सामायिकमवस्थानम् । —आय अर्थात् अनर्थ अर्थात् प्राणियोंकी हिंसाके हेतुभूत परिणाम । उस आय या अनर्थका सम्यक् प्रकारसे नष्ट हो जाना सो समाय है । अथवा सम्यक् आय अर्थात् आत्माके साथ एकीभूत होना सो समाय है । उस समायमें हो या वह समाय ही है प्रयोजन जिसका सो सामायिक है । तात्पर्य यह कि हिंसादि अनर्थोंसे सतर्क रहना सामायिक है ।

चा. सा./१९/१ सम्यगेकत्वेनायनं गमनं समयः स्वविषयेभ्यो विनिवृत्य कायवाङ्मनःकर्मणामात्मना सह वर्तनाद्द्रव्यार्थेनात्मनः एकत्वगमनमित्यर्थः । समय एव सामायिकं, समयः प्रयोजनमस्येति वा

सामायिकम्। —अच्छी तरह प्राप्त होना अर्थात् एकान्त रूपसे आत्मामें तल्लीन हो जाना समय है। मन, वचन, कायकी क्रियाओं-का अपने-अपने विषयसे हटकर आत्माके साथ तल्लीन होनेसे द्रव्य तथा अर्थ दोनोंसे आत्माके साथ एकरूप हो जाना ही समयका अभिप्राय है। समयको ही सामायिक कहते हैं। अथवा समय ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है।

गो. जी./जी. प्र /३६७/७८६/१० समम् एकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः, अयमहं ज्ञाता द्रष्टा चेति आत्मविषयोपयोग इत्यर्थः, आत्मनः एकस्यैव ज्ञेयज्ञायकत्वसंभवात्। अथवा सं समे रागद्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि आयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः स प्रयोजनमस्येति सामायिकं। —१. 'सं' अर्थात् एकत्वपनेसे 'आय' अर्थात् आगमन। अर्थात् परद्रव्योंसे निवृत्त होकर उपयोगकी आत्मामें प्रवृत्ति होना। 'यह मैं ज्ञाता द्रष्टा हूँ' ऐसा आत्मामें जो उपयोग सो सामायिक है। एक ही आत्मा स्वयं ही ज्ञेय है और स्वयं ही ज्ञाता है, इसलिए अपनेको ज्ञाता द्रष्टारूप अनुभव कर सकता है। २. अथवा 'सम' का अर्थ राग-द्वेष रहित मध्यस्थ आत्मा है। उसमें आय अर्थात् उपयोगकी प्रवृत्ति सो समाय है। वह समाय ही जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं। (अन. ध/८/१६/७४२)

२. सामायिक सामान्यके लक्षण

१. समता

मू. आ./५२१,५२२,५२६ जं च समो अप्पाणं परं य मादूय सव्वमहिलासु। अप्पियपियमाणादिसु तो समणो सो य सामाइयं।५२१। जो जाणइ समवायं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च। सब्भावं ते सिद्धं सामाइयं उत्तम जाणे।५२२। जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य। जस्स रागो य दोसो य वियडि ण जाणंति दु।५२६। —स्व व परमें राग व द्वेष रहित होना, सब स्त्रियोंको माताके समान देखना, शत्रु-मित्र, मान-अपमान आदि-में सम भाव रखना, ये सब श्रमणके लक्षण हैं। उसे ही सामायिक भी जानना।५२१। जो द्रव्यों, गुणों और पर्यायोंके सादृश्यको तथा उनके एक जगह स्वतः सिद्ध रहनेको जानता है, वह उत्तम सामायिक है।५२२। त्रस स्थावररूप सर्व प्राणियोंमें समान परिणाम होना [अर्थात् सबको सिद्ध समान शुद्ध जानना दे. सामायिक/२/१] तथा राग-द्वेषादि भावोंके कारण आत्मामें विकार उत्पन्न न होना, वही परम सामायिक है।५२६।

ध. ८/३,४१/८४/१ सत्तु-मित्त-मणि-पाहाण-सुवण्ण-मट्टियासु राग-देसाभावो समदा णाम। —शत्रु-मित्र, मणि-पाषाण और सुवर्ण-मृत्तिका-में राग-द्वेषके अभावको समता कहते हैं। (चा.सा./५६/१)

अ. ग. श्रा./८/३१ जीवितमरणे योगे वियोगे विप्रिये प्रिये। शत्रौ मित्रे सुखे दुःखे साम्यं सामायिकं विदुः।३१। —जीवन व मरणमें, संयोग व वियोगमें, अप्रिय व प्रियमें, शत्रु व मित्रमें, सुख व दुःख में समभावको सामायिक कहते हैं।३१।

भा. पा./टी./७७/२२१/१३ सामायिकं सर्वजीवेषु समत्वम्। —सर्व जीवोंमें समान भाव रखना सामायिक है। (विशेष दे. सामायिक/१/१)।

२. राग-द्वेषका त्याग

मू. आ./५२३ रागदोसो णिरोहित्ता समदा सव्वकम्मसु। सुत्तेसु अ परिणामो सामाइयमुत्तमं जाणे।५२३। —सब कार्योंमें राग-द्वेषको छोड़कर समभाव होना और द्वादशांग सूत्रोंमें श्रद्धान होना उत्तम सामायिक है।५२३।

यो. सा./अ./५/४७ यत्सर्वद्रव्यसंदर्भे रागद्वेषव्यपोहनम्। आत्मतत्त्वनिविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते।४७। —सर्व द्रव्योंमें राग-द्वेषका अभाव तथा आत्मस्वरूपमें लीनता सामायिक कही जाती है। (अन. ध./८/२१/७४८)

३. आत्मस्थिरता

नि. सा./मू /१४७ आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं। तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स।१४७। —यदि तू आवश्यकको चाहता है, तो आत्म-स्वभावमें स्थिरभाव कर, जिससे कि जीवोंको सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है।१४७।

रा. वा /६/२४/११/५३०/१२ चित्तस्यैकत्वेन ज्ञानेन प्रणिधानं वा। —एक ज्ञानके द्वारा चित्तको निश्चल रखना सामायिक है। (चा. सा./५५/४)।

४. सावद्ययोग निवृत्ति

नि. सा./मू /१२५ विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ। तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।१२५। —जो सर्व सावद्यमें विरत है, जो तीन गुप्तिवाला है, और जिसने इन्द्रियोंको बन्द किया है, उसे सामायिक स्थायी है।१२५। (मू. आ./५२४)।

रा. वा./६/२४/११/५३०/११ तत्र सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति-लक्षणं। —सर्व सावद्य योग निवृत्ति ही सामायिकका लक्षण है। (चा. सा./५५/४)।

५. संयम तप आदिके साथ एकता

मू. आ./५१६, ५२५ सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं। समयं तु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाणे।५१६। जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे। तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे।५२५। —सम्यक्त्व ज्ञान संयम तप इनके द्वारा जीवकी प्रशस्त प्राप्ति अथवा उनके साथ जीवकी एकता, वह समय है। उसीको सामायिक कहते हैं।५१६। (अन. ध./८/२०/७४५) जिसका आत्मा संयम, नियम व तपमें लीन है, उसके सामायिक तिष्ठती है।५२५।

६. नित्य नैमित्तिक कर्म व शास्त्र

क. पा /१/१,१/§८१/९८/५ तीसु वि संझासु पक्खमाससंधिदिणेसु वा सगिच्छिदवेलासु वा बज्झंतरंगासेसत्थेसु संपरायणिरोहो वा सामाइयं णाम। —तीनों ही सन्ध्याओंमें या पक्ष और मासके सन्धिदिनों-में या अपने इच्छित समयमें बाह्य और अन्तरंग समस्त पदार्थोंमें कषायका निरोध करना सामायिक है।

गो. जी./जी. प्र./३६७/७८६/१२ नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं तत्प्रतिपादकं शास्त्रं वा सामायिकमित्यर्थः। —नित्य-नैमित्तिक क्रिया विशेष तथा सामायिकका प्रतिपादक शास्त्र भी सामायिक कहलाता है।

४. द्रव्य क्षेत्रादि रूप सामायिकोंके लक्षण

क. पा. १/१–१/§८१/९७/४ सामाइयं चउव्विहं, दव्वसामाइयं खेत्त-सामाइयं कालसामाइयं भावसामाइयं चेदि। तत्थ सचित्ताचित्त-रागदोसणिरोहो दव्वसामाइयं णाम। णयर-खेट-कव्वड-मडंब-पट्टण-दोणमुह-जणवदादिसु रागदोसणिरोहो सगावासविसयसंपरायणिरोहो वा खेत्तसामाइयं णाम। छउदुविसयसंपरायणिरोहो कालसामाइयं। णिरुद्धासेसकसायस्स वंतमिच्छत्तस्स णयणिउणस्स छदव्वविसओ बोहो बाहविवज्जिओ भावसामाइयं णाम। —द्रव्यसामायिक, क्षेत्र-सामायिक, कालसामायिक और भावसामायिकके भेदसे सामायिक चार प्रकारका है। उनमेंसे सचित्त और अचित्त द्रव्योंमें राग और द्वेषका निरोध करना द्रव्यसामायिक है। ग्राम, नगर, खेट, कर्वट,

मडम्ब, पट्टन, द्रोणमुख, और जनपद आदिमें राग और द्वेषका निरोध करना अथवा अपने निवासस्थानमें कषायका निरोध करना क्षेत्र-सामायिक है। बसन्त आदि छः ऋतु विषयक कषायका निरोध करना अर्थात किसी भी ऋतुमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि न करना कालसामायिक है। जिसने समस्त कषायोंका निरोध कर दिया है तथा मिथ्यात्वका वमन कर दिया है और जो नयोंमें निपुण है ऐसे पुरुषको बाधा रहित और अस्खलित जो छह द्रव्यविषयक ज्ञान होता है वह भाव-सामायिक है। (गो. जी./जी. प्र./३६७/७८६/१५)।

भ. आ./वि./११६/२७४/पंक्ति—तत्र सामायिकं नाम चतुर्विधं नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन।१७। ..चारित्रमोहनीयाख्यं कर्म परिप्राप्तक्षयोपशमावस्थं नोआगमद्रव्यतद्व्यतिरिक्तकर्म। सामायिकं नाम प्रत्ययसामायिकं। नोआगमभावसामायिकं नाम सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपरिणाम:। अयमिह गृहीत: ।२४। —सामायिक चार प्रकारकी है—नामसामायिक, स्थापनासामायिक, द्रव्यसामायिक, भावसामायिक। [इन सबके लक्षण निक्षेपोंवत् जानने। विशेषता यह है कि] क्षयोपशमरूप अवस्थाको प्राप्त हुए चारित्रमोहनीय कर्मको जो कि सामायिकके प्रति कारण है वह नोआगमद्रव्य तद्व्यतिरिक्त सामायिक है। सम्पूर्णसावद्य योगोंसे विरक्त ऐसे आत्माके परिणामको नोआगमभावसामायिक कहते हैं। यही सामायिक प्रकृत विषयमें ग्राह्य है।

अन. ध./८/१८–३५/७४२ नामस्थापनयोर्द्रव्यक्षेत्रयो: कालभावयो:। पृथग्निक्षिप्य विधिवत्साध्या सामायिकादय:।१८। शुभेऽशुभे वा केनापि प्रयुक्ते नाम्नि मोहत:। स्वमवाग्लक्षणं पश्यन्न रतिं यामि नारतिम्।२१। यदिदं स्मरयत्यर्चा न तदप्यस्मि किं पुन:। इदं तदस्यां सुस्थेति धीरसुस्थेति वा न मे।२२। साम्यागमज्ञतद्देहौ तद्विपक्षौ च यादृशौ। तादृशौ स्तां परद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवद्ग्रह:।२३। राजधानीति न प्रीये नारण्यनीति चोद्विजे। देशो हि रम्योऽरम्यो वा नात्मरामस्य कोऽपि मे।२४। नामूर्तत्वाद्धिमाद्यात्मा काल: किं तर्हि पुद्गल:। क्षयोपचर्यते मूर्तस्तस्य स्पृश्यो न जात्वहम्।२५। सर्वे वैभाविका भावा मत्तोऽन्ये तेष्वत: कथम्। चिच्चमत्कारमात्रात्मा प्रीत्यप्रीती तनोम्यहम्।२६। जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये। बन्धावरौ सुखे दु:खे साम्यमेवाभ्युपैम्यहम्।२७। मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्। सर्वसावद्यविरतोऽस्मीति सामायिकं श्रयेत्।३५। —नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह निक्षेपोंपर सामायिकादि षट् आवश्यकोंको घटित करके व्याख्यान करना चाहिए।१८। किसी भी शुभ या अशुभ नाममें अथवा यदि कोई मेरे विषयमें ऐसे शब्दोंका प्रयोग करे तो उनमें रति या अरति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शब्द मेरा स्वरूप या लक्षण नहीं है।२१। यह जो सामने वाली प्रतिमा मुझे जिस अर्हन्तादिरूपका स्मरण करा रही है, मैं उस मूर्तिरूप नहीं हूँ, क्योंकि मेरा साम्यानुभव न तो इस मूर्तिमें ठहरा हुआ है और न ही इससे विपरीत है। (यह स्थापना सामायिक है)।२२। सामायिक शास्त्रका ज्ञाता अनुपयुक्त आत्मा और उसका शरीर तथा इनसे विपक्ष (अर्थात् आगम नोआगम भावनोआगम व तद्व्यतिरिक्त आदि) जैसे कुछ भी शुभ या अशुभ है, रहें, मुझे इनसे क्या; क्योंकि ये परद्रव्य हैं। इनमें मुझे स्वद्रव्यकी तरह अभिनिवेश कैसे हो सकता है। (यह द्रव्य सामायिक है)।२३। यह राजधानी है, इसलिए मुझे इससे प्रेम हो और यह अरण्य है इसलिए मुझे इससे द्वेष हो—ऐसा नहीं है। क्योंकि मेरा रमणीय स्थान आत्मस्वरूप है। इसलिए मुझे कोई भी बाह्यस्थान मनोज्ञ या अमनोज्ञ नहीं हो सकता। (यह क्षेत्रसामायिक है)।२४। काल द्रव्य तो अमूर्त है, इसलिए हेमन्तादि ऋतु ये काल नहीं हो सकते, बल्कि पुद्गलकी उन-उन पर्यायोंमें कालका उपचार किया जाता है। मैं कभी भी उसका स्पर्श्य नहीं हो सकता क्योंकि मैं अमूर्त व चित्स्वरूप हूँ। (यह कालसामायिक है।)।२५। औदयिकादि तथा जीवन मरण आदि ये सब वैभाविक भाव मेरे भाव नहीं हैं; क्योंकि मुझसे अन्य हैं। अतएव एक चिच्चमत्कार मात्र स्वरूपवाला मैं इनमें रागद्वेषादिको कैसे प्राप्त हो सकता हूँ।२६। जीवन-मरणमें, लाभ-अलाभमें, संयोग-वियोगमें, मित्र-शत्रुमें, सुख-दु:खमें इन सबमें मैं साम्यभाव धारण करता हूँ।२७। सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा मैत्रीभाव हो, किसीसे भी मुझे वैर न हो। मैं सम्पूर्ण सावद्यसे निवृत्त हूँ। इस प्रकारके भावोंको धारण करके भावसामायिक पर आरूढ़ होना चाहिए।३५।

गो. जी./जी. प्र./३६७/७८९/१३ तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्षड्विधम्। तत्र इष्टानिष्टनामसु रागद्वेषनिवृत्ति: सामायिकमित्यभिधानं वा नामसामायिकम्। मनोज्ञामनोज्ञासु स्त्रीपुरुषाद्याकारासु काष्ठलेप्यचित्रादिप्रतिमासु रागद्वेषनिवृत्ति इदं सामायिकमिति स्थाप्यमानं यत् किंचिद्वस्तु वा स्थापनासामायिकम्। —नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावके भेदसे सामायिक छह प्रकारकी है। तहाँ इष्ट व अनिष्ट नामोंमें रागद्वेषकी निवृत्ति अथवा 'सामायिक' ऐसा नाम कहना सो नामसामायिक है। मनोज्ञ व अमनोज्ञ स्त्री-पुरुष आदिकके आकारोंमें अथवा उनकी काष्ठ, लेप्य, चित्र आदि प्रतिमाओंमें रागद्वेषकी निवृत्ति स्थापना सामायिक है। अथवा 'यह सामायिक है' इस प्रकारसे स्थापी गयी कोई वस्तु स्थापना सामायिक है। [काल द्रव्य व भाव सामायिकके लक्षण सन्दर्भ नं. १ वत् हैं।]

२. सामायिक विधि निर्देश

१. सामायिक विधिके सात अधिकार

का. अ./मू./३५२ सामाइयस्स करणे खेत्तं कालं च आसणं विलओ। मण-वयण-काय-सुद्धी णायव्वा हुंति सत्तेव। —सामायिक करनेके लिए क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मन: शुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि, ये सात बातें जाननी चाहिए (और भी दे. शीर्षक नं. ३)।

२. सामायिक योग्य काल

का. अ./मू./३५४ पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे तिहि वि णालिया-छक्को। सामाइयस्स कालो सविणय-णिस्सेस णिद्दिट्ठो।३५४। —विनय संयुक्त गणधरदेव आदिने पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न इन तीनों कालोंमें छह छह घड़ी सामायिकका काल कहा है।३५४। (और भी दे. सामायिक/२/३ तथा ३/२)।

३. सामायिक विधि

र. क. श्रा./१३९ चतुरावर्तत्रितयश्चतु:प्रणामस्थितो यथाजात:। सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी।१३९। —जो चार दिशाओंमें तीन-तीन आवर्त करता है, चार दिशाओंमें चार प्रणाम करता है, कायोत्सर्गमें स्थित रहता है, अन्तरंग बहिरंग परिग्रहकी चिन्तासे परे रहता है, खड्गासन और पद्मासन इन दो आसनोंमेंसे कोई एक आसन लगाता है, मन वचन कायके व्यापारको शुद्ध रखता है और त्रिकाल (पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न) वन्दना करता है वह सामायिक प्रतिमाधारी है।१३९। (का. अ./मू./३७) (चा. सा./३९/२)।

वसु. श्रा./२७४-२७५ होऊण सुई चेइय गिहम्मि सगिहे व चेइयाहिमुहो। अण्णत्थ सुइपएसे पुव्वमुहो उत्तरमुहो वा।२७४। जिणवयण-धम्म-चेइय-परमेट्ठि-जिणालाण णिच्चंपि। जं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं तं खु।२७५। —स्नान आदिसे शुद्ध होकर चैत्यालयमें अथवा अपने ही घरमें प्रतिमाके सम्मुख होकर, अथवा अन्य पवित्र स्थानमें पूर्वमुख या उत्तर मुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिन-बिम्ब, पंच परमेष्ठी और कृत्रिम अकृत्रिम जिनालयोंकी जो नित्य

त्रिकाल वन्दना की जाती है वह सामायिक नामका तीसरा प्रतिमा स्थान है।

दे. सामायिक/३/१/२ [केश, हाथकी मुट्ठी व वस्त्रादिको बाँधकर, क्षेत्र व कालकी सीमा करके, सर्वसावद्यसे निवृत्त होना सामायिक प्रतिमा है।]

४. सामायिक योग्य आसन मुद्रा क्षेत्रादि

दे. कृतिकर्म/३ पर्यंकासन या कायोत्सर्ग आसन इन दो आसनोंसे की जाती है। कमर सीधी व निश्चय रहे, नासाग्र दृष्टि हो, अपनी गोदमें बायें हाथके ऊपर दाहिना हाथ रखा हो, नेत्र न अधिक खुले हों न मुँदे, निद्रा-आलस्य रहित प्रसन्न बदन हो, ऐसी मुद्रा सहित करे। शुद्ध, निर्जीव व छिद्र रहित भूमि, शिला अथवा तख्ते मयी पीठपर करे। गिरिकी गुफा, वृक्षकी कोटर, नदीका पुल, श्मशान, जीर्णोद्यान, शून्यागार, पर्वतका शिखर, सिद्ध क्षेत्र, चैत्यालय आदि शान्त व उपद्रव रहित क्षेत्रमें करे। वह क्षेत्र क्षुद्र जीवोंकी अथवा गरमी सर्दी आदिकी बाधाओंसे रहित होना चाहिए। स्त्री, पाखण्डी, तिर्यंच, भूत, बेताल आदि, व्याघ्र, सिंह आदि तथा अधिक जन संसर्गसे दूर होना चाहिए। निराकुल होना चाहिए। पूर्व या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके करनी चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावकी तथा मन वचन कायकी शुद्धि सहित करनी चाहिए। (और भी दे. सामायिक/२/३)।

५. सामायिक योग्य ध्येय

र. क. श्रा./१०४ अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवं। मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ।१०४। =मैं अशरणरूप, अशुभरूप, अनित्य, दुःखमय और पररूप संसारमें निवास करता हूँ। और मोक्ष इससे विपरीत है, इस प्रकार सामायिकमें ध्यान करना चाहिए ।१०४। (और भी दे. ध्येय)।

का अ./म./३७२ चिंततो ससरूवं जिणबिंबं अहव अक्खरं परमं। झायदि कम्मविवायं तस्स वयं होदि सामइयं ।३७२। =अपने स्वरूपका अथवा जिनबिम्बका, अथवा पंच परमेष्ठीके वाचक अक्षरोंका अथवा कर्मविपाकका (अथवा पदार्थोंके यथावस्थित स्वरूपका, तीनों लोकका और अशरण आदि वैराग्य भावनाओंका) चिन्तवन करते हुए ध्यान करता है उसके सामायिक प्रतिमा होती है। ३७२। (विशेष दे. ध्येय)।

दे. सामायिक/२/३ [जिनवाणी, जिनबिम्ब, जिनधर्म, पंच परमेष्ठी तथा कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयका भी ध्यान किया जाता है।]

दे. सामायिक/३/२ [पंच नमस्कार मन्त्रका, प्रातिहार्य सहित अर्हन्तके स्वरूपका तथा सिद्धके स्वरूपका ध्यान करता है।]

६. उपसर्ग आदिमें अचल रहना चाहिए

र. क. श्रा./१०३ शीतोष्णदंशमशकपरिषहमुपसर्गमपि च मौनधराः। सामायिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ।१०३। =सामायिकको प्राप्त होनेवाले मौनधारी अचलयोग होते हुए शीत उष्ण डाँस मच्छर आदिकी परीषहको और उपसर्गको भी सहन करते हैं।१०३। (चा. सा./१९/३)।

३. सामायिक व्रत व प्रतिमा निर्देश

१. सामायिक व्रतके लक्षण

१. समता धारण व आर्तरौद्र परिणामोंका त्याग

पं.वि./६/८ समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना। आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ।८। =सब प्राणियोंमें समता भाव (दे. सामायिक/१/१) धारण करना, संयमके विषयमें शुभ विचार रखना, तथा आर्त एवं रौद्र ध्यानोंका त्याग करना, इसे सामायिक व्रत माना है ।८।

२. अवधृत कालपर्यन्त सर्व सावद्य निवृत्ति

र. क. श्रा./९७-९८ आसमयमुक्तिमुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन। सर्वत्र च सामयिकाः सामायिकं नाम शंसन्ति ।९७। मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्यंकबन्धनं चापि। स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ।९८। =मन, वचन, काय, तथा कृत कारित अनुमोदना ऐसे नव-कोटिसे की हुई मर्यादाके भीतर या बाहर भी किसी नियत समय (अन्तर्मुहूर्त) पर्यन्त पाँचों पापोंका त्याग करनेको सामायिक कहते हैं ।९७। ज्ञानी पुरुष चोटीके बाल मुट्ठी व वस्त्रके बाँधनेको तथा पर्यङ्क आसनसे या कायोत्सर्ग आसनसे सामायिक करनेको स्थान व उपवेशनको अथवा सामायिक करने योग्य समयको जानते हैं ।९८। (विशेष दे. सामायिक।२। व सामायिक।३।४); (चा. सा./१९/१); (सा. ध./५/२८)।

स.सि./७/१/३४३/६ सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिक। =सर्व सावद्य-की निवृत्ति ही है लक्षण जिसका ऐसा सामायिक व्रत (यद्यपि सामायिककी अपेक्षा एक है पर छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा ५ है। दे. छेदोपस्थापना)।

२. सामायिक प्रतिमाका लक्षण

वसु. श्रा./२७६-२७८ काउसग्गम्हि ठिओ लाहालाहं च सत्तुमित्तं च। संयोय-विप्पजोयं तिणकंचण चंदणं वासिं ।२७६। जो पस्सइ समभावं मणम्मि धरिऊण पंचणवयार। वरअट्ठपाडिहेरेहिं संजुय जिणसरूवं च ।२७७। सिद्धसरूवं झायइ अहवा झाणुत्तम ससवेयं। खणमेक्क-मविचलंगो उत्तमसामाइयं तस्स ।२७८। =जो श्रावक कायोत्सर्गमें स्थित होकर लाभ-अलाभको, शत्रु-मित्रको, इष्टवियोग व अनिष्टसं-योगको, तृण-कंचनको, चन्दन और कुठारको समभावसे देखता है, और मनमें पंच नमस्कार मन्त्रको धारण कर उत्तम अष्ट प्रातिहार्यों-से संयुक्त अर्हन्तजिनके स्वरूपको और सिद्ध भगवान्के स्वरूपको ध्यान करता है, अथवा संवेग सहित अविचल अंग होकर एक क्षणको भी उत्तम ध्यान करता है उसको उत्तम सामायिक होती है।२७६-२७८। (विशेष दे. सामायिक/२/३)।

द्र. सं/टी/४५/१९५/५ त्रिकालसामायिके प्रवृत्तः तृतीयः। =जब (पूर्वाह्न, मध्याह्न व अपराह्न) ऐसी त्रिकाल सामायिकमें प्रवृत्त होता है तब तीसरी (सामायिक) प्रतिमाधारी होता है।

सा.ध./७/१ सुदृग्मूलोत्तरगुणग्रामाभ्यासविशुद्धधीः। भजंस्त्रिसन्ध्यं कृच्छ्रेऽपि साम्यं सामायिकीभवेत् ।१। =जिस श्रावककी बुद्धि निरतिचार सम्यग्दर्शन, निरतिचार मूलगुण और निरतिचार उत्तर गुणोंके समूहके अभ्याससे विशुद्ध है, ऐसा श्रावक पूर्वाह्न, मध्याह्न व अपराह्न इन तीनों कालोंमें परीषह उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी साम्य परिणामको धारण करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है ।१।

दे. सामायिक/२/३ [आवर्त, व नमस्कार आदि योग्य कृतिकर्म युक्त होकर पूर्वाह्न, मध्याह्न, व अपराह्न इन तीन सन्ध्याओंमें क्षेत्र व कालकी सीमा बाँधकर जो पंच परमेष्ठी आदिका या आत्मस्वरूपका चिन्तवन करता है वह सामायिक प्रतिमाधारी है ।]

चा.सा./३७/१ सामायिकः सन्ध्यात्रयेऽपि भुवनत्रयस्वामिन वन्दमानो वक्ष्यमाणव्युत्सर्गतपसि कथितक्रमेण । –सामायिक सवेरे दोपहर और शाम तीनों समय करना चाहिए और वह तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् जिनेन्द्रदेवको नमस्कारकर आगे जो व्युत्सर्ग नामका तपश्चरण कहेंगे उसमें कहे हुए क्रमके अनुसार अर्थात् कायोत्सर्ग करते हुए करना चाहिए ।

३. सामायिक व्रत व प्रतिमामें अन्तर

चा. सा. / ३७ / ३ अस्य सामायिकस्यानन्तरोक्तशीलसप्रकान्तर्गतं सामायिकव्रतं शीलं भवतीति । –पहिले व्रत प्रतिमामें १२ व्रतोंके अन्तर्गत सात शीलव्रतोंमें सामायिक नामका व्रत कहा है (दे. शिक्षा व्रत) वही सामायिक इस सामायिक प्रतिमा पालन करनेवाले श्रावकके व्रत हो जाता है जब कि दूसरी प्रतिमावालेके वही शील रूप (अर्थात् अभ्यासरूपसे) रहता है । (सा. ध /७/६) ।

चा. पा./टी./२५/४५/१५ दिनं प्रति एकवारं द्विवारं त्रिवारं वा व्रतप्रतिमायां सामायिकं भवति । यत्तु सामायिकप्रतिमायां सामायिकं प्रोक्तं तत्त्रीन् वारान् निश्चयेन करणीयमिति ज्ञातव्यं । –व्रत प्रतिमामें एकबार दोबार अथवा तीनबार सामायिक होती है (कोई नियम नहीं है) जब कि सामायिक प्रतिमामें निश्चयसे तीनबार सामायिक करने योग्य है ऐसा जानना चाहिए ।

ला.सं./७/४-८ ननु व्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकव्रतम् । तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमायां तु किं पुन: ।४। सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रसिद्ध परमागमे । सातिचारं तु तत्र स्यादत्रातीचारविवर्जितम् ।५। किंच तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनाम् । अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत् ।६। तत्र हेतुवशात्क्वापि कुर्यात्कुर्यान्न वा क्वचित् । सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ।७। अत्रावश्यं त्रिकालेऽपि कार्यसामायिकं जगत् । अन्यथा व्रतहानि: स्यादतीचारस्य का कथा ।८। –प्रश्न–यह सामायिक नामका व्रत व्रतप्रतिमामें कहा है, और वही व्रत इस तीसरी प्रतिमामें बतलाया है । सो इसमें क्या विशेषता है ? ।४। उत्तर–ठीक है, जो 'सामायिक' व्रत प्रतिमामें है वही तीसरी प्रतिमामें है, परन्तु उन दोनोंमें जो विशेषता है, वह आगममें प्रसिद्ध है । वह विशेषता यह है कि १. व्रतप्रतिमाकी सामायिक सातिचार है और सामायिक प्रतिमाकी निरतिचार ।५। (दे. आगे इस व्रतके अतिचार) । २. दूसरी बात यह भी है कि व्रत प्रतिमामें तीनों काल सामायिक करनेका नियम नहीं, जब कि सामायिक प्रतिमामें मुनियोंके मूलगुण आदिकी भाँति तीनों काल करनेका नियम है ।६। ३. व्रत प्रतिमावाला कभी सामायिक करता है और कारणवश कभी नहीं भी करता है, फिर भी उसका व्रत भंग नहीं होता, क्योंकि वह इस व्रतको सातिचार पालन करता है ।७। परन्तु तीसरी प्रतिमामें श्रावकको तीनों काल सामायिक करना आवश्यक है, अन्यथा उसके व्रतकी क्षति हो जाती है, तब अतिचारकी तो बात ही क्या ? ।८।

दे.सामायिक/३/१.२ [सामायिक व्रतका लक्षण करते हुए केवल उसका स्वरूप ही बताया है, जब कि सामायिक प्रतिमाका लक्षण करते हुए उसे तीन बार अवश्य करनेका निर्देश किया गया ।]

दे.सामायिक/२/३ [आवर्त आदि कृति कर्म सहित सामायिक करनेका निर्देश सर्वत्र सामायिक प्रतिमाके प्रकरणमें किया है, सामायिक नामक शिक्षा व्रतके प्रकरणमें नहीं ।]

४. सामायिकके समय गृहस्थ भी साधु तुल्य होता है ।

मू.आ./५३१ सामाइम्हि दु कदे समणो बि सावओ हवदि जम्हा । एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा । –सामायिक करता हुआ श्रावक भी संयमी मुनिके समान हो जाता है, इसलिए बहुत करके सामायिक करनी चाहिए ।५३१।

र. क. श्रा./१०२ सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि । चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावं ।१०२। –सामायिकमें आरम्भ सहितके सब ही प्रकार नहीं होते हैं, इस कारण उस समय गृहस्थ भी उस मुनिके तुल्य हो जाता है जिसे कि उपसर्गके रूपमें वस्त्र ओढ़ा दिया गया हो ।१०२।

स.सि./७/२१/३६०/६ इयति देशे एतावति काले इत्यवधारिते सामायिके स्थितस्य महाव्रतत्वं पूर्ववद्वेदितव्यम् । कुतः । अणुस्थूलकृतहिंसादिनिवृत्तेः । –इतने देशमें और इतने काल तक इस प्रकार निश्चित की गयी सीमामें, सामायिकमें स्थित पुरुषके पहिलेके समान (दे. दिग्व्रत) महाव्रत जानना चाहिए, क्योंकि इसके सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकारके हिंसा आदि पापोंका त्याग हो जाता है । (रा.वा./७/२१/२३/५४६/२२); (गो.क./जी.प्र./५४७/७१३/१) ।

पु.सि.उ./१५० सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् । भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य । –इन सामायिक दशाको प्राप्त हुए श्रावकोंके चारित्र मोहके उदय होते भी समस्त पापके योगोंके परिहारसे महाव्रत होता है ।१५०।

चा.सा./१६/४ हिंसादिभ्यो विषयकषायेभ्यश्च विनिवृत्य सामायिके वर्तमानो महाव्रती भवति । –विषय और कषायोंसे निवृत्त होकर सामायिकमें वर्तमान गृहस्थ महाव्रती होता है ।

का. अ./३५५-३५७ बंधित्ता पज्जकं अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा । कालपमाणं किच्चा इंदिय-वावार-वज्जिदो होउं ।३५५। जिणवयणेयग्ग-मणो संवुड-काओ य अंजलिं किच्चा । स-सरूवे संलीणो वंदण-अत्थं विचिंतंतो ।३५६। किच्चा देसपमाणं सव्वं सावज्ज-वज्जिदो होउं । जो कुव्वदि सामइयं सो मुणि-सरिसो हवे ताव ।३५७। –पर्यंक आसनको बाँधकर अथवा सीधा खड़ा होकर, कालका प्रमाण करके (दे. सामायिक/३/१) इन्द्रियोंके व्यापारको छोड़नेके लिए जिनवचनमें मनको एकाग्र करके, कायको संकोचकर, हाथकी अंजलि करके, अपने स्वरूपमें लीन हुआ अथवा वन्दना पाठके अर्थका चिन्तवन करता हुआ, क्षेत्रका प्रमाण करके और समस्त सावद्य योगको छोड़ कर जो श्रावक सामायिक करता है वह मुनिके समान है ।३५५-३५७।

५. साधु तुल्य होते हुए भी वह संयत नहीं

स. सि./७/२१/३६०/१० संयमप्रसङ्ग इति चेत्, न: तद्घातिकर्मोदयसद्भावात् । महाव्रताभाव इति चेत् । तन्न, उपचाराद् राजकुले सर्वगतचैत्राभिधानवत् । –प्रश्न–यदि ऐसा है (अर्थात् यदि सामायिक में स्थित गृहस्थ भी महाव्रती कहा जायेगा) तो सामायिकमें स्थित हुए पुरुषके सकल संयमका प्रसंग प्राप्त होता है ? उत्तर–नहीं, क्योंकि, इसके संयमका घात करनेवाले कर्मोंका उदय पाया जाता है । प्रश्न–तो फिर इसके महाव्रतका अभाव प्राप्त होता है ? उत्तर–नहीं, क्योंकि, जैसे राजकुलमें चैत्रको सर्वगत उपचारसे कहा जाता है उसी प्रकार यहाँ महाव्रत उपचारसे जानना चाहिए । (रा. वा./७/२१/२४-२५/५४६/२४); (चा. सा./१६/४); (गो. क./जी. प्र./५४७/७१४/१) ।

६. सामायिक व्रतका प्रयोजन

र. क. श्रा./१०१ सामायिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं । व्रतपञ्चकपरिपूर्णकारणमवधानयुक्तेन ।१०१। –सामायिक पाँच महाव्रतोंके

परिपूर्ण करनेका कारण है, इसलिए उसे प्रतिदिन ही आलस्यरहित और एकाग्रचित्तसे यथानियम करना चाहिए।

दे. सामायिक/१/४ – [सामायिक व्रतसे मुनि व्रतकी शिक्षाका अभ्यास होता है।]

७. सामायिक व्रतका महत्त्व

ज्ञा./२४/श्लो. साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणाम्। तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्वमवलम्बते।१४। शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम्। अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः।२०। क्षुभ्यन्ति ग्रहयक्षकिन्नरनरास्तुष्यन्ति नाकेश्वराः, मुञ्चन्ति द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादयः क्रूरताम्। रुग्वैरप्रतिबन्धविभ्रमभयभ्रष्टं जगज्जायते, स्याद्योगीन्द्रसमत्वसाध्यमथवा किं किं न सद्यो भुवि।२४। —साम्यभावसे पदार्थोंका विचार करने वाले बुद्धिमान् पुरुषोंके जो सुख होता है सो मैं ऐसा मानता हूँ कि वह ज्ञानसाम्राज्य (केवलज्ञान) की समताको अवलम्बन करता है अर्थात् उसके समान है।१४। इस साम्यके प्रभावसे अपने स्वार्थमें प्रवृत्त मुनिके निकट परस्पर वैर करनेवाले क्रूर जीव भी साम्यभावको प्राप्त हो जाते हैं।२०। समभावयुक्त योगीश्वरोंके प्रभावसे ग्रह यक्ष किन्नर मनुष्य ये सब क्षोभको प्राप्त नहीं होते हैं और इन्द्रगण हर्षित होते हैं। शत्रु, दैत्य, सिंह, अष्टापद, सर्प इत्यादि क्रूर प्राणी अपनी क्रूरताको छोड़ देते हैं, और यह जगत् रोग, वैर, प्रतिबन्ध, विभ्रम, भय आदिकसे रहित हो जाता है। इस पृथिवीमें ऐसा कौन-सा कार्य है, जो योगीश्वरोंके समभावोंसे साध्य न हो।२४।

दे. सामायिक/३/४ [सामायिक कालमें गृहस्थ भी साधु तुल्य होता है।]

दे. सामायिक/४/३ [एक सामायिकमें सकल व्रत गर्भित है।]

८. सामायिक व्रतके अतिचार

त. सू./७/३३ योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि।३३। —काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान, मनोयोगदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृतिका अनुपस्थान ये सामायिक व्रतके पाँच अतिचार हैं।३३। (र. क. श्रा./१०५); (चा. सा./२०/३); (सा. ध./५/३३)।

४. सामायिक चारित्र निर्देश

१. सामायिक चारित्रका लक्षण

१. रागद्वेषादिसे निवृत्ति व समता

यो. सा./यो/९९-१०० सव्वे जीवा णाणमया जो समभाव मुणेइ। सो सामाइय जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ।९९। रायरोस बि परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ। सो सामाइउ जाणि फुडु केवलि एम भणेइ।१००। —समस्त जीवराशिको ज्ञानमयी जानते हुए उसमें समता भाव रखना (अर्थात् सबको सिद्ध समान शुद्ध जानना—दे. सामायिक/१/१) अथवा रागद्वेषको छोड़कर जो समभाव होता है, वह निश्चयसे सामायिक है।९९-१००। (द्र. सं./टी./३५/१४७/४)

द्र. सं./टी./३५/१४७/७ स्वशुद्धात्मानुभूतिबलेनार्तरौद्रपरित्यागरूपं वा, समस्तसुखदुःखादि मध्यस्थरूपं वा। —स्व शुद्धात्माकी अनुभूतिके बलसे आर्त रौद्रके परित्यागरूप अथवा समस्त सुख दुःख आदिमें मध्यस्थभाव रखनेरूप है।

२. रत्नत्रयमें एकाग्रता

स. सा./आ./१५४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवनमात्रैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं सामायिकं प्रतिज्ञायापि।...। —सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाला परमार्थभूत जो ज्ञान, उसकी भवनमात्र अर्थात् परिणमन होनेमात्र जो एकाग्रता, वह ही जिसका लक्षण है, ऐसी समय-सारस्वरूप सामायिककी प्रतिज्ञा लेकरके भी...।

३. सर्व सावद्य निवृत्ति रूप सकल संयम

प. सं./प्रा./१/१२६ संगहिय-सयलसंजममेयजमणुत्तरं दुरवगम्मं। जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजदो होइ।१२६। —जिसमें सकल संयम संगृहीत हैं, ऐसे सर्वसावद्यके त्यागरूप एकमात्र अनुत्तर एवं दुःखगम्य अभेद संयमको धारण करना, सो सामायिकसंयम है और उसे धारण करनेवाला सामायिक संयत कहलाता है। (ध. १/१, १, १२३/गो. १८७/३७२); (रा. वा./९/१८/२/६१६/२८); (ध. १/१, १, १२३/३६९/२), (गो. जी./मू./४७०/८७६)।

स. सि./९/१८/४३६/५ सामायिकमुक्तम्। क्व। 'दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक'—इत्यत्र। —सामायिक चारित्रका कथन पहिले दिग्देश आदि व्रतोंके अन्तर्गत सामायिक व्रतके नामसे कर दिया गया है कि [सर्व सावद्य योगकी निवृत्ति सामायिक है—(दे. सामायिक/१/१)]।

२. नियत व अनियतकाल सामायिक निर्देश

स. सि./९/१८/४३६/५ तद् द्विविधं नियतकालमनियतकालं च। स्वाध्यायपदं नियतकालम्। ईर्यापथाद्यनियतकालम्। —१—वह सामायिक चारित्र दो प्रकारका है—नियतकाल व अनियतकाल। (त. सा./६/४५); (चा. सा./८९/२)। २—स्वाध्याय आदि [कृतिकर्म पूर्वक आसन आदि लगाकर पंच परमेष्ठी आदिके स्वरूपका या निजात्माका चिन्तवन करना (दे. सामायिक/२)] नियतकाल सामायिक है और ईर्यापथ आदि अनियतकाल सामायिक है।

रा. वा./९/१८/२/६१६/२८ सर्वस्य सावद्ययोगस्याभेदेन प्रत्याख्यानमवलम्ब्य प्रवृत्तमवधृतकालं वा सामायिकमित्याख्यायते। —सर्व सावद्य योगोंका अभेदरूपसे सार्वकालिक त्याग करना अनियत काल सामायिक है और नियत समयतक त्याग करना सो नियतकाल सामायिक है।

नोट—[यद्यपि चा. सा. में व्रतके प्रकरणमें सामायिकके ये दो भेद किये हैं, पर वहाँ लक्षण नियतकाल सामायिकका ही दिया है, अनियत काल सामायिकका नहीं। इसलिए दो भेद सामायिक चारित्रके ही हैं, सामायिकव्रतके नहीं, क्योंकि अभ्यस्त दशामें रहनेके कारण गृहस्थ या अणुव्रती श्रावक सार्वकालिक समता या सर्वसावद्यसे निवृत्ति करनेको समर्थ नहीं है।]

३. सामायिक चारित्रमें संयमके सम्पूर्ण अंग समा जाते हैं

ध. १/१, १, १२३/३६९/५ आक्षिप्ताशेषरूपमिदं सामान्यमिति कुतोऽवसीयत इति चेत्सर्वसावद्ययोगोपादानात्। नह्येकस्मिन् सर्वशब्दः प्रवर्तते विरोधात्। स्वान्तर्भाविताशेषसंयमविशेषैकयमः सामायिकशुद्धिसंयम इति यावत्। ...सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एकयमोपादानाद् द्रव्यार्थिकनयः। —प्रश्न—यह सामान्य संयम अपने सम्पूर्ण भेदोंका संग्रह करनेवाला है, यह कैसे जाना जाता है? उत्तर—'सर्वसावद्ययोग' पदके ग्रहण करनेसे ही, यहाँपर अपने सम्पूर्ण भेदोंका संग्रह कर लिया गया है, यह बात जानी जाती है। यदि यहाँपर संयमके किसी एक भेदकी ही मुख्यता होती तो 'सर्व' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि, ऐसे स्थलपर 'सर्व' शब्दके प्रयोग करनेमें विरोध आता है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि जिसने सम्पूर्ण संयमके भेदों (व्रत समिति गुप्ति आदिको) अपने अन्तर्गत कर लिया है ऐसे अभेदरूपसे एक यमको धारण करनेवाला जीव सामायिक-शुद्धि-संयत कहलाता है। (उसीमें दो तीन आदि भेद डालना छेदोपस्थापना चारित्र कहलाता है)।

सम्पूर्ण व्रतोंको सामान्यकी अपेक्षा एक मानकर एक यमको ग्रहण करनेवाला होनेसे यह द्रव्यार्थिक नयका विषय है। (विशेष दे. छेदोपस्थापना)।

४. इसीलिए मिथ्यादृष्टिको सम्भव नहीं

ध. १/१,१,१२३/३६१/२ सर्वसावद्ययोगाद् विरतोऽस्मीति सकलसावद्ययोगविरतिः सामायिकशुद्धिसंयमो द्रव्यार्थिकत्वात्। एवंविधैकव्रतो मिथ्यादृष्टिः किं न स्यादिति चेन्न, आक्षिप्ताशेषविशेषसामान्यार्थिनो नयस्य सम्यग्दृष्टित्वाविरोधात्। –'मैं सर्व सावद्ययोगसे विरत हूँ' इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सकल सावद्ययोगके त्यागको सामायिक-शुद्धि-संयम कहते हैं। प्रश्न—इस प्रकार एक व्रतका नियमवाला जीव मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं हो जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिसमें सम्पूर्ण चारित्रके भेदोंका संग्रह होता है, ऐसे सामान्यग्राही द्रव्यार्थिक नयको समीचीन दृष्टि माननेमें कोई विरोध नहीं आता है।

५. सामायिक चारित्र व गुप्तिमें अन्तर

रा. वा./९/१८/३/६१७/१ स्यादेतत्—निवृत्तिपरत्वात्–सामायिकस्य गुप्तिप्रसंग इति। तन्न; किं कारणम्। मानसप्रवृत्तिभावात्। अत्र मानसीप्रवृत्तिरस्ति निवृत्तिलक्षणत्वाद् गुप्तेरित्यस्ति भेदः। —प्रश्न—निवृत्तिपरक होनेके कारण सामायिक चारित्रके गुप्ति होनेका प्रसंग आता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि सामायिक चारित्रमें मानसी प्रवृत्तिका सद्भाव होता है, जब कि गुप्ति पूर्ण निवृत्तिरूप होती है। यह दोनोंमें भेद है।

६. सामायिक चारित्र व समितिमें अन्तर

रा. वा./९/१८/४/६१७/४ स्यान्मतम्—यदि प्रवृत्तिरूपं सामायिकं समितिलक्षणं प्राप्तमिति; तन्न; किं कारणम्। तत्र यतस्य प्रवृत्त्युपदेशात्। सामायिके हि चारित्रे यतस्य समितिषु प्रवृत्तिरुपदिश्यते। अतः कार्यकारणभेदादस्ति विशेषः। —प्रश्न—यदि सामायिक प्रवृत्तिरूप है (दे. शीर्षक सं. ५) तो इसको समितिका लक्षण प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सामायिक चारित्रमें समर्थ व्यक्तिको ही समितियोंमें प्रवृत्तिका उपदेश है। अतः सामायिक चारित्र कारण है और समिति इसका कार्य।

सामायिक पाठ—१ आ. अमित गति द्वि. (ई. ९८३-१०२३) कृत. १२० संस्कृत पद्यों में बद्ध. सामायिक के स्वरूप तथा विधि का प्रतिपादक ग्रन्थ। (ती./२/४०२)। २. अमितगति ई ९८३-१०२३) कृत ३२ संस्कृत पद्यबद्ध. समताभावोत्पादक ललित पाठ।

सामीप्य—रा. वा /४/१८/१/२२३/१२ तुल्यजातीयैनाव्यवधानं सामीप्यम्। —तुल्य जातीयोंके बीचमें दूसरे पदार्थोंका न आना सामीप्य है।

साम्य—दे. सामायिक/१/१।

सायणाचार्य—ई. १३१० के न्यायसूत्रके भाष्यकार अपर नाम माधवाचार्य (सि. वि./प्र. ८० पं. महेन्द्र)।

सार—

नि. सा./मू /३ विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं। —(नियम शब्दका अर्थ नियमसे करने योग्य रत्नत्रय है) तहाँ विपरीतका परिहार करनेके लिए 'सार' ऐसा वचन कहा है।

स. सा/ता. वृ /१/५/१५ सारः शुद्धावस्था। —सार अर्थात शुद्ध अवस्था।

सार निवह—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

सारसंग्रह—आ. पूज्यपाद (ई. श. ५) की एक संस्कृत छन्दबद्ध रचना। (जै /२/२८०)। (दे. पूज्यपाद)।

सारसमुच्चय—आ. कुलभद्र (ई. ६३७) द्वारा रचित ३२८ श्लोक बद्ध एक तत्त्व प्रतिपादक ग्रन्थ। (दे. कुलभद्र)।

सारस्वत—१. लौकान्तिक देवोंका एक भेद —दे. लौकान्तिक; २. भरतक्षेत्र पश्चिम आर्यखण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४।

सारस्वत यन्त्र—दे. यन्त्र।

सारीपुत्र—'महावग्ग' नामक बौद्ध ग्रन्थके अनुसार; ये महात्मा बुद्धके प्रधान शिष्य थे। पहले जैन साधु थे, 'संजय' नामक एक परिव्राजकने इन्हें बुद्धका शिष्य बननेसे मना किया था। (द. सा./पृ. २७/पं. नाथूराम प्रेमी)।

सार्धद्वयप्रज्ञप्ति—आचार्य अमितगति (ई.९८३-१०२३) कृत संस्कृत श्लोकबद्ध, अढाई द्वीप प्ररूपक एक रचना —दे. अमितगति।

सालवमल्लि राय—मल्लिभूपालका अपर नाम। (मो. मा. प्र./२३। पं. परमानन्द शास्त्री)।

सालिवाहन—भट्टारक जगभूषणका शिष्य जैन कवि। वि. १६९५ में हरिवंश पुराण रचा। –हिन्दी जैन साहित्य इतिहास।१०४।

सावद्य—हिंसा जनक मन वचन कायके व्यापारको सावद्य कहते हैं। पूजा, ब्रह्मचर्य आदि भी यद्यपि कथंचित सावद्य हैं, परन्तु धर्मके सहकारी व अधिक पुण्योत्पादक होनेसे ग्राह्य है। पर खर कर्म आदि अन्य लौकिक सावद्य व्यापार त्याज्य है।

१. सावद्ययोग सामान्यका लक्षण

पं. ध./उ./७५०-७५१ सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः। प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता।७५०। योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते। सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि।७५१। —'सर्वसावद्ययोग' इस पदमें अर्थकी अपेक्षा 'सर्व' शब्दसे अन्तरंग और बहिरंग प्रवृत्ति अर्थात् मन वचन काय तीनोंकी प्रवृत्ति है। तथा निश्चयसे 'सावद्य' शब्दका अर्थ प्राणच्छेद है। और वही हिंसा कही जाती है।७५०। उस हिंसामें जो बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक स्थूल या सूक्ष्म उपयोग होता है वह भी योग शब्दका अर्थ है।७५१।

★ **सावद्य वचनका लक्षण**—दे. वचन/१/३।

२. सावद्य कर्मके भेद

१. असि, मसि आदि रूप आजीविकाकी अपेक्षा

रा. वा./३/३६/२/२००/३२ कर्मार्यास्त्रेधा—सावद्यकर्मार्या अल्पसावद्यकर्मार्या असावद्यकर्मार्याश्चेति। सावद्यकर्मार्याः षोढा—असि-मसि-कृषि-विद्या-शिल्प-वणिक्कर्मभेदात्। —कर्मार्य तीन प्रकारके है—सावद्यकर्मार्य, अल्पसावद्यकर्मार्य और असावद्यकर्मार्य। तहाँ भी सावद्यकर्मार्य असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वणिक्कर्मके भेदसे छह प्रकारके हैं।

म. पु./१६/१७९ असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च। कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः।१७९। —असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, और शिल्प ये छह कार्य प्रजाकी आजीविकाके कारण हैं।१७९।

२. खरकर्म (क्रूर व्यापार) और उनके १५ अतिचार

सा. ध./५/२१-२३ व्रतयेत्खरकर्मात्र मलान् पञ्चदश त्यजेत्। वृत्तिं वनाग्न्यनस्स्फोटभाटकैर्यन्त्रपीडनम्।२१। निर्लाञ्छनासतीपोषौ सरःशोषं दवप्रदाम्। विषलाक्षादन्तकेशरसवाणिज्यमङ्गिरुक्।२२। इति केचिन्न तच्चारु लोके सावद्यकर्मणाम्। अगण्यत्वात्प्रणेयं वा तदप्यतिजडान् प्रति।२३। —श्रावकोंको प्राणियोंको दुःख देनेवाले खर कर्म अर्थात् क्रूर व्यापार सब छोड़ देने चाहिए, तथा उनके पन्द्रह अतिचार भी छोड़ने चाहिए। वे १५ कर्म ये हैं—१. वनजीविका, २. अग्नि-

जीविका, ३. अनोजीविका (शकटजीविका), ४. स्फोटजीविका, ५. भाटजीविका, ६. यन्त्रपीडन, ७. निर्लाञ्छन, ८. असतीपोष, ९. सरःशोष, १०. दवप्रद, ११. विषवाणिज्य, १२. लाक्षावाणिज्य, १३. दन्तवाणिज्य, १४. केशवाणिज्य और १५. रस वाणिज्य।२१-२३।

३. असि, मसि आदि कर्मोंके लक्षण

रा.वा /३/३६/२/२०१/१ असिधनुरादिप्रहरणप्रयोगकुशला असिकर्मार्याः। द्रव्यायव्ययादिलेखननिपुणा मषीकर्मार्याः। हलकुलिदन्तालकादि-कृष्युपकरणविधानविद' कृषीवलाः कृषिकर्मार्याः। आलेख्यगणितादि-द्विसप्ततिकलावदाता विद्याकर्मार्याः चतुःषष्टिगुणसपम्नाश्च। रजक-नापितायस्कारकुलालसुवर्णकारादयः शिल्पकर्मार्याः। चन्दनादि-गन्धघृतादिरसशाल्यादिधान्यकार्पासाद्याच्छादनमुक्तादिनानाद्रव्य - संग्रहकारिणो बहुविधा वणिक्कर्मार्याः। —तलवार, धनुषादि शस्त्र-विद्यामें निपुण असिकर्मार्य हैं। द्रव्य अर्थात् रुपये-पैसे की आमदनी खर्च आदिके लेखनमें निपुण अर्थात् मुनीमीका कार्य करनेवाले मषिकर्मार्य हैं। हल, कुलि, दान्ती आदिसे कृषि करनेवाले कृषि-कर्मार्य हैं। चित्र खेंचना या गणित आदि ७२ कलाओंमें निपुण विद्याकर्मार्य हैं। अथवा ६४ गुण या ऋद्धियोंसे सम्पन्न विद्याकर्म आर्य हैं। धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार, सुनार आदि शिल्प कर्मार्य हैं। चन्दनादि सुगन्ध पदार्थोंका, घी आदिका अथवा रस व धान्यादिका तथा कपास, वस्त्र, मोती आदि नाना प्रकारके द्रव्योंका संग्रह करनेवाले अनेक प्रकारके वणिक कर्मार्य हैं (म० पु /१६/१८१-१८२)

४. सावद्य अल्पसावद्य व असावद्य कर्मार्यके लक्षण

रा. वा./३/३६/२/२०१/६ षडप्येते अविरतिप्रवणत्वात् सावद्यकर्मार्याः, अल्पसावद्यकर्मार्याः श्रावकाः श्राविकाश्च विरत्यविरतिपरिणतत्वात्, असावद्यकर्मार्याः संयताः, कर्मक्षयार्थोद्यतविरतिपरिणतत्वात्। —ये उपरोक्त असि, मषि आदि छह सावद्यकर्म करनेवाले सावद्य कर्मार्य हैं, क्योंकि वे अविरति प्रधानी हैं। विरति, अविरति दोनों रूपसे परिणत होनेके कारण श्रावक और श्राविकाएँ अल्प सावद्य कर्मार्य हैं। कर्म क्षयको उद्यत तथा विरति रूप परिणत होनेके कारण मुनि-व्रत धारी संयत असावद्य कर्मार्य हैं।

५. पन्द्रह खरकर्मोंके लक्षण

सा.ध /५/२१-२३ की टीका-खरकर्म खरं क्रूरं प्राणिबाधकं कर्म व्यापारं। ...तत्र वनजीविका छिन्नस्याच्छिन्नस्य वा वनस्पतिसमूहादेर्विक्रयेण तथा गोधूमादि धान्यानां ··पेषणेन दलनेन वा वर्तनम्। अग्निजीविका अङ्गारजीविकाख्या।···अनोजीविका शकटजीविका शकटरथ-तच्चक्रादीनां स्वयं परेण वा निष्पादनम् वाहनेन विक्रयणेन वृत्तिर्बहु-भूतग्रामोपमर्दिका गवादीनां च बन्धादिहेतुः। स्फोटजीविका उडादिकर्मणा पृथिवीकायिकाद्युपमर्दहेतुना जीवनम्। भाटक-जीविका शकटादिभारवाहनमूल्येन जीवनम्। यन्त्रपीडाकर्म तिलयन्त्रादिपीडनं तिलादिकं च दत्त्वा तैलादिप्रतिग्रहणम्।··· निर्लाञ्छनं निर्लाञ्छनकर्म वृषभादेर्नासावेधादिना जीविका। निर्लाञ्छनं नितरां लाञ्छनमङ्गावयवच्छेद.। असतीपोषः प्राणिघ्न-प्राणिपोषोभाटिग्रहणार्थं दासपोषं च। सर.शोषो धान्यवपनाद्यर्थं वितरणं तच्च फलनिरपेक्षतात्पर्याद्वनेचरैर्वह्निज्वालनं व्यसनज-मुच्यते। पुण्यबुद्धिजं तु यथा···तृणदाहे सति नवतृणाङ्कुरोद्गमाद्-गावश्चरन्तीति वा क्षेत्रं वा सस्यसंपत्तिवृद्धयेऽग्निज्वालनम्।·· विष-वाणिज्यं जीवघ्नवस्तुविक्रयः। लाक्षावाणिज्यं लाक्षाविक्रयणम्। लाक्षाया' सूक्ष्मत्रसजन्तुघातानन्तकायिकप्रवालजालोपमर्दाविना-भाविना स्वयोनिवृक्षादुद्धरणेन टङ्कणमनःशिलासकूमालिप्रभृतीनां बाह्यजीवघातहेतुत्वेन गुग्गुलिकाया धातकीपुष्पत्वचश्च मद्यहेतुत्वेन तद्विक्रयस्य पापाश्रयत्वात्। दन्तवाणिज्यं हस्त्यादिदन्ताद्यवयवानां पुलिन्दादिषु द्रव्यदानेन तदुत्पत्तिस्थाने वाणिज्यार्थं ग्रहणम्।··· अनाकारे तु दन्तादिक्रयविक्रये न दोष। केशवाणिज्यं द्विपदादि-विक्रयः।·· रसवाणिज्यं नवनीतादिविक्रयः। मधुवसामद्यादौ तु जन्तुघातोद्भवत्वम्। —प्राणियोंको पीड़ा उत्पन्न करनेवाले व्यापार-को खरकर्म अर्थात् क्रूरकर्म कहते हैं। वे पन्द्रह प्रकारके हैं—१. स्वयं टूटे हुए अथवा तोड़कर वृक्ष आदि वनस्पतिका बेचना अथवा गेहूँ आदि धान्योंका पीस-कूटकर व्यापार करना वनजीविका है। २. कोयला तैयार करना अग्निजीविका है। ३. स्वयं गाड़ी, रथ तथा उसके चक्र वगैरह बनाना अथवा दूसरोंसे बनवाना, गाड़ी जोतनेका व्यापार स्वयं करना अथवा दूसरोंसे करवाना, गाड़ी आदिके बेचनेका व्यापार करना अनोजीविका है। ४. पटाखे व आतिशबाजी आदि बारूदकी चीजोंसे आजीविका करना स्फोट जीविका है। ५. गाड़ी, घोड़ा आदिसे बोझा ढोकर जो भाड़ेकी आजीविका की जाती है, वह भाटक जीविका कहलाती है। ६. तेल निकालनेके लिए कोल्हू चलाना या सरसों तिल आदिको कोल्हूमें पिलवाना, तिल वगैरह देकर उनके बदले तेल लेना आदि यन्त्र-पीडन जीविका है। ७. बैल आदि पशुओंके नाक आदि छेदनेका धन्धा करना अथवा शरीरके अवयव छेदनेको निर्लाञ्छन कर्म कहते हैं। ८. हिंसक प्राणियोंका पालन-पोषण करना और किसी प्रकारके भाड़ेकी उत्पत्तिके लिए दास और दासियोंका पोषण करना असतीपोष कहलाता है। ९. अनाज बोनेके लिए जलाशयोंसे नाली खोदकर पानी निकालना सर.शोष कहलाता है। १०. वनमें घास वगैरहको जलानेके लिए आग लगाना दवप्रद कहलाता है। यह दो प्रकारका है—एक व्यसनज और दूसरा पुण्य बुद्धिज। बिना प्रयोजन-के भीलों द्वारा वनमें आग लगवाना व्यसनज दवप्रद है, और पुण्य-बुद्धिसे दीपोंमें अग्नि प्रज्वलित करायी जाना पुण्य बुद्धिज दवप्रदा है। तथा अच्छी उपज होनेकी बुद्धिसे घास आदि जलवाना दवप्रदा है। ११. विषका प्राणिघातक व्यापार करना विषवाणिज्य है। १२. लकड़ीके कीड़े जिन छोटे-छोटे पत्तोंपर बैठते हैं, तथा उनमें जो सूक्ष्म त्रस होते है उनके घातके बिना लाख पैदा ही नहीं होती। अत. लाखका और इसी प्रकार टाकनखार, मनसिल, गूगल, धायके फूल व छाल जिससे मद्य बनता है आदि पदार्थोंका व्यापार लाक्षा वाणिज्यमें गर्भित है। १३. भीलों आदिसे हाथी दाँत आदि खरीद करना दन्तवाणिज्य है। जहाँ दाँत आदिका उत्पत्ति स्थान नहीं है वहाँ इस व्यापारका निषेध नहीं है। १४. दासी दास और पशुओंके व्यापारको केश वाणिज्य कहते हैं। १५. मक्खन, मधु, चरबी, मद्य, आदिका व्यापार रस वाणिज्य है।

६. कृषिको लोकमें सर्वोत्तम उद्यम माना जाता है

कुरल काव्य/१०४/१ नरो गच्छतु कुत्रापि सर्वत्रान्नमपेक्षते। तत्सिद्धिश्च कृषेस्तस्मात् सुभिक्षेऽपि हिताय सा।१। —आदमी जहाँ चाहे घूमें, पर अन्तमें अपने भोजनके लिए उसे हलका सहारा लेना ही पड़ेगा। इसलिए हर तरहकी सख्ती होनेपर भी कृषि सर्वोत्तम उद्यम है।१।

७. दान, पूजा, शील, उपवास भी कथंचित् सावद्य है

क. पा. १/१,१/§८२/१००/२ दाणं पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो। एसो चउव्विहो वि छज्जीवविराहओ; पयण-पायणग्गिसंधुक्कण-जालण-सूदि-सूदाणादिवावारेहि जीवविराहणाए विणा दाणाणुववत्तीदो। तरुवरछिंदण-छिंदावणिट्टपादण-पादावण-तद्दहण-दहावणादिवावारेण छज्जीवविराहणहेउणा विणा जिणभवण-करणकरावणण्णहाणुववत्तीदो। ण्हवणोवलेण-संमज्जण-छुहावण-पु-

(फु)ल्लारोवण-धूवदहणादिवावारेहि जोववहाविणाभावीहिविणा पूजकरणाणुववत्तीदो। कथं सीलरक्खणं सावज्जं। ण; सदारपीडाए विणा सीलपरिवालणाणुववत्तीदो। कधमुववासो सावज्जो। ण; सपोट्टत्थपाणिपीडाए विणा उववासाणुववत्तीदो। —दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकोंके धर्म हैं। ये चारों ही प्रकारका श्रावक धर्म छह कायके जीवोंकी विराधनाका कारण है। क्योंकि भोजनका पकाना, दूसरेसे पकवाना, अग्निका सुलगाना, अग्निका जलाना, अग्निका खूतना और खुतवाना आदि व्यापारोंसे होनेवाली जीवविराधनाके बिना दान नहीं बन सकता है। उसी प्रकार वृक्षका काटना और कटवाना, ईंटका गिराना और गिरवाना, तथा उनको पकाना और पकवाना आदि छह कायके जीवोंकी विराधनाके कारणभूत व्यापारके बिना जिनभवनका निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता है। तथा अभिषेक करना, अवलेप करना, सम्मार्जन करना, चन्दन लगाना, फूल चढ़ाना और धूपका जलाना आदि जीववधके अविनाभावी व्यापारोंके बिना पूजा करना नहीं बन सकता है। अपनी स्त्रीको पीड़ा दिये बिना शीलका परिपालन नहीं हो सकता है, इसलिए शीलकी रक्षा भी सावद्य है। अपने पेटमें स्थित प्राणियोंको पीड़ा दिये बिना उपवास बन नहीं सकता है, इसलिए उपवास भी सावद्य है।

★ **सावद्य होते हुए भी पूजा करना इष्ट है**—दे धर्म/५/२।

८. साधुओंको सावद्य योगका निषेध व समन्वय

मू. आ./७९८-८०१ वसुधम्मिवि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई। जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ।७९८। तणरुक्खहरिच्छेदणतयपत्तपवालकंदमूलाइं। फलपुप्फबीयघादं ण करिंति मुणी ण कारिंति ।८०१। —सब जीवोंमें दयाको प्राप्त सब साधु पृथिवीपर विहार करते हुए भी किसी जीवको कभी भी पीड़ा नहीं करते हैं। जैसे माता पुत्रके ऊपर हित ही करती है उसी तरह सबका हित ही चाहते हैं।७९८। मुनिराज तृण वृक्ष हरित इनका छेदन, वल्कल पत्ता कोंपल कन्द मूल इनका छेदन तथा फल, पुष्प, बीज इनका घात न तो आप करते हैं और न दूसरे से कराते हैं।८०१।

प्र. सा./मू./२५० जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो। ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ।२५०।

प्र. सा./ता. वृ./२५०/३४४/१३ इदमत्र तात्पर्यम्—योऽसौ स्वपोषणार्थं शिष्यादिमोहेन वा सावद्यं नेच्छति तस्येदं व्याख्यानं शोभते यदि पुनरन्यत्र सावद्यमिच्छति वैयावृत्त्यादिस्वकीयावस्थायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्ति। —यदि (श्रमण) वैयावृत्तिके लिए उद्यमी वर्तता हुआ छह कायको पीड़ित करता है तो वह श्रमण नहीं है, गृहस्थ है; क्योंकि, वह श्रावकोंका धर्म है।२५०। इसका यह तात्पर्य है कि—जो अपने पोषणके लिए या शिष्यादिके मोहसे सावद्यकी इच्छा नहीं करता उसको तो यह उपरोक्त व्याख्यान शोभा देता है, परन्तु यदि अन्य कार्योंमें तो सावद्यकी इच्छा करे और अपनी-अपनी भूमिकानुसार वैयावृत्ति आदि धर्मकार्योंकी इच्छा न करे तो उसके सम्यक्त्व ही नहीं है।

★ **श्रावकको सावद्य योगका निषेध**—दे. सावद्य/२/२।

सासादन—प्रथमोपशम सम्यक्त्वके कालमें छह आवली शेष रहनेपर जीव सम्यक्त्वसे गिरकर उतने मात्र कालके लिए जिस गुणस्थानको प्राप्त होता है उसे सासादन कहते हैं, अगले ही क्षण वह अवश्य मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है। मिथ्यात्वका उदय न होनेसे उसे सम्यग्दृष्टि कह देते हैं। मिथ्यात्वका उदय उपशम व क्षय तीनों ही नहीं हैं, इसलिए इसे पारिणामिक भाव कहा जाता है।

१. सासादन सामान्य निर्देश

१. सासादन सम्यग्दृष्टिका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१६६८ सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभावसमभिमुहो। णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो।६। ण य मिच्छत्तं पत्तो सम्मत्तादो य जो हु परिवडिओ। सो सासणो त्ति णेओ साविंयपरिणामिओ भावो ।१६८। —१. सम्यक्त्वरूप रत्नपर्वतके शिखरसे च्युत, मिथ्यात्वरूप भूमिके सम्मुख और सम्यक्त्वके नाशको प्राप्त जो जीव है, उसे सासादन नामवाला जानना चाहिए ।६। (ध. १/१,१,१०/गा. १०८/१६६), (गो. जी./मू./२०/४६)। २. उपशम सम्यक्त्वसे परिपतित होकर जीव जब तक मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं हुआ है तब तक उसे सासादन सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए ।१६८। (ध. १/१,१,१०/१६३/५), (गो. जी./मू./६५४/११०२), (द्र. सं./टी./१३/३१/१)।

रा. वा./६/१/१३/५८६/१८ अत एवास्यान्वर्थसंज्ञा-आसादनं विराधनम्, सहासादनेन वर्तत इति सासादना, सासादना सम्यग्दृष्टिर्यस्य सोऽयं सासादनसम्यग्दृष्टिरिति। —अतएव 'सासादन' यह अन्वर्थ संज्ञा है। आसादनका अर्थ विराधना है। आसादनके साथ रहे वह सासादन। आसादन सहित समीचीन दृष्टि जिसके वह सासादनसम्यग्दृष्टि है। (ध. १/१,१,१०/१६३/५+१६६/१); (गो. जी./जी. प्र./१०/३१/४)।

२. मिथ्यादृष्टि आदिसे पृथक् सासादन दृष्टि क्या

ध. १/१,१,१०/१६३/७ अथ स्यान्न मिथ्यादृष्टिरयं मिथ्यात्वकर्मण उदयाभावात्, न सम्यग्दृष्टिः सम्यग्रुचेरभावात्, न सम्यग्मिथ्यादृष्टिरुभयविषयरुचेरभावात्। न च चतुर्थी दृष्टिरस्ति सम्यगसम्यगुभयदृष्ट्यालम्बनवस्तुव्यतिरिक्तवस्त्वनुपलम्भात्। अतोऽसत् एव गुण इति न, विपरीताभिनिवेशतोऽसद्दृष्टित्वात्। तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वयं नास्य सासादनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः, किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते। किमिति मिथ्यादृष्टिरिति न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। न च दर्शनमोहनीयस्योदयादुपशमात्क्षयोपशमाद्वा सासादनपरिणामः प्राणिनामुपजायते येन मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्यते। यस्माच्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनीयं तस्य चारित्रावरणत्वात्। —प्रश्न—सासादन गुणस्थान वाला जीव मिथ्यात्वका उदय न होनेसे मिथ्यादृष्टि नहीं है, समीचीन रुचिका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि भी नहीं है। दोनोंको विषय करनेवाली सम्यग्मिथ्यात्वरूप रुचिका अभाव होनेसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है। इनके अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि, समीचीन असमीचीन और उभयरूप दृष्टिके आलम्बनभूत वस्तुके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पायी नहीं जाती है। इसलिए सासादन गुणस्थान असत्स्वरूप है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानमें विपरीत अभिप्राय रहता है, इस लिए उसे असद्दृष्टि ही समझना चाहिए। प्रश्न—यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिए, सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रका प्रतिबन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थानमें पाया जाता है, इसलिए द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है किन्तु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहाँ नहीं पाया जाता है, इसलिए उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं। केवल सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं। प्रश्न—ऊपरके कथनानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गयी है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र कहनेसे अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंकी द्विस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है। दे. अनन्तानुबन्धी—दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे जीवोंके सासादनरूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है—(दे. सासादन/१/६) जिससे कि इस गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता। तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें जो विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीयका भेद न होकर चारित्रका आवरण करनेवाला होनेसे चारित्रमोहनीयका भेद है। इसलिए दूसरे गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है। (और भी दे. सासादन/१/७,८)

३. सासादनको सम्यग्दृष्टि व्यपदेश क्यों

ध. १/१,१,१०/१६६/१ विपरीताभिनिवेशदूषितस्य तस्य कथं सम्यग्दृष्टित्वमिति चेन्न, भूतपूर्वगत्या तस्य तद्व्यपदेशोपपत्तेरिति। —प्रश्न—सासादन गुणस्थान विपरीत अभिप्रायसे दूषित है (दे. शीर्षक सं. २), इसलिए इसके सम्यग्दृष्टिपना कैसे बनता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पहले वह सम्यग्दृष्टि था [अर्थात् प्रथमोपशमसे गिरकर ही सासादन होनेका नियम है—(दे. सासादन/२)] इसलिए भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा उसके सम्यग्दृष्टि संज्ञा बन जाती है। (गो. जी./जी. प्र./१०/३१/५)

४. सासादनमें तीनों ज्ञान अज्ञान क्यों

रा. वा./६/१/१३/५८६/१६ तस्य मिथ्यादर्शनोदयाभावेऽपि अनन्तानुबन्ध्युदयात् त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानानि एव भवन्ति। —मिथ्यात्वका उदय न होनेपर भी इसके तीनों मति, श्रुत और अवधिज्ञान अज्ञान कहे जाते हैं। (दे. सत्)

ध. १/१,१,११६/३६१/३ मिथ्यादृष्टेः द्वेऽप्यज्ञाने भवतां नाम तत्र मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वात्। मिथ्यात्वोदयस्यासत्त्वान्न सासादने तयोः सत्त्वमिति न, मिथ्यात्वं नाम विपरीताभिनिवेशः स च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धिनश्चोत्पद्यते। समस्ति च सासादनस्यानन्तानुबन्ध्युदय इति। —प्रश्न—मिथ्यादृष्टि जीवोंके भले ही दोनों (मति व श्रुत) अज्ञान होवें, क्योंकि वहाँ पर मिथ्यात्वका उदय पाया जाता है, परन्तु सासादनमें मिथ्यात्वका उदय नहीं पाया जाता है, इसलिए वहाँ पर वे दोनों ज्ञान अज्ञानरूप नहीं होना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि, विपरीताभिनिवेशको मिथ्यात्व कहते हैं। और मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दोनोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है। सासादन गुणस्थानवालेके अनन्तानुबन्धीका उदय तो पाया ही जाता है (दे. शीर्षक नं. २), इसलिए वहाँ पर भी दोनों अज्ञान सम्भव हैं।

५. सासादन अनन्तानुबन्धीके उदयसे होता है

रा. वा./६/१/१३/५८८/२० तस्य मिथ्यादर्शनस्योदये निवृत्ते अनन्तानुबन्धिकषायोदयकलुषीकृतान्तरात्मा जीवः सासादनसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते। —मिथ्यादर्शनके उदयका अभाव होने पर भी जिनका आत्मा अनन्तानुबन्धीके उदयसे कलुषित हो रहा है वह सासादनसम्यग्दृष्टि है।

ल. सा./जी. प्र./६६/१३६/१६ तदुपशमनकाले अनन्तानुबन्ध्युदयाभावेन सासादनगुणप्राप्तेरभावात्। —दर्शनमोहके उपशमनकालमें अनन्तानुबन्धीके उदयका अभाव होनेसे सासादनकी प्राप्तिका अभाव है।

दे. सासादन/१/२ [यहाँ यद्यपि मिथ्यात्वजन्य विपरीताभिनिवेश पाया नहीं जाता, परन्तु अनन्तानुबन्धीजन्य विपरीताभिनिवेश अवश्य पाया जाता है।]

दे. सासादन/१/४ [अनन्तानुबन्धीके उदयके कारण ही इसके ज्ञान अज्ञान कहे जाते हैं।]

दे. सासादन/२/२ [उपशम सम्यक्त्वके कालमें छह आवली शेष रह जाने पर अनन्तानुबन्धीका उदय आ जानेसे सासादन होता है।]

६. सासादन पारिणामिक भाव कैसे

ष. खं. ५/१,७/सूत्र ३/१९६ सासणसम्मादिट्ठि त्ति को भावो, पारिणामिओ भावो ।२।–सासादन सम्यग्दृष्टि यह कौन सा भाव है? पारिणामिक भाव है। (ष. खं. ७/२,१/सूत्र ७७/१०६); (पं. सं./प्रा./१/१६८); (ध. १/१,१,१०/गा. १०८/१६६); (गो.जी./मू./२०/४६)

ध.५/१,७,३/१९६/७ एत्थ चोदओ भणदि–भावो पारिणामिओ त्ति णेदं घडदे, अण्णेहिंतो अणुप्पण्णस्स परिणामस्स अत्थित्तविरोहा। अह अण्णेहिंतो उप्पत्ती इच्छिज्जदि ण सो पारिणामिओ, णिक्कारणस्स सकारणत्तविरोहा इति। परिहारो उच्चते। तं जहा—जो कम्माणमुदय-उवसम-खइय-खओवसमेहि विणा अण्णेहिंतो उप्पण्णो परिणामो सो पारिणामिओ भण्णदि, ण णिक्कारणो कारणमंतरेणुप्पण्णपरिणामाभावा। सत्त-पमेयत्तादओ भावा णिक्कारणा उवलब्भंतीदि चे ण, विसेससत्तादिसरूवेण अपरिणमंतसत्तादिसामण्णाणुवलंभा।·· तदो अप्पिदस्स दंसणमोहणीयस्स कम्मस्स उदएण उवसमेण खएण खओवसमेण वा ण होदि त्ति णिक्कारणसासणसम्मत्तं। अदो चेव पारिणामियत्तं पि। अणेण णाएण सव्वभावाणं पारिणामियत्तं पसज्जदीदि चे होदु, ण कोइ दोसो, विरोहाभावा। अण्णभावेसु पारिणामियववहारो किण्ण कीरदे। ण, सासणसम्मत्तं मोत्तूण अप्पिदकम्मादो णुप्पण्णस्स अण्णस्स भावस्स अणुवलभा। –प्रश्न—१. 'यह पारिणामिक भाव है' यह बात घटित नहीं होती, क्योंकि दूसरोंसे नहीं उत्पन्न होने वाले परिणामके अस्तित्वका अभाव है। यदि अन्यसे उत्पत्ति मानी जाये तो पारिणामिक नहीं रह सकता है, क्योंकि, निष्कारण वस्तुके सकारणत्वका विरोध है। (अर्थात् स्वतः सिद्ध व अहेतुक त्रिकाली स्वभावको पारिणामिक भाव कहते है, पर सासादन तो अनन्तानुबन्धीके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण सहेतुक है। इसलिए वह पारिणामिक नहीं हो सकता)? उत्तर–जो कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमके बिना अन्य कारणोंसे उत्पन्न हुआ परिणाम है वह पारिणामिक कहा जाता है, न कि निष्कारण भावको पारिणामिक कहते है, क्योंकि, कारणके बिना उत्पन्न होने वाले परिणामका अभाव है। प्रश्न—सत्त्व, प्रमेयत्व आदिक भाव कारणके बिना भी उत्पन्न होनेवाले पाये जाते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, विशेष सत्त्व आदिके स्वरूपसे नहीं परिणत होनेवाले सत्त्वादि सामान्य नहीं पाये जाते हैं।—२. विवक्षित दर्शन मोहनीयकर्मके उदयसे, उपशमसे, क्षयसे अथवा क्षयोपशमसे नहीं होता है अतः यह सासादन सम्यक्त्व निष्कारण है और इसी लिए इसके पारिणामिकपना भी है। (ध. १/१,१०/१६५/६); । प्रश्न—३. इस न्यायके अनुसार तो सभी भावोंके पारिणामिकपनेका प्रसंग प्राप्त होता है [क्योंकि कोई भी भाव ऐसा नहीं जिसमें किसी एक या अधिक कर्मोंके उदय आदिका अभाव न हो।] उत्तर–इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि इसमें कोई विरोध नहीं आता। (दे. पारिणामिक)। प्रश्न—यदि ऐसा है तो फिर अन्य भावोंमें पारिणामिकपनेका व्यवहार क्यों नहीं किया जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सासादनसम्यक्त्वको छोड़कर विवक्षित कर्मसे नहीं होनेवाला अन्य कोई भाव नहीं पाया जाता है।

ध. ७/२,१,७७/१०६/६ एसो सासणपरिणामो खईओ ण होदि, दंसणमोहक्खएणाणुप्पत्तीदो। ण खओवसमिओ वि, देसघादिफद्दयाणमुदएण अणुप्पत्तीए। उवसमिओ वि ण होदि, दंसणमोहुवसमेणाणुप्पत्तीदो। ओदइओ वि ण होदि, दंसणमोहस्सुदएणाणुप्पत्तीदो। परिसेसादो परिणामिएण भावेण सासणो होदि।–यह सासादन परिणाम क्षायिक नहीं होता, क्योंकि, दर्शनमोहनीयके क्षयसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती। यह क्षायोपशमिक भी नहीं है, क्योंकि, दर्शनमोहनीयके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती। औपशमिक भी नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयके उपशमसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती वह औदयिक भी नहीं है, क्योंकि दर्शनमोहनीयके उदयसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती। अतएव परिशेष न्यायसे पारिणामिक भावसे ही सासादन परिणाम होता है।

७. अनन्तानुबन्धीके उदयसे औदयिक क्यों नहीं

ध. ७/२,७७/१०६/६ अणंताणुबंधीणमुदएण सासणगुणस्सुवलंभादो ओदइओ भावो किण्ण उच्चदे। ण दंसणमोहणीयस्स उदय-उवसम-खय-खओवसमेहि विणा उप्पज्जदि त्ति सासणगुणस्स कारणं चरित्तमोहणीयं तस्स दंसणमोहणीयत्तविरोहत्तादो। अणंताणुबन्धीचउक्कं तदुभयमोहणं च। होदु णाम, किंतु णेदमेत्थ विवक्खियं। अणंताणुबंधीचउक्कं चरित्तमोहणीयं चेवेत्ति विवक्खाए सासणगुणो पारिणमिओ त्ति भणिदो।–प्रश्न—अनन्तानुबन्धी कषायोंके उदयसे सासादन गुणस्थान पाया जाता है, अत उसे औदयिक भाव क्यों नहीं कहते? उत्तर—नहीं कहते, क्योंकि, दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशमके बिना उत्पन्न होनेसे सासादन, गुणस्थानका कारण चारित्र मोहनीय कर्म ही हो सकता है और चारित्र मोहनीयके दर्शन मोहनीय माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—अनन्तानुबन्धी तो दर्शन और चारित्र दोनोंमें मोह उत्पन्न करनेवाला है? उत्तर–भले ही वह उभयमोहनीय हो, किन्तु यहाँ वैसी विवक्षा नहीं है। अनन्तानुबन्धी चारित्र मोहनीय ही है, इसी विवक्षासे सासादन गुणस्थानको पारिणामिक कहा है।

ध. ५/१,७,३/१९७/४ आदिमचदुगुणट्ठाणभावपरूवणाए दंसणमोहवदिरित्तसेसकम्मेसु विवक्खाभावा।–आदिके चार गुणस्थानोंसम्बन्धी भावोंकी प्ररूपणामें दर्शनमोहनीय कर्मके सिवाय शेष कर्मोंके उदयकी विवक्षाका अभाव है। (गो. जी./मू. व. जी. प्र./१२/३५)।

८. इसे कथंचित् औदयिक भी कहा जा सकता है

गो. जी./जी./प्र/१२/३५/१४ अनन्तानुबन्ध्यन्यतमोदयविवक्षया तु औदयिकभावोऽपि भवेत्।–अनन्तानुबन्धी चतुष्टयमेंसे अन्यतमका उदय होनेकी अपेक्षा सासादन गुणस्थान औदयिक भाव भी होता है।

९. सासादन गुणस्थानका स्वामित्व

दे. नरक/४/२,३ [सातों ही पृथिवियोंमें सम्भव है परन्तु केवल पर्याप्त ही होते हैं अपर्याप्त नहीं।]

दे. तिर्यंच/·/१,२ [पंचेन्द्रिय तिर्यंच व योनिमति दोनोंके पर्याप्त व अपर्याप्तमें होना सम्भव है।]

दे. मनुष्य/३/१,२ [मनुष्य व मनुष्यनियाँ दोनोंके पर्याप्त व अपर्याप्तमें होना सम्भव है।]

दे. देव/३/१/२ [भवनवासीसे उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्तके सभी देवों व देवियोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओंमें सम्भव है।]

दे. इन्द्रिय/४/४ [एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियोंमें नहीं होता, संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें ही सम्भव है। यहाँ इतनी विशेषता है कि—(दे. अगला सन्दर्भ)]

दे. जन्म/४ [नरकमें सर्वथा जन्म नहीं लेता, कर्म व भोगभूमि दोनोंके गर्भज संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें ही जन्मता है इनसे विपरीतमें नहीं। इतनी विशेषता है कि असंज्ञियोंमें केवल अपर्याप्त दशामें ही

होता है और संज्ञियोंकी अपर्याप्त व पर्याप्त दोनों दशाओंमें द्वितीयोपशमकी अपेक्षा संज्ञी, संज्ञियोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों तथा देवोंमें केवल अपर्याप्त दशामें ही सम्भव है। एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियोंमें यदि होते हैं तो केवल निवृत्त्यपर्याप्त दशामें ही सम्भव है। वहाँ भी केवल बादर पृथिवी अप व प्रत्येक वनस्पति इन तीन कायोंमें ही सम्भव है अन्य कायोंमें नहीं। वास्तवमें एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते, बल्कि वहाँ मारणान्तिक समुद्घात करते हैं।]

दे. जन्म/४/१० [सासादन प्राप्तिके द्वितीय समयसे लेकर आवली/असं. कालतक मरनेपर नियमसे देव गतिमें जन्मता है। इसके ऊपर आ./असं. काल मनुष्योंमें जन्मने योग्य है। इसी प्रकार आगे क्रमसे संज्ञी, असंज्ञी, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय व एकेन्द्रियोंमें जन्मने योग्य काल होता है।]

दे. संयत/१/६ [सासादन निवृत्त्यपर्याप्त या पर्याप्त ही होता है लब्धि अपर्याप्त नहीं।]

१०. मारणान्तिक समुद्घात सम्बन्धी

ध. ४/१,४,४/४/१६४/२ तेसिं सासणगुणपाहम्मेण लोगणालीए बाहिर-मुप्पज्जणसहावाभावादो। लोगणालीए अब्भंतरे मारणंतियं करेंता वि भवणवासियजगमूलादोवरि चेव देव-तिरिक्खसासणसम्मादिट्ठिणो मारणंतियं करेंति, णो हेट्ठा, कुदो। सासणगुणपाहम्मादो चेव। —[सासादन सम्यग्दृष्टिदेव ऐकेन्द्रियोंमें मारणान्तिक समुद्घात करते हैं, परन्तु] उनके सासादन गुणस्थान की प्रधानतासे लोक नालीके बाहर उत्पन्न होनेके स्वभावका अभाव है। और लोकनालीके भीतर मारणान्तिक समुद्घातको करते हुए भी भवनवासी लोकके मूलभागसे ऊपर ही देव या तिर्यंच सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मारणान्तिक समुद्घातको करते हैं। इससे नीचे नहीं, क्योंकि, उनमें सासादनगुणस्थानकी ही प्रधानता है।

ध. ४/१,४,४/१६४/७ ईसिपब्भारपुढवीदो उवरि सासणाणमाउकाइएसु मारणंतियसंभवादो, अट्ठमपुढवीए एगरज्जुपदरब्भंतरं सव्वमावूरिय ट्ठिदाए तेसिं मारणंतियकरणं पडि विरोहाभावादो च। —ईषत्प्राग्भार पृथिवीसे ऊपर सासादन सम्यग्दृष्टियोंका अपकायिक जीवोंमें मारणान्तिक समुद्घात सम्भव है, तथा एक रज्जूप्रतरके भीतर सर्व क्षेत्रको व्याप्त करके स्थित आठवीं पृथिवीमें उन जीवोंके मारणान्तिक समुद्घात करनेके प्रति कोई विरोध भी नहीं है।

दे. मरण/५/४—[मेरुतलसे अधोभागवर्ती एकेन्द्रिय जीवोंमें व मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते।]

दे. जन्म/४/११—[सासादन सम्यग्दृष्टि जीव वायुकायिकोंमें मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते।]

२. सासादनके आरोहण व अवरोहण सम्बन्धी

१. उपशमसम्यक्त्व पूर्वक ही होता है

ध. ५/१,८,१२/२५०/७ सासणगुणमुवसमसम्मादिट्ठिणो चेव पडिवज्जंति। —सासादनगुणस्थानको उपशमसम्यग्दृष्टि ही प्राप्त होते हैं।

२. प्रथमोपशमके कालमें कुछ अवशेष रहनेपर होता है

रा. वा /९/१/१३/५८९/१६ जघन्येन एकसमये उत्कर्षेणावलिकाषट्केऽवशिष्टे यदा अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमन्यतमस्योदयो भवति तदा सासादनसम्यग्दृष्टिरित्युच्यते। —प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्त कालमें जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवली अवशेष रहनेपर, जब अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया व लोभ इन चारोंमेंसे किसी एकका उदय होता है, तब वह जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। (गो. जी./मू./१९/४४); (ल. सा./मू /१००/१३७); (गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/१५); (गो. क./जी. प्र./५४८/७१८/१७)

३. उपशममें शेष बचा काल ही सासादनका काल है

ष. खं. ७/२,२/सू. २००-२०२/१८२ सासणसम्माइट्ठी केवचिरं कालादो होदि।२००। जहण्णेण एयसमओ।२०१। उक्कस्सेण छावलियाओ।२०२। —सासादन सम्यग्दृष्टि जीव कितने काल तक रहते हैं?।२००। जघन्य एक समय।२०१। और उत्कृष्ट छह आवली कालतक रहते हैं।२०२। (ष. खं. ४/१,५/सूत्र ७-८); (ध. ५/१,८,१२/२५०/२)

ध. ४/१,५,७/गा. ३१/३४१ उवसमसम्मत्तद्धा जत्तियमेत्ता हु होइ अवसिट्ठा। पडिवज्जंता साणं तत्तियमेत्ता य तस्सद्धा।३१। —जितना प्रमाण उपशम सम्यक्त्वका काल अवशिष्ट रहता है, उस समय सासादनगुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवका भी उतने प्रमाण ही काल होता है।३१।

ध. ७/२,२,२०१/१८२/६ उवसमसम्मत्तद्धाए एगसमयावसेसे सासणं गदस्स सासणगुणस्स एगसमयकालोवलंभादो। जेत्तिया उवसमसम्मत्तद्धा एगसमयादि काऊण जावुक्कस्सेण छावलियाओ त्ति अवसेसा अत्थि तत्तिया चेव सासणगुणद्धावियप्पा होंति। —क्योंकि, उपशम सम्यक्त्वके कालमें एकसमयशेषरहनेपर सासादनगुणस्थानमें जानेवाले जीवके सासादनगुणस्थानका एक समय काल पाया जाता है। एक समयसे प्रारम्भ कर अधिकसे अधिक छह आवलियोंतक जितना उपशम सम्यक्त्वका काल शेष रहता है, उतने ही सासादनगुणस्थानके *विकल्प* होते हैं।

४. उक्त कालसे हीन या अधिक शेष रहनेपर सासादनको प्राप्त नहीं होता

क. पा. सुत्त/१०/गा. ९७/६११ उवसामगो च सव्वो…णिरासाणो। उवसंते भजियव्वो णीरासणो य खीणम्मि।९७। —जबतक दर्शनमोहका उपशम कर रहा है तबतक वह सासादन गुणस्थानको प्राप्त नहीं होता है। उसका उपशम हो जानेपर भजितव्य है, अर्थात् सासादनको प्राप्त हो भी जाता है और नहीं भी। [प्रथमोपशम कालमें एक समयसे छह आवलीतक शेष रहनेपर तो कदाचित् प्राप्त हो जाता है। परन्तु] उस उपशम सम्यक्त्वका काल समाप्त हो जानेपर प्राप्त नहीं होता है। (ध. ६/१,९-८,९/गा. ४/२३९); (ल. सा./मू./९९/१३६)

ध. ४/१,५,८/गा. ३२/३४२ उवसमसम्मत्तद्धा जइ छावलिया हवेज्ज अवसिट्ठा। तो सासणं पवज्जइ णो हेट्ठुक्कट्ठकालेसु।३२। —उपशम सम्यक्त्वका छह आवली प्रमाण अवशिष्ट होवे तो जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त होता है, यदि इससे अधिक काल अवशिष्ट रहे तो नहीं प्राप्त होता है।३२।

ध. ७/२,२,२०१/१८२/८ उवसम्मत्तकालं सपुण्णमच्छिदो सासणगुणं ण पडिवज्जदि त्ति कधं णव्वदे। एदम्हादो चेव सुत्तादो, आइरियपरंपरागदुवदेसादो वा। —प्रश्न—जो जीव उपशमसम्यक्त्वके सम्पूर्ण कालतक उपशमसम्यक्त्वमें रहा है, वह सासादन गुणस्थानमें नहीं जाता, यह कैसे जाना? उत्तर—प्रस्तुत सूत्रसे (दे. शीर्षक नं. ३) ही तथा आचार्य परम्परागत उपदेशसे भी पूर्वोक्त बात जानी जाती है।

ल. सा./जी. प्र /९९/१३६/१६ उपशान्ते दर्शनमोहे अन्तरायामे वर्तमानः प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टिः सासादनगुणस्थानप्राप्त्या भक्तव्यो विकल्पनीयः। कस्यचित्प्रथमोपशमसम्यक्त्वकाले एकसमयादिषडावलिकान्तावशेषे सासादनगुणत्वसंभवात्। उपशमसम्यक्त्वकाले क्षीणे समाप्ते सति निरासादन एव तदा नियमेन मिथ्यात्वाद्यन्यतमोदयसंभवात्। —दर्शनमोहके उपशान्त हो जानेपर उस प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अन्तरायाममें वर्तमान प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव सासादनगुणस्थानकी प्राप्तिके लिए भजनीय है, अर्थात् प्राप्त

करे अथवा न भी करे। तहाँ किसी जीवके प्रथमोपशमके कालमें एक समयसे छह आवली पर्यन्त काल शेष रहनेपर सासादन गुणस्थानका होना सम्भव है। परन्तु उपशम सम्यक्त्वका काल क्षीण हो जानेपर निरासादन ही है अर्थात् सासादनको बिलकुल प्राप्त नहीं हो सकता। तब मिथ्यादि (मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व या सम्यक्प्रकृति इन तीनोंमेंसे किसी एकका उदय सम्भव है।)

दे.सम्यग्दर्शन/IV/२/८ [प्रथमोपशमसे गिरकर अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार मिथ्यादृष्टि सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदक-सम्यग्दृष्टिमेंसे किसी भी गुणस्थानको प्राप्त हो सकता है।]

५. द्वितीयोपशमसे सासादनकी प्राप्ति अप्राप्ति सम्बन्धी दो मत

ध. ६/१,६-८,१४/३३१/४ एदिस्से उवसमसम्मत्तद्धाए अब्भंतरादो असंजमं पि गच्छेज्ज, संजमासंजमं पि गच्छेज्ज, छसु आवलियासु सेसासु आसाणं पि गच्छेज्ज।...एसो पाहुडचुण्णिसुत्ताभिप्पाओ। भूदबलिभयवंतस्सुवएसेण उवसमसेडीदो ओदिण्णो ण सासणत्तं पडिवज्जदि। —१. द्वितीयोपशमसम्यक्त्वकालके भीतर असंयमको भी प्राप्त हो सकता है, संयमासंयमको भी प्राप्त हो सकता है और छह आवलियोंके शेष रहनेपर सासादनको भी प्राप्त हो सकता है।... यह कषायप्राभृत चूर्णिसूत्र (यतिवृषभाचार्य) का अभिप्राय है। (ल. सा./मू./३४८); (गो. जी /जी. प्र./१६/४५/१); (दे. सम्यग्दर्शन/-IV/३/३ में गो. जी./जी. प्र./७०४)। २. किन्तु भगवान् भूतबलिके उपदेशानुसार उपशमश्रेणीसे उतरता हुआ सासादन गुणस्थानको प्राप्त नहीं करता। (ल. सा./मू./३५१)

ध. ५/१,६,७/११/२ उवसमसेडीदो ओदिण्णाणं सासणगमणाभावादो। तं पि कुदो णव्वदे। एदम्हादो चेव भूदबलीयवयणादो। —उपशम श्रेणीसे उतरनेवाले जीवोंके सासादनगुणस्थानमें गमन करनेका अभाव है। प्रश्न—यह कैसे जाना ? उत्तर—भूतबली आचार्यके इसी वचनसे जाना [कि सासादन गुणस्थानका जघन्य अन्त एक जीवकी अपेक्षा पल्योपमके असंख्यातवें भाग है—सूत्र ७, पृ. ६]।

गो. क./जी. प्र./५४८/७१८/१७ अमी प्रथमद्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टयः स्वभवचरमे स्वसम्यक्त्वकाले जघन्येनैकसमये उत्कृष्टेन षडावलि-मात्रेऽवशिष्टेऽनन्तानुबन्ध्यन्यतमोदयेन सासादना भूत्वा...। —ये प्रथमोपशम व द्वितीयोपशम दोनों सम्यग्दृष्टि अपने भवके चरम-समयमें अपने-अपने सम्यक्त्वके कालमें जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवली मात्र अवशेष रहनेपर अनन्तानुबन्धी चतुष्कमेंसे किसी एक प्रकृतिके उदयसे सासादन होकर (मरते हैं, तब देवगतिको प्राप्त करते हैं।)

६. सासादनसे अवश्य मिथ्यात्वकी प्राप्ति

रा. वा./६/१/१३/५८६/२१ स हि मिथ्यादर्शनोदयफलमापादयन् मिथ्यादर्शनमेव प्रवेशयति। —यह (अनन्तानुबन्धी कषाय) मिथ्यादर्शनके फलोंको उत्पन्न करती है, अतः मिथ्यादर्शनको उदयमें आनेका रास्ता खोल देती है।

गो. क./जी. प्र./५४८/७१८/२० सासादनकालमतीत्य मिथ्यादृष्टय एव भूत्वा। —सासादनका काल बीतनेपर नियमसे मिथ्यादृष्टि होकर...।

साहसगति—राजा चक्रांकका पुत्र था। सुग्रीवकी स्त्रीको प्राप्त करनेके अर्थ इसने विद्या सिद्ध की थी। (प. पु./१०/४,१८)।

साहसी—स्या. म./१८/२४१/६ सहसा अविमर्शात्मकेन बलेन वर्तते साहसिकः। —आगे आनेवाले कष्टोंको विचारे बिना ही अपनी शिर-जोरीसे जो सहसा प्रवृत्त हो उसको साहसी कहते हैं।

सिंदूर—मध्य लोकके अन्तसे चौदहवाँ द्वीप व सागर—दे. लोक/५/१।

सिंधु—१—भरत क्षेत्रकी प्रसिद्ध नदी—दे. मनुष्य/४; लोक/३/११ २—भरत क्षेत्रस्थ एक कुण्ड जिसमेंसे सिन्धु नदी निकलती है—दे. लोक/३/१० ३- हिमवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक/५/४ ४—सिन्धु कूट व सिन्धु कुण्डकी स्वामिनी देवी—दे. लोक३/१०-५—भरत क्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४; ६—वर्तमान सिन्ध देश। कराची राजधानी है। (म. पु./प्र. ५० पन्नालाल)।

सिंधु कक्ष—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

सिंह—एक ग्रह—दे. ग्रह।

सिंहनिष्क्रीडित व्रत—यह व्रत जघन्य, मध्यम व उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है।

निम्न प्रस्तारके अनुसार क्रमशः १, २ आदि उपवास करते हुए ६० उपवास पूरे करें। बीचके २० स्थानोंमें पारणा करे। प्रस्तार—जघन्य प्रस्तारमें मध्यका अंक ५ है। पहलेके अंकोंमें दो-दो अंकोंकी सहायतासे एक-एक बढ़ाता जाये और घटाता जाये। जैसे—१, २ (२-१=१), (२+१=३), (३-१=२), (३+१=४), (४-१=३), (४+१=५), (५-१=४); [५+१=६ यह विकल्प मध्यवाले पाँच अंकोंको उल्लंघन कर जानेके कारण ग्राह्य नहीं। अतः यहाँ ६ की बजाय ५ का अंक ही रखना] यहाँ तक प्रस्तारका मध्य आया। इसके आगे उलटा क्रम चलाइए अर्थात् ५, ४, ५, ३, ४, २, ३, १, २, १। इस प्रकार जघन्य सिंहनिष्क्रीडित का प्रस्तार है।—१, २, १, ३, २, ४, ३, ५, ४, ५; ५, ४, ५, ३, ४, २, ३, १, २, १=६०। जाप—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (ह. पु./३४/७७-७८) (व्रत विधान सं./५६) (किशनसिंह क्रिया-कोष) विधि जघन्य वत् है, प्रस्तारमें कुछ अन्तर है जो नीचे दिया जाता है। मध्यम-प्रस्तार निकालनेकी विधि जघन्यवत् ही है। केवल मध्यमका अंक ५ की बजाय ६ है। अर्थात १, २, १, ३, २, ४, ३, ५, ४, ६, ५, ७, ६, ८, ७, ८, ६, ८, ७, ८, ६, ७, ५, ६, ४, ५, ३, ४, २, ३, १, २, १=१५३) नोट—व्रत विधान संग्रहमें निशान वाला आठका अंक नहीं है। १५३ की बजाय १४५ उपवास है। (ह. पु./३४/७६-८०) (व्रत विधान सं./५७) (किशनसिंह क्रियाकोष) उत्कृष्ट,प्रस्तार विधान जघन्यवत जानना। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ मध्यका अंक ५ की बजाय १६ है। शेष सर्व विधि जघन्यवत् है। प्रस्तार—१, २, १, ३, २, ४, ३, ५, ४, ६, ५, ७, ६, ८, ७, ६, ८, १०, ६, ११, १०, १२, ११, १३, १२, १४, १३, १५, १४, १५, १६; १५, १४, १५, १३, १४, १२, १३, ११, १२, १०, ११, ६, १०, ८, ६, ७, ८, ६, ७, ५, ६, ४, ४, ५, ३, १, २, १=४६६ ; स्थान ६१।

सिंहध्वज—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

सिंहनंदि—१. ई. ११२२ के दो शिलालेखों के अनुसार भानुनन्दि के शिष्य आ. सिंहनन्दि योगीन्द्र गंग राजवंश की स्थापना में सहायक हुए थे। समय—ई. श. २। (ती./२/४४५)। २. नन्दि संघ बलात्कार-गण में भानुनन्दि के शिष्य और वसुनन्दि के गुरु। समय—शक ५०८-५२५ (ई. ५८६-६११)। (दे. इतिहास/७/२)। ३. सर्वनन्दि कृत 'लोक विभाग' के संस्कृत रूपान्तर के रचयिता। (ति. प./प्र. १२/-H. L. Jain)।

४—गंगवंशीय राजमल्लके गुरुके गुरु थे। तथा उनके मन्त्री चामुण्ड-रायके गुरु अजितसेनाचार्यके गुरु थे। राजा मलके अनुसार इनका समय—वि. सं. १०१०-१०३० (ई. ६५३-६७३) आता है। (बाहुबलि चरित/श्लो. ६११)। ५. नन्दि संघ बलात्कारगण की सूरत शाखा में मल्लिभूषण के शिष्य और ब्र. नेमिदत्त के गुरु। लक्ष्मी चन्द्र (ई. १५१८) के समय में मालवा के भट्टारक थे। आपकी प्रार्थना पर

ही भट्टारक श्रुतसागर ने यशस्तिलक चन्द्रिका नामक टीका लिखी थी। समय—वि. १५५६-१५७५ (ई. १४९९-१५१८)। (दे. इतिहास/७/४); (यशस्तिलक चम्पू टीका की अन्तिम प्रशस्ति का अन्त)। —दे. इतिहास/७/४। ६. पंच नमस्कार मन्त्र माहात्म्य के कर्ता। समय—वि. श. १६ (ई. श. १६)।

सिंहपुर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

सिंहपुरी—अपर विदेहस्थ सुपद्म क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे. लोक५/२

सिंहरथ—१—जम्बूद्वीप वत्सदेशकी सुसीमा नगरीका राजा था। संयमी होकर ११ अंगोंका अध्ययन कर, सोलह भावनाओंका चिन्तवन किया। तथा तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। समाधिमरण कर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुए। (म. पु./६४/२-१०) यह कुन्थुनाथभगवान्‌का पूर्वका दूसरा भव है। —दे. कुन्थुनाथ। २—सौदासका पुत्र था। सौदासके नरमांसाहारी होनेपर इसको राज्य दिया गया। (प. पु./२२/१४४-१४५)

सिंहल—भोजवंशकी वंशावलीके अनुसार राजा मुंज व भर्तृहरिके पिता थे। मालवा (मगध) के राजा थे। मुंजके अनुसार इनका समय ई. ९००-९४० आता है—दे. इतिहास/३/१।

सिंहवर्मा—कांचीका राजा था। सर्वनन्दिने इसके राज्यके २२वें वर्षमें 'लोक विभाग' नामका एक प्राकृत ग्रन्थ बनाया था। समय—श. ३८० (ई. ४५८)। (ति. प./प्र./१२ ह्रॉ. हीरालाल)।

सिंहसूरि— दे० परिशिष्ट।

सिंहसेन—१—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप सुधर्मसेनके शिष्य तथा सुनन्दिषेणके गुरु थे। —दे. इतिहास/५/८। २—(म. पु./५९/श्लो. भरत क्षेत्रमें सिंहपुरका राजा था (१४६) इनके मन्त्रीने वैरसे सर्प बनकर इसको खा लिया (१९३) यह मरकर सल्लकी वनमें हाथी हुआ (१९७)। यह सजयन्त मुनिका पूर्वका सातवाँ भव है। —दे. 'संजयन्त'।

सिकन्दर—यूनानके बादशाह फिलिप्सका पुत्र था। मकदूनिया इसकी राजधानी थी। अरस्तूका शिष्य था। बड़ा पराक्रमी था। थोड़ी-सी आयुमें अफगानिस्तान, बलोचिस्तान, पंजाब आदि देशोंको जीत लिया था। —ई. पू. ३५६ में इसका जन्म हुआ। २० वर्षकी अवस्थामें गद्दी पर बैठा, बैठते ही देशोंपर विजय प्राप्त करनी प्रारम्भ कर दी। यूनान लौटते समय मार्गमें ही ई. पू. ३२३ में इसकी मृत्यु हो गयी। समय—ई. पू. ३५६-३२३।

सिक्तानन—असुरकुमार (भवनवासीदेव)—दे. असुर।

सिक्तिनो—भरत आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

सिक्थ—दे. ससिक्थ।

सितपट चौरासी — पं. हेमराज (वि. श. १७–१८) कृत भाषा छन्द बद्ध रचना है। जो श्वेताम्बराचार्य यशोविजयके दिग्पट चौरासी बोलके उत्तरमें की गयी थी। इसमें श्वेताम्बरमतपर चौरासी आक्षेप किये गये हैं। (दे. हेमराज पाण्डे)।

सिद्ध—दे. मोक्ष/३।

सिद्धर्षि—दे. परिशिष्ट।

सिद्ध केवली—दे. केवली/१/३।

सिद्धचक्र यन्त्र—दे. यन्त्र।

सिद्धचक्र विधान—दे. पूजापाठ।

सिद्धचक्राष्टक पूजा—दे. पूजापाठ।

सिद्धत्व—१—

पं. ध./उ./११४२ सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोऽवस्थान्तरं पृथक्। ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम्। ११४२। —आत्माकी सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व वीर्य आदि आठ गुण स्वरूप शुद्ध अवस्थाका होना ही सिद्धत्व है। २—जीवका पारिणामिक भाव है—दे. पारिणामिक; ३—स्वभाव व्यंजन पर्याय है—दे. पर्याय/३/१।

सिद्ध पक्षाभास— दे. 'पक्ष'।

सिद्धायिनी—भगवान् महावीरकी शासक यक्षिणी—दे. तीर्थंकर/५/३।

सिद्धसाधन हेत्वाभास—दे अकिंचित्कर।

सिद्धसेन—इस नाम के तीन आचार्य प्राप्त होते हैं—सिद्धसेन, दिवाकर, सिद्धसेन गणी और सिद्धसेन। १. सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों आम्नायों में प्रसिद्ध हैं। कृतियें—सन्मति सूत्र, कल्याण मन्दिर स्तोत्र और कुछ द्वात्रिंशिकायें। समय—लगभग वि ६२५। (दे. परिशिष्ट)। २. सिद्धसेन गणी यद्यपि श्वेताम्बर हैं परन्तु किसी कारणवश इन्हें क्योंकि दिगम्बर संघ का संसर्ग प्राप्त हो गया था इसलिए कुछ दिगम्बर संस्कार भी इनमें पाए जाते हैं। कृतियें— तत्त्वार्थाधिगम भाष्य वृत्ति, आचारांग सूत्र वृत्ति, न्यायावतार, द्वात्रिंशिकायें। समय— वि. श. ८-९। (दे. परिशिष्ट)। ३. पुन्नाट संघ की गुर्वावली के अनुसार अभयसेन प्र. के शिष्य और अभयसेन द्वि. के गुरु। (दे. इतिहास/७/८)।

सिद्धहेम शब्दानुशासन— दे शब्दकोश।

सिद्धान्त—

१. सिद्धान्त सामान्य निर्देश

दे. प्रवचन/१ आगम, सिद्धान्त और प्रवचन एकार्थक हैं।

ध. १/१,१,१/७६/४ अपौरुषेयत्वतोऽनादिः सिद्धान्तः। —अपौरुषेय होनेसे सिद्धान्त अनादि है।

२. भेद व लक्षण

न्या. सू./मू. टी./१/१/२६-३१ तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः।२६। सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्।२७। सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः।२८। यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि गन्धादय इन्द्रियार्थाः पृथिव्यादीनि भूतानि प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति।—समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्त.।२९। यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः।३०। यथा देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता।—अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः।३१। —शास्त्रके अर्थकी संस्थिति किये गये अर्थको सिद्धान्त कहते हैं। उक्त सिद्धान्त चार प्रकारका है। सर्वतन्त्र सिद्धान्त, प्रतितन्त्र सिद्धान्त, अधिकरण सिद्धान्त, अभ्युपगम सिद्धान्त।२६-२७। १. उनमें से जो अर्थ सब शास्त्रोंमें अविरुद्धतासे माना गया है उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। अर्थात् जिस बातको सर्व शास्त्रकार मानते हैं जैसे घ्राण आदि पाँच इन्द्रिय, गन्ध आदि उनके विषय तथा, पृथ्वी आदि पाँच भूत और प्रमाण द्वारा पदार्थोंका ग्रहण करना इत्यादि सब ही शास्त्रकार मानते हैं।२८। २. जो बात एक शास्त्रमें सिद्ध हो, और दूसरेमें असिद्ध हो उसे 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' कहते हैं।२९। ३. जिस अर्थके सिद्ध होनेसे अन्य अर्थ भी नियमसे सिद्ध हों उसे अधिकरणसिद्धान्त कहते हैं। जैसे—देह और इन्द्रियोंसे भिन्न कोई जानने वाला है जिसे आत्मा कहते हैं।३०। ४. बिना परीक्षा किये किसी पदार्थको मानकर उस पदार्थकी विशेष परीक्षा करनेको अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं।३१।

★ तर्क व सिद्धान्त रूप कथन पद्धति—दे. पद्धति।

सिद्धान्तसार—१. भावसेन त्रैविद्य (ई. श. १३ मध्य) कृत ७०० श्लोक प्रमाण ग्रन्थ जिस पर प्रभाचन्द्र नं. ६ (ई. श. ११ उत्त.) कृत एक कन्नड़ टीका है। (ती./२/४५१)। २. जिनचन्द्र (वि. १५०७-१५७१) कृत ७६ गाथा प्रमाण, जीवकाण्ड जिस पर ज्ञानभूषण (वि. १५३४-१५६१) कृत भाष्य है। (जै./१/४६३)।

सिद्धान्तसारसंग्रह—आ. नरेन्द्रसेन (ई. १०६८) द्वारा विरचित तत्त्वार्थ प्ररूपक संस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ है। इसमें १२ अधिकार हैं तथा कुल १६२४ श्लोक प्रमाण है। (ती./२/४३३)।

सिद्धान्तसेन—द्रविड़संघकी गुर्वावलीके अनुसार यह गोणसेनके गुरु तथा अनन्तवीर्यके दादा गुरु थे। (समय. ई.९४०-१०००)—दे. इतिहास/६/३।

सिद्धाभदेव—भूतकालीन आठवें तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५।

सिद्धायतन कूट—वर्षधर पर्वत, गजदन्त, वक्षारगिरि आदि पर्वतोंमें प्रत्येक पर एक-एक सिद्धायतन कूट है, जिसपर एक-एक जिनमन्दिर स्थित है।—दे. लोक/५/४।

सिद्धार्थ—१. अपर नाम सिद्धायतन—दे. सिद्धायतन। २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर। ३. मानुषोत्तर पर्वतस्थ अञ्जनमूलकूटका स्वामी भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे. लोक५/१० ४. म.पु./६१/श्लो. कौशाम्बी नगरीके राजा पार्थिवके पुत्र थे। (४) अन्तमें दीक्षा ले तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया (१२-१५) तथा समाधिमरणकर अपराजित विमानमें अहमिन्द्र हुआ (१६) यह नमिनाथ भगवान्‌का पूर्वका दूसरा भव है।—दे. नमिनाथ। ५. ह. पु./सर्ग./श्लो. बलदेव (कृष्णका भाई) का छोटा भाई था। यदि मैं देव हुआ तो तुम्हें सम्बोधूँगा बलदेवसे यह प्रतिज्ञा कर दीक्षा ग्रहण की (६१/४१) स्ववचनानुसार स्वर्गसे आकर कृष्णकी मृत्युपर बलदेवको सम्बोधा (६३/६१-७१) ६. भगवान् महावीरके पिता—दे. तीर्थंकर/५। ७. एक क्षुल्लक था जिसने लव व कुशको शिक्षा दी थी (प.पु./१००/४७)। ८. श्रुतावतार की पट्टावली के अनुसार आप नागसेन के शिष्य और धृतिषेण के गुरु थे। ११ अंग तथा १० पूर्वधारी थे। समय—वी. नि. २४७-२६४। तृतीय दृष्टि से वी. नि. ३०७-३२४। (दे. इतिहास/४/४)।

सिद्धार्था—एक विद्या—दे. 'विद्या'।

सिद्धि—सि. वि./मू./१/२/६/सिद्धिश्चेदुपलब्धिमात्रम्। —उपलब्धि मात्रको सिद्धि कहते हैं।

सिद्धिप्रिय स्तोत्र—आ. पूज्यपाद (ई. श. ५) कृत, २६ संस्कृत पद्यों में बद्ध चतुर्विंशतिस्तव। (ती./२/२८०)।

सिद्धिविनिश्चय—आ. अकलंक भट्ट (ई. ६२०-६८०) कृत यह न्यायविषयक ग्रन्थ संस्कृत पद्य बद्ध है। इसपर रचयिता कृत हीएक स्वोपज्ञ वृत्ति है। इसमें १२ अधिकार हैं। मूल ग्रन्थमें कुल २८ श्लोक हैं। इस ग्रन्थ पर आ. अनन्तवीर्य (ई. ९७५-१०२५) कृत एक संस्कृत टीका है। यह सर्व गद्य पद्य व टीका मिलकर २०×३०–८ साइजके मुद्रित ६५० पृष्ठ प्रमाण है। (ती./२/३०६)

सिरा—औदारिक शरीरमें सिराओंका प्रमाण—दे औदारिक/१/७)।

सिरिपाल चरिउ—१. कवि रइधु (वि. १४५७-१५५६) कृत श्रीपाल मैना सुन्दरी आख्यान। अपभ्रंश काव्य। (ती./४/२०३)। २. कवि नरु दामोदर (वि. श. १६ उत्तरार्ध) कृत अपभ्रंश काव्य। (ती./४/१६६)।

सीता—१. विदेह क्षेत्रकी प्रधान नदी—दे. लोक/३/११। २. विदेह क्षेत्रस्थ एक कुण्ड जिसमें से सीता नदी निकलती है—दे. लोक/३/१०। ३. नील पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक/५/४। ४. सीता कुण्ड व सीता कूटकी स्वामिनी देवी—दे. लोक/३/१०; ५. माल्यवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक/५/४; ६. रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक/५/१३। ७. वर्तमान पामीर प्रदेशके पूर्वसे निकली हुई यारकन्द नदी है। चातुर्द्वीपिक भूगोलके अनुसार यह मेरुके पूर्ववर्ती भद्राश्व महाद्वीपकी नदी है। चीनी लोग इसे अब तक सीतो कहते हैं। यह काराकोरमके शीतान नामक स्कन्धसे निकल कर पामीरके पूर्वकी ओर चीनी तुर्किस्तानमें चली गयी है। उक्त शीतान पुराणोंको शीतान्त है। तकलामकानकी मरुभूमिमें से होती हुई एक आध और नदियोंके मिल जाने पर 'तारीम' नाम धारण करके लोपनूप नामक खारी झीलमें जिसका विस्तार आजसे कहीं अधिक था जा गिरती है। इसका वर्णन वायु पुराणमें लिखा है—'कृत्वा द्विधा सिधुमरूद् सीतागाद् पश्चिमोदधिम् (४७, ४३) सिन्धुमरु तकलामकानके लिए उपयुक्त नाम है। क्योंकि इसका बाह्य समुद्रवत् दीखता है। पश्चिमोदधिसे लोनपुर झीलका तात्पर्य है। (ज.प./प्र. १४० A N.Upadhye; H.L. Jain)

सीता—प.पु./सर्ग./श्लोक—राजा जनककी पुत्री (२६/१२१) स्वयंवरमें रामके द्वारा वरी गयी (२८/२४५) वनवासमें रामके संग गयी (३१/१९१) वहाँपर राम लक्ष्मणकी अनुपस्थितिमें रावण इसे हरकर ले गया (४४/८३-८४)। रावणके द्वारा अनेकों भय देनेपर अपने शीलसे तनिक भी विचलित न होना (४६/८२) रावणके मारे जाने पर सीता रामसे मिली (७९/४६)। अयोध्या लौटने पर लोकापवादसे राम द्वारा सीताका परित्याग (९७/१०८९)। सीताकी अग्नि परीक्षा होना (१०५/२१)। विरक्त हो दीक्षित हो गयी। ६२ वर्ष पर्यन्त तपकर समाधिमरण किया। तथा सोलहवे स्वर्गमें देवेन्द्र हुई (१०९/१७-१८)।

सीतोदा—१. विदेह क्षेत्रकी प्रसिद्ध नदी—दे. लोक/३/११/२. विदेह क्षेत्रस्थ एक कुण्ड जिसमेंसे सीतोदा नदी निकलती है—दे.लोक/३/१०। ३. सीतोदा कूट व सीतोदा कुण्डकीस्वामिनी देवी—दे. लोक/३/१०; ४. विद्युत्प्रभविजयार्धका एक कूट—दे. लोक/५/४; ५. अपर विदेहस्थ एक विभंगा नदी—दे. लोक/५/८।

सीदिया—चतुर्द्वीपके भद्राश्व व उत्तरकुरु और सोदिया एक ही बात है। (ज.प/प्र. १४० A.N up; H.L. Jain

सीमंकर—भूतकालीन पञ्चम कुलकर—दे. शलाकापुरुष/९।

सीमंतक—प्रथम नरकका प्रथम पटल—दे. नरक/५ तथा रत्नप्रभा।

सीमंधर—भूतकालीन छठे कुलकर—दे. शलाकापुरुष/९।

सीमा—Boundary. (ध ५/प्र २८)।

सीमातीतसंख्या—Transfinite number (ध. ५/प्र. २८)।

सुंगयुन—एक चीनी यात्री था। ई. ५२० में इसने भारतकी यात्रा की थी। (ति. प/प्र. १४ हीरालाल)।

सुन्दर—कुण्डल पर्वतस्थ स्फटिक कूटका स्वामी नागेन्द्र—देव. दे. लोक/५/१२।

सुन्दरदास—इनको सन्त सुन्दरदास कहते थे। पं. बनारसीदास इनकी बहुत प्रशंसा करते हैं। समय—वि. १६५३-१७४६। (हि. जै. सा. इ./११७/कामता)।

सुन्दरी—भगवान् ऋषभदेवकी पुत्री थी। विरक्त होकर कुमारीने दीक्षा ग्रहण की। (ह. पु/१२/४२)।

सुकक्ष—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

सुकच्छ—पूर्व विदेहका एक क्षेत्र —दे. लोक/५/२।

सुकच्छविजय—पूर्व विदेहस्थ चित्रकूट वक्षारगिरिका एक कूट व उसका स्वामी देव —दे. लोक/५/४।

सुकुमाल चरित्र—आ. सकलकीर्ति (ई. १४०६-१४४२) कृत संस्कृत भाषाबद्ध ग्रन्थ। (ती./३/३३२)

सुकेतु—म. प्र./५९/श्लो. नं. श्रावस्ती नगरीका राजा था (७२)। जुएमें सर्वस्व हारनेपर दीक्षा ग्रहणकर कठिन तप किया। (८२-८३) कला, चतुरता आदि गुणोंका निदान कर लान्तव स्वर्गमें देव हुआ (८५) यह धर्म नारायणका पूर्वका दूसरा भव है —दे. धर्म।

सुकोशल—१. मध्यप्रदेश। अपरनाम महाकौसल। (म. पु./प्र. ४८ पन्नालाल)। २. प. पु./सर्ग/श्लोक राजा कीर्तिधरका पुत्र था। (२२/१५६)। मुनि (अपने पिता) की धर्मबाणी श्रवण कर दीक्षा ग्रहण कर ली (२२/४०)। तपश्चरण करते हुए को माताने शेरनी बन कर खा लिया (२२/६०)। जीवनके अन्तिम क्षणमें निर्वाण प्राप्त किया (२२/६८)।

सुख—सुख दो प्रकारका होता है—लौकिक व अलौकिक। लौकिक सुख विषय जनित होनेसे सर्वपरिचित है पर अलौकिक सुख इन्द्रियातीत होनेसे केवल विरागीजनोंको ही होता है। उसके सामने लौकिक सुख दुःख रूप ही भासता है। मोक्षमें विकल्पात्मक ज्ञान व इन्द्रियोंका अभाव हो जानेके कारण यद्यपि सुखके भी अभावकी आशंका होती है, परन्तु केवलज्ञान द्वारा लोकालोकको युगपत् जानने रूप परमज्ञाता दृष्टा भाव रहनेसे वहाँ सुखकी सत्ता अवश्य स्वीकरणीय है, क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान ही वास्तवमें सुख है।

१. सामान्य व लौकिक सुख निर्देश

१. सुखके भेदोंका निर्देश

न. च. वृ./३८८ इंदियमणस्स पसमज आदत्थं तहय सोक्ख चउभेयं। ।३८९। —सुख चार प्रकारका है—इन्द्रियज, मनोत्पन्न, प्रशमसे उत्पन्न और आत्मोत्पन्न।

न. च. वृ./१४ पर फुटनोट—इन्द्रियजमतीन्द्रियं चेति सुखस्य द्वौ भेदौ। —इन्द्रियज और अतीन्द्रियज ऐसे सुखके दो भेद हैं।

त. सा./८/४७ लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते। विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ।४७। —जगत्में सुख शब्दके चार अर्थ माने जाते हैं—विषय, वेदनाका अभाव, पुण्यकर्मका फल प्राप्त होना, मुक्त हो जाना।

२. लौकिक सुखका लक्षण

स. सि./४/२०/२५१/८ सुखमिन्द्रियार्थानुभवः।

स. सि./५/२०/२८८/१२ सदसद्वेद्योदयेऽन्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादिपरिपाकनिमित्तवशादुत्पद्यमानः प्रीतिपरितापरूपः परिणामः सुखदुःखमित्याख्यायते। —इन्द्रियोंके विषयोंके अनुभव करनेको सुख कहते है (रा. वा./४/२०/३/२३५/१५) साता और असाता रूप अन्तरंग परिणामके रहते हुए बाह्य द्रव्यादिके परिपाकके निमित्तसे जो प्रीति और परिताप रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं वे सुख और दुःख कहे जाते हैं। (रा. वा./५/२०/१/४७४/२२); (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०६२/१५)।

न्या. वि./वृ./१/११५/४२९/२० पर उद्धृत-सुखमाह्लादनाकारम्। —सुख आह्लाद रूप होता है।

ध. १३/५,४,२४/५१/४ किलक्खणमेत्थसुहं। सयलबाहाविरहलक्खणं। —सर्व प्रकारकी बाधाओंका दूर होना, यही प्रकृतमें (ईर्यापथ आस्रवके प्रकरणमें) उसका (सुखका) लक्षण है।

ध. १३/५,५,६३/३३४/४ इट्ठत्थसमागमो अणिट्ठत्थविओगो च सुह णाम। —इष्ट अर्थके समागम और अनिष्ट अर्थके वियोगका नाम सुख है।

त. सा /८/४८-४९ सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते। दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते।४८। पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम्।…।४९। —१ शीत ऋतुमें अग्निका स्पर्श और ग्रीष्म ऋतुमें हवाका स्पर्श सुखकर होता है। २. प्रथम किसी प्रकारका दुःख अथवा क्लेश हो रहा हो फिर उस दुःखका थोड़े समयके लिए अभाव हो जाये तो जीव मानता है मैं सुखी हो गया।४८। ३ पुण्यकर्मके विपाकसे इष्ट विषयकी प्राप्ति होनेसे जो सुखका संकल्प होता है, वह सुखका तीसरा अर्थ है।४९।

दे. वेदनीय/८ वेदनाका उपशान्त होना, अथवा उत्पन्न न होना, अथवा दुःखोपशान्तिके द्रव्योंकी उपलब्धि होना सुख है।

२. लौकिक सुख वास्तवमें दुःख है

भ. आ./मू./१२४८-१२४९ भोगोवभोगसोक्खं जं जं दुक्खं च भोगणासम्मि। एदेसु भोगणासे जातं दुक्खं पडिविसिट्ठं।१२४८। देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं। दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चेव सोक्खं खु।१२४९। —भोगसाधनात्मक इन भोगोंका वियोग होनेसे जो दुःख उत्पन्न होता है तथा भोगोपभोगसे जो सुख मिलता है, इन दोनोंमें दुःख ही अधिक समझना।१२४८। यह देह भूख, प्यास, शीत, उष्ण और रोगोंसे पीड़ित होता है, तथा अनित्य भी ऐसे देहमें आसक्त होनेसे कितना सुख प्राप्त होगा। अल्पतर सुखकी प्राप्ति होगी। दुःख निवारण होना अथवा दुःखकी कमी होना ही सुख है, ऐसा संसारमें माना जाता है।१२४९।

प्र. सा /मू./६४, ७६—जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं। जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं।६४। सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं। जं इंदियेहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।७६।—जिन्हें विषयोंमें रति है उन्हें दुःख स्वाभाविक जानो, क्योंकि यदि वह दुःख स्वभाव न हो तो विषयार्थमें व्यापार न हो।६४। जो इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है वह सुख परसम्बन्धयुक्त, बाधासहित विच्छिन्न, बन्धका कारण और विषम है, इस प्रकार वह दुःख ही है। (यो. सा. अ./३/३५); (पं. ध./उ./२४५)।

स्व. स्तो./३ शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं-तृष्णामयाप्यायन-मात्रहेतुः। तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः।३। —आपने पीड़ित जगत्को उसके दुःखका निदान बताया है कि—इन्द्रिय विषय बिजलीकी चमकके समान चंचल है, तृष्णा रूपी रोगकी वृद्धिका एकमात्र हेतु है, तृष्णाकी अभिवृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है, और वह ताप जगत्को अनेक दुःख परम्परासे पीड़ित करता है। (स्व. स्तो./२०,३१, ८२)।

इ.उ./मू./६ वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनाम्। तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि।६। —संसारी जीवोंका इन्द्रिय सुख वासना मात्रसे जनित होनेके कारण दुःखरूप ही है, क्योंकि आपत्ति कालमें रोग जिस प्रकार चित्तमें उद्वेग उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार भोग भी उद्वेग करनेवाले हैं।६।

प्र. सा /त. प्र./११,६३ शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति।११। तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु विषयेषु रतिरुपजायते। ततो व्याधिस्थानीयत्वादिन्द्रियाणां व्याधिसात्म्यसमत्वाद्विषयाणां च छद्मस्थानां न पारमार्थिकं सौख्यम्।६३। —जैसे अग्निसे गर्म किया हुआ घी किसी मनुष्य पर गिर जावे तो वह उसकी जलनसे दुःखी होता है, उसी प्रकार स्वर्गके सुखरूप बन्धको प्राप्त होता है। अर्थात् स्वर्ग ऐन्द्रियक सुख-दुःख ही है।११। दुःखके वेगको सहन न कर सकनेके कारण उन्हें (संसारी जीवोंको) रम्य विषयोंमें रति उत्पन्न होती है। इसलिए इन्द्रिय व्याधिके समान होनेसे और विषय व्याधि प्रतिकारके समान होनेसे छद्मस्थोंके पारमार्थिक सुख नहीं है।६३।

यो. सा./अ./३/३६ सांसारिकं सुखं सर्वं दुःखतो न विशिष्यते। यो नैव बुध्यते मूढः स चारित्री न भण्यते।३६। —सांसारिक सुख-दुःख ही है, सांसारिक सुख व दुःखमें कोई विशेषता नहीं है। किन्तु मूढ़ प्राणी इसमें भेद मानता है वह चारित्र स्वरूप नहीं कहा जाता।३६। (प. वि./४/७३)।

का. अ./मू./६१ देवाणं पि य सुक्खं मणहर-विसएहिं कीरदे जदि हि। विसय-वसं जं सुक्खं दुक्खस्स वि कारणं तं पि।६१। —देवोंका सुख मनोहर विषयोंसे उत्पन्न होता है, तो जो सुख विषयोंके अधीन है वह दुःखका भी कारण है।६१।

दे. परिग्रह /५/३ परिग्रह दुःख व दुःखका कारण है।

पं. ध./२३८ ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्। न तत्सुखं सुखाभासं किंतु दुःखमसंशयम्।२३८। —जो लौकिक सुख है, वह सब इन्द्रिय विषयक माना जाता है, इसलिए वह सब केवल सुखाभास ही नहीं है, किन्तु निस्सन्देह दुःखरूप भी है।२३८।

४. लौकिक सुखको दुःख कहनेका कारण

स. सि./७/१०/३४९/३ ननु च तत्सर्वं न दुःखमेव; विषयरतिसुखसद्भावात्। न तत्सुखम्; वेदनाप्रतीकारत्वात्कच्छूकण्डूयनवत्। —प्रश्न—ये हिंसादि सबके सब केवल दुःखरूप ही हैं, यह बात नहीं है, क्योंकि विषयोंके सेवनमें सुख उपलब्ध होता है? उत्तर—विषयोंके सेवनसे जो सुखाभास होता है वह सुख नहीं है, किन्तु दादको खुजलानेके समान केवल वेदनाका प्रतिकारमात्र है।

५. लौकिक सुख शत्रु हैं

भ. आ./मू./१२७१ दुक्खं उप्पादिंता पुरिसा पुरिसस्स होदि जदि सत्तू। अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सत्तू किह ण हुंती।१२७१। —दुःख उत्पन्न करनेसे यदि पुरुष पुरुषके शत्रुके समान होते हैं, तो अतिशय दुःख देनेवाले इन्द्रिय सुख क्यों न शत्रु माने जायेंगे? (अर्थात् लौकिक सुख तो शत्रु हैं ही)।

६. विषयोंमें सुख-दुःखकी कल्पना रुचिके अधीन है

क. पा./१/१,१३-१४/§२२०/गा. १२०/२७२ तिक्ता च शीतलं तोयं पुत्रादिर्मुद्रिका-(मृद्वीका-) फलम्। निम्बक्षीरं ज्वरार्तस्य नीरोगस्य गुडादयः।१२०।

क. पा./१/१,१३-१४/§२२२/चूर्णसूत्र/२७४ 'संगह-ववहाराणं उजुसुदस्स च सव्वं दव्वं पेज्जं।' जं किंचि दव्वं णाम तं सव्वं पेज्जं चेव; कस्स वि जीवस्स कम्हि वि काले सव्वदव्वाणं पेज्जभावेण वट्टमाणाणमुवलंभादो। तं जहा, विसं पि पेज्जं, विसुप्पण्णजीवाणं कोढियाणं मरणमारणिच्छाणं च हिद-सुह-पियकारणत्तादो। एवं पत्थरतणिधणग्गिच्छुहाईणं जहासंभवेण पेज्जभावो वत्तव्वो।…विवेकमाणाणं हरिसुप्पायणेण तत्थ (परमाणुम्मि) पि पेज्जभावुवलंभादो। —१. पित्त ज्वर वालेको कुटकी हित द्रव्य है, प्यासेको ठण्डा पानी सुख रूप है, किसीको पुत्रादि प्रिय द्रव्य हैं, पित्त-ज्वरसे पीड़ित रोगीको नीम हित और प्रिय द्रव्य है. दूध सुख और प्रिय द्रव्य है। तथा नीरोग मनुष्यको गुड़ आदिक हित, सुख और प्रिय द्रव्य हैं।१२०। २. संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्रकी अपेक्षा समस्त द्रव्य पेज्जरूप हैं। जगमें जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब पेज्ज ही हैं, क्योंकि किसी न किसी जीवके किसी न किसी कालमें सभी द्रव्य पेज्जरूप पाये जाते हैं। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—विष भी पेज्ज है, क्योंकि विषमें उत्पन्न हुए

जीवोंके, कोढ़ी मनुष्योंके और मरने तथा मारनेकी इच्छा रखने वाले जीवोंके विष क्रमसे हित, सुख और प्रिय भावका कारण देखा जाता है। इसी प्रकार पत्थर, घास, ईंधन, अग्नि और सुधा आदिमें जहाँ जिस प्रकार पेज्ज भाव घटित हो वहाँ उस प्रकारसे पेज्ज भावका कथन कर लेना चाहिए। ...परमाणुको विशेष रूपसे जानने वाले पुरुषोंके परमाणु हर्षका उत्पादक है।

वे. राग/२/५ मोहके कारण ही पदार्थ इष्ट अनिष्ट है।

पं. ध./पू./५८३ सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम्। सति बहिरर्थेऽपि यतः किल केषांचिदसुखादिहेतुत्वात् ।५८३। –यहाँ पर यह संसारी सुख केवल वैषयिक है, तो भी पर विषयमें सापेक्ष नहीं है, क्योंकि निश्चयसे बाह्य पदार्थोंके होते हुए भी किन्हींको वे असुखादिके कारण होते हैं ।५८३।

७. मुक्त जीवोंको लौकिक सुख-दुःख नहीं होते

प्र. सा./मू./२० सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं। जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ।२०। –केवलज्ञानीके शरीर सम्बन्धी सुख या दुःख नहीं है, क्योंकि अतीन्द्रियता उत्पन्न हुई है, इसलिए ऐसा जानना चाहिए ।२०।

ध. १/१,१,३३/गा. १४०/२४८ ण वि इंदिय-करण-जुदा अवग्गहादीहि गाहया अत्थे। णेव य इंदिय-सोक्खा अणिंदियाणंत-णाण-सुहा ।१४०। –वे सिद्ध जीव इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं, और अवग्रहादि क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थोंका ग्रहण नहीं करते; उनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है। क्योंकि उनका अनन्त ज्ञान व सुख अनिन्द्रिय है ।१४०। (गो. जी./मू./१७४)।

स्या. म./८/८६/३ मोक्षावस्थायाम्, सुखं तु वैषयिकं तत्र नास्ति। –मोक्ष अवस्थामें वैषयिक सुख भी नहीं है।

८. लौकिक सुख बतानेका प्रयोजन

द्र. सं./टी./६/२३/१० अत्र यस्यैव स्वाभाविकसुखामृतस्य भोजनाभावादिन्द्रियसुखं भुञ्जानः सन् संसारे परिभ्रमति तदेवातीन्द्रियसुखं सर्वप्रकारेणोपादेयमित्यभिप्रायः। –यहाँ पर जिस स्वाभाविक सुखामृतके भोजनके अभावसे आत्मा इन्द्रियोंके सुखोंको भोगता हुआ संसारमें भ्रमण करता है, वही अतीन्द्रिय सुख सब प्रकारसे ग्रहण करने योग्य है, ऐसा अभिप्राय है।

९. सुख व दुःखमें कथंचित् क्रम व अक्रम

पं. ध./उ./३३३-३३५ न चैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत्। एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकान्तवादिनाम् ।३३३। अनेकान्तः प्रमाणं स्यादर्थादेकत्र वस्तुनि। गुणपर्याययोर्द्वैतात् गुणमुख्यव्यवस्थया ।३३४। अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरूपा स्यात्सुखदुखयोः। तदात्वे तन्न तद्द्वैतं द्वैतं चेद्द्रव्यतः क्वचित् ।३३५। –यह कहना ठीक नहीं कि एक आत्माके एक ही पदमें अनेकान्तवादियोंके अंगीकृत किसी एक दृष्टिसे सुखकी व्यक्ति और किसी एक दृष्टिसे दुःख भी रहता है ।३३३। वास्तवमें एक वस्तुमें गौण और मुख्यकी व्यवस्थासे गुण पर्यायोंमें द्वैत होनेके कारण अनेकान्त प्रमाण है ।३३४। परन्तु सुख और दुःखकी अभिव्यक्ति पर्यायरूप होती है इसलिए उस सुख और दुःखकी अवस्थामें वे दोनों युगपत् नहीं रह सकते। यदि उनमें युगपत् द्वैत रहता है तो दो भिन्न द्रव्योंमें रह सकता है पर्यायोंमें नहीं ।३३५।

२. अलौकिक सुख निर्देश

१. अलौकिक सुखका लक्षण

म. पु./४२/११९...मनसो निर्वृतिं सौख्यम् उशन्तीह विचक्षणाः ।११९। –पण्डित जन मनकी निराकुलताको ही सुख कहते हैं। (प्र. सा./त. प्र./५९)।

न. च. वृ./३९८...।...अनुभवनं भवत्यात्मार्थम् ।३९८। –आत्मार्थ सुख आत्मानुभव रूप है। (स्या. म./८/८६/१)।

त. सा./८/४६ कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम्। –कर्म जन्य क्लेशोंसे छूट जानेके कारण मोक्ष अवस्थामें जो सुख होता है, वह अनुपम सुख है।

यो. सा. यो./९७ वज्जिय सयल-वियप्पइं परम-समाहिं लहंति। जं विंदहिं साणंदु क वि सो सिव-सुक्ख भणंति ।९७। –जो समस्त विकल्पोंसे रहित होकर परम समाधिको प्राप्त करते हैं, वे आनन्द का अनुभव करते हैं, वह मोक्ष सुख कहा जाता है ।९७।

ज्ञा./२०/२४ अपास्य करणं ग्रामं यदात्मन्यात्मना स्वयम्। सेव्यते योगिभिस्तद्धि सुखमाध्यात्मिकं मतम् ।२४। –जो इन्द्रियोंके विषयोंके बिना ही अपने आत्मामें आत्मासे ही सेवन करनेमें आता है उसको ही योगीश्वरोंने आध्यात्मिक सुख कहा है ।२४।

२. अव्याबाध सुखका लक्षण

द्र. सं./टी./१४/४३/५ सहजशुद्धस्वरूपानुभवसमुत्पन्नरागादिविभावरहितसुखामृतस्य यदेकदेशसंवेदनं कृतं पूर्वं तस्यैव फलभूतमव्याबाधसुखं भण्यते। –स्वाभाविक शुद्ध आत्म स्वरूपके अनुभवसे उत्पन्न तथा रागादि विभावोंसे रहित सुखरूपी अमृतका जो एक देश अनुभव पहले किया था, उसीके फलस्वरूप अव्याबाध अनन्त-सुख गुण सिद्धोंमें कहा गया है।

३. अतीन्द्रिय सुखसे क्या तात्पर्य

स. सा./आ./४१५/५१०/७ हे भगवन्! अतीन्द्रियसुखं निरन्तरं व्याख्यातं भवद्भिस्तच्च जनैर्न ज्ञायते। भगवानाह—कोऽपि देवदत्तः स्त्रीसेवनाप्रभृतिपञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितप्रस्तावे निर्व्याकुलचित्तः तिष्ठति, स केनापि पृष्टः भो देवदत्त! सुखेन तिष्ठसि त्वमिति। तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमतीन्द्रियम्।...यत्पुनः...समस्तविकल्पजालरहितानां समाधिस्थपरमयोगिनां स्वसंवेदनगम्यमतीन्द्रियसुखं तद्विशेषेणेति। यच्च मुक्तात्मनामतीन्द्रियसुखं तदनुमानगम्यमागमगम्यं च। –प्रश्न—हे भगवन्! आपने निरन्तर अतीन्द्रिय ऐसे मोक्ष सुखका वर्णन किया है, सो ये जगत्‌के प्राणी अतीन्द्रिय सुखको नहीं जानते हैं? इन्द्रिय सुखको ही सुख मानते हैं? उत्तर—जैसे कोई एक देवदत्त नामक व्यक्ति, स्त्री सेवन आदि पंचेन्द्रिय व्यापारसे रहित, व्याकुल रहित चित्त अकेला स्थित है उस समय उससे किसीने पूछा कि हे देवदत्त, तुम सुखी हो, तब उसने कहा कि हाँ सुखसे हूँ। सो यह सुख अतीन्द्रिय है। (क्योंकि उस समय कोई भी इन्द्रिय विषय भोगा नहीं जा रहा है।) ...और जो समस्त विकल्प जालसे रहित परम समाधिमें स्थित परम योगियोंके निर्विकल्प स्वसंवेदनगम्य वह अतीन्द्रिय सुख विशेषतासे होता है। और जो मुक्त आत्माके अतीन्द्रिय सुख होता है, वह अनुमानसे तथा आगमसे जाना जाता है। (प. प्र./टी./२/६)।

४. सुख वहाँ है जहाँ दुःख न हो

आ. अनु./४६ स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम्। ... ।४६। –धर्म वह है जिसके होने पर अधर्म न हो, सुख वह है जिसके होने पर दुःख न हो...।

पं. ध./उ./२४४ नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नासुखम्। स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाशुभम् ।२४४। –ऐहिक सुख नहीं है, क्योंकि वास्तवमें वही सुख है, जहाँ दुःख नहीं, वही धर्म है जहाँ अधर्म नहीं है, वही शुभ है जहाँ पर अशुभ नहीं है।

५. ज्ञान ही वास्तवमें सुख है

प्र. सा./मू./६० जं केवलं त्ति णाणं तं सोक्खं परिणामं च सो चेव। खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा।६०। —जो 'केवल' नामका ज्ञान है, वह सुख है, परिणाम भी वही है। उसे खेद नहीं कहा गया है, क्योंकि घाती कर्म क्षयको प्राप्त हुए हैं।६०।

स. सि./१०/४/४६८/१३ ज्ञानमयत्वाच्च सुखस्येति। —सुख ज्ञानमय होता है।

६. अलौकिक सुखमें लौकिकसे अनन्तपने की कल्पना

भ. आ./मू./२१४८-२१५१ देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति। सहरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए।२१४८। अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे। तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज।२१४९। जं सव्वे देवगणा अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति। तत्तो वि अणंतगुणं अव्वाबाहं सुहं तस्स।२१५०। तिसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं। सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमित्तसोक्खेण।२१५१। —स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द इत्यादिकोंसे जो सुख देवेन्द्र चक्रवर्ती वगैरहको प्राप्त होता है, जो कि इस लोकमें श्रेष्ठ माना जाता है, वह सुख सिद्धोंके सुखका अनन्तवाँ हिस्सा है, सिद्धोंका सुख बाधा रहित है, वह उनको लोकाग्रमें प्राप्त होता है।२१४८-२१४९। अप्सराओंके साथ जिस सुखका देवगण अनुभव करते हैं, सिद्धोंका सुख उससे अनन्त गुणित है, और बाधा रहित है।२१५०। तीन कालमें मनुष्य, तिर्यंच और देवोंको जो सुख मिलता है वे सब मिलकर भी सिद्धके एक क्षणके सुखकी भी बराबरी नहीं करते।२१५१। (ज्ञा./४२/६४-६८)

मू. आ./११४४ जं च कामसुहं लोए जं च दिव्वमहासुहं। वीतराग-सुहस्सेदे णंतभागंपि णग्घई।११४४। —लोकमें विषयोंसे जो उत्पन्न सुख है, और जो स्वर्गमें महा सुख है, वे सब वीतराग सुखके अनन्तवें भागकी भी समानता नहीं कर सकते हैं।११४४। (ध. १३/५,४,२४/गा. ५/५१)

प. प्र./मू./१/११७ जं मुणि लहइ अणंत-सुहु णिय अप्पा झायंतु। तं सुह इंद वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमंतु।११७। —अपनी आत्मा-को ध्यावता परम मुनि जो अनन्तसुख पाता है, उस सुखको इन्द्र भी करोड़ देवियोंके साथ रहता हुआ नहीं पाता।११७।

ज्ञा./२१/३ यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम्। न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः।३। —जो सुख वीतराग मुनिके प्रशमरूप विशुद्धता पूर्वक है उसका अनन्तवाँ भाग भी इन्द्रको प्राप्त नहीं होता है।३।

त्रि. सा./५६० चक्किकुरुफणिसुरिंददेवहमिंदे जं सुहं तिकालभवं। तत्तो अणंतगुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि।५६०। —चक्रवर्ती, भोगभूमिज, धरणेन्द्र, देवेन्द्र और अहमिन्द्रके: इनके क्रमशः अनन्तगुणा अनन्तगुण सुख है। इन सबका त्रिकालमें होने वाला अनन्त सुख एकत्रित करने पर भी सिद्धोंके एक क्षणमें होने वाला सुख अनन्त गुणा है।५६०। (मो. पा./टी./१२/८२ पर उद्धृत)

७. छद्मस्थ अवस्थामें भी अलौकिक सुखका वेदन होता है

दे. अनुभव/४/३ आत्मरत होने पर तेरे अवश्यमेव वचनके अगोचर अनन्त सुख होगा।

प. प्र./मू./१/११८ अप्पा दंसणि जिणवरहँ जं सुहु होइ अणंतु। तं सुहु लहइ विराउ जिउ जाणंतउ सिउ संतु।११८। —शुद्धात्माके दर्शनमें जो अनन्त सुख जिनेश्वर देवोंके होता है, वह सुख वीतराग भावनासे परिणत हुआ मुनिराज निजशुद्धात्मस्वभावको तथा रागादि रहित शान्त भावको जानता हुआ पाता है।११८।

न. च. वृ./४०३ सोक्खं च परमसोक्खं जीवे चारित्तसंजुदे दिट्ठं। बट्टइ तं जइवग्गे अणवरयं भावणालीणे।४०३। —चारित्रसे संयुक्त तथा भावना लीन यतिवर्गमें निरन्तर परम सुख देखा जाता है।

पं. वि./२३/३ एकत्वस्थितये मतिर्यदनिशं संजायते मे तयाप्यानन्दः परमात्मसंनिधिगतः किंचित्समुन्मीलति। किंचित्कालमवाप्य सैव सकलैः शीलैर्गुणैराश्रिता। तामानन्दकलां विशालविलसद्बोधां करिष्यत्यसौ।३। —एकत्वकी स्थितिके लिए जो मेरी निरन्तर बुद्धि होती है, उसके निमित्तसे परमात्माकी समीपताको प्राप्त हुआ आनन्द कुछ थोड़ा सा प्रकट होता है। वही बुद्धि कुछ काल प्राप्त होकर समस्त शीलों और गुणोंके आधारभूत एवं प्रकट हुए उस विपुल ज्ञानसे सम्पन्न आनन्दकलाको उत्पन्न करेगी।३।

स्या. म./८/८७/२५ इहापि विषयनिवृत्तिजं सुखमनुभवसिद्धमेव। —संसार अवस्थामें भी विषयोंकी निवृत्तिसे उत्पन्न होने वाला सुख अनुभवसे सिद्ध है।

प. प्र./टी./१/११८ दीक्षाकाले···स्वशुद्धात्मानुभवने यत्सुखं भवति जिनवराणां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतौ जीवरतत्सुखं लभत इति। —दीक्षाके समय तीर्थंकर देव निज शुद्ध आत्माको अनुभवते हुए जो निर्विकल्प सुखको पाते हैं, वही सुख रागादि रहित निर्विकल्प समाधिमें लीन विरक्त मुनि पाते हैं। (और भी दे. सुख/२/१०)

८. सिद्धोंके अनन्त सुखका सद्भाव है

रा. वा./१०/४/१०/६४३/१८ यस्य हि मूर्तिरस्ति तस्य तत्पूर्वक प्रीतिपरितापसंबन्ध स्यात, न चामूर्तानां मुक्तानां जन्ममरणद्वन्द्वोपनिपात-व्याबाधास्ति, अतो निर्व्याबाधत्वात् परमसुखिनस्ते। —मूर्त अवस्थामें ही प्रीति और परितापकी सम्भावना थी। परन्तु अमूर्त ऐसे मुक्त जीवोंके जन्म, मरण आदि द्वन्द्वोंकी बाधा नहीं है। पर सिद्ध अवस्था होनेसे वे परम सुखी हैं।

ध. १/१,१,१/गा. ४६/५८ अदिसयमाद-समुत्थं विसयादीदं अणोवम-मणंतं। अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवजोगो य सिद्धाणं।४६। —अति-शय रूप आत्मासे उत्पन्न हुआ, विषयोंसे रहित, अनुपम, अनन्त और विच्छेद रहित सुख तथा शुद्धोपयोग सिद्धोंके होता है।४६।

ध. १/१,१,३३/गा. १४०/२४८ णेव य इंदियसोक्खा अणिदियाणंत-णाण-सुहा।१४०। —सिद्ध जीवोंके इन्द्रिय सुख भी नहीं हैं, क्योंकि उनका अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अनिन्द्रिय है। (गो. जी./मू./१७४)

त. सा./८/४५ संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्। अव्याबाध-मिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः।४५। —सिद्धोंका सुख संसारके विषयों-से अतीत, स्वाधीन, तथा अव्यय होता है। उस अविनाशी सुखको अव्याबाध कहते हैं।४५।

स्या. म./८/८६/३ पर उद्धृत श्लोक—सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमती-न्द्रियम्। तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभिः। —जिस अवस्थामें इन्द्रियोंसे बाह्य केवल बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य आत्यन्तिक सुख विद्यमान है वही मोक्ष है।

स्या. म./८/८१/४ मोक्षे निरतिशयक्षयमनपेक्षमनन्तं च सुखं तद् बाढं विद्यते। —निरतिशय, अक्षय और अनन्त सुख मोक्षमें विद्यमान है।

९. सिद्धोंका सुख दुःखाभाव मात्र नहीं है

ध. १३/५,५,११/२०८/८ किमेत्थ सुहमिदि घेप्पदे। दुक्खुवसमो सुहं णाम। दुक्खक्खओ सुहमिदि किण्ण घेप्पदे। ण, तस्स कम्मक्खएणु-प्पज्जमाणस्स जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। —प्रश्न—प्रकृत-में (वेदनीयकर्म जन्य सुख प्रकरणमें) सुख शब्दका क्या अर्थ लिया गया है? उत्तर—प्रकृतमें दुःखके उपशम रूप सुख लिया गया है। प्रश्न—दुःखका क्षय सुख है, ऐसा क्यों नहीं ग्रहण करते? उत्तर-नहीं,

क्योंकि, वह कर्मके क्षयसे उत्पन्न होता है। तथा वह जीवका स्वभाव है, अतः उसे कर्म जनित माननेमें विरोध आता है।

स्या. म./८/८६/५ न चायं सुखशब्दो दुःखाभावमात्रे वर्तते। मुख्यसुखवाच्यतायां बाधकाभावात्। अयं रोगाद्विप्रमुक्तः सुखी जात इत्यादिवाक्येषु च सुखीति प्रयोगस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गाच्च। दुःखाभावमात्रस्य रोगाद्विप्रमुक्त इतीयतैव गतत्वात्। न च भवदुदीरितो मोक्षः पुंसामुपादेयतया संमतः। को हि नाम शिलाकल्पमपगतसकलसुखसंवेदनमात्मानमुपपादयितुं यतेत। दुःखसंवेदनरूपत्वादस्य सुखदुःखयोरेकस्याभावेऽपरस्यावश्यंभावात्। अत एव त्वदुपहासः श्रूयते– वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम्। न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति। –यहाँ पर (मोक्षमें) सुखका अर्थ केवल दुःखका अभाव ही नहीं है। यदि सुखका अर्थ केवल दुःखका अभाव हो किया जाये, तो 'यह रोगी रोग रहित होकर सुखी हुआ है' आदि वाक्योंमें पुनरुक्ति दोष आना चाहिए। क्योंकि उक्त सम्पूर्ण वाक्य न कहकर 'यह रोगी रोग रहित हुआ है', इतना कहनेसे ही काम चल जाता है। तथा शिलाके समान सम्पूर्ण सुखोंके संवेदनसे रहित वैशेषिकोंकी मुक्तिको प्राप्त करनेका कौन प्रयत्न करेगा। क्योंकि वैशेषिकोंके अनुसार पाषाणकी तरह मुक्त जीव भी सुखके अनुभवसे रहित होते हैं। अतएव सुखका इच्छुक कोई भी प्राणी वैशेषिकोंकी मुक्तिकी इच्छा न करेगा। तथा यदि मोक्षमें सुखका अभाव हो, तो मोक्ष दुःख रूप होना चाहिए। क्योंकि सुख और दुःखमें एकका अभाव होने पर दूसरेका सद्भाव अवश्य रहता है। कुछ लोगोंने वैशेषिकोंकी मुक्तिका उपहास करते हुए कहा है, "गौतम ऋषि वैशेषिकोंकी मुक्ति प्राप्त करनेकी अपेक्षा वृन्दावनमें शृगाल होकर रहना अच्छा समझते हैं।"

रा. वा./१०/४/१४/उद्धृत श्लो० २४-२९/६४० "स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः। कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्यत्र मे शृणु ।२४। लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते। विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ।२५। सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते। दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते ।२६। पुण्यकर्म विपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम्। कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ।२७। सुषुप्तावस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम्। तदयुक्तं क्रियावत्त्वात् सुखानुशयतस्तथा ।२८। श्रमक्लममदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात्। मोहोत्पत्तिविपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः। –प्रश्न–अशरीरी नष्ट अष्टकर्मा मुक्त जीवके कैसे क्या सुख होता होगा? उत्तर–लोकमें सुख शब्दका प्रयोग विषय वेदना का अभाव, विपाक, कर्मफल और मोक्ष इन चार अर्थों में देखा जाता है। 'अग्नि सुखकर है, वायु सुखकारी है।' इत्यादिमें सुख शब्द विषयार्थक है। रोग आदि दुःखोंके अभावमें भी पुरुष 'मैं सुखी हूँ' यह समझता है। पुण्य कर्मके विपाकसे इष्ट इन्द्रिय विषयोंसे सुखानुभूति होती है और क्लेशके विमोक्षसे मोक्ष का अनुपम सुख प्राप्त होता है।२३-२७। कोई इस सुखको सुषुप्त अवस्थाके समान मानते हैं, पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें सुखानुभव रूप क्रिया होती है और सुषुप्त अवस्था तो दर्शनावरणी कर्मके उदयसे श्रम, क्लम, मद, व्याधि, काम आदि निमित्तोंसे उत्पन्न होती है और मोह विकार रूप है।२८-२९।

१०. सिद्धोंमें सुखके अस्तित्व की सिद्धि

आ. अनु./२६७ स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम्। स्वाधीनसुखसंपन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् –तपस्वी जो स्वाधीनता पूर्वक कायक्लेश आदिके कष्टको सहते हैं वह भी जब उनको सुखकर प्रतीत होता है, तब फिर जो सिद्ध स्वाधीन सुखसे सम्पन्न हैं वे सुखी कैसे न होंगे अर्थात् अवश्य होंगे।

दे. सुख/२/३ इन्द्रिय व्यापारसे रहित समाधिमें स्थित योगियोंको वर्तमानमें सुख अनुभव होता है और सिद्धोंको सुख अनुमान और आगमसे जाना जाता है।

पं. ध/उ०/३४८ अस्ति शुद्धं सुखं ज्ञानं सर्वतः कस्यचिद्यथा। देशतोऽप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं वत द्वयोः ।३४८। –जैसे किसी जीवके सर्वथा सुख और ज्ञान होने चाहिए क्योंकि खेद है कि हम लोगोंके भी उन शुद्ध सुख तथा ज्ञानका एकदेश रूपसे अनुभव मात्र पाया जाता है। (अर्थात् जब हम लोगोंमें शुद्ध सुख का स्वादमात्र पाया जाता है तो अनुमान है किसीमें इनकी पूर्णता अवश्य होनी चाहिए)।३४८।

११. कर्मोंके अभावमें सुख भी नष्ट क्यों नहीं होता

ध. ६/३५-३६/४ सुह दुक्खाइं कम्मेहिंतो होंति, तो कम्मेसु विणट्ठेसु सुह-दुक्खवज्जिएण जीवेण होदव्वं। जं किं पि दुक्खं णाम तं असादावेदणीयादो होदि, तस्स जीवसरूवत्ताभावा।...सुहं पुण ण कम्मादो उप्पज्जदि,...ण सादावेदणीयाभावो वि, दुक्खुवसमहेउसुदव्वसंपादणे तस्स वावारादो। –प्रश्न–यदि सुख और दुःख कर्मोंसे होते हैं तो कर्मोंके विनष्ट हो जाने पर जीवको सुख और दुःखसे रहित हो जाना चाहिए? उत्तर–दुःख नामकी जो कोई भी वस्तु है वह असाता वेदनीय कर्मके उदयसे होती है, क्योंकि वह जीवका स्वरूप नहीं है।...किन्तु सुख कर्मसे उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि वह जीवका स्वभाव है।...सुखको जीवका स्वभाव मानने पर साता वेदनीय कर्मका अभाव भी प्राप्त नहीं होता, क्योंकि, दुःख उपशमन के कारणभूत सुद्रव्योंके सम्पादनमें साता वेदनीय कर्मका व्यापार होता है।

१२. इन्द्रियोंके बिना सुख कैसे सम्भव है

द्र. सं./टी./३७/१५५/४ इन्द्रियसुखमेव सुखं, मुक्तात्मनामिन्द्रियशरीराभावे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुखं कथं घटत इति। सांसारिकसुखं तावत् स्त्रीसेवनादि पञ्चेन्द्रियविषयप्रभवमेव, यत्पुनः पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितानां निर्व्याकुलचित्तानां पुरुषाणां सुखं तदतीन्द्रियसुखमत्रैव दृश्यते।...निर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिनां रागादिरहितत्वेन स्वसंवेद्यमात्मसुखं तद्विशेषेणातीन्द्रियम्। –प्रश्न–जो इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है वही सुख है, सिद्ध जीवोंके इन्द्रियों तथा शरीरका अभाव है, इस लिए पूर्वोक्त अतीन्द्रिय सुख सिद्धोंके कैसे हो सकता है? उत्तर–संसारी सुख तो स्त्रीसेवनादि पाँचों इन्द्रियोंसे ही उत्पन्न होता है, किन्तु पाँचों इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित तथा निर्व्याकुल चित्त वाले पुरुषोंको जो उत्तम सुख है वह अतीन्द्रिय है। वह इस लोकमें भी देखा जाता है।...निर्विकल्प ध्यानमें स्थित परम योगियोंके रागादिके अभावसे जो स्वसंवेद्य आत्मिक सुख है, वह विशेष रूपसे अतीन्द्रिय है।

प्र. सा./मू./६५ पप्पा इट्ठे विसये फासेहि समस्सिदे सहावेण। परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ।६५। –स्पर्शादिक इन्द्रियाँ जिसका आश्रय लेती हैं, ऐसे इष्ट विषयोंको पाकर (अपने अशुद्ध) स्वभावसे परिणमन करता हुआ आत्मा स्वयं ही सुख रूप होता है। देह सुख रूप नहीं होती। (त. सा./८/४२-४५)

दे. प्रत्यक्ष/२/४ में. प्र. सा. यह आत्मा स्वयमेव अनाकुलता लक्षण सुख होकर परिणमित होता है। यह आत्माका स्वभाव ही है।

त. अनु०/२४१-२४६ ननु चाक्षैस्तदर्थानामनु भोक्तुः सुखं भवेत्। अतीन्द्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृशं सुखम् ।२४०। इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मतं यतः। नाद्यापि वत्स! त्वं वेत्सि स्वरूपं सुखदुःखयोः ।२४१। आत्मायत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरम्। घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ।२४२। तन्मोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यत्सुखम्। यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृम्भितम् ।२७५। यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसाम्। कलयापि न तत्तुल्यं

सुखस्य परमात्मनाम् ।२४६। —प्रश्न—सुख तो इन्द्रियोंके द्वारा उनके विषय भोगनेवालेके होता है, इन्द्रियोंसे रहित मुक्त जीवोंके वह सुख कैसे ? उत्तर—हे वत्स, तू जो मोहसे ऐसा मानता है वह तेरी मान्यता ठीक अथवा कल्याणकारी नहीं है क्योंकि तूने अभी तक (वास्तवमें) सुख-दुःखके स्वरूपको ही नहीं समझा है। (२४०-२४१) जो घातिया कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत हुआ है, स्वात्माधीन है, निराबाध है, अतीन्द्रिय है, और अनश्वर है, उसको मोक्ष सुख कहते हैं ।२४२। इन्द्रिय विषयों से जो सुख माना जाता है वह मोहका ही माहात्म्य है। पटोल (कटु वस्तु) भी जिसे मधुर मालूम होती है तो वह उसके श्लेष्मा (कफ) का माहात्म्य है। ऐसा समझना चाहिए ।२४३। जो सुख यहाँ चक्री को प्राप्त है और जो सुख देवों को प्राप्त है वह परमात्माओंके सुखकी एक कलाके (बहुत छोटे अंशके) बराबर भी नहीं है ।२४४।

त्रि. सा./५५६ एयं सत्थं सव्वं वा सम्ममेत्थ जाणंता। तिव्वं तुस्संति णरा किण्ण समत्थत्थतच्चण्हू ।५५६। —एक शास्त्र को सम्यक् प्रकार जानते हुए इस लोकमें मनुष्य तीव्र सन्तोष को प्राप्त करते हैं, तो समस्त तत्त्व स्वरूपके ज्ञायक सिद्ध भगवन्त कैसे सन्तोष नहीं पावेंगे ? अर्थात् पाते ही हैं ।५५६। (बो. पा./टी./१२/८२ पर उद्धृत)

पं. ध./उ./श्लोक नं. ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धपरमात्मनि। तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयते कथम् ।३४६। ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ। देहेन्द्रियाद्यभावेऽपि नाभावस्तद्द्वयोरिति ।३४६। ततः सिद्धं शरीरस्य पञ्चाक्षाणां तदर्थसात्। अस्त्यकिंचित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखं प्रति ।३५६। —प्रश्न—यदि परमात्मामें देह और इन्द्रियोंका अभाव प्रसिद्ध है तो फिर परमात्माके शरीर तथा इन्द्रियोंके अभावमें सुख और ज्ञान कैसे कहे जा सकते हैं ।३४६। उत्तर—आत्माके ज्ञान और सुख नित्य तथा द्रव्यके अनुजीवी गुण हैं, इसलिए परमात्माके देह और इन्द्रियके अभावमें भी दोनों (ज्ञान और सुख) का अभाव नहीं कहा जा सकता है ।३४६। इसलिए सिद्ध होता है कि आत्माके इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुखके प्रति शरीरको पाँचों ही इन्द्रियोंको तथा इन्द्रियविषयोंको अकिंचित्करत्व है ।३५६।

१३. अलौकिक सुखकी श्रेष्ठता

भ. आ./मू./१२६६-१२७०/१२२५ अप्पायत्ता अज्झप्परदी भोगरमणं परायत्तं। भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण ।१२६६। भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा। अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ।१२७०। —स्वात्मानुभवमें रति करनेके लिए अन्य द्रव्यकी अपेक्षा नहीं रहती है, भोग रतिमें अन्य पदार्थोंका आश्रय लेना पड़ता है। अत. इन दोनों रतियोंमें साम्य नहीं है। भोगरतिसे आत्मा च्युत होनेपर भी अध्यात्म रतिसे भ्रष्ट नहीं होता, अत. इस हेतुसे भी अध्यात्म रति भोग रतिसे श्रेष्ठ है ।१२६६। भोगरतिका सेवन करनेसे नियमसे आत्माका नाश होता है, तथा इस रतिमें अनेक विघ्न भी आते हैं। परन्तु अध्यात्म रतिका उत्कृष्ट अभ्यास करनेपर आत्मा नाश भी नहीं होता और विघ्न भी नहीं आते। अथवा भोगरति नश्वर तथा विघ्नोंसे युक्त है, पर अध्यात्म रति अविनश्वर और निर्विघ्न है।

१४. अलौकिक सुख प्राप्तिका उपाय

स.श./मू./४१ आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति। —शरीरादिमें आत्मबुद्धिसे उत्पन्न दुःख आत्मस्वरूपके अनुभव करनेसे शान्त हो जाता है।

आ. अनु./१८६-१८७ हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम्। तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात्सर्वदा सुधीः ।१८६। सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते। सुखं सकलसंन्यासो दुःखं तस्य विपर्ययः ।१८७। —इष्ट वस्तुकी हानिसे शोक और फिर उससे दुःख होता है तथा उसके लाभसे राग और फिर उससे सुख होता है। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यको इष्टकी हानिमें शोकसे रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिए ।१८६। जो प्राणी इस लोकमें सुखी है, वह परलोकमें सुखको प्राप्त होता है, जो इस लोकमें दुःखी है वह परलोकमें दुःखको प्राप्त होता है। कारण कि समस्त इन्द्रिय विषयोंसे विरक्त हो जानेका नाम सुख और उनमें आसक्त होनेका नाम दुःख है ।१८७।

दे. सुख/२/३ वीतराग भावमें स्थिति पानेसे साम्यरस रूप अतीन्द्रिय सुखका वेदन होता है।

सुखकारण व्रत—जिस-किसी मासमें प्रारम्भ करके एक उपवास एक पारणा क्रमसे ४½ महीने तक ६८ उपवास करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ८४); (किशन सिंह क्रियाकोष)

सुखदुःखोपसंयत—दे. समाचार।

सुखबोध—पं. योगदेव भट्टारक (वि. श. १६-१७) कृत तत्त्वार्थ वृत्ति जो सर्वार्थसिद्धि का संक्षिप्तीकरण मात्र है। (जै./२/१६८)।

सुखमा काल—दे. काल/४।

सुख शक्ति—स. सा./आ./परि./शक्ति ५ अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः। —आकुलतासे रहितपना जिसका लक्षण है, ऐसी सुख शक्ति है।

सुखसंपत्ति व्रत—इस व्रतकी विधि तीन प्रकारसे कही है—उत्तम, मध्यम व जघन्य। उत्तमविधि—१५ महीने तक १ पडिमा, २ दोज, ३ तीज, ४ चौथ, ५ पंचमी, ६ छठ, ७ सप्तमी, ८ अष्टमी, ९ नवमी, १० दशमी, ११ एकादशी, १२ द्वादशी, १३ त्रयोदशी, १४ चतुर्दशी, १५ पूर्णिमा, १५ अमावस्या; इस प्रकार कुल १३५ दिनके लगातार १३५ उपवास उन तिथियोंमें पूरे करे। (व्रत. वि. सं. में १३५ के बजाय १२० उपवास बताये हैं, क्योंकि वहाँ पन्द्रहका विकल्प एक बार लिया है। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (वसु. श्रा. ३६८-३७२), (व्रत विधान सं./पृ. ६६) (किशनसिंह क्रियाकोष) मध्यमविधि—उपरोक्त ही १२० उपवास तिथियोंसे निरपेक्ष पाँच वर्षमें केवल प्रतिमासकी पूर्णिमा और अमावस्याको पूरे करे तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./६७) (किशनसिंह क्रियाकोष) जघन्यविधि—जिस किसी भी मास कृ. १ से शु. १ तक १६ उपवास लगातार करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रतविधान सं./पृ. ६७); (किशनसिंह क्रियाकोष)।

सुखानुबंध—स. सि./७/३७/३७२/६ अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः। —अनुभवमें आये हुए विविध सुखोंका पुनः पुनः स्मरण करना सुखानुबन्ध है। (रा. वा./७/३७/६/५५९/७)

रा. वा./हि./७/३७/५८१ पूर्वे सुख भोगे थे तिनि सूं प्रीति विशेषके निमित्त तै बार-बार याद करना तथा वर्तमानमें सुख ही चाहना सो सुखानुबन्ध है।

सुखावह—अपर विदेहस्थ एक वक्षार, उसका एक कूट तथा उस कूटका स्वामी देव—दे. लोक./५/३।

सुखासन—दे. आसन।

सुखोदय क्रिया—दे. संस्कार/२।

सुगंध—१. दक्षिण अरुणाभास द्वीपका रक्षक देव—दे. व्यन्तर/४। २. अरुण समुद्रका रक्षक व्यन्तर देव—दे. व्यन्तर/४/७।

सुगंधदशमी व्रत—१० वर्षतक भाद्रपद शु. १० को उपवास तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप। (व्रतविधान संग्रह/पृ. ८७); (किशनसिंह क्रियाकोष)।

सुगंधा—अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र। अपरनाम वल्गु/—दे. लोक/५/२।

सुगंधिनी—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर

सुगत—स. श./टी./२/२२१/२ शोभनं गतं ज्ञानं यस्यासौ सुगत:, सुष्ठु वा अपुनरावर्त्यगतिं गतं, सम्पूर्णं वा अनन्तचतुष्टयं गत: प्राप्त: सुगत:। —जिसका ज्ञान शोभाको प्राप्त हुआ है वह सुगत है। अथवा जो उत्तम मोक्ष गतिको प्राप्त हुआ है, अथवा जिसमें सम्पूर्ण अनन्त चतुष्टय प्राप्त हुए हैं, वह सुगत है। (द्र. सं./टी./१४/४७)।

सुगात्र—वरांगका पुत्र (वरांग चरित्र/२८/५)।

सुग्रीव—(प. पु./सर्ग/श्लोक…किष्किन्ध पुरके राजा सूर्यरजका पुत्र था तथा बालीका छोटा भाई था। (९/१०) आयुके अन्तमें दीक्षित हो गया। (११९/३९)

सुचक्षु—१. उत्तर मानुषोत्तर पर्वतका रक्षक व्यन्तर देव—दे. व्यन्तर/४/७। २. बाह्य पुष्करार्धका रक्षक व्यन्तर देव—दे. व्यन्तर/४/७।

सुचरित मिश्र—मीमांस दर्शनके टीकाकार।—दे. मीमांसा दर्शन।

सुतारा—सुग्रीवकी पत्नी थी। साहसगति नामक विद्याधर उसको चाहता था। (प. पु./१०/५—११)

सुदर्शन—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर; २. सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे. सुमेरु; ३. मानुषोत्तर पर्वतस्थ स्फटिक कूटका स्वामी भवनवासी सुपर्ण कुमार देव—दे. लोक/५/१०; ४. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक५/१३;५. नवग्रैवेयक स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे स्वर्ग५/३ ६. भगवान् वीरके तीर्थमें अन्तकृत केवली हुए—दे. अंतकृत; ७. पूर्वभव नं. २ में वीतशोका पुरीका राजा था। पूर्व भवमें सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ। वर्तमान भवमें पंचम बलभद्र हुए हैं। (म. पु./६१/६६-६९) विशेष—दे. शलाका पुरुष/३; ८. चम्पा नगरीके राजा वृषभदासका पुत्र था। महारानी अभयमती इनके ऊपर मोहित हो गयी. परन्तु ये ब्रह्मचर्यमें दृढ़ रहे। रानीने क्रुद्ध होकर इनको सूलीकी सजा दिलायी, परन्तु इनके शीलके प्रभावसे एक व्यन्तरने सूलीको सिंहासन बना दिया। तब इन्होंने विरक्त हो दीक्षा ग्रहण कर ली। इतनेपर भी छलसे रानीने इनको पड़गाह कर तीन दिन तक कुचेष्टा की। परन्तु आप ब्रह्मचर्यमें अडिग रहे। फिर पीछे वनमें घोर तप किया। उस समय रानीने वैरसे व्यन्तरी बनकर घोर उपसर्ग किया। ये उपसर्गको जीत कर मोक्ष धाम पधारे। (सुदर्शन चरित्र)

सुदर्शन चरित्र—१. आ. नयनन्दि (ई. ९९३-१०४३) कृत अपभ्रंश काव्य (ती./३/२२५)। २. सकलकीर्ति (ई. १४०६-१४४२) कृत ९०० श्लोक प्रमाण संस्कृत ग्रन्थ (ती./३/३३२)। ३. विद्यानन्दि भट्टारक (वि. १५१८) कृत संस्कृत ग्रन्थ। (ती./३/४०५)।

सुदर्शन व्रत—दे. दर्शन विशुद्धि।

सुदास—यह वैवस्वतयमकी ५२वीं पीढ़ीमें इक्ष्वाकु वंशी राजा था। वेदोंमें इसकी बड़ी प्रशंसा की जाती है जबकि जैनागममें इसकी निन्दा की गयी है। समय—ई. पू. २१०० (रामा कृष्ण द्वारा संशोधित इक्ष्वाकु वंशावली)

सुधर्म—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप भगवान् वीरके पश्चात् दूसरे केवली हुए। अपर नाम लोहार्य था। समय—वी. नि. १२-१४ (ई. पू. ५१५-५०३)—दे. इतिहास/४/४।

सुधर्म सेन—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप धरसेन (श्रुतावतारसे भिन्न) के शिष्य तथा सिंहसेनके गुरु थे। —दे. इतिहास/७/८।

सुधर्मा—सौधर्म इन्द्रकी सभा। विशेष—दे. सौधर्म।

सुनंदिषेण—१. पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप सिंहसेनके शिष्य तथा ईश्वरसेनके गुरु थे। दे. इतिहास/७/८, २. पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप ईश्वरसेनके शिष्य तथा अभयसेनके गुरु थे। — दे. इतिहास/७/८।

सुनक्षत्र—महावीरके तीर्थमें अनुत्तरोपपादक—दे. अनुत्तरोपपादक।

सुनपथ—प्रवाससे लौटनेपर अर्जुन इसमें रहने लगा (पा. पु./१६/६) क्योंकि यह कुरुक्षेत्रके निकट है अत: वर्तमान सोनीपत ही सुनपथ है।

सुपद्मा—१. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे. लोक ५/२। २. श्रद्धावान् वक्षारका एक कूट व उसका स्वामी देव—दे. लोक/५/४।

सुपर्ण—ध. १३/५,५,१४०/३९१/८ सुपर्णा नाम शुभपक्षाकारविकरणक्रिया। —शुभ पक्षोंके आकार रूप विक्रिय करनेमें अनुराग रखनेवाले सुपर्ण कहलाते हैं।

सुपर्ण कुमार—१. भवनवासी देवोंका एक भेद—दे. भवन/१/४, २. सुपर्ण कुमार देवोंका लोकमें अवस्थान—दे. भवन/४।

सुपार्श्वनाथ—१. पूर्वभव नं. २ में धातकी खण्डके क्षेमपुर नगरमें नन्दीषेण राजा था। पूर्व भवमें मध्य ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र। वर्तमान भवमें सप्तम तीर्थंकर हुए हैं (म. पु./५३/२-१५) विशेष—दे. तीर्थंकर/५। २. भाविकालीन तीसरे तीर्थंकर। अपर नाम सप्रभु। —दे. तीर्थंकर/५।

सुपार्श्वनाथ स्तोत्र—आ. विद्यानन्दि (ई. ७७५-८४०) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध स्तोत्र है। इसमें तीस श्लोक हैं।

सुप्त—दे. निद्रा।

सुप्रकीर्णा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक/५/१३।

सुप्रणिधि—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक ५/१३

सुप्रतिष्ठ—१. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक५/१३;२. हस्तिनापुरके राजा श्रीचन्द्रका पुत्र था। दीक्षा लेकर ग्यारह अंगोंका अध्ययन किया। तथा सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। समाधिमरणकर अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र पद पाया। (म. पु./७०/५१-५९) यह नेमिनाथ भगवान्‌का पूर्वका दूसरा भव है। —दे. नेमिनाथ। ३. यह पंचम रुद्र थे—दे. शलाका पुरुष/७।

सुप्रबंध—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक/५/१३।

सुप्रबुद्ध—१. मानुषोत्तर पर्वतस्थ प्रवाल कूट व उसका स्वामी भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे. लोक५/१०;२. नवग्रैवेयकका तृतीय पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/५/३।

सुप्रबुद्धा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक५/१३।

सुप्रभ—१. कुण्डल पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक/५/१२;२. दक्षिण-घृतवर द्वीपका रक्षक देव—दे. व्यंतर/४/७। ३. उत्तर अरुणोवर द्वीपका रक्षक देव—दे. व्यंतर/४/७। ४. पूर्व भव नं. २ में पूर्व विदेहके नन्दन नगरमें महाबल नामक राजा था। पूर्व भवमें सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ। वर्तमान भवमें चौथे बलदेव थे। (म. पु/६०/५८-६१)। विशेष परिचय—दे. शलाका पुरुष/३।

सुप्रभा—नन्दीश्वर द्वीपकी उत्तर दिशा में स्थित एक वापी—दे. लोक/५/११।

सुप्रयोग—भरत क्षेत्रस्थ आर्यखण्डकी एक नदी.—दे. मनुष्य/४।

सुप्रीति क्रिया—दे. संस्कार/२।

सुभग—१. सुभग व दुर्भग नामकर्मके लक्षण

स. सि./८/११/३९१/११ यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभगनाम। यदुदयाद्रूपादिगुणोपेतोऽप्यप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनाम। —जिसके उदयसे अन्य जन प्रीतिकर अवस्था होती है वह सुभग नामकर्म है। जिसके उदय से रूपादि गुणोंसे युक्त होकर भी अप्रीतिकर अवस्था होती है वह दुर्भग नामकर्म है। (रा. वा./८/११/२३-२४/५७८/३१)। (गो. क. जी. प्र./३३/३०/६/१५)।

ध.६/१,९-१,२८/६५/१ इत्थी-पुरिसाणं सोहग्गणिव्वत्तयं सुभगं णाम। तेसिं चेव दूहवभावणिव्वत्तयं दूहवं णाम। —स्त्री और पुरुषोंके सौभाग्यको उत्पन्न करने वाला सुभग नामकर्म है। उन स्त्री पुरुषोंके ही दुर्भग भाव अर्थात् दौर्भाग्यको उत्पन्न करने वाला दुर्भग नामकर्म है। (ध. १३/५, ५, १०१/३६५/१४)।

२. एकेन्द्रियोंमें दुर्भग भाव कैसे जाना जाये

ध. ६/१, ९-१, २८/६५/२ एइंदियादिसु अव्वत्तचेट्ठेसु कधं सुहव-दुहवभावा णज्जंते। ण, तत्थ तेसिमव्वत्ताणमागमेण अत्थित्तसिद्धीदो। —प्रश्न—अव्यक्त चेष्टा वाले एकेन्द्रियादि जीवोंमें सुभग और दुर्भग भाव कैसे जाने जाते हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि एकेन्द्रिय आदिमें अव्यक्त रूपसे विद्यमान उन भावोंका अस्तित्व आगमसे सिद्ध है।

सुभट वर्मा—भोजवंशी राजा था। भोजवंशकी वंशावलीके अनुसार यह राजा विन्ध्यवर्मा (विजयवर्मा) के पुत्र और अर्जुनवर्माका पिता था। मालवा देशका राजा था और उज्जैनी व धारा राजधानी थी। समय-वि. १२५७-१२६४ ई १२००-१२०७ विशेष—दे. इतिहास/३/१।

सुभद्र—१. यक्ष जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे. यक्ष, २. नव ग्रैवेयकका पाँचवाँ पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग५/३। ३. अरुणीवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे. व्यन्तर/४/७। ४. नन्दीश्वर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे. व्यन्तर/४/७। ५. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक५/१३। ६. श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप भगवान् वीरके पश्चात मूल गुरु परम्परामें दश अंगधारी अथवा दूसरी मान्यतानुसार केवल आचारांग धारी थे। समय—वी. नि. ४६८-४७४ ई. पू. ५९-६३ —दे. इतिहास/४/४।

सुभद्रा—पा. पु/१६/ श्लोक-कृष्णकी बहन थी। (१६/३६) अर्जुनने हरण कर (१६/३९) इसके साथ विवाह किया (१६/५९) इससे अभिमन्युकी उत्पत्ति हुई (१६/१०१)। अन्तमें दीक्षा ले (२५/१५) घोर तप कर सोलहवें स्वर्ग गयी (२५/१४१)।

सुभाषितरत्नसंदोह—१. आ. योगेन्दुदेव (ई. श. ६) कृत 'सुभाषित तन्त्र' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ। (दे. योगेन्दु)। २. आ. अमितगति द्वारा वि. १०५० (ई. ९९३) में लिखा गया ९२२ संस्कृत श्लोक प्रमाण आध्यात्मिक ग्रन्थ। (जै./१/६८०)।

सुभाषितरत्नावली—आ. शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) द्वारा रचित एक आध्यात्मिक ग्रन्थ। —दे. शुभचन्द्र।

सुभाषितार्णव—आ. शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) द्वारा रचित एक आध्यात्मिक ग्रन्थ।

सुभीम—राक्षसोंका इन्द्र। इसने सगर चक्रवर्तीके प्रतिद्वन्द्वीके पुत्र मेघवाहनको अजितनाथ भगवान्‌के समवसरणमें अभयदानार्थ लंकाका राज्य दिया था। (प. पु./५/१६०)।

सुभौम—पूर्व भव नं. २ में भरत क्षेत्रमें भूपाल नामक राजा था। पूर्व भवमें महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ। वर्तमान भवमें अष्टम चक्रवर्ती हुआ (म. पु./६५/५१-५५) विशेष परिचय—दे. शलाका पुरुष/२।

सुमति—१ पूर्व भव नं. २ में धातकी खण्डमें पुष्कलावती देशका राजा था। पूर्व भवमें वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुआ। वर्तमान भवमें पंचम तीर्थंकर थे (म. पु./५१/२-१९)। विशेष परिचय—दे. तीर्थंकर/५। २. आप मल्लवादी नं. १ के शिष्य थे। समय—वि. ४३९ (ई. ३८३), (सि. वि./प्र. ३४ पं. महेन्द्र)।

सुमतिकीर्ति—नन्दि संघ बलात्कारगण ईडर गद्दी। गुरु परम्परा—पद्मनन्दि, विद्यानन्दि, लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, सुमतिकीर्ति। कृतियें—पंचसंग्रह की संस्कृत वृत्ति, ज्ञानभूषण के साथ मिलकर 'कर्म प्रकृति' की टीका। समय—पंचसंग्रह वृत्ति का रचनाकाल वि. १६२०। अतः वि. १६१३-१६३०। (जै./१/४५४, ४५७); (ती./३/३७८); (दे. इतिहास/७/४)।

सुमनस—नव ग्रैवेयकका पाँचवाँ पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/५/३।

सुमागधी—पूर्वी मध्य आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

सुमाली—रावणका दादा था। इन्द्र नामक विद्याधरसे हारकर पाताल लंकामें रहने लगा था (प. पु./७/१३३)।

सुमित्र—म.पु./६१/श्लोक—राजगृह नगरका राजा बहुत बड़ा मल्ल था (५७-५८) राजसिंह नामक मल्लसे हारने पर (५९-६०) निर्वेद पूर्वक दीक्षा ग्रहण कर ली (६२)। बड़ा राजा बननेका निदान कर स्वर्गमें देव हुआ (६३-६५) यह पुरुषसिंह नारायणका पूर्वका दूसरा भव है।—दे पुरुषसिंह

सुमुख—ह. पु./१४/श्लोक—वत्सदेशकी कौशाम्बी नगरीका राजा था (६) एक समय वनमाला नामक स्त्रीपर मोहित होकर (३२-३३) दूती भेजकर उसे अपने घर बुलाकर भोग किया (९४-१०७) आहारदानसे भोगभूमिकी आयुका बन्ध किया। वज्रपात गिरनेसे मरकर विद्याधर हुआ (१५/१२-१८) यह आर्य विद्याधरका पूर्वका भव है।—दे. आर्य।

सुमुखी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका नगर—दे. विद्याधर।

सुमेधा—सुमेरु पर्वतके नन्दन वनमें स्थित निषधकूटकी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक/५/५।

सुमेरु—मध्यलोकका सर्व प्रधान पर्वत है। विदेह क्षेत्रके बहुमध्य भागमें स्थित स्वर्णवर्ण व कूटाकार पर्वत है। यह जम्बूद्वीपमें एक, धातकी खण्डमें दो, पुष्करार्ध द्वीपमें दो पर्वत हैं, इस प्रकार कुल ५ सुमेरु हैं। इसमेंसे प्रत्येक पर १६-१६ चैत्यालय हैं। इस प्रकार पाँचों मेरुके कुल ८० चैत्यालय हैं। (विशेष—दे. लोक/३/६)।

१. सुमेरुका व्युत्पत्ति अर्थ

रा. वा./३/१०/१३/१८१/६ लोकत्रयं मिनातीति मेरुः इति। —तीनों लोकोंका मानदण्ड है, इसलिए इसे मेरु कहते हैं।

२. इसके अनेकों अपर नाम

ह. पु./५/३७३-३७६ वज्रमूलः सवैडूर्यचूलिको मणिभिश्चितः। विचित्राश्चर्यसंकीर्णः स्वर्णमध्यः सुरालयः ।३७३। मेरुश्चैव सुमेरुश्च महामेरुः सुदर्शनः। मन्दरः शैलराजश्च वसन्तः प्रियदर्शनः ।३७४। रत्नोच्चयो दिशामादिर्लोकनाभिर्मनोरमः। लोकमध्यो दिशामन्त्यो दिशामुत्तर एव च ।३७५। सूर्याचरणविख्यातिः सूर्यावर्तः स्वयंप्रभः।

इत्थं सुरगिरिश्चेति लब्धवर्णैः स वर्णितः।३७६। —वज्रमूल, सवैडूर्य चूलिक, मणिचित, विचित्राश्चर्यकीर्ण, स्वर्णमध्य, सुरालय, मेरु, सुमेरु, महामेरु, सुदर्शन, मन्दर, शैलराज, वसन्त, प्रियदर्शन, रत्नोच्चय, दिशामादि, लोकनाभि, मनोरम, लोकमध्य, दिशा-मन्त्य, दिशासुत्तर, सूर्याचरण, सूर्यावर्त, स्वयंप्रभ, और सुरगिरि— इस प्रकार विद्वानोंने अनेकों नामोंके द्वारा सुमेरु पर्वतका वर्णन किया है।३७३-३७६।

★ **सुमेरु पर्वतका स्वरूप**—दे. लोक/३/६।

३. वर्तमान विद्वानोंकी अपेक्षा सुमेरु

ज. प./प्र. १३६,१४१ A.N. up, H.L Jain वर्तमान भूगोलका पामीर प्रदेश वही पौराणिक मेरु है। जिसके पूर्वसे यारकंद नदी (सीता) निकलती है और पश्चिम सितोदसरसे आमू दरिया निकलता है। इसके दक्षिणमें दरद (काश्मीरमें बहनेवाली कृष्णगंगा नदी) है। इसके उत्तरमें थियानसानके अंचलमें बसा हुआ देश (उत्तरकुरु), पूर्वमें मूजताग (मूंज) एवं शीतान (शीतान्त) पर्वत, पश्चिममें बदख्शां (वैडूर्य) पर्वत, और पश्चिम-दक्षिणमें हिंदूकुश (निषध) पर्वत स्थित है।१३६। पुराणोंके अनुसार मेरुकी शरावाकृति है। इधर वर्तमान भूगोलके अनुसार 'पामीर देश' चारों हिन्दुकुश, कारा-कोरम, काशार और अल्लाई पर्वतसे घिरा होनेके कारण शरावाकार हो गया है। इसी पामीर देशको मेरु कहते हैं। पामीरमें शब्द आश्लिष्ट है, क्योंकि यह शब्द सपादमेरुका जन्य है। मेरुके सम्बन्ध-में भी 'सपाद मेरु' मेरुके महापादका व्यवहार प्रायः हुआ है। अतः यह व्युत्पत्ति अशंकनीय है। इसी प्रकार काश्मीर शब्द भी मेरुका अंग जान पड़ता है, क्योंकि काश्मीर शब्द कश्यपमेरुका अपभ्रंश है। नीलमत पुराणके भी अनुसार काशमीर कश्यपका क्षेत्र है। और तैत्तिरीय आरण्यक/१/७ में कहा गया है कि महामेरुको अरण्यक नहीं छोड़ता।

सुयश—मानुषोत्तर पर्वतस्थ सौगन्धिक कूटका स्वामी भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे. लोक/७।

सुर—ध. १३/५.५.१४०/३९१/७ तत्र अहिंसाद्यनुष्ठानरतयः सुरा नाम। —जिनकी अहिंसा आदिके अनुष्ठानमें रति है वे सुर कहलाते हैं।

सुरगिरि—सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे. सुमेरु।

सुरदेव—भाविकालीन दूसरे तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५।

सुरपतिकान्त—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर। —दे. विद्याधर।

सुरमन्यु—सप्त ऋषियोंमें से एक—दे. सप्तऋषि।

सुरलोक—दे. स्वर्ग/५।

सरस—ब्रह्म स्वर्गका द्वितीय पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/५/३।

सुरा—१. हिमवान् पर्वतपर स्थित एक कूट व उसकी स्वामिनीदेवी। —दे. लोक५/४। २. रुचक पर्वत वासिनी दिक्कुमारी। —दे. लोक/५/१३।

सुरालय—सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे. सुमेरु।

सुराष्ट्र—१. मालवाका पश्चिम प्रदेश, सुराष्ट्र या सौराष्ट्र या काठियावाड़ कहते हैं। (म. पु./प्र. ४९ पन्नालाल)। २. भरतक्षेत्रस्थ पश्चिम आर्यखण्डका एक देश। अपर नाम सोरठ—दे. सोरठ।

सुरेन्द्र यन्त्र—दे. यन्त्र/१/६।

सुरेश्वर—शंकराचार्यके शिष्य। समय—ई. ८२०—दे. वेदान्त/१/२।

सुलस—देवकुरुके १० द्रहोंमेंसे दो का नाम—दे. लोक/५/६

सुलसा—चारण युगलकी पुत्री थी। सगर चक्रीने षड्यन्त्र रचकर इसको विवाहा था। अन्तमें महाकाल द्वारा रचे हिंसायज्ञमें यह होमी गयी थी। (म. पु./६७/२१४-३६३)।

सुलोचन—विहायसतिलक नगरका राजा। सगरचक्रीका ससुर (प. पु./५/७७-७८)।

सुलोचना—म. पु./सर्ग/श्लोक…पूर्वभव नं. ४ में रतिवेगा नामक सेठ सुता थी (४६/१०५,८७) तीसरेमें रतिषेणा कबूतरी (४६/८६) दूसरेमें प्रभावती (४६।१४८) पूर्व भवमें स्वर्गमें देव थी (४६/२५०) वर्तमान भवमें काशी राजाके अकम्पनकी पुत्री थी (४३/१३५)। भरतचक्रीके सेनापति जयसेनसे विवाही गयी (४३/३२६-३२९)। भरतसुत अर्ककीर्तिने इसके लिए जयसेनसे युद्ध किया। परन्तु इसके अनशनके प्रभावसे युद्ध समाप्त हो गया (४५/२-७) तब जयसेनने इसको अपनी पटरानी बनाया (४५/१८१) एक समय देवी द्वारा पतिके शीलकी परीक्षा करनेपर इसने उस देवीको भगा दिया (४७/-२६८-२७३)। अन्तमें पतिके दीक्षा लेनेपर शोकचित्त हो स्वयं भी दीक्षा ले ली। तथा घोर तपकर अच्युत स्वर्गमें जन्म लिया। आगामी पर्यायसे मोक्ष होगा। (४७/२८६-२८९)।

सुवंक्षु— इसके कई रूप मिलते हैं यथा—सुचक्षु, सुवक्षु, एवं सपक्षु। इसकी उत्पत्ति मेरुके पश्चिमी सर सितोदसे कही गयी है, जहाँसे निकलकर 'नानाम्लेच्छगणैर्युक्त' केतुमाल महाद्वीपसे बहती हुई, यह पश्चिम समुद्रमें चली गयी है। वर्तमान आमू दरिया या आक्सस ही सुवक्षु है, यह निर्विवाद है। इसके मंगोलियन नाम अक्षू और वक्षू, तिब्बती नाम पक्षू, तथा चीनो नाम पो-त्सू या फो-त्सू, तथा आधुनिक स्थानिक नाम वखिश वखश और वंक्षा उक्त संस्कृत नामोंसे निकले हैं। प्राचीन कालसे अभी थोड़े दिन पहले तक पामीरके पश्चिमी भागवाली सिरीकोल झील (विक्टोरिया लेक) उसका उद्गम मानी जाती थी, जो पौराणिक सितोद सर हुई। इन दिनों यह आरालमें गिरती है, किन्तु पहले कैस्पियनमें गिरती थी। यही चतुर्द्वीपी भूगोलका पश्चिम समुद्र है। (ज. प./प्र. १४० A.N. up, H.L. Jain)।

सुवत्सा—१. सौमनस गजदन्तके कनक कूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी—दे. लोक/५/४।

सुवत्सा— २. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे. लोक५/२, २. पूर्व विदेहस्थ त्रिकूट वक्षारका एक कूट व उसका स्वामी देव—दे. लोक/५/४।

सुवप्र—१. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र —दे. लोक/५/२। २. चन्द्रगिरि वक्षारका एक कूट व उसका स्वामी देव—दे. लोक/५/४।

सुवल्गु—१. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र। अपर नाम सुगन्धा—दे. लोक५/२। २. नागगिरि वक्षारका एक कूट व उसका स्वामी देव—दे. लोक/५/४।

सुविधि—म. पु./सर्ग/श्लो. महावत्स देशके सुदृष्टि राजाका पुत्र। (१०/१२१-१२२) पुत्र केशवके मोहसे दीक्षा न लेकर श्रावकके उत्कृष्ट व्रत ले कठिन तप किया (१०/१५८)। अन्तमें दिगम्बर हो समाधि-मरण पूर्वक अच्युत स्वर्गमें देव हुआ। (१०/१६९)। यह ऋषभदेवका पूर्वका चौथा भव है।—दे. ऋषभदेव।

सुविशाल—नव ग्रैवेयकका तृतीय पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/५/३।

सुषमा काल—दे. काल/४।

सुषिर प्रायोगिक शब्द—दे. शब्द/१ ।

सुषेण—१. वरांग चरित्र/सर्ग/श्लोक वरांगका सौतेला भाई था। (११/८५)। वरांगको राज्य मिलनेपर कुपित हो, वरांगको छलसे राज्यसे दूर भेज स्वयं राज्य प्राप्त किया (२०/७)। फिर किसी शत्रुसे युद्ध होनेपर स्वयं डरकर भाग गया (२०/११)। २. म. पु./५८/श्लोक कनकपुर नगरका राजा था (६१)। गुणमंजरी नृत्यकारिणीके अर्थ भाई विन्ध्यशक्तिसे युद्ध किया। युद्धमें हार जानेपर नृत्यकारिणी इससे बलात्कार पूर्वक छीन ली गयी (७३)। मानभंगसे दुःखित हो दीक्षा लेकर कठिन तप किया। अन्तमें वैर पूर्वक मरकर प्राणत स्वर्गमें देव हुआ (७८-७६)। यह द्विपृष्ठ नारायणका पूर्वका दूसरा भव है। —दे. द्विपृष्ठ ।

सुसीमा—पूर्व विदेहस्थ वत्सदेशकी मुख्य नगरी—दे. लोक/५/२।

सुस्थित—१. लवणसमुद्रका रक्षक व्यन्तरदेव—दे. व्यन्तर/४।

सुस्थिता—रुचक पर्वत वासिनी दिक्कुमारी । —दे. लोक/५/१३।

सुस्वर—दे. स्वर।

सुहस्ति—रुचक पर्वतस्थ स्वस्तिक कूटका स्वामी देव—दे. लोक/७।

सुह्म—१. भरतक्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४। २. जिस देशमें कपिशा (कोलिया) नदी बहती है। ताम्रलिपी राजधानी थी।

सूकरिका—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

सूक्ष्म—जो किसी द्वारा स्वयं बाधित न हों और न दूसरेको ही कोई बाधा पहुँचायें, वे पदार्थ या जीव सूक्ष्म हैं और इनसे विपरीत स्थूल या बादर। इन्द्रियग्राह्य पदार्थको स्थूल और इन्द्रिय अग्राह्यको सूक्ष्म कहना व्यवहार है परमार्थ नहीं। सूक्ष्म व बादरपनेमें न अवगाहनाकी हीनाधिकता कारण है न प्रदेशोंकी, बल्कि नामकर्म ही कारण है। सूक्ष्म स्कन्ध व जीव लोकमें सर्वत्र भरे हुए हैं, पर स्थूल आधारके बिना नहीं रह सकनेके कारण त्रस नालीके यथायोग्य स्थानोंमें ही पाये जाते हैं।

१. सूक्ष्मके भेद व लक्षण

★ सूक्ष्म जीवोंका निर्देश—दे. इन्द्रिय, काय, समास।

१. सूक्ष्म सामान्यका लक्षण

१. बाधा रहित

स.सि./५/१५/२८०/१२/ न ते परस्परेण बादरैश्च व्याहन्यन्त इति।—वे (सूक्ष्म जीव) परस्परमें और बादरोंके साथ व्याघातको नहीं प्राप्त होते हैं। (रा.वा./५/१५/५/४५८/११)।

ध.३/१,२,८७/३३१/२ अण्णेहि पोग्गलेहि अपडिहम्ममाणसरीरो जीवो सुहुमो त्ति घेत्तव्वं। —जिनका शरीर अन्य पुद्गलोंसे प्रतिघात रहित है वे सूक्ष्म जीव हैं, यह अर्थ यहाँपर सूक्ष्म शब्दसे लेना।

ध. १३/५,३,२२/२३/१२ पविसंतपरमाणुस्स परमाणू पडिबधदि, सुहुमस्स सुहुमेण बादरक्खंधेण वा पडिबंधकरणाणुववत्तीदो। —प्रवेश करनेवाले परमाणुको दूसरा परमाणु प्रतिबन्ध नहीं करता है, क्योंकि सूक्ष्मका दूसरे सूक्ष्म स्कन्धके द्वारा या बादरके द्वारा प्रतिबन्ध करनेका कोई कारण नहीं पाया जाता है।

का.अ./मू./१२७ ण य तेसिं जेसिं पडिखलणं पुढवी तोएहिं अग्गिवाएहिं। ते जाण सुहुम-काया इयरा पुण थूलकाया य।१२७। —जिन जीवोंका पृथ्वीसे, जलसे, आगसे और वायुसे प्रतिघात नहीं होता, उन्हें सूक्ष्मकायिक जानो।१२७।

गो.जी./जी.प्र/१८४/४१६/१४ आधारानपेक्षितशरीराः जीवाः सूक्ष्मा भवन्ति। जलस्थलरूपाधारेण तेषां शरीरगतिप्रतिघातो नास्ति। अत्यन्तसूक्ष्मपरिणामत्वात्ते जीवाः सूक्ष्मा भवन्ति।—आधारकी अपेक्षा रहित जिनका शरीर है वे सूक्ष्म जीव हैं। जिनकी गतिका जल, स्थल आधारोंके द्वारा प्रतिघात नहीं होता है। और अत्यन्त सूक्ष्म परिणमनके कारण वे जीव सूक्ष्म कहे हैं।

२. इन्द्रिय अग्राह्य

स.सि./५/२८/२६६/६ सूक्ष्मपरिणामस्य स्कन्धस्य भेदे सौक्ष्म्यापरित्यागादचाक्षुषत्वमेव। —सूक्ष्म परिणामवाले स्कन्धका भेद होनेपर वह अपनी सूक्ष्मताको नहीं छोड़ता, इसलिए उसमें अचाक्षुषपना ही रहता है। (रा.वा./५/२८/—/४६४/१७)

रा.वा./५/२४/१/४८५/११ लिङ्गेन आत्मानं सूचयति, सूच्यतेऽसौ, सूच्यतेऽनेन, सूचनमात्रं वा सूक्ष्मः सूक्ष्मस्य भावः कर्म वा सौक्ष्म्यम्। —जो लिंगके द्वारा अपने स्वरूपको सूचित करता है या जिसके द्वारा सूचित किया जाता है या सूचन मात्र है, वह सूक्ष्म है। सूक्ष्मके भाव या कर्मको सौक्ष्म्य कहते हैं।

प्र.सा./ता.वृ./१६८/२३०/१३ इन्द्रियाग्रहणयोग्यैः सूक्ष्मैः। —जो इन्द्रियोंके ग्रहणके अयोग्य हैं वे सूक्ष्म हैं।

पं.ध./उ /४८३ अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ।४८३।—इसके साधक साधनका इन्द्रियोंके द्वारा दर्शन नहीं होता, इसलिए इनमें (धर्मादिमें) सूक्ष्मपना है।

३. सूक्ष्म दूरस्थमें सूक्ष्मका लक्षण

ध. १३/५,५,५६/३१३/३ किमेत्थ सुहुमत्तं? दुगेज्झत्तं।—प्रश्न—यहाँ सूक्ष्म शब्दका क्या अर्थ है? उत्तर—जिसका ग्रहण कठिन हो वह सूक्ष्म कहलाता है।

द्र.सं./टी./५०/२१३/११/परचेतोवृत्तयः परमाण्वादयश्च सूक्ष्मपदार्थाः।—पर पुरुषोंके चित्तोंके विकल्प और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ…।

न्या.दी./२/§२२/४१/१० सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः परमाण्वादयः।—सूक्ष्म पदार्थ वे हैं जो स्वभावसे विप्रकृष्ट हैं—दूर हैं जैसे परमाणु आदि।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी/५१३ जो आप भी न जानै केवली भगवान् ही जानै सो ऐसे भावका कथन सूक्ष्म जानना।

२. सूक्ष्मके भेद व उनके लक्षण

स.सि./५/२४/२६५/१० सौक्ष्म्यं द्विविधं, अन्त्यमापेक्षिकं च। तत्रान्त्यं परमाणूनाम्। आपेक्षिकं बिल्वामलकबदरादीनाम्। —सूक्ष्मताके दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षिक। परमाणुओंमें अन्त्य सूक्ष्मत्व है। तथा बेल, आँवला, और बेर आदिमें आपेक्षिक सूक्ष्मत्व है। (रा.वा./५/२४/१०/४८८/३०)

३. सूक्ष्म नामकर्मका लक्षण

स.सि./८/११/३९२/१ सूक्ष्मशरीर निर्वर्तकं सूक्ष्मनाम।—सूक्ष्म शरीरका निर्वर्तक कर्म सूक्ष्म नामकर्म है।

रा.वा./८/११/२६/५७६/७ यदुदयादन्यजीवानुपग्रहोपघातायोग्यसूक्ष्मशरीरनिर्वृत्तिर्भवति तत्सूक्ष्मनाम। —जिसके उदयसे अन्य जीवोंके अनुग्रह या उपघातके अयोग्य सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति हो वह सूक्ष्म है। (गो./जी./जी प्र./३३/३०/१३)

ध.६/१,६-१,२८/६२/१ जस्स कम्मस्स उदएण जीवो सुहुमत्तं पडिवज्जदि तस्स कम्मस्स सुहुममिदि सण्णा। —जिस कर्मके उदयसे जीव (एकेन्द्रिय ध. १३) सूक्ष्मताको प्राप्त होता है उस कर्मकी यह सूक्ष्म संज्ञा है।

४. सिद्धोंके सूक्ष्मत्व गुणका लक्षण

प्र.सं./टी./१४/४२/१२ सूक्ष्मातीन्द्रियकेवलज्ञानविषयत्वात्सिद्धस्वरूपस्य सूक्ष्मत्वं भण्यते। —सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवलज्ञानका विषय होनेके कारण सिद्धोंके स्वरूपको अतीन्द्रिय कहा है।

प. प्र./टी./१/६१/६२/२ अतीन्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वम्। —अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय होनेसे सूक्ष्मत्व है।

२. बादरके भेद व लक्षण

*** बादर जीवोंका निर्देश**—दे. इन्द्रिय, काय, समास।

१. बादर व स्थूल सामान्यका लक्षण

१. सप्रतिघात

स. सि./५/१५/२८०/१० बादरास्तावत्सप्रतिघातशरीराः। —बादर जीवों का शरीर तो प्रतिघात सहित होता है। (रा. वा./५/१५/५/४५८/१०)

ध. १/१,१,४५/२७६/७ बादरः स्थूलः सप्रतिघातः कायो येषां ते बादरकायाः। —जिन जीवोंका शरीर बादर, स्थूल अर्थात् प्रतिघात सहित होता है उन्हें बादरकाय कहते हैं।

ध. ३/१,२,८७/३३१/१ तदो पडिहम्ममाणसरीरो बादरो। —जिनका शरीर प्रतिघात युक्त है वे बादर हैं।

गो. जी./मू./१८३...घादसरीरं थूलं। —जो दूसरोंको रोके, तथा दूसरों से स्वयं रुके सो स्थूल कहलाता है।

२. इन्द्रिय ग्राह्य

स. सि./५/२८/२९९/१० सौक्ष्म्यपरिणामोपरमे स्थौल्योत्पत्तौ चाक्षुषो भवति। —(सूक्ष्म स्कन्धमें से) सूक्ष्मपना निकल कर स्थूलपनेकी उत्पत्ति हो जाती है और इसलिए वह चाक्षुष हो जाता है।

रा. वा./५/२४/१/४८५/१२ स्थूलयते परिबृंहयति, स्थूल्यतेऽसौ स्थूलतेऽनेन, स्थूलनमात्रं वा स्थूलः। स्थूलस्य भावः कर्म वा स्थौल्यम्। —जो स्थूल होता है, बढ़ता है या जिसके द्वारा स्थूलन होता है या स्थूलन मात्रको स्थूल कहते हैं। स्थूलका भाव या कर्म स्थौल्य है।

प्र सा./ता. वृ./२६८/२३०/१४ तद्ग्रहणयोग्यैर्बादरैः। —जो इन्द्रियोंके ग्रहणके योग्य होते हैं वे बादर हैं।

३. स्थूल के भेद व उनके लक्षण

स. सि./५/२४/२९५/१३ स्थौल्यमपि द्विविधमन्त्यमापेक्षिकं चेति। तत्रान्त्यं जगद्व्यापिनि महास्कन्धे। आपेक्षिकं बादरामलकबिल्वतालादिषु। —स्थौल्य भी दो प्रकार का है—अन्त्य और आपेक्षिक। जगव्यापी महास्कन्ध में अन्त्य स्थौल्य है। तथा बेर, आँवला, और बेल ताल आदिमें आपेक्षिक स्थौल्य है। (रा. वा./५/२४/११/४८८/३३)।

४. बादर नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९२/२ अन्यबाधाकरशरीरकारणं बादरनाम। —अन्य बाधाकर शरीरका निर्वर्तक कर्म बादर नामकर्म है। (रा. वा./८/११/३०/५७९/१०); (गो. क./जी. प्र./३३/३०/१३)।

ध. ६/१,९-१,२८/६१/८ जस्स कम्मस्स उदएण जीवो बादरेसु उप्पज्जदि तस्स कम्मस्स बादरमिदि सण्णा। —जिस कर्मके उदयसे जीव बादर काय वालोंमें उत्पन्न होता है। उस कर्म की 'बादर' यह संज्ञा है। (ध. १३/५,५,१०१/३६५/९)।

५. बादर कथनका लक्षण

रहस्य पूर्ण चिट्ठी। अपने तथा अन्यके जाननेमें आ सके ऐसे भावका कथन स्थूल है।

३. सूक्ष्मत्व व बादरत्व निर्देश

१. सूक्ष्म व बादरमें प्रतिघात सम्बन्धी विचार

स. सि./२/४०/१९३/९ स नास्त्यनयोरित्यप्रतिघाते; सूक्ष्मपरिणामात्। अयःपिण्डे तेजोऽनुप्रवेशवत्तैजसकार्मणयोर्नास्ति वज्रपटलादिषु व्याघातः। —इन दोनों (कार्मण व तैजस) शरीरोंका इस प्रकारका प्रतिघात नहीं होता इसलिए वे प्रतिघात रहित हैं। जिस प्रकार सूक्ष्म होनेसे अग्नि (लोहेके गोलेमें) प्रवेश कर जाती है उसी प्रकार तैजस और कार्मण शरीरका वज्रपटलादिकमें भी व्याघात नहीं होता। (रा. वा./२/४०/१४९/६)।

रा. वा./५/१५/५/४५८/१४ कथं सशरीरस्यात्मनोऽप्रतिघातत्वमिति चेत् दृष्टत्वात्। दृश्यते हि बालाग्रकोटिमात्रच्छिद्ररहिते घनबहलायसभित्तितले वज्रमयकपाटे बहिः समन्तात् वज्रलेपलिप्ते अपवरके देवदत्तस्य मृतस्य मूर्तिमज्ज्ञानावरणादिकर्मतैजसकार्मणशरीरसंबन्धित्वेऽपि गृहमभित्त्वैव निर्गमनम्, तथा सूक्ष्मनिगोदानामप्यप्रतिघातित्वं वेदितव्यम्। —प्रश्न—शरीर सहित आत्माके अप्रतिघातपना कैसे है? उत्तर—यह बात अनुभव सिद्ध है। निश्छिद्र लोहेके मकानसे, जिसमें वज्रके किवाड़ लगे हों और वज्रलेप भी जिसमें किया गया हो, मर कर जीव कार्मणशरीरके साथ निकल जाता है। यह कार्मण शरीर मूर्तिमान् ज्ञानावरणादि कर्मोंका पिण्ड है। तैजस् शरीर भी इसके साथ सदा रहता है। मरण कालमें इन दोनों शरीरोंके साथ जीव वज्रमय कमरेसे निकल जाता है। और कमरेमें छेद नहीं होता। इस तरह सूक्ष्म निगोद जीवों का शरीर भी अप्रतिघाती है।

२. सूक्ष्म व बादरमें चाक्षुषत्व सम्बन्धी विचार

ध. १/१,१,३४/२४९-२५०/६ बादरशब्दः स्थूलपर्यायः स्थूलत्वं चानियतम्, ततो न ज्ञायते के स्थूला इति। चक्षुर्ग्राह्याश्चेन्न, अचक्षुर्ग्राह्याणां स्थूलानां सूक्ष्मतोपपत्तेः। अचक्षुर्ग्राह्याणामपि बादरत्वे सूक्ष्मबादराणामविशेषः स्यादिति।२४९। स्थूलाश्च भवन्ति चक्षुर्ग्राह्याश्च न भवन्ति, को विरोधः स्यात्? —प्रश्न—जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं, वे स्थूल हैं। यदि ऐसा कहा जावे सो भी नहीं बनता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर, जो स्थूल जीव चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं उन्हें सूक्ष्मपनेकी प्राप्ति हो जायेगी। और जिनका चक्षु इन्द्रियसे ग्रहण नहीं हो सकता है ऐसे जीवोंको बादर मान लेनेपर सूक्ष्म और बादरोंमें कोई भेद नहीं रह जाता? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि स्थूल तो हों और चक्षुसे ग्रहण करने योग्य न हों, इस कथनमें क्या विरोध है? (अर्थात् कुछ नहीं)।

३. सूक्ष्म व बादरमें अवगाहना सम्बन्धी विचार

ध. १/१,१,३४/२५०-२५१/४ सूक्ष्मजीवशरीरादसंख्येयगुणं शरीरं बादरम्, तद्वन्तो जीवाश्च बादराः। ततोऽसंख्येयगुणहीनं शरीरं सूक्ष्मम्, तद्वन्तो जीवाश्च सूक्ष्मा उपचारादित्यपि कल्पना न साध्वी, सर्वजघन्यबादराङ्गात्सूक्ष्मकर्मनिर्वर्तितस्य सूक्ष्मशरीरस्यासंख्येयगुणत्वतोऽनेकान्तात्।२५०। तस्मात् (सूक्ष्मात्) अप्यसंख्येयगुणहीनस्य बादरकर्मनिर्वर्तितस्य शरीरस्योपलम्भात्। —प्रश्न—सूक्ष्म शरीरसे असंख्यात गुणी अधिक अवगाहनावाले शरीरको बादर कहते हैं, और उस शरीरसे युक्त जीवोंको उपचारसे बादर जीव कहते हैं। अथवा बादर शरीरसे असंख्यात गुणी हीन अवगाहनावाले शरीरको सूक्ष्म कहते हैं और उस शरीरसे युक्त जीवोंको उपचारसे सूक्ष्म जीव कहते हैं: उत्तर—यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, सबसे जघन्य बादर शरीरसे सूक्ष्म नामकर्मके द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीरकी अवगाहना असंख्यातगुणी होनेसे ऊपरके कथनमें दोष आता है।२५०। सूक्ष्म शरीरसे भी असंख्यात गुणी हीन अवगाहनावाले और बादर

नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए बादर शरीरकी उपलब्धि होती है।२५१। और भी—दे. अवगाहना/२।

ध.१२/४ २,१३,२१४/४४३/१३ ण च सुहुमयोगाहणाए बादरोगाहणा सरिसा ऊणा वा होदि किं तु असंखेज्जगुणा चेव होदि।—बादर जीवकी अवगाहना सूक्ष्म जीवकी अवगाहनाके बराबर या उससे हीन नहीं होती है, किन्तु वह उससे असख्यातगुणी ही होती है।

ध. १३/५,३,२१/२४/२ सुहुमं णाम सण्णं, ण अपडिहण्णमाणमिदि चे - ण, आयासादीणं सुहुमत्ता भावप्पसंगादो।—प्रश्न—सूक्ष्मका अर्थ बारीक है। दूसरेके द्वारा नहीं रोका जाना, यह उसका अर्थ नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि सूक्ष्मका यह अर्थ करनेपर महान् आकाश आदि सूक्ष्म नहीं ठहरेंगे।

गो. जी./जी. प्र./१८४/४१६/१५ यद्यपि बादरापर्याप्तवायुकायिकादीनां जघन्यशरीरावगाहनमल्पम्। ततोऽसंख्येयगुणत्वेन सूक्ष्मपर्याप्तकवायुकायिकादिपृथ्वीकायिकावसानजीवानां जघन्योत्कृष्टशरीरावगाहनानि महान्ति तथापि सूक्ष्मनामकर्मोदयसामर्थ्याद् अन्यत्तरतेषां प्रतिघाताभावात् निष्क्रम्य गच्छन्ति श्लक्ष्णवस्त्रनिष्क्रान्तजलबिन्दुवत्। बादराणां पुनरल्पशरीरत्वेऽपि बादरनामकर्मोदयवशादन्येन प्रतिघातो भवत्येव श्लक्ष्णवस्त्रानिष्क्रान्तसर्षपवत्। य (द्यपि) द्येवं ऋद्धिप्राप्तानां स्थूलशरीरस्य वज्रशिलादिनिष्क्रान्तिरस्ति सा कथं। इति चेत् तपोऽतिशयमाहात्म्येनेति ब्रूमः, अचिन्त्यं हि तपोविद्यामणिमन्त्रौषधिशक्त्यतिशयमाहात्म्य दृष्टस्वभावत्वात्। 'स्वभावोऽतर्कगोचरः' इति समस्तवादिसमतत्वात्। अतिशयरहितवस्तुविचारे पूर्वोक्तशास्त्रमार्ग एव बादरसूक्ष्माणां सिद्धः।—यद्यपि बादर अपर्याप्त वायुकायिकादि जीवोंकी अवगाहना स्तोक है और इससे लेकर सूक्ष्म पर्याप्त वायुकायिकादिक पृथिवीकायिक पर्यन्त जीवोंकी जघन्य वा उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यातगुणी है, तो भी सूक्ष्म नामकर्मकी सामर्थ्यसे अन्य पर्वतादिकसे भी इनका प्रतिघात नहीं होता है, उनमें वे निकलकर चले जाते हैं। जैसे—जलकी बूँद वस्त्रसे रुकती नहीं है निकल जाती है वैसे सूक्ष्म शरीर जानना। बादर नामकर्म कर्मके उदयसे अल्प शरीर होनेपर भी दूसरोंके द्वारा प्रतिघात होता है जैसे सरसों वस्त्रसे निकलती नहीं है तैसे ही बादर शरीर जानना। यद्यपि ऋद्धिप्राप्त मुनियोंका शरीर बादर है तो भी वज्र पर्वत आदिकमेंसे निकल जाता है, रुकता नहीं है सो यह तपजनित अतिशय को ही महिमा है। क्योंकि तप, विद्या, मणि, मन्त्र, औषधिकी शक्तिके अतिशयका माहात्म्य ही प्रगट होता है, ऐसा ही द्रव्यका स्वभाव है। स्वभाव तर्कके अगोचर है, ऐसा समस्त वादी मानते हैं। यहाँ पर अतिशयवानोंका ग्रहण नहीं है, इसलिए अतिशय रहित वस्तुके विचारमें पूर्वोक्त शास्त्रका उपदेश ही बादर सूक्ष्म जीवोंका सिद्ध हुआ।

४. सूक्ष्म व बादरमें प्रदेशों सम्बन्धी विचार

दे. शरीर/१/४,५ औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण ये पाँचों शरीर यद्यपि उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं परन्तु प्रदेशोंका प्रमाण उत्तरोत्तर असंख्यात व अनन्तगुणा है।

स.सि /२/३८/१९२/१० यद्येवं, परम्परं (शरीरं) महापरिमाणं प्राप्नोति। नैवम्; बन्धविशेषात्परिमाणभेदाभावस्तूलनिचयाय'पिण्डवत्। —प्रश्न—यदि ऐसा है तो उत्तरोत्तर एक शरीरसे दूसरा शरीर महापरिमाणवाला प्राप्त होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि बन्ध-विशेषके कारण परिमाणमें भेद नहीं होता। जैसे, रूईका ढेर और लोहेका गोला। (रा. वा./२/३८/५/१४८/८)

रा. वा /२/३६/६/१४८/३१ स्यादेतत्-बहुद्रव्योपचितत्वात् तैजसकार्मणयोरुपलब्धिः प्राप्नोतीति। तन्न; किं कारणम्। उक्तमेतत्-प्रचयविशेषात् सूक्ष्मपरिणाम इति। —प्रश्न—बहुत परमाणुवाले होनेके कारण तैजस और कार्मण शरीरकी उपलब्धि (दृष्टिगोचर) होना प्राप्त है? उत्तर—नहीं, पहले कहा जा चुका है कि उनका अति सघन और सूक्ष्म परिणमन होनेसे इन्द्रियोंके द्वारा उपलब्धि नहीं हो सकती।

ध. १३/५,४,२४/५०/४ ण च थूलेण बहुसंखेण चेव होदव्वमिदि णियमो अत्थि। थूलेरंडरुक्खादो सण्हलोहगोलएगरूवसण्णहाणुववत्तिबलेण पदेसबहुत्तुवलंभादो। —स्थूल बहुत संख्यावाला ही होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि स्थूल एरण्ड वृक्षसे, सूक्ष्म लोहेके गोलेमें एकरूपता अन्यथा बन नहीं सकती, इस युक्तिके बलसे प्रदेशबहुत्व देखा जाता है।

५. सूक्ष्म व बादरमें नामकर्म सम्बन्धी विचार

ध. १/१,१,३४/२४६–२५१/६ न बादरशब्दोऽयं स्थूलपर्यायः, अपितु बादरनाम्नः कर्मणो वाचकः। तदुदयसहचरितत्वाज्जीवोऽपि बादर'।२४६। कोऽनयोः (बादर-सूक्ष्म) कर्मणोरुदययोर्भेदश्चेन्मूर्तैरन्यैः प्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तको बादरकर्मोदय; अप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तकः सूक्ष्मकर्मोदय इति तयोर्भेदः। सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मजीवानां शरीरमन्यैर्न मूर्तद्रव्यैरभिहन्यते ततो न तदप्रतिघात' सूक्ष्मकर्मणो विपाकादिति चेन्न, अन्यैरप्रतिहन्यमानत्वेन प्रतिलब्धसूक्ष्मव्यपदेशभाजः सूक्ष्मशरीरादसंख्येयगुणहीनस्य बादरकर्मोदयतः प्राप्तबादरव्यपदेशस्य सूक्ष्मत्वप्रत्ययविशेषतोऽप्रतिघातत्तापत्तेः। —बादर शब्द स्थूलका पर्यायवाची नहीं है, किन्तु बादर नामक नामकर्मका वाचक है, इसलिए उस बादर नामकर्मके उदयके सम्बन्धसे जीव भी बादर कहा जाता है। प्रश्न—सूक्ष्म नामकर्मके उदय और बादर नामकर्मके उदयमें क्या भेद है? उत्तर—बादर नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोंसे आघात करने योग्य शरीरको उत्पन्न करता है। और सूक्ष्म नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघात नहीं करने योग्य शरीरको उत्पन्न करता है। यही उन दोनोंमें भेद है। प्रश्न—सूक्ष्म जीवोंका शरीर सूक्ष्म होनेसे ही अन्य मूर्त द्रव्योंके द्वारा आघातको प्राप्त नहीं होता है, इसलिए मूर्त द्रव्योंके साथ प्रतिघातका नहीं होना सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे नहीं मानना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघातको नहीं प्राप्त होनेसे सूक्ष्म संज्ञाको प्राप्त होने वाले सूक्ष्मशरीरसे असंख्यात गुणी हीन अवगाहनावाले और नामकर्मके उदयसे बादर संज्ञाको प्राप्त होनेवाले बादर शरीरकी सूक्ष्मताके प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात नहीं होगा, ऐसी आपत्ति आयेगी।

६. बादर जीव आश्रय से ही रहते हैं

ध. ७/२,६,४८/३३६/१ पुढवीओ चेवस्सिदूण बादराणमवट्ठाणादो। —पृथिवियोंका आश्रय करके ही बादर जीवोंका अवस्थान है। (ध. ४/१,३,२५/१००/१०) (गो. जी./मू./१८४/४१६) (का. अ./टी./१२२)

७. सूक्ष्म व बादर जीवोंका लोकमें अवस्थान

मू. आ./१२०२ एइंदिया य जीवा पंचविधा बादरा य सुहुमा य। देसेहिं बादरा खलु सुहुमेहिं णिरंतरो लोओ।१२०२। —एकेन्द्रिय जीव पृथिवीकायादि पाँच प्रकारके है और वे प्रत्येक बादर सूक्ष्म हैं, बादर जीव लोकके एक देशमें हैं तथा सूक्ष्म जीवोंसे सब लोक ठसाठस भरा हुआ है।१२०२। (और भी दे. क्षेत्र)

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. बादर वनस्पति कायिक जीवोंका लोकमें अवस्थान।

—दे. वनस्पति/२/१०।

२. बादर तैजस कायिकादिकोंका लोकमें अवस्थान। —दे. काय/२/५।

३. स्थूल परसे सूक्ष्मका अनुमान। —दे. अनुमान/२/५।

४. सूक्ष्म व स्थूल दृष्टि। —दे. परमाणु/१/६।

५. सूक्ष्म व बादर जीवों सम्बन्धी गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा स्थान आदि २० प्ररूपणाएँ। —दे. सत।

६. सूक्ष्म बादर जीवोंकी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ। —दे. वह-वह नाम।

७. सूक्ष्म बादर जीवोंमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व। —दे. वह-वह नाम।

८. स्कन्धके सूक्ष्म स्थूल आदि भेद। —दे. स्कन्ध/३।

सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय—दे. नय/III/५।

सूक्ष्म कृष्टि—दे. कृष्टि।

सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपत्ति शुक्लध्यान—दे. शुक्लध्यान/१/७।

सूक्ष्मजीव—दे. इन्द्रिय, काय, जीव समास।

सूक्ष्म सांपराय—

१. सूक्ष्म साम्पराय चारित्रका लक्षण

स. सि./९/१८/४३६/३ अतिसूक्ष्मकषायत्वात्सूक्ष्मसाम्परायचारित्रम्। —जिस चारित्रमें कषाय अति सूक्ष्म हो वह सूक्ष्म साम्पराय चारित्र है। (रा. वा./९/१८/९/६१७/२१); (ध. १/१,१,१२३/३७१/३); (गो.जी./जी. प्र./५४७/९१४/७)

पं. सं./प्रा./१/१३२ अणुलोहं वेयंतो जीओ उवसामगो व खवगो वा। सो सुहुमसंपराओ जहखाएणूणओ किंचि ।१३२। —मोहकर्मका उपशमन या क्षपण करते हुए सूक्ष्म लोभका वेदन करना सूक्ष्मसाम्पराय संयम है, और उसका धारक सूक्ष्मसाम्पराय संयत कहलाता है। यह संयम यथाख्यात संयमसे कुछ ही कम होता है। (ध. १/१,१,१२३/ गा. १९०/३७३); (गो. जी./मू./४७४/८८२); (त. सा./६/४८)

रा. वा./९/१८/९/६१७/२१ सूक्ष्मस्थूलसत्त्ववधपरिहाराप्रमत्तत्वात् अनुपहतोत्साहस्य अखण्डितक्रियाविशेषस्य ··· कषायविषाङ्कुरस्य अपचयाभिमुखालीनस्तोकमोहबीजस्य तत एव परिप्राप्तान्वर्थसूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतस्य सूक्ष्मसाम्परायचारित्रमाख्यायते। —सूक्ष्म-स्थूल प्राणियोंके वधके परिहारमें जो पूरी तरह अप्रमत्त है, अत्यन्त निर्बाध उत्साहशील, अखण्डितचारित्र···जिसने कषायके विषांकुरोंको खोंट दिया है, सूक्ष्म मोहनीय कर्मके बीजको भी जिसने नाशके मुखमें ढकेल दिया है, उस परम सूक्ष्म लोभवाले साधुके सूक्ष्म साम्पराय चारित्र होता है। (चा. सा./८४/२)

यो. सा. यो./१०३ सुहुमहँ लोहहँ जो विलउ जो सुहुमु वि परिणामु। सो सुहुम वि चारित्त मुणि सो सासय-सुह-धामु। —सूक्ष्म लोभका नाश होनेसे जो सूक्ष्मपरिणामोंका शेष रह जाना है, वह सूक्ष्म चारित्र है, वह शाश्वत सुखका स्थान है।

द्र. सं./टी./३५/१४८/४ सूक्ष्मातीन्द्रियनिजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन सूक्ष्मलोभाभिधानसाम्परायस्य कषायस्य यत्र निरवशेषोपशमनं क्षपणं वा तत्सूक्ष्मसाम्परायचारित्रमिति। —सूक्ष्म अतीन्द्रिय निजशुद्धात्माके बलसे सूक्ष्म लोभ नामक साम्पराय कषायका पूर्ण रूपसे उपशमन या क्षपण सो सूक्ष्म साम्पराय चारित्र है।

२ सूक्ष्म साम्पराय चारित्रका स्वामित्व

ष. खं. १/१,१/सू. १२७/३७६ सुहुम-सांपराइयसुद्धिसंजदा एक्कम्मि चेव सुहुम-सांपराइय सुद्धिसंजदट्ठाणे ।१२७। —सूक्ष्म साम्पराय शुद्धि संयत जीव एक सूक्ष्म-साम्पराय-शुद्धि-संयत गुणस्थानमें ही होते हैं।१२७। (गो. जी./मू./४६७); (गो. जी./जी. प्र./७०४/१४०/११); (द्र. सं./३५/१४८)

३. जघन्य उत्कृष्ट स्थानोंका स्वामित्व

ष. खं. ७/२,११/सू. १७२-१७३ व. टी./५६८ सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजमस्स जहण्णिया चरित्तलद्धी···।१७२।' उवसमसेडीदो ओयरमाण चरिमसमयसुहुमसांपराइयस्स। 'तस्सेव उक्कसिया चरित्तलद्धी··· ।१७३। चरिमसमयसुहुमसांपराइयखवगस्स। —सूक्ष्मसाम्परायिक-शुद्धि संयमकी जघन्य चरित्र लब्धि···।१७२। 'उपशम श्रेणीसे उतरने वाले अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिकके होती है। 'उसी ही सूक्ष्मसाम्परायिक शुद्धि संयमकी उत्कृष्ट चारित्र लब्धि···।१७३।'—अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्म साम्परायिक क्षपकके होती है।

४. सूक्ष्म साम्पराय चारित्र व गुप्ति समिति में अन्तर

रा. वा./९/१८/१०/६१७/२६ स्यान्मतम्-गुप्तिसमित्योरन्यतरत्रान्तर्भवतीदं चारित्रं प्रवृत्तिनिरोधात् सम्यगयनाच्चेति; तन्न; किं कारणम्। तद्भावेऽपि गुणविशेषनिमित्ताश्रयणात्। लोभसंज्वलनाख्यः साम्परायः सूक्ष्मो भवतीत्ययं विशेष आश्रितः। —प्रश्न—यह चारित्र प्रवृत्ति निरोध या सम्यक् प्रवृत्ति रूप होनेसे गुप्ति और समितिमें अन्तर्भूत होता है। उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि यह उनसे आगे बढ़कर है। यह दसवें गुणस्थानमें, जहाँ मात्र सूक्ष्म लोभ टिमटिमाता है, होता है, अतः यह पृथक् रूपसे निर्दिष्ट है।

६. सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/२२-२३ कोसुंभोजिह राओ अब्भंतरदो य सुहुमरत्तो य। एवं सुहुमसराओ सुहुमकसाओ त्ति णायव्वो ।२२। पुव्वापुव्वफड्डयअणुभागाओ अणंतगुणहीणे। लोहाणुम्मि य ट्ठिओ हंदि सुहुमसंपराओ य ।२३। —जिस प्रकार कुसुमली रंग भीतरसे सूक्ष्म रक्त अर्थात् अत्यन्त कम लालिमा वाला होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म राग सहित जीवको सूक्ष्मकषाय या सूक्ष्म साम्पराय जानना चाहिए ।२२। लोभाणु अर्थात् सूक्ष्म लोभमें स्थित सूक्ष्मसाम्परायसंयत की कषाय पूर्व स्पर्धक और अपूर्व स्पर्धकके अनुभाग शक्तिसे अनन्तगुणा हीन होती है ।२३। (गो. जी./मू./५८-५९); (ध. २/१, १, १८/गा. १२१/१८८)।

रा. वा./९/१/२१/५९०/१७ साम्परायः कषायः, स यत्र सूक्ष्मभावेनोपशान्ति क्षयं च आपद्यते तौ सूक्ष्मसाम्परायौ वेदितव्यौ।—साम्पराय-कषायोंको सूक्ष्म रूपसे भी उपशम या क्षय करने वाला सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक क्षपक है।

ध. १/१,१,१८/१८७/३ सूक्ष्मश्चासौ साम्परायश्च सूक्ष्मसाम्परायः। तं प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां ते सूक्ष्मसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः।

ध. १/१,१,२७/२/१४/३ तदो णंतर-समए सुहुमकिट्टिसरूवं लोभं वेदंतो णट्ठअणियट्टि-सण्णो सुहुमसांपराइओ होदि। —सूक्ष्म कषायको सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं उनमें जिन संयतोंकी शुद्धिने प्रवेश किया है उन्हें सूक्ष्म-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि संयत कहते हैं। २. इसके अनन्तर समयमें जो सूक्ष्म कृष्टि गत लोभका अनुभव करता है और जिसने अनिवृत्तिकरण इस संज्ञाको नष्ट कर दिया है, ऐसा जीव सूक्ष्मसाम्पराय संयम वाला होता है।

प्र. सं./टी./१३/३५/५ सूक्ष्मपरमात्मतत्त्वभावनाबलेन सूक्ष्मकृष्टिगत-लोभकषायस्योपशमकाः क्षपकाश्च दशमगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति। —सूक्ष्म परमात्म तत्त्व भावनाके बलसे जो सूक्ष्म कृष्टिरूप लोभ कषायके उपशमक और क्षपक हैं, वे दशम गुणस्थानवर्ती हैं।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानके स्वामित्व सम्बन्धी गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ। —दे. वह वह नाम।

२. इस गुणस्थान सम्बन्धी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्प-बहुत्वरूप आठ प्ररूपणाएँ। —दे. वह वह नाम।

३. इस गुणस्थानमें कर्मप्रकृतियोंका बन्ध, उदय, व सत्त्व प्ररूपणाएँ। —दे. वह वह नाम।

४. सभी गुणस्थानों व मार्गणास्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम। —दे. मार्गणा।

५. इस गुणस्थानमें कषाय योगके सद्भाव सम्बन्धी। —दे. वह वह नाम।

६. इस गुणस्थानमें औपशमिक व क्षायिक भाव सम्बन्धी। —दे. अनिवृत्तिकरण।

७. सूक्ष्म कृष्टिकरण सम्बन्धी। —दे. कृष्टि।

८. उपशम व क्षपक श्रेणी। —दे. श्रेणी।

९. पुनः पुनः यह गुणस्थान पानेकी सीमा। —दे. संयम/२।

१०. सूक्ष्मसाम्पराय व छेदोपस्थापनामें भेदाभेद। —दे. छेदोपस्थापना/४।

सूक्ष्म स्कंध—दे. स्कन्ध।

सूक्ष्मा वाणी—दे. भाषा।

सूची—Width (ज. प./प्र. १०६)। २. (Diameter or radius व्यास या माण १)। ३. सूची निकालनेकी प्रक्रिया। —दे. गणित/II/७।

४. ध. ३/१,२,१७/१३३/५ अंगुलवग्गमूले विक्खंभसूई हवदि। तं किं भूदमिति वुत्ते बिदियवग्गमूलगुणेण उवलक्खियं। —सूच्यंगुलके प्रथम वर्गमूलमें (अर्थात् सूच्यंगुलका आश्रय लेकर विष्कंभसूची होती है। वह सूच्यंगुलका प्रथम वर्गमूल किस रूप है, ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं कि सूच्यंगुलके द्वितीय वर्गमूलके गुणाकार से उपलक्षित है। अर्थात् सूच्यंगुलके प्रथम वर्गमूलको उसीके द्वितीय वर्गमूलसे गुणित कर देने पर सामान्य नारक मिथ्यादृष्टियोंकी विष्कम्भ सूची होती है। उदाहरण—सूच्यंगुल २×२; ३[१] विष्कम्भ-सूची २; सूच्यंगुलका वर्गमूल २, ३[२] सूच्यंगुलका द्वितीय वर्गमूल २, ३[१] ३[२] ३[१] विष्कम्भसूची। २×२=२

सूच्यंगुल—क्षेत्र प्रमाणका एक भेद—दे. गणित/I/१/३।

सूतक—१. सूतक पातक विषयक जुगुप्सा हेय है

मू. आ./टी./६४६ जुगुप्सा गर्हा द्विविधा द्विप्रकारा-लौकिकी लोकोत्तरा च। लोकव्यवहारशोधनार्थं सूतकादिनिवारणाय लौकिकी जुगुप्सा परिहरणीया तथा परमार्थं लोकोत्तरा च कर्तव्येति। —जुगुप्सा या गर्हा दो प्रकारकी है—लौकिकी व लोकोत्तर। लोक व्यवहार शोधनार्थ सूतक आदिका निवारण करनेके लिए जो लौकिकी जुगुप्सा की जाती है वह छोड़ने योग्य है, और परमार्थ या लोकोत्तर जुगुप्सा करनी योग्य है। (और भी देखो निर्विचिकित्सा)।

२. भोजन शुद्धिमें सूतक पातकके विवेकका निर्देश

भ. आ./वि./२३०/४४४/२० मृतजातसूतकयुक्तगृहिजनेन···दीयमाना वसतिर्दायकदुष्टा। —जिसको मरणाशौच अथवा जननाशौच है, ऐसे दोषसे युक्त गृहस्थके द्वारा यदि वसतिका दी गयी हो तो वह दायक दोषसे दुष्ट है।

त्रि. सा./९२४ ···असूचिसूदग···। कप्पदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते।९२४। —अपवित्रतासे अथवा मृतादिकका सूतकसे संयुक्त जो कुपात्रोंमें दान करता है वह जीव कुमनुष्योंमें उत्पन्न होता है।९२४।

अन. ध. ५/३४ शवादिनापि ''दत्तं दायकदोषभाक्।३४। उक्तं च—सूती शौण्डी तथा रोगी शवः षण्ढः पिशाचवान्। पतितोच्चार-नग्नाश्च रक्ता वेश्या च लिङ्गिनी। —शवको श्मशानमें छोड़कर आये हुए मृतक सूतकसे युक्त पुरुषों द्वारा दत्त आहार दायक दोषसे दूषित समझना चाहिए।३४। —जिसके सन्तान उत्पन्न हुई हो···।

बो. पा./टी./४८/११२ पर उद्धृत—दीनस्य सूतिकायाश्च···। —दीन अर्थात् दरिद्री, सूतक वाली स्त्रीके घरका विशेष रूपसे (साधु आहार ग्रहण न करें)।

ला. सं./५/२५१ सूतकं पातकं चापि यथोक्तं जैनशासने। एषणाशुद्धि-सिद्ध्यर्थं वर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः।२५१। —अणुव्रती श्रावकोंको अपने भोजनकी शुद्धि बनाये रखनेके लिए अथवा एषणा शुद्धिके लिए यथोक्त सूतक पातकका भी त्याग कर देना चाहिए। भावार्थ—किसीके सूतक पातकमें भोजन नहीं करना चाहिए।

चर्चा समाधान/५३/पृ. ५० मुनि आहारार्थ सूतक व दूषित ऐसे शूद्र कुलमें भी प्रवेश न करे।

३. सूतक पातक किसको व कहाँ नहीं लगता

प्रतिष्ठापाठ जयसेन/२५८ यद्वंश्यतीर्थकरबिम्बमुदीर्य संस्थामुल्या तदीय-कुलगोत्रजनिप्रवेशात्। संसूत्तगोत्रचरणप्रतिपात्ययोगादाशौचमावहतु नोद्यमवप्रहास्तम्।२५८। —जिस बड़ा बाबा यजमान बिम्ब प्रतिष्ठा करा रहा है, उसके वंश, कुल, गोत्रमें उस दिनसे अशौच नहीं माना जाता अर्थात् जिस दिन नान्दी अभिषेक हो गया उस दिनसे यजमानके कुलमें सूतक तथा सूवा नहीं लगता।२५८।

प्रायश्चित्त संग्रह/१५३ बालत्रणशूरस्वाज्ज्वलनादिप्रवेशे दीक्षिते। अनशनप्रदेशेषु च मृतकानां खलु सूतकं नास्ति। —तीन दिनका बालक, युद्धमें मरणको प्राप्त, अग्नि आदिके द्वारा मरणको प्राप्त जिन दीक्षित, अनशन करके मरणको प्राप्त; इनका मरणसूतक नहीं होता।

४. सूतक पातक शुद्धि काल प्रमाण

म. पु./३८/९०-९१ बहिर्यानं ततो द्वित्रैः मासैस्त्रिचतुरैरुत। यथानुकूलमिष्टेऽह्नि कार्यंतूर्यादिमङ्गलैः।९०। ततः प्रभृत्यभीष्टं हि शिशोः प्रसववेश्मनः। बहिःप्रणयनं माता धात्र्युत्सङ्गगतस्य वा।९१। —तदनन्तर (प्रसूतिके) दो-तीन अथवा तीन चार माहके बाद किसी शुभ दिन तुरही आदि मांगलिक बाजोंके साथ-साथ अपनी अनुकूलताके अनुसार बहिर्यान क्रिया करनी चाहिए। जिस दिन यह क्रिया की जाये उसी दिनसे माता अथवा धायकी गोदमें बैठे हुए बालकका प्रसूति गृहसे बाहर ले जाना सम्मत है।

प्रायश्चित्त संग्रह/१५३ ब्राह्मणक्षत्रियविड्शूद्रा दिनैः शुद्धयन्ति पञ्चभिः। दश-द्वादशभिः पञ्चादश वा संख्याप्रयोगतः।१५३। —ब्राह्मण पाँच दिनमें, क्षत्रिय दश दिनमें, वैश्य बारह दिनमें, और शूद्र पन्द्रह दिनोंमें पातकके दोषसे शुद्ध होते हैं।

४. व्यवहार गत सूतक पातक शुद्धिका काल प्रमाण

अवसर	जन्म	मरण		[illegible]	मरण
३ पीढ़ी तक	१० दिन	१२ दिन	१ महीने तकके बालक		१ दिन
४ ,, ,,	१० ,,	१० ,,	८ वर्ष तकका बालक		३ ,,
५ ,, ,,	६ ,,	६ ,,	३ मास तकका गर्भपात		३ ,,
६ ,, ,,	४ ,,	४ ,,	इसके पश्चात् जितने		उतने
७ ,, ,,	३ ,,	३ ,,	मासका गर्भपात हो		उतने दिन
८ ,, ,,	८ पहर	८ पहर	गृह त्यागी, संन्यासी		१ दिन
९ ,, ,,	२ ,,	२ ,,	गृहस्थी परदेशमें मरे तो		खबर
पुत्री, दासी, दास		३ दिन			आनेके
(अपने घरमें)					पीछे शेष
					दिन
गाय भैंस आदि		१ ,,	अपघातमृत्यु		६ माह
(अपने घरमें)					
अनाचारी स्त्री	सदा	सदा			
पुरुषके घर					

५. रजस्वला स्त्रीका स्पर्श करना योग्य नहीं

अन. ध./५/३५ में उद्धृत—रक्ता वेश्या च लिङ्गिनी।—जो मासिक धर्मसे युक्त हो, वेश्या तथा आर्यिका आदिके आहारको दायक दोषसे दुष्ट समझना चाहिए। (अन. ध./५/३४)

त्रि. सा./९२४ पुप्फवई···। कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते।९२४। —पुष्पवती स्त्रीका संसर्ग कर, जो कुपात्रमें दान देता है, वह कुमानुषोंमें उत्पन्न होता है।

सा. ध./४/३१···। स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्कचर्मास्थिशुनकादिकम्।—व्रती गृहस्थ रजस्वला स्त्री, सूखा चमड़ा, हड्डी, कुत्ता आदिके स्पर्श हो जानेपर (भोजन छोड़ दें।)

६. रजस्वला स्त्रीकी शुद्धिका काल प्रमाण

म. पु./३८/७० आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मन्त्रपूर्वकः। पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया।७०। —चतुर्थ स्नानके द्वारा शुद्ध हुई रजस्वला पत्नीको आगे कर गर्भाधानके पूर्व अर्हन्तदेवकी पूजाके द्वारा मन्त्रपूर्वक जो संस्कार किया जाता है उसे आधान क्रिया कहते हैं।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. नीचादिका अथवा रजस्वलाका स्पर्श होनेपर साधु जल धारा से शुद्धि करते हैं। —दे. भिक्षा/३।

सूत्र—१. दे. आगम/७ Formula. (ध. ५/प्र./२८)

सूत्रकृतांग—श्रुतके दृष्टिप्रवाद अंगका दूसरा भेद—दे. श्रुतज्ञान/*III*।

सूत्रपाहुड़—आ. कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) कृत शास्त्रज्ञान या सम्यग्ज्ञान विषयक २७ प्राकृत गाथाओंबद्ध ग्रन्थ है। इसपर आ. श्रुतसागर (ई. १४७३ १५३३) कृत संस्कृत टीका और पं. जयचन्द छाबड़ा (ई. १८६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है।

सूत्रमणि—रुचक पर्वतके नित्योद्योत कूटपर रहनेवाली विद्युत्कुमारी देवी—दे. लोक/५/१३।

सूत्रसम द्रव्य निक्षेप—निक्षेप/५/८।

सूत्र सम्यक्त्व—दे. सम्यग्दर्शन/*I*/१।

सूत्रोपसंयत—दे. समाचार।

सूना—मू. आ./९२६ कंडणी पीसणी चुल्ली उदकुंभं पमज्जणी। —ओखली, चक्की, चूलि, जल रखनेका स्थान, बुहारी ये पाँच सूना दोष कहलाते हैं। (अन. ध./४/१२५)

सूरसेन—भरत क्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४।

सूर्पार—भरतक्षेत्र पश्चिम आर्य खण्डका एक देश।—दे. मनुष्य/४।

सूर्य—१. इस सम्बन्धी विषय—दे. ज्योतिष/२; २ कृष्णका १७वाँ पुत्र—दे इतिहास१०/१०; ३. अपरविदेहस्थ नागगिरि वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे. लोक/५/४।

सूर्यगिरि—अपरविदेहस्थ एक वक्षार।—दे. लोक/५/३।

सूर्यपत्तन—वर्तमान सूरत। (म. पु./प्र. ४९ पं. पन्नालाल)।

सूर्यपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका नगर—दे. विद्याधर।

सूर्यप्रज्ञप्ति—अंग श्रुतका एक भेद—दे. श्रुतज्ञान/*III*।

सूर्यरज—म. पु./सर्ग/श्लोक सुग्रीवका पिता था (९/१) बालीको राज्य दे स्वयं दीक्षित हो गया था (९/११)।

सूर्यवंश—दे. इतिहास१०/१६।

सूर्यह्रद—देवकुरुके दस द्रहोंमेंसे दोका नाम—दे. लोक/७।

सूर्याचरण—सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे. सुमेरु।

सूर्याभ—१. लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे. लौकान्तिक; २. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

सूर्यावर्त—सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे. सुमेरु।

सृष्टा—दे. कर्म/३/१।

सृष्टि—१. अन्य मत मान्य सृष्टि व प्रलय—दे. वैशेषिक व सांख्य दर्शन; दे. २. प्रलय।

सेज्जाधर—१. भ. आ./वि./४२१/६१३/१३ सेज्जाधरशब्देन त्रयो भण्यन्ते वसतिं य करोति। कृतां वा वसतिं परेण भग्नां पतितैक-देशां वा सस्करोति। यदि वा न करोति न संस्कारयति केवलं प्रयच्छत्यत्रास्वेति। —जो वसतिकाको बनाता है वह, बनायी हुई वसतिकाका संस्कार करनेवाला अथवा गिरी हुई वसतिकाको सुधारनेवाला, किंवा उसका एक भाग गिर गया हो उसको सुधारनेवाला वह एक, जो बनवाता नहीं है, और संस्कार भी नहीं करता है परन्तु यहाँ आप निवास करो ऐसा कहता है वह, ऐसे तीनोंको सेज्जाधर कहते हैं। २. सेज्जाधरके हाथका आहार ग्रहण करनेका निषेध—दे. भिक्षा/३/२।

सेनसंघ—दे. इतिहास/५/२८।

सेना—१. सेनाका लक्षण

प. पु./५६/२-८ अष्टाविमे गताः ख्यातिं प्रकारा गणनाकृताः। चतुर्णां भेदमङ्गानां कीर्त्यमानं निबोध्यताम् ।३। पत्तिः प्रथमभेदोऽत्र तथा सेना प्रकीर्तिता। सेनामुखं ततो गुल्मं वाहिनी पृतना चमूः ।४। अष्टमोऽनीकिनीसंज्ञस्तत्र भेदो बुधैः स्मृतः। यथा भवन्त्यमी भेदास्तथेदानीं वदामि ते ।५। एको रथो गजश्चैकस्तथा पञ्च पदातयः। त्रयस्तुरङ्गमाः सैषा पत्तिरित्यभिधीयते ।६। पत्तिस्त्रिगुणिता सेना तिस्रः सेनामुखं च ताः। सेनामुखानि च त्रीणि गुल्ममित्यनुकीर्त्यते ।७। वाहिनी त्रीणि गुल्मानि पृतना वाहिनीत्रयम्। चमूस्त्रिपृतना ज्ञेया चमूत्रयमनीकिनीम् ।८। —हाथी, घोड़ा, रथ और पयादे ये सेनाके चार अंग कहे गये हैं। इनकी गणना करनेके नीचे लिखे आठ भेद प्रसिद्ध हैं ।३। प्रथम भेद पत्ति, दूसरा भेद सेना, तीसरा सेनामुख, चौथा गुल्म, पाँचवाँ वाहिनी, छठाँ पृतना, सातवाँ चमू और आठवाँ अनीकिनी। अब उक्त चार अंगोंमें ये जिस प्रकार होते हैं उनका कथन करता हूँ ।४-५। जिसमें एक रथ, एक हाथी, पाँच पयादे और तीन घोड़े होते हैं वह पत्ति कहलाता है।६। तीन पत्तिकी सेना होती है, तीन सेनाओंका एक सेनामुख होता है, तीन सेनामुखों का एक गुल्म कहलाता है ।७। तीन गुल्मोंकी एक वाहिनी होती है, तीन वाहिनियोंकी एक पृतना होती है, तीन पृतनाओंकी एक चमू होती है और तीन चमूकी एक अनीकिनी होती है ।८। दस अनीकिनीकी एक अक्षौहिणी होती है। कुल अक्षौहिणीका प्रमाण—दे. अक्षौहिणी।

★ **सेनाकी १८ श्रेणियाँ**—दे. श्रेणी/१/२।

सेनापति—१. सेनापति कहिए सेनाका नायक। (त्रि. सा./टी./-६८३); २. चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक—दे. शलाकापुरुष/२।

सेनामुख—सेनाका एक अंग—दे. सेना।

सेमर—नरकमें होनेवाला एक वृक्ष विशेष (छहढाला/१।

सेवा—प्र. सा./ता. वृ./२६२/३५४/१२ उपासनं शुद्धात्मभावना सहकारिकारणनिमित्तं सेवा। —शुद्धात्मभावनाकी सहकारीकारण उपासना सेवा है।

सैंधव—भरत क्षेत्रका एक देश। अपर नाम सिन्धु।—दे. मनुष्य/४।

सैतव—भरत क्षेत्रके मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४।

सैद्धांतिकदेव—नन्दिसंघके देशीय गण नं. २ की गुर्वावलीके अनुसार आप शुभचन्द्र नं. २ के शिष्य थे। समय—वि. १०७२-११०३ ई. १०१५-१०४६ (पं. सं./प्रा./प्र /ध. H. L. Jain)—दे. इतिहास/५/१४।

सोपक्रमकाल—दे. काल/१/६।

सोम—भद्रशाल वनस्थ पद्मोत्तर दिग्गजेन्द्रका स्वामी देव—दे. लोक/३/६.४।

सोमकायिक—१. लोकपाल देवोंका एक देव—दे. लोकपाल; २. आकाशोपपन्न देव—दे. देव/II/१/३।

सोमकीर्ति—काष्ठासंघकी नन्दितट शाखा में भीमसेनके शिष्य थे। कृति—प्रद्युम्न चरित्र, चारुदत्त चरित्र, यशोधर चरित्र, सप्तव्यसन कथा। समय—वि. १५१८-१५४० (ई. १४६१-१४८३)। (ती./३/३४४)।

सोमदत्त—इन्होंने जिनदत्त सेठसे आकाशगामिनी विद्याको सिद्ध करनेका उपाय प्राप्त किया। परन्तु अस्थिर चित्तके कारण सिद्ध न कर सके। फिर उसको विद्युच्चर चोरने सिद्ध किया। (बृहद् कथा कोश। कथा ४)।

सोमदेव—१.महातार्किक तथा राजनैतिक-धर्माचार्य। यशोदेव के प्रशिष्य, नेमिदेव के शिष्य और महेन्द्र देव के लघु सधर्मा। कर्नाटक देश में चालुक्य राज के पुत्र वाद्यराज से रक्षित। कृति—नीति वाक्यामृत, यशस्तिलक चम्पू, अध्यात्म तरंगिणी, स्याद्वादोपनिषद्, षण्णवतिप्रकरण, त्रिवर्ग महेन्द्र मातलिजल्प, युक्तिचिन्तामणिस्तव, योगमार्ग। समय—यशस्तिलक का रचनाकाल शक ८८१। तदनुसार वि. १०००-१०२५ (ई. ९४३-९६८)। (ती./३/७१-७३), (जै./२/४२७)। २. बृहद् कथा सरित सागर के रचयिता एक भट्टारक। समय—ई. १०६१-१०८१। (जीवन्धर चम्पू/प्र. १८/A. N. Up.)। ३. एक जिनबिम्ब प्रतिष्ठाचार्य गृहस्थ, कृति—श्रुतमुनि कृत आस्रव त्रिभंगी का गुजराती भाष्य। समय—वि श. १५-१६। (जै./१/४६२-४६३)।

सोमनाथ—'कल्याणकारक' के रचयिता एक कन्नड़ आयुर्वेदिक विद्वान्। समय—ई. ११५०। (ती./४/३११)।

सोमप्रभ—म.पु./सर्ग./श्लोक…श्रेयान्स राजाका भाई था। भगवान् ऋषभदेवको सर्व प्रथम आहार दिया (२०/८८)। अन्तमें भगवान्के समवशरणमें दीक्षा ग्रहणकर (२४/१७४) मुक्ति प्राप्त की (४३/८६)।

सोमयश—बाहुबलीका पुत्र था। इसीसे सोमवंशकी उत्पत्ति हुई थी। (ह. पु./१३/१-२); (प. पु./५१४)।—दे. इतिहास/१०/२।

सोमवंश—दे.इतिहास/१०/१७।

सोमशर्मा—१. जातिका ब्राह्मण था। जैन मुनिसे प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण कर ली। परन्तु वर्णका ठीक उच्चारण न होनेसे अन्य किसी आचार्यके पास जाकर चार आराधनाओंका आराधन कर स्वर्गमें देव हुआ। (बृ.क.को /कथा नं. २) २. पुष्पा भजलका पुत्र था। मित्र मुनि वारिषेणको आहार दानके पीछे उनको संघमें पहुँचाने गया। वहाँ अनिच्छक वृत्तिसे दीक्षा धारण कर ली। बहुत समय पश्चात् वारिषेण मुनिने इनको पदविचलित जान कर अपनी शृंगारित १०० सौ रानियोंको दिखाकर इसका स्थितिकरण किया। (बृ.क. को./कथा १०)। ३. विष्णुशर्मा द्वारा व्यापारार्थ प्रदत्त धनको डाकुओं द्वारा लूट लिया जानेपर दीक्षा ग्रहण कर ली। विष्णुशर्माके धनके लिए जिद करनेपर तपके प्रभावसे उसका धन चुका दिया। तब विष्णुदत्त भी दीक्षित हो गया। (बृ. क.को/कथा १६)।

सोमश्रेणी—राजा भोजके समय मालवा केआश्रमनगरमें सोमश्रेणी-के लिए नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक देवने द्रव्यसंग्रह रचा। समय—वि. श. ११-१२ (ई. ११का उत्तरार्ध)—दे. नेमिचन्द्र।

सोमसेन—सेनगणपुष्करगच्छ गुणभद्र भट्टारकके शिष्य, अभय पंडित के गुरु। कृति—राम पुराण, त्रिवर्णाचार (धर्म रसिक), शब्द रत्न प्रदीप (संस्कृत कोष)। समय—ग्रन्थों का रचना काल वि. १६५६-१६६७। (ती./३/४४१); (दे. इतिहास/७/६)।

सोमिल—भगवान् वीरके तीर्थमें अन्तकृत केवली हुए थे। दे. अन्तकृत।

सोमेश्वर—धारवाड़के राजा थे। इन्होंने धर्मगुरु गोवर्धन देवको सम्यक्त्व रत्नाकर चैत्यालयके लिए कुछ दान दिया था। समय—ई. १०४५ (सि.वि./७५ शिलालेख)

सोरठ—भरत क्षेत्रका एक देश। अपर नाम सौराष्ट्र—दे. मनुष्य/४।

सोलसा—भगवान् धर्मनाथकी शासक यक्षिणी—दे. तीर्थंकर/५/३।

सोल्व—भरत क्षेत्रस्थ मध्य आर्य खण्डका एक देश--दे. मनुष्य/४

सोकर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

सौगन्ध—मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट--दे. लोक/५/१०।

सौगन्धिक—मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक/५/१०।

सौत्रान्तिक—दे. बौद्धदर्शन।

सौदामिनी—रुचक पर्वत वासिनी दिक्कुमारी।—दे. लोक/५/१३।

सौदास—प.पु./२२/श्लोक—इक्ष्वाकु वंशी नघुषका पुत्र था (१३१) नरमांसभक्षी होनेके कारण राज्यसे च्युत कर दिया गया (१४४)। दैवयोगसे महापुर नगरका राज्य प्राप्त हुआ। इसके अनन्तर युद्धमें अपने पुत्रको जीत लिया। अन्तमें दीक्षित हो गया (१४८-१५२)।

सौधर्म—१. सौधर्मका लक्षण

स.सि./४/१६/२४६/७ सुधर्मा नाम सभा, सास्मिन्नस्तीति सौधर्मः कल्पः। तदस्मिन्नस्तीति अण्। तत्कल्पसाहचर्यादिन्द्रोऽपि सौधर्मः। —सुधर्मा नामकी सभा है वह जहाँ है उस कल्पका नाम सौधर्म है। यहाँ 'तदस्मिन्नस्ति' इससे अण् प्रत्यय हुआ है। और इस कल्पके सम्बन्धसे वहाँका इन्द्र भी सौधर्म कहलाता है।

२. सुधर्मा सभाका अवस्थान व विस्तार

ति.प./८/४०७-४०८ सक्कस्स मंदिरादो ईसाणदिसे सुधम्मणामसभा। तिसहस्सकोसउदया चउसयदीहा तदद्धविथारा।४०७। तीए दुवार-छेहो कोसा चउसट्ठि तद्दलं रुंदो। सेसाओ वण्णाओ सक्कप्पासाद—सरिसाओ।४०८। —सौधर्म इन्द्रके मन्दिरसे ईशान दिशामें तीन हजार (तीन सौ) कोश ऊँची, चार सौ कोश लम्बी और इससे आधी विस्तार वाली सुधर्मा नामक सभा है।४०७। सुधर्मा सभाके द्वारोंकी ऊँचाई चौसठ कोश और विस्तार इससे आधा है। शेष वर्णन सौधर्म इन्द्रके प्रासादके सदृश है।४०८।

त्रि.सा./५१५-५१६ अमरावदिपुरमज्झे थंभगिहीसाणदो सुधम्मक्खं। अद्धाणमण्डवं सयतद्दलदीहदु तदुभयदल उदयं।५१५। पुव्वुत्तर-दक्खिणदिस दुद्दारा अट्ठवास सोलुदया।..।५१६। —अमरावती नामका इन्द्रका पुर है उसके मध्य इन्द्रके रहनेके मन्दिरसे ईशान विदिशामें सुधर्मा नाम सभा स्थान है। वह स्थान सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और पचहत्तर योजन ऊँचा है।५१५। इस सभा स्थानके पूर्व, उत्तर, व दक्षिण विदिशामें तीन द्वार हैं, उस एक द्वार की ऊँचाई सोलह योजन और चौडाई आठ योजन है।५१६।

३. सुधर्मा सभा का स्वरूप

त्रि.सा./५१६-५२२ मज्झे हरिसिंहासणपट्टदेवीणासणं पुरदो।५१६। तव्वाहि पुव्वादिसु सलोयवालाणतुणेरिदिए।५१७। सेणावईणमवरे समाणियाणं तु पवणईसाणे। तणुरक्खाण भद्दासणाणि चउदिस-गयाणि बहिं।५१८। तस्सग्गे इगिवासो छत्तीसुदओ सवीढ वज्ज-मओ। माणत्थंभो गोरुदवित्थारय वारकोडिजुदो।५१९। चिट्ठंति तत्थ गोरुदचउत्थवित्थारकोसदीहजुदा। तित्थयरा भरणचिदा करंडया रयणसिक्कधिया।५२०। सुरियजुदविजुदछज्जोयणाणि उवरिं अधोवि ण करण्डा। सोहम्मदुगे भरहेरावदतित्थयरपडिबद्धा।५२१। साणक्कुमारजुगले पुव्ववर विदेहतित्थयर घुसा। ठविदच्चिदा सुरेहिं कोडी परिणाह वारंसो।५२२। —सुधर्मा सभाके मध्यमें इन्द्रका सिंहासन है। और उस सिंहासनके आगे आठ पटदेवियोंके आठ सिंहासन है।५१६। पटदेवियोंके आसनको पूर्वादि दिशाओंमें चारों लोकपालोंके चार आसन हैं। इन्द्रके आसनसे आग्नेय, यम और नैर्ऋति दिशाओंमें तीन जातिके परिषदोंके क्रमसे १२०००, १४००० और १६००० आसन है। और त्रयस्त्रिंशत् देवोंके ३३ आसन नैर्ऋतदिशामें हो है।५१७। सेना नायकोंके सात आसन पश्चिम दिशामें, सामानिक देवोंके वायु और ईशान दिशामें हैं। इनमें चौरासी हजार सामानिकके आसनोंमें ४२००० तो वायु दिशामें, ४२००० ईशान दिशामें जानने। अगरक्षक देवोंके भद्रासन चारों दिशाओंमें हैं तहाँ सौधर्मके पूर्वादि एक-एक दिशामें ८४००० आसन जानने।५१८। इस मण्डपके आगे एक योजन चौड़ा, छत्तीस योजन ऊँचा, पीठसे युक्त वज्रमय एक-एक कोश विस्तार वाली १२ धाराओं-से युक्त एक मानस्तम्भ है।५१९। तिस मानस्तम्भमें चौथाई कोश चौड़े, एक कोश लम्बे तीर्थंकर देवके आभरणोंसे भरे हुए रत्नोंकी साँकलमें लटके हुए पिटारे हैं। मानस्तम्भ छत्तीस योजन ऊँचा है। उसमें नीचेसे पौने छह योजन ऊँचाई तक पिटारे नहीं हैं। बीचमें २४ योजनकी ऊँचाईमें पिटारे है, और फिर ऊपर सवा छह योजन की ऊँचाईमें पिटारे नहीं हैं। सौधर्म द्विकमें के मानस्तम्भ भरत ऐरावतके तीर्थंकर सम्बन्धी है।५२०-५२१। सनत्कुमार युगल सम्बन्धी मानस्तम्भोंके पिटारोंमें पूर्व पश्चिम विदेहके तीर्थंकरोंके आभूषण स्थापित करके देवोंके द्वारा पूजनीय हैं।५२२।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. कल्पवासी देवोंका एक भेद निर्देश —दे. स्वर्ग/३

२. कल्पवासी देवोंका अवस्थान —दे. स्वर्ग/५

३. कल्प स्वर्गोंका प्रथम कल्प है --दे. स्वर्ग/५/२।

सौभाग्यदशमी व्रत—भादों सुदी दशमी दिन ठान, दश सुहागिनों भोजन दान। (व्रत विधान सं./१२६) (नवल साहकृत वर्द्धमान पुराण)।

सौमनस—१. विदेह क्षेत्रस्थ एक गजदन्त पर्वत —दे. लोक/५/३; २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर; ३. सौमनस गजदन्तका एक कूट व उसका स्वामी देव —दे. लोक/५/४। ४. सुमेरु पर्वतका तृतीय वन, इसमें चार चैत्यालय हैं।—दे. लोक३/६,५. रुचक पर्वतस्थ एक कूट--दे. लोक/५/१३, ६. नव ग्रैवेयकका आठवाँ पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/५/३।

सौम्या वांचना—दे. वाँचना।

सौराष्ट्र—दे. सुराष्ट्र।

सौवीर—१. भरत क्षेत्रस्थ उत्तर आर्य खण्डका एक देश।—दे. मनुष्य/४; २. सिन्ध देशका एक भाग। (म. पु./प्र. २० पं. पन्नालाल)।

सौवीरभुक्ति व्रत— प्रारम्भ करनेके दिनसे पहिले दिन एक-लठाना (केवल एक बार परोसे हुए भोजनको सन्तोष पूर्वक खाना), अगले दिन एक उपवास करे। पश्चात् एक ग्रास वृद्धि क्रमसे एकसे लेकर १० ग्रास पर्यन्त दस दिन तक भात व इमलीका भोजन करे। पुनः उससे अगले दिनसे एक हानि क्रमसे दसवें दिन १ ग्रास ग्रहण करे। अन्तिम दोपहर पश्चात् उपरोक्तवत् एकलठाना करे। चारित्र-सारमें इसीको आचाम्लवर्धनके नामसे कहा है।

स्कंदगुप्त—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह गुप्त वंशका चौथा राजा था। इसके समयमें हूणवंशी सरदार काफी जोर पकड़ चुके थे। उन्होंने आक्रमण भी किया था, जिसे इसने पीछे फेर दिया था। समय—ई ४१३-४३५—दे. इतिहास/३/४।

स्कंध—Molecule (ज. प./प्र. १०६)

स्कंध—परमाणुओंमें स्वाभाविक रूपसे उनके स्निग्ध व रूक्ष गुणोंमें हानि वृद्धि होती रहती है। विशेष अनुपातवाले गुणोंको प्राप्त होनेपर

वे परस्परमें बँध जाते हैं, जिसके कारण सूक्ष्मतमसे स्थूलतम तक अनेक प्रकारके स्कन्ध उत्पन्न हो जाते हैं। पृथिवी, अप्, प्रकाश, छाया आदि सभी पुद्गल स्कन्ध हैं। लोकके सर्वद्वीप, चन्द्र, सूर्य आदि महान् पृथिवियाँ मिलकर एक महास्कन्ध होता है, क्योंकि पृथक्-पृथक् रहते हुए भी ये सभी मध्यवर्ती सूक्ष्म स्कन्धोंके द्वारा परस्परमें बँधकर एक हैं।

१. स्कन्ध निर्देश

१. स्कन्ध सामान्यका लक्षण

स. सि./५/२५/२९७/७ स्थूलभावेन ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारस्कन्धनात्स्कन्धा इति संज्ञायन्ते। —जिनमें स्थूल रूपसे पकड़ना, रखना आदि व्यापारका स्कन्धन अर्थात् संघटना होती है वे स्कन्ध कहे जाते हैं। (रा. वा./५/२५/२/४९१/१९)।

रा. वा./५/२५/१६/४९३/६ बन्धो बध्यते, तं परिप्राप्ताः येऽणवः ते स्कन्धा इति व्यपदेशमर्हन्ति। —जिन परमाणुओंने परस्पर बन्ध कर लिया है वे स्कन्ध कहलाते हैं।

★ पुद्गल वर्गणा रूप स्कन्ध—दे. वर्गणा।

२. स्कन्ध देशादिके भेद व लक्षण

पं. का./मू./७५ खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति। अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी।७५। —सकल—समस्त (पुद्गल पिण्डात्मक सम्पूर्ण वस्तु) वह स्कन्ध है, उसके अर्धको देश कहते हैं, अर्धका अर्ध वह प्रदेश है और अविभागी वह सचमुच परमाणु है।७५। (मू. आ./२३१); (ति. प./१/९५); (ध. १३/५,३,१२/गा. ३/१३); (गो. जी./मू. ६०४/१०५६); (यो. सा. अ./२/१६)।

रा. वा./५/२५/१६/४९३/७ ते (स्कन्धाः) त्रिविधाः स्कन्धाःस्कन्धदेशाः स्कन्धप्रदेशाश्चेति। अनन्तानन्तपरमाणुबन्धविशेषः स्कन्धः। तदर्धं देशः। अर्धार्धं प्रदेशः। तद्भेदाः पृथिव्यप्तेजोवायवः; स्पर्शादिशब्दादिपर्यायाः। —वे स्कन्ध तीन प्रकारके हैं—स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्ध प्रदेश। अनन्तानन्त परमाणुओंका बन्ध विशेष स्कन्ध है। उसके आधेको देश कहते हैं और आधेके भी आधेको प्रदेश। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि उसीके भेद हैं। स्पर्शादि और स्कन्धादि उसकी पर्याय हैं।

३. स्थूल सूक्ष्मकी अपेक्षा स्कन्धके भेद व लक्षण

नि. सा./मू./२१-२४ अइथूलथूलथूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च। सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं।२१। भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा। थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया।२२। छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि। सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य।२३। सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो। तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि।२४। —१. भेद—अतिस्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ऐसे पृथिवी आदि स्कन्धोंके छह भेद हैं।२१। (म. पु./२४/२४९); (पं. का./त. प्र./७६); (यो. सा. अ./२/२०); (गो. जी./मू./६०३/१०५९); २. लक्षण—भूमि, पर्वत आदि अतिस्थूल-स्थूल स्कन्ध कहे गये हैं, घी जल तेल आदि स्थूलस्कन्ध जानना।२२। छाया, आतप आदि स्थूल-सूक्ष्मस्कन्ध जानना और चार इन्द्रियके विषयभूत स्कन्धोंको सूक्ष्म-स्थूल कहा गया है।२३। और कर्म वर्गणाके योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं, उनसे विपरीत (अर्थात् कर्म वर्गणाके अयोग्य) स्कन्ध अतिसूक्ष्म कहे जाते हैं।२४।

ध. ३/१,२,१/गा. २/३ पुढवी-जलं च छाया चउरिंदियविसय-कम्म-परमाणू। छव्विह भेयं भणियं जिणवरेंहि।२। —पृथिवी, जल, छाया, नेत्र इन्द्रियके अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियोंके विषय, कर्म और परमाणु, इस प्रकार पुद्गल द्रव्य छह प्रकारका कहा है। (पं. का./प्रक्षेपक/७३-१/१३०); (न. च. वृ./३२); (गो. जी./मू./६०२/१०५८); (नि. सा./ता. वृ./२०)।

म. पु./२४/१५०-१५३ शब्दः स्पर्शो रसो गन्धः सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते। अचाक्षुषत्वे सत्येषाम् इन्द्रियग्राह्यतेक्षणात्।१५१। स्थूलसूक्ष्माः पुनर्ज्ञेयाश्छायाज्योत्स्नातपादयः। चाक्षुषत्वेऽप्यसंहार्यरूपत्वादविघातकाः।१५२। द्रवद्रव्यं जलादि स्यात् स्थूलभेदनिदर्शनम्। स्थूलस्थूलः पृथिव्यादिर्भेद्यः स्कन्धः प्रकीर्तितः।१५३। —शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं, क्योंकि यद्यपि इनका चक्षु इन्द्रियके द्वारा ज्ञान नहीं होता, इसलिए ये सूक्ष्म हैं परन्तु अपनी-अपनी कर्ण आदि इन्द्रियोंके द्वारा इनका ग्रहण हो जाता है इसलिए ये स्थूल भी कहलाते हैं।१५१। छाया, चाँदनी और आतप आदि स्थूल-सूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि चक्षु इन्द्रियके द्वारा दिखाई देनेके कारण यह स्थूल हैं, परन्तु इनके रूपका संहरण नहीं हो सकता, इसलिए विघात रहित होनेके कारण सूक्ष्म भी हैं।१५२। पानी आदि तरल पदार्थ जो कि पृथक् करनेपर भी मिल जाते हैं स्थूल भेदके उदाहरण हैं और पृथिवी आदि स्कन्ध जो कि भेद किये जानेपर फिर मिल न सकें स्थूल-स्थूल कहलाते हैं।१५३।

पं. का./त. प्र./७६ तत्र छिन्नाः स्वयं संधानासमर्थाः काष्ठपाषाणादयो बादरबादराः। छिन्नाः स्वयं संधानसमर्थाः क्षीरघृततैलतोयरसप्रभृतयो बादराः। स्थूलोपलम्भा अपि छेत्तुं भेत्तुमादातुमशक्याः छायातपतमोज्योत्स्नादयो बादरसूक्ष्माः। सूक्ष्मत्वेऽपि स्थूलोपलम्भाः स्पर्शरसगन्धशब्दाः सूक्ष्मबादराः। सूक्ष्मत्वेऽपि हि करणानुपलभ्याः कर्मवर्गणादयः सूक्ष्माः। अत्यन्तसूक्ष्माः कर्मवर्गणाभ्योऽधो द्व्यणुकस्कन्धपर्यन्ताः सूक्ष्मसूक्ष्मा इति। —काष्ठ पाषाणादिक जो कि छेदन करनेपर स्वयं नहीं जुड़ सकते वे (घन पदार्थ) बादर-बादर हैं। दूध, घी, तेल, रस आदि जो कि छेदन करनेपर स्वयं जुड़ जाते हैं वे (प्रवाही पदार्थ) बादर हैं। छाया, धूप, अन्धकार, चाँदनी आदि (स्कन्ध) जो कि स्थूल ज्ञात होनेपर भी जिनका छेदन, भेदन, अथवा (हस्तादि द्वारा) ग्रहण नहीं किया जा सकता वे बादर-सूक्ष्म हैं। स्पर्श-रस-गंध-शब्द जो कि सूक्ष्म होनेपर भी स्थूल ज्ञात होते हैं (जो चक्षुके अतिरिक्त अन्य चार इन्द्रियोंसे ज्ञात होते हैं) वे सूक्ष्म बादर हैं। कर्म वर्गणादि कि जिन्हें सूक्ष्मपना है तथा जो इन्द्रियोंसे ज्ञात न हों ऐसे हैं वे सूक्ष्म हैं। कर्म वर्गणासे नीचेके द्विअणुक स्कंध तकके जो कि अत्यन्त सूक्ष्म हैं वे सूक्ष्मसूक्ष्म हैं। (गो. जी./जी. प्र./६०३/१०५९)।

४. महास्कन्ध निर्देश

ष. खं./१४/५,६/सू. ६४१/४९४ अट्ठ पुढवीओ टंकाणि कूडाणि भवणाणि विमाणाणि विमाणिंदियाणि विमाणपत्थडाणि णिरयाणि णिरयिंदयाणि णिरयपत्थडाणि गच्छाणि गुम्माणि वल्लीणि लदाणि तणवणप्फदि आदीणि।६४१। —आठ पृथिवियाँ, टंक, कूट, भवन, विमान, विमानेन्द्रक, विमानप्रस्तर नरक, नरकेन्द्रक, नरकप्रस्तर, गच्छ, गुल्म, वल्ली, लता और तृण वनस्पति आदि महास्कन्ध स्थान हैं।६४१।

गो. जी./जी. प्र./६००/१०५२/४ महास्कन्धवर्गणा वर्तमानकाले एका सा तु भवनविमानाष्टपृथ्वीमेरुकुलशैलादीनामेकीभावरूपा। कथं संख्यातासंख्यातयोजनान्तरितानामेकत्वं। एकबन्धनबद्धसूक्ष्मपुद्गलस्कन्धैः समवेतानामन्तराभावात्। —महास्कन्ध वर्गणा वर्तमान कालमें जगत्में एक ही है सो भवनवासियोंके भवन, देवियोंके विमान, आठ पृथिवी, मेरुगिरि, कुलाचल इत्यादिका एक स्कन्ध

रूप ही है। प्रश्न—जिनके संख्यात असंख्यात योजनका अन्तर है, तिनका एक स्कन्ध कैसे संभवता है? उत्तर—जो मध्यमें सूक्ष्म परमाणू हैं, सो वे विमान आदि और सूक्ष्म परमाणू इन सबका एक बँधान है, इसलिए अन्तर नहीं है एक स्कन्ध है। इस एक स्कन्ध-का नाम महास्कन्ध है।

द्र. सं./टी./२/चूलिका/७६/२ पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगतं, शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगतं न भवति। —पुद्गल द्रव्य लोक व्यापक महा स्कन्धकी अपेक्षा सर्वगत हैं और शेष पुद्गलोंकी अपेक्षा असर्वगत हैं।

दे. परमाणु /२/७ (महास्कन्धमें कुछ परमाणु त्रिकाल अचल हैं)

दे. वर्गणा/२/२ (जघन्य वर्गणासे लेकर महास्कन्ध पर्यन्त वर्गणाओंकी क्रमिक वृद्धि)

★ **वनस्पति स्कन्ध निर्देश**—दे. वनस्पति/१/७।

५. स्कन्धोंकी उत्पत्तिका कारण

त. सू./५/२६ भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते।२६।

स. सि./५/२६/२९८/५ भेदात्संघाताद्भेदसंघाताभ्यां च उत्पद्यन्त इति। तद्यथा—द्वयोः परमाण्वोः संघाताद् द्विप्रदेशः स्कन्ध उत्पद्यते। द्विप्रदेशस्याणोश्च त्रयाणां वा अणूनां संघातात्त्रिप्रदेशः। द्वयोर्द्विप्रदेशयोस्त्रिप्रदेशस्याणोश्च चतुर्णां वा अणूनां संघाताच्चतुः-प्रदेशः। एवं संख्येयासंख्येयानन्तानामनन्तानन्तानां च संघातात्तावत्प्रदेशः। एषामेव भेदात्तावद् द्विप्रदेशपर्यन्ताः स्कन्धा उत्पद्यन्ते। एवं भेदसंघाताभ्यामेकसमयिकाभ्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते। अन्यतो भेदेनान्यस्य संघातेनेति। एवं स्कन्धानामुत्पत्तिहेतुरुक्तः। —भेदसे, संघातसे तथा भेद और संघात दोनोंसे स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। प्रश्न—भेद और संघात दो हैं। इसलिए सूत्रमें द्विवचन होना चाहिए? उत्तर—दो परमाणुओंके संघातसे दो प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशवाले स्कन्ध और अणुके संघातसे या तीन अणुओंके संघातसे तीन प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशवाले दो स्कन्धोंके संघातसे, तीन प्रदेशवाले स्कन्ध और अणुके संघातसे या चार अणुओंके स्कन्धोंके संघातसे, चार प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त अणुओंके संघातसे उतने-उतने प्रदेशोंवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। तथा इन्हीं संख्यात आदि परमाणुवाले स्कन्धोंके भेदसे दो प्रदेशवाले स्कन्ध तक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार एक समयमें होनेवाले भेद और संघात इन दोनोंसे दो प्रदेशवाले आदि स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि जब अन्य स्कन्धसे भेद होता है और अन्यका संघात, तब एक साथ भेद और संघात इन दोनोंसे भी स्कन्धकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार स्कन्धोंकी उत्पत्तिका कारण कहा। (रा. वा./५/२६/२-५/४९३/२६)।

दे. वर्गणा/२/१,८,६ (ऊपरकी वर्गणाओंके भेदसे तथा नीचेकी वर्गणाओं-के संघातसे उत्पन्न होनेका स्पष्टीकरण)

६. स्कंधोंमें चाक्षुष अचाक्षुष विभाग व उनकी उत्पत्ति

त. सू./५/२८ भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः/२८।

स. सि./५/२८/२९९/७ अनन्तानन्तपरमाणुसमुदयनिष्पाद्योऽपि कश्चिच्चाक्षुषः कश्चिदचाक्षुषः। तत्र योऽचाक्षुषः स कथं चाक्षुषो भवतीति चेदुच्यते—भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः। न भेदादिति। कात्रोपपत्तिरिति चेत्। ब्रूमः; सूक्ष्मपरिणामस्य स्कन्धस्य भेदे सौक्ष्म्यापरित्यागादचाक्षुषत्वमेव। सौक्ष्म्यपरिणतः पुनरपरः सत्यपि तद्भेदेऽन्य-संघातान्तरसंयोगात्सौक्ष्म्यपरिणामोपरमे स्थौल्योत्पत्तौ चाक्षुषो भवति। —भेद और संघातसे चाक्षुष स्कन्ध उत्पन्न होता है।२८। अनन्तानन्त परमाणुओंके समुदायसे निष्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है और कोई अचाक्षुष। उसमें जो अचाक्षुष स्कन्ध है वह चाक्षुष कैसे होता है इसी बातके बतलानेके लिए यह कहा है कि भेद और संघातसे चाक्षुष स्कन्ध होता है, केवल भेदसे नहीं, यह सूत्रका अभिप्राय है। प्रश्न—इसका क्या कारण है। उत्तर—आगे उसी कारणको कहते हैं—सूक्ष्म परिणामवाले स्कन्धका भेद होनेपर वह अपनी सूक्ष्मताको नहीं छोड़ता इसलिए उसमें अचाक्षुषपना ही रहता है। एक दूसरा सूक्ष्म परिणाम वाला स्कन्ध है जिसका यद्यपि भेद हुआ तथापि उसका दूसरे संघातसे संयोग हो गया अतः सूक्ष्मपना निकलकर उसमें स्थूलपनेकी उत्पत्ति हो जाती है और इसलिए वह चाक्षुष हो जाता है। (रा. वा./५/२८/–/४९४/१५)

★ **परमाणुओंकी हीनाधिकतासे स्कन्ध मोटा व छोटा नहीं होता।** —दे. सूक्ष्म/१/४।

★ **स्कन्धके प्रदेशोंमें गुणों सम्बन्धी।** —दे. पुद्गल।

७. शब्द गन्ध आदि भेद स्कन्धके हैं परमाणुके नहीं

रा. वा./५/२४/२४/४९०/२५ शब्दादयस्तु स्कन्धानामेव व्यक्तिरूपेण भवन्ति सौक्ष्म्यवर्ज्या इत्येतस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थं पृथग्योगकरणम्। —शब्द आदि (अर्थात शब्द बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, और छाया व आतप उद्योत ये सब) व्यक्त रूपसे स्कन्धोंके ही होते हैं सौक्ष्म्यको छोड़कर, इस विशेषताको बतानेके लिए पृथक् सूत्र बनाया है।

८. कर्म स्कन्ध सूक्ष्म हैं स्थूल नहीं

स. सि./८/२४/४०२/११ कर्मग्रहण…योग्याः पुद्गलाः सूक्ष्माः न स्थूलाः इति। —कर्म रूपसे ग्रहण योग्य पुद्गल सूक्ष्म होते हैं स्थूल नहीं होते। (रा. वा./८/२४/४/५८५/१७)

★ **एक जातिके स्कन्ध दूसरी जाति रूप परिणमन नहीं करते।** —दे. वर्गणा/२/८।

★ **अनन्तों स्कन्धोंका लोकमें अवस्थान व अवगाह।** —दे. आकाश/३/५।

२. पुद्गल बन्ध निर्देश

१. पुद्गल बन्धका लक्षण

रा. वा./२/१०/२/१२४/२४ द्रव्यबन्धः कर्मनोकर्मपरिणतः पुद्गलद्रव्य-विषयः। —नोकर्म रूपसे परिणत पुद्गलकर्म रूप द्रव्यबन्ध है।

ध. १३/५,६,८२/३४७/६,१२ दो तिण्णि आदि पोग्गलाणं जो समवाओ सो पोग्गलबंधो णाम।६। जेण णिद्धल्लुक्खादिगुणेण पोग्गलाणं बंधो होदि सो पोग्गलबंधो णाम। —दो, तीन आदि पुद्गलोंका जो समवाय सम्बन्ध होता है वह पुद्गल बन्ध कहलाता है।…जिस स्निग्ध और रूक्ष आदि गुणके कारण पुद्गलोंका बन्ध होता है उसकी पुद्गलबन्ध संज्ञा है।

प्र. सा./त. प्र./१७७ यस्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्व-परिणामः स केवलपुद्गलबन्धः। —कर्मोंका जो स्निग्धतारूक्षता रूप स्पर्श विशेषोंके साथ एकत्व परिणाम है सो केवल पुद्गल बन्ध है।

द्र. सं./टी./१६/५२/१२ मृत्पिण्डादिरूपेण योऽसौ बहुधाबन्धः स केवलः पुद्गलबन्धः। —मिट्टी आदिके पिण्ड रूप जो बहुत प्रकारका बन्ध है वह तो केवल पुद्गलबन्ध है।

पं. ध /उ./४७ द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा। —कर्मरूप पौद्गलिक पिंडका अथवा कर्मकी शक्तिका ही नाम द्रव्य बन्ध है।४७।

२. बन्धका कारण स्निग्ध रूक्षता

त. सू./५/३३ स्निग्धरूक्षत्वाद्‌ बन्धः।३३।

स. सि./५/३३/३०४/८ द्वयोः स्निग्धरूक्षयोरण्वोः परस्परश्लेषलक्षणे बन्धे सति द्व्यणुकस्कन्धो भवति। एवं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशः स्कन्धो योज्यः। —स्निग्धत्व और रूक्षत्वसे बन्ध होता है।३३। स्निग्ध और रूक्षगुणवाले दो परमाणुओंका परस्पर संश्लेष लक्षण बन्ध होनेपर द्व्यणुक नामका स्कन्ध बनता है। इसी प्रकार संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। (गो. जी./मू./६०९/१०६६)

३. स्निग्ध व रूक्षमें परस्पर बन्ध होने सम्बन्धी नियम

ष. खं. १४/५,६/सू. ३४,३६/३१,३३ णिद्धणिद्धा ण बज्झंति ल्हुक्खल्हुक्खा य पोग्गला। णिद्धल्हुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला।३४। णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण ल्हुक्खस्स ल्हुक्खेण दुराहिएण। णिद्धस्स ल्हुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा।३६। —स्निग्ध पुद्गल स्निग्ध पुद्गलोंके साथ नहीं बँधते। रूक्ष पुद्गल रूक्ष पुद्गलोंके साथ नहीं बँधते किन्तु सदृश और विसदृश ऐसे स्निग्ध और रूक्ष पुद्गल परस्पर बँधते हैं।३४। स्निग्ध पुद्गलका दो गुण अधिक स्निग्ध पुद्गलके साथ और रूक्ष पुद्गलका दो गुण अधिक रूक्ष पुद्गलके साथ बन्ध होता है। तथा स्निग्ध पुद्गलका रूक्ष पुद्गलके साथ जघन्य गुणके सिवा विषम अथवा सम गुणके रहनेपर बन्ध होता है।३६। (प्र. सा./त. प्र./१६६ में उद्‌धृत); (गो. जी./मू./६१०,६१८/१०६८)

प्र. सा./मू./१६६ णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि। लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो।१६६। —स्निग्धरूपसे दो अंशवाला परमाणु चार अंशवाले स्निग्ध परमाणुके साथ बन्धको अनुभव करता है अथवा रूक्षरूपसे तीन अंशवाला परमाणु पाँच अंशवालेके साथ युक्त होता हुआ बँधता है।

त. सू./५/३४-३६ न जघन्यगुणानाम्।३४। गुणसाम्ये सदृशानाम्।३५। द्व्यधिकादिगुणानां तु।३६। —जघन्य गुणवाले पुद्गलोंका बन्ध नहीं होता।३४। समान शक्त्यंश होनेपर तुल्य जातिवालोंका बन्ध नहीं होता।३५। दो अधिक आदि शक्त्यंशवालोंका तो बन्ध होता है।३६।

न. च. वृ./२८ णिद्धाणं णिद्धेण तहेव रुक्खेण सरिस विसमं वा। बज्झदि दोगुणअहिओ परमाणु जहण्णगुणरहिओ।२८। —जघन्य गुणसे रहित तथा दो गुण अधिक होनेपर स्निग्धका स्निग्धके साथ, रूक्षका रूक्षके साथ, स्निग्धका रूक्षके साथ, और रूक्षका स्निग्धके साथ परमाणुओंका बन्ध होता है।

★ स्कन्धोंमें परमाणुओंका एक देश व सर्वदेश समागम —दे. परमाणु/३।

४. पुद्गल बंध सम्बन्धी नियममें दृष्टि भेद

संकेत—सदृश = स्निग्ध + स्निग्ध या रूक्ष + रूक्ष। विसदृश = स्निग्ध + रूक्ष या रूक्ष + स्निग्ध।

दृष्टि नं. १. (ष. खं. १४/मू. व टी./५,६/सू. ३२-३६/३०-३२)।

दृष्टि नं. २. (स. सि./५/३४-३६/३०५-३०७); (रा. वा./५/३४-३६/४९८-४९९); (गो. जी./मू. व जी. प्र./६१२-६१८/१०६९)।

नं.	गुणांश	दृष्टि नं० १		दृष्टि नं० २	
		सदृश	विसदृश	सदृश	विसदृश
१	समान गुणधारी	नहीं	है	नहीं	नहीं
२	असमान गुणधारी	हाँ	,,	है	है
३	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
४	जघन्य + जघन्येतर	,,	,,	,,	,,
५	जघन्येतर + सम जघन्येतर	,,	है	,,	,,
६	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	,,	,,	,,	,,
७	जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	,,	है	है
८	जघन्येतर + त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	है	नहीं	नहीं

५. बन्ध परमाणुओंके गुणोंमें परिणमन

त. सू./५/३७ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।३७।

स. सि./५/३७/३०७/११ यथा क्लिन्नो गुडोऽधिकमधुररसः परीतानां रेण्वादीनां स्वगुणोत्पादनात् पारिणामिकः। तथाऽन्योऽप्यधिकगुणः अल्पीयसः पारिणामिक इति कृत्वा द्विगुणादिस्निग्धरूक्षस्य चतुर्गुणादिस्निग्धरूक्षः पारिणामिको भवति। ततः पूर्वावस्थाप्रच्यवनपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकत्वमुपपद्यते। इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्तुवत् संयोगे सत्यप्यपारिणामिकत्वात्सर्वं विविक्तरूपेणैवावतिष्ठेत। —बन्धके समय दो अधिक गुणवाला परिणमन करानेवाला होता है।३७। जैसे अधिक मीठे रसवाला गीला गुड़ उसपर पड़ी हुई धूलिको अपने गुणरूपसे परिणमानेके कारण पारिणामिक होता है उसी प्रकार अधिक गुणवाला अन्य भी अल्प गुणवालेका पारिणामिक होता है। इस व्यवस्थाके अनुसार दो शक्त्यंशवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुका चार शक्त्यंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु पारिणामिक होता है। इससे पूर्व अवस्थाओंका त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है। अतः उनमें एकरूपता आ जाती है अन्यथा सफेद और काले तन्तुके समान संयोग होनेपर भी पारिणामिक न होनेसे सब अलग-अलग ही स्थित रहेगा।

गो. जी./मू./६१९/१०७४ णिद्धीदरगुणा अहिया हीणं परिणामयंति बंधम्मि। संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसाण खंधाणं। —संख्यात असंख्यात अनन्तप्रदेशवाले स्कन्धोंमें स्निग्ध या रूक्षके अधिक गुणवाले परमाणु या स्कन्ध अपनेसे हीन गुणवाले परमाणु या स्कन्धोंको अपने रूप परिणमाते है। (जैसे एक हजार स्निग्ध या रूक्ष गुणके अंशोंसे युक्त परमाणु या स्कन्धको एक हजार दो अंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु या स्कन्ध परणमाता है।)

★ गुणोंका परिणमन स्वजातिकी सीमाका लंघन नहीं कर सकता —दे० गुण/२/७।

स्कंधशाली—महोरग नामा जातिय व्यन्तरदेवोंका एक भेद—दे० महोरग।

स्तंभन यंत्र—दे. यंत्र।

स्तंभावष्टंभ—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

स्तनक—दूसरे नरकका प्रथम पटल अथवा (त्रि.सा.की अपेक्षा) द्वितीय नरकका द्वितीय पटल—दे० नरक/५/११।

स्तनदृष्टि—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

स्तनलोला—दूसरे नरकका ११वाँ पटल—दे० नरक/५/११।

स्तनलोलुक—दूसरे नरकका ११वाँ पटल—दे० नरक/५/११

स्तनित—१ भवनवासी देवोंका एक भेद—दे० भवन/१/४;२. स्तनित कुमार देवोंका लोकमें अवस्थान—दे० भवन/४।

स्तब्ध—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

स्तव—दे० भक्ति/३।

स्तिवुक संक्रमण—दे० संक्रमण/१०।

स्तुति—१ पूर्व व पश्चात स्तुति नामक आहारका एक दोष —दे० आहार/II/४। २. स्तुति सम्बन्धी विषय—दे०भक्ति/३। ३. न्या.द./टी. २/१/६४/१००/२५ विधे' फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुति' संप्रत्ययार्थं स्तूयमानं श्रद्दधीतेति। प्रवर्त्तिका च फलश्रवणात् प्रवतन्ते सर्वजिता वै देवा' सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येवमादि। —विधि वाक्यके फल कहनेसे जो प्रशंसा है, उसे स्तुति कहते हैं क्योंकि फलकी प्रशंसा सुननेसे प्रवृत्ति होती है। उदाहरण, जैसे—देवोंने इस यज्ञको करके यज्ञको जीता, इस यज्ञके करनेसे सब कुछ प्राप्त होता है इत्यादि।

स्तूप—१. म.पु./२२/२६४ जनानुरागास्ताद्रूप्यम् आपन्ना इव ते बभु'। सिद्धार्हत्प्रतिबिम्बौघैः अभितश्चित्रमूर्तयः। — अर्हन्त सिद्ध भगवान्की प्रतिमाओंसे वे स्तूप चारोंओरसे चित्रविचित्र हो रहे थे और सुशोभित हो रहे थे मानो मनुष्योंका अनुराग ही स्तूपों रूप हो रहा हो। २६४। सवशरण स्थिति स्तूप—दे० समशरण २. Pyramid, (ज.प./प्र./१०८)

स्तेनप्रयोग—स.सि /७/२७/३६७/३ मुष्णन्तं स्वयमेव वा प्रयुङ्क्तेऽन्येन वा प्रयोजयति प्रयुक्तमनुमन्यते वा यत' स स्तेनप्रयोग'। —किसीको चोरीके लिए स्वयं प्रेरित करना, या दूसरेके द्वारा प्रेरणा दिलाना या प्रयुक्त किये हुए की अनुमोदना करना स्तेन प्रयोग है। (रा. वा /७/२७/१/५५४/६)।

स्तेनित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

स्तेय—१ त. सू./७/१५ (प्रमत्तयोगात्) अदत्तादानं स्तेयम्।१५।
स. सि./७/१५/३५२/१२ आदान ग्रहणमदत्तस्यादानमदत्तादानं स्तेयमित्युच्यते।...दानादाने यत्र सभवतस्तत्रैव स्तेयव्यवहारः।—बिना दी हुई वस्तुका लेना स्तेय है। १५। आदान शब्दका अर्थ ग्रहण है। बिना दी हुई वस्तुका लेना अदत्तादान है और यही स्तेय चोरी कहलाता है...जहाँ देना और लेना सम्भव हैं वहीं स्तेयका व्यवहार होता है। (रा.वा./७/१५/२/५४२/१५) २. स्तेय सम्बन्धी विषय—दे० अस्तेय।

स्तेयानन्दी रौद्रध्यान—दे० रौद्रध्यान।

स्तोक—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४।

स्तोत्र—भिन्न-भिन्न आचार्योंने अनेकों स्तोत्र रचे हैं—१. आ० समन्तभद्र (ई. श २) कृत देवागम स्तोत्र, स्वयंभूस्तोत्र व जिनस्तुतिशतक। २. आ० पूज्यपाद (ई. श. ५) कृत शान्त्यष्टकमें शान्तिनाथ भगवान्का स्तोत्र है। ३. श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ई. ५५५) कृत कल्याणमन्दिर स्तोत्र व शाश्वत जिन स्तुति। ४. आ० पात्रकेशरी (ई.श.६-७) कृत जिनेन्द्र स्तुति या पात्रकेशरी स्तोत्र। ५. आ० अकलंक भट्ट (ई. ६४०-६८०) कृत अकलंक स्तोत्र। ६. आ० विद्यानन्दि (ई.७७५-८४०) कृत सुपार्श्वनाथ स्तोत्र। ७. आ० वादिराज (ई. १०००-१०४०) कृत एकीभावस्तोत्र। ८. आ० वसुनन्दि (ई. १०४३-१०५३) कृत जिनशतक स्तोत्र। ९. आ० मानतुंग (ई. १०२१-१०२५) कृत भक्तामर स्तोत्र। १०. श्वे० आ० हेमचन्द्र (ई. १०८८-११८३) कृत वीतराग स्तोत्र। ११. पं. आशाधर (११७३-१२४३) कृत सहस्रनाम स्तव। १२. आ० पद्मनन्दि (ई. १३२८-१३९८) कृत जरापल्लीपार्श्वनाथ स्तोत्र। १३. जिनसहस्रनाम स्तोत्र—दे० अर्हन्त

स्त्यानगृद्धि—दे. निद्रा।

स्त्री—धर्मपत्नी, भोगपत्नी, दासीपत्नी, परस्त्री, वेश्यादि भेदसे स्त्रियाँ कई प्रकारकी कही गयी हैं। ब्रह्मचर्यधर्मके पालनार्थ यथाभूमिका इनके त्यागका उपदेश है। आगममें जो स्त्रियोंकी इतनी निन्दा की गयी है, वह केवल इनके भौतिक रूपपर ग्लानि उत्पन्न करानेके लिए लिए ही जानना अन्यथा तो अनेकों सतियाँ भी हुई हैं जो पूज्य हैं।

१. स्त्री सामान्य व लक्षण

पं. सं./प्रा /१/१०५ छादयति सयं दोसेण जदो छादयदि पर पि दोसेण। छादणसीला णियदं तम्हा सा वण्णिया इत्थी। —जो मिथ्यात्व आदि दोषोंसे अपने आपको आच्छादित करे और मधुर संभाषण आदिके द्वारा दूसरोंको भी दोषसे आच्छादित करे, वह निश्चयसे यतः आच्छादन स्वभाववाली है अत 'स्त्री' इस नामसे वर्णित की गयी है। (ध. १/१,१,१०१/गा. १७०/३४१); (गो. जी./मू./२८०/५९५); (पं. सं./सं/१/१९९)।

ध. १/१,१,१०१/३४०/१ दोषै रात्मानं परं च स्तृणाति छादयतीति स्त्री, स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेद'। अथवा पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री पुरुषकाङ्क्षेत्यर्थः। स्त्रियं विन्दतीति स्त्रीवेद' अथवा वेदनं वेद', स्त्रियो वेद' स्त्रीवेद'।—१. जो दोषोंसे स्वयं अपनेको और दूसरोंको आच्छादित करती है उसे स्त्री कहते है। (ध ६/१,९-१, २४/४६/८); (गो. जी./जी. प्र./२७४/५९६/४) और स्त्री रूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते है। २. अथवा जो पुरुषकी आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं, जिसका अर्थ पुरुषकी चाह करनेवाली होता है, जो अपनेको स्त्री रूप अनुभव करती है उसे स्त्रीवेद कहते है। ३. अथवा वेदन करनेको वेद कहते हैं और स्त्री रूप वेदको स्त्रीवेद कहते हैं।

२. स्त्रीवेदकर्मका लक्षण

स. सि./८/९/३८६/२ यदुदयात्स्त्रैणान्भावान्प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः। —जिसके उदयसे स्त्री सम्बन्धी भावोंको प्राप्त होता वह स्त्रीवेद है। (रा. वा /८/९/५७४/२०); (प. ध./उ./१०८१)।

ध. ६/१,९-१;२४/४७/१ जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण पुरुसम्मि आकंखा उप्पज्जइ तेसिमित्थिवेदो त्ति सण्णा।—जिन कर्म स्कन्धोंके उदयसे पुरुषमें आकांक्षा उत्पन्न होती है उन कर्मस्कन्धोंकी 'स्त्रीवेद' यह संज्ञा है। (ध. १३/५,५,९६/३६१/६)।

★ **स्त्रीवेदके बन्ध योग्य परिणाम**- दे. मोहनीय/३/६।

३. स्त्रीके अनेकों पर्यायवाची शब्दोंके लक्षण

भ. आ./मू./९७७-९८१/१०४५ पुरिसं वधमुवणेदित्ति होदि वहुगा णिरुत्तिवादम्मि। दोसे संघादिदि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स।९७७। तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णेत्ति उच्चदे णारी। पुरिसं सदा पमत्तं कुणदि त्ति य उच्चदे पमदा।९७८। गलए लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा। जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा

य।१७१। अबनत्ति होदि जं से ण दढं हिदयम्मि धिदिबलं अत्थि। कुमरणोपायं जं जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी।१८०। आल जाणेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा। एवं महिला णामाणि होंति असुभाणि सव्वाणि।१८१। —स्त्री पुरुषको मारती है इस वास्ते उसको वधू कहते हैं। पुरुषमें यह दोषोंका समुदाय संचित करती है इस वास्ते इसका 'स्त्री' यह नाम है।१७७। मनुष्यको इसके समान दूसरा शत्रु नहीं है अतः इसको नारी कहते है। यह पुरुषको प्रमत्त अर्थात् उन्मत्त बनाती है इसलिए इसको 'प्रमदा' कहते हैं।१७८। पुरुषके गलेमें यह अनर्थोंको बाँधती है अथवा पुरुषको देखकर उसमें लीन हो जाती है अतः इसको विलया कहते हैं। यह स्त्री पुरुषको दुःखसे संयुक्त करती है अतः युवति और योषा ऐसे दो नाम इसके हैं।१७९। इसके हृदयमें धैर्य रूपी बल दृढ रहता नहीं अतः इसको अबला कहते हैं। कुत्सित ऐसा मरणका उपाय उत्पन्न करती है, इस लिए इसको कुमारी कहते है।१८०। यह पुरुषके ऊपर दोषारोपण करती है इसलिए उसको महिला कहते हैं। ऐसे जितने स्त्रियोंके नाम है वे सब अशुभ है।१८।

४. द्रव्य व भावस्त्रीके लक्षण

स.सि./२/५२/२००/६ स्त्रीवेदोदयात् स्त्यायस्त्यस्यां गर्भ इति स्त्री। —स्त्रीवेदके उदयसे जिसमें गर्भ रहता है वह (द्रव्य) स्त्री है। (रा.वा./२/५२/१/५७/४)।

गो.जी./जी.प्र./२७१/५९१/१७ स्त्रीवेदोदयेन पुरुषाभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीव भावस्त्री भवति। स्त्रीवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयेन निर्लोममुखस्तनयोन्यादिलिङ्गलक्षितशरीरयुक्तो जीवो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्य(स्त्री) भवति। —स्त्रीवेदके उदयसे पुरुषकी अभिलाषा रूप मैथुन संज्ञाका धारक जीव भावस्त्री होता है।...निर्माण नामकर्मके उदयसे युक्त स्त्रीवेद रूप आकार विशेष लिये, अंगोपांग नामकर्मके उदयसे रोम रहित मुख, स्तन, योनि इत्यादि चिह्न संयुक्त शरीरका धारक जीव, सो पर्यायके प्रथम समयसे लगाकर अन्तसमय पर्यंत द्रव्यस्त्री होता है।

नोट—(और भी देखो भावस्त्रीका लक्षण स्त्री/१,२)।

५. गृहीता आदि स्त्रियोंके भेद व लक्षण

ला.स./२/१७८-२०६ देवशास्त्रगुरून्नत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम्। पत्नी पाणिगृहीता स्यात्तदन्या चेटिका मता।१७८। तत्र पाणिगृहीता या सा द्विधा लक्षणाद्यथा। आत्म ज्ञाति परज्ञातिः कर्मभूरूढिसाधनात्।१७९। परिणीतात्मज्ञातिश्च धर्मपत्नीति सैव च। धर्मकार्ये हि सध्रीची यागादौ शुभकर्मणि।१८०। सः सूनुः कर्मकार्येऽपि गोत्ररक्षादिलक्षणे। सर्वलोकाविरुद्धत्वादधिकारी न चेतरः।१८२। परिणीतानात्मज्ञातिर्या पितृसाक्षिपूर्वकम्। भोगपत्नीति सा ज्ञेया भोगमात्रैकसाधनात्।१८३। आत्मज्ञातिः परज्ञातिः सामान्यवनिता तु या। पाणिग्रहणशून्या चेच्चेटिका सुरतप्रिया।१८४। चेटिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगाङ्गमात्रतः। लौकिकोक्तिविशेषोऽपि न भेदः पारमार्थिकः।१८५। विशेषोऽस्ति मिथश्चात्र परत्वैकत्वतोऽपि च। गृहीता चागृहीता च तृतीया नगराङ्गना।१९८। गृहीतापि द्विधा तत्र यथाद्या जीवभर्तृका। सत्सु पित्रादिवर्गेषु द्वितीया मृतभर्तृका।१९९। चेटिका या च विख्याता पतिस्तस्याः स एव हि। गृहीता सापि विख्याता स्यादगृहीता च तद्वत्।२००। जीवत्सु बन्धुवर्गेषु रण्डा स्यान्मृतभर्तृका। मृतेषु तेषु सैव स्यादगृहीता च स्वैरिणी।२०१। अस्याः संसर्गवेलायामिङ्गिते नरि वैरिभिः। सापराधतया दण्डो नृपादिभ्यो भवेद्ध्रुवम्।२०२। केचिज्जैना वदन्त्येवं गृहीतैषां स्वलक्षणात्। नृपादिभिर्गृहीतत्वान्नीतिमार्गानतिक्रमात्।२०३। विख्यातो नीतिमार्गोऽयं स्वामी स्याज्जगतां नृपः। वस्तुतो यस्य न स्वामी तस्य स्वामी महीपतिः।२०४। तन्मतेषु गृहीता सा पित्राद्यैरावृतापि या। यस्याः संसर्गतो भीतिर्जायते न नृपादितः।२०५। तन्मते द्विधैव स्वैरी गृहीतागृहीतभेदतः। सामान्यवनिता या स्याद्गृहीतान्तर्भावतः।२०६। —स्वस्त्री—देवशास्त्र गुरुको नमस्कारकर तथा अपने भाई बन्धुओंकी साक्षी पूर्वक जिस कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह विवाहिता स्त्री कहलाती है, ऐसी विवाहिता स्त्रियोंके सिवाय अन्य सब पत्नियाँ दासियाँ कहलाती हैं।१७८। विवाहिता पत्नी दो प्रकारकी होती है। एक तो कर्मभूमिमें रूढिसे चली आयी अपनी जातिकी कन्याके साथ विवाह करना और दूसरी अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह करना।१७९। अपनी जातिकी जिस कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह धर्मपत्नी कहलाती है। वह ही यज्ञ-पूजा प्रतिष्ठा आदि शुभ कार्योंमें व प्रत्येक धर्म कार्योंमें साथ रहती है।१८०। उस धर्मपत्नीसे उत्पन्न पुत्र ही पिताके धर्मका अधिकारी होता है और गोत्रकी रक्षा करने रूप कार्यमें वह ही समस्त लोकका अविरोधी पुत्र है। अन्य जातिकी विवाहिता कन्या रूप पत्नीसे उत्पन्न पुत्रको उपरोक्त कार्योंका अधिकार नहीं है।१८२। जो पिताकी साक्षीपूर्वक अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह भोगपत्नी कहलाती है, क्योंकि वह केवल भोगोपभोग सेवन करनेके काम आती है, अन्य कार्योंमें नहीं।१८३। अपनी जाति तथा पर जातिके भेदसे स्त्रियाँ दो प्रकारकी है तथा जिसके साथ विवाह नहीं हुआ है ऐसी स्त्री दासी वा चेटी कहलाती है, ऐसी दासी केवल भोगाभिलाषिणी है।१८४। दासी और भोगपत्नी केवल भोगोपभोगके ही काम आती हैं। लौकिक दृष्टिसे यद्यपि उनमें थोड़ा भेद है पर परमार्थसे कोई भेद नहीं है।१८५। परस्त्री भी दो प्रकारकी हैं, एक दूसरेके अधीन रहनेवाली और दूसरी स्वतन्त्र रहनेवाली जिनको गृहीता और अगृहीता कहते हैं। इनके सिवाय तीसरी वेश्या भी परस्त्री कहलाती है।१९८। गृहीता या विवाहिता स्त्री दो प्रकारकी हैं एक ऐसी स्त्रियाँ जिनका पति जीता है तथा दूसरी ऐसी जिनका पति तो मर गया हो परन्तु माता, पिता अथवा जेठ देवरके यहाँ रहती हों।१९९। इसके सिवाय जो दासीके नामसे प्रसिद्ध हो और उसका पति ही घरका स्वामी हो वह भी गृहीता कहलाती है। यदि वह दासी किसीकी रक्खी हुई न हो, स्वतन्त्र हो तो वह गृहीता दासीके समान ही अगृहीता कहलाती है।२००। जिसके भाई बन्धु जीते हों परन्तु पति मर गया हो ऐसी विधवा स्त्रीको भी गृहीता कहते हैं। ऐसी विधवा स्त्रीके यदि भाई बन्धु सब मर जायें तो अगृहीता कहलाती है।२०१। ऐसी स्त्रियोंके साथ संसर्ग करते समय कोई शत्रु राजाको खबर कर दे तो अपराधके बदले राज्यकी ओरसे भी कठोर दण्ड मिलता है।२०२। कोई यह भी कहते हैं कि जिस स्त्रीका पति और भाई बन्धु सब मर जायें तो भी अगृहीता नहीं कहलाती किन्तु गृहीता ही कहलाती है, क्योंकि गृहीता लक्षण उसमें घटित होता है क्योंकि नीतिमार्गका उल्लंघन न करते हुए राजाओंके द्वारा ग्रहण की जाती हैं इसलिए गृहीता ही कहलाती हैं।२०३। संसारमें यह नीतिमार्ग प्रसिद्ध है कि संसार भरका स्वामी राजा होता है। वास्तवमें देखा जाये तो जिसका कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा ही होता है।२०४। जो इस नीतिको मानते हैं, उनके अनुसार उसको गृहीता ही मानना चाहिए, चाहे वह माता पिताके साथ रहती हो, चाहे अकेली रहती हो। उनके मतानुसार अगृहीता उसको समझना चाहिए जिसके साथ संसर्ग करनेपर राजाका डर न हो।२०५। ऐसे लोगोंके मतानुसार रहनेवाली (कुलटा) स्त्रियाँ दो प्रकार ही समझनी चाहिए। एक गृहीता दूसरी अगृहीता। जो सामान्य स्त्रियाँ हैं वे सब गृहीतामें अन्तर्भूत कर लेना चाहिए (तथा वेश्याएँ अगृहीता समझनी चाहिए)।२०६।

६. चेतनाचेतन स्त्रियाँ

चा. सा./६५/२ तिर्यग्मनुष्यदेवाचेतनभेदाच्चतुर्विधा स्त्री...। –तिर्यंच, मनुष्य, देव और अचेतनके भेदसे चार प्रकारकी स्त्रियाँ होती हैं। (बो. पा./टी./११८/२६७/२०)

बो. पा./टी./११८/२६७/१६ काष्ठ-पाषाण-लेपकृतास्त्रियो। –काष्ठ पाषाण और लेप की हुई ये तीन प्रकारकी अचेतन स्त्रियाँ होती हैं।

७. स्त्रीकी निन्दा

भ. आ./मू./गाथा नं. वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकण्हसप्पसत्तू सु। सो वीसभ गच्छदि वीसभदि जो महिलिया सु।६५२। पाउसकालण-दीवोव्व ताओ णिच्चपि कलुसहिदयाओ। धणहरणकदमदीओ चोरोव्व सकज्जगुरुयाओ।६५४। आगास भूमि उदधी जल मेरू वाउणो वि परिमाण। मादुं सक्का ण पुणो सक्का इत्थीण चित्ताइं।६६३। जो जाणिऊण रत्तं पुरिसं चम्मट्ठिमंसपरिसेसं। उद्दाहंति य वडिसामिसलग्गमच्छं व।६७१। चंदो हविज्ज उण्हो सीदो सूरो वि थड्डमागासं। ण य होज्ज अदोसा भद्दिया वि कुलबालिया महिला।९९०। –जो पुरुष स्त्रियोंपर विश्वास करता है वह बाघ, विष, चोर, आग, जल प्रवाह, मदवाला हाथी, कृष्णसर्प, और शत्रु इनके ऊपर विश्वास करता है ऐसा समझना चाहिए।६५२। वर्षा कालकी नदीका मध्य प्रदेश मलिन पानीसे भरा रहता है और स्त्रियोंका चित्त भी राग, द्वेष, मोह, असूया आदि दुष्ट भावोंसे मलिन है। चोर जैसा मनमें इन लोगोंका धन किस उपायसे ग्रहण किया जावे ऐसा विचार करता है, वैसे ही स्त्रियाँ भी (रति क्रीडा द्वारा) धन हरण करनेमें चतुर होती है।६५४। आकाश, जमीन, समुद्र पानी, मेरु और वायु इन पदार्थोंका कुछ परिमाण है, परन्तु स्त्रीके चित्तका अर्थात् उनके मनमें उत्पन्न होने वाले विकल्पोंका परिमाण जान लेना अशक्य है।६६३। अपनेपर आसक्त हुआ पुरुष चर्म, हड्डी, और मांस ही शेष बचा हुआ है ऐसा देखकर गलको लगे हुए मत्स्यके समान उसको मार देती है, अथवा घरसे निकाल देती है।६७१। चन्द्र कदाचित शीतलताको त्यागकर उष्ण बनेगा, सूर्य भी ठंडा होगा, आकाश भी लोह पिण्डके समान घन होगा, परन्तु कुलीन वंशकी भी स्त्री कल्याणकारिणी और सरल स्वभावकी धारक न होगी।९९०। (विशेष दे भ. आ./मू./९३८-१०३०)

ज्ञा./१२/४४,५० भेत्तुं शूलमसि छेत्तुं कर्तितुं क्रकचं दृढम्। नरान्पीडयितुं यन्त्रं वेधसा विहिता. स्त्रियः।४४। यदि मूर्त्ताः प्रजायन्ते स्त्रीणां दोषा कथचन। पूरयेयुस्तदा नूनं निःशेषं भुवनोदरम्।५०। –ब्रह्माने स्त्रियाँ बनायी है वे मनुष्योंका बेधनेके लिए शूली, काटनेके लिए तलवार, कतरनेके लिए करोंत अथवा पेलनेके लिए मानो यन्त्र ही बनाये हैं।४४। आचार्य कहते है कि स्त्रियोंके दोष यदि किसी प्रकारसे मूर्तिमान् हो जायें तो मैं समझता हूँ कि उन दोषोंसे निश्चय करके समस्त त्रिलोकी परिपूर्ण भर जायेगी।५०। (विशेष विस्तार दे. ज्ञा./१२१-१५५)

※ स्त्रीकी निन्दाका कारण उसकी दोषप्रचुरता

–दे. स्त्री/६।

८. स्त्री प्रशंसा योग्य भी है

भ. आ./मू./९९५–१००० किं पुण गुणसहिदाओ इत्थीओ अत्थि वित्थडजसाओ। णरलोगदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ।९९५। तित्थयर चक्कधर वासुदेवबलदेवगणधरवराण। जणणीओ महिलाओ सुरणरवरेहिं महियाओ।९९६। एगपदिव्वइकण्णा वयाणि धारिंति कित्तिमहिलाओ। वेधव्वतिव्वदुक्खं आजीवं णित्ति काओ वि।९९७। सीलवदीवो सुव्वंति महीयले पत्तपाडिहेराओ। सावाणुग्गहसमत्थाओ विय काओव महिलाओ।९९८। उग्घेण ण वूढाओ जलंतघोरग्गिणा ण दड्ढाओ। सप्पेहिं सावज्जेहिं वि हरिदा खद्धा ण काओ वि।९९९। सव्वगुणसमग्गाणं साहूणं पुरिसपवरसीहाणं। चरमाणं जणणित्तं पत्ताओ हवंति काओ वि।१०००। –जगतमें कोई-कोई स्त्रियाँ गुणातिशयसे शोभा युक्त होनेसे मुनियोंके द्वारा भी स्तुति योग्य हुई है। उनका यश जगत्में फैला है, ऐसी स्त्रियाँ मनुष्य लोकमें देवताके समान पूज्य हुई हैं, देव उनको नमस्कार करते हैं, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र और गणधरादिकोंको प्रसवने वाली स्त्रियाँ देव, और मनुष्योंमें प्रधान व्यक्ति हैं। उनसे बन्दनीय हो गयी हैं। कितनेक स्त्रियाँ एक पतिव्रत धारण करती हैं, कितनेक स्त्रियाँ आजन्म अविवाहित रहकर निर्मल ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हैं। कितनेक स्त्रियाँ वैधव्यका तीव्र दुःख आजन्म धारण करती हैं।९९५–९९७। शील व्रत धारण करनेसे कितनेक स्त्रियोंमें शाप देना और अनुग्रह करनेकी शक्ति भी प्राप्त हुई थी। ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है। देवताओंके द्वारा ऐसा स्त्रियोंका अनेक प्रकारसे माहात्म्य भी दिखाया गया है।९९८। ऐसी शीलवती स्त्रियोंको जल-प्रवाह भी बहानेमें असमर्थ है। अग्नि भी उनको नहीं जला सकती है, वह शीतल होती हैं, ऐसी स्त्रियोंको सर्प व्याघ्रादिक प्राणी नहीं खा सकते हैं अथवा मुँहमें लेकर अन्यस्थानमें नहीं फेंक देते हैं।९९९। सम्पूर्ण गुणोंसे परिपूर्ण, श्रेष्ठ पुरुषोंमें भी श्रेष्ठ, तद्भव मोक्षगामी ऐसे पुरुषोंको कितनेक शीलवती स्त्रियोंने जन्म दिया है।१०००।

कुरल./६/५,८ सर्वदेवान् परित्यज्य पतिदेवं नमस्यति। प्रातरुत्थाय या नारी तद्वश्या वारिदाः स्वयम्।५। प्रसूते या शुभं पुत्रं लोकमान्यं विदांवरम्। स्तुवन्ति देवता नित्यं स्वर्गस्था अपि तां मुदा।८। –जो स्त्री दूसरे देवताओंकी पूजा नहीं करती किन्तु बिछौनेसे उठते ही अपने पतिदेवको पूजती है, जलसे भरे हुए बादल भी उसका कहना मानते हैं।५। जो महिला लोकमान्य और विद्वान् पुत्रको जन्म देती है स्वर्गलोकके देवता भी उसकी स्तुति करते हैं।८।

ज्ञा./१२/५७–५८ ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः। निजवंशतिलकभूता श्रुतसत्यसमन्विता नार्यः।५७। सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च। विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम्।५८। –अहो। इस जगत्में अनेक स्त्रियाँ ऐसी भी हैं जो समभाव और शील संयमसे भूषित है, तथा अपने वंशमें तिलकभूत हैं, और शास्त्र तथा सत्य वचन करके सहित भी हैं।५७। अनेक स्त्रियाँ ऐसी हैं जो पतिव्रतपनसे, महत्त्वसे, चारित्रसे, विनयसे, विवेकसे इस पृथिवी तलको भूषित करती हैं।५८।

९. स्त्रियोंकी निन्दा व प्रशंसाका समन्वय

भ. आ./मू./१००१-१००२/१०५१ मोहोदयेण जीवो सव्वो दुस्सीलमइलिदो होदि। सो पुण सव्वो महिला पुरिसाण होइ सामण्णा।१००१। तम्हा सा पल्लवणा पउरा महिलाण होदि अधिकिच्चा। सीलवदीओ भणिदे दोसे किह णाम पावंति।१००२। –मोहोदयसे जीव कुशील बनते हैं, मलिन स्वभावके धारक बनते हैं। यह मोहोदय सर्व स्त्रियों और पुरुषोंमें समान हैं। जो पीछे स्त्रियोंके दोष (दे स्त्री/७) का विस्तारसे वर्णन किया है वह श्रेष्ठ शीलवती स्त्रियोंके साथ सम्बन्ध नहीं रखता अर्थात् वह सब वर्णन कुशील स्त्रियोंके विषयमें समझना चाहिए। क्योंकि शीलवती स्त्रियाँ गुणोंका पुञ्जस्वरूप ही हैं। उनको दोष कैसे छू सकते है।१००१-१००२।

ज्ञा./१२/५९ निर्विण्णैर्भवसंक्रमाच्छ्रुतधरैरेकान्ततो निस्पृहैर्नार्यो यद्यपि दूषिताः शमधनैर्ब्रह्मव्रतालम्बिभिः। निन्द्यन्ते न तथापि निर्मलयमस्वाध्यायवृत्ताङ्किता-निर्वेदप्रशमादिपुण्यचरितैर्याः शुद्धिभूता भुवि।५९। –जो संसार परिभ्रमणसे विरक्त हैं, शास्त्रोंके पारगामी और स्त्रियोंसे सर्वथा निस्पृह हैं तथा उपशम भाव ही है धन जिनके ऐसे ब्रह्मचर्यावलम्बी मुनिगणोंने यद्यपि स्त्रियोंकी निन्दा की

है तथापि जो स्त्रियाँ निर्मल हैं और पवित्र यम, नियम, स्वाध्याय, चारित्रादिसे विभूषित हैं और वैराग्य-उपशमादि पवित्राचरणोंसे पवित्र है वे निन्दा करने योग्य नहीं हैं। क्योंकि निन्दा दोषोंकी की जाती है, किन्तु गुणोंकी निन्दा नहीं की जाती।५१।

गो. जी./जी.प्र./२७४/५९६/४ यद्यपि तीर्थंकरजनन्यादीनां कासांचित् सम्यग्दृष्टीनां एतदुक्तदोषाभावः, तथापि तासां दुर्लभत्वेन सर्वत्र सुलभप्राचुर्यव्यवहारापेक्षया स्त्रीलक्षणं निरुक्तिपूर्वकमुक्तम्। —यद्यपि तीर्थंकरकी माता आदि सम्यग्दृष्टिणी स्त्रियोंमें दोष नहीं है तथापि वे स्त्री थोड़ी हैं और पूर्वोक्त दोषोंसे युक्त स्त्री घनी हैं, इसलिए प्रचुर व्यवहारकी अपेक्षा स्त्रीका ऐसा लक्षण कहा।

★ **मोक्षमार्गमें स्त्रीत्वका स्थान**—दे. वेद/६,७।

१०. स्त्रियोंके कर्तव्य

कुरल./६/१,६,७ यस्यामस्ति सुपत्नीत्वं सैवास्ति गृहिणी सती। गृहस्यायमनालोच्य व्ययते न पतिव्रता।१। आदृता पतिसेवायां रक्षणे कीर्तिधर्मयोः। अद्वितीया सतां मान्या पत्नी सा पतिदेवता।६। गुप्तस्थाननिवासेन स्त्रीणां नैव सुरक्षणम्। अक्षाणां निग्रहस्तासां केवलो धर्मरक्षकः।७। —वही उत्तम सहधर्मिणी है, जिसमें सुपत्नीत्वके सब गुण वर्तमान हों और जो अपने पतिकी सामर्थ्यसे अधिक व्यय नहीं करती।१। वही उत्तम सहधर्मिणी है जो अपने धर्म और यशकी रक्षा करती है, तथा प्रेमपूर्वक अपने पतिदेवकी आराधना करती है।६। चार दिवारीके अन्दर पर्देके साथ रहनेसे क्या लाभ? स्त्रीके धर्मका सर्वोत्तम रक्षक उसका इन्द्रिय निग्रह है।७।

११. स्त्री पुरुषकी अपेक्षा कनिष्ठ मानी गयी है

भ. आ./वि/४२१/६१५/६ पर उद्धृत—जेणिच्छीहु लघुसिगा परप्पसज्झा य पच्छणिज्जा य। भीरु पररक्खणज्जेत्ति तेण पुरिसो भवदि जेट्ठो। —स्त्रियाँ पुरुषसे कनिष्ठ मानी गयी हैं, वे अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकतीं, दूसरोंसे इच्छी जाती है। उनमें स्वभावतः भय रहता है, कमजोरी रहती है, ऐसा पुरुष नहीं है अतः वह ज्येष्ठ है।

१२. धर्मपत्नीके अतिरिक्त अन्य स्त्रियोंका निषेध

ला.सं./२/श्लोक नं. भोगपत्नी निषिद्धा स्यात् सर्वतो धर्मवेदिनाम्। ग्रहणस्याविशेषेऽपि दोषो भेदस्य संभवात्।१८७। एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूतिसमक्षतः। पराङ्गनासु नादेया बुद्धिर्धीधनशालिभिः।२०७। —भोगपत्नीके सेवनसे अनेक प्रकारके दोष होते हैं, जिनको भगवान् सर्वज्ञ ही जानते हैं। भोगपत्नीको दासीके समान बताया है। अतः दासीके सेवन करनेके समान भोगपत्नीके भोग करनेसे भी बज्रके लेपके समान पापोंका संचय होता है।१८७। अपने अनुभव और प्रत्यक्षसे इन सब परस्त्रियोंके भेदोंको समझकर बुद्धिमानोंको परस्त्रीमें अपनी बुद्धि कभी नहीं लगानी चाहिए।२०७।

★ **स्त्री सेवन निषेध**—दे. ब्रह्मचर्य/३।

स्त्रीकथा—दे. कथा।

स्त्री परिषह—स. सि./९/९/४२२/११ एकान्तेष्वारामभवनादिप्रदेशेषु नवयौवनमदविभ्रममदिरापानप्रमत्तासु प्रमदासु बाधमानासु कूर्मवत्संवृतेन्द्रियहृदयविकारस्य ललितस्मितमृदुकथितसविलासवीक्षणप्रहसनमदमन्थरगमनमन्मथशरव्यापारविफलीकरणस्य स्त्रीबाधापरिषहसहनमवगन्तव्यम्। —एकान्त ऐसे बगीचा तथा भवनादि स्थानों पर नवयौवन, मदविभ्रम और मदिरापानसे प्रमत्त हुई स्त्रियोंके द्वारा बाधा पहुँचानेपर कछुएके समान जिसने इन्द्रिय और हृदयके विकारको रोक लिया है तथा जिसने मन्द मुसकान, कोमल सम्भाषण, तिरछी नजरोंसे देखना, हँसना, मदभरी धीमी चालसे चलना और कामबाण मारना आदिको विफल कर दिया है उसके स्त्री बाधा परीषह जय समझनी चाहिए। (रा. वा./९/९/१३/६१०/७); (चा. सा./११६/१)।

स्त्रीवेद—दे. स्त्री।

स्त्री संगति—दे. संगति।

स्थपति—चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमें-से एक—दे. शलाकापुरुष/२।

स्थलगता चूलिका—अंगश्रुतज्ञानका एक भेद—दे. श्रुतज्ञान/III.

स्थविर कल्प—गो. जी./जी. प्र./५४७/७१४/६ पञ्चमकालस्थविरकल्पाल्पसंहननसंयमिषु त्रयोदशधोक्तं। —पंचमकालमें स्थविरकल्पी हीन संहननके धारी साधुको तेरह प्रकारका चारित्र कहा है।

स्थविरवादी मत—दे. बौद्धदर्शन।

स्थान—१. स्थान सामान्यका लक्षण

१. अनुभागके अर्थमें

ध. ५/१,७,१/१८६/१ किं ठाणं। उप्पत्तिहेऊ ट्ठाणं। —भावकी उत्पत्तिके कारणको स्थान कहते हैं।

ध. ६/१,९-२, १/७९/३ तिष्ठन्त्यस्यां संख्यायामस्मिन् वा अवस्थाविशेषे प्रकृतयः इति स्थानम्। ठाणं ठिदी अवट्ठाणमिदि एयट्ठो। —जिसमें संख्या, अथवा जिस अवस्था विशेषमें प्रकृतियाँ ठहरती हैं, उसे स्थान कहते हैं। स्थान, स्थिति और अवस्थान तीनों एकार्थक हैं।

ध. १२/४,२,७,२००/१११/१२ एगजीवम्मि एक्कम्हि समए जो दीसदि कम्माणुभागो तं ठाणं णाम। —एक जीवमें एक समयमें जो कर्मानुभाग दिखता है उसे स्थान कहते हैं।

गो.क./जी. प्र/२२९/२७२/१० अविभागप्रतिच्छेदसमूहो वर्गः, वर्गसमूहो वर्गणा। वर्गणासमूहः स्पर्धकं। स्पर्धकसमूहो गुणहानिः। गुणहानिसमूहः स्थानमिति ज्ञातव्यम्। —अविभाग प्रतिच्छेदोंका समूह वर्ग, वर्गका समूह वर्गणा, वर्गणाका समूह स्पर्धक, स्पर्धकका समूह गुणहानि और गुणहानिका समूह स्थान है।

ल. सा./भाषा./२८५/२३६/१२ एक जीवकैं एक कालविषै (प्रकृति बन्ध, अनुभाग बन्ध आदि) संभवै ताका नाम स्थान है।

२. जगह विशेषके अर्थमें

ध. १३/५,५,६४/३३६/१ समुद्रावरुद्धं व्रजः स्थानं नाम निम्नगावरुद्धं वा। —समुद्रसे अवरुद्ध अथवा नदीसे अवरुद्ध व्रजका नाम स्थान है।

अन. ध./८/८४ स्थीयते येन तत्स्थानं वन्दनायां द्विधा मतम्। उद्भीभावो निषद्या च तत्प्रयोज्यं यथाबलम्।८४। —(वन्दना प्रकरणमें) वन्दना करनेवाला शरीरकी जिस आकृति अथवा क्रिया द्वारा एक ही जगहपर स्थित रहे उसको स्थान कहते हैं।८४।

२. स्थानके भेद—१. अध्यात्म स्थानादि

स. सा./मू./५२-५५ …णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि।५२। जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा। णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणठाणया केई।५३। णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा। णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा।५४। णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स। जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा।५५। —जीवके अध्यात्म स्थान भी नहीं हैं और अनुभाग स्थान भी नहीं है।५२। जीवके योगस्थान भी नहीं, बंधस्थान भी नहीं, उदयस्थान भी नहीं, कोई मार्गणास्थान भी नहीं है।५३। स्थितिबन्धस्थान भी नहीं, अथवा संक्लेश स्थान भी नहीं, विशुद्धि स्थान भी नहीं, अथवा संयम लब्धि स्थान भी नहीं है।५४। और जीवके जीव स्थान भी नहीं अथवा गुणस्थान भी नहीं है,

क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं ।६५। अर्थात् आगममें निम्न नामके स्थानोंका उल्लेख यत्रतत्र मिलता है ।)

२. निक्षेप रूप स्थान

नोट—नाम, स्थापना, आदिके भेद दे. निक्षेप/१/२ (ध १०/४,२,४,१७५/४३४/८)।
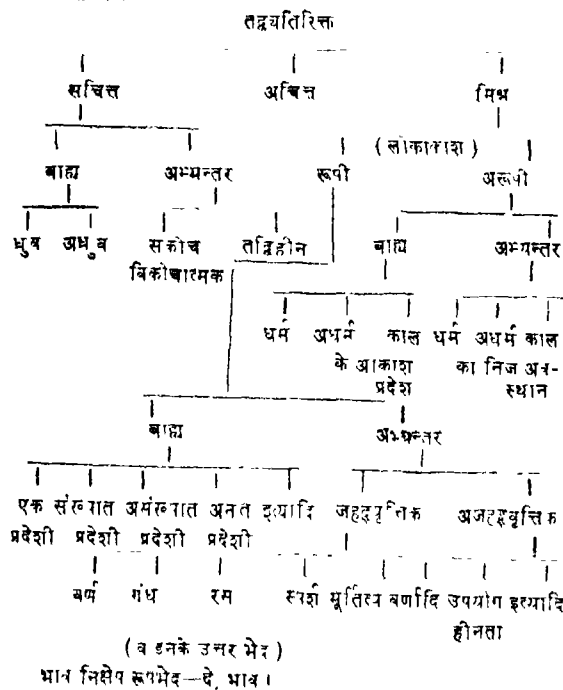
भाव निक्षेप रूपभेद—दे. भाव।

३. निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण

ध.१०/२,४,४,१७५/४३४/१० जं तं धुवं तं सिद्धाणमोगाहणट्ठाणं। कुदो। तेसिमोगाहणाए वड्ढि-हाणीणमभावेण थिरसरूवेण अवट्ठाणादो। जं तमद्धुवं सचित्तट्ठाणं तं संसारत्थाण जीवाणमोहगाहणा। कुदो। तत्थ वड्ढिहाणीणमुवलंभादो। ... जं तं संकोच-विकोचणप्पयमब्भंतरसचित्तट्ठाणं तं सव्वेसि सजोगजीवाणं जीवदव्वं। जं तं तव्विहीणमब्भंतरं सचित्तट्ठाणं तं केवलणाण-दंसणहराणं अमोघवड्ढिंद-बंधपरिणयाणं सिद्धाणं अजोगिकेवलीणं वा जीवदव्वं। = जो ध्रुव सचित्त स्थान है वह सिद्धोंका अवगाहना स्थान है, क्योंकि वृद्धि व हानिका अभाव होनेसे उनकी अवगाहना स्थिर स्वरूपसे अवस्थित है। जो अध्रुव सचित्तस्थान है वह संसारी जीवोंकी अवगाहना है, क्योंकि उनमें वृद्धि और हानि पायी जाती है।... संकोच विकोचात्मक अभ्यन्तर सचित्त स्थान है वह योग युक्त सब जीवोंका जीव द्रव्य है। जो तद्विहीन अभ्यन्तर सचित्त स्थान है वह केवलज्ञान व केवलदर्शनको धारण करनेवाले एवं मोक्ष व स्थितिबन्धमें परिणत ऐसे सिद्धों अथवा अयोगकेवलियोंका जीव द्रव्य है।

नोट— शेष निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण—दे. निक्षेप।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. अध्यात्म आदि स्थानोंके लक्षण —दे. वह वह नाम।
२. जीव स्थान - दे. समास।
३. स्वस्थान स्वस्थान व विहारवत्स्व-स्वस्थान —दे.क्षेत्र/१।

स्थानकवासी—दे. श्वेताम्बर।

स्थानांग—द्वादशांगका तीसरा अंग—दे. श्रुतज्ञान/III।

स्थानार्ह पद्धति—Place Value notation system. (ज.प./प्र. १०६)।

स्थापना—१ दे. धारणा/१ धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा एकार्थवाची है।

ध. १३/५,५,४/२४३/११ स्थाप्यते अनया निर्णीतरूपेण अर्थ इति स्थापना। =जिसके द्वारा निर्णीत रूपसे अर्थ स्थापित किया जाता है वह स्थापना है। २. पूजामें स्थापनाका विधि निषेध—दे पूजा/५।

स्थापनाअक्षर—दे. अक्षर।

स्थापना नय—दे. नय/I/५/३।

स्थापना निक्षेप—दे निक्षेप/४।

स्थापना सत्य—दे. सत्य/१।

स्थापित—१. आहारका एक दोष—दे. आहार/II/४/४। २. वसतिकाका एक दोष—दे. वसतिका।

स्थावर—वर्धमान भगवान्‌का पूर्वका १८ वाँ भव—दे. वर्धमान।

स्थावर—पृथिवी अप आदि कायके एकेन्द्रिय जीव अपने स्थान पर स्थित रहनेके कारण अथवा स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर कहलाते हैं। ये जीव सूक्ष्म व बादर दोनों प्रकारके होते हुए सर्व लोकमें पाये जाते हैं।

१. स्थावर जीवोंका लक्षण

स.सि./२/१२/१७१/४ स्थावरनामकर्मोदयवशवर्तिनः स्थावराः। =स्थावर नामकर्मके उदयसे जीव स्थावर कहलाते हैं। (रा.वा./२/१२/३/१२६/२८)।

ध.१/१,१,३३/गा.१३५/२३९ जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पस्सिंदिएण एक्केण। कुणदि य तस्सामित्तं थावरु एइंदिओ तेण।१३५। =स्थावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानता है, देखता है, खाता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है, इसलिए उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा है।१३५।

ध १/१,१,३९/२६५/६ एते पञ्चापि स्थावराः स्थावरनामकर्मोदयजनित-विशेषत्वात्। =स्थावर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई विशेषताके कारण ये पाँचों ही स्थावर कहलाते हैं।

२. स्थावर नामकर्मका लक्षण

स.सि /८/११/३९१/१० यन्निमित्त एकेन्द्रियेषु प्रादुर्भावस्तत्स्थावरनाम। =जिसके उदयसे एकेन्द्रियोंमें उत्पत्ति होती है वह स्थावर नामकर्म है। (रा.वा /८/११/२१/५७८/२८); (गो क./जी.प्र./३३/३०/१३)।

ध ६/१,९-१,२८/६१/६ जस्स कम्मस्स उदएण जीवा थावरत्तं पडिवज्जदि तस्स कम्मस्स थावरसण्णा। जदि थावरणामकम्मं ण होज्ज, तो थावरजीवाणमभावो होज्ज। ण च एवं, तेसिमुवलंभा। =जिस कर्मके उदयसे स्थावरपनेको प्राप्त होता है, उस कर्मकी स्थावर यह संज्ञा है। यदि स्थावर नामकर्म न हो, तो स्थावर जीवोंका अभाव हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है। (ध. १३/५,५,१०१/३६५/४)।

★ स्थावर नामकर्मके असंख्यातों भेद सम्भव हैं

—दे नामकर्म।

★ स्थावर नामकर्मकी बन्ध उदय व सत्त्व प्ररूपणाएँ

दे. वह वह नाम।

३. स्थावर जीवोंके भेद

पं.का./मू./११० पुढवी य उदगमगणी वाउ वणप्फदि जीवसंसिदा काया। ।११०। –पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय यह कायें जीव सहित हैं ।११०। (मू.आ./२०५); (न.च.वृ./१२३); (का.अ./१२४); (द्र.सं./मू /११); (स्या.म./२९/३२१/२३)।

४. स्थावर जीव एकेन्द्रिय ही होते हैं

पं.का./मू./११० देंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं ।११०। –(पाँचों स्थावर जीवोंकी अवान्तर जातियोंकी अपेक्षा) उनकी भारी सख्या होनेपर भी वे सभी उनमें रहनेवाले जीवोंको वास्तवमें अत्यन्त मोहसे संयुक्त स्पर्श देती हैं (अर्थात् स्पर्श ज्ञानमें निमित्त होती हैं।)

ध.१/१,१,३३/गा.१३५/२३९ जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पस्सिंदिएण एक्केण। कुणदि य तस्सामित्तं थावरु एइंदिओ तेण ।१३५। –क्योंकि स्थावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानता है, देखता है, खाता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है, इसलिए उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा गया है ।१३५।

५. स्थावर जीवोंमें जीवत्वकी सिद्धि

पं.का /मू.व.प्र./११३ अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया। जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ।११३। एकेन्द्रियाणां चैतन्यास्तित्वे दृष्टान्तोपन्य सोऽयम्। अण्डान्तर्लीनानां, गर्भस्थानां, मूर्च्छितानां च बुद्धिपूर्वकव्यापारादर्शनेऽपि येन प्रकारेण जीवत्वं निश्चीयते, तेन प्रकारेणैकेन्द्रियाणामपि, उभयेषामपि बुद्धिपूर्वकव्यापारादर्शनस्य समानत्वादिति। –अण्डेमें वृद्धि पानेवाले प्राणी, गर्भमें रहे हुए प्राणी और मूर्च्छा प्राप्त मनुष्य, जैसे हैं, वैसे एकेन्द्रिय जीव जानना ।११३। यह एकेन्द्रियोंको चैतन्यका अस्तित्व होने सम्बन्धी दृष्टान्तका कथन है। अण्डेमें रहे हुए प्राणी, गर्भमें रहे हुए और मूर्च्छा पाये हुएके जीवत्वका, उन्हें बुद्धि पूर्वक व्यापार नहीं देखा जाता तथापि, जिस प्रकार निश्चय किया जाता है, उसी प्रकार एकेन्द्रियोंके जीवत्वका भी निश्चय किया जाता है, क्योंकि दोनोंमें बुद्धि पूर्वक व्यापारका अदर्शन है।

रा.वा./१/४/१५-१६/२६/१७ यद्येवं वनस्पत्यादीनामजीवत्वं प्राप्नोति तदभावात्। ज्ञानादीनां हि प्रवृत्तित उपलब्धिः, न च तेषां तत्पूर्विका प्रवृत्तिरस्ति हिताहितप्राप्तिपरिवर्जनाभावात्। उक्तं च–बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात्। मन्यते बुद्धिसद्भाव सा न येषु न तेषु धी। [सन्ताना.सि श्लो.] इति नैष दोषः; तेषामपि ज्ञानादय सन्ति सर्वज्ञप्रत्यक्षा', इतरेषामागमगम्या.। आहारलाभालाभयो' पुष्टिम्लानादिदर्शनेन युक्तिगम्याश्च। अण्डगर्भस्थमूर्च्छितादिषु सत्यपि जीवत्वे तत्पूर्वकप्रवृत्त्यभावात् हेतुव्यभिचारः। –प्रश्न–(जिसमें चेतनता न पायी जाये सो अजीव है) यदि ऐसा है तो वनस्पति आदिकोंमें अजीवत्वकी प्राप्ति होती है। क्योंकि उनमें चेतनताका अभाव है। ज्ञानादिकी प्रवृत्तिसे ही उसकी उपलब्धि होती है। परन्तु वनस्पति आदिमें बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, क्योंकि उनमें हितके ग्रहण व अहितके त्यागका अभाव है। कहा भी है–अपने शरीरमें बुद्धि क्रिया बुद्धिके रहते ही देखी जाती है, वैसी क्रिया यदि अन्यत्र हो तो वहाँ भी बुद्धिका सद्भाव मानना चाहिए, अन्यथा नहीं? उत्तर–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वनस्पति आदिमें ज्ञानादिका सद्भाव है। इसको सर्वज्ञ तो अपने प्रत्यक्ष ज्ञानसे जानते हैं और हम लोग आगमसे। खान पान आदिके मिलने पर पुष्टि और न मिलने पर मलिनता देखकर उनमें चैतन्यका अनुमान भी होता है। गर्भस्थ जीव मूर्च्छित और अण्डस्थ जीवमें बुद्धि पूर्वक स्थूल क्रिया भी दिखाई नहीं देती, अतः न दीखने मात्रसे अभाव नहीं किया जा सकता।

स्या. म./२९/३३०/१० पृथिव्यादीनां पुनर्जीवत्वमित्थं साधनीयम्। यथा सात्मिका विद्रुमशिलादिरूपा पृथिवी, छेदे समानधातूत्थानाद्, अर्शोऽङ्कुरवत्। भौममम्भोऽपि सात्मकम्, क्षतभूसजातीयस्य स्वभावस्य संभवात, शालूरवत्। आन्तरिक्षमपि सात्मकम्, अभ्रादिविकारे स्वतः संभूय पातात्, मत्स्यादिवत्। तेजोऽपि सात्मकम्, आहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात्, पुरुषाङ्गवत्। वायुरपि सात्मकः, अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गतिमत्त्वाद् गोवत्। वनस्पतिरपि सात्मकः छेदादिभिर्म्लान्यादिदर्शनात्, पुरुषाङ्गवत्। केषांचित् स्वापाङ्गनोपश्लेषादिविकाराच्च। अप्रकर्षतश्चैतन्याद् वा सर्वेषां सात्मकत्वसिद्धिः। आप्तवचनाच्च। त्रसेषु च कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिषु न केषांचित सात्मकत्वे विगानमिति। –१. मूंगा पाषाणादि रूप पृथिवी सजीव है, क्योंकि डाभके अंकुरकी तरह पृथिवीके काटनेपर वह फिरसे ऊग आती है। २. पृथिवीका जल सजीव है, क्योंकि मैंडककी तरह जलका स्वभाव खोदी हुई पृथिवीके समान है। आकाशका जल भी सजीव है, क्योंकि मछलीकी तरह बादलके विकार होने पर वह स्वतः ही उत्पन्न होता है। ३. अग्नि भी सजीव है, क्योंकि पुरुषके अंगोंकी तरह आहार आदिके ग्रहण करनेसे उसमें वृद्धि होती है। ४. वायुमें भी जीव है, क्योंकि गौकी तरह वह दूसरेसे प्रेरित, होकर गमन करती है। ५. वनस्पतिमें भी जीव है, क्योंकि पुरुषके अंगोंकी तरह छेदनेसे उसमें मलिनता देखी जाती है। कुछ वनस्पतियोंमें स्त्रियोंके पादाघात आदिसे विकार होता है, इसलिए भी वनस्पतिमें जीव है। अथवा जिन जीवोंमें चेतना घटती हुई देखी जाती है, वे सब सजीव हैं। सर्वज्ञ भगवान्‌ने पृथिवी आदिका जीव कहा है। ६. कृमि, पिपीलिका, भ्रमर, मनुष्य आदि त्रस जीवोंमें सभी लोगोंने जीव माना है।

६. स्थावरोंमें कथंचित् त्रसपना

पं. का./मू. व. ता. वृ./१११ तित्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाध्याय तेसु तसा ।...।१११। अथ व्यवहारेणाग्निवातकायिकानां त्रसत्वं दर्शयति–पृथिव्यब्वनस्पतयस्त्रय स्थावरकाययोगात्सम्बन्धात्स्थावरा भण्यन्ते अनलानिलकायिका' तेषु पञ्चस्थावरेषु मध्ये चलनक्रियां दृष्ट्वा व्यवहारेण त्रसा भण्यन्ते। –अब व्यवहारसे अग्नि और वातकायिकोंके त्रसत्व दर्शाते हैं–पृथिवी, अप् और वनस्पति ये तीन तो स्थावर अर्थात स्थिर योग सम्बन्धके कारण स्थावर कहे जाते है। परन्तु अग्नि व वायुकायिक उन पाँच स्थावरोंमें ऐसे है जिनमें चलन क्रिया देखकर व्यवहारसे त्रस भी कह देते हैं।

७. स्थावरके लक्षण सम्बन्धी शंका समाधान

रा. वा./२/१२/४-५/१२७/१ स्यादेतत्-तिष्ठन्तीत्येवं शीलाः स्थावरा इति। तन्न; किं कारणम्। वाय्वादीनामस्थावरत्वप्रसंगात्। वायुतेजोऽम्भसां हि देशान्तरप्राप्तिदर्शनादस्थावरत्वं स्यात्। कथं तर्ह्यस्य निष्पत्तिः–'स्थानशीलाः स्थावरा' इति। एवं रूढिविशेषबललाभात्। क्वचिदेव वर्तते ।४। अथ मतमेतत्–इष्टमेव वाय्वादीनामस्थावरत्वमिति; तन्नः किं कारणम्। समयार्थानवबोधात्। एव हि समयोऽवस्थितः सत्प्ररूपणायां कायानुवादे "त्रसा नाम द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगिकेवलिनः (ष. खं. १।१०१। सू. ४४/१७५)।" तस्मान्न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वं कर्मोदयापेक्षमेवेति स्थितम्। –प्रश्न–'जो ठहरे सो, स्थावर' ऐसा क्यों नहीं कहते? उत्तर–नहीं, क्योंकि, वायु आदिकोंमें अस्थावरत्वका प्रसंग आता है। वायु अग्नि और जलकी देशान्तर प्राप्ति देखी जाती है। इससे वे अस्थावर समझे जायेंगे। प्रश्न–फिर इस स्थावर शब्द की 'जो ठहरे सो स्थावर' ऐसी निष्पत्ति कैसे हो सकती है?

उत्तर--यह तो रूढि विशेषके बलसे क्वचित् देखनेमें आता है। प्रश्न--वायु आदिक अस्थावर होते हैं तो हो जाओ, क्योंकि यह तो हमें इष्ट है ? उत्तर--ऐसा नहीं है, क्योंकि आगमके साथ विरोध आता है। षट् खण्डागम सत्प्ररूपणाके कायानुवादमें ऐसा वचन अवस्थित है कि 'द्वीन्द्रियसे लेकर अयोग केवलि तक जीवोंको त्रस कहते हैं।'' अत. वायु आदिकोंको स्थावरकी कोटिसे निकालकर त्रस कोटिमें लाना उचित नहीं है। इसलिए वचन और चलनकी अपेक्षा त्रस और स्थावर नहीं किया जा सकता। (स. सि /२/१२/-१७१/४); (ध. १/१,१,३१/२६५/६)

ध. १/१,१,३४/२७६/१ स्थावरकर्मणः किं कार्यमिति चेदेकस्थानावस्थापकत्वम्। तेजोवाय्वप्कायानां चलनात्मकानां तथा सत्यस्थावरत्वं स्यादिति चेन्न, स्थास्नूनां प्रयोगतश्चलच्छिन्नपर्णानामिव गतिपर्यायपरिणतसमीरणाव्यतिरिक्तशरीरत्वतस्तेषां गमनाविरोधात्। —प्रश्न—स्थावर कर्मका क्या कार्य है ? उत्तर—एक स्थानपर अवस्थित रखना स्थावर कर्मका कार्य है। प्रश्न—ऐसा मानने पर, गमन स्वभाववाले अग्निकायिक वायुकायिक और जलकायिक जीवोंको अस्थावरपना प्राप्त हो जायगा ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार वृक्षमें लगे हुए पत्ते वायुसे हिला करते हैं और टूटनेपर इधर-उधर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार अग्निकायिक और जलकायिकके प्रयोगसे गमन माननेमें कोई विरोध नहीं आता है। तथा वायुके गति पर्यायसे परिणत शरीरको छोड़कर कोई दूसरा शरीर नहीं पाया जाता है इसलिए उसके गमन करनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है।

८. त्रस व स्थावरमें भेद बतानेका प्रयोजन

द्र सं./टी./११/२९/६ अयमत्रार्थः—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपारमार्थिकसुखमलभमाना इन्द्रियसुखासक्ता एकेन्द्रियादिजीवानां वधं कृत्वा त्रसस्थावरा भवन्तीत्युक्तं पूर्वं तस्मात्त्रसस्थावरोत्पत्तिविनाशार्थं तत्रैव परमात्मनि भावना कर्तव्येति। —सारांश यह है कि निर्मल, ज्ञान, दर्शन स्वभाव निज परमात्म स्वरूपकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख है उसको न पाकर जीव इन्द्रियोंके सुखमें आसक्त होकर जो एकेन्द्रियादि जीवोंकी हिंसा करते हैं उससे त्रस तथा स्थावर होते हैं, ऐसा पहले कह चुके हैं, इस कारण त्रस स्थावरोंमें उत्पत्ति होती है, सबको मिटानेके लिए उसी पूर्वोक्त प्रकारसे परमात्माकी भावना करनी चाहिए।

★ **स्थावरोंकी सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव अल्प बहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ**—दे. वह वह नाम।

★ **स्थावरोंमें गुणस्थान जीवसमास, मार्गणास्थानोंके स्वामित्व विषयक २० प्ररूपणाएँ**--दे. सत्।

★ **मार्गणा प्रकरणमें भाव मार्गणाकी इष्टता तथा वहाँ आय व व्ययका संतुलन**--दे. मार्गणा।

★ **स्थावर जीवोंमें प्राणोंका स्वामित्व**--दे. प्राण/१।

९. स्थावर लोक निर्देश

ति. प./५/५ जा जीवपोग्गलाणं धम्माधम्मप्पबद्ध आयासे। होंति हु गदागदाणि ताव हवे थावरा लोओ।५। —धर्म व अधर्म द्रव्यसे सम्बन्धित जितने आकाशमें जीव और पुद्गलोंका जाना आना रहता है उतना स्थावर लोक है।५।

का. अ./मू./१२२ एइंदिएहिं भरिदो पंच-पयारेहिं सव्वदो लोओ।...।१२२। —यह लोक पाँच प्रकारके एकेन्द्रियोंसे सर्वत्र भरा हुआ है।

दे. काय/२/५ बादर, अप्, तेज व वनस्पति कायिक जीव अधोलोककी आठों पृथिवियों व भवनवासियोंके विमानोंमें भी पाये जाते हैं।

स्थित द्रव्य निक्षेप—दे. निक्षेप/५/८।

स्थिति—अवस्थान कालका नाम स्थिति है। बन्ध कालसे लेकर प्रतिसमय एक एक करके कर्म उदयमें आ आकर खिरते रहते हैं। इस प्रकार जब तक उस समयमें बन्धा सर्व द्रव्य समाप्त हो, उतना उतना काल उस कर्मकी स्थिति है। और प्रतिसमय वह खिरनेवाला द्रव्य निषेक कहलाता है। सम्पूर्ण स्थितिमें एक एकके पीछे एक स्थित रहता है। सबसे पहिले निषेकमें सबसे अधिक द्रव्य हैं, पीछे क्रम पूर्वक घटते घटते अन्तिम निषेकमें सर्वत्र स्तोक द्रव्य होता है। इसलिए स्थिति प्रकरणमें कर्म निषेकोंका यह त्रिकोण यन्त्र बन जाता है। कषाय आदिकी तीव्रताके कारण संक्लेश परिणामोंसे अधिक और विशुद्ध परिणामोंसे हीन स्थिति बन्धती है।

१	**भेद व लक्षण**
१	स्थिति सामान्यका लक्षण।
२	स्थिति बन्धका लक्षण।
*	स्थिति बन्ध अध्यवसाय स्थान। —दे. अध्यवसाय।
३	उत्कृष्ट व सर्व स्थितिके लक्षण।
*	उत्कृष्ट व सर्व स्थिति आदिमें अन्तर। --दे. अनुयोग/३/२।
४	अग्र व उपरितन स्थितिके लक्षण।
५	सान्तर व निरन्तर स्थितिके लक्षण।
६	प्रथम व द्वितीय स्थितिके लक्षण।
७	सादि अनादि स्थितिके लक्षण।
८	विचार स्थानका लक्षण।
*	जीवोंकी स्थिति। —दे आयु।
२	**स्थितिबन्ध निर्देश**
१	स्थितिबन्धमें चार अनुयोग द्वार।
२	भवस्थिति व कायस्थितिमें अन्तर।
३	एकसमयिक बन्धको बन्ध नहीं कहते।
४	स्थिति व अनुभाग बन्धकी प्रधानता।
*	स्थितिबन्धका कारण कषाय है। —दे बन्ध/५/१।
*	स्थिति (काल) की ओघ आदेश प्ररूपणा। —दे. काल/५,६।
३	**निषेक रचना**
१	निषेक रचना ही कर्मोंकी स्थिति है।
२	स्थितिबन्धमें निषेकोंकी त्रिकोण रचना सम्बन्धी।
*	निषेकोंकी त्रिकोण रचनाका आकार। —दे. उदय/३।
३	कर्म व नोकर्मकी निषेक रचना सम्बन्धी विशेष सूची।
४	**उत्कृष्ट व जघन्य स्थितिबन्ध सम्बन्धी नियम**
*	जघन्य स्थितिमें निषेक प्रधान हैं और उत्कृष्ट स्थितिमें काल। —दे. सत्त्व/२/५।
१	मरण समय उत्कृष्ट बन्ध सम्भव नहीं।

१. भेद व लक्षण

१. स्थिति सामान्यका लक्षण

१ स्थितिका अर्थ गमनरहितता

रा वा./५/१७/२/४६०/२४ तद्विपरीता स्थितिः ।२। द्रव्यस्य स्वदेशादप्रच्यवनहेतुर्गतिनिवृत्तिरूपा स्थितिरवगन्तव्या । =गतिसे विपरीत स्थिति होती है । अर्थात् गतिकी निवृत्ति रूप स्वदेशसे अप्रच्युतिको स्थिति कहते हैं । (स.सि./५/१७/२८१/१०/

रा वा./५/८/१६/४५१/१२ जीवप्रदेशानाम् उद्धर्वनिधरपरिस्पन्दस्याप्रवृत्ति. । =जीवके प्रदेशोंकी उथल-पुथलको अस्थिति तथा उथल-पुथल न होनेको स्थिति कहते हैं ।

२. स्थितिका अर्थकाल

स. सि./१/७/२२/४ स्थितिः कालपरिच्छेदः । =जितने काल तक वस्तु रहती है वह स्थिति है । (रा. वा. /१/७/—/३८।१)

रा. वा. /१/८/६/४२/३ स्थितिमतोऽवधिपरिच्छेदार्थं कालोपादानम् ।६। —किसी क्षेत्रमें स्थित पदार्थकी काल मर्यादा निश्चय करना काल (स्थिति) है ।

क. पा. ३/§३५८/१९२/१ कम्मसरूवेण परिणदाणं कम्मइयपोग्गलक्खंधाण कम्मभावमछंडिय अच्छणकालो ट्ठिदीणाम । —कर्म रूपसे परिणत हुए पुद्गल कर्मस्कन्धोंके कर्मपनेको न छोड़कर रहनेके कालको स्थिति कहते हैं ।

क. पा. ३/३-२२/§५१४/२९२/५ सयलणिसेयगयकालपहाणो अद्धाछेदो, सयलणिसेगपहाणा ट्ठिदि त्ति । —सर्व निषेकगत काल प्रधान अद्धाच्छेद होता है और सर्वनिषेक प्रधान स्थिति होती है ।

गो. जी. /भाषा/ पृ. ३१०/२ अन्य काय तैं आकर तेजसकाय विषै जीव उपज्या तहाँ उत्कृष्टपने जेते काल और काय न धरै, तैजसकायनिकौं धराकरै तिस कालके समयनिका प्रमाण (तेजसकायिककी स्थिति) जानना ।

३. स्थिति का अर्थ आयु

स. सि /४/२०/२५१/७ स्वोपात्तस्यायुष उदयात्तस्मिन्भवे शरीरेण सहावस्थानं स्थितिः । =अपने द्वारा प्राप्त हुई आयुके उदयसे उस भवमें शरीरके साथ रहना स्थिति कहलाती है । (रा वा./४/२०/१/२३५/११)

२. स्थिति बन्धका लक्षण

स. सि. /८/3/३७६/४ तत्स्वभावादप्रच्युति स्थितिः । यथा—अजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युति स्थितिः । तथा ज्ञानावरणादीनामर्थावगमादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थिति । =जिसका जो स्वभाव है उससे च्युत न होना स्थिति है । जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदिके दूधका माधुर्य स्वभावसे च्युत न होना स्थिति है । उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मोंका अर्थका ज्ञान न होने देना आदि स्वभावसे च्युत न होना स्थिति है । (प. स. /प्रा./४/५१४-५१५); (रा वा /८/3/५/५६७/७); (द्र. स. / टी. /३३/९३/५), (पं सं/सं. /४/३६६-३६७)

ध. ६/१, ९-६, २/१४६/१ जोगवसेण कम्मसरूवेण परिणदाण पोग्गलक्खधाणं कसायवसेण जीवे एगसरूवेणावट्ठाणकालो ट्ठिदी णाम । —योगके वशसे कर्मस्वरूपसे परिणत पुद्गल स्कन्धोंका कषायके वशसे जीवमें एक स्वरूपसे रहनेके कालको स्थिति कहते हैं ।

३. उत्कृष्ट व सर्व स्थितिके लक्षण

क पा. ३/३-२२/§२०/१५/२ 'तत्थतणसव्वणिसेयाणं समूहो सव्वट्ठिदी णाम । —(बद्ध कर्मके) समस्त निषेकोंके या समस्त निषेकोंके प्रदेशोंके कालको उत्कृष्ट स्थिति विभक्ति कहते हैं ।

दे. स्थिति /१/६ वहाँ पर (उत्कृष्ट स्थितिमें) रहनेवाले (बद्ध कर्मके) सम्पूर्ण निषेकोंका जो समूह वह सर्व स्थिति है ।

क. पा. ३/३-२२/§२०/१५ पर विशेषार्थ —(बद्ध कर्मके) अन्तिम निषेकका जो काल है वह (उस कर्मकी) उत्कृष्ट स्थिति है । इसमें उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होनेपर प्रथम निषेकसे लेकर अन्तिम निषेक तककी सब स्थितियोंका ग्रहण किया है । उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होनेपर जो प्रथम निषेकसे लेकर अन्तिम निषेक तक निषेक रचना होती है वह सर्व स्थिति विभक्ति है ।

४. अग्र व उपरितन स्थितिके लक्षण

१. अग्र स्थिति

ध. १४/५,६,३२०/३६७/४ जहण्णणिव्वत्तीए चरिमणिसेओ अग्गं णाम। तस्स ट्ठिदी जहण्णिया अग्गट्ठिदि त्ति घेत्तव्वा। जहण्णणिव्वत्ति त्ति भणिदं होदि। —जघन्य निर्वृत्तिके अन्तिम निषेककी अग्रसंज्ञा है। उसकी स्थिति जघन्य अग्रस्थिति है।...जघन्य निर्वृत्ति (जघन्य आयुबन्ध) यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

२. उपरितन स्थिति

गो. जी./भाषा./६७/१७६/१० वर्तमान समय तै लगाइ उदयावलीका काल, ताकै पीछे गुण श्रेणी आयाम काल, ताके पीछे अवशेष सर्व स्थिति काल, अन्त विषै अतिस्थापनावली बिना सो उपरितन स्थितिका काल, तिनिके निषेक पूर्वै थे तिनि विषै मिलाइए है। सो यह मिलाया हुआ द्रव्यपूर्व निषेकनिके साथ उदय होइ निर्जरै है, ऐसा भाव जानना। (ल. सा./भाषा./६१/१०४)।

गो. जी./अर्थ संदृष्टि/पृ. २४ ताके (उदयावली तथा गुण श्रेणीके) ऊपर (बहुत काल तक उदय आने योग्य) के जे निषेक तिनिका समूह सो तो उपरितन स्थिति है।

५. सान्तर निरन्तर स्थितिके लक्षण

गो. क./भाषा./९४५,९४९/२०५४-२०५५ सान्तरस्थिति उत्कृष्ट स्थिति तै लगाय-जघन्य स्थिति पर्यन्त एक-एक समय घाटिका अनुक्रम लिये जो निरन्तर स्थितिके भेद...(९४५/२०५४)। सान्तर स्थिति—सान्तर कहिए एक समय घाटिके नियम करि रहित ऐसे स्थितिके भेद।

क्ष. सा./भाषा/५८३/६९५/१६ गुण श्रेणि आयामके ऊपरवर्ती जिनि प्रदेशनिका पूर्वै अभाव किया था तिनिका प्रमाण रूप अन्तर-स्थिति है।

६. प्रथम व द्वितीय स्थितिके लक्षण

क्ष. सा./भाषा./५८३/६९५/१७ ताके उपरिवर्ती (अन्तर स्थितिके उपरिवर्ती) अवशेष सर्व स्थिति ताका नाम द्वितीय स्थिति है।

दे. अन्तरकरण/१/२ अन्तरकरणसे नीचेकी अन्तर्मुहूर्तप्रमित स्थितिको प्रथम स्थिति कहते हैं और अन्तरकरणसे ऊपरकी स्थितिको द्वितीय-स्थिति कहते हैं।

७. सादि अनादि स्थितिके लक्षण

पं. सं./प्रा./टी./४/३१०/१४३/१६ सादिस्थितिबन्धः, यः अबन्धं स्थितिबन्धं बध्नाति स सादिबन्धः। अनादिस्थितिबन्धः, जीवकर्मणोरनादिबन्धः स्यात्। —विवक्षित कर्मकी स्थितिके बन्धका अभाव होकर पुनः उसके बँधनेको सादि स्थितिबन्ध कहते हैं। गुणस्थानोंमें बन्ध व्युच्छित्तिके पूर्वतक अनादि कालसे होनेवाले स्थितिबन्धको अनादिस्थितिबन्ध कहते हैं।

८. वीचार स्थानका लक्षण

ध. ६/१,९-६,५/१५० पर उदाहरण

वीचारस्थान = (उत्कृष्ट स्थिति — जघन्य स्थिति) या आबाधाके भेद — १

तहाँ आबाधाके भेद = $\frac{\text{(उत्कृष्ट स्थिति — जघन्यस्थिति + १)}}{\text{आबाधा काण्डक}}$

आबाधा काण्डक = $\frac{\text{उत्कृष्ट स्थिति}}{\text{उत्कृष्ट आबाधा}}$

जैसे यदि उत्कृष्ट स्थिति = ६४; जघन्य स्थिति = ४५;

उत्कृष्ट आबाधा १६; आबाधा काण्डक = $\frac{६४}{१६}$ = ४

तो ६४–६१ तक ४ स्थिति भेदों का एक आबाधा काण्डक

(ii) ६०–५७ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,

(iii) ५६–५३ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,

(iv) ५२–४९ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,

(v) ४८–४५ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,

यहाँ आबाधा काण्डक = ५; आबाधा काण्डक आयाम = ४

आबाधाके भेद = ५×४ = २०

वीचार स्थान = २०–१ = १९ या ६४–४५ = १९

२. स्थितिबन्ध निर्देश

१. स्थितिबन्धमें चार अनुयोग द्वार

ष. खं./११/४,२,६/सू. ३६/१४० एत्तो मूलपयडिट्ठिदिबंधे पुव्वं गमणिज्जे तत्थ इमाणि चत्तारि अणियोगद्दाराणि ट्ठिदिबंधट्ठाणपरूवणा णिसेयपरूवणा आबाधाकंडयपरूवणा अप्पाबहुए त्ति।३६।—आगे मूल प्रकृति स्थितिबन्ध पूर्वमें ज्ञातव्य है। उसमें ये चार अनुयोगद्वार हैं—स्थिति बन्धस्थान प्ररूपणा, निषेक-प्ररूपणा, आबाधा काण्डक प्ररूपणा, और अल्प बहुत्व।

२. भवस्थिति व कायस्थितिमें अन्तर

रा. वा./३/३९/६/२१०/३ एकभवविषया भवस्थितिः। कायस्थितिरेककायापरित्यागेन नानाभवग्रहणविषया।—एक भवकी स्थिति भवस्थिति कहलाती है और एक कायका परित्याग किये बिना अनेक भवविषयक कायस्थिति होती है।

३. एकसमयिक बन्धको बन्ध नहीं कहते

ध. १३/५,४,२४/५४/५ ट्ठिदि-अणुभागबंधाभावेण सुक्ककुड्डपक्खित्तवालुवमुट्ठि व्व जीवसबंधबिदियसमए चेव णिवदंतस्स बंधववएसविरोहादो।—स्थिति और अनुभाग बन्धके बिना शुष्क भीतपर फैंकी गयी मुट्ठीभर बालुकाके समान जीवसे सम्बन्ध होनेके दूसरे समयमें ही पतित हुए सातावेदनीय कर्मको बन्ध संज्ञा देनेमें विरोध आता है।

४. स्थिति व अनुभाग बन्धकी प्रधानता

रा. वा./६/३/७/५०७/३१ अनुभागबन्धो हि प्रधानभूतः तन्निमित्तत्वात् सुखदुःखविपाकस्य। —अनुभागबन्ध प्रधान है, वही सुख-दुःख रूप फलका निमित्त होता है।

गो. क./जी. प्र./८००/९७९/८ ऐतेषु षट्सु सत्सु जीवो ज्ञानदर्शनावरणद्वयं भूयो बध्नाति-प्रचुरवृत्त्या स्थित्यनुभागौ बध्नातीत्यर्थः। —इन छह (प्रत्यनीक आदि) कार्योंके होते जीव ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मको अधिक बाँधता है अर्थात् ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मकी स्थिति व अनुभागकी प्रचुरता लिये बाँधे हैं।

पं.ध./उ./९३७ स्वार्थक्रियासमर्थोऽत्र बन्धः स्याद् रससंज्ञिकः। शेषबन्धत्रिको ऽप्येष न कार्यकरणक्षमः।९३७। —केवल अनुभाग नामक बन्ध ही बाँधने रूप अपनी क्रियामें समर्थ है। तथा शेषके तीनों बन्ध आत्माको बाँधने रूप कार्य करनेमें समर्थ नहीं हैं।

३. निषेक रचना

१. निषेक रचना ही कर्मोंकी स्थिति है

ध. ६/१.९-७,४३/२००/१० ठिदिबंधे णिसेयविरयणा परूविदा। ण सा पदेसेहि विणा संभवदि, विरोहादो। तदो तत्तो चेव पदेसबंधो वि सिद्धो। —स्थिति बन्धमें निषेकोंकी रचना प्ररूपण की गयी है। वह निषेक रचना प्रदेशोंके बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि, प्रदेशोंके बिना निषेक रचना माननेमें विरोध आता है। इसलिए निषेक रचनासे प्रदेश बन्ध भी सिद्ध होता है।

२. स्थिति बन्धमें निषेकोंका त्रिकोण रचना सम्बन्धी नियम

गो. क./मू./९२०-९२१/११०४ आबाहं बोलाविय पढमणिसेगम्मि देय बहुगं तु। तत्तो विसेसहीणं बिदियस्सादिमणिसेओत्ति।९२०। बिदिये बिदियणिसेगे हाणी पुव्विल्लहाणि अद्धं तु। एवं गुणहाणिं पडि हाणी अद्धद्धयं होदि।९२१। —कर्मोंकी स्थितिमें आबाधा कालके पीछे पहले समय प्रथम गुणहानिके प्रथम निषेकमें बहुत द्रव्य दिया जाता है। उसके ऊपर दूसरी गुणहानिका प्रथम निषेक पर्यंत एक-एक चय घटता-घटता द्रव्य दिया जाता है।९२०। दूसरी गुणहानिके दूसरे निषेक-उस हीके पहले निषेकसे एक चय घटता द्रव्य जानना। जो पहिली गुणहानिमें निषेक-निषेक प्रति हानि रूप चय था, तिससे दूसरी गुणहानिमें हानि रूप चयका प्रमाण आधा जानना। इस प्रकार ऊपर-ऊपर गुणहानि प्रति हानिरूप चयका प्रमाण आधा-आधा जानना।

गो. क./मू./९४०/११३६ उक्कस्सट्ठिदिबंधे सयलाबाहा हु सव्वठिदि-रयणा। तक्काले दीसदि तो धोघो बंधट्ठिदीणं च। —विवक्षित प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होनेपर उसी कालमें उत्कृष्ट स्थितिकी आबाधा और सब स्थितिकी रचना भी देखी जाती है। इस कारण उस स्थितिके अन्तके निषेकसे नीचे-नीचे प्रथम निषेक पर्यंत स्थिति बन्ध रूप स्थितियोंकी एक-एक समय हीनता देखनी चाहिए।

३. कर्म व नोकर्मकी निषेक रचना सम्बन्धी विशेष सूची

१. चौदह जीवसमासोंमें मूल प्रकृतियोंकी अन्तरोपनिधा परम्परोपनिधाकी अपेक्षा पूर्णस्थितिमें निषेक रचना

=(म. बं. २/५-१६/६-१२)।

२. उपरोक्त विषय उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा

(म. बं. २/१६-२८/२२८-२२६)।

३. नोकर्मके निषेकोंकी समुत्कीर्तना

(ष. खं./२/५,६/सू./२४६-२४८/३३१)।

४. उत्कृष्ट व जघन्य स्थितिबन्ध सम्बन्धी नियम

१. मरण समय उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सम्भव नहीं

ध. १२/४,२,१३,६/३७८/१२ चरिमसमये उक्कस्सट्ठिदिबंधाभावादो। —(नारक जीवके) अन्तिम समयमें उत्कृष्ट स्थितिबन्धका अभाव है।

२. स्थितिबन्धमें संक्लेश विशुद्ध परिणामोंका स्थान

पं. सं./प्रा./४/४२१ सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण। विवरीओ दु जहण्णो आउगतिगं वज्ज सेसाणं।४२१। —आयुत्रिकको छोड़कर शेष सर्व प्रकृतियोंकी स्थितियोंका उत्कृष्ट बन्ध उत्कृष्ट संक्लेशसे होता है और उनका जघन्य स्थितिबन्ध विपरीत अर्थात् संक्लेशके कम होनेसे होता है। यहाँपर आयुत्रिकसे अभिप्राय नरकायुके बिना शेष तीन आयुसे है। (गो. क./मू./१३४/१३२); (पं. सं./सं./४/२३६); (ल. सा./भाषा/१७/३)।

गो.क./जी.प्र./१३४/१३२/१७ तत्त्रयस्य तु उत्कृष्टं उत्कृष्टविशुद्धपरिणामेन जघन्यं तद्विपरीतेन भवति। —तीन आयु (तिर्यग्, मनुष्य व देवायु) का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामोंसे और जघन्य स्थितिबन्ध उससे विपरीत अर्थात् कम संक्लेश परिणामसे होता है।

३. मोहनीयका उत्कृष्ट स्थितिबन्धक कौन

क.पा.३/३-२२/§१२/११/५ तत्थ ओघेण उक्कस्सट्ठिदी कस्स। अण्णदरस्स, जो चउट्ठाणिय जवमज्झस्स उवरि अंतोकोडाकोडिं बंधंतो अच्छिदो उक्कस्ससंकिलेसं गदो। तदो उक्कस्सट्ठिदी पबद्धा तस्स उक्कस्सयं होदि। —जो चतुस्थानीय यवमध्यके ऊपर अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थितिको बाँधता हुआ स्थित है और अनन्तर उत्कृष्ट संक्लेशको प्राप्त होकर जिसने उत्कृष्ट-उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध किया है, ऐसे किसी भी जीवके मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति होती है।

४. उत्कृष्ट अनुभागके साथ उत्कृष्ट स्थितिबन्धकी व्याप्ति

ध. १२/४,२,१३,३१/३९०/१३ जदि उक्कस्सट्ठिदीए सह उक्कस्स-संकिलेसेण उक्कस्सविसेसपच्चएण उक्कस्साणुभागो पबद्धो तो कालवेयणाए सह भावो वि उक्कस्सो होदि। उक्कस्सविसेस-पच्चयाभावे अणुक्कस्सामो चेव। —यदि उत्कृष्ट स्थितिके साथ उत्कृष्ट विशेष प्रत्ययस्वरूप उत्कृष्ट संक्लेशके द्वारा उत्कृष्ट अनुभाग बाँधा गया है तो काल वेदना (स्थितिबन्ध) के साथ भाव (अनुभाग) भी उत्कृष्ट होता है। और (अनुभाग सम्बन्धी) उत्कृष्ट विशेष प्रत्ययके अभावमें भाव (अनुभाग) अनुत्कृष्ट ही होता है। (ध. १२/४,२,१३,४०/३९३/४)।

ध. १२/४,२,१३,४०/३९३/६ उक्कस्साणुभाग बंधमाणो णिच्छएण उक्कस्सियं चेव ट्ठिदिं बंधदि, उक्कस्ससंकिलेसेण विणा उक्कस्साणु-भागबंधाभावादो। —उत्कृष्ट अनुभागको बाँधनेवाला जीव निश्चयसे उत्कृष्ट स्थितिको ही बाँधता है, क्योंकि उत्कृष्ट संक्लेशके बिना उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध नहीं होता है।

५. उत्कृष्ट स्थितिबन्धका अन्तरकाल

क.पा./३/३-२२/§४३८/२१६/३ कम्माणमुक्कस्सट्ठिदिबंधुवलंभादो। दोण्हमुक्कस्सट्ठिदीणं विच्चालिमअणुक्कस्सट्ठिदिबंधकालो तासिमंतरं

त्ति भणिदं होदि। एगसमओ जहण्णंतरं किण्ण होदि। ण उक्कस्सट्ठिदिं बंधिय पडिहग्गस्स पुणो अंतोमुहुत्तेण विणा उक्कस्सट्ठिदिबधासंभवादो। —कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बाँधनेवाला जीव अनुत्कृष्ट स्थितिका कमसे कम अन्तर्मुहूर्त काल तक बन्ध करता है उसके अन्तर्मुहूर्तके बाद पुन: पूर्वोक्त पूर्वोकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध पाया जाता है। प्रश्न—जघन्य अन्तर एक समय क्यों नहीं होता? उत्तर—नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट स्थितिको बाँधकर उससे च्युत हुए जीवके पुन: अन्तर्मुहूर्त कालके बिना उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध नहीं होता, अत: जघन्य अन्तर एक समय नहीं है।

६. जघन्य स्थितिबन्धमें गुणहानि सम्भव नहीं

ध.६/१,९-७,३/१८३/१ एत्थ गुणहाणीओ णत्थि, पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागमेत्तट्ठिदीए विणा गुणहाणीए असंभवादो। —इस जघन्य स्थितिमें गुणहानियाँ नहीं होती हैं, क्योंकि, पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र स्थितिके बिना गुणहानिका होना असम्भव है।

७. साता व तीर्थंकर प्रकृतियोंकी ज. उ. स्थितिबन्ध सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध. ११/४,२,६,१८१/३२१/६ उवरिमणाणागुणहाणिसलागाओ सेडिछेदणाहितो बहुगाओ त्ति के वि आइरिया भणंति। तेसिमाइरियाणमहिप्पाएण सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्ता जीवा उवरि तप्पाओग्गासंखेज्जगुणहाणीओ गंतूण होंति। ण च एवं वक्खाणे अण्णोण्णब्भत्थरासिस्स पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागत्तुवलंभादो। —(साता वेदनीयके द्वि स्थानिक यव मध्यसे तथा असाता वेदनीयके चतुःस्थानिक यव मध्यसे ऊपरकी स्थितियोंमें जीवोंकी) 'नाना गुणहानि शलाकाएँ श्रेणिके अर्धच्छेदोंसे बहुत है' ऐसा कितने ही आचार्य कहते है। उन आचार्योंके अभिप्रायसे श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण जीव आगे तत्प्रायोग्य असंख्यात गुणहानियाँ जाकर हैं। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि इस व्याख्यानमें अन्योन्याभ्यस्त राशि पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण पायी जाती है।

ध. १२/४,२,१४,३८/४९४/१२ आदिमंतिमदोहि वासपुधत्तेहि ऊणदोपुव्वकोडीहि सादिरेयतेत्तीससागरोवममेत्ता तित्थयरस्स समयपबद्धट्ठदा होदि त्ति के वि आइरिया भणंति। तण्ण घडदे। कुदो। आहारदुगस्स सखेज्जवासमेत्ता तित्थयरस्स सादिरेयतेत्तीससागरोवममेत्ता समयपबद्धट्ठदा होंति त्ति सुत्ताभावादो। —आदि और अन्तके दो वर्ष पृथक्त्वोंसे रहित तथा दो पूर्व कोटि अधिक तीर्थंकर प्रकृतिकी तेतीस सागरोपम मात्र समय प्रबद्धार्थता होती है, ऐसा कितने हा आचार्य कहते हैं। परन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि, आहारकद्विककी संख्यात वर्ष मात्र और तीर्थंकर प्रकृतिकी साधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण समय प्रबद्धार्थता है, ऐसा कोई सूत्र नहीं है।

५. स्थितिबन्ध सम्बन्धी शंका-समाधान

१. साताके जघन्य स्थिति बन्ध सम्बन्धी

ध. ६/१,९-७,६/१८६/२ तीसियस्स दंसणावरणीयस्स अंतोमुहुत्तमेत्तट्ठिदिं बंधमाणे सुहुमसांपराइयो तीसियवेदणीयभेदस्स सादावेदणीयस्स पण्णारससागरोवमकोडाकोडी उक्कस्सट्ठिदिअस्स कधं बारसमुहुत्तिय जहण्णट्ठिदिं बधदे। ण, दंसणावरणादो सुहस्स सादावेदणीयस्स विसोधीदो सुट्ठु ट्ठिदिबंधोवट्टणाभावा। —तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपमकी उत्कृष्ट स्थितिवाले दर्शनावरणीय कर्मकी अन्तर्मुहूर्त मात्र जघन्य स्थितिको बाँधनेवाला सूक्ष्म साम्पराय संयत तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपमकी उत्कृष्ट स्थिति वाले वेदनीयकर्मके भेदस्वरूप पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमित उत्कृष्ट स्थितिवाले साता वेदनीय कर्मकी बारह मुहूर्त वाली जघन्य स्थितिको कैसे बाँधता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, दर्शनावरणीय कर्मकी अपेक्षा शुभ प्रकृति रूप सातावेदनीय कर्मकी विशुद्धिके द्वारा स्थितिबन्धको अधिक अपवर्तनाका अभाव है।

२. उ. अनुभागके साथ अनुत्कृष्ट स्थिति बन्ध कैसे

ध.१२/४,२,१३,४०/३९२/९ उक्कस्साणुभागं बंधमाणो णिच्छएण उक्कस्सियं चेव ट्ठिदिं बंधदि, उक्कस्ससंकिलेसेण विणा उक्कस्साणुभागबंधाभावादो। एवं संते कधमुक्कस्साणुभागे णिरुद्धे अणुक्कस्सट्ठिदीए संभवो त्ति। ण एस दोसो, उक्कस्साणुभागेण सह उक्कस्सट्ठिदिं बंधिय पडिभग्गस्स अधट्ठिदिगलणाए उक्कस्सट्ठिदीदो समऊणादिवियप्पुवलंभादो। ण च अणुभागस्स अधट्ठिदिगलणाए घादो अत्थि, सरिसधणिय परमाणूणं तत्थुवलंभादो।...पडिभग्गपढमसमयप्पहुडि जाव अंतोमुहुत्तकालो ण गदो ताव अणुभागखंडयघादाभावादो। —प्रश्न—चूँकि उत्कृष्ट अनुभागको बाँधनेवाला जीव निश्चयसे उत्कृष्ट स्थितिको ही बाँधता है, क्योंकि उत्कृष्ट संक्लेशके बिना उत्कृष्ट अनुभागका बन्ध नहीं होता; अतएव ऐसी स्थितिमें उत्कृष्ट अनुभागकी विवक्षामें अनुत्कृष्ट स्थितिकी सम्भावना कैसे हो सकती है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उत्कृष्ट अनुभागके साथ उत्कृष्ट स्थितिको बाँधकर प्रतिभग्न हुए जीवके अध:-स्थितिके गलनेसे उत्कृष्ट स्थितिकी अपेक्षा एक समय हीन आदि स्थिति विकल्प पाये जाते हैं। और अध:स्थितिके गलनेसे अनुभागका घात कुछ नहीं होता है, क्योंकि, समान धनवाले परमाणु वहाँ पाये जाते हैं।...प्रतिभग्न होनेके प्रथम समयसे लेकर जब तक अन्तर्मुहूर्त काल नहीं बीत जाता है तब तक अनुभाग काण्डक घात सम्भव नहीं है।

३. विग्रह गतिमें नारकी संज्ञीका भुजगार स्थितिबन्ध कैसे

क.पा.४/३-२२/§४१/२९/७ संकिलेसक्खएण विणा तदियसमए कधं सण्णि ट्ठिदिं बंधदि। ण संकिलेसेण विणा सण्णिपंचिंदियजादिमस्सिदूण ट्ठिदिबंधवड्ढीए उवलंभादो। —प्रश्न—संक्लेश क्षयके बिना (विग्रहगतिके) तीसरे समयमें वह (नरक गतिको प्राप्त करने वाला) जीव संज्ञीकी (भुजगार) स्थितिको कैसे बाँधता है? उत्तर—क्योंकि संक्लेशके बिना संज्ञी पंचेन्द्रिय जातिके निमित्तसे उसके स्थितिबन्धमें वृद्धि पायी जाती है।

६. स्थितिबन्ध प्ररूपणा—

१. मूलोत्तर प्रकृतियोंकी जघन्योत्कृष्ट आबाधा, व स्थिति तथा उनका स्वामित्व— (त. सू./८/१४-३०), (मू. आ./१२३७-१२३६), (पं. सं./प्रा./४/३६१-४४०). (पं. सं./सं./४/१६६-२५७), (शतक/५४-६४), (ध. ६/१४६-१९८), (ध. १२/४६०-४६७), (म. ब. २/२४/१३), (गो. क./१२८-१३३, १३६-१४०, १२६-१३२, १४०-१४१), (गो. क./जी. प्र./२५२/-५११/२), (त. सा./५/४३-४६) संकेत— * = पल्य/असं. से हीन।

क्र.	प्रकृति	उत्कृष्ट — काल — ध. ६/पृ.	ध. १२/पृ.	आबाधा	स्थिति	उत्कृष्ट — स्वामित्व — पं.सं./प्रा./गा.	गुण स्थान	विवरण	जघन्य — काल — ध. ६/पृ.	गोम्मटसार, मूलाचार	आबाधा	स्थिति	जघन्य — स्वामित्व — ध. ६/पृ.	पं.सं./प्रा./गा.	विवरण
				सहस्र वर्ष	को.को.सागर										
(१)	**ज्ञानावरणीय –**														
	मूल		४८६	३	३०	४३२	१	चारों गति उत. व मध्य संक्लेश		,,	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त		४३३	सूक्ष्म साम्पराय
१-५	पाँचों	१४६	४८६	,,	,,	१	१	,,	१८२		,,	,,	१८३	,,	सू. सा. क्षपकका अन्तिम समय
(२)	**दर्शनावरणीय –**														
१	मूल		४८६	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,		,,	सूक्ष्म साम्पराय
१	निद्रानिद्रा	१४६		,,	,,	,,	,,	,,	१८४	,,	,,	३/७ सा *	१८४	४३४	सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रि. पर्याप्त
२	प्रचलाप्रचला	,,		,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
३	स्त्या. गृद्धि.	,,		,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
४	निद्रा	,,		,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
५	प्रचला	,,		,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
६	चक्षु. द.	,,		,,	,,	,,	,,	,,	१८२		,,	अन्तर्मुहूर्त	१८३	४३३	सू. सा. क्षपकका अन्तिम समय
७	अचक्षु. द.	,,		,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
८	अवधि	,,		,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
९	केवल द.	,,		,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
(३)	**वेदनीय –**														
१	मूल			,,	,,	,,	,,	,,	,,	•	,,	१२ मुहूर्त	,,		
१	साता	१५८	४८७	१ १/२	१५	,,	,,	,,	१८५		,,	,,	१८६	४३३	सू. सा. क्षपकका अन्तिम समय
२	असाता	१४६	,,	३	३०	,,	,,	,,	१८४		,,	३/७ सा.*	१८४	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रि. पर्याप्त

क.	प्रकृति	उत्कृष्ट — काल — प्र. ६/पृ.	ध. १२/पृ.	आबाधा	स्थिति	स्वामित्व — पं.सं./प्रा./गा	गुण स्थान	विवरण	जघन्य — काल — प्र. ६/पृ.	गोमट्टसार मूलाचार	आबाधा	स्थिति	स्वामित्व — प्र. ६/पृ.	पं.सं./प्रा./गा	विवरण
(४)	मोहनीय—			सहस्र वर्ष	का.का.सा										
	मूल			७	७०	४३२	१	(विशेष दे. स्थिति/४/३)			अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त		४३४	अनिवृत्तिकरण बादर साम्पराय
	दर्शनमोहनीय—														
१	मिथ्यात्व प्र.	१६०	४६०	,,	,,	,,	,,	चारों गतिमें उ. व म. संक्लेश	१८६		,,	१/७ सा.*	१८७	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रिय प.
२	सम्यक्त्व प्र.		क. पा. ३/१६५	,,	,,	,,	,,	,, सम्व	१८७		,,	,,		,,	×
३	सम्य. मि.			,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,		,,	×
	चारित्र मोहनीय—														
	मूल		ल सा २२८/२७६	४	४०	,,	,,	,,							
१-४	अन. चतु.	१६०	४६०	,,	,,	,,	,,	चारों गतिके उत्तम मध्यम संक्लेश	,,		अन्तर्मुहूर्त	४/७ सा.	१८८	,,	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रि. प.
८	अप्र चतु.	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
१२	प्रत्या. चतु.	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
१३	सं. क्रोध	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	१८८	गो/१४०	,,	२ मास	,,	४३३	अनिवृत्ति करण क्षपक
१४	सं. मान	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,	,,	,,	१ मास		,,	,,
१५	सं. माया	,,	,,	,,	,,	,	,,	,,	,,	,,	,,	१ पक्ष		,,	,,
१६	सं. लोभ	,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	१८३	,,	(सूक्ष्म साम्पराय मू. आ.)
	नोकषाय—														
१	हास्य	१६२	४६०	१	१०	,,	,,	,,	१९०		,,	२/७ सा*	१९२	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रि. प.
२	रति	,,	,,	१	१०	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
३	अरति	१६३	,,	२	२०	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,	,,
४	शोक	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
५	भय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
६	जुगुप्सा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,		,,	,,	,,	,,	,,

क्र.	प्रकृति	उत्कृष्ट — काल — ध. ६/पृ.	ध. १२/पृ.	आबाधा	स्थिति	उत्कृष्ट — स्वामित्व — पं.सं./प्रा./गा	गुण स्थान	विवरण	जघन्य — काल — ध. ६/पृ.	गोम्मटसार मूलाचार	आबाधा	स्थिति	जघन्य — स्वामित्व — ध. ६/पृ.	पं.सं./प्रा./गा	विवरण
				सहस्र वर्ष	को.को.सा.										
७	स्त्री वेद	१५८	४६०	१½	१५	४३२	१	चारों गतिके उत्तम मध्यम संक्लेश	१६०		अन्तर्मुहूर्त	२/७ सा.*	१६२	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रिय प.
८	पुरुष वेद	१६२	,,	१	१०	,,	,	,,	१६१	गो/१४०		८ वर्ष		४३३	अनिवृत्तिकरण क्षपक
९	नपुंसक वेद	१६३	,,	२	२०	,,	,,	,,	१६०			२/७ सा.*	१६२	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रिय प.
(५)	आयु—														
	मूल		गोम्मटसार मूलाचार	१/३ पू. को.	३३	४३२	१	,,		,,	,,	अन्तर्मुहूर्त		४३४	कर्म भूमिज मनुष्य तिर्यंच
१	नरकायु	१६६		,,	,,	४३१	,,	मनुष्य व संज्ञी प. पंचें.	१६३	,,	,,	१०,००० वर्ष	१६३	,,	मि. संज्ञी पंचें, ति. संक्लेश परिणत या सर्वविशुद्ध संज्ञी पंचें. पर्याप्त।
२	तिर्यंचायु	१६६		,,	३ पल्य	,,	,,	,,	१६३	,,	,,	क्षुद्रभव		४३४	कर्मभूमिया मनुष्य व तिर्यंच संक्लेश युक्त
३	मनुष्यायु	,,		,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,
४	देवायु	१६६		,,	३३ सा.	४२७	६	प्रमत्त संयत	,,	,,	,,	१०,००० वर्ष	१६३	४३४ ४४०	संज्ञी व असंज्ञी तिर्यंच सर्व विशुद्ध असंज्ञी तिर्यंच या संक्लेशयुक्त संज्ञी पर्याप्त
(६)	नाम—														
	मूल			२	२०		१			,,	,,	८ मुहूर्त			
	गति—														
	नरक	१६३	४६२	२	२०	४३१	,,	मनु व ति. संज्ञी पं. पंचें.	१६४		,,	२/७ सा.*	१६४	४३४	संक्लेशयुक्त असंज्ञी पंचें. प.

क्र.	प्रकृति	उत्कृष्ट — काल — ध. ६/पृ.	ध. १२/पृ.	आबाधा	स्थिति	उत्कृष्ट — स्वामित्व — पं.सं./प्रा./४	गुण स्थान	विवरण	जघन्य — काल — ध. ६/पृ.	गोम्मटसार मूलाचार	आबाधा	स्थिति	जघन्य — स्वामित्व — ध. ६/पृ.	पं.सं./प्रा.गा.	विवरण
				स. वर्ष	को. को. सा.										
	तिर्यंच	१६३	४६२	२	२०	४३१	१	देव, नारकी	१९०		अन्तर्मुहूर्त	२/७ सा.	१९२	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रिय. पर्याप्त
	मनुष्य	१५८	४६३	१ १/२	१५	४३२	,	चारों गतिके उत्तम मध्यम संक्लेश	,,		,,	,,	१९२	,,	,, ,, ,, ,, ,,
	देव	१६२	,,	१	१०	४३१	,,	मनु. व ति. संज्ञी पं. प.	१९४		,,	,,	१९४	४३४	सर्व विशुद्ध असंज्ञी पंचेन्द्रिय
२	जाति—														
	एकेन्द्रिय	१६३	४६२	२	२०	४३१	,,	ईशान देव	१९०		,,	,,	१९२	,,	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रिय प.
	द्वीन्द्रिय	१७२	४६३	१ ४/५	१८	,,	,,	मनु., ति. पं. पर्याप्त	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
	त्रीन्द्रिय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
	चतुरिन्द्रिय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
	पंचेन्द्रिय	१६३	४६२	२	२०	४३२	,,	चारों गतिके उत्तम मध्यम संक्लेश	,,						
३	शरीर बन्धन संघात—														
	औदारिक	१६३		२	२०	४३१	१	देव, नारकी	१९०		,,	,,	१९२	,,	,,
	वैक्रियक	,,		,,	,,	४३१	१	मनु. व ति. संज्ञी पं. प.	१९४		,,	,,	१९४	४३४	सर्व विशुद्ध असंज्ञी पंचे.
	आहारक	१७४	४६६	अन्त.	अन्तर्मुहूर्त	४२७	७	अप्रमत्त	१९७	गो/१४०	अन्तर्मुहूर्त	अन्त:को.को. सागर	१९७	४३३	अपूर्वकरण क्षपकके १-७ भाग तक
	तैजस	१६३	४६२	२	२०	४३२	१	चारों गतिके उ. म. संक्लेश	१९०		,,	२/७ सा.*	१९२	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रिय प.
	कार्मण	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,

क्र.	प्रकृति	उत्कृष्ट — काल: म. ६/पृ.	उत्कृष्ट — काल: ध. १२/पृ.	उत्कृष्ट — काल: आबाधा	उत्कृष्ट — काल: स्थिति	उत्कृष्ट — स्वामित्व: पं.सं./प्रा.गा.	उत्कृष्ट — स्वामित्व: गुण स्थान	उत्कृष्ट — स्वामित्व: विवरण	जघन्य — काल: म. ६/पृ.	जघन्य — काल: गोमट्टसार, मूलाचार	जघन्य — काल: आबाधा	जघन्य — काल: स्थिति	जघन्य — स्वामित्व: म. ६/पृ.	जघन्य — स्वामित्व: पं.सं./प्रा.गा.	जघन्य — स्वामित्व: विवरण
४	अंगोपांग —														
	औदारिक	१६३	४६२	२	२०	४३१	१	देव,नारकी	१६०		अन्तर्मुहूर्त	२/७ सा.*	१६२	४३४	सर्वविशुद्ध बा एकेन्द्रि. प.
	वैक्रियक	,,	,,	,,	,,	,,	,,	मनु. व ति. संज्ञी पं. प.	१६४		,,	,,	१६४	४३४	सर्व विशुद्ध असंज्ञी पंचे.
	आहारक	१७४	गो. मू. आ.	अन्त.	अन्तर्मुहूर्त	४२७	७	अप्रमत्त	१६७		,,	अन्त: को.को. सागर	१६७	४३३	अपूर्वकरण क्षपकके १-७ भाग तक
५	निर्माण —	१६३	४६२	२	२०	४३२	१	चारों गतिके उ. म. संक्लेश	१६०		,,	२/७ सा.*	१६२	४३४	सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रि. प.
६	बन्धन		—	—	—	—	—	—		शरीरवत	—	—	—	—	—
७	संघात		—	—	—	—	—	—		शरीरवत	—	—	—	—	—
८	संस्थान —														
	समचतुरस्र	१६२	४६३	१	१०	,,	,,	,,	१६०		अन्तर्मुहूर्त	२/७ सा.*	१६२	४३३	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रिय, प.
	न्यग्रोध परि.	१७७	४६३	१ १/५	१२	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
	स्वाति	१७८	४६३	१ २/५	१४	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
	कुब्जक	१७६	,,	१ ३/५	१६	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
	वामन	१७२	,,	१ ४/५	१८	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
	हुंडक	१६३	४६२	२	२०	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
९	संहनन —														
	वज्र ऋषभ ना.	१६२	४६३	१	१०	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
	वज्रनाराच	१७७	,,	१ १/५	१२	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
	नाराच	१७८	,,	१ २/५	१४	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,

क्र.	प्रकृति	उत्कृष्ट — काल — ध. ६/पृ.	ध. १२/पृ.	आबाधा	स्थिति	स्वामित्व — म.बं./प्र.ना.	गुणस्थान	विवरण	जघन्य — काल — ध. ६/पृ.	गोम्मटसार मूलाचार	आबाधा	स्थिति	स्वामित्व — ध. ६/पृ.	म.बं./प्र.ना.	विवरण
	अर्ध नाराच	१७१	४६३	१ ३/७	१६	४३२	१	चारों गतिके उ. म. संक्लेश	१६०		अन्तर्मुहूर्त	२/७ सा.*	१६२	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रिय प.
	कीलित	१७२	४६३	१ ४/७	१८	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
	असंप्राप्त सृ.	१६३	४६२	२	२०	४३१	,,	देव,नारकी	,,		,,	,,	,,	,,	,,
१०	स्पर्श (आठों)	,,	,,	,,	,,	४३२	,,	चारों गतिके उ. म. संक्लेश	,,		,,	,,	,,	,,	,,
११	रस (पाचों)	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
१२	गन्ध (दोनों)	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
१३	वर्ण (पाँचों)	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
१४	आनुपूर्वी —														
	नरक	१६३	४६२	२	२०	४३१	,,	मनु. व ति. संज्ञी पं. प	१६४		अन्तर्मुहूर्त	२० सा.	१६४	४३४	संक्लेश युक्त असंज्ञी पंचे. प.
	तिर्यंच	,,	,,	,,	,,	,,	,,	देव,नारकी	१६०		,,	,,	१६२	,,	सर्व विशुद्ध बा. एके. प.
	मनुष्य	१६८	४६३	१ १/२	१५	४३२	,,	चारों गतिके उ. म. संक्लेश	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,,
	देव	१६२	,,	१	१०	४३१	१	मनु. व ति. संज्ञी पं. प.	१६४		,,	,,	१६४	४३४	सर्व विशुद्ध असंज्ञी पंचे. प.
१५	अगुरुलघु —	१६३	४६२	२	२०	४३२	१	चारों गतिके उ. म. संक्लेश	१६०	·	,,	,,	१६२	,,	,, ,, बा. एकेन्द्रिय प.
१६	उपघात	१६३	,,	२	२०	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,,
१७	परघात	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,,
१८	आतप	,,	,,	,,	,,	४३१	,,	ईशान देव	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,,
१९	उद्योत	,,	,,	,,	,,	,,	,,	देव,नारकी	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,,
२०	उच्छ्वास	,,	,,	,,	,,	४३२	,,	चारों गतिके उ. म. संक्लेश	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,,

क्र	प्रकृति	उत्कृष्ट: काल: ध. ६/पृ.	ध. १२/पृ.	आबाधा	स्थिति	उत्कृष्ट: स्वामित्व: पं.सं./प्रा.गा.	गुणस्थान	विवरण	जघन्य: काल: ध. ६/पृ.	गोम्मटसार मूलाचार	आबाधा	स्थिति	जघन्य: स्वामित्व: ध. ६/पृ.	पं.सं./प्रा.गा.	विवरण
२१	विहायोगति—														
	प्रशस्त	१६२	४६३	१	१०	४३२	१	चारों गतिके उ. म. संक्लेश	१९०		अन्तर्मुहूर्त	२० सा.	१९२	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एकेन्द्रिय प.
	अप्रशस्त	१६३	४६२	२	२०	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
२२	प्रत्येक	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
२३	साधारण	१७२	४६३	१ ४/७	१८	४३१	१	मनु. व ति. संज्ञी पं. प.	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
२४	त्रस	१६३	४६२	२	२०	४३२	१	चारों गतिके उ. म. संक्लेश	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
२५	स्थावर	,,	,,	,,	,,	४३१	१	ईशान देव	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
२६	सुभग	१६२	४६३	१	१०	४३२	,,	चारों गतिके उ. म. संक्लेश	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
२७	दुर्भग	१६३	४६२	२	२०	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
२८	सुस्वर	१६२	४६३	१	१०	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
२९	दुःस्वर	१६३	४६२	२	२०	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
३०	शुभ	१६२	४६३	१	१०	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
३१	अशुभ	१६३	४६२	२	२०	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
३२	सूक्ष्म	१७२	४६३	१ ४/७	१८	४३१	१	मनु. व संज्ञी ति. प.	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
३३	बादर	१६३	४६२	२	२०	४३२	१	चारों गतिके उ. म. संक्लेश	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
३४	पर्याप्त	१६३	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,		,,	२/७ सा.*	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,
३५	अपर्याप्त	१७२	४६३	१ ४/७	१८	४३१	,,	मनु. व ति. संज्ञी पंचे. प.	,,		,,	,,	,,	,,	,, ,, ,, ,, ,,

क्र.	प्रकृति	उत्कृष्ट — काल: ध. ६/पृ.	ध. १२/पृ.	आबाधा	स्थिति	उत्कृष्ट — स्वामित्व: प. सं./प्रा. गा.	गुण स्थान	विवरण	जघन्य — काल: ध. ६/पृ.	आबाधा	स्थिति	जघन्य — स्वामित्व: ध. ६/पृ.	प. सं./प्रा. गा.	विवरण
				सहस्र वर्ष	को. को. सा.									
३६	स्थिर	१६२	४६३	१	१०	४३२	१	चारों गतिके उत्तम म. संक्लेश	१६०	अन्तर्मुहूर्त	२/७ सा.*	१६३	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एके. प.
३७	अस्थिर	१६३	४६२	२	२०	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३८	आदेय	१६२	४६३	१	१०	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३९	अनादेय	१६३	४६२	२	२०	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
४०	यशःकीर्ति	१६२	४६३	१	१०	,,	,,	,,	१६८	,,	८ मुहूर्त	१६८	४३३	सू. सा. क्षपकका अन्तिम समय
४१	अयश कीर्ति	१६३	४६२	१	२०	,,	,,	,,	१६०		२/७ सा.*	१६२	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एके. प.
४२	तीर्थकरत्व	१७४	४६५	अन्त.	अन्तर्मुहूर्त	४२७	४	अविरत सम्यग्दृष्टि	१६७	,,	अन्त.कोको. सागर	१६७	४३३	अपू. क्षपकका १-६ भाग तक
७	गोत्र—													
	मूल			२	२०	४३२	१	चारों गतिके उ. म. संक्लेश		,,	८ मुहूर्त			
१	उच्च	१६२	४६७	१	१०	,,	,,	,,	१६८	,,	,,	१८६	४३३	सू. सा. क्षपकका अन्तिम समय
२	नीच	१६३	,,	२	२०	,,	,,	,,	१६०		२/७ सा.*	१६०	४३४	सर्व विशुद्ध बा. एके प.
८.	अन्तराय—													
	मूल		४८६	३	३०	,,	,	,,		,,	अन्तर्मुहूर्त		४३३	सू. सा. क्षपकका अन्तिमसमय
	पाँचों	१४६		३	३०	,,	,,	,,	१८२	,,	,,	१८३	,,	,,

संकेत— * पल्यके असं. से हीन

२. इन्द्रिय मार्गणाकी अपेक्षा प्रकृतियोंका उ. ज. स्थितिकी सारणी—(रा. वा /८/१४-२०); (म. ब. २/२४/१७-२१); (ध. ६/१६६) ।

क्र.	प्रकृति	एकेन्द्रिय		द्वीन्द्रिय		त्रीन्द्रिय		चतुरिन्द्रिय		असंज्ञी पंचेन्द्रिय		संज्ञी पंचेन्द्रिय	
		उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य
		सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	अन्तर्मुहूर्त
१	ज्ञानावरणीय	१	१-पल्य/असं.	२५	२५-पल्य/असं	५०	५०-पल्य/असं.	१००	१०० पल्य/असं.	१०००	१०००-पल्य/असं.	३० को.को.	१
२	दर्शनावरणीय	३/७	३/७-पल्य/असं.	७५/७	७५/७-पल्य/असं.	१५०/७	१५०/७-,,/,,	३००/७	३००/७-,,/,,	३०००/७	३०००/७-,,	,,	,,
३	वेदनीय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	१२
४	दर्शन मोहनीय	१	१-पल्य/असं.	२५	२५-पल्य/असं.	५०	५०-पल्य/असं.	१००	१००-पल्य/असं.	१०००	१०००-पल्य/असं.	७० को.को	१
	कषाय ,,	४/७	४/७-पल्य/असं.	१००/७	१००/७-,,/,,	२००/७	२००/७-,,/,,	४००/७	४००/७-,,/,,	४०००/७	४०००/७-,,/,,	४० ,,	,,
	नोकषाय ,,	२/७	२/७-,,/,,	५०/७	५०/७-,,/,,	१००/७	१००/७-,/,,	२००/७	२००/७-,,/,,	२०००/७	२०००/७-,,/,,	,,	,,
५	आयु	—	—	—	—	देखो आयु		—	—	—	—	—	—
६	नाम	२/७	२/७-,,/,,	५०/७	५०/७-,,/,,	१००/७	१००/७-,/,,	२००/७	२००/७-,,/,,	२०००/७	२०००/७-,,/,,	२० को.को.	८
७	गोत्र	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
८	अन्तराय	३/७	३/७-,,/,,	७५/७	७५/७-,,/,,	१५०/७	१५०/७-पल्य/,,	३००/७	३००/७-पल्य/असं.	३०००/७	३०००/७-,,/,,	३० ,, ,,	१

३. उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति, प्रदेश व अनुभागके बन्धकोंकी प्ररूपणा—

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंका अर्थ

१. मारणान्तिक समुद्घात रहित सप्तम पृथिवी की ५०० धनुष अवगाहनावाला अन्तिम समयवर्ती गुणित कर्मांशिक नारकी।
२. सप्तम पृथिवीके प्रति मारणान्तिक समुद्घात गत महामत्स्य।
३. सूक्ष्म साम्परायके अन्तिम समय तथा आगेके सर्वस्थान।
४. द्विचरम वा त्रिचरम समयके पहले अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थित सप्तम पृथिवीका मिथ्यादृष्टि नारकी।
५. लोकपूर्ण समुद्घात गत केवली।
६. पूर्वकोटिके त्रिभाग प्रमाण आयुकी आबाधा करके सप्तम नरककी आयु बाँधनेवाला महामत्स्य।
७. उत्कृष्ट मनुष्यायु सहित आयु बन्धके प्रथम समय गत प्रमत्त संयत /७-११ गुणस्थान. मनुष्य यदि पूर्व कोटिके त्रिभागमें देवायु-को बाँधे।
८. त्रिसमयवर्ती आहारक व तद्भवस्थ होनेके तृतीय समयमें वर्तमान जघन्य योगवाला सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्त जीव।
९. क्षपित कर्मांशिक क्षीणकषायी १२वें गुणस्थानके अन्तिम समयवर्ती संयत।
१०. चरम समयवर्ती क्षपित कर्मांशिक अयोग केवली।
११. चरम समयवर्ती सामान्य कर्मांशिक अयोग केवली।
१२. असाता वेदनीयके उदय सहित क्षपक श्रेणीपर चढ़ा हुआ अन्तिम समयवर्ती अयोग केवली।
१३. संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक. ५०० धनुष अवगाहनावाला यदि तिर्यंच आयु बाँधे, नारकी जीव तेतीस सागरके भीतर असं-गुणहानियों-को गलाकर दीपशिखाकारसे स्थित। (ध. १२/४६२/१७)।
१४. तिर्यंचायु बाँधनेवाला अपर्याप्त।
१५. क्षपित कर्मांशिक सर्वविशुद्ध सूक्ष्म निगोद त्रि चरमसमय स्थित।
१६. बादर तेज व वायुकायिक पर्याप्त।

ध. १२/४. २, १३, ७/पृ. सं.

प्रकृति	द्रव्य प्रदेश बन्ध			क्षेत्र बन्धक जीवकी अवगाहना			काल बन्धकी स्थिति			भाव अनुभाग		
	प्रमाण	ज.	उ.	प्रमाण	ज.	उ.	प्रमाण	ज.	उ.	प्रमाण	ज.	उ
ज्ञानावरणी	३७७-४४६	९	१	३८१	८	२	३८७	६	१	३६१	६	४
दर्शनावरणी	३६५	,,	,,	३६५	,,	,,	३६५	,,	,,	३६५	,,	,,
वेदनीय	३६६-४४६	१०	,,	३६७	,,	५	४०१	११	,,	४०२	१२	३
मोहनीय	३६५	९	१	३६५	८	२	३६५	६	१	३६५	६	४
आयु	४०५	१३	६	४०५	,,	५	४०६	१०	७	४११	१४	७
नाम	४०४	११	१	४०४	,,	,,	४०४	११	१	४०४	१५	३
गोत्र	४०४	,,	,,	४०४	,,	,,	४०४	,,	,,	४०४	१६	,,
अन्तराय	३६५	९	,,	३६५	,,	२	३६५	६	,,	३६५	६	४

४. अन्य प्ररूपणाओं सम्बन्धी सूची— (म. बं./पृ. सं./§ सं./पृ. सं.)

क्र.	प्रकृति	मूल वा उत्तर	विषय	भिन्न-भिन्न पदोंकी अपेक्षा प्रमाण: ज. उ. स्थिति	भिन्न-भिन्न पदोंकी अपेक्षा प्रमाण: भुजगारादि पद	संख्यात भागआदि वृद्धि
१	अष्ट कर्म	मूल	सन्निकर्ष	२/१२६-१३४/७७-८३		
			भंग विचय	२/१३५-१४०/८३-८७	२/२६५-३०१/१५७-१५६	२/३८३-३८५/१९५
		उत्तर	सन्निकर्ष	३/१-१४१/१-१०२		
			भंगविचय	३/४४२-४४८/२०२-२०४	३/७६४-७६७/३६१-	३/९१४-९१५/४४५-४४६

नोट—साता असाताके द्वि त्रि चतु. स्थानीय अनुभाग बन्धक जीवोंकी अपेक्षा ज. उ. स्थिति बन्धका स्वामित्व व उनका अल्पबहुत्व —(ध. ११/३१६-३३२)

स्थितिकरण—१. स्थितिकरण अंगका लक्षण

१. निश्चय

स. सा./मू./२३४ उम्मग्गं गच्छंतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा। सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो। —जो चेतयिता उन्मार्गमें जाते हुए अपने आत्माको भी मार्गमें स्थापित करता है वह स्थितिकरण युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

रा. वा./६/२४/१/५२९/१४ कषायोदयादिषु धर्मपरिभ्रंशकारणेषु उपस्थितेष्वात्मनो धर्मात्प्रच्यवनं परिपालनं स्थितिकरणम्। —कषायोदय आदिसे धर्म भ्रष्ट होनेके कारण उपस्थित होनेपर भी अपने धर्मसे परिच्युत नहीं होना, उसका बराबर पालन करना स्थितिकरण है।

पु सि उ./२८ कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्। श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ।२८। —काम, क्रोध, मद, लोभादिक भावोंके होनेपर न्याय मार्गसे च्युत करनेको प्रगट होते हुए अपने आत्माको…जिस किस प्रकार धर्ममें स्थित करना भी कर्तव्य है। (पं. ध./उ./७९५)

का. अ/मू./४२० धम्मादो चलमाणं जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि। अप्पाणं पि सुदिढयदि ठिदिकरणं होदि तस्सेव ।४२०। —जो धर्मसे चलायमान…अपनेको धर्ममें दृढ करता है उसीके स्थितिकरण गुण होता है।

द्र. सं./टी/४१/१७५/७ निश्चयेन पुनस्तेनैव व्यवहारेण स्थितिकरणगुणेन धर्मदृढत्वे जाते सति…रागादिविकल्पजालत्यागेन निजपरमात्मस्वभावभावनोत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन तल्लयतन्मयपरमसमरसीभावेन चित्तस्थिरीकरणमेव स्थितिकरणमिति। —व्यवहार स्थिति करणगुणसे धर्ममें दृढता होनेपर…रागादि विकल्पोंके त्याग द्वारा निज परमात्म स्वभाव भावकी भावनासे उत्पन्न परम आनन्द सुखामृतके आस्वाद रूप परमात्मामें लीन अथवा परमात्म स्वरूपमें समरसी भावसे चित्तका स्थिर करना, निश्चयसे स्थितिकरण है।

२. व्यवहार

मू. आ./२६२ दंसणचरणुवभट्ठे जीवे दट्ठूण धम्मबुद्धीए। हिदमिदमवगूहिय ते खिप्पं तत्तो णियत्तेइ ।२६२। —सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रसे भ्रष्ट हुए जीवोंको देख धर्म बुद्धिकर सुखके निमित्त हितमित वचनोंसे उनके दोषोंको दूर करके धर्ममें दृढ करता है वह शुद्धसम्यक्त्वी स्थितिकरण गुणवाला है।

र. क. श्रा./१६ दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः। प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ।१६। —सम्यग्दर्शन वा चारित्रसे डिगते हुए पुरुषको जो उसीमें स्थिर कर देना है सो विद्वानोंके द्वारा स्थितिकरण अंग कहा गया है।

का. अ./मू./४२० धम्मादो चलमाणं जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि।… ठिदि-करणं होदि तस्सेव ।४२०। —जो धर्मसे चलायमान अन्य जीवको धर्ममें स्थिर करता है। उसीके स्थितिकरण गुण होता है।

द्र. सं/टी./४१/१७५/३ चातुर्वर्णसङ्घस्य मध्ये यदा कोऽपि दर्शनचारित्रमोहोदयेन दर्शनं ज्ञानं चारित्रं वा परित्यक्तुं वाञ्छति तदागमाविरोधेन-यथाशक्त्या धर्मश्रवणेन वा अर्थेन वा सामर्थ्येन वा केनाप्युपायेन यद्धर्मे स्थिरत्वं क्रियते तद्व्यवहारेण स्थितिकरणमिति। —चार प्रकारके संघमेंसे यदि कोई दर्शन मोहनीयके उदयसे दर्शन-ज्ञानको या चारित्र मोहनीयके उदयसे चारित्रको छोड़नेकी इच्छा करे तो यथाशक्ति शास्त्रानुकूल धर्मोपदेशसे, धनसे या सामर्थ्यसे या अन्य किसी उपायसे उसको धर्ममें स्थिर कर देना, वह व्यवहारसे स्थितिकरण है।

पं. ध/उ./८०२ सुस्थितिकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात्। भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ।८०२। —स्व व पर स्थितिकरणोंमें अपने पदसे भ्रष्ट हुए अन्य जीवोंको जो उत्तम दया भावसे उनके पदमें फिरसे स्थापित करना है वह परस्थितिकरण है ।८०२।

२. स्वधर्मबाधक परका स्थितिकरण करना योग्य नहीं

पं. ध./उ./८४ धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे। नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ।८०२। —धर्मके आदेश वा उपदेशसे ही दूसरे जीवोंपर अनुग्रह करना चाहिए। किन्तु अपने व्रतको छोड़कर दूसरोंके व्रतोंकी रक्षा नहीं करनी चाहिए ।८०२।

स्थितिकल्प—साधुके १० स्थितिकल्प। दे. साधु/२/३।

स्थितिकांडक घात—दे. अपकर्षण/४।

स्थितिबंधापसरण—दे. अपकर्षण/३।

स्थितिबंधोत्सरण—दे. उत्कर्षण/५।

स्थितिभोजन—साधुका एक मूलगुण—दे. साधु/२/२।

स्थितिसत्त्वापसरण — दे. अपकर्षण/३।

स्थिर—कुण्डल पर्वतस्थ अंक कूटका स्वामी देव—दे. लोक/५/१२।

स्थिर—१. स्थिर व अस्थिर नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९२/५ स्थिरभावस्य निर्वर्तकं स्थिरनाम। तद्विपरीतमस्थिरनाम। —स्थिर भावका निर्वर्तक कर्म स्थिर नामकर्म है, इससे विपरीत अस्थिर नामकर्म है।

रा. वा./८/११/३४-३५/५७९/२२ यदुदयात् दुष्करोपवासादितपस्करणेऽपि अङ्गोपाङ्गानां स्थिरत्वं जायते तत् स्थिरनाम ।३४। यदुदयादीषदुपवासादिकरणात् स्वल्पशीतोष्णादिसंबन्धाच्च अङ्गोपाङ्गानि कृशीभवन्ति तदस्थिरनाम। —जिसके उदयसे दुष्कर उपवास आदि तप करनेपर भी अंग-उपांग आदि स्थिर बने रहते हैं, कृश नहीं होते वह स्थिर नामकर्म है। तथा जिससे एक उपवाससे या साधारण शीत उष्ण आदिसे ही शरीरमें अस्थिरता आ जाय, कृश हो जाय वह अस्थिर नामकर्म है।

ध. १३/५,५,१०१/३६५/१० जस्स कम्मस्सुदएण रसादीणं सगसरूवेण केत्तियं पि कालमवट्ठाणं होदि तं थिरणाम। जस्स कम्मस्सुदएण रसादीणमुवरिमधादुसरूवेण परिणामो होदि तमथिरणामं। —जिस कर्मके उदयसे रसादिक धातुओंका अपने रूपसे कितने ही कालतक अवस्थान होता है वह स्थिर नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे रसादिकोंका आगेकी धातुओं स्वरूपसे परिणमन होता है वह अस्थिर नामकर्म है। (ध.६/१,९-१,२८/६३/३); (गो. जी./जी.प्र./३३/३०/३)।

२. सप्त धातु रहित विग्रह गतिमें स्थिर नामकर्मका क्या कार्य है

ध. ६/१,९-१, २८/६४/६ सत्तधाउविरहिदविग्गहगदीए वि थिराथिराणमुदयदंसणादो णेदासिं तत्थ वावारो त्ति णासंकणिज्जं, सजोगिकेवलिपरघादस्सेव तत्थ अव्वत्तोदएण अवट्ठाणादो। —प्रश्न— सप्त धातुओंसे रहित विग्रहगतिमें भी स्थिर और अस्थिर प्रकृतियोंका उदय देखा जाता है, इसलिए इनका वहाँ पर व्यापार नहीं मानना चाहिए। उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सयोगकेवली भगवान्में परघात प्रकृतिके समान विग्रहगतिमें उन प्रकृतियोंका अव्यक्त उदयरूपसे अवस्थान रहता है।

★ **स्थिर नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी शंका समाधान**—दे. वह वह नाम।

स्थूणा—औदारिक शरीरमें स्थूणाओंका प्रमाण—दे. औदारिक १/७।

स्थूल—दे. सूक्ष्म।

स्थूलभद्र—आचार्य भद्रबाहु प्रथम (पंचम श्रुतकेवली) के शिष्य थे। १२ वर्षीय दुर्भिक्षके अवसरपर आपने उनकी बातको अस्वीकार करके दक्षिणकी ओर विहार न किया और उज्जैनीमें ही रह गये। दुर्भिक्ष आनेपर उनके संघमें शिथिलाचार आया और वे 'अर्ध फालक' (दे. श्वेताम्बर) बन गये। भद्रबाहु स्वामीकी दक्षिणमें ही समाधि हो गयी, परन्तु दुर्भिक्षके समाप्त होनेपर उनके शिष्य विशाखाचार्य आदि लौटकर पुनः उज्जैनीमें आये। उस समय आप (स्थूल भद्र) ने अपने संघको शिथिलाचार छोड़ पुनः शुद्धाचरण अपनानेको कहा। इसपर संघने रुष्ट होकर इन्हें जानसे मार दिया। ये एक व्यन्तर बनकर संघपर उपद्रव करने लगे। जिसे शान्त करनेके लिए संघने कुलदेवताके रूपमें इनकी पूजा करनी प्रारम्भ कर दी। इनके अपर नाम स्थूलाचार्य व रामल्य भी थे। इस कथाके अनुसार इनका समय भद्रबाहु तृतीयसे लेकर विशाखाचार्यके कुछ काल पश्चात् तक वी. नि १३३-१६७ (ई. पू. ३६४-३६०) आता है।—दे. श्वेताम्बर।

स्थूलाचार्य—अपर नाम स्थूलभद्र—दे. स्थूलभद्र।

स्नातक—१. स्नातक साधुका लक्षण

स.सि./९/४६/४६०/११ प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनो द्विविधाः स्नातकाः। —जिन्होंने चार घातिया कर्मोंका नाश कर दिया है, ऐसे दोनों प्रकारके केवली स्नातक कहलाते हैं। (रा. वा./९/४६/५/६३६/३१); (चा. सा./१०२/२)।

त. सा./७/२४ ततः क्षीणचतुष्कर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम्। बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः। —चारों घातियाकर्म नष्ट होते ही यथाख्यात संयमकी प्राप्ति होती है। बीजके समान बन्धनका निर्मूल नाश होनेसे बन्धन रहित हुए योगी स्नातक कहाने लगते हैं।

* **स्नातक साधु सम्बन्धी विषय**—दे. साधु/५।

स्नान—अस्नान मूलगुणका लक्षण

मू. आ./३१ ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्लमल्लसेदसव्वंगं। अण्हाणं घोरगुणं संजमदुगपालयं मुणिणो।३१। —जलसे नहाना रूप स्नानादि क्रियाओंके छोड़ देनेसे जल्ल मल्ल स्वेद रूप देहके मैलकर लिप्त हो गया है सब अंग जिसमें ऐसा अस्नान नामक महागुण साधुके होता है।

अन. ध./९/९८ न ब्रह्मचारिणामर्थो विशेषादात्मदर्शिनाम्। जलशुद्ध्याथवा यावद्दोषं सापि मतार्हतैः।९८। —ब्रह्मचारी तथा विशेषकर आत्मदर्शियोंको जो कि स्वयं पवित्र हैं उनके लिए स्नान किस प्रयोजनका। किन्तु अस्पर्श्य दोष होनेपर उसकी शुद्धिके लिए उसकी आवश्यकता है।

२. साधुके अस्नान गुण सम्बन्धी शंका समाधान

भ. आ./वि./९३/२२१-२१०/२० स्नानमनेकप्रकारं शिरोमात्रप्रक्षालनं, शिरो मुक्त्वा अन्यस्य वा गात्रस्य, समस्तस्य वा। तत्र शीतोदकेन क्रियते स्थावराणां त्रसानां च बाधा माभूदिति।...उष्णोदकेन स्नायादिति चेन्न, तत्र त्रसस्थावरबाधावस्थितैव।...न चास्ति प्रयोजनं स्नानेन सप्तधातुमयस्य देहस्य न शुचिता शक्या कर्तुं। ततो न शौचप्रयोजनं। न रोगापहृतये रोगपरीषहसहनाभावप्रसंगात्। न हि भूषायै विरागत्वात्। घृततैलादिभिरभ्यञ्जनमपि न करोति प्रयोजनाभावादुक्तेन प्रकारेण घृतादिना क्षारेण स्पृष्टा भूम्यादिजन्तवो बाध्यन्ते। त्रसाश्च तत्रावलग्नाः। —स्नान अनेक प्रकार है—जलसे केवल मस्तक धोना, अथवा मस्तक छोड़कर अन्य अवयवोंको धोना अथवा समस्त अवयवोंको धोना, परन्तु त्रस और स्थावर जीवोंको बाधा न होवे इसलिए मुनि शीतल जलसे स्नान नहीं करते हैं।...प्रश्न—ठंडे जलसे स्नान नहीं करते तो गरम पानीसे क्यों नहीं करते हैं? उत्तर—नहीं, गरम जलसे स्नान करनेसे भी त्रस स्थावर जीवोंको बाधा होती ही है।...मुनियोंको जलस्नानकी आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि, जल स्नानसे सप्त धातुमय देह पवित्र नहीं होता। इस वास्ते शुचिताके लिए स्नान करना भी योग्य नहीं है, रोग परिहारके लिए भी स्नानकी आवश्यकता नहीं है, यदि वे स्नान करेंगे तो रोग परीषह सहन करना व्यर्थ होगा। शरीर सौन्दर्य युक्त होनेके लिए भी वे स्नान नहीं करते, क्योंकि वे वीतराग हैं। मुनि, घी, तैल इत्यादिकोंसे अभ्यङ्गस्नान भी कुछ प्रयोजन न होनेसे करते नहीं हैं। घृतादि क्षार पदार्थोंका स्पर्श होनेसे भूमि वगैरहमें रहने वाले जन्तुओंको पीड़ा होती है, भूमिपर चिपके हुए जीव इधर उधर होते हैं, गिरते हैं, तब उनको एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाते समय बाधा पहुँचती है।

३. स्नान के भेद

सा. ध./२/३४ पर फुटनोट— 'पादजानुकटिग्रीवाशिरःपर्यन्तसंश्रयं। स्नानं पञ्चविधं ज्ञेयं यथा दोषं शरीरिणां'—स्नान पाँच प्रकारका मानना चाहिए'— केवल पाँव धोना, घुटने तक धोना, कमर तक धोना, कण्ठ तक धोना और शिर तक स्नान करना।

४. गृहस्थ व साधुकी स्नान विधि

सा. ध./२/३४ स्त्र्यारम्भसेवासंक्लिष्टः, स्नात्वा कण्ठमथाशिरः। स्वयं यजेतार्हत्पादानस्नातोऽन्येन याजयेत्। —स्त्री सेवन और खेती आदि करनेसे दूषित है मन जिसका ऐसा गृहस्थ कण्ठ पर्यन्त अथवा शिर पर्यन्त स्नान कर अर्हन्त देवके चरणोंको पूजे और अस्नात व्यक्ति दूसरे स्नात व्यक्तिसे पूजा करावे।

सा. ध./२/३३,३४ पर फुटनोट—नित्यं स्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे। ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मणः। यद्वा तद्वा भवेत्स्नानमन्त्यमन्यस्य तु द्वयम्। —जिन पूजा आदि करनेको गृहस्थको नित्य स्नान करना चाहिए। जो ब्रह्मचारी है, और जो खेती आदि आरम्भसे निवृत्त हैं उनको पाँचोंमेंसे इच्छानुसार स्नान कर लेना चाहिए। परन्तु गृहस्थोंको कण्ठ तक वा शिर तक दो ही स्नान करना चाहिए।

५. जलाशयमें डुबकी लगाकर स्नान करनेका निर्देश

सा. ध./२/३४ पर फुटनोट—वातातपादिसस्पृष्टे भूरितोये जलाशये। अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भजेत्। —जिस जलाशयमें पानी बहुत हो और उसपरसे भारी पवनका झकोरा निकल गया हो अथवा धूप पड़ रही हो तो उसमें डुबकी मारकर स्नान करना चाहिए। यदि ऐसे जलाशय न मिलें तो छने हुए पानीसे स्नान करना चाहिए।

* **शूद्रसे छूनेपर साधुकी स्नान विधि।**—दे. भिक्षा/३/१।

६. आत्म स्नान ही यथार्थ स्नान है

प्र. सं./टी./३५/१०९/१२ विशुद्धात्मनदीस्नानमेव परमशुचित्वकारणं न च लौकिकगङ्गादितीर्थे स्नानादिकम्। आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहाहा शीलतटा दयोर्मिः। तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा। —विशुद्ध आत्मा रूपी शुद्ध नदीमें स्नान करना ही परम पवित्रताका कारण है, लौकिक गंगा आदि तीर्थोंमें स्नानका करना शुचिका कारण नहीं है। संयम रूपी जलसे भरी, सत्य रूपी प्रवाह, शील रूप तट और दयामय तरङ्गोंकी धारक तो आत्मा रूपी नदी है।

स्नायु—औदारिक शरीरमें इनका प्रमाण—दे. औदारिक/१/७।

स्निग्ध—स. सि./५/३३/३०४/१ बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्धः।...स्निग्धत्वं चिक्कणगुणलक्षणः पर्यायः। —बाह्य और आभ्यन्तर कारणसे जो स्नेह पर्याय

उत्पन्न होती है उससे पुद्गल स्निग्ध कहलाता है। ...स्निग्ध पुद्गलका धर्म स्निग्धत्व है।

स्नेहातिचार—दे. अतिचार/३।

स्पर्धक—कर्म स्कन्धमें उसके, अनुभागमें, जीवके कषाय व योगमें तथा इसी प्रकार अन्यत्र भी स्पर्धक संज्ञाका ग्रहण किया जाता है। किसी भी द्रव्यके प्रदेशोंमें अथवा उसकी शक्तिके अंशोंमें जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त जो क्रमिक वृद्धि या हानि होती है उसीसे यह स्पर्धक उत्पन्न होते हैं। जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके समूहसे एक वर्ग बनता है। (दे. वर्ग) समान अविभाग प्रतिच्छेद वाले वर्गोंके समूहसे एक वर्गणा बनती है (दे. वर्गणा) इस प्रकार जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त एक-एक अविभाग प्रतिच्छेदके अन्तरसे वर्गणाएँ प्राप्त होती हैं, इनके समूहको स्पर्धक कहते हैं। तहाँ भी विशेषता यह है कि जहाँ तक एक एक अविभाग प्रतिच्छेदके अन्तरसे वे प्राप्त होती चली जायें तहाँ तक प्रथम स्पर्धक है। प्रथम स्पर्धकसे दुगुने अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होनेपर द्वितीय स्पर्धक और तृतीय आदि प्राप्त होनेपर तृतीय आदि स्पर्धक बनते हैं। इसीका विशेष रूपसे स्पष्टीकरण यहाँ किया गया है।

१. स्पर्धक सामान्यका लक्षण

रा. वा./२/५/४/१०७/११ पङ्क्तयः कृता यावदेकाविभागप्रतिच्छेदाधिकलाभम्। तदलाभे अन्तरं भवति। एवमेतासां पङ्क्तीनां विशेषहीनानां क्रमवृद्धिक्रमहानियुक्तानां समुदयः स्पर्धकमित्युच्यते। तत उपरि द्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयगुणरसा न लभ्यन्ते अनन्तगुणरसा एव। तत्रैकप्रदेशो जघन्यगुणः परिगृहीतः, तस्य चानुभागाविभागप्रतिच्छेदाः पूर्ववत्कृताः। एवं समगुणा वर्गाः समुदिता वर्गणा भवति। एकाविभागप्रतिच्छेदाधिकाः पूर्ववद्विरलीकृता वर्गा वर्गणाश्च भवन्ति यावदन्तरं भवति तावदेकं स्पर्धकं भवति। एवमनेन क्रमेण विभागे क्रियमाणेऽभव्यानामनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागप्रमाणानि स्पर्धकानि भवन्ति। —(पहले दे. वर्ग व वर्गणा) इस तरह एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद बढ़ा कर वर्ग और वर्गणा समूह रूप वर्गणाएँ तबतक बनानी चाहिए जब तक १-१ अधिक अविभाग प्रतिच्छेद मिलता जाये। इन क्रम हानि और क्रम वृद्धि वाली वर्गणाओंके समुदायको स्पर्धक कहते हैं। इसके बाद दो तीन चार संख्यात और असंख्यात गुणअधिकअविभागप्रतिच्छेद नहीं मिलते किन्तु अनन्तगुण अधिक वाले ही मिलते है। फिर उनमेंसे पूर्वोक्त क्रमसे समगुण वाले वर्गोंके समुदाय रूप वर्गणा बनाना चाहिए। इस तरह जहाँ तक १-१ अधिक अविभाग प्रतिच्छेद कालाभ हो वहाँ तककी वर्गणाओंके समूहका दूसरा स्पर्धक बनता है। इसके आगे दो, तीन, चार संख्यात असंख्यातगुणअधिकअविभाग प्रतिच्छेद नहीं मिलते हैं। इस तरह समगुणवाले वर्गोंके समुदाय रूप वर्गणाओंके समूह रूप स्पधक एक उदय स्थानमें अभव्योंसे अनन्तगुणे तथा सिद्धोंके अनन्त भाग प्रमाण होते है। (ध. १२/४,२,७,२०४/१४५/६); (ध. १४/५,६,५०१/४३३/६); (गो. जी./भाषा./५६/१५५/६); (गो. क./भाषा/२२६/३१२)

क. पा. ५/४-२२/§५७३-५७४/३४४-३४५/१५ एवं दोअविभागपडिच्छेदुत्तरतिण्णि० चत्तारि. पंच. छ. सत्तादि अविभागपडिच्छेदुत्तरकमेण अवट्ठिदअणंतपरमाणू घेत्तूण तदणुभागस्स पण्णच्छेदणयं काऊण अभवसिद्धिएहि अणंतगुणं सिद्धाणमणंतभागमेत्तवग्गणाओ उप्पाइय उवरि उवरि रचेदव्वाओ। एवमेत्तियाहि वग्गणाहि एगं फद्दयं होदि अविभागपडिच्छेदे हि कमवड्ढीए एगेगपंति पडुच्च अवट्ठिदत्तादो। उवरिमपरमाणू अविभागपडिच्छेदसंखं पेक्खिदूण कमहाणीए अभावेण विरुद्धाविभागपडिच्छेदसंखत्तादो वा।५७३। पुणो पढमफद्दयचरिमवग्गणाए एगवग्गाविभागपडिच्छेदेहिंतो एगविभागपडिच्छेदेहिंतो एगविभागपडिच्छेदेणुत्तरपरमाणू णत्थि, किंतु सव्वजीवेहि अणंतगुणाविभागपडिच्छेदेहि अहिययरपरमाणू तत्थ चिरंतणपुञ्जे अत्थि। ते घेत्तूण पढमफद्दयउप्पाइदकमेण बिदियफद्दयमुप्पाएयव्वं। एवं तदियादिकमेण अभवसिद्धिएहि अणंतगुणं सिद्धाणमणंतभागमेत्ताणि फद्दयाणि उप्पाएदव्वाणि। एवमेत्तियफद्दयसमूहेण सुहुमणिगोदजहण्णाणुभागट्ठाणं होदि। —(पहले देखो वर्ग व वर्गणा) इस प्रकार दो अविभाग प्रतिच्छेद अधिक तीन, चार, पाँच, छह और सात आदि अविभाग प्रतिच्छेद अधिक के क्रमसे अवस्थित अनन्त परमाणुओंको लेकर उनके अनुभागका बुद्धिके द्वारा छेदन करके अभव्य राशिसे अनन्तगुणी और सिद्ध राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गणाओंको उत्पन्न करके उन्हें ऊपर ऊपर स्थापित करो। इस प्रकार इतनी वर्गणाओंका एक स्पर्धक होता है, क्योंकि वहाँ अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा एक एक पंक्तिके प्रति क्रमवृद्धि अवस्थित रूपसे पायी जाती है, अथवा ऊपरके परमाणुओंमें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्याको देखते हुए वहाँ क्रम हानिका अभाव होनेसे इसके विरुद्ध अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्या पायी जाती है। पुनः प्रथम स्पधर्क अन्तिम वर्गणाके एक वर्गके अविभाग प्रतिच्छेदोंसे एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक वाला परमाणु आगे नहीं है, किन्तु सब जीवोंसे अनन्तगुणे अविभागप्रतिच्छेद अधिक वाले परमाणु उस चिरंतन परमाणु पुंजमें मौजूद हैं। उन्हें लेकर जिस क्रमसे प्रथम स्पर्धकको रचना की थी उसी क्रमसे दूसरा स्पर्धक उत्पन्न करना चाहिए। इसी प्रकार तीसरे आदि स्पर्धकोंके क्रमसे अभव्य राशिसे अनन्तगुणे और सिद्धराशिके अनन्तवें भागमात्र स्पर्धक उत्पन्न करने चाहिए। इस प्रकार इतने स्पर्धकसमूहसे सूक्ष्म निगोदिया जीवका जघन्य अनुभाग स्थान बनता है।

क.पा./५/४-२२/§५७४/३४५ पर विशेषार्थ—एक परमाणुमें रहनेवाले उन अविभाग प्रतिच्छेदोंको वर्ग कहते है अर्थात् प्रत्येक परमाणु एक एक वर्ग है। उसमें पाये जाने वाले अविभाग प्रतिच्छेदोंका प्रमाण संदृष्टिके लिए ८ कल्पना करना चाहिए। पुनः पुनः उन परमाणुओंमें से प्रथम परमाणुके समान अविभाग प्रतिच्छेद वाले दूसरे परमाणुको लो और पूर्वोक्त वर्गके दक्षिण भागमें उसकी स्थापना कर देनी चाहिए—।८८। ऐसा तब तक करना चाहिए जब तक जघन्य गुणवाले सब परमाणु समाप्त न हों। ऐसा करने पर भी अभव्य राशिसे अनन्तगुणे और सिद्ध राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण वर्ग प्राप्त होते है। उनका प्रमाण सदृष्टि रूपमें इस प्रकार है—८८८८। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा इन सभी वर्गोंकी वर्गणा संज्ञा है, क्योंकि वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। तत्पश्चात् फिर एक परमाणु लो जिसमें एक अधिक अविभाग प्रतिच्छेद पाया जाता है उसका प्रमाण संदृष्टिमें ६ है। इस क्रमसे उस परमाणुके समान अविभाग प्रतिच्छेदवाले जितने परमाणु पाये जायें, उनका प्रमाण इस प्रकार है—६६६। यह दूसरी वर्गणा है। इसको प्रथम वर्गणाके आगे स्थापित करना चाहिए। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवी आदि वर्गणाएँ, जो कि एक एक अधिक अविभाग प्रतिच्छेदको लिये हुए हैं उत्पन्न करनी चाहिए। इन वर्गणाओंका प्रमाण अभव्य राशिसे अनन्तगुणा और सिद्ध राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण है। इन सब वर्गणाओंका एक जघन्य स्पर्धक होता है, क्योंकि परमाणुओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं। इस प्रथम स्पर्धकको पृथक् स्थापित करके पूर्वोक्त परमाणु पुंजमेंसे एक परमाणुको लेकर बुद्धिके द्वारा उसका छेदन करनेपर द्वितीय स्पर्धककी प्रथम वर्गणाके प्रथम वर्ग उत्पन्न होता है। इस वर्गमें पाये जाने वाले अविभाग प्रतिच्छेदोंका प्रमाण संदृष्टि रूपसे १६ है। इस क्रमसे अभव्य राशिसे अनन्त गुणे और सिद्धराशिके अनन्तवें भागमात्र समान अविभाग प्रतिच्छेद वाले परमाणुओंको लेकर उतने ही वर्ग उत्पन्न होते हैं। इन वर्गोंका समुदाय दूसरे स्पर्धककी प्रथम वर्गणा कहलाता है, इस प्रथम वर्गणाको प्रथम स्पर्धककी अन्तिम वर्गणाके आगे अन्तराल देकर स्थापित करना चाहिए। इस क्रमसे वर्ग, वर्गणा और स्पर्धकको जानकर तब उनको

उत्पत्ति करनी चाहिए जबतक पूर्वोक्त परमाणुओंका प्रमाण समाप्त नहीं होता है। इस प्रकार स्पर्धकोंकी रचना करने पर अभव्यराशिसे अनन्तगुणे और सिद्धराशिके अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धक और वर्गणाएँ उत्पन्न होती हैं। इनमेंसे अन्तिम स्पर्धककी अन्तिम वर्गणा-के एक परमाणुमें जो अनुभाग पाया जाता है उसे ही जघन्य स्थान कहते हैं। इसकी संदृष्टि इस प्रकार है—

	प्रथमस्प.	द्वि.स्प.	तृ. स्प.	चतु.स्प.	पं. स्प.	ष.स्प.
प्र० वर्गणा	८	१६	२४	३२	४०	४८
द्वि० वर्गणा	९	१७	२५	३३	४१	४९
तृ० वर्गणा	१०	१८	२६	३४	४२	५०
च० वर्गणा	११	१९	२७	३५	४३	५१

२. स्पर्धकके भेद—

रा.वा./२/५/३/१०६/३० द्विविधं स्पर्धकम्-देशघातिस्पर्धकं सर्वघाति-स्पर्धकं चेति।—स्पर्धक दो प्रकारके होते हैं—देशघाति स्पर्धक और सर्वघाति स्पर्धक। (इसके अतिरिक्त जघन्य स्पर्धक व द्वितीय स्पर्धक (गो.जी./भाषा/५९/१५५/६) पूर्वस्पर्धक तथा अपूर्व स्पर्धकका निर्देश आगममें यत्र तत्र पाया जाता है।)

३. देशघाति व सर्वघाति स्पर्धकका लक्षण

भ.सं/टी./३४/९९/४ सर्वप्रकारेणात्मगुणप्रच्छादिकाः कर्मशक्तयः सर्वघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिकाः शक्तयो देशघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते। —सर्व प्रकारसे आत्माके गुणोंको आच्छादन करनेवाली जो कर्मोंकी शक्तियाँ हैं उनको सर्व-घाति स्पर्द्धक कहते हैं। और विवक्षित एक देशसे जो आत्माके गुणोंका आच्छादन करनेवाली कर्मशक्तियाँ हैं वे देशघातिस्पर्द्धक कहलाती हैं।

४. पूर्व व अपूर्व स्पर्धकके लक्षण

क्ष.सा./भाषा./४६५/५४०/१६ संसार अवस्थामें देशघाति व सर्वघाति प्रकृतियोंका जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त जो अनुभाग रहता है, उससे युक्त स्पर्द्धक पूर्वस्पर्धक कहलाते हैं।—जैसे मोहनीयमें सम्यक् प्रकृतिका अनुभाग केवल देशघाति होनेके कारण जघन्य लता भागसे दारु भागके असंख्यात पर्यन्त ही है। तातै ऊपर मिश्र मोहनीयका अनुभाग जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त मध्यम दारु भावरूप ही रहता है। और इससे भी ऊपर मिथ्यात्वका अनुभाग अपर दारुसे लेकर उत्कृष्ट शैल भागतक रहता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीयकी केवल ३ व ४ से रहित संज्वलन चतुष्क, नव नोकषाय, पाँच अन्तराय, इन २५ प्रकृतियोंका अनुभाग जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट देशघाती पर्यन्त तो लता भागसं दारुके असं.भाग पर्यन्त और जघन्य सर्वघातीसे लेकर उत्कृष्ट सर्वघाती पर्यन्त दारु के असं.भाग से उत्कृष्ट शैल भाग पर्यन्त वर्तै है। केवल ज्ञानावरण, केवल दर्शनावरण, पाँच निद्रा और प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, अनन्तानुबन्धीकी १२ इन १९ सर्वघाती प्रकृतियोंका अनुभाग जघन्य सर्वघातीसे उत्कृष्ट सर्वघाती पर्यन्त दारु के असं.भाग से उत्कृष्ट शैल भागपर्यन्त है। वेदनीय, आयु, नाम व गोत्र इन चार अघातियाका अनुभाग जघन्य देशघातीसे उत्कृष्ट सर्वघाती पर्यन्त जघन्य लता भागसे उत्कृष्ट शैल भाग पर्यन्त रहता है।

क्ष.सा./४६६/५४२ चारित्रमोहकी क्षपणा विधिमें सभी प्रकृतियोंके द्रव्यमेंसे कुछ निषेकोंके अनुभागको अपकर्षण द्वारा घटाकर अनन्त गुणा घटता करै है। अर्थात् उन उनके योग्य पूर्व स्पर्धकोंमें जो सर्व जघन्य अनुभागके स्पर्धक संसार अवस्था विषै पहिले थे। उनसे भी अनन्तगुणा घटता (अनुभाग जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था) सहित अपूर्व स्पर्धककी रचना करै है। तहाँ पूर्व स्पर्धकनिकी जघन्य वर्गणासे भी अपूर्व स्पर्धककी उत्कृष्ट वर्गणा विषै अनुभाग अनन्त भाग मात्र है। ऐसे अपूर्व स्पर्धकोंका प्रमाण अनन्त होता है। तहाँ अपूर्व स्पर्धकोंमें भी जघन्य अनुभागमें उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा है। अश्वकर्ण करणके प्रथम समयसे लगाय उसके अन्तिम समय पर्यन्त बराबर यह अपूर्व स्पर्धक बनानेका कार्य चलता रहता है। अर्थात् अश्वकर्णका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल ही इसकी विधिका काल है। इसके ऊपर कृष्टिकरणका काल प्रारम्भ होता है। (क्ष.सा./४८७)।

★ योग स्पर्धकका लक्षण—दे. योग/५।

★ स्पर्धक व कृष्टिमें अन्तर—दे. कृष्टि।

स्पर्श—स्पर्शनका अर्थ स्पर्श करना या छूना है। यहाँ इस स्पर्शानु-योग द्वारमें जीवोंके स्पर्शका वर्णन किया गया है अर्थात् कौन-कौन मार्गणा स्थानगत पर्याप्त या अपर्याप्त जीव किस-किस गुणस्थानमें कितने आकाश क्षेत्रको स्पर्श करता है।

१. भेद व लक्षण

१. स्पर्श गुणका लक्षण

स. सि./५/२३/२९३/११ स्पृश्यते स्पर्शनमात्रं वा स्पर्शः।
स. सि./२/२०/१७८/६ स्पृश्यत इति स्पर्शः। ...पर्यायप्राधान्यविवक्षायां भावनिर्देशः। स्पर्शनं स्पर्शः। —१. जो स्पर्शन किया जाता है उसे या स्पर्शनमात्रको स्पर्श कहते हैं। २. द्रव्यकी अपेक्षा होनेपर कर्म निर्देश होता है। जैसे—जो स्पर्श किया जाता है सो स्पर्श है। ...तथा जहाँ पर्यायकी विवक्षा प्रधान रहती है तब भाव निर्देश होता है जैसे स्पर्शन स्पर्श है। (रा. वा./२/२०/१/१३२/३१)।

ध. १/१,१,३३/२३७/८ यदा वस्तुप्राधान्येन विवक्षितं तदा इन्द्रियेण वस्त्वेव विषयीकृतं भवेत् वस्तुव्यतिरिक्तस्पर्शाद्यभावात्। एतस्यां विवक्षायां स्पृश्यत इति स्पर्शो वस्तु। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा तस्य ततो भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनात्भावसाधनत्वमप्यविरुद्धम्। यथा स्पर्श इति। —जिस समय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा प्रधानतासे वस्तु ही विवक्षित होती है, उस समय इन्द्रियके द्वारा वस्तुका ही ग्रहण होता है, क्योंकि वस्तुको छोड़कर स्पर्शादि धर्म पाये नहीं जाते हैं इसलिए इस विवक्षामें जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श कहते हैं, और वह स्पर्श वस्तु रूप ही पड़ता है। तथा जिस समय पर्यायार्थिक नयकी प्रधानतासे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय पर्यायका द्रव्यसे भेद होनेके कारण उदासीन रूपसे अवस्थित भावका कथन किया जाता है। इसलिए स्पर्शमें भाव साधन भी बन जाता है। जैसे स्पर्शन ही स्पर्श है।

२ स्पर्श नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९०/८ यस्योदयात्स्पर्शप्रादुर्भावस्तत्स्पर्शनाम। —जिसके उदयसे स्पर्शकी उत्पत्ति होती है वह स्पर्श नामकर्म है। (रा. वा./८/११/१०/५७७/१४); (ध. १/५,९,१०१/३६४/८); (गो. क./जी. प्र./३३/२९/२५)।

ध. ६/१,९-१,२८/५५/६ जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण जीवसरीरे जाइपडिणियदो पासो उप्पज्जदि तस्स कम्मक्खंधस्स पाससण्णा कारणे कज्जुवयारादो। —जिस कर्मस्कन्धके उदयसे जीवके शरीरमें जाति प्रतिनियत स्पर्श उत्पन्न होता है, उस कर्म स्कन्धकी कारणमें कार्यके उपचारसे स्पर्श यह संज्ञा है।

३. स्पर्शनानुयोग द्वारका लक्षण

स. सि./१/८/२९/७ तदेव स्पर्शनं त्रिकालगोचरम्। —त्रिकाल विषयक निवासको स्पर्श कहते हैं। (रा. वा./१/८/५/४१/३०)

ध. १/१,१,७/गा./१०२/१५८ अत्थित्तं पुण संतं अत्थित्तस्स य तहेव परिमाणं। पच्चुप्पण्णं खेत्तं अदीद-पदुप्पण्णणं फुसणं।१०२।

ध. १/१,१,७/१५८/५ तीहिंदो वलद्ध-संत-पमाण खेत्ताणं अदीद-काल-विसिट्ठफासं परूवेदि फोसणाणुगमो। —१. अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाली प्ररूपणाको सत्प्ररूपणा कहते हैं। जिन पदार्थोंके अस्तित्वका ज्ञान हो गया है ऐसे पदार्थोंके परिमाणका कथन करनेवाली संख्या प्ररूपणा है, वर्तमान क्षेत्रका वर्णन करनेवाली क्षेत्र प्ररूपणा है। अतीत स्पर्श और वर्तमान स्पर्शका वर्णन करनेवाली स्पर्शन प्ररूपणा है। ।१०२। २. उक्त तीनों अनुयोगोंके द्वारा जाने हुए सत् संख्या और क्षेत्ररूप द्रव्योंके अतीतकाल विशिष्ट वर्तमान स्पर्शका स्पर्शनानुयोग वर्णन करता है।

ध. ४/१,४,१/१४४/८ अस्पर्शि स्पृश्यत इति स्पर्शनम्। —जो भूतकालमें स्पर्श किया है और वर्तमानमें स्पर्श किया जा रहा है वह स्पर्शन कहलाता है।

४. स्पर्शके भेद

१. स्पर्शगुण व स्पर्श नामकर्मके भेद

ष. खं. ६/१,९,१/सू. ४०/७५ जं तं पासणामकम्मं तं अट्ठविहं, कक्खडणामं मउवणाम गुरुअणामं लहुअणाम णिद्धणाम लुक्खणामं सीदणाम उसुणणामं चेदि।४०। —जो स्पर्श नामकर्म है वह आठ प्रकारका है—कर्कशनामकर्म, मृदुकनामकर्म, गुरुकनामकर्म, लघुकनामकर्म, स्निग्धनामकर्म, रूक्षनामकर्म, शीतनामकर्म और उष्णनामकर्म। (ष. खं. १३/५.५/सू. ११३/३७०); (स सि./८/११/३९०/८), (पं. सं./प्रा./२/४/टी./४८/२); (रा. वा./८/११/१०/५७७/१४); (गो. क./जी. प्र./३३/२९/१५)।

स. सि./५/२३/२९३/११ सोऽष्टविधः; मृदुकठिनगुरलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षभेदात्। —कोमल, कठोर, भारी, हलका, ठंडा, गरम, स्निग्ध और रूक्षके भेदसे वह स्पर्श आठ प्रकारका है। (रा. वा./५/२३/७/४८४); (गो. जी./जी. प्र./८८५/१), (द्र. सं./टी./७/१९); (प. प्र./टी./१/१९)।

२. निक्षेपोंकी अपेक्षा भेद दृष्टि नं. १

नोट—(नाम, स्थापना आदि भेद—दे. निक्षेप)।

ध. ४/१,४,१/१४३/२ मिस्सयदव्वफोसणं छण्हं दव्वाणं संजोएण एगूणसट्ठिभेयभिण्णं। —मिश्रद्रव्यस्पर्शन चेतन अचेतन स्वरूप छहों द्रव्योंके संयोगसे उनसठ भेदवाला होता है।

विशेषार्थ—मिश्र तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य स्पर्शके सचित्त व अचित्त रूप छह द्रव्योंके ६५ संयोगी भंग निम्न प्रकार हैं।

एक संयोगी भंग—छह द्रव्योंका पृथक्-पृथक् ग्रहण करनेसे—६।
द्विसंयोगी भंग—(६×५)+(१×२)—३०/२ —१५।
त्रिसंयोगी भंग—(६×५×४)+ (१×२×३)—१२०/६ —२०।
चतुर्संयोगी भंग—(६×५×४×३)+(१×२×३×४)—३६०/२४—१५।
पंचसंयोगीभंग—(६×५×४×३×२)+(१×२×३×४×५)—७२०/१२०—६।

छह संयोगी भंग = (६×५×४×३×२×१) ÷ (१×२×३×४×५×६)
= ७२०/७२० = १ ।

जीवके साथ जीव के स्पर्श रूप बन्ध का भंग'	= १ ।
पुद्गलके साथ पुद्गल के स्पर्श रूप बन्ध का भंग	= १
(गो. क./मू./८००) । कुल भंग	= ६५
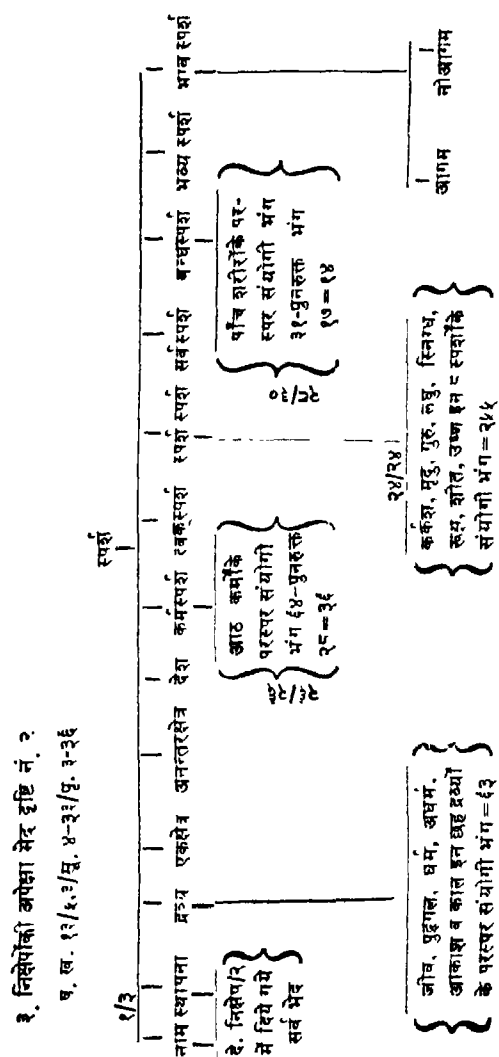
ध. १३/५,३,२४/२५/२ एत्थ केवि आइरिया कक्खडादिफासाणं पहाणी-कयाणं एगादिसंजोगेहि फासभंगे उप्पायंति, तण्ण घडदे; गुणाणं णिस्सहावणं गुणेहि फासाभावादो ।···अथवा सुत्तस्स देसामासियत्ते··· सगंतोक्खित्तासेसविसेसंतराणमट्ठण्णं फासाणं संजोएण दुसद-पंच-वंचासभंगा उप्पाएयव्वा । —यहाँ कितने ही आचार्य प्रधानताको प्राप्त हुए कर्कश आदि स्पर्शोंके एक आदि संयोगों द्वारा स्पर्श भंग उत्पन्न कराते हैं; परन्तु वे बनते नहीं; क्योंकि गुण निस्वभाव होते हैं, इसलिए उनका अन्य गुणोंके साथ स्पर्श नहीं बन सकता।··· अथवा सूत्रदेशामर्शक होता है।···अतएव अपने भीतर जितने विशेष प्राप्त होते हैं, उन सबके साथ आठ स्पर्शोंके संयोगसे दो सौ पचपन भंग उत्पन्न कराने चाहिए।

५. निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण

ष.खं. व धवला टी./१३/५,३./सूत्र नं./पृ.नं. 'जं दव्वं दव्वेण पुसदि सो सव्वो दव्वफासो णाम । (१२/११)' 'जं दव्वमेयक्खेत्तेण पुसदि सो सव्वो एयक्खेत्तफासो णाम (१४/१६)' एक्कम्हि आगासपदेसे ट्ठिदअणंताणंतपोग्गलक्खंधाणसमवाएण संजोएण वा जो फासो सो एयक्खेत्तफासो णाम । बहुआणं दव्वाणं अक्कमेण एयक्खेत्तपुसण-दुवारेण वा एयक्खेत्तफासो वत्तव्वो । —'जं दव्वमणंतरक्खेत्तेण पुसदि सो सव्वो अणंतरक्खेत्तफासो णाम (१६/१७)' दुपदेसट्ठिददव्वाण-मण्णेहि दोआगासपदेसट्ठिदव्वेहि जो फासो सो अणंतरक्खेत्तफासो णाम ।···एव संते समाणोगाहणखंधाणं जो फासो सो एयक्खेत्त-फासो णाम । असमाणोगाहणखंधाणं जो फासो सो अणंतरक्खेत्तफासो णाम । कधमणंतरत्तं । समाणासमाणक्खेत्ताणमंतरे खेत्तंतराभावादो । एवमणंतरखेत्तफासपरूवणा गदा ।—'जं दव्वदेसं देसेण पुसदि सो सव्वो देसफासो णाम (१८/१८)' एगस्स दव्वस्स देसं अवयवं जदि [देसेण] अण्णदव्वदेसेण अप्पणो अवयवेण पुसदि तो देसफासो त्ति दट्ठव्वो ।— जं दव्वं तयं वा णोतय वा पुसदि सो सव्वो तयफासो णाम (२०/१९)' एसो तयफासो दव्वफासे अंतब्भावं किण्ण गच्छदे । ण, तय-णोतयाणं खंधम्हि समवेदाणं पुध दव्वत्ताभावादो । खंध-तय-णोतयाणं समूहो दव्वं । ण च एक्कम्हि दव्वे दव्वफासो अत्थि, विरो-हादो ।···तयफासो देसफासे किण्ण पविसदि । ण, णाणदव्वविसए देसफासे एगदव्वविसयस्स तयफासस्स पवेसविरोहादो ।—जं दव्वं सव्वं सव्वेण फुसदि, तहा परमाणुदव्वमिदि, सो सव्वो सव्वफासो णाम । (२२/२१)' 'सो अट्ठविहो—कक्खडफासो मउवफासो-गरुव-फासो लहुवफासो णिद्धफासो लुक्खफासो सीदफासो उण्हफासो । सो सव्वो फासफासो णाम (२४/२४)' स्पृश्यत इति स्पर्शः कर्क-शादि । स्पृश्यत्यनेनेति स्पर्शस्त्वगिन्द्रियं । तयोर्द्वयोः स्पर्शयोः स्पर्शः स्पर्शस्पर्शः ।—'सो अट्ठविहो—णाणावरणीय-दंसणावरणीय-वेयणीय-मोहणीय-आउअ-णामा-गोद-अंतराइय-कम्मफासो । सो सव्वो कम्मफासो णाम (२६/२६)' अट्ठकम्माणं जीवेण विस्सा-सोवचएहि य णोकम्मेहि य जो फासो सो दव्वफासे पददि त्ति एत्थ ण वुच्चदे, कम्माणं कम्मेहि जो फासो सो कम्मफासो त्ति एत्थ घेत्तव्वो ।—'सो पंचविहो—ओरालियसरीरबंधफासो एवं वेउव्विय-आहार-तेया कम्मइयसरीरबंधफासो । सो सव्वो बंधफासो णाम । (२८/३०)' बध्नातीति बन्धः । औदारिकशरीरमेव बन्धः औदारिक-शरीरबन्धः । तस्स बंधस्स फासो ओरालियसरीरबंधफासो णाम । एवं सव्वसरीरबंधफासाणं पि वत्तव्वं ।—'जहा विस कूड-जंत-पंजर-कदय-वग्गुरादीणि कत्तारो समोद्वियारो य भवियो फुसणदाए णो य पुण ताव तं फुसदि सो सव्वो भवियफासो णाम (३०/३४)' 'उवजुत्तो पाहुडजाणओ सो सव्वो भावफासो णाम (३२/३५) —१. एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे स्पर्शको प्राप्त होता है वह सब द्रव्यस्पर्श है ।१२। २. जो द्रव्य एक क्षेत्रके साथ स्पर्श करता है वह सब एक क्षेत्र-स्पर्श है ।१४। एक आकाश प्रदेशमें स्थित अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्धोंका समवाय सम्बन्ध या संयोग सम्बन्ध द्वारा जो स्पर्श होता है वह एक क्षेत्रस्पर्श कहलाता है। अथवा बहुत द्रव्योंका युगपत् एक क्षेत्रके स्पर्शन द्वारा एक क्षेत्र स्पर्श कहना चाहिए। ३. जो द्रव्य अनन्तर द्रव्यके साथ स्पर्श करता है वह सब अनन्तरक्षेत्र स्पर्श है ।१६। दो प्रदेशोंमें स्थित द्रव्योंका दो आकाशके प्रदेशोंमें स्थित अन्य द्रव्योंके साथ जो स्पर्श होता है वह अनन्तर क्षेत्रस्पर्श है।... इस स्थितिमें (एक शब्द संख्यावाची नहीं समानवाची है) समान अवगाहना वाले स्कन्धोंका जो स्पर्श होता है वह एक क्षेत्रस्पर्श है और असमान अवगाहना वाले स्कन्धोंका जो स्पर्श होता है वह अनन्तरक्षेत्र स्पर्श है। क्योंकि समान और असमान क्षेत्रोंके मध्यमें अन्य क्षेत्र नहीं उपलब्ध होता, इसलिए इसे अनन्तरपना प्राप्त है। ४. जो द्रव्य एकदेश एकदेशके साथ स्पर्श करता है वह सब देशस्पर्श

है ।१८। एक द्रव्यका देश अर्थात् अवयव यदि अन्य द्रव्यके देश अर्थात् उसके अवयवके साथ स्पर्श करता है तो वह देशस्पर्श जानना चाहिए। (दो परमाणुओंका दो प्रदेशावगाही स्कन्ध बननेमें जो स्पर्श होता है वही देशस्पर्श है।) ५. जो द्रव्य त्वचा या नोत्वचा को स्पर्श करता है वह सब त्वक्स्पर्श है ।२०। प्रश्न—यह त्वक् स्पर्श द्रव्य स्पर्शमें क्यों नहीं अन्तर्भावको प्राप्त होता ? उत्तर—नहीं, क्योंकि त्वचा और नोत्वचा स्कन्धमें समवेत है, अतः उन्हें पृथक् द्रव्य नहीं माना जा सकता। स्कन्ध, त्वचा और नोत्वचाका समुदाय द्रव्य है। पर एक द्रव्यमें द्रव्यस्पर्श नहीं बनता, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—त्वक्स्पर्श देशस्पर्शमें क्यों नहीं अन्तर्भूत होता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि नाना द्रव्योंको विषय करनेवाले देश स्पर्शमें एक द्रव्यको विषय करनेवाले त्वक् स्पर्शका अन्तर्भाव माननेमें विरोध आता है। ६. जो द्रव्य सबका सब सर्वात्मना स्पर्श करता है, यथा परमाणु द्रव्य, वह सब सर्वस्पर्श है ।२२। ७. स्पर्शस्पर्श आठ प्रकारका है—कर्कशस्पर्श, मृदुस्पर्श, गुरुस्पर्श, लघुस्पर्श, स्निग्ध-स्पर्श, रूक्षस्पर्श, शीतस्पर्श और उष्ण स्पर्श है वह सब स्पर्शस्पर्श है ।२४। जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श है, यथा कर्कश आदि। जिसके द्वारा स्पर्श किया जाय वह स्पर्श है, यथा त्वचा इन्द्रिय। इन दोनों स्पर्शोंका स्पर्श स्पर्शस्पर्श कहलाता है। ८. वह आठ प्रकारका है—ज्ञानावरणीय कर्मस्पर्श, दर्शनावरणीय कर्मस्पर्श, वेदनीय कर्मस्पर्श, मोहनीय कर्मस्पर्श, आयुकर्मस्पर्श, गोत्र कर्मस्पर्श और अन्तराय कर्मस्पर्श। वह सब कर्मस्पर्श है ।२६। आठ कर्मोंका जीवके साथ, विस्रसोपचयोंके साथ और नोकर्मोंके साथ जो स्पर्श होता है वह सब द्रव्य स्पर्शमें अन्तर्भूत होता है; इसलिए वह यहाँ नहीं कहा गया है। किन्तु कर्मोंका कर्मोंके साथ जो स्पर्श होता है वह कर्मस्पर्श है ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। ९. वह पाँच प्रकारका है—औदारिक शरीर बन्धस्पर्श। इसी प्रकार वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर बन्धस्पर्श। वह सब बन्ध-स्पर्श है ।२८। जो बाँधता है वह बन्ध कहलाता है, औदारिक शरीर बन्ध औदारिक शरीर बन्ध है, उस बन्धका स्पर्श औदारिकशरीरबन्ध-स्पर्श है। इसी प्रकार सर्व शरीरबन्ध स्पर्शोंका भी कथन करना चाहिए। १०. विष, कूट, यन्त्र, पिंजरा, कन्दक और पशुको बाँधने-का जाल आदि तथा इनके करनेवाले और इन्हें इच्छित स्थानोंमें रखनेवाले स्पर्शनके योग्य होंगे परन्तु अभी उन्हें स्पर्श नहीं करते; वह सब भव्य स्पर्श है ।३०। ११. जो स्पर्श प्राभृतका ज्ञाता उसमें उपयुक्त है वह सब भाव स्पर्श है ।३२।

ध. ४/१,४,१/१४३-१४४/३,२ सेसदव्वाणमागासेण सह संजोओ खेत्तफो-सणं/१४३/३/ कालदव्वस्स अण्णदव्वेहि जो संजोओ सो कालफोसणं णाम। —१२. शेष द्रव्योंका आकाश द्रव्यके साथ जो संयोग है, वह क्षेत्र स्पर्शन कहलाता है। १३. कालद्रव्यका जो अन्य द्रव्योंके साथ संयोग है उसका नाम कालस्पर्शन है।

२. स्पर्श सामान्य निर्देश

१. अमूर्तसे मूर्तका स्पर्श कैसे सम्भव है

ध. ४/१,४,१/१४३/१ अमुत्तेण आगासेण सह सेसदव्वाणं मुत्ताणममुत्ताणं वा कधं पोसो। ण एस दोसो, अवगेज्झावगाहभावस्सेव उवयारेण फासववएसादो, सत्त-पमेयत्तादिणा अण्णोण्णसमाणत्तणेण वा।... अमुत्तेण कालदव्वेण सेसदव्वाणं जदि वि पासो णत्थि, परिणामिज्ज-माणाणि सेसदव्वाणि परिणत्तेण कालेण पुसिदाणि त्ति उवयारेण कालफोसणं वुच्चदे। —प्रश्न—अमूर्तआकाशके साथ शेष अमूर्त और मूर्त द्रव्योंका स्पर्श कैसे सम्भव है ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अवगाह्य अवगाहक भावको ही उपचारसे स्पर्श संज्ञाप्राप्त है, अथवा सत्त्व प्रमेयत्व आदिके द्वारा मूर्त द्रव्यके साथ अमूर्त द्रव्य-की परस्पर समानता होनेसे भी स्पर्शका व्यवहार बन जाता है।... यद्यपि अमूर्तकालद्रव्यके साथ शेष द्रव्योंका स्पर्शन नहीं है, तथापि परिणमित होने वाले शेष द्रव्य परिणामत्वकी अपेक्षा कालसे स्पर्शित हैं, इस प्रकारसे उपचारसे काल स्पर्शन कहा जाता है।

२. क्षेत्र व काल स्पर्शका अन्तर्भाव द्रव्य स्पर्शमें क्यों नहीं

ध.४/१,४,१/१४४/४ खेत्तकालपोसणाणिदव्वफोसणम्हि किण्ण पदंति त्ति वुत्ते ण पदंति, दव्वादो दव्वेगदेसस्स कधंचि भेदुवलंभादो। —प्रश्न—क्षेत्रस्पर्शन और कालस्पर्शन ये दोनों स्पर्शन, द्रव्य स्पर्शनमें क्यों नहीं अन्तर्भूत होते हैं ? उत्तर—अन्तर्भूत नहीं होते हैं, क्योंकि, द्रव्यसे द्रव्यके एकदेशका कथंचित् भेद पाया जाता है।

३. स्पर्श विषयक प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेत सूची

/	भाग
+	भाग
×	गुणा
S	किंचिदून
८/१४/लोक.	लोकका ८/१४ भाग
अप.	अपर्याप्त
असं.	असंख्यात
च.	चतुर्लोक (मनुष्य लोक रहित सर्व लोक)
ज. प्र.	जगत्प्रतर
ति.	तिर्यक् लोक
त्रि.	त्रिलोक या सर्व लोक
द्वि.	ऊर्ध्व व अधो ये दो लोक
प.	पर्याप्त
पृ.	पृथिवी
बा.	बादर
म.	मनुष्य लोक (अढाई द्वीप)
व.	वनस्पति
सर्व.	सर्व लोक (३४३ घन राजू)
सं.	संख्यात
सं.घ.	संख्यात घनांगुल
सा.	सामान्य

प्रमाण ध४/पृ.	गुणस्थान	गुण-स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत स्वस्थान	वेदना कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवलि समुद्घात
२. जीवोंके वर्तमान काल स्पर्शकी ओघ प्ररूपणा—(ध. ४/१,४,२-१०/१४५-१७२)									
१४८	मिथ्यादृष्टि	१	सर्व	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	सर्व	त्रि./असं., ति./सं. म×असं.	सर्व	मारणान्तिकवत्	...
१५१	सासादन	२	च./असं., म.×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	,,	...
१५५	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
१५६	असंयत सम्यग्दृष्टि	४	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं , ति./सं. म×असं.	त्रि /असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	मारणान्तिकवत	...
१६७	संयतासंयत	५	,,	,,	,,	,,	,,	...	...
१७०	प्रमत्त संयत	६	च./असं.,म./सं.	च./असं., म./सं.	च./असं., म /सं.	च./असं., म./सं.	च./असं., म×असं.	...	तैजस = च./असं., म./सं. आहारक = ,,
,,	अप्रमत्त संयत	७	,,	,,	...	...	,,	...	...
,,	उपशामक	८-११	,,	...	...	...	,,	...	...
,,	क्षपक	८-१२	,,	...	...	...	...	...	...
१७२	सयोगकेवली	१३	,,	च./असं., म./सं.	...	...	...	...	दण्ड = च./असं., म×असं. कपाट— कायोत्सर्ग = ४५००,००० यो×१ ज. प्र. उपविष्ट = १०००,००० यो×१ ज.प्र. प्रतर = वातवलय रहित सर्व लोकपूरण = सर्व
१७२	अयोगकेवली	१४	,,	...	...	,,	...	...	...

३. जीवोंके अतीत कालीन स्पर्शकी ओघ प्ररूपणा—(ष. ४/१, ४, २-१०/१४५-१७३)

प्रमाण ष.४/पृ.	गुणस्थान	गुण-स्थान	स्वस्थानस्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
१४८	मिथ्यादृष्टि	१	सर्व	≤ $\frac{८}{१४}$ लोक	सर्व	≤ $\frac{८}{१४}$ लोक	सर्व	मारणान्तिकवत	...
१४९. १६२–१६५	सासादन	२	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	≤ $\frac{८}{१४}$ लोक	≤ $\frac{८}{१४}$ लोक	≤ $\frac{८}{१४}$ लोक	≤ $\frac{१२}{१४}$ लोक	≤ $\frac{११}{१४}$ लोक	...
१६६–१६७	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
१६७	असंयत सम्यग्दृष्टि	४	,,	,,	,,	,,	≤ $\frac{८}{१४}$ लोक	≤ $\frac{६}{१४}$ लोक	...
१६८	संयतासंयत	५	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं. ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म.×असं.	≤ $\frac{६}{१४}$ लोक	...	...
१७१	प्रमत्त संयत	६	च./असं., म./सं.	च./असं., म./सं.	च./असं., म./सं.	सर्व मनुष्य लोक	च./असं., म×असं.	...	तैजस = सर्व मनुष्य लोक आहारक = ,,
,,	अप्रमत्त संयत	७	,,	,,	...	...	,,	...	,,
,,	उपशामक	८–११	,,	...	...	...	,,	...	...
,,	क्षपक	८–१२	,,	...	...	...	...	...	...
१७२	सयोग केवली	१३	च./असं., म./सं.	च./असं., म./सं.	...	...	...	...	दण्ड = च./असं., म×असं. कपाट— ... कायोत्सर्ग = ४१००,००० यो.×१ ज.प्र उपविष्ट = १०००,००० यो.×१ ज.प्र. प्रतर — वातवलय रहित सर्व लोकपूरण — सर्व
१७२	अयोग केवली	१४	च./असं., म./सं.	...	...	..	...	...	...

४. जीवोंके अतीत कालीन स्पर्शकी आदेश प्ररूपणा १ = (ष. खं. ४/१, ४, सूत्र ११-१८१/ १७३-३०६): २ = (ष. खं. ७/२, ७, सू. १-२७६/३६७-४६१)

प्रमाण न.१ पृ.	प्रमाण न.२ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस-आहारक व केवली समुद्घात
		१. गति मार्गणा—								
		१. नरक गति—								
	३६८	सामान्य		ति./असं, च./असं., म×असं.	ति./असं.	च/असं., म×असं.	च/असं., म×असं.	संख्यात सहस्र-६/१४ योजन	मारणान्तिकवत्	...
	३७०	प्रथम पृथिवी		च./असं., म×असं.	च/असं., म×असं.	च/असं., म×असं.	च/असं., म×असं.	त्रि/असं. ति/सं. म×असं	,,	...
	३७२	२-७ पृथिवी		,,	,,	सर्व/असं.	सर्व/असं.	(कुछ कम $\frac{१}{१४}$, $\frac{२}{१४}$, $\frac{३}{१४}$, $\frac{४}{१४}$, $\frac{५}{१४}$, $\frac{६}{१४}$ लोक)	,,	...
१७१		सामान्य	१	च./असं, म×असं.	च/असं., म×असं.	च/असं, म×असं.	च/असं, म×असं.	S $\frac{६}{१४}$ लोक	,,	...
१७७			२	,,	,,	,,	,,	$\frac{५}{१४}$,,	...	...
१७६			३	,,	,,	,,	,,		...	...
,,			४	,,	,,	,,	,,	च/असं. म×असं.	मारणान्तिकवत्	...
१८२		प्रथम पृथिवी	१	,,	,,	,,	,,	त्रि/असं, ति/सं., म×असं.	च/असं, म×असं	...
१८६			२	,,	,,	,,	,,	,,		...
१८७			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
,,			४	,,	,,	,,	,,	च/असं., म×असं.	मारणान्तिकवत्	...
१८८		२-६ पृथिवी	१	,,	,,	,,	,,	क्रमेण $\frac{१}{१४}$, $\frac{२}{१४}$, $\frac{३}{१४}$, $\frac{४}{१४}$, $\frac{५}{१४}$ लोक	,,	...
१८८			२	,,	,,	,,	,,	,,	...	...
१८६			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
१८६			४	,,	,,	,,	,,	च/असं., म×असं	...	...
१९०		७वीं पृथिवी	१	,,	,,	,,	,,	S $\frac{६}{१४}$ लोक	मारणान्तिकवत्	..
			२-४	,,	,,	,,	,,	×	...	...
		२. तिर्यंचगति—								
	३७५	सामान्य		सर्व	त्रि/असं, ति/सं. म×असं	सर्व	त्रि/असं., द्वि×असं.	सर्व	मारणान्तिकवत्	...
	३७६	पंचेन्द्रियतिर्य. प.		त्रि./असं., ति/सं., म×असं.	त्रि./असं., ति/सं., म×असं.	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	,,	,,	...
	,,	,, योनिमति		,,	,,	,,	,,	,,	,,	.
	३७८	,, तिर्य. अप.		,,	×	,,	,,	,,	,,	...
१९२		सामान्य	१	सर्व	त्रि/असं, ति/सं. म×असं.	सर्व	त्रि/असं. ति/सं., म×असं	सर्व	,,	...
१९३			२	त्रि./असं., ति./सं. म×असं.	त्रि/असं. ति/सं., म×असं.	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	त्रि/असं., ति/सं. म×असं.	S $\frac{७}{१४}$ लोक (पृ. २०४)	$\frac{११}{१४}$ लोक (पृ. २०५)	...

प्रमाण स.१ पृ.	नं.२ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
२०६		सामान्य तिर्यंच	१	त्रि/असं., ति/सं. म×असं.	त्रि/असं., ति/सं. म×असं.	त्रि/असं., ति/सं. म×असं.	त्रि/असं., ति/सं. म×असं.	...	...	...
२०७			४	"	"	"	"	S ६/१४ लोक	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	..
"			५	"	"	"	"	"	...	...
२११		पंचेन्द्रिय तिर्यंच प.	१	"	"	"	"	सर्व	मारणान्तिकवत	...
२१३			२	"	"	"	"	S ७/१४ लोक	११/१४ लोक	...
"			३	"	"	"	"	...	..	...
"			४	"	"	"	"	S ६/१४ लोक	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	...
"			५	"	"	"	"	"	...	...
२११		पंचें. तिर्य. योनिमति	१-३	— —	— —	←	पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्तवत	→	—	...
२१३			४-५	— —	— —	←	"	→	...	...
"		पंचें. तिर्य. अप.	१	त्रि/असं., ति/सं. म×असं.	...	त्रि/असं., ति/सं. म×असं.	...	सर्व (पृ. २१६)	सर्व (पृ. २१६)	...
		३. मनुष्य गतिः—								
	३८०	सामान्य व पर्याप्त		च/असं., म/सं.	कुछ कम मनुष्य लोक	कुछ कम मनुष्य लोक	कुछ कम मनुष्य लोक	सर्व	मारणान्तिकवत	मूलओघवत
	"	मनुष्यणी		"	"	..	"	"	"	...
"	३८१	मनुष्य अपर्याप्त		"	..	"	...	"	"	...
२१६		सामान्य व पर्याप्त	१	च/असं., म/सं.	च/असं., म/सं.	च/असं., म/सं.	च/असं., म/सं.	"	"	...
२१७			२	"	"	"	"	S ७/१४ लोक	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	...
२२०			३	"	"	"	"	...	...	...
२२१			४	"	"	"	"	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	मारणान्तिकवत	...
२२२			५	"	"	"	"	च/असं., म×असं.	...	...
२२३			६-१४	— —	— —	←	मूलोघवत	→	—	—
२१६		मनुष्यणी	१-३	— —	— —	←	मनुष्य पर्याप्तवत्	→	—	—
२२१			४-६	— —	— —	←	"	→	...	—
२२३			७-१४	— —	— —	←	मूलोघवत्	→	—	—
२६३		मनुष्य अप.	१	च/असं., म/सं.	..	च/असं., म/सं.	..	सर्व	सर्व	...

प्रमाण ष. १ पृ.	प्रमाण ष. २ पृ.	मार्गणा	गुण-स्थान	स्वस्थान-स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना कषाय समुद्घात	वैक्रियिक-समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
		४. देव गति								
	३८२	सामान्य		त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ६/१४ लोक	...
	३८५	भवनवासी		च./असं., ति./सं., म×असं.	स्वनिमित्तक S ७/२८ लोक परनिमित्तक = S ८/१४ "	स्वनिमि. = S ७/२८ लोक परनिमि. = S ८/१४ "	स्वनिमि = S ७/२८ लोक परनिमि. = S ८/१४ "	S ६/१४ लोक	त्रि./असं., ति./सं., म×असं	...
	"	व्यन्तर ज्योतिषी		"	दोनों अपेक्षा "	दोनों अपेक्षा "	दोनों अपेक्षा "	"	"	...
	३८८	सौधर्म ईशान		च./असं., म×असं.	क्रमेण ८/१४, S ९/१४ लोक	क्रमेण S ८/१४ S ९/१४ लोक	क्रमेण S ८/१४, S ९/१४ लोक	क्रमेण S ८/१४, S ९/१४ लोक	S ३/२८ लोक	...
	३८९	सनत्कुमार-सहस्रार पाँच युगलोंमें प्रत्येक		"	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	क्रमेण : S ३/१४, ७/२८, ४/१४, ९/२८, ५/१४ लोक	...
	३९१	आनत-अच्युत (२ युगलोंमें प्रत्येक)		सर्व./असं.	S ६/१४ लोक	S ६/१४ लोक	S ६/१४ लोक	S ६/१४ लोक	क्रमेण : S ११/२८, ६/१४ लोक	...
	३९२	नवग्रैवेयक-अपराजित		च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	...
	"	सर्वार्थसिद्धि		"	"	"	"	...	...	...
२२४		सामान्य	१	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ९/१४ लोक	S ५/१४ लोक	...
२२७			२	"	"	"	"	"	"	...
"			३	"	"	"	"	...	...	...
"			४	"	"	"	"	S ८/१४ लोक	S ६/१४ लोक	...

प्रमाण सं.१ पृ.	सं.२ पृ.	मार्गणा	गुणस्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
२२८		भवनवासी	१	च./असं., ति./सं., म×असं.	स्वनिमित्तक S $\frac{७}{२८}$ लोक परनिमित्तक—S $\frac{८}{१४}$,, दोनों अपेक्षा ,,	स्वनिमि.—S $\frac{७}{२८}$ लोक परनिमि.—S $\frac{८}{१४}$,, दोनों अपेक्षा ,,	स्वनिमि.—S $\frac{७}{२८}$ लोक परनिमि.—S १४ ,, दोनों अपेक्षा ,,	S $\frac{६}{१४}$ लोक	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	...
२२८			२	,,	,,	,,	,,	,,	,,	...
२३३			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
,,			४	,,	,,	,,	,,	दोनों अपेक्षा वैक्रियकवत्	...	...
२२८		व्यन्तर ज्योतिषी	१	,,	,,	,,	,,	S $\frac{६}{१४}$ लोक	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	...
,,			२	,,	,,	,,	,,	,,	,,	...
२३३			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
,,			४	,,	,,	,,	,,	दोनों अपेक्षा वैक्रियक वत्	...	...
२३४		सौधर्म ईशान	१	,,	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{६}{१४}$ लोक	S $\frac{३}{२८}$ लोक	...
,,			२	,,	,,	,,	,,	,,	,,	...
,,			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
,,			४	,,	,,	,,	,,	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{३}{२८}$ लोक	...
२३७		सनत्कुमार-सहस्रार	१,२,४	—	←	स्व ओघवत्	→	—	—	—
,,			३	—	←	स्व ओघवत्	→		—	—
२३८		आरण-अच्युत	१-२	च./असं., ति./सं., म×असं.	S $\frac{६}{१४}$ लोक	S $\frac{६}{१४}$ लोक	S $\frac{६}{१४}$ लोक	S $\frac{६}{१४}$ लोक	च./असं., ति./सं., म×असं.	...
२३६			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
,,			४	,,	,,	,,	,,	S $\frac{६}{१४}$ लोक	क्रमेण : S $\frac{११}{२८}$, S $\frac{६}{१४}$ लोक	...
,,		नवग्रैवेयक	१-२	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	...
,,			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
,,			४	,,	,,	,,	,,	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	...
२४०		अनुदिशसे अपराजित	४	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	...
,,		सर्वार्थ सिद्धि	४	म./सं.	म./सं.	म./सं.	म./सं.	...	...	...

प्रमाण सं.१ पृ.	प्रमाण सं.२ पृ.	मार्गणा	गुणस्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
		२. इन्द्रिय मार्गणा—								
	३६३	एकेन्द्रिय सा प अप.		सर्व/स	.	सर्व	सर्व/सं.	सर्व	सर्व	...
	"	" सू प. अप.		.	..	,,		"	"	...
	"	" बा प अप.		त्रि/स, ति×अस., म×अस.	...	त्रि./स., ति.×अस., म.×असं.	त्रि./स., ति.×असं., म.×असं.	"	"	...
	३६५	विकलेन्द्रिय सा.प.अप		त्रि./असं. ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति/स., म.×अस.	त्रि./अस., ति./म., म.×अस.	..	"	"	...
	३६६	पंचेन्द्रिय सा प		,,	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	"	"	...
	३६६	,, अप.		,,		त्रि/असं., ति./सं., म.×असं.		"	,,	...
२४०-२४२		एकेन्द्रियके सर्व विकल्प	१	—	←	स्व ओघवत्	→	—	—	—
२४२-२४३		विकलेन्द्रिय ,, ,,	१	—	←	स्व ओघवत	→	—	—	—
२४४		पंचेन्द्रिय सा. प.	१	—	←	स्व ओघवत	→	—	—	—
२४५			२-१४	—	←	मूलोघवत	→	—	—	—
२४६		पंचेन्द्रिय अप.	१	—	←	स्व ओघवत्	→	—	—	—
		३. काय मार्गणा—								
	४०१	पृ. अप वायु सा. व सू. प अप तेज. सू अप.		सर्व	..	सर्व	...	सर्व	सर्व	.
	"	तैज. सा. व सू. प.		"	..	,,	त्रि./असं., ति./स., म.×असं.	"	"	...
	४०४	पृ. अप. तेज बा. प. अप.		त्रि/असं., ति./म., म×असं.	..	त्रि./अस., ति./स., म.×असं.	त्रि./असं., ति./स., म.×असं.	"	"	..
	४०६	वायु बा प. अप.		"	..	,,	,,	"	"	.
	४१८	वन. निगोद सा. सू. प. अप.		सर्व	..	...	...	"	"	..
	"	वन. निगोद बा. प अप		त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	..	...	...	"	,,	...
	"	वन. अप्रतिष्ठित प.अप.		"	...	...	...	"	"	...

प्रमाण मं.१ पृ.	प्रमाण मं.२ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थानस्वस्थान	विहारवत्स्वस्थान	वेदना कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
	२११	त्रसकाय प. अप.	.	—	← .	पंचेन्द्रियवत्	→	—	—	—
२४९		पृ अप.सा.सू.प.अप	१	सर्व	..	सर्व	...	सर्व	सर्व	...
२५०		वायु ,, ,, ,,	१	,,	..	,,	...	,,	,,	...
,,		तेज ,, ,, ,,	१	,,	.	,,	...	,,	,,	...
२४८		पृ. अप बा. अप.	१	त्रि/असं, ति×सं, म×असं.	...	त्रि/असं., ति×स., म×असं.	..	,,	,,	...
२४६		वायु बा. अप.	१	त्रि/स., ति×असं., म×असं	...	त्रि/सं, ति×असं., म×असं.	...	,,	,,	...
२४९		तेज बा. अप.	१	त्रि/असं., ति×सं, म×असं.	...	त्रि/असं., ति×सं, म×असं.	...	,,	,,	...
२५०		पृ. अप. बा. प.	१	,,	..	,,	...	,,	,,	...
,,		तेज बा. प.	१	,,	...	,,	त्रि/असं, ति×स., म×असं.,	,,	,,	...
२५३		वायु बा. प	१	त्रि/स. ति×असं, म×असं	...	त्रि/सं, ति×असं, म×असं.,	त्रि/असं, ति×स., म×असं,	.	,,	...
२५३		वन. निगोद सू. अप	१	सर्व		सर्व		,,	,,	...
,,		वन निगोद सू. प.	१	सर्व	...	,,	...	,,	,,	...
२५३		वन ,, बा. अप.	१	त्रि/असं, ति×स, म×असं	...	त्रि/असं, ति×स., म×असं.,	...	,,	,,	...
२५७		,, ,, ,, प.	१	,,	..	,,	.	,,	,,	..
२५७		वन अप्रति प्रत्येक अप	१	,,	...	,,	.	,,	,,	...
२५१		,, ,, ,, प.	१	,,	.	,,	...	,,	,,	...
२५४		त्रस अपर्याप्त	१	त्रि/असं., ति/स., म×असं.	.	त्रि/असं., ति/स., म×असं.,		,,	,,	...
,,		त्रस पर्याप्त	१	,,	$\frac{8}{14}$ लोक	$\frac{8}{14}$ लोक	$\frac{8}{14}$ लोक	,,	,,	...
,,			२-१४	—	←	मूलोघवत्	→	—	—	—

प्रमाण सं.१ पृ.	प्रमाण सं.२ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थानस्वस्थान	विहारवत्स्वस्थान	वेदना कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
		४. योग मार्गणा—								
	४१२	पाँचों मन वचन योग		त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	सर्व		केवल तै., आ. मूलोघवत्
	४१३	काय योग सामान्य		सर्व	,,	सर्व	,,	,,	सर्व	मूलोघवत
	४१४	औदारिक काय योग		,,	त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	,,	त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	,,	...	...
	४१३ [?]	,, मिश्र ,,		,,	...	,,	...	,,	सर्व	केवल समु. मूलोघवत
	४१५ [?]	वैक्रियिक काय योग		त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S १२/१४ लोक	...	...
	४१७	वैक्रियिक मिश्र ,,		,,	...	स्वस्थानवत (नारकियोंमें)	...	...	...	...
	४१८	आहारक काय योग		च/असं, म/सं.	च/असं, म/सं.	च/असं, म/सं	...	...	...	च/असं, म/सं.
	४१९	,, मिश्र ,,		,,	...	...	...	...	...	...
	४२०	कार्माण ,,		सर्व	सर्व	...	...	...	...	...
२५५		पाँचों मन वचन योग	१	त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	सर्व	...	...
२५६			२,४,५	,,	,,	,,	,,	S १२/१४ लोक	...	...
,,			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
२५७			६-१३	—	←	मूलोघवत्	→	—	—	—
२५८		काय योग सामान्य	१	सर्व	S ८/१४ लोक	सर्व	S ८/१४ लोक	सर्व	सर्व	...
,,			२-१३	—	←	मूलोघवत	→	—	—	—
२५९		औदारिककाययोग	१	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	सर्व	.	...
२६०			२	त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	S ७/१४ लोक	...	...
२६१			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
२६२			४-५	,,	,,	,,	,,	S ६/१४ लोक	...	...
,,			६-१३	—	←	मूलोघवत्	→	—	—	...

प्रमाण सं.१ पृ.	प्रमाण सं.२ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थानस्वस्थान	विहारवत्स्वस्थान	वेदना कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
२६३		औदारिकमिश्रयोग	१	सर्व	...	सर्व	...	सर्व	सर्व	...
२६४			२	त्रि./असं., ति/सं., म×असं.	...	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	...	...	त्रि./असं., ति./सं. म×असं.	...
,,										
,,			४	त्रि./असं., ति/सं., म×असं.	...	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	...	...	त्रि./असं., ति./सं. म×असं.	...
२६५			१३	...	...	...	...	...	...	केवली समु. मूलोघवत्
२६६		वैक्रियिक काययोग	१	त्रि./असं., ति/सं., म×असं	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S १३/१४ लोक	...	...
२६७			२	,,	,,	,,	,,	S १२/१४ लोक	...	...
,,			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
,,			४	,,	,,		,,	S ८/१४ लोक	...	...
२६८		वैक्रियिकमिश्र योग	१-२	,,	...	,,	...	...	त्रि./असं, ति./सं., म×असं.	...
,,										
,,			४	च/असं., म×असं	..	च/असं., म×असं.	...	...	च/असं., म×असं.	...
२६९		आहारककाय योग	६	च/असं., म/सं	च/असं., म/सं.	च/असं., म/सं.	...	च/असं., म×असं.	...	...
,,		,, मिश्र योग	६	,,	...	,,	..	...	...	...
२७०		कार्माणकाय योग	१	सर्व	...	सर्व	...	...	सर्व	...
,,			२	...	...	...	...	...	११/१४ लोक	...
,,										
,,			४	...	...	...	...	...	६/१४ लोक	...
२७१			१३	...	...	...	...	...	...	प्रतर व लोकपूरण मूलोघवत्

प्रमाण स.१ पृ.	सं.२ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान-स्वस्थान	विहारवत्-स्वस्थान	वेदना कषाय व समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस-आहारक व केवली समुद्घात
		५. वेदमार्गणा—								
	४२०	स्त्रीवेद (देवोप्रधान)		त्रि./असं.,ति. , म×असं.	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	सर्व या ६/१४ लोक	त्रि/असं., ति/सं., ६/१४ लोक	...
	,,	पुरुषवेद (देव ,,)		,,	,,	,,	,,	,,	,,	तै. व आ. मूलोघवत्
	४३३	नपुंसक वेद		सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं.	सर्व	त्रि/असं. ति/म, म×असं, वायुकायिक = ५/१४ लोक	सर्व	सर्व	...
	४२४	अपगत वेद		त्रि./असं., म/सं.	त्रि/असं., म/सं.,	...	...	च/असं., म×असं	...	केवल समुद्घात ओघवत्
२७१		स्त्री वेद	१	त्रि./असं.,ति./सं., म×असं.	८/१४ लोक	८/१४ लोक	८/१४ लोक	सर्व	सर्व	...
२७२			२	,,	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ६/१४ लोक	S ११/१४ लोक	...
२७४			३	,,	,,	,,	,,	..	...	...
२७४			४	,,	,,	,,	,,	S ८/१४ लोक	S ६/१४ लोक	...
२७५			५	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि/असं, ति/सं., म×असं	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	त्रि./असं., ति/सं., म×असं.	S ६/१४ लोक	...	...
,,			६-९	च/असं, म/सं.	च/असं., म/सं.	च/असं., म/सं.	च/असं. म/सं.	च/असं., म×असं.	...	...
२७५,	२७५	पुरुष वेद	१-५	—	←———	स्त्रीवेद वत्	———→	—	—	— —
२७५			६	—	←———	स्त्रीवेद वत्	———→	—	—	तैजस व आहा. ओघवत्
,,			७-९	—	←———	स्त्री वेदवत्	———→	—	—	— —
२७६		नपुंसक वेद	१	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	८/१४ या ५/१४ लोक	सर्व	सर्व	...
२७७			२	त्रि./असं., ति/सं., म×असं	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	त्रि./असं., ति/सं. म×असं.	१२/१४ लोक	S ११/१४ लोक	...
,,			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
२९८			४	,,	,,	,,	,,	S ६/१४ लोक	च/असं., म×असं	...
,,			५	,,	,,	,,	,,	,,	...	...

प्रमाण		मार्गणा	गुण-स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवलि समुद्घात
२७८			६-९	च./अस., म/सं.	म. लोक	म. लोक	म. लोक	च./असं., म×असं.	...	...
२७९		अपगत वेद	१०-१४	—	←	←	मूलोघवत्	→	→	—
६. कषायमार्गणा—										
	४२५	चारों कषाय		सर्व	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	सर्व	S $\frac{८}{१४}$ लोक	सर्व	सर्व	तै. व आ. ओघवत्
		अकषाय		—	←	←	अपगतवेदीवत्	→	→	—
२८०		चारों कषाय	१-१४	—	←	←	मूलोघवत्	→	→	—
,,		अकषाय	११-१४	—	←	←	मूलोघवत्	→	→	—
७. ज्ञानमार्गणा—										
	४२६	मतिश्रुत अज्ञान		सर्व	$\frac{८}{१४}$ लोक	सर्व	$\frac{८}{१४}$ लोक	सर्व	सर्व	...
	४२७	विभंग ज्ञान		त्रि./अस., ति/सं., म×असं.	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	देवनारकी $\frac{१३}{१४}$ लोक तिर्यं मनुष्य=सर्व	...	...
	४२८	मति, श्रुत अवधिज्ञान		,,	,,	,,	,,	$\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{६}{१४}$ लोक	तै. आ. ओघवत्
	४३०	मन पर्यय ज्ञान		च/असं., म×असं.	च./अस., म×असं.	च./असं., म×असं.	च/असं., म×असं.	च/असं., म×असं.	...	,,
	४३१	केवलज्ञान		—	←	←	अपगत वेदवत्	→	→	—
२८१		मतिश्रुत अज्ञान	१	सर्व	$\frac{८}{१४}$ लोक	सर्व	$\frac{८}{१४}$ लोक	सर्व	सर्व	...
२८२			२	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	$\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{१२}{१४}$ लोक	$\frac{११}{१४}$ लोक	...
,,		विभंग ज्ञान	१	,,	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	सर्व	...	...
२८३			२	,,	,,	,,	,,	S $\frac{१२}{१४}$ लोक	...	...
२८४		मति श्रुत अवधि	४-१२	—	←	←	मूलोघवत्	→	→	—
,,		मन पर्यय ज्ञान	६	—	←	←	मूलोघवत्	→	→	—
,,		केवल ज्ञान	१३-१४	—	←	←	मूलोघवत्	→	→	—

प्रमाण सं.१ पृ.	प्रमाण सं.२ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहार व केवली समुद्घात
		८. संयम मार्गणा—								
	४३१	संयम सामान्य		त्रि/असं., म/सं.	त्रि/असं., म/सं.	त्रि/असं., म/सं.	त्रि/असं., म/सं.	च/असं., म×असं.	...	मूलोघवत्
	,,	सामायिक छेदो.		च/असं., म/असं.	च/असं., म/असं.	च/असं., म/असं.	च/असं., म/अस.	च/असं., म×असं.	...	तै. आ. मूलोघवत्
	,,	परिहार विशुद्धि		,,	,,	,,	,,	,,	...	...
	,,	सूक्ष्म साम्पराय		,,	,,	,,	...	,,	...	...
	४३२	संयतासंयत.		त्रि./असं., ति/सं. म.×असं.	त्रि/असं., ति./सं. म×असं.	त्रि/असं., ति/सं. म×असं.	त्रि/असं., ति/सं. म×असं.	$\frac{६}{१४}$ लोक	...	..
	४३४	असंयत		—	←	नपुंसक वेदवत्	→	—	...	—
२८१		संयम सामान्य	६-१४	—	←	मूलोघवत्	→	—	...	...
२८६		सामायिक छेदोप.	६-६	—	←	मूलोघवत्	→	—	...	...
		परिहार विशुद्धि	६	—	←	स्व ओघवत्	→	—	...	...
,,		,,	७	—	←	स्व ओघवत्	→	—	...	...
२८७		सूक्ष्म साम्पराय	१०	—	←	मूलोघवत्	→	—	...	...
,,		यथाख्यात	११-१४	—	←	मूलोघवत्	→	—	...	...
,,		संयतासंयत	५	—	←	मूलोघवत्	→	—	—	...
२८८		असंयत	१-४	—	←	मूलोघवत्	→	—	...	...

प्रमाण सं. १ पृ.	प्रमाण सं. २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवतस्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
९. दर्शन मार्गणा										
	४३४	चक्षु दर्शन		त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	सर्व	(लब्धिकी अपेक्षा) $\frac{१२}{१४}$ लोक व सर्व	तैजस व आहारक ओघवत्
	४३७	अचक्षु दर्शन		—	←	नपुंसकवेदवत्	→	—	—	—
	४३८	अवधि दर्शन		—	←	अवधि ज्ञानवत्	→	—	—	—
	,,	केवल दर्शन		—	←	केवल ज्ञानवत्	→	—	—	—
२८८		चक्षु दर्शन	१	—	←	स्व ओघवत्	→	—	—	—
२८९			२–१२	—	←	मूलोघवत्	→	—	—	—
,,		अचक्षु दर्शन	१–१२	—	←	मूलोघवत्	→	—	—	—
,,		अवधि दर्शन	४–१२	—	←	अवधि ज्ञानवत्	→	—	—	—
२९०		केवल दर्शन	१३–१४	—	←	केवल ज्ञानवत्	→	—	—	—
१०. लेश्या मार्गणा										
	४३९	कृष्ण नील कापोत		—	←	नपुंसक वेदवत्	→	—	—	—
	२३९	तेज		त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	S $\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{९}{१४}$ लोक	S $\frac{३}{२८}$ लोक	...
	४४१	पद्म		,,	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{५}{१४}$ लोक	...
	४४३	शुक्ल		,,	$\frac{६}{१४}$ लोक	$\frac{६}{१४}$ लोक	$\frac{६}{१४}$ लोक	S $\frac{६}{१४}$ लोक	$\frac{६}{१४}$ लोक	मूलोघवत्
२९०		कृष्ण नील कापोत	१	सर्व	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	सर्व	सर्व	सर्व	सर्व	...
२९१			२	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	क्रमशः S $\frac{५}{१४}$, $\frac{४}{१४}$, $\frac{३}{१४}$ लोक	मारणान्तिकवत्	...
२९४			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
,,		कृष्ण	४	,,	,,	,,	,,	च./असं., म×असं.	मारणान्तिकवत्	...
,,		नील	४	,,	,,	,,	,,	,,	,,	...

प्रमाण सं.१ पृ.	प्रमाण सं.२ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान-स्वस्थान	विहारवत्स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
		कापोत	४	त्रि./असं., ति/स., म×असं.	च./असं., म×असं.	च./असं., म×असं.,	त्रि/असं., ति./स., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं. ..	... ...
२९५		तेज	१-२	त्रि/असं, ति./सं., म×असं.	$\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{९}{१४}$ लोक	$\frac{३}{२८}$ लोक	...
,,			३	,,	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	...	...	...
,,			४	,,	,,	,,	,,	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{३}{२८}$ लोक	...
२९६			५	त्रि/असं., ति./स., म×असं.	त्रि./असं., ति/सं, म×असं.	त्रि./असं./ति./सं., म×असं.	त्रि./असं, ति/सं, म×असं.	S $\frac{३}{२८}$ लोक	...	...
२९७			६-७	—	←	मूलोघवत्	→	—	—	—
,,		पद्म	१-२	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{५}{१४}$ लोक	...
,,			३	,,	,,	,,	,,	...	...	...
,,			४	,,	,,	,,	,,	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{५}{१४}$ लोक	...
२९८			५	त्रि./असं., ति/सं., म×असं.	त्रि./असं., ति/सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	S $\frac{५}{१४}$ लोक	...	...
,,			६-७	—	←	मूलोघवत्	→	—	—	—
२९९		शुक्ल	१-२	त्रि./असं., ति/सं., म×असं.,	S $\frac{६}{१४}$ लोक	S $\frac{६}{१४}$ लोक	S $\frac{६}{१४}$ लोक	S $\frac{६}{१४}$ लोक	च./असं., म×असं.	...
,,			३	,,	,,		,,	...	...	...
,,			४	,,	,,	,,	,,	S $\frac{६}{१४}$ लोक	मारणान्तिकवत	...
३००			५	त्रि./असं., ति./स., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति/सं, म×असं.	$\frac{६}{१४}$ लोक	...	...
,,			६-१४	—	←	मूलोघवत	→	—	—	—

प्रमाण ष.१ पृ.	ष.२ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत्स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
		११. भव्य मार्गणा—								
	४४५	भव्य	...	सर्व	८/१४ लोक	सर्व	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	सर्व	सर्व	मूलोघवत्
	,,	अभव्य	...	,,	,,	,,	,,	,,	,,	...
३०१		भव्य	१-१४	—	←——	मूलोघवत्	——→	—	—	—
,,		अभव्य	१	सर्व	८/१४ लोक	सर्व	८/१४ लोक	सर्व	सर्व	...
		१२. सम्यक्त्व मार्गणा—								
	४४३	सामान्य (देवापेक्षया)	...	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.,	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	च/असं., म×असं.	...
	४४७	,, (मन. ति. अपेक्षा)	..	,,	,,	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	६/१४ लोक	मारणान्तिकवत्	मूलोघवत्
	४५०	क्षायिक (देव नारकी)		,,	,,	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	...
	४४६	,, (मनु. तिर्य.)		,,	,,	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	मारणान्तिकवत्	मूलोघवत्
	४५२	वेदक		,,	,,	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	च/असं., म×असं.	तैजस व आहारक ओघवत्
	४५३	उपशम		,,	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	S ८/१४ लोक	च/असं., म×असं.	च/असं., म×असं.	...
	४५५	सासादन		,,	,,	,,	,,	१२/१४ लोक	तिर्यंच में उत्पन्न नारकी ५/१४ ,, ,, ,, देव ६/१४	... ...
	४५८	सम्यग्मिथ्यात्व		,,	,,	इन स्थानों की प्रधानता नहीं		...	...	..
	,,	मिथ्यादृष्टि		—	←——	नपुंसकवेदवत्	——→	—	—	—
३०२		सामान्य	४-१४	—	←——	मूलोघवत्	——→	—	—	—
,,		क्षायिक	४	त्रि/असं., ति/सं., म×असं.	८/१४ लोक	८/१४ लोक	८/१४ लोक	८/१४ लोक	त्रि/असं., ति/सं., म×असं	...
३०३			५	च/असं., म/सं.	च/असं., म/सं., बहुभाग	च/असं., म/सं., बहुभाग	च/असं., म/सं., बहुभाग	च/असं., म×सं.	...	..
,,			६-१४	—	←——	मूलोघवत्	——→	—	—	—
३०४		वेदक	४-७	—	←——	मूलोघवत्	——→	—	—	—

प्रमाण स १ पृ.	प्रमाण स.२ पृ.	मार्गणा	गुणस्थान	स्वस्थान-स्वस्थान	विहारवत-स्वस्थान	वेदना कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
३०४		उपशम	४	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	च./असं., म×सं.	मारणान्तिकवत	...
३०५			५	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं, ति./सं., म×असं	ति./असं, ति./सं, म×असं..	च./असं., म×सं.	...	...
"			६-११	—	←	मूलोघवत	→	—	—	—
३०६		सासादन	२	—	←	"	→	—	—	—
"		सम्यग्मिथ्यात्व	३	—	←	"	→	—	—	—
"		मिथ्यादर्शन	१	—	←	"	→	—	—	—
१३. संज्ञी मार्गणा										
	४५९	संज्ञी	...	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	$\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{८}{१४}$ लोक	$\frac{८}{१४}$ लोक	संज्ञीसे असंज्ञी— S $\frac{१२}{१४}$ लोक असंज्ञीसे संज्ञी— सर्व	मारणान्तिकवत "	मूलोघवत
	४६१	असंज्ञी	...	–	←	नपुंसक वेदवत	→	—	—	—
३०६		संज्ञी	१	—	←	स्व ओघवत	→	—	—	—
३०७			२-१४	—	←	मूलोघवत	→	—	—	—
"		असंज्ञी	१	सर्व	ति./असं., ति./सं., म×असं.	सर्व	$\frac{५}{१४}$ लोक	सर्व	सर्व	...
१४. आहारक मार्गणा										
	४६१	आहारक	..	सर्व	S $\frac{८}{१४}$ लोक	सर्व	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	सर्व	सर्व	मूलोघवत
	"	अनाहारक	...	"	...	...	...	..	"	केवली — मूलोघवत
३०९		आहारक	१	—	←	मूलोघवत	→	—	—	—
"			२	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{८}{१४}$ लोक	S $\frac{१२}{१४}$ लोक व S $\frac{८}{१४}$ लोक	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	...
"			३	"	"	"	"	...	...	...
"			४	"	"	"	"	S $\frac{१२}{१४}$ व S $\frac{८}{१४}$ लोक	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	...
"			५	ति./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म.×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म×असं.	त्रि./असं., ति./सं., म.×असं	S $\frac{६}{१४}$ लोक	...	...
"			६-१३	—	←	मूलोघवत	→	—	–	—

प्रमाण सं १ पृ.	सं.२ पृ.	मार्गणा	गुण-स्थान	स्वस्थान-स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियिक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवल समुद्घात
३०६		अनाहारक	१	सर्व	...	सर्व	.	...	सर्व	...
,,			२	...	...	...	...	...	$\frac{११}{१४}$ लोक	...
,,			४	..	...	...	...	...	$\frac{६}{१४}$ लोक	...
,,			१३	...	...	...	...	...	...	प्रतर व लोकपूरण मूलोघवत्
,,			१४	...	...	...	...	...	सर्व/असं.	...

सं.	पद विशेष	प्रकृति		स्थिति		अनुभाग		प्रदेश	
		मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति
५. अष्टकर्मोंके चतु. बन्धकोंकी ओघ आदेश प्ररूपणा—(म. ब./पु./§.../पृ....)									
१	ज. उ. पद		१/२९२-३३१/२११-२३५	२/१७०-१८६/१०१-११०	३/४७८-५२१/२१७-२४३	४/२०८-२९६/९१-१०६	५/३४८-४०४/१५१-२११	६/१३३-१३८/७१-७३	
२	भुजगारादि पद			२/३१०-३१७/१६३-१६६	३/७७५-७९४/३६७-३७६	४/२६०-२६७/१३४-१३७	५/५१३-५३६/२८६-३०६		
३	वृद्धि हानि			२/३९१ ४००/१९८-२०१	३/९३३-९५६/४५५-४७३	४/१६४/१६५	५/६२१/३६५-३६६		
६. मोहनीय सत्कर्मिक बन्धकोंकी ओघ आदेश प्ररूपणा—(क पा./पु,.../§.. /पृ ...)									
१	दोष व पेज्ज	१/३८४-३८६/३९९-४०४							
२	२४, २८ आदि स्थान		२/२६२-२६९/२२६-२३४						
	सत्ता असत्ताके —								
३	ज. उ. पद	२/८१-८८/६०-७१	२/१७६-१८२/१६५-१७१	३/११९-१४१/६८-८०	३/६२२-६४७/३६८-३८७	५/१०३-१२१/६५-७७	५/३५६-३६७/२२७-२३२		
४	भुजगारादि पद		२/४५४-४५९/४०६-४१४	३/२०६-२१२/११७-१२०	४/११८-१२५/६०-६७	५/११६/१०३-१०४	५/४६७-५००/२६१-२६३		
५	वृद्धि हानि		२/५१८-५२४/४६५-४८०	३/३०८-३१८/१६१-१७५	४/३७५-४००/२३२-२५०	५/१८१/१२१-१२२	५/५५४-५५७/३२१-३२४		

७. अन्य प्ररूपणाओंकी सूची—

१	पाँच शरीरके योग्य पुद्गल स्कन्धोंको ज. उ. संघातन परिशातन कृतिके स्वामियोंकी अपेक्षा—दे. ध. ९/३७०-३८० ।
२	पाँच शरीरके स्वामियोंके २, ३, ४ आदि भंगोंकी अपेक्षा— —दे. ध. १४/२५६-२६७ ।
३	२३ प्रकार वर्गणाओंका जघन्य स्पर्श— —दे. ध. १४/१४६/२० ।

स्पर्शन इन्द्रिय—दे. इन्द्रिय।

स्पर्शन क्रिया—दे. क्रिया/३/३।

स्पष्ट—न्या. वि./टी./८५-८६/८१६ किं पुनरिदं स्पष्टत्वं नाम। साक्षात्करणमिति चेत् (८५/८) ततो निर्मलप्रतिभासत्वमेव स्पष्टत्वम्। —साक्षात् रूपसे देखना स्पष्टत्व है।८५/८। निर्मल प्रतिभासका नाम स्पष्टत्व है।

स्पृहा—न्या. सू./टी./टी./४/१/३/२३०/१२ अस्वपरस्वादानेच्छा स्पृहा। —धर्मसे अविरुद्ध किसी पदार्थके पानेकी इच्छा करनी स्पृहा कहलाती है।

स्फटिक—१. सौधर्म स्वर्गका १८वाँ पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग५/३; २. गन्धमादन गिजयार्धका एक कूट —दे. लोक५/४; ३. मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक५/१०; ४. कुण्डलपर्वतस्थ एक कूट —दे. लोक/५/१२; ५. रुचक पर्वतस्थ एक कूट —दे. लोक/५/१३।

स्फटिकप्रभ— कुण्डल पर्वतस्थ एक कूट —दे. लोक/५/१२।

स्फोट—१. मीमांसक मान्य एक व्यापक तत्त्व जिसके द्वारा ध्वन्यात्मक शब्द में अर्थ प्रकाशन की सामर्थ्य अभिव्यक्त होती है।

२. रा. वा./५/२४/५/४८६/१ अपरे मन्यन्ते ध्वनयः क्षणिकाः क्रमजन्मानः स्वरूपप्रतिपादनादेवोपक्षीणशक्तिका नार्थान्तरमवबोधयितुमलम्। यदि समर्थाः स्युः पदेष्व इव पदार्थेषु प्रतिवर्णं वर्णार्थेषु प्रत्ययः स्यात्। एकेन चार्थे कृते वर्णान्तरोपादानमनर्थकं स्यात्। नापि क्रमजन्मनां सहभावः संघातोऽस्ति योऽर्थेन युज्यते। अतस्तेभ्योऽर्थप्रतिपादने समर्थशब्दात्मा अमूर्तो नित्योऽतीन्द्रियो निरवयवो निष्क्रियो ध्वनिभिरभिव्यङ्ग्य इत्यभ्युपगन्तव्य इति; एतच्चानुपपन्नम्; कुतः। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावानुपपत्तेः। ...किंच स ध्वनिर्व्यञ्जकस्फोटस्य वा उपकारं कुर्यात्, श्रोत्रस्य, उभयस्य वा। . किंच, न ध्वनयः स्फोटाभिव्यक्तिहेतवो भवन्ति उत्पत्तिक्षणादूर्ध्वमनवस्थानात् उत्पत्तिक्षणे चासत्त्वात्। ...किंच, स्फोटध्वनेरन्यो वा स्यात्, अनन्यो वा। ..किंच व्यङ्ग्यत्वे सति अनित्यत्वं स्यात् स्फोटस्य घटादिवत् विज्ञानेन व्यङ्ग्यत्वात्।. महदादिवत् इति चेत्; न साध्यसमत्वात्।—न चामूर्तः कश्चिन्नित्यो निरवयवो मूर्तिमतानित्येन सावयवेन व्यङ्ग्यो दृष्टः, तद्भावात् साध्यसिद्धयभावः। —स्फोटवादी मीमांसकोंका मत है कि ध्वनियाँ क्षणिक हैं, क्रमशः उत्पन्न होती हैं और अनन्तर क्षणमें विनष्ट हो जाती हैं। वे स्वरूपके बोध करानेमें ही क्षीणशक्ति हो जाती हैं अतः अर्थान्तरका ज्ञान करानेमें समर्थ नहीं हैं। यदि ध्वनियाँ ही समर्थ होती हैं तो पदोंसे पदार्थोंकी तरह प्रत्येक वर्णसे अर्थबोध होना चाहिए। एक वर्णके द्वारा अर्थबोध होनेपर वर्णान्तरका उपादान निरर्थक है। क्रमसे उत्पन्न होने वाली ध्वनियोंका सहभावरूप संघात भी सम्भव नहीं है, जिससे अर्थबोध हो सके। अतः उन ध्वनियोंसे अभिव्यक्त होने वाला अर्थ प्रतिपादनमें समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिए। उनका यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि ध्वनि और स्फोटमें व्यंग्यव्यञ्जक भाव नहीं बन सकता। .. किंच ध्वनियाँ स्फोटकी व्यञ्जक होती हैं तो वे स्फोटका उपकार करेंगी या श्रोत्रका या दोनोंका। . किंच, जब ध्वनियाँ उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाती हैं तब वे स्फोटकी अभिव्यक्ति कैसे करेंगी? ...किंच, स्फोट यदि ध्वनियोंसे अभिन्न है? ..किंच, यदि स्फोटको व्यंग्य मानते हो तो उसमें घटादिकी तरह अनित्यता भी आ जानी चाहिए।.. महान् अहंकार आदि सांख्यमत तत्त्वोंका दृष्टान्त देना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे स्फोटकी व्यंग्यता असिद्ध है उस तरह उन तत्त्वोंकी भी।...फिर ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता जो अमूर्त नित्य और निरवयव होकर मूर्त अनित्य, और सावयवसे व्यंग्य होता हो। इसके अभावसे साध्यकी सिद्धिका अभाव है। अतः शब्द ध्वनि रूप ही है और नित्यानित्यात्मक है ऐसा स्वीकार करना चाहिए। (सि. वि./टी./११/५/७०२/२२); (न्या. वि./टी./१/४६/१२८/३२); (क. पा. १/११३,१४/§२१६/२६६/४)

स्फोट कर्म—दे. सावद्य/५।

स्फोटित—गणितकी व्यकलन विधिमें मूल राशिमें ऋण राशि करि स्फोटित कहा जाता है। —दे. गणित/II/१/४।

स्मरणाभास—प. मु./६/८ अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम्: जिनदत्ते स देवदत्तो यथा।८। —देखे व सुने पदार्थको कालान्तरमें उसका स्मरण न होकर उसकी जगह दूसरेका स्मरण होना स्मरणाभास है। जिस प्रकार पूर्व अनुभूत जिनदत्तकी जगह देवदत्तका स्मरण स्मरणाभास है।

स्मृति—१. दे. मतिज्ञान/१/२. मति, स्मृति, चिन्ता, संज्ञा और अभिनिबोध ये एकार्थवाची है।

स. सि./१/१३/१०६/४ स्मरणं स्मृतिः। —स्मरण करना स्मृति है। (ध. १३/५,५,४१/२४४/३)

ध. १३/५,५,६३/३३३/४ दिट्ठ-सुदाणुभूदट्ठविसयणाणविसेसिदजीवो सदी णाम। —दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थको विषय करनेवाले ज्ञानसे विशेषित जीवका नाम स्मृति है।

म.पु./२१/२२६ स्मृतिर्जीवादितत्त्वानां याथात्म्यानुस्मृतिः स्मृता। गुणानुस्मरणं वा स्यात् सिद्धार्हत्परमेष्ठिनाम्। —जीवादि तत्त्वोंका अथवा अर्हत सिद्धका गुणस्मरण स्मृति है।

प. मु./३/३-४ संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः।३। स देवदत्तो यथा।४। —पूर्व संस्कारकी प्रकटतासे 'वह देवदत्त' इस प्रकारके स्मरणको स्मृतिज्ञान कहते हैं।३-४। (न्या. दी./३/§४/५३/६); (स. म./२८/३२१/२२)

न्या. दी./३/§८/५६/३ तदित्युल्लेखिज्ञानं स्मरणम्। —'वह' का उल्लेखी ज्ञान स्मरण है। २. स्मृति व प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर—दे. मतिज्ञान/३। ३. स्मृति आदि ज्ञानोंकी उत्पत्तिका क्रम व स्मृति आदि भेदोंकी सार्थकताकी सिद्धि —दे. मतिज्ञान/३।

स्मृत्यन्तराधान—१. रा. वा./७/३०/८/५५५/३० अननुस्मरणं स्मृत्यन्तराधानम्।८। अनुस्मरणम् परामर्शनं प्रत्यवेक्षणमित्यनर्थान्तरम्, इदमिदं मया योजनादिभिरभिज्ञानं कृतमिति, तदभावः स्मृत्यन्तराधानम्। —मर्यादाका स्मरण न रखना स्मृत्यन्तराधान है। (स. सि./७/३१/३६६/६) अनुस्मरण, परामर्शन और प्रत्यवेक्षण ये एकार्थवाची हैं। यह यह मैंने योजनादिका प्रमाण किया था, उसका भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है। २. दिग्व्रतका एक अतिचार है।—दे. दिग्व्रत।

स्मृत्यनुपस्थानानि—१. सामायिक व्रतका एक अतिचार —दे. सामायिक; २. प्रोषधोपवास व्रतका एक अतिचार —दे. प्रोषधोपवास। ३. स. सि./७/३३/३७०/६ अनैकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानं।

रा. वा./७/३३/४-५/५५७/१३ अनैकाग्र्यमसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थानमित्याख्यायते।४। स्यादेतत्–स्मृत्यनुपस्थानं तन्मनोदुःप्रणिधानमेवेति तस्य ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्। तत्रान्याचिन्तनात्। तत्र हि अन्यत् किंचित् अचिन्तयतश्चिन्तयत एवाविषये क्रोधाद्यावेशः औदासीन्येन वावस्थानं मनसः, इह पुनः परिस्पन्दनात् चिन्ताया ऐकाग्र्येणावस्थानमिति विस्पष्टमन्यत्वम्। रात्रिंदिवीयस्य वा प्रमादाधिकस्य सचित्यानुपस्थानम्। —चित्तकी एकाग्रता न होना और मनमें समाधिरूपताका न होना स्मृत्यनुपस्थान है। प्रश्न—स्मृत्यनुपस्थान तो मनदुःप्रणिधान ही है, इसलिए इसका

कथन करना व्यर्थ है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, मनोदुष्प्रणिधानमें अन्य विचार नहीं आता, जिस विषयका विचार किया जाता है, उसमें भी क्रोधादिका आवेश आ जाता है, किन्तु स्मृत्यनुपस्थानमें चित्तके विकल्प चलते रहते हैं और चित्तमें एकाग्रता नहीं आती। अथवा रात्रि और दिनकी नित्य क्रियाओंको ही प्रमादकी अधिकतासे भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है। (चा. सा./२०/५)

स्यन्दन—ध. १४/५,६,४२/३६/१ चक्कवट्टि-बलदेवाणं चडणजोग्गा सव्वाउहावुण्णा तिमणपवणवेगा अच्छे भंगे वि चक्कचडणगुणेण अपडिहयगमणा संदणा णाम। =जो चक्रवर्ती और बलदेवोंके चढने योग्य होते हैं, जो सर्व आयुधोंसे परिपूर्ण होते हैं, जो पवनके समान वेगवाले होते हैं और धुरके टूट जानेपर भी जिनके चक्रोंको इस प्रकारकी रचना होती है जिस गुणके कारण जिनके गमनागमनमें बाधा नहीं पड़ती वे स्यन्दन कहलाते हैं।

स्यात्—१. स्यात् शब्दका लक्षण

रा. वा./४/४२/१५/२५३/११ तेनेतरनिवृत्तिप्रसङ्गे तत्संभवप्रदर्शनार्थः स्याच्छब्दप्रयोग, स च लिङन्तप्रतिरूपको निपातः। तस्यानेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु सम्भवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते।...अथवा, स्याच्छब्दोऽयमनेकान्तार्थस्य द्योतकः। द्योतकश्च वाचकप्रयोगसन्निधिमन्तरेणाभिप्रेतार्थविद्योतनाय नालमिति तद्द्योत्यधर्माधारार्थाभिधानायेतरपदप्रयोगः क्रियते। अथ केनोपात्तोऽनेकान्तार्थः अनेन द्योत्यते। उक्तमेतत्—अभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा प्रयुक्तशब्दवाच्यतामेवास्कन्दन्ति इतरे धर्मा इति। =इससे इतर धर्मोंकी निवृत्तिका प्रसंग होता है, अतः उन धर्मोंका सद्भाव द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है। स्यात् शब्द लिङन्त प्रतिरूपक निपात है। इसके अनेकान्त विधि विचार आदि अनेक अर्थ हो सकते है। परन्तु विवक्षावश यहाँ अनेकान्त अर्थ लिया गया है।..अथवा स्यात् शब्द अनेकान्तका द्योतक होता है। जो द्योतक होता है वह किसी वाचक शब्दके द्वारा कहे गये अर्थका ही द्योतन कर सकता है अतः उसके द्वारा प्रकाश्य धर्मकी सूचनाके लिए इतर शब्दोंका प्रयोग किया गया है। प्रश्न—इसके द्वारा किस कारणसे अनेकान्तार्थका द्योतन होता है। उत्तर—यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि अभेद वृत्ति वा अभेदोपचारके द्वारा प्रयुक्त शब्दोंकी वाच्यता हो इतने धर्मोंका ग्रहण करती है। (स. भं. त./३१/१०)

श्लो. वा./२/१/६/५५/४५६/१ स्यादिति निपातोऽयमनेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु वर्तते। =स्यात् यह तिङन्तप्रतिरूपक निपात अनेकान्त, विधि, विचार, और विद्या आदि बहुत अर्थोंमें वर्त रहता है। (विशेष दे. स्याद्वाद/५/२)।

अष्टसहस्री/टिप्पणी/पृ. २८६ विधि-आदिष्वर्थेषु अपि लिङ्लकारस्य स्यादिति क्रियारूपं पदं सिद्ध्यति। परन्तु नायं स शब्दः निपात इति विशेष्योक्तत्वात्। =स्यात् शब्द विधि आदि अर्थोंमें लिङ् लकारकी क्रिया रूप पदको सिद्ध करता है, परन्तु यह स्यात् शब्द निपात नहीं है। क्योंकि विशेषता पहले कह दी गयी है।

२. स्यात् नामक निपात शब्द द्योतक व वाचक दोनों है

आप्त. मी./भाषा/१/१४/२३ (सप्त भंगीमें) सत् आदि शब्द हैं ते तौ अनेकान्तके वाचक है और कथंचित् शब्द है सो अनेकान्तका द्योतक है। बहुरि इसकै आगे एवकार शब्द है सो अवधारण कहिये नियम के अर्थि हाइ है। बहुरि यह कथंचित् शब्द है सो याका पर्याय शब्द स्यात् है।

स. भं. त./२३/१ न च निपातानां द्योतकत्वादेवकारस्य वाचकत्वं न संभवतीति वाच्यम्। निपातानां द्योतकत्वपक्षस्य वाचकत्वपक्षस्य च शास्त्रे दर्शनात्। 'द्योतकाश्च भवन्ति निपाताः' इत्यत्र च शब्दाद्वाचकाश्च इति व्याख्यानात्। =कदाचित् यह कहो कि निपातोंको द्योतकता है नैकि वाचकताका सम्भव है। सो ऐसा नहीं है, क्योंकि निपातोंका द्योतकत्व तथा वाचकत्व दोनों शास्त्रोंमें देखे गये हैं। 'द्योतकाश्च भवन्ति निपाताः' निपात द्योतक भी होते हैं इस वाक्यमें च शब्दसे वाचकताका भी व्याख्यान किया गया है।

३. स्यात् शब्दकी अर्थ विवक्षा

स. भं. त./३०/१ स्याच्छब्दस्य चानेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु सम्भवत्सु इह विवक्षावशादनेकान्तार्थो गृह्यते। =यद्यपि अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थ स्यात्कारके सम्भव हैं तथापि यहाँ वक्ताकी विशेष इच्छासे अनेकान्तार्थ वाचक ही स्यात्कार शब्दका ग्रहण है।

४. स्यात् शब्दका अर्थ अनियमितता

ध. १३/५,४,२६/७८/१० तम्हि चेव अत्थे गुणस्स पज्जायस्स वा संकमदि। पुव्विल्लजोगादो जोगंतरं पि सिया संकमदि। =(पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान अन्तर्मुहूर्त तक एक ही अर्थको ध्यानेके पश्चात्) अर्थान्तरपर नियमसे संक्रमित होता है। और पूर्व योगसे स्यात् (अनियमित रूपसे) योगान्तरपर संक्रमित होता है।

★ स्यात् शब्दकी प्रयोग विधि व उसका महत्त्व —दे. स्याद्वाद/४,५।

स्याद्वाद—आ. शुभभद्र (ई. १५१६-१५५६) द्वारा रचित एक न्याय विषयक ग्रन्थ।

स्याद्वाद—अनेकान्तमयी वस्तु (दे. अनेकान्त) का कथन करनेकी पद्धति स्याद्वाद है। किसी भी एक शब्द या वाक्यके द्वारा सारीकी सारी वस्तुका युगपत् कथन करना अशक्य होनेसे प्रयोजनवश कभी एक धर्मको मुख्य करके कथन करते हैं और कभी दूसरेको। मुख्य धर्मको सुनते हुए श्रोताको अन्य धर्म भी गौण रूपसे स्वीकार होते रहे उनका निषेध न होने पावे इस प्रयोजनसे अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्यके साथ स्यात् या कथंचित् शब्दका प्रयोग करता है।

१. स्याद्वाद निर्देश

१. स्याद्वादका लक्षण

न. च. वृ./२५१ णियमणिसेहणसीलो णिपादणादो य जोहु खलु सिद्धो। सो सियसद्दो भणियो जो सावेक्खं पसाहेदि।२५१। —जो नियमका निषेध करनेवाला है, निपातसे जिसकी सिद्धि होती है, जो सापेक्षता की सिद्धि करता है वह स्यात् शब्द कहा गया है।

स्व. स्तो./मू./१०२-१०३ सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः। स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ।१०२। अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः। अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ।१०३।

स. सा./ता. वृ./स्याद्वाद अधिकार/५११/११/ पर उद्धृत—धर्मिणोऽनन्तरूपत्वं धर्माणां न कथंचन। अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इति जैनमतं ततः। —१. सर्वथा रूपसे—सत् ही है, असत् ही है इत्यादि रूपसे प्रतिपादनके नियमका त्यागी और यथादृष्टको—जिस प्रकारसे वस्तु प्रमाण प्रतिपन्न है उसको अपेक्षामें रखनेवाला जो स्यात् शब्द है वह आपके न्याय (मत) में है। दूसरोंके न्यायमें नहीं है जो कि आपके वैरी हैं।१०२। आपके मतमें अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनोंको लिये हुए अनेकान्त स्वरूप है, प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्त स्वरूप दृष्टिगत होता है और विवक्षित नयकी अपेक्षासे अनेकान्तमें एकान्त रूप सिद्ध होता है।१०३। (स. सा./स्याद्वाद अधिकार/ता. वृ./५११/१)। २. धर्मी अनेकान्त रूप है क्योंकि वह अनेक धर्मोंका समूह है परन्तु धर्म अनेकान्त रूप कदाचित् भी नहीं क्योंकि एक धर्मके आश्रय अन्य धर्म नहीं पाया जाता (इस प्रकार अनेकान्त भी अनेकान्त रूप है अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु अनेकान्त रूप भी है और एकान्तरूप भी है।

स. सा./ता. वृ स्याद्वाद अधिकार/५१३/१७ स्यात्कथंचित् विवक्षितप्रकारेणानेकान्तरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वादः। —स्यात् अर्थात् कथंचित् या विवक्षित प्रकारसे अनेकान्त रूपसे वदना, वाद करना, जल्प करना, कहना प्रतिपादन करना स्याद्वाद है।

स्व. स्तो./टी./१३४/२६४ उत्पाद्येत उत्पाद्यते येनासौ वादः, स्यादिति वादो वाचकः शब्दो यस्यानेकान्तवादस्यासौ स्याद्वादः। —'उत्पाद्यते' अर्थात् जिसके द्वारा प्रतिपादन किया जाये वह वाद कहलाता है। स्याद्वादका अर्थ है वह वाद जिसका वाचक शब्द 'स्यात्' हो अर्थात् अनेकान्तवाद है।

२. विवक्षाका ठीक-ठीक स्वीकार ही स्याद्वादकी सत्यता है

स. सा./पं. जयचन्द/३४४/४७३ आत्माके कर्तृत्व-अकर्तृत्वकी विवक्षाको यथार्थ मानना ही स्याद्वादको यथार्थ मानना है।

३. स्याद्वादके प्रामाण्यमें हेतु

न्या. वि./३/८६/२६४ स्याद्वादः श्रवणज्ञानहेतुत्वाच्चक्षुरादिवत्। प्रमा प्रमितिहेतुत्वात्प्रामाण्यमुपगम्यते।८६। —शब्दको सुननेका कार्य वाच्य पदार्थका ज्ञान है उसके कारण ही स्याद्वादकी स्थिति है। इसलिए भगवत्प्रवचन रूप शाब्दिक स्याद्वाद उपचारसे प्रमाण है पर तज्जनित ज्ञान रूप स्याद्वाद चक्षु आदि ज्ञानवत् मुख्यतः प्रमाण है, क्योंकि उसकी हेतु प्रमाकी प्रमिति है।

२. अपेक्षा निर्देश

१. सापेक्ष व निरपेक्षका अर्थ

न. च. वृ./२५० अवरोप्परसावेक्खं णयविसयं अह पमाण त्रिसयं वा। तं सावेक्खं तत्तं णिरवेक्खं ताण विवरीयं। —प्रमाण व नयके विषय परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा करके हैं अथवा एक नयका विषय दूसरी नयके विषयकी अपेक्षा करता है, इसीको सापेक्ष तत्त्व कहते हैं। निरपेक्ष तत्त्व इससे विपरीत है।

२. विवक्षा एक ही अंशपर लागू होती है अनेकपर नहीं

पं. ध./पू./३०० नहि किंचिद्विधिरूपं किंचित्तच्छेषतो निषेधांशम्। आस्तां साधनमस्मिन्नाम द्वैतं न निर्विशेषत्वात ।३००। —कुछ विधि रूप और उस विधिसे शेष रहा कुछ निषेध रूप नहीं है तथा ऐसे निरपेक्ष विधि निषेध रूप सत्के साध्य करनेमें हेतुका मिलना तो दूर, विशेषता न रहनेसे द्वैत भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

३. विवक्षाकी प्रयोग विधि

रा.वा./२/१६/१/१३१/८ स्पर्शनादीनां करणसाधनत्वं पारतन्त्र्यात् कर्तृ-साधनत्वं च स्वातन्त्र्याद् बहुलवचनात् ।१। …कुतः पारतन्त्र्यात्। इन्द्रियाणां हि लोके पारतन्त्र्येण विवक्षा विद्यते, आत्मनः स्वातन्त्र्य-विवक्षायां यथा 'अनेन चक्षुषा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमि' इति। …कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम्। …यथा इदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्ण सुष्ठु शृणोतीति। —स्पर्शन आदिक इन्द्रियोंका परतन्त्र विवक्षासे करण साधनत्व और स्वतन्त्र विवक्षामे कर्तृसाधनत्व दोनों निष्पन्न होते है ।१। कैसे? सो ही बताते हैं—इन्द्रियोंकी लोकपरतन्त्रताके द्वारा विवक्षा होती है और अपनेमें स्वतन्त्र विवक्षा होनेसे जैसे—'इस चक्षुके द्वारा मै अच्छा देखता हूँ और इस कर्ण द्वारा मैं अच्छा सुनता हूँ। स्वतन्त्र विवक्षामें कर्तृसाधन भी होता है जैसे—'यह मेरी आँख अच्छा देखती है, यह मेरे कान अच्छा सुनते है इस प्रकार। (स. सि /२/१६/७७/३)

पं. का./ता. वृ./१८/३८/१७ जैनमते पुनरनेकस्वभावं वस्तु तेन कारणेन द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यरूपेण नित्यत्वं घटते पर्यायार्थिकनयेन पर्यायरूपेणानित्यत्वं च घटते। तौ च द्रव्यपर्यायौ परस्पर सापेक्षौ। —जैन मतमें वस्तु अनेकस्वभावी है इसलिए द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यरूपसे नित्यत्व घटित होता है, पर्यायार्थिक नयसे पर्याय रूपसे अनित्यत्व घटित होता है। दोनों ही द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय परस्पर सापेक्ष हैं। (दे. उत्पाद/२)

दे. द्रव्य/३/५ धर्मादिक चार शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्यायके अभावसे अपरिणामी वा नित्य कहलाते हैं, परन्तु अर्थ पर्यायकी अपेक्षा सभी पदार्थ परिणामी कहलाते हैं। और व्यंजन पर्याय होनेके कारण जीव व पुद्गल नित्य भी।

४. विवक्षाकी प्रयोग विधि प्रदर्शक सारणी

न. च./गद्य श्रुत/पृ. ६५-६७

सं.	अपेक्षा	प्रयोग	प्रयोजन
१	स्यादस्ति	स्वरूपेणास्तित्व-मिति	अनेकस्वभावाराधत्व
	स्यान्नास्ति	इति पररूपेणैव	संस्कारादि दोष रहितत्व
२	स्यान्नित्यत्व	द्रव्यरूपेण नित्येति	चिरकाल स्थायित्व
	स्यादनित्यत्व	इति पर्यायरूपेणैव	निज हेतुओंके द्वारा अनित्यत्व स्वभावी कर्म-का ग्रहण त्याग होता है।
३	स्यादेकत्व	सामान्यरूपेणेति	सामान्यपनेमें समर्थ है।
	स्यादनेकत्व	इति विशेषरूपेणैव	अनेक स्वभाव दर्शकत्व
४	स्याद्भेदत्व	सद्भूत व्यवहार रूपेणेति	व्यवहारकी सिद्धि
	स्यादभेदत्व	इतिद्रव्यार्थिकेनैव	परमार्थकी सिद्धि
५	स्याद्भव्यत्व	स्वकीयरूपेण भवनादि	स्वपर्याय परिणामित्व
	स्यादभव्यत्व	इति पररूपेणैव कुर्यात्	परपर्याय त्यागित्व
६	स्याच्चेतन	चेतनस्वभाव प्रधानत्वेन	कर्मकी हानि
	स्यादचेतन	इति व्यवहारेणैव	कर्मका ग्रहण
७	स्यान्मूर्त	असद्भूत व्यव-हारेणेति	कर्म बन्ध
	स्यादमूर्त	इति परमभावेनैव	स्वभावका अपरित्याग
८	स्यात्परम	पारिणामिक स्वभावत्वेनेति	स्वभावमें अचलवृत्ति
	स्यादपरम	विभाव इति कर्मज रूपेणैव	स्वभावमें विकृति
९	स्यादेकप्रदेशत्व	भेदकल्पना निर्पे-क्षत्वेनेति	निश्चयसे एकत्व
	स्यादनेक-प्रदेशत्व	इतिव्यवहारेणैव	अनेक कार्यकारित्व
१०	स्याच्छुद्ध	केवल स्वभाव प्रधानत्वेनेति	स्वभाव प्राप्ति
	स्यादशुद्धत्व	इति मिश्रभावेनैव	तद्विपरीत
११	स्यादुपचरित	स्वभावस्याप्य-न्यत्रोपचारादिति	पर(भाव)को जानना
	स्यादनुपचरित	इति निश्चयादेव	तद्विपरीत

नोट—ये तथा अन्य भी अनेकों विधि निषेधात्मक अपेक्षाएँ एक ही पदार्थमें उसके किसी एक ही गुण या पर्यायके साथ अनेकों भिन्न दृष्टियोंसे लागू की जानी सम्भव है। ऐसा करते हुए उनमें विरोध भी नहीं आता।

५. अपेक्षा प्रयोगका कारण वस्तुका जटिल स्वरूप

न. च. वृ./७४ इदि पुव्वुत्ता धम्मा सियसावेक्खा ण गेहणाए जो हु। सो हू मिच्छाइट्ठी णायव्वो पवयणे भणिओ ।७४। —इस प्रकार पूर्वोक्त धर्मोंको जो सापेक्ष रूपसे ग्रहण नहीं करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानो। ऐसा आगममें कहा है।

का. अ./मू./२६१ जं वत्थु अणेयंतं एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं। सुय-णाणेण णएहि य णिरवेक्खं दीसदे णेव।२६१। –जो वस्तु अनेकान्त रूप है वही सापेक्ष दृष्टिसे एकान्त भी है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयकी अपेक्षा एकान्त रूप है। बिना अपेक्षाके वस्तुका स्वरूप नहीं देखा जा सकता।

दे. अनेकान्त/५/४ वस्तु एक नयसे देखनेपर एक प्रकार दिखाई देती है, और दूसरी नयसे देखनेपर दूसरी प्रकार।

पं. ध./पू./६५५ नैवमसंभवदोषाद्यतो न कश्चिन्नयो हि निरपेक्षः। सति च विधौ प्रतिषेधः प्रतिषेधे सति विधेः प्रसिद्धत्वात्।६५५। –असम्भव दोषके आनेसे इस प्रकार कहना ठीक नहीं (कि केवल निश्चय नयसे काम चल जावेगा) क्योंकि निश्चयसे कोई भी नय-निरपेक्ष नहीं है। परन्तु विधि होनेमें प्रतिषेध और प्रतिषेध होनेमें विधिकी प्रसिद्धि है।

६. एक अंशका लोप होनेपर सबका लोप हो जाता है

स्व. स्तो./२२ अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्। मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम्।२२। –वह सुयुक्तिनीत वस्तुतत्त्व भेदाभेद ज्ञानका विषय है और अनेक तथा एक रूप है। और यह वस्तुको भेद-अभेद रूपसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही सत्य है। जो लोग इनमेंसे एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है क्योंकि दोनोंमेंसे एकका अभाव माननेपर दूसरेका भी अभाव हो जाता है, दोनोंका अभाव हो जानेसे वस्तुतत्त्व अनुपाख्य-नि स्वभाव हो जाता है।

पं. ध./पू./१८ तत्र यतो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयात्मक वस्तु। अन्यतरस्य विलोपे शेषस्यापीह लोप इति दोषः।१८। –यह ठीक नहीं (कि एक नयसे सत्ताकी सिद्धि हो जाती है) क्योंकि वस्तु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दोनोंके विषय मय है। इनमेंसे किसी एकका लोप होनेपर दूसरे नयका भी लोप हो जायेगा। यह दोष आवेगा।

७. अपेक्षा प्रयोगका प्रयोजन

का. अ./मू./२६४ णाणाधम्मयुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं। तस्सेयविवक्खादो णत्थि विवक्खादो हु सेसाणं।२६४। –अनेक धर्मोंसे युक्त पदार्थ है, तो भी उन्हे एक धर्म युक्त कहता है, क्योंकि जहाँ एक धर्मकी विवक्षा करते हैं वहाँ उसी धर्मको कहते है शेष धर्मोंकी विवक्षा नहीं कर सकते हैं।

३. मुख्य गौण व्यवस्था

१. मुख्य व गौणके लक्षण

स्व. स्तो./५३ विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो। –जो विवक्षित होता है वह मुख्य कहलाता है, दूसरा जो अविवक्षित होता है वह गौण कहलाता है। (स्व. स्तो./२५)

स्या. म./७/६३।१२ अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च। विपरीतो गौणोऽर्थः सति मुख्ये धी कथं गौणे। –अव्यभिचारी, अविकल, असाधारण और अन्तरंग अर्थको मुख्य कहते हैं और उससे विपरीतको गौण कहते हैं। मुख्य अर्थके रहनेपर गौण बुद्धि नहीं हो सकती।

२. मुख्य गौण व्यवस्थासे ही वस्तु स्वरूपकी सिद्धि है

स्व. स्तो./२५-६२ विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्य-गुण-व्यवस्था।२५। यथैकशः कारकमर्थ-सिद्धये, समीक्ष्य शेषं स्वसहाय-कारकम्। तथैव सामान्य-विशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुण-मुख्य कल्पतः।६२। –विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं। विवक्षासे उनमें मुख्य गौणकी व्यवस्था होती है।२५। जिस प्रकार एक-एक कारक शेष अन्यको अपना सहायक रूप कारक अपेक्षित करके अर्थ-की सिद्धिके लिए समर्थ होता है उसी प्रकार आपके मतमें सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होनेवाले जो नय हैं वे मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट हैं।६२।

३. सप्तभंगीमें मुख्य गौण व्यवस्था

रा. वा./४/४२/१५/२५३/२१-२६ गुणप्राधान्यव्यवस्थाविशेषप्रतिपादनार्थत्वात् सर्वेषां भङ्गानां प्रयोगोऽर्थवान्। तद्यथा, द्रव्यार्थिकस्य प्राधान्ये पर्यायगुणभावे च प्रथमः। पर्यायार्थिकस्य प्राधान्ये द्रव्यगुण-भावे च द्वितीयः। तत्र प्राधान्यं शब्देन विवक्षितत्वाच्छब्दाधीनम्, शब्देनानुपात्तस्यार्थतो गम्यमानस्याप्राधान्यम्। तृतीये तु युगपद्भावे उभयस्याप्राधान्यं शब्देनाभिधेयतयानुपात्तत्वात्। चतुर्थस्तूभय-प्रधानः क्रमेण उभयस्यास्त्यादिशब्देन उपात्तत्वात्। तथोत्तरे च भङ्गा वक्ष्यन्ते। –गौण और मुख्य विवक्षासे सभी भंगोंकी सार्थकता है। द्रव्यार्थिककी प्रधानता तथा पर्यायार्थिककी गौणतामें प्रथम भंग सार्थक है और द्रव्यार्थिककी गौणता और पर्यायार्थिक-की प्रधानतामें द्वितीय भंग। यहाँ प्रधानता केवल शब्द प्रयोगकी है, वस्तु तो सभी भंगोंमें पूरी ही ग्रहण की जाती है। जो शब्दसे कहा नहीं गया है अर्थात् गम्य हुआ है वह यहाँ अप्रधान है। तृतीय भंगमें युगपत् विवक्षा होनेसे दोनों ही अप्रधान हो जाते हैं क्योंकि दोनोंको प्रधान भावसे कहनेवाला कोई शब्द नहीं है। चौथे भंगमें क्रमशः उभय प्रधान होते हैं।

४. विवक्षावश मुख्य व गौणता होती है

पं. का./ता. वृ./१८/३९/१८ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोः परस्परगौण-मुख्यभावव्याख्यानादेकदेवदत्तस्य जन्यजनकादिभाववत् एकस्यापि द्रव्यस्य नित्यानित्यत्वं घटते नास्ति विरोध इति।

पं. का./ता. वृ./१८/४१/१ स एव नित्यः स एवानित्यः कथं घटत इति चेत्। यथैकस्य देवदत्तस्य पुत्रविवक्षाकाले पितृविवक्षा गौणा पितृ-विवक्षाकाले पुत्रविवक्षा गौणा, तथैकस्य जीवस्य जीवद्रव्यस्य वा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वविवक्षाकाले पर्यायरूपेणानित्यत्वं गौणं पर्यायरूपेणानित्यत्वविवक्षाकाले द्रव्यरूपेण नित्यत्वं गौणं। कस्मात् विवक्षितो मुख्य इति वचनात्। –द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंमें परस्पर गौण और मुख्य भावका व्याख्यान होनेसे एक ही देवदत्तके पुत्र व पिताके भावकी भाँति एक ही द्रव्यके नित्यत्व व अनित्यत्व ये दोनों घटित होते हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। प्रश्न—वह ही नित्य और वही अनित्य यह कैसे घटित होता है। उत्तर—जिस प्रकार एक ही देवदत्तके पुत्रविवक्षाके समय पितृ-विवक्षा गौण होती है और पितृविवक्षाके समय पुत्रविवक्षा गौण होती है, उसी प्रकार एक ही जीवके वा जीव द्रव्यके द्रव्यार्थिक नयसे नित्यत्वकी विवक्षाके समय पर्यायरूप अनित्यत्व गौण होता है, और पर्यायरूप अनित्यत्वकी विवक्षाके समय द्रव्यरूप नित्यत्व गौण होता है। क्योंकि 'विवक्षा मुख्य होती है' ऐसा वचन है।

पं. का./ता. वृ./१०६/१६६/२२ विवक्षितो मुख्य इति वचनात्। –'विवक्षा मुख्य होती है' ऐसा वचन है।

५. गौणका अर्थ निषेध करना नहीं

स्व. स्तो./मू./२३ सतः कथंचित्तदसत्त्वशक्तिः–खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्। –जो सत् है उसके कथंचित् असत्त्व शक्ति भी है—जैसे पुष्प वृक्षोंपर तो अस्तित्वको लिये हुए है परन्तु आकाशपर उसका अस्तित्व नहीं है, आकाशकी अपेक्षा वह असत् रूप है।

दे. एकांत/३/३ कोई एक धर्म विवक्षित होनेपर अन्य धर्म विवक्षित नहीं होते।

स. भं. त./६/८ प्रथमभङ्गादावसत्त्वादीनां गुणभावमात्रं, न तु प्रतिषेधः। —प्रथम भङ्ग 'स्यादस्त्येव घटः' आदिसे लेकर कई भंगोंमें जो असत्त्व आदिका भान होता है वह उनकी गौणता है न कि निषेध।

४. स्यात् व कथंचित् शब्द प्रयोग विधि

१. स्यात्कारका सम्यक् प्रयोग ही कार्यकारी है

प्र. सा./त. प्र./११५ सप्तभङ्गिक्रैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति। —सप्तभंगी सतत सम्यक्तया उच्चारित करनेपर स्यात्काररूपी अमोघ मन्त्र पदके द्वारा 'एव' कारमें रहनेवाले समस्त विरोध विषके मोहको दूर करती है।

२. व्यवहार नयके साथ ही स्यात्कार आवश्यक है निश्चयके साथ नहीं

न. च./श्रुत/३१-३६ स्याच्छब्दरहितत्वेऽपि न चास्य निश्चयाभासत्वमुपनयरहितत्वात्। कथमुपनयाभावे स्याच्छब्दस्याभाव इति चेत्, स्याच्छब्दप्रधानत्वेनोपनयो हि व्यवहारस्य जनकत्वात्। यदा तु निश्चयनयेनोपनय. प्रलयं नीयते तदा निश्चय एव प्रकाशते।... किमर्थं व्यवहारोऽसत्कल्पनानिवृत्त्यर्थं सद्रत्नत्रयसिध्यर्थं च।... निश्चयं गृह्णन्नपि अन्ययोगव्यवच्छेदनं करोति।३१। (यथा) भेदेन अन्यत्रोपचारात उपचारेण स्याच्छब्दमपेक्षते तथा व्यवहारेऽपि। सर्वथा भेदे तयोर्द्रव्याभावः। अभेदे तु व्यवहारविलोपः तथोपचारेऽपि सकरादिदोषसंभवात। अन्यथा कर्तृत्वादिकारकरूपाणामनुत्पत्तितः स्यादेवं व्यवहारविलोपापत्ति.।३६। —१. स्यात् पदसे रहित होनेपर भी इसके निश्चयाभासपना नहीं है। क्योंकि यह उपनयसे रहित है। उपनयके अभावसे 'स्यात्' पदका अभाव किस तरह हो सकता है? इस प्रकार कोई पूछे तो उत्तर यह है कि स्यात् पदकी प्रधानताके द्वारा उपनय ही व्यवहारका जनक है। किन्तु जब निश्चय नयके द्वारा उपनय प्रलयको प्राप्त करा दिया जाता है तब निश्चय ही प्रकाशित होता है।...प्रश्न—यदि ऐसा है तो अर्थका व्यवहार किस लिए होता है? उत्तर—असत् कल्पना निवारण करनेके लिए और सम्यग् रत्नत्रयकी सिद्धिके लिए अर्थका व्यवहार होता है।...निश्चयको ग्रहण करते हुए भी अन्यके मतका निषेध नहीं करता। २. अन्यत्र भेदके द्वारा उपचार होनेसे उपचारसे स्यात् शब्दकी अपेक्षा करता है। उसी प्रकार व्यवहार करने योग्यमें भी सर्वथा भेद माननेपर उन दोनोंके द्रव्यपनेका अभाव होता है। इतना विशेष है कि सर्वथा अभेद मान लेनेपर व्यवहारके माननेपर भी संकर वगैरह दोष सम्भव है। ऐसा न माननेपर कर्ता कारक वगैरहकी उत्पत्ति नहीं होती है इस प्रकार व्यवहार लोपका प्रसंग आता है।

३. स्यात्कारका प्रयोग धर्मोंमें होता है गुणोंमें नहीं

स्या. म./२५/२९५ स्यान्निशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव। विपश्चितां नाथ निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ।२५। —हे विद्वद्-शिरोमणि! आपने अनेकान्त रूपी अमृतको पीकर प्रत्येक वस्तुको कथंचित् अनित्य, कथंचित् नित्य, कथंचित् सामान्य, कथंचित् विशेष, कथंचित् वाच्य, कथंचित् अवाच्य, कथंचित् सत् और कथंचित् असत्का प्रतिपादन किया है।२५। तथा इसी प्रकार सर्वत्र ही 'स्यात्कार'का प्रयोग धर्मोंके साथ किया है, कहीं भी अनुजीवी गुणोंके साथ नहीं किया गया है (दे. सप्तभंगी)।

श्लो. वा. २/भाषा/१/६/५६/४६२/१३ स्याद्वाद प्रक्रिया आपेक्षिक धर्मोंमें प्रवर्तती है। अनुजीवी गुणोंमें नहीं।

४. स्यात्कार भावमें आवश्यक है शब्दमें नहीं

यु. अनु./४४ तथा प्रतिज्ञाशयतोऽप्रयोगः···।४४। —स्यात् शब्दके प्रयोगकी प्रतिज्ञाका अभिप्राय रहनेसे 'स्यात्' शब्दका अप्रयोग देखा जाता है।

क. पा. १/१,१३-१४/§२७२/३०८/५ वक्खम्मि अवुत्तासेसधम्माण घडावणट्ठ सियासद्दो जोजेयव्वो। सुत्ते किमिदि ण पउत्तो। ण; तहापइंजासयस्स पओआभावे वि सदत्थावगमो अत्थि त्ति दोसाभावादो। उत्तं च—तथाप्रतिज्ञाशयतोऽप्रयोग.।१२६। —द्रव्यमें अनुक्त समस्त धर्मोंके घटित करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करना चाहिए। प्रश्न—'रसकसाओ' इत्यादि सूत्रमें स्यात् शब्दका प्रयोग क्यों नहीं किया है। उत्तर—नहीं, क्योंकि स्यात् शब्दके प्रयोगका अभिप्राय रखनेवाला वक्ता यदि स्यात् शब्दका प्रयोग न भी करे तो भी उसके अर्थका ज्ञान हो जाता है अतएव स्यात् शब्दका प्रयोग नहीं करनेपर भी कोई दोष नहीं है, कहा भी है—स्यात् शब्दके प्रयोगकी प्रतिज्ञाका अभिप्राय रखनेसे 'स्यात्' शब्दका अप्रयोग देखा जाता है।

ध. ९/४,१,४५/१८३/९ न चैतेषु सप्तस्वपि वाक्येषु स्याच्छब्दप्रयोगनियमः, तथा प्रतिज्ञाशयादप्रयोगोपलम्भात्। —सातों ही वाक्योंमें (सप्तभंगी सम्बन्धी) 'स्यात्' शब्दके प्रयोगका नियम नहीं है, क्योंकि वैसी प्रतिज्ञाका आशय होनेसे अप्रयोग पाया जाता है।

दे. स्याद्वाद/४/२ स्यात् पदसे रहित होनेपर भी निश्चय नयके निश्चयाभासपना नहीं है क्योंकि यह उपनयसे रहित है।

श्लो. वा. २/१/६/श्लो. ५६/४५७ सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते। तथैवकारो योगादिव्यवच्छेदप्रयोजन ।५६। —स्यात् शब्द प्रत्येक वाक्य या पदमें नहीं बोला गया भी सभी स्थलोंपर स्याद्वादको जाननेवाले पुरुषों करके प्रकरण आदिकी सामर्थ्यसे प्रतीत कर लिया जाता है। जैसे कि अयोग अन्ययोग और अत्यन्तायोगका व्यवच्छेद करना है प्रयोजन जिसका ऐसा एवकार बिना कहे भी प्रकरणवश समझ लिया जाता है। (स्या. म./२३/२७९/१), (स. भं. त. ३१/२ पर उद्धृत)।

५. कथंचित् शब्दके प्रयोग

स्व. स्तो./मू./४२ तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात् तथा प्रतीतेस्तव तत्कथंचित्॥ नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ।४२। —आपका वह तत्त्व कथंचित् तद्रूप (सद्रूप) है और कथंचित् तद्रूप नहीं है, क्योंकि वैसी ही सत्-असत् रूपकी प्रतीति होती है। स्वरूपादि-चतुष्टय रूप विधि और पररूपादि चतुष्टय रूप निषेधके परस्परमें अत्यन्त भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है क्योंकि सर्वथा ऐसा माननेपर शून्य दोष आता है।४२।

रा. वा./१/८/१८/१२२/१५ सर्वस्य वागर्थस्य विधिप्रतिषेधात्मकत्वात्, न हि किंचिद्वस्तु सर्वनिषेधगम्यमस्ति। अस्ति श्वेतत् उभयात्मकम्, यथा कुरवका रक्तश्वेतव्युदासेऽपि नावर्णा भवन्ति नापि रक्ता एव श्वेता एव वा प्रतिषिद्धत्वात्। एवं वस्त्वपि परात्मना नास्तीति प्रतिषेधेऽपि स्वात्मना अस्तीति सिद्धः। तथा चोक्तम्-अस्तित्वमुपलब्धिश्च कथंचिदसत. स्मृतेः। नास्तितानुपलब्धिश्च कथंचित्सत एव ते।१। सर्वथैव सतो नेमौ धर्मौ सर्वात्मदोषतः। सर्वथैवासतो नेमौ वाचां गोचरताप्रत्ययात् ।२। —जितने भी पदार्थ शब्दगोचर हैं वे सब विधि-निषेधात्मक हैं। कोई भी वस्तु सर्वथा निषेध गम्य नहीं होती। जैसे कुरवक पुष्प लाल और सफेद दोनों रंगोंका होता है। न केवल रक्त ही होता है, न केवल श्वेत ही होता है और न ही वह वर्णशून्य है। इस तरह परकी अपेक्षासे वस्तुमें नास्तित्व होनेपर भी स्व दृष्टिसे उसका अस्तित्व प्रसिद्ध ही है। कहा भी है—

कथंचित् असत्‌की भी उपलब्धि और अस्तित्व है और कथंचित सत्‌की भी अनुपलब्धि और नास्तित्व। यदि सर्वथा अस्तित्व और उपलब्धि मानी जाये तो घटकी पटादि रूपसे भी उपलब्धि होनेसे सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे और यदि परकी तरह स्व रूपसे भी असत्त्व माना जाये तो पदार्थका ही अभाव हो जायेगा और वह शब्दका विषय न हो सकेगा।

प्र. सा./त.प्र./३५,१०६ सर्वेऽर्था ज्ञानवर्तिन एव कथंचिद् भवन्ति।३५। अतएव च सत्ताद्रव्ययोः कथंचिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयम्। —१. समस्त पदार्थ कथंचित ज्ञानवर्ती ही है। २. यद्यपि सत्ता द्रव्यके कथंचित् अनर्थान्तरत्व है तथा उनके सर्वथा एकत्व होगा ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए।

स. सा./आ./३३१/क. २०४ कर्मैव प्रवितर्क्यकर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृताम्। कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता। —कोई आत्म घातक कर्मको ही कर्ता विचार कर आत्माके कर्तृत्व-को उड़ाकर, 'यह आत्मा कथंचित् कर्ता है' ऐसी कहनेवाली अचलित श्रुतिको कोपित करते हैं।

प्र. सा./ता. वृ./२७/३७/६ यदि पुनरेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तदा ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्तः सुखादिधर्माणामवकाशो नास्ति।... तस्मात्कथंचिज्ज्ञानमात्मा न सर्वथेति। —यदि एकान्तसे ज्ञानको ही आत्मा कहते हैं तो तब ज्ञान गुण मात्र ही आत्मा प्राप्त होती है सुखादि धर्मोंको अवकाश नहीं है।...इसलिए कथंचित ज्ञानमात्र आत्मा है सर्वथा नहीं।

पं.ध./पू./९१ द्रव्यं ततः कथंचित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन। व्येति तदन्येन पुनर्नैतद्द्वितयं हि वस्तुतया।९१। —निश्चयसे द्रव्य कथंचित् किसी अवस्था रूपसे उत्पन्न होता है और किसी अन्य अवस्थासे नष्ट होता है किन्तु परमार्थसे निश्चय करके ये दोनों ही नहीं हैं।

५. स्यात्कारका कारण व प्रयोजन

१. स्यात्कार प्रयोगका प्रयोजन एकान्त निषेध

आप्त. मी./१०३-१०४ वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्। स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तव केवलिनामपि।१०३। स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः। सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः।१०४। —स्यात् ऐसा शब्द है यह निपात या अव्यय है। वाक्योंमें प्रयुक्त यह शब्द अनेकान्त द्योतक वस्तुके स्वरूपका विशेषण है।१०३। स्याद्वाद अर्थात् सर्वथा एकान्तका त्याग होनेसे किंचित् ऐसा अर्थ बतानेवाला है। सप्त भंगरूप नयकी अपेक्षावाला तथा हेय व उपादेयका भेद करनेवाला है।१०४।

रा. वा./४/४२/१७/२६०/२६ ननु च सामान्यार्थाविच्छेदेन विशेषण-विशेष्यसंबन्धावद्योतनार्थे एवकारे सति तदवधारणादितरेषां निवृत्तिः प्राप्नोति। नैष दोषः; अत्राप्यत एव स्याच्छब्दप्रयोगः कर्तव्यः 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि। कोऽर्थः। एवकारेणेतरनिवृत्तिप्रसङ्गे स्वात्मलोपात् सकलो लोपो मा विज्ञायीति वस्तुनि यथावस्थितं विवक्षितधर्मस्वरूपं तथैव द्योतयति स्याच्छब्दः। 'विवक्षितार्थवागङ्गम्' इति वचनात्। —प्रश्न—जब आप विशेषण-विशेष्यके नियमनको एवकार देते हो तब अर्थात ही इतरकी निवृत्ति हो जाती है? उदासीनता कहाँ रही? उत्तर—इसलिए शेष धर्मोंके सद्भावको द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। एवकारसे जब इतर निवृत्तिका प्रसंग प्रस्तुत होता है तो सकल लोप न हो जाय इसलिए 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्मके साथ ही साथ अन्य धर्मोंके सद्भावकी सूचना दे देता है।

दे. स्याद/१ स्यात् शब्द अनेकान्तका द्योतक होता है।

दे. स्याद्वाद/१/१ नियमका निषेध करना तथा सापेक्षताकी सिद्धि करना स्याद्वादका प्रयोजन है।

श्लो. वा. २/१/६/५४/४५४/४ तत्रवतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेद-वृत्तेरसंभवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते। तदेवाभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यामेकेन शब्देनैकस्य जीवादिवस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकस्योपात्तस्य स्यात्कारो द्योतकः समवतिष्ठते।

श्लो. वा. २/१/६/५५/४५ स्याच्छब्दादप्यनेकान्तसामान्यस्यावबोधने।...।५५। —१. जब कि वास्तविक रूपसे अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मोंकी एक वस्तुमें इस प्रकार अभेद वृत्तिका होना असम्भव है तो अब काल, आत्मरूप आदि करके भिन्न-भिन्न स्वरूप हो रहे धर्मोंका अभेद रूपसे उपचार किया जाता है। तिस कारण इन अभेद वृत्ति और अभेदोपचारसे एक शब्द करके ग्रहण किये गये अनन्तधर्मात्मक एक जीव आदि वस्तुका कथन किया गया है। उन अनेक धर्मोंका द्योतक स्यात्कार निपात भले प्रकार व्यवस्थित हो रहा है। २. स्यात् शब्दसे भी सामान्य रूपसे अनेक धर्मोंका द्योतन होकर ज्ञान हो जाता है।५५।

ध. १२/४,२,६,२/२६५/१० सिया सद्दा दोण्णि—एक्को किरियाए वाचओ, अवरो णइवाइयो।...सव्वहाणियमपरिहारेण सो सव्वत्थ पक्कओ, पमाणाणुसारित्तादो। —स्यात् शब्द दो हैं—एक क्रियावाचक व दूसरा अनेकान्त वाचक।......उक्त स्यात् शब्द 'सर्वथा' नियमको छोड़कर सर्वत्र अर्थकी प्ररूपणा करनेवाला है, क्योंकि वह प्रमाणका अनुसरण करता है।

न. च. वृ./२५१ पर उद्धृत—सिद्धमन्त्रो यथा लोके एकोऽनेकार्थदायकः। स्याच्छब्दोऽपि तथा ज्ञेय एकोऽनेकार्थसाधकः। —जिस प्रकार लोकमें सिद्ध किया गया मन्त्र एक व अनेक पदार्थोंको देनेवाला होता है, उसी प्रकार 'स्यात्' शब्दको एक तथा अनेक अर्थोंका साधक जानना चाहिए।

न. च./श्रुत./६५ स्याच्छब्देन किं। यथा द्रव्यरूपेण नित्यत्वं तथा पर्यायरूपेण नित्यत्वमा भूदिति स्याच्छब्दः, स्यादस्ति स्यादनित्य इति।अनित्यत्व इति पर्यायरूपेणैव कुर्यात्।...तर्हि स्याच्छब्देन किं यथा सद्भूतव्यवहारेण भेदस्तथा द्रव्यार्थिकेनापि माभूदिति स्याच्छब्दः। —प्रश्न—स्यात् शब्दसे यहाँ क्या प्रयोजन है? उत्तर—जिस प्रकार द्रव्य रूपसे नित्य है, उसी प्रकार पर्याय रूपसे नित्य न हो यह स्यात् शब्दका प्रयोजन है। स्यात् शब्द स्यादस्ति स्यादनित्य इस प्रकारसे होता है। अनित्यता पर्याय रूपसे समझना चाहिए।...—प्रश्न—यहाँ स्यात् शब्दसे क्या प्रयोजन है? उत्तर—जिस प्रकार सद्भूत व्यवहार नयसे भेद है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नयसे भेद न हो, यह स्यात् पदका यहाँ प्रयोजन है।

पं. का./त. प्र./१४ अत्र सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथंचिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः। —यहाँ (सप्तभंगीमें) सर्वथापनेका निषेधक, अनेकान्तका द्योतक 'स्यात्' शब्द कथंचित् ऐसे अर्थमें अव्यय रूपसे प्रयुक्त हुआ है। (म.भ.त./३०/१०)।

२. स्यात्कार प्रयोगके अन्य प्रयोजन

स्व. स्तो./मू. ४४ अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं, वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या। आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः।४४। —पद (शब्द) का वाच्य प्रकृतिसे एक और अनेक दोनों रूप है। 'वृक्षाः' इस पद ज्ञानकी तरह। अनेकान्तात्मक वस्तुके अस्तित्वादि किसी एक धर्मका प्रतिपादन करनेपर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरे धर्मके प्रतिपादनमें जिसकी आकांक्षा है, ऐसी आकांक्षा (स्याद्वादी) का स्यात् यह निपात गौणकी अपेक्षा न रखनेवाले नियममें निश्चय रूपसे बाधक होता है।४४।

न. च. श्रुत./६५ यथा स्वरूपेणास्तित्वं तथा पररूपेणाप्यस्तित्वं माभू-दिति स्याच्छब्दः।...यथा द्रव्यरूपेण नित्यत्वं तथा पर्यायरूपेणैव नित्यत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः। —जिस प्रकार स्वस्वरूपसे है उसी प्रकार परस्वरूपसे भी है, इसी प्रकारकी आपत्तिका निवारण करना स्यात् शब्दका प्रयोजन है।...जिस प्रकार द्रव्य रूपसे नित्य है उसी प्रकार पर्याय रूपसे नित्य न हो यह स्यात् शब्दका प्रयोजन है।

स्या. म./१६/२५४/३ यथावस्थितपदार्थप्रतिपादनोपयिकं नान्यदिति ज्ञापनार्थम्। अनन्तधर्मात्मकस्य सर्वस्य वस्तुनः सर्वनयात्मकेन स्याद्वादेन विना यथावद्गृहीतुमशक्यत्वात्। —यथावस्थित पदार्थ-का प्रतिपादन करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है।...क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें अनन्तस्वभाव हैं, अतएव सम्पूर्ण नय स्वरूप स्याद्वादके बिना किसी भी वस्तुका ठीक-ठीक प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

३. सप्तभंगीमें 'स्यात्' शब्द प्रयोगका फल

क. पा. १/१,१३-१४/§२७३/३०८/८ सिया कसाओ, सियाओ एत्थतण-सियासद्दो [णोकसायं] कसायं कसायणोकसायविसय अत्थपज्जाए च दव्वम्मि घडावेइ। सिया अवत्तव्वं 'कसायणोकसायविसयअत्थ-पज्जाय सरूवेण, एत्थतण-सिया-सद्दो कषायणोकसायविसयवंजण-पज्जाए ढोएइ। 'सिया कसाओ च णोकसाओ च' एत्थतण-सियासद्दो कसाय-णोकसायविसयअत्थपज्जाए दव्वेण सह ढोएइ। 'सिया कसाओ च अवत्तव्वओ च' एत्थतण सियासद्दो णोकसायत्तं घडावेइ।' सिया णोकसाओ च अवत्तव्वओ च' एत्थतणसियासद्दो कसायत्तं घडावेइ। 'सिया कसाओ च णोकसाओ च अवत्तव्वओ च' एत्थ-तणसियासद्दो कषायणोकषाय-अवत्तव्वधम्माणं तिण्हं पि कमेण भण्णमाणाणं दव्वम्मि अक्कमउत्तिं सूचेदि। —१. द्रव्य स्यात् कषाय रूप है, (यहाँ कषायका प्रकरण है) २. द्रव्य स्यात् अकषाय रूप है। इन दोनों भंगोंमें विद्यमान स्यात् शब्द क्रमसे नोकषाय और कषायको तथा कषाय और नोकषाय विषयक अर्थपर्यायोंको द्रव्यमें घटित करता है। ३. कषाय और नोकषाय विषयक अर्थ पर्याय रूपसे द्रव्य स्यात् अवक्तव्य है। इस भंगमें विद्यमान स्यात् शब्द कषाय और नोकषाय विषयक व्यञ्जन पर्यायोंको द्रव्यमें घटित करता है। ४. द्रव्य स्यात् कषाय रूप और अकषाय रूप है। इस चौथे भंगमें विद्यमान स्यात् शब्द कषाय और नोकषाय विषयक अर्थ पर्यायोंमें घटित करता है। ५. द्रव्य स्यात् कषाय रूप और अवक्तव्य है। इस पाँचवें भंगमें विद्यमान स्यात् शब्द द्रव्यमें नोकषायपनेको घटित करता है। ६. द्रव्य स्यात् अकषाय रूप और अवक्तव्य है। इस छठे भंगमें विद्यमान स्यात् शब्द द्रव्यमें कषायपनेको घटित करता है। ७. द्रव्य स्यात् कषाय रूप, अकषाय रूप, और अवक्तव्य है। इस सातवें भंगमें विद्यमान स्यात् शब्द क्रमसे कहे जानेवाले कषाय, नोकषाय और अवक्तव्य रूप तीनों धर्मोंकी द्रव्यमें अक्रम वृत्तिको सूचित करता है।

४. एवकार व स्यात्कारका समन्वय

श्लो.वा. २/१/६/ श्लो. ५३-५४/४३१, ४४८ वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थ-निवृत्तये। कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ।५३। सर्वथा तत्प्रयोगेऽपि सत्त्वादिप्राप्तिविच्छित्तये। स्यात्कारः संप्रयुज्येतानेकान्तद्योतकत्वतः ।५४। —वाक्यमें एवकार ही ऐसा जो नियम किया जाता है, वह तो अवश्य अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिए करना ही चाहिए। अन्यथा कहीं-कहीं वह वाक्य नहीं कहा गया सरीखा समझा जाता है ।५३। उस एवकारके प्रयोग करनेपर भी सभी प्रकारसे सत्त्व आदिकी प्राप्तिका विच्छेद करनेके लिए वाक्यमें स्यात्कार शब्दका प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि वह स्यात् शब्द अनेकान्तका द्योतक है ।५४।

क. पा./१/१,१३-१४/§२७१-२७२/३०६/६ सुत्तेण अउत्तो सियासद्दो कथमेत्थ उच्चदे। ण; सियासद्दपओएण विणा सव्वपओआणं अउत्त-तुल्लत्तप्पसंगादो। तं जहा, कसायसद्दो पडिवक्खत्थं सगत्थादो ओसारिय सगत्थं चेव भणदि पईवो व्व दुस्सहावत्तादो। अत्रोपयो-गिनौ श्लोकौ—अन्तर्भूतैवकारार्थाः गिरः सर्वाः स्वभावतः। एवकार-प्रयोगोऽयमिष्टतो नियमाय सः ।१२३। निरस्यन्ती परस्यार्थं स्वार्थं कथयति श्रुतिः। तमो विधुन्वती भास्यं यथा भासयति प्रभा ।१२४। एवं चेव होदु चे; ण; एक्कम्मि चेव माहुलिंगफले तित्त-कडुवंबिल-मधुर-रसाणं रूव-गंध-फास संठाणाईणमभावप्पसंगादो। एवं पि होउ चे; ण; दव्वलक्खणाभावेण दव्वस्स अभावप्पसंगादो। —प्रश्न—'स्यात्' शब्द सूत्रमें नहीं कहा है फिर यहाँ क्यों कहा है? उत्तर—क्योंकि यदि 'स्यात्' शब्दका प्रयोग न किया जाय तो सभी वचनोंके व्यवहारको अनुक्त तुल्यत्वका प्रसंग प्राप्त होता है। जैसे—यदि कषाय शब्दके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग न किया जाय तो वह कषाय शब्द अपने वाच्यभूत अर्थसे प्रतिपक्षी अर्थोंका निराकरण करके अपने अर्थको ही कहेगा, क्योंकि वह दीपक की तरह दो स्वभाववाला है (अर्थात् स्वप्रकाशक व प्रतिपक्षी अन्धकार विनाशक स्वभाव-वाला) इस विषयमें दो उपयोगी श्लोक दिये जाते हैं।—जितने भी शब्द हैं उनमें स्वभावसे ही एवकारका अर्थ छिपा हुआ रहता है, इसलिए जहाँ भी एवकारका प्रयोग किया जाता है वहाँ वह इष्टके अवधारणके लिए किया जाता है ।१२३। जिस प्रकार प्रभा अन्धकार-का नाश करती है उसीप्रकार शब्द दूसरेके अर्थका निराकरण करता है और अपने अर्थको कहता है ।१२४। (तात्पर्य यह है कि 'स्यात्' शब्दसे रहित केवल कषाय शब्दका प्रयोग करनेपर उसका वाच्य भूत द्रव्य केवल कषाय रसवाला ही फलित होता है) प्रश्न—ऐसा होता है तो होओ? उत्तर—नहीं क्योंकि ऐसा मान लिया जाये तो एक ही बिजौरेके फलमें पाये जानेवाले कषाय रसके प्रतिपक्षी तीते, कड़ए, खट्टे और मीठे रसके अभावका तथा रूप, गन्ध, स्पर्श और आकार आदिके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। प्रश्न—होता है तो होओ? उत्तर—नहीं, क्योंकि वस्तुमें विवक्षित स्वभावको छोड़कर शेष स्वभावोंका अभाव माननेपर द्रव्यके लक्षणका अभाव हो जाता है। उसके अभाव हो जानेसे द्रव्यके भी अभावका प्रसंग प्राप्त होता है।

स्या. म./२३/२७१/५ वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये। कर्तव्य-मन्यथानुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित्। प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्ति स्यात्। तत्प्रतिपत्तये स्याद् इति शब्दप्रयुज्यते।—किसी वाक्यमें 'एव' का प्रयोग अनिष्ट अभिप्रायके निराकरणके लिए किया जाता है, अन्यथा अविवक्षित अर्थ स्वीकार करना पड़े।...वस्तु स्वचतुष्टय-की अपेक्षा ही कथंचित अस्ति रूप है, परचतुष्टयकी अपेक्षा नहीं, इसी भावको स्पष्ट करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है।

स्याद्वादभूषण— आ. अकलंक (ई. ६२०-६८०) कृत लघीय-स्त्रयपर आ. अभयचन्द्र (ई. श. १३) कृत वृत्ति। —दे. अभयचन्द्र।

स्याद्वादमंजरी — हेमचन्द्र सूरि (ई. १०८८-११७३) कृत अयोग व्यवच्छेद नामक ग्रन्थकी टीका रूपमें आ. मल्लिषेण सं. ३ (ई. १२९२) द्वारा रचित एक न्याय विषयक ग्रन्थ। —दे. हेमचन्द्र।

स्याद्वादमंजूषा— श्वेताम्बराचार्य यशोविजय (ई. १६३८-१६८८) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक ग्रन्थ। —दे. यशोविजय।

स्याद्वादरत्नाकर— दे. प्रमाणनय तत्त्वालंकार।

स्याद्वादवदनविदारण — आ. शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) द्वारा रचित न्यायविषयक ग्रन्थ। —दे. शुभचन्द्र।

स्याद्वादसिद्धि— आ. वादीभसिंह (ई० ११०३) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्यायविषयक ग्रन्थ है। —दे. वादीभसिंह।

स्याद्वादोपनिषद्—आ. सोमदेव (ई. ९४३-९६८) कृत स्याद्वाद न्यायका प्ररूपक संस्कृत भाषामें रचित ग्रन्थ। —दे. सोमदेव।

स्वक्षेत्र—दे. क्षेत्र/१।

स्वगणानुस्थापनप्रायश्चित्त—दे. परिहार।

स्वगुरु वापि क्रिया—दे. संस्कार/२।

स्वचतुष्टय—दे. चतुष्टय।

स्वचारित्र—दे. चारित्र/१।

स्वच्छंद—१. स्वच्छंद परिग्रह ग्रहणका निराकरण—दे. अपवाद/४; २. स्वच्छन्द आहार ग्रहणका निराकरण—दे. आहार/II/२/७।

स्वच्छंद साधु—

१. स्वच्छन्द साधुका लक्षण

भ. आ./मू. १३०८-१३१२ सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि केइ इंदियकसायचोरेहि। पविलुत्तचरणभंडा उवहदमाणा णिवट्टंति।१३०८। तो ते सीलदरिद्दा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति।..।१३०९। सो होदि साधुसत्थादु णिग्गदो जो भवे जधाछंदो। उस्सुत्तमणुवदिट्ठं च जधिच्छाए विकप्पंतो।१३१०। जो होदि जधाछंदो हु तस्स धणिदं पि संजमितस्स। णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी।१३११। इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुत्तं पमाणमकरंतो। परिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे सच्छंददो चेव।१३१२। =मोक्ष नगरके समीप जाकर भी कितनेक मुनि इन्द्रिय और कषाय रूपी चोरोंसे जिनका चारित्र रूपी भांडबल लूटा गया है तथा संयमका अभिमान जिनका नष्ट हुआ है ऐसे होकर मिथ्यात्वको प्राप्त होते हैं।१३०८। वे शील दरिद्री मुनि हमेशा तीव्र दुःखको प्राप्त होते हैं।१३०९। जो मुनि साधु सार्थको छोड़कर स्वतन्त्र हुआ है। जो स्वेच्छाचारी बनकर आगम विरुद्ध और पूर्वाचार्य अकथित आचारोंकी कल्पना करता है वह स्वच्छन्द नामक भ्रष्ट मुनि समझना चाहिए।१३१०। यथेष्ट प्रवृत्ति करनेवाले उस भ्रष्ट मुनिने यद्यपि घोर संयम किया होगा तथापि सम्यक्त्व न होनेसे उसका संयम चारित्र नहीं कहा जाता है।१३११। इन्द्रिय और कषायोंमें आधीन होनेसे यह भ्रष्टमुनि जिनप्रणीत सिद्धान्तको प्रमाण नहीं मानता है और स्वच्छन्दाचारी बनकर सिद्धान्तका स्वरूप अन्यथा समझता है तथा अन्यथा विचारमें लाता है।१३१२।

भ. आ./वि./१९५०/१७२३/१ स्वच्छन्दसंपर्कात्स्वयमपि स्वच्छन्दवृत्तिः। यथाच्छन्दो निरूप्यते-उत्सूत्रमनुपदिष्टं स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते यथाच्छन्द इति। तद्यथा वर्षे पतति जलधारणमसंयम। क्षुरकर्तरिकादिभिः केशापनयनप्रशंसनम् आत्मविराधनान्यथा भवतीति। भूमिशय्यातृणपुञ्जे वसत अवस्थितानामाबाधेति, उद्देशिकादिके भोजनेऽदोषः ग्रामं सकलं पर्यटतो महती जीवनिकायविराधनेति, गृहामत्रेषु भोजनमदोष इति कथनं, पाणिपात्रिकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, संप्रति यथोक्तकारी विद्यत इति च भाषणं एवमादिनिरूपणापराः स्वच्छन्दा इत्युच्यन्ते। =स्वच्छन्द मुनिके संसर्गसे मुनि स्वच्छन्द बनते हैं। यथाच्छन्द मुनिका वर्णन करते हैं—जो मुनि आगमके विरुद्ध आगममें न कहा हुआ और स्वेच्छा कल्पित पदार्थोंका स्वरूप कहते हैं उनको यथाच्छन्द मुनि कहते हैं। वर्षाकालमें जो पानी गिरता है उसको धारण करना वह असंयम है। उस्तरा और कैंचीसे केश निकालना ही योग्य है। केशलोंच करनेसे आत्म-विराधना होती है। सचित्त तृणपुंजपर बैठनेसे भी भूमि शय्या मूलगुण पाला जाता है। तृणपर बैठनेसे भी जीवोंको बाधा नहीं पहुँचती। उद्देशादि दोष सहित भोजन करना दोषास्पद नहीं है। आहारके लिए सब ग्राममें घूमनेसे जीवोंकी विराधना होती है। घरमें (वसतिका) में ही भोजन करना अच्छा है। हाथमें आहार लेकर भोजन करनेसे जीवोंको बाधा पहुँचती है। ऐसा वे उत्सूत्र कहते हैं। इस कालमें यथोक्त आचरण करनेवाले मुनि कोई नहीं है। ऐसा कथन करना इत्यादि प्रकारसे विरुद्ध भाषण करनेवाले मुनियोंको यथाछन्द अर्थात् स्वच्छन्दमुनि कहते हैं।

चा. सा./१४४/२ त्यक्तगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्रः स्वच्छन्द इति वा। =जो अकेले ही स्वच्छन्द रीतिसे विहार करते हैं और जिनेन्द्र देवके वचनोंको दूषित करनेवाले हैं उनको मृगचारित्र अथवा स्वच्छन्द कहते हैं। (भा. पा./टी /१४/१३७/२२)।

स्वच्छत्व शक्ति—स. सा./आ./परि /शक्ति ११ नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः। =अमूर्तिक आत्मप्रदेशोंमें प्रकाशमान लोकालोकके आकारोंसे मेचक (अर्थात् अनेक-आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसा स्वच्छत्व शक्ति। (जैसे दर्पणकी स्वच्छत्व शक्तिसे उसकी पर्यायमें घटपटादि प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार आत्माकी स्वच्छत्व शक्तिसे उपयोगमें लोकालोकके आकार प्रकाशित होते हैं।

स्वच्छाहार—भ. आ./वि./७००/८८२/६ स्वच्छम् एकं पानकं उष्णोदकं सौवीरकम्। =स्वच्छ यह एक पानकका प्रकार है। गरम पानी, वगैरहको स्वच्छ कहते है।

स्वजातिउपचार— दे. उपचार/१।

स्वतन्त्रता—१. द्रव्यकी स्वतन्त्रता—दे. द्रव्य/५। २. गुणोंकी स्वतन्त्रता-दे. गुण/२/७; ३. पर्यायकी स्वतन्त्रता—दे. पर्याय/२/४; ४ आत्मद्रव्य अनीश्वर नयसे स्वतन्त्रता भोगने वाला है। हिरणको स्वतन्त्रता पूर्वक पकड़कर खा जानेवाले सिंहकी भाँति—दे. नय/I/५/४।

स्वधर्म व्यापकत्व शक्ति—स. सा./आ./परिशक्ति/२५। स्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति।२५। =सर्व शरीरोंमें एक स्वरूपात्मक ऐसी स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति (शरीरके धर्मरूप न होकर अपने-अपने धर्मोंमें व्यापने रूप शक्ति) सो स्वधर्म व्यापकत्व शक्ति है।

स्वदारसंतोषव्रत—दे. ब्रह्मचर्य/१/३।

स्वद्रव्य—मो. पा./मू./१८ दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं। सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं।१८। =दुष्ट कर्मोंसे रहित हैं, तथा अनुपम ज्ञान ही है शरीर जिसके ऐसी अविनाशी, विकार रहित केवलज्ञानमयी आत्मा जिन भगवान्ने कही है सो स्वद्रव्य है।

स्वनिमित्त—दे. निमित्त/१/५।

स्वप्न—

१. भेद व लक्षण

म.पु./४१/५९-६१ ते च स्वप्ना द्विधाम्नाता: स्वस्थास्वस्थात्मगोचरा:। समैस्तु धातुभि: स्वस्था विषमैरितरे मता।५९। तथ्या: स्युः स्वस्थ सदृष्टा मिथ्या स्वप्ना विपर्ययात्। जगत्प्रतीतमेतद्धि विद्धि स्वप्न-विमर्शनम्।६०। स्वप्नानां द्वैतमस्त्यन्यद्दोषदैवसमुद्भवम्। दोष-प्रकोपजा मिथ्या तथ्या: स्युर्दैवसंभवा।६१। —स्वप्न दो प्रकारके हैं—स्वस्थ अवस्थावाले, अस्वस्थ अवस्थावाले। जो धातुओंकी समानता रहते दीखते है वे स्वस्थ अवस्थावाले हैं, और जो धातुओं-की असमानतासे दीखते हैं वे अस्वस्थ अवस्थावाले हैं।५९। स्वस्थ अवस्थामें दीखनेवाले स्वप्न सत्य और अस्वस्थ अवस्थामें दीखनेवाले स्वप्न असत्य होते है।६०। स्वप्नोंके और भी दो भेद है—एक दैवसे उत्पन्न होने वाले, दूसरे दोषसे उत्पन्न होने वाले। दैवसे उत्पन्न होनेवाले स्वप्न सत्य तथा दोषसे उत्पन्न होने वाले असत्य हुआ करते हैं।६१। दे. निमित्त/२/३ (वात, पित्तादिके प्रकोपसे रहित व्यक्ति सूर्य चन्द्रमा आदिको देखता है व शुभस्वप्न तथा गर्दभ, ऊँट आदि पर चढना, व प्रदेश गमनादि देखता है वह अशुभ स्वप्न है। इसके फलरूप सुख-दुखादिको बताना स्वनिमित्त है। स्वप्नमें हाथी आदिका दर्शन मात्र चिह्न स्वप्न हैं। और पूर्वापर सम्बन्ध रखने वालेको माला स्वप्न कहते हैं।

२. स्वप्नके निमित्त

स्या. म./१६/२१५-२१६/३० स्वप्नज्ञानमप्यनुभूतदृष्टाद्यर्थ विषयत्वान्न निरालम्बनम्। तथा च महाभाष्यकार:—अणुहूयदिट्ठचितिय सुयपयइवियारदेवयाणूवा। सुमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं पाव च णा-भावो। —स्वप्नमें भी जाग्रत् दशामें अनुभूत पदार्थोंका ही ज्ञान होता है, इसलिए स्वप्न ज्ञान भी सर्वथा निर्विषय नहीं है। जिन-भद्रगणि क्षमाश्रमणने कहा है—"अनुभव किये हुए, देखे हुए, विचारे हुए, सुने हुए, पदार्थ, वात, पित्त आदि प्रकृतिके विकार, दैविक और जल प्रधान प्रदेश स्वप्नमें कारण होते है। सुख निद्रा आनेसे पुण्य रूप और सुख निद्रा न आनेसे पाप रूप स्वप्न दिखाई देते है। वास्तवमें स्वप्न सर्वथा अवस्तु नहीं है।

३. तीर्थंकरकी माताके १६ स्वप्न

म.पु./१२/१५५-१६१ शृणु देवि महान् पुत्रो भविता ते गजेक्षणात्। समस्तभुवनज्येष्ठो महावृषभदर्शनात्।१५५। सिंहेनानन्तवीर्योऽसौ दाम्ना सद्धर्मतीर्थकृत्। लक्ष्म्याभिषेकमाप्तासौ मेरोर्मूर्ध्नि सुरोत्तमै:।१५६। पूर्णेन्दुना जनाह्लादी भास्वता भास्वरद्युति:। कुम्भाभ्यां निधिभागी स्यात् सुखी मत्स्ययुगेक्षणात्।१५७। सरसा लक्षणोद्भासी सोऽब्धिना केवली भवेत्। सिंहासनेन साम्राज्यम् अवाप्स्यति जगद्गुरु:।१५८। स्वर्विमानावलोकेन स्वर्गादवतरिष्यति। फणीन्द्र-भवनालोकात् सोऽवधिज्ञानलोचन:।१५९। गुणानामाकर: प्रोद्यद्रत्न-राशिनिशामनात्। कर्मेन्धनधगप्येष निर्धूमज्वलनेक्षणात्।१६०। वृषभाकारमादाय भवत्यास्यप्रवेशनात्। त्वद्गर्भे वृषभो देव स्वमा-धास्यति निर्मले।१६१। —(नाभिराज मरुदेवीसे कहते हैं) हे देवी! सुन, १ हाथीके देखनेसे उत्तम पुत्र होगा, २. उत्तम बैलके देखनेसे समस्त लोकमें ज्येष्ठ, ३. सिंहके देखनेसे अनन्त बलसे युक्त, ४. मालाओंके देखनेसे समीचीन धर्मका प्रवर्तक, ५. लक्ष्मीके देखनेसे सुमेरु पर्वतके मस्तक पर देवोंके द्वारा अभिषेकको प्राप्त, ६. पूर्ण चन्द्रमाको देखनेसे लोगोंको आनन्द देनेवाला, ७. सूर्यको देखनेसे देदीप्यमान प्रभाका धारक; ८. दो कलश युगल देखनेसे अनेक निधिको प्राप्त, और ९. मछलियोंका युगल देखनेसे सुखी होगा।१५५-१५७। १०. सरोवरको देखनेसे अनेक लक्षणोंसे शोभित, ११ समुद्रको देखनेसे केवली और, १२. सिंहासन देखनेसे जगद्गुरु होकर साम्राज्य प्राप्त करेगा।१५८। १३. देवोंका विमान देखनेसे स्वर्गसे अवतीर्ण, १४. नागेन्द्रका भवन देखनेसे अवधिज्ञानसे युक्त, १५. चमकते रत्नोंकी राशि देखनेसे गुणोंकी खान, १६. निर्धूम अग्नि देखनेसे कर्मरूपी ईंधनको जलाने वाला होगा।१५९-१६०। तुम्हारे मुखमें वृषभने प्रवेश किया है इसलिए तुम्हारे गर्भमें वृषभदेव प्रवेश करेंगे।१६१।

४. चक्रवर्तीकी माताके ६ स्वप्नोंका फल

म.पु./१५/१२३-१२६ त्वं देवि पुत्रमाप्तासि गिरीन्द्रात् चक्रवर्तिनम्। तस्य प्रतापितामर्क: शास्तीन्दु: कान्तिसंपदम्।१२३। सरोजाक्षि सरोदृष्टे: अमी पङ्कजवासिनीम्। बोढा व्यूढोरसा पुण्यलक्षणाङ्कितविग्रह:।१२४। महीग्रसनत: कृत्स्नां मही सागरवाससम्। प्रतिपालयिता देवि विश्वराट् तव पुत्रक:।१२५। सागराच्चरमाङ्गोऽसौ तरिता जन्मसागरम्। ज्यायान्पुत्रशतस्यायम् इक्ष्वाकुकुलनन्दन:।१२६। —(भगवान् ऋषभ देव यशस्वतीके स्वप्नोंका फल कहते है) हे देवी! सुमेरु पर्वत देखनेसे तेरे चक्रवर्ती पुत्र होगा। सूर्य उसके प्रतापका और चन्द्रमा उसकी कान्तिको सूचित कर रहा है।१२३। सरोवरके देखनेसे पवित्र लक्षणोंसे युक्त शरीर वाला होकर अपने विस्तृत वक्षस्थलपर लक्ष्मी-को धारण करेगा।१२४। पृथ्वीका ग्रसा जाना देखनेसे चक्रवर्ती होकर समस्त पृथ्वीका पालन करेगा।१२५। और समुद्र देखनेसे चरम-शरीरी होकर संसार समुद्रको पार करेगा। इसके अतिरिक्त इक्ष्वाकु-वंशका आनन्द देनेवाला वह पुत्र तेरे १०० पुत्रोंमें ज्येष्ठ होगा।१२६।

५. नारायणकी माताके सात स्वप्न

ह. पु./३५/१३-१५ ज्वलद्बृहज्ज्वालहुताशमुच्चै: सुरध्वजं रत्नमरीचि-चक्रम्। मृगाधिप चाननमाविशन्त निशाम्य सौम्या बुबुधे सकम्पा।१३। अपूर्वसुस्वप्नविलोकनारसा सविस्मया हृष्टतनूरुहा तान्। जगौ प्रभाते कृतमङ्गलाङ्गा समेत्य पत्येऽभिदधे स विद्वान्।१४। प्रतापविध्वस्तरिपु: सुतस्ते प्रियोऽतिसौभाग्ययुतोऽभिषेकी। दिवो-ऽवतीर्यातिरुचि: स्थिरोऽर्भो भविष्यति क्षिप्रमिनो जगत्या:।१५। —(वसुदेव अपनी रानी देवकीसे कृष्णके गर्भसे पूर्व देखे गये स्वप्नोंका फल कहते हैं)—हे प्रिये! जो समस्त पृथ्वीका स्वामी होगा ऐसा तेरे पुत्र होगा। १. सूर्य देखनेसे शत्रु-विध्वंसक प्रतापसे युक्त होगा, २. चन्द्रमाको देखनेसे सबका प्रिय होगा, ३. दिग्गजों द्वारा लक्ष्मीका अभिषेक देखनेसे सौभाग्यशाली एवं राज्याभिषेकसे युक्त होगा, ४. आकाशसे नीचे आता विमान देखनेसे स्वर्गसे अवतीर्ण होगा, ५. देदीप्यमान अग्नि देखनेसे अत्यन्त कान्तिसे युक्त होगा, ६. रत्न-राशिकी किरणसे युक्त देवध्वजा देखनेसे स्थिर प्रकृतिका होगा, ७. मुखमें प्रवेश करता सिंह देखनेसे निर्भय होगा।१३-१५।

६. भरत चक्रवर्तीके १६ स्वप्न—

म.पु. /४१/६३-७६ ।

सं.	प्रमाण श्लो.सं.	स्वप्न	फल
१	६३	पर्वत पर २३ सिंह	वीरके अतिरिक्त २३ तीर्थंकरोंके समय दुष्ट नयोंकी उत्पत्तिका अभाव
२	६५	सिंहके साथ हिरणों का समूह	वीरके तीर्थमें अनेकों कुलिंगियोंकी उत्पत्ति
३	६६	बड़े बोझसे झुकी पीठवाला घोड़ा	पंचम कालमें तपश्चरणके समस्त गुणोंसे रहित साधु होंगे
४	६८	शुष्क पत्ते खानेवाले बकरोंका समूह	आगामी कालमें दुराचारी मनुष्योंकी उत्पत्ति
५	६९	हाथीके ऊपर बैठे बानर	क्षत्रिय वंश नष्ट हो जायेंगे
६	७०	अन्य पक्षियों द्वारा त्रास किया हुआ उलूक	धर्मको इच्छासे मनुष्य अन्य मतके साधुओंके पास जायेंगे
७	७१	आनन्द करते भूत	व्यन्तर देवोंकी पूजा होगी
८	७२	मध्य भागमें सूखा हुआ तालाब	आर्य खण्डमें धर्मका अभाव
९	७३	मलिन रत्नराशि	ऋद्धिधारी मुनियोंका अभाव
१०	७४	कुत्तेका नैवेद्य आदिसे सत्कार करना	गुणी पात्रोंके समान अव्रती ब्राह्मणोंका सत्कार होगा
११	७५	जवान बैल	तरुण अवस्थामें ही मुनिपद होगा
१२	७६	मण्डलसे युक्त चन्द्रमा	अवधि व मन पर्यय ज्ञानका अभाव होगा
१३	७७	शोभा नष्ट दो बैल	एकाकी विहारका अभाव होगा
१४	७८	मेघोंसे आवृत सूर्य	केवलज्ञानका अभाव होगा
१५	७९	छाया रहित सूखा वृक्ष	स्त्री-पुरुषोंका चारित्र भ्रष्ट होगा
१६	,,	जीर्ण पत्तोंका समूह	महौषधियोंका रस नष्ट होगा

७. राजा श्रेयांसके सात स्वप्न

म. पु./२०/३४-४० सुमेरुमैक्षतोत्तुङ्गं हिरण्मयमहातनुम्। कल्पद्रुमं च शाखाग्रलम्बि भूषणभूषितम् ।३४। सिंहं संहारसन्ध्याभकेसरोद्धुरकन्धरम्। शृङ्गाग्रलग्नमृत्स्नं च वृषभं कूलमुद्रुजम् ।३५। सूर्येन्दू भुवनस्येव नयने प्रस्फुरद्द्युती। सरस्वन्तमपि प्रोच्चैर्वीचिं रत्नाचितार्णसम् ।३६। अष्टमङ्गलधारीणि भूतरूपाणि चाग्रतः। सोऽपश्यद्भगवत्पाददर्शनैकफलानिमान् ।३७। सप्रश्रयमथासाद्य प्रभाते प्रीतमानसः। सोमप्रभाय तान् स्वप्नान् यथादृष्टं न्यवेदयत् ।३८। ततः पुरोधाः कल्याणं फलं तेषामभाषत। प्रसरद्दशनज्योत्स्नाप्रधौतककुबन्तरः ।३९। मेरुसंदर्शनाद्देवो यो मेरुरिव सून्नतः। मेरौ प्राप्ताभिषेकः स गृहमेष्यति न स्फुटम् ।४०। —राजा श्रेयांसने भगवान्को आहारदानसे पूर्व प्रथम स्वप्नमें सुमेरु पर्वत देखा। फिर क्रमसे आभूषणोंसे सुशोभित कल्पवृक्ष, किनारा उखाड़ता हुआ बैल, सूर्य-चन्द्रमा, लहरों और रत्नोंसे सुशोभित समुद्र, और सातवे स्वप्नमें अष्ट मंगल द्रव्य लिये हुए व्यन्तर देवोंकी मूर्तियाँ देखीं ।३४-३९। मेरुके देखनेसे यह फल प्रकट होता है कि जिसका सुमेरु पर अभिषेक हुआ है, ऐसा देव (ऋषभ भगवान्) अवश्य आज हमारे घरमें आवेगा ।४०। और ये अन्य स्वप्न भी उन्हींके गुणोंको सूचित करते हैं ।४१।

स्वप्नातिचार—दे. अतिचार/३ ।

स्वभाव—वस्तुके स्वयंसिद्ध, तर्कागोचर, नित्य शुद्ध अंशका नाम स्वभाव है। वह दो प्रकारके होते हैं—वस्तुभूत और आपेक्षिक। तहाँ वस्तुभूत स्वभाव दो प्रकार के हैं—सामान्य व विशेष। सहभावी गुण सामान्य स्वभाव है और क्रमभावी पर्याय, विशेष स्वभाव है। आपेक्षिक स्वभाव अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि विरोधी धर्मोंके रूपमें अनन्त हैं, जिनकी सिद्धि स्याद्वाद रूप सप्तभंगी द्वारा होती है। इन्हींके कारण वस्तु अनेकान्त स्वरूप है।

१. स्वभावके भेद लक्षण व विभाजन

१. स्वभाव सामान्यका लक्षण

१. स्वभावका निरुक्ति अर्थ

रा. वा./७/१२/२/५३१/८ स्वेनात्मना असाधारणेन धर्मेण भवनं स्वभाव इत्युच्यते।–स्व अर्थात् अपने असाधारण धर्मके द्वारा होना सो स्वभाव कहा जाता है।

स. सा./आ./७१ स्वस्य भवनं तु स्वभावः। –'स्व' का भवन अर्थात् होना वह स्वभाव है।

का. अ./मू./४७८ धम्मो वत्थुसहावो। –वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं। (भाव संग्रह /३७३)

त. अनु./५३ वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः।५३। –वस्तुके स्वरूपको ही महर्षियोंने धर्म कहा है।

स. श./टी./६/२२६/१८ स्वसंवेद्यो निरुपाधिकं हि रूपं वस्तुतः स्वभावोऽभिधीयते। –स्वसंवेद्य निरुपाधिक ही वस्तुका स्वरूप है, वही वस्तुका स्वभाव है।

२. स्वभावका लक्षण अन्तरंग भाव

क. पा. १/४,२२/§६२३/३८७/३ को सहावो। अन्तरङ्गकारणं। –अन्तरंग कारणको स्वभाव कहते हैं।

ध. ७/२,४,४/२३८/७ को सहावो णाम। अब्भंतरभावो। –आभ्यन्तर भावको स्वभाव कहते हैं। (अर्थात् वस्तु या वस्तुस्थितिकी उस अवस्थाको उसका स्वभाव कहते हैं जो उसका भीतरी गुण है और बाह्य परिस्थिति पर अवलम्बित नहीं है।)

३. स्वभावका लक्षण गुण पर्यायोंमें अन्वय परिणाम

प्र. सा./त. प्र./६५,६६ स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वयः।६५। स्वभावस्तु द्रव्यस्य ध्रौव्योत्पादोच्छेदैक्यात्मकपरिणामः।६६। –द्रव्यका स्वभाव वह अस्तित्व सामान्य रूप अन्वय है।६५। स्वभाव द्रव्यका ध्रौव्य-उत्पादविनाशकी एकता स्वरूप परिणाम है।६६।

प्र. सा./ता. वृ./८७/११०/१२ द्रव्यस्य कः स्वभाव इति पृष्टे गुणपर्यायाणामात्मा एव स्वभाव इति। –प्रश्न–द्रव्यका क्या स्वभाव है? उत्तर–गुण पर्यायोंकी आत्मा ही स्वभाव है।

४. स्वभाव व शक्तिके एकार्थवाची नाम

दे. तत्त्व/१/१ तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य, स्वभाव, परमपरम, ध्येय, शुद्ध और परम ये सब एकार्थवाची हैं।

दे. प्रकृति बन्ध १/१ प्रकृति, शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण तथा शील व आकृति एकार्थवाची हैं।

२. स्वभाव सामान्यके भेद

न.च.वृ./५९ की उत्थानिका–स्वभावाद्विविधाः–सामान्या विशेषाश्च। –स्वभाव दो प्रकारके हैं–सामान्य, विशेष। (पं. ध./पू./२८०)

३. सामान्य व विशेष स्वभावोंके भेद

न. च. वृ./५९-६० अत्थित्ति णत्थि णिच्चं अणिच्चमेगं अणेगभेदिदरं भव्वा भव्वं परमं सामण्णं सव्वदव्वाणं।५९। चेदणमचेदणं पि हु मुत्तममुत्तं च एगबहुदेसं। सुद्धासुद्धविभावं उवयरियं होइ कस्सेव।६०।–अस्तित्व, नास्तित्व, नित्य, अनित्य, एक, अनेक, भेद, अभेद, भव्य, अभव्य और परम। ये ११ सब द्रव्योंके सामान्य स्वभाव हैं।५९। चेतन, अचेतन, मूर्त, अमूर्त, एकप्रदेशी, बहुप्रदेशी, शुद्ध, अशुद्ध, विभाव और उपचरित ये १० स्वभाव द्रव्योंके विशेष स्वभाव हैं। [इस प्रकार कुल २१ सामान्य व विशेष स्वभाव हैं। (न. च. वृ./७०)]; (आ. प./४), (न. च. श्रुत/६१)

का. अ./३१२ पं. जयचन्द-वे धर्म (स्वभाव) अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, अपेक्षात्व, अनपेक्षात्व, दैवसाध्यत्व, पौरुषसाध्यत्व, हेतुसाध्यत्व, आगम साध्यत्व, अन्तरंगत्व, बहिरंगत्व, इत्यादि तो सामान्य हैं। बहुरि द्रव्यत्व, पर्यायत्व, जीवत्व, अजीवत्व, स्पर्शत्व, रसत्व, गन्धत्व, वर्णत्व, शब्दत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, संसारित्व, सिद्धत्व, अवगाहत्व, गतिहेतुत्व, स्थिति हेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व इत्यादि विशेष धर्म हैं।

४. उपचरित स्वभावके भेद व लक्षण

आ. प./६ स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावः। स द्वेधा-कर्मजस्वाभाविकभेदात्। यथा जीवस्य मूर्तत्वमचैतन्यत्वं, यथा सिद्धानां परज्ञता परदर्शकत्वं च। एवमितरेषां द्रव्याणामुपचारो यथासंभवो ज्ञेयः। –स्वभावका भी अन्यत्र उपचार करनेसे उपचरित स्वभाव होता है। वह उपचरित स्वभाव कर्मज और स्वाभाविकके भेदसे दो प्रकारका है। जैसे जीवका मूर्तत्व और अचेतनत्व कर्मजस्वभाव है। और सिद्धोंका परको देखना, परको जानना स्वाभाविक स्वभाव है। इस प्रकार दूसरे द्रव्योंका उपचार भी यथासम्भव जानना चाहिए।

दे. पारिणामिक/२ अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायत्व, असर्वगतत्व, अनादिसन्तति बन्धत्व, प्रदेशवत्त्व, अरूपत्व, नित्यत्व आदि भाव च शब्दसे समुच्चय किये गये हैं।

स.सा./आ./परि./४७ शक्तियाँ–जीव द्रव्यमें ४७ शक्तियोंका नाम निर्देश किया गया है, यथा–१. जीवत्व, २. चितिशक्ति, ३. दृशिशक्ति, ४. ज्ञानशक्ति, ५. सुखशक्ति, ६. वीर्यशक्ति, ७. प्रभुत्व, ८. विभुत्व, ९. सर्वदर्शित्व, १०. सर्वज्ञत्व, ११. स्वच्छत्व, १२. प्रकाशशक्ति, १३. असकुचितविकाशत्व, १४ अकार्यकारण, १५. परिणम्यपरिणामकत्व, १६. त्यागोपादानशून्यत्व, १७. अगुरुलघुत्व, १८. उत्पादव्ययध्रौव्यत्व, १९. परिणाम, २० अमूर्तत्व, २१. अकर्तृत्व, २२. अभोक्तृत्व, २३. निष्क्रियत्व, २४. नियतप्रदेशत्व, २५. सर्वधर्मव्यापकत्व, २६. साधारणासाधारणधर्मत्व, २७. अनन्तधर्मत्व, २८. विरुद्धधर्मत्व, २९. तत्त्वशक्ति, ३०. अतत्त्वशक्ति, ३१. एकत्व, ३२. अनेकत्व, ३३ भावशक्ति, ३४. अभावशक्ति, ३५. भावाभावशक्ति, ३६. अभावभावशक्ति, ३७. भावभावशक्ति, ३८. अभावभावशक्ति, ३९. भावशक्ति, ४०. क्रियाशक्ति, ४१. कर्मशक्ति, ४२. कर्तृशक्ति, ४३. करणशक्ति, ४४. सम्प्रदानशक्ति, ४५. अपादानशक्ति, ४६. अधिकरणशक्ति, ४७. सम्बन्धशक्ति।

५. प्रत्येक द्रव्यमें स्वभावोंका निर्देश

न. च. वृ./७० इगवीसं तु सहावा दोण्हं तिण्हं तु सोडसा भणिया। पंचदसा पुण काले दव्वसहावा य णायव्वा।७०। –जीव/पुद्गलके २१ स्वभाव हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यके १६ स्वभाव कहे गये हैं। तथा काल द्रव्यके १५ स्वभाव जानना चाहिए।

स. सा./पं. जयचन्द/आ./क. २ वस्तुमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व इत्यादि तो गुण हैं।...एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं। वे सामान्य रूप तो वचनके गोचर हैं, किन्तु अन्य विशेष रूप धर्म वचनके विषय नहीं हैं। किन्तु वे ज्ञानगम्य हैं। आत्मा भी एक वस्तु है उसमें भी अनन्त धर्म हैं।

स. सा./पं. जयचन्द/४०४ आत्मामें अनन्तधर्म हैं, कितने तो छद्मस्थके अनुभव गोचर ही नहीं हैं, कितने ही धर्म अनुभव गोचर हैं। कितने ही तो अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि तो अन्य द्रव्योंके साथ सामान्य और कितने ही पर द्रव्यके निमित्तसे हुए हैं।

१. वस्तुमें कल्पित व वस्तुभूत धर्मोंका निर्देश

श्लो. वा. २/१/७/६/५२६/२७ कल्पितानां वस्तुभूतानां च धर्माणां वस्तुनि यथाप्रमाणोपपन्नत्वात्। –वस्तुमें प्रमाणोंकी उत्पत्तिका अतिक्रम नहीं करके कल्पित, अस्ति, नास्ति आदि सप्तभंगीके विषयभूत धर्मोंकी और वस्तुभूत वस्तुत्व, द्रव्यत्व, ज्ञान, सुख, रूप, रस आदि धर्मोंकी सिद्धि हो रही है।

२. स्वभाव व शक्ति निर्देश

१. स्वभाव परकी अपेक्षा नहीं रखता

स्या. वि./टी./१/१३६/४८८ पर प्रमाण वार्तिकसे उद्धृत–अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः। –दूसरे पदार्थकी अपेक्षा न होनेसे वह स्वभाव कहा गया है।

स. सा./आ./११६ न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।...न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते। –(वस्तुमें) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखतीं।

प्र. सा./त. प्र./९६,९६,९८ स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वात् ।९६। स्वभावः तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततया हेतुकयैकरूपया ··· ।९६। सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात् स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते।९८। –स्वभाव-परमे अनपेक्ष है ॥९६॥ स्वभाव अन्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण अनादि अनन्त होनेसे तथा अहेतुक, एकरूप वृत्तिसे··· ।९६। वास्तवमें सर्व द्रव्य स्वभावसिद्ध है। स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनतासे है, क्योंकि अनादिनिधन साधनान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता ।९८।

२. स्वभावमें तर्क नहीं चलता

ध. ९/४,१,२२/१९६/२ न हि स्वभावा परपर्यनुयोगार्हाः। –स्वभाव दूसरोंके प्रश्नोंके योग्य नहीं हुआ करते हैं। (ध. ६/४,१,४४/१२१/२), (और भी दे. आगम/६/३)।

ध. ५/१,६,७८/५६/७ ण च सहावे जुत्तिवादस्स पवेसो अत्थि। –स्वभावमें युक्तिवादका प्रवेश नहीं है।

गो. जी./जी. प्र./१८४/४१६/२० स्वभावोऽतर्कगोचरः इति समस्तवादिसंमतत्वात्। –स्वभावमें तर्क नहीं चलता, ऐसा समस्तवादी मानते हैं (श्लो. वा. २/भाषा/१/६/३८/३६३/१२); (पं. ध./उ./५३,४८८)।

३. शक्ति व व्यक्तिकी परोक्षता प्रत्यक्षता

स्या. वि./वृ./२/१८/२७ पर उद्धृत–शक्तिः कार्यानुमेया हि व्यक्तिदर्शनहेतुका। –शक्तिका कार्यपरसे अनुमान किया जाता है और व्यक्तिका प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

४. स्वभाव या धर्म अपेक्षा कृत होते हैं

स्या. म./२४/२८९/२१ नन्वेते धर्माः परस्परं विरुद्धाः तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः संभवति।···उपाध्योऽवच्छेदका अंशप्रकाराः तेषां भेदो नानात्वम्, तेनोपहितमर्पितम्। असत्त्वस्य विशेषणमेतत्। उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न विरुद्धम्। –प्रश्न–अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव ये किसी वस्तुमें एक साथ नहीं रह सकते। उत्तर–वास्तवमें अस्तित्वादिमें विरोध नहीं है। क्योंकि अस्तित्वादि किसी अपेक्षासे स्वीकार किये गये हैं। पदार्थोंमें अस्तित्व, नास्तित्वादि नानाधर्म विद्यमान हैं। जिस समय हम पदार्थोंका अस्तित्व सिद्ध करते हैं, उस समय अस्तित्व धर्मकी प्रधानता और अन्य धर्मकी गौणता रहती है। अतएव अस्तित्व, नास्तित्व धर्ममें परस्पर विरोध नहीं है।

दे. स्वभाव/१/६ सप्तभंगीके विषयभूत अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्म वस्तुमें कल्पित हैं।

५. गुणको स्वभाव कह सकते हैं पर स्वभावको गुण नहीं

आ. प./६ धर्मापेक्षया स्वभावा गुणा न भवन्ति। स्वद्रव्यचतुष्टयापेक्षया परस्परं गुणाः स्वभावा भवन्ति। –धर्मोंकी अपेक्षा स्वभाव गुण नहीं होते हैं। परन्तु स्व द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा परस्पर गुण स्वभाव होते हैं।

६. धर्मोंकी सापेक्षताको न माने सो अज्ञानी

न. च. वृ./७४ इति पुव्वुत्ता धम्मा सियसावेक्खा ण गेहए जो हु। सो इह मिच्छाइट्ठी णायव्वो पवयणे भणिओ।७४। –जो पूर्वमें कहे हुए धर्मोंको कथंचित् परस्परमें सापेक्ष ग्रहण नहीं करता है वह मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए। ऐसा वचनमें कहा है ।७४।

स्वभाव नय—दे. नय/I/५/४।

स्वभाववाद—गो. क./मू./८८३ को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं। विविहत्तं तु सहाओ इदि सव्वंपि य सहाओत्ति ।८८३। –काँटेको आदि लेकर जो तीक्ष्ण वस्तु हैं उनके तीक्ष्णपना कौन करता है। तथा मृग और पक्षी आदिकोंके अनेकपना कौन करता है। इस प्रश्नका उत्तर मिलता है कि सबमें स्वभाव ही है। ऐसे सबको कारणके बिना स्वभावसे ही मानना (मिथ्या) स्वभाववादका अर्थ है।

नि. सा./ता. वृ./१७० ज्ञानं तावज्जीवस्वरूपं भवति, ततो हेतोरखण्डाद्वैतस्वभावनिरतं निरतिशयपरमभावनासनाथं मुक्तिसुन्दरीनाथं बहिर्व्यावृतकौतूहलं निजपरमात्मानं जानाति कश्चिदात्मा भव्यजीव इति अयं खलु स्वभाववादः। –ज्ञान वास्तवमें जीवका स्वरूप है, उस हेतुसे जो अखण्ड अद्वैत स्वभावमें लीन है, जो निरतिशय परम भावना सहित है, जो मुक्ति सुन्दरीका नाथ है और बाह्यमें जिसने कौतूहल व्यावृत किया है ऐसे निज परमात्माको कोई आत्मा-भव्य जीव जानता है। ऐसा वास्तवमें (निश्चय) स्वभाववाद है।

स्वभावविरुद्धानुपलब्धिहेतु—दे. हेतु।

स्वभावानित्य पर्यायार्थिक नय—दे. नय/IV/४।

स्वमुखोदय—दे. उदय/१।

स्वयंप्रभ—१. भाविकालीन चौथे तीर्थंकर–दे. तीर्थंकर/५। २. म. पु./सर्ग/श्लोक ऐशान स्वर्गका एक देव था। (६/१८६) यह श्रेयांस राजाका पूर्वका छठा भव है।–दे. श्रेयांस। ३. सुमेरु पर्वतका अपर नाम–दे. सुमेरु। ४. रुचक पर्वतस्थ एक कूट–दे. लोक/५/१३।

स्वयंप्रभा—म. पु./सर्ग/श्लोक स्वर्गमें ललितांगदेव (ऋषभदेवके नवमें भव) की अति प्रिय देवी थी (५/२८६)। यह ललितांगदेवके स्वर्गसे च्युत होनेपर अति दुखी हुई (६/५०)। अन्तमें पंचपरमेष्ठीके स्मरण पूर्वक स्वर्गसे च्युत हुई (६/५६-५७)। यह श्रेयांस राजाका पूर्वका पाँचवाँ भव है–दे. श्रेयांस।

स्वयंबुद्ध—१. इस सम्बन्धी विषय–दे. बुद्ध। २. म. पु./सर्ग/श्लोक यह राजा महाबल (ऋषभदेवका पूर्वका नवमा भव) का मन्त्री था (४/१९१) इसने तीन मिथ्यादृष्टि मन्त्रियों द्वारा मिथ्यावादोंकी स्थापना करनेपर उनका खण्डनकर आस्तिक्यभावकी स्थापना की (५/८६)। एक समय मेरुकी वन्दनार्थ गया (५/१९९)

वहाँ मुनियोंसे राजाकी दसवें भवमें मुक्ति जानकर हर्षित हुआ (५/१९८-२०८)। आयुका अन्त जानकर राजाका समाधि पूर्वक मरण कराया। (५/२२५) अन्तमें राजाके वियोगसे दीक्षा ग्रहण कर ली। तथा समाधिपूर्वक स्वर्गमें रत्नचूल देव हुआ (६/१०६)।

स्वयंभू—१. म. पु./५९/ श्लोक पूर्व भव सं २ में पश्चिम विदेहमें मित्रनन्दी राजा था (६३) पूर्व भवमें अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र था (७०)। वर्तमान भवमें तृतीय नारायण हुए हैं। विशेष परिचय—दे. शलाकापुरुष/४। २. भाविकालीन उन्नीसवें तीर्थंकर हैं। —दे. तीर्थंकर/५। ३. योगदर्शनके आद्य प्रवर्तक हिरण्यगर्भका अपर नाम—दे योगदर्शन। ४. अपभ्रंशके प्रथम कवि हैं। इनके पिताका नाम मारुत देव, और माताका नाम पद्मिनी था। आपका निवास स्थान कर्णाटक अथवा कन्नौज। सेठ धनञ्जय अथवा धवलइया द्वारा रक्षित। कृतियें—पउम चरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ, स्वयम्भूछन्द, स्वयम्भू व्याकरण, पंचमि चरिउ, हरिवंश पुराण। समय—ई. ७३८-८४०। (ती./४/९५)।

स्वयंभू—१. स्वयंभूका लक्षण

निक्षेप/५/८/६ आचार्योंकी अपेक्षा न करके संयमसे उत्पन्न हुए श्रुत ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे स्वयंबुद्ध होते हैं।

पं. का./ता. वृ./१५२/२२०/१२ तथा चोक्तम्—श्रीपूज्यपादस्वामिभिर्निश्चयध्येयव्याख्यानम्। आत्मानमात्मा आत्मन्येवात्मनासौ क्षणमुपजनयन्सन् स्वयंभूः प्रवृत्तः। —श्रीपूज्यपाद स्वामीने भी निश्चय ध्येयका व्याख्यान किया है कि—आत्मा आत्माको आत्मामें आत्माके द्वारा उस आत्माको एक क्षण धारण करता हुआ स्वयं हो जाता है।

प्र. सा./त. प्र /१६ स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमानः, उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयंभूरिति निर्दिश्यते। —स्वयं ही षट्कारक रूप होता है, इसलिए वह स्वयंभू कहलाता है। अथवा अनादि कालसे अतिदृढ बँधे हुए द्रव्य तथा भाव घाति कर्मोंको नष्ट करके स्वयमेव आविर्भूत हुआ है, अर्थात् किसीकी सहायताके बिना अपने आप ही स्वयं प्रगट हुआ इसलिए स्वयंभू कहलाता है।

स्या. म./१/६/३ स्वयम्-आत्मनैव, परोपदेशनिरपेक्षतयावगततत्त्वो भवतीति स्वयंभूः—स्वयंसंबुद्धः। —जिसने दूसरेके उपदेशके बिना स्वयं ही तत्त्वोंको जान लिया है, वह स्वयभू कहलाता है।

स्व. स्तो./टी./१ स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुद्ध्य अनुष्ठाय वा अनन्तं भवतीति स्वयभूः।—स्वयं ही बिना किसी दूसरेके उपदेशके मोक्षमार्गको जानकर तथा उसका अनुष्ठान करके आत्मविकासको प्राप्त हुए थे, इसलिए स्वयम्भू थे।

★ **जीवको स्वयम्भू कहनेकी विवक्षा**—दे. जीव/१/३।

स्वयंभू छन्द—कवि स्वयम्भू (ई ७३४-८४०)कृत ८ अध्यायों वाला अपभ्रंश छन्द शास्त्र। (ती./४/१०१)।

स्वयंभूरमण—१. मध्यलोकका अन्तिम सागर व द्वीप—दे. लोक/४/८। २. स्वयम्भूरमण द्वीप व समुद्रका लोकमें अवस्थान व विस्तार—दे. लोक/२/११। ३. इस द्वीप व समुद्रमें काल वर्तन आदि सम्बन्धी विशेषताएँ—दे. काल/४/१५।

स्वयंभूस्तोत्र—आ. समन्तभद्र (ई. श. २) कृत यह ग्रन्थ संस्कृत छन्दोंमें रचा गया है। इसमें २४ तीर्थंकरोंका स्तवन किया है, और वह भी न्यायपूर्वक अनेकान्तकी स्थापना करते हुए। २, ३ के अतिरिक्त सभी तीर्थंकरोंके स्तवनमें ५,५ श्लोक हैं। कुल श्लोक १४३ हैं।

स्वयंशोआतिचार—दे. अतिचार/३।

स्वर—१. स्वरनामकर्म निर्देश

स. सि./८/११/३९१/१२ यन्निमित्तं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत्सुस्वरनाम। तद्विपरीतं दुःस्वरनाम। —जिसके निमित्तसे मनोज्ञ स्वरकी रचना होती है वह सुस्वर नामकर्म है। इससे विपरीत दुःस्वर नामकर्म है। (रा. वा./८/११/२५-२६/५७९/१), (ध ६/१, ९-१,२८/६५/३); (गो क./जी. प्र /३३/३०/६)।

ध. १३/५ ५ १०१/३६६/१ जस्स कम्मस्सुदएण कण्णसुहो सरो होदि तं सुस्सरणामं। जस्स कम्मस्सुदएण खरोट्टाणं व कण्णसुहो सरो ण होदि तं दुस्सरणामं।—जिस कर्मके उदयसे कानोंको प्यारा लगनेवाला स्वर होता है वह सुस्वर नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे गधा एवं ऊँटके समान कर्णोंको प्रिय लगनेवाला स्वर नहीं होता है वह दुःस्वर नामकर्म है।

२. षड्ज आदि स्वर निर्देश

का. अ./टी./१८६/१२३/१ निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेति सप्तैते तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः ।१। कण्ठदेशे स्थितः षड्जः शिरःस्थ ऋषभस्तथा। नासिकायां च गान्धारो हृदये मध्यमो भवेत् ।२। पञ्चमश्च मुखे ज्ञेयस्तालुदेशे तु धैवतः। निषादः सर्वगात्रे च ज्ञेयाः सप्तस्वरा इति ।३। निषादं कुञ्जरो वक्ति ब्रूते गौ ऋषभं तथा। अजा वदति गान्धारं षड्जं ब्रूते भुजङ्गभुक् ।४। ब्रवीति मध्यमं क्रौञ्चो धैवतं च तुरंगमः। पुष्पसंधारणे काले पिकः कूजति पञ्चमम् ।५। —निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पंचम ये सात स्वर तन्त्री रूप कण्ठसे उत्पन्न होते हैं ।१। जो स्वर कण्ठ देशमें स्थित होता है, उसे षड्ज कहते हैं। जो स्वर शिरोदेशमें स्थित होता है उसे ऋषभ कहते हैं। जो स्वर नासिका देशमें स्थित होता है उसे गान्धार कहते हैं। जो स्वर हृदय देशमें स्थित होता है उसे मध्यम कहते है ।२। मुख देशमें स्थित स्वरको पंचम कहते हैं। तालु देशमें स्थित स्वरको धैवत कहते हैं और सर्व शरीरमें स्थित स्वरको निषाद कहते हैं। इस तरह ये सात स्वर जानने चाहिए ।३। हाथीका स्वर निषाद है। गौका स्वर वृषभ है। बकरीका स्वर गान्धार है और गरुड़का स्वर षड्ज है। क्रौंच पक्षीका शब्द मध्यम है। अश्वका स्वर धैवत है और बसन्त ऋतुमें कोयल पंचम स्वरसे कूजती हैं।

★ **अन्य सम्बन्धित विषय**

१. स्वरोंकी अपेक्षा अक्षरके भेद-प्रभेद। —दे. अक्षर।

२. सुस्वर दुःस्वर नामकर्मकी प्रकृतियोंकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी नियम व शंका-समाधानादि। —दे. वह वह नाम।

३. विकलेन्द्रियमें दुःस्वर ही होता है तथा तत्सम्बन्धी शंका-समाधान। —दे. उदय/५/४।

स्वर निमित्त ज्ञान—दे. निमित्त/२।

स्वरूप—भूत जातिके व्यन्तर देवोंका इन्द्र। दे. भूत, व्यन्तर/२/१।

स्वरूप यक्ष—यक्ष जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे. यक्ष।

स्वरूप विपर्यय—दे. विपर्यय।

स्वरूप संबोधन—१. आ अकलंक भट्ट (ई. ६२०-६८०) कृत २५ श्लोक प्रमाण आध्यात्मिक ग्रन्थ, जिस पर नयसेन के शिष्य महासेन (वि. श ७-८)। (जै /२/१८८)। २. शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) कृत। (दे. शुभचन्द्र)।

स्वरूपाचरण चारित्र—असंयतादि गुणस्थानोंमें सम्यक्त्वके कारण परिणामोंमें जो निर्मलता या आंशिक साम्यता जागृत होती है, उसीको आगममें स्वरूपाचरण या सम्यक्त्व चारित्र कहते हैं। मोक्षमार्गमें इसका प्रधान स्थान है। व्रतादि रूप चारित्रमें इसके साथ वर्तते हुए ही सार्थक है अन्यथा नहीं।

१. स्वरूपाचरण चारित्र निर्देश

चा पा./मू./८ तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय। जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं। —निःशंकित आदि गुणोंसे विशुद्ध अरहन्त जिनदेवकी श्रद्धा होकर, यथार्थ ज्ञान सहित आचरण करे सो प्रथम स्वरूपाचरण चारित्र है। सो यह मोक्षमार्गमें कारण है।८।

पं. ध./उ./७६४ कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्। धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्सैष चारित्रसंज्ञकः।७६४। —जो कर्मोंकी आस्रव रूप क्रियाका रोधक है वही स्वरूपाचरण है, वही चारित्र नामधारी है, शुद्धोपयोग है, वही धर्म है। (ला. स./४/२६३)।

२. चारित्रका उदय स्वरूपाचरणमें बाधक नहीं

पं. ध./उ./६९०-६९२ कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः। नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत्।६९०। यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः। इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः।६९१। कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि। नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः।६९२। —न्यायसे तो चारित्रसे आत्माको च्युत करना ही चारित्र मोहका कार्य है किन्तु इतरकी दृष्टिके समान शुद्धात्मानुभवसे च्युत करना चारित्र मोहका कार्य नहीं।६९०। जैसे प्रत्यक्षमें दैवयोगसे किसीकी आँखमें पीडा होनेपर भी किसी दूसरेकी आँख प्रसन्न भी रह सकती है। वैसे ही चारित्रमोहसे चारित्रगुणमें विकार होनेपर भी शुद्धात्मानुभवकी क्षति नहीं।६९१। निश्चयसे जितना कषायोंका अभाव है उतना ही चारित्र है और जो कषायोंका उदय है वही चारित्रसे च्युत होता है।६९२।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. अल्प भूमिकामें भी कथंचित् शुद्धोपयोग रूप स्वरूपाचरण चारित्र अवश्य होता है। —दे. अनुभव/५।
२. निन्दन गर्हण ही अविरत सम्यग्दृष्टिके स्वरूपाचरण चारित्रका चिह्न है। —दे. सम्यग्दृष्टि/५।
३. स्वरूपाचरणचारित्र ही मोक्षका प्रधान कारण है। —दे. चारित्र/२/२।
४. लौकिक कार्य करते भी सम्यग्दृष्टिको ज्ञान चेतना रहती है। —दे. सम्यग्दृष्टि/२।

स्वरूपाभाव—दे. अभाव।

स्वरूपासिद्ध—दे. असिद्ध।

स्वरूपास्तित्व—दे. अस्तित्व।

स्वर्ग—देवोंके चार भेदोंमें एक वैमानिक देव नामका भेद है। ये लोग ऊर्ध्वलोकके स्वर्ग विमानोंमें रहते हैं तथा बड़ी विभूति व ऋद्धि आदिको धारण करनेवाले होते हैं। स्वर्गके दो विभाग हैं—कल्प व कल्पातीत। इन्द्र सामानिक आदि रूप कल्पना भेद युक्त देव जहाँ तक रहते हैं उसे कल्प कहते हैं। वे १६ हैं। इनमें रहनेवाले देव कल्पवासी कहलाते हैं। इसके ऊपर इन सब कल्पनाओंसे अतीत, समान ऐश्वर्य आदि प्राप्त अहमिन्द्र संज्ञावाले देव रहते हैं। वह कल्पातीत है। उनके रहनेका सब स्थान स्वर्ग कहलाता है। इसमें इन्द्रक व श्रेणीबद्ध आदि विमानोंकी रचना है। इनके अतिरिक्त भी उनके पास घूमने फिरनेको विमान है, इसीलिए वैमानिक संज्ञा भी प्राप्त है। बहुत अधिक पुण्यशाली जीव यहाँ जन्म लेते हैं, और सागरोंकी आयु पर्यन्त दुर्लभ भोग भोगते हैं।

५	स्वर्गलोकका निर्देश
१	स्वर्गलोक सामान्य निर्देश।
२	कल्प व कल्पातीत विभाग निर्देश।
३	स्वर्गोंमें स्थित पटलोंके नाम व उनमें स्थित इन्द्रक व श्रेणीबद्ध।
४	श्रेणीबद्धोंके नाम।
५	स्वर्गोंमें विमानोंकी संख्या।
	१. बारह इन्द्रोंकी अपेक्षा।
	२. चौदह इन्द्रोंकी अपेक्षा।
६	विमानोंके वर्ण व उनका अवस्थान।
७	दक्षिण व उत्तर कल्पोंमें विमानोंका विभाग।
८	दक्षिण व उत्तर इन्द्रोंका निश्चित निवास स्थान।
९	इन्द्रोंके निवासभूत विमानोंका परिचय।
१०	कल्पविमानों व इन्द्र भवनोंके विस्तारादि।
११	इन्द्र नगरोंका विस्तार आदि।
*	ब्रह्म स्वर्गका लौकान्तिक लोक। —(दे. लौकान्तिक)।

१. वैमानिक देवोंके भेद व लक्षण

१. वैमानिकका लक्षण

स. सि/४/१६/२४८/४ विमानेषु भवा वैमानिकाः। —जो विमानोंमें होते हैं वे वैमानिक हैं। (रा. वा./४/१६/१/२२२/२१)।

२. कल्पका लक्षण

स सि./४/३/२३८/६ इन्द्रादय' प्रकारा दश एतेषु कल्पयन्त इति कल्पाः। भवनवासिषु तत्कल्पनासंभवेऽपि रूढिवशाद्वैमानिकेष्वेव वर्तते कल्पशब्दः। —जिनमें इन्द्र आदि दस प्रकार कल्पे जाते हैं वे कल्प कहलाते हैं। इस प्रकार इन्द्रादिकी कल्पना ही कल्प संज्ञाका कारण है। यद्यपि इन्द्रादिकी कल्पना भवनवासियोंमें भी सम्भव है, फिर भी रूढिसे कल्प शब्दका व्यवहार वैमानिकोंमें ही किया जाता है। (रा. वा./४/३/३२१२/८)।

३. कल्प व कल्पातीत रूप भेद व लक्षण

त सू/ ४/१७ कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च।१७। —वे दो प्रकारके हैं— कल्पोपपन्न और कल्पातीत। (विशेष दे. स्वर्ग/५)।

स. सि/४/१७/२४८/६ कल्पेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः कल्पानतीता' कल्पातीताश्च। —जो कल्पोंमें उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं और जो कल्पोंके परे हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं। (रा. वा/४/१७/—/२२३/२)।

४. कल्पातीत देव सभी अहमिन्द्र हैं

रा. वा/४/१७/१/२२३/४ स्यान्मतम् नवग्रैवेयका नवानुदिशाः पञ्चानुत्तराः इति च कल्पनासंभवात् तेषामपि च कल्पत्वप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्। उक्तत्वात्। उक्तमेतत्-इन्द्रादिदशतयकल्पनासद्भावात् कल्पा इति। नवग्रैवेयकादिषु इन्द्रादिकल्पना नास्ति तेषामहमिन्द्रत्वात्। —प्रश्न—नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंच अनुत्तर इस प्रकार संख्याकृत कल्पना होनेसे उनमें कल्पत्वका प्रसंग आता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पहिले ही कहा जा चुका है कि इन्द्रादि दश प्रकारकी कल्पनाके सद्भावसे ही कल्प कहलाते हैं। नव ग्रैवेयकादिकमें इन्द्रादिकी कल्पना नहीं है, क्योंकि, वे अहमिन्द्र हैं।

२. वैमानिक देव सामान्य निर्देश

१. वैमानिक देवोंमें मोक्षकी योग्यता सम्बन्धी नियम

त. सू/४/२६ विजयादिषु द्विचरमाः।२६। —विजयादिकमें अर्थात् विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामके अनुत्तर विमानवासी देव द्विचरम देही होते हैं। [अर्थात् एक मनुष्य व एक देव ऐसे दो भव बीचमें लेकर तीसरे भव मोक्ष जायेंगे (दे. चरम)]।

स. सि/४/२६/२५७/१ सर्वार्थसिद्धिप्रसंग इति चेत्। न; तेषां परमोत्कृष्टत्वात्, अन्वर्थसंज्ञात एकचरमत्वसिद्धेः। —प्रश्न—इस (उपरोक्त सूत्रसे) सर्वार्थसिद्धिका भी ग्रहण प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वे परम उत्कृष्ट हैं; उनका सर्वार्थसिद्धि यह सार्थक नाम है, इसलिए वे एक भवावतारी होते हैं। अर्थात् अगले भवसे मोक्ष जायेंगे। (रा. वा./४/२६/१/२४४/१८)।

दे. लौकान्तिक—[सब लौकान्तिक देव एक भवावतारी हैं।]

ति. प/८/६७५-६७६ कप्पादीदा दुचरमदेहा हवंति केई सुरा। सक्को सहग्गमहिसी सलोयवालो य दक्खिणा इंदा।६७५। सव्वट्ठसिद्धिवासी लोयंतियणामधेयसव्वसुरा। णियमा दुचरिमदेहा सेसेसु णत्थि णियमो य।६७६। —कल्पवासी और कल्पातीतोंमेंसे कोई देव द्विचरमशरीरी अर्थात् आगामी भवमें मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं। अग्रमहिषी और लोकपालोंसे सहित सौधर्म इन्द्र, सभी दक्षिणेन्द्र, सर्वार्थसिद्धिवासी तथा लौकान्तिक नामक सब देव नियमसे द्विचरम शरीरी हैं। शेष देवोंमें नियम नहीं है।६७५-६७६।

३. वैमानिक इन्द्रोंका निर्देश

१. वैमानिक इन्द्रोंके नाम व संख्या आदिका निर्देश

स. सि./४/१९/२५०/३ प्रथमौ सौधर्मैशानकल्पौ, तयोरुपरि सनत्कुमारमाहेन्द्रौ, तयोरुपरि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरौ, तयोरुपरि लान्तवकापिष्ठौ, तयोरुपरि शुक्रमहाशुक्रौ, तयोरुपरि शतारसहस्रारौ, तयोरुपरि आनतप्राणतौ, तयोरुपरि आरणाच्युतौ। अध उपरि च प्रत्येकमिन्द्रसंबन्धो वेदितव्य.। मध्ये तु प्रतिद्वयम्। सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्राणां चतुर्णां चत्वार इन्द्रा'। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोरेको ब्रह्मा नाम। लान्तवकापिष्ठयोरेको लान्तवाख्य'। शुक्रमहाशुक्रयोरेक. शुक्रसंज्ञ.। शतारसहस्रारयोरेको शतारनामा। आनतप्राणतारणाच्युतानां चतुर्णां चत्वार.। एवं कल्पवासिनां द्वादश इन्द्रा भवन्ति। —सर्वप्रथम सौधर्म और ऐशान कल्प युगल है। इनके ऊपर क्रमसे—सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, और आरण अच्युत; ऐसे १६ स्वर्गोंके कुल आठ युगल हैं। नीचे और ऊपरके चार-चार कल्पोंमें प्रत्येकमें एक-एक इन्द्र, मध्यके चार युगलोंमें दो-दो कल्पोंके अर्थात् एक-एक युगलके एक-एक इन्द्र हैं। तात्पर्य यह है, कि सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र इन चार कल्पोंके चार इन्द्र हैं। ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर इन दो कल्पोंका एक ब्रह्म नामक इन्द्र है। लान्तव और कापिष्ठ इन दो कल्पोंमें एक लान्तव नामक इन्द्र है। शुक्र और महाशुक्रमें एक शुक्र नामक इन्द्र है। शतार और सहस्रार इन दो कल्पोंमें एक शतार नामक इन्द्र है। तथा आनत, प्राणत, आरण, अच्युत इन चार कल्पोंके चार इन्द्र हैं। इस प्रकार कल्पवासियोंके १२ इन्द्र होते हैं। (रा. वा./४/१९/६-७/२२५/४); (त्रि. सा./४५२-४५४); (और भी दे. स्वर्ग/५/२)

ति. प./८/४५० इदाणं चिण्हाणिं पत्तेकं ताव जा सहस्सारं। आणद-आरणजुगले चोद्दसठाणेसु वोच्छामि।४५०। = सौधर्मसे लेकर सहस्रार पर्यन्तके १२ कल्पोंमें प्रत्येकका एक-एक इन्द्र है। तथा आनत, प्राणत और आरण-अच्युत इन दो युगलोंके एक-एक इन्द्र हैं। इस प्रकार चौदह स्थानोंमें अर्थात् चौदह इन्द्रोंके चिह्नोंको कहते हैं।

रा. वा./४/१९/२३३/२१—त एते लोकानुयोगोपदेशेन चतुर्दशेन्द्रा उक्ताः। इह द्वादशेष्यन्ते पूर्वोक्तेन क्रमेण ब्रह्मोत्तरकापिष्ठमहाशुक्रसहस्रारेन्द्राणां दक्षिणेन्द्रानुवृत्तित्वात् आनतप्राणतकल्पयोश्च एकैकेन्द्रत्वात्। — ये सब १४ इन्द्र (दे. स्वर्ग/५/६ में रा वा.) लोकानुयोगके उपदेशसे कहे गये हैं। परन्तु यहाँ (तत्त्वार्थ सूत्रमें) १२ इन्द्र अपेक्षित हैं। क्योंकि १४ इन्द्रोंमें जिनका पृथक् ग्रहण किया गया है ऐसे ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र और सहस्रार ये चार इन्द्र अपने-अपने दक्षिणेन्द्रोंके अर्थात् ब्रह्म, लान्तव, महाशुक्र और शतारके अनुवर्ती हैं। तथा १४ इन्द्रोंमें युगलरूप ग्रहण करके जिनके केवल दो इन्द्र माने गये हैं ऐसे आनतादि चार कल्पोंके पृथक्-पृथक् चार इन्द्र हैं। [इस प्रकार १४ इन्द्र व १२ इन्द्र इन दोनों मान्यताओंका समन्वय हो जाता है।]

२. वैमानिक इन्द्रोंमें दक्षिण व उत्तर इन्द्रोंका विभाग

दे. स्वर्ग/५/६ में—(ति. प./८/३३६-३५१), (रा वा./४/१९/८/पृष्ठ/-पंक्ति), (ह. पु./६/१०१-१०२), (ति सा./४८३)

क.	१२ इन्द्रोंकी अपेक्षा		१२ इन्द्रोंकी अपेक्षा		१४ इन्द्रोंकी अपेक्षा	
	ति प. व त्रि सा.		ह. पु.		रा. वा.	
	दक्षिण	उत्तर	दक्षिण	उत्तर	दक्षिण	उत्तर
१	सौधर्म	ईशान	सौधर्म	ईशान	सौधर्म	ईशान
२	सनत्कु.	माहेन्द्र	सनत्कु.	माहेन्द्र	सनत्कु.	माहेन्द्र
३	ब्रह्म	×	ब्रह्म	×	ब्रह्म	ब्रह्मोत्तर
४	लान्तव	×	×	लान्तव	लान्तव	कापिष्ठ
५	×	महाशुक्र	महाशुक्र	×	शुक्र	महाशुक्र
६	×	सहस्रार	×	शतार	शतार	सहस्रार
७	आनत	प्राणत	आनत	प्राणत	×	×
८	आरण	अच्युत	आरण	अच्युत	आरण	अच्युत

३. वैमानिक इन्द्रों व देवोंके आहार व श्वासका अन्तराल

मू. आ./११४५ जदि सागरोपमाऊ तदि वाससहस्सियादु आहारो। पक्खेहिं दु उस्सासो सागरसमयेहि चेव भवे।११४५। = जितने सागरकी आयु है उतने ही हजार वर्षके बाद देवोंके आहार है और उतने ही पक्ष बीतनेपर श्वासोच्छ्वास है। ये सब सागरके समगोचर होता है। (त्रि. सा./५४४); (ज. प./११/३५०)

ति. प./८/५५२-५५५—जेत्तियजलणिहि उवमा जो जीवदि तस्स तेत्तिएहिं च। वरिससहस्सेहि हवे आहारो पणुदिणाणि पल्लमिदे।५५२। पडिइंदाणं सामाणियाण तेत्तीससुरवराणं। भोयणकालपमाणं णियणिय-इंदाण सारिच्छं।५५३। इंदप्पहुदिचउक्के देवीणं भोयणम्मि जो समओ। तस्स पमाणपरूवणउवएसो संपहि पणट्ठो।५५४। सोहम्मिदादिगिंदे सोमम्मि जयम्मि भोयणावसरो। सामाणियाण ताणं पत्तेक्कं पंचवीसदलदिवसा।५५५। —जो देव जितने सागरोपम काल तक जीवित रहता है उसके उतने ही हजार वर्षोंमें आहार होता है। पल्य प्रमाण काल तक जीवित रहनेवाले देवके पाँच दिनमें आहार होता है।५५२। प्रतीन्द्र सामानिक और त्रयस्त्रिंश देवोंके आहार-कालका प्रमाण अपने अपने इन्द्रोंके सदृश है।५५३। इन्द्र आदि चारकी देवियोंके भोजनका जो समय है उसके प्रमाणके निरूपणका उपदेश नष्ट हो गया है।५५४। सौधर्म इन्द्रके दिक्पालोंमेंसे सोम व यमके तथा उनके सामानिकोंमेंसे प्रत्येकके भोजनका अवसर १२½ दिन है।५५५।

दे. देव/II/२—(सभी देवोंको अमृतमयी दिव्य आहार होता है।)

४. इन्द्रोंके चिह्न व यान विमान

ति. प./५/८४-९७ का भावार्थ - (नन्दीश्वरद्वीपकी वन्दनार्थ सौधर्मादिक इन्द्र निम्न प्रकारके यानोंपर आरूढ होकर आते हैं। सौधर्मेन्द्र—हाथी, ईशानेन्द्र—वृषभ; सनत्कुमार—सिंह; माहेन्द्र—अश्व; ब्रह्मेन्द्र—हंस; ब्रह्मोत्तर—क्रौंच; शुक्रेन्द्र—चक्रवाक; महाशुक्रेन्द्र—तोता, शतारेन्द्र—कोयल; सहस्रारेन्द्र—गरुड़; आनतेन्द्र—गरुड़, प्राणतेन्द्र—पद्म विमान, आरणेन्द्र—कुमुद विमान; अच्युतेन्द्र—मयूर।)

ति. प./८/४३८-४४० का भावार्थ—[इन्द्रोंके यान विमान निम्न प्रकार हैं—सौधर्म—बालुक, ईशान—पुष्पक; सनत्कुमार—सौमनस; माहेन्द्र—श्रीवृक्ष, ब्रह्म—सर्वतोभद्र; लान्तव—प्रीतिकर; शुक्र—रम्यक; शतार—मनोहर; आनत—लक्ष्मी, प्राणत—मादित्ति (?); आरण—विमल; अच्युत—विमल।

ति. प./८/४४८-४५० का भावार्थ—[१४ इन्द्रवाली मान्यताकी अपेक्षा प्रत्येक इन्द्रके क्रमसे निम्न प्रकार मुकुटोंमें नौ चिह्न हैं जिनसे कि वे पहिचाने जाते हैं—शूकर, हरिणी, महिष, मत्स्य, भेक (मेंढक), सर्प, छागल, वृषभ व कल्पतरु।]

ति. प./८/४५१ का भावार्थ - [दूसरी दृष्टिसे उन्हीं १४ इन्द्रोंमें क्रमसे—शूकर, हरिणी, महिष, मत्स्य, कूर्म, भेक (मेंढक), हय, हाथी, चन्द्र, सर्प, गवय, छगल, वृषभ और कल्पतरु ये १५ चिह्न मुकुटोंमें होते हैं।] (त्रि. सा./४८६-४८७)

५. इन्द्रों व देवोंकी शक्ति व विक्रिया

ति. प./८/६९७-६९९ एकपलिदोवमाऊ उप्पाडेदुं धराए छक्खंडे। तग्गदणरतिरियजणे मारेदुं पोसेदुं सक्को।६९७। उवहिउवमाणजीवी पल्लट्टेदुं च जंबुदीवं हि। तग्गदणरतिरियाणं मारेदुं पोसिदुं सक्को।६९८। सोहम्मिदो णियमा जंबूदीवं समुक्खिवदि एवं। केई आइरिया इय सत्तिसहावं परूवंति।६९९। —एक पल्योपम प्रमाण आयुवाला देव पृथिवीके छह खण्डोंको उखाड़नेके लिए और उनमें स्थित मनुष्यों व तिर्यंचोंको मारने अथवा पोषनेके लिए समर्थ हैं।६९७। सागरोपम प्रमाण काल तक जीवित रहनेवाला देव जम्बूद्वीपको भी पलटनेके लिए और उसमें स्थित तिर्यंचों व मनुष्योंको मारने अथवा पोषने लिए समर्थ है।६९८। सौधर्म इन्द्र नियमसे जम्बूद्वीपको फेंक सकता है, इस प्रकार कोई आचार्य शक्ति स्वभावका निरूपण करते हैं।६९९।

त्रि. सा./५२७ दुसु दुसु तिचक्केसु य णवचोद्दसगे विगुव्वणा सत्ती। पढमखिदीदो सत्तमखिदिपेरंतो त्ति अवही य।५२७। —दो स्वर्गोंमें दूसरी नरक पृथिवी पर्यन्त चार स्वर्गोंमें तीसरी पर्यन्त, चार स्वर्गोंमें, चौथी पर्यन्त, चार स्वर्गोंमें पाँचवीं पर्यन्त, नवग्रैवेयकोंमें छठीं पर्यन्त और अनुदिश अनुत्तर विमानोंमें सातवीं पर्यन्त, इस प्रकार देवोंमें क्रमसे विक्रिया शक्ति व अवधि ज्ञानसे जाननेकी शक्ति है (विशेष—दे. अवधिज्ञान/९)।

६. वैमानिक इन्द्रोंका परिवार

१. सामानिक आदि देवोंकी अपेक्षा

(ति. प./८/२१८-२४६), (रा. वा./४/१९/८/२२५-२३५), (त्रि. सा./४९४,४९५,४९८), (ज. पं./११/२३९-२४२, २७०-२७८) ।

इन्द्रोंके नाम	प्रतीन्द्र	सामानिक	त्रायस्त्रिंश	पारिषद्ध			आत्मरक्ष	लोकपाल	सप्त अनीक*	
				अभ्यन्तर समिति	मध्य समिति	बाह्य समिति			प्रत्येक अनीक	कुल अनीक
									सहस्र	सहस्र
सौधर्म	१	८४०००	३३	१२०००	१४ ०००	१६ ०००	३३६ ०००	४	१०६६८	७४६७६
ईशान	१	८००००	३३	१००००	१२०००	१४ ०००	३२ ०००	४	१०१६०	७११२०
सनत्कु.	१	७२०००	३३	८ ०००	१००००	१२ ०००	२८८ ०००	४	९१४४	६४००८
माहेन्द्र	१	७००००	३३	६ ०००	८ ०००	१००००	२८० ०००	४	८८९०	६२२३०
ब्रह्म	१	६००००	३३	४ ०००	६ ०००	८ ०००	२४००००	४	७६२०	५३३४०
लान्तव	१	५००००	३३	२ ०००	४ ०००	६०००	२०००००	४	६३५०	४४४५०
महाशुक्र	१	४००००	३३	१०००	२ ०००	४०००	१६००००	४	५०८०	३५५६०
सहस्रार	१	३००००	३३	५००	१०००	२ ०००	१२००००	४	३८१०	२६६७०
आनत	१	२००००	३३	२५०	५००	१ ०००	८० ०००	४	२५४०	१७७८०
प्राणत	१	२०,०००	३३	२५०	५००	१०००	८० ०००	४	,,	,,
आरण	१	२००००	३३	१२५	५००	१०००	८००००	४	,,	,,
अच्युत	१	२०,०००	३३	१२५	५००	१०००	८००००	४	,,	,,

* नोट—[वृषभ तुरंग आदि सात अनीक सेना है। प्रत्येक सेनामें सात-सात कक्षा हैं। प्रथम कक्षा अपने सामानिक प्रमाण है। द्वितीयादि कक्षाएँ उत्तरोत्तर दूनी-दूनी है। अत: एक अनीकका प्रमाण = सामानिकका प्रमाण × १२७। कुल सातों अनीकोंका प्रमाण = एक अनीक×७— (दे. अनीक); (ति. प./८/२३५-२३७)]

२. देवियोंकी अपेक्षा

(ति. प./८/३०६-३१५ + ३७६-३८५); (रा. वा./४/१९/८/२२५-२३५); त्रि. सा./५०९-५१३)।

क्र.	इन्द्रका नाम	ज्येष्ठ देवियाँ	प्रत्येक ज्येष्ठ देवीकी परिवार देवियाँ	वल्लभिका	अग्र देवियाँ	प्रत्येक देवीके वैक्रियक रूप
१	सौधर्म	८	१६०००	३२०००	१६०,०००	१६०००
२	ईशान	८	१६०००	३२०००	१६०,०००	१६०००
३	सनत्कु.	८	८०००	८०००	७२,०००	३२०००
४	माहेन्द्र	८	८०००	८०००	७२,०००	३२०००
५	ब्रह्म	८	४०००	२०००	३४,०००	६४०००
६	लान्तव	८	२०००	५००	१६५००	१२८०००
७	महाशुक्र	८	१०००	२५०	८२५०	२५६०००
८	सहस्रार	८	५००	१२५	४१२५	५१२०००
९	आनत	८	२५०	६३	२०६३	१०२४०००
१०	प्राणत	८	,,	,,	,,	,,
११	आरण	८	,,	,,	,,	,,
१२	अच्युत	८	,,	,,	,,	,,

७. वैमानिक इन्द्रोंके परिवार देवोंकी देवियाँ

(ति. प./८/३१६-३३०); (रा. वा./४/१६/८/२२५-२३५)।

परिवार देव	देवीका पद	कल्प इन्द्रोंके नाम						
		सौधर्म ईशान	सनत्कुमार माहेन्द्र	ब्रह्म ब्रह्मोत्तर	लान्तव कापिष्ठ	शुक्र महाशुक्र	शतार सहस्रार	आनत-प्राणत आरण-अच्युत
प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश	अग्र देवी	—	→	अपने इन्द्रोंके समान		←	—	
	परिवारदेवी	४०००	२०००	१०००	५००	२५०	१२५	६३,६२
प्रत्येक-लोकपाल	अग्र देवी	—	→३५०,००,०००		←	—	—	—
अभ्यन्तर पारिषद्	अग्र "	५००	४००	३००	२००	१००	५०	२५
मध्य ,,	अग्र "	६००	५००	४००	३००	२००	१००	५०
बाह्य ,,	अग्र "	७००	६००	५००	४००	३००	२००	१००
अनीक मह	अग्र "	६००	६००	६००	६००	६००	६००	६००
अनीक-	अग्र "	२००	२००	२००	२००	२००	२००	२००
आत्मरक्ष	ज्येष्ठ "	१	१	१	१	१	१	१
,,	वल्लभा ,,	१	१	१	१	१	१	१
प्रकीर्णक आदि	—	←		उपदेशनष्ट	→		—	—

८. वैमानिक इन्द्रोंके परिवार, देवोंका परिवार व विमान आदि

ति. प./८/२८६-३०४ का भावार्थ–प्रतीन्द्र, सामानिक व त्रायस्त्रिंशमें प्रत्येकके १० प्रकारके परिवार अपने-अपने इन्द्रोंके समान हैं।२८६। सौधर्मादि १२ इन्द्रोंके लोकपालोंमें प्रत्येक सामन्त क्रमसे ४०००, ४०००,१०००,१०००, ५००,४००, ३००, २००,१००, १००,१००,१०० है।२८७-२८८। समस्त दक्षिणेन्द्रोंमें प्रत्येकके सोम व यम लोकपालके अभ्यन्तर आदि तीनों पारिषदके देव क्रमसे ५०,४०० व ५०० हैं।२८६। वरुणके ६०,५००,६०० हैं तथा कुबेरके ७०, ६००,७०० हैं।२६०। उत्तरेन्द्रोंमें इससे विपरीत क्रम करना चाहिए।२६०। सोम आदि लोकपालोंकी सात सेनाओंमें प्रत्येककी प्रथम कक्षा २८००० और द्वितीय आदि ६ कक्षाओंमें उत्तरोत्तर दुगुनी है। इस प्रकार वृषभादि सेनाओंमें से प्रत्येक सेनाका कुल प्रमाण २८०००×१२७=३५५६००० है।२६४। और सातों सेनाओंका कुल प्रमाण ३५५६०००×७=२४८६२००० है।२६५।सौधर्म सनत्कुमार व ब्रह्म इन्द्रोंके चार-चार लोकपालोंमें से प्रत्येकके विमानोंकी संख्या ६६६६६६ है। शेषकी संख्या उपलब्ध नहीं है।२६७,२६६,३०२। सौधर्मके सोमादि चारों लोकपालोंके प्रधान विमानोंके नाम क्रमसे स्वयंप्रभ, अरिष्ट, चलप्रभ और वल्गुप्रभ हैं।२६८। शेष दक्षिणेन्द्रोंमें सोमादि उन लोकपालोंके प्रधान विमानोंके नाम क्रमसे स्वयंप्रभ, वरज्येष्ठ, अंजन और वल्गु है।३००। उत्तरेन्द्रोंके लोकपालोंके प्रधान विमानोंके नाम क्रमसे सोम (सम), सर्वतोभद्र, सुभद्र और अमित हैं।३०१। दक्षिणेन्द्रोंके सोम और यम समान ऋद्धिवाले हैं; उनसे अधिक वरुण और उससे भी अधिक कुबेर है।३०३। उत्तरेन्द्रोंके सोम और यम समान ऋद्धिवाले हैं। उनसे अधिक कुबेर और उससे अधिक वरुण होता है।३०४।

४. वैमानिक देवियोंका निर्देश

१. वैमानिक इन्द्रोंकी प्रधान देवियोंके नाम

ति प./८/३०६-३०७,३१६-३१८ बलमाणा अच्चिणिया ताओ सव्विद-सरिसणामाओ। एक्केक्कउत्तरिंदे तम्मेत्ता जेट्ठदेवीओ।३०६। किण्हा या मेघराई रामावइरामरक्खिदा वसुका। वसुमित्ता वसुधम्मा वसुंधरा सव्वइंद समणामा।३०७। विणयसिरिकणयमालापउमाणंदासुसीम-जिणदत्ता। एक्केक्कदक्खिणिंदे एक्केक्का पाणवल्लहिया।३१६। एक्केक्क-उत्तरिंदे एक्केक्का होदि हेममाला य। णिलुप्पलविस्सुदया णंदावइल-क्खणाओ जिणदासी।३१७। सयलिंदवल्लभाणं चत्तारि महत्तरीओ पत्तेक्कं कामा कामिणिआओ पंकयगंधा यलंबुणामा य।३१८। –सभी दक्षिणेन्द्रोंकी ८ ज्येष्ठ देवियोंके नाम समान होते हुए क्रमसे पद्मा, शिवा, शची, अंजुका, रोहिणी, नवमी, बला और अर्चिनिका ये हैं और सभी उत्तरेन्द्रोंकी आठ-आठ ज्येष्ठ देवियोंके नाम, मेघराजी, रामापति, रामरक्षिता, वसुका, वसुमित्रा, वसुधर्मा और वसुन्धरा ये हैं।३०६-३०७। छह दक्षिणेन्द्रोंकी प्रधान वल्लभाओंके नाम क्रमसे विनयश्री, कनकमाला, पद्मा, नन्दा, सुसीमा, और जिनदत्ता ये हैं।३१६। छह उत्तरेन्द्रोंकी प्रधान वल्लभाओंके नाम हेममाला, नीलोत्पला, विश्रुता, नन्दा, वैलक्षणा और जिनदासी ये हैं।३१७। इन वल्लभाओंमेंसे प्रत्येकके कामा, कामिनिका, पंकजगन्धा और अलम्बु नामकी चार महत्तरिका होती हैं।३१८।

त्रि. सा./५०६,५१०-५११ ताओ चउरो सग्गे कामा कामिणि य पउमगंधा य। तो होदि अलंबूसा सव्विदपुराणमेस कमो।५०६। सचि पउम सिव सियामा कालिंदीसुलसअज्जुकाणामा भाणुत्ति जेट्ठदेवी सव्वेसि दक्खिणिंदाणं।५१०। सिरिमति रामा सुसीमा पभावदि जयसेण णाम य

सुसेणा । वसुमित्त वसुंधर वरदेवीओ उत्तरिंदाणं ।५११। —सौधर्मादि स्वर्गमें कामा, कामिनी, पद्मगन्धा, अलंबुसा ऐसी नामवाली चार प्रधान गणिका हैं ।५०६। छह दक्षिणेन्द्रोंकी आठ-आठ ज्येष्ठ देवियोंके *नाम क्रमसे शची, पद्मा, शिवा, श्यामा, कालिन्दी, सुलसा, अज्जुका* और भानु ये हैं ।५१०। छहों उत्तरेन्द्रोंकी आठ-आठ ज्येष्ठ देवियोंके नाम क्रमसे श्रीमती, रामा, सुसीमा, प्रभावती, जयसेना, सुषेणा, वसुमित्रा, और वसुन्धरा ये हैं ।५११।

२. देवियोंकी उत्पत्ति व गमनागमन सम्बन्धी नियम

मू० आ./११३१-११३२ आईसाणा कप्पा उववादो होइ देवदेवीणं । तत्तो परं तु *णियमा उववादो होइ देवाण* ।११३१। जावदु आरण-अच्चुद गमणागमणं च होइ देवीणं । तत्तो परं तु णियमा देवीणं णत्थिसे गमणं ।११३२। —[भवनवासीसे लेकर] ईशान स्वर्ग पर्यन्त देव व देवी दोनोंकी उत्पत्ति होती है । इससे आगे नियमसे देव ही उत्पन्न होते हैं, देवियाँ नहीं ।११३१। आरण अच्युत स्वर्ग तक देवियोंका गमनागमन है, इससे आगे नियमसे उनका गमनागमन नहीं है ।११३२। (ति. प /८/५६५) ।

ति. प./८/गा. सोहम्मीसाणेसुं उप्पज्जंते हु सव्वदेवीओ । उवरिमकप्पे ताणं उप्पत्ती णत्थि कइया वि ।३३१। तेसुं उप्पण्णाओ देवीओ भिण्ण-ओहिणाणेहिं । णादूणं णियकप्पे णेंति हु देवा सरागमणा ।३३३। णवरि विसेसो एसो सोहम्मीसाणजाददेवीणं । वच्चंति मूलदेहा णियणियकप्पामराण पासम्मि ।५९६। —सब (कल्पवासिनी) देवियाँ सौधर्म और ईशान कल्पोंमें ही उत्पन्न होती हैं, इससे उपरिम कल्पोंमें उनकी उत्पत्ति नहीं होती ।३३१। उन कल्पोंमें उत्पन्न हुई देवियोंको भिन्न अवधिज्ञानसे जानकर सराग मनवाले देव अपने कल्पोंमें ले जाते हैं ।३३४। विशेष यह है कि सौधर्म और ईशान कल्पमें उत्पन्न हुई देवियोंके मूल शरीर अपने-अपने कल्पोंके देवोंके पास जाते हैं ।५९६।

ह. पु./६/११९-१२१ दक्षिणाशारणान्तानां देव्यः सौधर्ममेव तु । निजागारेषु जायन्ते नीयन्ते च निजास्पदम् ।११९। उत्तराशाच्युतान्तानां देवानां दिव्यमूर्तयः । ऐशानकल्पसंभूता देव्यो यान्ति निजाश्रयम् ।१२०। शुद्धदेवीयुतान्याहुर्विमानानि मुनीश्वराः । षट्लक्षास्तु चतुर्लक्षाः सौधर्मैशानकल्पयोः ।१२१। —आरण स्वर्ग पर्यन्त दक्षिण दिशाके देवोंकी देवियाँ सौधर्म स्वर्गमें ही अपने-अपने उपपाद स्थानोंमें उत्पन्न होती हैं और नियोगी देवोंके द्वारा यथा स्थान ले जायी जाती हैं ।११९। तथा अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्तर दिशाके देवोंकी सुन्दर देवियाँ ऐशान स्वर्गमें उत्पन्न होती हैं, एवं अपने-अपने नियोगी देवोंके स्थानपर जाती हैं ।१२०। सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें शुद्ध देवियोंसे युक्त विमानोंकी संख्या क्रमसे ६००,००० और ४००,००० बतायी हैं । अर्थात् इतने उनके उपपाद स्थान हैं ।१२१। (त्रि. सा./५२४-५२५); (त. सा./२/८१) ।

ध १/१,१,९८/३३८/२ सनत्कुमारादुपरि न स्त्रियः समुत्पद्यन्ते सौधर्मादाविव तदुत्पत्त्यप्रतिपादनात् । तत्र स्त्रीणामभावे कथं तेषां देवानामनुपशान्ततत्संतापानां सुखमिति चेन्न, तत्स्त्रीणां सौधर्मकल्पोपपत्तेः । —प्रश्न—सनत्कुमार स्वर्गसे लेकर ऊपर स्त्रियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं, क्योंकि सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें देवांगनाओंके उत्पन्न होनेका जिस प्रकार कथन किया गया है, उसी प्रकार आगेके स्वर्गोंमें उनकी उत्पत्तिका कथन नहीं किया गया है इसलिए वहाँ स्त्रियोंका अभाव होनेपर, जिनका स्त्री सम्बन्धी सन्ताप शान्त नहीं हुआ है, ऐसे देवोंके उनके बिना सुख कैसे हो सकता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि सनत्कुमार आदि कल्प सम्बन्धी स्त्रियोंकी सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें उत्पत्ति होती है ।

५. स्वर्ग लोक निर्देश

१. स्वर्ग लोक सामान्य निर्देश

ति. प./८/६-१० उत्तरकुरुमणुवाणं एक्केणूणेणं तह य वालेणं । पणवीसुत्तरचउसहकोसयदंडेहि विहीणेणं ।६। इगिसट्ठीअहियणं लक्खेणं जोयणेण ऊणाओ । रज्जूओ सत्त गयणे उड्ढुड्ढं णाकपडलाणि ।७; कणयद्दिचूलिउवरिं उत्तरकुरुमणुवएक्कवालस्स । परिमाणेणंतरिदो चेट्ठेदि हु इंदओ पढमो ।८। लोयसिहरादु हेट्ठा चउसय पणवीस चावमाणाणि । इगिवीस जोयणाणि गंतूणं इंदओ चरिमो ।९। सेसा य एकसट्ठी एदाणं इंदयाण विच्चाले । सव्वे अणादिणिहणा रयणमया इंदया होंति ।१०। —उत्तरकुरुमें स्थित मनुष्योंके एक बाल हीन चार सौ पचीस धनुष और एक लाख इकसठ योजनोंसे रहित सात राजू प्रमाण आकाशमें ऊपर-ऊपर स्वर्ग पटल स्थित हैं ।६-७। मेरुकी चूलिकाके ऊपर उत्तरकुरु क्षेत्रवर्ती मनुष्यके एक बालमात्रके अन्तरसे प्रथम इन्द्रक स्थित है ।८। लोक शिखरके नीचे ४२५ धनुष और २१ योजन मात्र जाकर अन्तिम इन्द्रक स्थित है ।९। शेष इकसठ इन्द्रक इन दोनों इन्द्रकोंके बीचमें हैं । ये सब रत्नमय इन्द्रक विमान अनादिनिधन हैं ।१०। (स. सि./४/१९/२५१/१), (ह. पु./६/३५), (ध. ४/१, ३, १/९/२); (त्रि. सा./४७०) ।

२. कल्प व कल्पातीत विभाग निर्देश

ति. प./८/११५-१२८ कप्पाकप्पातीदं इदि दुविहं होदि ।११४। बारस कप्पा केइ केइ सोलस वदंति आइरिया । तिविहाणि भासिदाणि कप्पातीदाणि पडलाणि ।११५। हेट्ठिम मज्झे उवरिं पत्तेक्कं ताण होंति चत्तारि । एवं बारसकप्पा सोलस उड्ढुड्ढमट्ठ जुगलाणि ।११६। गेवज्जमणुद्दिसयं अणुत्तरं इय हुवंति तिविहप्पा । कप्पातीदा पडला गेवज्ज णवविहं तेसु ।११७। साहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबम्हलंतवया । महसुक्कसहस्सारा आणदपाणदयआरणच्चुदया ।१२०। एव बारस कप्पा कप्पातीदेसु णव य गेवेज्जा ।···।१२१। आइच्चइंदयस्स य पुव्वादिसु··· चत्तारो वरविमाणाइं ।१२३। पइण्णयाणि य चत्तारो तस्स णादव्वा ।१२४। विजयंत···पुव्वावरदक्खिणुत्तरदिसाए ।१२५। सोहम्मो ईसाणो सणक्कुमारो तहेव माहिंदो । बम्हाबम्हुत्तरयं लंतवकापिट्ठसुक्कमहसुक्का ।१२७। सदरसहस्साराणदपाणदआरणयअच्चुदा णामा । इय सोलस कप्पाणि मण्णंते केइ आइरिया ।१२८। —१. स्वर्गमें दो प्रकारके पटल हैं—कल्प और कल्पातीत ।११४। कल्प पटलोंके सम्बन्धमें दृष्टिभेद है । कोई १२ कहता है और कोई सोलह, कल्पातीत पटल तीन हैं ।११५। १२ कल्पकी मान्यताके अनुसार अधो, मध्यम व उपरिम भागमें चार-चार कल्प हैं (दे. स्वर्ग/३/१) और १६ कल्पोंकी मान्यताके अनुसार ऊपर-ऊपर आठ युगलोंमें १६ कल्प हैं ।११६। ग्रैवेयक, अनुदिश व अनुत्तर ये तीन कल्पातीत पटल हैं ।११७। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तव, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत ये बारह कल्प हैं । इनसे ऊपर कल्पातीत विमान हैं । जिनमें नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान हैं ।१२०-१२१। (त. सू./४/१६-१८,२३)+(स्वर्ग/३/१) । २. सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत नामक ये १६ कल्प हैं, ऐसा कोई आचार्य मानते हैं ।१२७-१२८। (त. सू./४/१९), (ह. पु./६/-३६-३७) ।

(दे. अगले पृष्ठ पर चित्र सं. ६)
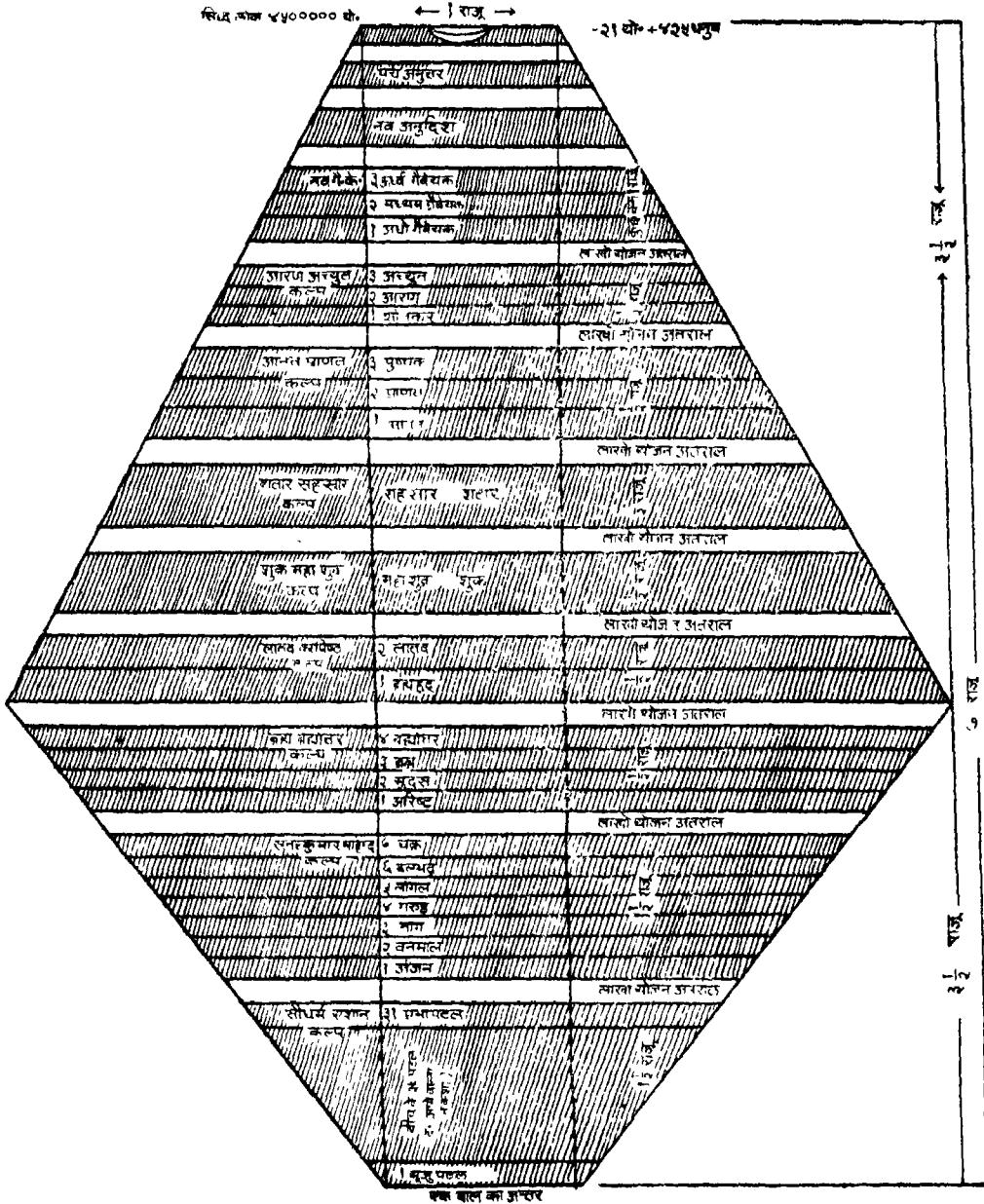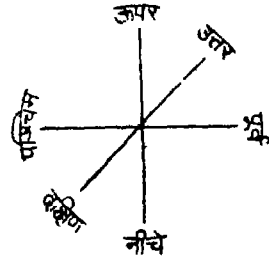
१. स्वर्गोंमें स्थित पटलोंके नाम व उनमें स्थित इन्द्रक व श्रेणीबद्ध

दे. स्वर्ग/५/१ (मेरुकी चूलिकासे लेकर ऊपर लोकके अन्त तक ऊपर-ऊपर ६३ पटल या इन्द्रक स्थित हैं।)

ति. प./८/११ एक्केक्क इंदयस्स य विच्चालमसंखजोयणाण समं। एदाणं णामाणि वोच्छामो आणुपुव्वीए ।११। —एक-एक इन्द्रकका अन्तराल असंख्यात योजन प्रमाण है। अब इनके नामोंको अनुक्रमसे कहते हैं ।११। (दे. आगे कोष्ठक)।

रा. वा./४/१९/८/२२५/१५ तयोरेकत्रिंशद् विमानप्रस्ताराः। —उन सौधर्म व ईशान कल्पोंके ३१ विमान प्रस्तार हैं। (अर्थात् जो इन्द्रक का नाम हो वही पटलका नाम है।)

कोष्ठक सं० १-४—(ति. प./८/१२-१७); (रा. वा./४/१९/८/पृ४/-पंक्ति—२२५/१४+२२७/३०+२२९/१४+२३०/१२+२३१/७+२३१/-३६+२३३/३०); (ह. पु./६/४४-५४); (त्रि. सा./४६४-४६९)।

कोष्ठक सं. ६-७—(ति. प./८/८२-८५); (रा. वा./४/१९/८/पृ४/-पंक्ति—२२५/१७+२२७/२९+२२९/१४+२३०/१२+२३१/९+२३१/-३५+२३२/२८); (ह. पु./६/४३); (त्रि. सा./४७३-४७४)।

नोट—(ह. पु. में ६२ की बजाय ६३ श्रेणीबद्धसे प्रारम्भ किया है।)

कोष्ठक नं. ८—(ति. प./८/१८-८१); (त्रि. सा./४७२)।

संकेत—इस ओर वाला नाम— ←

क.	प्रत्येक स्वर्गके इन्द्रक या पटल				५ प्रति पटल इन्द्रक	श्रेणीबद्ध		८ इन्द्रकोंका विस्तार योजन
	१ ति. प.	२ रा. वा.	३ ह. पु.	४ त्रि. सा.		६ प्रति दिशा	७ कुल योग	
(१)	सौधर्म ईशान युगल में ३१							
१	ऋतु	←	←	←	१	६२	२४८	४५००००० योजन
२	विमल	चन्द्र	विमल	विमल	१	६१	२४४	४४२९०३२ $\frac{८}{३१}$ "
३	चन्द्र	विमल	चन्द्र	चन्द्र	१	६०	२४०	४३५८०६४ $\frac{१६}{३१}$ "
४	वल्गु	←	←	←	१	५९	२३६	४२८७०९६ $\frac{२४}{३१}$ "
५	वीर	←	←	←	१	५८	२३२	४२१६१२९ $\frac{१}{३१}$ "
६	अरुण	←	←	←	१	५७	२२८	४१४५१६१ $\frac{९}{३१}$ "
७	नन्दन	←	←	←	१	५६	२२४	४०७४१९३ $\frac{१७}{३१}$ "
८	नलिन	←	←	←	१	५५	२२०	४००३२२५ $\frac{२५}{३१}$ "
९	कंचन	लोहित	कांचन	कांचन	१	५४	२१६	३९३२२५८ $\frac{२}{३१}$ "
१०	रुधिर (रोहित)	कांचन	रोहित	रोहित	१	५३	२१२	३८६१२९० $\frac{१०}{३१}$ "
११	चंचत्	वंचन	चंचत्ल	चंचल	१	५२	२०८	३७९०३२२ $\frac{१८}{३१}$ "
१२	मरुत	←	←	←	१	५१	२०४	३७१९३५४ $\frac{२६}{३१}$ "
१३	ऋद्धीश	←	←	←	१	५०	२००	३६४८३८७ $\frac{३}{३१}$ "
१४	वैडूर्य	←	←	←	१	४९	१९६	३५७७४१९ $\frac{११}{३१}$ "
१५	रुचक	←	←	←	१	४८	१९२	३५०६४५१ $\frac{१९}{३१}$ "
१६	रुचिर	←	←	←	१	४७	१८८	३४३५४८३ $\frac{२७}{३१}$ "
१७	अंक	←	अर्क	अंक	१	४६	१८४	३३६४५१६ $\frac{४}{३१}$ "
१८	स्फटिक	←	←	←	१	४५	१८०	३२९३५४८ $\frac{१२}{३१}$ "
१९	तपनीय	←	←	←	१	४४	१७६	३२२२५८० $\frac{२०}{३१}$ "
२०	मेघ	←	←	←	१	४३	१७२	३१५१६१२ $\frac{२८}{३१}$ "

क्र.	प्रत्येक स्वर्गके इन्द्रक या पटल १ ति. प.	२ रा. वा.	३ ह. पु.	४ त्रि. सा.	५ प्रत्येक पटल-में इन्द्रक	श्रेणीबद्ध ६ प्रति दिशा	७ कुल योग	८ इन्द्रक विस्तार योजन
२१	अभ्र	←	←	←	१	४२	१६८	३०८०६४५ ५/३१ योजन
२२	हारिद्र	←	←	हरित	१	४१	१६४	३००९६७७ १३/३१ "
२३	पद्ममाल	पद्म	पद्म	पद्म	१	४०	१६०	२९३८७०९ २१/३१ "
२४	लोहित	लोहिताक्ष	लोहिताक्ष	लोहित	१	३९	१५६	२८६७७४१ २९/३१ "
२५	वज्र	←	←	←	१	३८	१५२	२७९६७७४ ६/३१ "
२६	नन्द्यावर्त	←	←	←	१	३७	१४८	२७२५८०६ १४/३१ "
२७	प्रभंकर	←	←	←	१	३६	१४४	२६५४८३८ २२/३१ "
२८	पृष्ठक	पिष्टक	प्रष्ठक	पृष्ठक	१	३५	१४०	२५८३८७० ३०/३१ "
२९	गज	←	←	←	१	३४	१३६	२५१२९०३ ७/३१ "
३०	मित्र	मस्तक	मित्र	मित्र	१	३३	१३२	२४४१९६७ २३/३१ "
३१	प्रभ (दे० चित्र सं. ७)	चित्रप्रभा	प्रभ	प्रभ	१	३२	१२८	२३७०९६७ २३/३१ "
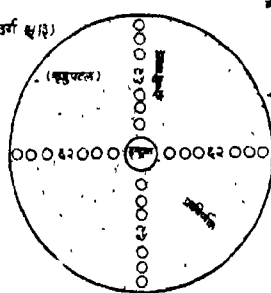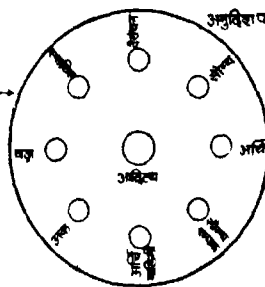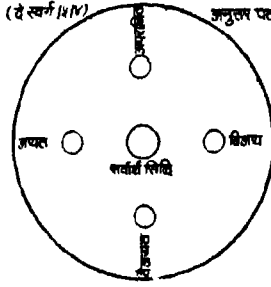
	१	२	३	४	५	६	७	८
(२)	सानत्कुमार माहेन्द्र युगल में ७							
३२	अंजन	←	←	←	१	३१	१२४	२३००००० योजन
३३	वनमाल	←	←	←	१	३०	१२०	२२२९०३२ ८/३१ "
३४	नाग	←	←	←	१	२९	११६	२१५८०६४ १६/३१ "
३५	गरुड़	←	←	←	१	२८	११२	२०८७०९६ २४/३१ "
३६	लांगल	←	←	←	१	२७	१०८	२०१६१२९ १/३१ "
३७	बलभद्र	←	←	←	१	२६	१०४	१९४५१६१ ९/३१ "
३८	चक्र	←	←	←	१	२५	१००	१८७४१९३ १७/३१ "

क्र.	प्रत्येक स्वर्गके इन्द्रक या पटल				५ प्रत्येक पटल-में इन्द्रक	श्रेणीबद्ध		८ इन्द्रक विस्तार योजन
	१ ति. प.	२ रा. वा.	३ ह. पु.	४ त्रि. सा.		६ प्रति दिशा	७ कुल योग	
(३)	ब्रह्म ब्रह्मोत्तर युगल में ४							
३९	अरिष्ट	←	←	←	१	२४	९६	१८०३२२५ $\frac{२}{३}\frac{५}{९}$ योजन
४०	सुरसमिति	देवसमिति	देवसंमति	सुरस	१	२३	९२	१७३२२५८ $\frac{२}{३\,९}$ ”
४१	ब्रह्म	←	←	←	१	२२	८८	१६६१२९० $\frac{१}{३}\frac{०}{९}$ ”
४२	ब्रह्मोत्तर	←	←	←	१	२१	८४	१५९०३२२ $\frac{१}{३}\frac{६}{९}$ ”
(४)	लांतव कापिष्ठ युगल में २							
४३	ब्रह्महृदय	←	←	←	१	२०	८०	१५१९३५४ $\frac{२}{३}\frac{[illegible]}{९}$ ”
४४	लांतव	←	←	←	१	१९	७६	१४४८३८७ $\frac{३}{३\,९}$ ”
(५)	शुक्र महाशुक्र युगल में १							
४५	महाशुक्र	←	शुक्र	शुक्र	१	१८	७२	१३७७४१९ $\frac{१}{३}\frac{१}{९}$ ”
(६)	शतार सहस्रार युगलमें १							
४६	सहस्रार	←	शतारम्य	शतार	१	१७	६८	१३०६४५१ $\frac{१}{३}\frac{६}{९}$ ”
(७)	आनतादि चार में ६							
४७	आनत	←	←	←	१	१६	६४	१२३५४८३ $\frac{२}{३}\frac{७}{९}$ ”
४८	प्राणत	←	←	←	१	१५	६०	११६४५१६ $\frac{४}{३\,९}$ ”
४९	पुष्पक	←	←	←	१	१४	५६	१०९३५४८ $\frac{१}{३}\frac{२}{९}$ ”
५०	शान्तकर	सातक	सानुकार	सातक	१	१३	५२	१०२२५८० $\frac{२}{३}\frac{०}{९}$ ”
५१	आरण	←	←	←	१	१२	४८	९५१६१२ $\frac{२}{३}\frac{५}{९}$ ”
५२	अच्युत	←	←	←	१	११	४४	८८०६४५ $\frac{४}{३\,९}$ ”
(८)	नव ग्रैवेयक में ९							
५३	सुदर्शन	←	←	←	१	१०	४०	८०९६७७ $\frac{१}{३}\frac{३}{९}$ ”
५४	अमोघ	←	←	←	१	९	३६	७३८७०९ $\frac{२}{३}\frac{१}{९}$ ”
५५	सुप्रबुद्ध	←	←	←	१	८	३२	६६७७४१ $\frac{२}{३}\frac{६}{९}$ ”
५६	यशोधर	←	←	←	१	७	२८	५९६७७४ $\frac{१}{३\,९}$ ”
५७	सुभद्र	←	←	←	१	६	२४	५२५८०६ $\frac{१}{३}\frac{४}{९}$ ”
५८	सुविशाल	←	←	←	१	५	२०	४५४८३८ $\frac{२}{३}\frac{२}{९}$ ”
५९	सुमनस	←	←	←	१	४	१६	३८३८७० $\frac{३}{३}\frac{०}{९}$ ”
६०	सौमनस	←	←	←	१	३	१२	३१२९०३ $\frac{७}{३\,९}$ ”
६१	प्रीतिकर	←	←	←	१	२	८	२४१९३५ $\frac{१}{३}\frac{४}{९}$ ”
(९)	सब अनुदिश व पंचअनुत्तर में १							
६२	आदित्य	←	←	←	१	१	४	१७०९६७ $\frac{२}{३}\frac{३}{९}$ ”
६३	सर्वार्थसि.	←	←	←	१			१००००० ”

४. श्रेणी बद्धोंके नाम निर्देश

ति. प./८/८७-१०० णियणियमाणि सेढिबद्धेसुं। पढमेसुं पढमज्झिम-आवत्तविसिट्ठजुत्ताणि ।८१। उडुइंदयपुव्वादी सेढिगया जे हुवंति बासट्ठी। ताणं बिदियादीणं एक्कदिसाए भणामो णामाइं ।९०। संठियणामा सिरिवच्छवट्टणामा य कुसुमचावाणि। छत्तंजणकलसा··· ।९६। एवं चउसु दिसासुं णामेसुं दक्खिणादियदिसासुं। सेढिगदाणं णामा पीदिकरइंदयं जाव ।९८। आइच्चइंदयस्स य पुव्वादिसु लच्छि-लच्छिमालिणिया। वइरावइरावणिया चत्तारो वरविमाणाणिं ।९९। विजयंतवइजयंत जयंतमपराजिदं च चत्तारो। पुव्वादिसु माणाणिं ठिदाणि सव्वट्ठसिद्धिस्स ।१००। —१. ऋतु आदि सर्व इन्द्रकोंकी चारों दिशाओंमें स्थित श्रेणी बद्धोंमेंसे प्रथम चारका नाम उस-उस इन्द्रके नामके साथ प्रभ, मध्यम, आवर्त व विशिष्ट ये चार शब्द जोड़ देनेसे बन जाते हैं। जैसे—ऋतुप्रभ, ऋतु मध्यम, ऋतु आवर्त और ऋतु विशिष्ट। २. ऋतु इन्द्रके पूर्वादि दिशाओंमें स्थित, शेष द्वितीय आदि ६१-६१ विमानोंके नाम इस प्रकार हैं। एक दिशाके ६१ विमानोंके नाम-संस्थित, श्रीवत्स, वृत्त, कुसुम, चाप, छत्र, अंजन, कलश आदि हैं। शेष तीन दिशाओंके नाम बनानेके लिए इन नामोंके साथ 'मध्यम', 'आवर्त' और 'विशिष्ट' ये तीन शब्द जोड़ने चाहिए। इस प्रकार नवग्रैवेयकके अन्तिम प्रीतिकर विमानतकके श्रेणी बद्धोंके नाम प्राप्त होते हैं। ३. आदित्य इन्द्रककी पूर्वादि दिशाओंमें लक्ष्मी, लक्ष्मीमालिनी, वज्र और वज्रावनि ये चार विमान हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित ये चार विमान सर्वार्थसिद्धिकी पूर्वादि दिशाओंमें हैं।

ह. पु./६/६३-६५ अर्चिराख्यं परं स्यात्तमर्चिमालिन्यभिख्यया। वज्रं वैरोचनं चैव सौम्यं स्यात्सौम्यरूप्यकम् ।६३। अङ्कं च स्फुटिकं चेति दिशास्वनुदिशानि तु। आदित्याख्यस्य वर्तन्ते प्राच्याः प्रभृति सक्रमम् ।६४। विजयं वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम्। दिक्षु सर्वार्थसिद्धेस्तु विमानानि स्थितानि वै ।६५। —अनुदिशोंमें आदित्य नामका विमान बीचमें है और उसकी पूर्वादि दिशाओं तथा विदिशाओंमें क्रमसे—अर्चि, अर्चिमालिनी, वज्र, वैरोचन, सौम्य, सौम्यरूपक, अंक और स्फटिक ये आठ विमान हैं। अनुत्तर विमानोंमें सर्वार्थसिद्धि विमान बीचमें है और उसकी पूर्वादि चार दिशाओंमें विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित ये चार विमान स्थित हैं।

ज. प./११/३३८-३४० अच्ची य अच्चिमालिणी दिव्वं वइरोयणं पभासं च। पुव्वावरदक्खिण उत्तरेण आदिच्चदो होंति ।३३८। विजयं च वेजयंतं जयंतमपराजियं च णामेण। सव्वट्ठस्स दु एदे चदुसु वि य दिसासु चत्तारि ।३४०। —अर्चि, अर्चिमालिनी, दिव्य, वैरोचन और प्रभास ये चार विमान आदित्य पटलके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरमें हैं ।३३८। विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित ये चार विमान सर्वार्थपटलकी चारों ही दिशाओंमें स्थित हैं ।३४०।

सौधर्म युगल के ३१ पटल

(पटलों के नामों में अन्तर–दे–स्वर्ग/५/२)

चित्र सं० ८

५. स्वर्गोंमें विमानोंकी संख्या

१. १२ इन्द्रोंकी अपेक्षा

(ति. प/८/१४९-१७७+१८६); (रा. वा/४/१९/८/–२२./२६+२३३/२४); (त्रि. सा/४५९–४६२+४७३–४७९)।

क.	कल्पका नाम	इन्द्रक	श्रेणीबद्ध	प्रकीर्णक	कुल योग	सं. व असं योजन युक्त
१	सौधर्म	३१	४३७१	३१९५५९८	३२ लाख	सर्व राशिके पाँचवें भाग प्रमाण संख्यात योजन विस्तार युक्त और शेष असंख्यात योजन विस्तार युक्त।
२	ईशान	—	१४५७	२७९८५४३	२८ लाख	
३	सनत्कुमार	७	५८८	११९९४०५	१२ लाख	
४	माहेन्द्र	—	१९६	७९९८०४	८ लाख	
५	ब्रह्म	४	३६०	३९९६३६	४ लाख	
६	लान्तव	२	१५६	४९८४२	५०,०००	
७	महाशुक	१	७२	३९९२७	४०,०००	
८	सहस्रार	१	६८	५९३१	६,०००	
९	आनतादि चार	६	३२४	३७०	७००	
१०	अधो ग्रै.	३	१०८	×	१११	
११	मध्य ग्रै	३	७२	३२	१०७	
१२	ऊर्ध्व ग्रै.	३	३६	५२	९१	
१३	अनुदिश	१	४	४	९	
१४	अनुत्तर	१	४	×	५	

२. १४ इन्द्रोंकी अपेक्षा

१. (ति. पं./८/१७८–१८५): (ह. पु./६/४४–६२+६६–८८)।

नं	कल्पका नाम	इन्द्रक	श्रेणीबद्ध	प्रकीर्णक	कुल योग	संख्यात, यो. युक्त
१	सौधर्म	३१	४४९५	कुल राशिमेंसे इन्द्रक व श्रेणीबद्धकी संख्या घटा कर जो शेष बचे	३२ लाख	६४०,०००
२	ईशान	—	१४८८		२८ ,,	५०८,०००
३	सनत्कुमार	७	६१६		१२ ,,	२४०,०००
४	माहेन्द्र	—	२०३		८ ,,	१६०,०००
५	ब्रह्म	४	२४६		२९६०००	८०,००० (ब्रह्म व ब्रह्मोत्तर)
६	ब्रह्मोत्तर	—	९४		१०४०००	
७	लान्तव	२	१२५		२५०४२	१०,००० (लान्तव व कापिष्ठ)
८	कापिष्ठ.	—	४१		२४९५८	
९	शुक	—	५८		२००२०	४०००
१०	महाशुक	१	१९		१९९८०	३०००
११	शतार	—	५५		३०१९	१२०० (शतार व सहस्रार)
१२	सहस्रार	१	१८		२९८१	
१३	आनत-प्राणत	३	१९५		४४०	८८
१४	आरण-अच्युत	३	१५९		२६०	५२
१५	अधो ग्रै.	३	११३		१११	
१६	मध्य ग्रै.	३	८७		१०७	
१७	उपरि ग्रै.	३	६१		९१	
१८	अनुदिश	१	८		९	
१९	अनुत्तर	१	४		५	

६. विमानोंके वर्ण व उनका अवस्थान

(ति. प./८/२०३–२०७); (रा. वा/४/१९/ /२३५/३), (ह. पु/६/९९–१००); (त्रि. सा./४८१–४८२)।

कल्पका नाम	वर्ण	आधार	कल्पका नाम	वर्ण	आधार
सौधर्म ईशान	पंच वर्ण ,,	घन वात	महाशुक सहस्रार	श्वेत व हरित	जल व वायु दोनों
सनत्कु. माहेन्द्र	कृष्ण रहित ४	केवल-पवन	आनतादि चार	श्वेत	शुद्ध आकाश
ब्रह्म लान्तव	कृ. नील रहित ३	जल व वायु दोनों	ग्रैवेयक आदि	,,	,,

ह. पु/६/९१ सर्वश्रेणीविमानानामर्द्धमूर्ध्वमितोऽपरम्। अन्येषां स्वविमानार्धं स्वयंभूरमणोदधे ।९१। =समस्त श्रेणीबद्ध विमानोंकी जो संख्या है, उसका आधा भाग तो स्वयम्भूरमण समुद्रके ऊपर है और आधा अन्य समस्त द्वीप समुद्रोंके ऊपर फैला हुआ है।

त्रि. सा/ ४७४ उडुसेढीबद्धदलं सयंभुरमणुदहिपणिधिभागम्हि। आइल्लतिण्णि दीवे तिण्णि समुद्दे य सेसा हु ।४७४। —सौधर्मके प्रथम ऋतु इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्धोंका एक दिशा सम्बन्धी प्रमाण ६२ है, उसके आधे अर्थात् ३१ श्रेणीबद्ध तो स्वयम्भूरमण समुद्रके उपरिमभागमें स्थित हैं और अवशेष विमानोंमेंसे १५ स्वयम्भूरमण द्वीपके ऊपर आठ अपनेसे लगते समुद्रके ऊपर, ४ अपनेसे लगते द्वीपके ऊपर, २ अपनेसे लगते समुद्रके ऊपर, १ अपनेसे लगते द्वीपके ऊपर तथा अन्तिम १ अपनेसे लगते अनेक द्वीपसमुद्रोंके ऊपर है।

७. दक्षिण व उत्तर कल्पोंमें विमानोंका विभाग

ति. प/८/१३७–१४८ का भावार्थ—जिनके पृथक्-पृथक् इन्द्र है ऐसे पहिले व पिछले चार-चार कल्पोंमें सौधर्म, सनत्कुमार, आनत व आरण ये चार दक्षिण कल्प हैं। ईशान, माहेन्द्र, प्राणत व अच्युत ये चार उत्तर विमान हैं, क्योंकि, जैसा कि निम्न प्ररूपणासे विदित है इनमें क्रमसे दक्षिण व उत्तर दिशाके श्रेणीबद्ध सम्मिलित है। तहाँ सभी दक्षिण कल्पोंमें उस-उस युगल सम्बन्धी सर्व इन्द्रक, पूर्व, पश्चिम व दक्षिण दिशाके श्रेणीबद्ध और नैर्ऋत्य व अग्नि दिशाके प्रकीर्णक सम्मिलित हैं। सभी उत्तर कल्पोंमें उत्तर दिशाके श्रेणीबद्ध तथा वायु व ईशान दिशाके प्रकीर्णक सम्मिलित है। बीचके ब्रह्म आदि चार युगल जिनका एक-एक ही इन्द्र माना गया है, उनमें दक्षिण व उत्तरका विभाग न करके सभी इन्द्रक, सभी श्रेणीबद्ध व सभी प्रकीर्णक सम्मिलित हैं। (त्रि. सा/४७६); (ज. प/११/२/३–२१८)।

८. दक्षिण व उत्तर इन्द्रोंका निश्चित निवास स्थान

ति. प/८/३५१ छज्जुगलसेसएसुं अट्ठारसमम्मि सेढिबद्धेसुं। दोहीणकम दक्खिण उत्तरभागम्मि होंति देविंदा ।३५१। —छह युगलों और शेष कल्पोंमें यथाक्रमसे प्रथम युगलमें अपने अन्तिम इन्द्रकसे सम्बद्ध अठारहवें श्रेणीबद्धमें, तथा इससे आगे दो हीन क्रमसे अर्थात १६वें, १४वें, १२वें, १०वें, ८वें और ६ठे श्रेणीबद्धमें, दक्षिण भागमें दक्षिण इन्द्र और उत्तर भागमें उत्तर इन्द्र स्थित है ।३५१। (त्रि सा/४८३)।

ति. प/८/३३९–३५० का भावार्थ—[अपने-अपने पटलके अन्तिम इन्द्रककी दक्षिण दिशावाले श्रेणीबद्धोंमेंसे १८वें, १६वें, १४वें, १२वें, ६ठे,

और पुन: ६ठें श्रेणीबद्ध विमानमें क्रमसे सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, लांतव, आनत और आरण ये छह इन्द्र स्थित हैं। उन्हीं इन्द्रकोंकी उत्तर दिशावाले श्रेणीबद्धोंमेंसे १८वें, १६वें, १०वें, ८वें, ६ठें और पुन: ६ठें श्रेणीबद्धोंमें क्रमसे, ईशान, माहेन्द्र, महाशुक्र, सहस्रार, प्राणत और अच्युत ये छह इन्द्र रहते हैं।] (ह. पु/६/१०१-१०२)

नोट—[ह. पु. में लान्तवके स्थानपर शुक्र और महाशुक्रके स्थानपर लान्तव दिया है। इस प्रकार वहाँ शुक्रको दक्षिणेन्द्र और लान्तवको उत्तरेन्द्र कहा है।]

रा. वा/४/१६/८/पृ/ पंक्तिका भावार्थ—सौधर्म युगलके अन्तिम इन्द्रककी दक्षिण दिशावाले श्रेणीबद्धोंमेंसे १८वेंमें सौधर्मेन्द्र (२२५/२१)। उसीके उत्तर दिशावाले १८वे श्रेणीबद्धमें ईशानेन्द्र (२२७/६)। सनत्कुमार युगलके अन्तिम इन्द्रककी दक्षिण दिशावाले १६वें श्रेणीबद्धमें सनत्कुमारेन्द्र (२२७/३२)। और उसीकी उत्तर दिशावाले १६ वें श्रेणीबद्धमें माहेन्द्र (२२८/२५)। ब्रह्मयुगलके अन्तिम इन्द्रककी दक्षिण दिशावाले १२वें श्रेणीबद्धमें ब्रह्मेन्द्र (२२६/१७)। और उसीकी उत्तर दिशावाले १२वे श्रेणीबद्धमें ब्रह्मोत्तरेन्द्र (२३०/३)। लान्तव युगलके अन्तिम इन्द्रककी दक्षिण दिशावाले ६वें श्रेणीबद्धमें लान्तवेन्द्र (२३०/१२) और उसीकी उत्तर दिशावाले ६वें श्रेणीबद्धमें कापिष्ठेन्द्र (२३०/३४)। शुक्र युगलके एक ही इन्द्रककी दक्षिण दिशावाले १२वें श्रेणीबद्धमें शुक्रेन्द्र (२३१/८) और उसीकी उत्तर दिशावाले १२वें श्रेणीबद्धमें महाशुक्रेन्द्र (२३१/२६)। शतार युगलके एक ही सहस्रार इन्द्रककी दक्षिण दिशावाले ६वे श्रेणीबद्धमें शतारेन्द्र (२३१/३६) और उसीकी उत्तर दिशावाले ६वें श्रेणीबद्धमें सहस्रारेन्द्र (२३२/१८)। आनतादि चार कल्पोंके आरण इन्द्रककी दक्षिण दिशावाले ६ठें श्रेणीबद्धमें आरणेन्द्र (२३२/३१) और अच्युत इन्द्रककी उत्तर दिशावाले ६ठे श्रेणीबद्धमें अच्युतेन्द्र (२३३/१४)। इस प्रकार ये १४ इन्द्र क्रमसे स्थित है।

९. इन्द्रोंके निवासभूत विमानोंका परिचय

ति प./८/गा. का भावार्थ—१. इन्द्रक श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक, इन तीनों प्रकारके विमानोंके ऊपर समचतुष्कोण व दीर्घ विविध प्रकारके प्रासाद स्थित हैं।२०८। ये सब प्रासाद सात-आठ-नौ-दस भूमियोंसे भूषित हैं। आसनशाला, नाट्यशाला व क्रीडनशाला आदिकोंसे शोभायमान हैं। सिंहासन, गजासन, मकरासन आदिसे परिपूर्ण है। मणिमय शय्याओंसे कमनीय हैं। अनादिनिधन व अकृत्रिम विराजमान हैं।२०६-२१३। २. प्रधान प्रासादके पूर्वदिशाभाग आदिमें चार-चार प्रासाद होते हैं।३६६। दक्षिण इन्द्रोंमें वैडूर्य, रजत, अशोक और मृषत्कसार तथा उत्तर इन्द्रोंमें रुचक, मन्दर, अशोक और सप्तच्छद ये चार-चार प्रासाद होते हैं।३६७। (त्रि. सा/४८४-४८५)। ३. सौधर्म व सनत्कुमार युगलके ग्रहोंके आगे स्तम्भ होते हैं, जिनपर तीर्थंकर बालकोंके वस्त्राभरणोंके पिटारे लटके रहते हैं।३६८-४०४। सभी इन्द्र मन्दिरोंके सामने चैत्य वृक्ष होते हैं।४०५-४०६। सौधर्म इन्द्रके प्रासादके ईशान दिशामें सुधर्मा सभा, उपपाद सभा और जिनमन्दिर हैं।४०७-४११। (इस प्रकार अनेक प्रासाद व पुष्प वाटिकाओं आदिसे युक्त वे इन्द्रोंके नगरोंमें) एकके पीछे एक ऊँची-ऊँची पाँच वेदियाँ होती हैं। प्रथम वेदीके बाहर चारों दिशाओंमें देवियोंके भवन, द्वितीयके बाहर चारों दिशाओंमें पारिषद, तृतीयके बाहर सामानिक और चौथीके बाहर अभियोग्य आदि रहते हैं।४१३-४२८। पाँचवीं वेदीके बाहर वन हैं और उनसे भी आगे दिशाओंमें लोकपालोंके।४२६-४३३। और विदिशाओंमें गणिका महत्तरियोंके नगर हैं।४३५। इसी प्रकार कल्पातीतोंके भी विविध प्रकारके प्रासाद, उपपाद सभा, जिनभवन आदि होते हैं।४५३-४५४।

१०. कल्प विमानों व इन्द्र भवनोंके विस्तार आदि

नोट—सभी प्रमाण योजनोंमें बताये गये हैं।

	कल्प विमान	इन्द्रोंके भवन			देवियोंके भवन		
इन्द्रोंके नाम	ति. प./८/१६८-२०२; ह. पु./६/४२-५३; त्रि. सा./४५०	ति. प./८/३७२-३७३ +४५५-४५६; ह. पु./६/६४-६६			ति. प./८/४१४-४१७		
	मोटाई	लम्बाई	चौड़ाई	ऊँचाई	लम्बाई	चौड़ाई	ऊँचाई
सौधर्म यु.	११२१	१२०	६०	६००	१००	५०	५००
सनत. यु.	१०२२	१००	५०	५००	६०	४५	४५०
ब्रह्म यु.	६२३	६०	४५	४५०	८०	४०	४००
लान्तव यु.	८२४	८०	४०	४००	७०	३५	३५०
महाशुक्रयु.	७२५	७०	३५	३५०	६०	३०	३००
सहस्रार यु.	६२६	६०	३०	३००	५०	२५	२५०
आनतादि ४	५२७	५०	२५	२५०	४०	२०	२००
अधो ग्रै.	४२८	४०	२०	२००			
मध्य ग्रै.	३२६	३०	१५	१५०			
उपरि ग्रै.	२३०	२०	१०	१००			
अनुदिश	१३१	१०	५	५०			
अनुत्तर	१२१	५	२½	२५			

११ इन्द्र नगरोंका विस्तार आदि

नोट—सभी प्रमाण योजनोंमें जानने

इन्द्रोंके नाम	नगर		नगरकोट		नगर द्वार	
	त्रि. सा/४८६		त्रि. सा./४६०-४६१		त्रि. सा./४६२-४६३	
	लम्बाई	चौड़ाई	ऊँचाई	मोटाई व नीव	संख्या व ऊँचाई	चौड़ाई
सौधर्म	८४०००	८४०००	३००	५०	४००	१००
ईशान	८००००	८००००	,,	,,	,,	,,
सनत्कुमार	७२०००	७२०००	२५०	२५	३००	६०
माहेन्द्र	७०,०००	७००००	,,	,,	,,	,,
ब्रह्म ब्रह्मोत्तर	६०,०००	६००००	२००	१२½	२००	८०
लान्तव कापिष्ठ	५०,०००	५००००	१५०	६¼	१६०	७०
शुक्र महाशुक्र	४०,०००	४००००	१२०	४	१४०	५०
शतार सहस्रार	३०,०००	३००००	१००	३	१२०	४०
आनतादि ४.	२०,०००	२००००	८०	२½	१००	३०

स्वर्ण—१. तोलका प्रमाण विशेष । अपरनाम कंस —दे. गणित/I/१); २. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर —दे. विद्याधर ।

स्वर्णकूला—१. हैरण्यवत् क्षेत्रकी एक नदी —दे. लोक/३/१०; २. हैरण्यवत क्षेत्रस्थ एक कुण्ड —दे. लोक/३/१०; ३. स्वर्णकूला कुण्डकी स्वामिनी देवी —दे. लोक/३/१० ।

स्वर्णनाभ—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर ।

स्वर्णभद्र—विजयार्ध पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव —दे. लोक/७ ।

स्वर्ण मध्य—सुमेरु पर्वतका अपर नाम —दे. सुमेरु ।

स्वर्णरेखा—सौराष्ट्र देशमें गिरनार पर्वतसे निकली है । इसके रेतमें सोनेका सूक्ष्म अंश अब भी पाया जाता है । सुवरणा नामसे प्रसिद्ध है । (नेमिचरित प्रस्तावना/प्रेमीजी) ।

स्वर्णवती—भरतक्षेत्रके वरुण पर्वतस्थ एक नदी —दे. मनुष्य/४ ।

स्ववचन बाधित—दे. बाधित ।

स्ववचन विरोध—दे. विरोध ।

स्ववश—नि. सा./मू./१४६ परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मल सहावं । अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।१४६। —जो परभावको त्यागकर निर्मलस्वभाव वाले आत्माको ध्याता है, वह वास्तवमें आत्मवश है और उसे आवश्यक कर्म (जिन) कहते हैं ।

भ. आ./वि./८४/२१७/३ सर्वत्र सर्वस्मिन्वेशे आत्मवशता । स्वेच्छया आस्ते, गच्छति; शेते वा । इहासनादिकरणे इदं मम विनश्यति वस्तिवति तदनुरोधकृता परतन्त्रता नास्ति संयतस्य । —सर्वत्र आत्मवशता-परिग्रहके त्यागसे संयतके यह गुण भी प्राप्त होता है । मुनिके पास कोई परिग्रह न होनेसे वे स्वेच्छासे बैठते हैं, जाते हैं, सोते हैं । बैठने-उठनेमें मेरी अमुक वस्तु नष्ट हुई, अमुक वस्तु मेरेको चाहिए इस प्रकारकी चिन्ता उनके नहीं होती ।

स्वसंवेदन—दे. अनुभव ।

स्व समय—१. दे. समय; २. स्व-समय और पर-समयके स्वाध्यायका क्रम —दे. उपदेश/३/४-५ ।

स्वस्तिक—१. विदेह क्षेत्रमें स्थित भद्रशाल वनमें एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे. लोक/५/३ । २. विद्युत्प्रभ गजदन्तस्थ एक कूट—दे. लोक/५/४ । ३. कुण्डल पर्वतस्थ मणिप्रभ कूटका स्वामी नागेन्द्र देव—दे लोक/५/१२ । ४. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक/५/१३ ।

स्वस्तिमति—प. पु./११/श्लोक क्षीरकदम्बकी स्त्री । पर्वत, वसु व नारदको गुरुमाता थी (१४) इसने 'अजैर्यष्टव्यम्'का विपरीत समर्थन करनेके लिए वसुराजाको प्रेरित किया था (६१) ।

स्वस्त्री—दे. स्त्री/५ ।

स्वस्थान अप्रमत्त—दे. संयत/१/४ ।

स्वस्थान सत्त्व—दे. सत्त्व/१ ।

स्वस्थान सन्निकर्ष—दे. सन्निकर्ष ।

स्वहस्त क्रिया—दे. क्रिया/३/२ ।

स्वाति—१. एक नक्षत्र—दे. नक्षत्र । २. मानुषोत्तर पर्वतस्थ तपनीय कूटका स्वामी भवनवासी गरुड़ कुमार देव—दे. लोक/५/१० ।

स्वाति संस्थान—दे. संस्थान ।

स्वात्मनि क्रिया विरोध—दे. विरोध ।

स्वाद्य—मू. आ./६४४ सादंति सादियं भणियं ।६४४। —जिससे मुखका स्वाद किया जाये, इलायची आदि स्वाद्य कहा है ।

अन. ध./७/१३ स्वाद्यं ताम्बूलादि । —पान, सुपारी, इलायची आदि तथा अनार, सन्तरा, ककड़ी आदि भक्ष्य पदार्थ स्वाद्य हैं ।

ला. सं./२/१६ स्वाद्यं तु भोगार्थं ताम्बूलादि यथागमात् ···।१६। —भोगोंके लिए आगमानुकूल ताम्बूल आदि पदार्थ स्वाद्य कहलाते हैं ।

स्वाध्याय—सद्शास्त्रका बाँचना, मनन करना, या उपदेश देना आदि स्वाध्याय कहा जाता है जो सर्वोत्तम तप माना गया है । मोक्ष मार्गमें इसका बहुत ऊँचा स्थान है । यथा विधि यथा काल ही स्वाध्याय करना योग्य है । सूर्यग्रहण आदि काल स्वाध्यायके लिए अयोग्य समझे जाते हैं ।

१. स्वाध्याय निर्देश

१. स्वाध्याय सामान्यका लक्षण

१. निश्चय

स. सि./९/२०/४३९/७ ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः । – आलस्य त्यागकर ज्ञानकी आराधना करना स्वाध्याय तप है ।

चा. सा./१५२/५ स्वस्मै हितोऽध्यायः स्वाध्यायः । – अपने आत्माका हित करनेवाला अध्ययन करना स्वाध्याय है ।

२. व्यवहार

मू. आ./४११ बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे ।–। – बारह अंग चौदहपूर्व जो जिनदेवने कहे हैं उनको पण्डितजन स्वाध्याय कहते हैं ।

ध १३/५,४,२६/६४/१ अंगंगबाहिरआगमवायणपुच्छणाणुपेहा - परियट्टण-धम्मकहाओ सज्झायो णाम । – अंग और अगबाह्य आगमको वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तन और धर्मकथा करना स्वाध्याय नामका तप है (अन. ध./९/४) ।

चा. सा./४४/३ स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च । – तत्त्वज्ञानको पढ़ना, पढाना, स्मरण करना आदि स्वाध्याय है ।

का. अ./मू./४६२ पूयादिसु णिरवेक्खो जिण-सत्थं जो पढेइ भत्ती. कम्म-मल सोहणट्ठ सुय-लाहो सुहयरो तस्स – जो मुनि अपनी पूजादिसे निरपेक्ष, केवल कर्ममल शोधनके अर्थ जिन शास्त्रोंको भक्तिपूर्वक पढता है, उसका श्रुतलाभ सुखकारी है ।

२. स्वाध्यायके भेद

मू आ./३९३ परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहया य धम्मकहा । थु तिमंगलसंजुत्ता पंचविहो होइ सज्झाओ ।३९३। – पढे हुए ग्रन्थका पाठ करना, वाचन—व्याख्यान करना, पृच्छना – शास्त्रोंके अर्थको किसी दूसरेसे पूछना, अनुप्रेक्षा – बारम्बार शास्त्रका मनन करना, धर्मकथा – त्रेशठ शलाका पुरुषोंका चारित्र पढ़ना ये पाँच प्रकारका स्वाध्याय मुनि देव बन्दना मगल सहित करना चाहिए ।३९३। (दे. ऊपरवाले शीर्षकमें ध./१३), (अन. ध./७) ।

त. सू./९/२५ वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ।२५। – वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, और धर्मोपदेश यह पाँच प्रकारका स्वाध्याय है ।।२५। (चा. सा./१५२/५), (अन, ध. ७/८३-८७) ।

दे. वाचना चार प्रकार है—नन्दा, भद्रा, जया और सौम्या ।

३. स्वाध्यायमें सम्यक्त्वकी प्रधानता

भा. पा./मू./९९ सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं । – भावरहित श्रमणोंका सकल ध्यान और अध्ययन निरर्थक हैं ।

ध. ६/४,१,१/६/३ ण च सम्मत्तेण विरहियाणं णाणज्झाणाणमसंखेज्जगुणसेडीकम्मणिज्जराए अणिमित्ताणं णाण ज्झाणववएसो पारमत्थिओ अत्थि, अवगयट्ठ सद्दहणणाणे ..णाणववएसब्भुवगमे संते अइप्पसगादो । – सम्यक्त्वसे रहित ज्ञान ध्यानके असंख्यात गुणी श्रेणीरूप कर्म निर्जराके कारण न होनेसे 'ज्ञानध्यान' यह संज्ञा वास्तविक नहीं है । क्योंकि अर्थ श्रद्धानसे रहित ज्ञान…में वह संज्ञा स्वीकार करनेमें अतिप्रसंग दोष आता है ।

यो. सा. अ./७/४४ संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितात्मनां ।४४। – जो विद्वान् हैं—शास्त्रोंका अभ्यास तो कर चुके हैं परन्तु आत्मध्यानसे शून्य हैं उनका संसार शास्त्र है ।

४. स्तुति आदि परिवर्तन रूप भी स्वाध्याय है

अन. ध./७/९२ अर्हद्ध्यानपरस्यार्हन् शं वो दिश्यात्सदास्तु वः । शान्तिरित्यादिरूपोऽपि स्वाध्यायः श्रेयसे मतः ।९२। – जो साधु निरन्तर अर्हन्त भगवान्के ध्यानमें लीन रहता है उसके 'अर्हन् शं वो दिश्यात्' अर्थात् अर्हन्त भगवान् तुम्हारा कल्याण करें । तथा 'सदास्तु वः शान्तिः' अर्थात् मुझे सदा शान्ति बनी रहे इत्यादि वचनोंको भी स्वाध्याय ही कहना चाहिए । क्योंकि पूर्वाचार्योंने इसके द्वारा भी कल्याण और परम्परा मोक्षकी सिद्धि मानी है ।

दे. स्वाध्याय/१/२ ये पाँच प्रकारका स्वाध्याय मुनि देव बन्दना मंगल सहित करना चाहिए ।

५. प्रयोजन व अप्रयोजन भूत विषय

मो. मा. प्र./७/३१७/२१ मोक्षमार्ग विषै देव, गुरु, धर्म व जीवादि तत्त्व वा बन्ध मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत हैं।…द्वीप समुद्रादिका कथन अप्रयोजनभूत है ।

६. चारों अनुयोगोंके स्वाध्यायका क्रम

मो. मा. प्र./७/३४७/१८ पहला सच्चा तत्त्व ज्ञान हो (द्रव्यानुयोग), पीछे पुण्य पापके फलको जाने (प्रथमानुयोग) शुद्धोपयोगसे मोक्ष माने (चरणानुयोग) और गुणस्थानादि जीवका व्यवहार निरूपण जाने (करणानुयोग) इत्यादि जैसे हैं वैसे श्रद्धान करके उसका अर्थात् (आगमका) अभ्यास करे तो सम्यक्ज्ञान होय ।

मो. मा. प्र/८/पृ./पंक्ति सं. करणानुयोग विषै भी किसी ठिकाने उपदेशकी मुख्यता पूर्वक व्याख्यान होता है । उसे सर्वथा वैसा ही न मानना (४०७/२) मुख्यपने तो निचली दशामें द्रव्यानुयोग कार्यकारी है । गौणपने जाको मोक्षमार्गकी प्राप्ति होति न जानियें ताकों पहले कोई व्रतादिका उपदेश दीजिए है । तातै ऊँची दशा वालोंको अध्यात्म अभ्यास योग्य है । (४३१/७)

७. स्वाध्याय सर्वोत्तम तप है

भ. आ./मू./१०७-१०९ बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे । ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं । ।१०७। जं अण्णाणीकम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं । तं णाणीतिहि गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ।१०८। छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही । तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स । ।१०९। – १ सर्वज्ञ देवकर उपदेशे हुए अभ्यन्तर और बाह्य भेद सहित बारह प्रकारके तपमेंसे स्वाध्याय तपके समान अन्य कोई न तो है और न होगा ।१०७। (मू आ./४०९, ९७०) २. सम्यग्ज्ञानसे रहित जीव लक्षावधि कोटि भवोंमें जितने कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ होता है. ज्ञानी जीव गुप्तिगुप्त होकर उतने कर्मोंका क्षय अन्तर्मुहूर्तमें कर देता है ।१०८। (प्र. सा./मू./२३८); (ध.९/४,१,५०/गा.२३/२८१) एक, दो, तीन, चार वा पाँच, अथवा पक्षोपवास व मासोपवास करनेवाले सम्यग्ज्ञान रहित जीवसे भोजन करनेवाला स्वाध्यायमें तत्पर सम्यग्दृष्टि परिणामोंकी ज्यादा विशुद्धि कर लेता है ।१०९।

८. स्वाध्यायका लौकिक व अलौकिक फल

ति. प/१/३५-४२ दुविहो हवेदि हेदू तिलोयपण्णत्तिगंथयज्झयणे । जिणवरवयणुद्दिट्ठो पच्चक्खपरोक्खभेएहि ।३५। सक्खापच्चक्खपरंपच्चक्खा दोण्णि होदि पच्चक्खा । अण्णाणस्स विणासं णाणदिवायरस्स उप्पत्ती ।३६। देवमणुस्सादीहिं सततमब्भच्चणप्पयाराणि । पडिसमयमसंखेज्जगुणसेढिकम्मणिज्जरणं ।३७। इय सक्खापच्चक्खं पच्चक्ख परंपरं च णादव्वं । सिस्सपडिसिस्सपहुदीहिं सददमब्भच्चणप्पयारं ।३८। दोभेदं च परोक्खं अब्भुदयसोक्खाइं मोक्खसोक्खाइं

सातादिबिविहसुपसत्थकम्माततिव्वाणुभागउदएहिं ।३६। इंदपडिंददिगिंदय तेत्तीसामररसमाणपहुदिसुहं । राजाहिराजमहराजद्धमंडलिमंडलयाणं ।४०। महमंडलियाणं अद्धचक्किचक्कहरितित्थयरसोक्खं । अट्ठारसमेत्ताणं सामी सेसाणं भत्तिजुत्ताणं ।४१। वररयण मउडधारी सेवयमाणाण वंछिं तह अट्ठं । देंता हवेंति राजा जितसत्तू समरसंघट्ठे ।४२। —त्रिलोक प्रज्ञप्तिग्रन्थके अध्ययनमें, जिनेन्द्रदेवके वचनोंसे उपदिष्ट हेतु, प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है ।३५। १. प्रत्यक्ष हेतु साक्षात् और परम्पराके भेदसे दो प्रकारका है । अज्ञानका विनाश, ज्ञानरूपी दिवाकरकी उत्पत्ति, देव और मनुष्यादिकोंके द्वारा निरन्तर की जानेवाली विविध प्रकारकी अभ्यर्थना, और प्रत्येक समयमें होनेवाली असंख्यात गुणी रूपसे कर्मोंकी निर्जरा, इसे साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु समझना चाहिए । और शिष्य-प्रशिष्य आदिके द्वारा निरन्तर अनेक प्रकारसे की जानेवाली पूजाको परम्परा परोक्ष हेतु समझना चाहिए ।३६-३८। २. परोक्ष हेतु भी दो प्रकारका है—एक अभ्युदय और दूसरा मोक्ष सुख । सातावेदनीय आदि सुप्रशस्त कर्मोंके तीव्र अनुभागके उदयसे प्राप्त हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगिन्द्र, त्रायस्त्रिंश, व सामानिक आदि देवोंका सुख तथा राजा, अधिराज, महाराज, मण्डलीक, अर्धमण्डलीक, महामण्डलीक, अर्धचक्री, चक्रवर्ती और तीर्थंकर इनका सुख अभ्युदय सुख है । जो भक्तियुक्त अठारह प्रकारकी सेनाओंका स्वामी है, उत्कृष्ट रत्नोंके मुकुटको धारण करनेवाला है, सेवकजनोंको वृत्ति अर्थात् भूमि तथा अर्थ (धन) प्रदान करनेवाला है, और समरके संघर्षमें शत्रुओंको जीत चुका है, वह राजा है ।३६-४२। (ध. १/१, १,१/५६/१) ।

ध. १/१,१,१/गा ४७-५१/५६ भविय-सिद्धांताणं दिणयर कर-णिम्मलं हवइ णाणं । सिसिर-यर-कर सिच्छं हवइ चरित्तं स-वस चित्तं ।४७। मेरु व्व णिक्कंपं णट्ठट्ठ मलं तिमूढ उम्मुक्कं । सम्मद्दंसणमणुवमसमुप्पज्जइ पवयणब्भासा ।४८। तत्तो चेव सुहाइं सयलाइं देवमणुयखयराणं । उम्मूलियट्ठ कम्मं फुड सिद्ध-सुहं पि पवयणदो । ।४६। जियमोहिंधण-जलणो अण्णाण तमधयार-दिणयरओ । कम्ममलकलुसपुसओ जिणवयणमिवोवही सुहओ ।५०। अण्णाण-तिमिर-हरणं सुभविय-हिययारविंद-जोहणयं । उज्जोइय-सयल वहं सिद्धंत-दिवायरं भजह ।५१। —जिन्होंने सिद्धान्तका उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है ऐसे पुरुषोंका ज्ञान सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल होता है और जिसने अपने चित्तको स्वाधीन कर लिया है ऐसा चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल चरित्र होता है ।४७। प्रवचनके अभ्याससे मेरुके समान निष्कम्प, आठ मल रहित, तीन मूढता रहित सम्यग्दर्शन होता है ।४८। देव, मनुष्य और विद्याधरोंके सुख प्राप्त होते हैं और आठ कर्मोंके उन्मूलित होनेपर प्रवचनके अभ्याससे विशद सिद्ध सुख भी प्राप्त होता है ।४६। जिनागम जीवोंके मोहरूपी ईंधनको अग्निके समान, अज्ञानरूप अन्धकारके विनाशके लिए सूर्यके समान और द्रव्य व भाव कर्मके मार्जनके लिए समुद्रके समान है ।५०। अज्ञानरूपी अन्धकारके विनाशक भव्यजीवोंके हृदयको विकसित करनेवाले, मोक्षपथको प्रकाशित करनेवाले सिद्धान्तको भजो ।५१।

९. स्वाध्यायका फल गुणश्रेणी निर्जरा व संवर

ध. १/१,१,१/५६/३ कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधिमनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात् । —प्रश्न—कर्मोंकी असंख्यातगुणित-श्रेणी रूपसे निर्जरा होती है, यह किनको प्रत्यक्ष है ? उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, सूत्रका अध्ययन करनेवालोंकी असंख्यात गुणित श्रेणी रूपसे प्रतिसमय कर्म निर्जरा होती है, यह बात अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानियोंको प्रत्यक्ष रूपसे उपलब्ध होती है ।

ध. ६/४,१,१/३/१ उसहसेणादिगणहरदेवेहि विरइयसद्दरयणादो दव्वसुत्तादो तप्पढण-गुणणकिरियावावदाणं सव्वजीवाणं पडिसमयमसंखेज्जगुणसेढीए पुव्वसंचिदकम्मणिज्जरा होदि त्ति । —वृषभसेनादि गणधर देवों द्वारा जिनकी शब्द रचना की गयी है, ऐसे द्रव्य सूत्रोंसे उनके पढ़ने और मनन करने रूप क्रियामें प्रवृत्त हुए सब जीवोंके प्रति समय असंख्यात गुणित श्रेणीसे पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है ।

ध. ६/५,५,५०/२८१/३ किमर्थं सर्वकालं व्याख्यायते । श्रोतुर्व्याख्यातुश्च असंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरणहेतुत्वात् । प्रश्न—इसका सर्वकाल किस लिए व्याख्यान करते हैं ?—उत्तर—क्योंकि वह व्याख्याता और श्रोताके असंख्यात गुणी श्रेणी रूपसे होनेवाली कर्म निर्जराका कारण है ।

१०. स्वाध्यायका प्रयोजन व महत्त्व

भ. आ./मू./१०४-१०६ सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य । हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू ।१०४। जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु । तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए ।१०५। आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा । विहरदि विसुज्झमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो ।१०६। —जो साधु स्वाध्याय करता है वह पाँचों इन्द्रियोंका संवर करता है, मन आदि गुप्तियोंको भी पालनेवाला होता है और एकाग्रचित्त हुआ विनयकर संयुक्त होता है ।१०४। (मू. आ./४१०) जिसमें अतिशय रसका प्रसार है और जो अश्रुतपूर्व है ऐसे श्रुतका वह जैसे-जैसे अवगाहन करता है वैसे ही वैसे अतिशय नवीन धर्म श्रद्धासे संयुक्त होता हुआ परम आनन्दका अनुभव करता है । (ध. १३/५,५,५०/गा. २१-२२/२८१) स्वाध्यायसे प्राप्त आत्म विशुद्धिके द्वारा निष्कम्प तथा हेयोपादेयमें विचक्षण बुद्धि होकर यावज्जीवन रत्नत्रयमार्गमें प्रवर्तता है ।१०६।

प्र.सा. मू./८६, २३२-२३७ जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहि बुज्झदो णियमा । खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ।८६। एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु । णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ।२३२। आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि । अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ।२३३। आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि । देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ।२३४। सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहि चित्तेहि । जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ।२३५। आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स । णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ।२३६। ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।२३७। —जिन शास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे पदार्थोंको जानने वालेके नियमसे मोह समूह क्षय हो जाता है इसलिए शास्त्रका सम्यक्प्रकारसे अध्ययन करना चाहिए ।८६। (न.च.वृ./३१७ पर उद्धृत) । श्रमण एकाग्रताको प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थोंके निश्चयवान्‌के होती है, निश्चय आगम द्वारा होता है, इसलिए आगमके व्यापार मुख्य हैं ।२३२। आगमहीन श्रमण आत्माको और परको नहीं जानता, पदार्थोंको नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मोंको किस प्रकार क्षय करे ? ।२३३। साधु आगम चक्षु हैं, सर्वप्राणी इन्द्रिय चक्षुवाले हैं, देव अवधि चक्षु वाले हैं और सिद्ध सर्वतः चक्षु हैं ।२३४। समस्त पदार्थ विचित्र गुण पर्यायों सहित आगम सिद्ध हैं उन्हें भी वे श्रमण आगम द्वारा वास्तवमें देखकर जानते हैं ।२३५। (यो.सा.अ./६/१६-१७) । इस लोकमें जिसकी आगम पूर्वक दृष्टि नहीं है उसके संयम नहीं है इस प्रकार सूत्र कहता है, और असंयत वह श्रमण कैसे हो सकता है ।२३६। आगमसे यदि पदार्थोंका श्रद्धान न हो तो सिद्धि नहीं होती ।२३७।

र. सा./६१,६५ पवयण सारब्भासं परमप्पज्झाणकारणं जाणं। कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणेहि मोक्खसोक्खं हि।६१। अज्झयणमेव झाणं पंचेंदियणिग्गहं कसायं पि। तत्तो पंचमकाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जा हो।६५। —प्रवचनके सारका अभ्यास ही परमात्म परमात्माके ध्यानका कारण है। विशुद्ध आत्माके स्वरूपका ध्यान ही कर्मोंका नाश व मोक्षसुखकी प्राप्तिका प्रधान कारण है।६१। प्रवचनसार (जिनागम) का अभ्यास पठन-पाठन और वस्तुविचार ही ध्यान है। उसीसे इन्द्रियोंका निग्रह, मनका वशीकरण व कषायोंका उपशम होता है। इस पंचम कालमें जिनागमका अभ्यास करना ही जिनागम है।६५।

द.पा./मू./१७ जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं। जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं। —यह जिनवचन रूप औषधि इन्द्रिय विषयसे उत्पन्न सुखको दूर करनेवाला है। तथा जन्म-मरण रूप रोगको दूर करनेके लिए अमृत सदृश है और सर्व दुःखोंके क्षयका कारण है।१७।

सू.पा./मू./३ सत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि। सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि।३। —जो पुरुष सूत्रका जानकार है वह भवका नाश करता है, जैसे सूई डोरे सहित हो तो नष्ट नहीं होती, यदि डोरेसे रहित हो तो नष्ट हो जाती है।

स.सि./९/२५/४४३/६ प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः परमसंवेगस्तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः। —प्रज्ञामें अतिशय लानेके लिए, अध्यवसायको प्रशस्त करनेके लिए, परम संवेगके लिए, तप वृद्धि व अतिचार शुद्धिके लिए, (संशयोच्छेद व परवादियोंकी शंकाका अभाव रा.वा.) आदिके लिए स्वाध्याय तप आवश्यक है। (रा.वा./९/२५/६/६२४/२०)।

ति.प./१/५१ कणयधराधरधीरं मूढत्तयविरहिदं हयट्ठमलं। जायदि पवयणपढणे सम्मद्दंसणमणुवमाणं।५१। = प्रवचन अर्थात् परमागमके पढनेपर सुमेरु पर्वतके समान निश्चल लोकमूढता, देवमूढता, गुरुमूढतासे रहित, शंका आदि आठ दोषोंसे युक्त अनुपम सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है।

दे.स्वाध्याय/१/८ में ध./१ जिनागम जीवोंके मोहरूपी ईंधनके जलानेके लिए अग्निके समान, अज्ञानको विनाशके लिए सूर्यके समान, तथा कर्मोंके मार्जनके लिए समुद्रके समान है।

न.च.वृ./३६४ पर उद्धृत व ३४८ दव्वसुयादो भावं भावदो होइ सव्वसण्णाणं। संवेयणसंवित्ती केवलणाणं तदो भणियो।१। गहिओ सो सुदणाणे पच्छा संवेयणेण झायव्वो। जो णहु सुदमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावे।३४८। —द्रव्यश्रुतसे भावश्रुत होता है फिर क्रमसे सम्यग्ज्ञान, संवेदन, आत्म संवित्ति, तथा केवलज्ञान होते है, ऐसा कहा गया है। (न.च.वृ./२६७) श्रुतज्ञानको ग्रहण करके पश्चात् आत्म-संवेदनमें ध्याना चाहिए। जो श्रुतज्ञानका अवलम्बन नहीं लेता वह आत्म सद्भावमें मोह करता है।३४८।

स.सा./आ./२७४ स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्मज्ञानम्। —जो भिन्न वस्तु भूत ज्ञानमय आत्माका ज्ञान वह शास्त्र पठनका गुण है।

आ.अनु./१७० अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते। समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्।१७०। —जो श्रुतस्कन्ध रूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थ रूप फूल एवं फलोंके भारसे अतिशय झुका हुआ है, वचनों रूपी पत्तोंसे व्याप्त है, विस्तृत नयों रूप सैकड़ों शाखाओंसे युक्त है, उन्नत है, तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञान रूप जड़से स्थिर है, उस श्रुत स्कन्ध रूप वृक्षके ऊपर बुद्धिमान् साधुके लिए अपने मनरूपी बन्दरको सदा रमाना चाहिए।

प.प्र./टी./२/१११ निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा…तत्परिज्ञानसाधकं च पठति तदा परम्परया मोक्षसाधकं भवति। —जो निज शुद्धात्माको उपादेय जानकर, …ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय जो शास्त्र, उनको पढ़ता है, तो परम्परा मोक्षका साधक होता है।

२. स्वाध्याय विधि

१. स्वाध्याय योग्य काल व उसका विभाजन

दे कृतिकर्म/४/१ प्रातः का स्वाध्याय सूर्योदयसे दो घड़ी पश्चात् प्रारम्भ करके मध्याह्नमें दो घड़ी बाकी रहनेपर समाप्त कर देना चाहिए। अपराह्नका स्वाध्याय मध्याह्नके दो घड़ी पश्चात्से प्रारम्भ कर सूर्यास्तसे दो घड़ी पूर्व समाप्त कर देना चाहिए। यही क्रम पूर्व रात्रिक व वैरात्रिक स्वाध्यायमें अपनाना चाहिए।

ध.९/४,१,५४/गा. १११-११४/२५८ प्रतिपद्येकः पादो ज्येष्ठा मूलस्य पौर्णमास्यां तु। सा वाचना विमोक्षे छाया पूर्वाह्णवेलायाम्।१११। सैवापराह्णकाले वेला स्याद्वाचनाविधौ विहिता। सप्तपदी पूर्वाह्णापराह्णयोर्ग्रहण-मोक्षेषु।११२। ज्येष्ठामूलात्परतोऽप्यापौषाद्द्वयङ्गुला हि वृद्धिः स्यात्। मासे मासे विहिता क्रमेण सा वाचनाछाया।११३। एवं क्रमप्रवृद्धया पादद्वयमत्र हीयते पश्चात्। पौषादाज्येष्ठान्ताद् द्वयङ्गुलमेवेति विज्ञेयम्।११४। —ज्येष्ठ मासकी प्रतिपदा एवं पूर्णमासीको पूर्वाह्णकालमें वाचनाकी समाप्तिमें एक पाद अर्थात् एक वितस्ति प्रमाण (जाँघोंकी) वह छाया कही गयी है अर्थात् इस समय पूर्वाह्ण कालमें बारह अंगुल प्रमाण छायाके रह जानेपर अध्ययन समाप्त कर देना चाहिए।१११। वही समय अपराह्ण कालमें वाचना प्रारम्भ करनेमें कहा गया है। पूर्वाह्ण कालमें वाचना प्रारम्भ करके अपराह्ण कालमें उसे छोड़नेमें सात पाद प्रमाण छाया कही गयी है।११२। ज्येष्ठ माससे आगे पौष मास तक प्रत्येक मासमें दो अंगुल प्रमाण वृद्धि होती है, यह क्रमसे वाचना समाप्त करनेकी छायाका प्रमाण कहा गया है।११३। इस प्रकार क्रमसे वृद्धि होनेपर पौष मास तक दो पाद हो जाते हैं। पश्चात् पौष माससे ज्येष्ठ मास तक दो अंगुल ही क्रमशः कम होते जाते है, ऐसा जानना चाहिए।११४। (और भी दे.काल/१/१०)।

२. स्वाध्याय योग्य कालमें कुछ अपवाद

भ.आ./मू./२०५२/१७८४ वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तध य धम्मथुदि। सुत्तत्थपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तत्थमेयमणो।२०५२। —(सल्लेखना गत साधु) वाचना, पृच्छना, परिवर्तना व धर्मोपदेशको छोड़कर सूत्र और अर्थका एकाग्रतासे स्मरण करते है। अथवा दिनका पूर्व, मध्य, अन्त तथा अर्धरात्रि ऐसे चार समयोंमें तीर्थंकरोंकी दिव्य ध्वनि खिरती है। ये काल स्वाध्यायके नहीं है, परन्तु ऐसे समयोंमें भी वे अनुप्रेक्षात्मक स्वाध्याय करते है।

३. स्वाध्यायके अयोग्य द्रव्य क्षेत्र काल

ध.९/४,१,५४/गा ९६-११४/२५५-२५७ यमपटहरवश्रवणे रुधिरस्रावेऽङ्गतोऽतिचारे च। दातृष्वशुद्धकायेषु भुक्तवति चापि नाध्येयम्।९६। तिल पलल-पृथुकलाजापूपादिस्निग्धसुरभिगन्धेषु। भुक्तेषु भोजनेषु च दवाग्निधूमे च नाध्येयम्।९७। योजनमण्डलमात्रे संन्यासविधौ महोपवासे च। आवश्यकक्रियायां केशेषु च लुच्यमानेषु।९८। सप्तदिनान्यध्ययनं प्रतिषिद्धं स्वर्गगते श्रमणसूरौ। योजनमात्रे दिवसत्रितयं त्वतिदूरतो दिवसम्।९९। प्राणिनि च तीव्रदुःखान्म्रियमाणे स्फुरति चातिवेदनया। एकनिवर्तनमात्रे तिर्यक्षु चरत्सु च न पाठ्यम्।१००। तावन्मात्रे स्थावरकायक्षयकर्मणि प्रवृत्ते च। क्षेत्राशुद्धौ दुर्गन्धे वातिकुणपे वा।१०१। विगतार्थागमने वा स्वशरीरे शुद्धिवृत्तिविरहे वा। नाध्येयः सिद्धान्तः शिवसुखफलमिच्छता व्रतिना।१०२। प्रमिति-व्यन्तरभेरीताडन-तत्पूजासंकटे कर्षणे वा। संमृक्षण-संमार्जनसमीपचाण्डालबालेषु।१०५। अग्निजलरुधिरदीपे मांसास्थिप्रजनने तु जीवानाम्। क्षेत्रविशुद्धिर्न स्याद्यथोदितं सर्वभावज्ञैः।१०६। युवत्या

· समधीयानो बक्षणकक्षायमस्पृशन् स्वाङ्गम्। यत्नेनाधीत्य पुनर्यथाश्रुतं वाचनां मुञ्चेद् ।१०८। तपसि द्वादशसंख्ये स्वाध्यायः श्रेष्ठ उच्यते सद्भिः। अस्वाध्यायदिनानि ज्ञेयानि ततोऽत्र विद्वद्भिः ।१०९। पर्वसु नन्दीश्वरवरमहिमादिवसेषु चोपरागेषु। सूर्याचन्द्रमसोरपि नाध्येयं जानता व्रतिना ।११०। अष्टम्यामध्ययनं गुरुशिष्यद्वयवियोगमावहति। कलहं तु पौर्णमास्यां करोति विघ्नं चतुर्दश्याम् ।१११। कृष्णचतुर्दश्यां यद्यधीयते साधवो ह्यमावस्याम्। विद्योपवासविधयो विनाशवृत्तिं प्रयान्त्यशेषं सर्वे ।११२। मध्याह्ने जिनरूपं नाशयति करोति संध्ययोर्व्याधिम्। तुष्यन्तोऽप्यप्रियतां मध्यमरात्रौ समुपयान्ति ।११३। अतितीव्रदुःखितानां रुदतां सदर्शने समीपे च। स्तनयित्नुविद्युदभ्रेष्वतिवृष्ट्या उल्कनिर्घाते ।११४। — द्रव्य—यम पटहका शब्द सुननेपर, अंगसे रक्तस्रावके होनेपर, अतिचारके होनेपर तथा दाताओंके अशुद्धकाय होते हुए भोजन कर लेनेपर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।९६। तिलमोदक, चिउड़ा, लाई और पुआ आदि चिक्कण एवं सुगन्धित भोजनोंके खानेपर तथा दावानलका धुँआ होनेपर अध्ययन नहीं करना चाहिए ।९७। एक योजनके घेरेमें संन्यासविधि, महोपवास विधि, आवश्यकक्रिया एवं केशोंका लोंच होनेपर तथा आचार्यका स्वर्गवास होनेपर सात दिन तक अध्ययन करनेका प्रतिषेध है। उक्त घटनाओंके एक योजन मात्रमें होनेपर तीन दिन तक तथा अत्यन्त दूर होनेपर एक दिन तक अध्ययन नहीं करना चाहिए ।९८-९९। प्राणीके तीव्र दुःखसे मरणासन्न होनेपर या अत्यन्त वेदनासे तड़फड़ानेपर तथा एक निवर्तन (एक बीघा) मात्रमें तिर्यंचोंका संचार होनेपर अध्ययन नहीं करना चाहिए ।१००। २. क्षेत्र—उतने मात्र स्थावर काय जीवोंके घात रूप कार्यमें प्रवृत्त होनेपर, क्षेत्रकी अशुद्धि होनेपर, दूरसे दुर्गन्ध आनेपर अथवा अत्यन्त सड़ी गन्धके आनेपर, ठीक अर्थ समझमें न आनेपर (?) अथवा अपने शरीरसे शुद्धिसे रहित होनेपर मोक्ष सुखके चाहनेवाले व्रती पुरुषको सिद्धान्तका अध्ययन नहीं करना चाहिए ।१०१-१०२। व्यन्तरोंके द्वारा भेरी ताड़न करनेपर, उनकी पूजाका संकट आनेपर, कर्षणके होनेपर, चाण्डाल बालकोंके समीप झाड़ा-बुहारी करनेपर, अग्नि, जल व रुधिरकी तीव्रता होनेपर, तथा जीवोंके मांस व हड्डियोंके निकाले जानेपर क्षेत्रकी विशुद्धि नहीं होती ।१०५-१०६। ३. काल—साधु पुरुषोंने बारह प्रकारके तपमें स्वाध्यायको श्रेष्ठ कहा है। इसलिए विद्वानोंको स्वाध्याय न करनेके दिनोंको जानना चाहिए ।१०९। पर्वदिनों, नन्दीश्वरके श्रेष्ठ महिम दिवसों और सूर्य, चन्द्र ग्रहण होनेपर विद्वान् व्रतीको अध्ययन नहीं करना चाहिए ।११०। अष्टमीमें अध्ययन गुरु और शिष्य दोनोंका वियोग करनेवाला होता है। पूर्णमासीके दिन किया गया अध्ययन कलह और चतुर्दशीके दिन किया गया अध्ययन विघ्नको करता है ।१०७। यदि साधुजन कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्याके दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवास विधि सब विनाशवृत्तिको प्राप्त होते हैं ।१०८। मध्याह्न कालमें किया गया अध्ययन जिन रूपको नष्ट करता है, दोनों सन्ध्या कालोंमें किया गया अध्ययन व्याधिको करता है, तथा मध्यम रात्रिमें किये गये अध्ययनसे अनुरक्त जन भी द्वेषको प्राप्त होते हैं ।११३। अतिशय तीव्र दुःखसे युक्त और रोते हुए प्राणियोंको देखने या समीपमें होनेपर, मेघोंकी गर्जना व बिजलीके चमकनेपर और अतिवृष्टिके साथ उल्कापात होनेपर (अध्ययन नहीं करना चाहिए) ।११४। (और भी दे. काल/१/१०)।

४. अयोग्य द्रव्यादिमें स्वाध्याय करनेसे हानि

ध. ९/४,१,५४/गा. ११९/२५९ दव्वादिवदिक्कमणं करेदि सुत्तत्थसिक्खलोहेण। असमाहिमसज्झायं कलहं वाहिं वियोगं च ।११९। —सूत्र और अर्थकी शिक्षाके लोभसे किया गया द्रव्यादिका अतिक्रमण असमाधि अर्थात् सम्यक्त्वादिकी विराधना, अस्वाध्याय अर्थात् अलाभ, कलह, व्याधि और वियोगको करता है ।११९।

५. स्वाध्याय प्रतिष्ठापन व निष्ठापन विधि

ध. ९/४,१,५४/गा. १०७-१०८/२५९ क्षेत्रं संशोध्य पुनः स्वहस्तपादौ विशोध्य शुद्धमनाः। प्राशुकदेशावस्थो गृह्णीयाद् वाचनां पश्चात् ।१०७। युक्त्या समधीयानो वक्षणकक्षाद्यमस्पृशन् स्वाङ्गम्। यत्नेनाधीत्य पुनर्यथाश्रुतं वाचनां मुञ्चेत् ।१०८। —क्षेत्रकी शुद्धि करनेके पश्चात् अपने हाथ और पैरोंको शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्राशुक देशमें स्थित होता हुआ वाचनाको ग्रहण करे ।१०७। बाजू और कांख आदि अपने अंगका स्पर्श न करता हुआ उचित रीतिसे अध्ययन करे और यत्नपूर्वक अध्ययनके पश्चात् शास्त्र विधिसे वाचनाको छोड़ दे ।१०८।

दे. कृतिकर्म/४/3 [स्वाध्यायका प्रारम्भ दिन और रात्रिके पूर्वाह्न, अपराह्न चारों ही वेलाओंमें लघु श्रुत भक्ति, और आचार्य भक्तिका पाठ करके करना चाहिए, नियत समय तक स्वाध्याय करके लघु श्रुतभक्ति पूर्वक निष्ठापना करनी चाहिए। ये सब पाठ योग्य कृतिकर्म सहित किये जाते हैं।]

६. विशेष शास्त्रोंके प्रारम्भ व समाप्तिपर उपवासादिका निर्देश

मू. आ./२८० उद्देस समुद्देसे अणुणापणए अ होंति पंचेव। अंगसुदखंध भेजुवदेसा विय पदविभागो य ।२८०। —बारह अंग चौदह पूर्व वस्तु प्राभृत-प्राभृत इनके पाद विभागके प्रारम्भमें वा समाप्तिमें वा गुरुओंकी अवज्ञा होनेपर पाँच-पाँच उपवास अथवा प्रायश्चित्त अथवा कायोत्सर्ग कहे है ।२८०।

७. नियमित व अनियमित विधि युक्त पढ़े जाने योग्य कुछ शास्त्र

मू. आ./२७७-२७९ सुत्तं गणधरकधिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकथिदं च। सुदकेवलिणा कधिदं अभिण्णदसपुव्वकधिदं च ।२७७। तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स। एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए ।२७८। आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ। पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ ।२७९। —अंग पूर्व वस्तु प्राभृत रूप सूत्र गणधर कथित श्रुतकेवली कथित अभिन्न दशपूर्व कथित होता है ।२७७। वे चार प्रकारके सूत्र कालशुद्धि आदिके बिना संयमियोंको तथा आर्यिकाओंको नहीं पढ़ने चाहिए। इनसे अन्य ग्रन्थ कालशुद्धि आदिके न होनेपर भी पढ़ने योग्य माने गये हैं ।२७८। सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओंका स्वरूप कहनेवाला ग्रन्थ, सत्रह प्रकारके मरणको वर्णन करनेवाला ग्रन्थ, पंच संग्रहग्रन्थ, स्तोत्र ग्रन्थ, आहारादिके त्यागका उपदेश करनेवाला ग्रन्थ, सामायिकादि छह आवश्यकोंको कहनेवाला ग्रन्थ, महापुरुषोंके चारित्रका वर्णन करनेवाला ग्रन्थ कालशुद्धि आदि न होनेपर भी पढ़ना चाहिए।

स्वानुभव—दे. अनुभव।

स्वानुभव दर्पण—आ. योगेन्दुदेव (ई. श. ६) द्वारा विरचित अध्यात्म विषयक प्राकृत गाथा बद्ध ग्रन्थ है। इसमें १०९ गाथाएँ है।

स्वामित्व—१. स्वामित्वका लक्षण

स. सि./१/७/२२/३ स्वामित्वमाधिपत्यम्।

स. सि./१/२५/१३२/४ स्वामी प्रयोक्ता।—स्वामीका अर्थ अधिष्ठाता है (रा. वा./१/७/-/३८/२)। (अवधि व मनःपर्यय ज्ञानके अर्थमें) स्वामीका अर्थ प्रयोक्ता है (रा. वा./१/२५/-/८६/१)।

२. अष्टकर्म बन्धके स्वामियोंकी ओघ आदेश प्ररूपणा

(म. बं./पु. सं. $\frac{\S \text{ सं.}}{\text{पृ. सं.}}$), (ध./पु. सं./पृ. सं.)

प्रकृति	विषय	उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट	भुजगार आदि पद	ज. उ. वृद्धि हानि	असंख्यात भागादि वृद्धि	सामान्य
१. प्रकृति बन्ध—						
मूल उत्तर	बन्धक सामान्य					म./१/$\frac{११-२०}{३२-४४}$
२. स्थिति बन्ध—						
मूल.	काल सामान्य	ध. ११/८७-१३६				ध. ११/८७
"	ओघ आदेश	म./२/$\frac{४३}{३२}$	म./२/$\frac{२७३}{६४३}$	म./२/$\frac{३४१}{१७६}$	म./२/$\frac{३६३}{१८२}$	
उत्तर	" "	म./२/$\frac{१८}{२५८}$	म./३/$\frac{७०७}{३२८}$	म./३/$\frac{८३५}{३६४}$	म./३/$\frac{८११}{४०६}$	
मूल उत्तर	साता असाताके २,३,४ स्थानीय अनुभाग बंधक जीवोंकी अपेक्षा	ध. ११/३१६				
३. अनुभाग बन्ध—						
मूल	ओघ आदेश	म./४/$\frac{१५}{७}$	म./४/$\frac{२७०}{६२५}$	म. ४/$\frac{३१२}{१४१}$	म./४/$\frac{३५६}{१६१}$	
उत्तर	" "	म./४/$\frac{४०४}{१८५}$	म./५/$\frac{४४४}{२४१}$	म./५/$\frac{५६४}{३२५}$	म./५/$\frac{६१४}{३६१}$	
	बन्धकके भाव	ध. १२/१३				
"	कालोंमें अल्पबहुत्व				ध. १२/२११	
"	स्थानों " "				ष. खं./१२/२५६-२६७/२१४	
४. प्रदेश बन्ध—						
मूल	ओघ आदेश	म./६/$\frac{२४}{१४}$	म./६/$\frac{१०३}{५४}$	म./६/$\frac{१४८}{८०}$		
उत्तर	"	म /६/$\frac{१७२}{९२}$				
५. विशेष—		विषय	उत्कृष्ट	अनुत्कृष्ट	जघन्य	अजघन्य
ज्ञानावरणीय	मूल	प्रदेश सचय	ध. १०/३१	ध. १०/११०	ध. १०/२६८	ध. १०/२६६
दर्शनावरणीय	"	" "			ध. १०/३१२	ध. १०/३१४
वेदनीय	"	" "			ध. १०/३१६	ध. १०/३२७
मोहनीय	"	" "			ध. १०/३१२	ध. १०/३१४
आयु	"	" "	ध. १०/२२५	ध. १०/२५५	ध. १०/३३०	ध. १०/३३६
नाम, गोत्र	"	" "			ध. १०/३३०	ध. १०/३३०
अन्तराय	"	" "			ध. १०/३१२	ध १०/३१४

प्रकृति	विषय	उत्कृष्ट	अनुत्कृष्ट	जघन्य	अजघन्य
१ ज्ञानावरणी मूल	क्षेत्र या अवगाहना	ध. ११/१४	ध. ११/२३	ध. ११/३३	ध ११/३३
२,४,८ दर्शना., मोहनीय अन्तराय मूल	"	ध. ११/२६	ध. ११/२६	ध. ११/५१	ध. ११/५३
३ वेदनीय मूल	"	ध. ११/२६	ध. ११/३३	"	"
५–७. आयु, नाम, गोत्र	"	ध ११/३३	ध. ११/३३	"	"

१. मोहनीय कर्म सत्त्वके स्वामित्व विषयक ओघ आदेश प्ररूपणा — (क. पा./पु. सं./ §सं./पृ.सं.)

सं.	मूल या उत्तर	विषय	उत्कृष्टानुत्कृष्ट	भुजगारादि पद	ज. उ. वृद्धि हानि	षट् स्थान वृद्धि-हानि	स्वामित्व सामान्य
१. प्रकृति सत्त्व —							
१	सामान्य	राग व द्वेष भाव					१/§ ३११/३८४
		कर्म सत्ता व					३/§ ४५/२३
	मूल	असत्ता सामान्य-कर्म सत्त्व असत्त्व					२/§ ४७/२६
	उत्तर	,,					२/§ ११०/११
	,,	परस्पर सन्निकर्ष					२/§ १४२/१३०
	,,	२८, २४, २१ आदि स्थानोंकी समुत्कीर्तना	२/§ २३१/२१०	२/§ ४२०/३८६	२/§ ४७८/४२६	२/§ ४८७/४३१	२/§ ३१०/२०२
२. स्थिति सत्त्व —							
१	मूल		३/§ २२/१६	३/§ १७१/१६	३/§ २३०/१२१	३/§ २४१/१३८	
२	उत्तर		३/§ ४०५/२२२	४/§ १०/६	४/§ १६६/१०७	४/§ २१०/१६०	
३. अनुभाग सत्त्व —							
१	मूल		५/§ ७१/१०	५/§ १४२/१३	५/§ ११५/१०८	५/§ १७१/११३	
२	उत्तर		५/§ २२६/१५७	५/§ ४७४/२७५	५/§ ५१८/३००		

४. अष्ट कर्म उदीरणाके स्वामित्व विषयक ओघ आदेश प्ररूपणा (ध. १५/पृष्ठ सं.)

क्र.	प्रकृति	मूल व उत्तर	जघन्य उत्कृष्ट	भुजगारादि पद	ज. उ. वृद्धि हानि	स्वामित्व सामान्य	भंगों या स्थानोंका स्वामित्व
१. प्रकृति उदीरणा							
१	अष्टकर्म	मूल	४६-४८	५१	५३	४४-४६	४८
२	ज्ञाना. दर्शना	उत्तर	८१-८३	६७-६६	१००	५४-६१	
३	वेदनीय मोह	,,	,,	,,	,,		८१-८३
४	आयु, नाम		८६-६६	६७-६६	१००		८१-८३
५	गोत्र, अन्तरा	उत्तर	६७	,,	,,		८६-६६ ६७
२ स्थिति उदीरणा —							
१	अष्टकर्म	मूल	१०४-११८				
३ अनुभाग उदीरणा —							
१	अष्टकर्म	मूल	१७६-१६०		२३७-२४६		
४ प्रदेश उदीरणा —							
१	अष्टकर्म	मूल	२५३-२६१		२६४-२७१		

५. अष्टकर्मोदय स्वामित्व सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा (ध. १५/पृष्ठ सं.)

सं.	प्रकृति	मूल व उत्तर	उत्कृष्टानुत्कृष्ट	भुजगारादि पद	ज. उ. वृद्धि हानि	षट् स्थान वृद्धि-हानि	स्वामित्व सामान्य
१ प्रकृति उदय —							
१	अष्टकर्म	मूल उत्तर					२८५ २८५-२८८
२ स्थिति उदय —							
१	अष्टकर्म	मूल उत्तर	२६०	२६४ २६५	२६५ २६५	२६५ २६५	
३ अनुभाग उदय —							
१	अष्टकर्म	मूल उत्तर	२६५ २६५-२६६	२६५ २६५-२६६	२६५ २६५-२६६	२६५ २६५-२६६	
४ प्रदेश उदय —							
१	अष्टकर्म	मूल उत्तर	२६६ २६७-३०६	२६६ ३२५	२६६ ३३२-३३४	२६६ ×	

६. अन्य विषयोंके स्वामित्व सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा (ध. १५/पृष्ठ सं.)

सं. प्रकृति	विषय	जघन्योत्कृष्ट पद	भुजगारादि पद	ज. उ. वृद्धि हानि पद	स्वामित्व सामान्य
१ मूलोत्तर प्रकृति–	उपशमना		२८०		२७६-२७८
	संक्रमण	→	२८३-२८४	←	
२ मूलोत्तर स्थिति–	उपशमना	→	२८१	←	
	संक्रमण	→	२८३-२८४	←	
३ मूलोत्तर अनुभाग	उपशमना	→	२८२	←	
	संक्रमण	→	२८३-२८४	←	
४ मूलोत्तर प्रदेश –	उपशमना	→	२८२	←	
	संक्रमण	→	२८३-२८४	←	

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१. पाँचों शरीरकी जघन्योत्कृष्ट संघातन परिशातन कृतिके स्वामित्व की ओघादेश प्ररूपणा —(ष. खं/९/सू. ७१/३२९-३४६)।

२. पाँच शरीरोंमें बन्धको प्राप्त वर्गणाओंमें ज. उ. विस्रसोपचयोंके स्वामित्वकी ओघ आदेश प्ररूपणा —(ध १४/५५९-५६२)।

स्वार्थ—स्व. स्तो./मू./३१ स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पंसा स्वार्थो न भोग परिभङ्गुरात्मा। तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्य-द्भगवान् सुपार्श्व:।३१। –यह जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है वही पुरुषोंका स्वार्थ है, क्षणभंगुर भोग स्वार्थ नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय विषय सुख सेवनसे उत्तरोत्तर तृष्णाकी वृद्धि होती है तापकी शान्ति नहीं होती। यह स्वार्थ और अस्वार्थका स्वरूप शोभन पार्श्वोंके धारक भगवान् सुपार्श्वने बताया है।३१।

स्या. म./३/१५/२१ तेषां (ज्ञानिनां) हि परार्थस्यैव स्वार्थत्वेनाभिमतत्वात्। –महात्मा लोग दूसरेके स्वार्थको अपना स्वार्थ समझते है।

अन. ध./४/४४ मौनमेव सदा कुर्यादार्य: स्वार्थैकसिद्धये। स्वैकसाध्ये परार्थे वा ब्रूयात्स्वार्थाविरोधत:।४४। –परोपकारकी अपेक्षा न करके आत्म कल्याणके लिए निरन्तर मौन धारणा चाहिए। परोपकारका कार्य ऐसा हो जो कि एक अपने द्वारा ही सिद्ध होता हो तो आत्म कल्याणमें विरोध न आवे इस तरह बोलना चाहिए।४४।

स्वार्थ प्रमाण—दे. प्रमाण/१/२।

स्वार्थानुमान—दे. अनुमान/१।

स्वास्तिक—रुचक पर्वतस्थ एक कूट–दे. लोक/७।

स्वास्थ्य—**१. स्वास्थ्यका लक्षण**

स. श./३९ यदा मोहात्प्रजायेत रागद्वेषौ तपस्विन:। तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यत: क्षणात्।३९। –जिस समय तपस्वीके मोहके उदयसे रागद्वेष उत्पन्न हो जावें, उस समय तपस्वी अपने स्वास्थ्य (आत्म स्वरूप) की भावना करे, इससे वे क्षणभरमें शान्त हो जाते हैं।

भ. आ./वि./७/३७/१७ बन्धरहिता निर्जरा स्वास्थ्यं प्रापयति नेतरा बन्धसहभाविनीति। –बन्ध रहित निर्जरा ही स्वास्थ्य अर्थात् मोक्ष प्रदान करती है, परन्तु बन्धसहभाविनी निर्जरा मुक्तिका कारण नहीं।

सामायिक पाठ/अमित./२४ न सन्ति बाह्या: मम केचनार्था: भवामि तेषां न कदाचनाहम्। इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्या: स्वस्थ: सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै।२४। –कुछ भी बाह्य पदार्थ मेरे नहीं है,और मैं भी उनका कभी नहीं हूँ। ऐसा सोचकर तथा समस्त बाह्यको छोड़कर, हे भद्र ! तू मुक्तिके लिए स्वस्थ हो जा।

२. स्वार्थमें सं. स्तो. आत्मोपयोग ही स्वास्थ्य है।

पं. वि./४/६४ साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्। शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचका:।६४। –साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध, और शुद्धोपयोग एकार्थवाची हैं।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. परम स्वास्थ्यके अपर नाम —दे. मोक्षमार्ग/२/५।

२. स्वास्थ्यबाधक पदार्थ अभक्ष्य हैं —दे. भक्ष्याभक्ष्य/१/३।

स्वाहा—भ. आ./वि./१७३१/१५६६/५ स्वाहाकारान्ता तद्रहितमन्त्रस्य। –जिसके अन्तमें स्वाहाकार है, वह विद्या है। मन्त्र स्वाहाकारसे रहित होता है।

स्वोदय बंधी प्रकृतियाँ—दे. उदय/७/२।

स्वोपकार—दे. उपकार।

[ह]

हंस—१ प. प्र./टी./२/१७० अनन्तज्ञानादिनिर्मलगुणयोगेन हंस इव हंस: परमात्मा। –अनन्तज्ञानादि निर्मल गुण सहित हंसके समान उज्ज्वल परमात्मा हंस है। २. परमहंसके अपर नाम–दे. मोक्षमार्ग/२/५।

हंसगर्भ—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका नगर–दे. विद्याधर।

हड्डी—दे. अस्थि।

हत—गणितकी गुणकार विधिमें गुण्य राशिको गुणकार करि हत किया गया कहलाता है।– दे. गणित/II/१/५।

हतसमुत्पत्तिक— दे. अनुभाग/१/७।

हत्या—१ दे. हिंसा, २ आत्महत्या दे मरण/४।

हनन—गणित विधिमें दो राशियोंको परस्पर गुणा करना/दे. गणित/II/१/५।

हनुमंत चरित्र—प रायमल्ल(ई १५७६-१५९३)कृत भाषा ग्रन्थ।

हनुमान्—१. मानुषोत्तरपर्वतस्थ वज्रकूटका स्वामी भवनवासी सुपर्णकुमार देव – दे लोक५/१० २ प. पु /सर्ग/श्लोक पूर्वभव सं. ६ में दमयन्त, पाँचवेंमें स्वर्गमें देव (१७/१४२-१४८) चौथेमें सिंहचन्द्र नामक राजपुत्र (१७/१५१) तीसरेमें स्वर्गमें देव (१७/१५२) दूसरेमें सिंहवाहन राजपुत्र (१७/१५४) और पूर्वभवमें लान्तव स्वर्गमें देव था (१७/१६२) वर्तमान भवमें पवनंजयका पुत्र था (१७/१६४,३०७)। क्योंकि विमानमें-से पाषाण शिलापर गिरनेपर इसने पत्थरको चूर्ण-चूर्ण कर दिया इसलिए इनका नाम श्रीशैल भी था। (१७/४०९) रामायण युद्धमें रामकी बहुत सहायता की। अन्तमें मेरुकी वन्दनाको जाते समय उल्कापातसे विरक्त होकर दीक्षा ले ली (११२/७६); (११३/३२), तथा क्रमसे मोक्ष प्राप्त किया (११३/४४-४५)।

हनुरुहद्वीप—हनुमान्की माता अंजनाके मामा प्रतिसूर्यका राज्य। (प. पु /१७/३४६)।

हरण—भरत क्षेत्रकी एक नदी–दे. मनुष्य/४।

हरि—१. चम्पापुरके राजा आर्यका पुत्र था। इसीके नामपर हरिवंशकी उत्पत्ति हुई (ह. पु./१५/५७-५८)–दे. इतिहास१०/१८। २ निषध पर्वतस्थ एक कूट व उसका स्वामी देव – दे. लोक/५/४; ३. विद्युत्प्रभ गजदन्तका एक कूट व उसका रक्षक देव–दे. लोक५/४; ४. माल्यवान्पर्वतस्थ एक कूट व उसकी स्वामिनी देवी। –दे लोक/५/४।

हरिकांत—१. हरि क्षेत्रमें स्थित एक कुण्ड जिसमें से हरिकान्ता नदी निकलती है।–दे. लोक३/१०। २. हैमरत पर्वतस्थ एक कूट व उसका स्वामी देव–दे. लोक/५/४।

हरिकांता—हरि क्षेत्रकी एक प्रसिद्ध नदी—दे. लोक/३/१०।

हरिक्षेत्र—रा. वा./३/१०/८/१७२/२७ हरिः सिंहस्तस्य शुक्लरूपपरिणामित्वात् तद्वर्णमनुष्याध्युषितत्वाद्धरिवर्षः इत्याख्यायते।—हरि अर्थात् सिंहके समान शुक्ल रूपवाले मनुष्य इसमें रहते हैं अतः यह हरिवर्ष कहलाता है। (यह अढाई द्वीपोंमें प्रसिद्ध तीसरा क्षेत्र है)। २. इस क्षेत्रका अवस्थान व विस्तारादि—दे. लोक/३/३। ३. इस क्षेत्रमें काल वर्तन आदि सम्बन्धी विशेषताएँ—दे. काल/४/१५।

हरिचन्द्र—नोमक वंशके कायस्थ आर्द्रदेव नामक श्रेष्ठी के पुत्र आचारशास्त्र के वेत्ता जैन कवि गृहस्थ। कृति—धर्मशर्माभ्युदय, जीवन्धर चम्पू। समय—ई. श. १० का मध्य। (ती./४/१४)। २. 'अणत्थमियकहा' के रचयिता एक अपभ्रंश कवि गृहस्थ। समय—वि. श. १५ का मध्य। (ती./४/२२२)।

हरित—१. हरिक्षेत्रकी प्रसिद्ध नदी—दे. लोक/३/११। २. हरिक्षेत्रमें स्थित एक कुण्ड जिसमें-से कि हरित नदी निकलती है।—दे. लोक/३/१०, ३. निषध पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक/५/४; ४. हरित कुण्डव हरित कुण्डकी स्वामिनी देवी—दे. लोक/३/१०।

हरिताल—मध्य लोकके अन्तका पन्द्रहवाँ सागर व द्वीप—दे. लोक/५/१।

हरिदेव—चंगदेव की सप्तम पीढ़ी में उत्पन्न, मयणपराजय चरिउ के रचयिता एक सद्गृहस्थ अपभ्रंश कवि।

समय ई श.१४का अन्तिम चरण। (ती./४/२१८)।
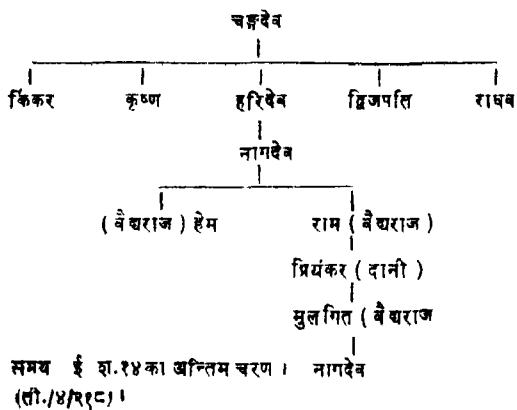
हरिद्वती—भरत क्षेत्र वरुण पर्वतस्थ एक नदी—दे. मनुष्य/४।

हरिभद्र—१. महातार्किक तथा दार्शनिक प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य। कृतियें—षड्दर्शन समुच्चय, जंबूद्वीप संग्रायणी, लीला विस्तार टीका। समय—वि. ५८५ में स्वर्गवास। अत: ई. ४८०-५२८। (द. सा. प्र. २८/प्रेमीजी)। २. याकिनीसूनु के नाम से प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य। कृति—तत्त्वार्थाधिगम भाष्य की स्वोपज्ञ टीका इत्यादि सैकड़ों ग्रन्थ। समय—वि. श. ८-९। (जै./२/१००, १७५)। ३. मानवदेव उपाध्याय के शिष्य श्वेताम्बराचार्य। समय—वि. ११७२। (जै./१/४३२)।

हरिमश्रु—एक क्रियावादी—दे. क्रियावाद।

हरिवंश—सुमुख राजाने वीरक नामक श्रेष्ठीकी स्त्रीका हरणकर उससे भोग किया। ये दोनों फिर आहार दानके प्रभावसे हरिक्षेत्रमें उत्पन्न हुए। पूर्व वैरके कारण वीरकने देव बनकर इसको (सुमुखके जीवको) भरत क्षेत्रमें रख दिया। चूँकि यह हरिक्षेत्रसे आया था इसलिए इसके वंशका नाम हरिवंश हुआ। (प. पु./२१/२-७२; ४८-५५); (ह. पु./१५/५८)। —दे० इतिहास/१०/१८।

हरिवंश पुराण—पुन्नाटसंघीय आ. जिनसेन (ई. ७८३) कृत ६६ सर्ग तथा १०,००० श्लोक संस्कृत काव्य। (ती./३/४)। २. कवि धवल (वि. श. ११-१२) कृत अपभ्रंश काव्य। (ती./४/१११)। ३. ब्र. जिनदास (ई. १३६३-१४६८) कृत ४० सर्ग प्रमाण संस्कृत काव्य। (ती./३/३४०)। ४. कवि रइधु (वि. १४५७-१५३६) कृत अपभ्रंश काव्य (दे. रइधु)। ५. सकलकीर्ति (ई. १४०६-१४४२) कृत संस्कृत काव्य। (दे. सकलकीर्ति)।

हरिवर्मा—अंगदेशके चम्पापुर नगरका राजा था। दीक्षा धारण कर ११ अंगोंका अध्ययन किया। दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। अन्तमें समाधि मरणकर प्राणत स्वर्गमें इन्द्र हुआ। (म. पु./६७/२-१५) यह मुनिसुव्रत नाथ भगवान्‌का पूर्वका दूसरा भव है।—दे. मुनिसुव्रत।

हरिवर्ष—१. हिमवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक५/४ २. हिरात बस्तीसे तात्पर्य है जिसका पर्वत महामेरु शृंखलाके अन्तर्गत निषध (हिन्दुकुश) है जो मेरु तक पहुँच जाता है। अवेस्तामें इसका नाम 'हरिवरजो' प्रसिद्ध है। (ज. प./प्र. १३९)।

हरिषेण—१. साकेत नगरीके स्वामी वज्रसेनका पुत्र था। दीक्षा धारणकर आयुके अन्तमें महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ। (म. पु./७४/२३२-२३४) यह वर्धमान भगवान्‌का पूर्वका सातवाँ भव है।—दे. वर्धमान २. पूर्वभव सं. २. में अनन्तनाथ भगवान्‌के तीर्थमें एक बड़ा राजा था। पूर्व भवमें स्वर्गमें देव था। (म. पु./६७/६१) वर्तमान भवमें दसवाँ चक्रवर्ती था। विशेष—दे शलाकापुरुष/२; ३. काठियावाड़के वर्धमानपुर नगरवासी पुन्नाटसंघी आचार्य। कृति बृहत्कथा कोष। समय—ग्रन्थ रचनाकाल शक ८५३ (ई. ९३१)। (ती./३/६५)। ४. चित्तौड़ वासी अपभ्रंश कवि। कृति—धम्मपरिक्खा। समय—ग्रन्थ रचनाकाल वि. १०४४। (ती./४/१२०)।

हर्ष वर्धन—१. स्थानेश्वरके राजा थे। समय—वि. ६६७-७०७ (ई. ६१०-६५०); (क्षत्र चूड़ामणि प्र/८ प्रेमी)। २. एक चीनी यात्री था। भारतमें ई. ७०० में आया था। समय—ई. ७००। ३. भोज वंशी राजा मुञ्ज के पिता। समय—ई. ९४०-९६४ (दे. इतिहास/३/१)।

हस्त—१. एक नक्षत्र—दे नक्षत्र; २. क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपर नाम हाथ—दे. गणित/I/१/३।

हस्तकर्म—भ. आ./वि.६१३/८१२/६ छेदनं भेदनं, पेषणमभिघातो, व्यधन, खननं, बन्धन, स्फाटनं, प्रक्षालनं, रञ्जनं, वेष्टनं, ग्रन्थनं, पूरणं, समुदायकरणं, लेपनं, क्षेपणं आलेखनमित्यादि संक्लिष्ट हस्तकर्म।—छेदन करना, भेदन करना, पीसना, आघात करना, चुभना, खोदना, बाँधना, फाड़ना, धोना, रँगाना, वेष्टन करना, गूँथना, पूर्ण करना, एकत्र करना, लेपन करना, फेंकना, चित्र बनाना आदि कार्यको संक्लिष्ट हस्तकर्म कहते हैं।

हस्तनागपुर—कुरुजांगल देशका एक नगर—दे. मनुष्य/४।

हस्तिनायक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

हस्तप्रहेलित—कालका एक प्रमाण विशेप—दे. गणित/I/१/४।

हस्तिपानी—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

हस्तिमल्ल—सेनसंघी आचार्य एक संस्कृत नाटककार। कृति—विक्रान्त कौरव, मैथिली कल्याणम्, अञ्जना पवनञ्जय, आदि पुराण, उदयनराज आदि। समय—वि.१३४७ (कर्नाटक कवि चरिते)। ई. ११६१-११८१ (ती./३/२८०)।

हाथ—क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपर नाम हस्त—दे. गणित/I/१।

हानि—१. दो गुणहानि, अर्थात् गुणहानि—दे. गणित/II/६। षट् गुण हानि वृद्धि—दे. षट्।

हार—१. शास्त्रार्थमें हार जीत सम्बन्धी—दे. न्याय/२। २. गणित-की भागहार विधिमें जिस राशिसे भाग दिया जाता है सो हार है।—दे. गणित/II/१/६।

हारित—एक क्रियावादी—दे. क्रियावादी।

हारिद्र—सौधर्म स्वर्गका २२ वाँ पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/५/३।

हारी—एक विद्या—दे. विद्या।

हार्य—गणितकी भागाहार विधिमें जिस राशिका भाग किया जाये सो हार्य है।—दे. गणित/II/१/६।

हाव—मुख विकार—दे. विभ्रम।

हास्तिन—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

हास्तिविजय—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका नगर।—दे. विद्याधर।

हास्य—१. हास्य प्रकृतिका लक्षण

स. सि./८/९/३८५/१२ यस्योदयाद्धास्याविर्भावस्तद्धास्यम्।—जिसके उदयसे हँसी आती है वह हास्य कर्म है। (रा. वा./८/९/४/५७४/१७); (गो. क./जी. प्र./३३/२७)।

ध. ६/१,९-२४/४७/४ हसनं हासः। जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण हस्स-णिमित्तो जीवस्स रागो उप्पज्जइ, तस्स कम्मक्खंधस्स हासो त्ति सण्णा, कारणे कज्जुवयारादो।—हँसनेको हास्य कहते हैं। जिस कर्म-स्कन्धके उदयसे जीवके हास्य निमित्तक राग उत्पन्न होता है उस कर्म-स्कन्धकी कारणमें कार्यके उपचारसे हास्य संज्ञा है।

ध. १३/५,५,९६/३६१/८ जस्स कम्मस्स उदएण अणेयविहो हासो समु-प्पज्जदि तं कम्मं हस्सं णाम।—जिस कर्मके उदयसे अनेक प्रकारका परिहास उत्पन्न होता है वह हास्य कर्म है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. हास्य राग है। —दे. कषाय/४।
२. हास्य प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा।—दे. वह वह नाम।
३. हास्य प्रकृतिके बन्ध योग्य परिणाम। —दे. मोहनीय/३/६।

हाहांग—कालका प्रमाण विशेष। —दे. गणित/I/१/४।

हाहा—१. गन्धर्व नामा व्यन्तर जातिका भेद —दे. गन्धर्व। २. कालका एक प्रमाण विशेष। —दे. गणित/I/१/४।

हिंगुल—मध्य लोकके अन्तका ग्यारहवाँ सागर व द्वीप। —दे. लोक/५/१।

हिंसा—स्व व परके अन्तरंग व बाह्य प्राणोंका हनन करना हिंसा है। जहाँ रागादि तो स्व हिंसा है और षट् काय जीवोंको मारना या कष्ट देना पर हिंसा है। पर हिंसा भी स्व हिंसा पूर्वक होनेके कारण परमार्थसे स्व हिंसा ही है। पर निचली भूमिकाकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें पर हिंसा न करनेका विवेक रखना भी अत्यन्त आवश्यक है।

१. हिंसाके भेद व लक्षण

१. हिंसा सामान्यके भेद

१. निश्चय

क. पा. १/१.१/§८३/ गा. ४२/१०२ तेसिं (रागादीणं) चे उप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा।४२। =रागादिकको उत्पत्ति ही हिंसा है, ऐसा जिनदेवने कहा है। (स. सि./७/२२/३६३ पर उद्धृत) (भ. आ/ वि./८०१-८०२) (पु. सि. उ./४४); (अन. ध./४/२६/३०८)

प्र. सा./त. प्र./२१६,२१७ अशुद्धोपयोगो हि छेदः. स एव च हिंसा।२१६। अशुद्धोपयोगो अन्तरङ्गछेदः।२१७। =वास्तवमें अशुद्धोपयोग छेद है और वही हिंसा है।२१६। अशुद्धोपयोग अन्तरंग छेद है।

प. प्र./टी./२/१२५ रागाद्युत्पत्तिस्तु निश्चयो हिंसा। =रागादिकी उत्पत्ति वह निश्चय हिंसा है।

अन. ध./४/२६ परं जिनागमस्येदं रहस्यमवधार्यताम्। हिंसा रागाद्युत्पत्तिरहिंसा तदनुद्भव।२६। =जिनागमके इस परमोत्कृष्ट रहस्यको हो हृदयमें धारण करो कि रागादि परिणामोंका प्रादुर्भाव होना हिंसा है···।२६।

पं. ध./उ./७५५ अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः।७५४। =रागादिका नाम ही हिंसा, अधर्म और अव्रत है।

२. व्यवहार

त. सू./७/१३ प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।१३। =प्रमाद योगसे किसी जीवके प्राणोंका व्यपरोपण करना अर्थात् पीड़ा देना हिंसा है।

प्र. सा./त. प्र./३/१७ प्राणव्यपरोपो हि बहिरङ्गच्छेदः। =प्राणोंका व्यपरोपण बहिरंग छेद है।

पु. सि. उ./४३ यत्खलु योगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्। व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।४३। =कषाय रूप परिणमा जो मन वचन काय योग तिसके हेतु है द्रव्य भाव स्वरूप दो प्रकार प्राणोंका पीड़ना या घात करना, निश्चय करि वही हिंसा है।

२. पारितापिकी आदि हिंसा निर्देश

भ. आ./मू./८०७ पादोसिय अधिकरणीय कायिय परिदावणादिवादाए। एदे पंचपओगा किरियाओ होंति हिंसाओ। =द्वेषिकी, कायिकी, प्राणघातिकी, पारितापकी, क्रियाधिकरणी ऐसे पाँच प्रकारकी क्रियाओंको हिंसा क्रिया कहते हैं।८०७।

३. संकल्पी आदि हिंसा निर्देश

नोट—[हिंसा चार प्रकारकी होती है—संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी व विरोधी। बिना किसी उद्देश्यके संकल्प प्रमादसे की जानेवाली हिंसा संकल्पी है। भोजन आदि बनानेमें, घरकी सफाई आदि करने रूप घरेलू कार्योंमें होनेवाली हिंसा आरम्भी है। अर्थ कमाने रूप व्यापार धन्धेमें होनेवाली हिंसा उद्योगी है। तथा अपनी, अपने आश्रितोंकी अथवा अपने देशकी रक्षाके लिए युद्धादिमें की जानेवाली हिंसा विरोधी है।

४. असत्यादि सर्व अविरति भाव हिंसा रूप हैं

पु. सि. उ./श्लोक सं. सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्। अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति।९९। अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्। तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्।१०२। अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्। हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्।१०३। यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म। अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्।१०७। हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्। बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्।१०८। हिंसापर्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु। बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम्।११९। रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा। हिंसा विरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि।१२९। =१. क्योंकि इस सम्पूर्ण असत्य वचनमें एक प्रमाद योग ही कारण है इसलिए असत्य वचन बोलने वालेमें अवश्य ही हिंसा होती है, क्योंकि हिंसाका कारण एक प्रमाद ही है। (अन. ध./४/२६) २. प्रमादके योगसे बिना दिये हुए स्वर्ण वस्त्रादिक परिग्रहका ग्रहण करना चोरी कहते हैं वही चोरी हिंसा है, क्योंकि वह प्राणघातका कारण है।१०२। ये जितने भी स्वर्ण आदि पदार्थ हैं वे सब पुरुषके बाह्य प्राण हैं। इसलिए जो जिसके इन पदार्थोंका हरण करता है वह उसके प्राणोंको ही हरता है।१०३। (ज्ञा./१०/३) (अन. ध./४/४६); ३. स्त्री पुरुष आदि वेद भावके परिणमन रूप रागसे सहित योगको मैथुन कहते है। वही अब्रह्म है। तिस विषै हिंसा अवतार धरै है, क्योंकि कुशील करने तथा करानेवालेके सर्व हिंसाका सद्भाव है।१०७। जैसे तिलोंसे भरी हुई नलीमें तपे हुए लोहेकी सलाई डालनेपर उस नलीके समस्त तिल जल जाते हैं; इसी प्रकार स्त्री अंगमें पुरुषके अंगसे मैथुन करनेपर योनिगत समस्त जीव तत्काल मर जाते हैं।१०८। ४. अन्तरंग चौदह प्रकार परिग्रहके सभी भेद हिंसाके पर्यायवाची होनेके कारण हिंसा रूप ही सिद्ध है। और बहिरंग परिग्रहविषै मूर्च्छा या ममत्व भाव ही निश्चयसे हिंसापनेको प्राप्त होता है।११९। ५. रात्रिमें भोजन करनेवालोंको क्योंकि अनिवारित रूपसे हिंसा होती है, इसलिए अहिंसा व्रतधारी जनोंको रात्रि भोजन त्याग अवश्य करना चाहिए।१२९।

५. एक समयमें छह कायकी हिंसा सम्भव है

गो. क./भाषा/७९४/९६५/४ छह कायकी हिंसा विषै एक जीवकै एकै काल एक कायकी हिंसा होय, वा दो कायकी हिंसा होय, वा तीनकी वा चारकी, वा पाँचकी वा छहकी हिंसा होय।

६. हिंसा अत्यन्त निन्द्य है

ज्ञा./८/१९,५८ हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं हिंसैव दुरितार्णवः। हिंसैव नरकं घोरं हिंसैव गहनं तमः।१९। यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम्। दौर्भाग्यादि-समस्तं तद्धिंसासंभवं ज्ञेयम्।५८। =हिंसा ही दुर्गतिका द्वार है, पापका समुद्र है, तथा हिंसा ही घोर नरक और महान्धकार है।१९। संसारमें जीवोंके जो कुछ दुःख-शोक व भयका बीज रूप कर्म है तथा दौर्भाग्यादिक है वे समस्त एकमात्र हिंसासे उत्पन्न हुए जानो।५८।

७. हिंसकके तपादिक सब निरर्थक है

ज्ञा./८/२० निःस्पृहत्वं महत्त्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः। कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थकम्।२०। =जो हिंसक पुरुष हैं उनकी निस्पृहता, महत्ता, आशारहितता, दुष्कर तप करना, कायक्लेश और दान करना आदि समस्त धर्म कार्य व्यर्थ हैं अर्थात् निष्फल हैं।२०।

२. निश्चय हिंसाकी प्रधानता

१. स्वहिंसा ही हिंसा है

भ. आ./मू. ८०३, १३६३ अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसत्ति णिच्छओ समये। जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो।८०३। तध रोसेण सयं पुव्वमेव उज्झदि हु कलकलेणेव। अण्णस्स पुणो दुक्खं

करिज्ज रुद्दो ण य करिज्जा ।१३६३। —आत्मा हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है ऐसा जिनागममें निश्चय किया है। अप्रमत्तको अहिंसक कहते हैं और प्रमत्तको हिंसक।८०३। तप्त लोहेके समान क्रोधी मनुष्य प्रथम स्वयं सन्तप्त होता है, तदनन्तर वह अन्य पुरुषको सन्तप्त कर सकेगा अथवा नहीं भी, नियमपूर्वक दुःखी करना इसके हाथमें नहीं।१३६३।

स. सि./७/१३/३५२ पर उद्धृत—स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः। —प्रमादसे युक्त आत्मा पहिले स्वयं अपने द्वारा ही अपना घात करता है इसके बाद दूसरे प्राणियोंका वध होवे या मत हो। (रा. वा./७/१३/१२/५४१ पर उद्धृत)।

ध. १४/५.६.६३/गा. ६/१० वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते शिवं च न परोपमर्दपरुषस्मृतेर्विद्यते। वधोपनयमभ्युपैति च पराननिघ्नन्नपि त्वयायमतिदुर्गमः प्रशमहेतुरुद्योतितः।६। —कोई प्राणी दूसरोंको प्राणोंसे वियुक्त करता है फिर भी वह बन्धसे संयुक्त नहीं होता। तथा परोपघातसे जिसकी स्मृति कठोर हो गयी है, अर्थात् जो परोपघातका विचार करता है उसका कल्याण नहीं होता। तथा कोई दूसरे जीवोंको नहीं मारता भी हिंसकपनेको प्राप्त होता है। इस प्रकार हे जिन! तुमने यह अति गहन प्रशमका हेतु प्रकाशित किया है।

पु. सि. उ./४६-४७ व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्। म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।४६। यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्। पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु।४७। —रागादि प्रमाद भावोंके वशसे उठने-बैठने आदि क्रियाओंमें, जीव मरो अथवा न मरो निश्चयसे हिंसा है ही।४६। क्योंकि कषाय युक्त आत्मा पहिले अपने द्वारा अपनेको ही घातता है पीछे अन्य जीवोंका घात हो अथवा न हो।४७।

प्र. सा./त. प्र./१४६ कदाचित्परस्य द्रव्यप्राणानाबाध्य कदाचिदनाबाध्य स्वस्य भावप्राणानुपरक्तत्वेन बाधमानो ज्ञानावरणादीनि कर्माणि बध्नाति। —कदाचित् पर द्रव्यके प्राणोंको बाधा करके और कदाचित् बाधा नहीं करके अपने भाव प्राणोंको तो उपरक्तपनेके द्वारा बाधा करता हुआ ज्ञानावरणादि कर्मोंको (राग-द्वेषादिके कारण) बाँधता ही है।

प्र. सा./ता. वृ./१४६/२११/१० यथा कोऽपि तप्तलोहपिण्डेन परं हन्तुकामः सन् पूर्वं तावदात्मानमेव हन्ति पश्चादन्यघाते नियमो नास्ति, तथायमज्ञानी जीवोऽपि .. मोहादिपरिणामेन परिणतः सन् पूर्वं… स्वकायशुद्धप्राणं हन्ति पश्चादुत्तरकाले परप्राणघाते नियमो नास्ति। —जिस प्रकार कोई व्यक्ति तप्त लोहेके गोले द्वारा किसीको मारनेकी कामना रखता हुआ पहले तो अपनेको ही मारता (हाथ जलाता) है, पीछे अन्यका घात होवे भी अथवा न भी होवे, कोई नियम नहीं। उसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भी मोहादि परिणामोंसे परिणत होकर पहले तो स्वकीय शुद्ध प्राणोंका घात करता है, पश्चात् उत्तर कालमें अन्यके प्राण घातका नियम नहीं।

अन. ध./४/२४ प्रमत्तो हि हिनस्ति स्वं प्रागात्मातङ्कतायनात्। परो नु म्रियतां मा वा रागाद्या ह्यरयोऽङ्गिनः।२४। —दुष्कर्मोंका संचय तथा व्याकुलता रूप दुःखको उत्पन्न करनेके कारण प्रमत्त जीव पहले तो अपना घात ही कर लेता है, दूसरा जीव मरो वा मत मरो। क्योंकि जीवोंके वास्तविक वैरी तो कषाय ही है न कि दूसरोंका प्राणवध।

२. अशुद्धोपयोग व कषाय ही हिंसा है

स. सा./आ./२६२ की उत्थानिका—हिंसाध्यवसाय एव हिंसा। —अध्यवसाय ही बन्धका कारण है अतः यह हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है।

प्र. सा./त. प्र./२१६ अशुद्धोपयोगो हि छेदः शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्, तस्य हिंसनात् स एव च हिंसा। —शुद्धोपयोग रूप श्रामण्यका छेद करनेके कारण अशुद्धोपयोग ही छेद है और उस श्रामण्यका नाश करनेके कारण वह ही हिंसा है। (प्र. सा./त. प्र./२१८); (यो. सा. अ./८/२८); (पु. सि. उ./४४)।

पु. सि. उ./६४ अभिमानभयजुगुप्साहास्यरतिशोककामकोपाद्याः। हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि। —अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, शोक, काम, क्रोध आदि हिंसाकी पर्यायें हैं।

प्र. सा./ता. वृ./२१७/प्रक्षेपक/२/२९२/२१ सूक्ष्मजन्तुघातेऽपि यावतांशेन स्वस्वभावचलनरूपा रागादिपरिणतिलक्षणभावहिंसा तावतांशेन बन्धो भवति, न च पादसंघट्टनमात्रेण…। —वीतरागी मुनियोंको ईर्यासमिति पूर्वक चलते हुए, सूक्ष्म जन्तुओंका घात होनेपर भी जितने अंशमें स्वस्वभावसे चलन रूप अर्थात् अशुद्धोपयोग रूप रागादि परिणति लक्षणवाली भाव हिंसा है, उतने अंशमें ही बन्ध होता है, केवल पादकी रगड़ मात्रसे नहीं…।

आचारसार/५/१० स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत्। प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः।१०। —निश्चयसे जीव स्वयं हिंसा है और स्वयं ही हिंसन है। यह दोनों हिंसा व हिंसन व घात पराधीन नहीं है। प्रमाद रहित जीव अहिंसक होता है और प्रमाद युक्त सदैव हिंसक।

प. प्र./टी./२/१२५ रागाद्युत्पत्तिस्तु निश्चयहिंसा। तदपि कस्मात्। निश्चयशुद्धप्राणस्य हिंसाकारणात्। —रागादिककी उत्पत्ति ही निश्चय हिंसा है। क्योंकि वह निश्चय शुद्ध चैतन्य प्राणोंकी हिंसाका कारण होनेसे।

पं. ध./उ./७५७ सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात्। तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः।७५७। —रागादि भावोंके होनेपर बलपूर्वक कर्मोंका बन्ध होता है। और उन कर्मोंके उदयसे आत्माको दुःख होता है इसलिए रागादि भावोंके द्वारा अपनी आत्माका वध या हिंसा सिद्ध होती है।७५७।

३. निश्चय हिंसा ही प्रधान है व्यवहार नहीं

भ. आ./मू./८०६ जदि सुद्धस्स य बंधो होहिदि बाहिरवत्थुजोगेण। णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु।८०६। —यदि राग-द्वेष रहित आत्माको भी बाह्य वस्तुके सम्बन्धसे बन्ध होगा तो जगत्में कोई भी अहिंसक नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि शुद्ध मुनि भी वायुकायादि जीवोंके बधका हेतु है।

ध. १४/५.६.६३/९०/२ जेण विणा जं ण होदि चेव तं तस्स कारणं। तम्हा अंतरंगहिंसा चेव सुद्धणएण हिंसा ण बहिरंगा त्ति सिद्धम्। —जिसके बिना जो नहीं होता वह उसका कारण है, इसलिए शुद्ध नयसे अन्तरंग हिंसा ही हिंसा है बहिरंग नहीं।

प्र. सा./त. प्र./२१७ अशुद्धोपयोगोऽन्तरङ्गच्छेदः, परप्राणव्यपरोपो बहिरङ्गः।…अन्तरङ्ग एव छेदो बलीयान् न पुनर्बहिरङ्गः। —अशुद्धोपयोग तो अन्तरङ्ग छेद है और परप्राणोंका घात बहिरंगछेद है।… वहाँ अंतरंग छेद ही बलवान् है बहिरङ्ग नहीं।

अन. ध./४/२३ रागाद्यसंगतः प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसकः। स्यात्तदव्यपरोपेऽपि हिंस्रो रागादिसंश्रितः। —यदि जीव रागादिसे आविष्ट नहीं है तो प्राणोंका व्यपरोपण हो जानेपर भी वह अहिंसक है और यदि रागद्वेषादि कषायोंसे युक्त है तो प्राणोंका वियोग न होनेपर भी हिंसक है।

४. मैं जीवोंको मारता हूँ ऐसा कहनेवाला अज्ञानी है

स. सा./मू./२४७ जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं। सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।२४७। —जो पुरुष ऐसा मानता है कि मैं पर जीवको मारता हूँ और पर जीवों द्वारा मैं मारा

जाता है वह पुरुष मोही है, अज्ञानी है, और इससे विपरीत है वह ज्ञानी है।२४७। (यो.सा./अ./४/१२)।

स.सा./आ./२५६/क.१६८ सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्। अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम्। –इस लोकमें जीवोंके जो जीवन मरण दुःख सुख हैं वे सभी सदा काल नियमसे अपने-अपने कर्मके उदयसे होते हैं। ऐसा होनेपर पुरुष परके जीवन मरण सुख दुःखको करता है यह मानना अज्ञान है।

३. व्यवहार हिंसाकी कथंचित् गौणता व मुख्यता

१. कारणवश वा निष्कारण भी जीवोंका घात हिंसा है

पु.सि.उ./८०-८९ धर्मो हि देवताभ्यः।८०। पूज्यनिमित्तं घाते।८१। बहुसत्त्वघातजनिताद‌शनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।८२। रक्षा भवति बहूनामेकस्य वास्य जीवहरणेन।...हिंस्रसत्त्वानाम्।८३। शरीरिणो हिंसा।८४। बहुदुःखासंज्ञपिताः..दुःखिनो।८५। सुखिनो हता सुखिन एव। इति तर्क...सुखिनां घाताय...।८६। उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधि...स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयम्।८७। मोक्षं श्रद्धेय नैव।८८। परं पुरस्तादशनाय......निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि।८९। –देवताके अर्थ हिंसा करना धर्म है ऐसा मानकर।८०। या पूज्य पुरुषोंके सत्कारार्थ हिंसा करनेमें दोष नहीं है ऐसा मानकर।८१। शाकाहारमें अनेक जीवोंकी हिंसा होती है और मांसाहारमें केवल एककी, इसलिए मांसाहारको भला जानकर।८२। हिंसक जीवोंको मार देनेसे अनेकोंकी रक्षा होती है ऐसा मानकर हिंसक जीवोंकी हिंसा।८३। तथा इसी प्रकार हिंसक मनुष्योंकी भी।८४। दुःखी जीवोंको दुःखसे छुड़ानेकेलिए मार देना रूप हिंसा।८५। सुखीको मार देनेसे पर भवमें उसको सुख मिलता है, ऐसा समझकर सुखी जीवको मार देना।८६। समाधिसे सुगतिकी प्राप्ति होती है, ऐसा मानकर समाधिस्थ गुरुका शिष्य द्वारा सिर काट देना।८७। या मोक्षकी श्रद्धा करके ऐसा करना।८८। दूसरेको भोजन करानेके लिए अपना मांस देनेको निज शरीरका घात करना।८९। ये सभी हिंसाएँ करनी योग्य नहीं हैं।

ज्ञा./८/१८, २७ शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभिः। कृतः प्राणभृतां घातः पातयत्यविलम्बितम्।१८। चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित्। कृतः सती नरैर्हिंसा पातयत्यविलम्बितम्।२७। –अपनी शान्तिके अर्थ अथवा देवपूजाके तथा यज्ञके अर्थ जो मनुष्य जीवघात करते हैं वह घात भी जीवोंको शीघ्र ही नरकमें डालता है।१८। देवताकी पूजाके लिए रचे हुए नैवेद्यसे तथा मन्त्र और औषधके निमित्त अथवा अन्य किसी भी कार्यके लिए की हुई हिंसा जीवोंको नरकमें ले जाती है।२८।

२. वेद प्रणीत हिंसा भी हिंसा है

रा.वा./८/१/१३-२६/५६२-५६४ आगमप्रामाण्यात् प्राणिवधो धर्महेतुरिति चेत्; न; तस्यागमत्वासिद्धेः।१३। सर्वेषामविशेषप्रसङ्गात्।२०। यदि हिंसा धर्मसाधनं मत्स्यबन्ध (बधक) शाकुनिकशौकरिकादीनां सर्वेषामविशिष्टधर्मावाप्तिः स्यात्।.. यज्ञात्कर्मणोऽन्यत्र वधः पापायेति चेत्; न; उभयत्र तुल्यत्वात्।२१। 'तादर्थ्यात् सर्गस्येति चेत्'।२२। 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा (मनुस्मृति/५/३९/इति) इति। अत सर्गस्य यज्ञार्थत्वात् न तस्य विनियोक्तुः पापमिति तन्न; किं कारणम्। साध्यत्वात्। 'मन्त्रप्राधान्याददोष इति चेत्; ।२४। यथा विषं मन्त्रप्राधान्यादुपयुज्यमानं न मरणकारणम्, तथा पशुवधोऽपि मन्त्रसंस्कारपूर्वकः क्रियमाणो न पापहेतुरिति। तन्न, किं कारणम्। प्रत्यक्षविरोधात्।...यदि मन्त्रेभ्यो एव केवलेभ्यो याज्ञे कर्मणि पशून्निपातयन्तः दृश्येरन् मन्त्रबलं श्रद्धीयेत, दृश्यते तु रज्ज्वादिभिर्मारणम्। तस्मात् प्रत्यक्षविरोधात् मन्यामहे न मन्त्रसामर्थ्यमिति। –हिंसादोषाविनिवृत्तेः।२५।... नियतपरिणामःनिमित्तस्यान्यथाविधिनिषेधासंभवात्।२६। –प्रश्न—आगम प्रमाणसे प्राणी बध भी धर्म समझा जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसे आगमको आगमपना ही सिद्ध नहीं है।१३। यदि हिंसाको धर्मका साधन माना जायेगा तो मछियारे भील आदि सर्व हिंसक मनुष्य जातियोंमें अविरोधरूपसे धर्मकी व्याप्ति चली आयेगी।२०। प्रश्न–ऐसा नहीं होता, क्योंकि यज्ञके अतिरिक्त अन्य कार्योंमें किया जानेवाला बध पाप माना गया है? उत्तर—ऐसा भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिंसाकी दृष्टिसे दोनों तुल्य हैं।२१। प्रश्न—यज्ञके अर्थ ही स्वयम्भूने पशुओंकी सृष्टि की है, अतः यज्ञके अर्थ बध पापका हेतु नहीं हो सकता? उत्तर–यह पक्ष असिद्ध है। क्योंकि पशुओंकी सृष्टि ब्रह्माने की है, यह बात अभी तक सिद्ध नहीं हो सकी है।२२। प्रश्न—मन्त्रकी प्रधानताके कारण यह हिंसा निर्दोष है। जिस प्रकार मन्त्रकी प्रधानतासे प्रयोग किया विष मृत्युका कारण नहीं उसी प्रकार मन्त्र संस्कार पूर्वक किया पशुबध भी पाप का हेतु नहीं हो सकता? उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर प्रत्यक्ष विरोध आता है–यदि केवल मन्त्र बलसे ही यज्ञवेदीपर पशुओंका घात देखा जाता तो यहाँ मन्त्र बलपर विश्वास किया जाता। परन्तु वह बध तो रस्सी आदि बाँधकर करते हुए देखा जाता है। इसलिए प्रत्यक्षमें विरोध होनेके कारण मन्त्र सामर्थ्यकी कल्पना उचित नहीं है।२४। अतः मन्त्रोंसे पशुबध करनेवाले भी हिंसा दोषसे निवृत्त नहीं हो सकते।२५। शुभ परिणामोंसे पुण्य और अशुभ परिणामोंसे पाप बन्ध नियत है, उसमें हेर-फेर नहीं हो सकता।

३. खिलौने तोड़ना भी हिंसा है

सा.ध./३/२२ वस्त्रनाणकपुस्तादि न्यस्तजीवच्छिदादिकम्। न कुर्यात्त्यक्तपापर्द्धिस्तद्धि लोकेऽपि गर्हितम्।२२। –शिकारव्यसनका त्याग करनेवाला श्रावक वस्त्र शिक्का और काष्ठ पाषाणादि शिल्पमें निकाले गये या बनाये गये जीवोंका छेदनादिकको नहीं करे, क्योंकि वस्त्रादिकमें स्थापित किये गये जीवोंका छेदन भेदन केवल शास्त्रमें ही नहीं किन्तु लोकमें भी निन्दित है।

४. हिंसक आदि जीवोंकी हिंसा भी योग्य नहीं

पु.सि.उ./८३-८५ रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन। इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्।८३। बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम्। इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंसा।८४। बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्। इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः।८५। –एक जीवको मारनेसे बहुतसे जीवोंकी रक्षा होती है, ऐसा मानकर हिंसक जीवोंका भी घात न करना।८३। बहुत जीवोंके मारनेवाले यह प्राणी जीता रहेगा तो बहुत पाप उपजायेगा इस प्रकार दया करके भी हिंसक जीवको मारना नहीं चाहिए।८४। यह प्राणी बहुत दुःख करि पीड़ित है यदि इसको मारिये तो इसके सब दुःख नष्ट हो जायेंगे ऐसी खोटी वासना रूप तलवार को अंगीकार कर दुःखी जीव भी न मारना।८५।

सा.ध./२/८१,८३ न हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यार्षं धर्मे प्रमाणयन्। सागसोऽपि सदा रक्षेच्छक्त्या किं नु निरागसः।८१। हिंस्रदुःखिसुखिप्राणिघातं कुर्यान्न जातुचित्। अतिप्रसङ्गश्वभ्रार्ति-सुखोच्छेदसमीक्षणात्। –सम्पूर्ण त्रस स्थावर जीवोंमें-से किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकारके ऋषि प्रणीत शास्त्रको श्रद्धा पूर्वक माननेवाला धार्मिक गृहस्थ धर्मके निमित्त सदा अपनी शक्तिके अनुसार अपराधी जीवोंकी रक्षा करे और निरपराधी जीवोंका तो कहना ही क्या है।८१। कल्याणार्थी गृहस्थ अति-प्रसंग रूप दोष नरक सम्बन्धी दुःख

दुःखका कारण होनेसे हिंसक दुःखी और सुखी प्राणियोंके घातको कभी न करे।८३।

५. धर्मार्थ भी हिंसा करनी योग्य नहीं

प्र.सा./मू./२५० जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो। ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाण। –यदि (श्रमण) वैयावृत्तिके लिए उद्यमी वर्तता हुआ छह कायको पीड़ित करे तो वह श्रमण नहीं है। गृहस्थ है, (क्योंकि) वह छह कायकी विराधना सहित वैयावृत्य है।२५०।

इ.उ./१६ त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः। स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति।१६। –जो निर्धन मनुष्य पात्रदान आदि प्रशस्त कार्योंके लिए पुण्य प्राप्ति तथा पाप विनाशके अनेक सावद्यों द्वारा धन उपार्जन करता है, वह मनुष्य निर्मल शरीरमें पीछे स्नान करके निर्मल होनेकी आशासे कीचड़ लपेटता है।

पु.सि.उ./८०-८१ धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिति सर्वम्। इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः।८०। पूज्यनिमित्तघाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति। इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्।८१। –देवताको प्रसन्न करनेसे धर्म होता है इसलिए इस लोकमें उस देवताके सब कुछ देने योग्य है। जीवको उनके लिए बलि कर देना धर्म है। ऐसी अविवेक बुद्धि से प्राणी घात योग्य नहीं।८०। अपने गुरुके वास्ते बकरा आदि मारनेमें कोई दोष नहीं ऐसा मानकर अतिथिके अर्थ जीव बध करना योग्य नहीं।

दे. हिंसा ३/१ देवताकी पूजाके लिए जीवघात करना नरकमें डालता है।

६. छोटे या बड़े किसीकी भी हिंसा योग्य नहीं

मू.आ./७९८,८०१ वसुधम्मिवि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई। जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु।७९८। तणरुक्खहरिदछेदण-तयपत्तपवालकंदमूलाइं। फलपुप्फबीयघादं ण करेंति मुणी ण कारेंति।८०१। –सब जीवोंके प्रति दयाको प्राप्त सब साधु पृथिवीपर विहार करते हुए भी किसी जीवको कभी भी पीड़ा नहीं करते। जैसे माता पुत्रका हित ही करती है उसी तरह सबका हित चाहते हैं।७९८। मुनिराज तृण, वृक्ष, हरित इनका छेदन, बकल, पत्ता, कोंपल, कन्दमूल, इनका छेदन, तथा फल, पुष्प बीज इनका घात न तो आप करते हैं, न दूसरोंसे कराते हैं।८०१।

७. संकल्पी हिंसाका निषेध

सा.ध./२/८२ आरम्भेऽपि सदा हिंसां, सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत्। घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः, पापोऽघ्नन्नपि धीवरः। –बुद्धिमान् मनुष्य खेती आदि कार्योंमें भी संकल्पी हिंसाको सदैव छोड़ देवे, क्योंकि असंकल्प पूर्वक बहुतसे जीवोंका घात करनेवाला किसानसे जीवोंका मारनेका संकल्प करके उनको नहीं मारनेवाला भी धीवर विशेष पापी होता है।८२।

८. विरोधी हिंसाकी कथंचित् आज्ञा

सा.ध./४/५ की टीकामें उद्धृत–दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति। राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथा दोषसमं धृतः। –पुत्र व शत्रुमें समता रूपसे क्षत्रियों द्वारा किया गया दण्ड इस लोक और परलोक-की रक्षा करता है, यह शास्त्र वचन है।

९. बाह्य हिंसा, हिंसा नहीं

भ.आ./मू./८०६ जदि सुद्धस्स य बंधो होहिदि बाहिरवत्थुजोगेण। णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु।८०६। –यदि राग-द्वेष रहित आत्माको भी मात्र बाह्य वस्तुके सम्बन्धसे बन्ध होगा तो जगत्में कोई भी अहिंसक नहीं, ऐसा मानना पड़ेगा। क्योंकि मुनि भी वायुकायादि जीवोंके बधका हेतु है।८०६।

प्र.सा./मू./२१७ मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स।२१७। –जीव मरे या जीये, अप्रयत आचारवालेके हिंसा निश्चित है, प्रयतके समितिवान्‌के (बहिरंग) हिंसामात्रसे बन्ध नहीं है।२१७। (स.सि./७/१३/३५१ पर उद्धृत); (ध.१४/५,६,६३/गा.२/९०); (रा.वा./७/१३/१२/५४० पर उद्धृत।

प्र.सा./मू./१७/प्रक्षेपक १-२/२९२ उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए। आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज।१। ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये। मुच्छापरिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो।२। –ईर्यासमितिसे युक्त साधुके अपने पैरके उठानेपर चलनेके स्थानमें यदि कोई क्षुद्र प्राणी उनके पैरसे दब जाये और उसके सम्बन्धसे मर जाये तो भी उस निमित्तसे थोड़ा भी बन्ध आगममें नहीं कहा है क्योंकि जैसे अध्यात्म दृष्टिसे मूर्च्छाको ही परिग्रह कहा है वैसे यहाँ भी रागादि परिणामोंको हिंसा कहा है। (स.सि./७/१३/३५१/ पर उद्धृत), (रा.वा.७/१३/१२/५४० पर उद्धृत)।

स.सि./७/१३/३५१/४ 'प्रमत्तयोगात्' इति विशेषणं केवलं प्राणव्यपरोपणं नाधर्मायेति ज्ञापनार्थम्। –केवल प्राणोंका वियोग करनेसे अधर्म नहीं होता, यह बतलानेके लिए सूत्रमें 'प्रमत्तयोगसे' यह पद दिया है।

ध. १४/५,६,९२/८९/१२ हिंसा णाम पाण-पाणिवियोगो। तं करेंताणं कथमहिंसालक्खणपंचमहव्वयसंभवो। ण, बहिरंगहिंसाए आसवत्ताभावादो। –प्रश्न–प्राण और प्राणियोंके वियोगका नाम हिंसा है। उसे करने वाले जीवोंके अहिंसा लक्षण पाँच महाव्रत कैसे हो सकते हैं? उत्तर–नहीं, क्योंकि बहिरंग हिंसा आस्रव रूप नहीं होती।

पु.सि.उ./४५ युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि। न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव।४५। –युक्ताचारी सत्पुरुषके रागादि भावोंके प्रवेश बिना केवल पर जीवोंके प्राण पीड़ते हों तो कदाचित् हिंसा नहीं होती है।

नि.सा./ता.वृ./५६ तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो न भवति। –उन (जीवोंका) मरण हो अथवा न हो, प्रयत्न रूप परिणामके बिना सावद्यका परिहार नहीं होता।

अन.ध./४/२३ रागाद्यसङ्गतः प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसकः। स्यात्तदव्यपरोपेऽपि हिंस्रो रागादिसंश्रितः।२३। –जीव यदि राग द्वेष मोह रूप परिणामोंसे आविष्ट नहीं है तो प्राणोंका व्यपरोपण हो जानेपर भी अहिंसक है। और यदि रागादि कषायोंसे युक्त है तो प्राणोंका वियोग न होनेपर भी हिंसक है।

४. निश्चय व्यवहार हिंसा समन्वय

१. निश्चय हिंसाको हिंसा कहनेका कारण

रा.वा./७/१३/१२/५४०/३३ ननु च प्राणव्यपरोपणाभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते। उक्तं च –।..(प्राणव्यपरोपणनिर्देश अनर्थकम्)। नैष दोष, तत्रापि प्राणव्यपरोपणमस्ति भावलक्षणम्। तथा चोक्तम्–स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः।१। इति। एवं कृत्वा यैरुपालम्भः क्रियते–सोऽत्रावकाशं न लभते। भिक्षोर्ज्ञानध्यानपरायणस्य प्रमत्तयोगाभावात्। –प्रश्न–प्राणव्यपरोपणके अभावमें भी केवल प्रमत्त योगसे ही हिंसा स्वीकारी गयी है। कहा भी है कि–[जीव मरो या जीओ अयत्नाचारीके निश्चित रूपसे हिंसा है। बाह्य हिंसा मात्रसे बन्ध नहीं होता (दे हिंसा/३/१) अत सूत्रमें 'प्राणव्यपरोपण' शब्द व्यर्थ है।]? उत्तर–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि भावलक्षण

वाला अन्तरंग प्राणव्यपरोपण अर्थात् स्वहिंसा वहाँ भी (प्रमत्तयोग-में भी) है ही। कहा भी है—'प्रमादसे युक्त आत्मा पहले स्वयं अपने द्वारा ही अपना घात करता है, इसके बाद दूसरेका घात होवे अथवा न होवे।' ऐसा माननेपर यह दोष भी नहीं आता है कि—'जलमें, थलमें, आकाशमें सब जगह जन्तु ही जन्तु हैं। इस जन्तुमय जगत्में भिक्षुक अहिंसक कैसे रह सकता है? क्योंकि ज्ञान ध्यान परायण अप्रमत्त भिक्षुकको मात्र प्राणि वियोगसे हिंसा नहीं होती।

ध.१४/५,६,९३/१ तदभावे (बहिरङ्गहिंसाभावेऽपि) वि अंतरंग हिंसादो चेव सित्थमच्छस्स बंधुवलंभादो। जेण विणा जं ण होदि चेव तं तस्स कारणं। तम्हा अंतरंगहिंसा चेव सुद्धणएण हिंसा ण बहिरंगा त्ति सिद्धम्। —क्योंकि बहिरंग हिंसाका अभाव होनेपर भी केवल अन्तरंग हिंसासे सिक्थ मत्स्यके बन्धकी उपलब्धि होती है। जिसके बिना जो नहीं होता है वह उसका कारण है, इसलिए शुद्धनयसे अन्तरंग हिंसा ही हिंसा है, बहिरंग नहीं; यह बात सिद्ध होती है।

दे. हिंसा/२/२-३ चैतन्य परिणामोंकी घातक होनेसे अन्तरंग हिंसा ही हिंसा है।

२. निश्चय हिंसाको हिंसा कहनेका प्रयोजन

प्र.सा./ता.वृ./२१८/२९३/१३ शुद्धोपयोगपरिणतपुरुष षड्जीवकुले लोके विचरन्नपि यद्यपि बहिरङ्गद्रव्यहिंसामात्रमस्ति तथापि निश्चयहिंसा नास्ति। तत कारणाच्छुद्धपरमात्मभावनाबलेन निश्चयहिंसैव सर्व-तात्पर्येण परिहर्त्तव्येति। —शुद्धोपयोग रूप परिणत जीवको इस जीवोंसे भरे हुए लोकमें विचरण करते हुए यद्यपि बहिरंग हिंसा मात्र होती है। अंतरंग नहीं इस कारणसे शुद्ध परमात्म भावनाके बल द्वारा निश्चय हिंसा ही सर्व प्रकार त्यागने योग्य है।

३. बहिरंग हिंसाको हिंसा कहनेका प्रयोजन

अन./ध./४/२८ हिंसा यद्यपि पुंस: स्यान्न स्वल्पाप्यन्यवस्तुत:। तथापि हिंसायतनाद्विरमेद्भावविशुद्धये।२८। —यद्यपि पर वस्तुके सम्बन्धसे प्रमत्त परिणामोंके बिना केवल बाह्य द्रव्यके ही निमित्तसे जीवको जरा भी हिंसाका दोष नहीं लगता, तो भी भावविशुद्धिके लिए भावहिंसाके निमित्तभूत बाह्य पदार्थसे मुमुक्षुओंको विरत होना चाहिए।२८।

४. जीवसे प्राण भिन्न हैं, उनके वियोगसे हिंसा क्यों हो ?

. सा./ता. वृ./३३३-३४४/४२३/२२ कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा। यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति कथं हिंसा। अथ भिन्नास्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायातम्। तत्रापि हिंसा नास्तीति। तन्न। [दे. काय २।३] —प्रश्न—कोई कहता है कि जीवसे प्राण भिन्न है कि अभिन्न? यदि अभिन्न है तो जीवका विनाश ही नहीं हो सकता, तब प्राणोंका भी विनाश नहीं हो सकता। फिर हिंसा कैसे हो सकती है? यदि प्राण जीवसे भिन्न है तो जीवका प्राण घात होना ही कैसे प्राप्त होता है? इसलिए ऐसा माननेपर भी हिंसा सिद्ध नहीं होती? उत्तर—ऐसा नहीं है, कायादि प्राणोंके साथ कथंचित् जीवका भेद भी है और अभेद भी। वह कैसे सो बताते है [तप्त लोह पिण्डसे जैसे अग्नि पृथक् नहीं की जा सकती वैसे ही वर्तमानमें शरीर आदिसे जीवको पृथक् नहीं किया जा सकता, इस कारणसे व्यवहारसे दोनोंमें अभेद है। परन्तु निश्चयसे भेद है क्योंकि मरणकालमें शरीरादिक प्राण जीवके साथ नहीं जाते। [दे. प्राण/२/३]

प. प्र./टी./२/१२७ प्राणा जीवादभिन्ना भिन्ना वा, यद्यभिन्नाः तर्हि जीव-वत्प्राणानां विनाशो नास्ति, अथ भिन्नास्तर्हि प्राणवधेऽपि जीवस्य वधो नास्त्यनेन प्रकारेण जीवहिंसैव नास्ति कथं जीववधे पापबन्धो भविष्यतीति। परिहारमाह। कथंचिद्भेदाभेद। तथाहि स्वकीयप्राणे हते सति दुःखोत्पत्तिदर्शनाद्व्यवहारेणाभेद सैव दुःखोत्पत्तिस्तु हिंसा भण्यते ततश्च पापबन्ध। —प्रश्न—प्राण जीवसे भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न है तो जीवकी भाँति प्राणोंका भी विनाश नहीं हो सकता। यदि भिन्न है तो प्राण बध होनेपर भी जीवबध नहीं हो सकता और इस प्रकार जीव हिंसा ही नहीं होती फिर जीव बधसे पापका बन्ध कैसे हो सकेगा? उत्तर—ऐसा न कहो क्योंकि जीव और प्राणोंमें कथंचित् भेदाभेद है। वह इस प्रकार कि अपने प्राणोंके हरण होनेपर दुःखकी उत्पत्ति देखी जाती है, इस कारण व्यवहारसे इनमें अभेद है। वह दुःखोत्पत्ति ही वास्तवमें हिंसा कहलाती है और उससे पाप बन्ध होता है।

दे. विभाव/५/५/१ यदि निश्चयकी भाँति व्यवहारसे भी हिंसा न हो तो जीवोंको भस्मवत् मलनेसे भी हिंसा न होगी। और इस प्रकार मोक्षमार्गके ग्रहणका अभाव हो जानेसे मोक्षमार्गका ही अभाव होगा।

५. हिंसा व्यवहार मात्रसे है निश्चयसे तो नहीं

पु.सि.उ./५० निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते। नाशयति करणचरण स बहि करणालसो बाल:। —जो जीव निश्चयके स्वरूपको न जानकर उसको ही निश्चयके श्रद्धानसे अंगीकार करता है, यानि अन्तरंग हिंसाको ही हिंसा मानता है वह मूर्ख बाह्य क्रियामें आलसी है और बाह्य क्रिया रूप आचरणको नष्ट करता है।

प.प्र./टी./२/१२७ ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता पापब-धोऽपि न च निश्चयेन इति। सत्यमुक्त त्वया, व्यवहारेण पापं तथैव नारकादि-दुःखमपि व्यवहारेणेति। तदिष्ट भवतां चेत्तर्हि हिंसां कुरुत यूय-मिति। —प्रश्न—फिर भी यह प्राणघात रूप हिंसा व्यवहारमात्रसे है और इसी प्रकार पापबन्ध भी निश्चयसे तो नहीं है? उत्तर—तुम्हारी यह बात बिलकुल सत्य है, परन्तु जिस प्रकार पापबन्ध व्यवहारसे है, उसी प्रकार नरकादिके दुःख भी व्यवहारसे ही हैं, यदि वे दुःख तुम्हें अच्छे लगते हैं तो हिंसा खूब करो।

६. भिन्न प्राणोंके घातसे न दुःख है न हिंसा

रा.वा /७/१३/८-११/५४०/१३ अन्यत्वादधर्माभाव: इति चेत्; न; तद्दु:-खोत्पादकत्वात्।८। शरीरिणोऽन्यत्वात् दु:खाभाव इति चेत्; न; पुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात्।९। बन्धं प्रत्येकत्वाच्च।१०। यद्यपि शरीरिशरीरयोः लक्षणभेदान्नानात्वम्, तथापि बन्धं प्रत्येकत्वात् तद्वियोगपूर्वकदु:खोपपत्तेरधर्मभाव इत्यनुपालम्भ:। एकान्त-वादिनां तदनुपपत्तिर्बन्धाभावात्।११। —प्रश्न—प्राण आत्मासे भिन्न हैं अतः उनके वियोगसे अधर्म नहीं हो सकता। —उत्तर—नहीं, क्योंकि प्राणोंका वियोग होनेपर जीवको ही दुःख होता है। —प्रश्न—शरीरी आत्मा प्राणोंसे भिन्न है अत उनके वियोगसे उसे दुःख भी नहीं होना चाहिए। —उत्तर—नहीं, क्योंकि पुत्र-कलत्रादि सर्वथा भिन्न पदार्थोंके वियोग होनेपर भी ताप देखा जाता है।९। दूसरे, यद्यपि शरीर शरीरीमें लक्षण भेदसे नानात्व है फिर भी बन्धके प्रति दोनों एक हैं अत शरीर वियोग पूर्वक होने वाला दुःख आत्माको ही होता है। अत हिंसा और अधर्मका अभाव हो ऐसा नहीं कहा जा सकता।१०। आत्माको नित्य शुद्ध माननेवाले एकान्तवादियोंके मतमें तो ठीक है कि प्राण वियोगसे दुःखोत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह आत्मा और शरीरका बन्ध स्वीकार नहीं करते। परन्तु अनेकान्तमतमें ऐसा मान्य नहीं हो सकता।

हिंसादान—दे. अनर्थदण्ड।

हिंसानंदी रौद्रध्यान—दे. रौद्रध्यान।

हिजरी संवत्—दे. इतिहास/२।

हित—**१. हितका लक्षण**

रा. वा /६/५/५/६४/१७ मोक्षपदप्रापणप्रधानफलं हितम्। तद्द्विविधम् स्वहितं परहितं चेति। =मोक्षपदकी प्राप्ति रूप प्रधान वा मुख्य फल मिलता है, उसको हित कहते है। वह दो प्रकारका है, एक स्वहित दूसरा परहित। (चा. सा./६६/५)

क.पा /१/१,१३-१४/§२११/२७१/६ व्याध्युपशमनहेतुर्द्रव्यं हितम्। यथा पित्तज्वराभिभूतस्य तदुपशमनहेतुकटुकरोहिण्यादि.। =व्याधिके उपशमनका कारणभूत द्रव्य हित कहलाता है। जैसे, पित्त ज्वरसे पीडित पुरुषके पित्त ज्वरकी शान्तिका कारण कड़वी कुटकी तूंबड़ी आदिक द्रव्य हित रूप हैं।

★ ज्ञानी व अज्ञानीकी हिताहित बुद्धिमें अन्तर

दे. मिथ्यादृष्टि /४।

२. हिताहित जाननेका प्रयोजन

भ.आ./मू./१०३ जाणंतस्सादहिदं अहिदणियत्तीय हिदपवत्तीय। होदि य तो से,तम्हा आदहिदं आगमे दव्व ।१०३। =जो जीव आत्माके हितको पहिचानता है वह अहितसे परावृत होकर हितमें प्रवृत्ति करता है। इस वास्ते हे भव्यजन। आत्महितका आप परिज्ञान कर लो।१०३।

मो. पा /मू./१०२ गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेय णिच्छिओ साहू। झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ।१०२। =जो मूल व उत्तर गुणोंसे विभूषित है और हेयोपादेय तत्त्वका जिसको निश्चय है, तथा ध्यान और अध्ययनमें जो भले प्रकार लीन है, ऐसा साधु उत्तम स्थान मोक्षको प्राप्त करता है।१०२।

★ स्व पर हित सम्बन्धी—दे. उपकार।

हित संभाषण—दे. सत्य/२।

हितोपदेश—दे. उपदेश/२,३।

हिम—१. नन्दन वनका एक कूट—दे. लोक५/५;२. षष्ठ नरकका प्रथम पटल—दे. नरक/५/११।

हिमपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

हिमवत्—कुण्डल पर्वतस्थ एक कूट—दे. लोक/७।

हिमवान्—१. रा. वा /३/११/१/१८२/६ हिममस्यास्तीति हिमवानिति व्यपदेश। अन्यत्रापि तत्संबन्ध इति चेत्; रूढिविशेषबललाभात्तत्रैव वृत्ति.। =(भरत क्षेत्रके उत्तरमें स्थित पूर्वापर लम्बायमान वर्षधर पर्वत है। अपर नाम पद्मशिखरी है।) हिम जिसमें पाया जाय सो हिमवान्। चूंकि सभी पर्वतोंमें हिम पाया जाता है अत रूढिसे ही इसको हिमवान् संज्ञा समझनी चाहिए। २. हिमवान् पर्वतका अवस्थान व विस्तारादि।—दे. लोक/३/४। ३. हिमवान् पर्वतस्थ कूट व उसका स्वामी देव।—दे. लोक५/५;४. पद्मद्रहके वनमें स्थित एक कूट—दे. लोक/५/७।

हिमशीतल—कलिंग देशके राजा थे। अकलंक देवने इनकी सभामें शास्त्रार्थ किया था। समय- ई. श. ८ का पूर्वार्ध (सि वि./१५ पं. महेन्द्र)

हिरण्य—स. सि./७/२६/३६८/८ हिरण्यं रूप्यादिव्यवहारतन्त्रम्। —जिसमें रूप्य आदि व्यवहार होता है वह हिरण्य है। (द.पा./टी./१४/१५/१३)

हिरण्यकशिपु—इक्ष्वाकुवंशी एक राजा। दे. इतिहास/७/२।

हिरण्यगर्भ—१. सुकौशल मुनिका पुत्र था। अन्तमें नघुष पुत्रको राज्य देकर दीक्षा ले ली। (प. पु./५/१०१-११२) २. योग दर्शनके आद्य प्रवर्तक—दे. योगदर्शन।

हिरण्यनाभ—जरासंधका सेनापति। युद्धमें युधिष्ठिर द्वारा मारा गया (पा. पु /१६/१६२-१६३)।

हिरण्योत्कृष्ट जन्मता क्रिया—दे. संस्कार/२।

ही—दे एव।

हीन—१. गणितकी व्यकलन प्रक्रियामें मूल राशिको ऋण राशिकरि हीन कहा जाता है।—दे गणित/II/१/४। २. कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे. व्युत्सर्ग/१।

हीनयान—दे. बौद्धदर्शन।

हीनाधिकमानोन्मान—स. सि /७/२७/३६७/६ तत्र ह्रस्वमूल्यलभ्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति प्रयत्न। प्रस्थादि मानम्, तुलाद्युन्मानम्। एतेन न्यूनेनान्यस्मै देयमधिकेनात्मनो ग्राह्यमित्येवमादिकूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानम्। =मान पदसे प्रस्थादि मापनेके बाट आदि लिये जाते है, और उन्मान पदसे तौलनेके तराजू आदि बाट लिये जाते है। कमती माप तौलनेसे दूसरोंको देना, बढती माप तौलनेसे स्वयं लेना, इत्यादि कुटिलतासे लेन-देन करना हीनाधिक मानोन्मान है। (रा वा /७/२७/४/५५४/१४) [इसमें मायाका दोष आता है।—दे माया/२।

हीयमान—अवधिज्ञानका एक भेद—दे अवधिज्ञान/१।

हीराचंद—यह पंचास्तिकाय टीकाके रचयिता एक पण्डित थे। जहानाबादके रहनेवाले थे। समय वि. श. १७-१८. (पं. का./प्र./३ पं. पन्नालाल बाकलीवाल)।

हीरानंद—सुप्रसिद्ध जगत सेठके वंशज तथा ओसवाल जैन थे। वि. १६६१ मे सम्मेद शिखरके लिए संघ निकाला था। शाहजादा सलीमके कृपापात्र और जौहरी था (हिं. जै. सा इ./१३२ कामता)।

हीलित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे. व्युत्सर्ग/१।

हुंडक संस्थान—दे. संस्थान।

हुंडावसर्पिणी—दे काल/४/१३।

हुल्लराज—अपर नाम हुल्लप था। यह वाजिवंशके यक्षराज और लोकाम्बिकाके पुत्र थे। तथा यदुवंशी राजा नरसिंहके मन्त्री थे। जैनधर्मके श्रद्धालु थे। अनेकों शिलालेखोंमें इनका उल्लेख पाया जाता है। श. सं. १०८५ (ई. ११६३), श. सं. १०८७ में कोप्प महातीर्थमें जैनमुनि संघको दान दिया। समय—श. १०७५-१०९० (ई. ११५३-११६८), (ध २/प्र/५ H.L. Jain)

हूनवंश—यही कल्की राजाओंका वंश था।—दे इतिहास/३/४।

हूहू—१ गन्धर्व नामा व्यन्तर जातिका एक भेद—दे. गन्धर्व। २. कालका एक प्रमाण विशेष—दे. गणित/I/१/४।

हूहूअंग— कालका प्रमाण विशेष—दे. गणित/I/१/४।

हृदयंगम— किंनर नामा व्यन्तर जातिका एक भेद—दे. किंनर।

हेतु— अनुमान प्रमाणके अंगोंमें हेतुका सर्व प्रधान स्थान है, क्योंकि इसके बिना केवल विज्ञप्ति व उदाहरण आदिसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। अन्य दर्शनकारोंने इस हेतुके तीन लक्षण किये हैं, पर स्याद्वादमतावलम्बियोंको 'अन्यथा अनुपपत्ति' रूप एक लक्षण ही इष्ट व पर्याप्त है। इस लक्षणकी विपरीत आदि रूपसे वृत्ति होनेपर वे हेतु स्वयं हेत्वाभास बन जाते है।

१. भेद व लक्षण

१. हेतु सामान्यका लक्षण

१. अविनाभावीके अर्थमें

ध. १३/५,५,५०/२८७/३ हेतु' साध्याविनाभावि लिङ्ग' अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणोपलक्षित।—जो लिंग अन्यथानुपपत्तिरूप लक्षणसे उपलक्षित होकर साध्यका अविनाभावी होता है, उसे हेतु कहते है।

प. मु /३/१५ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु'।१५।—जो साध्यके साथ अविनाभावीपनेसे निश्चित हो अर्थात् साध्यके बिना न रहे, उसको हेतु कहते है।

न्या दी./३/§३१/७६/५ साध्याविनाभावि साधनवचन हेतु'। यथा- धूमवत्त्वान्यथानुपपत्ते इति-तथैव धूमवत्त्वोपपत्ते' इति वा।

न्या. दी /३/§३६/८०/१५ साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वं खलु हेतोर्लक्षणम्।—१. साध्यके अविनाभावी साधनके बोलनेको हेतु कहते है। जैसे—धूमवाला अन्यथा नहीं हो सकता, अथवा अग्निके होनेसे ही धूमवाला है। २. साध्यके होनेपर ही होता है अन्यथा साध्यके बिना नहीं होता तथा निश्चय पथको प्राप्त है अर्थात् जिसका निश्चय हो चुका है वह हेतु है। (और भी दे. साधन)।

न्या. सू./मू /१/१/३४-३५ उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधन हेतुः।३४। तथा वैधर्म्यात्।३५।—उदाहरणकी समानताके साध्यके धर्मके साधनको हेतु कहते हैं।३४। अथवा उदाहरणके विपरीत धर्मसे जो साध्यका साधक है उसे भी हेतु कहते हैं। (न्या. सू./भाष्य/१/१/३६/३८/११)।

२. स्वपक्षसाधकत्वके अर्थमें

ध.१३/५,५,५०/२८७/४ तत्र स्वपक्षसिद्धये प्रयुक्तः साधनहेतुः।—स्वपक्षकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त हुआ हेतु साधन हेतु है। (स. म. तं/१०/३)।

३. फलके अर्थमें

पं. का /ता. वृ/१/६/१८ हेतु ' फलं, हेतुशब्देन फलं कथं भण्यत इति चेत्। फलकारणात्फलमुपचारात।—फलको हेतु कहते हैं। प्रश्न—हेतु शब्दसे फल कैसे कहा जाता है? उत्तर—फलका कारण होनेसे उपचारसे इसको फल कहा है।

★ **साधनका लक्षण** —दे. साधन।

★ **साध्यका लक्षण**—दे. पक्ष।

★ **कारणके अर्थमें हेतु**—दे. कारण/I/१/२।

२. हेतुके भेद—१. प्रत्यक्ष परोक्षादि

ति. प./१/३५-३६ दुविहो हवेदि हेदू ... पच्चक्खपरोक्खभेएहिं।३५। सक्खापच्चक्खपरंपच्चक्खा दोण्णि होंति पच्चक्खा।...।३६।—हेतु प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकार है।५। प्रत्यक्ष हेतु साक्षात् प्रत्यक्ष और परम्परा प्रत्यक्षके भेदसे दो प्रकार है।३६। (ध. १/१,१,१/५५/१०)।

दे कारण/I/१/२ हेतु दो प्रकार है—अभ्यन्तर व बाह्य। बाह्य हेतु भी दो प्रकारका है—आत्मभूत, अनात्मभूत।

२. अन्वय व्यतिरेकी आदि

प. मु /३/५९–८६।

न्या दी./३/६२-६८/८८-६६।
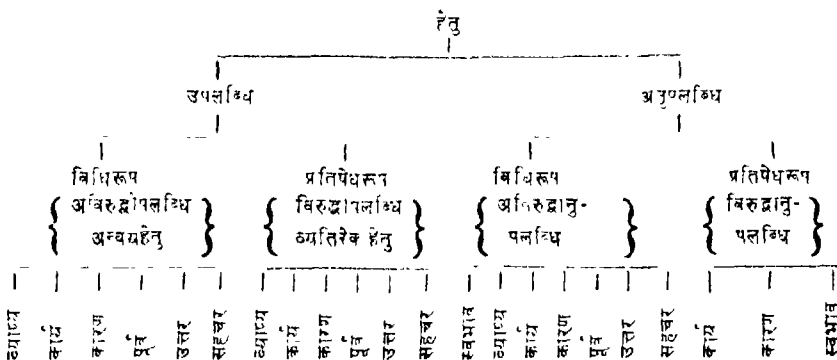
२. नैयायिक मान्य भेद

न्या. दी./३/§४२/८८/१२ ते मन्यन्ते त्रिविधो हेतुः–अन्वय-व्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी चेति। =नैयायिकोंने हेतुके तीन भेद माने हैं—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी।

३. असाधारण हेतुका लक्षण

श्लो. वा./३/१/१०/३३/५५/२३ यदात्मा तत्र व्याप्रियते तदैव तत्कारणं नान्यदा इत्यसाधारणो हेतुः। =नित्य भी आत्मा जिस समय उस प्रमितिको उत्पन्न करनेमें व्यापार कर रहा है तब ही उस प्रमाका कारण है। इस प्रकार आत्मा असाधारण हेतु है।

४. उपलब्धि रूप हेतु सामान्य व विशेषके लक्षण

प. मु./३/६५-७७ परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, य एवं, स एवं दृष्टो, यथा घटः, कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामी, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा बन्ध्यास्तनंधयः, कृतकश्चायं तस्मात्परिणामी।६५। अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः।६६। अस्त्यत्र छाया छत्रात्।६७। उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्।६८। उदगाद्भरणिः प्राक्तत एव।६९। अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात्।७०। नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात्।७२। नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात्।७३। नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात्।७४। नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युदयात्।७५। नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात्।७६। नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात्।७७। =विधिरूप—१. शब्द परिणामी है क्योंकि वह किया हुआ है, जो-जो पदार्थ किया हुआ होता है वह-वह परिणामी होता है जैसे–घट। शब्द किया हुआ है इसलिए परिणामी है, जो परिणामी नहीं होता वह-वह किया हुआ भी नहीं होता जैसे–बाँझका पुत्र। यह शब्द किया हुआ है, इसलिए वह परिणामी है।६५। २. इस प्राणीमें बुद्धि है, क्योंकि यह चलना आदि है।६६। ३. यहाँ छाया है क्योंकि छायाका कारण छत्र मौजूद है।६७। ४. मुहूर्तके पश्चात् शकट (रोहिणी) का उदय होगा क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय है।६८। ५. भरणीका उदय हो चुका क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय है।६९। ६. इस मातुलिंग (पपीता) में रूप है क्योंकि इसमें रस पाया जाता है।७०। प्रतिषेध रूप—१. इस स्थानपर शीतस्पर्श नहीं है क्योंकि उष्णता मौजूद है।७२। २. यहाँ शीतस्पर्श नहीं है क्योंकि शीतस्पर्श रूप साध्यसे विरुद्ध अग्निका कार्य यहाँ धुँआ मौजूद है।७३। (प. मु./३/९३) ३. इस प्राणीमें सुख नहीं, क्योंकि सुखसे विरुद्ध दुःखका कारण इसके मानसिक व्यथा मालूम होती है।७४। ४. एक मुहूर्तके बाद रोहिणीका उदय न होगा, क्योंकि इस समय रोहिणीसे विरुद्ध अश्विनी नक्षत्रसे पहले उदय होनेवाले रेवती नक्षत्रका उदय है।७५। ५ मुहूर्तके पहले भरणीका उदय नहीं हुआ क्योंकि इस समय भरणीसे विरुद्ध पुनर्वसुके पीछे होनेवाले पुष्यका उदय है।७६। ६ इस भित्तिमें उस ओरके भागका अभाव नहीं है क्योंकि उस ओरके भागके साथ इस ओरका भाग साफ दीख रहा है।

न्या. दी./३/§५२-५६/९५-९६/६ यथा–पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः इत्यत्र धूमः। धूमो ह्यग्नेः कार्यभूतस्तदभावेऽनुपपद्यमानोऽग्निं गमयति। कश्चित्कारणरूपः, यथा–'वृष्टिर्भविष्यति विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेः' इत्यत्र मेघविशेषः। मेघविशेषो हि वर्षस्य कारणं स्वकार्यभूतं वर्षं गमयति।५२। कश्चिद्विशेषरूपः, यथा—वृक्षोऽयं शिंशपात्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र [शिंशपा] शिंशपा हि वृक्षविशेषः सामान्यभूतं वृक्षं गमयति। न हि वृक्षाभावे वृक्षविशेषो घटत इति। कश्चित्पूर्वचरः, यथा—उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयः। कृत्तिकोदयानन्तरं मुहूर्तान्ते नियमेन शकटोदयो जायत इति कृत्तिकोदयः पूर्वचरो हेतुः शकटोदयं गमयति। कश्चिदुत्तरचरः, यथा—उदगाद्भरणिः प्राक् कृत्तिकोदयादित्यत्र कृत्तिकोदयः। कृत्तिकोदयो हि भरण्युदयोत्तरचरस्तं गमयति। कश्चित्सहचरः, यथा मातुलिङ्गं रूपवद्भवितुमर्हति रसवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र रसः। रसो हि नियमेन रूपसहचरितस्तदभावेऽनुपपद्यमानस्तद्गमयति।५४। स यथा—नास्य मिथ्यात्वम्, आस्तिक्यान्यथोपपत्तेरित्यत्रास्तिक्यम्। आस्तिक्यं हि सर्वज्ञवीतरागप्रणीतजीवादितत्त्वार्थरुचिलक्षणम्। तन्मिथ्यात्ववतो न संभवतीति मिथ्यात्वाभावं साधयति।५६। अस्त्यत्र प्राणिनि सम्यक्त्वं विपरीताभिनिवेशाभावात्। अत्र विपरीताभिनिवेशाभावः प्रतिषेधरूपः सम्यक्त्वसद्भावं साधयतीति प्रतिषेधरूपो विधिसाधको हेतुः।५८। नास्त्यत्र धूमोऽग्न्यनुपलब्धेरित्यत्राग्न्यभावः प्रतिषेध रूपो धूमाभावं प्रतिषेधरूपमेव साधयतीति प्रतिषेधरूपः प्रतिषेधसाधको हेतुः। =विधिसाधक—१. कोई कार्यरूप है जैसे यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला अन्यथा नहीं हो सकता 'यहाँ धूम' कार्यरूप हेतु है। कारण धूम अग्निका कार्य है, और उसके बिना न होता हुआ अग्निका ज्ञान कराता है। २. कोई कारण रूप है जैसे–'वर्षा होगी, क्योंकि विशेष बादल अन्यथा नहीं हो सकते, यहाँ 'विशेष बादल' कारण हेतु है। क्योंकि विशेष बादल वर्षाके कारण है और वे अपने कार्यभूत वर्षाका बोध कराते हैं।५२। ३. कोई विशेष रूप हैं। जैसे—'यह वृक्ष है', क्योंकि शिंशपा अन्यथा नहीं हो सकती; यहाँ 'शिंशपा' विशेष रूप हेतु है। क्योंकि शिंशपा वृक्षविशेष है, वह अपने सामान्य भूत वृक्षका ज्ञापन कराती है। कारण, वृक्ष विशेष वृक्ष सामान्यके बिना नहीं हो सकता है। ४. कोई पूर्वचर है, जैसे—'एक मुहूर्तके बाद शकटका उदय होगा; क्योंकि कृत्तिकाका उदय अन्यथा नहीं हो सकता। यहाँ कृत्तिकाका उदय' पूर्वचर हेतु है; क्योंकि कृत्तिकाके उदयके बाद मुहूर्तके अन्तमें नियमसे शकटका उदय होता है। और इसलिए कृत्तिकाका उदय पूर्वचर हेतु होता हुआ शकटके उदयको जनाता है। ५. कोई उत्तरचर है, जैसे—एक मुहूर्तके पहले भरणीका उदय हो चुका है। क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय अन्यथा नहीं हो सकता' यहाँ कृत्तिकाका उदय उत्तरचर हेतु है। कारण, कृत्तिकाका उदय भरणीके उदयके बाद होता है और इसलिए वह उसका उत्तरचर होता हुआ उसको जानता है। ६. कोई सहचर है, जैसे—'मातुलिंग (पपीता) रूपवान् होना चाहिए, क्योंकि रसवान् अन्यथा नहीं हो सकता', यहाँ 'रस' सहचर हेतु है। कारण रस, नियमसे रूपका सहचारी है और इसलिए वह उसके अभावमें नहीं होता हुआ उसका ज्ञापन कराता है।५४। निषेध साधक—१. सामान्य इस जीवके मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि आस्तिकता अन्यथा नहीं हो सकती। यहाँ आस्तिकता निषेध साधक है, क्योंकि आस्तिकता सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वार्थोंका श्रद्धान रूप है, वह श्रद्धान मिथ्यात्ववाले जीवके नहीं हो सकता, इसलिए वह विवक्षित जीवमें मिथ्यात्वके अभावको सिद्ध करता है।५६। २. विधिसाधक–इस जीवमें सम्यक्त्व है, क्योंकि मिथ्या अभिनिवेश नहीं है। यहाँ 'मिथ्या अभिनिवेश नहीं है' यह प्रतिषेध रूप है और वह सम्यग्दर्शनके सद्भावको साधता है, इसलिए वह प्रतिषेध रूप विधि साधक हेतु है। ३. प्रतिषेध साधक—'यहाँ धुआँ नहीं है, क्योंकि अग्निका अभाव है' 'यहाँ अग्निका अभाव' स्वयं प्रतिषेध रूप है और वह प्रतिषेधरूप ही धूमके अभावको सिद्ध करता है, इसलिए 'अग्निका अभाव' प्रतिषेध रूप प्रतिषेध साधक हेतु है।

५. अनुपलब्धि रूप हेतु सामान्य व विशेषके लक्षण

प. मु./३/७९-८९ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः।७९। नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः।८०। नास्त्यत्र प्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः।८१। नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः।८२। न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः।८३। नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्प्राक्तत एव।८४।

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ।८५। यथास्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ।८७। अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ।८८। अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः ।८९। —विधिरूप—१. इस भूतलपर घड़ा नहीं है क्योंकि उसका स्वरूप नहीं दीखता ।७९। २. यहाँ शिंशपा नहीं क्योंकि कोई किसी प्रकारका यहाँ वृक्ष नहीं दीखता ।८०। ३. यहाँ-पर जिसकी सामर्थ्य किसी द्वारा रुका नहीं ऐसी अग्नि नहीं है, क्योंकि यहाँ उसके अनुकूल धुआँ रूप कार्य नहीं दीखता है ।८१। ४. यहाँ धुआँ नहीं पाया जाता क्योंकि उसके अनुकूल अग्नि रूप कारण यहाँ नहीं है ।८२। ५. एक मुहूर्तके बाद रोहिणीका उदय न होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय नहीं हुआ ।८३। ६. मुहूर्तके पहले भरणीका उदय नहीं हुआ है क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय नहीं पाया जाता ।८४। ७. इस बराबर पलड़ेवाली तराजूमें (एक पल्लेमें) ऊँचापन नहीं क्योंकि दूसरे पल्लेमें नीचापन नहीं पाया जाता ।८५। प्रतिषेध रूप—१. जैसे इस प्राणीमें कोई रोग विशेष है क्योंकि इसकी चेष्टा नीरोग मालूम नहीं पड़ती ।८७। २. यह प्राणी दुःखी है क्योंकि इसके पिता माता आदि प्रियजनोंका सम्बन्ध छूट गया है ।८८। ३. हरएक पदार्थ नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मवाला है क्योंकि केवल नित्यत्व आदि एक धर्मका अभाव है ।८९।

६. अन्वय व्यतिरेकी आदि हेतुओंके लक्षण

न्या. दी./3/§४२–४४/८९–९०/१ तत्र पञ्चरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी। यथा—'शब्दोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात्, यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यं यथा घटः, यद्यदनित्यं न भवति तत्तत्कृतकं न भवति यथाकाशम्, तथा चायं कृतकः, तस्मादनित्य एवेति।' अत्र शब्दं पक्षीकृत्यानित्यत्वं साध्यते। तत्र कृतकत्वं हेतुस्तस्य पक्षीकृतशब्दधर्मत्वात्पक्षधर्मत्वमस्ति। सपक्षे घटादौ वर्तमानत्वाद्विपक्षे गगनादाववर्तमानत्वादन्वयव्यतिरेकित्वम् ।४२। पक्षसपक्षवृत्तिर्विपक्षरहितः केवलान्वयी। यथा—'अदृष्टादयः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्, यद्यदनुमेयं तत्तत्कस्यचित्प्रत्यक्षम्, यथाग्न्यादि' इति। अत्राऽदृष्टादयः पक्षः, कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं साध्यम्, अनुमेयत्वं हेतुः, अग्न्यादिरन्वयदृष्टान्तः ।४३। पक्षवृत्तिर्विपक्षव्यावृत्तः सपक्षरहितो हेतुः केवलव्यतिरेकी। यथा—'जीवच्छरीरं सात्मकं भवितुमर्हति प्राणादिमत्त्वात् यद्यत्सात्मकं न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति यथा लोष्ठम्' इति। अत्र जीवच्छरीरं पक्षः, सात्मकत्वं साध्यम्, प्राणादिमत्त्वं हेतुः, लोष्ठादिर्व्यतिरेकदृष्टान्तः ।४४। =१. जो पाँच रूपोंसे सहित है वह अन्वयव्यतिरेकी है। जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जो-जो किया जाता है वह-वह अनित्य है जैसे घड़ा, जो-जो अनित्य नहीं होता वह-वह किया नहीं जाता जैसे—आकाश। शब्द किया जाता है, इसलिए अनित्य ही है। यहाँ शब्दको पक्ष करके उसमें अनित्यता सिद्ध की जा रही है, उस अनित्यताके सिद्ध करनेमें 'किया जाना' हेतु है वह पक्षभूत शब्दका धर्म है। अतः उसके पक्षधर्मत्व है। सपक्ष घटादिमें रहने और विपक्ष आकाशादिकमें न रहनेसे सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति भी है, हेतुका विषय 'अनित्यता रूप साध्य' किसी प्रमाणसे बाधित न होनेसे अबाधित विषयत्व और प्रतिपक्ष साधन न होनेसे असत्प्रतिपक्ष भी विद्यमान है। इस तरह किया जाना हेतु पाँच रूपोंसे विशिष्ट होनेके कारण अन्वयव्यतिरेकी है।४२। २. जो पक्ष और सपक्षमें रहता है तथा विपक्षसे रहित है वह केवलान्वयी है। जैसे—अदृष्ट (पुण्य-पाप) आदिक किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमानसे जाने जाते हैं। जो-जो अनुमानसे जाने जाते हैं वह वह किसीके प्रत्यक्ष हैं जैसे अग्नि आदि। यहाँ 'अदृष्ट आदिक' पक्ष है, 'किसीके प्रत्यक्ष' साध्य है परन्तु अनुमानसे जाना जाना हेतु है और अग्नि आदि अन्वय दृष्टान्त है।४३। ३. जो पक्षमें रहता है, विपक्षसे नहीं रहता और सपक्षसे रहित है वह हेतु केवलव्यतिरेकी है। जैसे—जिन्दा शरीर जीव सहित होना चाहिए, क्योंकि वह प्राणादिवाला है जो-जो जीव सहित नहीं होता है वह-वह प्राणादि वाला नहीं होता है जैसे लोष्ठ। यहाँ जिन्दा शरीर पक्ष है, जीव सहितत्व साध्य है, 'प्राणादिक' हेतु है और लोष्ठादिक व्यतिरेकी दृष्टान्त है।

७. अतिशायन हेतुका लक्षण

आप्त मी./१/४ दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ।४। —क्वचित् अपने योग्य ताप आदि निमित्तोंको पाकर जैसे सुवर्णकी कालिमा आदि नष्ट हो जाती है उसी प्रकार जीवमें भी कथंचित् कदाचित् सम्पूर्ण अन्तरंग व बाह्य मलोंका अभाव सम्भव है, ऐसा अतिशायन हेतुसे सिद्ध है।

८. हेतुवाद व हेतुमतका लक्षण

ध. १३/५,५,५०/२८७/५ हिनोति गमयति परिच्छिनत्त्यर्थमात्मानं चेति प्रमाणपञ्चकं वा हेतुः। स उच्यते कथ्यते अनेनेति हेतुवादः श्रुतज्ञानम्। =जो अर्थ और आत्माका 'हिनोति' अर्थात् ज्ञान कराता है उस प्रमाण पंचकको हेतु कहा जाता है। उक्त हेतु जिसके द्वारा 'उच्यते' अर्थात् कहा जाता है वह श्रुतज्ञान हेतुवाद कहलाता है।

सू. पा./पं. जयचन्द/६/५४ जहाँ प्रमाण नय करि वस्तुकी निर्बाध सिद्धि जामें करि मानिये सो हेतुमत है।

२. हेतु निर्देश

१. अन्यथानुपपत्ति ही एक हेतु पर्याप्त है

सि. वि./मू./५/२३/३६१ सतर्केणोह्यते रूप प्रत्यक्षायैतस्य वा। अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोरेकलक्षणम् ।२३।

सि. वि./टी./५/१५/३४५/२१ विपक्षे हेतुसद्भावबाधकप्रमाणव्यावृत्तौ हेतुसामर्थ्यमन्यथानुपपत्तेरेव। =प्रत्यक्ष या आगमादि अन्य प्रमाणोंके द्वारा ग्रहण किया गया साधन अन्यथा हो नहीं सकता, इस प्रकार ऊहापोह रूप ही हेतुका लक्षण है।२३। प्रश्न—विपक्षमें हेतुके सद्भावके बाधक प्रमाणकी व्यावृत्ति हो जानेपर हेतुकी अपनी कौन सी शक्ति है जिससे कि साध्यकी सिद्धि हो सके। उत्तर—यह साधन अन्यथा हो नहीं सकता, इस प्रकारका अन्यथानुपपत्तिकी ही सामर्थ्य है।

न्या. वि./मू./२/१५४/१७७ अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्? नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्? ।१५४। =अन्यथा अनुपपन्नत्वके घटित हो जानेपर हेतुके अन्य तीन लक्षणसे क्या प्रयोजन और अन्यथानुपपन्नत्वके घटित न होनेपर भी उन तीन लक्षणोंसे क्या प्रयोजन है।१७७।

प. मु./३/९४,९७ व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्यैव वा ।९४। तावता च साध्यसिद्धिः ।९७। =व्युत्पन्न पुरुषके लिए तो अन्यथा अनुपपत्ति रूप हेतुका प्रयोग ही पर्याप्त है ।९४। वे लोग तो उदाहरण आदिके प्रयोगके बिना ही हेतुके प्रयोगसे ही व्याप्तिका निश्चय कर लेते हैं ।९७।

२. अन्यथानुपपत्तिसे रहित सब हेत्वाभास हैं

न्या. वि./मू./२/२०२/२३२ अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः। अकिंचित्करान् सर्वान् तान् वयं संगिरामहे ।२०२। =अन्यथा अनुपपन्नत्वसे शून्य जो हेतुके तीन लक्षण किये गये हैं वे सब अकिंचित्कर हैं। उन सबको हम हेत्वाभास कहते हैं ।२०२। (न्या. वि./मू./२/१७४/२१०)

३. हेतु स्वपक्ष साधक व परपक्ष दूषक होना चाहिए

प. मु./६/७३ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिन: साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषण भूषणे च ॥७३॥ —प्रथम वादी के द्वारा प्रयुक्त प्रमाणको प्रतिवादी द्वारा दुष्ट बना दिया जानेपर, यदि वादी उस दूषणको हटा देता है तो वह प्रमाण वादीके लिए साधन और प्रतिवादीके लिए दूषण है। यदि वादी साधनाभासको प्रयोग करे, और पीछे प्रतिवादी द्वारा दिये दूषणको हटा न सके तो वह प्रमाण वादीके लिए दूषण और प्रतिवादीके लिए भूषण है। यही स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषणकी व्यवस्था है।

स. भं. त./६०/३ हेतु: स्वपक्षस्य साधक: परपक्षस्य दूषकश्च। —हेतु स्वपक्षका साधक और परपक्षका दूषक होना चाहिए।

४. हेतु देनेका कारण व प्रयोजन

प. मु./अन्तिम श्लोक परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयो:। संविदे मादृशो बाल: परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥१॥ —परीक्षा प्रवीण मनुष्यकी तरह मुझ बालकने हेय उपादेय तत्त्वोंको अपने सरीखे बालकोंको उत्तम रीतिसे समझानेके लिए दर्पणके समान इस परीक्षामुख ग्रन्थकी रचना की है।

स. भं. त./६०/२ स्वेष्टार्थसिद्धिमिच्छता प्रवादिना हेतु: प्रयोक्तव्य:, प्रतिज्ञामात्रेणार्थसिद्धेरभावात्। —अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि चाहने वाले प्रौढ़ वादीको हेतुका प्रयोग अवश्य करना चाहिए। क्योंकि केवल प्रतिज्ञा मात्रसे अभिलषित अर्थकी सिद्धि नहीं होती।

★ जय-पराजय व्यवस्था —दे. न्याय/२।

३. हेत्वाभास निर्देश

१. हेत्वाभास सामान्यका लक्षण

न्या. वि./मू./२/१७४/२१० अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिता:॥१७४॥ हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्षते। —अन्यथानुपपन्नत्वसे रहित अन्य एकान्तवादियोंके द्वारा जो हेतु नहीं होते हुए भी, हेतुरूपसे ग्रहण किये गये हैं वे हेत्वाभास कहे गये हैं।

न्या. दी./३/§४०/८८/५ हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमाना खलु हेत्वाभासा। —जो हेतुके लक्षणसे रहित है, और कुछ रूपमें हेतुके समान होनेसे हेतुके समान प्रतीत होते हैं वे हेत्वाभास हैं। (न्या. दी./३/§६०/१००/१) (न्या. सू. भाषा/१/१/४/४४)

२. हेत्वाभासके भेद

न्या. मू./२/१०१/१२६ विरुद्धासिद्धसंदिग्धा अकिंचित्करविस्तरा इति ॥१०१॥ —विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिंचित्कर ये चारों ही अन्यथानुपपन्नत्व रूप हेतुके लक्षणसे विकल होनेके कारण हेत्वाभास हैं। (न्या. वि. मू./२/१६७/१२५)

सि. वि./मू./६/३२/४२६ एकलक्षणसामर्थ्याद्धेत्वाभासा निवर्तिता:। विरुद्धानैकान्तिकासिद्धाज्ञाताकिंचित्करादय: ॥३२॥ —अन्यथानुपपत्ति रूप एक लक्षणकी सामर्थ्यसे ही विरुद्ध, अनैकान्तिक, असिद्ध अज्ञात व अकिंचित्कर आदि हेत्वाभास उत्पन्न होते हैं। अर्थात् उपरोक्त लक्षणकी वृत्ति विपरीत आदि प्रकारोंसे पायी जानेके कारण ही ये विरुद्ध आदि हेत्वाभास हैं।

श्लो. वा. ४/न्या./२७३/४२५/७ पर भाषामें उद्धृत—सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासा:। —सव्यभिचारी, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, अतीतकाल ये पाँच हेत्वाभास हैं। (न्या. सू./मू. १/२/४४)

न्या. दी./३/§४०/८६/४ पञ्च हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाख्या: संपन्ना:। —हेत्वाभास पाँच हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम।

प. मु./६/२१ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिंचित्करा:। —हेत्वाभासके चार भेद हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्कर।

स. म./२४/१ विरोधस्योपलक्षणत्वात् वैयधिकरण्यम् अनवस्था संकर: व्यतिकर: संशय: अप्रतिपत्ति: विषयव्यवस्थाहानिरिति। —सप्तभंगी वादमें विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और विषयव्यवस्था हानि ये आठ दोष आते हैं।

★ हेतुओं व हेत्वाभासोंके भेदोंका चित्र—दे. न्याय/१।

★ हेत्वाभासके भेदोंके लक्षण—दे. वह-वह नाम।

हेतुवाद—दे. हेतु/१।

हेतु विचय धर्मध्यान—दे. धर्मध्यान/१/५/१०।

हेत्वन्तर—न्या. सू./मू. व टी./५/२/६/३११ अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥६॥ निदर्शनम् एकप्रकृतीदं व्यक्तमिति प्रतिज्ञा कस्माद्धेतोरेकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात् मृत्पूर्वकाणां शरावादीनां दृष्टं परिमाणं यावान्प्रकृतेर्व्यूहो भवति तावान्विकार इति दृष्टं च प्रतिविकारं परिमाणम्। अस्ति चेदं परिमाणं प्रतिव्यक्तं तदेकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात् पश्यामो व्यक्तिमदनेकप्रकृतीति। अस्य व्यभिचारेण प्रत्यवस्थानं नानाप्रकृतीनां च विकाराणां दृष्टं परिमाणमिति।......तदिदमपि शेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषं ब्रुवतो हेत्वन्तरं भवति। —विशेषोंका लक्ष्य नहीं करके सामान्य रूपसे हेतुके कह चुकनेपर पुन: प्रतिवादी द्वारा हेतुके प्रतिषेध हो जानेपर विशेष अंशको विवक्षित कर रहे वादीका हेत्वन्तर निग्रहस्थान हो जाता है ॥६॥ उदाहरण—जैसे व्यक्त एक प्रकृति है यह प्रतिज्ञा है, एक प्रकृति वाले विकारोंके परिणामसे यह हेतु है। मिट्टीसे बने शराव आदिकोंका परिमाण दृष्ट है, जितना प्रकृतिका व्यूह होता है उतना ही विकार होता है और यह परिमाण प्रतिव्यक्त है। वह एक प्रकृति वाले विकारोंके परिमाणसे देखा जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि व्यक्त एक प्रकृति है। (श्लो. वा./४/न्या. १६१/३७१/६ में इसपर चर्चा।

हेत्वाभास—दे. हेतु/३।

हेमग्राम—श्रीयुत् मल्लिनाथ चक्रवर्ती एम. ए. एल टी.ने अपने प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें लिखा है कि मद्रास प्रेसीडेन्सीके मलाया प्रदेशमें 'पोन्नूरगाँव' को ही प्राचीन कालमें हेमग्राम कहते थे। (कुरल काव्य/प्र. २१)।

हेमचंद—१. काष्ठा संघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे. इतिहास) आप कुमारसेन (काष्ठा संघके संस्थापक) के शिष्य तथा पद्मनन्दिके गुरु थे। समय-वि. ९८०, (ई. ९२३)—दे इतिहास/७/९। २. गुजरातके धंधुग्राममें चच्चनामक वैश्यके पुत्र थे। बचपनका नाम चंगदेव था। पाँच वर्षकी आयुमें देवचन्द्र गणीसे दीक्षा ग्रहण की। तब इनका नाम हेमचन्द्र रखा गया और सोमदेवकी उपाधिसे विभूषित हुए। ये श्वेताम्बराचार्य थे। कृतियाँ—गुजराती व्याकरण, सिद्ध हेम शब्दानुशासन, प्राकृत व्याकरण, अभिधान चिन्तामणि कोष (हैमी नाममाला), अनेकार्थसंग्रह, देशीनाममाला, काव्यानुशासन, छन्दानुशासन, प्रमाणमीमांसा, अन्ययोग व्यवच्छेद (द्वात्रिंशतिका स्याद्वाद मञ्जरी) अयोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशतिका, अध्यात्मोपनिषद्, योगशास्त्र, द्वयाश्रय महाकाव्य, त्रिषष्टिशलाका, वीतरागस्तोत्र, अन्तरश्लोक (द्वादशानु-

प्रेक्षा), त्रिषष्टि पुरुष चरित। समय—ई. १०८८-११७३। (सि. वि./४२ पं. महेन्द्र) (प. प्र./प्र ७४,११७, A. N. Up.) (का. अ./प्र. १७ A. N. UP.)।

हेमराज (पांडे)—यह पण्डित रूपचन्दके शिष्य थे। कृति—प्रवचनसार टीका, पञ्चास्तिकाय टीका, भाष्य भक्तामर, गोम्मटसार वचनिका, नयचक्र वचनिका, सितपट चौरासी बोल (श्वेताम्बरियों-पर आक्षेप) समय--वि. श. १७-१८ (पं. का. प्र/३पं. पन्नालाल): (हि. जै. सा. इ/१३१ कामता)।

हैमवत—१. पहले भारतवर्षका ही दूसरा नाम रहा है। यथा—इम हैमवतं वर्षं भारतं नाम विश्रुतम्। (मत्स्य/११२/२८) —आगे चलकर वह स्वतन्त्र एक वर्ष मान लिया गया है। यथा--इदं तु भारतं वर्षं ततो हैमवतं परम्। (भारत भीष्म/६/७); (ज. प./प्र./१४२ A. N. Up.)। २. रा. वा./३/१०/५/१७२/१७ हिमवन्नाम पर्वतः तस्यादूरभव. सोऽस्मिन्नस्तीति वाणि मति हैमवतो वर्षः। =[अढाई द्वीपामें स्थित प्रसिद्ध द्वितीय क्षेत्र है] हिमवान् नामके पर्वतके पासका क्षेत्र, या जिसमें हिमवान् पर्वत है वह हैमवत है। २. हैमवत इस क्षेत्रका अवस्थान व विस्तारादि—दे. लोक/२/३; ३. हैमवत क्षेत्रमें काल वर्तनादि सम्बन्धी—दे. काल; ४. हिमवान् पर्वतपर स्थित एक कूट व देव—दे. लोक/५/४; ५. महाहिमवान् पर्वतस्थ कूट व उसका स्वामी देव--दे. लोक/५/४, ६ रुचक पर्वतस्थ एक कूट--दे. लोक/५/१३।

हैमी नाममाला—दे. शब्दकोष।

हैरण्यवत—१. रा.वा/३/१०/१७/१८१/१६ हिरण्यवान् रुक्मिनामा पर्वतस्तस्यादूरभवत्वाद्धैरण्यवतव्यपदेशः। =[अढाई द्वीपस्थ प्रसिद्ध छठा क्षेत्र है] रुक्मिके उत्तर शिखरीके दक्षिण तथा पूर्व पश्चिम समुद्रों-के बीच हैरण्यवत क्षेत्र है। २. हैमवत क्षेत्रका अवस्थान व विस्तारादि-दे. लोक/२/३। ३. हैमवतक्षेत्रमें काल वर्तन आदि सम्बन्धी विशेषता--दे. काल/४/१५। ४. रुक्मि पर्वतस्थ एक कूट व उसका स्वामी देव—दे. लोक/५/४; ५.शिखरी पर्वतस्थ एक कूट व उसका स्वामी देव-दे. लोक/५/४।

होय्सल—यह नगर कर्नाटक (दक्षिण) में है। यहाँके राज्यके आधीन ही जैनियोंका प्रसिद्ध स्थान मूडबिद्री रहा है (ध./३। प्र.५)।

होलीरेणुका चरित—पं. जिनदास द्वारा वि. १६८० में लिखित ७ अध्याय ८४३ श्लोक प्रमाण पंचनमस्कार महात्म्य प्रदर्शक संस्कृत काव्य। (ती./४/८४)।

ह्यूनसांग—एक चीनी यात्री था। राजा हर्षवर्धनके समय भारतमें आया। समय--ई. ६३०-६४५ (न्यायावतार। प्र. २ सतीश चन्द्र-विद्याभूषणके अनुसार वह ई. ३२६ में भारत आया था। (वर्तमान भारतका इतिहास)।

ह्रद—प्रत्येक वर्षधर पर्वतपर स्थित है। जिसमेंसे गंगा आदि नदियाँ निकलती हैं। दे. लोक/३/८।

ह्रस्व—ध/१३/५, ५, ४७/२४८/३। एकमात्रो ह्रस्वः। =एक मात्रा वाला वर्ण ह्रस्व होता है।

ह्रस्व स्वर—दे. अक्षर।

ह्री—१. हैमवत पर्वतस्थ एक कूट--दे. लोक/५/४; २ हैमवत पर्वतस्थ महापद्म ह्रद तथा ह्रीकूटकी स्वामिनी देवी-- दे. लोक/५/४; ३ रुचक पर्वतस्थ निवासिनी दिक्कुमारी देवी--दे. लोक/५/१३।

ह्रीमंत—राजगृहमें स्थित एक पर्वत--दे. मनुष्य/४।

इति चतुर्थः खण्डः

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

[परिशिष्ट]

शतक—इस नाम के दो ग्रन्थ प्राप्त हैं। १. 'कर्म प्रकृति' नामक श्वेताम्बर ग्रन्थ के बड़े भाई के रूप में प्रसिद्ध इस ग्रन्थ के रचयिता भी 'कर्म प्रकृति' के कर्ता आ. शिवशर्म सूरि (वि. ५००) ही बताये जाते हैं। गाथा संख्या १०७ होने से इसका 'शतक' नाम सार्थक है, और कर्मों के बन्ध उदय आदि का प्ररूपक होने से 'बन्ध शतक' कहलाता है। ३१३। दृष्टिवाद अंग के अष्टम पूर्व 'कर्म प्रवाद' की बन्ध विषयक गाथाओं का संग्रह होने से इसे 'बन्ध समास' भी कहा जा सकता है। ३१४। गाथा संख्या १०५ में इसे 'कर्म प्रवाद' अंग का संक्षिप्त स्यन्द या सार कहा गया है। ३१२। चूर्णिकार चन्द्रर्षि महत्तर ने इसकी उत्पत्ति दृष्टिवाद अंग के 'अग्रणी' नामक द्वि. पूर्व के अन्तर्गत 'महाकर्म प्रकृति प्राभृत' के 'बन्धन' नामक अष्टम अनुयोग द्वार से बताई है। ३५८। इसके पूर्वार्ध भाग में जीव समास, गुणस्थान, मार्गणा स्थान आदि से समवेत जीवकाण्डका, और अपरार्ध भाग में कर्मों के बन्ध उदय सत्त्व की व्युच्छित्ति विषयक कर्मकाण्ड का विवेचन निबद्ध है। ३१२। रचयिता ने अपने 'कर्म प्रकृति' नामक ग्रन्थ में सर्वत्र 'शतक' के स्थान पर 'बन्ध शतक' का नामोल्लेख किया है। ३१३। समय–वि. ५००। (जै /१/पृष्ठ)। इसपर अनेकों चूर्णियां लिखी जा चुकी हैं। (दे कोष II में परिशिष्ट १/चूर्णि)।

२ उपर्युक्त ग्रन्थको ही कुछ अन्तरके साथ श्री देवेन्द्र सूरिने भी लिखा है जिसपर उन्हीं की एक स्वोपज्ञ टीका भी है। समय–वि. श. १३ का अन्त। (जै./१/४३५)।

शिवशर्म सूरि—एक प्राचीन श्वेताम्बराचार्य। नन्दीसूत्र आदि के पाठ का अवलोकन करने से अनुमान होता है कि आप सम्भवतः देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण से भी पूर्ववर्ती हैं और दशपूर्वधारी भी हैं। ३०३। दृष्टिवाद अंग के अंशभूत 'महाकर्म प्रकृति प्राभृत' का ज्ञान इन्हें आचार्य परम्परा से प्राप्त था। उच्छिन्न हो जाने की आशंका से अपने उस ज्ञान को 'कर्म प्रकृति' नामक ग्रन्थ में निबद्ध कर दिया था। (पीछे 'बन्ध शतक' के नाम से उसी का कुछ विस्तार किया)। श्वेताम्बराम्नाय में क्योंकि दृष्टिवाद अंग वी नि १००० तक जीवित रहा माना जाता है, इसलिये आपका वि ५०० के आसपास स्थापित किया जा सकता है। ३०४। (जै./१/पृष्ठ)।

शुभनन्दि रविनन्दि—इन्द्रनन्दी कृत श्रुतावतार श्लोक १७१–१७३ के अनुसार आपको आचार्य परम्परा से षट्खण्डागम विषयक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त था। इनके समीप में श्रवण करके ही आ बप्पदेव ने षट्खण्डागम तथा कषायपाहुड पर व्याख्या लिखी थी। प्राचीन श्रुतधरों की श्रेणी में बैठाकर यद्यपि डा नेमिचन्द ने इन्हें वी नि. श. ५-६ (ई. श. १) में स्थापित करने का प्रयत्न किया है, परन्तु उनकी यह कल्पना इसलिये कुछ संगत प्रतीत नहीं होती क्योंकि षट्खण्डागम के रचयिता आ. भूतबलि के काल की पूर्वावधि वी. नि. ५६३ से ऊपर किसी प्रकार भी ले जायी जानी सम्भव नहीं है। (दे. कोष I/परिशिष्ट २)।

षट्खण्डागम—भगवान् महावीर से आचार्य परम्परा द्वारा आगत श्रुतज्ञान का अंश होने से कषायपाहुड के पश्चात् षट्खण्डागम ही दिगम्बर आम्नाय का द्वितीय महनीय ग्रन्थ है। अग्रायणी नामक द्वितीय पूर्व के 'महाकर्मप्रकृति' नामक चौथे प्राभृत का विवेचन इसमें निबद्ध है (जै./१/६१)। इसका असली नाम क्या था यह आज ज्ञात नहीं है। जीवस्थान आदि छः खण्डों में विभक्त होने के कारण इसका 'षट्खण्डागम' नाम प्रसिद्ध हो गया है। (जै /१/५१)। इसके प्रत्येक खण्ड में अनेक-अनेक अधिकार हैं। जैसे कि जीवस्थान नामक प्रथम खण्डमें सत्प्ररूपणा, द्रव्य प्रमाणानुगम आदि आठ अधिकार हैं। इसके रचयिता के विषय में धवलाकार श्री वीरसेन स्वामी ने यह लिखा है कि "आ. पुष्पदन्त ने 'वीसदि' नामक सूत्रों की रचना की, और उन सूत्रों को देखकर आ. भूतबलि ने द्रव्य प्रमाणानुगम आदि विशिष्ट ग्रन्थ की रचना की"। (ध. १/पृष्ठ ७१)। इस 'अवशिष्ट' शब्द पर से यह अनुमान होता है कि आ. पुष्पदन्त (ई.६६-१०६) द्वारा रचित 'वीसदि' सूत्र ही जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड का सत्प्ररूपणा नामक प्रथम अधिकार है जिसमें बीस प्ररूपणाओं का विवेचन निबद्ध है। इस खण्ड के शेष सात अधिकार तथा उनके आगे शेष पांच खण्ड आ भूतबलि की रचना है। यदि इन दोनों ने आ. धरसेन (वी. नि ६३०) के पास इस सिद्धान्त का अध्ययन किया है तो, इस ग्रन्थ के आद्य तीन खण्डों की रचना वी. नि. ६५० (ई. १२३) के आसपास स्थापित की जा सकती है (जै./२/१२३, और ये तीन खण्ड टीका लिखने के लिये आ. कुन्द कुन्द (ई. १२७) को प्राप्त हो सकते हैं।

इन छः खण्डों में से 'महाबन्ध' नामक अन्तिम खण्ड को छोड़कर शेष ५ खण्डों पर अनेकों टीकायें लिखी गयी हैं। यथा- १. आद्य तीन खण्डों पर आ. कुन्दकुन्द (ई १२७) कृत 'परिकर्म' टीका। २. आद्य ५ खण्डों पर आ. समन्त भद्र (ई श. २) टीका। कुछ विद्वानों को यह बात स्वीकार नहीं है)। ३ आद्य पांच खंडों पर आ. शामकुण्ड (ई. श ३) कृत 'पद्धति' नामक टीका। ४ तम्बुलाचार्य (ई. श ३-४) कृत 'चूडामणि' टीका। ५. आ. बप्पदेव (ई श ६-७) कृत 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' टीका। (जै /१/२६३ पर उद्धृत इन्द्रनन्दि श्रुतावतार)।

सत्कर्म—इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार के अनुसार यह ग्रन्थ षट्खण्डागम के छः खंडों के अतिरिक्त वह अधिक खंड है, जिसे कि आ. बप्पदेव (ई. श. ६–७) कृत उपर्युक्त 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' की टीका के रूप में आ. वीरसेन स्वामी (ई ७७०-८२७) ने रचा है। (दे. व्याख्या प्रज्ञप्ति)। षट्खंडागम के 'वर्गणा' नामक पंचम खंड के अन्तिम सूत्र को देशामर्शक मानकर उन्होंने निबन्धनादि अठारह अधिकारों में विभक्त इसको धवला के परिशिष्ट रूपेण ग्रहण किया है। मुद्रित षट्खंडागम की १५ वीं पुस्तक में प्रकाशित है। (ती./१/६६), (और भी दे. आगे 'सत्कर्म पञ्जिका')।

सत्कर्म पञ्जिका—धवला के परिशिष्ट रूप से गृहीत 'सत्कर्म' प्ररूपणा के निबन्धन आदि अठारह योगद्वारों या अधिकारों में से प्रथम चार पर रचित यह एक ऐसी टीका है जिसे लेखक ने स्वयं, तथा आचार्यों ने भी 'सु-महार्थ' अथवा 'महार्थ' कहा है। उन-उन अधिकारों की पूरी टीका न होकर यह केवल उन विषयों का खुलासा करती है जो कि उन अधिकारों में अतिदूर अवगाहित प्रतीत होते हैं। षट्खंडागमके 'महाबन्ध' नामक षष्टम खंड की ताड़पत्रीय प्रति के आद्य २१ पत्रों पर यह अंकित है। (जै./१/२८४-२८५)।

इसके रचयिता के काल तथा नाम का स्पष्ट उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं है, परन्तु 'महाबन्ध' की ताड़पत्रीय प्रति पर लिखा होने से तथा इसके कतिपय उल्लेखों का अवलोकन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना सम्भवतः धवलाकार श्री वीरसेन स्वामी के सामने (ई. ७७०-८२७) में अथवा उनके पश्चात् तत्काल ही हो गयी थी। इसलिये बहुत सम्भव है कि उनके शिष्य श्री जिनसेन स्वामी ने श्रीपाल, पद्मसेन तथा देवसेन नाम वाले जिन तीन विद्वानों का नामोल्लेख किया है और इस हेतु से जो उनके गुरु भाई प्रतीत होते हैं, उनमें से ही किसी ने इसकी रचना की हो। (जै./१/२६२)।

सप्ततिका—कर्मों के बन्ध उदय सत्त्व विषयक चर्चा करने वाला, श्वेताम्बर आम्नाय का यह ग्रन्थ ७० गाथा युक्त होने के कारण प्राकृत भाषा में 'सत्तरि' नाम से प्रसिद्ध है। संस्कृत में इसे 'सप्ततिका' भी कहा जा सकता है। ३१८। यद्यपि गाथा १ में इसके रचयिता ने इसे शिवशर्म सूरि कृत 'शतक' की भाँति दृष्टिवाद अंग का संक्षिप्त स्यन्द या सार कहा है, तदपि यह उससे भिन्न है, क्योंकि शिवशर्म सूरि की ही दूसरी कृति 'कर्म प्रकृति' के साथ कई स्थलों पर मतभेद पाया जाता है। ३२१। इस पर रचित एक चूर्णि (दे. कोष II/परिशिष्ट) के अतिरिक्त आ. अभयदेव सूरि (वि. १०८०-११३५) तथा आ. मलयगिरि (वि. श. १२) कृत टीकायें भी उपलब्ध हैं। आ. जिनभद्र गणी के विशेषावश्यक भाष्य (वि. ६५०) में क्योंकि 'कर्म प्रकृति' तथा 'शतक' की भाँति इसकी गाथायें भी उद्धृत हुई मिलती हैं, इसलिये इसे हम वि. श. ७ के पश्चात् का नहीं कह सकते। (जै./१/पृष्ठ)।

सिंहसूरि—तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के वृत्तिकार सिद्धसेन गणी के दादा गुरु (दे. आगे सिद्धसेन गणी)। ये श्वेताम्बराचार्य मल्लवादी कृत—'नय चक्र' के वृत्तिकार माने जाते हैं। ३३०। इनकी इस वृत्ति में एक ओर तो विशेषावश्यक भाष्य (वि. ६५०) के कुछ वाक्य उद्धृत पाये जाते हैं और दूसरी ओर बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति (वि. ६२२ ७०७) का यहाँ कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता, जबकि इनके प्रशिष्य सिद्धसेन गणी ने अपनी 'तत्त्वार्थभाष्य वृत्ति' में उनका पर्याप्त आश्रय लिया है। इसलिये इन्हें हम वि. श. ७ के मध्य में स्थापित कर सकते हैं। (जै./१/३३०-३६५); (जै./२/३०१)।

सिद्धर्षि—'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' के रचयिता एक श्वेताम्बराचार्य। उक्त ग्रन्थ के अनुसार सूर्याचार्य के शिष्य देल्ल महत्तर और उनके स्वामी दुर्ग स्वामी हुए। इन दुर्ग स्वामी ने ही इनको तथा इनके शिक्षा गुरु गर्ग स्वामी को दीक्षित किया था। समय—ग्रन्थ रचना काल वि. ९६२ (ई. ९०५)। (जै./१/३६१)।

सिद्धसेन दिवाकर—दिगम्बर आचार्य—आप दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों आम्नायों में प्रसिद्ध हैं। दिवाकर की उपाधि इन्हे श्वेताम्बराचार्य अभयदेव सूरि (वि. श. १२) ने सन्मति सूत्र की अपनी टीकामें प्रदान की है जो दिगम्बर आम्नाय में प्राप्त नहीं है। दिगम्बर आम्नाय में इन्हे सन्मति सूत्र के साथ-साथ कल्याण मन्दिर स्तोत्र जैसे कुछ भक्तिपरक ग्रन्थों के भी रचयिता माना गया है, जबकि श्वेताम्बर आम्नाय में इन्हें न्यायावतार तथा द्वात्रिंशिकाओं आदि के कर्ता कहा जाता है। २१२। पं. जुगल किशोर जी मुख्तार के अनुसार ये दोनों व्यक्ति भिन्न हैं। द्वात्रिंशिकाओं आदि के कर्ता सिद्धसेन गणी हैं जो श्वेताम्बर थे। उनकी चर्चा आगे की जायेगी। सन्मति सूत्र के कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर हैं। आ. जिनसेन ने आदिपुराण तथा हरिवंशपुराण में इनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। २०६। आ. समन्त भद्र की भाँति इनके विषय में भी यह कथा प्रसिद्ध है कि कल्याण मन्दिर स्तोत्र के प्रभाव से इन्होंने रुद्र लिंग को फाड़कर राजा विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वि.) को सम्बोधित किया था। २०७-२०९।

गुरु—आप उज्जैनी में देवर्षि ब्राह्मण के पुत्र और वृद्धवादि के शिष्य थे। २०६। धर्माचार्य को भी इनका गुरु बताया जाता है।२०७। कृतियें—सन्मति सूत्र, कल्याण मन्दिर स्तोत्र, तथा द्वात्रिंशिकाओं में से कुछ इनकी हैं। २१०। समय—इनके समय के विषय में भी मतभेद पाया जाता है। कट्टरपंथी श्वेताम्बर आचार्य इन्हें कुन्दकुन्द से भी पहले वि. श. १ में स्थापित करते हैं, परन्तु श्वेताम्बर के प्रसिद्ध विद्वान् पं. सुखलाल जी मालवणिया आ. पूज्यपाद (वि. श. ६ पूर्वार्ध) कृत सर्वार्थ सिद्धि में तथा जैनेन्द्र व्याकरण में इनके कतिपय सूत्र तथा वाक्य उद्धृत देखकर इनका काल वि. श. ५ का प्रथम पाद और वि. श. ४ का अन्तिम पाद कल्पित करते हैं।२०९। दिगम्बर विद्वानों में मुख्तारसाहब इन्हें पूज्यपाद (वि. श. ६) और अकलंक भट्ट (वि. श. ७) के मध्य वि. ६२५ के आसपास स्थापित करते हैं। इस विषय में इनका हेतु यह है कि एक ओर तो इनके द्वारा रचित सन्मति सूत्र के वाक्य विशेषावश्यक भाष्य (वि. ६५०) में तथा धवला जय धवला (वि. ७१३-७६३) में उद्धृत पाये जाते हैं और दूसरी ओर सन्मति सूत्र में कथित ज्ञान तथा दर्शन उपयोग के अभेदवाद की चर्चा जिस प्रकार अकलंक (वि. श. ७) कृत राजवार्तिक में पाई जाती है उस प्रकार पूज्यपाद (वि. श. ६) कृत सर्वार्थ सिद्धि में नहीं पायी जाती/२११। (ती./२/पृष्ठ)।

सिद्धसेन (गणी)—श्वेताम्बर आचार्य थे। मूल आगम ग्रन्थों को प्राकृत से संस्कृत में रूपान्तरित करने के विचार मात्र से इन्हे एक बार श्वेताम्बर संघ से १२ वर्ष के लिये निष्कासित कर दिया गया था। इस काल में ये दिगम्बर साधुओं के सम्पर्क में आये और इन्हीं दिनों उनसे प्रभावित होकर इन्होने भक्तिपरक द्वात्रिंशिकाओं की रचना की। दिगम्बर संघ में इनका प्रभाव बढ़ता देख श्वेताम्बर संघ ने इनके प्रायश्चित की अवधि घटा दी और ये पुनः श्वेताम्बर संघ में आ गए। (ती./२/२१०)। आ. शीलांक (वि. श. ९-१०) ने अपनी 'आचारांग सूत्रवृत्ति' में इनका 'गन्धहस्ती' के नाम से उल्लेख किया है (दे. गन्ध हस्ती)। यद्यपि श्वेताम्बर लोग इन्हें ही सन्मति सूत्र का कर्ता मानते हैं, परन्तु मुख्तार साहब की अपेक्षा ये उनसे भिन्न हैं (दे. सिद्धसेन दिवाकर)।

गुरु—तत्त्वार्थाधिगम भाष्य पर लिखित अपनी वृत्ति में आपने अपने को दिन्न गणी के शिष्य सिंह सूरि (वि. श. ७ का अन्त) का प्रशिष्य और भास्वामी का शिष्य घोषित किया है (जै./२/३२९) कृतियें—तत्त्वार्थाधिगम भाष्य पर बृहद् वृत्ति, न्यायावतार तथा भक्तिपरक कुछ द्वात्रिंशिकायें। (ती./२/२१२) समय—एक ओर तो आपकी तत्त्वार्थाधिगम वृत्ति में बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति (वि. श. ७ का अन्त) का और अकलंक भट्ट (वि. श. ७) कृत 'सिद्धि विनिश्चय का उल्लेख उपलब्ध होता है, और दूसरी ओर प्रभावक चारित्र(वि. श. ८) में आपका नामोल्लेख पाया जाता है, इसलिये आपको वि. श. ८ के पूर्वार्ध में स्थापित किया जा सकता है (जै./२/३३१)। आपके दादागुरु सिंहसूरि का काल क्योंकि वि. श. ७ निर्धारित किया जा चुका है (दे. इससे पहले 'सिंहसूरि') इसलिये उनके साथ भी इसकी संगति बैठ जाती है। पं. सुखलाल जी मालवणिया ने इनके काल की अपरावधि वि. श. ६ निर्धारित की है। (जै./१/३६५)।

समाप्त